

श्रीशारदा

सचित्र

मासिक पत्रिका

वर्ष २, खण्ड १

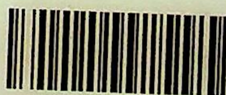
चैत्र–भाद्रपद

संवत् १९७८



सम्पादक

साहित्यशास्त्री पं० नर्मदाप्रसाद मिश्र, बी० ए०





प्रकाशक

राष्ट्रीय हिंदी-मंदिर,

वार्षिक मूल्य पाँच रुपये] जबलपुर [एक प्रति का मूल्य आठ आने

लेख-सूची ।

लेख-सूची ।

चित्र-सूची।

रंगीन चित्र।

सादे चित्र ।

चित्र-परिचय

पतित-पावनी भगवती रविे-तनया के सुन्दर कूल पर, चराचर-मात्र को वश करने वाली 'वंशी-ध्वनि' की अलौकिक छटा देखिए। समस्त विश्व की हृदय तंत्री को बजाने वाली मुरली-ध्वनि अब केवल अतीत काल की घटना है; पर वह ऐसी घटना है जो क्षण भर के लिए हमें विचार-मग्न कराके हमसे कहती है कि तुम पहले कहाँ थे और अब कहाँ हो।

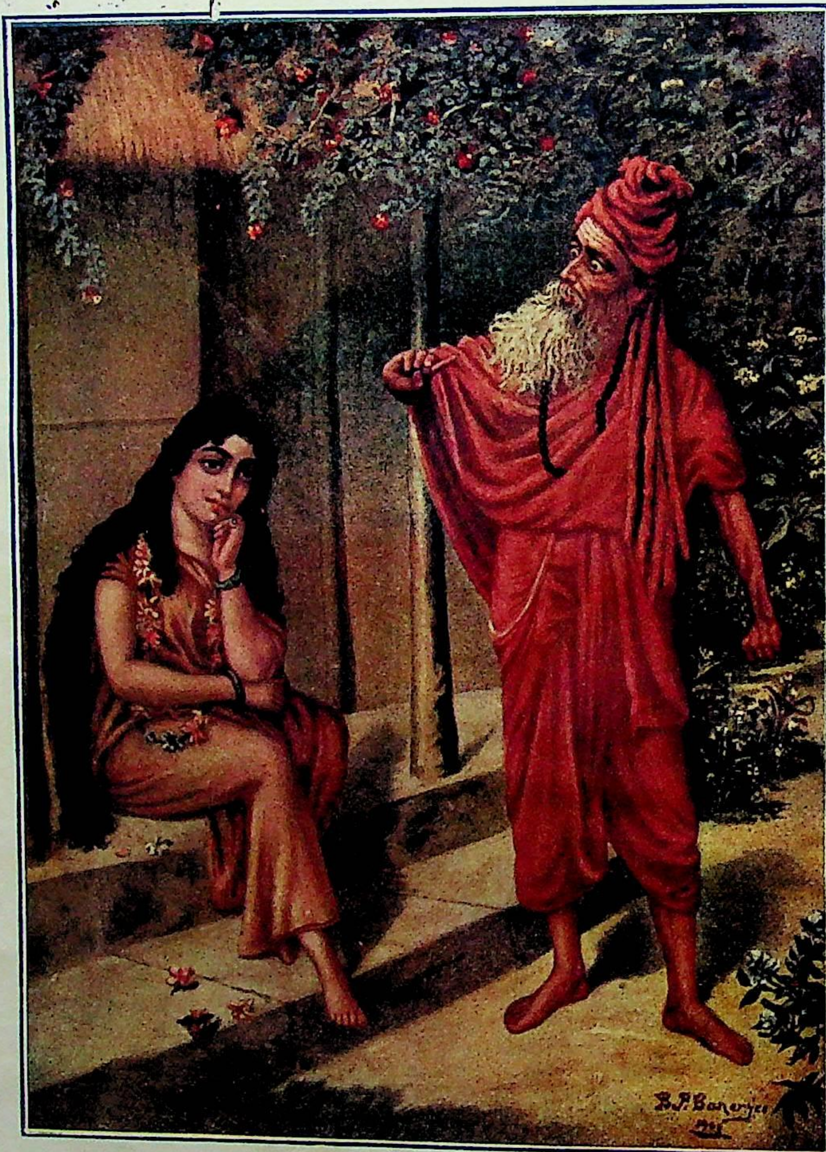
यह सुन्दर चित्र हमें श्रीमान बाबू गोविन्द-दासजी की कृपा से प्राप्त हुआ है।

दूसरा चित्र "अवशिष्ट-कीर्त्ति-रक्षण" है जिसका परिचय "श्रीमान्" जी की श्रीमती कविता से प्राप्त होगा।

तीसरा चित्र श्रीयुत गजाननजी-द्वारा अंकित है। पं० गणेशरामजी मिश्र का नाम उसमें, भूल से, छप गया है। इस चित्र के दो भाग हैं और दोनों आधुनिक शिक्षा की विडम्बना का निरूपण करते हैं। पहला चित्र बताता है कि रसायन शास्त्र, गणित, ज्यामिति आदि शास्त्रों के अध्ययन करने में अपनी समस्त आयु का आधे से भी अधिक अंश व्यतीत करने पर विद्यार्थी को यह पुरस्कार मिलता है कि वह २५) मासिक की क्लर्की में अपना अमूल्य जीवन नष्ट करता है। जो पिता अपने प्राणप्रिय पुत्र को शुद्धाचरण आदि के लिए पारितोषक मिलते देख प्रसन्न होते थे उनकी स्वर्गगत आत्मा अपने पुत्र को २५) की गुलामी करते देख क्या कहती होगी? इसी चित्र के दूसरे भाग में बताया गया है कि बिल्ली की पूँछ में दावात बाँधने वाला खिलाड़ी लड़का जिसकी नटखटी चालों को देखकर पिता आग-बबूला होते थे, महाप्रभुओं के कृपा-कटाक्ष से उच्च पद पर पहुँचता है। इस प्रकार पाठक देखेंगे कि हमारी आधुनिक शिक्षा में, कहीं कहीं, त्रुटि अवश्य है, और जब तक वह दूर होती, तब तक हमारे बालक "पुच्छ-विषाण-हीन पशु बने रहेंगे।



श्रीशारदा



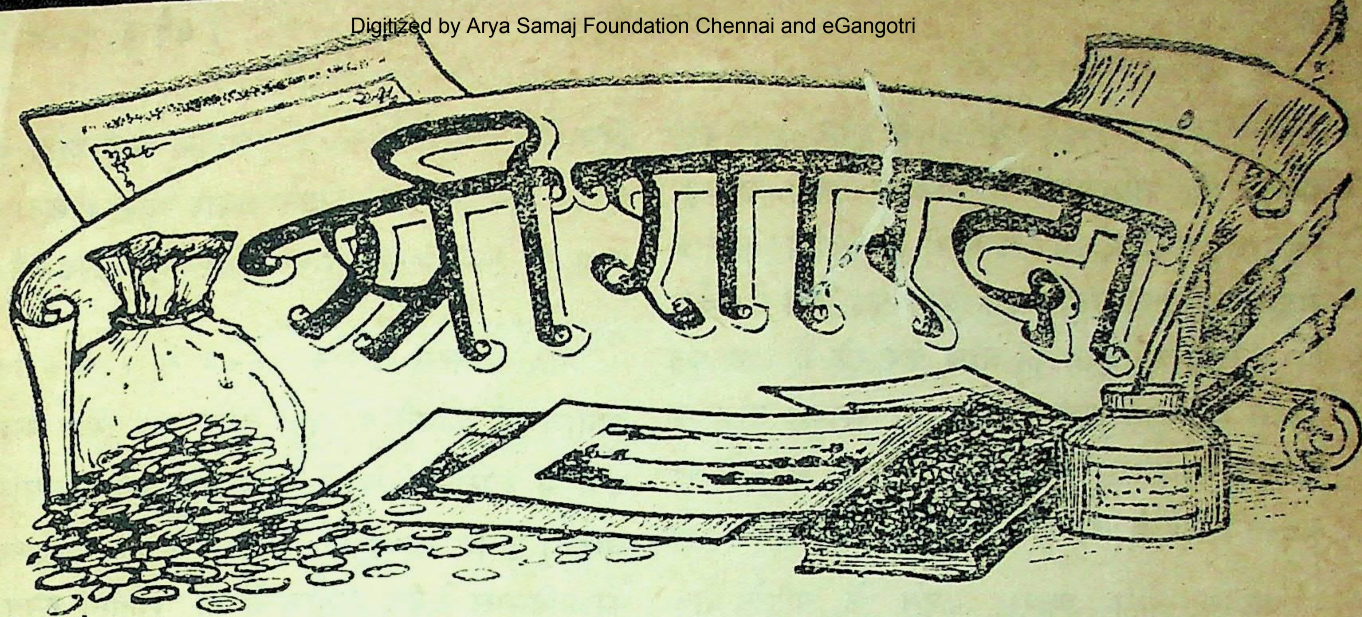
दुर्वासा-शाप।

दुष्यन्तके विरहमें बैठी हुई शकुन्तलाके प्रति क्रुद्ध दुर्वासा—

"चिन्तामें जिसकी निमग्न रहके देखा न तूने मुझे ❀ स्वामी मैं तपका, तथापि कुछ भी लेखा न तूने मुझे।
आवेगा तव ध्यानही न उसको कोई कहे भी न क्यों ❀ पीछे पूर्व-कथा प्रमत्त जनको है याद आती न ज्यों॥"
यों क्रोधान्ध, विचार-शून्य मुनिने अत्युग्रतासे कहा ❀ तो भी ध्यान हुआ न भंग उसका सो पूर्व-सा ही रहा।
वर्षामें प्रिय चन्द्र-दर्शन-रता होती चकोरी जहाँ ❀ मेघोंकी घनघोषणा तब उसे देती सुनाई कहाँ?

Burman Press, Calcutta.





साहित्य-तथा-राजनीति-संबंधी-विविध-विषय-विभूषित सचित्र मासिक पत्रिका ।

वर्ष २, खण्ड १] चैत्र शुक्ल प्रतिपदा, १९७८ * ९ अप्रैल, १९२१ [संख्या १, पूर्ण संख्या १३

फूल की आह ।

(लेखक—पंडित अचलेश्वरनाथ व्यास)

बना लो मुझे गले का हार ।
अन्तिम इच्छा पूरी कर दो,
कर दो पर-उपकार ॥१॥
सारी टेहनी सूनी है अब,
बिखर गया दर्बार ।
उलझ रही हैं और पंखड़ी,
गिनती में दो चार ॥२॥
ठंडी, मधुर, मन्द, मुसकाती
आती है जो ब्यार ।
हँसी हँसी में सोख रही है,
जीवन का रस-सार ॥३॥
भ्रमर धात में हैं मँडराते
लेकर स्वार्थ-विचार ।
सुख की आशा स्वप्न हुई हा!
हुई जिन्दगी भार ॥४॥

मज़दूर और महँगी ।

(लेखक—प्रोफ़ेसर दयाशंकर दुबे, एम. ए.)

वर्तमान महँगी के कारण मजदूरों की दशा दिन पर दिन खराब होती जा रही है । वस्तुओं के मूल्य में जितनी वृद्धि हुई उतनी वृद्धि उनकी मजदूरी में नहीं होने पाई; इसलिए मज़दूर-संसार में, सर्वत्र ही, असंतोष फैला हुआ है । नित्य प्रति जहाँ-तहाँ से हड़तालों के समाचार सुनाई देते हैं । कुछ थोड़े पूँजीवालों को छोड़कर अब सब यह मानने लगे हैं कि मजदूरों की दशा आज कल बहुत ही खराब है और उसे सुधारने का प्रबल प्रयत्न किया जाना बहुत आवश्यक है; परन्तु अभी तक बहुत ही कम महाशयों ने उनकी वास्तविक दशा जानने का प्रयत्न किया है ।

गत दिसम्बर मास में इलाहाबाद में जो चतुर्थ आर्थिक कान्फरेन्स (Fourth Economic

Conference) हुई थी उसमें इंदौर-क्रिश्चियन-कालेज के अर्थशास्त्र के प्रोफ़ेसर एच. डब्ल्यू. लायन्स, एम. ए. ने मज़दूरों के संबंध में एक महत्वपूर्ण लेख पढ़ा था। आप कई वर्षों से इंदौर के मज़दूरों की दशा की जाँच कर रहे हैं। आपने अपने लेख में यह बात बहुत अच्छी तरह से बतलाने का प्रयत्न किया है कि इंदौर के मज़दूरों पर वर्तमान महँगी का क्या प्रभाव पड़ा है।

अपनी जाँच आरंभ करने के पहिले प्रो० लायन्स ने यह निश्चय करने का प्रयत्न किया है कि दुराचारी क़ैदियों को जेल में जिस प्रकार का भोजन और वस्त्र दिया जाता है यदि वैसा ही भोजन और वस्त्र मज़दूरों को मिले, तो उनकी मज़दूरी कम से कम कितनी होनी चाहिए। इंदौर के जेल में युक्तप्रांत के जेल-मेनुयल के अनुसार खाना और कपड़ा दिया जाता है; और वह कठिन परिश्रम की सज़ा पाने वाले मर्द क़ैदियों के लिए, प्रति दिन, इस प्रकार है:—

अनाज	....	१४ छटाक
दाल	....	१ ,,
तरकारी	....	३ ,,
तेल	....	२ ४/५ ,,
लकड़ी	....	५ ,,
नमक	....	१५० ग्रेन
मिर्च	....	एक

कठिन कारावास-दण्ड पानेवाली स्त्रियों के लिए १४ छटाक अनाज के बदले १२ छटाक और कठिन परिश्रम न करने वाले क़ैदियों और युवा क़ैदियों के लिए १० छटाक अनाज दिया जाता है। १४ छटाक अनाज इस हिसाब से दिया जा सकता है:—११ छटाक गेहूँ और ३ छटाक जव, या ११ छटाक जवार और ३ छटाक दाल, या १० १/४ छटाक चावल और ३ ३/४ छटाक गेहूँ।

प्रो० लायन्स ने सन १९०२ से १९२० तक अनाज की क़ीमत का पता लगा कर भिन्न भिन्न वर्षों में उपरोक्त लेख के अनुसार इसका हिसाब लगाया है कि साधारण मज़दूर के एक कुटुम्ब को प्रतिमास केवल अनाज में ही कितना रुपया खर्च करना पड़ेगा। उन्होंने एक कुटुंब में एक पुरुष, एक स्त्री, एक युवा लड़का और दो बच्चों का होना मान लिया है। साथ ही उन्होंने जाँच करके यह भी पता लगाया है कि भिन्न भिन्न वर्षों में मज़दूरों को साधारण काम के लिए नीचे लिखे अनुसार दैनिक मज़दूरी दी जाती थी:—

सन	पुरुष को	स्त्री को	लड़के अथवा लड़की को
१९०२ से १९१३ तक	चार आने	तीन आने	दो आने
१९१४	पाँच आने	तीन आने	ढाई आने
१९१५ से १९१९ तक	पाँच आने से छै आने तक	ढाई ३ आने	ढाई आने
१९२०	सात आने	चार आने	तीन आने

इस दैनिक मज़दूरी पर से मासिक मज़दूरी निकालने में प्रोफ़ेसर सा० ने यह मान लिया है कि मज़दूरों के प्रत्येक कुटुंब में पुरुष, स्त्री और और लड़का तीनों रोज़ बराबर मज़दूरी करते हैं और वे महीने में २८ दिन बराबर अपने काम पर जाते हैं। इस प्रकार मज़दूरों के एक कुटुंब की मासिक मज़दूरी और जेल स्टैंडर्ड के अनुसार

केवल अनाज का मासिक ख़र्च भिन्न भिन्न वर्षों में नीचे लिखे अनुसार आता है:—

सन्	जेल के स्टैंडर्ड के अनुसार मज़दूर के एक कुटुंब का अनाज का मासिक ख़र्च रु० आ० पा०	मज़दूर के एक कुटुंब की मासिक मज़दूरी। रु० आ० पा
१९०२-३	८-१३-१	१५-१२
१९०७-८	१६-७-२	१५-१२
१९१०-११	१०-०-८	१५-१२
१९१४-१५	१२-१५-१०	१६-४
१९१७-१८	१४-१५-६	२१-०
१९१८-१९	१८-६-५	२१-०
१९१९-२०	२२-०-११	२४-८
नवंबर १९२०	२५-७-२३	२६-८

इस लेखे से यह अच्छी तरह मालूम होता है कि गत चार पाँच वर्षों में मज़दूरी के बढ़ने पर भी, मज़दूरों की दशा आज कल ऐसी ख़राब हो गई है जैसी कि गत बीस वर्षों में कभी नहीं थी। सन १९०७-०८ में इंदौर रियासत में अकाल पड़ा था; परन्तु फिर भी मज़दूरों को इतनी मज़दूरी मिल जाती थी कि जिससे वे पेट भर अनाज ख़रीद सकते थे; परन्तु आजकल तो यह दशा हो गई है कि पुरुष, स्त्री और लड़के के बराबर २८ दिन कठिन परिश्रम करने पर भी उनको इतनी म[illegible] नहीं मिल पाती जिससे वे केवल उतना अनाज ख़रीद सकें जितना कि जेल में कठिन कारावास की सज़ा पानेवाले एक दुराचारी क़ैदी को मिलता है। क्या कोई दशा इससे भी ख़राब हो सकती है? यदि उनकी आमदनी से मकान का किराया और कपड़ों का ख़र्च निकाल दिया जावे, तो उनका कठिन परिश्रम करने पर भी, जेल के क़ैदियों का आधा भोजन भी पाना कई दिनों तक मुश्किल हो जाता है। यदि कुटुंब में कोई मनुष्य या लड़का कुछ दिनों के लिए बीमार हो जावे तो फिर उनकी कठिनाइयों का पार नहीं रहता। इंदौर में अनाज बाहर भेजने की रोकटोक होने के कारण अनाज की क़ीमत उतनी नहीं बढ़ पाई है जितनी कि ब्रिटिश भारत के शहरों में बढ़ी है। इसलिए इन शहरों के मज़दूरों की दशा का अनुमान पाठकगण स्वयं कर सकते हैं।

इसके बाद प्रो० लायन्स ऐसी कम से कम (Minimum wage) मज़दूरी नियत करने का प्रयत्न करते हैं जिसको पाकर मज़दूर अपने कुटुंब का पोषण बहुतही मामूली तरह से कर सकें। इसके लिए अनाज का ख़र्च जानना आवश्यक है। साथही, यह भी जानना आवश्यक है कि कपड़े और घर के किराये में उनको कम से कम कितना ख़र्च करना पड़ता है। युक्त प्रांत के जेल में प्रत्येक पुरुष क़ैदी को एक वर्ष के लिए दो जाँघिये, दो कुरते, दो लँगोट, एक चादर, दो कम्मल, एक कम्मल का गरम कोट और छै फुट लंबी और दो फुट चौड़ी टाट की दो पट्टियाँ मिलती हैं। स्त्रियों को तीन लहँगे, चार कुरती, दो चादर और छै फुट लंबी और दो फुट चौड़ी टाट की दो पट्टियाँ दी जाती हैं। प्रो० लायन्स ने यह भी मान लिया है कि मज़दूरों के लड़के-लड़की अपने पितामाता के फटे-पुराने कपड़े पहिनती हैं; इसलिए मज़दूरों को अपने लड़के-बच्चों के लिए कुछ भी ख़र्च नहीं करना पड़ता। ऐसा मान लेना कहाँ तक ठीक है यह पाठकगण स्वयं ही अनुमान कर सकते हैं। उपरोक्त जेल स्टैंडर्ड के अनुसार प्रो० लायन्स ने मज़दूर के कुटुंब का कपड़ों के लिए कम से कम मासिक ख़र्च पाँच

रुपये दो आने लगाया है। इंदौर के मजदूरों को साधारण घर के किराये के लिए प्रायः १॥) से लगाकर २॥) माहवार तक देना पड़ता है; इस लिए उन्होंने एक मज़दूर-कुटुंब के लिए दो रुपये माहवार मकान-किराया मान लेना उचित समझा है।

अन्य सब प्रकार के ख़र्चों को छोड़कर केवल भोजन, कपड़ा और मकान के किराये के लिए एक मजदूर के कुटुंब को आजकल कम से कम नीचे लिखे अनुसार मासिक ख़र्च करना पड़ता है :-

	रु०	आ०
भोजन के लिए	२५	७
कपड़ों के लिए	५	२
मकान-किराये के लिये	२	०
	३२	९

इस प्रकार से इन्दौर में आजकल मजदूर के कुटुम्ब की दैनिक आमदनी कम से कम एक रुपया तीन आने होनी चाहिए। परन्तु सचमुच में मज़दूर के एक कुटुंब की आमदनी गत नवंबर मास में केवल चौदह आने ही थी। इस से यह भलीभाँति विदित होता है कि इन्दौर के मज़दूरों को इतनी भी मज़दूरी नहीं मिलती है जिससे वे क़ैदियों के बराबर भोजन, वस्त्र इत्यादि खरीद सकें। उनके निवास-स्थान का तो फिर पूछना ही क्या है। क़ैदियों के रहने की जगह तो स्वास्थ-रक्षा की दृष्टि से कई अंशों में अच्छी ही रहती है। जिन क्लर्कों, अध्यापकों और सरकारी या गैर--सरकारी नौकरों को ३०) से कम मासिक वेतन मिलता है उनकी दशा पाठक स्वयं ही अनुमान कर सकते हैं। सरकार तथा पूँजी वालों को जरा इस बात पर भी ध्यान देना चाहिए।

हाल ही में प्रकाशित हुई "दि ह्यूमन नीड्स ऑव् लेबर" नामक पुस्तक में इंग्लेंड के प्रसिद्ध विद्वान् राउनट्री महाशय ने वहाँ के यार्क शहर में मजदूरों की कम से कम मज़दूरी (minimum wage) नियत करने का प्रयत्न किया है। उन्होंने वह मज़दूरी नीचे लिखे सिद्धांतों के अनुसार निश्चित की है—

(१) उन्होंने जाँच-पड़ताल करके यह मान लिया है कि प्रत्येक कुटुंब में प्रायः एक पुरुष, एक स्त्री और तीन लड़के रहते हैं।

(२) मज़दूर की मज़दूरी इतनी होनी चाहिए कि वह उससे अपने कुटुंब का साधारण रीति से पालन-पोषण कर सके। वे स्त्री और बच्चों की मज़दूरी को कुटुंब की आमदनी में शामिल नहीं करते। उनका कहना है कि कुटुंब के बढ़ने पर स्त्रियों को अपने घरों का काम करने के बाद न तो समय ही रहता है और न शक्ति ही; इसलिए उनसे मज़दूरी नहीं कराई जानी चाहिए और लड़कों से तो स्कूलों में पढ़ने के सिवा मज़दूरी कराना बहुत ही अनुचित है।

(३) कई प्रख्यात डाक्टरों के अन्वेषणों के आधार पर उन्होंने यह निश्चय किया है कि प्रत्येक मामूली काम करने वाले मनुष्य को इतना खाना मिलना चाहिए जिससे ३,५०० कलारी (Calories)* गरमी पैदा हो और जिसमें कम से कम १५० ग्रेन प्रोटीन हो।

* एक-कलारी (Calorie) उतनी उष्णता को कहते हैं जिससे एक ग्रेन पानी एक डिग्री गरम हो जावे।

(४) मज़दूरों का निवास-स्थान काफ़ी हवादार होना चाहिए और उसमें एक कुटुंब के लिए कम से कम एक बड़ा कमरा, तीन सोने के कमरे और एक रसोईघर होना चाहिए।

(५) उनकी मज़दूरी का निश्चय करते समय उनके अन्य सब प्रकार के आवश्यक ख़र्चों का भी विचार करना चाहिए।

उपरोक्त सिद्धांतों के अनुसार यार्क शहर में एक मज़दूर की कम से कम साप्ताहिक मज़दूरी राउनट्री साहब ने सन् १९१४ के लिए नीचे लिखे अनुसार मानी थी —

	शिलिंग	पेंस
भोजन के लिए	१५	१
घर-किराये के लिए ...	६	०
कपड़े इत्यादि के लिए ...	५	०
लकड़ी-कोयले के लिए	२	६
अन्य आवश्यक ख़र्चे के लिए..	६	८
कुल	३५	३

अर्थात् दैनिक मज़दूरी, उनके मत के अनुसार सन १९१४ में ५ शिलिंग या लगभग तीन रुपये नौ आने होनी चाहिए थी। यदि भारत के मज़दूरों की कम से कम मज़दूरी उपरोक्त सिद्धांतों के अनुसार भिन्न भिन्न स्थानों के लिए निकाली जावे तो हमारी समझ में मामूली शहरों के लिए वह डेढ़ रुपया प्रति दिन प्रति मज़दूर से कम न होगी। परंतु सचमुच में मज़दूरों को शहरों में सात आने से लेकर आठ आने तक मज़दूरी मिलती है। सच है, मज़दूर-संसार में असंतुष्टता का मुख्य कारण उनकी मज़दूरी का बहुत कम होना ही है।

प्रो० सायन्ध ने इंदौर के मज़दूरों के ११ कुटुंबों के एक वर्ष के आय-व्यय की अच्छी तरह से जाँच की। उन्होंने उनकी आय में कुटुंब की सब प्रकार की आमदनी भी शामिल कर ली। ये मज़दूर साधारण श्रेणी के थे। जाँच का परिणाम नीचे के कोष्टक में दिया जाता है।

परिवार की संख्या	परिवार के मनुष्यों की संख्या	काम करने वाले म० की संख्या	काम करने वालों की संख्या (स्त्री वा लड़के)	जेल स्टेंडर्ड के अनुसार मासिक ख़र्च	कुटुंब की सब प्रकार से मासिक आय
				रु० आ० पा०	रु० आ० पा०
१	४	२	२	२९-२—११	४०-०—०
२	३	२	१	२३-७—५	१६-०—०
३	५	१	३	२४-११-५	७—०—०
४	५	३	२	३४-१०-२	२७-०—०
५	५	२	३	३३-६—१	१७-१२-०
६	४	२	२	२७-१३-६	२०-६—०
७	४	१	३	२७-१३-७	३६-०—०
८	८	३	५	६०-२—१	५४-०—०
९	३	२	१	२२-३—१	१७-०—०
१०	३	१	२	२२-१५-०	१४-०—०
११	८	३	५	५९-७—३	३६-१२-०

उपरोक्त जाँच से यह मालूम होता है कि ११ परिवारों में से परिवार नंबर १ और ७ को छोड़कर शेष नौ परिवार ऐसे थे जिनकी मासिक आमदनी जेल के स्टेंडर्ड के ख़र्च से भी बहुत कम थी। यदि पाठकगण अपने अपने शहरों के कुछ मज़दूरों के कुटुम्ब के मासिक आय-व्यय की जाँच कर समाचारपत्रों

में प्रकाशित करने का कष्ट उठावें तो जनता को मज़दूरों की दशा अच्छी तरह से समझने में बहुत सुभीता होगा। पूँजी वालों की और सरकार की भी आँखें खुलने लगेंगी और मज़दूरों को अपनी मज़दूरी बढ़वाने में उससे बड़ा लाभ होगा। कई पाश्चात्य सभ्य देशों में मज़दूरों की कमसे कम मजदूरी (Minimum wage) सरकार द्वारा नियुक्त कर दी जाती है और मज़दूरों से काम लेने वाला प्रत्येक मालिक उतनी मजदूरी देने पर बाध्य किया जाता है। क्या हम आशा करें कि हमारी भारत-सरकार भी इस संबंध में कुछ करेगी?



बाबू रामदास गौड़, एम० ए०।

(लेखक—बा० महावीरप्रसाद श्रीवास्तव, बी॰एस॰सी, एल॰टी॰)



संसार में ऐसे मनुष्य विरले ही पाये जाते हैं जो एक साथ ही बहुभाषाविद्, साहित्य-सेवी, वैज्ञानिक, इतिहासज्ञ, दार्शनिक, मिलनसार, निर्भीक देशप्रेमी और परोपकारी हों। आज मैं एक ऐसेही पुरुषरत्न का संक्षिप्त जीवनचरित 'श्रीशारदा' के पाठकों को सुनाना चाहता हूँ। आपका नाम है श्री रामदास गौड़। आपका जन्म सं. १९३८ की मार्गशीर्ष अमावस्या को, जौनपुर शहर में हुआ था जहाँ आपके पिता मुन्शी ललिताप्रसाद चर्च मिशन हाई स्कूल के सेकंड मास्टर थे। आपके पूर्वज फ़ैजाबाद ज़िले के बिड़हर इलाक़े के ज़मींदार थे। सम्वत् १८६५ वि० के लगभग आपके पितामह मुन्शी भवानी बख़्शजी काशी में जाकर कायस्थ टोला में रहने लगे जहाँ से तीस वर्ष के बाद बड़ी पियरी में घर ख़रीद कर बस गये। बाबू रामदास गौड़जी का यही स्थायी पता है।

आपके पिता मुन्शी ललिताप्रसाद पीछे से जौनपुर की जजी में वकालत करने लगे। परन्तु भजन-पूजा में अपना अधिकांश समय लगाते थे, वकालत से केवल भोजन-वस्त्र की आवश्यकता पूरी कर लेते थे। ६० वर्ष की अवस्था में रोग से पीड़ित होते हुए भी आपने चारों धामों के दर्शन किये थे। सम्वत् १९६६ की चैत्र अमावस्या को जौनपुर में ही आपका शरीर छूटा। इसके ठीक चार मास पहले गौड़जी की माताभी परलोक सिधार चुकी थीं। इसलिए सम्वत् १९६६ में गौड़जी माता-पिता से विहीन हो गये।

गौड़जी ने सात वर्ष की अवस्था में जौनपुर में पढ़ना आरम्भ किया। फ़ारसी, अँग्रेजी और गणित की शिक्षा पिताजी घर पर देते थे। दो ही तीन वर्ष तक पढ़ने पाये थे कि घरेलू विपत्तियों के कारण आपको तीन वर्ष पढ़ना छोड़ देना पड़ा। १२ वर्ष की अवस्था में फिर पढ़ना आरम्भ किया और सम्वत् १९५६ में जौनपुर से ही एन्ट्रेन्स परीक्षा प्रथम श्रेणी में पास की। जब आप चार पाँच वर्ष के थे तभी से आपको हिन्दी से अनुराग हुआ। इसका कारण आपकी माता और नानी थीं जो नित्य नियम-पूर्वक रामचरितमानस का पाठ किया करती थीं। इसका प्रभाव बालक रामदास पर इतना पड़ा कि दस बारह वर्ष की अवस्था में ही वे रामायण बड़े प्रेम से पढ़ने लगे और उसका ऐसा अर्थ लगाते थे कि

सुनने वाले मुग्ध हो जाते थे। दस वर्ष की अवस्था में आपने पाँच छः सौ पद्यों की संक्षिप्त रामायण भी लिख डाली थी जो अब तक आप के पास अप्रकाशित दशा में है।

एन्ट्रेंस पास करने के पश्चात् आप काशी के सेंट्रल हिन्दू कालेज में पढ़ने लगे जहाँ आप अपनी प्रतिभा और वाक्शक्ति के कारण बहुत शीघ्र डाक्टर रिचर्डसन के प्रेमपात्र हो गये। डाक्टर रिचर्डसन कालेज के प्रिन्सपल और रसायन के अध्यापक थे। यहाँ से एफ. ए. पास करके आप प्रयाग के सेंट्रल कालेज में पढ़ने लगे जहाँ से १९६० वि. में बी. ए. पास हुए। बी. ए. की परीक्षा देने के एक सप्ताह के भीतर ही आपको उपर्युक्त डाक्टर रिचर्डसन ने रसायन का सहकारी अध्यापक नियुक्त किया। जब बी. ए. का परीक्षा-फल निकला तब आपका विचार वकालत पढ़ने का हुआ। इसलिए आपने प्रयाग में आकर एल. एल. बी. क्लास में अपना नाम लिखाया; परन्तु दो ही तीन महीने के बाद वकालत पढ़ना छोड़ दिया।

सम्वत् १९६१ से १९६३ तक आप कायस्थ पाठशाला में रसायनशास्त्र के प्रोफ़ेसर रहे। इसी वर्ष म्योर सेंट्रल कालेज में रसायन की डिमान्स्ट्रेटरी खाली हुई। यहाँ अधिक काम करने और सीखने का सुभीता समझ कर आप चले गये। सम्वत् १९६४ वि० में आपने विवाह किया और १९६५ में, अध्यापकी की दशा में, रसायन में एम० ए० पास किया। म्योर कालेज में आप १९७५ वि० तक काम करते रहे; परन्तु यहाँ आपको वैज्ञानिक खोजों के करने की वैसी सुविधा नहीं हुई जैसी कि आप पहले सोचते थे; इसलिए आपने अपना ध्यान सार्वजनिक कामों की ओर लगाया जिसका वर्णन आगे किया जायगा।

आपकी योग्यता म्योर कालेज के किसी हिन्दुस्तानी प्रोफ़ेसर से कम नहीं थी; परन्तु आप में एक विशेष बात है जिसके कारण आपके अधिकारों की अवहेलना की गयी। आप निर्भीक इतने हैं कि चिकनी—चुपड़ी बातें करना जानते ही नहीं। दूसरी बात यह थी कि आप नियम के भीतर रहकर सार्वजनिक कामों में अधिक भाग लेते थे। इसका परिणाम यह हुआ कि आप डिमान्स्ट्रेटर ही बने रहे और आपके पढ़ाये हुए आप से ऊपर के पदों पर कर दिये गये। इन सब कारणों से आपका मन वहाँ से उचट गया और सम्वत् १९७५ में आप ग्यारह वर्ष की सरकारी नौकरी छोड़कर हिन्दू विश्वविद्यालय में चले गये। वहाँ जाते ही तीन मास के भीतर सेनेट तथा फ़ैकल्टीज़ आव आर्टस सायन्स और ओरियंटल लर्निंग (कला, विज्ञान तथा प्राच्यविद्या शास्त्रिमंडल) के सदस्य चुने गये। यहाँ आप भिन्न भिन्न कमेटियों में संयोजक अथवा सदस्य के नाते जो काम करते रहे उससे आपकी विद्वत्ता का पूरा परिचय मिलता है। अब आपने हिन्दू विश्वविद्यालय से भी कांग्रेस के मतानुसार असहयोग कर लिया है और यहाँ के सेनेट फैकल्टीज इत्यादि से भी अलग हो गये हैं। अब आप अपना सारा समय देश के काम में स्वतंत्रतापूर्वक लगाना चाहते हैं।

यहाँ तक श्री रामदास जी गौड़ के जीवन का दिग्दर्शन कराया है। अब यह बतलाना है कि आप

चिन्ता कम हो गई; परन्तु विज्ञान के लिए लेखादि लिखना आपने तब भी बंद नहीं किया। मसूरी, देहरादून, कनखल, नैनीताल इत्यादि स्थानों में भ्रमण करते हुए भी आप मंगलाचरण तथा अन्य लेख भेजते रहे। भुनगा-पुराण, वायुमंडल पर विजय, वैज्ञानिक अद्वैतवाद, रसायन, विज्ञान-सूत्र आदि लेख ग्रंथाकार प्रकाशित किये जाने योग्य हैं जिनमें से "वैज्ञानिक अद्वैतवाद" काशी के ज्ञानमंडल से प्रकाशित हो चुका है। विज्ञान-प्रवेशिका के प्रथम भाग का अधिकांश भाग आपने ही लिखा है।

सम्वत् १९७४ में आप विज्ञान-परिषद् से मतभेद के कारण अलग हो गये। आप चाहते थे कि उसकी सारी कार्यवाही हिन्दी, उर्दू, या किसी भारतीय भाषा में हो, अंग्रेजी में न हो; किंतु अन्य सभासदों ने इसे स्वीकार नहीं किया। अलग होने पर भी आपका प्रेम 'विज्ञान' से अथवा विज्ञान-परिषद् से नहीं हटा। आप विज्ञान में लेख अब तक दे रहे हैं और विज्ञान-परिषद् के कार्यों की उचित प्रशंसा करते रहे हैं। इससे आपकी उदारता झलकती है। अब आप फिर इसके सदस्य हो गये हैं। 'विज्ञान' के द्वारा आपने नवयुवकों को हिन्दी में वैज्ञानिक विषयों पर लिखना सिखाया और लिखने के लिए उत्साहित किया। प्रयाग में रहकर आपने ये ही काम नहीं किये। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन की परीक्षाएँ जब आरंभ हुई, तब प्रथम संयोजक आपही बनाये गये थे। उसकी नीति स्थिर करने का अधिकांश श्रेय आपको ही है। अस्वस्थता के कारण आप यह काम बहुत दिनों तक नहीं कर सके। हिन्दी के माध्यम द्वारा शिक्षा देने के आप कितने समर्थक हैं इसका प्रमाण आपके उस लेख से मिलेगा जिसे आप ने "अज्ञात हिन्दी-हितैषी" के नाम से लखनऊ-सम्मेलन की लेखमाला में प्रकाशित कराया था।

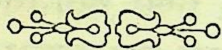
काशी में जाकर अस्वस्थ रहते हुए भी आप चुप नहीं बैठे। आपने सौर पंचांग और सौर रोजनामचा को सम्पादन करके ज्ञानमण्डल से प्रकाशित कराया।* विहारी सतसई का प्रथम भाग प्रकाशित कराने में बहुत कुछ उद्योग किया। हिन्दी-पुस्तक एजेंसी से देवनागरी की पहली पोथी तथा भाषासार-संग्रह (प्रथम भाग) का दूसरा संस्करण अधिकांश में लिखकर तथा संग्रह करके प्रकाशित कराया।

आप अंग्रेज़ी, संस्कृत, फारसी, उर्दू, हिन्दी, के ही पंडित नहीं हैं, प्राकृत, बंगला, मराठी, गुजराती भाषाओं की भी अच्छी जानकारी रखते हैं। आप भगवद्गीता, रामचरितमानस, खुमखुमानए राम तथा स्वामी रामतीर्थ के सभी लेख बड़े प्रेम से पढ़ते हैं। आपका धर्म शुद्धाद्वैत भक्तिभाव-समन्वित है। आपका पारिवारिक जीवन दुखमय है। आप शिरोरोगसे कोई १५ वर्षों से पीड़ित रहते हैं। आपकी धर्मपत्नी भी अधिकतर रोगग्रस्त रहती हैं। इस समय आप की केवल दो कन्याएँ हैं।

आपका स्वभाव बड़ा ही सरल है। बनावट लेशमात्र भी नहीं। मिलनसार ऐसे हैं कि छोटे

* आप चाहते हैं कि राष्ट्रीय व्यवहार में चान्द्र तिथियों की जगह सौर तिथियाँ प्रयुक्त की जायँ; क्योंकि ये सरल हैं। इसी मत के अनुसार पहले वर्ष 'विज्ञान' नियमपूर्वक प्रति संक्रान्ति के दिन प्रकाशित होता था।

छोटे बच्चों से लेकर बूढ़ों तक से आप ऐसी बातें करते हैं कि उनको मोह लेते हैं । अभिमान आपको छू तक नहीं गया है । आपके वेष से यह पता नहीं चलता कि आप अंग्रेज़ी पढ़े हैं। जिस पुस्तक को एक बार पढ़ते हैं वह आपको याद हो जाती है । मन बहलाने के लिए हार-मोनियम और सितार भी बजा लेते हैं । वाद-विवाद में बड़े पटु हैं । अस्वस्थता की दशा में भी आप का समय व्यर्थ नहीं जाता । तीन चार वर्ष से आप बहुत देर तक लिख नहीं सकते; इस लिए अधिकतर लेख बोलकर दूसरों से लिख-वाते हैं । ईश्वर से मेरी यही प्रार्थना है कि आप दीर्घजीवी हों और देश का काम इसी प्रकार किये जायँ ।



असहयोग-सङ्कल्प ।

(लेखक--पं० माधवप्रसाद शर्मा)

(१)

इस ब्रह्म-मंत्र ब्रह्मात्म-ऐक्य
का भाव हृदय में भरने दे ।
निज जननी जन्म-भूमि के हित
अब असहयोग-व्रत धरने दे ॥
इस कण्टक-मय जीवन का मुझ
को मार्ग अकण्टक करने दे ।
अब मोह त्याग नश्वर तन का
निर्भय स्वच्छन्द विचरने दे ॥

(२)

यह "आत्म-त्याग" की तरणि मिली
है मित्र-बंधु-युत चढ़ने दे ।
निःशस्त्र अहिंसक असहयोग
के समर-सिंधु में बढ़ने दे ॥
पटु कर्णधार ले दण्ड खड़ा ,
है साहस मन में भरने दे ।
अब अनायास गम्भीर विपद-
भव-सागर पार उतरने दे ॥

(३)

इस वज्र-दण्ड से दैत्य-दलों
की दमन-नीति को दलने दे ।
जड़ता-जालिम को "ब्रह्मतेज"
के प्रबल-ज्वाल में जलने दे ॥
छल-छद्म-कला में पूर्ण चतुर
उस छलिया को भी छलने दे ।
सद्भाव हृदय में धारण कर
मुझको अब रंग बदलने दे ॥

(४)

कुछ आह नहीं, हथकड़ियों से
अब इन हाथों को कसने दे ।
परवाह नहीं, इस मस्तक पर
अम्बर से बम्ब बरसने दे ॥
शोणित-रञ्जित कर-शम्बों से
तन काट काट कर मलने दे ।
"नैनं छिन्दन्ति" अचल मत है,
चाहे जिस भाँति कुचलने दे ॥

(५)

गाण्डीव मिला यह अर्जुन का,
भीषण टंकार लगाने दे ।
बल-विक्रम मिला पुरन्दर का,
रिपु को ललकार भगाने दे ॥
आदित्य-प्रभा से तेज मिला,
जीवन की ज्योति जगाने दे ।

ने देश का क्या काम किया। सरकारी नौकरी के बंधन में जकड़े हुए, पारिवारिक झंझटों में फँसे हुए, शरीर से अस्वस्थ रहते हुए, आपने जो काम किये हैं उससे प्रत्येक नवयुवक को अच्छी शिक्षा मिल सकती है। सरकारी नौकरी करने के कारण आपने अधिकतर काम गुप्त रूप से किया है। आपके राजनैतिक तथा सामाजिक विचार बहुत उच्च है. दस वर्ष की अवस्था से ही आपने साहित्य सेवा आरम्भ की। आपकी लिखी संक्षिप्त रामायण की चर्चा हो चुकी है। स्वप्नादर्श की रचना भी इसीके लगभग हुई थी जो अभी तक अप्रकाशित है। १३, १४ वर्ष की अवस्था से आपकी कविताएँ 'रसिकबाटिका' में छपती रही हैं। इनका संशोधन राय देवीप्रसादजी पूर्ण करते रहे; इसलिए आप पूर्णजी को अपना कविता-गुरु मानते हैं। १८,२० की अवस्था की कविताएँ 'छत्तीसगढ़ मित्र' में छपा करती थीं जिनमें से कुछ इंडियन प्रेस की 'कविताकुसुममाला' में ली गयी हैं। आपका उपनाम 'रस' था। आपने काशी की नागरीप्रचारणी सभा के लिए बाबू श्यामसुन्दरदास के आग्रह करने पर अंग्रेज़ी में सम्वत् १९६२ तक के समस्त ज्ञात ग्रन्थों की सूची तैयार की थी जिसमें ग्रन्थ के निर्माणकाल, कवि का संक्षिप्त वृत्त इत्यादि दिया है और जो अनेक ग्रन्थों तथा रिपोर्टों से संकलित की गई है। यह ग्रन्थ अभी तक अप्रकाशित है। इससे मिश्रबन्धुओं ने बहुत लाभ उठाया है।

कायस्थपाठशाला में काम करते हुए आपने उर्दू में 'गौड़हितकारी' नाम का मासिक पत्र निकालना आरंभ किया जो गौड़ कायस्थों के पास बिना मूल्य भेजा जाता था। केवल छपाई का खर्च चार पाँच उदार सज्जनों से लिया जाता था। इसके द्वारा आपने बिखरे हुए गौड़ कायस्थों को एक किया। उनमें इतनी जाग्रति कर दी कि वे समय की आवश्यकताओं को समझने लगे। म्योर कालेज में नौकरी कर लेने पर सरकारी नियम के अनुसार "गौड़ हितकारी" का सम्पादन-भार प्रगट रूप से दूसरों को देना पड़ा; परन्तु काम आप ही करते रहे। इस प्रकार यह पत्र सं. १९७१ तक चला। इस पत्र में आपके बहुत से सामाजिक तथा धार्मिक लेख 'अबदुल्लाह' के नाम से छपते रहे। यह नाम 'विज्ञान' में बहुत आया है।

सं. १९६७ में आपने गौड़ कायस्थों का इतिहास "तजकिरए सुचारुवंशी" के नाम से प्रकाशित किया। इसके पढ़ने से जान पड़ता है कि आपको इतिहास का कितना ज्ञान है। इसके तैयार करने में आप दो दो तीन तीन बजे रात तक काम किया करते थे जिसके कारण आपका स्वास्थ्य बहुत बिगड़ गया था।

आप स्त्रीशिक्षा के बड़े पक्षपाती हैं। प्रयाग से पं. सुदर्शनाचार्य के सम्पादकत्व में निकलने वाली "गृहलक्ष्मी" का आदर्श स्थिर करने में गौड़जी का बड़ा भाग है। परन्तु पहले दो तीन वर्ष की गृहलक्ष्मी में आपके लेख अनेक गुप्त और प्रकट नाम से तथा बेनाम निकले हैं। गृहप्रबन्ध, बालविहार, विज्ञानवती, नानी की कहानी, कपड़े रंगना इत्यादि क्रमानुसार निकलने वाले लेखों का आरंभ आपने ही किया था। सतीसावित्री की कथा, आतमराम की कहानी, तथा यूरोप का घोर संग्राम आपकी ही लेखनी से लिखे गये थे। सुदर्शन प्रेस से प्रकाशित 'वनिता'

बुद्धि-विलास' का भी अधिकांश आपने ही लिखा है। जबतक गौड़ महोदय 'गृहलक्ष्मी' में लेख देते रहे तब तक उसकी दशा भी अपूर्व थी।

आपने 'दि ग्रेट इल्लूज़न' का हिन्दी अनुवाद 'भागी भ्रम' के नाम से लिखा है। इसकी प्रस्तावना में यूरोप का जो संक्षिप्त इतिहास दिया गया है उससे आपके ऐतिहासिक ज्ञान का पता लगाया जा सकता है।

आप कहा करते हैं कि संस्कृत, फ़ारसी इत्यादि भाषाओं का ज्ञान तो घर पर भी प्राप्त किया जा सकता है; परन्तु विज्ञान का ज्ञान स्कूल या कालेज में बिना पढ़े नहीं हो सकता; इसलिए, जहाँ तक हो सके, स्कूल और कालेज में विज्ञान का अध्ययन करना चाहिए। परन्तु आप इतने से ही संतुष्ट नहीं हुए। आपका विचार है कि मानसिक, धार्मिक तथा सामाजिक संकीर्णता को दूर करने के लिए विज्ञान का प्रचार भारत के कोने कोने में होना चाहिए। इसी उद्देश्य से आपने प्रयाग में विज्ञान-परिषद् नाम की संस्था को स्थापित करने का विचार मित्रों में प्रकट किया और उद्योग करके डाक्टर सुन्दरलाल, डा० गंगानाथ झा तथा अन्य विद्वानों को इस ओर प्रवृत्त किया जिससे १९६९ वि० में विज्ञान-परिषद् स्थापित हो गई। इसका उद्देश्य उर्दू-हिन्दी में व्याख्यानों तथा सरल सुबोध पुस्तकों द्वारा जनता में विज्ञान का प्रचार करना है। यह काम तीन चार वर्षों तक बड़ी सफलता के साथ चलता रहा। १९७२ वि० की मेष संक्रांति से इस परिषद द्वारा 'विज्ञान' नाम का मासिक पत्र भी निकालना निश्चित हुआ। इस सम्बन्ध में आपने जो उद्योग किये हैं उसका अनुमान नीचे लिखे अवतरण से किया जा सकता है:—

"हमें आशा थी कि जिन महात्मा के प्रयत्न से 'विज्ञान' ने हिन्दी संसार में जन्म लिया था, जिनके परिश्रम से विज्ञान-परिषद् की स्थापना हुई थी और जिन्होंने परिषद् के मंत्री-रूप में न मालूम उसकी कितनी सेवा की थी, उन्हीं महानुभाव बाबू रामदास गौड़, एम. ए. की असीम विद्वत्ता और पूर्णानुभव से हम लोग 'विज्ञान' की इस बाल्यदशा में बहुत कुछ लाभ उठाते रहेंगे; परन्तु यह आशा दुराशामात्र ही निकली। कुछ काल तक हम लोग गौड़ बाबू के पाण्डित्य से लाभ नहीं उठा सकते। साधारण परिस्थिति में रहकर भी, उन्होंने जिस पाण्डित्य-लाभ और देश-हितैषी कार्यों में तत्परता के कारण अपने शरीर को भुला सा दिया था उसीने गौड़ बाबू के स्वास्थ्य को सत्यानाश कर डाला है। मस्तिष्क से शक्त्यतीत काम लेने से आपको विकट शिरोरोग ने घेर लिया है। आप कोई चार महीने से बराबर छुट्टी पर हैं; परन्तु अभीतक आपकी पीड़ा कुछ भी कम नहीं हुई। अब आप छः महीने की छुट्टी लेकर प्रयाग छोड़ बनारस को जानेवाले हैं। ऐसी अवस्था में आप परिषद् का काम करने से सर्वथा असमर्थ हैं।............जब तक गौड़जी का स्वास्थ्य बिल्कुल ठीक न हो जाय हम प्रार्थना करते हैं कि कोई सज्जन परिषद-संबंधी पत्र-व्यवहार आपसे न करें। ऐसी दशा में उत्तर प्राप्त करने की प्रतीक्षा वृथा है।'

[विज्ञापन, भाग १, पृष्ठ २४३, सं. १९७२]

प्रयाग से बाहर चले जाने पर आपकी

रँग गया अहिंसक-समर-रंग
में विजय-गान शुभ गाने दे ॥

(६)

अब हनूमान-हुंकार लगा
खल-मण्डल को विचलाने दे।
निज हृदय-तूण से खींच "त्याग"
के तीखे तीर चलाने दे ॥
दावाग्नि फूँक कर "आत्म-तेज"
की दुनिया को दहलाने दे।
धर रौद्र-रूप नवल अवतार
त्रिलोचन का कहलाने दे ॥

(७)

घनघोर जटिल जीवन -संगर
का सम्प्रति साज सजाने दे।
वर विश्व-विमोहक विश्व-विजय
की भेरी मधुर बजाने दे ॥
कर आज आत्म-बलिदान धर्म-
हित त्रिभुवन को गुञ्जाने दे।
मम शोणित की प्रत्येक बूँद
लाखों शहीद उपजाने दे ॥

(८)

चन्दन की चञ्चल चारु चिता
देगी चिर शान्ति दहकने दे।
मम दग्ध देह से "देशभक्ति"
की दैवी सुरभि महकने दे ॥
बन विमल वायु इस ब्रह्म-अंश
को प्रमुदित चित्त विहरने दे।
देशाभिमान के हृदय हृदय
में सात्विक भाव वितरने दे ॥

(९)

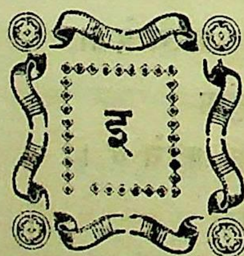
फिर एक बार भारत-नभ में
स्वाधीन ध्वजा फहराने दे।
विज्ञान-बाग में ललित कला
की ललित लता लहराने दे ॥
जग के समस्त विपरीत शक्ति-
घन घुमड़ घुमड़ घहराने दे।
भारत-बल-तडिच्छटा इन सब-
की छाती पर छहराने दे ॥

(१०)

इस पुण्य लग्न में वीरोचित
उस मृत्यु-वधू को बरने दे।
रण मण्डप में तद् मस्तक पर
वर माँग रुधिर की भरने दे ॥
शुभ स्वागत को सुर-वृंद खड़े
हैं सत्वर स्वर्ग सिधरने दे।
जब मरना है, इस शुभ अवसर
पर, मृत्यु ! हमें तू मरने दे ॥

महात्मा कारलाइल का उपदेश और हमारे दार्शनिक विचार।

(लेखक—बाबू रामस्वरूप गुप्त, एम. ए.)



तिहास के साधारण विद्यार्थी भी राजनैतिक विसवों की तिथि, विवरण, इत्यादि स्मरण रखते हैं; परन्तु उनके मूल में जो सामाजिक अथवा आर्थिक विसवं कारण-रूप से हुआ करते हैं उनको पर्याप्त रूप से मसझ सकना साधारण विद्या बुद्धि द्वार नहीं होता। विचार-विसवों का जो अन्य सब भाँति के परिवर्तनों का आदि-कारण हुआ करते

हैं और जो बहुधा अदृश्य रूप से हो जाया करते हैं मर्म्म केवल उच्च कोटि के कृतविद्यगण तथा विचारवान् लोग ही समझते हैं । फिर, ये विचार-विप्लव क्रमशः जीवन के अन्य क्षेत्रों में किस भाँति हलचल मचा देते हैं, उनके कारण कैसी आँधी चलती है जो सामाजिक और राजनैतिक जीवन को किस प्रकार डाँवाडोल कर देती है, और प्रकट रूप में तोपें गरजती हैं, सौंदर्य्य-पूर्ण नगर उजाड़ हो जाते हैं, मरु-भूमि में खेती लहलहाने लगती है और शून्य पर्वतों पर झंडे फहराते हैं । इन शक्तिशाली विचार-विप्लवों के उत्पादक अन्य कारण क्या होते हैं, किन कारणों से नीच जातियाँ कुलीन और शक्ति—सम्पन्न लोगों से मुकाबल करने को प्रस्तुत हो जाती हैं और मान और भय के स्थान पर द्वेष और तिरस्कार के साथ उनको देखती हैं. पुराने मंदिर और मठ त्याग दिये जाते हैं और नये ढंग से देवोपासना होने लगती है, इत्यादि परम गूढ़ समस्याओं का मर्म्म समझना अत्यंत कठिन है । इनकी गति बड़ी ही गहन है । परन्तु यह भी अत्यावश्यक है कि समाज को अनुचित पथ पर जाने से रोकने के लिए, भावी आपदाओं के गड्ढे में गिरने से बचाने के हेतु इस प्रकार की समस्याओं के भूत और वर्तमान उदाहरणों का अध्ययन किया जाय । मनुष्य जाति की चाल ही लड़खड़ाती हुई है । हम लोग ठोकरें खाकर ही आगे बढ़ते हैं । यह अकर्मण्य व्यक्तियों और समाजों का स्वाभाविक नियम है । इसी के अनुसार प्रत्येक समाज और देश भारी भारी भूलें करके संकटों और विप्लवों के अनुभवों में से विचरता है और सम्हल सम्हल कर आगे बढ़ता जाता तथा दूसरे पथिकों के लिए उदाहरण उपस्थित करता जाता है । जो बुद्धिमान हैं वे दूसरे की भूलों से शिक्षा लाभ करते हैं ।

भारतवर्ष में वर्तमान युग 'विप्लवों का युग' है । राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक प्रत्येक क्षेत्र में विप्लव उपस्थित हो रहे हैं । बूढ़ा भारत कायाकल्प कर रहा है । इस बात पर ध्यान देने से कि हमारा परिवर्तन पश्चिमीय सभ्यता और पश्चिमीय देशों के सम्पर्क और उन्हींके प्रभाववश हो रहा है यह दूसरी बात भी भलीभाँति समझ में आ जाती है कि हमको पश्चिमी समाजों की भूलों और सुधारों के इतिहास से शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए और उनके अनुभव के प्रकाश द्वारा अपने गन्तव्य-मार्ग के अन्धकार को दूर कर अपना मार्ग निश्चित करना चाहिए। एक तो हम इसके द्वारा अपना मार्ग सुगम कर सकते हैं, दूसरे, विप्लवों (Revolutions) द्वारा अनुचित का प्रतीकार करना और इष्ट पथ तैयार करना सीख सकते हैं । सात्विकी स्वभाव और बुद्धिमानी इसी में है कि धैर्य्य और क्रम के साथ, उद्वेग के वशीभूत न होकर, पुरानी भूलों का सुधार और क्रमोन्नति (Evolution) का राज-पथ स्वीकार किया जाय । उपरोक्त दो पादुकाओं का आश्रय लेकर तपस्वी भारतवर्ष मार्ग के उन काँटों से अपनी रक्षा कर सकता है जिनसे पश्चिमी समाजों के पैर लोहूलुहान होते रहे हैं ।

हमारे देश के विचार और जीवन की कायापलट को एक नवीन रंग में रँगा देखकर विचारवान लोग भयभीत हो रहे हैं । उनको भय होता है कि यदि यह रंग चढ़ गया तो जीवन की शांति, सुख और सौन्दर्य जाता रहेगा । वह इनकी मूल

को ही मुरझा देगा और ऐसे मन्दिर की रचना करेगा जिसमें परस्पर संघर्ष; अभाव और बल-प्रयोग-रूपी लोहे की दीवारों पर जीवन-सामग्री की अधिकता और इंद्रिय-सुख का मुलम्मा चढ़ा होगा, जिसके भीतर स्वार्थ और असंतोष के नगाड़ों की ध्वनि गूँज रही होगी, जिसमें वह ध्वजा फहरावेगी जिसके सन्मुख देशभक्ति, कलाकौशल की वृद्धि इत्यादि मनोरम मंत्र सुवर्णाक्षरों में चमचमाते होंगे; परन्तु उसके पृष्ठ पर घोर कालिमा से जातीय स्वार्थ के लिए निज उदर-पूर्ति का उपदेश लिखा होगा। बुद्धिमानों के हृदय में यह आशंका किस समय दानव सरीखे निर्म्मायिक को देख कर उत्पन्न हुई है ? मायावी महल का वह रचयिता जो सारे महाभारत की जड़ है पदार्थवाद अथवा भौतिकवाद है। पदार्थवाद की परिभाषा लेखक इस स्थल पर नहीं कर सकता। वह आत्मवाद (Spiritualism) से कितना विपरीत है यह लेख से कुछ प्रकट हो जायगा। हमारे देश के विचारों पर, जीवन के व्यवहारों पर, नवीन शिक्षा के विस्तार और देश की परिवर्तित स्थिति के प्रभाव से जिस भौतिकवाद (Materialism) की छाया इस समय पड़ रही है इसी रंग की उससे कहीं अधिक गहरी छाया इंगलैंड देश में विगत युग में पड़ रही थी। भौतिकवाद कहने से हमारा प्रयोजन किसी प्रकार की दार्शनिक मीमांसा से नहीं है; किन्तु जीवन-समस्या की ओर उस बदले हुए दृष्टि-कोण से है जहाँ से मनुष्य इहलोक-सम्बन्धी बातों ही को प्रमुख मानता है और उन्हीं में रत रहता है। परलोक की ओर उसका ध्यान ही नहीं होता। इस प्रकार की बुद्धि की उत्पत्ति आस्तिकता की हानि से होती है। इंगलैंड देश में या यों कहिए यूरोप में, १९ वीं शताब्दी के अंतिम चतुर्थांश से, भौतिकवाद की विशेष वृद्धि होने लगी थी। उन्नीसवीं शताब्दी में वहाँ के विश्वविद्यालयों के विद्यार्थी इस बात में अपना गौरव समझते थे कि वे ईश्वर में विश्वास नहीं करते। इतना ही नहीं, आस्तिकता लज्जास्पद समझी जाने लगी थी। अतएव धर्म्माधर्म्म भाव में प्रकृत्येतर कोई दैवी सम्बन्ध है यह बात अमान्य हो गई थी। लौकिक सुख के सिवा मनुष्य के जीवन का अन्य क्या उद्देश्य हो सकता है यह समझ नहीं पड़ता था।

इस प्रकार के विचार-विप्लव का बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध उस युग की दो महान् घटनाओं से था। एक तो प्राचीन सामाजिक संगठन था जिसमें कुलीन वंशज राजनैतिक और चर्च-सम्बन्धी प्रभुत्व को अपनाये हुए थे और अन्य प्रजा सब भाँति पद-दलित था। उसको छिन्न-भिन्न करके तुल्याधिकार और प्रजासत्ता का उदय करने वाली फ्रांस की राज्यक्रांति थी। दूसरे, प्राचीन शैली की कारीगरियों को जिसमें कारीगर लोग बड़े बड़े धन-सम्राटों के आधिपत्य में नहीं, किन्तु स्वतंत्रता और स्वच्छंदता--पूर्वक जीविकोपार्जन करते थे, मटियामेट करके बड़ी बड़ी मशीनों और कारखानों को स्थानापन्न करनेवाली औद्योगिक क्रांति (Industrial revolution)-इंगलैंड तथा अन्य यूरोपीय देशों के राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक जीवन ने इन घटनाओं के साथ अठारवीं शताब्दी के अंतिम चतुर्थांश में पलटा खाना आरंभ किया। इस संक्षिप्त लेख में इतना अवकाश नहीं है कि यह बतलाया जा सके कि इन विप्लवों का मनुष्य के विचार-विप्लव पर कैसा भारी असर पड़ता है। अठारवीं शताब्दी में ईसाई-पादरी--समुदाय का प्रजा के प्रति धर्मो-

पदेशकों के समान नहीं, किन्तु उच्चपदाधिकारियों के समान जबरदस्ती का व्यवहार था। समता और स्वतंत्रता के नवीन युग में चर्च के अत्याचार के कारण लोग चर्च की शिक्षा की भी उपेक्षा करने लगे थे। चर्च पुराने सामाजिक संगठन का पोषक था। अतएव उस संगठन-भ्रष्टता के साथ साथ चर्च भी अपमानित हो गया। विज्ञान और वाणिज्य के हेतु उसके प्रयोग की वृद्धि दूसरी ओर से काम कर रही थी। मनुष्य के हाथ की निर्म्मित दीर्घकाय और आश्चर्यप्रद बातें को देखकर, जहाज़ के द्वारा समुद्र पर दिग्विजय प्राप्त करके, रेल आदि अनेक नवीन आविष्कार कर के मनुष्य ही चराचर जगत का पूर्ण अधिपति समझ पड़ने लगा। मनुष्य की बुद्धि प्रकृति को दासी के तुल्य वश में कर सकती है और वह विचार-शक्ति भी स्वयं पदार्थ से उत्पन्न है। जब तक शरीर में अन्न पचाने की शक्ति रहती है तभी तक बुद्धि भी रहती है। आस्तिकों का एक प्रश्न अब भी शेष था, अर्थात् संसार की रचना में जीव की रक्षा और वृद्धि के लिए जो आयोजन समझ पड़ता है वह किसी हेतुयुक्त रचयिता के बिना कहाँ से आया? डारविन साहब के क्रमोन्नति (Evolution) और जीवन-संग्राम (struggle of life) के सिद्धान्तों ने इस बात का उत्तर दे दिया कि विश्व की प्रगति में जो ऐसे आयोजन से बाहर होते हैं वे नष्ट हो जाते हैं।

इस प्रकार से यूरोप में जीवन के प्रति जिस बुद्धि का विस्तार महात्मा मसीह के धर्म ने किया था उसपर दूसरे प्रकार की छाया पड़ने लगी। जब यह लोक ही मनुष्य-जीवन की इतिश्री है तो इसके बाहर क्या लक्ष्य हो सकता है? सांसारिक उन्नति ही जीवन का उद्देश्य है। सांसारिक सुख ही उस उन्नति का आदर्श है। जब ईश्वर ही नहीं, तो (Fatherhood of God and brotherhood of man) ईश्वर हमारा पिता है और सब मनुष्य भाई हैं इस शिक्षा का क्या अर्थ? यदि भिन्न भिन्न मनुष्य-जीवन इस प्रकार की चिनगारियाँ हैं जो किसी एक वृहत् प्रकाश के ही अंशमात्र नहीं, किन्तु वे अन्धकार ही में उत्पन्न हुए और अंधकार ही में लय हो जायँगे तो उनमें परस्पर सम्बन्ध क्या है? फिर भ्रातृभाव कहाँ से आया? स्वार्थ का अटल राज्य होना चाहिए। सदाचार, दया आदि विशिष्ट गुण भी केवल पारस्परिक स्वार्थ के कारण माननीय हैं; अतएव जहाँ स्वार्थ की क्षति न हो वहाँ नीति (पालिसी) का आश्रय लेकर अपना कार्य्य सिद्ध करना चाहिए। जीवन-संग्राम में सक्षम की जीत होती है और सक्षम वह है जो अपनी परिस्थिति के अनुकूल व्यवहार करना जानता हो—'जैसी बहै बयार पीठ पुनि तैसी दीजै'। जीवन-व्यवहार में धर्मनीति के नियम त्याज्य और राजनीति के आचरणीय हैं। जीवन-संग्राम में दुर्बलों को जीवित रहने का क्या अधिकार है? अपने अपने अधिकारों की रक्षा करने की सदैव चेष्टा करनी चाहिए! अपने अधिकारों की वेदी पर प्राणाहुति भी करना मनुष्य का सर्वश्रेष्ठ धर्म है। इस प्रकार के विचारों का स्वाभाविक फल यह था कि व्यक्तिगत जीवन (private life) में अपने अधिकार का पूर्ण उपयोग करना, अपने स्वार्थ की तनिक भी उपेक्षा न करने को सद्गुण मानना; तथा सार्वजनिक जीवन में समुदाय के अधिकारों और स्वार्थ के लिए लड़ना मनुष्य का कर्त्तव्य समझा जाय। परन्तु, प्रत्येक समुदाय को अपने अपने स्वार्थ की रक्षा करने के लिए स्वयं कटिबद्ध हो जाना चाहिए। यह नहीं कि दो समुदाय एक दूसरे के प्रति पूर्ण कर्त्तव्य पालन ही में प्रवृत्त रहें। जीवन की ओर इस प्रकार

की दृष्टि हो जाने से असंतोष की मात्रा अत्यधिक हो जाती है। जिनके स्वार्थ को क्षति पहुँचती है वे बदला लेने के लिए उत्तेजित रहते हैं और जो अत्यधिक लाभ उठाते हैं वे और अधिक के लिए तृषित और लालायित रहते हैं।

जब यूरोप में इस प्रकार के विचारों की धारा बह रही थी, तो यह असम्भव था कि साहित्य भी उसी रंग में न रँगा रहता। प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ के जीवन की प्रतिकृतिमात्र होता है। किसका साहस था कि उस समय अन्य प्रकार की शिक्षा दे और जीवन के प्रति सच्ची सात्विकी बुद्धि का प्रचार करे ? इस समय इंग्लैंड के साहित्य-क्षेत्र में "सर्टर रिसर्टस" का पदार्पण ऐसी ही उथल-पुथल मचाने वाली घटना हुई होगी कि इंग्लैंड-नरेश के महल (Windsor castle) में डायनगीस उस समय प्रवेश करे जब और अमीर-उमरा भेंट करने आ रहे हों। आजकल अपने सिर को एक विशेष प्रकार से झुकाना, हाथों को अमुक रीति से व्यवहार में लाना, खाँसी आवे तो उसे दबा देना इसे शिष्टाचार कहते हैं। अपने प्रत्येक भाव, और उमंग को प्रकाशित करना अनुचित समझा जाता है; परन्तु अब एक ऐसे समालोचक का अवतार हुआ जो संसार की समालोचना ऐसे खुले शब्दों में करता था जिनमें अद्भुत वाक्पटुता थी।

फ्रांस की राज्यक्रांति का फल यह हुआ कि मनुष्यों ने अपने पुराने सामाजिक विचारों और विश्वासों का जिनसे उन्होंने अत्यंत दुःख उठाये थे स्वतंत्रता के आवेग में तिरस्कार कर दिया और यह प्रभाव सारे यूरोप में फैल गया था। उद्वेग भरी हुई इस उधेड़बुन में उन्होंने अपनी प्रारंभिक और मूलस्वरूप जीवनी से कुछ शक्तिमय अचल सिद्धान्तों का भी बहिष्कार किया था। परिणाम यह हुआ कि यूरोप में ठेठ भौतिकवाद का प्रारंभ हो गया। उनके लिए अब ईश्वर का अस्तित्व ही न रहा, बुद्धि केवल जड़ पदार्थ का विकाशमात्र मानी जाने लगी और जीवन जड़ प्रकृति के नियमों के चेतनाहीन कारणों का कार्य माना गया। पहले मनुष्य मदोन्मत्त कुलीन वंशों और वैसे ही अभिमान-पूर्ण पादरियों की चक्की में पिसे जा रहे थे, अर्थात् ग़रीब साधारण प्रजा पर सामाजिक अन्याय की चक्की चल रही थी जिसमें दो पाट ये दो दल थे। अब इनसे अपना स्वयं छुटकारा प्राप्त करके मनुष्यों ने देखा तो उन्हें परमात्मा दिखाई ही न पड़ा और यह प्रतीत होने लगा कि शायद वह दिन भी आवे जब ऐसी मतियों को संसार घड़ी के यंत्र के समान चलता हुआ जान पड़े, ईश्वर कोई गैस अथवा प्राकृतिक शक्ति विशेष माना जाय और क़ब्र ही परलोक जान पड़े।

यह अवस्था उस पुराने विश्वास का स्वाभाविक प्रतीकार-रूप थी जिसके अनुसार जीवन की सब बातें पहिले ही से विधाता निश्चय कर देता था। विधाता भाग्य में सब कुछ पहिले ही से लिख देता है अथवा जो अन्न-जल बदा होता है वही मिलता है आदि सिद्धांत मान लिये जाएँ, और परमात्मा ने मनुष्य को स्वतंत्रचेता बनाया है इस सिद्धांत का परित्याग कर दिया जाय तो जीवन-रूपी वाटिका मरु-भूमि हो जाती है। यदि मनुष्य अपनी आत्मोन्नति के हेतु कुछ भी भला करे या कहे, तो बदे हुए पर उसका कुछ प्रभाव ही नहीं पड़ता-यदि मनुष्य के भाग्य में जन्म के पहिले ही उन्नति अथवा अधःपतन, सुख अथवा दुःख लिखा गया है जिस पर साधु अथवा दुष्ट कार्य्यों से कुछ परिवर्तन नहीं हो सकता तो साधुता और सद्गुणों को उत्तेजना कहाँ से मिलेगी।



श्रीयुत बाबू रामदास गौड़, एम. ए.



एकादश हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन
के सभापति
बाबू भगवान्दासजी, एम. ए.

परन्तु इन विचारों का प्रतीकार—रूप जो भौतिक-वाद उत्पन्न हुआ उसने मनुष्य को हृदय हीन बना दिया, उसकी सत्ता को अधूरा रख छोड़ा।

महात्मा कारलाइल जीवन के सच्चे अर्थ के अनुसंधान में निरत थे। अपने पूर्व पुरुषों के घर में जिसका अटल राज्य था, जिसके मध्य में उनका शिक्षण-पोषण हुआ था वह भाव उनके हृदय से धीरे धीरे निकलने लगा। उनके विचारों का गुब्बारा भावों के सूक्ष्मतर आकाश में क्रमशः उठ रहा था। उनको विश्व-समस्या का भौतिकवाद-रूपी उत्तर संतुष्ट नहीं कर सका। मनुष्य में प्रेम, दया, विचार-शक्ति और सन्मार्ग की ओर मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति के आख्यान के हेतु उन्हें ऐसी जाग्रत शक्ति की सत्ता आवश्यक प्रतीत होती थी जो चैतन्य, भावपूर्ण और दयालु हो। जब कट्टर विचारों का आश्रय जाता रहा तो शून्य एवं भावहीन भौतिकवाद को छोड़कर वह अन्यत्र निर्बन्ध की खोज करने लगे। कान्ट और गेटे के सन्देशों से उन्हें शान्ति मिली। इस विश्व-समस्या का जो हल उन्होंने किया वह सर्टर रिसर्टस नामक पुस्तक में है।

कारलाइल प्रकृति को भावपूर्ण, जाग्रत एवं परम शक्ति का प्रगट रूप देखते थे। संसार उनके लिए निर्जीव पदार्थ का जीर्ण रूप नहीं था, किन्तु एक वाटिका थी। वह उस मत के अनुयायी नहीं थे जिसमें परमात्मा ने संसार का निर्म्माण करके उसके चक्र को चला दिया और तत्पश्चात् वह दूर बैठे हुए निश्चेष्ट द्रष्टा (तमाशबीन) के समान हो गया और कुम्भकार की भाँति उसको ठीक ठीक चलाने की कोई चिन्ता नहीं की। इसे अंग्रेजी में (Deism) कहते है।

जरमन विचारकों को पदार्थ में उस शक्ति भास होता था जो पदार्थ को नष्ट करने से नहीं होती। अतएव प्रकृति में वे पुरुष को देखते थे जो प्रत्येक व्यक्ति का जीवनद है। प्रत्येक वस्तु में परमात्मा को देखना यह अद्वै वाद का एक रूप है। इससे भौतिकवाद के निश्चेष्ट द्रष्टा-बुद्धि (उपरोक्त deism) दोनों खंडन होता है। कारलाइल का मत था कि प्रकृ के परे एक शक्ति है जो सत् और चैतन्य जिसके सन्मुख हम लोगों को भय और विन पूर्वक साष्टांग प्रणाम करना चाहिए और जिस पूजा शब्दों से नहीं, वरन निस्तब्ध भाव से कर चाहिए।

पदार्थ अव्यक्त शक्ति का व्यक्त स्वरूप "उस अदृष्ट ईश्वरीय शक्ति का आवरण है अरूप और अचिन्त्य है, जो प्रकाश के कार निरीह है।" चेतना का उद्भव प्रकृति से नहीं क्योंकि प्रकृति सबको एक सी प्रतीत नहीं होती रंग-रूप तक के विषय में कुछ लोगों की सम बहुमत से भिन्न होती है। क्षणिक और परिवर शील पदार्थ के परे परमात्मा की जाग्रत चैत शक्ति संसार के कल्याण के अर्थ कार्य्य कर र है।

कारलाइल उस सत्ता को अगम्य और अचिंत्य मानते थे। "सर्वश्रेष्ठ बुद्धिमान् मनुष्य के लिए भी प्रकृति अगाध है, उसका विस्तार अनंत है और उसका जो कुछ अनुभव है वह कुछ शताब्दियों और कुछ ही वर्गमीलों तक परिमित है।" मनुष्य विश्व के भेद को उतना ह जानता है जितना कि एक जल का कीड़ सामुद्रिक लहरों, ट्रेडविंड, मानसून, और चंद्रग्रह

आदि के बारे में जानता है। हम लोग समय और विस्तार के भीतर बंद पड़े हैं।

कर्मयोग करलाइल का मिशन है। वे कहते हैं। "अपने को जानना! तुम अपने को कभी नहीं पहिचानोगे। अपने कर्तव्य को पहिचानो—इसीमें सच्चा लाभ है....परमात्मा को पहिचानो। मुझे संदेह है कि इस ज्ञान की मोटी मोटी बातें जानने में समय का अंत आ जायगा। यह पहिचानो कि परमात्मा का तुम्हें क्या करने का आदेश है और उसे करो"।

कारलाइल ने लिखा है कि प्रत्येक मनुष्य सुख के लिए उद्योग किया करता है। "परंतु मनुष्य के भीतर सुखाकांक्षा से उच्चतर वस्तु विद्यमान है। सुख (happiness) की इच्छा छोड़ दो और उसके बदले परमत्व (Blessedness) प्राप्त करो। इसी उच्चतर की शिक्षा देने के हेतु महात्मा और शहीदों, कवि और धर्मगुरुओं ने सब कालों में अपनी वाणी का प्रयोग किया है, आत्मबलिदान किया है और अपने जीवन और मृत्यु के द्वारा मनुष्य में जो ईश्वरत्व है उसकी साक्षी दी है और इसी तत्व में मनुष्य का सच्चा बल और स्वतंत्रता है।" पुनः लिखा है "यूनानी दार्शनिक जेनों (Zeno) ने तुम्हें इस बात की शिक्षा दी थी कि इस लोक और यहाँ की यातनाओं पर तुम ठोकर मार कर विजयी हो सकते हो यह तुच्छ कार्य्य है। तुम लोक को जो तुम्हें यन्त्रणा दे रहा है प्यार कर सकते हो और इसी सबब से प्यार कर सकते हो। इस उपदेश के लिए जेनों से ऊँचे गुरु की आवश्यकता थी और वह भी (महात्मा मसीह के रूप में) भेजा गया। क्या तुम दुःखकी आराधना (worship of sorrow) करना जानते हो? अठारह सौ वर्ष पूर्व उसका मंदिर (ईसाई धर्म्म) स्थापित किया गया था। वह अब नष्टभ्रष्ट हो रहा है, वहाँ बड़ा जंगल हो रहा है, उसमें नीच पशु रहते हैं।"

एक बुद्धिमान् ने हमें बहुत ठीक शिक्षा दी है—किसी तरह की भी संशयात्मक बुद्धि केवल कर्म करने से दूर हो सकती है, इसी कारण जो संशयात्मक अन्धकार में भटक रहा हो, टटोल रहा हो और कष्ट पाता हो, जिसका प्रकाश अनिश्चित हो और जो प्रकाश के अर्थ उद्विग्न हो उसे यह शिक्षा भली भाँति हृदयस्थ कर लेना चाहिए—"उस कर्तव्य का पालन करो जो तुम्हारे सन्मुख उपस्थित हो, तत्पश्चात् तेरा क्या कर्तव्य है यह स्वयं स्पष्ट हो जायगा"।



आनरेबिल लाला धड़ामदासजी।

(लेखक—पण्डित बदरीनाथ भट्ट, बी. ए.)

कौंसिल-ऑव-स्टेट की मेम्बरी के लिए सेठ धड़ामदासजी खड़े होते तो हो गये, मगर बाद को जो मुसीबतें उन्हें झेलनी पड़ीं वे सभी को मालूम हैं। हजारों अड़चनें आईं, लोगों ने नाउम्मेद किया, रात रात भर बिना झपकी लिए घड़ी की टिक् टिक् पर ध्यान लगा रहा, मगर आखिर

को—सरकार के 'कारप्ट प्रेक्टिसेज़ एक्ट' पास कर देने पर भी — ताऊजी ने (जिनका पहले रुई के सट्टे में बम्बई में दिवाला निकल चुका था और जो आजकल अपने भर्ताजे की कोठी का काम सँभालते हैं) भीतर ही भीतर रुपये की वह रेल पेल मचाई और ऐसे ऐसे ढँग से जुगत लगाई कि धड़ामदासजी को बड़ी कौंसिल की कुरसी मयस्सर हो ही गई और दुश्मन भी जल-भुनकर खाक हो गये। मेम्बरी हासिल हो जाने के बाद दोस्तों और मिलनेवालों की दावत हुई जिसमें—ज़ात-बिरादरी में नाच की मनाई होने पर भी — मशहूर तवायफ़ अल्ला-निकाली का गाना हुआ अमीर आदमी का मामला था; इस लिए बिरादरी की पंचायत भी खिसियानपट की हँसी हँस कर रह गई। अगर कोई ग़रीब ऐसा करता तो फिर देखता मज़ा ! यही नहीं, कई पंचों ने तो इंतज़ाम के मामले में बड़ी सरगरमी से अपने हाथ-पैरों को हिलाया डुलाया। लड्डू, कचौड़ी और रायते की याद करके कई दिनों तक लोगों के मुँह में पानी आया किया, और रस-भरी के बारे में तो बस कुछ न पूछिये— क़लम हाथ से छूटी जाती है।

अँगरेज़ों की भी दावत हुई। लालाजी परम वैष्णव थे और 'गोपाल सहस्रनाम' के पाठ के मारे पड़ोसियों को आराम से सोने न देते थे, अँगरेज़ों की खातिरदारी में कमी करना आप अधर्म में दाखिल समझते थे; इसलिए अँगरेज़ी होटल से शराब और केक के साथ दूसरी चीज़ें गोमांस की बनी हुई भी काफ़ी तादाद में मँगवाई गई। १ नम्बर की भगेलू पल्टन का बैन्ड भी अपनी सोरट अलाप रहा था। अँगरेज़ों ने खूब छक कर खाया, और फिर उनमें से एक ने एक छोटी सी स्पीच दी जिसमें लाला की तारीफ़ में कुछ ऐसी बातें भी कही गईं जिनको लाला जानते थे कि झूठी हैं। लाला के अलावा कुछ और लोगों को भी उन बातों के झूठी होने का हाल मालूम था, शायद इसीलिए उनको सुनकर लाला ने गरदन झुका ली हो, मगर आम लोग समझे कि लाला अपनी तारीफ़ सुनने में शरमाते हैं। सब अँगरेज़ों ने उस स्पीच की ताईद की। इसके बाद उन्होंने कुरसियों पर से उठ कर और 'बैल लाला' 'बैल लाला' कह कह कर लालाजी से हाथ मिलाया। लालाजी की सातों पीढ़ियाँ तर गईं !

लाला को अब यह धुन सवार हुई कि कौंसिल में मैं भी कोई तजवीज़ पेश करूँ। कई दोस्तों के अलावा ताऊजी से भी सलाह ली गई; मगर कोई बात ध्यान में न बैठी। एक दिन कई आदमी लाला की बैठक में बैठे बातें कर रहे थे, और बातें भी एकाध विषय पर नहीं, दुनिया में जितने विषय हो सकते हैं सभी पर एक साथ और अन्धाधुन्ध राय-ज़नी की जा रही थी। लाला भी अपने कानों को दुरुस्त कर के और आँखों को पैना कर हरएक बात को ग़ौर से सुनते और अपने मन को खुफ़िया पुलिस का हेड कानिस्टबिल बना कर उसकी तह तक भेजते थे; क्योंकि उन्हें कौंसिल में एक नई तजवीज़ पेश करके दुनियाँ पर अपनी ल्याक़त का सिक्का जमाना था और अपने उन दुश्मनों को जलाना था जिन्होंने चुनाव के दिनों में उनकी नालायक़ी के ढोल पीटने की बेहूदा हरकत की थी। कमरे के एक कोने में मुनीमजी चादर में लिपटे हुए ऐसे अलग पड़े थे मानो किसी निजी और ज़रूरी

काम के बारे में यमराज से काना-फूँसी कर रहे हों। तलाश करने पर मालूम हुआ कि उनकी डाढ़ में दर्द है। उसी वक्त एक शख्स अपने घर से थोड़ा सा मंजन ले आया जिसके लगाते ही मुनीमजी के मसूढ़ों में से बादी का पानी निकलना तो एक तरफ़, उनका सारा पेट ही साफ़ हो गया और दर्द-वर्द भी न जाने किधर काफूर हो गया। ख़ैर, बैठक बरख़ास्त हुई और सब लोग अपने अपने घर गये।

कौंसिल की अगली बैठक में पेश करने के लिए एक तजवीज सेठजी ने भी डरते डरते भेज दी थी। मगर जब कौंसिल के लिए दिल्ली पहुँचे और सब से मिले-जुले तब क़रीब क़रीब सभी अँगरेज़ और हिन्दुस्थानी मेम्बर इनके पीछे पड़ गये कि अपनी तजवीज वापिस ले लीजिए। उस दिन कौंसिल का वक्त दूसरे कई कामों में पूरा हो गया और इनकी तजवीज़ पेश न होने पाई।

डेरे से लौट कर बूट जूते के फीते खोलते हुए इन्होंने ताऊजी से (जिन्हें ये अपने साथ दिल्ली ले गये थे) कहा—"मेरी तजवीज ऐसी तगड़ी रही कि उसके मारे सब काँप गये। यों कहैं हैं कै वापस ले लो। तुम्हारी क्या राय है?" ताऊजी ने जवाब दिया—"वापस न लेने से सायद जे बदमाश मैम्बर लोग नाराज हो जायँ और कल्ह से सब कुरसियाँ आप ही घेर लें, तुझे बैठने को न दें; इससे वापस ही ले ले। जमाना बुरा है।"

दूसरे दिन तजवीज़ वापिस ले ली गई। लालाजी के शब्दों में तजवीज़ यों थी—"जे कौंसल लाट साब से सिपारस करती है कै वो एक हुकम निकाल दें कै जो लोग दाँत के लिए मंजन बनाने का पेसा करते हैं वो उसमें सेर पीछै कम से कम तोले भर तुम्बिया जरूर डालें।"

सहन-शक्ति।

(लेखक—पण्डित रामचरित उपाध्याय)

(१)

जेल केलिवन, कालकोठरी
क्रीड़ा-गृह के सम होवे।
पुष्प-शयन से भूमि-शयन भी
भगवन्! हमें न कम होवे॥
कनक-कंकणों से भी बढ़कर
हथकड़ियाँ नित सुखद रहें।
देश-वेश को तजें नहीं हम
चाहे भारी क्लेश सहें॥

(२)

स्वर्ग-वास सा देश-निकाला,
हमें मुक्ति सी फाँसी हो।
ईश्वर! सज़ा नज़रबन्दी की
काशी सी सुखराशी हो॥
पुष्प-वृष्टि सी वृष्टि गोलियों
की अंगों पर हमें लगें।
जन्म-भूमि की रक्षा से पर
सपने में भी नहीं भगें॥

(३)

नश्वर देह, अमर देही है,
सभी जानते हैं इसको।
फिर मरने से मन में कहिए
भय हो सकता है किसको?
यदि भय भी हम करें व्यर्थ है
मृत्यु न देगी छोड़ कभी।
इसीलिए दुर्नीति देश की
प्रीति न सकती जोड़ कभी॥

(४)

बढ़कर आगे हटें न पीछे,
पीछे रहें नहीं जग के।
खल के बल से दबें न पल भर
बचे रहें छल के मग से ॥
मरें न पर से, डरें न पर से,
घर से बिछुड़े रहें नहीं।
कहें न झूठे वचन, वचन भी
दुष्ट जनों के सहें नहीं ॥

(५)

समझें लाल काल को मन में,
समझें तन को ढाल सदा।
बाँका बाल न हो पर कर से,
बरसे यदि करवाल सदा ॥
रहें अचल से कभी न विचलें,
चलें भलों की चाल सदा।
चले न हम पर, हरे ! खलों पर
चले खलों की चाल सदा ॥

(६)

अजर अमर हों धर्म-समर में
कमर कसे हम खड़े रहें।
निज स्वत्वों पर अड़े रहें हम,
बने कड़ों से कड़े रहें ॥
पड़ें प्रलोभन में न परों के,
बने विश्व में बड़े रहें।
गिरें न गुरुता के गिरि से, मत
सेवक बनकर सड़े रहें ॥

(७)

दिन की रात, रात का दिन हो,
पश्चिम में दिनकर निकले।
मरु से सिन्धु, सिन्धु से मरु हो,
जल हो वज्र, वज्र पिघले ॥
पर सत्याग्रह ग्रहण करें यदि
यम भी सन्मुख खड़ा रहे।
चाहे प्राण रहे या प्रण ही
खल-दल पीछे पड़ा रहे ॥

(८)

मत्त मतंगज को पतंग हम
समझें यदि प्रतिकूल रहे।
समझें फूल शूल को भी हम
यदि होकर अनुकूल रहे ॥
कभी स्वप्न में पास हमारे,
त्रास नहीं आने पावे।
आकर सन्मुख शत्रु नहीं फिर,
जीते जी जाने पावे ॥

(९)

नभ भूतल के कठिन कुलावे
को भी कभी मिला देंगे।
सकल तलातल और रसातल
को भी अभी हिला देंगे ॥
कभी कोर्ट में नहीं जाँयगे,
चोट खलों की सह लेंगे।
जो कुछ हम को कहना होगा,
अपनों ही से कह लेंगे ॥

(१०)

देश-प्रेम-रस-पगे हुए हम
अग्नि-कुण्ड में खेलेंगे।
पराधीन हो किन्तु नहीं अब
विविध वेदना झेलेंगे ॥
सिर के सहित प्राण तक देंगें,
पर देंगे हम पीठ नहीं।
या हम कुटिल जनों की कंजी
देख सकेंगे दीठ नहीं ॥

विमाता।

(लेखक—श्रीयुत प्रेमचन्द)

(१)



स्त्री की मृत्यु के तीन ही मास पश्चात् पुनर्विवाह करना मृतात्मा के साथ ऐसा अन्याय और उसकी आत्मा पर ऐसा आघात है जो कदापि क्षम्य नहीं हो सकता। मैं यह न कहूँगा कि यह उस स्वर्गवासिनी की अन्तिम प्रेरणा थी और न मेरा शायद यह कथन ही मान्य समझा जाय कि हमारे छोटे बालक के लिए "मा" की उपस्थिति परमावश्यक थी। परन्तु इस विषय में मेरी आत्मा निर्मल है और मैं आशा करता हूँ कि स्वर्ग लोक में मेरे इस कार्य्य की निर्दय आलोचना न की जायगी। सारांश यह कि मैंने विवाह किया और यद्यपि एक नव-विवाहिता वधू को मातृत्व का उपदेश एक बेसुरा राग था, पर मैंने पहले ही दिन अम्बा से साफ़ कह दिया कि मैंने तुम से केवल इस अभिप्राय से विवाह किया है कि तुम मेरे भोले बालक की 'मा' बनो और उसके हृदय से उसकी मा की मृत्यु का शोक भुला दो।

(२)

दो मास व्यतीत हो गये। मैं सन्ध्या समय मुन्नू को साथ लेकर वायु-सेवन को जाया करता था। लौटते समय कतिपय मित्रों से भेंट भी कर लिया करता था। इन संगतों में मुन्नू श्यामा की भाँति चहकता। वास्तव में इन संगतों से मेरा अभिप्राय मनोविनोद नहीं, केवल मुन्नू के असाधारण बुद्धि-चमत्कार को प्रकाशित करना था। मेरे मित्रगण जब मुन्नू को प्यार करते और उसकी विलक्षण बुद्धि की सराहना करते तो मेरा हृदय बाँसों उछलने लगता था। एक दिन मैं मुन्नू के साथ बाबू ज्वालासिंह के घर में बैठा हुआ था। ये मेरे परम मित्र थे। मुझ में और उनमें कुछ भेद-भाव न था। इसका यह अर्थ नहीं है कि हम अपनी क्षुद्रताएँ, अपने पारिवारिक कलहादि और अपनी आर्थिक कठिनाइयाँ वर्णन करते थे। नहीं, हम इन सद्-व्यवहारों में भी अपनी प्रतिष्ठा की रक्षा करते थे और अपनी दुरवस्था का ज़िक्र कभी हमारी ज़बान पर न आता था। अपनी कालिमाओं को सदैव छिपाते थे। ऐक्यता में भी भेद था और घनिष्ठता में भी अन्तर। अचानक बाबू ज्वाला-सिंह ने मुन्नू से पूछा, "क्यों, तुम्हारी नई अम्मा तुम्हें खूब प्यार करती हैं न?" मैंने मुसकरा कर मुन्नू की ओर देखा। उसके उत्तर के विषय में मुझे कोई सन्देह न था। मैं भली-भाँति जानता था कि अम्बा उसे बहुत प्यार करती है। परन्तु मेरे आश्चर्य्य का ठिकाना न रहा जब मुन्नू ने इस प्रश्न का उत्तर मुख से न देकर नेत्रों से दिया। उसके नेत्रों से आँसू की बूँदें टपकने लगीं। मैं लज्जा से गड़ गया। इस अश्रु-जल ने अम्बा के उस सुन्दर चित्र को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया जो गत दो मास में मैंने हृदय में अंकित कर रक्खा था। ज्वालासिंह ने मुझे कुछ संशय की दृष्टि से देखा और पुनः मुन्नू से पूछा, "क्यों रोते हो बेटा?" मुन्नू बोला, "रोता नहीं हूँ, आँखों में धुँआ लग गया था।" ज्वाला-

सिंह का सौतेली मा की ममता पर सन्देह करना स्वाभाविक बात थी। परन्तु वास्तव में मुझे भी सन्देह हो गया कि अम्बा सहृदयता और स्नेह की वह देवी नहीं है जिसकी सराहना करते मेरी जिह्वा न थकती थी। यहाँ से उठा तो मेरा हृदय भरा हुआ था और लज्जा से माथा न उठता था।

(३)

मैं घर की ओर चला तो मन में विचार करने लगा कि किस प्रकार अपने क्रोध का प्रकाश करूँ। क्यों न मुँह ढाँक कर सो रहूँ? अम्बा जब पूछे तो कठोरता से कह दूँ कि सिर में पीड़ा है। मुझे तंग मत करो। भोजन के लिए उठाये तो झिड़क कर उत्तर दूँ। अम्बा अवश्य समझ जायगी कि कोई बात मेरी इच्छा के प्रतिकूल हुई है। मेरे पाँव पड़ने लगेगी। उस समय मैं अपनी व्यंग-पूर्ण बातों से उसका हृदय बेध डालूँगा। ऐसा रुलाउँगा कि वह भी याद करे। पुनः विचार उत्पन्न हुआ कि उसका हँसमुख मुखड़ा देखकर मैं अपने हृदय को बश में रख सकूँगा या नहीं। उसकी एक प्रेमपूर्ण दृष्टि, एक मीठी बात, एक रसीली चुटकी मेरी इस शिला-तुल्य कृष्टता के टुकड़े टुकड़े कर सकती है। परन्तु हृदय की इस निर्बलता पर मेरा मन झुँझला उठा। यह मेरी क्या दशा है, क्या इतनी जल्द मेरे चित्त की काया पलट गई? मुझे पूर्ण विश्वास था कि मैं इन मृदुल वाक्यों की आँधी और ललित कटाक्षों के बहाव में भी रह सकता हूँ और कहाँ अब यह दशा हो गई कि मुझ में साधारण झोंके को भी सहन करने का सामर्थ्य नहीं! इन विचारों से हृदय में कुछ दृढ़ता आई, तिसपर भी क्रोध की लगाम पग पग पर ढीली होती जाती थी। अन्त में मैंने हृदय को बहुत दबाया और 'बनावटी क्रोध का भाव धारण किया। ठान लिया' कि चलते ही चलते एक दम से बरस पड़ूँगा। ऐसा न हो कि विलम्बरूपी वायु इस क्रोधरूपी मेघ को उड़ा ले जाय; परन्तु ज्योंही घर पहुँचा, अम्बा ने दौड़कर मुन्नू को गोदी में ले लिया और प्यार से सने हुए कोमल स्वर से बोली, "आज तुम इतनी देर तक कहाँ घूमते रहे? चलो, देखो मैंने तुम्हारे लिए कैसी अच्छी अच्छी फुलौड़ियाँ बनाई हैं।" मेरा कृत्रिम क्रोध एक क्षण में उड़ गया। मैंने विचार किया इस देवी पर क्रोध करना भारी अत्याचार है। मुन्नू अबोध बालक है। सम्भव है कि वह अपनी मा को स्मरण करके रो पड़ा हो। अम्बा इसके लिए दोषी नहीं ठहराई जा सकती। हमारे हृदय की भावनाएँ पूर्व विचारों के अधीन नहीं होतीं। हम उनको प्रकट करने के निमित्त कैसे कैसे शब्द गढ़ते हैं। हृदय पर कैसा प्रभाव डालते हैं। परन्तु समय पर वे ही शब्द धोखा दे जाते हैं और वेही भावनाएँ स्वाभाविक रूप में प्रकट होती हैं। मैंने अम्बा को न तो कोई व्यंग-पूर्ण बातें ही कहीं और न कोई कटु वाक्य ही सुनाये, न क्रोधित हो मुख ढाँक कर सोया ही, बल्कि अत्यन्त कोमल स्वर में बोला "मुन्नू ने मुझे आज अत्यन्त लज्जित किया। खज़ानची साहब ने पूछा कि तुम्हारी नई अम्मा तुम्हें प्यार करती हैं या नहीं? तो ये रोने लगे। मैं लज्जा से गड़ गया। मुझे तो स्वप्न में भी यह विचार नहीं हो सकता कि तुमने इनसे कुछ कहा होगा। परन्तु अनाथ बच्चों का हृदय उस चित्र की भाँति होता है जिसपर एक बहुत ही

साधारण परदा पड़ा हुआ हो। पवन का साधारण झोंका भी उसे हटा देता है।" ये बातें कितनी कोमल थीं, तिस पर भी अम्बा का विकसित मुख-मण्डल कुछ मुरझा गया। वह सजल नेत्र होकर बोली "इस बात का विचार तो मैंने यथासाध्य पहले ही दिन से रक्खा है। परन्तु यह असम्भव है कि मैं मुन्नू के हृदय से मा का शोक मिटा दूँ। मैं चाहे अपना सर्वस्व अर्पण कर दूँ; परन्तु मेरे नाम पर जो सौतेलेपन की कालिमा लगी हुई है वह मिट नहीं सकती"।

(४)

मुझे भय था कि इस वार्तालाप का परिणाम कहीं विपरीत न हो। परन्तु दूसरे ही दिन मुझे अम्बा के व्यवहार में बहुत ही अन्तर दिखाई देने लगा। मैं उसे प्रातः से सायंकाल पर्य्यंत मुन्नू ही की सेवा में लगा हुआ देखता, यहाँतक कि उस धुन में उसे मेरी भी कुछ चिन्ता न रहती। परन्तु मैं ऐसा त्यागी न था कि अपनी आकांक्षाओं को मुन्नू पर अर्पण कर देता। कभी कभी मुझे अम्बा की यह अश्रद्धा न भाती। परन्तु मैं कभी भूल कर भी इसकी चर्चा न करता। एक दिन अनियामित रूप से मैं दफ्तर से कुछ शीघ्र आ गया। क्या देखता हूँ कि मुन्नू द्वार पर भीत की ओर मुख किये खड़ा है। मुझे इस समय आँखमिचौनी खेलने की सूझी। मैंने दबे पाँव जाकर पीछे से उसके नेत्र मूँद लिए। पर शोक! उसके दोनों गाल अश्रु-पूरित थे। मैंने तुरन्त हाथ हटा लिए। ऐसा प्रतीत हुआ मानो सर्प ने डस लिया हो। हृदय पर एक चोट लगी। मुन्नू को गोद में लेकर बोला, "मुन्नू, क्यों रोते हो?" यह कहते कहते मेरे नेत्र भी सजल हो आये। मुन्नू आँसू पीकर बोला, "जी नहीं, रोता तो नहीं हूँ।" मैंने उसे हृदय से लगा लिया और कहा, "अम्मा ने कुछ कहा तो नहीं?" मुन्नू ने सिसकते हुए कहा, "जी नहीं, वह तो मुझे बहुत प्यार करती हैं।" मुझे विश्वास न हुआ, पूछा "वह प्यार करतीं तो तुम रोते क्यों? उस दिन खजानची के घर भी तुम रोये थे। तुम मुझसे छिपाते हो, कदाचित् तुम्हारी अम्मा अवश्य तुम से कुछ क्रुद्ध हुई हैं।' मुन्नू ने मेरी ओर कातर दृष्टि से देखकर कहा "जी नहीं, वह मुझे प्यार करती हैं इसी कारण से मुझे बारम्बार रोना आता है। मेरी अम्मा मुझे अत्यन्त प्यार करती थीं, वह मुझे छोड़ कर चली गईं। नई अम्मा उनसे भी अधिक प्यार करती हैं। इसलिए मुझे भय लगता है कि उन्हीं की भाँति ये भी मुझे छोड़ कर न चली जायँ।" यह कहकर मुन्नू पुनः फूट फूट कर रोने लगा। मैं भी रो पड़ा। अम्बा के इस स्नेहमय व्यवहार ने मुन्नू के सुकोमल हृदय पर कैसा आघात किया था! थोड़ी देर तक मैं स्तम्भित रह गया। किसी कवि की यह वाणी स्मरण आ गई कि पवित्र आत्माएँ इस संसार में चिरकाल तक नहीं ठहरतीं। कहीं भावी ही इस बालक की जिह्वा से तो यह शब्द नहीं कहला रही है? ईश्वर न करे कि वह अशुभ दिन देखना पड़े। परंतु मैंने तर्क-द्वारा इस शंका को हृदय से निकाल दिया। समझा कि माता की मृत्यु ने प्रेम और वियोग में एक मानसिक सम्बन्ध निर्धारित कर दिया है, और कोई बात नहीं है। मुन्नू को गोद में लिए हुए अम्बा के पास मैं गया और मुस्कराकर बोला, "इनसे पूछो क्यों रो रहे हैं।" अम्बा चौंक पड़ी; उसके मुख

की कान्ति मलिन हो गई। बोलीं, तुम्हीं पूछो। मैंने कहा, "यह इसलिए रोते हैं कि तुम इन्हें अत्यन्त प्यार करती हो, और इनको भय है कि तुम भी इनकी माता की भाँति इन्हें छोड़ कर न चली जाओ।" जिस प्रकार गर्द पुछ जाने से दर्पण चमक उठता है उसी भाँति अम्बा का मुख-मण्डल प्रकाशित हो गया। उसने मुन्नू को मेरी गोद से छीन लिया और कदाचित् यह प्रथम ही अवसर था कि उसने ममता-पूर्ण स्नेह से मुन्नू का कपोल चुम्बन किया।

(५)

शोक! महाशोक!! मैं क्या जानता था कि मुन्नू की अशुभ कल्पना इतने शीघ्र पूर्ण हो जायगी। कदाचित् उसकी बाल-दृष्टि ने होनहार को देख लिया था। कदाचित् उसके बाल-श्रवण मृत्यु-दूतों के विकराल शब्दों से परिचित थे।

छः मास भी व्यतीत न होने पाये थे कि अम्बा बीमार पड़ी और इन्फ्लूएँज़ा ने देखते देखते उसे हमारे हाथों से छीन लिया। पुनः वह उपवन मरुतुल्य हो गया। पुनः यह बसा हुआ घर उजड़ गया। अम्बा ने अपने को मुन्नू पर अर्पण कर दिया था। हाँ, उसने पुत्र-स्नेह का आदर्श रूप दिखा दिया। शीतकाल था और वह घड़ी रात्रि शेष रहते ही मुन्नू के लिए प्रातःकाल का भोजन बनाने के लिए उठती थी। उसके इस स्नेह-बाहुल्य ने मुन्नू पर स्वाभाविक प्रभाव डाल दिया था। वह हठीला और नटखटी हो गया था। जबतक अम्बा भोजन कराने न बैठे, मुँह में कौर न डालता। जबतक अम्बा पंखा न झले वह चारपाई पर पाँव न रखता। उसे छेड़ता, चिढ़ाता और हैरान कर डालता; परन्तु अम्बा को इन बातों से आत्मिक सुख प्राप्त होता था। इन्फ्लूएँज़ा से कराह रही थी, करवट लेने तक की शक्ति न थी, शरीर तवा हो रहा था; परन्तु मुन्नू के प्रातःकाल के भोजन की चिन्ता लगी रहती थी। हाय! वह निःस्वार्थ मातृ-स्नेह अब स्वप्न हो गया। उस स्वप्न के स्मरण से अब भी हृदय गद्गद हो जाता है। अम्बा के साथ, मुन्नू का चिलबिलापन तथा बाल-क्रीड़ा भी बिदा हो गई। अब वह शोक और नैराश्य की जीवन-मूर्ति है। वह अब कभी नहीं रोता। ऐसा पदार्थ खोकर अब उसे कोई खटका, कोई भय, नहीं रह गया।



पूर्व और पश्चिम में शासनाधिकार की कल्पना।



[लेखक—राय साहब पं० रघुवरप्रसाद द्विवेदी, बी० ए०]

हमारे शास्त्रों में तो शासन करनेवाला राजा कई देवताओं के अंशों से बना हुआ माना गया है और अभी कुछ शताब्दियों के पहले तक यूरुप में भी उसका शासनाधिकार ईश्वर-प्रदत्त माना जाता था; पर अंग्रेज़ों तथा फ़रासीसियों ने पहले पहल इस विश्वास को असत्य ठहराया और फ्रांस में प्रजातंत्र का निर्माण हुआ। इँग्लैण्ड में राजा तो अब भी है; पर सन १६८८ के बाद से, धीरे धीरे, वहाँ की प्रजा के स्वत्व बढ़ते और राजा के घटते गये और अब तो उसे बिलकुल क़ानून के

अनुसार चलना पड़ता है और वह शासन के तीन अंगों में से एक अंगमात्र माना जाता है; शेष दो अंग लाट-सभा तथा प्रजा-प्रतिनिधियों की कामन्स-सभा हैं।

अब हमें देखना है कि पाश्चात्य विचारों के अनुसार इस शासनाधिकार का आरम्भ किस तरह माना गया है। इस विषय पर फ़रासीसी विद्वानों ने बहुत कुछ लिखा है; पर उनमें से रूसो नामक दार्शनिक के विचारों ने उच्च स्थान पाया है। रूसो का कहना है कि मनुष्य जन्म से तो स्वतंत्र है; पर वह हर जगह बेड़ियों से जकड़ा हुआ दिखाई दे रहा है। वास्तव में तो यही दिखाई देता है कि मनुष्य जन्म से बेड़ियों से जकड़ जाता है। पर किन्हीं किन्हीं देशों में वह मुक्त होने का प्रयत्न कर रहा है और उसने इस प्रयत्न में थोड़ी बहुत सफलता भी प्राप्त की है। ये पाश्चात्य विचारक कहते हैं कि आरम्भ में शासन का प्रादुर्भाव कैसे हुआ सो कहना तो कठिन है; पर इसमें सन्देह नहीं कि उसका आरम्भ घर ही में हुआ होगा और प्रथम शासक माता ही रही होगी और उससे कुछ कम अधिकार पिता का रहा होगा। मातापिता ने अपनी सन्तान पर इस अधिकार का प्रयोग सबसे पहले किया होगा। यह अनुमान पशु-पक्षियों के व्यवहार को देखकर किया गया है; पर है निरा अनुमान। हाँ, उसकी सत्यता में कोई अस्वाभाविक एवं असम्भव बात नहीं दीखती। मातापिता के अधिकार और उनकी ज़िम्मेदारी राजाओं वा शासकों के अधिकार और ज़िम्मेदारी के समान ही होती हैं। जिस तरह माता-पिता अपनी सन्तान की रक्षा करते, उसी प्रकार राजा अपनी प्रजा के रक्षक समझे जाते हैं और जिन देशों में राजा स्वच्छन्द होते और प्रजा में राजनैतिक जाग्रति नहीं होती वहाँ राजा ही नहीं, वरन उसके कर्मचारियों को भी प्रजागण मा-बाप कहा करते हैं। अभी कुछ वर्ष पहले तक रूस के ज़ार "Our li't'e Father" कहलाते थे। जिस प्रकार सन्तान में लड़ाई-झगड़ा होने पर माता-पिता अपराधियों को दंड देते हैं उसी प्रकार राजा भी दंड देते हैं। फिर आश्चर्य ही क्या कि गृह-शासन को देखकर ही राज-शासन की नींव डाली गई हो।

धीरे धीरे कुटुम्बों में सन्तति बढ़ने और कई कुटुम्बों के समीप रहने से उनके बीच विवाहादि संबंध होने लगे होंगे और इस प्रकार कई कुटुम्बों के परस्पर सम्बद्ध होने और उनमें प्रेम-भाव उत्पन्न होने से भिन्न भिन्न जन-समुदाय बने होंगे। एक समुदाय का सम्बन्ध किसी दूसरे समुदाय के साथ न रहने से उनमें कलह उत्पन्न हुई होगी जिससे प्रत्येक समुदाय के कुटुम्ब आपस में और भी अधिक मिले होंगे जिसमें एक साथ लड़कर शत्रु को परास्त कर सकें। इस तरह क़ौम, जाति, गोत्र आदि समुदायों की रचना हुई होगी इन समुदायों के नेताओं में से जो व्यक्ति अपनी बुद्धि, बल, साहस, रण-कौशल आदि गुणों में सर्वश्रेष्ठ समझा गया होगा, उसीके हाथ में शासनाधिकार दिया गया होगा और इस कार्य के बदले में उसे कई स्वत्व तथा सम्मान देना उचित समझा गया होगा।

पाश्चात्य राजनैतिक शास्त्र में जन-समाज के संगठन के संबंध में इस प्रकार की कल्पनाएँ पाई जाती हैं। रूसो ने इसीका नाम सोशल-कांट्रैक्ट अर्थात् सामाजिक इक़रारनामा रक्खा है। भिन्न भिन्न कुटुम्बों के बीच विवाहादि संबंध होने से तथा उनसे मिलकर शत्रु से युद्ध करने से उनका परस्पर

स्नेह भाव बढ़कर जब वे एक क़ौम बन गये होंगे तो शासन का अधिकार उपर्युक्त–गुण–सम्पन्न किसी नेता-विशेष के हाथ सौंपना आवश्यक समझा गया होगा और उसमें इक़रार कर लिया गया होगा कि अपने इस कार्य को न्याय-पूर्वक करते जाओगे तो क़ौम के लोग आपको वैसाही मानेंगे जैसा प्रत्येक कुटुम्ब में उसका पिता माना जाता है। साथही, कुटुम्ब की स्थावर एवं जंगम सम्पत्ति जिस प्रकार पिता के हाथ में रहती है उसी प्रकार क़ौम की सम्पत्ति पर आपका आधिपत्य रहेगा और उसके भिन्न भिन्न अंशों का उपभोग करने वाले आपको कर दिया करेंगे। ऐसा मालूम होता है कि जिस प्रकार पहले पिता अपने कुटुम्ब का शासक होने के सिवा पुरोहित बनकर सब धर्म-कर्म भी करता था, उसी प्रकार समग्र जाति या क़ौम का शासक उस जाति का धार्मिक नेता भी समझा जाता था। देवताओं का पूजन करना, बलिदान करना, बलि के अंगों को देख कर शकुन उठाना आदि कार्य वही करता था। जब उसकी विजय होती थी तो उसका मान और भी अधिक बढ़ता था; क्योंकि वह देवगणों का प्रिय पात्र समझा जाता था। जिस जाति को वह जीतता था उस जाति के लोग उसे और भी अधिक मानते थे और अपने को उसकी प्रजा स्वीकार कर लेते थे।

इस तरह जातियों या क़ौमों के नेता शासनाधिकार पाकर धीरे धीरे राजा बन गये। राजा शब्द की व्युत्पत्ति ही इस बात को स्पष्ट बतलाती है कि विशेष-गुण-सम्पन्न नेता ही पहले पहल राजा कहलाये थे। अँगरेज़ी का "किंग" शब्द भी एक ऐसी धातु से निकला है जिसका अर्थ "ज्ञाता" होता है, अर्थात् पहलेपहल बहुज्ञ पुरुषही "किंग" कहलाता था।

पाठकगण, शासनाधिकार के विषय में पाश्चात्य तत्वज्ञानियों ने कैसी कैसी कल्पनाएँ की हैं सो इस लेख से आपको विदित हुई होंगी। ये कल्पनाएँ उनके इस मत पर अवलम्बित हैं जिसके अनुसार मनुष्य पहले अन्य जीवधारियों के समान जंगली अवस्था में रहता हुआ माना गया है और ये विद्वान् युक्ति और प्रमाणों द्वारा दिखलाते हैं कि धीरे धीरे समाज का विकास हुआ और मनुष्य अधिक अधिक सभ्य होता गया है। यदि आप गीज़ो आदि लेखकों का लिखा हुआ सभ्यता का इतिहास पढ़ें तो आप देखेंगे कि यूरोपीय विद्वानों का मत इस विषय में क्या है। अभी हाल में हिन्दी में कोई ऐसा ग्रन्थ नहीं है जिसमें यह इतिहास दिया गया हो। सारांश यह कि पाश्चात्य विद्वान् मनुष्य की उत्तरोत्तर उन्नति होना अर्थात् जंगली दशा से सभ्य दशा को प्राप्त होना मानते हैं। उनकी दृष्टि में सतयुग आगे कभी आवेगा। यह सिद्धान्त हमारे आर्य सिद्धान्तों से नितान्त उलटा है। हम लोग सतयुग को पहले मानते हैं और यह नहीं मानते कि हमारे प्राचीन ऋषि-महर्षि आरम्भ में निरे जंगली थे। हमारे यहाँ तो प्राचीन काल की सभ्यता आधुनिक सभ्यता की अपेक्षा बहुत बढ़कर मानी गई है।

शासनाधिकार का आरंभ हमारे शास्त्रों में इस तरह नहीं माना गया जिस तरह पाश्चात्य लोग मानते हैं। हमारे यहाँ राजा के अधिकार जन्म-सिद्ध हैं, प्रजा के दिये हुए नहीं माने जाते। जिस ब्रह्मा ने कई देवताओं के अंशों से राजा का निर्माण किया है उसीने उसे ये अधिकार दिये हैं या कहना चाहिए कि उसके कर्तव्य स्थिर कर दिये हैं। पाश्चात्य देशों में आजकल राजा या शासक जनता का सेवक समझा जाता है; पर हमारे यहाँ

वह परमात्मा का सेवक एवं प्रतिनिधि माना गया है। पर, इससे यह अर्थ नहीं निकलता कि वह मनमाना अत्याचार कर सके अथवा न्यायपथ से तनिक भी विचलित हो सके; क्योंकि उसके कर्तव्य ऐसे रक्खे गये हैं कि वह अपनी प्रजा की उपेक्षा कर ही नहीं सकता। हमारे यहाँ "प्रजानुरंजन" राजा का सर्वश्रेष्ठ कर्तव्य है।

पाठकगण! आप इस विषय पर खूब विचार करके देखिए, तो आपको मालूम होगा कि अन्य सिद्धान्तों के समान पूर्व और पश्चिम के राजनैतिक सिद्धान्तों में भी कितना बड़ा अन्तर दिखाई देता है। आप लोग जो राजनैतिक उन्नति चाहते हैं सो बहुत ठीक है; पर हमारा केवल यह प्रश्न है कि आप अपना कर्तव्य किन सिद्धान्तों पर स्थिर करके कार्य-क्षेत्र में उतरेंगे? हमारा निवेदन है कि आप अपने प्राचीन पूर्व-पुरुषों के सिद्धान्तों का अध्ययन अवश्य करें और जहाँ तक बन सके अपनी सामाजिक तथा राजनैतिक उन्नति के कार्य में उन सिद्धान्तों को कदापि न भूलें। स्मरण रखना चाहिए कि पाश्चात्य सभ्यता की इमारत जिस जड़वाद-रूपी नींव पर स्थिर है उसपर भारतीय सभ्यता की नहीं है। हमारे तथा पाश्चात्यों के ध्येयों में भी कौड़ी-मुहर का अन्तर है; इसलिए यदि हम अपने सिद्धान्तों से विमुख होकर कार्य्य करेंगे तो किसी दीन के न रहेंगे। हमारे कहने का तात्पर्य यह है कि इंग्लैंड, फ्रांस, अमेरिका आदि न्यूनाधिक स्वतंत्र देशों में जिस प्रकार की शासन-प्रणाली प्रचलित है और जिन जिन साधनों के द्वारा उनमें इतनी उन्नति हुई है वही शासन-प्रणाली उन्हीं साधनों द्वारा हमारे देश में भी प्रचलित की जाय ऐसी इच्छा रखना निरी नकल करना होगा। आप लोग स्वीकार करेंगे कि निरी नकल करने से किसी देश या जाति ने न तो वास्तविक उन्नति ही की है और न अन्य राष्ट्रों के सन्मुख आदर ही पाया है। ऊपरी दृष्टि से मालूम होता है कि जापान ने नकल करके ही यह उच्च पद प्राप्त किया है; पर जिन विचारशील पुरुषों ने जापान में रह कर वहाँ की भिन्न भिन्न संस्थाओं का सम्यक् परिशीलन किया है उनका कहना है कि यह नकल वास्तव में नकल नहीं, वरन प्राचीन जापानी सभ्यता तथा कलाकौशल को यथासंभव रक्षित रखकर आवश्यक सुधार किया गया है। राजनैतिक सुधार का ही दृष्टान्त लीजिए। जापान में स्वायत्त-शासन का प्रचार तो पूर्ण रूप से किया गया है, अर्थात् निर्वाचित प्रजा-प्रतिनिधियों से बना हुआ व्यवस्थापक मंडल इंग्लैंड की पार्लमेन्ट तथा अमेरिका की कांग्रेस आदि के समान ही शासन-कार्य्य में भाग लेता है; पर इन परिवर्तनों के कारण जापान के सम्राट् श्रीमिकादो का ऐश्वर्य्य कुछ कम नहीं हुआ है और जापानी प्रजा उन्हें पूर्ववत् मान देती है। रहन-सहन की ओर देखिए तो ऊपर से जापानी पुरुष और महिलाएँ यूरोपीय सभ्यता की नकल करती हुई दीखती हैं; पर उनके घर जाइए तो आप देखेंगे कि रहन-सहन में कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ा। उनके कपड़े, खानपान आदि सब अब भी पुराने ढंग के हैं और उनके अच्छे रस्म-रिवाज भी जैसे के तैसे बने हुए हैं।

सारांश यह कि जापान ने यह करके दिखला दिया है कि समयानुकूल सुधार किस तरह करना चाहिए जिसमें पाश्चात्य सभ्यता के गुणों को लेकर भी वह स्वदेशी सभ्यता को रक्षित रख सके। हाँ, पाश्चात्य राजनैतिक सिद्धान्तों के अनुसार

शासन-प्रणाली के प्रचलित करने के लिए प्रजा-गणों को समान समझना परमावश्यक है; क्योंकि जहाँ जाति-भेद है अर्थात् भ्रातृभाव का अभाव है वहाँ सच्ची डिमोक्रेसी चल नहीं सकती। जापान ने भी इसी सिद्धान्तानुसार जाति-भेद को त्याग दिया है। वहाँ समुराई जाति बहुत ऊँची समझी जाती थी और तदनुसार उसके कई स्वत्व भी थे; पर स्वायत्त-शासन-प्रणाली का आरंभ होने के पूर्व जापान की समुराई जाति ने स्वार्थ-त्याग का सर्वोच्च दृष्टान्त संसार के सन्मुख रक्खा, अर्थात् उस जाति के लोगों ने अपने सब अधिकार सहर्ष त्याग दिये और इस तरह वहाँ ऊँच-नीच का भाव-भेद उठा दिया गया।

मौलिकता का स्वरूप।

(लेखक-पण्डित गोपाल दामोदर तामसकर, एम. ए., एल. टी.)



शिक्षा-प्रचारक, संपादक, तथा राजकीय नेता, या यों कहिए कि हिन्दुस्थान के सभी समझदार लोग सदैव कहा करते हैं कि हिन्दुस्थान में मौलिकता का अत्यंत अभाव है। इस दोष का कारण बहुत से लोग वर्तमान शिक्षा-प्रणाली के मत्थे मढ़ा करते हैं। जो लोग ऐसे दोष ढूँढ़ निकालते हैं उनके विचारों में न तो निश्चितता ही दीख पड़ती है और न उनमें ढूँढ़ने से कोई ऐसे उपाय ही मिलते हैं कि जिनसे इस अभाव की पूर्ति हो सके। शिक्षा-प्रणाली के विषय में भी उनके विचार वैसे ही अस्पष्ट होते हैं। उनमें कोई विधायक योजना मिलना बड़ा कठिन है। सारी वक्तृता बड़े बड़े शब्दों में ही समाप्त हो जाती है और लोग इन सुन्दर स्वरों पर ही लुब्ध हो जाया करते हैं। यहाँ पर हमें शिक्षा-प्रणाली से प्रत्यक्ष कुछ नहीं करना है। इसका मौलिकता से जो सम्बन्ध है, उसका ही इस लेख में दिग्दर्शन कराया जायगा।

प्रकाशक और संपादक 'मौलिक' लेख तथा पुस्तकें चाहते हैं। यदि कभी उनसे प्रश्न किया जाय कि आप 'मौलिकता' किसे कहते हैं, तो वे उत्तर नहीं दे सकते। कभी कभी तो उनके शब्दों से ऐसा जान पड़ता है कि कैसे भी लेख या पुस्तकें दो; पर उन्हें तुम 'मौलिक' अवश्य कहो। अनुवाद पर तो वे बेहद चिढ़ा करते हैं। ऐसी अवस्था में मौलिकता के अभाव का, इस अभाव को दूर करने के उपायों का और 'मौलिकता' के अर्थ का भी विचार करना आवश्यक है।

'मौलिकता' का अर्थ क्या है? क्या इसका अर्थ यह है कि किसी लेख में जो विचार आदि से अन्त तक लिखे हों वे सब बिना किसी अपवाद के लेखक के सिर से निकले हों? परन्तु यह तो हो ही नहीं सकता। हमारे और आपके बहुतेरे विचार निन्यानवे दशमलव नौ से भी अधिक, दूसरे ग्रंथों के आधारभूत होते हैं। यहाँपर मनोविज्ञानमूलक ज्ञान-प्राप्ति की रीतियों की मीमांसा की आवश्यकता नहीं। प्रारंभ में बालक स्वाभाविक रीति के अनुसार वस्तुओं के संपर्क से जो ज्ञान प्राप्त करता है वह प्रत्यक्ष एवं अनुभव-जन्य रहता है। बड़ा होने पर वह अप्रत्यक्ष ज्ञान भी पुस्तकों और मनुष्यों से प्राप्त करता है। यदि वह सारा ज्ञान प्रत्यक्ष प्राप्त करने का विचार करे तो एक क्या, लाखों जन्म उसे चाहिए जब कि उसे विद्वान् कहलाने की योग्यता प्राप्त होगी। जिनको इस विषय में अधिक जानना हो और हमारे कथन की सत्यता की जाँच करना हो, वे शिक्षातत्व-सम्बन्धी कोई भी पुस्तक देख लें। प्रत्यक्ष ज्ञान से विद्यार्थी का मौलिक ज्ञान अवश्य बढ़ेगा, परन्तु उसके समस्त ज्ञान का संचय एक पूरे जन्म में एक छोटी सी पुस्तक

के ज्ञान के बराबर भी न होगा। यदि ज्ञान बढ़ाना हो तो अप्रत्यक्ष ज्ञान का बहुत कुछ उपयोग करना ही होगा। प्रत्यक्ष ज्ञान की मौलिकता हममें बहुत कम हो सकती है। हाँ, अनेक प्रकार का ज्ञान प्राप्त करने पर इस प्रकार की थोड़ी बहुत मौलिकता मनुष्य में आ सकती है; पर वह भी थोड़ी ही रहती है और क्वचित् ही दीख पड़ती है।

इस विवेचन से यह बात भी स्पष्ट हो जाती है कि मौलिकता का यह अर्थ नहीं हो सकता कि वह ज्ञान अन्यत्र न दीख पड़े। इस अर्थ में मौलिकता कहीं भी नहीं दीख पड़ेगी। आज तक ऐसा तो कोई भी मनुष्य नहीं हुआ कि जिसका सब ज्ञान उसीका प्राप्त किया हुआ हो और पहले वह और किसी मनुष्य को मालूम भी न हो। ऐसे मनुष्य के होने की सम्भावना भी नहीं है।

मौलिकता का यदि यह अर्थ नहीं है कि समस्त ज्ञान हमारा ही प्राप्त किया हो तो फिर क्या अर्थ हो सकता है? इसका वास्तविक अर्थ जानने के लिए मौलिकता की दृष्टि से साहित्य के भिन्न भिन्न अंगों का विवेचन करना होगा।

मौलिकता की दृष्टि से साहित्य के दस भाग किये जा सकते हैं:—(१) कल्पनात्मक, (२) प्रयोगात्मक, (३) अवलोकनात्मक, (४) अनुमानात्मक, (५) वर्णनात्मक, (६) आलोचनात्मक, (७) अनुवादात्मक, (८) आधारात्मक, (९) संग्रहात्मक और (१०) आदेशात्मक। पुस्तकों में दिये ज्ञान की वृद्धि पहले पहल जिस रीति से हुई उस रीति की प्रधानता के अनुसार ये भाग किये गये हैं। इसका यह अर्थ नहीं कि एक भाग की पुस्तकों में दूसरी रीतियों का अवलम्बन नहीं किया जाता। कल्पनात्मक पुस्तकों में अवलोकनात्मक अथवा अनुमानात्मक ज्ञान रह सकता है। ऐसे ही प्रयोगात्मक पुस्तकों के ज्ञान के लिए अवलोकन या अनुमान का भी उपयोग हो सकता है। किसी पुस्तक में प्रधानतया जिस रीति का उपयोग हुआ है उसके अनुसार ही यह वर्गीकरण स्थिर किया है। अब हम इन दस वर्गों का विस्तारपूर्वक विवेचन करेंगे।

(१) शिक्षा, अवलोकन और अनुमान के द्वारा प्राप्त किये ज्ञान को हम किसी खास उद्देश की पूर्ति के विचार से, कल्पना के आधार पर, किसी नये ढाँचे में ढाल सकते हैं। जो कुछ लिखा जाता है वह पहले से सिर में भरा रहता है। जो कुछ नया है वह उद्देशवाली कल्पना है। यह कल्पना ही संचित ज्ञान को विशिष्ट रूप में ढाल देती है। कल्पना ही इस रचना की आत्मा होती और वही उसका शरीर भी निश्चित करती है। इस कारण ऐसे ग्रन्थों को कल्पनात्मक कहते हैं। ऐसी पुस्तकों में मनुष्य-जीवन की व्यापार-सम्बन्धी बातें ही बहुधा रहती हैं। मनुष्य इस जड़जीवात्मक सृष्टि को जिस दृष्टि से देखता है, उसका इन पुस्तकों में मूर्तरूप रहता है। उपन्यास, नाटक, काव्य आदि इसके उदाहरण हैं। कल्पना ही इनकी मौलिकता है और वही विशेषता भी है।

(२) प्रयोग या प्रत्यक्ष परीक्षा के द्वारा इस सृष्टि-सम्बन्धी बहुतसा ज्ञान हम प्राप्त कर सकते हैं, पृथ्वी पर की अनेक वस्तुओं के विविध परिणाम जान सकते हैं, उनके कार्य-कारण-सम्बन्ध ढूँढ़ सकते हैं। यहाँ तक कि मनुष्य के शरीर का भी विज्ञान इसी प्रकार जान सकते हैं। बहुत से भौतिक विज्ञान इसी तरह पैदा हुए हैं। रसायनशास्त्र, पदार्थविज्ञान, भूगर्भविद्या, शरीररचना, वैद्यविद्या, इत्यादि इसके उदाहरण हैं। कृषि, पशु-जनन-विद्या, आरोग्य-विज्ञान, पाक-विद्या इत्यादि इसी वर्ग में हैं। जिस विद्या या कला जानने के लिए प्रयोगही प्रधान रीति है वे सब इस वर्ग में शामिल हैं। इसका यह अर्थ नहीं है कि इन विज्ञानों के लिए कल्पना, अवलोकन या अनुमान का उपयोग नहीं होता। इनके बिना तो काम चलेगा ही नहीं। विधायक कल्पना का किसी भी नई बात को रचने या जानने के लिए बड़ा भारी उपयोग है, अवलोकन के बिना किसी भी विज्ञान की सब सामग्री एकत्र नहीं हो सकती, और अनुमान के बिना कोई तत्व या सिद्धान्त नहीं जाना जा सकता। प्रयोगात्मक ज्ञान में इन सबका उपयोग होता है; पर प्रयोग से ही इनकी विशेष सामग्री एकत्रित होती है

इसलिए वही ऐसे ज्ञान की मौलिकता का दर्शक है।

(३) कुछ ज्ञान ऐसा रहता है, जिसके लिए प्रत्यक्ष परीक्षा करनी पड़ती है। उसकी प्राप्ति के लिए हमें सृष्टि का अवलोकन करना पड़ता है। जीवों के व्यापार इसी तरह जाने जाते हैं। वायु-मान के परिवर्तन का ज्ञान अवलोकन-जन्य ही होता है। पृथ्वी पर जो बड़े बड़े परिवर्तन हुआ करते हैं उनके जानने लिए और कोई मार्ग नहीं है। इस तरह के ज्ञान की मौलिकता अवलोकन में होती है।

(४) प्रयोग और अवलोकन के द्वारा जो ज्ञान प्राप्त होता है उसके आधार पर अनेक अनुमान निकाले जाते हैं। इन अनुमानों को क्रमबद्ध करके अनेक शास्त्र रचे जा सकते हैं। वर्णनात्मक ज्ञान का भी इसके लिए उपयोग होता है। इसके उदाहरण अध्यात्म-विद्या, मनोविज्ञान, शिक्षण-शास्त्र, नीतिशास्त्र, राज्यविज्ञान, समाजरचना विज्ञान, गणित, तर्क विज्ञान (न्याय), व्याकरण, रचनाशास्त्र, सम्पत्तिशास्त्र, इत्यादि हैं। इनमें से कुछ ऐसे हैं जिनके अनुमान की मूलाधार सामग्री केवल अवलोकन पर अवलम्बित है; इसलिए वे एक दृष्टि से अवलोकनात्मक भी दीख पड़ते हैं। परन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि अवलोकन द्वारा एकत्र किये ज्ञान से जब तक अनुमान न निकाले जावें, तब तक वह किसी काम का नहीं। हम केवल अवलोकनजन्य ज्ञान नहीं चाहते; हम चाहते हैं अनुमानों को जानना। इसलिए अवलोकन की सामग्री कितनी भी अधिक क्यों न हो और अनुमान कितने भी कम क्यों न रहें, ऐसी पुस्तकें अनुमानात्मक ही कहलावेंगी। यदि अनुमानों के आधार पर व्यवहारोपयोगी किसी विद्या की नींव रची जाय तो उसे भी इसी वर्ग में रखेंगे। शिक्षण-शास्त्र ऐसीही विद्या है। व्यापार-विद्या उसीके समान है। ऐसी पुस्तकों की मौलिकता अनुमान में है।

(५) इस पृथ्वी का अथवा उस पर रहने वाले मनुष्यों का अथवा उनके कार्यों का ज्ञान जिन पुस्तकों में रहता है वे वर्णनात्मक वर्ग में शामिल हैं। पुरातत्व, इतिहास और उसके अनेक अंग, भूगोल का वर्णनात्मक भाग, प्रवासवर्णन, चरित्र-लेखन, इत्यादि इसके उदाहरण हैं। सामग्री एकत्रित करने में और उसका उपयोग कर क्रम-बद्ध वृत्तान्त लिखने में ही इस प्रकार की पुस्तकों की मौलिकता है। सामग्री भिन्न होने से वृत्तान्त भिन्न हो सकते हैं। वही सामग्री रहने पर भी वृत्तान्त भिन्न हो सकता है; क्योंकि वृत्तान्त सामग्री के उपयोग पर भी अवलम्बित है। अनुमान और चिकित्सक बुद्धि से भी इन पुस्तकों में विशेषता दीख पड़ती है। भाषा भी इनका बड़ा प्रधान अंग है। सारांश यह है कि इन पुस्तकों की सामग्री यद्यपि प्रयोग करके एक-त्रित नहीं होती, तौभी इन पुस्तकों की मौलिकता विविध प्रकार की होती है।

(६) कुछ पुस्तकों या लेखों की सृष्टि दूसरी पुस्तकों की आलोचना के कारण होती है। साधारण साहित्य ज्यों ज्यों बढ़ता जाता है, त्यों त्यों इस तरह के साहित्य की गुणदोष-विवे-चनात्मक पुस्तकों की वृद्धि होती है। इनकी रचना चिकित्सक बुद्धि पर अवलम्बित रहती है। समालोचक को ज्ञान की आवश्यकता है ही, पर चिकित्सक बुद्धि के बिना यह कार्य होना कठिन है। इसलिए ऐसी पुस्तकों की मौलिकता उसी पर प्रधानतया अवलम्बित रहती है।

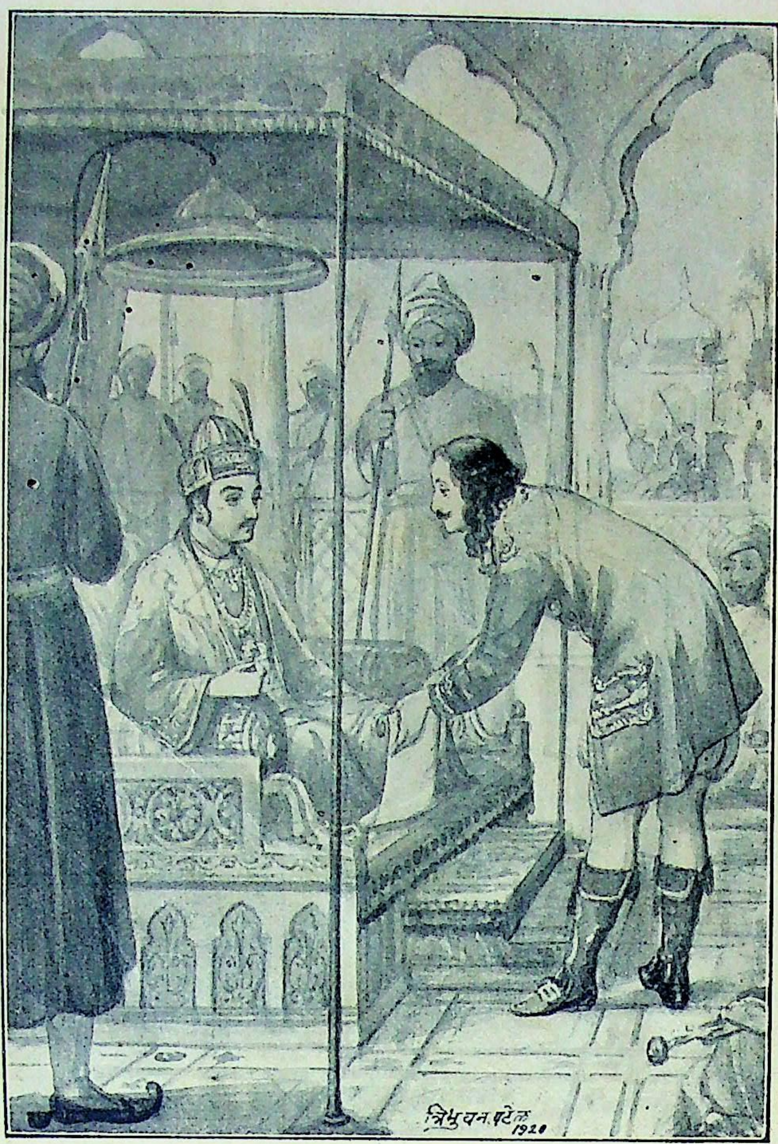
(७) कुछ पुस्तकें ऐसी रहती हैं जो दूसरी पुस्तकों का वेश पलटने से तैयार होती हैं। इन्हींको लोग अनुवाद कहते हैं। इनके कम से कम चार उपभेद किये जा सकते हैं। (क) पहले उपभेद में वे सब पुस्तकें आती हैं जो शाब्दिक अनुवाद के नाम से प्रसिद्ध हैं। एक पुस्तक की वाक्य-रचना को ज्यों की त्यों दूसरी भाषा में कर देना जिसमें पहली भाषा के विचार ज्यों के त्यों दूसरी में आजावें यह शाब्दिक अनुवाद का काम है। 'शाब्दिक' शब्द बहुतांश में उचित है। बहुधा एक भाषा के शब्द दूसरी भाषा में परिवर्तित कर दिये जाते हैं। दूसरी भाषा की वाक्य-रचना

और मुहावरे के अनुसार शब्द-क्रम में थोड़ा बहुत परिवर्तन अवश्य होता है। ऐसा किये बिना एक भाषा के विचार दूसरी में स्पष्टतया न उतरेंगे। परन्तु यह परिवर्तन न तो महत्वपूर्ण रहता है और न अधिक ही। इस परिवर्तन की तुलना वेशपरिवर्तन से अच्छी की जा सकती है। यदि अच्छा हुआ तो समालोचक कह देते हैं कि 'भाषा सरल' शुद्ध और मुहावरेदार है, अनुवाद अच्छा हुआ है'। (ख) दूसरे प्रकार के उपभेद में वाक्य के लिए वाक्य और प्रत्येक शब्द के लिए शब्द नहीं रहता। वाक्यों का भाव देखकर उनका अनुवाद होता है। कहीं एक ही वाक्य के आधार पर दो तीन वाक्य लिखे जाते हैं, तो कहीं दो तीन वाक्यों के स्थान पर एक ही वाक्य रहता है। परन्तु बहुधा सब विचारों का क्रम ज्यों का त्यों रहता है। उनमें कोई परिवर्तन नहीं होता। ऐसे अनुवाद को लोग भावानुवाद कहते। हैं (ग) तीसरे तरह का अनुवाद छायानुवाद कहलाता है। भावानुवाद और छायानुवाद में वास्तविक कोई विशेष भेद नहीं होता। जो कुछ भेद होता है, वह आंशिकमात्र रहता है। छायानुवाद में अनुवादक अधिक स्वतंत्रता से काम लेता है। वाक्यों के वाक्य कहीं छोड़ देता है, तो वाक्यों के वाक्य कहीं जोड़ देता है। कहीं अर्थ को कई तरह प्रकट करता है, तो कहीं अधिक अथवा सर्वश्रुत उदाहरण देकर उसे अधिक स्पष्ट करता है। [घ] कुछ पुस्तकें दूसरी भाषा की पुस्तकों के मर्मानुवाद कही जा सकती हैं। मूल पुस्तक के विचार उसी क्रम से आते हैं; पर वाक्यरचना में कोई मेल नहीं रहता। पहली का 'मर्म' दूसरी में ज्यों का त्यों आता है, इसीलिए इन्हें 'मर्मानुवाद' कहते हैं। इनको 'सारांश' ही कहना बेहतर है। जिस प्रकार एक पुस्तक का सारांश हो सकता है, उसी प्रकार एक पुस्तक के विविध भाग अनेक पुस्तकों के अथवा उनके परिच्छेदों के सारांश हो सकते हैं। ऐसी पुस्तक अनेक पुस्तकों का अथवा अनेक पुस्तकों के परिच्छेदों का मर्मानुवाद ही है।

शाब्दिक अनुवाद में लोग कुछ भी मौलिकता नहीं मानते। भाषा की मौलिकता को कोई भी मौलिकता नहीं कहते। मौलिकता मानी जाती है विचाररूपी जीव की, भाषारूपी वेश की नहीं। भावानुवाद में शाब्दिक अनुवाद से कुछ थोड़ी मौलिकता मान सकते हैं। भावों का अर्थ समझकर कम या अधिक वाक्यों में कह देना बिना कुछ मौलिकता के नहीं हो सकता। तथापि उसमें अनुवादक के विचार न होने के कारण उन्हें लोग मौलिक नहीं कहते। छायानुवादों में भावानुवाद की अपेक्षा अधिक मौलिकता रहती है। विचारों में ऐक्यता हुए बिना इतनी स्वतंत्रता से अनुवाद नहीं हो सकता। मर्मानुवाद में उससे भी अधिक मौलिकता दीख पड़ती है। इनमें विचार लेखक के होकर बाहर निकलते हैं और यदि मर्मानुवाद अनेक पुस्तकों के आधार पर किया गया हो तो मौलिकता की मात्रा और भी बढ़ जाती है। इस प्रकार इन चार पाँच प्रकार के अनुवादों में मौलिकता की मात्रा क्रम से बढ़ती हुई दीख पड़ती है।

(ङ) कुछ पुस्तकें ऐसी होती हैं जो आधारात्मक कही जा सकती हैं। आधारात्मक पुस्तकें और मर्मानुवादों में कुछ मुख्य भेद है। मर्मानुवाद को हमने सारांश कहा है। मूल पुस्तक के विचार इनमें उसी क्रम से संक्षेप में आते हैं। अर्थ का स्पष्टीकरण, उदाहरण आदि बहुधा वे ही रहते हैं; पर आधारात्मक में यह बात नहीं रहती। मूल पुस्तक के मुख्य विचारों को लेकर लेखक अपने ही तर्क, अपने ही विवादक्रम, अपनी ही भाषा, अपने ही उदाहरण देकर एक नयी पुस्तक तैयार कर देता है। इनमें अगर मौलिकता किसी बात की नहीं है तो उन आधारभूत, 'मुख्य' विचारों की। बाकी सब तरह की मौलिकता इनमें दीख पड़ती है। इसी कारण लोग इन्हें मर्मानुवाद से अधिक आदर-दृष्टि से देखते हैं, उनका अधिक मान करते हैं। यदि अनेक पुस्तकों का अथवा अनेक पुस्तकों के भिन्न भिन्न भागों का आधार लिया गया हो तो मौलिकता और भी बढ़ जाती है।

कहाँ निःग्रह जनता पर गोलियों की वर्षा !!





अंग्रेज़
तब के और अब के!
कहाँ मुगल-सम्राट् का चरण-चुम्बन और
कहाँ निःशस्त्र जनता पर गोलियों की वर्षा !!

जितनी पुस्तकों का आधार लिया जावेगा, उतनी ही मौलिकता बढ़ती जावेगी। हम ऊपर बतलाही चुके हैं कि हमारा बहुतसा ज्ञान पुस्तकों वा मनुष्यों से प्राप्त किया हुआ रहता है। इसी प्रकार यदि अनेक पुस्तकें पढ़कर कोई पुस्तक तैयार की, तो उसकी मौलिकता बहुतांश में माननी होगी। बहुत से लेखक अपने पर दूसरों का कितना ऋण है यह दिखलाने के लिए पुस्तकों के नाम अपनी पुस्तक में दे देते हैं। कोई कोई तो आदि में ही लिख देते हैं, कोई अंत में लिखते हैं, कोई प्रत्येक परिच्छेद या भाग के बाद लिखते हैं, कोई प्रत्येक परिच्छेद या भाग के प्रारंभ में लिख देते हैं, तो कोई स्थान स्थान पर लेख के भीतर या पाद-टिप्पणियों में दे देते हैं। पहले चार क्रम नितांत उचित हैं। यदि पुस्तकों के 'आधार' पर ज़ोर देना हो तो बात अलग है, नहीं तो लेख के भीतर या पाद-टिप्पणियों में आधारभूत पुस्तकों के नाम देना ठीक नहीं। इससे पाठक का ध्यान मूल विचार से उचट जाता है। उचित स्थान पर पुस्तकों के नाम दे देने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि इस पुस्तक में दिये विचार दूसरी पुस्तकों से लिये गये हैं। कभी कभी लेखक दूसरी पुस्तकों के विचारों को इतना अधिक मनन कर डालता है कि वह कह नहीं सकता कि कौन से विचार उसने कहाँ से पाये। ऐसी अवस्था में किन्हीं ख़ास पुस्तकों का उपयोग किये बिना वह जो पुस्तक लिखता है वह ऊपर के क्रम से और भी अधिक मौलिक कही जाती है। लोग ऐसी ही पुस्तकों को बहुधा मौलिक कहते हैं। शायद इन पुस्तकों में थोड़े बहुत ऐसे विचार हों जो वास्तव में उसके निजी हों, जिन्हें उसने और कहीं से न लिया हो, चाहे फिर वे और पुस्तकों में लिखे भले ही हों। उसकी दृष्टि में वे उसके हैं। ऐसे विचारों की संख्या और उत्तमता के अनुसार पुस्तक की मौलिकता उत्तरोत्तर बढ़ती ही जावेगी और कदाचित् वह इतनी मौलिक हो जावे कि वह ऊपर बतलाये हुए किसी वर्ग में न रक्खी जा सके। ऐसी अवस्था में वह आधारात्मक नहीं कही जा सकती। आधारात्मक पुस्तकों का एक और उपभेद होता है और वह बहुत ही महत्व का है। अनेक पुस्तकों का आधार लेने पर भी पहले वर्ग की पुस्तकों के समान लेखक का कोई मुख्य उद्देश हो सकता है। लेखक अनेक पुस्तकों का आधार लेकर कुछ नया तत्व, कुछ नया सिद्धान्त, कुछ नयी बात, सिद्ध करना चाहता है। ऐसी अवस्था में 'आधारभूत' पुस्तकों पर ज़ोर दिया जाता है। इस कारण स्थान स्थान पर लेख में अथवा पाद-टिप्पणियों में उनके नाम बताना पड़ते हैं। परन्तु लेखक उन सबका वेग अपने ही उद्देश-सिद्धि की ओर बहाता है। उस की सबसे अधिक मौलिकता इसीमें है। पहले वर्ग की पुस्तकों का उद्देश बहुधा वास्तविक सृष्टि का होता है और स्पष्ट नहीं बतलाया जाता; पर यहाँ बतलाये हुए प्रकार की पुस्तक का उद्देश व्यवहारोपयोगी रहता है और वह स्पष्टतया बतलाया जाता है। बहुधा ऐसी पुस्तकें तात्विक अथवा अनुमानात्मक रहती हैं; इसलिए वे उसी वर्ग में मानी जाती हैं। "गीतारहस्य" इसका प्रसिद्ध उदाहरण है।

कुछ पुस्तकें ऐसी होती हैं जो मर्मानुवाद और आधार की अनेक रीतियों से बनी रहती हैं। ऐसी पुस्तकों की संख्या अधिक होती है। उनकी रीतियों की कम या अधिक मात्रा के अनुसार उनकी मौलिकता कम या अधिक हो सकती है। पुस्तक देखे बिना उसकी मौलिकता की मात्रा का निश्चय करना कठिन है। कुछ पुस्तकें किन्हीं दूसरी पुस्तकों का 'सारांश' होती हैं; पर उनके लेखक उनका आधार नहीं बतलाते। इसलिए साधारण लोग उन्हें विचारपूर्वक लिखी हुई पुस्तकों के समान मौलिक समझ लेते हैं; पर उनकी 'मौलिकता' का पता विद्वानों को अच्छी तरह रहता है।

(६) कुछ पुस्तकें संग्रह-रूप रहती हैं। संग्रह मोटी तरह से तीन प्रकार के होते हैं—(क) शब्दकोश, (ख) नामकोश और (ग) अवतरण-संग्रह। कुछ शब्दकोश ऐसे रहते हैं जो एक या अधिक मनुष्यों की मौलिक कृतियाँ होती हैं।

उनकी रचना में किसी पुस्तक के क्रम को अथवा अर्थों का उपयोग नहीं किया जाता। ऐसे कोशों की रचना के लिए ज्ञान का उपयोग आवश्यक होता है; क्योंकि कौन अर्थ ठीक और कौन नहीं, इसका निर्णय ज्ञान पर ही अवलम्बित है। तथापि शारीरिक श्रम और सतत उत्साह की अत्यंत आवश्यकता है। क्रम की भी थोड़ी बहुत मौलिकता इनमें रहती है। परन्तु वास्तविक मौलिकता उचित और आवश्यक अर्थों के निर्णय में ही दीख पड़ती है। जो शब्दकोश उसी तरह के दूसरे कोशों के आधार पर लिखे जाते हैं वे बहुधा सारांश-रूप रहते हैं। ऐसी पुस्तकों में मौलिकता बहुत ही कम रहती है। (ख) नाम-कोशों में तो क़रीब क़रीब शारीरिक श्रम का ही काम रहता है। परिचय देने में थोड़ी बहुत मौलिकता हो सकती है। (ग) अवतरण-संग्रहों में जो निर्णय-बुद्धि लगती है, वही उसकी मौलिकता है। अवतरण जितने अच्छे, जितने विविध और जितने क्रमबद्ध होंगे उनमें उतनी ही अधिक मौलिकता दीख पड़ेगी। इस प्रकार के कोई कोई संग्रह अच्छे मौलिक शब्दकोशों की बराबरी कर सकते हैं। "सुभाषितरत्नभाण्डागारम्" नामक संस्कृत श्लोकों का संग्रह सारे हिन्दुस्थान में प्रसिद्ध है।

(१०) एक प्रकार की पुस्तकें और भी होती हैं जो किसी ख़ास पुरुष की रचना नहीं कही जा सकतीं। क़ानून की पुस्तकें इसी प्रकार की होती हैं, तथापि उनका मूलांश बहुधा एक अथवा अधिक लोगों का बनाया हुआ होता है। इस कारण ऊपर बतलाये अनेक वर्गों की थोड़ी बहुत मौलिकता उनमें हो सकती है। परन्तु उसका श्रेय लौकिक रीति से उसे अथवा उन्हें नहीं मिलता है। जिस रूप में वह सभा में स्वीकृत होता है, वह किसी ख़ास पुरुष अथवा पुरुषों का नहीं माना जाता। इसलिए ऐसी पुस्तकों की मौलिकता का अधिक विचार करना आवश्यक नहीं।

इस प्रकार हमने ऊपर जो मुख्य नौ भेद बताये उनके संमिश्रण भी हो सकते हैं। उनके संमिश्रण के अनुसार मौलिकता का निर्णय होना उचित है। इन संमिश्रणों के इतने भेद और उपभेद हो सकते हैं कि उनका विचार करना हमारी शक्ति के बाहर है। मुख्य भेद और उनकी मौलिकता का स्वरूप हमने दिखा दिया है। उन्हीं के सहारे इन संमिश्रित पद्धतियों का निर्णय हो सकता है।

पुस्तकें मुख्यतया पहली नौ रीति से तैयार होती हैं। मौलिक पुस्तकों का विचार करते समय अनुवादों को छोड़ देना होगा। शेष आठ प्रकार से मौलिक पुस्तकों की सृष्टि होती है। किस रीति का महत्व दूसरी से अधिक है, यह बतलाना कठिन है। अपने अपने लिए प्रत्येक रीति समान ही महत्व की है। जो पुस्तक एक रीति से लिखी जा सकती है वह दूसरी रीति से नहीं लिखी जा सकती, साहित्य की वृद्धि के लिए इन सभी रीतियों का अवलंबन करना आवश्यक होता है मौलिकता का विचार करते समय ये आठ विभाग ध्यान में रखे जाना चाहिए।

बन्धु के प्रति।

[लेखक—पण्डित मुकुटधर पाण्डेय]

प्रियवर, यह वसन्त-कुसुमों का गूँथ मनोहर हार
डाला तुमने कण्ठ देश में जो स्वरूप उपहार।
बना आज वह मेरे उर का चिन्तामणि सुदमूल
नहीं स्वप्न में भी सकता हूँ उसे कभी मैं भूल॥
कहते हो तुम—नहीं हृदय में तो स्मृति में दो स्थान
पर आत्मा में दे आसन मैं दूँगा तुमको मान।
जीवन से क्यों रह सकते फिर हम मिलकर सब काल
हमें कर सकेगा विभिन्न क्या फिर यह दुर्जय काल।
निर्भय हो हम युग्म-विहग सम फिर तो गाते गान
अन्तरिक्ष में उड़ा करेंगे कर प्रेमामृत-पान।
देखेंगे नक्षत्रों में जा उनका दिव्य प्रकाश—
किसकी नेत्र-ज्योति है अद्भुत किसके मुख का हास।

धार।

(लेखक—"एक जबलपुरिया")

वैरिसिंह परमार रचो धार असिधार-बल।
बहा सरस्वति-धार धरासार किय भोज ने ॥१॥
जो नहिं होतो भोज कविन भोज देतो कवन।
कालिदास को ओज कौन बढ़ातो चतुर्दिग ॥२॥
कठिन गणित-व्यवहार-लीला कौन बतावतो।
पति सम विदुषी नार जो न होति लीलावती ॥३॥
होत नहिं परमार धार-कीर्त्ति किमि फैलती।
धार बिना आधार बढ़तो किमि परमार-यश ॥४॥
"जँह पवाँर तँह धार धार जहाँ परमार तँह।
बिन पवाँर नहिं धार धार बिना परमार नहिं ॥५॥"

यद्यपि उपरिलिखित पंचम सोरठे में धार और परमार का घनिष्ठ संबंध बतानेवाली लोकोक्ति लिख दी गई है; परन्तु उससे भी अधिक घनिष्ठ संबंध उसका भोज राजा से समझा जाता है : धारा के उच्चारण करते ही भोज का नाम जिह्वा पर आ जाता है, और भोज के कहते ही धारा नज़र के सामने नाचने लगती है। इसलिए यदि हम पमार-विषयक अत्युक्ति को सुधारना चाहें तो निम्न लिखित वाक्य असंगत न होगाः—

जहाँ भोज तहँ धार, धार जहाँ तहँ भोज है।
बिना भोज नहिं धार, धार बिना भोजहु नहीं ॥

इस भारतवर्ष में अनेक प्रतापी राजा हो गये हैं; परन्तु भोज में प्रताप के अतिरिक्त एक विशेषता थी जिसके कारण उसका नाम अमर हो गया है। वह विद्या के प्रति उसकी अभिरुचि है।
साध्यो कीन्ह्यो दियो अरु, जान्यो जो नहिं आन।
सो संपाद्यो भोज कवि, कर न सकत यशगान ॥

धार में प्रेक्षणीय वस्तु भोजशाला है। वह भोज और शाला दोनों का स्मरण कराती है, यद्यपि अब उसका पूर्ण रूप से .काया पलट हो गया है, उसको मसजिद का वेष दे दिया गया है और कमाल मौला का नाम धरा दिया गया है। इस शाला में भोजपत्र आदि पर लिखी हुई पुस्तकें अवश्य रही होंगी। उनका नष्ट हो जाना अचरजयुक्त नहीं है। अचरज और दुःखमय बात यही है कि शिलापत्र की पुस्तकों का नाश कर दिया गया है। दूरदर्शी भोज ने स्वयं-रचित और अन्य काव्यों को अत्यन्त मनोहर अक्षरों में शिला पर खुदवा दिया था जो सहस्रों वर्ष तक उसके कीर्त्तिस्तम्भ-रूप होकर उसकी कृतियों को जाग्रत रखते, परन्तु मौलाई ईर्षा ने कमाल किया। इन पत्थरों को छेनी से छिलवा कर पाँवड़े बना दिया। अभी तक कहीं कहीं कोई अक्षर बचे रह गये हैं और अपनी पूर्व दशा का परिचय दे रहे हैं। आलसी कारीगरों ने कुछ पत्थर मसजिद की मध्यस्थ मिहराबकी दीवाल में बिना लेख छिलाये या बिना छीले उलटे लगा दिये थे; परंतु खोजप्रिय पंडित काशीनाथ कृष्ण लेले ने कष्ट ले ले उन्हें कृष्ण कोठरी से निकलवा कर उदयजाजी* के राज्य में उनका उदय करा ही दिया। यह अपूर्व नाटक नहीं तो क्या है? खूबी यह कि ये लेख पारिजातमंजरी या विजयश्री नामक नाटिका के दो अंक निकले। इसमें भोजदेव की तुलना एक श्लोक में कृष्ण और अर्जुन से यों की गई हैः—

बलगुणगणजयक्षमो विजयते निःशेषगोत्राणकृत्
कृष्णः कृष्ण इवार्जुनो अर्जुन इव श्रीभोजदेवो नृपः।

---

*वर्तमान महाराजा का नाम उदाजीराव अर्थात् उदयजी राव है।

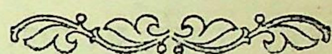
विस्फूर्जद्विषमेषु वेधविधुरां राधां विधत्तेस्म य--
स्तूर्णं पूर्णमनोरथश्चिरमभूद्गाङ्गेयभंगोत्सवे ॥

अर्थात्, जय हो श्रीकृष्ण की, कृष्ण-समान अर्जुन की, और अर्जुन-समान भोज की, जो अपने उछलते हुए बाणों (तीरों) से शत्रुओं को जीत सकता था, जो समस्त गो (पृथ्वी) की रक्षा करता था, जिसके राधा-स्थिति में (पाँवों के बीच एक बीते का अंतर देकर) खड़े होते ही सनसनाते बाणों की मार से शत्रु विकल हो जाते थे और जिसका (त्रिपुरी के राजा) गांगेय की हार के उत्सव में चिरकालीन मनोरथ पूर्ण रूप से शीघ्रतापूर्वक सिद्ध हो गया था। यह अर्थ हुआ भोजपक्ष में। उसीको कृष्णपक्ष में लगाने से बाण का अर्थ बाणासुर, गो का गाय, राधा का उनके प्रेम-फाँस से दुःखित उनकी प्रिया निकलता है। अर्जुन-पक्ष में राधा का अर्थ अर्जुन के विपक्षी कर्ण की सौतेली माता और गांगेय का अर्थ भीष्म होता है। यह नाटिका राजा अर्जुनवर्मदेव के समय में बनी थी। कदाचित् यह श्लोक उसपर भी घटित होता हो। जिस पत्थर पर यह नाटिका खुदी है वह ५ फुट ८ इंच ऊँचा और ५ फुट चौड़ा है। इसी प्रकार का दूसरा पत्थर रहा होगा जिसपर नाटिका के अन्तिम दो अंक खुदे रहे होंगे। वह पत्थर अभी तक नहीं मिला। इसीकी जोड़ का जो दूसरा पत्थर मिला है वह भोजदेव के समय का है। उसपर स्वयं धाराधार भोज रचित धराधार कूर्म्म के दो स्तोत्र खुदे हैं। प्रथम स्तोत्र के अंत में यह खुदा है "इति महाराजाधिराजपरमेश्वर श्रीभोजदेवविरचितं अवनिकूर्म्मशतकम्।" ये दोनों स्तोत्र प्राकृत भाषा में हैं जो भोज के समय बोली जाती थी। बानगी लीजिए—

जस्स भणिएण भुअणं कुम्मप्प्यमुहाविधारयन्तिइमं।
सो अकलिज्जसरूओ ससिचूड़ो देउ सोक्खाइं॥

इस मस्जिद में दो स्तम्भों पर नागबंध खुदे हुए हैं। एक में वर्णमाला और कारक-प्रत्यय और दूसरे में धातु-प्रत्यय बड़ी चतुराई के साथ बतलाये गये हैं। दूसरा प्रेक्षणीय स्थान लाट मस्जिद है। वह भी हिन्दुओं के मन्दिरों के पत्थरों और खंभों से तैयार की गई है। उसके सामने लोहे की लाट का टुकड़ा पड़ा है जिसकी लंबाई २४ फुट और घेर ४ फुट है। इसका दूसरा भाग जो इससे बड़ा था, कहते हैं, गुजरात का सुलतान बहादुरशाह अहमदाबाद को ले गया। सन् १६०० ई० में अकबर बादशाह ने धार में मुक़ाम किया था, तब वर्तमान टुकड़े पर अपना नाम और सन् खुदवा दिया था। इसी लाट के कारण मस्जिद को लोग लाट मस्जिद कहने लगे हैं। अनुमान किया जाता है कि यह आदि में विजयस्तम्भ था जो जबलपुर-निकटस्थ त्रिपुरी के राजा गांगेयदेव पर विजय पाने पर खड़ा किया गया था। लोगों ने कहानी बना ली है कि यह तेलिन की डांडी थी और बड़े बड़े पत्थर जो उसकी नींव के पास पड़े हैं उसके बाँट थे। यहाँ के लोगों में कहावत प्रचलित है जिसका रूपान्तर दूर दूर के प्रदेशों में भी पाया जाता है। वह यह है—"कहाँ राजा भोज और कहाँ गांगी तेलन"। जिस आधार पर यह कहावत बनी उसका पता मि० लेले ने यों लगाया है। भोज के समय में गांगेयदेव त्रिपुरी में राज करता था। उसने एक बार तिलगाने के राजा के साथ धारा पर चढ़ाई की; पर हार गया इसका ज़िक्र ऊपर लिखे श्लोक में है जहाँ भी

को 'पूर्णमनोरथश्चिरमभूदगांगेयभंगोत्सवे' बताया है। जब भोज जीत गया तो स्वभावतः उसकी प्रजा गर्वपूर्वक कहने लगी "कहाँ राजा भोज और कहाँ गांगेय तैलंगण"। कालांतर में इस कहावत ने वह रूप धारण किया जो ऊपर लिख चुके हैं। गांगेय को गांगी और तैलंगण का तेली बन गया। जब इन ऐतिहासिक पुरुषों का विस्मरण हो गया तब नई कहानी गांगी तेलन की तैयार की गई। अवलोकन-योग्य तृतीय स्थल अब्दुलाशाह का चंगल है। उसमें चालीस क़बरें हैं। यहाँ पर फ़ारसी में सन् १४५५ ई० का एक लेख है। उसमें लिखा है कि भोज राजा अपने योद्धाओं समेत मुसलमान हो गया था। यदि यह सत्य है तो यह द्वितीय भोज होगा जो आदि भोज के पश्चात् चौदहवाँ राजा हुआ। आदि भोज के समय में उन्होंने धार में प्रवेश किया। उसके पीछे एक ही और राजा हो पाया कि मुसलमानों ने अपना पूर्ण स्वत्व जमा लिया। परमार जितने चिह्न छोड़ गये थे उन सबका उन्होंने रूपान्तर कर डाला। केवल मुंज सागर नामक तालाब ही बच रहा जिसमें बहुत रूपांतर करने की कदाचित् गुंजाइश ही नहीं मिली। मुसलमानों ने अपने अमल में एक क़िला बनवाया जो अभी विद्यमान है। क़िला बहुत बड़ा नहीं है। अन्तिम पेशवा बाजीराव का जन्म सन् १७७६ ई० में यहीं पर हुआ था। धारा नगरी में प्राचीन परमारों का दौरदौरा प्रायः ३०० वर्षों तक स्थिर रहा और २० राजाओं ने राज-भोग किया। परमारों का मूल राजपुरुष उपेन्द्रराज कहा जाता है। उसकी राजधानी उज्जैन में थी। उसके पीछे जो चौथा राजा वैरिसिंह नामक हुआ उसने अपनी तलवार के ज़ोर से धारा नगरी का स्वामित्व संपादन किया और अपनी खड्ग की धारा द्वारा जीतने से अपनी नवीन राजधानी का नाम धारा धराया। उसके पश्चात् सीयक मुंज सिंधुल और भोज गद्दी पर बैठे जो एक से एक बढ़ कर होते गये और जिनकी कीर्त्ति अभी तक विस्मृत नहीं हुई। भोज के पश्चात कोई ऐसा राजा नहीं हुआ जो उसकी बराबरी कर सकता। निदान चौदहवीं शताब्दी में परमारों का समूल नाश हो गया; परन्तु विचित्रता यह है कि ३०० बरसों तक मुसलमानों के अधीन रह कर भी धार की धार पँवार में फिर जा मिली। वर्तमान राजवंश महाराष्ट्रीय पवाँर है।



वीर पुरुष।

(लेखक--पण्डित बलदेवप्रसाद मिश्र, एम. ए., विशारद)

(१)

घोरतर दुख की घटायें जब कभी
देश में घिरतीं कठोर अपार हैं।
तब स्वयम् लेते अनेकों वीर नर
इस धरा पर आपही अवतार हैं॥

(२)

शीघ्र कटतीं दासता की बेड़ियाँ,
दुःख बन कर्पूर उड़ जाते सभी।
और बज उठती अनेकों वंशियाँ,
शान्ति-सुख के राग गाती हैं तभी॥

(३)

वे स्वयम् बढ़ते बढ़ाकर और को,
काट देते यंत्रणा के जाल हैं।
देख करके आत्मबल वैसा प्रबल
आप हट जाते अराति कुराल हैं॥

(४)

चित्त में भरकर अतुल उत्साह वे
ध्येय ही पर बस हृदय देते जभी।
फिर उन्हें कुछ दूर तो देवे हटा,
कौन है जग-मध्य ऐसा शूरमा ?

(५)

कर लिया संकल्प जो होगा वही,
ईश भी आड़ न आवेगा कभी।
आपही तब हेम नभ बरसायगा;
नीर पर पाषाण तैरंगे तभी॥

(६)

उम्र अपने ध्येय पर यदि मर मिटे,
यह न समझो प्राण उनने खो दिये।
विश्व का कल्याण उनसे हो चुका,
बीज उनने जोश के हैं बो दिये॥

(७)

सौगुना उत्साह उमड़ेगा स्वयम्,
कार्य वे होंगे स्वयम् ही पूर्ण सब।
सिद्धि होवेगी न क्यों तब आपही,
है अमर आत्मा, अमिट उद्देश जब॥

सिनफ़िनिज़्म की वृद्धि।

(लेखक—श्रीयुत रामरखसिंह सहगल)

परिवर्तन और वृद्धि प्रकृति की दो बड़ी शक्तियाँ हैं। ये ही संसार के जीवन के वास्तविक चिह्न हैं। इन्हीं दो शक्तियों के अनुसार संसार की समस्त हलचल हुआ करती है। इन शक्तियों के प्रवाह को सर्वदा के लिए रोकना मानव प्राणियों के सामर्थ्य के बाहर है। यह संभव है कि कुछ लोग थोड़े समय के लिए इस प्रवाह को बन्द करने में सफल हो जावें और इस क्षणिक विजय से मदांध होकर प्रकृति से हमेशा के लिए युद्ध छेड़ने का साहस करें; किन्तु जिस तरह मेघाक्रमण से सूर्य का उज्ज्वल प्रकाश सदा के लिए नहीं रुक सकता उसी तरह मनुष्य अथवा किसी मानव-संस्था द्वारा संसार के परिवर्तन तथा वृद्धि के प्रवाह का बन्द किया जाना सर्वथा असंभव है।

परिवर्तन और वृद्धि को अलग २ शक्तियाँ कहने की अपेक्षा उन्हें केवल एक शक्ति के दो भाग कहना ही अधिक उचित होगा। वर्तमान स्थिति से उच्च और लाभदायक स्थिति की ओर क़दम बढ़ाने ही को वृद्धि कहते हैं। इसलिए परिवर्तन के विना वृद्धि कदापि नहीं हो सकेगी। प्रकृति के प्रत्येक विभाग में प्रति क्षण परिवर्तन हुआ करता है और यह परिवर्तन थोड़े देर के लिए संसार को अवनति की ओर क्यों न ले जावे; परन्तु अन्त में वह वृद्धि के उच्च मार्ग पर ही पहुँचाता है। मानव जाति के इतिहास की ओर दृष्टिपात करने से इस उपर्युक्त बात की सत्यता का परिचय मिल जाता है। आयर्लेंड की घटनाएँ भी इसका एक प्रबल प्रमाण हैं। संसार के समस्त आन्दोलनों में रूस का बालशेविज़्म और आयर्लेण्ड का सिनफ़िनज़्म अत्यन्त महत्वपूर्ण है। सिनफ़िनज़्म का उद्देश्य, परतंत्रता की बेड़ियों को तोड़ना है। इंग्लैण्ड आजतक आयर्लेण्ड वालों पर उनकी इच्छा के विरुद्ध राज्य करता आ रहा है। इंग्लैण्ड ने आयर्लेण्ड वालों की आकांक्षाओं तथा हित की ज़रा भी परवा नहीं की। उन लोगों ने जिनके हाथों में आयर्लेण्ड के शासन

की बागडोर है केवल स्वार्थ ही से काम लिया। उस देश के रहनेवाले अपने मकानों में परदेशी समझे जाने लगे। इस तरह परतंत्रता के समस्त परिणाम आयर्लैंड को भोगने पड़े। परंतु शीघ्रही आयर्लैण्ड वालों में जागृति फैली। उन्हें मालूम हो गया कि अंतर राष्ट्रीय राजनैतिक क्षेत्र में प्रत्येक राष्ट्र स्वार्थ ही से काम किया करता है। वहाँ परमार्थ का प्रमाण मिलना सर्वथा दुर्लभ है। उन्होंने यह भी पहिचान लिया कि जब तक हम अपने प्रयत्नों से स्वतंत्रता प्राप्त न कर लेंगे तब तक हमारी यही शोचनीय दशा रहेगी। इँग्लैण्ड से स्वतंत्रता के दान की आशा करना बिलकुल मूर्खता है। इन सब बातों का ज्ञान होते ही आयर्लैण्ड ने दृढ़ संकल्प कर लिया कि चाहे कितने ही स्वार्थ-त्याग की आवश्यकता क्यों न हो परतंत्रता की शृंखला को तोड़े बिना वह संतुष्ट कदापि न होगा। वह वीर राष्ट्र इस दृढ़ संकल्प को कार्य-रूप में परिणत करने के लिए तत्पर हो गया। आयर्लैण्ड के देशानुरागी नेताओं ने अपने उदाहरण से संसार को यह दिखला दिया कि स्वतंत्रता की वेदी पर जो कुछ अर्पण किया जावे वह सब थोड़ा है। वहाँ का एक एक बच्चा स्वतंत्रता का स्वप्न देखने लगा। स्त्रियाँ देश के लिए स्वार्थत्याग करने में पुरुषों से स्पर्द्धा करने लगीं। इस तरह आयर्लैण्ड की स्वतंत्रता का संग्राम आरम्भ हुआ।

यह संग्राम कुछ कल से आरम्भ नहीं हुआ है। इसे आरम्भ हुए आज क़रीब एक सदी व्यतीत हो गई। लगभग एक सौ वर्षों से एक छोटे से परतंत्र राष्ट्र के लोग अपनी परतंत्रता को नष्ट करने का उद्योग कर रहे हैं और एक स्वतंत्र और प्रबल राष्ट्र के कुछ स्वार्थी साम्राज्यवादी पाशविक बल से उन लोगों को परतंत्रता के पंजे में जकड़े रखने का प्रयत्न कर रहे हैं। गत कुछ वर्षों में भेद केवल इतना हो गया है कि अब इस संग्राम ने एक भयंकर स्वरूप धारण किया है। आज इस संग्राम में लड़नेवाले देशप्रेमी आयरिशों की आत्माओं में एक ऐसी दैवी शक्ति का संचार हुआ है जिसने संसार के एक महान् राष्ट्र को भी भयभीत कर दिया।

जर्मन-युद्ध के पहिले, हिन्दुस्थान के समान, आयर्लैण्ड के लोगों में भी नरम और गरम ऐसे दो दल थे। वहाँ के नरम दल वालों का अंग्रेजों की न्याय-प्रियता में दृढ़ विश्वास था। उन लोगों की कल्पना थी कि आज नहीं कल, कल नहीं परसों, इँग्लैण्ड की पार्लमेंट आयर्लैण्ड को स्वराज्य का "दान" दिये बिना कदापि नहीं रह सकती। परन्तु दस वर्ष गए, बीस गए, एक शताब्दी ही चली गई। आयर्लैण्ड की राजनैतिक स्थिति आज बिलकुल वैसी ही है जैसी सन १८०० में थी। इसलिए वहाँ के लोगों के हृदयों में निराशा उत्पन्न हुई और उसी निराशा का फल आयर्लैंड का राष्ट्रीय पक्ष—सिनफ़ेन है। इसी निराशा का परिणाम है कि इस समय नरम और गरम दोनों दलों का एक ही दल में समावेश होकर देश में केवल एक ही दल दिखलाई देता है। वह सिनफ़ीनरों का दल है जिसमें आयर्लैण्ड के प्रतिशत सत्तर लोग सम्मिलित हैं। इस दल के प्रभाव, शक्ति और वेग का समस्त श्रेय इँगलैण्ड के राजनीतिज्ञ को ही दिया जा सकता है। आयर्लैण्ड के घोर कष्टों का उत्तरदायित्व भी इँगलैण्ड के राजनीतिज्ञों पर ही है। यदि इन लोगों ने आयर्लैण्ड के साथ

दूरदर्शिता और उदारता का व्यवहार किया होता तो आज आयरिश लोगों को अपने अच्छे उद्देश्य को पूरा करने के लिए इतने कष्ट न सहने पड़ते। यदि आयर्लैण्ड के राजनीतिज्ञ इस समय स्वार्थ के शिकार न बनते तो निष्पक्ष इतिहास लिखनेवाले को आयर्लैण्ड तथा इँगलैंड के इतिहास में आयर्लैंड के हत्या-काण्ड का वर्णन करने का दुर्दैव कदापि प्राप्त न होता। परन्तु जो कुछ होना था सो हुआ और आज आयर्लेण्ड के लोग अपने देश को स्वतंत्र बनाने के लिए प्राण तक अर्पण कर रहे हैं। दिन प्रति दिन समाचार मिलते हैं कि तोपों के सामने रहते हुए भी सिनफ़िनर्स सरकारी सिपाहियों की हत्या करने में ज़रा भी नहीं सकुचते। एक ओर इँगलैंड सिनफ़िनरों के उपद्रवों को बंद करने के लिए दमनकारी क़ानून बनाता है और दूसरी ओर यह उपद्रव दिन दिन बढ़ते जाते हैं। ऐसी दशा में प्रत्येक मनुष्य के हृदय में प्रश्न उत्पन्न होता है कि इसका कारण क्या है?

जो पाठक आयर्लैंड का गत १०० वर्षों का इतिहास जानते हैं वे कह सकते हैं कि इसका कारण केवल यही है कि आयर्लेण्ड ने अपनी कमज़ोरी को, जिसके कारण उसे अपनी स्वतंत्रता खोनी पड़ी थी, पहचान लिया है और वह कमज़ोरी को नष्ट करके अपनी खोई हुई स्वतंत्रता को प्राप्त करने के लिए प्राण तक अर्पण करने को उद्यत हो रहा है। आज आयर्लेण्ड में स्वार्थ-त्याग की इतनी बड़ी लहर उठ रही है कि जो अपने वेग में प्रायः प्रति दिन अनेक देश-सेवकों की जानों को बहा ले जा रही है। इस स्वार्थत्याग की लहर को पिछले कुछ वर्षों की घटनाओं ने और भी उत्तेजित किया और इस लहर का मूर्तिमान् स्वरूप आयर्लेण्ड का सिनफ़िनर दल है।

सिनफ़िनरों के पक्ष की वृद्धि का पहिला कारण यह है कि उन लोगों ने अपने देश की स्वतंत्रता का संग्राम ठीक उस जगह से आरंभ किया जिस जगह आयर्लेण्ड के अन्य पक्षों ने छोड़ा था, अर्थात् युद्ध के पहिले आयर्लेण्ड के अन्य पक्षों की माँगों के अनुसार ब्रिटिश पार्लमेंट ने यह मंजूर किया था कि आयर्लेण्ड को शीघ्रही स्वराज्य दिया जावे। ऐसी स्थिति में जर्मनी से युद्ध आरम्भ हुआ। आयरिश देशानुरागी रेडमंड ने अपने देश को स्वतंत्र बनाने के लिए इस युद्ध से लाभ उठाना चाहा। रेडमंड ने ब्रिटिश पार्लमेंट को स्पष्ट शब्दों में कहदिया कि आयर्लैंण्ड युद्ध में इसी शर्त पर मित्रराष्ट्रों की सहायता करेगा कि ब्रिटिश पार्लमेण्ट आयरिश होमरूल एक्ट को पास करने का वचन दे। पार्लमेंट ने इस बात को स्वीकार किया। परन्तु शोक की बात है कि आजतक इस अभागे देश को स्वराज्य नहीं दिया गया। इसी बात के आधार पर सिनफ़िनरों ने अपना आन्दोलन तीव्र वेग और उत्साह के साथ आरम्भ किया। युद्ध के आरम्भ के वर्षों की कुछ घटनाओं ने सिनफ़िनरों की खूब मदद की। आयर्लेण्ड के लोगों के हृदयों में निराशा उत्पन्न हो रही थी और कुछ लोग समझते थे कि "सर्वशक्तिमान्" इंग्लैंड से झगड़ा करके स्वराज्य प्राप्त करने की आशा करना निरर्थक है। इस निराशा के साथ ही साथ आयरिश लोगों में इंग्लैंड के प्रति घृणा के भाव भी उत्पन्न हो रहे थे। आयर्लेण्ड इँग्लैण्ड के शत्रुओं को अपना मित्र तक समझने लगा; परन्तु युद्ध ने आयरिश लोगों के

हृदयों पर निराशा के छाये हुए बादलों को हटा-कर आशा की किरणें पहुँचाईं । आयरिश लोगों को मालूम हो गया कि इँग्लैण्ड को सर्वशक्तिमान् समझना उनकी भारी भूल है । उन्हें इस बात का ज्ञान हो गया कि इँग्लैण्ड की शक्ति भी नष्ट हो सकती है । इस तरह आयर्लैण्ड में इँग्लैण्ड के विरोधियों के प्रति सहानुभूति बढ़ती गई और सिनफिनिज़्म की प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप में उन्नति हुई ।

सिनफिनिज़्म की उन्नति में सहायता पहुँचाने वाली दूसरी घटना इँग्लैण्ड की फ़ौजी कठिनाइयाँ थीं । युद्ध के आरम्भ में जर्मनी ने अपनी वीरता तथा पराक्रम से समस्त संसार को चकित कर दिया था । जर्मनी की तोपें केले शहर पर आ पहुँची थीं और डर था कि शीघ्र ही इँगलिश चेनेल पार करके जर्मन सेनाएँ इँग्लैंड पर आक्रमण करेंगी । कुछ लोगों के हृदयों में यह आशंका उत्पन्न हुई कि कहीं इस युद्ध में सर्वशक्तिमान् इँग्लैंड को भी नीचा न देखना पड़े । ऐसी स्थिति में इँग्लैंड को अपनी सेनाओं के बढ़ाने की आवश्यकता मालूम हुई । इसलिए इँग्लैंड ने आयर्लैंड में कान्सक्रिपशन एक्ट का प्रयोग करने का निश्चय प्रकट किया । इस एक्ट से आइरिश किसानों को भय मालूम हुआ कि उन्हें अपने खेत छोड़ कर फ्रांस के युद्ध-क्षेत्रों में प्राण देने के लिए जाना पड़ेगा । आइरिश माताएँ चिन्तित थीं कि उनके प्रिय पुत्र उनसे सदा के लिए अलग होंगे । आयरिशों के नेता रेडमंड आरंभ ही से इस बात पर ज़ोर देते थे कि आयरिशों का कर्तव्य है कि वे सेना में भर्ती होकर इँग्लैण्ड की मदद करें । परन्तु सिनफ़िनर इस बात के बिल्कुल विरुद्ध थे । ऐसी दशा में सिनफ़िनरों के प्रति आयरिशों की सहानुभूति का बढ़ना बिलकुल स्वाभाविक था । आयर्लैंड की जनता का अनुमान था कि सिनफ़िनरों का पक्ष कान्सक्रिपशन एक्ट का घोर विरोध करेगा । इस तरह कान्सक्रिपशन एक्ट से भी आयरिश जनता पर सिनफ़िनरों का प्रभाव बढ़ाने में अप्रत्यक्ष रूप से बहुत मदद मिली ।

इसके अतिरिक्त इधर तो आयर्लैंड की बढ़ती हुई राजनैतिक आकांक्षाएँ थीं और उधर मित्र-राष्ट्र यह घोषणा कर रहे थे कि छोटे छोटे राष्ट्रों को स्वतंत्र बनाने के लिए ही दुष्ट जर्मनी से युद्ध किया जा रहा है । अमेरिका में प्रेसीडेंट विलसन ने यह घोषणा की कि युद्ध के पश्चात् समस्त संसार के प्रत्येक राष्ट्र को अधिकार दिया जावेगा कि वह अपने देश में स्वेच्छानुसार शासन स्थापित करे । इन सब घोषणाओं ने सिनफ़िनरों के आन्दोलन को और अधिक उत्तेजना दी । आयर्लैंड की जनता का विश्वास सिनफ़िनरों के प्रति दिन पर दिन बढ़ता गया ।

सिनफ़िनज़्म को असली सहायता लोगों में फैली हुई निराशा से पहुँची । इँग्लैंड का इतिहास वचन-भंग का इतिहास है । युद्ध का आरंभ होते समय आयरिश लोगों की यह कल्पना थी कि युद्ध एक साल के पश्चात् समाप्त हो जावेगा और आयरिश होमरूल बिल केवल एक वर्ष के लिए रोक दिया गया है । सन् १९१५ के बाद देश के नवयुवकों ने यह ज़ोरदार आवाज़ उठाई कि आयरिश होमरूल बिल तुरन्त कार्यरूप में परिणत किया जावे । यह आवाज़ उन नौजवानों की थी जो रक्त से भीगे हुए युद्ध-क्षेत्र में

केवल साम्राज्य के लिए प्राण अर्पण करने गये थे। परन्तु इँग्लैण्ड ने इस पवित्र आवाज का भी तिरस्कार किया।

इसके पश्चात् आयरिश लोगों ने प्रार्थना की कि उनका प्रश्न राष्ट्-संघ में हल होने के लिए पेश किया जावे। परन्तु साम्राज्यवादी इँग्लैण्ड इस बात को भी न मान सका। उसने आयरिश मामले को घरेलू मामला बतलाकर आयरिशों की प्रार्थना नामंजूर की। इस तरह सिनफ़िनरों के पक्ष की दिन प्रति दिन वृद्धि होती चली। लोग अंग्रेज़ अधिकारियों की आज्ञाओं का भंग करने लगे। सिनफ़िनरों ने अंग्रेज़ी शासन को हटाकर आयर्लेंड में अपना शासन क़ायम करने का निश्चय किया और आयर्लेण्ड में आयरिश प्रजातंत्र स्थापित कर दिया। सिनफ़िनरों ने समस्त आयर्लेंड में जगह जगह पर दीवानी और फ़ौजदारी अदालतें क़ायम कीं। ये अदालतें अपना काम बहुत अच्छी तरह कर रही हैं। इन अदालतों में न्याय करते समय वर्ण, धर्म, पंथ, जाति, इत्यादि बातों का विचार नहीं किया जाता। सारांश यह है कि इन अदालतों में लोगों को निष्पक्ष न्याय मिलता है, यहाँ तक कि आयर्लैण्ड में रहने वाले कुछ अंग्रेज़ लोग भी समय समय पर अपने मुक़दमे तय करने के लिए चोरी से इन अदालतों में जाते हैं। कुछ अंग्रेज़ सज्जनों ने इन अदालतों को आर्थिक सहायता दी है। ये अदालतें अब लोक-प्रिय बन गई हैं। सिनाफ़िनज़म के राष्ट्रीय आन्दोलन के लिए बहुत धन की आवश्यकता है। इसलिए सिनाफ़िनरों ने अपने कार्य के लिए एक राष्ट्रीय कोश स्थापित किया है। इस कोश में चंदा इकट्ठा करने का ढंग बहुत ही विचित्र है। सिनफ़िनरों का नेता रात के समय किसी निश्चित स्थान पर पहुँच कर वहाँ के लोगों को स्वदेश की असली स्थिति समझाता है। उपस्थित जनता अपनी अपनी शक्ति के अनुसार चन्दा देकर इस सिनफ़िनर नेता का आदर करती है। सिनफ़िनरों ने अपने कार्य्य के लिए इंग्लैण्ड तथा अमेरिका से अनेक हज़ार पौंडों का राष्ट्रीय क़र्ज़ लिया है।

सिनफ़िनरों ने आजतक अपने देशवासियों से सरकार की नौकरी छोड़ने को नहीं कहा। इसके विपरीत उनके अनेक सच्चे सहायक सरकार की नौकरी में ही पाये जाते हैं। सिनफ़िनरों का मत है कि सरकारी नौकरी करना कोई अपराध नहीं; परन्तु अवसर पड़ने पर सरकार को मदद देने की अपेक्षा अपने देशवासियों की ही सहायता करना प्रत्येक आयरिश का परम पवित्र कर्तव्य है। एक समय का वृत्तांत है कि सिनफ़िनरों ने एक स्टेशन पर हमला करके उसके गोला-बारूद के भंडार में आग लगा दी। यह समाचार मिलते ही एक अंग्रेज़ अधिकारी कुछ आयरिश नौकरों के साथ आग बुझाने का एंजिन लेकर स्टेशन पर उपस्थित हुआ। इस अंग्रेज़ ने आयरिश नौकरों को आग बुझाने की आज्ञा दी; परन्तु इन लोगों ने आग बुझाने से इंकार किया। उन लोगों ने स्टेशन की परवा न करके आयरिश लोगों की आसपास की इमारतों को आग से बचाने के लिए उन इमारतों पर पानी फेंकना आरम्भ किया। थोड़े समय में वह गोला-बारूद जल कर भस्म हो गई और वह अंग्रेज़ अधिकारी निराश तथा क्रुद्ध हो वापिस चला गया। आयरिश प्रजातंत्र के लिए जो बात घातक होती

है उसे करने के लिए आयरिश नौकर तैयार नहीं होते । आयरलैण्ड से हमेशा ये समाचार मिलते रहते हैं कि आयरलैण्ड के रेलवालों ने गोला-बारूद अथवा फ़ौजी रेलगाड़ी को एक जगह से दूसरी जगह ले जाने से इंकार किया । कई बार इँग्लैण्ड से भेजा हुई गोला-बारूद को जहाज पर से उतारने से आयरिश मज़दूरों ने इंकार कर दिया और इसलिए उसको फिर इँग्लैण्ड वापिस ले जाना पड़ा । आयर्लैण्ड में इस समय अंग्रेज़ी सरकार के प्रति, उसकी करतूतों के कारण, दिन प्रति दिन इतना घृणा बढ़ रही है कि वहाँ के अनेक लोग सरकार से संबंध रखने वाली वस्तु अथवा मनुष्य को नष्ट करना अपना परम कर्तव्य समझते हैं । पुलिस तथा फ़ौज की छावनियाँ नष्ट करना उन्हें खेल सा हो गया है । सिनफ़िनर सरकारी तोपें उठा ले जाते हैं । यहाँ तक कि सरकारी चिट्ठी-पत्री भी सिनफ़िनरों के हाथों से कभी कभी नहीं बचतीं । उन्होंने अपने कार्य्य में उचित प्रबंध रखने के लिए पुलिस का भी संगठन किया है ।

सारांश यह है कि आजकल सिनफ़िनज़म बहुत ज़ोर पर है और दिन प्रतिदिन अधिकाधिक फैल रहा है । वर्तमान घटनाओं की ओर दृष्टि-पात करने से ऐसा प्रतीत होता है कि इँग्लैण्ड के इतिहास में शीघ्र ही ऐसा एक दिन होगा जबकि ब्रिटिश पार्लिमेंट को आयरिश प्रजातंत्र का अधिकार स्वीकार करने के लिए विवश होना पड़ेगा और आयर्लेंड को संपूर्ण स्वतंत्रता देनी पड़ेगी । यदि ऐसा दिन इँग्लैंड वासी शीघ्र लाते हैं तो समझना होगा कि वह दिन इँग्लैण्ड के भाग्योदय का सूचक है ।

सिनफ़िनिज़म का प्रभाव केवल इँग्लैण्ड या आयर्लैण्ड के इतिहासों पर ही नहीं है । सिनफ़िनज़म ने समस्त संसार को बहुत बड़ा लाभ पहुँचाया है । संसार के परतंत्र राष्ट्रों को आयरलैण्ड का संदेश बहुत उपदेशजनक और महत्व-पूर्ण है । यह संदेश आशा, दृढ़ संकल्प, स्वावलंबन और स्वार्थ-त्याग का है ।

आयर्लैण्डवालों ने अपने उदाहरण पर से संसार को यह दिखलाया है कि देश का उद्धार करने के लिए काम करने वाले देशसेवकों के हृदयों में निराशा के लिए तनिक भी स्थान नहीं है । देश को स्वतंत्र बनाने के प्रयत्न भले ही कुछ देर के लिए सफलीभूत न हों और इसलिए जनता में निराशा उत्पन्न होना स्वाभाविक है; परन्तु देशसेवकों का कर्त्तव्य है कि वे इस निराशा को दूर करके जनता के जीवन में आशा तथा उत्साह का संचार करें । अंत में यह प्रयत्न, यदि दृढ़ संकल्प से किया जावे तो निष्फल कदापि नहीं हो सकता । इस दृढ़ संकल्प को पूरा करने में अन्य राष्ट्रों की सहानुभूति और कृपा की अपेक्षा उस राष्ट्र को आत्मावलम्बन से अधिक काम लेना चाहिए ।

१६२१-२२ का इम्पीरियल बजट ।

लोग समझते थे कि नवीन-सुधार-युग के आरम्भ होने से भारतवर्ष को सचमुच कुछ मिल गया होगा; परन्तु आगामी वर्ष के बजट को देख कर थोड़ी-बहुत जो आशा थी वह भी जाती रही और जो आँखें बंद होकर किसी अपूर्व सुख का अनुभव करती थीं वे खुल गई और उन्होंने देखा कि नवीन सुधारों से भारत को वही मिला है जो उस मेहमान को मिलता है जिससे मकान-मालिक कहता है कि 'घर तुम्हारा है, खाओ—पीओ; पर किसी चीज़ में हाथ न लगाना।'

आगामी वर्ष का बजट मि० हेली की चालों से भरा हुआ है; पर उन्हें यह देख-सुनकर आश्चर्य होगा कि अब लोग उनकी चालों को समझने लगे हैं और उनकी बातों का कितना विश्वास करना चाहिए वे इसे भलीभाँति जानने लगे हैं। गत वर्ष उन्हें रिवर्स कौंसिल्स बेचने की चिन्ता थी और उसमें पड़कर उन्होंने भारत के वाणिज्य-व्यवसाय को नष्ट कर अपनी देश-हितैषिता का परिचय दिया। इस वर्ष रिवर्स कौंसिल्स का स्थान सामुद्रिक चुंगी ने लिया है। सैनिक व्यय की बेहिसाब वृद्धि के लिए असहयोग-आन्दोलन और बोलशेविक लोगों के आक्रमण की आशंका आधार माने गये हैं। क्यों न हो, सैनिक शक्ति ही पर तो भारत-सरकार की नींव स्थित है। इसीलिए भारत-सरकार अन्य विभागों की चिन्ता न करके सेना-विभाग की ओर अपना ध्यान केन्द्रित करना उचित समझती रही है। यदि किसी सदस्य ने सरकार का ध्यान इस ओर दिलाया तो कह दिया गया कि भिन्न भिन्न प्रान्त जो चाहें सो करें ! यह है सुधारों का रहस्य।

सैनिक व्यय की वृद्धि।

गत वर्ष व्यय १३० करोड़ और आय १३[illegible] करोड़ रुपये अनुमानित की गई थी; परन्तु व्यय अनुमान से बहुत अधिक हुआ। सैनिक व्यय के लिए ५५·२ करोड़ रुपये रखे गये थे; पर खर्च हुए ७०·४ करोड़ रुपये। अनुमान का क्या कोई अर्थ है? प्रति वर्ष यही होता आया है। सन् १६१८-१६ में ६ करोड़, १६१६-२० में २३ करोड़, और १६२०-२१ में ११·७५ करोड़ रुपये अधिक व्यय हुए। इस प्रकार पिछले तीन वर्षों में ४०·७५ करोड़ रुपये आमदनी से अधिक खर्च किये गये। इस वर्ष भी १८½ करोड़ रुपयों की कमी पड़ रही है; क्योंकि आय होगी ११०·[illegible] करोड़ और व्यय होगा १२६ करोड़ रुपये।

आय का अधिकांश सेना के ही कारण व्यय होता रहा है और यह भारत-सरकार के सुप्रबन्ध की विशेषता है कि सैनिक व्यय उत्तरोत्तर बढ़ता रहा है जो नीचे लिखे अंकों से प्रकट होगा।

सैनिक व्यय की वृद्धि—

सन्		(करोड़ रुपयों में)
१८८४-८५	....	१७·०५
१८६१-६२	....	२२·६६
१८६६-१६००	...	२६·४४
१६०६—१०	...	२८·६६
१६१६—१७	....	३७·०
१६१६-१६२०	....	८५·३३
१६२१-१६२२	...	६०·२० अनुमानित

इन अंकों से स्पष्ट है कि भारत पर सैनिक व्यय का कितना भारी बोझ है। आय का आधे से भी अधिक अंश, शान्ति-काल में, सेना रखने में खर्च किया जाय यह अन्धेर इसी राज्य का है। दूसरे, सेना का पालन-पोषण तो किया जाता है भारत के रुपये से; पर उस सेना का उपयोग किया जाता है ब्रिटिश साम्राज्य के बढ़ाने में। मिश्र और ईस्ट आफ्रिका से लेकर चीन तक का अंग्रेजी साम्राज्य वस्तुतः भारत की फ़ौजों के ही सहारे स्थापित किया गया है। मध्य एशिया तथा ईरान के मिट्टी के तेल की चश्मों की रक्षा तथा एशिया की गुलामी भारत की ही सैनिक शक्ति पर है। मि० रैम्जे मैकडानल ने लिखा है—"भारत के धन का अनुचित उपयोग पूर्ववत् जारी है। बहुत से ऐसे सैनिक व्ययों को जो इँग्लेंड के धन से पूरे होना चाहिए भारत अपने ही धन से पूरे करता है। भारत की आधी सेना साम्राज्य की वृद्धि या उसके संरक्षण के उद्देश्य से है। इसका खर्च इँग्लेंड को अपने ऊपर लेना चाहिए। उपनिवेशों में जो भारतीय सेना है उसका व्यय उपनिवेशों को देना चाहिए; परन्तु यह व्यय भी दरिद्र भारत के ही सिर पड़ता है। अभी तक ईस्ट इंडिया कम्पनी के समय का अन्धेर चला आ रहा है.........दुर्भाग्य से सीमा-सम्बन्धी तथा साम्राज्य-वृद्धि-सम्बन्धी खर्च भी भारत के ही धन से पूरा किया जाता है।" असहयोग-आन्दोलन को दबाने के लिए मि० हैली का सैनिक व्यय का बढ़ाना एक प्रकार से गुलामी को पुष्ट करना है और डायरशाही और ओ-डायरशाही में भारत के धन को फूँकना है। अफ़ग़ानिस्तान के बोलशेविक लोगों के आक्रमण की जो चर्चा की गई वह भी निरर्थक है; क्योंकि अभी गत मार्च में ही इँग्लेंड की रूस से व्यापारिक संधि हुई है जिसकी एक शर्त यह है कि रूस भारत में छेड़छाड़ न करे।

शिक्षा, स्वास्थ्य आदि पर सैनिक व्यय का प्रभाव।

सैनिक व्यय जो उत्तरोत्तर बढ़ता जा रहा है उसका प्रभाव यह है कि शिक्षा, स्वास्थ्य, आमोद-प्रमोद आदि पर यथेष्ट धन व्यय नहीं किया जाता है, और इन विभागों में अधिकाधिक व्यय करने की कितनी आवश्यकता है इसे कोई भी मानेगा। शिक्षा-विभाग को ही लीजिए। नीचे लिखे अंकों से प्रकट होता है कि भारत में शिक्षा के लिए कितना कम खर्च किया जाता है—

प्रति मनुष्य पीछे शिक्षा का व्यय

देश		शि० पैंस
संयुक्त राज्य अमेरिका	....	१६-०
स्विट्ज़लैंड	....	१३-८
आस्ट्रिया	....	११-३
इँग्लेंड तथा वेल्स	....	१०-०
कनाडा	....	९-९
स्काटलेंड	....	९-७½
जर्मनी	...	६-१०
बेल्जियम	...	५-४
भारतवर्ष	...	०-१

अमेरिका की बात छोड़िये, इँग्लेंड अपने यहाँ १० शिलिंग व्यय करता है और वही यहाँ के लोगों की शिक्षा के लिए, प्रति मनुष्य पीछे १ पेंस (या ३ पैसे) व्यय करता है, अर्थात् इँग्लेंड में प्रति बालक की शिक्षा के लिए १०० गुना खर्च किया जाता है! स्वास्थ्य की भी यही दशा

है । दोनों देशों में मनुष्यों की औसत आयु की तुलना करने से मालूम होता है कि यहाँ वालों की औसत आयु वहाँवालों की औसत आयु से बहुत ही कम है । इन सब बातों से पता चलता है कि यहाँ स्वास्थ्य आदि विभागों में कितना अधिक व्यय करने की आवश्यकता है।

नये टैक्सों की वृद्धि तथा देश पर उसका प्रभाव ।

बढ़ते हुए सैनिक व्यय को पूरा करने के लिए नये नये टैक्सों की सृष्टि की गई है । इस साल के बजट में जो १९ करोड़ रुपयों की कमी पड़ रही है उसके कारण भी टैक्स बढ़ाना पड़े हैं । टैक्स बढ़ाना कुछ बुरा नहीं; पर जो टैक्स जनता की शिक्षा को रोकें वे सर्वथा त्याज्य हैं । खेद की बात है, हैली सा० ने कई नये टैक्सों की उद्भावना की है जिसका प्रभाव दरिद्र जनता पर बहुत बुरा पड़ेगा । हैली सा० के प्रस्ताव के अनुसार कार्ड जो अभी १ पैसे में जाते थे वे अब दो पैसे में जाने वाले थे; पर सन्तोष की बात है, उन्होंने अपना यह प्रस्ताव लौटा लिया । लिफ़ाफ़ा चार पैसे का हो जाता; परन्तु वैसा न होकर अब यह हुआ है कि)॥ में ½ तोले की ही चिट्ठी जा सकेगी । मनीआर्डर कमीशन के रेट में वृद्धि कर दी गई है जिसका प्रभाव बहुत बुरा पड़ेगा ।

इसके सिवा, रेल्वे टैक्स ग़रीबों पर बहुत ही बुरा प्रभाव डालेंगे । सन् १९१७ में कोयले पर प्रति मन १ पैसा और लकड़ी तथा अनाज पर प्रति मन दो पैसा रेल-भाड़ा था । अब इस साल से वह भाड़ा ६ पैसे मन हो जायगा । कपड़े, रुई, जूट तथा तेल पर दो आने मन हो जायगा । इसका फल यह होगा कि तेल, अनाज, लकड़ी, कोयला आदि वस्तुएँ जिन्हें प्रत्येक मनुष्य व्यवहृत करता है महँगी हो जायगी। यदि यह सोचा जाय कि ये टैक्स आगे चलकर शायद हटा लिये जायँ, तो वह व्यर्थ है । तार को ही देखिये । पहले, किसी समय, वह ।) में जाता था, अब वह ॥।) में जाता है । युद्ध के समय जब उसकी दर में वृद्धि की गई, तब सोचा गया था कि लड़ाई बंद होने पर शायद वह पूर्ववत् ॥) कर दिया जायगा; पर वैसा हुआ नहीं और न शायद कभी होगा । हैली सा० के नये टैक्सों से ग़रीब जनता के पेट कटेंगे और वर्तमान महँगी और भी भयंकर रूप धारण करेगी । सामुद्रिक चुंगी से भी यही बात होगी । अब विदेशी रेशम तथा रेशमी कपड़े, छातों तथा अन्य आवश्यक पदार्थों पर २० प्रतिशत चुंगी लगाई जायगी। बेचारी दियासलाई भी इसी चुंगी के कारण महँगी की जायगी । इससे स्पष्ट है कि इन नये टैक्सों तथा चुंगियों से नौकरी-पेशा लोगों तथा मेहनती मजदूरों को बहुत कष्ट उठाना पड़ेगा। इससे उनकी कार्य-क्षमता कम होगी और उनका जीवन असन्तोष का केन्द्र बनेगा ।

नये टैक्सों से लाभ ।

यह न समझिए कि नये टैक्सों से केवल हानि ही होगी, लाभ नहीं । जिस प्रकार काले बादलों में रुपहली गोट लगी रहती है, उसी प्रकार इन टैक्सों में कुछ टैक्स ऐसे भी हैं जो देश को कुछ लाभ-प्रद होंगे । विदेशी कपड़ों पर सामुद्रिक चुंगी ७½ प्रतिशत के स्थान पर ११

प्रतिशत की गई है । इससे बम्बई के कपड़े के कारख़ानों को बहुत लाभ पहुँचेगा। विदेशी शक्कर पर १० के बदले १५, तमाखू पर १॥) प्रति पाउन्ड के स्थान पर २।) प्रति पाउन्ड और सिगरेट पर ५० के बदले ७५ प्रतिशत कर दी गई है। इससे देश में तमाखू तथा शक्कर की उत्पत्ति बढ़ेगी और उनके कारख़ाने को लाभ होगा। परन्तु इस बात को कदापि न भूलना चाहिए कि यह लाभ अस्थायी होगा। मि० हैली ने अपने भाषण में कहा है कि "विदेशी सूती कपड़ों पर सामुद्रिक चुंगी बढ़ाने में हमारा मुख्य उद्देश्य यही है कि किसी प्रकार आमदनी हो—इसमें हमारा उद्देश्य भारतीय उद्योग-धन्धों का संरक्षण करना नहीं है"। मतलब यह कि चुंगी राजनैतिक कारणों से लगाई गई है, आर्थिक कारणों से नहीं। मि० हैली को यह बात कहने की आवश्यकता शायद इसलिए पड़ी है कि चुंगी बढ़ाने से कहीं लेंकाशायर आदि के व्यापारी न बिगड़ खड़े हों। हम पूछते हैं कि यदि यह बात घोषित न की गई होती अथवा यह कहा होता कि हमारा उद्देश्य देशी उद्योग-धन्धों का संरक्षण करना है, तो क्या बुरा होता? क्या देशी उद्योग-धंधों का संरक्षण करना पाप है? क्या इँग्लेंड ने जर्मनी के रंगों के विरुद्ध सामुद्रिक चुंगी का प्रयोग नहीं किया है? क्या जापान, इंग्लेंड आदि ने जर्मन डंपिंग से अपने को बचाने के लिए सामुद्रिक चुंगी की दीवाल नहीं खड़ी की? 'लन्डन इकानामिस्ट' ने अपने गत ४ दिसंबर के अंक में लिखा था "जर्मनी के सस्ते माल के विरुद्ध सभी राष्ट्रों में आन्दोलन उठ रहा है। जापान ने जर्मनी के सस्ते माल से स्वदेशी कारख़ानों को बचाने का उपाय पहले से ही सोच रखा है। इसी प्रकार इँग्लैंएड ने सिगरेट, लकड़ी, कोको आदि व्यवसायों को बचाने का प्रबन्ध किया है। स्कैंडिनेविया तथा डेनमार्क में भी ऐसा आन्दोलन जारी है। स्वीडन अंग्रेज़ी माल पर चुंगी लगाने के विषय में सोच रहा है।" इससे स्पष्ट है कि संसार की ही स्थिति बदल गई है। इँग्लेएड तक ने संरक्षण नीति का अवलम्बन किया है। फिर मि० हैली संरक्षण की बात से इतना क्यों डरते हैं? शायद इसलिए कि ख़ून पानी से गाढ़ा होता है।

मि० हैली को यह सुनकर अवश्य ही आश्चर्य हुआ होगा कि उनके इतनी सफ़ाई देने और सदिच्छा प्रकट करने पर भी लेंकाशायर के स्वार्थी महाजनों ने हल्ला मचाना शुरू किया है कि भारत के सूती कारख़ानों पर भी ११ प्रतिशत व्यवसायिक कर लगा देना चाहिए। उन्होंने मि० मांटेगू तथा मि० लायड जार्ज के पास एक डेपुटेशन भी भेजा है। क्या यह आशा की जाय कि वे इस अवसर पर बुद्धि तथा विवेक से काम लेंगे और भारत के सुलगते हुए वर्तमान असंतोष को और भी अधिक न भड़कावेंगे?

विलायती कपड़ों पर लगाई गई ११ प्रतिशत की सामुद्रिक चुंगी से विलायत वालों की साख सुधरेगी। हाँ, यह तभी होगा यदि भारत से कच्चा माल विदेश में जाने लगे और भारत का व्यापारीय संतुलन भारत के पक्ष में हो जाय। इससे विदेशी हुंडी की दर भी किसी अंश तक सुधरेगी। हमारा कहना यह है कि भारत-सरकार का, व्यापार-व्यवसाय के काम में कुटिल उद्देशों को सामने रखकर, हस्तक्षेप करना बहुत ही अनुचित है। अभी थोड़े ही दिन हुए, जब कलकत्ता तथा

पंजाब की व्यापारीय समिति ने भारत-सरकार से प्रार्थना की थी कि विदेशी हुंडी की दर, रिवर्स काउन्सिल्स बेंच पर, पूर्व प्रतिज्ञा के अनुसार, २ शिलिंग कर दी जाय। तब उत्तर दिया गया कि भारत-सरकार ने यह दृढ़ निश्चय कर लिया है कि आगे से व्यापार-व्यवसाय के काम में हस्तक्षेप न किया जायगा। दुःख की बात है कि आगामी वर्ष के बजट में वही हस्तक्षेप मौजूद है और उसका उद्देश देश के उद्योग-धंधों की रक्षा, महँगी की कमी और आर्थिक शक्ति की वृद्धि करना नहीं है। विलायती सूती माल पर ११ प्रतिशत की सामुद्रिक चुंगी हमारे उद्योग-धंधों को बचाने में असमर्थ है। बम्बई के व्यवसायियों की सम्मति है कि यह चुंगी २० सैकड़ा होनी चाहिए। साथ ही यह प्रश्न है कि दियासलाई, छाता आदि पर सामुद्रिक चुंगी लगाने से क्या उद्देश सिद्ध हो सकता है। ये चीज़ें भारत में इतनी थोड़ी राशि में बनती हैं कि सामुद्रिक चुंगी बढ़ाने से इनके व्यवसाय को कोई विशेष लाभ नहीं हो सकता है। मतलब यह कि देश को स्थिर आर्थिक नीति की आवश्यकता है जिससे देशी उद्योग-धन्धों की वृद्धि होवे।



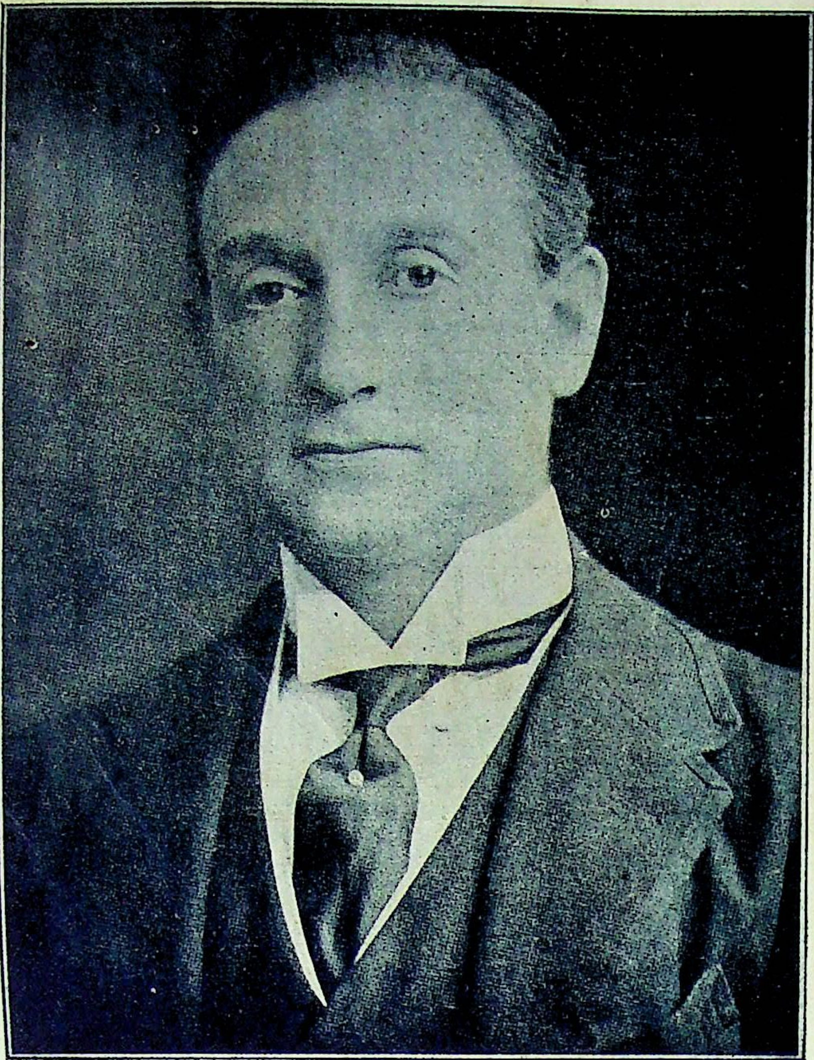
भारत के नये वाइसराय।

भारत के भूतपूर्व वाइसराय लार्ड चेम्सफ़ोर्ड ने अपने कार्यों से भारत के वाइसराय-पद को इतना उत्तर-दायित्व-पूर्ण और संकट-मय बना दिया है जितना कि कदाचित् ब्रिटिश-साम्राज्य के अन्तर्गत अभी तक कोई भी पद न था। ऐसे पद के लिए किसी व्यक्ति को चुनते समय ब्रिटिश-मंत्रि-मंडल के सामने यह प्रश्न अवश्य रहा होगा कि इसके लिए कोई ऐसा व्यक्ति चुना जावे जो नये सुधारों को सफलतापूर्वक काम में ला सके और ब्रिटिश जाति की प्रतिष्ठा रखते हुए भारत की परिस्थिति को अपने रूप में पलट दे। अन्त में, प्रधान मंत्री के अनुरोध से भारत-सम्राट ने लार्ड रीडिंग को इस पद पर अभिषिक्त कर ही दिया। आपका पूरा नाम रूफस डेनियल इज़ाक्स, पी. सी., जी. सी. बी., के. सी. व्ही. ओ., अर्ल ऑव् रीडिंग है।

प्रारम्भिक जीवन।

लार्ड रीडिंग का जन्म सन् १८६० के अक्टूबर मास में हुआ और इस प्रकार वे इस इस समय ६१ वें वर्ष में पदार्पण कर चुके हैं। आपके पिता लन्दन के बाज़ार में फलों का ठेका लिया करते थे। बाद में, वे 'इज़ाक्स एण्ड सन्स' नामक कम्पनी के मालिक हो गये। अभी अभी तक आपके कुटुम्बी जन अपना पैतृक व्यवसाय करते रहे हैं।

६ वर्ष की अवस्था से आपने अपने बड़े भाई के साथ विद्यारम्भ किया। ब्रुसेल्स और हनोवर की शालाओं में आपने प्रारम्भिक शिक्षा प्राप्त की और लन्दन यूनीवर्सिटी में प्रवेश होने के पूर्व यूरोप की प्रायः सभी मुख्य भाषाओं की अभिज्ञता प्राप्त कर ली। आप वहाँ थोड़े दिन ही शिक्षा पाकर भाग निकले और 'ब्लेयर अथोर' नामक जहाज़ में मज़दूरी करने लगे; पर यह काम पसन्द न आया। वहाँ से भी छोड़ कर जर्मनी के एक शहर में अपने पिता के लिए एजेन्सी का काम करने लगे। यहाँ भी मन न लगा। विचार किया कि लन्दन में ही कुछ





भारत के नये वाइसराय
लार्ड रीडिंग और उनकी पत्नी।

काम किया जाय। शेयर बाज़ार में काम शुरू किया; पर उसमें सफलता न मिली। अमेरिका जाने का विचार किया; पर माता का कहना मान कर न गये। २७ वर्ष की अवस्था में वकालत में अपना भाग्योदय देखना चाहा और दृढ़ निश्चय के साथ उसीमें लग गये।

वकालत।

इस थोड़ी सी अवस्था में आपने खूब सैर कर डाली थी। भिन्न भिन्न व्यवसायों का भी कुछ अनुभव हो गया था। सभ्य संसार का रंग-ढंग देख लिया था और लन्दन की दशा बहुत कुछ जान ली थी। बुद्धि आपकी तेज़ थी ही, चट बैरिस्टरी की परीक्षा पास की और बैरिस्टरी का कार्य आरम्भ कर दिया। आपका स्वभाव लुटपन से ही मिलनसार था, इसलिए इस नये काम में आपको अपूर्व सफलता मिली। व्यापार और माल-संबंधी मुक़द्दमों में आपका नाम हो गया। डाक्टर कोउस और कूपन आदि के कुछ मुक़द्दमों में तो आपकी ख्याति खूब ही हुई।

पार्लमेण्ट के सदस्य।

सन १९०४ में लार्ड रीडिंग कामन्स सभा के सदस्य हुए और ९ वर्ष तक रहे। आप लिबरल (उदार) दल के प्रतिनिधि थे और अपने पक्ष का सदैव समर्थन करते रहे। इन दिनों वकालत से आपकी वार्षिक आमदनी लगभग ४० हजार पौण्ड थी।

उत्तर-दायित्व-पूर्ण अन्य पद।

सन १९१० में आप अटार्नी-जनरल बने। आपके वाद-विवाद करने की सभी प्रशंसा करते थे। आप मुक़द्दमों को इस सफ़ाई और चतुराई से जज और जुरी के सामने पेश करते थे कि उनको इन्हींके पक्ष में अपना मत देना पड़ता था। ४० वर्ष की अवस्था में ही आपको किंग्स कौंसिल (के. सी.) का उच्च पद मिला जो वकालत पेशा वालों में बहुत सम्मान का समझा जाता है। आप यहूदी हैं; इसलिए आपको अनेक विरोध और आपत्तियों का सामना करना पड़ा; किन्तु आप विचलित न हुए।

लार्ड चीफ़ जस्टिस तथा दूतत्व।

सन १९१० में आप लार्ड चीफ़ जस्टिस (प्रधान न्यायाधीश) बनाये गये और उसी समय से लार्ड रीडिंग के नाम से प्रसिद्ध हुए। यूरोपीय महासमर में आपकी राजनैतिक विलक्षणता सबको दीख पड़ी। अर्थ-संबन्धी निर्णय आपकी अनुमति से होता था। समर के समय उच्च-पद के राष्ट्र-दूत बनकर आप कई बार अमेरिका गये और अपने कार्य-भार को आपने इस योग्यता से निभाया कि इँग्लैंड में आपकी भूरि भूरि प्रशंसा हुई। कहा जाता है कि यह आपकी ही कार्यकुशलता, बुद्धिमत्ता एवं राजनीति-दक्षता का फल था कि अमेरिका ने महायुद्ध में इँग्लैण्ड का साथ दिया। महासमर के अंतिम दिनों के कार्य-क्रम में आप का बहुत बड़ा भाग रहा है। आपने जो काम उन दिनों किया है उसके लिए ब्रिटिश-जाति आपकी सदा ऋणी रहेगी।

वाइसराय का पद।

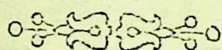
आप सन् १९१९ में इँग्लैण्ड वापिस आये और लार्ड चीफ़ जस्टिस के पद पर पूर्ववत् कार्य करने लगे। लन्दन में ऐसी ख़बर उड़ी कि आप

शीघ्र ही राजदूत होकर पेरिस जावेंगे; किन्तु बीच ही में भारत की स्थिति ने ब्रिटिश-मंत्रि-मंडल का ध्यान इस ओर आकर्षित किया। कई लोगों के नाम वाइसराय के पद के लिए सुनाई दिये; पर सभी ने इस पद के वर्तमान उत्तर-दायित्व को देख कर अस्वीकार कर दिया। अन्त में इस बात की खोज हुई कि वाइसराय के पद के लिए कोई ऐसा व्यक्ति मिले जो दूरदर्शी, राजनीतिज्ञ और परिस्थिति को देख कर कार्य करने वाला हो। लार्ड रीडिंग के पुराने कार्यों से सबका ध्यान आपकी ओर गया और जब महामान्य सम्राट् ने वाइसराय का पद-भार समर्पित किया तो आपने उसे स्वीकार कर लिया। लोगों को आश्चर्य हुआ कि जहाँ बड़े बड़े लोग इस कार्य-भार को लेने से हिचकते थे वहाँ लार्ड रीडिंग से व्यक्ति को इतना साहस कैसे हुआ। किन्तु लार्ड रीडिंग को अपनी शक्तियों पर विश्वास है। अभी एक भोज में आप ने कहा था कि "अब मैं एक ऐसे क्षेत्र में कार्य करने के लिए जा रहा हूँ जहाँ उत्तर-दायित्व कहीं बढ़ कर है। ऐसे पद को लेने में क्या शोभा है जिसमें उत्तरदायित्व अधिक न हो? यह माना कि उसमें अनेक कठिनाइयाँ और आपत्तियाँ आवेंगी, किन्तु उनका सामना करना होगा।" अन्त में, आपने आशा करते हुए कहा कि "हम जो कुछ थोड़ा बहुत करने की आशा करते हैं उसे करने के लिए सदैव तत्पर रहेंगे और बड़ी उत्सुकता से करेंगे।" आपने एक और जगह अपनी न्यायप्रियता दिखाते हुए कहा है—'कोई भी मनुष्य हिन्दुस्थान में जाने पर ठीक वैसा ही मानव-हृदय पावेगा जैसा कि वह यहाँ ब्रिटेन में पाता है। हम विश्वास करते हैं कि भारतवासी दयालुता के व्यवहार को ठीक वैसे ही अपनावेंगे जैसे कि यहाँ के मनुष्य अपनाते हैं। हमें पूरा भरोसा है कि भारत में न्याय ही सर्वश्रेष्ठ रहेगा और ज्योंही भारतवासियों को यह मालूम हो जायगा कि हमारी इच्छा क्या है, त्योंही भारतवर्ष हमारा वैसा ही दयालुता-युक्त स्वागत करेगा जैसा कि हम उसका स्वागत करने के लिए अत्यन्त उत्सुक हो रहे हैं।"

हम चाहते हैं कि लार्ड रीडिंग की यह आशा पूरी हो; किन्तु ऐसी आशा करने का कोई आधार नहीं है। तभी तो महात्मा गांधी ने वाइसराय के पद पर लार्ड रीडिंग के नियुक्त होने का समाचार सुन और उनके विचार मालूम करके यह लिखा है—"यदि दो साल पहले लार्ड चीफ जस्टिस का नाम वाइसराय के पद के लिए चुना जाता तो बड़ी उत्सुकता बढ़ती और प्रशंसा की जाती; किन्तु आज दिन तो जनता बिलकुल ही उदासीन है। हाँ, लार्ड रीडिंग के नियुक्त होने से यह मन ही मन समझ लिया गया है कि हम लोगों का युद्ध अहिंसात्मक है; अतएव ऐसे समय कानून जानने वाला राजनीतिज्ञ ही सम्राट् का प्रतिनिधि हो सकता है। लार्ड रीडिंग ने न्याय करने की घोषणा कर दी है। हमें यह मानने में कोई शंका नहीं है कि उनका मतलब ठीक यही है; किन्तु जिस शासन-प्रणाली पर वे शासन करने आ रहे हैं वह उन्हें न्याय न करने देगी। भारत का अनुभव तो यही है। यदि उन्होंने न्याय से कार्य करने में सफलता प्राप्त कर ली तो हम कहे देते हैं कि वे इस दूषित शासन-प्रणाली को नष्ट करने या सुधारने में भी सफ

लता पा लेंगे । या तो वे ही इस शासन-प्रणाली को भक्षण कर जायँगे या यह शासन-प्रणाली ही उन्हें अपना ग्रास बना लेगी । ”

महात्मा गांधी यह नहीं चाहते कि लार्ड रीडिंग अपनी इच्छाओं को पूरा न करने पावें और न कोई भारतवासी ही यह चाहता है । बात असल में यह है कि भारतवर्ष की वर्तमान दूषित शासन-प्रणाली अच्छे से अच्छे हृदय को भी कर्त्तव्य भ्रष्ट कर देती है । भविष्य के गर्भ में क्या है सो अभी नहीं कहा जा सकता । हमारी कामना है कि लार्ड रीडिंग भारत के हित की दृष्टि से, भारत और इँगलैण्ड का सम्बन्ध बनाए रखने में समर्थ हों और भारत के नेताओं को साम्राज्य के हितचिन्तक समझें ।



विविध विषय ।

(१) मध्यप्रान्तीय शिक्षा-विभाग की रिपोर्ट ।

सन् १९१९-२० में मध्यप्रांत में शिक्षा की क्या दशा थी इसकी सरकारी रिपोर्ट निकल आई । यह रिपोर्ट अत्यन्त निराशाजनक है । हमें इस वर्ष यदि कोई अच्छा काम हुआ दिखाई देता है, तो वह प्रायमरी स्कूलों के शिक्षकों की वेतन-वृद्धि है जिसके लिए तीन लाख रुपये लोकल बाडीज़ को दिये गये हैं ।

प्रांत में शिक्षा की दशा इतनी हीन रही कि पढ़नेवालों की संख्या, समस्त मनुष्य-संख्या के हिसाब से, सैकड़े पीछे केवल २.४ थी । शिक्षा की इस हीनता का भी कोई ठिकाना है ! जहाँ अन्य देशों में सैकड़े पीछे ८० और ९० पढ़े-लिखे आदमी मिलते हैं वहाँ मध्यप्रांत में तीन आदमी भी नहीं मिलते । इसका कारण आप यह न समझिए कि खर्च में कोई कमी की गई होगी । जी नहीं, खर्च तो उत्तरोत्तर बढ़ाया जा रहा है । इसी वर्ष वह ९ लाख रुपये अधिक हुआ, अर्थात् कुल खर्च ७८ लाख पर जा पहुँचा । खर्च अधिक होने पर भी शिक्षार्थियों की संख्या इस वर्ष कम रही । सरकारी रिपोर्ट में इसका प्रधान कारण महँगी बताया गया है । यह कारण कई अंशों में ठीक हो सकता है । परन्तु, हमारी दृष्टि में, दूसरा प्रधान कारण, जिसे सरकार नहीं बताना चाहती है, शिक्षा की अनुपयुक्तता और परीक्षा की कड़ाई है । बात यह है, जनता को प्राथमिक और माध्यमिक शिक्षा की सबसे अधिक आवश्यकता है । हमें उच्च शिक्षा उतनी नहीं चाहिए । कृषि-प्रधान भारत के घर घर में यदि प्राथमिक शिक्षा का प्रचार हो जाय, तो समझना चाहिए कि बड़ा भारी काम हो गया । पर सरकार का ध्यान इस ओर उतना नहीं है जितना होना चाहिए । देहाती लड़कों को जो शिक्षा दी जाती है उससे उन्हें अपने घर का धंधा करने का उत्साह ही नहीं रह जाता । वे थोड़ा सा पढ़ना-लिखना सीखते ही स्कूल-मास्टरी या पटवारगिरी खोजने लगते हैं । इसीलिए देहाती लोग अपने लड़कों को पढ़ाना नहीं चाहते । सरकार इस दोष को दूर करने के लिए 'प्राकृतिक अवलोकन' की शिक्षा देने लगी है, जो ठीक है और जिसपर जितना अधिक ध्यान दिया जायगा शिक्षा उतनी ही उपयुक्त होती जायगी ।

प्राथमिक शिक्षा के प्रचार के लिए, देहातों की दरिद्रता का ध्यान रखते हुए, विद्यार्थियों को सुविधा प्रदान करनी चाहिए, अर्थात्, उन्हें पुस्तकें आदि बिना मूल्य देनी चाहिए। खेद है, यद्यपि सरकार ने इमारतों के बनाने में अधिक रुपया तो खर्च किया; परन्तु शिक्षा-प्रचार की सुविधा के लिए कुछ भी ध्यान नहीं दिया। प्राथमिक शिक्षा की यही कठिनाई है जिसके कारण गत वर्ष की अपेक्षा इस वर्ष विद्यार्थियों की संख्या और भी कम हो गई। माध्यमिक शिक्षा में भी कमी रही जिसका प्रधान कारण यह है कि गत तीन वर्षों से जो 'हाइस्कूल एन्ट्रेंस' परीक्षा होने लगी है उसका कड़ापन है। सरकार इस कड़ेपन को इसलिए उचित समझती है कि इससे शिक्षाविभाग को हाई स्कूल में अच्छे लड़के पढ़ाने का अवसर मिलता है। पर, हम सरकार की इस नीति को अत्यन्त दूषित समझते हैं जो शिक्षा का अधिक प्रसार करने के बदले, २-४ प्रतिशत में ही सन्तोष मान कर, उसे और भी कम करने के लिए, नित्य नई बाधाएँ उपस्थित करके प्रसन्न होती है। हमें प्राथमिक और माध्यमिक शिक्षा की सबसे अधिक आवश्यकता है और जब तक सरकार इसके लिए सुविधाएँ नहीं प्रदान करती है, तब तक यह नहीं कहा जा सकता कि वह अपने कर्त्तव्य का सम्यक् पालन करती है।

नागपुर में एक विश्वविद्यालय स्थापित करने की योजना सन् १९१७ से चल रही है; पर अभीतक उसे स्थापित करने का अवसर नहीं आया है। ऐसा मालूम होता है, अभी उसके लिए बहुत समय चाहिए। सन् १९१७ में जो योजना तैयार की गई थी कलकत्ता यूनिवर्सिटी कमीशन की सिफ़ारिशों के अनुसार उसपर पुनर्विचार किया जा चुका है। दो कमिटियाँ भी बैठाई गई थीं और उनकी कार्यवाही भारत-सरकार के विचारार्थ भेज दी गई है और उसके आदेशानुसार शिक्षाविभाग के मंत्री यूनिवर्सिटी-बिल तैयार करेंगे।

स्त्री-शिक्षा को इस प्रान्त में कुछ नहीं के बराबर समझना चाहिए। प्रतिशत. ५६ लड़की भी पढ़ी-लिखी नहीं मिलती हैं, अर्थात् २०० लड़कियों में केवल एक लड़की ही कुछ पढ़ना-लिखना जानती है! देश की भावी माताओं की यह दशा! अवश्य ही सामाजिक प्रतिबंध स्त्री-शिक्षा के प्रचार में बाधा डालते हैं; परन्तु लड़के और लड़कियों की शिक्षा में प्रायः कोई अन्तर न रखा जाना भी स्त्री-शिक्षा को लोकप्रिय बनाने से रोकता है।

(२) बेचारा लंकाशायर!

जिस भारत का कला-कौशल विश्व-विख्यात था और जिसके सुन्दर मलमल आदि को देखकर बड़े बड़े कला-कुशल लोग चकित हुआ करते थे वही आज अपना शरीर ढाँकने के लिए दूसरों का मुँह ताक रहा है। ईस्ट इंडिया कम्पनी की कुटिल नीति ने भारत के उद्योग-धंधे नष्ट कर दिये। लंकाशायर, मैंचेस्टर आदि के व्यापारियों ने अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए बाधक कर लगाकर तथा अन्य निन्दनीय उपायों से यहाँ के व्यापार को मिट्टी में मिलाया। अब जब उन्होंने देखा कि भारत का व्यवसाय उनकी तुलना नहीं कर सकता, तब वे भारत के हित-चिन्तन की बंशी बजाने लगे; परन्तु ज्योंही उनके अहित की तनिक भी

आशंका दिखी, त्योंही उनके हृदय क्षुब्ध हो उठे और उस वंशो में से असन्तोष की तान निकलने लगी। भारत का जरा भी हित उनकी आँख में किस प्रकार खटकता है और वे अपना जरा भी हित-विरोध देखकर कुटिल नीति का अवलम्बन किस प्रकार कर सकते हैं इसके लिए उनकी उन्नति का इतिहास ही साक्षी है।

अभी तक भारत में रुई का बना जो माल आता था उस पर ७½ सैकड़ा कर लगता था। अब भी वही कर लगाया जाता; पर उतने से यथेष्ट आमदनी होते न देख मि० हेली उस कर को बढ़ाकर ११ प्रति शतक करने के लिए बाध्य हुए हैं। ऐसा करते समय मि० हेली को जो भारत का नमक खा रहे हैं यह ध्यान में अवश्य आया कि यह कर बढ़ाने से लंकाशायर, मेंचेस्टर आदि के व्यापारियों को जिनका रुई का माल भारत में आया करता है कुछ हानि होगी और यह भी संभव है कि भारत को अपने इस व्यवसाय में कुछ उन्नति करने का अवसर मिले। यही सब सोचकर मि० हेली को कहना पड़ा कि हम जो यह कर बढ़ा रहे हैं उसका कारण भारत के व्यवसाय का संरक्षण करना नहीं, परन्तु किसी प्रकार आमदनी और खर्च पूरा करना है। यदि मि० हेली ने यह बताया होता कि कर बढ़ाने का कारण भारत के व्यवसाय का संरक्षण करना है, तो उन्होंने भारत का नमक अदा करने के सिवा कुछ अधिक न किया होता; परन्तु उनके हृदय में तो था अपने जाति-भाइयों का ध्यान। होना ही चाहिए; क्योंकि रक्त पानी से गाढ़ा ही होता है। इसीलिए उन्हें यह कैफ़ियत देने की ज़रूरत पड़ी। मि० हेली ने सोचा होगा कि लेंकाशायर आदि के व्यापारी इससे अवश्य ही संतुष्ट हो जायँगे; परन्तु ऐसा हुआ नहीं और मि० हेली की वही दशा हुई जो उस बैल वाले बूढ़े की हुई थी जिसने सबको प्रसन्न करने की चेष्टा की थी।

रुई के माल पर कर को बढ़ते देखकर लेंकाशायर और मेंचेस्टर के व्यापारी बिगड़ खड़े हुए हैं और वे मि० मांटेग तथा मन्त्रि-मंडल पर दबाव डाल रहे हैं कि ऐसा न किया जाय। सभाएँ होकर प्रस्ताव पास हो रहे हैं और प्रतिनिधि-गण अधिकारियों के पास "त्राहि मां त्राहि माम्" कहते हुए पहुँच रहे हैं। क्या उनको यह न मालूम होगा कि नये सुधारों के अनुसार सेक्रेटरी ऑव् स्टेट या ब्रिटिश गवर्नमेंट को कोई अधिकार नहीं है कि जिस आर्थिक प्रश्न में भारत-सरकार और देश का मतैक्य है उसमें वे कोई बाधा न डाल सकें? देखा चाहिए, क्या होता है। बहुत सम्भव है, वे लोग यहाँ से जाने वाले कपास पर अधिक कर लगावें।

(३) कौंसिल और विद्वत्ता।

गत ३ मार्च को, मध्यप्रदेश की लेजिस्लेटिव कौंसिल में, सेठ मौजीलाल ने एक मज़ेदार प्रश्न पूछा। प्रश्न यह था कि "क्या सरकार का ध्यान इस बात की ओर आकर्षित हुआ है कि बहुत से विद्वान् मनुष्य और ऐसे मनुष्य जो पिछली कौन्सिलों के मेंबर रह चुके हैं इस कौंसिल के लिए नहीं खड़े हुए थे? यदि सरकार का ध्यान इस ओर गया है, तो क्या वह बतावेगी कि इसका कारण क्या है?" अवश्य ही सेठ मौजीलाल को इस बात की शंका हुई होगी कि हम कौंसिल में तो आ गये हैं; पर हम जनता के प्रतिनिधि

नहीं हैं। फिर, 'विद्वानों' के स्थान में अपने को पाकर उनका चकित होना भी स्वाभाविक था। अन्य मेम्बरों की भी यही दशा हुई होगी; पर सेठ मौजीलाल में यह साहस था कि वे अपनी शंका और आश्चर्य सरकार पर प्रकट करते! इसका उत्तर देते हुए सरकार ने कहा, "हाँ, हमारा ध्यान इस ओर गया है, और हम समझते हैं कि इसका कारण 'असहकारिता' का आन्दोलन है।" इस के बाद, सेठजी ने एक प्रश्न और पूछ डाला कि कौंसिलों में तो विद्वान् लोग असहकारिता के कारण नहीं गये; पर भला विद्यार्थी और वकील जो स्कूलों और अदालतों में नहीं जा रहे हैं इसका क्या कारण है? जब सरकार ने इसका भी कारण वही असहकारिता का आन्दोलन बताया, तब सेठजी को कुछ समाधान हुआ। पर अब आपको यह चिन्ता हुई कि सरकार से लगे हाथ यह भी पूछ लेना चाहिए कि क्या सरकार जनता के इस असन्तोष को दूर करने का भी कुछ उपाय सोच रही है? इस प्रश्न को पूछकर सेठजी ने सोचा होगा कि हम ने बड़ी भारी देशसेवा कर डाली। इस दशा में उन्हें वह सन्तोष हुआ होगा जो रामचन्द्र जी के राज्याभिषिक्त हो जाने पर राजा दशरथ को हुआ होता—"पुनि न सोच तन रहउ कि जाऊ"। देश के ऐसे प्रबल आन्दोलन के विषय में सरकार की सम्मति जानने का प्रयत्न करना सेठ मौजीलाल का ही काम था। सरकार ने इस प्रश्न का यह उत्तर दिया कि "जनता के इस असन्तोष की जड़ को दूर करने के लिए हम सभी विचार-पूर्ण उपायों का अवलम्बन करने की चिंता कर रहे हैं।" सरकार की इस हित-चिन्ता से भला किसे सुख न होगा? इस समय सरकार की यह हित-चिन्ता कार्य-रूप में परिणत हो हो रही है। नं० १४४ के रूप में अमोघ ब्रह्मास्त्र का प्रयोग किया जा रहा है। जहाँ तहाँ लोगों के मुँह पर ताले लगाये जा रहे हैं। इन "विचारपूर्ण उपायों" के अवलम्बन से 'असन्तोष की जड़ पर' यदि कौंसकी जड़ पर चाणक्य द्वारा सींचे गये मठे का प्रभाव न पड़कर पानी का प्रभाव पड़े, तो किसी को चकित न होना चाहिए।

(४) पण्डिताई हिन्दी।

अपने ही लोगों द्वारा किया गया अपमान असह्य हुआ करता है। संस्कृतज्ञों ने हिन्दी की चिन्दी विशेष रूप से की है। अनेक संस्कृतज्ञ पण्डित हिन्दी को स्वतन्त्र भाषा मानने के लिए तैयार नहीं हैं। वे समझते हैं कि हिन्दी संस्कृत का ही रूपान्तर है; और इस समय जबकि संस्कृत का पठन-पाठन लुप्तप्राय हो रहा है और हिन्दी राष्ट्रभाषा के पद की अधिकारिणी समझी जा रही है, तब संस्कृत के पक्षपाती पण्डित अपना सारा प्रेम हिन्दी में केन्द्रित कर रहे हैं। यह हिन्दी के लिए सौभाग्य का विषय होना चाहिए था; परन्तु पण्डितों का प्रेमाधिक्य हिन्दी को जो भयंकर रूप दे रहा है उसे देखकर हृदय कंपित हो जाता है।

अभी बात यहीं तक थी कि संस्कृतज्ञ जन विभक्तियों को सटा कर लिखते थे। इस राजनैतिक ऐक्य के युग में यह 'सटाऊ' सिद्धान्त क्षम्य हो सकता था; पर अब पण्डित लोग हिन्दी के 'जो' शब्द को 'यः' या 'यो' का रूप दे रहे हैं।

इतना ही नहीं, अब हजरत दिल हलन्त (दिल्) होकर संस्कृत में जा मिले हैं। सरकारी सहायता-प्राप्त कलकत्ता-कालेज की जो 'संस्कृत द्वितीय परीक्षा' गत १६ मार्च को हुई है उसके दूसरे प्रश्न-पत्र में हिन्दी का एक वाक्य-समूह दिया गया है जिसका अनुवाद संस्कृत में करना था। उसे हम ज्यों का त्यों नीचे उद्धृत करते हैं—

"सर्वो विषय का निगूढ़ तत्वजाननेका अभिलाष और स्वीय अवस्थाकी उन्नति करनेको उद्योग करना मनुष्यों का स्वभावसिद्ध धर्म्म है। हम् लोक बाहर में यो विचित्र जगत् देक् पाते हैं और अन्तर मे जिस सब अनिर्वचनीय भावीअनुभव करता है उसके द्वारा व तत्व जानने की अभिलाष निरन्तर उद्दीप्त होता है, और हम् लोकों को अभाव भी अपूर्णता अधिक है, वह उन्नती कि चेष्टा से हम लोग क्षणमात्र भी क्षान्त रहे में अक्षम हैं। स्वीय स्वीय दिल् को पुछने से और परस्पर की कार्य का प्रति दृष्टि करने से यह विषय का बहुत ही प्रमाण मिल्ता है। तत्व जाने की अभिलाष हम् लोगों को ज्ञान अर्ज्जन की पथ मे प्रणोदित करते हैं। और उन्नति की उद्योग हम लोगों को कर्म्मानुष्ठान में नियोजित करता है। ज्ञानार्ज्जन और कर्म्मानुष्ठान मनुष्यजीवन का प्रधान ही कार्य। ज्ञान और कर्म्म वह दोनों असम्वद्ध नहीं। यह दोनों परस्पर की अपेक्षित है। अधिक स्थान मे ज्ञानार्जन के लिये नाना प्रकार कर्म्मकी प्रयोजन और कर्म्मानुष्ठान के निमित्त बहुतों विषय ज्ञान का आवश्यक होता है"।

यह हिन्दी अत्यन्त निराशाजनक और क्षोभ उत्पन्न करने वाली है। एक ओर सरकार सरकारी हिन्दी में अरबी-फारसी के कठिन शब्द लादा करती है, और दूसरी ओर संस्कृत-कालेज हिन्दी में अनावश्यक संस्कृत-पन लादकर सरकारी नमक अदा करना चाहता है। मतलब यह, हिन्दी कोई भाषा ही नहीं। ऊपर लिखा हुआ वाक्य-समूह जिन परीक्षार्थियों के लिए लिखा गया है उनकी समझ में यदि भलीभाँति आ गया हो, तो हमारी समझ में उन्हें इकदम 'काव्यतीर्थ' उपाधि दे देना चाहिए। एक तो, उसमें ऐसी फिलासफी रक्खी गई है जिसे कोमलमति बालक कठिनाई से समझ सकेंगे और दूसरे, 'अन्तर मे जिस सब अनिर्वचनीय भावी अनुभव करता है,' 'अभाव भी अपूर्णता अधिक है' आदि ऐसे कठिन गढ़ हैं जिनके भीतर प्रवेश करना एक बार भोजन करने वाले अल्प-शक्ति-सम्पन्न संस्कृत विद्यार्थियों के लिए अत्यन्त कठिन है।

उक्त वाक्य-समूह में प्रूफ-संशोधन की अशुद्धियाँ हैं इस बात को कोई भी मनुष्य जिसे प्रूफ देखने का काम एक बार भी पड़ा है नहीं मान सकता। लेखक ने अनुस्वार की कोई आवश्यकता ही नहीं समझी है। 'में' के स्थान में 'मे' और 'हैं' के बदले 'है' लिखा गया है। 'सब' के बदले में तो 'सव' (सर्व ?) लिख दिया है; परन्तु पण्डितजी ने 'विषय' को 'बिषय' और 'असम्बद्ध' को 'असम्वद्ध' लिखकर 'ब' और 'व' के विषय में अपना असम्बद्ध पांडित्य प्रकट किया है। वाक्यसमूह ही कठिनाई हल करने के विचार से 'देक्' (देख) 'हम्', 'मिल्ता' आदि शब्दों को हलन्त बना दिया है। जिस प्रकार चालाक विद्यार्थी किसी शब्द के ठीक हिज्जे न जानकर, परीक्षक की आँख में धूल झोंकने के विचार

से भिन्न भिन्न स्थानों में उस शब्द के भिन्न भिन्न-हिज्जे कर डालता है उसी प्रकार आलोच्य वाक्य-समूह के लेखक ने 'अभिलाष' शब्द का लिंग न जानकर एक जगह 'तत्व जानने का अभिलाष' और दूसरी जगह 'तत्व जानने की अभिलाष' लिख दिया है। उन्होंने शायद यह सोचा होगा कि यदि एक जगह उसका लिंग ठीक होगा, तो दूसरी जगह वह प्रूफ की अशुद्धि समझी जायगी।

जिस कलकत्ते का विश्वविद्यालय एम. ए. में हिन्दी को स्थान देने को तैयार हो, वहाँ का संस्कृत कालेज इस प्रकार की विचित्र हिन्दी लिखकर हिन्दी की 'उन्नती कि चेष्टा' करे यह आश्चर्य का विषय है।

(५) शिक्षाविभाग में "गांधी-टोपी"।

गत ३ मार्च को, मध्यप्रदेश की कौंसिल में मि० मुहम्मद अहमद ने पूछा—"क्या सरकार यह बताने की कृपा करेगी कि विद्यार्थी और शिक्षक स्कूल में पढ़ते-पढ़ाते समय किस प्रकार के कपड़े पहनें इसके विषय में क्या शिक्षाविभाग के कोई नियम बने हुए हैं'? सरकार की ओर से उत्तर देते हुए मि० मेहयू ने कहा—'शिक्षक किस प्रकार के कपड़े पहनें इसके विषय में कोई नियम नहीं हैं। हाँ, लड़कों की पोशाक के विषय में, शिक्षा-विभाग के एक आज्ञापत्र में यह लिखा है कि प्रत्येक विद्यार्थी को साफ़ और खुशनुमा पोशाक पहनना चाहिए और यदि कोई रीति-रिवाज न टूटती हो तो सिर को उचित रीति से ढाँकना चाहिए"। मतलब यह कि विद्यार्थी किसी भी प्रकार की पोशाक पहन सकते हैं, पर होनी चाहिए वह साफ़ और खुशनुमा। पोशाक की काट के विषय में कोई क़ैद नहीं, चाहे वह अंग्रेजी-काट की हो या हिन्दुस्थानी काट की, कपड़ा चाहे देशी हो या विदेशी, देशी कपड़े में भी वह चाहे खद्दर हो या ढाके की पतली मलमल। जबतक वह 'साफ़ और खुशनुमा' है, तबतक नियम नहीं टूटता। विद्यार्थियों को पूरी स्वतंत्रता है कि वे चाहे कैसा भी कपड़ा पहनें। और, शिक्षक? शिक्षकों के लिए तो पोशाक की कोई क़ैद ही नहीं। उनके लिए तो यह भी नियम नहीं है कि 'साफ़ और खुशनुमा' ही कपड़े पहनें।

फिर, यदि विद्यार्थी ७) की फ़ैल्टकैप न लगा कर ≈) मूल्य की खद्दर की टोपी लगाते हैं, तो शिक्षा-विभाग का नियम कहाँ, किस प्रकार और कितना टूटता है, इसे शिक्षा-विभागही जाने। पर वह टूटता अवश्य है, नहीं तो खद्दर की टोपी लगाने वाले विद्यार्थियों पर निष्ठुर प्रहार न किया जाता। आश्चर्य की बात तो यह है कि खद्दर की टोपी असहयोग का चिह्न समझी जाती है और उसकी आड़ में नौकरशाही मनमाना व्यवहार कर रही है। शिक्षक भी जिनकी पोशाक के विषय में कोई निश्चित नियम नहीं है इस व्यवहार से नहीं बचे हैं और कई तो इसी कारण नौकरी से ही अलग कर दिये गये हैं। जबलपुर के माडल हाई स्कूल के ड्राइंग मास्टर श्रीयुक्त दिवाकरराव बागड़देव की घटना, जो "गांधी-टोपी" की आड़ में नौकरी से अलग कर दिये गये, अभी कल ही की है। कोई भी व्यक्ति पूछ सकता है कि जब गांधी-टोपी लगाने से शिक्षा-विभाग का कोई नियम नहीं टूटता है, तब बेचारी टोपी पर यह वक्र दृष्टि क्यों? ठीक है; पर क्या आपको उस भेड़िए की कहानी याद नहीं है जिस

ने निरपराध मेमने को यह कहते कहते खा डाला था कि यदि तेरा अपराध नहीं है, तो तेरे बाप का होगा, यदि बाप का नहीं है तो मा का होगा, मैं इसका पता कहाँ तक लगाऊँ।

(६) हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन की कार्य-दिशा।

हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का एकादश सम्मेलन कलकत्ते में हो गया। सभापति थे काशी के प्रसिद्ध विद्वान् बाबू भगवानदासजी, एम. ए.। अब समय नहीं है जब सभापति के भाषण पर से ही सम्मेलन की सफलता का अनुमान किया जाय। हमें उसकी सफलता का सूत्र इसीमें दीख पड़ता है कि उसने भविष्य के लिए अपनी जो कार्यदिशा निर्धारित की है वह जीती-जागती वर्तमान आवश्यकताओं की पूर्त्ति के लिए है। सम्मेलन ने, कांग्रेस के समान, भिक्षा-प्रणाली छोड़कर स्वावलम्बन का मार्ग स्वीकार किया है। सरकार से या सरकारी संस्थाओं से प्रार्थना करके अधिक कार्य कर दिखाने की झूठी आशा छोड़कर अब उसने अपने बलपर थोड़ा काम करने में सन्तोष माना है; और, अवश्य ही यह शुभ चिह्न है। यह सजीवता का लक्षण है और स्पष्टतया सूचित करता है कि हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन समय की गति का अनुसरण कर सकता है। गत सम्मेलन में जो प्रस्ताव स्वीकृत किये गये वे सब इसी प्रकार के हैं। सबसे महत्व का प्रस्ताव यह है कि "इस सम्मेलन की राय में भारतवर्ष के प्रत्येक हिन्दी-भाषी प्रांत में कम से कम एक हिन्दी विद्यापीठ का स्थापित होना आवश्यक है जिसमें हिन्दी की सर्वोच्च शिक्षा दी जा सके।" हम समझते हैं कि यदि इस प्रस्ताव के अनुसार कार्य हो सका, तो समझना चाहिए कि सम्मेलन ने बड़ा भारी काम कर डाला। जब से महात्मा गांधी इस सम्मेलन के सभापति हुए हैं तबसे सम्मेलन प्रचार-कार्य अच्छी तरह कर रहा है। प्रान्त प्रांत में हिन्दी का प्रचार हो रहा है और हिन्दी राष्ट्रभाषा हो यह प्रश्न दिन दिन सरल होता जाता है। अब, इस समय, हिन्दी में उच्च साहित्य के निर्माण और हिन्दी के द्वारा उच्च शिक्षा देने की आवश्यकता है। सन्तोष का विषय है कि साहित्य-सम्मेलन का ध्यान हिन्दी-विद्यापीठ की स्थापना की ओर गया है। विद्यापीठ स्थापित होते ही हिन्दी द्वारा उच्च शिक्षा देने का प्रश्न हल हो जायगा; क्योंकि अभी जो हिन्दी के माध्यम द्वारा उच्च शिक्षा नहीं दी जा सकती है उसका प्रधान कारण हिन्दी में उपयुक्त ग्रंथों का अभाव बतलाया जाता है, और यह अभाव हिन्दी-विद्यापीठ स्थापित होते ही भाव में परिणत हो जायगा; अतः सम्मेलन ने उपरोक्त प्रस्ताव को स्वीकार करके अपनी उपयोगिता प्रकट की है। जबलपुर के राष्ट्रीय हिन्दी-मन्दिर को इसी प्रकार की विद्यापीठ समझना चाहिए। उसका प्रधान उद्देश हिन्दी में उच्च साहित्य तैयार करके जनता में उसका प्रचार करना है। सम्पादन-कला की शिक्षा देने के लिए भी यह संस्था प्रयत्न कर रही है, और आशा है, उसका यह प्रयत्न कार्य के रूप में शीघ्र ही दिखेगा।

(७) "मंगलाप्रसाद पारितोषिक।"

कुछ समय से हिंदी में मौलिकता की पुकार होने लगी है। अनुवाद-ग्रन्थों से तृप्त होकर अब हिंदी साहित्य मौलिक ग्रन्थों की अपेक्षा करता है, और उसकी यह अपेक्षा भिन्न भिन्न क्षेत्रों में दृष्टिगोचर हो रही है। पत्र-पत्रिकाएँ मौलिक लेखों पर जो

दे रही हैं। पुस्तकों के विज्ञापन में भी मौलिकता का ढिंढोरा पीटा जा रहा है। पर प्रश्न यह होता है कि मौलिकता का सन्मान करने के लिए जनता कहाँ तक तैयार है। हिन्दी पुस्तकों के प्रकाशक तो चार आने प्रति पृष्ठ पुरस्कार देकर हिन्दी लेखकों से मौलिक ग्रन्थ लिखाने का स्वप्न देख रहे हैं। ऐसे समय में "मंगलाप्रसाद पारितोषिक" का समाचार हिन्दी-संसार में अवश्य ही हर्ष-संचार करेगा। काशी के सुप्रसिद्ध रईस बाबू गोकलचन्द्र जी ने, अपने छोटे भाई परलोकगत बाबू "मंगला-प्रसादजी की स्मृति-रक्षा के निमित्त, ३॥) सैकड़े सूद वाले ४०,०००) के प्रामिसरी नोट, हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन को इसलिए प्रदान किये हैं कि कि इस आय में से १२००) वार्षिक "मंगला-प्रसाद पारितोषिक" के नाम से किसी एक साहित्यसेवी को, सम्मेलन के वार्षिक अधिवेशन पर, उनकी किसी मौलिक हिन्दी रचना के सम्मान-हेतु दिये जायँगे। यद्यपि यह पारितोषिक १ लाख २० हज़ार रुपये वाले 'नोबल पुरस्कार' अथवा एत-द्देशीय घोष या पालित के शिक्षा-संबन्धी दानों की तुलना में बहुत छोटा और हिन्दी की वर्तमान हीनता सूचित करने वाला है, तथापि कवि की इस उक्ति के अनुसार कि—

> अपांनिधिं वारिभिरर्चयन्ति दीपेन सूर्यं प्रतिबोधयन्ति।
> न स्यां तयोः किं परिपूर्णताऽस्ति भक्त्यैव तुष्यन्ति महानुभावाः॥

यह पारितोषिक हिन्दी के मौलिकता-मंडित लेखकों को पत्र-पुष्प समर्पित कर उनका सम्मान करना चाहता है। दान या पारितोषिक की महत्ता दाता की सात्विकता पर निर्भर रहती है, और इस लिए 'मंगलाप्रसाद पारितोषिक' के संचालक हिन्दी-साहित्य की कृतज्ञता के पात्र हैं।

(८) हिंदी के विवादग्रस्त विषयों का निर्णय।

सम्मेलन के गत अधिवेशन में स्वीकृत किया गया यह प्रस्ताव भी कि "सम्मेलन आगामी वर्ष की स्थायी समिति को आदेश तथा अधिकार देता है कि समय समय पर हिन्दी के विवादग्रस्त विषयों पर उपसमिति बनाकर उसकी सम्मति ले और उस सम्मति को प्रकाशित कर सर्वसाधारण की सम्मति का आवाहन करे और फिर अपने एक विशेष अधिवेशन में सब सम्मतियों पर विचार कर उन विषयों का निर्णय करे। स्थायी समिति का निर्णय सम्मेलन का निर्णय समझा जावेगा और उसका पालन सम्मेलन के समस्त कार्यों में होगा" बहुत महत्त्वपूर्ण है। इस प्रस्ताव के अनुसार कार्य करते रहने से वाद-विवाद चलता रहेगा और कई साहित्यिक प्रश्नों पर प्रकाश पड़ता रहेगा। यदि सम्मेलन केवल निर्णय करके ही सन्तुष्ट हो जाता, तो इस प्रस्ताव का कोई विशेष अर्थ न होता; क्योंकि किसी विषय का निर्णय करना एक बात है, और उस निर्णय के अनुसार लोगों से काम कराना दूसरी बात है, ठीक जिस प्रकार कि क़ानून बनाने का कोई अर्थ नहीं है यदि क़ानून बनानेवाले उन्हें मानने के लिए लोगों को बाध्य नहीं कर सकते। हर्ष की बात है, सम्मेलन का उक्त प्रस्ताव ये दोनों काम करेगा। दूसरा काम इस प्रकार होगा कि 'निर्णय का पालन सम्मेलन के समस्त कार्यों में होगा'। सम्मेलन अखिल-भारतवर्षीय संस्था होने के कारण अपना जो विस्तृत कार्य-क्षेत्र रखता है उस कार्य-क्षेत्र में किसी भी सिद्धान्त का स्थिरता और दृढ़ता के साथ अनुसरण होने से वह सिद्धान्त धीरे धीरे सर्वमान्य हो सकता है। हमें विश्वास है।

इस प्रस्ताव के अनुसार काम होने से हिन्दी में स्थिरता और एकता आवेगी और हिन्दी की कई उलझनें सुलझती रहेंगी।

(९) भारत में बेंकों की स्थिति।

भारत-सरकार के गणना-विभाग (The department of statistics) ने "१९१९ में भारत में बेंकों की क्या स्थिति थी" इस पर अपनी रिपोर्ट प्रकाशित की है। रिपोर्ट में संपूर्ण बेंक तीन भागों में विभक्त किये गये हैं:—(१) प्रान्तीय बेंक, (२) विनिमय बेंक और (३) मिश्रित पूँजी बेंक। १९१९ में प्रान्तीय बेंकों में जनता ने अधिक धन जमा किया। भारत में ग्यारह विनिमय बेंक काम कर रहे थे और उनकी कुल पूँजी १५,३०,००,००० पाउन्ड थी। इनमें जो धरोहर जमा थी वह ७४०,००,००० पाउन्ड और नक़द धन ३,००,००,००० पाउन्ड था। विनिमय बेंक दो प्रकार के हैं। एक तो विदेशी हैं और बड़े बड़े यूरोपीय विनिमय बेंकों के शाखा-रूप हैं, और दूसरे, भारत में ही विशेष कारोबार करते हैं और जिनकी शाखाएँ विदेश में भी हैं। भारत में दूसरे ढंग के विनिमय बेंकों के पास पहिले ढंग के विनिमय बेंकों की तुलना में पाँच गुना धन है। १९१९ में भारत में ९५ मिश्रित पूँजी बेंक थे। इनकी कुल शाखाएँ २३० हैं। भारत में काम करने वाले सब प्रकार के बेंकों में १९१० में ८७ करोड़ रुपये धरोहर में जमा थे। १९१९ में यही धन २१२ करोड़ तक जा पहुँचा। सारांश यह कि नौ सालों में १४४ प्रतिशतक वृद्धि हो गई है। सभी बेंकों में धरोहर के रूप में जो धन जमा था उसका ३६ प्रतिशतक प्रान्तीय बेंकों में, ३५ प्रतिशतक विनिमय बेंकों में और २९ प्रतिशतक मिश्रित पूँजी बेंकों में था।

इस साल प्रान्तीय बेंकों ने आपस में मिलकर साम्राज्य-बेंक का रूप धारण किया है। इन्हीं पाँच सालों में उसको कई सौ शाखाएँ खोलनी पड़ेंगी। भारत-सरकार जहाँ चाहे वहाँ उनसे शाखाएँ खुलवा सकती है। साम्राज्य बेंक के स्थापित होने से भारत के मिश्रित पूँजी बेंकों के कारोबार को विशेष हानि पहुँचेगी। मिश्रित पूँजी बेंकों का सञ्चालन विशेषतः भारतीयों के हाथों में है। उनको धक्का लगना विशेषतः चिन्ता-जनक है। संसार के अन्य देशों में राष्ट्रीय बेंकों का मुख्य कार्य नोटों को निकालना और सरकारी खज़ाने का प्रबंध करना है। आश्चर्य तो यह है कि भारत के साम्राज्य-बेंक के पास दोनों शक्तियाँ नहीं होंगी। न तो उसको नोट निकालने का अधिकार देकर सरकार स्वयं नोट निकालना ही बन्द करेगी और न लन्दन में रखा भारत का स्वर्ण-भंडार (Gold standard Reserve) ही साम्राज्य-बेंक में रखेगी। इस प्रकार साम्राज्य-बेंक के लाभ भारत को न मिलेंगे। स्थान स्थान पर इसकी शाखाओं के हो जाने से भारत सरकार चावल, गेहूँ, रुई, तेलहन द्रव्यों का नियन्त्रण कर सकेगी और उनके व्यापार को अपने हाथों में सुगमता से ले सकेगी। इससे भारत को भयंकर हानि है।

(१०) भारतवर्ष में पशुओं की गणना।

मनुष्यों की गणना तो, सरकार की ओर से, प्रति दसवें वर्ष हुआ ही करती है। इस वर्ष वह इसी मार्च मास में हो चुकी है। इसके लिए समस्त भारतवर्ष में एक दिन और एक निश्चित

समय रखा जाता है। पशुओं की गणना की यह बात नहीं है। पर यह पशु-गणना भारतवर्ष सदृश कृषि प्रधान देश के लिए बहुत महत्त्व-पूर्ण है। अतः भारत-सरकार ने सन् १९१६ ईस्वी में यह निश्चय किया था कि दिसम्बर १९१९ से अप्रैल १९२० के बीच में समस्त ब्रिटिश भारत की पशु-गणना की जावे और फिर यह प्रति पाँचवें वर्ष हुआ करे। तदनुसार प्रथम पशुगणना सन् १९१९-२० के शीतकाल में हुई और उसका फल इस प्रकार है—

समस्त ब्रिटिश भारत में १,४६० लाख गाय, बैल, भैंस आदि हैं। बंगाल, संयुक्त प्रान्त, बिहार और उड़ीसा तथा मद्रास प्रांतों में बैलों की संख्या सबसे अधिक है। भेड़ों की संख्या समस्त ब्रिटिश भारत में २२० लाख है और इसके मुख्य स्थान मद्रास, पंजाब, संयुक्त प्रान्त और बम्बई हैं। बकरे २०० लाख हैं और ये विशेषकर मद्रास, बंगाल, संयुक्त प्रान्त, बिहार और उड़ीसा तथा पंजाब में मिलते हैं।

कृषिप्रधान भारत के लिए यह संख्या कुछ भी नहीं है। देश की जन-संख्या के साथ उपरोक्त पशु-संख्या की तुलना करने से यह हीनता तुरन्त विदित हो जाती है।



पुस्तकादि-परिचय।

१—निहिलिष्ट-रहस्य—अनुवादक, पं. रामचन्द्र शर्मा; प्रकाशक, सरस्वती-पुस्तकमाला कार्यालय, पो० कनखल (सहारनपुर); पृष्ठ-संख्या, १६०; मूल्य १)

मूल पुस्तक किस भाषा में है, उसके लेखक का नाम क्या है इत्यादि बातों का पता इस अनुवाद से नहीं लगता है। न अनुवादक ने और न भूमिका-लेखक ने ही इनके उल्लेख की आवश्यकता समझी। कृतज्ञता प्रकट करने का यह अनोखा ढंग है।

पुस्तक उपन्यास के रूप में है। यद्यपि कई स्थानों पर कथा में अस्वाभाविकता आ गई है और कहीं कहीं भाषा भी चिन्त्य है, तथापि पुस्तक रोचक है। 'निहिलिष्ट' रूस के एक अराजक संप्रदाय का नाम है जिसका उद्देश राज्य-सिंहासन को उलटाना है। इस दल में अधिकांश यहूदी हैं और उनके सम्मिलित होने का कारण राज्य की ओर से उन पर किये गये भयंकर अत्याचार हैं। जिन अत्याचारों का वर्णन पुस्तक के प्रथम और द्वितीय परिच्छेद में किया गया है यदि वे सच हैं, तो आश्चर्य होता है कि मनुष्य मनुष्य पर कैसे अमानुषिक अत्याचार कर सकता है। वे यथार्थ में हृदय को कँपाने वाले हैं और यदि उन्हें सहकर भी कोई मनुष्य राजभक्त रह सकता है, तो उसे मनुष्य नहीं, देवता समझना चाहिए। पुस्तक के पढ़ने में मन लगता है और पढ़ने से यहूदियों पर किये जाने वाले अत्याचार तथा उन्हें दूर करने के लिए निहिलिष्ट लोग जो प्रयत्न करते हैं उनका ज्ञान होता है।

२—भारतीय नवयुवकों का राष्ट्रीय सन्देश—संग्रहकर्ता, श्रीयुत रघुनाथप्रसाद; प्रकाशक, सरस्वती-सदन, इन्दौर; पृष्ठ-संख्या, ११६; मूल्य, ।।।)

विद्यार्थियों के कर्त्तव्य क्या हैं तथा विद्यार्थी देश और राष्ट्र के निर्माण में किस प्रकार सहायता दे सकते हैं इसके संबंध में जोजफ़ मेज़िनी, गोखले, रवीन्द्रनाथ, लाजपतराय आदि के विचार इस पुस्तक में दिये गये हैं। पुस्तक का ढंग नया है और आशा है कि विद्यार्थिगण जिनके लिए पुस्तक प्रकाशित की गई है इससे अवश्य ही लाभ उठावेंगे।

३—शकुन्तला—अनुवादक, पं० पारसनाथ त्रिपाठी; सम्पादक, बाबू शिवप्रसाद खन्ना; प्रकाशक, बर्म्मन एण्ड को०, मुज़फ्फरपुर; पृष्ठ-संख्या, ३४+८८; मूल्य, ।।=)

मूल पुस्तक बँगला भाषा में है और पं० ईश्वरचन्द्र विद्यासागर प्रणीत है। कालिदास ने अपनी उदात्त कल्पना-शक्ति तथा उत्कृष्ट सहृदयता के बलपर शकुन्तला को शकुन्तला नाटक में जो रूप दिया है वह साहित्य-संसार में अनुपम है तथा प्रत्येक काव्य-मर्मज्ञ के लिए परम आदर की वस्तु है। ऐसी उत्तम रचना को कवि की सृष्टि से निकाल कर अन्य किसी रूप में रखने का प्रयत्न कालिदास के महत्व को कम करने वाला है। यही सोच कर श्रद्धेय पं० ईश्वरचन्द्रजी ने लिखा

है—" वस्तुतः इस उपाख्यान का संगठन कर मैंने कालिदास और अभिज्ञानशाकुंतल का अपमान किया है। " परन्तु, परिचय वास्तव में परिचय है और परिचय से मूल की तुलना नहीं करनी चाहिए। मूल ग्रन्थ पढ़ सकने की क्षमता न रखने वालों के लिए परिचय लिखना आवश्यक होता है और उसी आवश्यकता की पूर्ति के लिए पं० ईश्वरचन्द्रजी ने शकुन्तला का आख्यान बंगला में लिखा था। उसीका हिन्दी-अनुवाद इसलिए किया गया है जिससे स्त्री-शिक्षा का मार्ग सुगम हो। यदि इसी-लिए यह पुस्तक लिखी गई है तो इसकी भाषा अत्यन्त सरल होनी थी. अन्यमनस्क. कथञ्चित. राजाज्ञानुसार. सैन्य-सामन्त. मृगयाशील आदि कठिन शब्दों की भरमार नहीं करनी थी। दूसरे. पुस्तक के प्रारंभिक ३४ पृष्ठों में कालिदास के काल-निर्णय आदि के सम्बन्ध का जो पांडित्य-पूर्ण विवेचन है उसकी कोई आवश्यकता न थी और उन पृष्ठों को निकाल डालने से पुस्तक के दाम भी कम हो सकते और उसका प्रचार और भी अधिक होना संभव होता। इसके सिवा, हमारा यह भी निवेदन है कि यदि अनुवादक काव्य-तीर्थ महाशय चाहते तो वे मूल ग्रन्थ का सारांश सरल भाषा में लिख डालते. उसके बंगला भाषान्तर का हिन्दी-भाषान्तर कर हिन्दी-साहित्य पर ' दुहरा अनुवाद ' न लादकर इकहरा अनुवाद लाद देते।

पुस्तक में दो चित्र भी हैं जिनमें से एक रविवर्मा द्वारा तथा दूसरा अन्य किसी चित्रकार द्वारा अंकित है। परन्तु. बड़े दुःख की बात है. चित्रकार का नाम हटाकर प्रकाशक ने अपना नाम बड़े बड़े अक्षरों में. ब्लाक के भीतर. चिपका दिया है। प्रकाशक चित्रकार का नाम यथा-स्थान रहने देकर अपनी कम्पनी को अन्य विज्ञापनों के द्वारा प्रसिद्ध कर सकते थे।

अंत में हमारा निवेदन है कि " रमणी-रत्नमाला " के संचालक अधिक विचार के साथ पुस्तकों का चुनाव करें और उनकी भाषा की सरलता पर विशेष ध्यान देते हुए कम मूल्य पर उनका प्रचार करें।

४-साहित्य-सुषमा अर्थात "हिन्दी-पद्य-साहित्य का एक अपूर्व ग्रन्थ"— संग्रहकर्त्ता. पं० रामदहिन मिश्र; प्रकाशक. ग्रन्थमाला-कार्यालय, बांकीपुर; पृष्ठ-संख्या, १२०; मूल्य, ॥)

यह संग्रह माध्यमिक शालाओं के विद्यार्थियों के लिए किया गया है। प्राचीन कवियों की रचनाओं के साथ ही कुछ आधुनिक कवियों की रचनाएं इस संग्रह में हैं। जिन की कविताएँ दी गई हैं उनका संक्षिप्त परिचय भी पुस्तक के अंत में दे दिया गया है।

इस संग्रह में क्या "अपूर्वता" है यह हमारी समझ में नहीं आ सकी। वैसे तो प्रत्येक पुस्तक जो पूर्व में नहीं थी 'अपूर्व' ही हुआ करती है। परन्तु क्या अपूर्वता का यही मतलब है ? यदि नहीं. तो फिर, ' अपूर्वता ' की यह घोषणा क्यों ? हमें तो इस संग्रह में यही अपूर्वता दिखती है कि संग्रहकर्त्ता महाशय ने जिनके कवित्व का पता "कविता-कौमुदी" के लेखक तथा अन्य लोगों को नहीं लग सका अपनी एक कविता देकर हिन्दी-साहित्य-संसार को यह बता दिया है कि हम भी एक कवि हैं, और ऐसे कवि हैं जिनकी कविता 'अपूर्व ग्रन्थ' में रखी जा सकती है। परन्तु मालूम नहीं क्यों. संग्रह-कर्त्ताजी ने ' कवियों के संक्षिप्त परिचय' में अपना परिचय देने की आवश्यकता नहीं समझी। इस अपूर्व संग्रह की एक अपूर्वता यह भी है कि संग्रह-कर्त्ता ने अपनी कविता देने की आवश्यकता तो समझी, परन्तु हिन्दी-संसार में प्रसिद्ध कविवर नाथूराम शंकर शर्मा, महावीरप्रसाद द्विवेदी, माखनलाल चतुर्वेदी, राय देवीप्रसाद. लक्ष्मीनारायण आदि की रचनाएं देने की आवश्यकता नहीं समझी।

फिर भी, संग्रह सहृदयता के साथ किया गया है, और मेट्रीक्यूलेशन कक्षा के विद्यार्थियों के लिए किये गये जो ४-५ संग्रह हमारे देखने में आये हैं उन सबमें यह अच्छा है।

५-जातीयता—अनुवादक, बाबू नरेन्द्रदेव, एम. ए., एल. एल. बी.; प्रकाशक, प्रबुद्ध भारत-ग्रन्थावली कार्यालय, फ़ैज़ाबाद; पृष्ठ-संख्या, ५६; मूल्य, ।≤)

मूल पुस्तक श्री० अरविन्द घोष द्वारा लिखित है और प्रस्तुत पुस्तक उसीका हिन्दी अनुवाद है। पुस्तक में जातीय-उत्थान, अतीत की समस्या, स्वाधीनता का अर्थ, देश और जातीयता. हमारी आशा. प्राच्य और पाश्चात्य, भ्रातृत्व ये ७ छोटे छोटे लेख हैं। सभी लेख विचार-पूर्ण तथा लेखक के प्रौढ़ अनुभव के परिचायक हैं। अनुवाद की भाषा अच्छी है। पुस्तक आधुनिक समय के अनुरूप हुई है।

६-रामचरितचंद्रिका—रचयिता. पं० रामचरित उपाध्याय; प्रकाशक, ग्रंथमाला कार्यालय, बांकीपुर; मूल्य, ॥)

८८ पद्यों की इस छोटी पुस्तक में रामायण के २४ पात्रों तथा वाल्मीकि का चरित्र-चित्रण है। इसी विषय की

दो पुस्तकें पहले भी निकल चुकी हैं जिनमें "रामायणी कथा" बहुत ही उत्तम रीति से लिखी गई है। प्रस्तुत पुस्तक की विशेषता यही है कि वह पद्य में लिखी गई है। रामायण के पात्रों के गुणदोषों का वर्णन स्वतंत्र रीति से किया गया है। वाल्मीकि रामायण का आधार लिया गया है। रामायण के वे विद्यार्थी जो रामायण का अध्ययन केवल भक्ति-भाव के साथ ही नहीं, वरन आलोचनात्मक दृष्टि से करना चाहते हैं इन पुस्तकों से लाभ उठा सकते हैं। हिन्दी में तुलसीदास जी कृत रामायण का विशेष प्रचार है; अतः यदि कोई लेखक उनके आधार पर "रामायणी कथा" सदृश पुस्तक लिखे, तो बहुत लाभ हो।

७–चिन्ता—लेखक, बाबू नवजादिकलाल श्रीवास्तव; प्रकाशक, आर. एल. बर्म्मन कम्पनी, ३७१, अपर चीतपुर रोड, कलकत्ता; पृष्ठसंख्या, १२०; कई सुंदर रंगीन तथा सादे चित्रों से विभूषित; अत्युत्तम जिल्द; मूल्य, १॥)

"चिन्ता" एक शिक्षाप्रद पौराणिक उपाख्यान है। लक्ष्मीजी तथा शनि महाराज के एक विवाद में मध्यस्थता का कार्य करके महाराज श्रीवत्स किस प्रकार शनि की वक्र दृष्टि में पड़ गये इसका हृदयद्रावक वर्णन इस पुस्तक में है। चिन्ता इस उपाख्यान की नायिका है। उस साध्वी ने पति से वियुक्त होकर कैसे कैसे कष्ट भोगे; परन्तु अन्त में वह, अपने पति-प्रेम के बल पर, किस प्रकार उन सब पर विजय प्राप्त कर सकी—ये बातें पुस्तक में ही पढ़ने की हैं। चिन्ता का चरित्र बहुत उज्ज्वल है। भारतवर्ष को, अपने सामाजिक जीवन में, इस बात की आवश्यकता है कि घर घर में चिन्ता की सी देवियाँ दिखाई दें जो सुख-दुःख में अपने स्वामी का साथ न छोड़ें, दुःख-कष्टों की हिस्सेदार बनकर अर्द्धांगिनी होने का परिचय दें, गाढ़े दिनों में, अपनी बुद्धि के अनुसार, विपद्ग्रस्त पति को उत्तम परामर्श दें।

हम निःसंकोच कह सकते हैं कि ऐसी पुस्तकें स्त्रियों के हाथ में अवश्य देनी चाहिए। चिन्ता का उपाख्यान हिन्दी में अधिक प्रसिद्ध न होने के कारण, आशा है, यह पुस्तक बहुत चाव के साथ पढ़ी जायगी। भाषा साधु, सरल और सुन्दर है। कई सुन्दर चित्रों तथा अत्युत्तम छपाई ने पुस्तक को बहुत मनोहर बना दिया है। प्रकाशक ने पुस्तक को सर्वांगसुन्दर बनाने में अपनी ओर से कोई कसर नहीं की है। यह सब देखते हुए १२० पृष्ठों की पुस्तक का मूल्य १॥) बिल्कुल अधिक नहीं मालूम होता है। प्रकाशक यदि चाहें तो बिना चित्रों का एक सस्ता संस्करण निकालकर इस अच्छी पुस्तक का प्रचार और अधिक कर सकते हैं।

जिन पुस्तकों के नाम नीचे लिखे हैं वे भी पहुँच गई हैं और साभार स्वीकृत की जाती हैं:–

(१) हिन्दी व्याकरण—लेखक और प्रकाशक, पं० कन्हैयालाल मिश्र, पटना; मूल्य ।)

(२) ब्रह्मचर्य-दिग्दर्शन—अनुवादिका, सौ० लीलावती देवी कृष्णलाल वर्मा; प्रकाशक, सेठ प्रेमचन्द रतनजी, तथा सेठ चंदूलाल पूनमचंद, भावनगर।

(३) कलके का भाग्य (जासूसी उपन्यास)—प्रकाशक, श्री० कन्हैयालाल, बुकसेलर, चौक, पटना सिटी; मूल्य ॥)

(४) त्रिकलिका—श्रीरामाज्ञा द्विवेदी, काशी।

(५) गान्धी-चरित्र और असहयोग की धूम—लेखक, पं० ईश्वरीप्रसाद शर्म्मा, पृष्ठ-संख्या, १८, मूल्य =)

(६) श्रीभक्तिविजय नाटक—लेखक, बाबू बल्लभदास वर्मा; प्रकाशक, लाला श्यामलालजी अग्रवाल, मथुरा; मूल्य ॥=)

(७) हिन्दीविद्यापीठ—प्रकाशक, हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग; मूल्य -)॥

(८) प्रथमालंकार निरूपण—लेखक पं० चन्द्रशेखर शास्त्री; प्रकाशक, हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग; मूल्य =)

(९) मद्रास प्रान्त में हिन्दी-प्रचार का विवरण—प्रकाशक, हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग; मूल्य -)



सहयोगियों का परिचय।

(१) हिन्दी मनोरंजन।

इस नाम का मासिक पत्र १५ महीनों से, बराबर ठीक समय पर, निकल रहा है। प्रकाशक हैं पं० शिवनारायण मिश्र। प्रत्येक अंक में श्रीशारदा के आकार के लगभग ३२ पृष्ठ रहते हैं। अब एक दो चित्र भी रहा करेंगे, और संभवतः वेही होंगे जो 'प्रभा' में निकल चुके होंगे। इस पत्र में विशेषतः छोटी छोटी कहानियाँ रहा करती हैं। अन्य विषयों के भी एक दो लेख रहते हैं। हास्य-विनोद भी रहता है जिसमें अधिक संक्षेप की आवश्यकता है। इस पत्र के प्रत्येक अंक में दो घंटे मनोरंजन करने की अच्छी सामग्री रहती है। वार्षिक मूल्य ३।।) है।

(२) हिन्दी-गल्प-माला।

यह मासिक पत्रिका लगभग तीन वर्षों से, काशी से, निकल रही है। वार्षिक मूल्य २।।) है। प्रत्येक अंक में छोटे आकार के लगभग ४० पृष्ठ रहा करते हैं। ४-५ छोटी छोटी रोचक कहानियां रहा करती हैं। कोई कोई कहानी बहुत अच्छी निकल जाती है।

(३) कथामुखी।

यह 'मासिकी प्रेमपत्रिका' 'श्रीबिन्दु' ब्रह्मचारी के संपादकत्व में, अयोध्या से प्रकाशित होती है। वार्षिक मूल्य २।।) है। ब्रह्मचारी जी द्वारा संपादित होने पर भी इसमें शृंगार-रस की छटा विशेष रहती है। ऐतिहासिक तथा पौराणिक कहानियाँ इसमें विशेष रूप से निकलती हैं।

(४) लक्ष्मी।

विहार प्रांत, से समय समय पर, अनेक पत्र निकले; पर प्रायः सभी कुछ समय जीवित रहकर अतीत के गर्भ में विलीन हो गये। यह विहार का सौभाग्य है जो लक्ष्मी प्रेस, गया, से प्रकाशित होने वाली 'लक्ष्मी' मासिक पत्रिका गत १९ वर्षों से बराबर निकलती जा रही है। पहले इसका संपादन लाला भगवानदीन जी किया करते थे। अब इसके संपादक कौन हैं इसका पता नहीं। हम इस पत्रिका को लगभग १० वर्षों से पढ़ा करते हैं। एक समय था जब इसकी वीर-रस-पूर्ण कविताओं के लिए, जिन में से अधिकांश संपादक की लिखी हुई होती थीं, प्रत्येक अंक बड़े चाव के साथ पढ़ा जाता था। अब कदाचित् राजनीति से प्रभावित होकर, इसका कविता-स्रोत सूख रहा है; पर फिर भी लेख महत्व के रहते हैं। वर्तमान राजनीति की भी पुट रहती है। पत्रिका साहित्य में आदर की वस्तु है। वार्षिक मूल्य २) है।

(५) संसार।

यह मासिक पत्र कानपुर से लगभग १ वर्ष से, नियमित समय पर, प्रकाशित हो रहा है। प्रत्येक अंक में 'श्रीशारदा' के आकार के ४० पृष्ठ और एक चित्र रहता है। वार्षिक मूल्य ४) है। इसमें प्रकाशित होने वाले अनेक लेख राजनीति से संबंध रखते हैं। राष्ट्रीयता पर भी ध्यान दिया जाता है। नोटों में सामयिकता रहती है। मतलब यह, राजनीति के प्रेमी पाठकों का इससे यथेष्ट मनोरंजन हो सकता है।

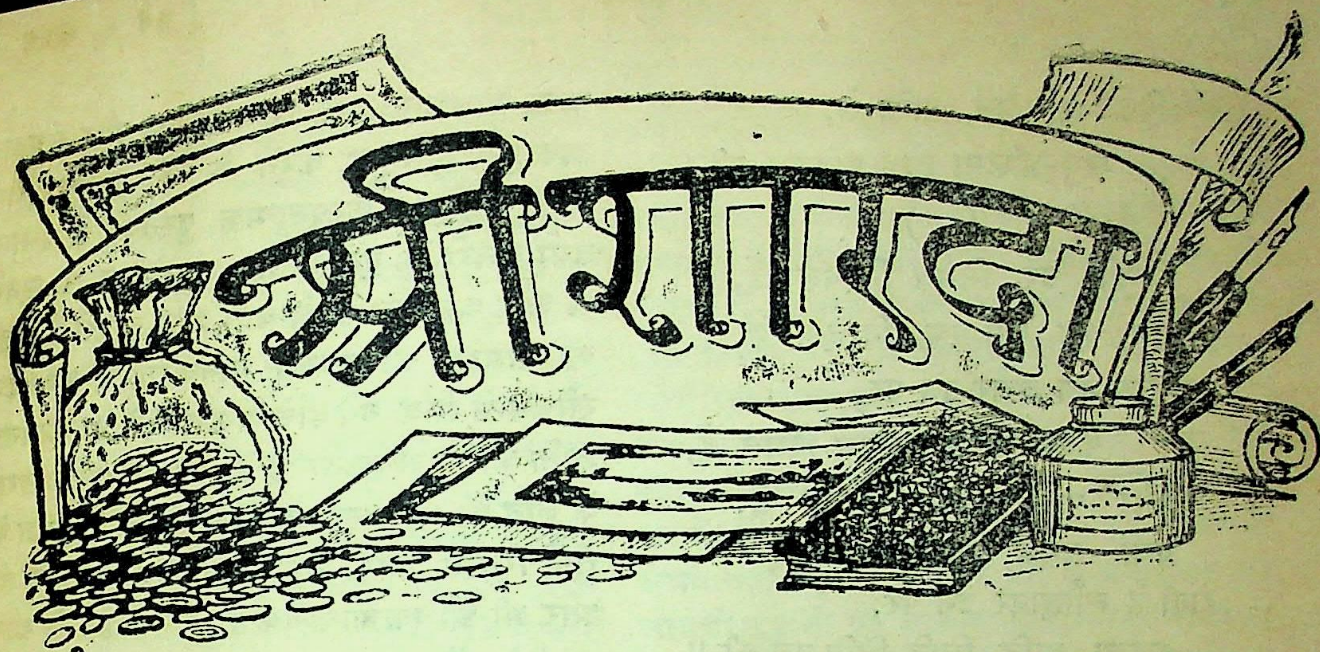
(६) प्रभा ।

यह नई मासिक पत्रिका, १५ मास से, कानपुर से, बहुत सजधज के साथ निकल रही है। प्रत्येक अंक में 'श्रीशारदा' के आकार के ६४ पृष्ठ, एक रंगीन चित्र तथा अनेक सादे चित्र रहते हैं। पत्रिका का कार्यक्षेत्र वर्तमान राजनीति और नीति 'प्रताप' की पुरानी निर्भीक नीति है। आजकल इसमें बंकिम बाबू के 'वन्दे मातरम्' गायन के आधार पर अंकित चित्र निकल रहे हैं। हिंदी के विद्वान् लेखकों के लेख प्रत्येक अंक को विभूषित करते हैं। महामना स्टेड के 'रिव्यू आव रिव्यूज़' का अनुकरण कर पत्रिका हिन्दी-साहित्य-संसार का अधिक उपयोगी काम कर सकती है। प्रत्येक समर्थ हिन्दी-प्रेमी को उचित है कि वह ऐसी उत्तम पत्रिका को आश्रय देवे।





'बीसवीं सदी' के सम्पादक
स्वर्गीय शेठ हाजी मोहम्मद अ० शिवजी।



साहित्य-तथा-राजनीति-संबंधी-विविध-विषय-विभूषित सचित्र मासिक पत्रिका।

वर्ष २, खण्ड १] वैशाख, शुक्ल प्रतिपदा, १९७८ = मई, १९२१ [संख्या २, पूर्ण संख्या १४

अशक्त सेवी।

(लेखक—"एक राष्ट्रीय आत्मा")

(१)

सेवा तेरे चरण-कमल की
कैसे करें, विमोह-मग्न हैं,
यद्यपि है आशा मंगल की।
रच कर प्रबल-प्रलोभन न्यारे
बनते हैं सब दुर्जन प्यारे।
फँस कर उनके जटिल-जाल में,
हैं हम अपना जीवन हारे॥
पड़े सड़ रहे हैं मन मारे,
खूब कसे हैं बन्धन सारे।
नहीं तनिक भी हिलने पाते,
है यह कपट-कला खल-दल की।

(२)

कोई बने हुए भोगी हैं,
कोई सन्यासी, योगी हैं,
कोई भिक्षुक बने हुए हैं,
कोई बने राज-रोगी हैं,
कोई स्वार्थी, सहयोगी हैं;
सचमुच कौन असहयोगी है?
आवें तेरे लिए क्षेत्र में,
उनकी नहीं कुशल पल पल की।

(३)

कोई हत-उत्साह रंक हैं,
कोई निज-श्री-हित सशंक हैं,
कोई पड़े प्रपंच-पंक में,
छिः! मानव-कुल के कलंक हैं।
कोई बिद्रोही-मयंक हैं,
क्या कोई ऐसे अशंक हैं?

करें विकट बलिदान शान्ति से,
लघु-लालसा छोड़ प्रतिफल की ।

(४)

जिनके उर निर्भय निश्चल हैं,
मन, वच, कर्म एक निश्छल हैं,
पूर्ण तेज-मय जर्जर-तन पर,
केवल वल्कल-वसन-विमल हैं,
और परम प्यारे निर्बल हैं,
क्या उनके प्रयत्न निष्फल हैं ?
होती है न्यौछावर उन पर,
सहसा ऋद्धि-सिद्धि छिति-तल की ॥

मौलिकता का अभाव और उसे दूर करने के उपाय ।

(लेखक—पं० गोपाल दामोदर तामसकर, एम. ए., एल. टी.)

पिछले लेख में हमने मौलिकता के भिन्न भिन्न स्वरूपों का दिग्दर्शन कराया है। अब हम सोच सकते हैं कि भारतवर्ष में मौलिकता का अभाव क्यों है और उसे दूर करने के क्या उपाय हैं।

१. हमने जो आठ प्रकार की मौलिकता बतलाई है उसके अभाव का सब से प्रथम कारण उच्च शिक्षा की कमी है । यह कारण इतना स्पष्ट है कि इसके अधिक विवेचन की आवश्यकता नहीं। जिस भारतवर्ष में मामूली हस्ताक्षर भी कर लेना सैकड़े पीछे पाँच आदमी ही जानें वहाँ की उच्च शिक्षा की दशा क्या बताई जाय ? नये विचार और नई कल्पनाएँ उत्पन्न होने के लिए सबसे प्रथम आवश्यक बात शिक्षा है। कल्पनात्मक, अनुमानात्मक, वर्णनात्मक, आलोचनात्मक, आधारात्मक और संग्रहात्मक पुस्तकें तैयार करने के लिए पहले उचित शिक्षा चाहिए। कल्पनात्मक पुस्तकों में प्रधानतया दूसरों से, पुस्तकों से, अवलोकन से, सुनने से और अनुमान से जो बातें ज्ञात होती हैं उन्हीं को, समाज का अथवा मानव-चरित्र का चित्र खींचने के लिए, नये ढाँचे में ढाल देते हैं। कल्पना-शक्ति की आवश्यकता है ही; परन्तु अनेक तरह के ज्ञान की भी अत्यंत आवश्यकता है। समाज के रीति-रिवाज और मनुष्य-स्वभाव का ज्ञान तो और भी अधिक आवश्यक है। अवलोकन से और सुनने से हमें इस प्रकार का कुछ ज्ञान प्राप्त हो सकता है; परन्तु बहुतसा ज्ञान पुस्तकों से मिलता है। कल्पना और तर्क-शक्ति को यदि स्वाभाविक देनगी भी मान लें, तोभी यह मानना ही होगा कि ये शक्तियाँ शिक्षा के द्वारा बहुत कुछ विकसित की जा सकती हैं । उचित अवलोकन करना भी शिक्षा पर बहुत कुछ निर्भर है। आज कल की रीति के अनुसार अच्छा इतिहास लिखने के लिए उच्च कोटि की सामान्य शिक्षा की आवश्यकता है, साथ ही, विशेष शिक्षा की भी आवश्यकता है । आधारात्मक और संग्रहात्मक पुस्तकों की सृष्टि स्पष्टतया शिक्षा पर अवलम्बित है। दूसरी पुस्तकों का उचित उपयोग करके नई पुस्तकें बनाने के लिए उनके ज्ञान को अपनाने की शक्ति चाहिए। और यह शक्ति शिक्षा के बिना नहीं आ सकती। जिन लोगों को प्रयोगात्मक मौलिक ज्ञान की खोज करना ज्ञात है वे जानते हैं कि जिस प्रयोगात्मक शास्त्र का ज्ञान-क्षेत्र बढ़ाना है उसका समस्त प्रचलितज्ञान सबसे प्रथम आवश्यक है, इस ज्ञान के अभाव में यह नहीं मालूम हो सकता कि कौन सी बात और उसे कैसे खोजना चाहिए। कम से कम, समय समय पर परामर्श लेने के लिए, जो कुछ कर रहे हैं वह ठीक है या नहीं यह जानने के लिए किसी शास्त्र-पारंगत की अत्यंत आवश्यकता है। सारांश, सबसे प्रथम आवश्यकता शिक्षा की है।

२· यदि कोई यह कहे कि जितने लोग अच्छे पढ़े-लिखे हैं उन्होंने क्या किया है, तो इसका उत्तर यह है कि जहां जहाँ उचित प्रमाण में शिक्षा मिली है वहाँ वहाँ थोड़ी बहुत मौलिकता दीखने लग गई है। बंगाल, महाराष्ट्र और गुजरात में जो मौलिक साहित्य उत्पन्न हुआ है, वह इस कथन का साक्षी है। उचित प्रमाण में शिक्षा मिलने पर शिक्षित पुरुषों के विचार विचार-विनिमय द्वारा बढ़ा करते हैं और इस प्रकार मौलिक विचार और कल्पनाएँ सूझा करती हैं। जिस प्रकार उचित परिस्थिति में बीज से नये बीज पैदा होते हैं, उसी प्रकार विचारों से नये विचार और कल्पनाओं से नई कल्पनाओं की सृष्टि होती है। यह माना कि केवल शिक्षा ही से काम नहीं चलता, उचित परिस्थिति की आवश्यकता है। तथापि सबसे प्रथम आवश्यकता है शिक्षा की। यह बात स्पष्ट है। भिन्न भिन्न प्रान्तों में उच्च शिक्षा का कितना प्रचार हुआ है, और वहां वहाँ कितनी मौलिक पुस्तकें उत्पन्न हुई हैं यह जानने से यह बात स्पष्ट हो जावेगी। बंगाल, महाराष्ट्र और गुजरात का उदाहरण हम ऊपर बतला ही चुके हैं।

३· शिक्षा से ही सम्बन्ध रखने वाला कारण पुस्तक-प्रकाशन की अड़चन है। यदि मौलिक पुस्तकें तैयार करने के लिए शिक्षित पुरुष श्रम भी उठावें तो उन पुस्तकों के लिए प्रकाशक नहीं मिलते। यह बात सुनकर कई लोगों को आश्चर्य होगा; परन्तु बात बिलकुल सच है। लेखक जब किसी भी विषय की पुस्तक लिखने बैठता है, तो उसके सामने यह प्रश्न उपस्थित होता है कि इसे कौन छापेगा? पुस्तक तैयार हो जाने पर, प्रकाशक ढूंढ़ते ढूँढ़ते और अपनी पुस्तक को स्थान स्थान में भेजते भेजते वह थक जाता है, पुस्तक के कागज़ फट जाते हैं, खर्च भी खूब होता है और अन्त में लेखक निराश होकर अपनी पुस्तक संदूक में सदा के लिए बन्द कर देता है। अब आजकल भिन्न भिन्न भाषाओं में बहुतसी पुस्तक-मालाएँ निकल रही हैं और कुछ पुस्तकों का छपना सम्भव हो गया है तथापि इस कठिनाई का शतांश भी अभी दूर नहीं हुआ है। सभी साहित्यों में मनोरंजक पुस्तकें अधिक प्रकाशित हुआ करती हैं। इसका कारण भी स्पष्ट है। किसी भी समाज में साधारण शिक्षा पाये लोग अधिक होते हैं और उच्च शिक्षा पाये लोग बहुत कम। साधारण शिक्षा पाये लोग, अवकाश मिलने पर, मनोरंजन की सामग्री खोजा करते हैं। ज्ञान बढ़ाने की चेष्टा बहुत कम लोग करते हैं। दिन भर मेहनत करने पर श्रमके कार्य फिर से करना संभव नहीं रहता। इसलिए यदि वे मनोरंजन की सामग्री ढूंढ़ें तो यह उचित ही है। ऐसी अवस्था में मनोरंजक पुस्तकों का प्रचुरता से प्रकाशित होना कोई आश्चर्य की बात नहीं। प्रकाशक उन्हीं पुस्तकों को प्रकाशित करेंगे कि जिन्हें लोग शीघ्र खरीदेंगे। इस कारण लेखक भी वैसी ही पुस्तकें लिखेंगे। मौलिक पुस्तकों के लिखने में श्रम बहुत होता है; अतः इनके लेखकों को विशेष पारिश्रमिक मिलना चाहिए; पर प्रकाशक उतना देने को तयार नहीं; क्योंकि उन पुस्तकों के अधिक बिकने की सम्भावना कम रहती है। इस प्रकार लेखन, प्रकाशन और शिक्षा परस्परावलंबित हैं। किसी भी मासिक पत्रिका के सम्पादक से यह पूछने से कि आप किस प्रकार के लेखों को अपनी पत्रिका में स्थान देते हैं, यह बात स्पष्ट हो जावेगी।

४. मौलिकता के अभाव का एक प्रश्न शिक्षा-प्रणाली से सम्बन्ध रखता है। धुरन्धर विद्वान् पुरुष पैदा कर देने से ही शिक्षा का काम समाप्त नहीं हो जाता। उन पुरुषों में स्वतंत्र विचार करने की शक्ति भी होनी चाहिए। जो विद्या रटन्त रीति से दी जाती है उससे स्वतंत्र विचार पैदा होने की बहुत कम आशा रहती है। स्वतंत्र विचार की शक्ति शिक्षा-प्रणाली पर कुछ अंश में अवश्य निर्भर है। यदि बालकों को निज अनुभव का उपयोग करने का मौका मिले, यदि वे अपने ज्ञान और अनुभव के आधार पर अनुमान निकाल सकें, आवश्यक प्रयोग करने का अवसर

पावें, मौलिक सामग्री के आधार पर निज के अनुमान निकालने की आदत डालें, सारांश यह कि वे हौज़ न बनकर जीते-जागते झिरने बनें, तो उनमें मौलिक विचार पैदा होने की संभावना है। दो और दो चार सिखलाना दो तरह से हो सकता है। एक तो बालक को सीधा सीधा बतला देने से और दूसरा उसे दो वस्तुएँ एक बार गिनने को देना और फिर दो वस्तुएँ दूसरी बार, और फिर उन्हें एकत्र गिनने को कहने से। दूसरी रीति में बालक प्रत्यक्ष देख लेता है कि दो और दो चार होते हैं। पहली में वह अपने शिक्षक का बना बनाया ज्ञान ही रट लेता है। दूसरे प्रकार की शिक्षा कुछ अंश में अनुभव-मूलक है। इसी प्रकार की शिक्षा से बालक की मानसिक शक्तियों का विकास होता है और उसे मौलिक विचार सूझ सकते हैं। पुरानी शिक्षा-प्रणाली के स्थान में नई शिक्षा-प्रणाली प्रचलित करने का प्रयत्न हो रहा है। पर कई कारणों से वह अभी सफल नहीं हुई है, न अभी उसके लिए यथेष्ट प्रयत्न ही हुआ है। शिक्षा-शास्त्र के पारंगत शिक्षक बहुत ही कम हैं। निरीक्षण की रीति, परीक्षा की प्रणाली इत्यादि बातें अभी पुरानी बनी हुई हैं: इस कारण यह नयी शिक्षा-प्रणाली सफल नहीं हुई है; तथापि शिक्षा-शास्त्रज्ञ यही कहते हैं कि शिक्षा देते समय बालक के अनुभव और मानसिक शक्तियों का यथासंभव अच्छा उपयोग करना चाहिए ताकि बालक में स्वतंत्र विचार करने की शक्ति उत्पन्न हो। परीक्षा में भी इसी बात की जाँच करनी चाहिए और शिक्षक के कार्य का मूल्य इसी दृष्टि से होना चाहिए।

५. मौलिक विचारों की उत्पत्ति के लिए उचित शिक्षा मिलने से ही काम न चलेगा। स्वतंत्र विचार करने के लिए, उन्हें परिपक्व करने के लिए, आवश्यकतानुसार उनकी सत्यता की जाँच करने के लिए उचित अवकाश की बड़ी भारी आवश्यकता है। अपने यहाँ कुछ ऐसे लोग हैं जो स्वतंत्र विचार कर सकते हैं; पर द्रव्याभाव के कारण उन्हें यथेष्ट अवकाश ही नहीं मिलता है। रात-दिन पेट के धंधे में लगे रहते हैं, कुछ काल के बाद उनकी विद्या नष्ट हो जाती है, विचार करने की आदत छूट जाती है, अभ्यास करने की इच्छा नहीं रह जाती, दूसरों को अपने विचार बतलाने से जो आनंद होता है उससे उनका प्रेम नहीं रह जाता और जीवन के ढर्रे में पड़ कर वे साधारण पुरुष बन बैठते हैं। आजकल इस देश में ऐसी बहुत कम संस्थाएं हैं कि जहाँ विचारवान् विद्वान् पुरुष जाकर अपना जीवन ज्ञान के बढ़ाने में लगा सकें। इसके लिए करोड़ों रुपयों की आवश्यकता है, तबही थोड़ी बहुत ऐसी संस्थाएँ* पैदा होंगी और तब ही विद्वान् लोग स्वतंत्र विचार पैदा कर सकेंगे।

६. जीवन की कठिनाइयों को दूर करने का स्वतंत्र अवसर न मिलने पर, विद्वान् लोग सरकारी नौकरियों में लग जाते हैं। इस नौकरी के क्या परिणाम होते हैं यह सबको विदित ही है। वहां स्वतंत्र विचारों के लिए स्थान ही नहीं रह जाता। यंत्रों के समान काम करना पड़ता है। ऐसी स्थिति में मौलिकता किस प्रकार जीवित रह सकती है? फिर उसके फल-फूल देखने की आशा करना व्यर्थ है।

हमारा यह कहना नहीं है कि दूसरे देशों के सभी सरकारी नौकर स्वतंत्र ज्ञान की उत्पत्ति कर सकते हैं। परन्तु हम इतना कह सकते हैं कि बहुतेरे और विशेष कर शिक्षक यह कार्य किया करते हैं। दूसरे विभागों की तुलना में शिक्षकों की दशा सभी देशों में अच्छी नहीं है। तथापि अनेक देशों में दूसरे सरकारी नौकरों की तुलना में वह बिलकुल ही बुरी नहीं है। परन्तु भारतवर्ष में बात बिलकुल विपरीत है। यहाँ

*जबलपुर का राष्ट्रीय हिन्दी-मन्दिर इसी प्रकार की संस्था है। इसका प्रधान उद्देश यह है कि हिन्दी के विद्वान लेखक जीवन-निर्वाह की चिन्ता से विमुक्त होकर मौलिक साहित्य के प्रणयन में अपनी सारी शक्ति और समय लगावें। जो लेखक यह पवित्र कार्य करना चाहते हों उन्हें इस संस्था में अवश्य योग देना चाहिए। —सम्पादक।

अच्छे विद्वान् या बुद्धिमान् जन न्याय-विभाग अथवा अमल-विभाग में लग जाते हैं, शेष शिक्षा-विभाग में आते हैं। फिर, यह भी स्मरण रखना चाहिए कि ये शिक्षक मामूली ही लोग रहते हैं। ऐसी दशा में इन लोगों से स्वतंत्र विचार की आशा करना व्यर्थ है। इतने पर भी सरकारी नियम बहुत कड़े रहते हैं। बिना आज्ञा के कोई पुस्तक न लिखो, एक बारगी पुरस्कार ले लो, पुस्तक सदैव के लिए बेच डालो, तुम्हारा उससे कोई सम्बन्ध न रहे। ऐसे नियम स्थान स्थान पर दीख पड़ते हैं। कौन प्रकाशक है जो एक ही बार किसी मौलिक पुस्तक का भरपूर पुरस्कार देने की हिम्मत करेगा? ऐसी अवस्था में लेखक को थोड़े से पुरस्कार से संतुष्ट होना चाहिए, श्रम बहुत अधिक और पुरस्कार बहुत थोड़ा! इस दशा में मौलिक पुस्तकें किस प्रकार लिखी जा सकती हैं।

७. शिक्षा-प्रणाली की एक बात और है जिसका मौलिकता से सम्बन्ध है। हमारे यहाँ की उच्च शिक्षा का माध्यम अंग्रेज़ी भाषा है। इसके परिणाम कितने बुरे होते हैं यह अच्छी तरह से जान लेना न कठिन है, और न उनके विवेचन की यहाँ विशेष आवश्यकता ही है। परन्तु दो तीन बातों का विचार रखना चाहिए। एक तो श्रम और काल इतना अधिक लगता है जिसका कोई हिसाब नहीं। जितने श्रम में हम मैट्रिक्युलेशन की परीक्षा में उत्तीर्ण होते हैं उतने श्रम में विदेशी लोग अपनी भाषा में सब शिक्षा पाकर ग्रेजुएट हो जाते हैं। हम लोग ग्रेजुएट होते तक किसी काम के नहीं रह जाते। ऐसी अवस्था में, ग्रेजुएट होकर, मौलिक विचार करना जान बूझ कर ज़िन्दगी से हाथ धोना है। दूसरे, दूसरी भाषा के द्वारा पाया हुआ ज्ञान इतना स्पष्ट नहीं रहता कि उसके आधार पर मौलिक विचार हो सकें। ज्ञान-प्राप्ति के लिए भाषा का माध्यम आवश्यक है। परन्तु यदि भाषा सीखने में ही सारा समय लग जावे, तो ज्ञान की प्राप्ति कैसे होगी? थोड़ी बहुत हुई भी तो वह अपरिपक्व रहेगी। फिर, विचार करने के लिए भी भाषा चाहिए। यदि हम अपने अनुभवों को जानने का प्रयत्न करें तो यह स्पष्ट हो जावेगा कि हम अपनी मातृ-भाषा द्वारा ही विचार किया करते हैं। विचार तो देशी भाषा द्वारा और हमने जो थोड़ा अध-पका ज्ञान भी पाया वह अंग्रेज़ी में! फिर विचार-प्रवाह ताज़गी के साथ कैसे बह सकता है? विचार के मनोविज्ञान की दृष्टि से देखते हुए यह अत्यन्त आवश्यक मालूम होता है कि हमारी शिक्षा देशी भाषा के द्वारा ही दी जाय। देशी भाषा की शिक्षा से मौलिक विचारों के उत्पन्न होने में भारी सहायता पहुँचेगी।

८. शिक्षा का और मौलिक विचारों के अवकाशों का इतना प्रबन्ध होने पर मौलिकता के लिए उचित सामग्री की भी आवश्यकता है। प्रयोगात्मक ज्ञान बढ़ाने के लिए उचित प्रयोगशालाएँ चाहिए। हिन्दुस्थान में ऐसी कितनी प्रयोग-शालाएँ हैं, जहाँ इसके लिए आवश्यक सामग्री उपस्थित है? कहीं कहीं बेचारे शिक्षक प्रयत्न भी करते हैं, तो सामग्री की कठिनाई उपस्थित होती है। आवश्यक वस्तुएँ नहीं हैं, आवश्यक यंत्र नहीं हैं या आवश्यक पुस्तकें नहीं हैं। यदि किसी ने दृढ़ निश्चय भी किया, तो वह ऐसी निःसहाय अवस्था में कर ही क्या सकता है? 'उत्पद्यन्ते हृदि विलीयन्ते दरिद्राणां मनोरथाः' की दशा होती है। कितने पुस्तकालय हैं, जहाँ सब आवश्यक पुस्तकें मिल सकती हैं और लेखक अपने सुभीते के अनुसार किसी पुस्तक का उपयोग कर सकता है? इतिहास के लेखक को इन पुस्तकालयों की विशेष आवश्यकता होती है। इतिहास की बहुतसी सामग्री बाहर चली गई है। उसके एकत्र करने में कितना श्रम, समय और सम्पत्ति चाहिए यह प्रोफ़ेसर यदुनाथ सरकार जैसे इतिहास-लेखक से पूछने पर मालूम हो सकता है।

९. मौलिकता के अभाव के इन सब कारणों का एक बड़ा भारी सहायक कारण है। वह है सैकड़ों वर्षों की पराधीनता। इतिहास इस बात

का साक्षी है कि पराधीनता के समय में मौलिकता की वृद्धि अधिक नहीं होती। यह बात मनो-विज्ञान से सम्बन्ध रखती है। पराधीनता के कारण यदि विचारों को दबाने की आवश्यकता बारबार पड़ती जावे, तो स्वतंत्र विचार की शक्ति ही नहीं रह जाती। बहुतसे संस्कार जिस प्रकार परम्परा से चलते आते हैं, उसी प्रकार यह भी बात है। पराधीनता में केवल पेट की समस्या को हल करते करते सारा समय और सारी शक्ति लग जाती है। स्वतंत्र विचार के अभाव के कारण मौलिकता की आशा करना वृथा है। स्वराज्य के समय में नाना गुणों के साथ साथ मौलिकता का भी परिपोषण होता है।

१०· मौलिकता के अभाव के मुख्य कारणों का हम विवेचन कर चुके। इन कारणों को जितने अंश में हम दूर कर सकेंगे, उतने ही अंशों में मौलिकता दीख पड़ेगी। किस कारण का कितना परिणाम होता है यह बतलाना कठिन है। तथापि इतना सत्य है कि इन सबका थोड़ा न थोड़ा परिणाम अवश्य होता है। मौलिकता के लिए उचित शिक्षा ज्यों ज्यों बढ़ेगी, त्यों त्यों पुस्तकें अधिक बिकेंगी और त्यों त्यों प्रकाशक लेखकों को अधिक पुरस्कार दे सकेंगे और इस प्रकार लेखकों की संख्या बढ़ेगी। उचित शिक्षा मिलने से मौलिक विचार करने की आदत बढ़ेगी और इससे मौलिक पुस्तकों की उत्पत्ति में सहायता होगी। ज्ञान की उत्पत्ति जिस प्रकार होती है उस प्रकार की शिक्षा मिलना अत्यंत आवश्यक है। शिक्षा का माध्यम देशी भाषा होना चाहिए। देशी भाषा पर पूरा प्रभुत्व मिलने से ही उचित रीति से विचार हो सकता है। देशी भाषा के द्वारा शिक्षा मिलने से श्रम और समय की बचत तो होती ही है, साथ ही जो ज्ञान मिलता है वह स्पष्ट रहता है, इससे विचार करने में बहुत सहायता मिलती है। प्रयोगात्मक और अवलोकनात्मक ज्ञान के लिए यंत्र, सामग्री, रासायनिक वस्तुएँ, बाग-बगीचे, खनिजपदार्थ, जीव-जन्तु की शालाएँ इत्यादि प्रयोग और अवलोकन की सामग्री चाहिए। अनुमानात्मक, आधारात्मक, वर्णनात्मक, संग्रहात्मक, और आलोचनात्मक पुस्तकों के लिए पुस्तकालयों की और पुरावस्तु, संग्रहालयों की अत्यंत आवश्यकता है। उनमें सब आवश्यक पुस्तकें और वस्तुएँ चाहिए। इन के अभाव में इस प्रकार का मौलिक ज्ञान दीख पड़ना असम्भव ही है। शिक्षक सब देशों में ज्ञान के प्रचारक नहीं, तो वर्धक अवश्य हुआ करते हैं। कुछ दूसरे धंधों के लोग भी यह काम करते हैं, तथापि लेखकों में शिक्षकों की ही संख्या विशेष रहती है। वे मौलिक कार्य कर सकें इसके लिए उन्हें अवकाश और शांति मिलनी चाहिए। जबतक उनके दुर्भाग्य के दिन दूर नहीं होते, तबतक उन्हें उचित अवकाश और शांति नहीं प्राप्त होगी। इस कारण वे मौलिकता की वृद्धि में हाथ नहीं लगा सकेंगे। उनका दुर्भाग्य दूर होने से एक बात और होगी। वह यह है कि अच्छे अच्छे विद्वान और बुद्धिमान पुरुष शिक्षा के कार्यों में लग सकेंगे—वे अन्य विभागों में जाकर अपना मानसिक विकास न खो बैठेंगे। उनके साहित्य-क्षेत्र में आने से मौलिक-साहित्य के बढ़ने में बड़ी सहायता मिलेगी। फिर ऐसी संस्थाएँ भी चाहिए कि जिनका उद्देश मौलिक साहित्य की वृद्धि करना हो। चाहे वे मौलिक पुस्तकों को अच्छा पुरस्कार दिया करें, अथवा मौलिक लेखकों को उचित वेतन पर रख कर उनसे मौलिक पुस्तकें लिखवावें। इसके लिए उन्हें आवश्यक सामग्री भी देनी होगी। इतना कर लेने पर भी स्वतंत्र विचार के मार्ग में कुछ बाधाएँ रह गईं, तो वे स्वराज्य मिलने से दूर हो जावेंगी। मौलिकता के अभाव के इतने सब कारण जबतक दूर नहीं होते, तबतक 'मौलिकता मौलिकता' चिल्लाना अरण्य-रोदन है। इसके सिवा एक दो और उपाय सुझाये जा सकते हैं। सरकार या जनता किसी न किसी रूप में मौलिकता का आदर भी करे। पारितोषिक देकर या पदवी प्रदान कर लेखक का आदर किया जा सकता है। सरकार से पारितोषिक, पदवियां दूसरों को

अधिक मिलती है, लेखकों को बहुत कम । ऐसी दशा में मौलिकता को उत्तेजना नहीं मिलती । लेखकों का वास्तविक आदर कैसे करना यह हमें अभी सीखना ही है । मौलिक नाटकों के लिए एक और बात की आवश्यकता होती है । वह है नाटकमण्डलियों की स्थापना। जिन जिन प्रान्तों में नाटकमण्डलियाँ हैं, वहाँ दस बीस में एक दो उच्च कोटि के मौलिक नाटक दीख पड़ते हैं । नाटक-मण्डलियाँ ही नाटकों का प्रचार करती हैं । केवल विज्ञापन से उनका अधिक प्रचार नहीं होता । इसका कारण स्पष्ट है । नाटक दृश्य काव्य है, श्रव्य नहीं । देखने में जो आनंद आता है वह पढ़ने में नहीं मिलता । इसलिए मौलिक नाटकों के लिए नाटक-मण्डलियों की अत्यंत आवश्यकता है ।

सेठ हाजी मोहम्मद अलारखिया शिवजी।

(लेखक—पं० बदरीनाथ भट्ट, बी. ए.)

गुजराती भाषा की प्रसिद्ध मासिक पत्रिका 'बीसवीं सदी' के उत्साही संचालक तथा सम्पादक मि० हाजी मोहम्मद अलारखिया शिवजी का स्वर्गवास, केवल ४३ वर्ष की आयु में, २३ जनवरी को, धनुर्वात से केवल ३६ घंटे पीड़ित रहने के कारण, हो गया । इनके पूर्व पुरुष कच्छदेश के राजनगर 'भूज' नामक स्थान के रहने वाले थे । वहाँ से इनके प्रपितामह शेठ माणिक भूसाणी ने सन् १८३५ ईस्वी में बम्बई जाकर व्यापार शुरू किया था । तब से वे बम्बई में ही बस गये । शेठ हाजी मोहम्मद का जन्म बम्बई में १३ दिसम्बर, सन् १८७८ ईस्वी में हुआ । ये अपने पिता के इकलौते पुत्र थे ।

घर पर कुछ दिनों गुजराती का अभ्यास करके हाजी मोहम्मद फोर्ट हाई स्कूल में छठवीं कक्षा तक अंग्रेज़ी पढ़े । दस वर्ष की अवस्था से ही आपको अख़बार वग़ैरह पढ़ने का शौक़ लग गया था । सन् १८९५ से आपने अंग्रेज़ी, हिंदी और मराठी का भी अध्ययन विशेष परिश्रम-पूर्वक शुरू कर दिया और तभी से आपकी साहित्य-सेवाओं का भी सूत्र-पात हुआ । आपने गुजराती के मासिक पत्रों में लेख तथा छोटी छोटी कहानियाँ लिखना शुरू कर दिया । दो वर्ष बाद दैनिक तथा साप्ताहिक पत्रों में भी आप लिखने लगे । हिन्दी में आपने गो० तुलसीदास, कबीर, गंग आदि की कविताएँ बड़े शौक़ से पढ़ीं और 'प्रवीणसागर' के कई पारायण करके उससे बहुत कुछ शिक्षा भी ग्रहण की । सन् १८९८ में आपकी पहली पुस्तक 'स्नेही विरह पंचदशी'—हिन्दी में निकली । यह एक मित्र के छोटे भाई की असामायिक मृत्यु पर लिखी गई थी । इसके दो वर्ष बाद आपने ऐडविन आर्नाल्ड की प्रसिद्ध अंग्रेजी पुस्तक 'पोल्स आव् दी फ़ेथ' को गुजराती में अनुवाद करके 'ईमान-नाँ मोती' के नाम से छपाया । यह है तो गद्य में, मगर इसमें आपने कितने ही स्वरचित दोहे जगह जगह पर रख दिये हैं जिससे इसकी मनोरंजकता और भी बढ़ गई है । सन् १८९८ में ही आपने एक गुजराती मासिक पत्र की नींव डालनी चाही, किन्तु वह प्रयत्न सफल न हुआ । तब १९०१ में आपने मुसलमानों के लिए 'गुलशन' नामका एक सचित्र मासिक पत्र निकाला और इसका वार्षिक मूल्य केवल १) रु० रक्खा । यह पत्र एक साल चला, फिर घाटे के कारण बन्द हो गया । इसके विषय में एक

बात ऐसी है जिससे आपके आन्तरिक हिन्दी-प्रेम का सच्चा परिचय मिलता है, और वह यह कि इसके पहले अंक के पहले पृष्ठ पर प्रारम्भ में ही एक हिन्दी कविता छापी गई थी। अकेली इसी बात से पाठक समझ सकते हैं कि आप किस क़दर पक्षपात-शून्य और उदाराशय थे। पत्र मुसलमानों के लिए निकाला गया था यह बात न भूलनी चाहिए।

१९०३ में, लार्ड कर्ज़न के दरबार के समय, आपने ऐतिहासिक तथा जीवन-सम्बन्धी कोई १०० सचित्र लेख छपवाये। १९०४ में आपने 'मेहरुन्निसा' नाटक गुजराती में लिखा। १९०८ में 'रशीदा' नाम की पुस्तक लिखी। यह आत्म-विद्या पर एक गल्प है और अपने ढँग की अनूठी है। और भी कितनी ही गल्पें और लेख आप समय समय पर गुजराती पत्रों में लिखते रहे।

मासिक पत्रिका निकालने की ओर आपका ध्यान तो बराबर था ही, पर टोटे के डर से आपकी हिम्मत न पड़ती थी। १९१४ में बम्बई के प्रसिद्ध सेठ सर फ़ज़ल भाई ने इस काम के लिए इन्हें प्रोत्साहन दिया और आर्थिक सहायता भी दी। आखिर उसी साल जून में डिक्लेरेशन दे दिया गया और आवरण (टाइटिल) का डिज़ाइन भी धुरंधर नामक प्रसिद्ध चित्रकार से तैयार करा कर विलायत में छपवा लिया गया; परन्तु यूरोपीय महायुद्ध के कारण मामले में फिर ढील पड़ गई। अन्त में सन् १९१६ के अप्रेल मास में सर फ़ज़लभाई के प्रोत्साहन के फलस्वरूप 'बीसवीं सदी' का प्रकाशन आरंभ कर दिया गया, यहाँ तक कि अप्रेल का अंक मार्च में ही निकाल दिया गया। अब हाजी भाई ग्राहकों और विज्ञापन-दाताओं की तलाश में लगे। लोगों ने आपको धोकेबाज़ समझ कर आपका विश्वास न किया और कहने लगे कि पहला अंक अच्छा निकाल दिया है, और अंक ऐसे थोड़े ही निकलेंगे। कितने ही महानुभावों ने पहले पत्रिका लेकर चंदा ही हज़म कर लिया! आठ आने प्रति के हिसाब से फुटकर प्रतियाँ भी बेंची गईं। जब शुरू के कुछ अंक स्टाक में न रहे और माँग बढ़ती रही, तब ग्राहक-संख्या भी बढ़ने लगी। कितने ही मित्रों ने ग्राहक दिलाने की प्रतिज्ञा की, और उस प्रतिज्ञा की पूर्ति यहाँ तक की कि जितने ग्राहकों के लिए वचन दिया था उनसे कहीं अधिक जुटाये। तारापोर, रावल, तथा देवारे नामके प्रसिद्ध फ़ोटोग्राफ़रों ने भी स्वार्थ-त्यागपूर्वक सहायता की। फिर भी हमेशा एक न एक रुकावट सामने दीखती थी। काम कठिन था, पद पद पर फिसलन थी, पर मन में सच्ची लगन थी; इसलिए उसमें मनोरंजन ही मालूम होता था। वार्षिक मूल्य पहले ६) था; लेकिन सन् १९१९ के अप्रेल मास से ९) कर दिया गया। पत्रिका निकलने के छः महीने बाद बम्बई के कलक्टर ने इसकी प्रतियाँ लंदन के अजायबघर और इंडिया आफ़िस के पुस्तकालय में भी भेजने के लिये कहला भेजा। जब पहला ही पहला अंक निकला तब रेल के स्टेशनों पर पुस्तक, पत्र आदि बेचने वाली व्हीलर कम्पनी को लिखा गया कि आप इसकी कुछ प्रतियाँ अपनी दूकानों पर विक्रयार्थ रखिए, परन्तु उसने यह जवाब दे

दिया कि हम देशी भाषाओं की पुस्तकें, पत्रादि नहीं रखते। आठ महीने बाद उसी कम्पनी ने एक पत्र भेजा जिसमें लिखा कि हम अपनी दूकानों पर आपकी पत्रिका के अंक विक्रयार्थ रखना चाहते हैं। तब से कम्पनी पत्रिका के अंक अधिकाधिक संख्या में रखने लगी। पिछले साल इन्हीं दिनों में जब हम बम्बई में थे तो हाजी भाई ने पत्रिका की ग्राहक-संख्या क़रीब ४,००० के बतलाई थी और कहा था कि अब तक कुल ३५,०००) का टोटा हो चुका है। गुजराती-पत्र-संसार में लेखकों को पुरस्कार देने की चाल नहीं थी, मगर हाजी भाई की पत्रिका के कई लेखकों को पुरस्कार मिलता था। गुजराती में अच्छे लेखकों की कमी होने के कारण हाजी भाई हिंदी, उर्दू और बँगला से भी खूब सहायता लिया करते थे, और उन सब लेखों को उत्तम चित्रों से खूब सुसज्जित करके पाठकों के सामने उपस्थित करते थे। बिहारी की 'सतसई' और 'देश-दर्शन' नाम की पुस्तक में से भी कई अंश सचित्र छापे गये। 'बीसवीं सदी' में विज्ञापन भी नये तरीक़े से दिये जाते थे जिनके लिये सम्पादक को खुद परिश्रम करना पड़ता था लोगों की रुचि का ध्यान रख कर विषय भी हाजी भाई खुद ही चुनते थे, और तीन महीने की सूची आगे से तैयार रखते थे। लेख लिखाने और चित्र तैयार कराने में पूरा परिश्रम किया जाता था और लेखकों और चित्रकारों को उनके काम में पूरी मदद दी जाती थी। हाजी भाई की राय थी कि बिना उत्तम चित्रों के उत्तम से उत्तम लेख भी शुष्क और नीरस मालूम होने लगता है और उसका प्रभाव नष्ट नहीं, तो बहुत कुछ कम ज़रूर हो जाता है। आपकी यह भी राय थी कि सम्पादन का काम वही मनुष्य ठीक ठीक कर सकता है जो अपने को सब धर्मों, पंथों, जातियों और उप-जातियों का समझे। आपकी राय थी कि पत्रिका के हरएक अंक में, कुल नहीं तो कम से कम एक तिहाई सामान, ऐसा होना चाहिए जो प्रत्येक रुचि के मनुष्य को इस क़दर मनोरंजक मालूम हो कि वह खुशी से ग्राहक बना रहे। एक बार उन्होंने लेखक से कहा, "बहुतसे सम्पादक अपने पत्रों में अपनी पसंदगी के गंभीर विषय भर देते हैं। वे इस बात का खयाल नहीं करते कि जो विषय उन्हें रुचिकर हैं वे औरों को किस हद तक वैसे मालूम होंगे। नतीजा यह होता है कि ग्राहकों की कमी से पत्र बंद हो जाता है। 'बीसवीं सदी' में वही विषय दिया जाता है जिसको या तो लोग खुद पसंद करते हों और या लोगोंको जिसकी आवश्यकता हो—और वह भी इस ढँग से कि उसके पढ़ने में सब का जी लगे। बिना ऐसा किये जन-समुदाय अपनी ओर नहीं खिंच सकता। लोगों को अपने अनुकूल बनाने के लिए पत्र में शुष्क और नीरस विषयों की भरमार करने की आवश्यकता नहीं; केवल ढंग आकर्षक होना चाहिए और उद्देश्य यह होना चाहिए कि मनोरंजन के साथ ही साथ ज्ञानवृद्धि हो। कोरे उपदेशों को लोग पसंद नहीं करते। कठिन परिश्रम के बाद कुछ समय के लिए तो पत्र हाथ में लिया, और उसमें मिला क्या? नीरस उपदेश-भांडार! सम्पादक को चाहिए कि ज्ञान-वृद्धि के लिए जो लेख दे उसे खूब मनोरंजक बना कर दे। भारतवर्ष में, नीरस ढँग से लिखे गये गंभीर विषयों को पढ़नेवाला तो

मुफ्त में भी कोई नहीं मिलेगा। बहुतसे लोगों का कहना है कि हमें पत्र पढ़ने की फुरसत ही नहीं। बहुतसे ऐसे भी हैं जो इधर-उधर से माँग कर पढ़ लेते हैं; खुद दाम खर्चना नहीं चाहते। इन लोगों के साथ अगर कोई ऐसी तरकीब की जाय जिससे ये दाम खर्च करके पढ़ने लगें तो ग्राहकों के टोटे की शिकायत कम हो जाय। इनके लिए, इनकी टेंट में से दाम निकलवाने के लिए, बहुतही मनोरंजक और चित्ताकर्षक सामान की आवश्यकता है। इसी लिए 'बीसवीं सदी' के कवर पेज पर तथा भीतर उत्तमोत्तम चित्रों की भरमार रहती है जिसमें अगर कोई शख्स पत्रिका को दूर से देखे तो भी उसका जी उसे उठाकर और इधर उधर लौटकर देखने को चाहे, और भीतर का सामान देखकर पढ़ने को चाहे। साहित्य और ललित-कलाओं पर प्रेम उत्पन्न कराने का यह किंडरगार्टनी ढँग है। इसका नतीजा यहाँ तक देखा गया कि पन्द्रह बीस रुपये महीना पाने वाले चार पाँच आदमियों ने एक संघ बनाकर 'बीसवीं सदी' लेना प्रारम्भ कर दिया। बम्बई से कल्याण, बाँदरा और आसपास दौड़नेवाली लोकल ट्रेनों में इसकी बदौलत कुछ लोगों ने कुछ रोजगार भी शुरू कर दिया है, और वह यों कि वे एक आने रोज़ पर 'बीसवी सदी' पढ़ने के लिए देते हैं। इससे यह सूचित होता है कि अगर मनो-रंजन का सामान काफ़ी हो तो उसके लिए कुछ खर्च कर देना ग़रीब आदमियों को भी नहीं अखरता। इतनी बड़ी पत्रिका में जब कभी दो से अधिक गंभीर लेख दे दिये गये तभी लोगों ने उन्हें न पढ़ा! इसीलिए इस बात की आवश्यकता प्रतीत हुई कि ज्ञान-वृद्धि के लिए गंभीर लेख ऐसे ढँग से दिये जाँय कि लोग उन्हें पढ़ने में हिचकिचावें न, यानी नये, आकर्षक और मनोरंजक ढंग से। जब इस ढँग से दिये हुए लेखों को लोग पढ़ने लगें तब धीरे धीरे उनको उस ढँग के लेखों पर लाया जाय।"

हाजी भाईसे उनकी लोकप्रिय पत्रिकाके सम्पादन के ढँग के विषय में प्रश्न करने पर जो उत्तर मिले थे वे ऊपर दिये गये हैं। हाजी भाई ने साहित्य और ललित कलाओं के पीछे बहुत कुछ धन व्यय किया। प्रसिद्ध फ़ारसी कवि उमर खय्याम की रुबाइयात का तो आपको व्यसन ही था। इस पुस्तक के सस्ते से सस्ते से लगाकर महँगे से महँगे संस्करण आपके पुस्तकालय में थे। चित्रों की तो कुछ पूछिये ही न। १८ वर्ष परिश्रम करके आपने 'रुबाइयात' का अनुवाद जुदे जुदे तीन ढँगों से किया था और मि० धुरंधर से फ़ारसी स्टाइल के २० चित्र इसके लिए बनवाए थे जिन को लोगों ने बहुत पसंद किया और जिनको, बाद में, सर फ़ज़ल भाई ने ३,०००) में मोल ले लिया। 'बीसवीं सदी' का जो आदर्श रक्खा गया था उससे हिन्दी-भाषी जन सहमत हों या न हों, इसमें सन्देह नहीं कि गुजरात-प्रान्त में लेखकों, चित्रकारों और दूसरे ललित-कला-प्रेमियों को उससे बड़ा प्रोत्साहन मिला। हाजी भाई स्वभाव के इतने सीधे-सादे और मिलनसार थे कि उनके पास जाकर उठने को जी नहीं चाहता था। हरएक विद्या-प्रेमी के लिए उनके कमरे का द्वार हमेशा खुला रहता था। बम्बई में शायद ही कोई ऐसा विद्या-व्यसनी हो जिससे आपका गहरा परिचय न रहा हो। आप अपनी

पत्रिका के हिन्दी और मराठी संस्करण निकालने का विचार रखते थे। इस विषय में आपने कुछ प्रयत्न करना भी शुरू किया था, मगर वह वैसा का वैसाही रह गया। इनकी मित्र-मण्डली बहुत विस्तृत थी और उसमें हिन्दू, मुसलमान, पारसी; अंग्रेज सभी थे। 'बीसवीं सदी' की ३६० कापियाँ मित्रों को मुफ़्त भेजी जाती थीं। आप बड़े उदार और परोपकारी व्यक्ति थे। रौब जमाना तो जानते ही न थे। धार्मिक पक्षपात ज़रा भी न था। आपके उठ जाने से गुजरात प्रान्त का तो बेहद नुक़सान हुआ ही है, औरों का; विशेष कर हिन्दी भाषियों का भी बहुत नुक़सान हुआ है। बम्बई के बाहर रहने वाले आपके साहित्य सेवी मित्रों को तो आपके बिना बम्बई ऐसी मालूम होती है जैसे रात में बिना दीपक का घर।

वीरता।

(लेखक—बाबू आनन्दिप्रसाद श्रीवास्तव)

जननी, जनक, तनय, जाया का
　　काट कठिन ममता-बन्धन
कौन बढ़ाती सैनिक-गण को
　　खोने को जीवन सा धन?
कौन अग्नि-वर्षा से रण में
　　उन्हें नहीं भगने देती?
कौन मंत्र बन भय-भूतों को
　　उन्हें नहीं लगने देती?
यह सब करतीं तुम्हीं वीरते,
　　तुम हो शांति-प्रगति-आधार।
तुम्हीं चलाती हो सब जग का,
　　खल-दल दल कर कारोबार? ॥ १ ॥

जबकि सत्य पर अड़ने वालों
　　के ऊपर खिंचती तलवार,
उनके अधरों पर नव-ईस्मित की
　　छटा देखता तब संसार।
क़ैद देश-भक्तों की आँखों
　　में जो आभा बसती है,
वही तुम्हारी मधुर मुख-श्री
　　कभी प्रकट हो हँसती है।
नर-हित की अविरत चिन्ता में
　　मग्न नरों का मुख गंभीर,
देवि, दिखाता हमें तुम्हारी
　　कभी कभी जीवित तस्वीर ॥ २ ॥

करके अगणित बाधाओं से
　　लड़ने का संकल्प बड़ा,
कर्मक्षेत्र पर हो जाता है
　　जब मानव निःशंक खड़ा,
अन्तरंग कानों को तब जो
　　सुन पड़ती है नीरव तान
वही तुम्हारी मादक वाणी
　　शक्ति-खड्ग की अद्भुत सान।
पुण्यदेव की शक्ति निराली,
　　तुम हो सब सद्गुण की खान,
तुमको ही तन-रूप पहनकर
　　विष्णु-रूप धरते भगवान ॥ ३ ॥

सुनकर धर्मादेश, बनाकर
　　वज्रोपम अपने उर को,
समर-साज है स्वयं सजाती
　　जो अपने प्राणेश्वर को,
एक अलौकिक आभा लाती
　　उस पत्नी के आनन पर,

तुम जिह्वा से निःसृत होतीं
उत्तेजक वाणी बनकर।
माँ देती युद्धार्थ विदा जब
सुत को, धीरज धारण कर,
तुम सुन पड़ती 'रण में अविचल
रहने की' आज्ञा बनकर ॥ ४ ॥

धर्म-युद्ध में आहत करके
सहृदय अपना अरि गुणवान्,
जब लखता है साथ तड़प के
उसकी गौरव-मय मुसक्यान,
तुम स्वरूप धारण करती हो,
तब कैसा कोमल मनहर,
बाहर आती हो तब उसकी
आँखों से आँसू बन कर।
विनत पराजित अरिगण को जब
लखता एक सच्चा बलवान्,
उससे प्रकटित होती हो बन
क्षमा-नम्रता-मय सम्मान ॥ ५ ॥

धनिक देखता जब भूखों को
सजल-नयन, अति-क्षीण-शरीर,
उसके कर से तुरत निकलतीं
दान-रूप धर बनीं अधीर।
सज्जन पर पड़ती है खल के
दुर्वचनों की जब बौछार,
सहन-शक्ति बन कर तब करती,
तुम प्रति-हिंसा का संहार।
अहम्मन्य सहयोगी से जब
पाला पड़ता सज्जन का,
तुम उदारता बन हरती हो
तिरस्कार उसके मन का ॥ ६ ॥

कुल-ललना में रहती हो तुम
पातिव्रत्य-रूप धरके,
भारतीय विधवा में रहतीं
निज संज्ञा सतीत्व करके।
तुम बनकर उद्योग-शीलता
करती हो आलस्य-विनाश,
स्वामि-भक्ति बनकर करती हो,
सेवक-स्वार्थ-कपट का ह्रास।
कामिनि-काञ्चन से खिंचता है
जो कोई मुमुक्षु हत-भाग्य,
नहीं फिसलने देतीं उसको
तुम बनकर दृढ़तर वैराग्य ॥ ७ ॥

पड़ती है मृत्तिका-मूर्ति में
तेरी एक फूँक से जान,
संतत तेरे अनुयायी हैं
श्री, शारदा, सुयश, सम्मान,
सर्व आपदा की निवारिणी
है तेरी छत्रच्छाया,
तेरा मार्ग रोकने पर कब
गुरु गिरि भी न गया ढाया?

भला कहाँतक अल्प-बुद्धि कवि
कर सकता है तव गुण-गान,
विनय यही है, देवि, हिन्द को
पुनः करो निज वास-स्थान ॥ ८ ॥




कालिदास का स्त्री-चरित्र-चित्रण ।

(लेखक—बाबू पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, बी० ए०)

कवि-श्रेष्ठ कालिदास ने अपने काव्यों में आदर्श-चरित्रों की सृष्टि की है। कवि का कर्त्तव्य इतना ही नहीं है कि वह अपनी कविता के माधुर्य में लोगों को तल्लीन कर दे. उनके हृदय में रस का स्रोत बहा दे। उसका यह भी धर्म है कि वह उनकी आत्मा को उन्नत और उदार बनावे, पशुत्व को दूर कर उनमें देवत्व ला दे, इस पृथ्वी को स्वर्ग में परिणत कर दे। कवि को केवल लोक-प्रिय ही नहीं, लोक-सुधारक भी होना चाहिए। कालिदास के काव्यों को साहित्य-जगत् में जो इतना ऊँचा स्थान दिया गया है उसका कारण यही है कि उनमें दिव्य भाव हैं, स्वर्गीय चित्र हैं और आदर्श चरित्र-चित्रण है। यहाँ हम उनके स्त्री-चरित्र-चित्रण पर विचार करना चाहते हैं।

कालिदास के सब काव्यों में रघुवंश श्रेष्ठ है। उसमें सबसे पहिला चरित्र हमें सुदक्षिणा का मिलता है। उसकी प्रशंसा में कवि ने कहा है—"राजा की और भी रानियाँ थीं, पर राजा अपने को कलत्रवान् सुदक्षिणा से ही समझता था।" इस पति-प्रेम की वह अधिकारिणी होने योग्य थी। कालिदास ने एक स्थान में कहा है—

> शशिना सह याति कौमुदी सह मेघेन तडित्प्रलीयते ।
> प्रमदाः पतिवर्त्मगा इति प्रतिपन्नं हि विचेतनैरपि ॥

अर्थात्, "चन्द्रमा के साथ ही उसकी कौमुदी चली जाती है, मेघ के साथ बिजली भी लीन हो जाती है, स्त्रियाँ सदा पति का अनुगमन करती हैं, यह तो जड़ पदार्थों से भी सिद्ध होता है।"

सुदक्षिणा सदा अपने पति का अनुसरण करती रही। जब सन्तान की कामना से दिलीप अपने गुरु के तपोवन आये तब वह भी उनके साथ आई। दिलीप ने जो व्रत धारण किया उसे उसने भी स्वीकार किया। जबतक राजा राज-सिंहासन पर आसीन थे, तबतक वह भी राज-महिषी होकर उनके राज्यकार्य में सहायता देती रही। जब दिलीप ने धर्म के लिए अरण्य-वास स्वीकार किया, तब उसने भी हर्ष-सहित वनवास का कठोर दुःख सह लिया। अन्त में पुत्र को राज्य-भार देकर जब दिलीप ने संसार से अपना सम्बन्ध छोड़ा, तब भी उनकी धर्मपत्नी सुदक्षिणा उनके साथ रहीं, विच्छेद कभी नहीं हुआ। जब राजा गो-सेवा में निरत थे, तब उन्हें अपनी रानी से अलग होकर वन जाना पड़ता। यह क्षणिक वियोग भी रानी के लिए असह्य हो जाता। रानी के हृदय के इस भाव को कालिदास ने निम्न लिखित श्लोक में व्यक्त किया है—

> वसिष्ठधेनोरनुयायिनं तमावर्तमानं वनिता वनान्तात् ।
> पपौ निमेषालसपक्ष्मपङ्क्तिरुपोषिताभ्यामिव लोचनाभ्याम् ॥

जब राजा नन्दिनी के पीछे पीछे वन से लौटता तब रानी खड़ी खड़ी एकटक उसकी ओर देखती, फिर भी वह तृप्त नहीं होती। आँख की प्यास बनी रहती। कालिदास ने सुदक्षिणा का, माता के रूप में, हमें एक बार दर्शन तो करा दिया; पर हम उसका पुत्र-प्रेम नहीं देख सके। राजा का वात्सल्य-भाव तो कवि ने कई स्थानों में प्रकट किया है। यह बड़े आश्चर्य की बात है कि कालिदास ने अपने काव्यों में पिता का ही अपत्य-स्नेह दिखलाया है, माता का नहीं। रामचन्द्र के लौट आने पर कौशल्या का प्रेमाश्रु-वर्षण उनपर अवश्य हुआ है; पर दशरथ के प्रेम-प्रदर्शन के साम्हने वह कुछ नहीं है। मेरी समझ में कालिदास के काव्यों में हमें मातृ-रूप का दर्शन नहीं मिलता। खैर।

सुदक्षिणा के बाद हम इन्दुमती को देखते हैं। पहले तो विवाह-योग्य कन्या के रूप में और फिर परिणीता वधू के रूप में। दैव-दुर्विपाक से उसकी आकस्मिक मृत्यु हो जाती है। तब

पति के विलापोद्गार में हम उसका दिव्य रूप देखते हैं—

धृतिरस्तमिता रतिश्च्युता विरतं गेयमृतुर्निरुत्सवः ।
गतमाभरणप्रयोजनं परिशून्यं शयनीयमद्य मे ॥
गृहिणी सचिवः सखीरहः प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ ।
करुणाविमुखेन मृत्युना हरता त्वां वद किं न मे हृतम् ॥

अर्थात्, धैर्य चला गया, आमोद–प्रमोद नष्ट हो गया। अब न तो गान होंगे और न ऋतुओं में उत्सव। अब अलंकारों की कोई ज़रूरत नहीं रही, आज मेरी शैय्या भी सूनी हो गई। तू मेरे घर की स्वामिनी थी, तू ही मुझे सलाह दिया करती थी, एकान्त में तू ही सखी था और ललित कलाओं में तू मेरी प्रिय शिष्या थी। निष्ठुर मृत्यु ने तुझे क्या हर लिया, मेरा सर्वस्व ही ले लिया।

अधिक कहने की ज़रूरत नहीं, इन दो श्लोकों से ही हम भलीभाँति जान सकते हैं कि इन्दुमती कैसी रही होगी।

इसके बाद एक ही श्लोक में हम कौशल्या का दर्शन करते हैं—

उभावुभाभ्यां प्रणतौ हतारी
यथाक्रमं विक्रमशोभिनौ तौ
विस्पष्टमस्रान्धतया न दृष्टौ
ज्ञातौ सुतस्पर्शसुखोपलम्भात् ।
आनन्दजः शोकजमश्रुबाष्प–
स्तयोरशीतं शिशिरो विभेद
गंगासरय्वोर्जलमुष्णतप्तं
हिमाद्रिनिस्यन्द इवावतीर्णः ।
ते पुत्रयोर्नैऋतशस्त्रमार्गा
नार्द्रानिवाङ्गे सदयं स्पृशन्त्यौ
अपीप्सितं क्षत्रकुलांगनानां
न वीरसूशब्दमकामयेताम् ।

अर्थात्, जब दोनों राम और लक्ष्मण ने अपनी माताओं को प्रणाम किया तब उन दोनों की आँखों में आँसू आगये और वे उन्हें नहीं देख सकीं। पर उनके शरीरों को स्पर्श करने से जो सुख उन्हें हुआ उससे ही उन्होंने जान लिया कि ये हमारे पुत्र हैं। उनके वियोग में जो गरम गरम आँसू की बूँदें गिरती थीं उनको आनन्द के अश्रु-जलों ने अलग कर दिया। जब उन्होंने अपने पुत्रों के शरीर पर राक्षसों के किये गये क्षतों को छुआ उस समय उन्हें वीरमाता कहलाने की भी इच्छा न रही।

रघुवंश में सबसे दिव्य चरित्र सीता का अंकित किया गया है। रघुवंश की सीता वाल्मीकि की सीता नहीं है, तुलसीदास की सीता से भी वह भिन्न है। जब लोकापवाद के भय से राम ने उनका त्याग कर दिया, तब उन्होंने लक्ष्मण को यह सन्देश कह देने के लिए कहा है—

वाच्यस्त्वया मद्वचनात्स राजा
वह्नौ विशुद्धामपि यत्समक्षम्
मां लोकवादश्रवणादहासीः
श्रुतस्य किं तत्सदृशं कुलस्य ।

अर्थात्—तुमने अपनी आँखों से मेरी अग्नि–परीक्षा देखी, फिर भी लोगों की निन्दा से मुझको छोड़ दिया। यही क्या तुम्हारे उच्च कुल के योग्य है?

उपस्थितां पूर्वमपास्य लक्ष्मीं
वनं मया सार्धमसि प्रपन्नः
तदास्पदं प्राप्य तयातिरोषात्
सोढ़ास्मि न त्वद्भवने वसन्ती।

इस श्लोक से क्या यह ध्वनि नहीं निकलती कि लक्ष्मी के कारण आपने मेरा निर्वासन किया है? अन्त में उन्होंने कहा—

नृपस्य वर्णाश्रमपालनं यत्
स एव धर्मो मनुना प्रणीतः
निर्वासिताप्येवमतस्त्वयाहं
तपस्विसामान्यमवेक्षणीया ।

अर्थात्, मनु ने कहा है कि सभी वर्णों और आश्रमों की रक्षा करना राजा का धर्म है। मैं तपस्विनी हूँ। इस अवस्था में भी आपका कर्त्तव्य है कि आप मेरा ख्याल करें।

यहाँ मनु-कथित राजधर्म का उल्लेख कर सीता ने इसका इशारा किया है कि आपने मुझे अपनी धर्मपत्नी की दृष्टि से देखकर विचार किया। मैं आपकी प्रजा भी तो हूँ। तब क्या एक प्रजा की हैसियत से मैं न्याय की प्रार्थना नहीं कर सकती? आपने लोगों का कहना तो सुन लिया; पर मेरी भी बातें क्या आपने सुनीं? यदि नहीं तो यह आपका न्याय-विचार कैसे हुआ?

मेघदूत में कवि ने पति-प्राणा वियोगिनी का जो चित्र खींचा है वह विलक्षण है। संसार के अन्य किसी काव्य में रमणी-रूप का वैसा चित्र देखने में नहीं आता।

सा संन्यस्ताभरणमबला कोमलं धारयन्ती
शय्योत्संगे निहितमसकृद् दुःखदुःखेन गात्रम्।
त्वामप्यस्रं जललवमयं मोजयिष्यत्यवश्यम्
प्रायः सर्वो भवति करुणावृत्तिरार्द्रान्तरात्मा॥

यह करुण मूर्ति देख कर किसका हृदय द्रवित न होगा?

कुमारसम्भव में पार्वती के चरित्र का अच्छा विकास हुआ है। पहले की सर्ग में दो ही चार श्लोकों में कवि ने उसकी बालिका-सुलभ चंचलता को अच्छी तरह प्रकट कर दिया है। इसके बाद स्त्रीसौन्दर्य का वर्णन कर पंचम सर्ग में पार्वती 'तपस्या के द्वारा स्त्रियों की आत्म-शक्ति की पराकाष्ठा दिखलाई है।

विवाहिता स्त्री का क्या कर्तव्य होना चाहिए, यह कवि ने अपने अभिज्ञान शाकुन्तल में कण्व के मुँह से कहलाया है। जब शकुन्तला पतिगृह जाने लगी, तब कण्व ने उसे यह शिक्षा दी है—

शुश्रूषस्व गुरून्कुरु प्रियसखीवृत्तिं सपत्नीजने
भर्तुर्विप्रकृतापि रोषणतया मा स्म प्रतीपं गमः।
भूयिष्ठं भव दक्षिणा परिजने भाग्येष्वनुत्सेकिनी
यान्त्येवं गृहिणीपदं युवतयो वामाः कुलस्याधयः॥

अर्थात्, अपने गुरुजनों की सेवा करना, सौतों से सखियों के समान व्यवहार करना, स्वामी से अपमानित होने पर भी उसके विरुद्ध मत चलना, सब परिजनों को प्रसन्न रखना और गर्व कभी मत करना; यही गृहिणी का कर्त्तव्य है।

सन् १८२७ में मध्यप्रदेश की मुख्य भाषाएँ।

(लेखक—पं० लोचनप्रसाद पाण्डेय)



र रिचार्ड जेनकिन्स ने नागपुर के राजा साहब के अधीनस्थ राज्यों के विषय में एक रिपोर्ट लिखी थी। वह सन् १८२७ ई० में लिखी गई तथा सन् १८६६ में पुस्तकाकार छापी गई थी। उसका एक नया संस्करण सन १९०१ में प्रकाशित हुआ है।

जेनकिन्स साहब नागपुर के राजा साहब के दरबार में, सरकार की ओर से, रज़िडेण्ट थे। उन्होंने अपनी रिपोर्ट में नीचे लिखे विषयों का विस्तार-पूर्वक वर्णन किया है:—

१. राज्य का विस्तार और परिचय ।

२. जनसंख्या और राज्य के निवासियों का परिचय ।

३. खेती, रोज़गार, दस्तकारी और व्यापार ।

४. इतिहास ।

५. नागपुर के सरकार की शासन-पद्धति ।

६. माल या लगान का प्रबन्ध—

(१) भूमि-कर,

(२) सायर, कुल्लाली, सवाई और पाँडरी,

(३) शहर का टिकस या हुकुमहासिल वसूली,

(४) टंबरी या कर (Tribute) तथा ज़मींदारों का वर्णन ।

अपने प्रान्त की प्राचीन बातों की जिज्ञासा रखने वाले पाठकों को यह रिपोर्ट बड़ी उपयोगी है । इसमें स्थल विशेष पर, "भाषाओं" का कुछ उल्लेख है, जो संक्षेप में यहाँ दिया जाता है ।

नागपुर के राजा के अधीनस्थ अधिकांश राज्यों में गोंड़ी भाषा बोली जाती थी । गोंड़ी भाषा का न तो साहित्य है और न लिपि । छिंदवाड़ा जिले के आसपास (प्राचीन देवगढ़ राज्य में) गोंड़ों की संख्या, प्रान्त की समस्त जन-संख्या का १/४ अंश थी । जमींदारियों में गोंड़ लोगों की संख्या कितनी थी इसका विवरण प्राप्त नहीं हो सका है ।

नागपुर जिले में गोंड़ों की संख्या प्रान्त की समस्त जन-संख्या का १/१६ वाँ अंश थी ।

बैनगंगा जिले में	....	....	१/७
चाँदा में	....	...	१/५४
छत्तीसगढ़ में	....	....	१/१५

चाँदा और छत्तीसगढ़ के जंगली भागों में बहुतसे गोंड़ थे; पर उनकी संख्या ज्ञात नहीं हुई थी ।

ऊपर लिखे ज़िलों में गोंड़ी के सिवा नीचे लिखी भाषाएँ भी प्रचलित थीं:—

(१) मालवा की लँगड़ी (Rangree) या हिन्दी (Hindi) की मिश्रित भाषा, (२) मराठी (The Mahratta), और (३) गौली (Guolee dialect)

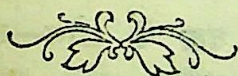
प्रथम दो देवगढ़ (छिंदवाड़ा) ज़िले की बहुसंख्यक लोगों की भाषाएँ थीं । गौली भाषा ग्वाल लोग बोला करते थे । नागपुर ज़िले की मुख्य भाषा मराठी थी । यहाँ गोंड़ लोग गोंड़ी और कुछ जाति के लोग तेलँगी बोलते थे । अन्य भिन्न जातियों की भिन्न बोलियाँ थीं । बैनगंगा ज़िले की आम भाषा मराठी थी । यहाँ के ग्वाल लोग कनाड़ी भाषा की एक शाखा भाषा बोला करते थे । पँवार और लोधी जाति के लोगों की भाषा हिन्दी थी । चाँदा ज़िले की मुख्य भाषा मराठी और तेलंगी (Telingee) थी । आधे लोग मराठी भाषी थे और आधे तैलंगी भाषी । छत्तीसगढ़ ज़िले के मूलनिवासी या तो गोंड़ी बोलते थे या छत्तीसगढ़ी । छत्तीसगढ़ी को जेनकिन्स सा० हिन्दुस्थानी भाषा और गोंड़ी भाषा के मेल से बनी हुई एक ❀ मिश्रित भाषा कहते हैं —Chhttisgarhi, which is a mixture of Hidoostanee and Goudee·

❀ छत्तीसगढ़ी भाषा के विषय में जेनकिन्स साहब का यह मत अनुमोदनीय नहीं है । अवश्य ही उन्होंने उस समय के अपने किसी मातहत अंग्रेज़ अफ़सर की राय के बलपर यह मत प्रकट किया था । पुनश्च यह भी स्पष्ट रूप से विदित नहीं कि "हिन्दुस्थानी" किस भाषा का नाम था ।

इसमें सन्देह नहीं कि छत्तीसगढ़ी भाषा कई भाषाओं और बोलियों के मेल से बनी है; पर उसमें गोंड़ी भाषा के शब्दों का प्रचार है यह नहीं कहा जा सकता ।

छत्तीसगढ़ की पूर्वी सीमा अर्थात् सम्बलपुर की भाषा उड़िया थी । करोंद या कालाहंडी की भाषा कोन्ध (Kcand language) थी । इस कोन्ध भाषा को कर्नल अग्न्यू उड़िया, और गोंड़ी के मेल से बनी हुई समझते हैं । परदीआ (Pardeea) और बेंदरवाँ (Binderwa) जाति के लोग विशेष विशेष बोली बोलते थे । इसके सिवा छत्तीसगढ़ में यत्र तत्र हिन्दुस्थानी, मराठी और तेलंगी भाषा-भाषी लोग भी रहते थे ।

नागपुर राज-दरबार की मुख्य भाषा मराठी थी । नागपुर शहर में मराठी का पूर्णरूप से प्रचार था । राज्य-शासन के समस्त कार्य मराठी भाषा द्वारा किए जाते थे । राज-भाषा मराठी ही थी ।



बोलशेविकों का समुत्थान ।

(लेखक—प्रोफ़ेसर प्राणनाथ, विद्यालंकार)

(१) बोलशेविक लोगों का विकास ।



लशेविक लोगों का दल उतना नया नहीं जितना कि समझा जाता है । सन् १९०० में रूस का राष्ट्रीय दल दो भागों में विभक्त हो गया । एक दल को गरम दल और दूसरे को नरम दल का नाम दिया जा सकता है । गरम दल के लोग किसानों तथा मेहनती मज़दूरों के उद्धार में ही रूस का उद्धार समझते थे । उनका मत था कि जबतक रूस में ताल्लुकेदार, पूँजीपति तथा कारख़ानेदार मौजूद हैं तबतक ज़ार के राज्य का अन्त न हो सकेगा; क्योंकि ये ही लोग ज़ार के स्वेच्छाचार के आधार हैं, इन्हीं पर ज़ार की घातक नौकरशाही खड़ी है ।

सन् १९०३ तक गरम दल के लोग किसानों तथा मेहनती मज़दूरों को उठाने की कोशिश करते रहे; परन्तु उनको पूरी सफलता न मिली। रूस की डायरशाही के छिपे हाल ने लोगों के दिल में यह बैठा दिया कि किसानों तथा मेहनती मज़दूरों को राजनैतिक स्वतन्त्रता प्राप्त करने में साधन बनाना भयंकर भूल करना है । १९०३ की कांग्रेस में गरम दल के लोग दो दलों में विभक्त हो गये— (१) लेनिन का बालशेविक दल, और (२) मार्टोव् का मन्शेविक दल ॥

महायुद्ध के शुरू होते तक मन्शेविक तथा बोलशेविक दल आपस में झगड़ते ही रहे; परन्तु जनता बोलशेविक दल के ही साथ थी । यही कारण है कि १९०३ की कांग्रेस में भी वह पक्ष लेनिन की ओर था । मन्शेविक तथा बोलशेविक दल के झगड़ों के मुख्य कारण निम्न लिखित प्रश्न थे ।

ज़ार की डायरशाही को चूर चूर करने के लिए किनका सहारा लिया जाय ? स्वराज्य का तात्पर्य किस दल के राज्य से है ? बोलशेविक लोग किसानों तथा मेहनती मज़दूरों के पञ्चायती राज्य को ही स्वराज्य समझते थे । उनका ख्याल था कि जो जोते—बोये ज़मीन उसीकी है, ताल्लुकेदारों का ज़मीन पर हक़ ही नहीं है। सेठ-साहूकारों का ग़रीबों पर रुपया फंसाना और उनका खून चूसना भी उनको पसन्द न था । वकीलों, ताल्लुकेदारों, सेठ-साहूकारों तथा कारख़ानेदारों को बालशेविक लोग ज़ार की डायरशाही का मुख्य अंग समझते थे । यही कारण है कि वह ज़ार के साथही साथ उनको भी नष्ट करना चाहते थे । बालशेविक लोगों का नीची श्रेणी के लोगों अर्थात् जनता पर अधिक भरोसा

था। वे उन्हींको स्वराज्य का सच्चा प्यासा समझते थे और उन्हीं पर स्वराज्य की नींव रखना चाहते थे। परन्तु मन्शेविक लोग कुछ और ही सोचते थे। ज़ार के प्रत्येक विभाग में ऊँचे ऊँचे पदों पर पहुंचना; इम्पीरियल इंस्टीट्यूट में राष्ट्रीय दल के लोगों का बहुपक्ष होना, म्युनिसिपेलिटी में संशोधन करना तथा किसानों को सहकारी सहयोगों में संगठित करना ही उनका मुख्य उद्देश्य हो गया। इस समय भारतवर्ष में महात्मा गांधी तथा चिन्तामणि के दलों में जो भेद है वही भेद १९०३ में रूस में बोलशेविक तथा मन्शेविक दल में मौजूद था।

बोलशेविक लोगों ने ज़ार के डायरशाही राज्य का खुले तौर पर विरोध किया। इस विरोध का यह फल हुआ कि मास्को, यूराल, तथा साइबेरिया में किसान तथा मेहनती मज़दूर उठ खड़े हुए। परन्तु ज़ार की शैरिफशाही के कारण उनको दबना पड़ा। लाचार होकर के लैनिन ने इम्पीरियल ड्यूमा के द्वितीय निर्वाचन में पूरी तौर पर भाग लिया। इसका मुख्य उद्देश्य यह था कि जनता के दिलों पर किसी तरीक़े से यह बैठा दिया जाय कि ये सभा-समितियाँ ज़ार की डायरशाही को बढ़ाने के ही लिए बनाई गई हैं। लैनिन शुरू से ही इम्पीरियल ड्यूमा को बदमाशों का अड्डा समझता था और वह उसमें घुसा भी इसीलिए था कि किसी तरीक़े से लोग भी यही समझने लगें।

ईश्वर की कृपा से बोलशेविक लोग अपने काम में पूरे तौर पर सफल हुए। उन्होंने डायरशाही की ऐसी कड़ी आलोचना की कि लोगों की आँखे खुल गयीं। उसने यह सिद्ध कर दिखाया कि इम्पीरियल ड्यूमा के तालुकेदार, पूंजीपति तथा कारख़ानेदार दिल से यही मनाते हैं कि दिन पर दिन महँगी बढ़े और देश लड़ाई में फँसा रहे जिससे उनको रुपये कमाने का मौक़ा मिले।

देखते देखते, रूस महायुद्ध में टूट पड़ा। जनता में असंतोष पहिले ही से था। महँगी, दुर्भिक्ष तथा ज़ार की डायरशाही ने लोगों को राज्यक्रान्ति करने पर बाधित किया। यही कारण है कि १९१७ की मार्च में ज़ार को सिंहासन छोड़ना पड़ा और रूस स्वतन्त्रता की वायु पाकर फिर से हरा भरा हो गया।

(२) बोलशेविक लोगों का उद्देश्य।

रूस का इतिहास भारत की दशा के लिए बहुतसी सूचनाएँ दे सकता है। आजकल भारत में राजनैतिक क्षेत्र के अन्दर गरम तथा नरम दल के लोग मौजूद हैं। इनके साथही साथ समाजसुधारक लोग देश को उठाने का काम अलग कर रहे हैं। आर्य्य समाज, ब्रह्म समाज आदि अनेकों समाजों से सारा देश भरपूर है। यदि सब सामाजिक शक्तियों का वर्गीकरण किया जाय और वर्गीकरण का आधार डायरशाही के असहयोग पर रखा जाय, तो सारा देश तीन दलों में विभक्त हो जाता है, (१) नरम दल के लोग, (२) समाजसुधारक लोग, और (३) गांधी के गरम दलके लोग।

सन् १९१७ के मार्च तथा नवम्बर की संसारप्रसिद्ध रूसी राज्यक्रान्ति तक रूस देश भारतके सदृश ही तीन दलों में बटा था जो कि इस प्रकार हैं:—

(१) नरम दल के लोग—मन्शेविक दल, (२) समाज-सुधारक लोग—राइट सोशियल रैवोल्यूशनरी दल, और (३) गरम दल के लोग—बालशेविक दल।

रूसी राज्य-क्रान्ति के समय तक तीनों दलों में पारस्परिक भेद था। मुख्य तौर पर निम्न लिखित तीन समस्याएँ थीं जिन पर प्रत्येक दल अपने अपने ढँग पर ही सोचता था।

(क) भूमि की समस्या।
(ख) महायुद्ध की समस्या।
(ग) रूस के संगठन की समस्या।

(क) भूमि की समस्या।

भूमि के मामले में बोलशेविक लोग किसानों के पक्ष में थे। उनका मत था कि जो ज़मीनों को जोते-बोये ज़मीन उसीकी होनी चाहिए। ता-

तुल्केदारों की संख्या से ही वे पाप तथा अत्याचार का परिणाम समझते थे। उनका ख्याल था कि पुराने ज़माने की लूटमार तथा बेईमानी से ही ये लोग उत्पन्न हुए हैं। इनकी ज़मीनें छीन कर किसानों में बाँट देनी चाहिए और उसके बदले में उनको एक कानी कौड़ी भी न मिलनी चाहिए।

मन्शेविक तथा राइट सोशियल रिवोल्यूशनरी दल के लोग दुनियादार थे। जबतक उनको किसानों से अपना काम निकालना था तब तक उन्होंने बोल्शेविक लोगों के साथ हाँ में हाँ मिलाई। जिस प्रकार भारतवर्ष में महाशय चिन्तामणि, तेजबहादुर सप्रू, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी आदि राजनैतिक क्षेत्र में तभी तक बने रहे जब तक कि वे डायरशाही से कुछ भी प्राप्त न कर सके। ज्योंही गांधी तथा जातीय दल के लोगों से परेशान होकर डायरशाही ने इनकी ओर प्रेम का हाथ बढ़ाया, ये लोग उसकी छाती से जा लिपटे। इसी प्रकार रूस में मन्शेविक तथा सोशियल रिवोल्यूशनरी दल ने किसानों, मेहनती मज़दूरों तथा रूसी प्रजा को ठीक समय पर धोखा दिया। ये लोग रूसी तालुकेदारों, कारख़ानदारों तथा डायरशाही के अनन्य भक्तों के साथ मिलकर रूसी प्रजा को सताने लगे। जिस प्रकार रायबरेली के हत्याकाण्ड पर महाशय चिन्तामणि तथा उनके दल के सांसारिक लोग बेचारे किसानों तथा मेहनती मज़दूरों के कष्टों को स्वार्थ से प्रेरित होकर भुला बैठे, उसी प्रकार मन्शेविक तथा सोशियल रिवोल्यूशनरी दल के लोगों ने टाम्बान् के हत्याकाण्ड पर चुप्पी साध ली।

रूस में राज्य-क्रान्ति होते ही मन्शेविकों तथा राइट सोशियल रिवोल्यूशनरी दल के लोग आगे बढ़ आए। इनको भी महाशय चिन्तामणि की तरह अपने विवेक तथा विज्ञान पर बहुतही अधिक भरोसा था। इन्होंने रूसी किसानों के साथ चालबाज़ियाँ करनी शुरू कीं। इन्होंने उनको दिलासा दिया कि प्रतिनिधि सभा की बैठक होतेही तालुकेदारों से ज़मीनें छीनकर तुमको दी जायँगी। महीनों गुज़र गये, परन्तु किसानों को अपनी अपनी ज़मीनें न मिलीं, लाचार होकर उन्होंने लैनिन को ही अपना एकमात्र रक्षक समझा।

राज्यक्रांति होते ही करन्स्की ने ज़ार के शासन की बागडोर अपने हाथों में ले ली। वह किसानों तथा मेहनती मज़दूरों को पकड़ने के लिए प्रत्येक प्रकार का साधन काम में लाने लगा। उसने जातीय संस्थाओं तथा जातीय अख़बारों को बन्द कर दिया। मित्र-राष्ट्रों के पूँजीपतियों को ख़ुश करने के लिए उसने जर्मनी के साथ लड़ाई बन्द न की, धीरे धीरे लोगों को बोलने और लिखने की स्वतन्त्रता से भी वञ्चित किया और जेलों में स्वतन्त्र विचार रखने वाले किसानों तथा कार्यकर्त्ताओं को ठूँस दिया।

परन्तु इस ढँग का डायरशाही राज्य देर तक नहीं चल सकता था। लोगों को यह अच्छी तरह से मालूम हो गया कि मन्शेविक तथा राइट सोशियल रिवोल्यूशनरी दल उनको गुलामी में जकड़ने तथा लूटने के लिए ही कोशिशें कर रहे हैं। लाचार होकर लोग दूसरी राज्य-क्रान्ति के लिए तैयार हो गये।

बोल्शेविक लोग ईमानदार थे, लेनिन सचमुच महात्मा था। फ़र्वरी तथा मार्च की राज्यक्रान्ति के समय में ही उसने अपने विचार प्रकट कर दिये थे। उसने किसानों से कह दिया था कि तुम बिना विलम्ब किये अपनी अपनी ज़मीनों पर से तालुकेदारों को निकाल दो और गाँवों में अपना पंचायती राज्य स्थापित कर लो। साथ ही खेती के काम को न छोड़ो, क्योंकि तुम्हारे भाई-बन्धु जर्मनों के साथ लड़ाई लड़ने गए हुए हैं। उनको खाने के लिए अनाज पहुंचाते रहना चाहिए।

लैनिन का विचार था कि गाँवों का पंचायती राज्य तभीतक चल सकता है जब कि शहरों में भी पंचायती राज्य कायम हो जाय

क्योंकि शहरों में पहुंचकर पूंजीपति तथा ताल्लुके-दार लोग गाँवों के विरुद्ध तैयारियाँ करेंगे और किसानों का गला घोंटने का इरादा करेंगे। शहरों तथा गाँवों को कहाँ तक जुदा किया जा सकता है। बिना रुपये पैसे के खेती के औज़ार, खाद तथा बीज नहीं खरीदे जा सकते हैं। ये चीज़ें शहरों में ही मिलती हैं। यदि शहरों पर ताल्लुके-दारों तथा पूंजी-पतियों का प्रभुत्व पूर्ववत् बना रहा तो किसानों को गुलामी से छुटकारा न मिलेगा। बिचारे किसान भिख-मंगे हो जायँगे और ज़मीनों पर अपना कब्ज़ा करके भी देर तक सुख न भोग सकेंगे।

शहरों में मेहनती मजदूर ही हैं जोकि किसानों का पूरी तौर पर साथ देंगे। सेठ साहू-कार तथा बनिये तो शुरू में सहानुभूति दिखाकर के किसानों को अन्त में दगा दे जाँयगे। यही सोच-कर महात्मा लैनिन ने मेहनती मज़दूरों से कहा कि जिन जिन स्थानों में तुम काम कर रहे हो उन स्थानों पर अपना कब्ज़ा करलो। यह कहने की देर थी कि सभी शहरों में बैंक, रेल, बिजली-घर, कारख़ाने आदि आफ़िस के बाबुओं, मेहनती मज़दूरों तथा चपरासियों के हाथ में आ गये। पंचायतों के द्वारा ही उन लोगों ने इन चीज़ों का प्रबन्ध करना शुरू किया। रेलों का प्रबन्ध रेल के बाबुओं तथा कुलियों की पंचायत के हाथ में चला गया। स्कूल तथा कालिज में अध्यापक तथा चपरासियों का स्वराज्य स्थापित हो गया। कारखानों में मैनेजर, इंजीनियर तथा मेहनती मज़दूरों की पंचायत की डुगडुगी बजने लगी। एजन्ट, क्लार्क तथा चपरासी बैंकों के मालिक बन बैठे, चुटकी ही में लैनिन ने सारे रूस में बड़े बड़े उत्पादक कार्यों पर बाबुओं, क्लार्कों तथा मेहनती मज़दूरों का पंचायती राज्य स्थापित कर दिया। जो लोग ज़ार के ज़माने में लातें तथा घूंसे खाते थे और तनख़्वाह बढ़ाने के लिए चापलूसियाँ करते थे आज वही बड़ी बड़ी संस्थाओं तथा व्यापारीय कोठियों के मालिक हो गये। यही कारण है कि लैनिन की द्वितीय राज्यक्रान्ति के बाद सारे रूस में छोटी छोटी पंचायतों का जाल स्थान स्थान पर बिछ गया और साम्यवाद का श्रीगणेश हो गया। महात्मा लैनिन ने इससे आगे तबतक बढ़ना उचित न समझा जबतक कि सारे संसार में यही दशा न हो जाय। उसने एक स्थान पर ठीक कहा है "कि हमने रूस में साम्यवाद का श्रीगणेश कर दिया और पूंजी-वाद तथा साम्राज्यवाद की जड़ों को ही काट दिया है। इतना ही नहीं, हमने नये ढंग के समाज-संगठन के बीजों को भी बो दिया है। परन्तु जब तक सारे संसार के मेहनती मजदूरों तथा किसानों की सहायता न हो तब तक साम्यवाद का बरगद अपनी शाखाओं के नीचे, पूंजीपतियों तथा ताल्लुकेदारों की अत्याचार तथा स्वेच्छाचार में पगी ज़ारशाही की कड़ी गरमी से तपे हुए सारे संसार के लोगों को पूरे तौर पर छाया नहीं दे सकता है। परन्तु हम कमर कसकर तैयार हैं और शीघ्र ही हम अपने उद्देश्य में सफलता प्राप्त कर सकेंगे। समय आयगा जब संसार भर के मेहनती मज़दूर, बाबू तथा किसान लोग गुलामी से छुटकारा पाकर हमारी राज्य-क्रान्ति को सफल करेंगे"।

मनोवैज्ञानिक तथा आर्थिक सोशियल विश्लेषण-वादी लोगों ने रूसी जनता को पूरे तौर पर धोखा दिया। प्रतिनिधि सभा के चुनाव में अपने सभ्यों की संख्या को अधिक करना चाहते थे रूसी किसानों, दफ्तर के बाबुओं तथा मेहनती मज़दूरों के दिलों को सर्वथा ही भुला दिया। लैनिन के कहने पर जहाँ जहाँ पंचायतें कायम हो गयी थीं, उनको करन्सकी के राज्य ने तोड़ने का यत्न किया परन्तु पूरे तौर पर सफल न हुआ।

(ख) रूस के संगठन की समस्या।

रूस तथा भारतवर्ष दोनों ही एक ही सी परिस्थिति में हैं। एक में ज़ारशाही का राज्य था तो दूसरे में ज़ारशाही का राज्य है। दोनों ही देशों में किसानों, दफ्तर के बाबुओं तथा मेहनती मज़दूरों की हालत दुःख-जनक थी। बोल्शेविक लोगों की कृपा से रूसी प्रजा के दुःख दूर हो गये।

परन्तु भारतवर्ष अभी तक ज्यों का त्यों डायरशाही तथा शैरिफशाही का शिकार होरहा है। समय का फेर था कि रूस के किसान, दफ़्तरों के बाबूलोग तथा मेहनती मजदूर ताल्लुकेदारों तथा पूँजीपतियों के खून के प्यासे हो गए। वे उस मौक़े को ढूंढ रहे थे जब कि डायरशाही के भूखों का भूतपन उतारा जा सके। इस बात पर तो रूस में सभी दल सहमत थे कि स्वराज्य प्राप्त करना चाहिए, परन्तु स्वराज्य भी किसी एक किस्म का नहीं है। उसमें भी तो अनेकों भेद हैं। स्वराज्य का तात्पर्य किसके राज्य से है? उसका मतलब प्रत्येक के दल अपने अपने स्वार्थों के अनकूल ही लगाता था। प्रथम राज्यक्रान्ति होने पर भी बहुतसे ताल्लुकेदार तथा सेठसाहूकार स्वार्थवश जार के राज्य को फिर से लाने के लिए तैयार थे। जो इस षड़यन्त्र में नहीं भी सम्मिलित थे वे भी सेना, पुलिस, कचहरियां, पुलिस, जातीय ऋण तथा युद्ध आदि करने के अनन्य भक्त थे। वह रूस को भी अमीरों का डायरशाही राज्य बनाना चाहते थे और दूसरी जातियों पर गुलामी तथा दरिद्रता का फन्दा फेंकना चाहते थे।

परन्तु महात्मा लेनिन का बोलशेविक दल अमीरों के राज्य का विरोधी था और दफ़्तरों के बाबुओं किसानों तथा मेहनती मजदूरों और पंचायती राज्य का ही पक्षपाती था। उसको जाति-पांति तथा गोरे-काले का भेद पसन्द न था। वह अफ्रीका, भारत तथा यूरुप के मनुष्यों का एक सदृश ही अधिकार समझता था। उसका यह आत्मविश्वास न था कि अंग्रेज़ लोग स्वभावतः ऊँचे हैं और भारत-वासी स्वभावतः नीचे हैं। पहिला शासक तथा दूसरा गुलाम किन्हीं स्वाभाविक अटल नियमों के कारण हैं। स्वाभाविक ही है कि किसान मेहनती मजदूर, आफिस के बाबू लोग, चपरासी, कुली, एजण्ट, इन्जीनियर तथा आम सब लोग जो कि तनख्वाह ले करके नौकरी पेशा करते हैं—लैनिन के बोलशेविक दल का दिल से साथ देते थे, क्योंकि इन्हीं लोगों की सब देशों में बहुसंख्या है रूस भी इन्हीं लोगों से भरपूर थे। लैनिन इन्हीं लोगों की पंचायतों के हाथों में शासन, क़ानून तथा फैसले की शक्ति को देना चाहता था। उन पंचायतों के स्थापित होते ही पुलिस तथा फ़ौज का रखना फजूल था और सारा देश एक बड़े भारी आर्थिक भार से बच जाता: परन्तु मन्शेवी तथा राइट सोशियल रिवोल्यूशनरी दल के लोग अंग्रेजों तथा फरासीसियों के ढँग की ही शासन-प्रणाली पसन्द करते थे। बाबू, किसानों तथा मेहनती मज़दूरों के सर पर एक ज़ार के स्थान पर हजारों ज़ारों का बैठाना ही उनको मन्जूर था। महायुद्ध के जारी रखने के भी वह पक्ष में थे।

(ग)महायुद्ध की समस्या।

महात्मा लैनिन तथा उसके अनन्य भक्त बोलशेविक लोगों का यह दृढ़ विश्वास था कि अंग्रेज़ तथा फ़रासीसी जर्मनी के साथ स्वतंत्रता, समानता तथा भ्रातृ-भाव के उद्देश्य से नहीं लड रहे हैं। जर्मनी, फ्रांस, इंग्लैंड तथा आस्ट्रियाहँग्री के पूँजीपति तथा ताल्लुकेदार स्वतंत्र देशों को गुलाम बनाने तथा अपने अपने साम्राज्य बढाने के खातिर ही खूनी लडाई में पड़े हैं। इन देशों के कारखानदारों का यह मुख्य उद्देश्य है कि लडाई खूब देर तक जारी रहे और मँहगी भयंकर रूप धारण करे जिससे उनको अधिक से अधिक लाभ कमाने का मौका मिले और लड़ाई ख़तम होने पर अपने अपने कारखानों का अधिक माल बेचने के लिए नये देशों पर प्रभुत्व प्राप्त हो जाय। सारांश यह है कि योरोपीय राष्ट्रों के पूँजीपति चिरकाल से लड़ाई की प्रतीक्षा कर रहे थे। यह भी इसीलिए कि लड़ाई की मँहगी से वे धन कमा सकें और विजय के द्वारा गुलाम बनाये देशों पर अपना बना माल फेंक सकें।

यही कारण है कि महात्मा लैनिन ने साफ साफ दफ़्तर के बाबुओं, अध्यापकों, किसानों तथा मेहनती मज़दूरों को कह दिया कि "इस युद्ध में पड़ने से तुमको नुकसान के सिवा तनिकसा भी लाभ नहीं है। यदि तुमने ग़लती करके युद्ध में भाग लिया तो तुम्हारा सत्यानाश हो जायगा और गुलामी से तुम्हारा छुटकारा पाना सदियों का

किस्सा बन जायगा। जो लोग लड़ाई लड़ रहे हैं वे तुम्हारे जानी दुश्मन हैं। तुमको लड़ाई में फँसाकर अपना मतलब सिद्ध करना चाहते हैं।"
महात्मा लेनिन ने लड़ाई के विरुद्ध सारे संसार के मेहनती मजदूरों, दफ़्तर के बाबुओं तथा तनख्वाह लेकर काम करने वाले सब लोगों को एक मत करना चाहा और पूँजीपति-तन्त्रराज्य के चक्रमों से उनको बचाना चाहा; परन्तु उनको सफलता न मिली।

अन्य देशों के मेहनती मज़दूरों की बात तो दूर रही। करन्स्की ने रूस के किसानों तथा मेहनती मज़दूरों को भी युद्ध में झोंक दिया।

इस पर महात्मा लेनिन तथा उसके दल ने करन्स्की पर जोर दिया कि उन सब गुप्तसन्धियों को छाप दो जिससे मित्रराज्यों की कलई खुल जाय और संसार भर के साधारण लोगों को यह पता लग जाय कि इन लोगों का खूनी लड़ाई में पड़ने का क्या उद्देश्य है? इन गुप्त सन्धियों के देखने से मालूम पड़ा है कि ज़ार लड़ाई में इसलिए सम्मिलित हुआ था कि कान्स्टैन्टिनोपल, आर्मीनिया तथा गलैसिया सदा के लिये उसको मिल जाय। फ्रान्स तथा इंग्लैण्ड के भी ऐसे ही क्रूर उद्देश्य थे।

इन सब बातों का ज्ञान होते हुए भी मन्शेविक तथा राइट सोशियल रिवोल्यूशनरी लोग लड़ाई से हाथ खींचने के लिए तैयार न थे और गुप्त-सन्धियों तथा गुप्त चिट्ठियों को भी छपाना नहीं चाहते थे।

यदि मित्रराष्ट्र ऐसे मौक़े पर गलतियाँ न करते तो रूस दूसरा रूप धारण करता। राज्यक्रांति होने के चिह्न जब रूस के वायुमंडल में विद्यमान थे तभी लार्ड मिलनर ज़ार के यहाँ अतिथि बन कर गये। वहाँ पर उन्होंने जो भूलें की उसका किस्सा बहुतही मनोरंजक है और उसके बाद मित्रराष्ट्रों ने रूस में भूलों का जो नाटक खेला और साथ ही अपने आप भी जिस प्रकार, भूल-भुलइयों में घूमे वह तो और भी अधिक हास्य-जनक है। पाठकों के मनोविनोदार्थ अब वही बात आगे लिखी जायगी।

तिरस्कार।

(लेखक—पं० रामचरित उपाध्याय)

(१)

अरे अदय, भाईचारे का
तुममें कुछ भी नाम नहीं,
सत्य बोलना, कपट न करना,
दुष्ट! तुम्हारा काम नहीं।
निबल जनों को तुमसे वनचर!
कभी मिला आराम नहीं,
पर-उत्पीड़न का क्या तुमको
कभी मिला परिणाम नहीं?
दानों बिना मरो चाहे तुम, चाहे धन-भरपूर रहो।
हमसे तुमसे क्या नाता है? दूर रहो, बस दूर रहो॥

(२)

पर का रक्त चूस कर पर घर
चैन उड़ाना आता है,
सरल जनों को दम दे तुमको
खूब लड़ाना आता है।
कृत्रिम सभ्य! भव्य बँगलों में
तुमको रहना भाता है,
किन्तु दीन-दल खँडहर में भी
स्वस्थ न रहने पाता है॥
चाहे सज्जन बने रहो तुम, चाहे बन कर क्रूर रहो।
हमसे तुमसे क्या नाता है? दूर रहो, बस दूर रहो॥

(३)

चरण-दास भी होकर मन में
तुम चाहे सरताज बनो,
दानव-पति भी होकर मन में
चाहे मानव-राज बनो।

बर्बर हो तुम नर-वर जग में
अरे निलज ! मत आज बनो,
मत बे-काज दाँव करने को
बगले होकर बाज बनो ॥
चाहे हो मद-हीन रहो तुम, चाहे भरे ग़रूर रहो ।
हमसे तुमसे क्या नाता है ? दूर रहो, बस दूर रहो ॥

(४)

फाँका करके इधर उधर हम
धूल फाँकते फिरते हैं,
धन, बल, धर्म, कर्म से नीचे
नीच ! सदा हम गिरते हैं ।
बल से या छल से फिर भी तुम
हमें मिलाये रहते हो,
बाधक होकर बन्धु हमें क्यों
कैसे किस मुख कहते हो ?
क्योंहम दीनदुखी हों क्योंतुम विविधमदोंसे चूररहो ?
हमसे तुमसे क्या नाता है ? दूर रहो, बस दूर रहो ॥

(५)

उत्पीड़क तुम वीर बने हो,
बने रहो, हम दीन सही,
तुम निन्द्राब्धि-नक्र बन बैठे
हम बन बैठे मीन सही ।
तारे रवि से, मृग केहरि से
क्या मिल जुल कर रहते हैं ?
उन अधमों से मिलें कभी क्यों
हमें अधम जो कहते हैं ॥
नारल के फल हो कर मन में चाहे बने अँगूर रहो ।
हमसे तुम से क्या नाता है ? दूर रहो, बस दूर रहो ॥

(६)

चाहे असुरराज सुरपति के
सिंहासन पर बैठ रहे,
पराधीन हो चाहे सुरगण
विविध भाँति के दुःख सहे ।
किन्तु सुरों से क्या असुरों का
काम कभी हो सकता है ?
भू पर पड़ा कनक क्या अपनी
कान्ति कभी खो सकता है ?
आँख निहत्थों को दिखला कर बरबस बनते शूर रहो ।
हमसे तुमसे क्या नाता है ? दूर रहो, बस दूर रहो ?

(७)

आशा-जनक तुम्हारी बातें
सुनते सुनते ऊब गये,
खूब गये तुम अन्धन्तम में
अयश-जलधि में डूब गये ।
आत्म-ज्ञान हुआ अब हमको
कभी न दम में आवेंगे,
तुम्हें न भावेंगे तो क्या ? पर
निज अभीष्ट को पावेंगे ॥
गृध्र बनो मरघट के चाहे वनके बने मयूर रहो ।
हमसे तुमसे क्या नाता है ? दूर रहो, बस दूर रहो ॥

(८)

चाहे हमें गालियाँ दो तुम
चाहे मीठे बोलो बोल,
चित्त तुम्हारा स्वस्थ रहे या
व्यथा-सहित हो डाँवाडोल ।
बने रहो अनुकूल हमारे
या भींखो होकर प्रतिकूल,
यदि आँखों में धूल पड़ी है
तो समझो निज उर का शूल ॥
बन करके मजदूर रहो तुम चाहे बने हुजूर रहो ।
हमसे तुमसे क्या नाता है ? दूर रहो, बस दूर रहो ॥

व्यक्तिगत मत-स्वातंत्र्य।

(लेखक—राय साहब पं० रघुवरप्रसाद द्विवेदी, बी. ए.)

जिन जिन देशों में सार्वजनिक तंत्र ने उन्नति की है, अर्थात् जहाँ के शासन-कार्य में वहाँ के प्रत्येक वयस्क निवासी (स्त्री और पुरुष) का वोट (मत) द्वारा अधिकार है उनमें अपने मत के प्रकट करने की स्वतंत्रता का मूल्य बहुत बड़ा समझा जाता है। ऐसे देशों में जैसी स्वतंत्रता समाचार-पत्रों को है वैसी ही प्रत्येक व्यक्ति को है कि वह सभा-मंच पर खड़ा होकर अपना मत प्रकट कर सके। जनता का मानसिक कल्याण इसी स्वतंत्रता पर अवलम्बित है। यह कहना न होगा कि मनुष्य के और सब प्रकार के कल्याण की जड़ मानसिक कल्याण है। प्रत्येक मनुष्य को अपना अपना मत प्रकट करने की स्वतंत्रता इसलिए रहनी चाहिए कि—

(१) संसार में कोई ऐसा मनुष्य नहीं है जो कह सके कि मेरा मत बिलकुल सत्य है; मैं कभी भ्रम में पड़ ही नहीं सकता; क्योंकि मनुष्य अल्पज्ञ है और उसका मन राग-द्वेष की कठपुतली है। राग-द्वेष का रंगीन चश्मा लगा रहने से उसके मानसिक नेत्र प्रत्येक बात को उसी रंग से रञ्जित देखते हैं। यदि किसी व्यक्ति-विशेष के साथ हमारा द्वेष है तो उसकी सभी बातें हमें बुरी जँचती हैं और राग होने से अच्छी। मनुष्य का स्वभाव ऐसा होने से उसे कभी कभी सत्य दीखता ही नहीं; अतएव उसे उचित है कि वह अपने से विरुद्ध मत को ध्यानपूर्वक सुने और तद्नुसार सत्यासत्य का विवेचन करे।

(२) माना कि विरुद्ध मत में बहुत कुछ असत्यता है, तौभी उसके प्रकट करने में बाधा न डालनी चाहिए। ऐसा कोई मत नहीं होता जिसमें कुछ सत्य और कुछ असत्य न रहता हो। विरुद्ध मत प्रकट किये जाने पर हम अपने मत की थोड़ी सी असत्यता का मार्जन कर सकते हैं जो उसे बिलकुल रोक देने से संभव नहीं है। बहुधा देखा गया है कि जो मत बहुतेरों का या सारे देश का हुआ करता है उसमें भी कुछ न कुछ असत्यता रहा करती है और जब इस बहुमत के साथ विरुद्ध मत का रगड़ा लगता है तभी उसका छिपा हुआ असत्यांश दिखाई देने लगता है, अन्यथा नहीं।

(३) मान भी लिया जाय कि हमारे मत में असत्य छू नहीं गया, वह १६ आने सत्य है; पर जबतक उसके विरुद्ध कोई दूसरा मत, चाहे वह बिलकुल असत्य क्यों न हो, प्रकट न किया जाय और दोनों मतों का संघर्षण न हो तबतक उसके माननेवालों का विश्वास इतना दृढ़ नहीं होता जितना विवाद होने के बाद उसके सत्य ठहरने पर होता है।

(४) समय पाकर सच्चे से सच्चे सिद्धान्तों में भी वाद-विवाद-रूपी संघर्षण न होने से असत्य का थोड़ा-बहुत मोर्चा लगही जाता है और लोग उसका अर्थ कुछ का कुछ समझने लगते हैं अथवा बिलकुल ही नहीं समझते, उसे भूल से जाते हैं। धार्मिक सिद्धान्तों में तो यह उलट-फेर यहाँ तक हुआ है कि इसी कारण एक एक मत के कई सम्प्रदाय हो गये हैं। हमारे यहाँ के वेदान्त मत को ही लीजिए। उन्हीं सूत्रों को लेकर द्वैत, अद्वैत और विशिष्टाद्वैत नामक ३ प्रकार के मत हो गये हैं। किसी एक मत को

सत्य स्वीकार कर लेने और उसपर वाद-विवाद न होने देने से धीरे धीरे हमारा विश्वास कम हो जाता है।

कुछ समय से इस देश में हम लोगों में बहुत संकीर्णता आती जाती हैं। आगे धार्मिक सिद्धान्तों पर लोग मनमानी बहस किया करते थे; पर अब किसी धार्मिक सिद्धान्त या विश्वास पर समालोचना करने से धर्म पर आक्रमण करने का अपराध लगाया जाता है और कभी २ तो बात न्यायालय तक पहुँचती है। इसी तरह राजनैतिक नेताओं के कार्यों की समालोचना से भी लोग चिढ़ने लगे हैं। यदि किसी विरोधी समाचार-पत्र ने जिस के साथ हमारा मत-भेद है हमारे किसी सर्व-प्रिय नेता के चरित्र की समालोचना की तो हम उसका बहिष्कार करने को तैय्यार हो जाते हैं। यदि उस समाचारपत्र ने द्वेष के वशीभूत होकर हमारे नेता को झूठा कलंक लगाया है तो हमारा कर्तव्य है कि लेखों-द्वारा अथवा प्रस्ताव पास करके हम उसकी नीचता प्रकट करदें; पर ऐसा कुछ कार्य न करें जिस से हमारे नेताओं के सार्वजनिक कार्यों की समालोचना करने से लोग डरने लगें। यदि ऐसा हुआ तो हमारे नेता निरंकुश हो जायँगे और अल्पज्ञ मनुष्य होने से उनमें भी कई दोष आजाँयगे। अपने सच्चे नेताओं में हमारा विश्वास एवं श्रद्धा होना तो एक आवश्यक बात है; पर उसकी मात्रा इतनी न बढ़ा दी जाय कि हम उन्हें मनुष्य-योनि से बढ़ कर किसी दूसरी योनि का समझने लगें। जिस प्रकार ऋषियों ने व्याकरण की जो भूलें की हैं उन्हें हम भूल न कहकर आर्ष प्रयोग कहने लगे हैं उसी प्रकार यदि हम अपने राजनैतिक नेताओं को देवता मान लेंगे तो उनकी राजनैतिक भूलों की ठीक समालोचना न कर सकेंगे जिससे देश को बड़ी हानि पहुँचेगी।

जिस तरह हम अपने दल के नेताओं को सर्व्वज्ञ मान बैठते हैं उसी तरह हम विरुद्ध दल के नेताओं को बिलकुल चरित्र-हीन कह देने में थोड़ा भी संकोच नहीं करते जिससे मालूम होता है कि हममें वह उदारता जिसे अंग्रेज़ी में "पार्लिमेंटरी स्पिरिट" कहते हैं अभी नहीं आई। जब हमने अपने विरोधी को चरित्रहीन ही मान लिया तो हम उसके कथन की सत्यता को कैसे देख सकेंगे? फिर यदि हम पक्षपात के वशीभूत होकर हमने उसे सभा-पंच पर पैर रखते ही धिक्कारना आरंभ कर दिया और उसे अपने विचार प्रकट न करने दिया, तो फिर विचार प्रकट करने की स्वतन्त्रता कहाँ रही? एकही कार्य्य कई तरह की नियत से किया जा सकता है। यदि हम किसी शक्तिशाली पुरुष के किसी कार्य्य की प्रशंसा करें तो उसके कम से कम दो कारण हो सकते हैं, या तो हम उसे सन्तुष्ट करने के निमित्त ऐसा करते हैं जिससे वह प्रसन्न होकर हमारा कुछ उपकार करे या निस्पृह दृष्टि से उस कार्य्य को केवल अच्छा समझ कर। हमें उचित है कि हम दूसरों के कार्य्य को उदार दृष्टि से देखें। अंग्रेज़ी में इसीको (Charitable view) कहते हैं जो सज्जनता का एक प्रधान लक्षण माना गया है।

प्रभु यीशु मसीह ने कहा है कि "दूसरों का न्याय करने का साहस मत करो।" इसका क्या अर्थ है? हमारी समझ में तो इसका यही मतलब है जो हम ऊपर लिख चुके हैं। जबतक हम सर्वज्ञ न हो जायँ, जबतक हममें राग-द्वेष प्रबल है, जबतक हमसे भूल हो जाना एक

साधारण बात है। ऐसी दशा में बिना प्रमाण मिले हम दूसरों के कार्य्यों के विषय में यह नहीं कह सकते कि उन्होंने वे कार्य्य किस नियत से किये हैं। यदि यह कहा जाय कि अमुक व्यक्ति के विषय में पहले कभी प्रमाण मिल चुका है कि उसने उस समय जो कार्य्य किया था वह निरी स्वार्थ-बुद्धि से किया था; अतएव उसके पिछले सब कार्य्य भी उसी नियत से किये हुए क्यों न माने जायँ तो हमारा उत्तर यह है कि उसके उस कार्य्य के स्वार्थ-पूर्ण प्रमाणित हो जाने से उसके पिछले कार्य्यों के विषय में सन्देह होना स्वाभाविक है, पर निरा सन्देह प्रमाण नहीं है। जिस मनुष्य पर दस बार चोरी करने का अपराध प्रमाणित हो चुका है तो क्या कहीं चोरी होने पर बिना प्रमाण मिले मान लेना चाहिए कि इसीने यह चोरी की है?

हम इस सिद्धान्त के पक्ष-पाती हैं कि राजनैतिक क्षेत्र में प्रत्येक दल के लोगों को अपने २ विचार प्रकट करने की पूर्ण स्वतंत्रता रहनी चाहिए। यदि हमें विरोधी दल के विचार अप्रिय हैं और असत्य जँचते हैं तो हमें पूर्ण अधिकार है कि हम उन्हें प्रकट करें। पर यह अधिकार नहीं है कि हम अप्रिय विचारों को प्रकट न होने देवें। यदि हम ऐसा करते हैं तो समझना चाहिए कि हम सार्वजानिक तंत्र का श्रीगणेश भी नहीं जानते और यदि ऐसी दशा में हमें राजनैतिक अधिकार मिले तो हम उनका दुरुपयोग करेंगे, अर्थात् खासे अत्याचारी बन बैठेंगे। इसलिए यह हमारा कर्तव्य है कि हम अपने विरोधी दल के मत को निष्पक्ष होकर सुनें, उसपर पूर्ण ध्यान दें और उसमें जो सत्यता का अंश हो या जो हमारे मत में न हो उसे हम सहर्ष स्वीकार कर लेवें; क्योंकि सार्वजनिक बातों में हमें पक्षपात बिलकुल त्याग देना चाहिए।

मन की बात।

(लेखक—श्रीयुत गोविन्दवल्लभ पन्त)

(१)

ऊषा ने निज कर-स्पर्श से हे सखि! मुझे जगाया था,
ओस-बिन्दु ने अलसित आँखोंधो मालिन्य बहाया था।
रक्त राग ने युगल करों में मिहँदी-चक्र रचाया था,
सुखद सुरभि ने केश ग्रथितकर शोभामयी बनाया था।
प्रिय पराग ने मेरे माथे में सिन्दूर लगाया था,
मलय-पवन ने चुम्बन कर मेरा संकोच भगाया था।
संचित कर अपने अंचल में लघु जीवननिधि मधु, उपहार,
गई हृदय-धनसे मिलने को इस प्रकार करके शृंगार।

(२)

बीत गईं कितनी घड़ियाँ मैं हाय प्रतीक्षा-श्रान्त हुई,
कर की अञ्जलि मुरझाती लख अतिशय चिन्ता-क्लान्त हुई।
सहसा अनिल-तरंगों ने झंकारित हो मोहन-गाना,
मुझे सुनाया; तत्क्षण मैंने प्यारे का आना जाना।
गीत-सुधा की वर्षा में प्रियतम ने मुझे सनाथ किया,
ज्योंही अञ्जलि अर्पित करने मैंने ऊपर हाथ किया।
त्योंही इस रिपुरूपी रवि का अस्ताचल में हुआ निपात,
हाय! रह गई मनकी मन ही में सखि! मेरे मन की बात।

अकबर के कलाम ।

(लेखक—पंडित रामनरेश त्रिपाठी)

अकबर उर्दू ज़बान की नई जान हैं। हाली के इस बयान को कि "शायरी मर गई, ज़िन्दा न अब होगी यारो," अकबर ने ग़लत कर दिया। अकबर के शेर सुनकर दिल उछल पड़ता है। तबीअत मस्त हो जाती है। ख़यालात खिंचकर एक केन्द्र पर आ जाते हैं, ईश्वर ने अकबर के कलाम में वह ताक़त दी है कि वे बड़ी से बड़ी बात को भी बड़ी ख़ूबसूरती के साथ, बड़ी जल्दी, थोड़े शब्दों में ही, आसानी से कह देते हैं। उनके एक एक शेर तरकस से निकलकर सुनने वालों के दिल में तीर की तरह घुस जाते हैं।

अकबर इलाहाबाद की शान हैं। "इलाहाबाद में क्या है वजुज़ अकबर के औ अमरूद के"। आज हम "श्रीशारदा" के पाठकों का अकबर से परिचय कराते हैं।

अकबर का पूरा नाम है—ख़ान बहादुर मौलवी सैयद अकबर हुसेन साहब। आप इलाहाबाद के रईस हैं। १८४५ में आपका जन्म बारा (ज़ि० इलाहाबाद) में हुआ। देसी मकतबों और सरकारी मदरसों में शिक्षा पाकर आपने सन् १८६७ में वकालत की परीक्षा पास की। पहले पहल आप १८६९ में नायब तहसीलदार नियुक्त हुए। एक वर्ष के बाद हाईकोर्ट के मिसलख़्वाँ हुए। १८७३ में आपने हाइकोर्ट की वकालत पास की। कुछ वर्षों के अंदर ही आप मुंसिफ़ हो गये। अँग्रेज़ी आपने प्रायवेट तौर पर सीखी। आप अपनी क़ानूनी योग्यता के बलपर तरक़्क़ी करते करते डिस्ट्रिक्ट सेशन्स जज के पद पर पहुँचे। हाईकोर्ट की जजी के लिए भी आपका नाम लिया जाता था; लेकिन सन् १९०३ में आपने जजी अदालत ख़फ़ीफ़ा के ओहदे से पेंशन ले ली। सन् १८९८ में आप ख़ानबहादुर हुए। आज कल आप इलाहाबाद में शायराना ज़िन्दगी बिता रहे हैं।

बचपन से ही आप बड़े ज़हीन हैं। कविता का शौक़ भी आपको बचपन से ही है। सन् १८६५ में आपकी नौजवानी की कविताएँ भी असाधारण हैं। आप अरबी और फ़ारसी पर भी काफ़ी दख़ल रखते हैं और अंग्रेज़ी भी अच्छी जानते हैं; इससे आपकी कविता में पश्चिमी और पूर्वी सभ्यता का मिलान बड़े अनूठे ढँग पर देखने में आता है। आप अदब क़ायदे के बड़े पक्षपाती हैं। अंग्रेज़ी सभ्यता के संसर्ग से हिंदुस्तानियों में, ख़ासकर नौजवानों में जो उच्छृंखलता समाती जाती है, उससे आपको बड़ी चिढ़ है। आपकी कविता में पश्चिमी सभ्यता की ख़ासी दिल्लगी झलकती है। आपका कलाम मज़ाक़ से भरा हुआ होता है। बयान बहुत साफ़ और ख़ुशनुमा होता है। पोलिटिकल और सोशियल विषयों में आपकी राय ध्यान देने योग्य होती है। आपने उर्दू कविता में एक नई जान डाल दी है। दिल और बिसमिल की कहानियों को आपने नया जामा पहना दिया है। इश्क़ और आह को आपने नई दुनियाँ में लाकर बैठा दिया है। मैं आपको उर्दू का महाकवि समझता हूँ। आपकी कविताओं का संग्रह दो भागों में "कुल्लियात अकबर इलाहाबादी" के नाम से प्रकाशित हुआ है। उसीमें से चुनकर कुछ शेर यहाँ दिये जाते हैं—

गुरूर उन्हें है तो मुझको भी नाज़ है अकबर ।
सिवा खुदा के सब उनका है औ खुदा मेरा ॥

न किताबों से न कालिज के है दर से पैदा ।
दीन होता है बुजुर्गों की नज़र से पैदा ॥
जो ख़िरदमंद है वह खूब समझते हैं यह बात ।
ख़ैरख़्वाही वह नहीं है जो हो डर से पैदा ॥

नफ़्स के ताबअ़ हुये ईमान रुख़सत हो गया ।
वह ज़नाने में घुसे मेहमान रुख़सत हो गया ॥
मैं उन्होंने पी अब उनके पास क्योंकर दिल लगे ।
जानवर इक रह गया इन्सान रुख़सत हो गया ॥

हक़ से अगर है ग़ाफ़िल हरगिज़ नहीं है आक़िल ।
हुनरी जो है तो फिर क्या परवेज़ है तो फिर क्या ?
कैसी ही सलतनत हो सब ख़ुश न रह सकेंगे ।
ग़र तुर्क है तो फिर क्या अँग्रेज़ है तो फिर क्या ?

पुरानी रोशनी में औ नई में फ़र्क़ इतना है ।
उसे किश्ती नहीं मिलती इसे साहिल नहीं मिलता ॥

सीने का ज़ख़्म आह की सख़्ती से छिल गया ।
अच्छा हुआ मज़ा तो मुहब्बत का मिल गया ॥
तेरा पता चमन को सबा से जो मिल गया ।
बुलबुल को वज्द आ गया गुंचा भी खिल गया ॥
किसने निगाहे नाज़ से देखा है इस तरफ़ ।
फ़रियाद कर रहा है जिगर हाय, दिल गया ॥

मेरी तक़रीर का उस मिस प कुछ क़ाबू नहीं चलता ।
जहाँ तलवार चलती है वहाँ जादू नहीं चलता ॥
कमर बाँधी भी यारों ने जो राहे हुब्बे क़ौमी में ।
वह बोले तू नहीं चलता तो बोले यह नहीं चलता ॥

निज़ामे आलम बता रहा है
कि है इक इसका बनानेवाला ।
ज़हूर आदम दिखा रहा है
कि दिल में है कोई आनेवाला ॥
नसीमे मस्ताना चल रही है
चमन में फिर रुत बदल रही है ।
सदा यह दिल से निकल रही है
यहीं है यह गुल खिलानेवाला ॥

नई तालीम को क्या वास्ता है आदमीयत से ।
जनाबे डारविन को हज़रते आदम से क्या मतलब ॥

पड़ जाय आते जाते शायद निगाहे मुनइम ।
जो राह से अलग है अफ़सोस उस गदा पर ॥
पूछता है अब कोई उनसे किसे है तुमसे इश्क़ ।
देखते हैं प्यार से शरमा के अकबर की तरफ़ ॥

ऊँचा नीयत का अपनी ज़ीना रखना
अहबाब से साफ़ अपना सीना रखना ॥
गुस्सा आना तो नेचरल है अकबर ।
लेकिन है शदीद ऐब कीना रखना ॥

आज़ाद से वाँ का गिरफ़्तार अच्छा ।
शर्मिन्दा हो दिल में वह गुनहगार अच्छा ।
हरचंद कि ज़ोर भी है इक ख़सलते बद ।
वल्लाह कि बेहया से मक्कार अच्छा ॥

बेपर्दः कल जो आईं नज़र चन्द बीबियाँ ।
अकबर ज़मीं में ग़ैरते क़ौमी से गड़ गया ॥
पूछा जो उनसे आपका परदह वह क्या हुआ ।
कहने लगीं कि अक़्ल प मरदों के पड़ गया ॥

इंगलैंड से अपना दिल जो लाया न गुदाज़ ।
महरूम उधर इधर से बेगाना हुआ ॥

भूलता जाता है यूरप आसमानी बाप को ।
बस ख़ुदा समझा है उसने बर्क़ को और भाप को ॥

बर्क़ गिर जायेगी इक दिन और उड़ जायेगी भाप ।
देखना अकबर बचाये रखना अपने आप को ॥

मर्द को चाहिये क़ायम रहे ईमान के साथ ।
नादिमे मर्ग रहे याद खुदा जान के साथ ॥
मैंने माना कि तुम्हारी नहीं सुनता कोई ।
सुर मिलाना तुम्हें क्या फ़र्ज़ है शैतान के साथ ॥

तहसील उलूम कर कि दौलत है यही ।
इख़लाक़ दुरुस्त कर कि ज़ीनत है यही ॥
अकबर की यह बात याद रख ऐ इशरत !
महफ़ूज़ हो मासियत से इज़्ज़त है यही ॥

क्या वस्ल का हौसला करें पेशे रक़ीब ।
जिनको इस वक़्त तक क़मर ही न मिली ॥

सोचो कि आगे चलकर क़िस्मत में क्या लिखा है ।
देखो घरों में क्या था और आज क्या रहा है !
हुशियार रहके पढ़ना इस जाल में न पड़ना ।
यूरप ने यह किया है यूरप ने वह किया है ?

हरचंद कि कोट भी है पतलून भी है ।
बँगला भी है पाट भी है साबून भी है ॥
लेकिन यह मैं तुमसे पूछता हूँ हिन्दी !
यूरप का तेरी रगों में कुछ खून भी है ॥

मज़हब की कहूँ तो दिल्लगी में उड़ जाये ।
मतलब की कहूँ तो पालिसी में उड़ जाये ॥
बाक़ी सरे क़ौम में अभी है कुछ होश ।
ग़ालिब है कि यह भी इस सदी में उड़ जाये ॥

हमदर्द हों सब यह लुत्फ़ आबादी है ।
हमसाया भी हो शरीक तब शादी है ॥
तसकीन है जबकि खुश पर हो तकिया ।
क़ानून बना सकें तब आज़ादी है ॥

ओज मुंटीरा राज का देखा ।
परतौ तख़्त व ताज का देखा ॥

रंगे ज़माना आज का देखा ।
रुख़ करज़न महराज का देखा ॥
पहुँचे फाँद के सात समुन्दर ।
तहत में इनके बीसियों बन्दर ॥
हिकमत व दानिश उनके अन्दर ।
अपनी जगह हरएक सिकंदर ॥
ओजे बख़्त मुलाक़ी उनका ।
चरख़े हफ़्त तबाक़ी उनका ॥
महफ़िल उनकी साक़ी उनका ।
आँखें मेरी बाक़ी उनका ॥

न हो मज़हब में जब ज़ोरे हुकूमत ।
तो वह क्या है फ़क़त इक फ़िलसफ़ा है ॥

है तिजारत वाक़ई इक सल्तनत ।
ज़ोर यूरप को इसी का आज है ॥
लफ़्ज़ ताजिर खुद है ऐ अकबर सबूत ।
देखलो ताजिर के सिर पर ताज है ॥

डारविन साहब हक़ीक़त से निहायत दूर थे ।
मैं न मानूँगा कि मूरिस आपके लंगूर थे ॥

देखता है इक उम्र से बन्दा ।
बस यही बातें और यही फंदा ॥
होता है कुछ काम न धंदा ।
लाओ चन्दा लाओ चन्दा ॥

आज़ादी की पी के ब्रांडी ।
आप चलाते हैं डंडा बांडी ॥
गाता है क़ौमी किश्ती का डांडी ।
मकतब गरम है सर्द है हाँडी ॥

दफ़्तरे तदबीर तो खोला गया है हिन्द में ।
फ़ैसला क़िस्मत का ऐ अकबर मगर लन्दन में है ॥

लताफ़त वो न छोड़े रंग तेरी शादी ओ ग़म का ।
हँसी आये तो फूलों की जो रोना हो तो शबनम का ॥

हुजूमें बुलबुल हुआ चमन में
किया जो गुल ने जमाल पैदा।
कमी नहीं क़द्रदाँ की अकबर।
करे तो कोई कमाल पैदा॥

आपका बर्ताव मौसिम के मुवाफ़िक़ था हुजूर।
वाक़ई इसके असर से दिल बखूबी पक गया॥

बुत न कहते हों जिसे यह न हमारा बंदा।
है भी ऐसा कोई अल्लाह का प्यारा बंदा॥

ज़न ज़मीं ज़र तो है फ़साद का घर।
लेकिन इतना कहूँगा ऐ अकबर॥
ज़न मनकूहः व शरीफ़ व ग़रीब।
क्या अजब है जो करे अमन नसीब॥
हो जो बस आमदे ज़र तनख्वाह।
तो नहीं हाजत वकील व गवाह॥
हो जो थोड़ी सी बाग़ही की ज़मीं।
तो कलक्टर का डर ज़ियादह नहीं॥

दिलों प मारते जाते हैं छापा शेक्सपीयर।
पढ़ोगे हज़रते सादी की बोस्ताँ कबतक॥

जो बात मुनासिब है वह हासिल नहीं करते।
जो अपनी गिरह में है उसे खो रहे हैं॥
बेइल्म भी हम लोग हैं ग़फ़लत भी है सारी।
अफ़सोस कि अंधे भी हैं और सो भी रहे हैं॥

खुदा रक्खे सलामत उस नज़र को।
कि जिसने सीम को छोड़ा न ज़र को॥

चालीस साल से है नये रोशनी का दौर।
क्योंकर इसे कहूँ कि सरासर फ़ज़ूल है॥
अलबत्ता एक अर्ज़ करूँगा दबी ज़बान।
जो खुशनुमा बहुत है मगर बेउसूल है॥

रहे न दिल के लिये कोई मुस्तक़िल मरकज़।
यही है अक़्ल तो दिल इससे दूरही अच्छा॥

फ़ुरक़ते यार में जीने का सहारा क्या था।
खूब थी मौत सिवा मौत के चारा क्या था॥

जान अल्लाह ने ली दिल हुए दाख़िले गोर।
हमने भी दिल में यह समझा कि हमारा क्या था॥

मौत आई इश्क़ में तो हमें नींद आ गई।
निकली बदन से जान तो काँटा निकल गया॥

तूने जिसे बनाया उसको बिगाड़ डाला।
ऐ चर्ख़! मैंने अपनी अर्ज़ी को फाड़ डाला॥
बरबाद क्या अजल ने मुझको किया? यह कहिये।
रूहे रवाँ ने अपने दामन को झाड़ डाला॥
दस्तार व पैरहन गुम और जेब व कीसा ख़ाली।
तहज़ीब मग़रबी ने हमको चिथाड़ डाला॥

जो देखी हिस्टरी इस बात पर कामिल यक़ीं आया।
उसे जीना नहीं आया जिसे मरना नहीं आया॥

मज़हब का हो क्योंकर इल्म
व अमल दिल ही नहीं भाई एक तरफ़।
किरकिट की खेलाई एक तरफ़
कालिज की पढ़ाई एक तरफ़॥
क्या ज़ौक़े इबादत हो उनको
जो मिसके लबों के शैदा हैं।
हलवाय बिहिश्ती एक तरफ़
होटल की मिठाई एक तरफ़॥
ताऊन व तप और खटमल
मच्छर सब कुछ है व पैदा कीचड़ से।
बम्बे की रवानी एक तरफ़
और सारी सफ़ाई एक तरफ़॥
फ़रियाद किये जा अकबर!
कुछ हो ही रहेगा आख़िरकार।
अल्लाह से तोबा एक तरफ़
साहब की दुहाई एक तरफ़॥

साहबे हुस्न मेरी आह से खुश रहते हैं।
जिस तरह अहले सखुन वाह से खुश रहते हैं॥

बाज कालिज में जो कर आते हैं अकसर अकबर।
क्या यह गिरती हुई दीवार को थाम आते हैं॥
जमाने हाल में अगले फ़िसाने अब्र माज़ी हैं।
जो तलवारें चलाते थे वह अब ठोकर प राज़ी हैं॥

हरम वालोंसे क्या निस्बत भला हम अहले होटल को
वहाँ कुरआन उतरा है यहाँ अंग्रेज़ उतरे हैं॥

नहीं आज़ाद जो अपनों से तअल्लुक़ करे क़िता।
वह है आज़ाद जो ग़ैरों का गिरफ़्तार न हो॥

नाज कहता है कि जेवर से हो तज़ीने जमाल।
नाजुकी कहती है सुरमा भी कहीं बार न हो॥
तकल्लुफ़ उन्हींके लिये कीजिए।
फ़क़ीरों की क्या है ? जहाँ पड़ रहे॥
बुतों से भी लड़ती नहीं याँ तो आँख।
बरहमन हैं लन्दन तलक लड़ रहे॥

जब मैं कहता हूँ कि या अल्लाह मेरा हाल देख।
हुक्म होता है कि अपना नामये आमाल देख॥
सोच तुझको है अगर आयंदह पालीटिक्स की।
ले नतायज से मदद और हिस्टरी में फ़ाल देख॥
शौक़े तूलोपेच इस जुल्मतकदह में है अगर।
बात बंगाली कि सुन बंगालिनों के बाल देख॥
दिल यह कहता है कि हिजरत हिन्दसे लाज़िम है अब
अक़्ल कहती है अब अकबर और दो एक साल देख
हुस्ने मिसपर कर नज़र मज़हब अगर जाता है जाय।
क़दरदाँ को निर्ख़ की क्या बहस अकबर माल देख॥
तेरे बाद अकबर कहाँ ऐसी नज़्में।
वह दिल ही न होंगे कि यह आह निकले॥
उन्हींके मतलब की कह रहा हूँ
ज़बान मेरी है बात उनकी।

उन्हींकी महफ़िल सँवारता हूँ
चिराग़ मेरा है रात उनकी॥
सुने जो उसको उसे तहय्युर
जो उसको बरते उसे तरद्दुद।
हमारी नेकी और उनकी बरकत
अमल हमारा निजात उनकी॥

फ़िटन नफ़ीस सड़क खुशनुमा डिनर हर शब।
यह लुत्फ़ छोड़ के हज का सफ़र यह खूब कही॥

ख़याल दौड़ा, निगाह उट्ठी,
क़लम ने लिक्खा, ज़बान बोली।
मगर वही दिल की उलझनें हैं
किसी ने इसकी गिरह न खोली॥
लताफ़तों के नज़ाकतों के
अजीब मज़मून हैं चमन में।
सबा ने झटका है अपना दामन
मसक गई है कली की चोली।
ख़याल शायर का है निराला
यह कह गया एक कहने वाला।
शबाब के साथ यों हीं रिन्दी
कि जैसी फागुन के साथ होली॥
कहो यह रिन्दाने एशिया से
कि बज़्मे इशरत के ठाठ बदले।
उड़न खटोला है अब मिसों का
गई परीजान की वह डोली॥

कोई साहब न हों लिल्लाह नाखुश सुन के यह मिसरा।
ख़याले हुब्बे क़ौमी पीछे और फ़िकरे शिकम पहले॥

नई तहज़ीब में दिक्क़त ज़ियादा तो नहीं होती।
मज़ाहिब रहते हैं क़ायम फ़क़त ईमान जाता है॥
थियेटर रात को और दिनको यारों की यह इसपीचें।
दुहाई लाट साहब की मेरा ईमान जाता है॥

मैंने जो दिल को पेश किया उसके सामने।
कहने लगा वह शोख़ मुझे जान चाहिये ॥
पंडित को भी सलाम है और मौलवी को भी।
मज़हब न चाहिये मुझे ईमान चाहिये ॥

छोड़ लिटरेचर को अपनी हिस्टरी को भूल जा।
शेख़ व मसजिद से तअल्लुक़ तर्क कर इसकूल जा॥
चार दिन की ज़िन्दगी है कोफ़्त से क्या फ़ायदा।
खा डबल रोटी कलरकी कर खुशीसे फूल जा॥

जिधर साहब उधर दौलत जिधर दौलत उधर चंदा।
जिधर चंदा उधर आनर जिधर आनर उधर बंदा॥

हरीफ़ों ने रपट लिखवाई है जा जा के थाने में।
कि अकबर ज़िक्र करता है खुदा का इस ज़माने में॥
मुरीद उनके तो शहरों में उड़े फिरते हैं मोटर पर।
नज़र आते हैं लेकिन शेख़जी अब तक मियाने में॥

वह तो गिरजा पर रुका और यह गया काबे को फाँद।
शेख़ का टट्टू तो इंजन से भी बढ़कर तेज़ है॥

हुक्काम प बमके गोले हैं और मौलवियों पर गाली है
कालिजने यहकैसे साँचोंमें लड़कोंकी तबीयत ढाली है

क़ाबिले रश्क है ज़माने में।
दिन वकीलों का रात आशिक़ की॥

बारो उमीद के फल होते हैं रोज़ ज़ाया।
हमको खुदा बचाये औलादे डारविन से॥

हम क्या कहें अहबाब क्या कारे नुमायाँ करगये।
बी० ए० हुए, नौकर हुए, पेंशन मिली फिर मरगये॥

वह दिली अहबाब वह मसजिद के साथी अबकहाँ।
दुश्मनों के दुश्मनों से गप उड़ाया कीजिये॥

पेश का भी ज़ौक़ दीदाँर की शोहरत का भी शौक़।
आप म्यूज़िक हाल में क़ुरआन गाया कीजिये॥

फ़क़त तामीर कालिज पर मैं फूलूँ यह नहीं मुमकिन
मुबारक आपही लोगों को हो पत्तों को फल कहना॥

इश्क़े क़ौमी में भी खतरा है हलाकत का मुझे।
लीडरों के मशविरे से जान बीमा हो गया॥

नई तालीम के मुर्दे तो ज़िन्दा हैं तमाशों में।
पुरानी वज़अ के ज़िन्दे मगर मुर्दों से बदतर हैं॥

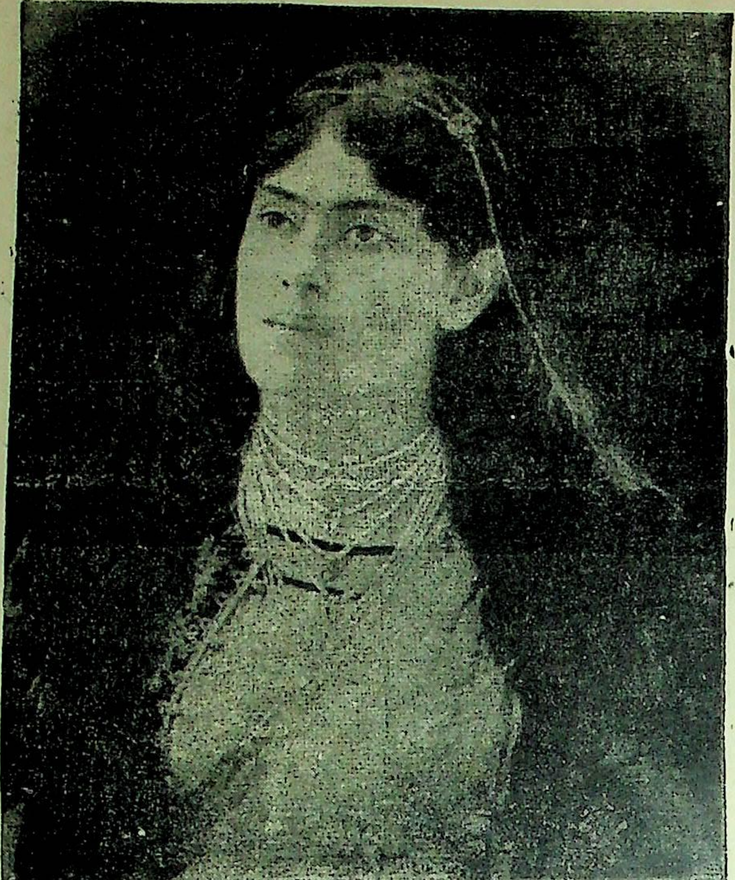
निहायत फ़ख़ मुल्के हिन्द को है।
कि उसका शाह उसका मेहमाँ है॥

जब पेशवा ने अपना काबा जुदा बनाया।
अपने मज़े को सबने अपना खुदा बनाया॥
अपनी ही यह खता है हमने तो खूब जाँचा।
लड़के ढले हैं वैसे जैसा बना था साँचा॥

रेडियम की आत्म-कथा।

(लेखक–श्रीयुत रमेशप्रसाद, बी. एस-सी.)

मैं कहाँ जन्मा? यह कहना मेरे सामर्थ्य के बाहर और तुम्हारी कल्पना के परे है। ब्रह्माण्ड के अनन्त तथा कल्पनातीत गेह में और काल के अपरिचित तथा अपरिछिन्न गर्भ में, यहाँ से दूर, बहुत दूर—इतनी दूर कि जहाँ तुम्हारा शीघ्रगामी आयोजन करोड़ों वर्ष यात्रा करने के बाद भी नहीं पहुँच सकता है—शून्य में, मेरी उत्पत्ति हुई थी। जब तुम्हारी पृथ्वी का अस्तित्व नहीं था, जब तुम्हारा सूर्य भविष्य के गर्भ में सो रहा था, जब नक्षत्र और तारों का नाम नहीं था—निदान जब ये सभी तमो-





श्रीमती सरला देवी चौधुरानी, बी. ए.
२० वर्ष पहले का चित्र और वर्तमान चित्र जिसमें वे चरखा कात रही हैं।

चित्रशाला प्रेस, पूना।

मयी-मूल-प्रकृति के रूप में स्थित थे, उस अचि-न्त्य काल में, प्रकृति के गर्भ से, आकाश के विशाल तथा विस्तृत सागर में, मेरा जन्म हुआ था।

मैं अकेला, निराधार, उस अनन्त-शून्य में, बहुत वर्षों लों इधर-उधर घूमता रहा। तब एक अद्भुत घटना घटी। परमाणुओं की एक ज्योति-मय धारा ने हमें चारों ओर से घेर लिया और मैं वायव्य सागर का एक अंश बन गया। इस दशा में मैं कई युगों तक था और तमाशा देखता जाता था कि कैसे एक परमाणु दूसरे, तीसरे आदि परमाणुओं से मिलकर आकार तथा रूप धारण कर रहा है। अब गर्मी बढ़ने लगी और असह्य हो उठी; बिजली चमकने लगी, हलचल मच गई। परमाणु धक्के पर धक्के खाने लगे और उनकी गति वेगवती होती गई। इस अवस्था में कई अरब वर्षों तक रह कर मैंने देखा कि मैं अत्यन्त जलती हुई और उत्तप्त वस्तु का एक अंश हूँ। इस जलती हुई अवस्था में मैं युगों तक पड़ा रहा। निदान दसों दिशाओं में बड़ी गर्जना होने लगी और मेरे पहले संसार की रचना हुई। मैं इस संसार में कैसे प्रविष्ट हुआ, कैसे धीरे धीरे यह एक सुन्दर ग्रह बना, जो जीवित प्राणियों से भरा-पूरा और बड़े बड़े नगरों से सुशोभित था—इन विषयों का विस्तार कर मैं तुमको थकाना नहीं चाहता। यह नवीन संसार बूढ़ा हुआ, निर्जल मरुभूमि में परिणत हो गया और अन्त में फट कर मिट गया और ज्योतिर्मय वायव्य पदार्थों के रूप में परिणत हो गया। इस महाप्रलय-काल में मैं इस संसार से बड़े वेग से फेंका गया और दूसरे संसार में जा पहुँचा। यह दूसरा संसार भी कालान्तर में नष्ट हो गया। इसी प्रकार मैं एक से दूसरा, दूसरे से तीसरा, तीसरे से चौथा आदि अनेक ब्रह्माण्डों की यात्रा करता हुआ और अनेक देशों का चक्कर लगाता हुआ उस अग्नि-कुण्ड में गिरा जो सिकुड़ते सिकुड़ते तुम्हारी पृथ्वी बन गया।

मैं पृथ्वी के ऊपरी भाग पर रहना नहीं चाहता था; क्योंकि यात्रा करते करते मैं बहुत थक गया था और मुझे आराम करना अत्यावश्यक था। इसीसे मैं पृथ्वी के नीचे की तह पर अपने सहचर अन्यान्य धातुओं के साथ लेट रहा। घोर निद्रा ने आकर घेरा और मैं कुम्भकर्णी नींद में निमग्न हो गया। निद्रा पूरी नहीं हुई थी कि मुझे यात्रा करने के लिए फिर उठना पड़ा।

मैं इस हिरण्य-गर्भा के पेट में कई करोड़—कई पद्म—वर्षों से विद्यमान था; किन्तु कुछ दिन पहले तक मेरा कोई पता न पा सका था। धरती का ऊपरी भाग आँधी-पानी से कट कट कर समुद्र में डूबता जाता था और मैं प्रबल शक्तियों द्वारा हजारों वर्षों में ऊपर की ओर भेजा गया। बहुतेरे खनिज धातुओं के साथ मेरी बड़ी गाढ़ी मित्रता हो गई थी, मैं बराबर उनके साथ रहता था और उनके सुख-दुःख में बराबर सहानुभूति रखता था। अन्त में वैज्ञानिकों ने मुझे मेरे चिर-साथियों से अलग कर मनुष्यों के सामने उपस्थित किया। वियोग का फल कड़ुवा होता है। यदि मैं चाहता तो इस वियोग का फल पहले वैज्ञानिकों को और फिर मनुष्यों को चखा देता; किन्तु ऐसा करना मुझे मंजूर नहीं था; क्योंकि पशुओं में सिंह की जैसी धाक जमी रहती है, देवताओं में इन्द्र जैसा मान पाते हैं, कंकड़ों में

रत्न जैसे सम्मानित होता है उसी भाँति मैं मौलिकों (Elements) का राजा बन बैठा और इस स्थान पर मनुष्यों ने मुझे बैठाया। उनपर मेरे प्रसन्न रहने का यही कारण है।

मेरी उत्पत्ति "पिच ब्लेन्डी" (Pitch Blende) नामक एक खनिज पदार्थ से हुई है। इउरानियम (Uranium) मेरे पितामह और आयोनियम मेरे पिता हैं, अर्थात् यदि तुम इउरानियम को कुछ देर यों ही रख दो तो उससे आप ही आप आयोनियम और आयोनियम से मैं बन जाऊँगा। कुछ लोगों ने मेरी पैदाइश थोरियम से बतलाई थी; किन्तु अब पता चला है कि मैं थोरियम का वंशज नहीं हूँ। इससे लोगों ने मुझे पुनः मेरे पितामह इउरानियम को दे डाला। हाँ, मेरे कुटुम्ब में और भी कई व्यक्ति हैं जिनके हाव-भाव, चाल-चलन, गुण-दोष मुझसे बहुत कुछ मिलते हैं। उनमें से थोरियम भी एक है। बस, थोरियम से मेरा इतना ही सम्बन्ध है कि वह मेरी जाति का है, किन्तु मेरे पिता होने का उसे कुछ भी दावा नहीं है।

तुम्हें मेरी सन्तानों के बारे में भी जानने की लालसा होगी। अच्छा, सुनिए। मैं स्वयं लगातार बदलता रहता हूँ। इस परिवर्तन-गुण के कारण मेरे एक पुत्र-रत्न प्राप्त हुआ, जिसका नाम पण्डितजी ने "निटन" (Niton) रखा। निटन एक प्रकार की वायव्य वस्तु है और इसका व्यवहार गैसों जैसा है। यह गैस के प्रायः सभी नियमों को पालन करता है। इसकी उत्पत्ति कैसे होती है यह भी सुन लीजिए। मुझे रख छोड़ने से मैं स्वयं निटन बन जाता हूँ। मुझ पर कोई वैज्ञानिक क्रिया करने की आवश्यकता नहीं पड़ती। अस्तु, दुनियाँ की रंगत ख़राब देख कर मैंने अपने पुत्र को ऐसी शिक्षा दी है कि वह किसी वस्तु से नहीं मिलता। वह बड़ा निर्मोही (inert) है। तुम उसे किसी के साथ मिलाने की चेष्टा करो; किन्तु सफलता हाथ नहीं आवेगी। उसे गरम करो, उसपर दबाव (Pressure) डालो; किन्तु वह किसी की नहीं सुनता। उसमें एक बड़ा भारी गुण भी है। वह जिन्हें उनके साथियों से अलग कर देता है उन्हें मिला देने की भी शक्ति रखता है। पानी से वह ओषजन और उज्जन को अलग अलग कर देगा; किन्तु इन दो वस्तुओं को उसके पास लाने से वे मिल कर पुनः पानी के रूप में परिणत हो जाती हैं।

मेरे पुत्र निटन से हिलियम की पैदाइश हुई है। हिलियम मुझे बड़ा प्यारा है। वह ठीक मेरे ही अनुरूप है—मेरे जैसा एक ठोस (Solid) पदार्थ है और मेरे बहुतसे गुण उसमें पाये जाते हैं। मुझे अपना आदर्श मान कर वह अपने कामों को करता है।

अच्छा, तुमने कभी पारसपत्थर का भी नाम सुना है? यह वह पत्थर है जिसके स्पर्श से लोहा भी सोना बन जाता है और जस्ता चाँदी का रूपान्तर ग्रहण करता है। यह पत्थर पहले भारतवासियों के पास था या यों कहिए कि वे एक निम्न-श्रेणी (Base) की धातु को उच्च-श्रेणी (Noble) की धातु में परिणत करने की रीति जानते थे। किन्तु पश्चिमीय वैज्ञानिकों ने इसे एक कपोल-कल्पित वस्तु बतलाया और इसकी हँसी उड़ाई। अब मैं

आविष्कार से उनकी आँखें खुली हैं। वे समझने लगे हैं कि जैसे इउरानियम से मैं (रेडियम) और मुझ से हिलियम धातु बनते हैं उसी प्रकार और धातु भी एक दूसरे का रूपान्तर ग्रहण कर सकती है। अब उनका ध्यान पारस पत्थर की सत्यता की ओर गया है। उनमें कितने तो ऐसे हैं जो यह कहते हैं कि पारस पत्थर की समस्या हल हो गई; किन्तु वे नहीं जानते कि पारस पत्थर बनाने में उन्हें अभी वर्षों लगेंगे। मेरा उदाहरण देकर यह कहना कि पारसपत्थर बन गया भारी भूल है; क्योंकि मैं तो अपनी इच्छा से अपनी काया बदलता रहता हूँ, इसमें उन्हें गर्व करने की कौनसी बात है। हाँ, यदि वे लोहे को सोना बना दें तो मैं जानूँ। मेरे आविष्कार से अधिक नहीं तो इतना अवश्य हुआ है कि भारत के सिर से मिथ्या-भाषण के कलंक का टीका धुल गया।

मेरे ही आविष्कार के कारण, मेरे आविष्कर्ता की इतनी प्रसिद्धि हो गई है कि सारा संसार उन्हें सिर पर रखने के लिए तैयार है। वैज्ञानिकों के नामों की सूची में उनका नाम स्वर्णाक्षरों से अंकित है। मेरा मूल्य इतना अधिक है कि मैं संसार की सभी वस्तुओं में बहुमूल्य हूँ। मेरे एक कण की जितनी क़ीमत है उतने में सोना और प्लैटिनम ढेर ढेर के मिल सकते हैं। मेरी बहुमूल्यता का अनुमान आप इतने से ही कर सकते हैं कि अलपीन के सिरे के बराबर एक छोटे से टुकड़े का दाम पचहत्तर हज़ार रुपये होता है। लन्दन के मिडिल सेक्स हास्पिटल में मेरे दो कण हैं, वे इतने छोटे हैं कि बिना खुर्दबीन के देखे नहीं जा सकते; पर इतने छोटे कणों की क़ीमत तीस हज़ार रुपये हैं। वे काँच की एक नली में भलीभाँति सुरक्षित कर रखे जाते हैं।

मुझसे तीन प्रकार की किरणें बराबर निकला करती हैं, उन्हें आप खाली आँख देख नहीं सकते। उन किरणों के नाम अल्फा बीटा और गामा हैं। मैं अपनी किरणों के साथ अपने परमाणुओं का भी विकिरण करता रहता हूँ। मेरी गामा किरण एक्स किरण से बहुत कुछ मिलती है। यदि आप फ़ोटो के प्लेट को काले काग़ज़ में लपेट कर मेरे पास लावें तो मैं अपनी किरणों का छींटा उस पर अवश्य डाल दूँगा। वे शीशा (glass) सीसा (Lead) आल्युमिनियम के पतले पत्तरों को पार कर जाते हैं। स्पेक्ट्रसकोप के सोने की जीभों को आप अलग अलग कर छोड़ दीजिए। मैं उनके पास पहुँच एक दूसरे से मिला दूँगा। यदि मेरे किसी मिश्रण (Compound) को पानी में कुछ देर रख दीजिए तो आप देखेंगे कि मैं गिरगिट सा अपना रंग बदलता हूँ; पहले तो मैं पीले रंग का रहूँगा; किंतु धीरे धीरे रंग बदलते बदलते अन्त में गुलाबी रंग का हो जाऊँगा। मुझे पानी में मिला कर रख दीजिए। मैं बड़ा गुल खिला दूँगा। पानी से जितना चाहिए उतना उज्जन और ओषजन जमा कर लीजिए। एक बात और याद रखी जाय कि मेरे पास का ताप-क्रम (Temperature) आस पास के स्थानों के ताप-क्रम से अधिक रहता है। मेरा शुद्ध (pure) एक ग्राम एक घंटे में १०० केलोरी का ताप दे सकेगा। हीरे को मेरे पास लाइए, वह चमकने लगेगा; किंतु एक्स-किरण में क्या शक्ति है कि वह मेरा मुक़ाबिला कर सके। उसके पास हीरा कदापि नहीं चमक सकता, वह जैसा का तैसा बना रहेगा। मैं "ओजोन" ozone को आक्सिजन बना दूँगा। पीले फासफरस को लाल कर दूँगा। क्लोरोफार्म और

आइडोफ़ार्म मिला कर मेरे पास लाइए तो मैं बात की बात में उससे आयोडीन न निकाल दूँ, तो मेरा नाम नहीं।

अब मेरी कुछ उपयोगिताओं को सुन लीजिए। नासूर के रोगियों की चिकित्सा मेरे द्वारा की जाती है। अबतक मेरे पास जितने रोगी आये हैं उनमें से कोई भी मेरे यहाँ से निराश नहीं गया। मैं इस बीमारी के लिए राम-बाण महौषध हूँ। विषाक्त घावों और फोड़ों की चिकित्सा विना मेरी मदद के हो नहीं सकती। यदि हो भी, तो रोगी को अपने प्राण से हाथ धो बैठना पड़े। विषाक्त क्षतों के विषैलेपन को मैं ही दूर करता हूँ। जो घाव चीर फाड़-योग्य नहीं होते वे मेरे कणों द्वारा अच्छी हालत में लाए जाते हैं तब उनपर सर्जनों की छुरी चलती है। हज़ारों रोगियों की जान मेरी बदौलत बच गई है। मैं हज़ारों-लाखों वर्षों तक अपना प्रकाश नहीं खोता। मैं एक धातु की छड़ के सिरे पर बैठ कर प्रति दिन किसी रोगी के घाव को कुछ देर तक देखता हूँ। घाव के निकट जाते ही मेरी प्रकाश-किरण घाव पर पड़ती और घाव के विष को दूर कर देती है। मेरा यह किरण-विकिरण एक अद्भुत दृश्य है। एक विशेष प्रकार के पर्दे पर डाक्टर लोग उसे दिखाते हैं, मेरे किरण तथा परमाणु जिस समय पर्दे पर पड़ते हैं उस समय ऐसा मालूम होता है जैसे अँधेरी रात में करोड़ों तारे आसमान में चमक रहे हैं। इस किरण तथा परमाणु-विकिरण से मैं कम अवश्य होता जाता हूँ; किन्तु इसकी मात्रा इतनी थोड़ी होती है कि मेरे किसी कण से वर्षों काम लेने पर भी मेरा वज़न कम नहीं होता।

एक बात मैंने अब तक छिपा रखी है। मैं देख रहा था कि तुम मुझे हाथ से छूते हो या नहीं। खूब बचे, यदि एक बार भी तुमने मुझे अपने हाथ से स्पर्श किया होता, तो मैं उसका मज़ा तत्काल चखा देता। मुझे छूने से तुम्हारे हाथ में घाव हो जावेंगे, बड़े बड़े फोड़े उठ आवेंगे जो शीघ्र आराम नहीं होने के। इसका कष्ट बहुत असह्य होता है। विज्ञान-वेत्ताओं को सदा भय रहता है कि मैं उनपर नाराज़ होकर कहीं उछल न पड़ूँ। इसीसे वे मेरे गुणों की खोज करने से घबराते तथा डरते हैं।

इतने से तुम यह न समझ लेना कि मेरी उपयोगिता का अन्त हो गया। भविष्य में मैं बड़ी बड़ी करामातें कर दिखाऊँगा। मेरी विलक्षण चालों को सुन तुम्हें दाँतों उँगली दबानी पड़ेगी। जैसे जैसे मेरे विषय में तुम्हारी जानकारी बढ़ती जायगी वैसे वैसे तुम मेरी क़द्र करना सीखोगे। दिन दिन विज्ञान-वेत्ताओं की दृष्टि मुझ पर अधिक रहेगी। मैं उनकी खोज का कारण अभी बहुत दिनों तक बना रहूँगा। वे मेरे विषय में अधिक खोज अवश्य करेंगे। इसके लिए उन्हें अपना अमूल्य समय तथा मस्तिष्क का बलिदान करना होगा; किन्तु इस पर भी यदि मैं उनकी पूजा से प्रसन्न हुआ तो उनको उनका इच्छित फल प्रदान करूँगा, अन्यथा वे सिर पटकते रह जाएँगे, कुछ भी हाथ न आवेगा।

कहाँ तक कहूँ? मेरी पूरी कहानी सुनते सुनते आप थक जायँगे। कोई कोई अबोध मनुष्य मेरी उत्पत्ति एक पिल्लू से बताते हैं। उनका कहना है कि "भूमण्डल के अनेक स्थानों पर ऐसे पिल्लू विद्यमान हैं जो वैज्ञानिक प्रक्रिया द्वारा मुझे उत्पन्न करते हैं। इस

प्रकार के कीड़े मेरे कणों को खा जाते हैं और उन्हींके शरीर से मैं निकाला जाता हूँ।" मैं तुम्हें सावधान किये देता हूँ, ऐसे मनुष्यों की बातों में न आना। वे धूर्त हैं और बातें बना तुम्हें ठगना चाहते हैं। किसी पिल्लू का क्या मजाल कि वह मेरे पास फटके ?

मेरा ही नाम धारण कर एक कृत्रिम वस्तु चल निकली है जो घड़ियों में लगा देने से अँधेरे में स्वयं चमकने लगती है। देखिए तो सही, मैं सारे ब्रह्मांड का चक्कर लगा आपकी कलाई की घड़ी में मौजूद हूँ। इतनी यात्रा करने पर भी आप भूल कर यह न समझ लेना कि यहाँ आकर मेरी यात्रा पूरी हो गई। मैं अभी और यात्रा करूँगा और करता जाऊँगा।

बस, एक बात और सुनाता हूँ। मैं भारतवासियों पर प्रसन्न नहीं हूँ; क्योंकि वे मेरी क़द्र करना नहीं जानते। देखिए, भारत देश में कितनी खानें हैं जहाँ मैं विद्यमान हूँ, किंतु इन परतन्त्र भारतवासियों में इतनी शक्ति नहीं, इतना अधिकार नहीं कि वे मुझे खोद कर निकालें और मेरी उपयोगिता को समझें। इसीसे मैं कहता हूँ कि मैं तुमपर प्रसन्न नहीं हूँ। तुम मुझे आदर की दृष्टि से देखो, तुम मेरी उपयोगिताओं को समझो, मेरी क़द्र करना सीखो। फिर देखोगे, मैं तुम्हारा दास बनने को तैयार हूँ।




मित्र-वियोग के अवसर पर।

(लेखक—पं० गिरिधर शर्मा, नवरत्न)

(१)

गरमी की कड़ी धूप माथे पड़ी सारी सही,
बैठे वृक्ष-नीचे भी तो सही लूह की लपट।
वर्षा में विलोके नीके हरे-भरे गिरि-शृंग,
जंगल की हरियाली लहलहे लता-वृक्ष॥
घनघोर घटावाली भादों की अँधेरी रातें
काटीं, वीर पुरुषों की भाँति, नहीं डरे नेक।
निरमल नभवाली शरद की शोभा देखी,
शीतल सुगन्ध मन्द वायु में किया विहार॥

(२)

बैठे दुग्ध-फेन-सम स्वच्छ सेत चादर पै,
पूनम की चाँदनी में चमेली के सूँघे फूल।
हाथ को न हाथ सूझे धुंध पड़े महा; ऐसे
हेमन्त के दिवसों में जो जो बीती सही सब॥
शिशिर का पाला पड़ा खूब ठंडी मारें सहीं,
ज़रा नहीं घबराये हम दोनों प्यारे मित्र!
दोनों सदा साथ रहे, नहीं हुए दूर कभी,
साथ साथ सहे सब सुख—दुःख, हर्ष-शोक॥

(३)

आया है वसन्त अब बौराये हैं सहकार,
कोकिलाएँ कूक कूक गाती हैं पञ्चम राग।
तरु और बेलों पर नये नये पान आये,
मोतिया, गुलाब, बेला आदि के खिले हैं पुष्प॥
जगमें उछाह छाया प्रकृति में भरा है रंग,
मलय मारुत चला सुरभित है संसार।
सखे! ऐसे सुहावने समय, सदा के साथी!
सूझा है क्या माँगने को बिदाई का तुझे पान?

(४)

जाना था तो बिना कहे चुपचाप गया होता,
ढूँढ़ता ही रहता मैं सखे ! तुझे घूम घूम !
'मित्र का वियोग हुए सब सुख दुःख होते,
संयोग में दुःख सुख होते' यह सिद्ध बात ॥
जानते हुए भी खूब जाने की ही ठानी सखे !
मेरे दिली दर्द का न किया कुछ भी विचार।
—पर सखे ! जाता हूँ मैं जाता हूँ पहले ही,
देरी किये बिना जाके खड़ा रहता हूँ मित्र !

(५)

कह के 'जय श्रीकृष्ण' स्वागत करने तेरा,
मन्दारमाला लेकर उसी दिव्य धाम-बीच—
गिरिधर ! स्नेही सखा ! करुणा के महासिन्धु !
सत्यसागर ! नागर ! प्रेमधर्म--शिरोमणि !
होते नहीं जिस ठौर मित्र मित्र कभी जुदा,
रहते सदा हैं साथ होकर प्रसन्न चित्त !
रमणीय भावनाएँ जहाँ सदा शोभा देतीं,
शोभा ते दिव्यानन्द दिव्य स्नेह दिव्य प्रेम !



मनोराज्य ।

(लेखक—श्रीयुक्त 'निर्गुण')

(१)



रोप के एक हाथ में तलवार और दूसरे में तराज़ू है । तरल तराज़ू का विलास उसके हाथ में स्पष्ट रूप से दिखाई देता है; परंतु तलवार की चमक उसके कोट की अस्तीन में छिपी रहती है। तलवार तराज़ू का रक्षक है । यूरोप ने अपनी उदार बुद्धि से यह निश्चय किया है कि तलवार तराज़ू के पल्लों पर अपने नेत्रों को स्थिर करके उनके झुकाव का ध्यानपूर्वक निरीक्षण करे। जबतक उनसे लाभ की सूचना मिल रही है तब तक उसकी कोई आवश्यकता नहीं। परंतु हानिका इशारा पाते ही बाहर निकलकर क्षति-संभावना दूर करना उसका एकमात्र कर्त्तव्य होगा । यह हमेशा देखा गया है कि यूरोप के हृदय में तलवार चलाने की प्रेरणा करने वाला कोई वीर धर्म नहीं है, न्याय-प्रियता नहीं, कर्त्तव्याकर्त्तव्य-विचार नहीं । वह केवल तराज़ू है ।

संसार-त्यागी ईसा का भक्त यूरोप इस चंचल तराज़ू को जितना मान देता है उतना कदाचित् बाइबिल को नहीं देता है । जड़वाद की डंडी में जातीयता के मज़बूत डोरों से, लोभ और स्वार्थ के कटोरों को बाँधकर, कृपणता की दो उँगलियों के सहारे, वह सारे संसार की संपत्ति को समेटना चाहता है । उसकी यह जीवन-तृष्णा उसी को मुबारिक हो !

यूरोप बाहर से क्षत्रिय-वेष-धारी है; परंतु हृदय से वह कठोर वैश्य है । उसकी यह वैश्य-वृत्ति मानव-जीवन के प्रायः सभी क्षेत्रों में काम करती हुई दिखाई देती है । यहाँ तक कि प्रसंगों की अनुकूलता ने जहाँ उनके हाथों में प्रजा-शासन के समान पवित्र काम सौंप दिया है, वहाँ वे राज-सिंहासन पर भी तराज़ू लेकर बैठे हुए दिखाई देते हैं । राजदंड और तराज़ू का यह अनमिल मेल अपने ढंग का एक ही है । कहने की आवश्यकता नहीं है कि इस वैश्य-वृत्ति के इस वर्तमान पौधे को उन्होंने भौतिकता की क्यारी में

पल्लवित किया है। यह देखना अभी बाक़ी है कि वह कितना बढ़ सकेगा।

यूरोप की जातियों का जीवनोद्देश एक ही है और उस उद्देश का पूरा होना या न होना तराजू की तौल पर अवलंबित है। वे एक दूसरे के प्रतिद्वंदी हैं; क्योंकि दो समान व्यवसायियों में पारस्परिक स्नेह-भाव की कल्पना भी नहीं की जा सकती। उनकी इस प्रतिद्वंद्विता का परिणाम शांति-प्रिय संसार खूब भोग चुका है। फिर भी, यह किसे मालूम नहीं है कि एक भयंकर रक्तपात के पश्चात् भी यूरोप की भूमि खून की प्यासी बनी हुई है?

हम कई बार यह इच्छा प्रकट कर चुके हैं कि यूरोप के इस संक्रामक रोग से ईश्वर इस बचे हुए संसार की रक्षा करे; परंतु देखते हैं कि पश्चिम की विषैली हवा पूर्वीय देशों को लग रही है। जापान उसका शिकार हो चुका है।

एशिया-निवासियो! सावधान!

(२)

गोरी जाति के सुदृढ़ कंधों पर संसार-रक्षा का बड़ा भारी भार है। कोई माने या न माने; परंतु इस जाति को इस बात की बड़ी चिंता है कि काले संसार की भलाई किस प्रकार हो। इसे वे अपनी भाषा में 'व्हाइट मैनस बर्डन' कहते हैं, और चिंता-युक्त गौरव के साथ इस बोझ को सँभालना अपना पहला कर्त्तव्य समझते हैं। महाभारत के पढ़ने वालों को यह मालूम होगा कि वीर कर्ण, माता के गर्भ से, कवच और कुंडल के साथ उत्पन्न हुए थे। इसी प्रकार गोरी माता का प्रत्येक बालक इस 'व्हाइट मैनस बर्डन' के साथ उत्पन्न होता है। होश सँभालते ही उसे इस बोझ को भी सँभालने की चिंता हो जाती है। उन लोगों की धारणा है कि यही चिंता हमें घर के आमोद-प्रमोद से वंचित कर के बाहर की असुविधाओं को झेलने के लिये लाचार करती है। इस परोपकार-वृत्ति को अनेकों प्रणाम हैं।

दूसरे का बोझ उठाना कोई बुरी बात नहीं; परंतु उस भार-सहनशील व्यक्ति को इतना मालूम होना चाहिए कि बोझ उठाने के लिए झुकना पड़ता है। इसके सिवा चलते समय इस बात का हर घड़ी ध्यान रखना पड़ता है कि हम ठोकर खाकर कहीं गिर न पड़ें। इसलिए माथा झुकाकर पृथ्वी की ओर देखते हुए चलना पड़ता है। यदि बोझ दूसरे का हुआ और परोपकार-वृत्ति की प्रेरणा से उठाया गया हो, तो सावधानी से सिर झुकाकर चलने की ज़िम्मेदारी और भी अधिक बढ़ जाती है; क्योंकि दूसरे के हित-संपादन की इच्छा से किये गये काम का परिणाम यदि हितैषी की लापरवाही से बुरा हो तो उसके लिये इससे बढ़कर लज्जा और उपहास का विषय दूसरा नहीं हो सकता।

गोरी जाति दूसरों का बोझ उठाने का प्रयास तो करती है; परंतु झुकना बिलकुल नहीं जानती। कदाचित् उसकी पीठ की हड्डियों में कहीं जोड़ नहीं है। दूसरों के बोझ उठाकर लेजाने का उसे आवश्यकता से अधिक उत्साह है; पर विनम्र-बदन से सावधानीपूर्वक वह चलती नहीं। शरीर का झुकाना उसके लिये संभव नहीं; क्योंकि विधाता ने उसकी रचना ही ऐसी की है। ऐसी दशा में यदि आँखें भी पृथ्वी की ओर रहतीं, तो

कुछ सावधानी बन पड़ती। परंतु खेदजनक आश्चर्य के साथ हम देखते हैं कि उनकी आँखें भी एक तरह से आसमान ही की ओर तनी रहती हैं। उन्हें यह नहीं मालूम है कि "वह चितवन कछु और है, जेहि बस होत सुजान"। फिर दूसरे का बोझ उठे कैसे?

एक बात और है। दूसरे का बोझ उठाने का तो मतलब यही हो सकता है कि जिस मनुष्य का वह बोझ है उसीके मार्ग से चलकर उसका वह बोझा उसके इच्छानुसार निश्चित स्थान पर पहुँचा दिया जावे। यदि बोझ उठाने वाला हितैषी उसे लेकर अपने ही मार्ग का अनुसरण करे और उसे मालिक की इच्छा की परवाह न रहे, तो फिर क्या कहा जाय? यह कैसा परोपकार-व्रत है? यह कैसी कर्तव्य-बुद्धि है? यह कैसी ज़िम्मेदारी है?

गौरांग-जाति ने अभागे भारत का भी बोझ अपने कंधों पर लेना स्वीकार कर लिया है। उस जाति के लोगों को इस देश की चिंता इतनी व्याप रही है कि वे घड़ी भर भी सुख की नींद नहीं सो सकते। भारत प्रणिपात-पूर्वक, गिड़गिड़ाकर, उनसे कहता है कि आप मेरे लिए इतना कष्ट मत उठाइये, मैं अपना बोझा किसी तरह आपही सँभाल लूँगा परंतु यह जाति इस संबंध में आवश्यकता से अधिक सहानुभूति प्रगट करती हुई कहती है—"अशक्त भारत! तेरे कंधे अभी बहुत कमज़ोर हैं, तू अपना बोझ अभी सँभालने के योग्य नहीं है। देख, मेरी सबल भुजाओं में भी परिश्रम के कारण कितने छाले पड़ गये हैं। खून उनसे पसीने के साथ मिल कर बह रहा है। तेरे उद्धार का यश मैं लेकर ही छोड़ूंगा।"

अच्छा, यही सही। लोकोपकार व्रती गोरी जाति, भारत का बोझ उसकी इच्छा के विरुद्ध इस बुरी तरह से तू क्यों घसीट रही है? देख तो, इसके बंधन कितने ढीले पड़ गये हैं!

नामवरी।

(लेखक—साहित्याचार्य पं० चन्द्रशेखर शास्त्री)

हम लोगों में ऐसों की संख्या बहुत अधिक है जो नाम चाहते हैं। नाम चाहने वालों की प्रशंसा भी होती है और निन्दा भी। प्रशंसित नाम से समाज और व्यक्ति दोनों का कल्याण होता है; पर निन्दित नाम हानिकारी है। उससे व्यक्ति ही नहीं, समाज को भी हानि उठानी पड़ती है। प्रशंसित नामवरी जनता द्वारा पारितोषिक रूप से प्राप्त होती है, और निन्दित नामवरी अपनी इच्छा से, अपने स्वार्थ-संकुचित मन से, कमायी जाती है।

किसीने विद्या अर्जन की, विद्या-प्राप्ति में उसने अनुपम योग्यता दिखाई, लोगों में उसकी प्रसिद्धि हुई, लोग उसका यश फैलाने लगे। किसी ने बल अर्जन किया, वह बल में अद्वितीय हुआ, उसका सानी दूसरा कोई नहीं रह गया। किसी ने परोपकार करने में कमाल किया, लोग उसकी वाहवाही करने लगे, उसकी नामवरी फैलने लगी। इसी प्रकार के सद्गुणों के अर्जन द्वारा, मानसिक श्रेष्ठ वृत्तियों के विकाश द्वारा, जो नामवरी प्राप्त होती है वह प्रशंसित होती है। इस प्रकार की नामवरी रखने वाले सज्जन की लोग प्रतिष्ठा करते हैं, लोग उसे अपना आदर्श बनाते हैं। लोग उसे

अपना अगुआ समझते हैं। यह बात कुछ कम गौरव की नहीं है।

सामाजिक व्यक्तियों के लिए नामवरी एक उत्तम वस्तु समझी जाती है; अतएव लोग उसको पाने के लिए बड़े बड़े प्रयत्न करते हैं। सभी लोगों के मन में उसके लिए चाह बनी रहती है। नामवरी का पारितोषिक समाज के लिए बहुत ही अच्छा मिलता है। जनता उसी मनुष्य को अपना अगुआ चुनती है, उसी को श्रेष्ठ आसन देती है, उसीको अपना आदर्श बनाती है जो नामवर मनुष्य समाज में पूज्य दृष्टि से देखा जाता है; अतएव नामवरी मनुष्यों के जीवन-धारण के लिए आवश्यक सामग्री न होने पर भी वह जीवनोपयोगी अन्य आवश्यक सामग्रियों से भी आवश्यक समझी जाती है। मनुष्यों के लिए धन की बड़ी आवश्यकता है। समस्त लौकिक काम धन के द्वारा सम्पन्न होते हैं। परलोक-सुख का साधन धर्म भी धनके द्वारा कमाया जा सकता है; पर उससे कम नामवरी की आवश्यकता नहीं समझी जाती। ऐसी नामवरी किसको नहीं चाहिए, कौन बड़ा बनना नहीं चाहता, कौन नेता बनना नहीं चाहता ?

नामवरी से केवल इसी लोक में कल्याण नहीं होता, किन्तु परलोक में भी इसके द्वारा कल्याण प्राप्त होता है। व्यक्ति के अभाव में भी नामवरी का सौरभ चारों ओर फैलता है। रामचन्द्र आज नहीं हैं और न रामचन्द्र की वह अयोध्या ही है; पर उनकी नामवरी है, वह अजर-अमर है। वह त्रेता में उत्पन्न हुई थी और आज कलियुग में भी ज्यों की त्यों है। उसमें कोई अन्तर नहीं हुआ है। भीम, भीष्म, अर्जुन, युधिष्ठिर, दुर्योधन, कर्ण आज भी वर्तमान हैं, उनका यश आज भी आँखों के सामने उन्हें लाकर खड़ा कर देता है।

वह नामवरी प्रयत्नों से मिलती है। उसको प्राप्त करने के दो मार्ग हैं। एक सीधा मार्ग है, दूसरा बनावटी, अतएव टेढ़ा है। सद्गुणों के विकाश द्वारा जो नामवरी प्राप्त की जाती है, तपस्या के द्वारा जो नाम पैदा होता है, मानसिक सद्वृत्तियों के विकाश द्वारा जो यश मिलता है वह सीधे मार्ग द्वारा प्राप्त नामवरी या यश कहा जाता है। पर, दुःख है कि इस विषम सृष्टि में सब लोगों की प्रकृति और प्रवृत्ति उसके अनुकूल नहीं होती। सभी सद्गुणों के द्वारा यश प्राप्त नहीं कर सकते, सभी की प्रकृति और प्रवृत्ति इस काम में उन्हें मदद नहीं दे सकती। पर, यश चाहते हैं सभी। मोटर खरीदने का सामर्थ्य नहीं, पर मोटर पर चढ़ने की इच्छा है, किया क्या जाय, लाचार होकर मोटर वाले की खुशामद की जायगी, उसकी हाँ में हाँ मिलानी पड़ेगी। रुपया चाहिए, पर मज़दूरी करने की शक्ति नहीं, किया क्या जाय, विवश होकर चोरी करना पड़ेगी। सीधा मार्ग छोड़ना पड़ेगा; क्योंकि सीधा मार्ग कठिन है, उसपर चलने की न शक्ति है और न साहस। यही बात नामवरी के लिए भी है। सीधे मार्ग से नामवरी नहीं मिल सकती, यह देखकर नामवरी चाहने वाले अनुचित मार्ग का अवलम्बन करते हैं। वे बनावटी ढंगों से नामवरी कमाना चाहते हैं, अतएव उन्हें बनावटी यश मिलता है। उनकी नामवरी असली नामवरी नहीं होती। वे जिस बात के लिए अपना महत्त्व समझते हैं, दुनिया उसी बात के लिए उनसे घृणा करती है।

यश का यह विलक्षण स्वभाव है कि वह चाहने वालों को नहीं मिलता। जो यश चाहता है उससे वह कोसों दूर रहता है। वह उनके सामने आया हुआ दीख पड़ता है जो उसे लेने के लिए आगे बढ़ते हैं; पर वह उनसे दूर हो जाता है। इसी मरुमरीचिका को वे यशःप्रार्थी सज्जन समझते हैं कि हमें यश मिल गया। उस यश का नाम है बनावटी यश। वह दूर से यश मालूम पड़ता है, पर जब उसका आस्वादन किया जाने लगता है, जब वह कसौटी पर कसा जाने लगता है, जब उसकी परीक्षा होने लगती है, तब वह निःसार मालूम पड़ता है, उसकी पोल खुल जाती है। कागज़ का बना बाघ तभी तक बाघ रहता है जब तक मनुष्य उसके पास नहीं जाते। यही दशा बनावटी यश की भी है। उसका भी बाहिरी आडम्बर शीघ्र ही दूर हो जाता है और वह सार-हीन मालूम होने लगता है।

विशुद्ध यश सीधे मार्ग से मिलता है। उसके लिए किसी प्रकार के छल, कपट, उपाय या उद्योग की आवश्यकता नहीं होती। वह प्राप्त होता है साहस से; वह प्राप्त होता है उद्योग से; और वह प्राप्त होता है योग्यता से। शुद्ध यशस्वियों का उद्देश यश नहीं; किन्तु उनका उद्देश होता है 'कर्तव्य-पालन'। उनका उद्देश होता है धर्म के लिए सद्भाव से प्रेरित होकर अभूतपूर्व आत्म-त्याग। उनका हृदय मानव-प्रेम से पूर्ण होता है और वे प्रसन्नता—पूर्वक उसके लिए आत्म-त्याग करते हैं, वे बन्धुत्व के आदर्श से प्रेरित होकर पीड़ित मनुष्य की रक्षा करते हैं; वे अपने भक्तिपूर्ण हृदय के इशारे से सञ्चालित होकर विराट् भगवान के अंग-स्वरूप मानव-समाज की सेवा करते हैं, वे ऋषि और आचार्यों के मार्ग पर चलनेवाले ज्ञान-हीन मानव समाज में ज्ञान का प्रचार करते हैं, वे अपना व्यक्तित्व, अपना अस्तित्व जनतारूपी भगवान के चरणों पर अर्पण कर देते हैं और उसकी आज्ञा के अनुकूल अपना बर्ताव करते हैं। इन सबके फल-स्वरूप जनता की ओर से उनका सम्मान होता है, सम्मान उनका आदर होता है। वह यश या नामवरी के नाम से प्रसिद्ध होता है।

संसार में दो प्रकार के मनुष्य दीख पड़ते हैं, एक यशस्वी और दूसरे निन्दित। यशस्वियों का इतिहास उज्ज्वल है। वह अपनी उज्ज्वल रेखाओं से लोगों के हृदयों में अपना महत्व स्थापित करता है। वह अपनी उज्ज्वल प्रभा से लोगों को अपनी ओर आकृष्ट करता है। साथ ही, उसी इतिहास में काली रेखाओं में निन्दितों का भी चित्र है। वह चित्र भयानक है, वह दृश्य पैशाचिक है। उस चित्र में उज्ज्वलता नहीं; किन्तु उग्रता है। उसमें आकर्षकता नहीं; किन्तु उद्वेजकता है। इससे इतिहास के निन्दित चित्र से उद्विग्न होकर लोग यश की ओर झुकते हैं। प्रकृति भिन्न है, रुचि पृथक् पृथक् हैं; इसलिए लोगों की प्रवृत्ति भी यश की ओर अनेक प्रकार की होती है, कोई यश को ही अपना उद्देश्य बनाते हैं और उसे पाने के लिए तरह तरह के उद्योग करते हैं। मौक़ा बेमौक़ा बेसुरा राग अलापा करते हैं। पर दूसरे यश नहीं चाहते, वे अपना कर्त्तव्य पालन करते हैं, वे त्याग करते हैं, वे परोपकार करते हैं। इस प्रकार दो मार्ग हैं यश-प्राप्ति के, और यश भी दो प्रकार का होता है। शास्त्रीय शब्दों में इनको सात्विक यशःप्रार्थी और राजसिक यशःप्रार्थी कहते हैं। निष्काम कर्मों द्वारा जो यश पाते हैं वे सात्विक यशःप्रार्थी है। अब तीसरे प्रकार के यशःप्रार्थियों की बात सुनिए, जो इस समय उत्पन्न हुए हैं।

ये नई श्रेणी के सज्जन यश चाहते हैं; पर यश के काम नहीं करते। यशस्वी के लिए सर्वप्रिय बनना आवश्यक है, और सर्वप्रिय वही बन सकता है जो उत्तम काम करे; पर वे लोग उत्तम काम नहीं करते। जो मनमें आता है वही करते हैं; पर शब्दों के द्वारा लोगों के सामने अपना उत्तम आदर्श रखते हैं। उनके कार्य खोखले होते हैं और शब्द सुन्दर। ज्ञान नहीं, पर शब्द की सहायता से वे ज्ञानी बन जाते हैं; कवित्व नहीं, पर केवल शब्दों के जोर पर कवि का पद पाना चाहते हैं; दर्शन का कुछ ज्ञान नहीं, पर अपनी दार्शनिकता का विज्ञापन खुद देते फिरते हैं। इस विज्ञापन के युग में ऐसे विज्ञापनी यशःप्रार्थियों की कमी नहीं, और प्रशंसा करने वालों की भी कमी नहीं। साहित्य में, धर्म में, समाज में, राजनीति में, चारों ओर इसी शाब्दिक जाल का दौरदौरा हो रहा है। कार्य करने वाले मूर्ख समझे जाते हैं, विद्याध्ययन के लिए परिश्रम करने वाले मन्दबुद्धि हैं, कवि बनने के लिए कविता का अनुशीलन करने वाले भोंदू हैं। धार्मिक बनने के लिए धर्माचरण की आवश्यकता नहीं समझी जाती; किन्तु किसी धार्मिक सभा में व्याख्यान की या किसी धर्म-पुस्तक के अनुवाद की। इस सेवा से यश पाने का मार्ग बन्द किया जा रहा है और व्यवसाय के द्वारा यश पाने का मार्ग बतलाया जा है। मालूम नहीं, इस व्यवहार का हम लोगों के नैतिक जीवन पर कैसा प्रभाव पड़ रहा है। इसका समाज के ऊपर क्या असर हो रहा है, आदि बातों पर ध्यान देना आवश्यक है। शाब्दिक चतुरता की अपेक्षा कार्य्य का महत्त्व जानना लाभकारी होगा। विज्ञापन से पैसे मिलते हैं; ज्ञान, यश और धर्म नहीं। समाज की सत्ता कार्यों पर है, शब्दों पर नहीं।

त्याग।

(लेखक—श्रीयुत हेमंतलाल बक्शी)

(१)

वंग-नरेश के अंतःपुर में संगीत का बड़ा मान था। जिस समय की बात हम कहते हैं उस समय नीरा गायिका पर राज-महिलाओं की विशेष कृपा-दृष्टि थी। उसे पुरस्कार के अतिरिक्त मासिक वेतन भी मिलता था। उसके लिए आनन्द की सामग्रियों की कोई कमी न थी।

नीरा का रूप और यौवन निष्प्रभ हो चुका था; परन्तु अब भी उसके कंठ में वह शक्ति थी जो सुनने वालों को मंत्र-मुग्ध कर देती थी। जब वह हाथ में वीणा लेकर गाती तो वे सब स्तब्ध रह जाते थे। उसके विरह-गीत को सुनकर वियोगियों का शोक-समुद्र उमड़ आता। किसी दुःख-पूर्ण गीत के स्पर्श से सहसा हृदय-तंत्री बज उठती। गीत के समाप्त होते ही वे सब कह उठते "नीरा, तेरे स्वर में यह स्वर्गीय शक्ति कहाँ से आई?" इस तरह के प्रशंसा-पूर्ण वाक्यों को सुन सुनकर कितने बार नीरा का हृदय नहीं खिल उठा।

(२)

वही अंतःपुर का उद्यान और वही संध्या का सुहावना समय था। सूर्य की अंतिम किरणें वृक्षों की कोमल पत्तियों पर नाच रही थीं। नीरा एक शिला-खंड के ऊपर बैठकर एकटक उस ओर देख रही थी। लाख प्रयत्न करने पर भी वह किसी तरह अपने व्यथित मन को प्रसन्न न कर

सकी। पक्षियों के कलरव में उसे एक अपूर्व संगीत सुन पड़ता था। जब वह संगीत-लहरी प्रशान्त वायुमंडल में लहराने लगती तो अर्ध-विकसित पुष्पों की कलियाँ मस्त होकर नाच उठती थीं। यह देख कर नीरा का हृदय आनन्दोल्लास से भर जाता था। परन्तु आज ? आज उसने उन फूलों को नाचते हुए देखा, और घृणा से मुँह फेर लिया। ईर्षा की ज्वाला से वह पीड़ित थी।

वह इधर-उधर टहलने लगी; परन्तु शान्ति नहीं मिली। वह घर के भीतर चली गई। देखा, १५ वर्ष की एक युवती उसकी प्रतीक्षा में बैठी हुई है।

बनावटी प्रसन्नता का भाव मुख पर लाकर नीरा ने पूछा, "और क्या हुआ, मणि"। मणि ने प्रफुल्ल-हृदय से उत्तर दिया "सब निश्चय हो गया। बृहस्पति के दिन महाराज के सामने मेरी परीक्षा होगी।"

नीरा अधिक न सुन सकी। उसने मन में —कहा "अब मेरा सुख-स्वप्न अंत हो गया।"

एक क्षणिक हास्य के भीतर अपनी मर्म-व्यथा को छिपा कर वह फिर बोली —"यह सब राजकुमारी के ही प्रयत्न का फल होगा ?"

कृतज्ञता-भरी दृष्टि से उसके मुख की ओर देखती हुई मणि ने उत्तर दिया —"हाँ। क्या तुम अपनी शिष्या को अपने पास ही आसन नहीं दोगी ?"

मणि को विश्वास था कि महाराज को प्रसन्न कर लेने के बाद वह नीरा के नीचे, गायिका हो कर, आनन्द-पूर्वक, रहेगी। नीरा समझती थी कि एक दासी की कन्या मणि अपनी बाल्यावस्था की संगिनी राजकुमारी के कारण विशेष आदर पावेगी और मैं एक परित्यक्ता की तरह रहूँगी। उसे वह असह्य था।

(३)

अंधकार-पूर्ण रात्रि की गोद में निस्तब्ध प्रकृति लेटी हुई थी नीरा का चित्त अस्वस्थ था। उसे नींद नहीं आई। वह चिन्ता-मग्ना एकान्त में बैठी सोचती रही। एक अतीत काल के दृश्य की तरह वह चित्र फिर उसकी आँखों के सामने अंकित हो गया—मणि खेल रही है और एक गीत गा रही है। उसे सुन कर नीरा ने मन में सोचा-मणि की इस ओर स्वाभाविक रुचि है। उसी के एक गीत को सुनकर मणि ने कितनी जल्दी स्मरण कर लिया। नीरा को आश्चर्य हुआ। उसने मुस्कुरा कर पूछा, 'गाना सीखोगी'? उत्तर में मणि ने सरलता-पूर्वक प्रश्न किया, 'सिखा दोगी ?'

नीरा ने एक दीर्घ निश्वास त्याग कर कहा—"परमेश्वर ! यह क्या प्रतिदान ? साधारण उत्सुकता से प्रेरित होकर मैंने जिस दासी बालिका को संगीत-शिक्षा दी थी वही आज मेरा अधिकार मुझ से छीन रही है ! मेरा स्थान लेना चाहती है !"

नीरा जानती थी कि गीत के ही प्रभाव से आज उसकी प्रतिष्ठा है। मणि उसकी बराबरी किसी तरह नहीं कर सकती; परन्तु उसके स्वर में वह मधुरता है जिसने अंतःपुर की युवतियों का मन अपनी ओर आकर्षित कर लिया है। कोई आश्चर्य की बात नहीं यदि उसका गुण सौन्दर्य और मधुरता के सामने हार मान जाय।

(४)

जब दूसरे दिन मणि नीरा के घर आई तो उसे ज्वरावस्था में पाया। नीरा ज्वर के वेग से कराह रही थी। मणि चुपचाप खड़ी खड़ी सुनती रही।

"........नहीं जानती थी ईश्वर ! मुझे ऐसा फल मिलेगा, यह अपमान सहना पड़ेगा ! जो सर्पिणी मुझसे ही पलकर इस अवस्था को पहुँची है वह मुझे ही डसे ! कैसी कृतघ्नता ! आज मणि के सामने मेरा क्या मूल्य है ? 'बूढ़ी' कह कर मेरा तिरस्कार किया जा रहा है। यह कैसा छल है ! मेरा सर्वस्व...........नष्ट हो रहा है.... ।' मणि ने सब सुना। उसका हृदय धक् से हो गया। उसने मन में कहा—'क्या मैं इसका सर्वस्व चाहती थी ?' फिर वह उसके पास जाकर बोली—'क्या ज्वर चढ़ आया है ?'

नीरा घबराकर बोली—'कब से आई हो ?' मणि ने कहा—'अभी ही'।

नीरा की आँखें ज्वर से जल रही थीं और हृदय क्रोध और ईर्षा से। मणि ने उसके शरीर पर हाथ रख कर देखा। फिर पास ही बैठ गई। नीरा बोली—'मणि, मैं क्या बक रही थी ? क्या ज्वर बड़े वेग से है ?' मणि का ध्यान ही दूसरी ओर था। न जाने किस विचार से उसकी आँखों में जल भर आया। नीरा ने विरक्त भरे स्वर में कहा—'घबराओ नहीं, मैं नहीं मरूँगी।'

(५)

महाराज लेटे हुए थे। अंतःपुर की अन्यान्य स्त्रियाँ इधर-उधर बैठी हुई थीं। राजकुमारी मन ही मन प्रसन्न हो रही थी। वह कभी महाराज की ओर देखती, और कभी मणि के मुख की ओर ! मणि ने में वीणा लेकर गाना शुरू किया; परन्तु आज उसके स्वर में वह मोहनी शक्ति नहीं थी, आज उसके संगीत से मधुरता की धारा नहीं बही। राजकुमारी ने कहा—'मणि को क्या हो गया है ?' आज किसीने भी उसे नीरा से बढ़कर नहीं कहा। अंत में महाराज ने कहा—'मणि अच्छा गाती है; परन्तु वह नीरा की बराबरी नहीं कर सकती। अभी अभ्यास की आवश्यकता है।' मणि ने सिर झुका लिया। मन में कहा—'मेरे लिए इससे बढ़कर प्रसन्नता की बात क्या हो सकती है ?' राजकुमारी क्रोधित होकर बोली—'मणि, तूने जान बूझकर क्यों सब बिगाड़ दिया ? क्या तुझे अपने सुख की इच्छा नहीं ?' मणि क्या उत्तर देती ? किन्तु उसने कृतज्ञता-पूर्ण मुसकुराहट से बता दिया कि गुरु-दक्षिणा के लिए आत्म-सम्मान का यह त्याग उसके लिए कहीं सुखकर है।

विज्ञान-संसार।

(१) बाल बनवाना छोड़िए।

वाशिंगटन (अमेरिका) के डाक्टर आर्थर मेकडोनाल्ड ने बहुत अनुभव के पश्चात् प्रकाशित किया है कि मनुष्यों को बाल बनवाना छोड़ देना चाहिए; क्योंकि बाल बनवाने से अनेक हानियाँ हैं। आपने २५ वर्ष से ४५ वर्ष तक के ५३ मनुष्यों की परीक्षा कर के उनकी दो ऐसी अवस्थाओं का विवरण लिखा जब कि उनकी लम्बी दाढ़ी थी और जब वह बनवा डाली गई। दाढ़ी बनवाने पर उन्हें बड़ा अटपटा मालूम होता था और वे अपने को दिन प्रति दिन कमजोर होते देखते थे। कुछ दिन बाद उनमें से १४ मनुष्यों की दशा तो सुधर गई; पर शेष और भी अधिक पीड़ा अनुभव करने लगे। दाँत चीभने लगे,

जबड़ों में पीड़ा होने लगी और उन्हें ऐसा मालूम होता था मानों सब दाँत बेकाम हो गये हैं।

डाक्टर सा० ने एक और अनुभव लिखा है कि जो लोग रेल्वे में नौकर रहते हैं और जिन्हें दिन रात खुली हवा में काम करना पड़ता है उनमें से दाढ़ी वालों को गलसुआ, कंठमाला आदि रोग बहुधा नहीं हुआ करते हैं।

दाढ़ी-मूँछ रखने के कई गुण आपने लिखे हैं। जिस प्रकार सिर के बालों से सिर की रक्षा होती है वैसे ही दाढ़ी से चेहरे की होती है। दाढ़ी-मूँछ से दाँत, जबड़े और गले की रक्षा होती है तथा वायु में उड़ने वाले हानिकारक पदार्थ नाक में प्रवेश नहीं कर सकते। बाल छन्नी का काम करते हैं और दाँत-जबड़े और गले तक उसे नहीं पहुँचने देते। सड़क पर धूल उड़ती रहती है और उसके साथ अनेक हानिकारक कीटाणु भी उड़ते हैं; पर दाढ़ी उन पदार्थों को अपने ऊपर नहीं जाने देती और मूँछ नाक में उनका अनधिकार प्रवेश रोकती है। जहाँ ठंड अधिक पड़ती है वहाँ तो दाढ़ी रखना बहुत ही आवश्यक है; इसीलिए शायद अफ़गानिस्तान आदि ठंडे देशों के लोग दाढ़ी रखा करते हैं। ऐसे ही जहाँ ऋतु में गर्मी-सर्दी बहुधा हुआ करती है वहाँ भी दाढ़ी-मूँछ रखना लाभदायक है।

इन सब लाभों के सिवा एक बड़ा भारी लाभ डाक्टर सा० ने यह बताया है कि दाढ़ी-मूँछ वालों को मच्छड़ नहीं काटते और इस प्रकार मनुष्य जूड़ी बुखार आदि रोगों का शिकार नहीं हो पाता। जूड़ी से मनुष्य इतना कमज़ोर हो जाता है कि दूसरी बीमारियाँ उसे बहुत शीघ्र धर दबाती हैं। दाढ़ी-मूँछ वालों में से बहुत ही कम लोगों को जूड़ी बुखार होता है।

पर, यह सब लाभ तभी हो सकता है जब दाढ़ी-मूँछ रखी जाय और वह समय समय पर धोकर और तेल लगाकर साफ़ की जाती रहे। जब कि मनुष्य बालों में कंघी करने, बाल बनवाने और उन्हें साफ़ रखने में घण्टों लगा देते हैं तब क्या वे इतने अधिक लाभ के लिए दाढ़ी-मूँछ साफ़ नहीं रख सकते?

डाक्टर सा० एक बात और भी कहते हैं कि दाढ़ी-मूँछ रखने से मनुष्य का चेहरा भरा हुआ मालूम होता है। इतना ही नहीं, यदि किसी के गाल पिचके हों, दाँत ऐंजड़-बेंजड़ हों, ओंठ विकृत हों, अथवा नाक बेसुरी हो, तो ये सब दोष दाढ़ी-मूँछ से ढँक जाते हैं।

डाक्टर सा० ने सोचा खूब है और बातें भी सब तरह की लिखदी हैं, पर कर्जन-कट मूँछ और कौआ फ़ैशन वाले के गुलाम जब यह बात पसंद करें तब न। हाँ, युवावस्था के ढलने पर ये गुण भले ही दिख जायँ, पर उसके पहिले दिखना तो कठिन है। ज़माना असहकारिता का है, और उस असहकारिता का जिससे अभी तक सहकारिता रही है उससे असहकारिता करने का। तो, इस दृष्टि से मनुष्यों ने अभी तक बालों से असहकारिता की है और उसका फल भी डाक्टर सा० की सम्मति से अनेक रोगों के द्वारा उन्होंने भोगा है; अतएव अब बालों से सहकारिता करना ही चाहिए। हमारे यहाँ तो साधु सन्तों का उदाहरण अनादि काल से है कि वे बालों से सहकारिता करते हुए, खुली हवा में रह कर

भी हट्टे-कट्टे बने रहते हैं। समाज-सुधारकों को इस ओर ध्यान देना चाहिए।

(२) आगामी पीढ़ी में विज्ञान का रूप।

"स्पेक्टेटर" नामक अंग्रेज़ी पत्र ने बतलाया है कि आगामी पीढ़ी तक विज्ञान के द्वारा और भी अनेक लाभ होने लगेंगे। अभी तक तो लकड़ी, कोयला, तेल अथवा पानी के बल पर अनेक यंत्र चलते हैं; पर भविष्य में एक पौण्ड कोयले से इतनी शक्ति प्राप्त की जा सकेगी जितनी अभी १५० पौण्ड कोयले से भी नहीं प्राप्त होती। अभी एक यंत्र की कमी है जो ऐसी शक्ति पैदा कर सके; पर बहुत ही शीघ्र इसमें सफलता मिलेगी।

यात्रा के विषय में ये आशाएँ दी गई हैं कि बिजली के द्वारा पेसेंजर ट्रेन एक मिनट में दो मील जा सकेगी, मोटर की गति वर्तमान गति से चौगुनी-पचगुनी हो जावेगी, और आकाश में वायुयानों का वैसाही जाल बन जायगा जैसा कि यूरोप में पृथ्वी पर रेल की पाँतों का है। सुबह शाम हवाखोरी के लिए छोटे छोटे सैंकड़ों वायुयान दिख पड़ेंगे।

भोजन के विषय में बड़ा ही विचित्र भविष्य बतलाया गया है। कृषि-कार्य आजकल के समान न होगा, उसमें बहुत परिवर्तन हो जावेंगे। इतने अधिक यंत्र बनेंगे कि प्रत्येक कार्य उन्हीं से लिया जावेगा; पर यह सब एक पीढ़ी में न होगा, इसको कुछ और समय लगेगा। विज्ञान ने यह भी आशाएँ दी हैं कि एक समय ऐसा आवेगा जब मनुष्य भोजन न करके उसके बदले बिजली के लेम्प से दिन भर का कार्य करने के लिए शक्ति प्राप्त कर सकेंगे। यह किसी को मदकखाने की गप भले ही जंचे; पर है विज्ञान की आशा। स्वास्थ्य के विषय में भी आशाएं दी गई हैं कि दो तीन पीढ़ी बाद सब रोग नष्ट कर दिये जावेंगे और एक भी रोग न बचेगा। साथ ही, यह भी बतलाया है कि मनुष्य की प्रकृति बड़ी विचित्र है और इस सफलता में बड़ी बाधाएँ आवेंगी, तब भी आशा रखना चाहिए। बहुत अच्छा।

(३) विचित्र क़लम।

जब से कागज़ का प्रचार बढ़ा है, तब से तरह तरह की क़लमें देखने में आने लगी हैं! साधारण क़लम से लिखने में दावात से बार बार स्याही लेना पड़ता है। इससे समय अधिक लगता है। समय की बचत करने के लिए एकने नुक्की बना डाली, दूसरे ने एक ऐसी नुक्की बनाई जिसमें इतनी स्याही भर जाती है कि लगभग २, ३ मिनिट तक स्याही लेने की ज़रूरत नहीं पड़ती। फिर एक और निकले जिन्होंने क़लम-नली (फाउण्टेन पेन) का आविष्कार किया। उसमें एक बार स्याही भर दी कि घंटों लिखते चले जाइए। पर इन सब में कुछ न कुछ दोष हैं। क़लम-नली से समय की बचत तो होती है; पर कभी कभी धब्बा पड़ जाने की आशंका रहती है या स्याही कम हो जाने पर स्याही भरने की तकलीफ़ उठानी पड़ती है। अब एक नई क़लम बनाई गई है। उसमें स्याही की बत्तियाँ एक बार पानी में भिगो कर भर दीजिए, फिर आपको कुछ भी खटपट न करनी होगी, न धब्बा पड़ेगा, न स्याही भरने की अड़चन ही करनी होगी।

इसमें सिर्फ थोड़ी सी कमी रह गई है कि जब पहिले भरी हुई बत्तियाँ खतम हो जावें तब दूसरी बत्तियाँ क़लम के भीतर पोले भाग में भर देना पड़ती हैं। सम्भव है, यह छोटी सी कमी भी थोड़े दिनों में दूर कर दी जावे।

(४) मछलियों का गैस-लैम्प।

मछलियाँ समुद्र में सब जगह पाई जाती हैं। समुद्र-तल पर रहनेवाली मछलियाँ छोटी होती हैं; पर ज्यों ज्यों गहराई बढ़ती जाती है त्यों त्यों मछलियों का आकार-प्रकार भी बदलता जाता है। जो मछलियाँ समुद्र की तली में पाई जाती हैं वे समुद्र-तल की मछलियों की अपेक्षा बहुत बड़ी तथा बहुत कुछ भिन्न होती हैं। जो मछलियाँ अधिक गहराई में रहती हैं उन्हें सूर्य का प्रकाश नहीं मिलता। तो फिर क्या वे अन्धेरे में ही रहती हैं? इसका उत्तर 'भारती' में प्रकाशित 'सागर के सजीव दीपक' नामक लेख में दिया गया है।

प्रकृति के नियमानुसार गहराई में रहने वाली मछलियों के आँखें नहीं होतीं; परन्तु यह हाल सबका नहीं है। उनमें से किसी किसी के पास जुगनू के सदृश प्रकाश रहता है जिससे वे अपना मार्ग आलोकित करती हैं। किसी किसी के गैस के लैम्प की तरह सामने एक दीपक रहता है। उस से वे अपने सामने का मार्ग प्रकाशित करती और शिकार की खोज करती हैं।

एंगलर नाम की एक और विचित्र मछली लगभग ३ मील गहरे समुद्र में पाई जाती है। इसके एक आकर्षणी सामने लटकती रहती है जो ऐसी मालूम होती है मानो खाने की कोई वस्तु हो। मछली के प्रकाश से यह आकर्षणी आलोकित रहती है जिससे शिकार आप से आप इसकी ओर खिंच आता है। ज्यों ही शिकार आया कि बस एंगलर उसे गड़प कर जाती है।

ये दीपक वाली मछलियाँ जब कभी ऊपरी भाग में आ जाती हैं, तब इनके गैस-लैम्प का प्रकाश कम हो जाता है और इन्हीं के भेद वाली जो मछलियाँ ऊपरी भाग से नीचे गहराई में पहुँच जाती हैं उनमें कुछ काल पश्चात् यह गैस-लैम्प उत्पन्न हो जाता है। मछलियाँ एक गहराई से दूसरी में एकदम नहीं चली जातीं, उन्हें अपनी स्थिति के परिवर्तन में बहुत काल लगता है।

(५) प्रशान्त महासागर के द्वीपों में कवच-निर्माण।

प्रशान्त (पैसिफ़िक) महासागर के पूर्वी भाग में बहुत से द्वीप-समूह हैं। उन द्वीपों के मनुष्य सदैव आपस में लड़ा करते हैं; पर एक आश्चर्य की बात है कि उन्हें कई पीढ़ियाँ लड़ते हो गईं, पर अपनी रक्षा के लिए उन लोगों ने किसी प्रकार का कवच निर्माण नहीं किया। उन द्वीपों में से केवल गिल्बर्ट नामक द्वीप-समूह में कवच पाया जाता है। इस द्वीप-समूह के लोग अभी थोड़ेही वर्षों से शान्त रहना सीखे हैं, नहीं तो आपस में सदैव लड़ा करते थे। इनकी लड़ाई की तारीफ़ यह थी कि एकही गाँव के मनुष्यों में आपस में कभी लड़ाई नहीं होती थी। जब लड़ाई होती थी तो दूसरे गाँव के मनुष्यों से। और, लड़ाई भी क्यों होती थी? यदि एक गाँव वाला दूसरे गाँव के जानवरों का शिकार करे या किसी स्त्री को भगा लावे अथवा किसी को गाली दे देवे, तो बस, लड़ाई ठन जाती थी।

गाँव गाँव में लड़ाई तो अकसर होती थी; पर जिन मनुष्यों से लड़ाई होती थी वे ही युद्ध के मैदान में नहीं आते थे। प्रत्येक गाँव में केवल एक कवच रहता था और उसे वही पहिनता था जो गाँव भर में सबसे अधिक शूरवीर हो। इस प्रकार के दो शूरवीर दोनों गाँवों से आकर जुट जाते थे और उन्हींकी हार-जीत से लड़ाई का निर्णय होता था। जो शूरवीर बहुधा विजयी होता था उस बेचारे को सदैव ही लड़ना पड़ता था। वहाँ ठीक वही कहावत चरितार्थ थी कि—'कोई करे अपराध अरु कोइ पाय फल भोग'।

आजकल उन लोगों की आपसी लड़ाई बन्द है, इससे अब कवच भी प्रत्येक गाँव में नहीं पाये जाते। एक तो पहिले ही, जबकि आवश्यकता अधिक थी, प्रत्येक गाँव में केवल एक कवच पाया जाता था, और अब तो किसी एकाध गाँव में बचा है, सो भी लुप्त होता जाता है। गिल्बर्ट द्वीप-वासियों को एक कवच बनाने में इतनी कठिनाई पड़ती थी कि वे दूसरा बनाने का प्रयत्न नहीं करते थे। उनके कवच में कुछ मौलिकता और विशेषता भी थी। कवच हलका और इतना बड़ा होता था कि सिर से पैर तक सभी अंगों की रक्षा करता था। छाती की रक्षा के लिए दुहरा आवरण रहता था। एक तो लोहे का और दूसरा एक प्रकार की मछली के चमड़े का जिस पर शस्त्रों के प्रहार का कुछ भी असर नहीं होता था।

वहाँ मनुष्य के दाँतों की माला का बड़ा मान समझा जाता है, खासकर स्त्रियों में। जब शूरवीर योद्धा लड़ने जाता था तब इस माला को पहिन जाया करता था। आजकल भी जिस किसी के पास यह माला है उसके चरणों पर गाँव भर की स्त्रियाँ अपने को न्योछावर समझती हैं। अब इन लोगों ने सभ्यता की ओर कुछ कुछ बढ़ना और अपने वीर गुणों से हाथ धोना शुरू कर दिया है।

(६) चम्पा और भ्रमर में विरोध क्यों ?

पाठक जानते हैं कि चम्पा का फूल बहुत सुन्दर होता है, सुवास भी उसकी बड़ी उत्कट और आनन्ददायिनी होती है। इसी कारण वह लोगों को बहुत प्रिय है। पर, इन सब गुणों के होते हुए भी, क्या कारण है जो मधुप-रसिक-राज भौंरा उसका मधु—पान नहीं करता ? इसीलिए कहा है—

चम्पा तोमें तीन गुण, रूप रंग औ वास।
औगुण तो में एक है, भ्रमर न आवे पास॥

इसके संबंध में पं० कमलादत्त त्रिपाठी 'लक्ष्मी में' लिखते हैं—

"चम्पा के फूल में प्रायः पाँच दल होते हैं जिनका ऊपरी भाग सफेद रंग का और भीतरी तह पीतवर्ण होती है। दलों के बीच में सूत्रों का एक समूह होता है जिसके मूल के समीप एक लसदार द्रव्य रहता है। यही मधु है।

"भ्रमर को अवसर ही नहीं मिलता कि वह इस मधु को ग्रहण कर सके; क्योंकि चम्पा पुष्प रात्रि को जब भ्रमर-गण अपने अपने छोटे घरों में विश्राम करते रहते हैं विकसित होता है। इसकी सुगंधि का अधिकांश भाग, रात्रि को ही, पवन

की भेंट हो जाता है। मधु और पराग को रात्रि-चर कीट खा जाते हैं। वस्तुतः फूल की रचना ही ऐसी होती है कि भ्रमर को उसका मधु नहीं मिल सकता। प्रातःकाल वह पुष्प पीला और शुष्क मालूम होता है; अतः विवेकी भौंरा उसकी परवाह नहीं करता; क्योंकि उसे तो उस समय नये नये पुष्प-पुंजों से ही अवकाश नहीं मिलता।"



विश्व-वैचित्र्य।

(१) मनुष्य-भक्षी पेड़।

ईश्वर की सृष्टि बड़ी अद्भुत है। उसमें जहाँ एक ओर मनुष्य की जीवन-रक्षा के लिए सामग्री मिलती है वहाँ दूसरी ओर ऐसी भी सामग्री मिलती है जिसके द्वारा मनुष्य का जीवन समाप्त हो जाता है। जो लोग खोज करने के लिए जंगल, नदी, पहाड़ आदि में विचरा करते हैं वे ऐसी कई अद्भुत वस्तुओं का पता देते हैं जिसे सुनकर एकदम विश्वास नहीं होता और आश्चर्य-चकित होना पड़ता है।

डाक्टर कार्ल लिची नामक एक प्रसिद्ध जर्मन विज्ञानवेत्ता और पुरातत्ववेत्ता ने हाल में एक बड़ी अद्भुत घटना का समाचार प्रकाशित किया है। उन्होंने आफ्रीका महाद्वीप के दक्षिणी भाग में स्थित मदागास्कार नामक द्वीप में खूब भ्रमण किया है। वहाँ की एक जंगली जाति का वर्णन करते हुए आपने लिखा है कि कोडोस जाति के लोग मनुष्य-भक्षी पेड़ की पूजा करते हैं और उत्सव मनाने के पश्चात् एक लड़की का बलिदान करते हैं। जब डाक्टर सा० मनुष्य-भक्षी पेड़ों को देखने जंगल में निकले तब पेड़ों की संख्या बहुत घट गई थी; क्योंकि कोडोस लोगों ने इस विचार से अनेक पेड़ जला डाले थे कि लड़कियों का बलिदान करते रहने से किसी दिन एक भी लड़की जाति में न बचेगी। पर जब बहुत थोड़े पेड़ बचे तब उन लोगों ने उन्हें नहीं जलाया।

बहुत खोज करने के पश्चात् डाक्टर सा० को एक पेड़ देखने को मिला। देखने में वह बहुत ही अद्भुत मालूम हुआ। उसकी पींड़ ज़मीन से लगभग दस फुट ऊँची थी और सिरे पर पींड़ की परिधि आठ या नौ फुट होगी। पेड़ के ऊपरी भाग से आठ बड़े भारी पत्ते लटके हुए थे। पत्तों का आकार ग़ज़ब का था। प्रत्येक १०,१२ फुट लम्बा और पेड़ में जहाँ लगा था वहाँ एक फुट चौड़ा और बीच में २ फुट चौड़ा और फिर पतला होते हुए अंत में सुई की नोंक के समान नुकीला था। पत्ते पर जहाँ तहाँ खूब नुकीले काँटे लगे थे। पत्तों की मुटाई बीच में १५ इंच से कम न रही होगी। ये पत्ते नीचे लटकते हुए ज़मीन को छूते थे। इनके ऊपर खूब लम्बी, किन्तु पतली डगालियाँ लटकती थीं। इन डगालियों के ऊपर पींड़ पर पतली कोमल लम्बी नसों के ही गुच्छे लगे हुए थे जैसे कि छोटे रूप में गेंदा या गुलाब के फूल के बीच में लगे रहते हैं। इन गुच्छों में बहुत करके मीठा, किन्तु नशीला, रस रहता है।

एक दिन शाम को डाक्टर लिची ने वहाँ के एक ज़िमींदार को कुछ भेंट देकर उनका उत्सव

देखने की उत्कट इच्छा प्रकट की। ज़िमींदार रात्रि के समय गाँव की मंडली को लेकर पेड़ के पास पहुँचा। डाक्टर सा० साथ गये। वहाँ इन्होंने पेड़ के आसपास १२ अँगीठी लगाई जिससे जंगल में खूब उजाला हो गया। फिर सब लोगों ने कुछ खाया-पिया, खास कर देशी शराब की बोतलें खूब खाली की गईं। थोड़ी देर में सब स्त्री-पुरुष नशे में चूर हो गये और नाचने, गाने और चिल्लाने लगे। केवल एक लड़की ने कुछ भी नहीं खाया-पिया और वह एक तरफ़ खड़ी खड़ी भय से काँप रही थी। डाक्टर सा० ने अपने साथी से उस लड़की के विषय में पूछा तो मालूम हुआ कि इसी लड़की का बलिदान होगा। साथी ने यह भी बतलाया कि यदि देवता प्रसन्न रहता है तो लड़की को छोड़ देता है; अन्यथा अपनी लम्बी पत्तियों से दबाकर मार डालता है।

अचानक उनका नाच-गाना बंद हो गया और थोड़ी देर के लिए सन्नाटा खिंच गया। फिर एकदम सबके सब उस लड़की पर टूट पड़े और उसके आसपास चिल्लाने और कूकने लगे। इन लोगों के इशारे पर जब लड़की पेड़ के पास नहीं गई तब वे लोग अपने बर्छे-भाले ले लेकर दौड़े और उस लड़की के शरीर को टोंचने लगे। पहले तो लड़की दया-भिक्षा माँगती रही; पर जब उसने अपने को बचते हुए न देखा तो वह बन्दर के समान एकदम उचट कर पेड़ पर चढ़ गई और वहाँ पहुँच कर उसने पेड़ के गुच्छों में से पवित्र रस का पान किया। इतना कर वह फिर नीचे कूदी और लोगों ने समझा कि देवता प्रसन्न है; इसलिए उसने लड़की को छोड़ दिया, किन्तु उसी क्षण पेड़ एकदम हिलने लगा और उसकी डगालियाँ लड़की के शरीर पर साँप के समान लिपटने लगीं। बड़े बड़े पत्ते भी उसी समय मुड़ मुड़ कर लड़की को इतने ज़ोर से दबाने लगे जैसे बरमा प्रेस से कोई दबाया जाता हो। पत्तों पर जो काँटे थे वे इस समय लड़की के शरीर में छिद रहे थे। डा० सा० लिखते हैं कि वह बड़ा ही रोमांचकारी दृश्य था।

जब पत्ते और डगालियाँ एक दूसरे से सट कर मिल गये तब ऊपर से कुछ रस टपकने लगा जिसे लोगों ने प्रसाद समझ बड़े प्रेम से पिया और उसके नशे में झूमते हुए लोग अपने अपने घर लौटे। जब से इस विचित्र पेड़ का हाल मालूम हुआ है तब से यह विचार हो रहा है कि विज्ञान-वेत्ताओं की मंडली वहाँ जाकर पेड़ का पूरा पूरा निरीक्षण करे। देखें, वह मंडली कब जाती है और क्या हाल बतलाती है।

(२) अद्भुत पाकस्थली।

संसार में जीव-जन्तुओं में तो विचित्रता पाई ही जाती है; पर कहीं कहीं मनुष्य भी मनुष्यों की बुद्धि को चक्कर में डाल देता है। लिखे हुए प्रमाण बतलाते हैं कि इसे सच मानो, पर बुद्धि कुछ दूसरा ही उत्तर देती है। अन्त में, प्रमाण के सामने बुद्धि को झुकना ही पड़ता है। लीजिए, अद्भुत पाकस्थली का उदाहरण सुनिए जो 'प्रतिभा' में, एक विलायती पत्र के आधार पर, प्रकाशित हुआ है।

मिस्टर हैनरी हैरिसन नामधारी एक व्यक्ति अमेरिका में उत्पन्न हुए थे। उन्हें अपनी आयु

भर में अस्वस्थ होकर कभी पलंग का मेहमान नहीं होना पड़ा। हाँ, केवल एक बार कुछ दिनों के लिए विश्राम लेना पड़ा था, जब कि डाक्टरों ने उनके उदर की परीक्षा करने के लिए अस्त्र-क्रिया की थी। मि० हैरिसन बड़े प्रेम से छोटे छोटे काँटे, अलपीनें, काँच के टुकड़े, कीले आदि अपने पेट शरीफ़ में पहुँचा देते हैं और आह तक नहीं करते। जब वे छै वर्ष के थे, तब ही अलपीने खाने लगे थे। उस समय डाक्टर ने ४० अलपीने उनके पेट से निकाली थीं।

यह विचित्र क्रिया करने के कारण वे एक सरकस में भर्ती हो गए और अपने भयंकर भोजन की क्रिया सबको दिखाने लगे। सन १६०० में, बड़े दिनों के आनन्दोत्सव में, फ़िलाडेल्फ़िया के मेडीकल कालेज में मि० हैरीसन का निमन्त्रण किया गया। वहाँ उनके भोजन के लिए जो द्रव्य इकट्ठा किया गया था उसकी सूची सुनिए—

४० छोटे छोटे काँटे, ६ काँच के टुकड़े, २० कीले, ६ घोड़े के नाल ठोकने के बड़े कीले, ५ पेंच, २ फूटे शीशे के टुकड़े।

भोजन के बाद जैसे हिन्दुस्थानियों में पान देने की प्रथा है, ऐसे ही वहाँ मि० हैरिसन को हड्डी की मूठ लगे दो बड़े चाक़ू और छोटे छोटे चाकुओं के तीन फन दिये गये। हैरीसन हज़रत ने पहिले तो भोजन साफ़ किया, फिर क्षण भर में चाक़ू की मूँठ को दाँतों से अलगकर लोहे के फनों को बात की बात में गले के नीचे उतार लिया। देखने वालों के आश्चर्य का ठिकाना न रहा। इस पर मि० हैरीसन ने कहा कि यह कुछ विशेषता नहीं है। यदि मनुष्य चाहे तो इस क्रिया का अभ्यास और भी अधिक कर सकता है और यह सबके लिए सहज है।

उक्त मासिक पत्र में यह कहीं नहीं देखने को मिला कि मि० हैरीसन अब भी जीवित हैं, या दूसरे लोक में अपना खेल दिखाने चले गये हैं।

(३) पशु-पक्षियों द्वारा ऋतु-परिवर्तन का ज्ञान।

ऋतु-परिवर्तन का पता प्रकृति के रंग-ढंग से तो लगता ही है; पर पशु-पक्षियों के कुछ आचरणों से भी लग जाया करता है। प्रकृति से तो उसी समय मालूम होता है जब कि परिवर्तन होना आरंभ हो जाता है; पर पशु-पक्षी परिवर्तन की सूचना कुछ पहले ही दे देते हैं। 'भारती' में इस विषय का एक नोट निकला है जिसमें बतलाया है कि यदि कुत्ता सबेरे भोजन न खावे और खेत में घास खाता मिले तो समझो कि वर्षा होने वाली है। ऐसे ही जब भेड़ें तितर-बितर होकर चरती हैं, तब ऋतु अच्छी मानी जाती है और यदि वे आपही आप एक झुण्ड में होकर चरने लगें तो समझिए कि तूफ़ान आने वाला है। सूअरों के घुरघुराने से भी तूफ़ान की सूचना मिलती है। यदि पशु चरने के लिए जंगल को जाना पसन्द न करें या उदास होकर आकाश की ओर देखें तो समझिए कि आँधी आवेगी।

हमने भी वृद्ध लोगों से कई बार कहते सुना है और देखा भी है कि यदि चिड़ियाँ धूल में लोटती पाई जाँय, तो समझिए कि वर्षा होने

वाली है। ऐसे ही जब चिड़ियाँ बाहर से घोंसला बनाने का सामान घर में लाने लगें तो ग्रीष्म ऋतु के व्यतीत होने की सूचना मिल जाती है। जब चिऊँटियाँ मुँह में अंडे लेकर एक बिल से दूसरे बिल में जाती हैं तब निश्चय करके दूसरे दिन वर्षा होती है। कबूतरों के बहुत ऊपर तक उड़ने से भी वर्षा के आगमन की सूचना मिलती है। जब हिरण के मुख पर कुछ उदासी के चिह्न हों और एक ही ओर दौड़ने में पूरी स्फूर्ति न मालूम पड़े, यहाँ-वहाँ दौड़ कर ठिठक जाता हो तो उसके इस लक्षण से गर्मी के आने की सूचना मिलती है।

पशु-पक्षियों के कृत्यों से भविष्य भी मालूम हो जाता है ! पर, अब इस विद्या का लोप हो रहा है।

(४) लवण-सरोवर ।

पाठकों ने सात समुद्रों का नाम सुना हो होगा ! उनमें से अब केवल लवण-समुद्र ही पृथ्वी पर देखने को मिलता है। अब खोज करने वालों ने लवण-सरोवर का पता लगाया है। खारे पानी की ऐसी झीलें तो कई हैं जिनके जल से नमक बनाया जाता है; पर ऐसी झील अभी तक कोई न थी जिसमें बना बनाया नमक सतह पर जमा हुआ मिलता हो। अमेरिका में केलीफोर्निया नामक स्थान के पास ऐसी कुछ झीलों का पता लगा है जिनका पानी गर्मी के दिनों में बिलकुल सूख जाता है और नमक की मोटी पपड़ी साफ दिखाई देने लगती है। उनमें से एक बड़ी झील के आस पास पहाड़ियाँ हैं जिन पर दिन के समय खड़े होकर देखने से झील का दृश्य बड़ा अद्भुत दिखाई देता है। जब सूर्य की किरणें पानी की सतह पर पड़ती हैं तब देखने वालों को ऐसा प्रतीत होता है मानो वह सतह वर्फ से ढकी है। अमेरिका में नमक का ऐसा अद्भुत भाण्डार होते हुए भी यूरोप वालों ने बाहर से नमक भेजकर अपना रोजगार बढ़ाया है; पर अब अमेरिका वाले बहुत शीघ्र इन सरोवरों का उपयोग करने वाले हैं।

(५) आज्ञा देने वाली घड़ी।

१६ मास के परिश्रम के बाद फ़िलाडेलफ़िया के एक पिता-पुत्र ने एक घड़ी बनाई है जो शब्दों द्वारा चेतावनी दिया करती है और किसी निश्चित समय पर निश्चित कार्य करने का स्मरण दिलाती है। घडी में एक, दो, तीन की घंटियाँ नहीं बजतीं; किन्तु जिस समय आप जिस प्रकार की सूचना पाना चाहें उस समय उसी प्रकार की चेतावनी आप को मिल सकती है। घड़ी न तो स्वतंत्र है, और न आपकी गुलाम ही हो सकती है। आप जैसे शब्द चाहें वैसे वह नहीं कह सकती। उसके कुछ बँधे हुए शब्द रहते हैं। उन्हीं को वह दुहराती है। मामूली अवस्था में वह बड़े प्रातःकाल आपसे कहेगी 'उठिए', 'उठिए'। सात बजे कहेगी 'चा पानी तैयार है'। पांच बजे शाम को 'घूमने जाइये' और रात को १० बजे 'सोने का समय हो गया' इत्यादि निश्चित शब्द कहती है। घड़ी केवल अंग्रेज़ी जानती है, अभी तक हिन्दी नहीं सीखी। उसमें कल-पुर्जे बहुत अधिक हैं, तब भी वह टेबल में, दीवाल में या आलमारी में लगाई जा सकती है।

साहित्य-सुमन ।

(१) संसार का भावी महायुद्ध ।

संसार में किसी न किसी प्रकार का भीतरी या बाहिरी युद्ध सदैव हुआ करता है। भीतरी युद्ध का हाल बहुत कम लोगों को मालूम होता है; पर जब वही प्रत्यक्ष रूप धारण करके बाहिरी युद्ध बन जाता है तब लोगों में हाहाकार मच जाता है। भविष्य में जो महायुद्ध होने वाला है उसका रूप इन दोनों से भिन्न होगा। उसके रूप का दिग्दर्शन पंडित विधुशेखर जी भट्टाचार्य ने बहुत स्पष्ट रीति से कराया है।

भट्टाचार्य जी लिखते हैं कि हिन्दू और ईरानी मत के अनुसार समस्त मानवजाति चार विभागों में विभक्त की जा सकती है—पहले ब्राह्मण (अर्थात आत्म-बल में श्रेष्ठ तथा उच्च कोटि के मनुष्य), दूसरे क्षत्रिय (युद्धप्रिय मनुष्य), तीसरे वैश्य (व्यापारी और कृषक) और चौथे शूद्र (दास, या वे लोग जो वेतन के लिए सेवा-वृत्ति करते हैं)। अभी तक संसार में जितने युद्ध हुए हैं वे सब ऊपर लिखे भेदों में से क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र-विभाग के मनुष्यों में ही हुए हैं। क्षत्रियों का सबसे बड़ा युद्ध भारतवर्ष का महाभारत हुआ है। उसमें केवल क्षत्रिय ही शामिल हुए थे। यद्यपि कुछ ब्राह्मणों ने भी भाग लिया था; पर वे यथार्थ में क्षत्रिय प्रकृति के थे। वैश्यों और शूद्रों (व्यापारी मनुष्यों और उनकी प्रजा तथा नौकर रखे हुए सैनिकों) का सबसे बड़ा युद्ध जो अभी तक हुआ है गत यूरोपीय महायुद्ध है।

ये तो हुए ब्राह्मणेतर मनुष्यों के युद्ध; पर ऐसा युद्ध संसार में कहीं नहीं हुआ है जिसमें केवल ब्राह्मणों ने ही भाग लिया हो। ऐसे ब्राह्मण-युद्ध का मुख्य उद्देश्य एक दूसरे पर हथियार चलाना या छिप कर गोली मारना नहीं है। उसका उद्देश्य भगवान् बुद्ध के शब्दों में आज से दो हजार से भी अधिक वर्षों के पूर्व बतलाया जा चुका है जिसका तात्पर्य है कि मनुष्य क्रोध को प्रेम से, बुराई को भलाई से, लोभ को दान से, और असत्य को सत्य से जीते। भगवान् बुद्ध के पहले भी, महाभारत में, यही बात कही जा चुकी है कि—

> अक्रोधेन जयेत् क्रोधम् असाधुं साधुना जयेत्।
> जयेत् कदर्यं दानेन जयेत् सत्येन चानृतम् ॥—उद्योगपर्व।

ईसा मसीह ने भी ऐसा ही उपदेश दिया था कि जो तेरे एक गाल पर तमाचा मारे उसकी ओर तू अपना दूसरा गाल फेर दे। उस महापुरुष ने यह भी कहा है कि अपने शत्रु से प्रेम कर और जो तेरा बुरा चेते उनके कल्याण के लिए प्रार्थना कर। ईसा मसीह ने यह उपदेश लोगों को सुनाने के लिए ही नहीं दिया। उन्होंने स्वयं उसका अनुकरण किया और यही कारण है कि आजदिन समस्त यूरोप और अमेरिका उनके चरणों को चूमता है।

इन्हीं सब उद्देश्यों को लेकर कहा गया है कि मनुष्य को बड़े भारी त्याग की आवश्यकता है और वह त्याग घर-द्वार या धन-सम्पत्ति का नहीं है, किन्तु ऐसा त्याग है जिसमें क्रोध को जीतने के लिए क्रोध का त्याग करना पड़ता है, बुराई को जीतने के लिए बुराई का त्याग करना पड़ता है और असत्यता पर विजय पाने के लिए असत्यता छोड़नी पड़ती है। त्याग का ऐसा गुण

जिसमें नहीं है उसके विषय में कहा गया है कि यदि मनुष्य में त्याग करने का गुण नहीं है तो समझो कि उसमें कोई गुण ही नहीं हैं। सच्चे ब्राह्मण में त्याग का यह असीम और उच्च गुण होना चाहिए।

राजनीति में न तो धार्मिक तत्त्व है और न आध्यात्मिक तत्त्व ही; और इसलिए उससे केवल विघातक कार्य ही होते हैं। यदि कोई चाहे कि उससे स्वतंत्रता, शान्ति और सुख मिल सके तो झूठी बात है। इसलिए राजनीति का रूप धार्मिक और आध्यात्मिक अवश्य बना दिया जाय। यही ब्राह्मण-प्रकृति मनुष्य का ब्रह्मास्त्र है जिस से वे संसार के सब दुर्गुणों का सामना कर सकते हैं।

अभी तक ब्राह्मण-युद्ध का कोई विराट् रूप संसार ने नहीं देखा था; पर अब स्पष्ट लक्षण दीखने लगे हैं कि सब से पहले भारत में यह ब्राह्मण-युद्ध अपना विराट् रूप धारण करेगा और फिर भिन्न भिन्न देशों में भी हुए बिना न रहेगा। भारत में तो यह युद्ध महात्मा गांधी के सेनापतित्व में आरम्भ हो ही गया है। यह अहिंसात्मक है, पर उसके सामने दुर्गुण क्षण भर भी नहीं ठहर पाते। राजनैतिक दुर्गुण ही नहीं, सामाजिक, आर्थिक और नैतिक दुर्गुण भी नष्ट हो जाते हैं। उस से सद्गुणों की उत्पत्ति होती है। यह माना कि वह विघातक है; किन्तु विधायक भी कम नहीं है। वह मनुष्य को गाढ़ान्धकार से बाहर निकालता है और सत्यता की उज्ज्वल ज्योति दिखाता है। वह बतलाता है कि सत्य सत्य ही है और वह झूठ के साथ एक क्षण भी नहीं रह सकता। इससे सब काल्पनिक भय दूर हो जाते हैं और वह मनुष्य की आत्मा को स्वतंत्र और बन्धनरहित बना देता है। सबसे बड़ी बात इस ब्राह्मण-युद्ध में यह है कि वह बतलाता है कि शत्रु से लड़कर उस पर विजय प्राप्त मत करो और न उसे घृणा की दृष्टि से देखो, करना यही है कि उससे कोई सम्बन्ध मत रखो। न झूठ से सम्बन्ध रखोगे और न झूठ बोलोगे।

भट्टाचार्यजी लिखते हैं कि अब यह स्पष्ट दीखने लगा है कि ब्राह्मण-युद्ध के जो सिद्धान्त हमारे प्राचीन धर्म-ग्रन्थों में भरे पड़े थे उन्हें अब अब महात्मा गांधी कार्य-रूप में परिणत कर समस्त भारतीय राष्ट्र को ब्राह्मणत्व के साँचे में ढाल रहे हैं। प्राचीन काल में भी दूसरी जाति के मनुष्यों ने अपने दुर्गुणों को छोड़ कर और असीम त्याग कर के सद्गुणों को ग्रहण किया था और वे ब्राह्मणत्व को प्राप्त हुए थे। इस ब्राह्मण-युद्ध में वे ही मनुष्य भर्ती हो सकते हैं जिनमें ये गुण होवें —

(१) वे दूसरों को हानि न पहुँचावें और न किसी को घृणा की दृष्टि से देखें। वे देश, राष्ट्र या जाति-पाँति का कुछ भी भेद-भाव न करें।

(२) किसी भी दशा में वे झूठ न बोलें और न उसकी बात ही कभी सोचें।

(३) वे ऐसी कोई वस्तु ग्रहण न करें जो दूसरे की हो और जो उचित रीति से न दी गई हो।

(४) वे केवल उतना ही पाने की इच्छा करें जितने से वे अपने शरीर और आत्मा की रक्षा कर सकें।

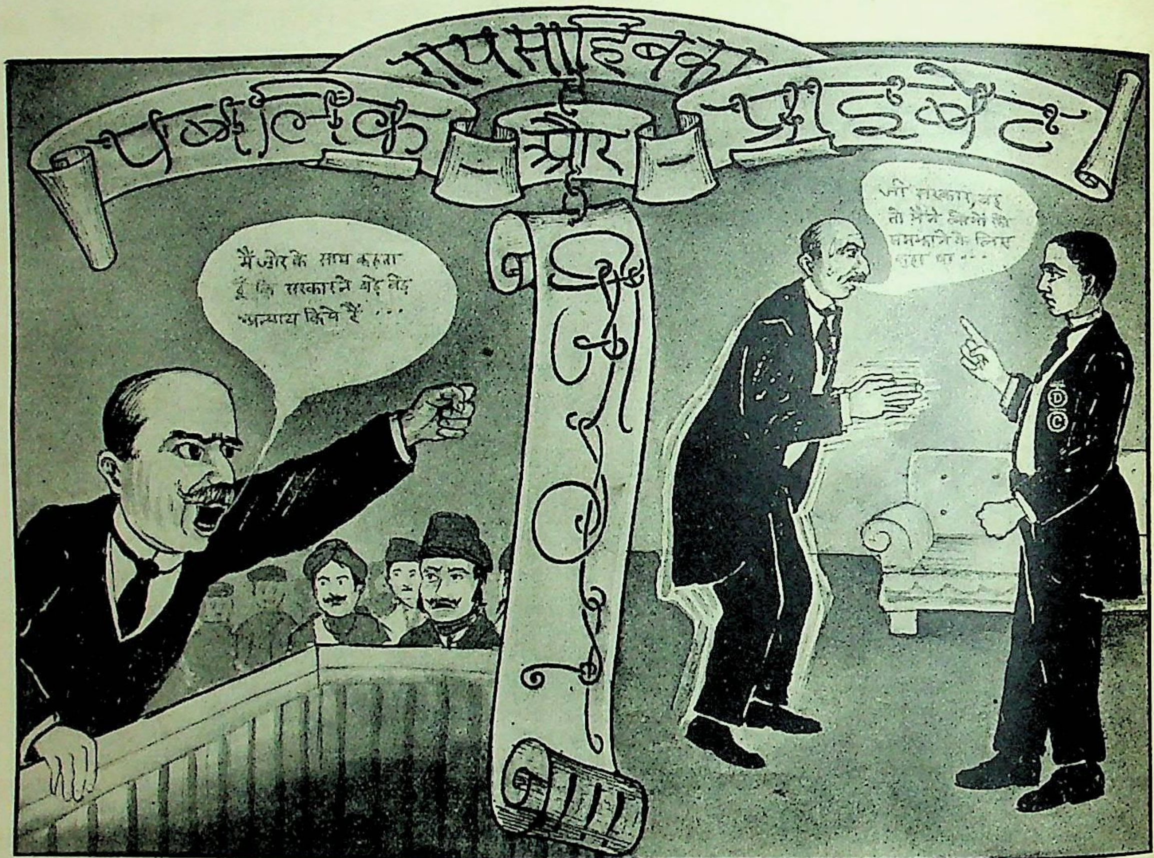
(५) और, सबसे मुख्य बात यह है कि वे पक्के ब्रह्मचारी हों । यदि भारत ऐसे सैनिक उत्पन्न कर सका—और भट्टाचार्यजी आशा करते हैं कि ऐसे कई सैनिक उत्पन्न हो सकेंगे—और वे महात्मा गांधी के नेतृत्व में चले तो स्वराज्य मिल जाना कुछ कठिन नहीं है । फिर अछूतपन आदि भीतरी सामाजिक दोष शीघ्र ही मिट जावेंगे। भट्टाचार्यजी लेख के अन्त में गीता के शब्दों में अपना परिवर्तन करते हुए कहते हैं—"यह ब्राह्मण-युद्ध खूब जोर-शोर से चलाना चाहिए और फल की कुछ भी चिन्ता न करना चाहिए; क्योंकि यह ब्राह्मण-युद्ध करना हमारा कर्तव्य है, हमारा धर्म है । मैं तुम्हें पूरा भरोसा देता हूँ कि इसमें सफलता अवश्य मिलेगी । मैं गीता के कुछ शब्दों को बदल कर कहता हूँ कि—

" यत्र योगोज्ज्वलो गांधी, यत्रैते धनुर्धराः ।
तत्रश्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥ "

(२) नवीन सुधारों की निस्सारता ।

नवीन सुधारों के अनुसार बनी हुई काउन्सिलों में पहिले की अपेक्षा कहीं अधिक प्रस्ताव रखे गये, किन्तु अभी तक एक भी प्रस्ताव ऐसा देखने में नहीं आया जिससे कि नवीन सुधारों की उपयोगिता सिद्ध हुई हो । गत अप्रेल के 'मार्डन रिव्यू' में प्रकाशित एक नोट में दिखलाया गया है कि ब्रिटिश राज्य से हिन्दुस्थान को दो प्रकार की भारी हानियाँ हुई हैं । सबसे पहली तो यह है कि लोग भीतरी प्रबन्ध करने में अयोग्य हो गये हैं और दूसरी यह कि हमारी राजनैतिक स्वतंत्रता को हम स्वयं प्राप्त नहीं कर सकते, वह बाहर से ही दूसरों के द्वारा प्राप्त कराई जा सकती है । अंग्रेज़ों के आने के बहुत पहले भारतवर्ष में बड़ी अशान्ति थी । एक ओर बाहरी आक्रमण और दूसरी ओर भीतरी फूट से लोग बेचैन थे । यह सब होते हुए भी हिन्दुस्थानियों ने कहीं घमासान युद्ध कर और कहीं मेल कर शान्ति स्थापित कर ली थी और यह शान्ति अंग्रेज़ों के आने के पूर्व हो चुकी थी; किन्तु बताया यह जाता है और माना भी यह जाता है कि अंग्रेज़ों ने ही शान्ति स्थापित की । इससे अधिक पतन और क्या हो सकता है।

उन दिनों बाहरी आक्रमण भी होते थे; पर परिणाम यह होता था कि आक्रमणकारी दल या तो मार भगा दिया जाता था या भारतीय प्रजा के समान यहीं निवास करने लगता था। लोगों को ऐसे आक्रमणों का सामना करते रहने से अपने वीर गुणों से हाथ नहीं धोना पड़ता था । उनमें एक बार फिर से प्राचीन गौरव और महावीरता की झलक दिखाई दे देती थी । यह सब किसी बाहिरी शक्ति की सहायता से कुछ नहीं होता था । हां, कभी कभी विदेशी लोग सेनानायक या अन्य उच्च कर्मचारी बना लिये जाते थे, किन्तु राजनैतिक क्षेत्र में काम करने के लिए किसी विदेशी की सहायता की ज़रूरत नहीं पड़ती थी और न कोई स्वप्न में भी किसी को ऐसे काम के लिए बाहर से बुलाता था। उस समय शान्ति बनाये रखना या भंग करना अपनी शक्तियों पर निर्भर था । यह कोई नहीं सोचता था कि हमारे लिए कोई विदेशी आकर शान्ति स्थापित करे या स्वराज्य दे दे । भीतरी स्वतंत्रता पर ही बाहरी स्वतंत्रता निर्भर है । भीतरी स्वतंत्रता किसी की कृपा से या वर-दान से नहीं मिल सकती; वह तो अपने ही हाथों से, अपने



राय साहिब का पबलिक और प्राइवेट जीवन।

राय साहिब सभा में कैसी लम्बी-चौड़ी हाँकते हैं;
परन्तु साहिब बहादुर के जरा घुड़कते ही पसीने पसीने
हो जाते और थरथर काँपने लगते हैं!

चित्रकार—
श्रीयुक्त गजानन।

प्रयत्न से मिल सकती है। अंग्रेजी राज्य का एक भयंकर दुष्परिणाम यह हुआ है कि हम लोग भीतरी स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिए अपनी शक्तियों का उपयोग न कर यह आशा करते हैं कि कोई कृपा करके हमें स्वतंत्र कर दे। तात्पर्य यह है कि हमारे विचार, हमारी आशाएं, हमारी कल्पनाएं प्रायः सबकी सब एक प्रकार से दासता की बेड़ियों से कसी जा चुकी हैं। मानसिक दासत्व की यह निकृष्टतम श्रेणी है। यदि असहकारिता के आन्दोलन से हममें ये भाव उत्पन्न हो सके कि हमारा कल्याण हमारे ही हाथों से, हमारी ही शक्तियों से, होगा तो समझिए कि इस आन्दोलन ने एक अत्यन्त महत्वपूर्ण और अपूर्व कार्य कर डाला।

नोट-लेखक का कथन है कि नवीन सुधार दो प्रकार से बिल्कुल निस्सार हैं—एक तो यह कि उनसे हम में न तो प्रबन्ध-शक्ति बढ़ती है और न हम बाहरी आक्रमणों को दूर सकते हैं; और दूसरे यह कि उनसे मानसिक दासत्व की वह बेड़ी नहीं टूटती जिसने कि हमारे मनों में यह बात भर दी है कि हमें किसी की कृपा से ही स्वतंत्रता मिल सकती है।

(३) भारत का भविष्य।

'पोलिटिकल सायन्स क्वार्टरली' नामक पत्र में मि० बर्नार्ड हूटन ने 'भारत में सुधार' पर अपने विचार प्रकट किये हैं। आपने कलकत्ते की विशेष कांग्रेस के असहकारिता के प्रस्ताव का उल्लेख करते हुए लिखा है कि—

"भारत के इतिहास में यह (असहकारिता का प्रस्ताव) एक अत्यन्त महत्वपूर्ण घटना है। इस प्रस्ताव से भारतवासियों ने अपनी स्वतंत्रता प्राप्त करने का दृढ़ निश्चय कर लिया है और यह निश्चय किसीसे भीख माँग कर या ब्रिटिश सरकार की सहायता पाकर पूरा नहीं किया जायगा; किन्तु अपने आप, अपनी अपरिमित संख्या, अपने संगठन, अपने त्याग, अपने साहस और अपने देशानुराग के भरोसे पर अटल रह कर किया जायगा।

"अब सोचिए, भविष्य में क्या होगा? क्या नवीन सुधार अच्छी तरह कार्यरूप में परिणत हो सकेंगे? क्या उनसे हिन्दुस्थानियों को संतोष होगा? लक्षण तो अच्छे नहीं दिखाई देते। इसमें सन्देह नहीं कि नवीन सुधारों से अधिकांश मनुष्यों को संतोष नहीं है और न यही आशा है कि उनसे वह बुरापन मिट जायगा जो अभी सब कहीं फैला हुआ है।

"क़ानून बनाने वाली सभा के चुनाव में शिमला से किये गये कार्यों द्वारा मालूम हो गया है कि नरम दल वालों का ही हाथ उसमें अधिक रहेगा। भारतीय सरकार अपने को नरम दल वालों के हाथ में सौंप देना चाहती है जिससे वे राष्ट्रीय दलवालों को जिनकी संख्या अधिक है दबा सकें। इस सबसे बढ़कर महत्व की बात है १९२०-२१ का बजट। सरकार ने महायुद्ध के डेढ़ वर्ष बाद ९ करोड़ पौण्ड की आमदनी में से ४ करोड़ पौण्ड फ़ौज के ख़र्चे के लिए अलग रख छोड़े हैं। इसका कारण बतलाया जाता है कि नई तैयारी करने की आवश्यकता है; पर असल बात यह नहीं है। बात यह है कि सरकार जनता से डरती है और उसे तोपख़ाना, फ़ौजी जहाज़, हवाई जहाज़ आदि का भय दिखाकर वश में रखे रहना

चाहती है। सरकार की नीति का कारण एक-मात्र भय है। उसकी नीति भय से उत्पन्न हुई है, भय से उत्तेजित हुई है और भय से ही घिरी हुई है। क्या इस नीति से वर्तमान भारत में काम करके सफलता पाने की आशा की जा सकती है? यह तो वही पुरानी नौकरशाही की धाँधली है जो जनता की इच्छा और आशा को कुछ भी नहीं मानती रही है।

"अस्त्र-शस्त्र से सज्जित ऐसी सरकार का सामना करने के लिए हिन्दुस्थान के वे आदमी छाती अड़ा कर डटे हैं जो एक सूत्र में गुँथे हुए हैं, अपने कार्य में पूर्ण विश्वास रखते हैं और कार्य करने के लिए पूरी रीति से तैयार हैं। उन के नेता भी उत्कृष्ट कोटि के राजनीतिज्ञ हैं; जैसे, लाला लाजपतराय, पटेल, अलीभाई तथा सैकड़ों अन्य लोग। पृथ्वी के तल पर भारतवर्ष एक अत्यन्त शान्ति-प्रिय देश है और इसलिए उसके सब कार्य शान्ति-पूर्ण रहेंगे। पर, क्रान्ति होगी अवश्य। यदि इँग्लैण्ड में मज़दूर-दल का प्राधान्य हो गया, तो यह आन्दोलन शीघ्र समाप्त हो जायगा, अन्यथा बहुत समय लगेगा और आन्दोलन और असन्तोष बढ़ता जायगा और जनता की शक्ति प्रबल हो जायगी। अन्त होना निश्चित है इसमें सन्देह नहीं।"

जब विदेशी लोग भारत के भविष्य के सम्बन्ध में ऐसी आशाएँ कर रहे हैं तब भारत-वासियों को कितनी आशाएँ न करनी चाहिए यह बतलाने की आवश्यकता नहीं।

(४) चरखों का महत्त्व।

श्रीमती सरलादेवी चौधुरानी चरखों का महत्त्व इस प्रकार बतलाती हैं—

"अंग्रेज़ लोग भारतवर्ष में सिकंदर या नेपोलियन बोनापार्ट (के समान विजेता) बनकर नहीं, बरन् सौदागर बनकर आये थे। उनका उद्देश्य राज्य का निर्माण करना नहीं, बरन् देशी उद्योग-धन्धों को मटियामेट करना था। चरखे की जड़ खोदकर ही ब्रिटिश राज्य की नींव स्थापित की गई, हस्त-कौशल का विनाश किया गया और इँग्लैंड के कारखानों की वृद्धि चाहने वाली कम्पनियों के हिस्सेदारों और डायरेक्टरों का पेट भरने के लिए भारतवासी लूटे गये। उन्हींके इतिहासकारों का कहना है कि इँग्लैंड के कारखाने-वालों ने बंगाल के कोष्टों का व्यापार गिराने के लिए राजनैतिक अन्यायास्त्र का प्रयोग किया था; क्योंकि उनमें सामर्थ्य न था कि वे बंगाली प्रतिद्वंद्वियों का सामना बराबरी के साथ कर सकते। यहीं से भारत की स्वाधीनता का ह्रास आरंभ हुआ।

"भारत के हस्त-कौशल की कुन्जी चरखा ही थी। ढाका के करघे अब भी चलते हैं और इँग्लैंड और जापान की मशीनों का बना हुआ सूत काम में लाते हैं। भारत का सूत कातने वाला जन-समुदाय राष्ट्र को भोजन, सुख और स्वतंत्रता देता था। चरखे के ही बल पर हम अपनी स्वाधीनता अब फिर प्राप्त कर सकते हैं। हमारे राष्ट्रीय सैनिकों को वही कार्य करके उस श्रेष्ठता को पहुँचना होगा जो उन्होंने डेढ़ सौ वर्ष पहिले अनिच्छा से खो दी है। हम हाथ के कते और बुने हुए कपड़े पहिन कर ही भारतीय शिल्प की वही रक्षा कर सकते हैं, जिसे विदेशी सरकार ने कपट और निर्दयता से नहीं करना चाहा। स्वराज्य का मूल मंत्र सूत-कला के पुनरु

और रक्षण में, खोये हुए धन्धे के पुनर्जीवन, भारतीय घरों के पुनर्निर्माण और भारतीयों के हाथों के बने कपड़े पारधान करने में है ।

"कपड़ा ही कपड़ा सर्वत्र दृष्टि पड़ता है । सभी प्रकार के, एक से एक बढ़िया, कपड़े के गट्ठ दिखते हैं; परन्तु एक गज़ भी ऐसा नहीं दिखता, जिसे हम अपना कह सकें । भारत का कपड़ा ही कुछ शताब्दी पूर्व समस्त संसार का शरीर ढाँकता था; पर आज वही भारत भिक्षुक है । उसे अपना अनावृत तन ढाँकने के लिए दूसरे देशों का मुँह ताकना पड़ता है । कुराज्य-रूपी दुःशासन उसे नग्न करने के उद्योग में सतत निरत रहता है । अब भी उसकी लज्जा बचाने का समय है । भारत-पुत्रों को केवल राष्ट्र के सुदर्शनचक्र—चरखों—पर विश्वास करने की देर है । तुम्हारी अन्तरात्मा में स्थिति चक्र-पाणि-शूलपाणि नहीं—इस आपत्ति-काल में भी राष्ट्र की रक्षा कर उसे जीवित रखेंगे ।

"आप पूछ सकते हैं कि समूचे राष्ट्र को सूतकला के पुनरुद्धार के लिए सूत कातने की क्या आवश्यकता है ? कोष्टे ही जो शताब्दियों से यह काम करते आते हैं और इसे अच्छी तरह जानते हैं, क्यों न इसे करने के लिये उत्तेजित किये जायँ ?

"इसका उत्तर यह है कि वर्ष भर में विदेशी माल का स्थान लेने के लिए प्रचुर परिमाण में स्वदेशी माल इकट्ठा कर लेना होगा और सम्पूर्ण राष्ट्र के अतीत काल के पापों का प्रायश्चित्त भी करना होगा; क्योंकि अत्याचारियों के प्रधान सहायक हमारे ही देशवासी अंग्रेज़ी कम्पनियों के गुमाश्ते, एजेंट और हज़ारों मूर्ख नौकर थे जिनकी सहायता के बिना विदेशी जन हमारा सर्वनाश करने में सफल न हुए होते । अतएव ब्रिटिश राज्य का अधोगामी प्रभाव राष्ट्र के धन और सुख पर उतना भयंकर नहीं पड़ा, जितना कि भारत की जातीय नैतिकता पर पड़ा है । अनीति के इस बंधन को तोड़ना होगा । चरखे के प्रत्येक चक्कर के साथ हमें उसके एक एक बन्धन को खोल देना होगा । राष्ट्र की आत्म-पवित्रता की यही रीति है । चरखे की विद्युत—उत्पादक शक्ति ही शुद्ध नैतिक परिवर्तन कर सकती है, जिसका सामना इँग्लेंड की द्विगुणित नाशक भौतिक और नैतिक मशीन की शक्ति नहीं कर सकती ।"

विविध विषय ।

(१) वकील नेता और महात्मा गांधी ।

म० गांधी ने "यंग इंडिया" के किसी अंक में लिखा था कि "जिन वकीलों ने वकालत नहीं छोड़ी, उन्हें एक बात नहीं करनी चाहिए, और वह यह है कि उन्हें पब्लिक प्लेटफ़ार्म पर, नेता बनकर कुछ नहीं करना चाहिए। उन्हें चाहिए कि वे शान्तिपूर्वक काम करने में ही सन्तोष मानें" । इसकी आलोचना करते हुए मार्डन रिव्यू के सम्पादक लिखते हैं—"यदि हम वकील होते और अपना कुछ समय लोक-सेवा में दिया करते होते, तो हम महात्मा गांधी के इस कथन को मानकर लोक-सेवा के अपने पथ से तानिक भी विचलित न हुए होते…… किसी भी मनुष्य को जो अपने देश पर प्रेम करता है, आग्रह-पूर्वक

देशसेवा करनी चाहिए।" हमें आश्चर्य होता है कि माडर्न रिव्यू के सुयोग्य सम्पादक ने "यंग इंडिया" के उक्त अंक को नहीं देखा है, नहीं तो वे ऐसी आलोचना न करते। उन्होंने "बंगाली" के बारीसाल वाले सम्वाददाता के कथन के आधार पर आलोचना कर डाली है। महात्मा गांधी के कथन का वह भाव नहीं है जो ऊपर दिये हुए अवतरण में है। उनका कहना है "कांग्रेस का प्रस्ताव है कि सब वकीलों को चाहिए कि वे वकालत छोड़ने में अधिक यत्न करें; और, मैं समझता हूँ कि जिन वकीलों ने अभी तक वकालत नहीं छोड़ी है, वे कांग्रेस के संगठन में कोई पदाधिकारी होने या कांग्रेस के प्लेटफ़ार्म पर, नेता के समान, कुछ करने की आशा नहीं कर सकते हैं।........हमें चाहिए कि हम जो कुछ कहें और करें उसमें मेल होना चाहिए। मेरा विश्वास है कि यदि किसी प्रान्तीय कमेटी के सभापति ने, जो वकालत का काम करते हैं, अपनी वकालत नहीं छोड़ी है, तो वे प्रान्तीय कमेटी का काम सफलतापूर्वक नहीं कर सकते। वे काम भले ही करें; पर उनका वज़न नहीं पड़ सकता।" यदि माडर्न रिव्यू ने यह अवतरण देखा होता, तो उसे उपरोक्त आलोचना की आवश्यकता न पड़ी होती। यह नोट छपते छपते हमें मालूम हुआ कि माडर्न रिव्यू ने इसी मई मास के अंक में अपनी भूल स्वीकार कर ली है।

(८) भारतवर्ष की जन-संख्या।

भारतवर्ष में प्रति दसवें वर्ष सरकार की ओर से, जनसंख्या की गणना हुआ करती है। इस वर्ष वह गत १८ मार्च को हुई।

इस वर्ष की जन-संख्या निराशाजनक है। गत १९११ में इस देश की जन-संख्या ३१½ करोड़ थी और इस वर्ष वह लगभग ३२ करोड़ हुई, अर्थात् १० वर्षों में वह १.२५ प्रतिशत के हिसाब से बढ़ी है। इस वृद्धि की तुलना दूसरे देशों की जन-संख्या-वृद्धि के साथ करने से विदित हो जाता है कि भारत की जन-संख्या-वृद्धि बहुत धीरे हो रही है। यूनाइटेड किंगडम की जन-संख्या-वृद्धि प्रतिशत ९, यूनाइटेड स्टेट्स की २५ और कैनेडा की ३४ होती आई है; और भारतवर्ष में यही वृद्धि १.२५ प्रति वर्ष है। दूसरे, अर्थ-शास्त्रज्ञों का सिद्धान्त है कि स्वाभाविक क्रम से अर्थात् प्लेग, हैज़ा आदि बीमारियों द्वारा मनुष्य की बहुत बड़ी संख्या के प्रतिवर्ष नष्ट होते रहने पर भी, मनुष्य-संख्या प्रति ३० वें वर्ष दुगनी हो जाया करती है, अर्थात् यदि किसी देश की जन-संख्या आज एक करोड़ है तो ३० वर्षों में वही दो करोड़ हो जावेगी। इस हिसाब से भी इस देश की जन-संख्या वृद्धि संतोषदायक नहीं कही जा सकती। यह माना कि महात्मा गांधी कहते हैं कि प्रत्येक गृहस्थ को पूर्ण ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करना चाहिए, अर्थात् जन-संख्या की वृद्धि कर गुलामों की संख्या नहीं बढ़ानी चाहिए। अवश्य ही इस आदेश के अनुसार अनेक गृहस्थ काम कर रहे होंगे; पर यह आदेश अभी कल का है और इसका प्रभाव दस वर्षों के पश्चात् होने वाली गत गणना पर उतना नहीं हो सकता। अतः इस असन्तोषदायक वृद्धि के अन्य कारण हैं; और उनपर हम फिर कभी विचार करेंगे। स्वतंत्र या स्वराज्य का उपभोग करने वाले देशों की जन-संख्या-वृद्धि के साथ पराधीनता-पाश में जकड़े हुए भारत की जन-संख्या-

वृद्धि की तुलना स्पष्टतया सूचित करती है कि स्वतंत्र देशों की जन-संख्या खूब बढ़ती है।

संख्या की बात जाने दीजिए, देश के वाणिज्य व्यवसाय की ओर दृष्टि डालने से और भी अधिक निराशा होती है। पूना, नासिक, सतारा, बीजापुर आदि स्थानों की जन-संख्या ३ से लेकर २२ प्रतिशत कम होकर बम्बई की जन-संख्या २० प्रतिशत बढ़ गई है। इसी प्रकार बलोचिस्तान के ज़िलों में जन-संख्या ३० से ७२ प्रतिशत तथा सीमाप्रान्त में ३३ प्रतिशत बढ़ी है। पेशावर में तो वह बढ़कर तिगुनी हो गई है। ये बातें प्रकट करती हैं कि कृषि-प्रधान भारत अपने प्रधान कर्म को छोड़कर मध्यम कर्म में सन्तोष मानने लगा है और जन-संख्या ग्राम-वास छोड़कर नगर-निवास करने लगी है। साथ ही, दूसरे देशों की स्वतंत्रता हरण करने के लिए, चाँदी के टुकड़ों की लालच में पड़कर, कृत्रिम क्षात्र-धर्म स्वीकार करने लगा है। चम्पारन और सारन सदृश स्थानों की जन-संख्या-वृद्धि परावलंबी और साहबों के बूटों को ललचाने वाली तिल्ली-बढ़े-हुए कुलियों की वृद्धि सूचित करती है। इसी प्रकार अन्दमान और निकोबार द्वीपों की भी जन-संख्या बढ़ी है। ये सब अंक खेदजनक हैं। भारत का कृषि कर्म कम हो रहा है; सैनिकों, कुलियों और क़ैदियों की संख्या बढ़ रही है यह देख कर किसे दुःख न होगा?

(३) भारतवर्ष में दुर्भिक्षों की वृद्धि।

भारतवर्ष में छै ईतियाँ

अतिवृष्टिरनावृष्टिः शलभा मूषिकाः खगाः।
प्रत्यासन्नाश्च राजानः षडेता ईतयः स्मृताः॥

के प्रसिद्ध होते हुए भी देश में अन्न-भाण्डार इतना प्रचुर रहता था कि किसी वर्ष ईतियों के हो जाने पर भी देश में दुर्भिक्ष नहीं पड़ता था; पर अब दशा बदल गई है और प्रतिदिन बदलती जा रही है। स्वर्णभूमि भारत वर्तमान समय में दुर्भिक्षों का लीलाक्षेत्र हो रहा है। ऐसा कोई वर्ष नहीं। जब किसी न किसी प्रान्त में दुर्भिक्ष न पड़ता हो।

"दि फ्रेंडस ऑव् फ्रीड्म फॉर इंडिया" ने ब्रिटिश ब्लू बुक्स तथा अन्य विश्वसनीय सामग्री के आधार पर पता लगाया है कि भारतवर्ष में अंग्रेज़ी राज्य स्थापित होने के पूर्व दुर्भिक्ष कितने कम थे और वे अब कितने बढ़ते जा रहे हैं।

अंग्रेज़ी शासन स्थापित होने के पूर्व

शताब्दी	दुर्भिक्षा की संख्या
११ वीं में	.... २
१३ वीं	.... १
१४ वीं ...	.... ३
१५ वीं	.... २
१६ वीं	.... ३
१७ वीं	.... ३
१८ वीं में सन् १७४५ ई० तक	.... ४

(४) अंग्रेज़ी शासन स्थापित होने पर

१८ वीं शताब्दी में (१७६९ से १८०० तक)	.... ७
१९ वीं में	.... ३१

१९ वीं शताब्दी के प्रारंभिक २५ वर्षों में ५ दुर्भिक्ष पड़े थे और इनमें दश लाख जनसंख्या कालकवलित हुई थी। उसी शताब्दी के अंतिम २५ वर्षों में १८ दुर्भिक्ष पड़े और उनमें लगभग २½ करोड़ मनुष्य परलोक सिधारे!

(४) विज्ञापन का नया ढंग।

पाश्चात्य देशवाले व्यापार करना भी खूब जानते हैं। लाखों का माल बेंचने के लिए विज्ञा-

पन में करोड़ों ख़र्च करना उन्हींका काम है। विज्ञापन किस प्रकार देना चाहिए, यह बात भारतवर्ष को पाश्चात्य देशों से सीखनी चाहिए। फ़ेडेरेशन आव् ब्रिटिश इंडस्ट्रीज़ ने अपने माल का विज्ञापन देने की एक अनोखा ढंग सोचा है। वह एक भारी जहाज बनवा रहा है जिसमें ब्रिटिश लोगों के बनाये माल के नमूने रखे जावेंगे। यह जहाज स्थान स्थान में घूम-फिरकर अपना माल दिखावेगा और विदेशी खरीदारों से जान-पहचान करेगा। व्यापार करना इसे कहते हैं।

(५) रिवर्स काउन्सिल से भारत की हानि।

इस प्रश्न का उत्तर देते हुए हाउस आव् लार्ड्स ने कहा कि इन्डियन-करेन्सी-कमेटी की सूचनाओं के अनुसार काम करने से भारत को ३५ करोड़ रुपयों की हानि हुई है। इस पर इलाहाबाद का प्रसिद्ध सहयोगी पत्र 'लीडर' लिखता है—"यदि ऐसी ही हानि इँग्लैण्ड की हुई होती तो आज दिन इंग्लैण्ड क्या करता? हमें पूर्ण रीति से भरोसा है कि ब्रिटिश गवर्नमेंट या तो ऐसी सूचनाओं को काम में ही न लाती और यदि किसी कारण से ज़बरदस्ती लाना पड़ता, तो इतनी भारी हानि होने पर आज वह सरकार ही नेस्त-नाबूद कर दी जाती।"

पर, हजरत, यह इँग्लैण्ड थोड़े ही है, यह तो तुम्हारा दब्बू भारत है जिसकी स्वेच्छाचारिणी सरकार के तुमसे सहयोगी हैं, फिर यहाँ हो ही क्या सकता है। ऐसेही उदाहरणों से सरकार अपने हाथों अपना विश्वास गँवाती जाती है।

(६) जहाज़ी प्रतियोगिता।

अमेरीका ने जहाज़ों के बनाने का कार्यक्रम पूर्ववत् जारी रखा है। १९२४ के अन्त में वह इँग्लैंड के बराबर जहाज़ी शक्ति-सम्पन्न हो जायगा! १९१६ तथा १९१७ में अमेरीकन राज्य ने युद्ध के लिए जो जहाज़ बनाना आरंभ किया था वह इस प्रकार है:—

बैटलशिप्स	....	१०
बैटलक्रूज़र्स	....	६
लाइट क्रूज़र्स	....	१०
डिस्ट्रायर्स	....	३००
सब्मेरीन्स	....	६७

१९१५ के प्रोग्राम के अनुसार जो एक बैटलशिप बनाया जारहा था यदि उसको भी सम्मिलित कर लिया जाय तो निम्न लिखित जहाज अभी तैयार किये जा रहे हैं—

बैटलशिप्स	....	११
बैटलक्रूज़र्स	...	६
डिस्ट्रायर्स	....	६३
लाइटक्रूज़र्स	....	१०
सब्मेरीन्स	....	५४
गनबोट्स	....	१

इसी प्रकार जापान निम्न लिखित जहाज बना रहा है—

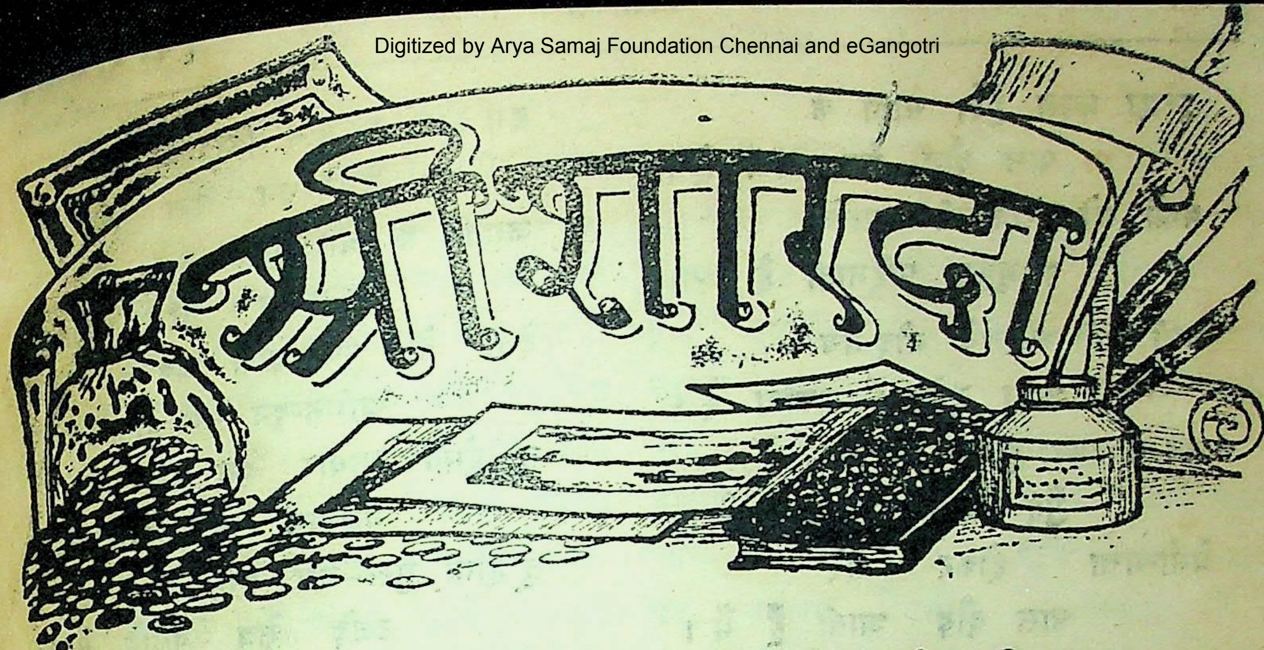
बैटलशिप्स	....	४
बैटल क्रूज़र्स	....	४
लाइट क्रूज़र्स	....	१२
डिस्ट्रायर्स	....	४०

इस समय इँग्लैण्ड वाले अमेरिका की जहाज़ी शक्ति से चिन्तित हैं। उनको डर है कि कहीं उनका समुद्र का स्वामित्व छिन न जाय। क्योंकि समुद्र के स्वामित्व के बल पर ही आज इग्लैण्ड इतना शक्ति शाली है। इँग्लैण्ड वाले जहाज़ों के बनाने से अमेरिका तथा जापान को रोकना चाहते हैं। देखें क्या होता है?



भारत का उद्धार हो !

U. Ray & Sons, Calcutta.



साहित्य-तथा-राजनीति-संबंधी-विविध-विषय-विभूषित सचित्र मासिक पत्रिका ।

वर्ष २, खण्ड १] ज्येष्ठ, शुक्ल प्रतिपदा, १९७८ * ७ जून, १९२१ [संख्या ३, पूर्ण संख्या १५

मातृ-मन्दिर में।*

(लेखिका—सौ० सुभद्रा कुमारी देवी)

वीणा बज सी पड़ी, खुल गये
नेत्र, और कुछ आया ध्यान।
मुड़ने की थी देर, दिख पड़ा
उत्सव का प्यारा सामान॥
जिसको तुतला तुतला करके
शुरू किया था पहली बार।
जिस प्यारी भाषा में हमको
प्राप्त हुआ है माँ का प्यार॥१॥
उस हिन्दू जन की गरीबिनी
हिन्दी—प्यारी हिन्दी का।
प्यारे भारतवर्ष—कृष्ण की
उस वाणी कालिन्दी का॥

है उसका ही समारोह यह,
उसका ही उत्सव प्यारा।
मैं आश्चर्य—भरी आँखों से
देख रही हूँ यह सारा॥२॥
जिस प्रकार कंगाल बालिका
अपनी माँ धन-हीना को।
टुकड़ों की मुहताज आजतक
दुखिनी को, उस दीना को॥
सुन्दर वस्त्राभूषण—सज्जित
देख चकित हो जाती है।
सच है या केवल सपना है,
कहती है, रुक जाती है॥३॥
पर सुन्दर लगती है, इच्छा
यह होती है कर ले प्यार।
प्यारे चरणों पर बलि जावे
कर ले मन भर के मनुहार॥

* राष्ट्रीय हिन्दी-मन्दिर के प्रथम वार्षिकोत्सव में पठित।

इच्छा प्रबल हुई, माता के
पास दौड़ कर जाती है।
बच्चों को सँवारती उसको
आभूषण पहिनाती है ॥४॥

उसी भाँति आश्चर्य मोद-मय
आज मुझे झिझकाता है।
मन में उमड़ा हुआ भाव बस
मुँह तक आ रुक जाता है॥
प्रेमोन्मत्ता होकर तेरे
पास दौड़ आती हूँ मैं।
तुझे सजाने या सँवारने
में ही सुख पाती हूँ मैं ॥५॥

तेरी इस महानता में क्या
होगा मूल्य सजाने का।
तेरी भव्य मूर्ति को नकली
आभूषण पहिनाने का॥
किन्तु क्या हुआ माता! मैं भी
तो हूँ तेरी ही सन्तान।
इसमें ही सन्तोष मुझे है,
इसमें ही आनन्द महान ॥६॥

मुझ सी एक एक की बन तू
तीस कोटि की आज हुई।
हुई महान सभी भाषाओं
की तू ही सिरताज हुई॥
मेरे लिए बड़े गौरव की
और गर्व की है यह बात।
तेरे द्वारा ही होवेगा
भारत में स्वातंत्र्य-प्रभात ॥७॥

असहयोग पर मर मिट जाना
यह जीवन तेरा होगा।
हम होंगे स्वाधीन विश्व का
वैभव-धन तेरा होगा॥
जगती के वीरों-द्वारा शुभ
पद-वन्दन तेरा होगा।
देवों के पुष्पों-द्वारा अब
अभिनन्दन तेरा होगा ॥८॥

तू होगी आधार देश की
पार्लमेन्ट बन जाने में।
तू होगी सुख-सार देश के
उजड़े क्षेत्र बसाने में॥
तू होगी व्यवहार देश के
बिछुड़े हृदय मिलाने में।
तू होगी अधिकार देश भर
को स्वातंत्र्य दिलाने में ॥९॥



राजसत्ता का दार्शनिक मूल।

(लेखक—श्रीयुत सम्पूर्णानन्द, बी. एस. सी.)

पृथ्वी पर देश-काल-भेद से अनेक प्रकार के 'राज'* हुए हैं। यह प्रकार-भेद अधिकार-केन्द्र-भेद पर निर्भर है, किसी किसी 'राज' में सारा अधिकार एक व्यक्ति के हाथ में होता है; किसी किसी में एक व्यक्ति के प्रधान अधिकारी होते हुए भी उसके अधिकार-प्रयोग की सीमाएँ बँधी होती हैं, किसी किसी में जनता का एक वर्ग विशेष परम्परागत अधिकारी होता

* 'राज' शब्द, State के अर्थ में प्रयुक्त किया गया है। 'राज' शब्द से Kingdom और 'राष्ट्र' से Nation का भाव निकलता है।

है, और किसी किसी में अधिकार सारी जनता में बँटे होते हैं। यह आवश्यक नहीं है कि जो अधिकारों का स्वत्वधारी है वह उनका प्रयोग भी अपने ही हाथों करें; विस्तृत 'राजों' में ऐसा हो ही नहीं सकता। भिन्न भिन्न राजों ने इसके लिए भिन्न भिन्न उपाय निकाले हैं। फ्रांस और संयुक्त राज (अमेरिका) को ही लीजिए। दोनों में जनता मात्र प्रधान अधिकारी है; नाम को दोनों प्रजातंत्र (Republic) हैं, परन्तु उनके शासनों (Goverments) का रूप एकसा नहीं है।

अस्तु, ये तो व्यावहारिक बातें हैं। राजनीतिशास्त्र में केवल व्यावहारिक बातें नहीं हैं। उसमें अन्य वैज्ञानिक विषयों की भाँति तत्वानुसन्धान भी किया जाता है। वह इस महान प्रश्न पर भी विचार करता है कि "संसार में राज होवे ही क्यों?"

प्रश्न बड़े महत्व का है। प्रायः नवीन राजों की स्थापना केवल सिद्धान्तों के कारण नहीं हुई है। किसी व्यक्ति विशेष की महत्वाकांक्षा, किसी शासन विशेष का प्रजा के साथ दुर्व्यवहार या जनता का सामाजिक या आर्थिक कष्ट ही प्रायः नये राजों की नींव डालता है; पर राज स्थापित हो जाने पर अधिकारि–वर्ग अपने सामने कोई न कोई आदर्श अवश्य रख लेते हैं। यह आदर्श इस प्रश्न "संसार में राज होवे ही क्यों" के उत्तर पर ही निर्भर है। अपने २ अभिमत उत्तर के अनुसार ही प्रत्येक राज अपनी शासन-पद्धति बनावेगा।

इसका पहला उत्तर यह है जो अधिकांश नरेश स्पष्ट या अस्पष्ट रूप से दिया करते हैं। उनकी यह धारणा है कि 'राज' उनकी भोग्य सम्पत्ति है। इस धारणा का उग्र रूप वह है जो चौदवें लुई के इस वाक्य से व्यक्त होता है "राज, मैं राज हूँ।" इस विश्वास के अनुसार राजा किसी के सामने उत्तरदायी नहीं है। जिस राज की उसने अथवा उसके पूर्वजों ने अपने बाहुबल या असाधारण नीतिमत्ता से सृष्टि की है उसका यथाशक्ति भोग करने और यथा-रुचि नियन्त्रित करने का उसको नैसर्गिक अधिकार है। प्रजा के जो कुछ अधिकार हैं वे नरेश की कृपा पर निर्भर हैं। ऐसे राजों में प्रजा की रक्षा उसी दृष्टि से होती है जिस दृष्टि से लोग पालि-पशु की रक्षा करते हैं।

दूसरा उत्तर वह है जो प्रसिद्ध यवन दार्शनिक अरस्तू ने दिया था। उनका कथन है कि मनुष्य समुदाय-प्रेमी प्राणी है। जैसे चीटियाँ, मधुमक्खिकाएँ, हरिण, भेड़िये, जंगली घोड़े आदि अकेले नहीं रह सकते, वैसे ही मनुष्य भी अकेला नहीं रह सकता। यह ठीक है कि कोई २ मनुष्य इस प्रवृत्ति को जीत कर एकान्तवासी हो जाते हैं; पर अधिकांश मनुष्य ऐसा नहीं कर सकते। इसके साथ ही मनुष्य में संग्रह करने या संपत्ति जोड़ने की भी प्रवृत्ति होती है। बस, इसी प्रकार राजों की उत्पत्ति हुई है। लोग सम्पत्ति-शाली भी रहना चाहते हैं और एकत्र होकर भी रहना चाहते हैं। अतः इस बात की आवश्यकता पड़ती है कि लोभ-संवरण किया जाय और जो ऐसा न करके अपने पड़ोसियों की सम्पत्ति पर हाथ डालना चाहे उसे दण्ड दिया जाय। इसीलिए जंगली से जंगली समाज में भी इस विषय के कुछ न कुछ नियम पाये जाते हैं। इस प्रकार के नियमों का

होना ही समुदाय को 'राज' बना देता है। पीछे से ज्यों ज्यों सभ्यता बढ़ती जाती है त्यों त्यों नये नये कर्त्तव्यों की सृष्टि होती जाती है और नियमों और विधानों की भी संख्या बढ़ती जाती है। यह सुविधा की बात है कि समुदाय अपने अधिकारों का प्रयोग आप करेगा, या कुछ शर्तों पर किसी एक व्यक्ति को या अपने किसी टुकड़े को सौंप देगा, या अपने प्रतिनिधियों द्वारा करावेगा। रूसो का 'सोशल काण्ट्रैक्ट' सिद्धान्त इसी अन्तिम विचार का परिणाम था। *

आधुनिक विज्ञान ने भी इस प्रश्न का एक उत्तर दिया है। वह अरस्तू के उत्तर से भी सूक्ष्म है। उसका कथन है कि प्राणि-मात्र में आत्मसंरक्षण (Self-preservation) और सन्तति-उत्पादन (Propagation of Species) ये दो मूल प्रवृत्तियाँ हैं। ये दोनों प्रवृत्तियाँ छोटे से छोटे जन्तुओं से लेकर मनुष्य तक में पाई जाती हैं। मनुष्य की सृष्टि अन्य प्राणियों के पीछे हुई। यह स्वाभाविक बात है कि जो मनुष्य एक ही प्रदेश में रहे होंगे उनमें यदि और कुछ नहीं, तो भौगोलिक कारणों से ही, बहुत कुछ सादृश्य रहा होगा। यदि इनके आदिम पूर्वज एक रहे होंगे, तो यह सादृश्य और भी बढ़ गया होगा। थोड़े ही काल में इन परस्पर-सदृश लोगों को यह अनुभव हो गया होगा कि उपर्युक्त दोनों प्रवृत्तियों की पूर्ति एकत्रित होकर रहने से ही भलीभाँति हो सकती है। नख, दाँत, सींग आदि के अभाव ने ही मनुष्यों को यह पाठ पढ़ा दिया होगा। (यह कहना अनावश्यक है कि मनुष्यों के नख और दाँत प्रायः शस्त्रों का काम नहीं दे सकते।) इसके साथ ही, मनुष्य जाति के स्मृति-पटल पर पूर्व-सृष्ट पशु-जातियों के अनुभवों के संस्कार भी खचित थे। उन संस्कारों की भी यही शिक्षा थी कि समुदाय में बड़ी शक्ति है। परिणाम यह हुआ कि मनुष्य में 'समुदाय प्रियता' की प्रवृत्ति उत्पन्न हो गई। इस प्रवृत्ति के उत्पन्न हो जाने पर फिर राजों का विकास सम्भवतः अरस्तू के कल्पनानुसार ही हुआ होगा।

यह सिद्धान्त हमको अरस्तू से एक सीढ़ी ऊपर ले जाता है। यह उस प्रवृत्ति का भी तत्त्वानुसन्धान करता है जिसको अरस्तू मौलिक मानते हैं; परन्तु परिणाम दोनों का एक ही है। 'राज' इसलिए है कि उसके ही द्वारा मनुष्य अपनी नैसर्गिक प्रवृत्तियों को वैध रूप से, अर्थात् बिना दूसरों से दुःख पाये और बिना दूसरों को दुःख दिये, सन्तुष्ट कर सकता है। राज का लक्ष्य यह है कि जनता के प्रत्येक व्यक्ति को यथासम्भव पूर्ण सुख मिले।

प्राचीन भारत ने इस प्रश्न का जो उत्तर दिया था वह उपर्युक्त दोनों उत्तरों से श्रेष्ठ था। उसका सिद्धान्त था कि राज धर्म की वृद्धि के लिए है। महाभारत के शान्तिपर्व में लिखा है कि अति प्राचीन काल में सब लोग स्वभावतः परम धार्म्मिक थे; अतः किसी राजा की आवश्यकता न थी; परन्तु जब धर्म्म का ह्रास हुआ, तब ब्रह्मा जी ने मनु को राजा बनाया। आर्य-नरेश सर्वत्र इस सिद्धान्त को मानते आये हैं।

* संक्षेपतः इस सिद्धान्त का भाव यह है कि आदि काल में जब प्रजा का काम बढ़ गया, तो जनता ने एक व्यक्ति को इस लिए नियत किया कि धन, मान, आदि को वेतन स्वरूप लेकर वह अधिकारों का प्रयोग करे। वह व्यक्ति नरेश कहलाया। यदि नरेश ठीक रीतिसे काम न करे, तो अन्य सेवकों की भाँति प्रजा उसे निकाल कर अन्य प्रबंध कर सकती है।

अशोक और हर्ष ने, जो बौद्ध थे, सर्वथा इसके अनुसार काम किया। धर्म्म शब्द की व्याख्या इतनी व्यापक थी कि मनुष्य-जीवन से सम्बन्ध रखने वाली सभी बातें उसके अन्तर्गत थीं। इस सिद्धान्त ने राज के कर्त्तव्यों और अधिकारों का क्षेत्र बहुत बढ़ा दिया। अब राज का लक्ष्य जनता का ऐहिक सुख ही नहीं, वरन् पारलौकिक सुख हो गया। राज को यह अधिकार मिल गया कि वह पारलौकिक सुखों की प्राप्ति के लिए यदि आवश्यक समझे तो, लौकिक सुखों की किञ्चित् हानि होने दे। पूर्वोक्त सिद्धान्तों के अनुसार राज का अधिकार उसकी शक्ति-मात्र तक परिमित था, प्रधान अधिकारी या तो किसी के भी सामने उत्तरदायी नहीं थे, या जनता के सामने थे। अब राज का अधिकार धर्म्म—शास्त्र के विधि-निषेधात्मक वाक्यों की सीमा में बँध गया और प्रधान अधिकारी धर्म्म और ईश्वर तथा धर्म्म के व्याख्याता ऋषि-मुनियों के सामने उत्तरदायी हो गये।

मुसलमानों ने भी इसी सिद्धान्त का अनुकरण किया। उनके यहाँ भी 'दीन' की समुन्नति, राज का प्रधान कर्त्तव्य माना गया और राज के अधिकार शरीयत की शृङ्खला से जकड़ दिये गये।

मध्यकाल में योरुप में भी यही सिद्धान्त मान्य हुआ, धर्म्मसत्ता और राजसत्ता (Church and State) का सम्बन्ध अभिन्न माना गया। राज को धर्म्म से सहायता, बल और परामर्श मिलता था। धर्म्म को राज से सहायता, बल और साधन मिलते थे। योरुप के नरेश पोप के मित्र थे और पोप नरेशों के। पार्थिव राज्य स्वर्गीय राज्य का प्रतिबिम्ब था। (Earthly kingdoms were images of the kingdoms of Heaven).

यह सिद्धान्त अब पूर्ववत् मान्य नहीं है। आर्य्य राज तो कहीं रहेही नहीं। मुसलमानी राजभी प्रभात-दीप-वत् हो रहे हैं। योरुप के कई प्रधान राजों से धार्मिकता उठ गयी है। यों तो अभी इँग्लैंड के नरेश को ही धर्म्मरक्षक (Defender of the Faith) कहते हैं; पर धार्मिक भाव सर्वत्र दुर्बल हो गया है। फ्रांस आदि ने धर्म से नाता ही तोड़ दिया है। लोग वैज्ञानिक सिद्धान्त की ओर झुक गये हैं। पर यह दशा स्थायी नहीं रह सकती। युद्ध के पीछे योरुप में नये विचार उत्पन्न होने लगे हैं। जनता को फिर धर्म्म में धीरे २ श्रद्धा होने लगी है। सम्भव है कि धर्म्म-मूलक सिद्धान्त फिर स्थापित हो जाय। यदि ऐसा हुआ तो योरुप का ही नहीं, सारे जगत् का कल्याण होगा। आजकल की धर्म्म-शून्य सभ्यता ने पृथ्वी को अरण्य बना रक्खा है।

भारत में भी नवयुग आया है। भारतीय जनता और उसके नेताओं को भी इस प्रश्न पर विचार करना चाहिए कि वह भविष्य में इस देश में जो राज चाहते हैं उसका लक्ष्य क्या होगा, बाह्य रूप कुछ भी हो। महात्मा गांधी पाश्चात्य ढंग की सभ्यता नहीं चाहते, पर महात्मा गांधी भारतवर्ष नहीं हैं। सब लोगों को इस महान् प्रश्न पर गम्भीर विचार करना चाहिए। यही समय है। मेरा दृढ़ विश्वास है कि जितना ही विचार किया जायगा हमारा प्राचीन सिद्धान्त उतना ही श्रेष्ठतम ठहरेगा।

जिस प्रकार वैज्ञानिक सिद्धान्त ने अरस्तू के सिद्धान्त को डार्विन के विकाशवाद की नींव पर खड़ा किया है, उसी प्रकार हम देखते हैं कि हमारा धार्मिक सिद्धान्त वेदान्त की अटल नींव पर खड़ा है। यदि वेदान्त सत्य है—और आज तक कोई इसे मिथ्या नहीं प्रमाणित कर सका है—तो प्राचीन आर्य्य सिद्धान्त भी सत्य है। वेदान्त ही क्यों, हमारे सभी दर्शन शास्त्र भिन्न २ शब्दों में उसका समर्थन करते हैं।

वेदान्त के अनुसार संसार का प्रत्येक प्राणी, चाहे वह देवराज इन्द्र हो या चाहे महातुच्छ कीटाणु हो, तत्त्वतः ईश्वर से अभिन्न हैं। (मैं सुविधा के लिए यहाँ माया-मुग्ध ब्रह्म को ही लेता हूँ, शुद्ध ब्रह्म को नहीं।) वह अनन्त शक्तियों का भाण्डार है; परन्तु अविद्या के कारण अपनी शक्तियों को भूला हुआ है। उसके अनादि काल से सञ्चित कर्मों के संस्कार उसको बाँधे हुए हैं; परन्तु जीव कितना ही बँध जाय, चैतन्य ही रहेगा। अतः प्रत्येक प्राणी में दो प्रधान शक्तियाँ, जो परस्पर-विरोधिनी हैं, काम कर रही हैं। एक तो पुरातन कर्मों का सञ्चित फल, जो जीव को जकड़े हुए है और दूसरी, जीव की चैतन्यता, जो उसे इस बन्धन को तोड़ने के लिए प्रेरित करती है। प्रत्येक जीव उस बन्धन से छुटकारा पाने का प्रयत्न करता है, अतः प्रत्येक जीव मुमुक्षु है। पर यह मुमुक्षुत्व अंधवत् है, बुद्धिपूर्वक नहीं। मनुष्य-शरीर में दोनों शक्तियों का बल प्रायः तुल्य है। यदि जीव को थोड़ी सी सहायता मिल जाय, तो वह कर्म्म-बन्धन को तोड़ दे। मनुष्य ने आजतक जितने आविष्कार किये हैं, जितने काव्यों की रचना की है, जितने सुन्दर भवन निर्माण किये हैं वे सब उसकी मोक्षेच्छा और उसकी अर्ध-मुक्त शक्तियों की अपने को व्यक्त करने की इच्छा के प्रमाण हैं; पर पूर्ण ज्ञान न होने से प्रयत्न अब भी ठीक नहीं होते। सब अपने २ मार्ग पर चलते हैं। यदि दस अंधे हाथ-पैर मारना आरम्भ करें, तो अवश्यमेव एक दूसरे का सिर फोड़ेंगे। प्रत्येक जीव छुटकारा चाहता है और अपनी समझ में इस छुटकारे के लिए प्रयत्न कर रहा है, पर जिस बात में एक को अपना भला दीख पड़ता है उसीमें दूसरे को अपनी बुराई दीख पड़ती है। चाहते हैं सब सीधे चलना, चलते हैं प्रायः उलटे।

इसीलिए राज की आवश्यकता है। राज का रूप कुछ भी हो, उसका यह कर्त्तव्य है कि वह जीवों को ऐसे काम यथा-सम्भव न करने दे जिससे वह एक दूसरे को क्षति पहुँचाएँ। राज के होने से जीवों को यह शिक्षा मिलती है कि वह बिना एक दूसरे की क्षति किये भी अपना अपना हित-साधन कर सकते हैं।

पर केवल इतने से ही काम नहीं चल सकता, केवल शान्ति पर्य्याप्त नहीं है। यह बहुत सम्भव है कि परम शान्त राज में रहकर जीव अपने परम लक्ष्य—मोक्ष—को भूल जाय और अपनी उत्थित शक्तियों को भोग-विलास में लगाए जिससे उनके कर्म्म-बन्धन और भी दृढ़ हो जाएँ। इस बात को दूर करने के लिए राज को धार्मिक राज होना चाहिए। उसका यह परम कर्त्तव्य होना चाहिए कि शान्ति क़ायम रखने के साथ साथ प्रजा को धर्म्म-शिक्षा भी दे। जनता यह न भूलने पावे कि मनुष्य-जीवन का परम श्रेय मोक्ष है।

इस बात पर फिर कभी विचार होगा कि राज इस कर्त्तव्य का पालन कैसे करे; पर लक्ष्य स्थिर और निश्चित रहना चाहिए। इसी बात को ध्यान में रखकर शुक्रनीति में नीतिशास्त्र की इन शब्दों में प्रशंसा की गई है:—

> सर्वोपजीवकं लोकस्थितिकृन्नीतिशास्त्रकम् ।
> धर्मार्थकाममूलं हि, स्मृतं मोक्षप्रदं यतः ॥

इस संक्षिप्त विचार से स्पष्ट है कि प्राचीन आर्य्य सिद्धान्त का दार्शनिक मूल कितना दृढ़ है। वैज्ञानिक सिद्धान्त इस गहराई तक नहीं पहुँचता। किसी न किसी प्रकार के राज का होना अत्यावश्यक है और, चाहे जो राज हो, उसका प्रधान उद्देश्य धर्म्म की वृद्धि होना चाहिए। प्रजा के जीवन, सम्पत्ति तथा राजनैतिक अधिकारों की रक्षा इस प्रधान उद्देश्य का सहायक साधन मात्र है।

भविष्य में विज्ञान।

(लेखक—बाबू रमेशप्रसाद, बी. एस. सी.)

जगज्जननी जाह्नवी तथा सौम्य किन्तु वक्र काल की चाल में बहुत कुछ समानता दीख पड़ती है। कलकल-निनादिनी हिमालय से निकल कर समुद्र की ओर धावित होती है, समय अज्ञात के गर्भ से निकल अनन्त में जा मिलता है। गंगा जिन स्थानों से होकर बहती है उनमें वह अपना मार्ग अपने योग्य बना लेती है। समय भी समयोपयोगी वस्तु बनाने में भागीरथी से किसी प्रकार कम नहीं है। वर्षा में सरल सरिता भीषण रूप धारण करती है, समय प्रलय काल में अपना प्रभाव दिखलाता है। तूफ़ान में जल छोटी २ नौकाओं को डुबा देने में अपना बल प्रकट करता है, समय मनुष्य-रूपी-पुष्प-कली को अकाल में भू-लुण्ठित कर देने में अपनी शक्ति दर्शाता है। नदी अपनी तुंग तरंगों से पत्थर की बड़ी बड़ी चट्टानों को धूल कर देती है, समय यौगिक वस्तुओं (Compound) को सरल वस्तुओं (Elements) में परिणत करता है। किन्तु यह स्वयं-सिद्ध सिद्धान्त है कि पदार्थ नष्ट नहीं होते। विज्ञान चिल्ला चिल्ला कर कह रहा है कि आकार में परिवर्तन हो जाय तो हो जाय किन्तु पदार्थ अक्षय है। काल के अनन्त गर्भ में कोई वस्तु रूप में, रंग में, अवस्था में—एक सी नहीं रह सकती, परिवर्तन अवश्य होगा। इस (परिवर्तन) की मात्रा कम हो वा अधिक; किन्तु संसार जिस तीव्र गति के साथ आगे बढ़ रहा है उससे जान पड़ता है कि परिवर्तन की भी मात्रा दिन-प्रति-दिन अधिकाधिक होती जाती है।

परिवर्तन अवश्यम्भावी है—इसे कोई रोक नहीं सकता। ऐसी हालत में भला यह कब सम्भव है कि समय के चक्र में पड़कर विज्ञान जैसा आज है वैसाही बना रहे। इसकी जो दशा आज है, कल वह न रहेगी; आज की और एक वर्ष बाद की दशा में भिन्नता अवश्य पायी जायगी। अभी विज्ञान बाल्यावस्था में है; किन्तु भविष्य में वह तरुणावस्था को प्राप्त होगा। उस समय इसमें तरह तरह के परिवर्तन होंगे और यह विचित्रताओं और विलक्षणताओं का भाण्डार हो जावेगा। जो वस्तु आज स्वप्नवत् जान पड़ती है, जिन चीज़ों को आज के धुरंधर

वैज्ञानिक अचरज की दृष्टि से देखते हैं, जो पदार्थ आज के बड़े बड़े मस्तिष्कवालों की बुद्धि के परे हैं वे भविष्य में एक साधारण वस्तु समझे जावेंगे। जो विचित्र वस्तु इस युग में समूचे संसार को अचरज में डाल देती है, आज जिस आविष्कार से सारी दुनियाँ में कोलाहल मच जाता है, आज के जो सिद्धान्त बड़े बड़े विद्वानों के मस्तिष्क में स्थान नहीं पाते वे कुछ दिन पश्चात् भूतकालीन समझे जावेंगे।

परिवर्तन कदापि एक पथ का पथगामी नहीं हो सकता। उन्नति के साथ साथ अधोगति हाथ मिलाए यात्रा कर रही है। आज जो वस्तु उन्नतावस्था में है कुछ दिन पीछे उसीको हीनावस्था की सब से नीची सीढ़ी पर देख कर खिन्न होना पड़ेगा। जो आज अधोगति की चरम सीमा को उल्लंघन कर सबकी दृष्टि में नीचा जान पड़ता है, वही भविष्य में उन्नति के सब से ऊँचे शृंग पर बैठ कर घमंड से फूले अंग न समायगा। उपरोक्त सिद्धान्त के अनुसार कहना पड़ता है कि भविष्य में कई पदार्थों का मटियामेट हो जायगा। कुछ को अपने से अग्रसर पदार्थों के लिए स्थान खाली करना पड़ेगा और कुछ जैसे आज हैं वैसे ही भविष्य में भी रहेंगे; किन्तु इनकी संख्या उँगली पर गिनने योग्य होगी। विज्ञान-वृक्ष की प्रत्येक शाखा—भौतिक-विज्ञान, रसायनशास्त्र, उद्भिद्-विज्ञान, जीव-विज्ञान, ज्योतिष, वैद्यक शास्त्र आदि—में नई २ टहनियाँ निकलेंगी और उन टहनियों में नए नए पत्ते उलहेंगे तथा कलियाँ भी खिलेंगी। यह भी सम्भव है कि कई टहनियाँ, पत्ते और कलियाँ सूख कर अकाल ही में कालकवलित हो जाँय।

भविष्य वर्तमान का केवल छायामात्र है। आजकल जो आविष्कार हो रहे हैं या जो अब तक हुए हैं, उन्हींके चित्र अथवा आभास को हम लोग भविष्य के पर्दे से परावृत होते देखेंगे। यद्यपि इस समय निश्चयात्मक रूप से यह नहीं कहा जा सकता है कि भविष्य में विज्ञान किस प्रकार का चित्र हमारी आँखों के सामने उपस्थित करेगा; किन्तु उसका बहुत कुछ अन्दाज़ा लगाया जा सकता है। आज हमें इस अन्दाज़े के कुछ करश्में दिखलाने हैं।

आजकल जो कल, मशीन आदि दृष्टिगोचर होती हैं, वे एक बालक (विज्ञान) के मस्तिष्क से निकली हुई हैं, किन्तु भविष्य में जो यन्त्र तैयार होंगे वे एक कर्मशील, उन्नत और प्रौढ़ युवा (विज्ञान) के दिमाग़ की उपज होंगे। वाष्प के इञ्जिनों के स्थान को जिनके द्वारा भारी भारी काम सुगमता से सम्पादित हो रहे हैं, जिनके द्वारा दिनों की यात्रा घंटों में तै की जाती है, जो लाखों मनुष्यों का काम एक घंटे में कर डालते हैं उससे भी बलशाली विद्युत-यन्त्र दिन-प्रतिदिन अधिकृत करते जा रहे हैं। भविष्य में यदि वाष्प के इंजिनों का इस पृथ्वी से बहिष्कार हो जाय, तो आश्चर्य नहीं। वर्त्तमान काल में विद्युत हमारे घर के कुछ कामों को जैसे रसोई पकाना, थाली धोना, रोशनी करना, हवा करना इत्यादि कामों को कर रही है। हाल के कुछ आविष्कारों से पता लगता है कि अब से वह हमारे घरों की रखवाली करेगी; झाड़ू लगायगी, खाना पकाकर मेज पर रख जायगी, और घर के अन्य कामों को कर देगी। अभी थोड़े दिन हुए कि ऐसी एक घड़ी का आविष्कार हुआ है जो अपने मालिक

दैनिक कामों का स्मरण को नियत समय पर घड़ी अपने स्वामी कराती है। ठीक समय पर घड़ी अपने स्वामी को भोजन करने के लिए भोजनागार में भेजती है, सोने का समय बताती है; आफ़िस का समय होते ही वह उसे आफ़िस के लिए रवाना करती है। जो लोग समय के पाबन्द नहीं है उनके लिए यह बड़े काम की चीज़ है। जो लोग समय का मूल्य नहीं जानते या आलसी हैं, उनको यह घड़ी अपने साथ रखने में बड़ा लाभ होगा।

भविष्य कपोल-कल्पित बातों को सत्य कर दिखलावेगा, असम्भव को भी सम्भव कर देगा; जीवात्मा का परीक्षा-गृह में बनना इस समय एक असम्भव बात समझी जाती है; किन्तु डा० शेफ़र का दृढ़ विश्वास है कि किसी दिन रासायनिक जीवात्मा को प्रयोगशाला में बनाकर अपनी बुद्धि को पराकाष्ठा तक पहुँचा देंगे। उस समय सान-फ्रांसिसको के डा० निक्सन के पुतले का कोई मान नहीं रहेगा। यह पुतला मनुष्य के द्वारा किए जाने वाले सभी कामों को करता है, केवल बोल नहीं सकता। जीवात्मा के बन जाने पर आशा की जा सकती है कि मरे हुए मनुष्यों को पुनर्जीवन प्रदान किया जाय।

यदि यह कहा जाय कि भविष्य में हम लोग रावण के समान सूर्य्य को उदित कर लेंगे और पानी को अपना आज्ञाकारी बना लेंगे, तो अत्युक्ति नहीं होगी। इनके प्रत्यक्ष प्रमाण इस समय भी देखने को मिलते हैं। निकलसन साहब ने एक ऐसा चूल्हा बनाया है जिसमें सूर्य्य की गरमी ईंधन का काम करती है। इस चूल्हे का तापक्रम २९०° श० तक पहुँच जाता है। पानी के खौलने का तापक्रम केवल १००° श० है; इसलिए इस पर चावल, दाल, रोटी, तरकारी आदि आसानी से पक सकते हैं। भविष्य में प्रत्येक घर में इसके घुस जाने की सम्भावना है।

कृत्रिम-वर्षा करने का सूत्रपात आस्ट्रेलिया निवासी मि० बालसिली ने किया है। वायु-मण्डल में कुछ नमी (moisture) सर्वत्र रहती है। आकाश में बिजली की धारा बहाने से ये जल-कणिकाएँ एक दूसरे के पास खिंच आतीं और परस्पर मिल कर बूँदों के सदृश बड़ा आकार धारण कर लेती हैं और उनका गुरुत्व (density) इतना बढ़ जाता है कि वायुमण्डल उन्हें नहीं सँभाल सकता और उनके धड़ाधड़ ज़मीन पर गिरने से वर्षा होने लगती है। जल पर विजय पाने के सोपान-मार्ग की यह पहली सीढ़ी है।

हवा पर मानव-समाज का अधिकार जमाने का अभी आरम्भ ही हुआ है। न मालूम भविष्य कैसे २ गुल खिलावेगा।

शब्द के पेट में बड़ी विचित्र बातें भरी हुई हैं। हमारे यहाँ गानों के विषय में जो लिखा हुआ है कि उनके द्वारा मेघ से पानी बरसने लगता था, जलता हुआ दीपक बुझ जाता था, सूखे पेड़ हरे हो जाते थे इत्यादि उसे लोग हिन्दुओं की कल्पित कथायें (mythology) कह कर आज दिन हँसी उड़ाते हैं। किन्तु "प्रत्यक्षस्य प्रमाणं किम्" के अनुसार जब उपरोक्त बातें आँखों के सामने दिखलाई देंगी, तब उनके विषय में किसी को सन्देह करने का स्थान न रहेगा।

आजकल गान-विद्या ने एक नया पथ पकड़ा है। यह अब औषधि का काम करने लगी है। इसकी आविष्कर्त्री एक अँगरेज महिला मिस् मारगरेट ऐन्डरसन हैं। ये "पिअनो" बजाने में दक्ष हैं। इसी बाजे की सहायता से ये रोगियों को नीरोग करती हैं। न्यूयार्क के Evening Post नामक पत्र में एक लेखक ने लिखा है—"यह (गान) विद्या अपने सुर, ताल, राग आदि के द्वारा मानसिक (mental) बीमारियों को ही नहीं, बल्कि शारीरिक (Bodily) बीमारियों को भी अच्छा करेगी।" इसकी सहायता से पागल मनुष्य अच्छे हो गये हैं। शरीर का बेकाम अंग काम करने योग्य हो गया है। ये बातें कौतूहल-पूर्ण अवश्य हैं, किन्तु हैं सच्ची।

आजकल हम लोग जो बायस्कोप और सिनेमा देखते हैं उनमें चित्र केवल क्रिया करते दिखलाई देते हैं। अब हम लोग उनको बोलते हुए भी देखेंगे। स्टाकहोम के एक इंजिनियर ने अपने एक आविष्कार को संसार के सामने उपस्थित किया है, जिससे पता चलता है कि सिनेमा में तस्वीर हाव-भाव के साथ साथ मुँह से आवाज भी निकालती है। कुछ दिनों में हम लोग जहाज तथा रेल के चलने के शब्द, लड़ाई के दृश्य में गोली, तोप आदि के शब्द, पशुओं के बोलने के शब्द इत्यादि भी इसमें सुनेंगे।

लेन्स, अणुवीक्षण यंत्र, दूरदर्शक यन्त्र, रंगीन छाया-चित्रण आदि के सामने उन्नति का एक विस्तृत क्षेत्र पड़ा हुआ है।

भविष्य में सब जगह विद्युत का बोलबाला रहेगा, किन्तु आज कल विद्युत प्राप्त करने के लिए जो बड़ी २ मशीन बहुत खर्च करके लगानी पड़ती है उनका अन्त हो जायगा। क्योंकि मि० सेनर ब्लान्को ने एक बहुत ही सादे यन्त्र की सहायता से वायु-मण्डल से प्रायः मुफ्त ही बिजली प्राप्त की है। वायु-मण्डल बिजली का अनन्त भाण्डार है—उससे जितनी चाहें बिजली निकाल लें; किन्तु उसका अन्त न होगा।

आविष्कारों के विषय में भी यह उक्ति ठीक उतरती है कि "पेड़ लगाता है कोई, और उसका फल चखता है कोई और ही।" ई. बैंकलेट ने बीस वर्ष तक घोर परिश्रम कर बिजली से चलने वाली जिस रेलगाड़ी का आविष्कार किया है उसपर बैठकर यात्रा करने का सौभाग्य हमारी सन्तानों को प्राप्त होगा। यह गाड़ी एक घंटे में ३०० मील जाती है। इसके लिए न रेल की पटरी बिछानी पड़ती है, न इञ्जिन दरकार होता है और न पहिए लगाने पड़ते हैं। सबसे अधिक आश्चर्य की बात तो यह है कि इसकी गाड़ियाँ आकाश में, जमीन से कुछ ऊँची, दौड़ती हैं। इतना तेज़ चलने पर भी गाड़ियाँ न हिलती हैं और न किसी तरफ़ झुकती हैं।

वायुयान और तार संसार का जो उपकार इस समय कर रहे हैं वह कम नहीं है, किन्तु भविष्य में इनकी और उन्नति होगी और वे संसार की आज से अधिक सेवा करने के योग्य होंगे। कल के एक आविष्कार से कुछ लोगों को डर हो गया है कि अब से वायुयान और बेतार के तार में वैर-भाव सा रहेगा। बेतार का तार आकाश के ईथर में एक प्रकार की लहर पैदा करता है। परीक्षा द्वारा पता चला है कि यह लहर

इतनी मज़बूत होती है कि इसके चक्कर में पड़ने से बड़े बड़े वायुयानों का नामोनिशान तक नहीं रहता। अस्तु, वायुयानों और बेतार के तार में मित्रता रहेगी या बैर, यह समय ही बतलावेगा।

वायुयानों में बैठकर जब लोग आकाश में उड़ते हैं तो जाड़े के मारे हाथ, पैर आदि ठिठुर जाते हैं। ठंडे देशों में तो ऐसा बहुधा हुआ करता है। इस विपत्ति से रक्षा के लिए तार का एक कवच बना है, जिसमें विद्युद्-विरोधक तार लगे हुए हैं। यात्री वायुयान में बैठकर उड़ने के पहले यह कवच पहन लेता है, जिससे उसके सब अंग ढँक जाते हैं। बिजली के प्रवाह से मनुष्य गरमी अनुभव करता है; इसलिए जाड़े से उसकी रक्षा होती है। एक अँगरेज इंजिनियर ने पता लगाया है कि एक मनुष्य को गरम रखने के लिए बहुत थोड़ी बिजली खर्च होती है। संधि-परिषद् में अफ़सरों का लन्दन से पेरिस आना-जाना वायुयान ही के द्वारा होता था। इन्हीं अफ़सरों ने पहले पहल ऐसे जिरहबख्तरों का इस्तेमाल किया था।

लड़ाई के दिनों में जो खाटें (Stretcher) आहतों को रण-क्षेत्र से अस्पताल ले जाने के लिए काम में लाई जाती थीं वे भी विद्युत् से गरम रखी जाती थीं; क्योंकि मैदान से अस्पताल ले जाने के समय आहत मनुष्यों को सर्दी लग जाने का डर रहता था, जिससे उनकी हालत और खराब हो जाती थी। यह नवाविष्कृत कवच उन लोगों के लिए बड़ा उपयोगी होगा जो ध्रुवों का पता लगाना चाहते हैं। उसे पहन कर जहाजियों को सफ़ेद समुद्र में जाने से कष्ट उठाना नहीं पड़ेगा। वायुयान में यात्रा करने वाले यात्रियों के लिए इससे अधिक लाभदायक पदार्थ हो ही नहीं सकता।

बेतार के टेलीफ़ोन ने गत युद्ध में बड़ा काम किया है। इसके भविष्य के बारे में मि. कैम्बेल स्विनटोन कहते हैं-"सम्भव है कि लन्दन या न्यूयार्क का कोई वक्ता अपनी वक्तृता बेतार के टेलीफ़ोन द्वारा आधे से अधिक भूमण्डल के रहने वाले मनुष्यों को सुना सके।" इसके द्वारा एक या हज़ारों जगह पर खबरें एकही समय में भेजी जा सकती हैं।

इधर वायुयान और तार-सम्बन्धी इतने आविष्कार हुए हैं कि उनके भविष्य का चित्र इस छोटे से लेख द्वारा नहीं खींचा जा सकता—इसके लिए एक स्वतन्त्र पुस्तक की आवश्यकता है। वायुयानों की इतनी उन्नति देखकर लोगों को लड़ाई का डर हमेशा बना रहेगा; इसलिए सम्भव है कि भविष्य में कोई ऐसा अदृश्य जाल बनाया जाय, जिसमें वायुयान पक्षियों के समान पकड़ लिए जावें और लड़ाई करने से बेकाम कर दिये जावें।

विद्युत् वैद्यकशास्त्र में भी अपनी नाक घुसेड़ने लगा है। अभीतक कई रोगों की विद्युत-चिकित्सा होती थी, किन्तु अब वह हमारी नाड़ियों को भी देखने लगा है। अब तक बीमारियों का ठीक २ पता लगाने का कोई उपाय नहीं था; इसलिए उनका इलाज भी ठीक तौर से नहीं हो सकता था और बेचारे डाक्टर मुफ़्त में बदनाम होते थे। आजकल के बहुतसे डाक्टर केवल रोगी की हालत सुनकर दवा देते हैं। क्योंकि उनने

रोगी के आन्तरिक रोग को परखने की शक्ति नहीं है; किन्तु अब ऐसे कई यन्त्र आविष्कृत हुए हैं जो हृदय की गति को बतलाते हैं। मनुष्य के शरीर में एक ओर से बिजली प्रवेश करती और दूसरी ओर से निकल जाती है। हृदय के स्पन्दन से विद्युत्-संचालन में रुकावट उपस्थित होती है। इस रुकावट का ब्योरा फ़ोटो के प्लेट पर अंकित होता जाता है। प्लेट के इस ब्योरे को देखकर वैद्य रोगी की आन्तरिक अवस्था का पता पा जाता है। इस आविष्कार ने ज्वर तथा अन्य कई बीमारियों के कारणों पर अधिक प्रकाश डाला है।

विज्ञान का भविष्य यद्यपि उज्ज्वल दिखलाई देता है; किन्तु इसके भी रास्ते में काँटे बिछे हुए हैं। पहली बाधा तो यह है कि जब कोई वैज्ञानिक कोई आविष्कार करने लगता है, तो उसे यह ठीक ठीक ज्ञात नहीं रहता कि इसका फल क्या होगा? सोचा जाता है कुछ, और फल निकलता है कुछ और ही। इसलिए कई वैज्ञानिकों को अपने प्राणों से हाथ धोने पड़े हैं। फिर जनता भी वैज्ञानिकों के काम में कम बाधा उपस्थित नहीं करती। ऐसा होने पर भी वैज्ञानिक हिम्मत नहीं हारते और नए २ आविष्कारों को संसार के सामने रख अपनी तीक्ष्ण बुद्धि का परिचय देते हैं। विघ्न-बाधा-पूर्ण-कंटकाकीर्ण मार्ग को साफ़ कर नई नई वस्तुओं की खोज में प्राण निछावर करने वाले मनुष्य धन्य हैं।

अन्त में, मैं यह भी कह देना आवश्यक समझता हूँ कि एक दिन आवेगा और बहुत जल्द आवेगा जब मनुष्य प्रकृति के अधीनस्थ वस्तुओं में भी हस्तक्षेप करने से न डरेंगे। जिन वस्तुओं को पैदा करने में प्रकृति अपनी सारी शक्ति लगा देती है, उसे मनुष्य अपने गृहों में, प्रयोगशालाओं में तैयार कर उसको लज्जित कर देंगे। उस समय मनुष्य को प्रकृति की दासता स्वीकार करना असह्य प्रतीत होगा और प्रकृति को मनुष्य के सामने नीचा देखना पड़ेगा। उस समय समस्त संसार विज्ञान-मय हो जायगा। जो इसके विरोधी हैं उन्हें विज्ञान की दासता स्वीकार करनी पड़ेगी और उसके सामने सिर झुका कर उससे सुखमय जीवन की भिक्षा माँगनी पड़ेगी।

अभिलाषा।

(लेखक—पं० बदरीनाथ भट्ट, बी० ए०)

इच्छा है कुछ नाम कमाऊँ।
जैसे भी हो सके सुयश की सुर्री पर चढ़ जाऊँ।
सुरभित कर साहित्य-कमलिनी, भौंरों को भटकाऊँ।
सबका चित्त चुराऊँ ज्योंही लेख—सरोज खिलाऊँ।
गद्य—पद्य के ग्रन्थ बनाऊँ, भाषा—भार बढ़ाऊँ।
लेखक, सम्पादक तो क्या कवि—पुंगव तक कहलाऊँ।
कोविद—चरित—चन्द्र-मंडल में बन कलंक डट जाऊँ।
धूल झोंक सबकी आँखों में, पुरस्कार हथियाऊँ।
मतलब यह है किसी तरह से मैं भी क़दम बढ़ाऊँ।
दुनियाँ आगे रूर रही है, मैं ही क्यों रह जाऊँ!

गुमानि कवि के हिन्दी-संस्कृत-मिश्रित पद्य।

(लेखक—प्रोफ़ेसर गंगाप्रसाद मेहता, एम० ए०)



निम्न लिखित कविता गुमानि कवि की लिखी हुई है। इनकी जन्म-भूमि अलमोड़ा थी। इन्होंने संस्कृत के तीन चरणों के साथ हिन्दी का चौथा चरण जोड़ कर अच्छी पद्य-रचना-चातुरी दिखाई है। इनका परिचय डाक्टर ग्रियर्सन महोदय ने पहले पहल "इण्डियन ऐन्टीक्वेरी" के पृष्ठों में अधोलिखित पद्यों द्वारा दिया था:—

पूर्वमसुप्यत येन खट्वया हाटकमय्या।
तेन नलेन प्राप्ता वने कापदि तृणशय्या॥
वक्ति गुमानिर्दैवशक्तिरिह नूनमसह्या।
जिस विधि राखे राम उसी विधि रहना भैया॥

अर्थात्, जो राजा नल पहले सुवर्ण की शय्या पर सोया करते थे उन्हें संकट में वन में कहीं तृण-शय्या भी प्राप्त न हुई। गुमानि कवि कहते हैं कि इस संसार में दैव-शक्ति सचमुच असह्य है। अतएव "जिस विधि राखे राम उसी विधि रहना भैया"।

दुष्कृतिनां प्रकृतिः किल घोरा।
मानसवृत्तिरतीव कठोरा॥
वाक्सुधया सदृशी रसपूरा।
मुख में राम बगल में छूरा॥

अर्थात्, दुष्ट मनुष्यों का स्वभाव घोर और उनके मन की वृत्तियाँ अतीव कठोर होती हैं। उनकी वाणी अमृत के समान रसवती होती है। मुख में राम, लेकिन बगल में छुरा रहता है।

प्रज्ञावन्तो धैर्यवन्तो वनेषु।
चेरुः पार्थाः दुःखिता दीर्घकालम्॥
चक्रे राज्यं धार्तराष्ट्रः कुबुद्धिः।
जग में सारी बात है बन पड़े की॥

अर्थात्, बुद्धिमान् और धैर्यवान् पाण्डव दीर्घकाल वन में दुःखित होकर विचरते रहे और कुबुद्धि दुर्योधन राज्य करता रहा। सचमुच जग में बन पड़ने की ही सब बात है।

पूर्वजशुद्धिमिषाद् भुवि गंगाम्।
प्रापितवान्स भगीरथ भूपः॥
बन्धुरभूज्जगतः परमोऽसौ।
सज्जन है सबका उपकारी॥

अर्थात् राजा भगीरथ अपने पूर्वजों की युक्ति के बहाने जगत् में गंगाजी को लाए। वे जगत् के निष्कारण बन्धु थे। सचमुच सज्जन सब ही के उपकारी होते हैं।

कन्हैया।

(लेखक—पं० माधवप्रसाद शर्मा)

(१)

जब भारत था भव्य भेष में
भूतल का सिरताज, कन्हैया।
उदय-अस्त लौं रहा एक ही
छत्रपती अधिराज, कन्हैया॥
भरा हुआ जब ओत-प्रोत था
वैभव का भाण्डार, कन्हैया।
हिन्द-कला-कौशल पर था जब
मुग्ध सकल संसार, कन्हैया॥

(२)

देख यहाँ के जब असंख्य मणि
मुक्ता की दूकान, कन्हैया।
रत्नाकर भी नतमस्तक था
होकर लज्जावान, कन्हैया ॥
प्रकृति-भवन का था जब यह मन—
रञ्जन नन्दन बाग, कन्हैया।
सिञ्चित सुधा-स्रवित गंगा से
था जब सारा भाग, कन्हैया ॥

(३)

तब तुम छवि-माधुर्य्य-मुग्ध हो
स्नेह-स्रोत में बहे, कन्हैया।
बड़े चाव से मोद-भरे उर
संतत आते रहे, कन्हैया ॥
भव-वारिधि में खिले हुए लख
इसे रुचिर राजीव, कन्हैया ॥
अलि-वत् नित अटके रहते थे
होकर मुदित अतीव, कन्हैया ॥

(४)

भारत-रूपी मानस—सर में
बन कर मञ्जु मराल, कन्हैया।
करते थे कमनीय कलित कल
केलि-कलाप रसाल, कन्हैया ॥
किन्तु आज बेलाग हुए क्यों,
भूल पुराना प्यार, कन्हैया ?
ऐसा नहीं चाहिए तुमको
सोचो तो कुछ यार, कन्हैया ॥

(५)

अब तो जान गये हम सारी
तेरे मन की बात, कन्हैया।
प्रणय-मुकुर में हो जाता है
प्रतिबिम्बित सब गात, कन्हैया ॥
क्षुद्र जगत की रीति यही है
हे त्रिभुवन के नाथ, कन्हैया ॥
यारों की यारी रहती है
सुख—सम्पति के साथ, कन्हैया ॥

(६)

पर हे प्रियवर ! कहो एकसा
जाता किसका काल कन्हैया ॥
लिखा हुआ विधि—विहित—भाल का
मिटता है कब हाल, कन्हैया ?
बुरे दिवस जग—बीच किसी के
क्या नित आते नहीं, कन्हैया ?
पर उनके प्रिय मित्र उन्हें हैं
तज जाते क्या कहीं, कन्हैया ?

(७)

रंक सुदामा के तण्डुल खा
बना राजसी ठाठ, कन्हैया।
तुमही ने हमको सिखलाया
सहृदयता का पाठ, कन्हैया ॥
फिर क्यों नहीं दयार्द्र-चित्त हो
आतुर आते आप, कन्हैया ?
देता है संताप हमें किस
पूर्व काल का पाप, कन्हैया ?

(८)

जुटा दिया है विधि ने तेरे
आने का उपकरण, कन्हैया।
फिर क्यों इतनी देर लगाई
हे मोहन मनहरण कन्हैया ॥

भोग रहे हम उसी अधर्मी
कंस नृपति का राज, कन्हैया ।
जो सजता है सदा सहज ही
नर-मृगया का साज, कन्हैया ।

(९)

कितनी द्रुपद-सुताओं का है
खींचा जाता चीर, कन्हैया ।
तन पर कितनी गायों की अब
पड़ती है शमशीर, कन्हैया ॥
बार बार दानव-वृन्दों के
करने से संहार, कन्हैया ।
क्या कुण्ठित पड़ गई तुम्हारे
तीक्ष्ण चक्र की धार, कन्हैया ॥

(१०)

देखो, है दासत्व--दैन्य का
भयप्रद कारागार, कन्हैया ।
बन्दी भारत-मात जहाँ है,
पाती क्लेश अपार, कन्हैया ॥
पड़ा वहीं है घोर विपत्ति का
भीषण भादों मास, कन्हैया ।
तमोमयी अज्ञान--निशाएँ
देती हैं अति त्रास, कन्हैया ॥

(११)

दमन-नीति की घोर घटाएँ
घेर रहीं चहुँओर, कन्हैया ।
नाच रहे हैं देख जिसे का-
पर सहयोगी मोर, कन्हैया ॥
चञ्चल चपला दुराचार की
चमक रही घन घोर, कन्हैया ।
बहता है अविराम निरन्तर
भीषण स्वार्थ--समीर, कन्हैया ॥

(१२)

बड़ी बड़ी बूँदें शोणित की
बरस रहीं घमसान, कन्हैया ।
प्रलय--विलीन हुआ जाता है,
देखो हिन्दुस्थान, कन्हैया ॥
उदित हुआ है रम्य रोहिणी
जन--"मोहन" नक्षत्र, कन्हैया ।
करता है जो सत्व--गुणों का
शुभ मुहूर्त एकत्र, कन्हैया ॥

(१३)

पाकर यह अनुकूल समय, लो
अवनी पर अवतार, कन्हैया ।
भूतल में भर भव्य भावना
हर लो भारत-भार, कन्हैया ॥
कलुष--नाशिनी कालिन्दी का
अब भी है वह कूल, कन्हैया ।
वही कदम्ब--विटप की शाखा,
वही मनोहर फूल, कन्हैया ॥

(१४)

किन्तु नहीं अब है वह तेरी
मञ्जु माधुरी मूर्त्ति, कन्हैया ।
नहीं मधुर मुरली का रव है
भरता उर में स्फूर्ति, कन्हैया ॥
छेड़ प्रशान्त महाभारत अब
की स्वकीय धर्म्मार्थ, कन्हैया ।
देख रहा है राह तुम्हारी
भारत का प्रिय "पार्थ" कन्हैया ॥

(१५)

हे यदुनन्दन, कंस-निकन्दन,
मद-भञ्जन, घनश्याम कन्हैया ।
प्यासे हैं दर्शन को ये दृग-
चातक आठों याम, कन्हैया ॥

संकट–ग्राह–ग्रसित भारत–गज
की सुन प्रेम--पुकार, कन्हैया।
तज वैकुण्ठ-निवास, सदय हो,
कर तो दे उद्धार, कन्हैया॥

(१६)

भक्तों की हो चुकी परीक्षा,
अब है तेरी बार, कन्हैया।
एक बार फिर लाज बचा दे
भारत--भार उतार, कन्हैया॥
भक्तों–कृत अपमान सदा तुम
करते आये प्यार, कन्हैया।
तुम्हीं कहो कैसा कोमल था,
भृगु का पाद--प्रहार, कन्हैया?

(१७)

एक बार तू दरश दिखा दे
कहना मेरा मान, कन्हैया।
तुझको उचित नहीं है हमसे,
करना ऐसा मान, कन्हैया॥
तन–मन–धन सर्वस्व हमारा
है तुझ पर कुर्बान, कन्हैया।
मर जावेंगे अपने प्रण में
करते तेरा ध्यान, कन्हैया॥

(१८)

तेरी लगन लगी है अब तो
भारत को घनश्याम, कन्हैया।
उसका दुखी हृदय रोता है
ले ले तेरा नाम, कन्हैया॥
तुझसे कहने को अब क्या है,
तू तो है दिलदार, कन्हैया।
एक बार भारत का बेड़ा,
और लगा दे पार, कन्हैया॥

रूस की राज्यक्रान्ति।

(लेखक—प्रोफ़ेसर प्राणनाथ, विद्यालंकार)

प्रथम राज्यक्रान्ति।



ग्लैण्ड ने किसके साथ मित्रता निभाई? भारतवर्ष तथा आयर्लैण्ड के सदृश ही रूस को भी इँग्लैण्ड ने गाजर-मूली समझा। उसने अपने दिल के उसी थैले में रूस को भी डाल दिया जिसमें आयर्लैण्ड तथा भारतवर्ष को पहिले ही से ठूँस रक्खा था। परिणाम यह हुआ कि उसने पग पग पर ठोकरें खाईं, उसने जो किया ग़लत किया; लड़ाई में इससे बढ़कर कोई दूसरी ग़लती न थी।

लड़ाई शुरू होते ही रूस की आन्तरिक दशा विक्षुब्ध हो गई। उद्योग-धन्धे तथा व्यापार लड़खड़ाने लगे। ऐसी भयंकर दशा में जर्मनी भी सिर पर सवार हुआ। ग्राण्ड ड्यूक निकोलस की सेनाएँ पीछे लौटने लगीं। नियन्त्रण तथा संगठन चूरचूर हो गया।

इँग्लैण्ड ने लार्ड मिल्नर को रूस की ओर रवाना किया। उनका मुख्य उद्देश्य रूस की असली हालत को देखना था।

लार्ड मिल्नर की भूल।

महाजनशाही का विचार था कि लार्ड मिल्नर ने रूस में जाकर कोई बात न उठा रखी। मार्निङ्गपोस्ट के पेट्रोग्रेड में रहने वाले एक संवाददाता ने २७ फ़र्वरी, सन् १९१७ को लिखा कि "लार्ड मिल्नर सवेरे साढ़े सात से दोपहर तक काम करते थे और कभी कभी तो और भी देर तक करते रहते थे।" ओफ़, बेचारे ने बड़ी मेहनत की। सामाजिक विद्रोह की कहानियों से वह कभी बहकने लगा! कभी नहीं! कभी नहीं!

विलायत के अख़बारों में छपा कि "ब्रिटिश ... उन्ट मिल्नर ने रूस में गड़बड़ मचानेवालों

अपने पहिले ही व्याख्यान में बुरी तौर पर फटकार दिया। उसने सदा के लिए ही सब मामलों को तय कर दिया।" यदि विलायती अख़बारों की झूठी ख़बरों पर हम लोग तनिक सा भी विश्वास करते तो हम लोग भी पागलख़ाने के योग्य हो जाते।

विस्काउन्ट मिल्नर ने रूस से लौट कर इँगलैण्डवालों को ख़बर दी कि "सब मामला ठीक है। ज़ार बड़ा दूरदर्शी है। रूस का प्रत्येक मनुष्य लड़ाई ज़ारी रखने के पक्ष में है। रूस में घरेलू मामलों पर ही कुछ झगड़ा है। परंतु ऐसे छोटे मोटे झगड़े तो आज कल सदा ही बने रहते हैं। मेरे जाने से रूस में शान्ति हो गयी है। लड़ाई को ज़ारी रखने की ख़ूब तैयारियाँ की जा रही हैं।" इसी ढँग की बातें सन् १९१७ के ६ मार्च के लण्डन टाइम्स में प्रकाशित हुईं।

इसके एक सप्ताह बाद ही रूस में राज्य-क्रान्ति हो गयी। ज़ार को राज्य से च्युत किया गया। बलिहारी है विलायती अख़बारों की ख़बरों की! पाण्डुरोगियों को सारा जगत् किस प्रकार पीला दीखता है इसका यह एक अच्छा नमूना है!

भूल पर भूल।

रूस में राज्यक्रान्ति सचमुच हो गयी। बड़ी बात तो यह है कि यह दिन पर दिन बढ़ती गयी। मित्रराष्ट्र भी भूल पर भूल करते चले गये। वे हर रोज़ बँधे हिसाब से एक भूल करते थे और कभी कभी एक एक दिन में दो दो भूलों का लग्गा लगा देते थे। महाशय बोनरला ने ज़ार को सहानुभूति के तार दिये और विलायत के अख़बार-वालों ने रूस की किसान पञ्चायत को बेवक़ूफ़ों का अड्डा बना दिया।

संसार के मेहनती मज़दूर बहकाये जाने लगे और रूस की राज्यक्रान्ति में भी जर्मनी का हाथ दिखाया जाने लगा। परिणाम यह हुआ कि विलायत के मेहनती लोगों के दिमाग़ भी चक्कर खाने लगे और रूस की ओर से फिर गये।

रूस के ओ' ग्राडी ने जब इँग्लैण्ड के श्रमी दल को तार दिया कि "रूस का किसान-राज्य आपकी श्रम-समितियों की सलाहों को चाहता है" तो उसको उत्तर मिला कि "हमारे रूसी मित्रों से कहदो कि जब हमारे बाल-बच्चे लड़ाई में कट रहे हैं, तब वे ऐसी बातें पूँछते हैं?" अहा यह उत्तर कितने विवेक तथा स्नेह से भरपूर है!

इसके बाद रूस के किसान-राज्य ने मित्र-राष्ट्रों से एक संमिलित सभा बैठाने की प्रार्थना की और कहा कि पुरानी गुप्त सन्धियाँ रद्द करदो, हरजाने तथा ज़मीन छीनने के मामले को सदा के लिए मिटा दो। साथ ही लड़ाई में प्रविष्ट होने के पवित्र उद्देश्यों को खुले तौर पर प्रगट कर दो परन्तु यहाँ यह किसको मन्जूर था! स्वतंत्रता, समानता तथा मातृभाव के सिद्धान्तों के लिए कोई लड़ा हो तब तो कोई प्रगट करे। लूटमार, छीना-झपटी ही जहाँ मुख्य उद्देश्य हो वहाँ कौन ऐसी बात करने लगा! जहाँ टर्की के बटवारे की चिन्ता हो, हंग्री तथा आस्ट्रिया को टूक टूक कर निःशस्त्र करने का ख़याल हो, जर्मनी की समृद्धि को नष्ट करना ही मुख्य उद्देश्य हो वहाँ ऐसी बातें कौन प्रगट करने लगा! यही कारण है कि मित्रदल के राजनीतिज्ञों ने रूसी किसान-राज्य की प्रार्थना को टालना शुरू किया।

जब रूसी किसान-राज्य अपने पवित्र तथा उच्च उद्देश्य से टस से मस न हुआ तो इन्होंने त्यौरी बदली। पहिले तो उन्होंने यह कहना शुरू किया कि "रूसी किसान-राज्य को [illegible] निभाना नहीं आता।" मित्रराष्ट्रों के राजदूतों ने रूसी सेना में नियन्त्रण की शिथिलता की शिकायत करना शुरू किया। धीरे धीरे इन धूर्तों ने करन्सी को जुलाई की ख़ूनी लड़ाई में झोंक दिया। बेचारा बुरी तरह से पराजित होकर लौटा।

इसके बाद अंग्रेज़ों ने पैंतरा बदला। इन्होंने रूस में ज़ार के राज्य को स्थापित करने का इरादा किया। रूसी ताल्लुकेदारों, पूँजीपतियों तथा शाही ख़ान्दान के लोग भड़काये जाने लगे और उनके मुँह से कहलाया जाने लगा कि,

"अच्छा होता कि रूस में ज़ार ही राज्य करता!" बलिहारी है अंग्रेज़ों के स्वतंत्रता-प्रेम की!

स्टाकहोम कान्फ़्रेन्स।

अगस्त के महीने में स्टाकहोम में होने वाली साम्यवादी कान्फ़्रेन्स ने मामला और भी टेढ़ा कर दिया। रूसी राज्य इस कान्फ़्रेन्स के पक्ष में था। करन्सी ने स्पष्ट शब्दों में लिखा कि "हम इस कानफ़्रेंस में सम्मिलित होना चाहते हैं। मित्रराष्ट्र के राजदूतों से उसने यह भी कहा कि हमारे प्रतिनिधियों को बिना रोकटोक के पासपोर्ट मिल जाना चाहिए।" परन्तु लायड जार्ज ने यह नामन्ज़ूर किया और मामला गोलमाल कर दिया।

इसके बाद जनरल कार्निलाफ़ रूसी राज्य को पलटने के भयंकर षड़यन्त्रों में पकड़ा गया। इँगलैण्ड के अखबारों ने इस देश-द्रोही का पक्ष लिया। परन्तु रूस के राज्य में इसको उस भयंकर पाप तथा देश-द्रोह का पूरा दण्ड दिया। जाँच-पड़ताल करने से रूसी किसान-राज्य को मालूम पड़ा कि यह मित्रराष्ट्रों की ओर से ही उभाड़ा गया था और छिपे तौर पर इसे सहायता भी दी गई थी। मित्रराष्ट्रों ने कैसी अच्छी दोस्ती निभायी! अंग्रेज़ों के महाजनी राज्य की माया अपरम्पार है।

महाशय लैस्ली उर्कुहार्ट।

सितम्बर मास में महाशय लैस्ली उर्कुहार्ट ने रूस से लौटकर रूसी प्रश्नों को नया रूप देना शुरू किया उसने विलायती गिद्धों को मांस के बड़े भारी ढेर का पता दिया। यही कारण है कि १२ सितम्बर १९१७ के डेलीमेल में उसके विषय में लिखा गया कि "लैस्ली उर्कुहार्ट मिट्टी के तेल तथा खानों का इन्जीनियर है। वह रूस में वाइस सालों तक रहा है। ब्रिटिश की प्राकृतिक संपत्ति से सम्बद्ध कंपनियों का वह प्रधान था। उसी ने रूस का ४० फ़ी सैकड़ा तांबा, जस्ता, चाँदी तथा सीसा और ३३ फ़ी सैकड़ा सोना खानों से निकलवाया है।" डेलीमेल के निज संवाददाता को उसने अपने जो विचार प्रकट किये वे इस प्रकार हैं:—

(१) पृथक सन्धि न होनी चाहिए।

(२) रूसी राज्यक्रान्ति सफल नहीं हुई।

(३) रूसी राज्य का संगठन अनार्किस्ट सिंडीकैलिस्ट आदि कल्पनावादी दलों के हाथ में है। सबके सब यहूदी विचारों से रँगे हुए हैं। न तो उनमें कोई अच्छा सेनापति है, और न कोई राजनीतिज्ञ। उनमें अनेक तो जर्मनी से घूँस ले रहे हैं।

(४) सारा रूस शान्ति तथा नियम का प्यासा है।

(५) रूसी किसान-राज्य का स्वेच्छाचार देर तक नहीं चल सकता है।

महाशय लैस्ली उर्कुहार्ट के नये प्रलोभन।

सितम्बर, १९ के मार्निंगपोस्ट में उर्कुहार्ट ने एक लेख लिखा। इसमें उसने अंग्रेज़ पूंजीपतियों के सामने जो प्रलोभन रखे उनका ज्ञान उसके लेख के कुछ अंशों से भलीभाँति हो सकता है। लेख के शब्द इस प्रकार हैं:—

"ताँबा, सोना, जस्ता, चाँदी, सीसा आदि धातुओं को खोदनेवाली जिन कंपनियों से मेरा सम्बन्ध था उनका कहना है कि रूस की सबसे बड़ी खानों पर उन्हींका अधिकार है। ......मैंने राज्यक्रान्ति से पहिले तथा पीछे की हालत बहुत अच्छी तौर पर देखी है। ......कुछ ही लोग होंगे जिनको रूस की अनन्त संपत्ति से भरी खानों का ज्ञान होगा। ......यदि कोई उन खानों को खोदने का पूरा तौर पर यत्न करे और रूस के जंगल, अनाज तथा अन्य प्राकृतिक चीज़ों से लाभ उठावे तो उसकी समृद्धि का पार न रहे। ....अनाज लकड़ी तथा खनिज पदार्थों की उत्पत्ति में रूस का दर्जा संसार में सबसे ऊपर हो जाय......"

काल्पनिक, देशनिकाले के दण्ड से दण्डित, क़ैदखानों से छुड़ाये गये, सार्वभौम, मातृभाव के यहूदी विचारों से रँगे, तर्क-वितर्क से शून्य पागल मनुष्यों ने रूस को नये भँवर में फँसा दिया है।

यद्यपि कार्तिलाफ अपने यत्न में पूरी तौर पर निष्फल हुआ तौ भी रूस में राज्य पलटने की नितान्त आवश्यकता है। अब भी पूरा मौक़ा है कि रूस में एकतंत्र राज्य स्थापित हो जाय और रूस के शासन की बागडोर कुछ समय के लिए पूरे तौर पर उसीके हाथ में थाम दी जाय।"

ऊपर लिखे वाक्यों का अर्थ संक्षेप से इस प्रकार है। अंग्रेज़ लोग रूस को तुच्छ बन्जर देश न समझें। वह अनन्त. अपरिमित प्राकृतिक संपत्ति से भरा है। अंग्रेज़ लोगों को उनसे लाभ उठाना चाहिए। रूस का किसान-राज्य इन खानों के जंगलों तथा अन्य चीज़ों से अंग्रेज़ों को लाभ न उठाने देगा। क्योंकि उसने उनपर जातीय स्वत्व स्थापित रूसी प्रजा के लिए ही उनकी आमदनी रख छोड़ी है। जबतक रूसी किसान-राज्य चौपट न किया जाय तबतक अंग्रेज़ अमीरों की दाल न गलेगी। इसलिए रूस में किसी एक उल्लू मनुष्य को राजगद्दी पर बैठा कर अंग्रेज़ों को अपना मतलब सिद्ध करना चाहिए।

इसी लेख के तीन सप्ताह के बाद १९१७ के १३ अक्तूबर के मार्निंगपोस्ट में पेट्रोग्रेड के संवाददाता की चिट्ठी छपी। उसमें लिखा था कि "उचित ढंग पर यदि यत्न किया जाय तो रूसियों की मनमाने तौर पर चलाया जा सकता है।...... इंग्लैण्ड ही इस महाक्रान्ति को अपने सिर पर ले सकता है।........अंग्रेज़ों को अपने पुराने तरीक़ों का अवलम्बन करना चाहिए।"

अंग्रेज़ लोग दूसरी जातियों तथा उनके राष्ट्रों को किस नज़र से देखते हैं इसका ज्ञान उस समय अच्छी तौर पर होगा जबकि बोलशेविक लोगों से उनका साबका पड़ेगा।

करन्स्की का अधःपतन।

अक्तूबर के अन्त में करन्स्की ने स्पष्ट शब्दों में यह कह दिया कि रूस लड़ने में असमर्थ है। रूस बहुत बुरी तरह से थक गया है। इसी समय बोलन्स्का ने यह भूल की कि रूस के किसान-राज्य को यह सूचना दी कि युद्ध के उद्देश्यों को नष्ट न किया जायगा। युद्ध किस ढंग पर चलाया जाय इसीपर विचार किया जा सकता है। इस सूचना का फल यह हुआ कि बिचारे करन्स्की के पैरों तले की भूमि खसक गयी। जिस आधार पर वह लड़ा था वह आधार ही चूर चूर हो गया।

देखते देखते बोलशेविक लोगों ने राज्य की बागडोर अपने हाथ में ले ली। बोलशेविक राज्यक्रान्ति ने रूसी किसान-राज्य के स्वरूप तथा उद्देश्य को स्थिर आधार दिया। करन्स्की राज्य छोड़ कर भाग गया। बोलशेविक लोगों की प्रधानता से रूसी किसान-राज्य का साम्यवादी साम्यवाद पर आधार हो गया। उसका पुराना सैनिक वेष साम्यवादी सिद्धान्तों तथा जाति-पाँति गोरे-काले के भेद-भावों को मिटाने की ओर झुक गया। रूस साम्राज्यवाद तथा पूँजीवाद के युग से एक नये युग में प्रविष्ट हुआ। रूसी भाषा में बोलशेविक राज्य का अर्थ जनता की बहुसंख्या का राज्य है।

द्वितीय राज्यक्रान्ति।

रूस के इतिहास में बोलशेविक राज्यक्रान्ति द्वितीय राज्यक्रान्ति के नाम से पुकारी जाती है। इसी राज्यक्रान्ति से रूस का किसान-राज्य एक नये वेष में प्रकट हुआ। भ्रातृभाव, समानता तथा स्वतन्त्रता ही उसके कार्यों का प्रेरक हो गया। स्वाभाविक ही था कि यूरोप के महाजनी राज्य रूसी किसान-राज्य के जानी दुश्मन हो जाते।

दोनों में मैत्री तो तभी संभव थी जबकि योरुपीय महाजनी राज्यों की तरह रूसी किसान-राज्य एशिया तथा अन्य पराधीन राष्ट्रों के लोगों

को लूटना ही अपना आदर्श बना लेता और सभ्यता तथा मैन्डेटरी की नयी चोली पहिना कर गुलामी, पराधीनता तथा डायरशाही को खूबसूरत रूप दे देता।

बेचारे रूस ने जो गलती की वह यही थी। इतना ही नहीं, बोल्शेविक लोगों ने रूस की जातीय संपत्ति को भी रूसियों के लिए स्वरक्षित रख छोड़ा। महाशय लैस्ली उर्कूहार्ट के दिखाये सब्ज़ बागों से मित्रदल के महाजनों तथा पूँजीपतियों को वाञ्चित रखना और रूसी प्रजा का ही एकमात्र हित सोचना अंग्रेज़ों के ख्याल में महा पाप था।

जातियों का एक दूसरी जाति को रुपया उधार दे करके लड़ाना भी बोल्शेविक लोगों को पसन्द न था। अंग्रेज़ों, फ़रासीसियों तथा अन्य राष्ट्रों के ऋणों को नियम-विरुद्ध ठहरा करके रद्द करना भी मित्रदल के महाजनों तथा पूँजीपतियों के क्रोध का एक मुख्य कारण बन गया। इस प्रकार रूस के बोल्शेवी किसान-राज्य ने तीन महा-पाप किये।

बोल्शेविक किसान-राज्य के तीन महापाप।

(१) गुप्त सन्धियों का छाप देना।

रूस के बोल्शेविक किसान-राज्य ने यूरोपीय राज्यों तथा राजनीतिज्ञों की पापमय वासनाओं, कुटिल चालों तथा धोखेबाज़ियों को पुराने गुप्त सन्धि-सम्बन्धी चिट्ठियों को छापकर के सारे संसार पर प्रकाशित कर दिया। सीनेट तथा पार्लीमेण्ट को बिना बताये ही सीधे सादे भोले राष्ट्रों को बिना चिताये ही जो विजय तथा अन्य अन्याययुक्त काम योरोपीय राजनीतिज्ञों ने सोचे सभी राष्ट्रों की जनता के सामने आ गये।

गोरे महाजनी राज्यों के लिए इससे बढ़करके और महापाप क्या हो सकता है था? उनका बनावटी रूप लोगों पर खुल जाय इससे बढ़ करके और क्या बुराई हो सकती थी? इस भयंकर लड़ाई में भ्रातृ-भाव, समानता तथा स्वतंत्रता संबन्धी बातें कितनी झूठी हैं और उनके उद्देश्य कितने घृणित तथा अपवित्र हैं, इसका अच्छा चिट्ठा गुप्त सन्धियों के प्रकाशित होते ही लोगों के सामने आ गया। योरोप के राजनीतिज्ञ भला बोल्शेविक लोगों के इस महा अपराध को कब क्षमा कर सकते थे?

(२) रूस की जातीय संपत्ति पर रूसी प्रजा का स्वत्व।

रूस की जातीय संपत्ति पर रूसी प्रजा का स्वत्व उद्घोषित करके बोल्शेविक किसान-राज्य ने महापाप किया। अंग्रेज़, फ़रासीसी तथा अन्य जातियों के पूँजीपतियों के दिल की दिल ही में रह गयी। उन्होंने रूस के खून चूसने का, रूस की जातीय संपत्ति को अपने कब्ज़े में करने का जो इरादा किया था वह बोल्शेविक किसान-राज्य के महापाप से निष्फल हुआ।

सन् १९१७ के २० नवम्बर के लन्डन टाइम्स में पेट्रोग्रेड के सम्वाददाता ने बहुत ही विचित्र खबर दी जिससे अंग्रेज महाजनों के दिल दुःखित हो गये और उनके सोचे सब्ज़ बाग़ वीरान हो गये। वह खबर यह थी कि "बोल्शेविक सरकार ने रूस में ताल्लुकेदारी सदा के लिए उठा दी और ताल्लुकेदारों की ज़मीनों को छीन कर के किसानों में बाँट दी। साथ ही रूस की जातीय संपत्ति पर रूसी प्रजा का ही स्वत्व स्थापित कर दिया।" ओः! गोरे भूतों के सिद्धान्त में यह काम कितना घृणित था। ज़मीनें और किसानों में बँट जायँ! खानों पर रूसी प्रजा का पञ्चायती प्रबन्ध हो जाय और वह उसीकी संपत्ति बन जाय! बेचारे गोरे भूतों की कंपनियों का रुपया कहाँ लगेगा? रूस की अपरिमित संपत्ति से रूसी जनता ही लाभ उठावे और बेचारे अंग्रेज मुँह ताकते रह जावें। इससे बढ़करके और अन्याय क्या हो सकता है? गोरे भूतों के ख्याल में यह तो महा स्वार्थ है। अब क्या था? अंग्रेज़ों की किस्मत का कर्भा रूस के बोल्शेविक किसान-राज्य पर पड़ा।

यह बात तो डायरशाही ने स्वयं-सिद्ध मान ली कि "बोल्शेविक लोग पागल हैं। उनका नाम संसार से मिटा देना चाहिए।" इस प्रकार स्पष्ट हो गया कि रूस के बोल्शेविक लोगों का दूसरा महापाप यह था कि उसने योरोपीय जोंकों से रूस की जातीय संपत्ति को बचा लिया और उसपर रूसी प्रजा का ही स्वत्व स्थापित कर दिया।

(३) पर-जातियों के ऋणों को रद्द करना।

जिन जिन देशों के पूँजीपतियों तथा महाजनों के पास रशियन बान्डज़ थे वह रूसी राज्य के दुश्मन हो गये। उनका ज़ार ने जो रुपया उधार लिया था-चाहे वह कितने ही पापमय कार्यों में क्यों न खर्च किया गया हो-वह उनको ज़रूर मिलना चाहिए। बोल्शेविक किसान-राज्य ने इस पापी धन को न देना ही राज्यनियमों के द्वारा पास करके महापाप किया। फ्रान्स में बहुत से पूँजीपतियों ने रशियन बान्डज़ में रुपया लगाया था। यही कारण है कि फ़रासीसी राज्य ने बोल्शेविक किसान-राज्य को जड़से उखाड़ने का बीड़ा उठाया। इतिहास-वेत्ताओं को अच्छी तरह से मालूम है कि रूसी ज़ार ने १९०५ में रूस के किसानों तथा देश-प्रेमियों का क़तले आम इसी रशियन बान्डज़ के धन के सहारे किया था। यही रशियन बान्डज़ का धन था जोकि ज़ार के स्वेच्छाचार तथा अत्याचार का मुख्य आधार था। जो कुछ भी हो। योरोपीय पूँजीपतियों के धर्म शास्त्र में इस ढंग के न्याय का कहीं पर भी उल्लेख नहीं है। रशियन बान्डज़ का धन उनको मिलना चाहिए। उसके लिए सब तरीक़े काम में लाये जायँगे। रूस की सारी प्रजा नष्ट हो जाय और रूस के सारे के सारे खेत उजड़ जाँय, कोई पर्वाह नहीं। योरोपीय पूँजीपतियों को रशियन बान्डज़ का रुपया मिलना चाहिए। बलिहारी है धन-तृष्णा की!

डेलीमेल (दिसम्बर ८, सन् १९१७) के आर्थिक संपादक ने खूब दूर की सोची और लिखा कि "रशियन बान्ड का रुपया रूस की अपरिमित जातीय संपत्ति पर स्वत्व स्थापित करके प्राप्त किया जा सकता है। लैनिन के दल को किसी प्रकार से राज्य-च्युत करना चाहिए।' इसके कुछ ही दिनों के बाद जापानी राजदूत ने घोषणा की (डेली एक्सप्रैस दिसम्बर ८, १९१७) कि "यदि जापान की पूँजी को रूस में कुछ भी नुकसान पहुँचा तो जापान रूसी किसान-राज्य में हस्तक्षेप करेगा और रूस की भूमि को ज़ब्त करके अपनी पूँजी की कमी को पूरा करेगा।

इन सब घटनाओं के बाद मित्रदल के राजनीतिज्ञों ने रूस में कुटिल चालें चलना शुरू किया-रूस के किसान-राज्य को बदनाम करने तथा साथ ही पलटने की भूमिका बाँधी गई, भयंकर षड्यंत्र रचे गये।

रूस में घरेलू झगड़ों को बढ़ाने की कोशिश।

इन षड्यंत्रों का मुख्य उद्देश्य रूस में घरेलू झगड़ों को बढ़ाना था। मध्य श्रेणी के लोगों को कभी उत्तेजित किया गया और कभी ताल्लुकेदारों पूँजीपतियों और शाही खान्दान के लोगों की प्रशंसा की गई। धीरे धीरे जनरल कार्निलाफ, कैलेडिन, अलक्जीफ, तथा समुद्र सेनापति को लचक के कंधों पर हाथ रखा गया। लैनिन के नष्ट करने के लिए योरोप के पूँजीपतियों ने उल्टे सीधे सब तरीक़े आजमाना शुरू किया। कज़्ज़ाक तथा फ़िन्न को भी भड़काने में भी कोई कसर न की गयी। परंतु सब तरीके असफल हुए। मित्रदल के लोगों ने जिसपर हाथ रखा वही बरबाद हुआ। बेचारे रूसी किसानों के कष्ट पूर्वापेक्षया और भी अधिक बढ़ गये। मित्रराष्ट्रों की चालबाज़ियों से रूसी प्रजा लैनिन को प्यार करने लगी और अपना रक्षक तथा इष्ट देव मानने लगी। रूसी किसानों में मित्रराष्ट्र के महाजनों तथा पूँजीपतियों के प्रति भयंकर घृणा उत्पन्न हो गयी और वह रुपयों के खातिर लड़ना छोड़ करके साम्यवाद के सिद्धान्त तथा ग्रामवाद के प्रचार के लिए और एशिया को गुलामी से छुड़ाने के लिए लड़ने पर उतारू हो गये।

हिन्दी की आधुनिक कविता और उसकी भाषा ।

(लेखक—श्रीयुक्त ह० लतीफ़ हुसेन)

प्राकृतिक परिवर्तन का प्रबल प्रभाव सृष्टि के सारे पदार्थों पर अनिवार्य्य रूप से पड़ा करता है । जड़ और जीव दोनों ही इसकी गति के अधीन हैं । यही कारण है कि अन्य प्राकृतिक वस्तुओं के साथ साथ, जीव, जन्तु, मनुष्य, समाज, जाति और देश—आन्तरिक और बाह्य दोनों प्रकार से--सदा इस परिवर्तन के चक्के पर घूमते रहते हैं । मनुष्य के भाव, भाषा, वेष, रीति, व्यवहार और आचार-विचार आदि का सदा बदलते रहना भी इसी नियम के अधीन है। ये ही नियम कविता में भी लागू हो सकते हैं; क्योंकि प्राकृतिक छटा का दिग्दर्शन और मानव-समाज, उसके भाव एवम् रीति--व्यवहार आदि के वर्णन को ही कविता कहते हैं । फिर, क्या कारण है कि वह बेचारी वही पुरानी चाल-ढाल पर चलती रहे ? पुराने आवरण और ठाट-बाट से ही उसका शरीर ढँका रहे ? जिस समय लोगों की जैसी रुचि और आचार-विचार होते हैं तथा समाज और देश की जैसी अवस्था होती है, कविता भी प्रायः उसी तरह की रची जाती है । यह बात इतिहास से प्रत्यक्ष है कि विलासी और खुशामद-प्रिय राजाओं के आश्रय में रहने वाले कितने ही झूठे और चाटुकार कवियों ने उनकी विलास-लोलुपता की प्रवृत्ति जगाने और झूठी प्रशंसा करने में ही अपनी कवित्व-शक्ति की इतिश्री कर दी है। अतः उस समय की कविताएँ प्रायः इन्हीं दो रंगों में विशेष रँगी हुई पाई जाती हैं।

परन्तु, अब समय बदल रहा है । लोगों में रुचि-परिवर्तन हो रहा है । सुधार और 'जागो' 'उठो' की पुकार मची हुई है । अतएव ऐसे समय में पुराने भाव और ढँग को हटाना पड़ेगा और सामयिकता का साँचा तैयार कर उसीके अनुसार कविता गढ़नी होगी। अब कविता को कामिनी से देवी बनाना होगा। उस के रूप में, वासना-उत्तेजक कमनीयता और लावण्य के बदले, दिव्य और पवित्र भावपूर्ण सौन्दर्य्य की छवि झलकानी होगी । नखशिख-वर्णन आदि शृंगार-रसपूर्ण आभूषणों के बदले पवित्र प्रेम और सच्ची सहानुभूति के सुन्दर तथा सुगन्धित सुमनों की ऐक्य—मालाओं से उसके अंग सजाने होंगे । उसके हाथों में पुष्प-बाण के बदले, सुधार-विषयक सामयिक भावों के शस्त्रादि देकर वर्तमान समय की बुराइयों के महिषासुर का नाश कराना होगा । अब केवल गोपी-विरह-वर्णन से काम न चलेगा, उसके बदले उन बेचारे तड़फते हुए ग्वाल बाल-कृषक आदि एवं रँभाती हुई गायों का ही ध्यान अधिक रखना होगा । अन्य काण्डों की अपेक्षा लंकाकाण्ड की लोमहर्षण घटना-और उत्तरकाण्ड के संयोगान्त का दिव्य-दृष्य — वर्णन में ही जरा अधिक परिश्रम करना होगा । कहने का तात्पर्य्य यह कि अब विलासिता-पूर्ण, और झूठी प्रशंसा से भरी तथा निरी भक्तिरस की कविताओं के दिन गये । इससे देश का बहुत कुछ नाश हो चुका और हो रहा है । अतः भाइयो, अब इन विचारों को दूर कीजिए । अपनी कवित्व-शक्ति के बल से सोये हुओं को जगाइए । कर्तव्य-च्युतों को कार्य में लगाइए। अंधेरे में भटके हुओं को रास्ता सुझाइये ।

मेरी यह इच्छा कदापि नहीं है कि आप रसमयी कविता न करें। कीजिये, पर उसमें ऐसा रस प्रवाहित कीजिए जिसमें विलासिता की गन्ध न हो और जिसके पान करने पर मनुष्यों का हृदय शीतल हो जावे; उनमें जीवन-संचारिणी शक्ति आजावे, तथा नूतनता उनके रक्त में आकर हलचल पैदा करदे। आप प्रेम का भी वर्णन कीजिए, परन्तु सच्चे प्राकृतिक प्रेम का और कृपया उसमें वासना का लेश न आने दीजिए। आप नायिका-वर्णन कीजिए, पर किसका? सीता, सावित्री, दमयंती, गांधारी आदि आदर्श महिलाओं का। फिर भी, उनके नखशिख आदि शृंगार वर्णन की अपेक्षा उनके गुण और चरित्र पर ही अधिक प्रकाश डालिए। वीररस में भी, केवल शब्दोत्तेजक, सारहीन और केवल कानों में तड़तड़ाहट तथा गड़गड़ाहट उत्पन्न करने वाली कविता न कीजिए। वरन्, सच्चे वीररस में सनी हुई भावोत्तेजक कविता कीजिए, जो हृदय में प्रवेश कर, तंत्रियों में तड़ित् प्रवाहित कर दे।

भाषा के संबंध में भी यही बात है। लगभग ४०-४२ वर्ष की बात है कि "हिन्दी में, गद्य और पद्य की भाषा एक होनी चाहिए" इस विषय का आन्दोलन आरम्भ हुआ था। उस समय, इस सम्बन्ध में, दो दल थे। एक, विषय के पक्ष में, अर्थात् खड़ी बोली के पक्षपाती; दूसरे उसके विरोधी या व्रजभाषा के पक्षपाती थे। दोनों में खूब वाद-विवाद चला और "तू तू मैं मैं" मची। दोनों अपनी अपनी बातों की पुष्टि में, तर्क और प्रमाण से, एक दूसरे को हार मानने पर बाध्य करते रहे। उस समय के प्रायः सभी हिन्दी के धुरंधरों ने इस युद्ध में भाग लिया था। एक दल इस व्रजभाषा के अमित भाण्डार की दुहाई देता हुआ, मधुरता और सरसता में, उसी भाषा को कविता के सर्वथा योग्य समझता था, दूसरा दल उसका विरोध करता हुआ खड़ी बोली को ही कविता के योग्य सिद्ध करने की चेष्टा करता था। दोनों ओर के दाँव-पेंचों से हिन्दी-साहित्य को एक प्रकार से बड़ा लाभ पहुँचा है; क्योंकि दोनों ही ने, अपनी अपनी मत-पुष्टि के साधन-संग्रह में गहरी छानबीन की है। पुराने और नये-दोनों प्रकार के साहित्य-सिन्धु का इन्हें मथन करना पड़ा है। परन्तु, निश्चित निर्णय कुछ न हुआ। हाँ, इतना अवश्य हुआ कि खड़ी बोली में भी कविता होने लगी, और एक तीसरा दल जो दोनों भाषाओं में कविता करने का पक्षपाती था, उत्पन्न हुआ। उसका यह कहना बहुत ठीक जँचता है कि "यदि कवि प्रतिभाशाली, भावुक और योग्य है, तो वह चाहे जिस भाषा में उत्तम कविता कर सकता है"। मेरी राय में, इस समय, पहिले (खड़ी बोली के पक्षपाती) और इस तीसरे दल के ही लोग अधिक हैं। निरे व्रजभाषा के पक्षपातियों की संख्या अब भी कुछ है; पर समय के प्रभाव अथवा वृद्धावस्था के कारण से वे मौन हैं। देश में इस समय अधिकतर खड़ी बोली की ही तूती बोल रही है। यह अभ्युदय का शुभ लक्षण है। यद्यपि इसका भाण्डार अभी अधिकांश में खाली है तौभी समय ने अब इसकी बारी ला दी है। हो सकता है कि २०-२५ वर्षों में इसका भंडार, सब भाषा-भंडारों से बढ़ जाय, क्योंकि इस समय हिन्दी

(खड़ी बोली) की उन्नति के जितने यत्न किये जा रहे हैं शायद ही भारतवर्ष की किसी भी भाषा के लिए कभी किये गये हों। यह बात स्वभावतः सिद्ध है कि जिस समय देश में जो भाषा सार्वजनिक बोल-चाल के काम में लाई जाती है, कवि अपने भाव के प्रचार के लिए उसी भाषा का आश्रय लेता है। संस्कृत, प्राकृत और ब्रजभाषा इसके प्रमाण हैं। इसके बाद तो हिन्दी ही का बोल-बाला है।

अस्तु, १९ वीं सदी में जिस समय ब्रजभाषा का भाण्डार काव्य-द्वारा भरा जा रहा था उस समय की सार्वजनिक भाषा भी एक प्रकार से वही थी* । श्रीलल्लूलाल जी ने, बहुत यत्न करके आगरे और अवध की बोली में—असल में उर्दू-ढंग पर (अवश्य उसके शब्दों को छोड़कर)—प्रेमसागर की रचना की थी। उसके पढ़नेवाले समझ सकते हैं कि उसकी भाषा कैसी है। जब इतनी कोशिश करके भी गद्य की भाषा ब्रजभाषा से सर्वांश में भिन्न न हुई, तो पाठक मेरे उपरोक्त कथन का इसी से अनुमान कर लें; यद्यपि हिन्दी का जन्म उस समय उसके दूसरे—उर्दू के—रूप में हो चुका था; पर लल्लूलालजी को उसमें सफलता न मिली। वे क्रिया और विभक्ति का भेद न मिटा सके।

परन्तु, समय के प्रभाव से बाबू शिवप्रसाद 'सितारे हिन्द' ने हिन्दी को एक खास रूप में प्रकट किया; यद्यपि असल में उन्होंने उर्दू लिपि को ही देवनागरी का वस्त्र पहिना रखा था। उसके बाद, स्वनामधन्य भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र जी उसे अपनी रुचि के अनुसार पोशाक पहिना कर वर्तमान हिन्दी के रूप में लाये। तब से इसकी बराबर उन्नति होती गई।

इस समय देश में हिन्दी—खड़ीबोली—की धूम मची हुई है। लोग इसे राष्ट्रभाषा बनाना चाहते हैं। इसकी शैली और भाषा-सुधार पर विचार हो रहे हैं। मतलब यह कि हर तरह इसकी उन्नति के प्रयत्न हो रहे हैं। ऐसे समय में, वही पुरानी लकीर पीटना, पुरानी एड़ पर ही अड़े रहना बुद्धिमत्ता नहीं है। माना कि ब्रजभाषा में बहुत से अमूल्य रत्नों का भण्डार है। यह भी माना कि उसमें सब से बड़ी सरस और मनोहारिणी कविता हो सकती है; परन्तु यह तो विचार कीजिए कि जिस भाषा में आप लेख लिखते हैं, पुस्तकें रचते हैं, अपने विचार प्रगट करते हैं, तथा जिसमें देश के गौरव-स्वरूप अनेकों उत्तमोत्तम पत्र-पत्रिकाएँ निकलती हैं एवं जिस भाषा के द्वारा आप सामयिक तथा आवश्यकीय भावों का प्रचार जनता में करना चाहते हैं क्या आपका यह कर्त्तव्य नहीं है कि उसी भाषा में आप कविता करें ? यदि आप हिन्दी और हिन्दी के प्रेमी तथा सेवक हैं और सच्चे हृदय से प्रचार करना चाहते हैं तो आप अपनी प्रतिभा—कवित्व शक्ति—का विकाश इसी हिन्दी भाषा द्वारा करें। यदि आप यह समझते हैं कि इस भाषा के द्वारा सरस, मधुर और भाव-

*वास्तव में, उस समय आजकल की तरह, न तो लिखने की कोई शैली ही थी और न ढंग ही। जिसके जी में जैसा आता, वैसा ही लिखता, बोलता और कविता करता था। कुछ शब्दों के उलट-फेर के सिवा और कोई भेद कविता और बोलचाल की भाषा में न था। उस समय की कविता को छोड़ कर अन्य विषयों की पुस्तकों में भी उसी प्रकार की भाषा नाममात्र के भेद के-पाई जाती है। ले०।

शिनी कविता नहीं हो सकती है तो आप इसे उस योग्य बनाने का यत्न करें। यह आपके लिये लज्जा की बात होगी, यदि आप अपने मुँह से अपनी अयोग्यता स्वीकार करेंगे। जब उर्दू के केवल एक शेर और मिसरे पर लोग लट्टू होकर लोटपोट होने लगते हैं, तो क्या कारण है कि उसके दूसरे रूप--हिन्दी अर्थात् खड़ी बोली--में वैसी ही सरस और मनोहर कविता न हो सके? उससे बढ़कर कविता हो सकती है; परन्तु कविगण अपनी अकड़ और दुराग्रह छोड़कर उसके लिए श्रम करें तब तो। कभी संस्कृत की कविता सरस, मधुर और भाव-मयी नहीं होती, तो इसके लिए क्या यह ज़रूरी है कि संस्कृत में ही कविता हो? तिस पर भी उससे कितने आदमी लाभ उठा सकेंगे? बहुतसे संस्कृत-प्रेमी अब भी उसमें कविता करते हैं। उसी प्रकार ब्रजभाषा में भी करें, उन्हें रोकता ही कौन है। पर प्रार्थना केवल यही है कि प्रधानता प्रचलित हिन्दी को ही दें। कविता की मुख्य भाषा इसीको मानें। ऐसे तो अपने बहु—भाषा—ज्ञान एवं शौक़ के लिए ब्रजभाषा ही क्या, दुनियाँ की चाहे जितनी भाषाओं से भी सम्बन्ध रखें।

इसपर कुछ लोग यह आपत्ति कर सकते हैं कि जब खड़ी बोली में ही कविता होने की प्रथा चल पड़ेगी, तो भावी संतान ब्रजभाषा के अमूल्य रत्न-भण्डार-लाभ से वंचित रह जायगी। उन लोगों की यह शंका कई अंशों में ठीक भी है। इसके लिए यह उपाय है कि ब्रजभाषा का एक कोष तैयार कर दिया जाय, जिससे लाभ उठाने में किसी प्रकार की असुविधा न होगी। क्या संस्कृत-साहित्य के भण्डार में अमूल्य रत्नों की कमी है? आखिर संस्कृत से अनभिज्ञ उससे लाभ उठाते हैं या नहीं? उसी प्रकार ब्रजभाषा से भी लाभ उठा सकते हैं। बल्कि, संस्कृत से सरल होने के कारण उससे अधिक लाभ उठा सकते हैं।

हिंदी-साहित्य-सृष्टि के काव्याकाश में ब्रजभाषा और खड़ी बोली दो चाँद और सूरज हैं। दोनों में ही गुण हैं। दोनों ही के द्वारा सृष्टि के बहुतसे कार्य होते हैं। परन्तु प्रकृति दोनों की भिन्न है। पहले की शीतल और दूसरे की उष्ण प्रकृति है। पहिले का रात और दूसरे का दिन साम्राज्य है। दोनों ही अपने अपने समय तथा स्थान के लिए उपयोगी एवं आवश्यकीय हैं। परन्तु वैज्ञानिकों और आकाश-रहस्य के ज्ञाताओं का यह कथन है कि चन्द्रमा में जो ज्योत्स्ना और प्रभा है, उसका कारण सूर्य्य ही है। अतः वास्तव में चन्द्र से सूर्य्य ही अधिक उपयोगी है। इसीलिए हम लोगों को उसी का मान अधिक करना चाहिए। दूसरे अब रात्रि का समय गया। प्रभात हो रहा है। वह देखिए, पूर्व की ओर से आती हुई लालिमा सूर्य्य भगवान् के शुभागमन की सूचना दे रही है। अतएव भाइयो, उठिए, आपस के मतभेद छोड़ कर, एक मन से हिन्दी-सूर्य्य की इस प्रबल जाति से बढ़ती हुई किरण का सदुपयोग कर उसकी प्रभा से, देश के कोने कोने का अन्धकार दूर कीजिए।

लेख को समाप्त करते हुए मैं दो बातें और कहूँगा। पहली बात यह है कि आजकल देश में बहुतसे आधुनिक कवि हो रहे हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि ये सब अभ्युदय के लक्षण हैं; परन्तु

जब वे व्रजभाषा और खड़ी बोली की खिचड़ी में शब्दों के तोड़–मरोड़ का नमक और व्याकरणी अशुद्धियों का घी डालकर गपा-गप उड़ाने लगते हैं, तो दुःख होता है। उनसे मेरा यह नम्र निवेदन है कि वे कृपा करके बेचारी हिन्दी और उसकी कविता का गला इस तरह न घोटें। किसी अच्छे कवि से सीख और प्राचीन काव्यों का अध्ययन कर कवि बनने की कोशिश करें।

दूसरी बात यह है कि हिन्दी-साहित्य सम्मेलन के संचालकों और हिन्दी के प्राचीन अथवा अर्वाचीन धुरंधरों से मेरी एक क्षुद्र प्रार्थना यह है कि हिन्दी कविता में पिंगल का बखेड़ा एक निश्चित नियम के अनुसार कुछ कम कर दिया जाय, और द्रुत-विलम्बित, शार्दूल विक्रीड़ित आदि छन्द जिनके छन्दोबद्ध गति से पढ़ने और गाने में कठिनाई पड़ती हो, एवं भला न मालूम होता हो व्यवहृत न किये जायँ। आशा है, मेरी इस प्रार्थना पर कुछ विचार किया जायगा।



कंफ्यूशियस।

(लेखक—पंडित सुखदेवप्रसाद चौबे)

प्रत्येक मनुष्य की सदा यही इच्छा रहती है कि मैं उत्तरोत्तर आगे ही बढ़ता जाऊँ। कोई भी मनुष्य न तो अपनी वर्तमान स्थिति से नीचे जाना चाहता है और न उसीपर स्थित ही रहना चाहता है। जिस मनुष्य को यह इच्छा नहीं रहती, समय उसका साथ नहीं देता; इसलिए मनुष्यों में स्वभाव ही से बढ़ने की इच्छा होती है।

जो लक्ष्य व्यक्ति-गत जीवन का है वही जातीय-जीवन का भी है। जैसे प्रत्येक व्यक्ति अपने भूत और वर्तमान काल के जीवन से भविष्य जीवन को अतिशायी बनाना चाहता है वैसे ही प्रत्येक जाति भी सदैव आगे बढ़ने की धुन में लगी रहती है। इस धुन को फलवती करने के लिए अर्थात् किसी जाति को ऊपर उठाने के लिए संगठन की आवश्यकता होती है। इस जातीय संगठन के लिए ऐसे महात्माओं की आवश्यकता होती है, जो नेता बन कर अपने सिद्धांतों और व्यावहारिक कार्यों द्वारा जाति की तितरी-बितरी शक्ति को संगठित कर सकें। संसार की प्रत्येक सभ्य जाति ने कम से कम एक ऐसे महापुरुष को अवश्य जन्म दिया है। प्रसिद्ध चीनी विद्वान् कंफ्यूशियस इन्हीं महात्माओं में से एक हैं। प्रस्तुत लेख में इन्हीं महापुरुष का कुछ परिचय 'श्री-शारदा' के पाठकों को दिया जाता है।

चीनी साम्राज्य दो सहस्र वर्षों से कंफ्यूशियस के सिद्धान्तों के बल खड़ा है। इसी महात्मा ने चीनी जाति का संगठन किया था। चीन देशवासी अपनी वर्तमान शक्ति तथा राजनैतिक और सामाजिक एकता का एकमात्र कारण इसी पूज्य पुरुष को मानते हैं। वे इसका इतना आभार मानते और आदर करते हैं कि इसकी समानता के योग्य वे किसी को समझते ही नहीं, और न इसके नाम की बराबरी से किसी दूसरेका नाम ही रखने देते। सचमुच कंफ्यूशियस की अनुपम नैतिक महत्ता में शंका करना वृथा ही है। उसके पक्ष में यही एक बड़ा सबल प्रमाण है कि लगभग साठ पीढ़ियों से उसके देशवासी उसे पूज्य मानते आए हैं और अब भी ४० करोड़ मानव स्वच्छ हृदय से उसकी पूजा करते हैं।

ढाई सहस्र वर्ष पूर्व चीन साम्राज्य बहुत से छोटे राज्यों में विभक्त था। वहाँ दलबन्दी का

राज्य था । सामाजिकता तथा राजनैतिकता अरक्षित थीं । ऐसे समय में एक ऐसी आत्मा की आवश्यकता थी जो इन तितर-बितर राज्यों और दलों को एकत्र कर उनका शांति—युक्त समरूप संगठन करती । यह आत्मा कंफ्यूशियस के रूप में ईसा के ५५१ वर्ष पहले प्रकट हुई।

यह आत्मा किसी सेनापति, नृपाल अथवा संसार-विजेता के रूप में नहीं आई और न उस ने उत्पात तथा रक्तपात द्वारा साम्राज्य में एकता लाने का प्रयत्न किया । वह आत्म-संयम, न्याय और शान्ति के शिक्षक के रूप में ठीक उसी समय प्रगट हुई जिस समय भारत में महात्मा बुद्ध ने अवतार लिया था । इस आत्मा ने साधारण जनों तथा भिन्न भिन्न प्रान्तों या रियासतों के राजाओं को आत्म-शासन, सदाचार और शुद्ध जीवन के मूल सिद्धान्त समझा कर एकत्रित करने का प्रयत्न किया । उसका यह कहना था कि आत्म-शासन सच्चे शासन का आधार होना चाहिए । वह इसी सिद्धान्त का अनुयायी था । दूसरों को शिक्षित तथा दक्ष बनाने के पूर्व कंफ्यूशियस अपने आपको दक्ष बना लेता था, अर्थात् सदाचार और धार्मिकता द्वारा पहले अपना शासन कर लेता था । इसी सिद्धान्द में उसकी अनन्त शिक्षा और उसका आदर्श अन्तर्हित है । एक बार लड़कपन ही में उसने इस आदेश के शब्द कहे थे कि:—

पर—उपदेश कुशल बहुतेरे ।
जे आचरहिं ते नर न घनेरे ।।

'घनेरे' क्या, एक भी मनुष्य उसे ऐसा नहीं दिखा; इसीलिए उसने प्रतिज्ञा की कि "मैं ऐसा ही करूँगा ।" अनन्तर उसने अपने शिष्यों को भी यही सिखाया कि "दूसरों को ऐसी कोई भी बात मत सिखाओ जिसका तुमने स्वयं पूर्ण रीति से अभ्यास न कर लिया हो ।" कंफ्यूशियस की शिक्षण-पद्धति का विशेष लक्षण यही है कि उपदेश देने के पूर्व उसका अभ्यास कर लो और यही उसकी शिक्षा की कुञ्जी है । न तो उसने आत्म-विद्या या मानस—शास्त्र सिखाये और न तत्वज्ञान अथवा दर्शन के गूढ़ और काल्पनिक तत्व ही बताये । उसने कार्य-संचालन के कुछ नियम बना दिये जिनके द्वारा मनुष्य पुरुषत्व और बुद्धि में दक्षता प्राप्त कर सकें और राज्य-बल के स्तम्भ हो जायँ । उसकी शिक्षा की नितान्त सरलता ही ने उस पर एकदम महर्षि की छाप लगा दी ।

उसका यह कथन था कि सब दुर्गुणों का त्याग कर कुछ थोड़े से सद्गुणों का अभ्यास किया जाय, छोटे छोटे पदाधिकारी अपने मालिकों की आज्ञाओं का पालन करें और कोई भी व्यक्ति पूर्ण सदाचारी बनने के पूर्व किसी अधिकारपूर्ण उच्च पद की प्राप्ति का न तो प्रयत्न ही करे और न प्राप्त होने पर उसे स्वीकार ही करे । प्रजा अपने शासकों और राजाओं के प्रति भक्ति और आज्ञा-पालन आदि गुणों का ध्यान रखे, पर शासक और राजा भी नम्र, शान्त, निष्पक्ष और न्यायी हों । कंफ्यूशियस के मतानुसार जो व्यक्ति सद्गुणों का राजा नहीं है वह राजा बनने योग्य नहीं है, उसे राजा-पद ग्रहण न करना चाहिए । राजा को प्रजा के लिए ऐसा आदर्श होना चाहिए कि लोग उसे पूजनीय और विश्वसनीय समझें । उसका यह भी कर्तव्य है कि अपने सद्गुणों द्वारा वह प्रजा की सहायता करे ।

उसकी यह प्रबल इच्छा थी कि चीन में एक ऐसा राजा हो जो न्यायपूर्वक राज्य करे और ऐसी प्रजा हो जो धार्मिक जीवन व्यतीत करते हुए अपने देश की व्यवस्थाओं का पालन करे

इसी इच्छा की पूर्ति के उद्देश्य से उसने बहुत-सी पुस्तकें लिखीं जो चीन के धर्म-ग्रन्थ और वहाँ के विद्यार्थियों की पाठ्य-पुस्तकें अभीतक बनी हैं। इन पाठ्य पुस्तकों को विद्यार्थी ऐसा रट लेते हैं कि संकेत पाते ही श्लोकों के समान उगलने लगते हैं। तब उन्हें उनका अर्थ समझाया जाता है। इस स्थिति में नवीन सुधारक 'कुआंगसी' के मत ने हाल ही में कुछ परिवर्तन कर दिया है।

जीवन के साधारण कार्यों के शीघ्र और निस्स्वार्थ संचालन पर कंफ्यूशियस बड़ा जोर देता था। उसके कथनानुसार यही क्रिया बुद्धि की पहली सीढ़ी है। वह कहता था कि जो मनुष्य ऋषि होना चाहता है उसे नम्र होना चाहिए और सावधानता-पूर्वक उन कर्तव्यों और आचारों से अपना कार्य प्रारंभ करना चाहिए जो साधारण मर्त्य के लिए भी नितान्त आवश्यक हैं।

कंफ्यूशियस स्वभाव से ही शिक्षक था। उसकी शिक्षा में कोई भी बात अटपट या गूढ़ नहीं थी। अपने समकालीन महात्मा बुद्ध के समान वह भी आत्मा-परमात्मा, भूत-प्रेत, अलौकिक जीवों अथवा भविष्य के विषय की चर्चा भी न करता था। उसके कार्य-क्षेत्र की सीमा व्यावहारिक ज्ञान ही थी जिसके भीतर कल्पनाओं और सिद्धान्तों के लिए स्थान नहीं था। यही उसकी महत्ता का स्पष्ट लक्षण है। वह स्वयं कहता था कि मेरे सिद्धान्त बिलकुल सरल हैं और मेरी शिक्षण-पद्धति और भी सरल है। जो कोई मेरे शब्दों को तौल लेता है उसे उनका अर्थ समझने और उन्हें व्यावहारिक रूप देने में कठिनाई नहीं होती। एक बार उसके एक शिष्य ने उससे पूछा कि क्या ऐसा कोई शब्द है जिससे मनुष्य का पूर्ण कर्तव्य व्यक्त हो सके। उसने कहा कि हाँ, ऐसा शब्द 'परस्परता' है जिसका अर्थ है:—

जो चाहो सद् प्रत्युपकार।
करो अन्य से सद् व्यवहार॥

कंफ्यूशियस का गार्हस्थ्य जीवन विशेष सुखमय नहीं था। उसका विवाह १९ वर्ष की अवस्था में हुआ और एक पुत्र उत्पन्न होने के पश्चात् उसने अपनी स्त्री को त्याग दिया। वह अनाज के मालगोदाम और भूमि का संरक्षक नियुक्त किया गया था; पर २२ वर्ष की अवस्था में उस कार्य को छोड़कर वह शिक्षण-कार्य करने लगा। २८ वर्ष की अवस्था में उसने धनुर्विद्या और गायन-कला का अभ्यास किया। तीसवें वर्ष में उसके हज़ारों शिष्य हो गये जो उसके प्रति प्रायः असीम प्रेम रखते थे। उसके आचरण और दैनिक जीवन से जितने अधिक वे परिचित होते गए उतनाही अधिक उनका प्रेम उसके प्रति उत्तरोत्तर बढ़ता गया। उसके विषय में पोप (रूमी प्रधान पादरी) का यह कथन था:—

उच्च निज बल का जिसे रहता सदा अभिमान था।
कंफ्यूशियस, जिसने कराया 'साधुपथ' का ज्ञान था॥

जब कंफ्यूशियस की अवस्था ७० वर्ष की हुई तब एक दिन सबेरे उसके शिष्यों ने देखा कि वह अपने बगीचे में घूमता हुआ इन पंक्तियों को गुनगुना रहा है:—

पर्वत होंगे चूर चूर, ग्रह-मंडल टकरा जावेंगे।
धीमानों के जीवन-पौधे, निश्चय मुरझा जावेंगे॥

इस घटना के एक सप्ताह पश्चात् वह पंचत्व को प्राप्त हो गया। उसके कुटुम्बी अब भी चीन में हैं और उनकी वहाँ अच्छी ख्याति है। कंफ्यू-

शियस के जीवन-काल में शासकों और राजाओं ने उसकी बातों को ध्यान-पूर्वक नहीं सुना और न उनने उसके नैतिक सिद्धान्तों का उपयोग राज-नैतिक समस्याओं में करने का उद्योग ही किया; परन्तु उसकी मृत्यु के उपरान्त, भीतरी फूट से उत्पन्न अनन्त दुःखों से थक कर, उनने उस मृत ऋषि के वचनों पर ध्यान दिया तब कुछ शासक उन्हें व्यवहार में लाने लगे जिसमें उनको सफलता मिली; इसलिए दूसरों ने भी उनका अनुकरण किया जिसका फल यह हुआ कि सब झगड़े-उपद्रव शान्त हुए और वर्तमान वृहत् चीन साम्राज्य की सृष्टि हुई। चीनी लोग अपनी उन्नति, शान्ति, ऐक्य आदि के लिए इसी महर्षि के ऋणी हैं और जहाँ कहीं उनने उसकी शिक्षा का उपयोग नहीं किया, वहीं उन्हें असफलता हुई है और वहीं उनकी न्यूनता प्रकट हुई है।

जब हम इस महर्षि के जीवन और वचनों पर विचार करते हैं तो वे ही शब्द हमारे मुँह से निकल पड़ते हैं जो प्रायः प्रत्येक चीनी के मुँह पर रखे रहते हैं:—

कंफ्यूशस, कंफ्यूशस तू है।
तेरे सम बस तू ही तू है॥
उपमा योग्य न है कोई नर।
हुआ न अबतक भी इस भू पर॥

ग्रीष्म-पथिक।

(लेखक—श्रीयुत "गुलाब")

(१)

कुञ्ज-विहार कहाँ है ? केवल तप्त वायु जलते हैं प्राण।
सहसा कुम्हला टपक पड़े ये नये फूल है किसका त्राण
लू की लपटें, विपद्-काल यह, ध्येय-धाम है कोसों दूर
किधर चलेगा ? किधर बढ़ेगा? झोंके पर झोंके भरपूर

(२)

क्या देखा ? संसार दुखी है, मर मिटना स्वीकार हुआ
दीनों के रोने की घड़ियाँ, अति पीड़ित परिवार हुआ
वापी कूप तलैय्यों का जल शीत गर्म विस्तार हुआ
"जले-मरे" चिल्ला पड़ते हैं अपना जीवन भार हुआ

(३)

बली स्वर्ग तक हैं जो विश्रुत, कायरपन दिखलाते हैं।
बढ़ आने का नाम न केवल हट पीछे, पछताते हैं॥
बिगड़ गये हैं सुर कण्ठों के, गीत न गाये जाते हैं।
पल पल में विह्वल हो कोकिल खग अकुलाये जाते हैं॥

(४)

विमल कमल वे कहाँ ? अहो ! वे मुरझाये बल खोते हैं
कहीं किसी कोनों में सुन्दर मण्डल—मधुकर सोते हैं
झुलस गये हैं तरुवर सारे, शीतल छाया लुप्त हुई।
विजय-शक्ति अब कहाँ ? यहाँ वह "रोने दो" बस सुप्त हुई॥

(५)

खाण्डव-दाही-पाण्डव के शर छूट पड़े हैं व्याकुल हैं।
महाशक्ति के महा पुजारी बैठे मन्दिर आकुल हैं॥
आशा-लगे वीर हृदयों ने है निराशपन मोल लिया।
विपद् आपदाओं ने हँसकर माया का पट खोल दिया।

(६)

है मध्याह्न, न शान्ति, न छाया, पथ का दीन पथिक रोया।
बची हुई जीवन-सामग्री, धर्म-कर्म अपना खोया॥
छोड़ दिया संकल्प दुखी ने, चरण न आगे बढ़ पाते
नीचे से पृथ्वी, ऊपर से सूर्य्यदेव तन झुलसाते।

(७)

उसका चन्द्र-वदन वर विकसित, मदन-रूप है मुरझाया।
रवि सा तेज, ज्ञान गुरु का सा, और भीम-बल थर्राया॥
निर्जन वन है, मार्ग कटीला, आहें निकली पड़ती हैं।
निर्दय मारें काल-चक्र की, हँसती सन्मुख अड़ती हैं

(८)

अरुण देव क्रोधातुर तीखी किरणें करते हैं बलिदान। त्राहि त्राहि की टेर भयंकर, सूख गए सुन्दर उद्यान पथिकों को है मिली न छाया, दादुर भूल गये हैं तान "दया" "हन्त" की टेर लगी हैं यह कैसी माया भगवान!

रामायण-काल में पुर-निर्माण-शिल्प।

(लेखक—पं० जयदेव शर्म्मा, विद्यालंकार)



र्तमान काल में इतिहास का बड़ा भारी मान है। तुच्छ से तुच्छ प्राचीन वस्तु को इतिहासज्ञ इतना सम्भाल कर रखते हैं मानों वह उनका सर्वस्व होवे। उसके आधार पर कल्पनामय अद्भुत प्रासाद रचकर सत्यता की स्थापना करते हैं। अपने इतिहास को वे भूत सत्य का एक भाग समझते हैं।

हमारे देश में अभी इतिहास के ऐसे विद्वान् बहुत थोड़े हैं जो इतिहास-सम्बन्धी खोजों को अमूल्य और महत्वपूर्ण समझें। प्राचीन साहित्य में इस विषय को खोजना अभी बहुत शेष है। इस लेख-द्वारा पाठकों को रामायण-कालिक शिल्प का कुछ परिचय देने का प्रयत्न किया जावेगा।

ऐतिहासिक प्राचीन शिल्प के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए केवल प्राचीन ग्रन्थ और भग्नावशेष शिलालेखादि ही प्रमाणभूत हो सकते हैं। हमारी पहुँच में विद्यमान प्रमाणों में भग्नावशेष शिलालेखों की अपेक्षा लिखित ग्रन्थों की मात्रा बहुत अधिक है।

शिल्प निम्नलिखित विभागों में विभाजित किया जा सकता है:—

(१) पुर-निर्माण-कौशल
(२) गृह-निर्माण-कौशल
(३) यन्त्र—कला—कौशल
(४) अन्य—उपकरण-रचना-कौशल
(५) शस्त्रास्त्र रचना-कौशल
(६) वैज्ञानिक शिल्प--कौशल
(७) परिशेष

इन आठ विभागों में सम्पूर्ण शिल्प आ जायगा।

पुर-निर्माण-कौशल।

अयोध्या—

प्राचीन काल के नगरों के वर्णनों को पढ़कर स्पष्ट जान पड़ता है कि उस काल में सभ्यता पर्याप्त उन्नत थी। सब प्रकार के शिल्प तथा अलौकिक उन्नति की उचित सुख-सामग्री उपस्थित थी। बड़े बड़े नगर बसे हुए थे, जिनमें चलने के लिए चौड़ी सड़कें, रहने के लिए बड़े बड़े महल, आनन्द-विनोद के लिए नाटकघर, नाचघर, और रक्षा के लिए किलों पर तोपें आदि विशाल उन्नति के चिह्न रामायण-काल में देख पड़ते हैं। पाश्चात्यों का विचार है कि भारतवर्ष के रामायण-महाभारत--काल की सभी अवस्थाएँ सभ्यता के काल की नहीं है। उसमें किसी प्रकार के शिल्प तथा कला की उन्नति न हो पायी थी। भारत के निवासी अर्ध-सभ्य ही नहीं, असभ्य--प्राय थे। परन्तु रामायण को आँख खोलकर पढ़ने से ये सब शंकाएँ दूर हो जाती हैं। स्वयं अयोध्या नगरी ही १२ योजन लम्बी और ३ योजन चौड़ी, सरयू नदी के किनारे, बसी थी। यदि योजन को ४ कोस का मानें, तो अयोध्या की लम्बाई ४८ कोस और चौड़ाई १२ कोस होती है। अंग्रेजी

पैमाने से १ कोस १½ मील से अधिक का होता है, तब अयोध्या नगरी कम से कम ७२ मील लम्बी और १८ मील चौड़ी सिद्ध होती है। उस समय अयोध्या कौशल जनपद (राष्ट्र) या साम्राज्य की राजधानी विख्यात थी। वह वर्तमान सभ्यता के बड़े से बड़े नगर लन्डन आदि के मुकाबले में बड़ी सुगमता से ठहर सकती है।

कदाचित् यह शंका हो सकती है कि यह पैमाना प्राचीन काल में ऐसा न हो। तो दूसरी दृष्टि से भी आलोचना कीजिए। कौटिलीय अर्थ-शास्त्र (२अधि.२०.,अध्या. ३८ प्रक.) में मार्गों के मापने के लिए परिमाण का निर्णय किया है।

"गार्हपत्यमष्टशतांगुलं धनुः।"

अर्थात्, १०८ अंगुल का १ धनुष और

"चतुररत्निर्दण्डोधनुर्नालिका पौरुषंच।"

या चार अरत्नि = १ दण्ड = १ धनु।

लौकिक मान से अरत्नि = २ बीता या बालिश्त (वितस्ति)

द्विवितस्तिररत्निः प्राजापत्यो हस्तः

और १ वितस्ति = १२ अंगुल

लौकिक मान से एक अंगुल, मध्य की अंगुली की मुटाई मानी जाती है। अर्थात्, एक इंच = २ अंगुल।

१२ अंगुल = ६ इंच = १ वितस्ति

१ अरत्नि=२ वितस्ति = १२ इंच = १ फुट

१ धनुः = ४ अरत्नि = ४ फुट = १ गज़+१ फुट

ऐसे हजार धनुष = १ गोरुत = १००० गज+ १००० फुट

४ गोरुत = १ योजन = ४००० गज+ ४००० फुट

१ योजन = ४०००गज+१३३३⅓गज

" = ५३३३⅓ गज=३ मील और ५३ गज १ फुट

अर्थात्, १ योजन ३ मील से कुछ अधिक ही है।

इस प्रकार अयोध्या की लम्बाई ३६ मील और चौड़ाई ६ मील से कुछ अधिक बैठती है।

हम पाठकों को विदेश के महा नगरों का विस्तार सुनाते हैं। आप रामायण-काल की अयोध्या की तुलना कीजिए।

संसार में सबसे बड़ा नगर लन्दन है। इनसाईक्लो पीडिया ब्रिटेनिका (११ वाँ प्रकाशन) के अनुसार लम्बाई १६ मील और चौड़ाई ११ मील है। इस प्रकार वह कुल १७६ वर्गमील पर बसा है।

अब पाठक कल्पना कर सकते हैं कि अयोध्या अपने ज़माने में कितनी बड़ी नगरी थी, जिसके मुकाबले में ठहरने वाला आज भी कोई नगर नहीं है। प्रश्न यही होता है कि इतना विस्तृत नगर कहाँ लुप्त हो गया? इसका एकमात्र उत्तर यही है कि तीन युग पूर्व बसे नगर की दशा जो आप समझना चाहें समझ लें। फिर भी आधार के लिए मैं कतिपय नगरों के नाम लेता हूँ। उनकी वर्तमान कालिक दशा को देखकर अयोध्या-विषयक सत्यता की परख हो सकती है।

(१) विजयानगर जो गत कुछ शताब्दियों पूर्व ही आबाद था अब ख़ाक में मिल चुका है। हाल में सरकार ने खोद कर पूरा नगर निकलवाया है।

(२) काशी के समीप सारनाथ की बौद्ध इमारतें सर्वथा मिट्टी में दबी हुई थीं; हाल में

खोदी जा रही हैं। मकानों की छतें इतने नीचे धँस गई हैं कि साधारण भूमि उससे अधिक ऊँची है।

(३) चन्द्रगुप्त के ज़माने का पाटलिपुत्र कहाँ है ? कुसुमपुर का पता ही नहीं। प्रसिद्ध राजाओं के ये प्रसिद्ध नगर केवल अठारह या बीस सदियों में ही लापता हो गये, तब तीन युग पूर्व की बात ही क्या है।

(४) राक्षस लोग तथा मय असुर की सन्तानें पाताल में रहती थीं। उनके नगर अब खोदे जा रहे हैं जिसको गवेषक विद्वान् " **माया सभ्यता** "* के नाम से पुकारते हैं। रामायण में इनका स्पष्ट वर्णन आया है। इनके सैकड़ों मकान इतने नीचे धँस गए हैं कि छतों पर घास जमना तो एक ओर, विशाल वृक्ष खड़े हुए हैं। छतें एक तरफ़ हैं और उनपर मिट्टी की बड़ी बड़ी चट्टानें लद गई हैं और उन चट्टानों पर विशाल वृक्ष हैं। इस प्रकार अनुमान किया जा सकता है कि अयोध्या भी सरयू के तट पर कहीं दब गयी है।

अब हम अयोध्या का शेष वर्णन करते हैं। वाल्मीकि ने इस पुरी को 'महापुरी' विशेषण दिया है। इसे मनु महाराज ने बसाया था। मनु से लेकर रामचन्द्र तक अयोध्या का इतना विशाल आकार हो जाना कोई आश्चर्यकारक बात नहीं है। जैसे ग़ाज़ियाबाद से लेकर फ़िरोज़ाबाद तक सब देहली ही कहलाती है उसी प्रकार अयोध्या भी बढ़कर महाकाय हो गई रही हो तो क्या विस्मय है। वास्तविक लण्डन बहुत छोटा है। विस्तृत नगर का वह ३० वाँ भाग भी नहीं है, परन्तु बढ़ते २ अब उसमें २९ बस्तियाँ आ मिली हैं और अब उसका विस्तार ६७३ एकड़ से ७४,८३९ एकड़ हो गया है। इसी प्रकार एक साधारण नगरी से बढ़कर इतनी विशाल महापुरी बन गई रही हो तो कोई आश्चर्य नहीं।

विस्तार के बाद सभ्यता की बड़ी विशेषता मार्गों का बड़ा होना है। ग्रामों में गलियाँ, छोटे छोटे मार्ग होते हैं और पगडण्डियाँ होती हैं। परन्तु बड़े२ नगरों में बड़े बड़े राज-मार्ग तथा महापथ होते हैं। वाल्मीकि भी कहते हैं कि अयोध्या "सुविभक्तमहापथा," "राजमार्गेण महता सुविभक्तेन शोभिता।" अर्थात् अयोध्या महापथों से बटी हुई थी और खूब चौड़े राजमार्ग (Royal Roads) के कारण शोभा देती थी।

कौटिलीय अर्थशास्त्र के अनुसार राजमार्ग और रथ्या आदि का परिमाण ४ दण्ड चौड़ाई है। प्रमाण निम्न लिखित है —

	१ धनुष+१	मुष्टि=१ कंस	
	६ कंस	=	१ दण्ड
पूर्वोक्तानुसार	१ धनुष	=	४ फुट
	१ मुष्टि	=	८ अंगुल=४इंच
अर्थात्	१ कंस	=	$4\frac{1}{3}$ फुट
	*१ दण्ड	=	२६ फुट
	४ दण्ड	=	१०४ फुट

इस प्रकार अयोध्या के राजमार्ग १०४ फुट या $34\frac{2}{3}$ गज़ चौड़े थे।

(*) Maya Excavations in Maxico (America)

* सधनुर्मुष्टिः किष्कुः कंसो वा। षट् कंसो दण्डो ब्राह्मदेयातिथ्यमानम्। (कौ. ३८ प्रक.)

चतुर्दण्डा रथ्या राजमार्ग द्रोणमुख स्थानीय ... विवीतपथाः।

यदि तीन गज़ चौड़ाई एक ट्राम के लिए पर्याप्त हो तो ऐसी ११ ट्रामें अयोध्या के राज-मार्ग में दौड़ सकती थीं।

इसके अतिरिक्त हमको दूसरा परिमाण भी मिलता है।

"चतुररत्निर्दण्डः" इस परिमाण से

४ अरत्नि=१ गज़+१ फुट=१ दण्ड

४ दण्ड=५ गज़ १ फुट.

अब इन दोनों पैमानों में कौनसा माना जावे यह प्रश्न विवाद-ग्रस्त होगा। राम की प्यारी अयोध्या को विशाल माननेवाले अवश्य पहिला पैमाना मानेंगे और प्राचीन सभ्यता को न माननेवाले अवश्य पिछले पर आग्रह करेंगे. परन्तु कौटिल्य एक और सूत्र कहते हैं।

"द्विचत्वारिंशदङ्गुलस्तक्ष्णः क्राकचिक किष्कुः स्कन्धावारदुर्गराजपरिग्रहमानम्।"

अर्थात्, छावनी, दुर्ग, राजमहलों के मापने के लिए ४२ अंगुल का किष्कु काम में लाया जाता है। किष्कु और कंस एक ही बात है। अतः—

१ कंस=४२ अंगुल=२१ इंच = १$\frac{३}{४}$ फुट

६ कंस=१ दण्ड=१०$\frac{१}{२}$ फुट

४ दण्ड=४२ फु०=१४ गज़.

अर्थात्, अयोध्या के मार्ग १४ गज़ चौड़े थे। महानगरी का इतना चौड़ा मार्ग होना कोई असम्भव नहीं, जिसमें चार ट्राम गाड़िएँ साथ साथ जा सकती हैं।

इतना चौड़ा मार्ग सभ्यता की उच्चता तथा नगर में बसनेवाली जन-संख्या की महत्ता और व्यापार (Traffic) की प्रचुरता को सूचित करता है।

बड़े बड़े नगरों में राजमार्गों पर सदा छिड़काव होता था। प्राचीन-काल में भी राज-मार्ग पर साधारण छिड़काव के साथ नित्य नये फूल भी बखेरे जाते थे जिससे शोभा और गन्ध दोनों काम सिद्ध होते थे। वर्त्तमान में जब कोई राजा या युवराज नगर में प्रवेश करता है या कोई जातीय नेता प्रविष्ट होता है, तभी कदाचित् राजमार्ग को पुष्पों के आभरण पहनने का सौभाग्य मिलता है; परन्तु अयोध्या में नित्य नये कुसुम राजमार्गों पर बखेरे जाते थे, मानों नित्य ही उत्सव मनाये जाते हों। बड़े बड़े नगरों के सदृश अयोध्या में भी बड़े बड़े दरवाज़े और फाटक (Gates) होते थे, जिन्हें बन्द करने के लिए बड़े बड़े किवाड़ लगाये जाते थे। बाज़ार बहुत चौड़ा तथा बँटा हुआ होता था। जैसे, बड़े बड़े नगरों में कहीं सराफ़ा है, कहीं दाल की मण्डी है; कहीं कपड़े का बाज़ार है; कहीं सब्ज़ी मण्डी है; और कहीं लोहिया बाज़ार है उसी प्रकार अयोध्या भी नाना प्रकार के बाज़ारों में बँटी हुई थी।

बड़े नगरों की रक्षा के लिए स्थान स्थान पर ऊँचे बुर्जों पर, मण्डेरों पर, तोपें रखी जाती हैं। उसी प्रकार अयोध्या में स्थान स्थान पर यन्त्रकला से चलने वाले हथियार, अस्त्र-शस्त्र लगे हुए थे और नाना प्रकार के शिल्पी उसमें आकर बसे थे। जिस प्रकार बड़े नगरों में कहीं लोहे के कारखाने, कहीं पीतल के बर्तनों के, कहीं कपड़ों के और कहीं शीशे के कारखाने रहते हैं उसी प्रकार अयोध्या

में सब प्रकार के कारीगर और शिल्पी लोग अनेक कारखानों में आकर काम करते थे।

अच्छे अच्छे गायक तथा वक्ता स्थान स्थान पर पाये जा सकते थे। जिधर देखो, उधर ही शोभा, सुन्दरता और लक्ष्मी की छटा छा रही थी। मकान मकान में, दुकान दुकान में, स्थान स्थान पर सारी अयोध्या जगमग जगमग कर रही थी। ऊँची ऊँची अटारियों पर झण्डे फहरा रहे थे और मन्दिरों पर सैकड़ों तोपें डटी हुई थीं।

इसके अतिरिक्त प्रजा भी बड़ी प्रसन्न रहती थी। स्थान स्थान पर मनो-विनोद के लिए, केवल पुरुषों के ही लिए नहीं बरन् स्त्रियों के लिए भी, सैकड़ों नाट्य-शालाएँ थीं।

अयोध्या में फलों की कमी न थी। बाग और आमों के जंगलों के जंगल फल रहे थे। चारों ओर बड़ी भारी कोट थे। दुर्ग के चारों ओर ऐसी गहरी परिखा या खाई खुदी हुई थी जिसे लाँघकर शत्रु न आ सकता था। नगरी घोड़े और हाथियों से भरी हुई थी। अनेक गौएँ, बैल, ऊँट और गधे थे। माण्डलिक राजा भी उसमें अनेक रहते थे।

माण्डलिक राजा बड़े बड़े ज़मींदार थे, जो अपने नगरों, जायदादों और प्रान्तों के मालिक या शासक थे। वे सामन्त राजा कहाते थे। जैसे, लण्डन में साधारण प्रजा (Commons) रहती है, और लार्ड लोग (Lords) भी बहुत संख्या में रहते हैं, जिनमें कोई बैरोनट् (Baronet) और कोई अर्ल (Earl) उपाधियों से विभूषित हैं, उसी प्रकार उस प्राचीन काल में सामन्त राजा भी बहु-संख्या में अयोध्या में आकर रहा करते थे।

मनुष्य अपने स्वार्थ से प्रेरित होकर बड़े नगर तथा महानगर बसा ले; परन्तु शेष सारे जीवन संसार को मारकर हड़प कर जावे यह सभ्यता का नमूना नहीं है। इसलिए प्राचीन अयोध्या में जीव-संसार की आजीविका के लिए स्थान स्थान पर बलि-कर्म भी हुआ करते थे। अर्थात्, बलिवैश्वदेव स्थान स्थान पर राजा की तरफ से भी किया जाता था। फलतः मनु के कथनानुसार

"शुनांच पतितानांच श्वपचां पापरोगिणाम्
वायसानां कृमीनांच सर्वेषां पापचेतसाम्।"

इत्यादि, नाना पशु, पक्षि, चाण्डाल, क्षुब्धरोगी, और कृमियों तक को भोजन देने का प्रबन्ध किया गया था।

आजकल जैसे गली गली में कुत्ते घूमते और गन्दगी फैलाते हैं और स्थान स्थान पर कोढ़ी और भिखमँगे और पतित लोग बुरी तरह से भीख माँगते फिरते हैं, अयोध्या में इस प्रकार का दृश्य नहीं था। प्रत्युत श्वपच, पापरोगी कोढ़ी आदि, कुत्ते आदि पशु और कौवों तक के लिए विशेष भोजन-स्थान बनाये गए होंगे, ऐसा जान पड़ता है। कतिपय लोगों का विचार है कि अयोध्या में चण्डी आदि देवताओं को बलि चढ़ाने के चबूतरे बहुत रहे होंगे जहाँ लोग बकरे आदि की बलि चढ़ाते होंगे।

टीकाकार के मत से **'बलिकर्मभिः'** यह सामन्त राजाओं का विशेषण है; अर्थात्, अन्य देशों के अधीन माण्डलिक राजा अपना कर देने के प्रयोजन से अयोध्या में आया करते थे। इससे दो बातें सूचित होती हैं— (१) अयोध्या की

इतना दबदबा था कि सामन्त राजा अपना कर अपने आप देने आते थे। (२) सामन्त संघ और राजसंघ इस प्रकार के नियुक्त प्रान्ताधीश थे जो अपने अपने देशों का कर लाकर अयोध्या में जमा करा जाते थे। अर्थात्, कर-विभाग बहुत अच्छी तरह से नियमित था। टीकाकार का अर्थ भी अयोध्या के गौरव को बढ़ाता है।

बड़े बड़े शहरों में नाना देशों के व्यापारी लोग अपनी विशाल कोठिएँ, सुन्दर सुन्दर दफ़्तर तथा बँगले और मकान बनाया करते हैं। इससे नगर की शोभा होती है। लाहोर, कलकत्ता, बम्बई, सूरत, लण्डन, न्यूयार्क आदि सभी नगर इस बात के प्रत्यक्ष नमूने हैं। फिर कोई कारण न था कि महापुरी अयोध्या में दूर देश के व्यापारी न आते। वे आते ही न थे, उन्होंने अपनी विशाल कोठियों और दफ़्तरों और बड़ी बड़ी दुकानों से सारे नगर को सजा दिया था।

बड़े बड़े रईस अमीर धनियों के मकान, हवेलियाँ और महल सैकड़ों प्रकार की सजावटों से अपूर्व शोभा पाते हैं। हीरे-मोतियों की झालरों, रत्नों की चित्रकारी और शिल्पों से अयोध्या के ऊँचे ऊँचे महल भी ऐसे भासित होते थे मानो रत्नों के बने हुए बड़े बड़े पर्वत हों।

बड़े बड़े नगरों में जहाँ और बहुतसी अद्भुत वस्तुएँ होती हैं वहाँ यह भी एक विनोद तथा विस्मय का दृश्य होता है कि उसमें कुछ मकान भूलभुलैय्याँ वाले होते हैं, जिनमें एक बार घुस जाने पर मनुष्य अपना मार्ग भूल जाता है और फिर बड़ी कठिनता से, बहुत भटकने के पश्चात् छुटकारा पाता है। ऐसे मकान कूटागार या मोहन-गृह कहाते थे। इनका प्रयोजन लोगों को भ्रम या चक्कर में डालना नहीं होता था, प्रत्युत आपत्ति-काल में मकानवाले स्वयं उनके तहख़ानों में छिप जाते थे और शत्रु उनके माया-भवनों में भटक जाया करता था। इसके कुछ नमूने आगरे के क़िले और देहली की मुसलमानी इमारतों में पाये जाते हैं। प्राचीन फ़ारस और अफ़ग़ानिस्तान-निवासी इन माया-भवनों के बनाने में बड़े सिद्धहस्त थे। महाराज युधिष्ठिर का इन्द्रप्रस्थ का क़िला भी मायाभवन का एक नमूना था। अयोध्या में ऐसे बहुतसे मकान थे। सारी अयोध्या इतनी शोभा देती थी मानो साक्षात् अमरावती हो। अयोध्या नाना प्रकार से सोने द्वारा सजायी गयी थी। वाल्मीकि इसके लिए 'अष्टपदाकार' विशेषण देते हैं। कतिपय विद्वानों के मत में वह अष्ट कोण वाली थी। इस विवाद में दूसरा अर्थ-संगत प्रतीत नहीं होता, क्योंकि अष्ट कोणवाली होती तो पहली बताई हुई लम्बाई-चौड़ाई कुछ घटित नहीं होती।

सम्पूर्ण अयोध्या में रत्नों का शिल्प बहुत बढ़िया तथा अत्यधिक मात्रा में शोभा देता था। स्थान स्थान पर सात मंजिले मकान शोभा देते थे।

वाल्मीकि इस स्थान पर "विमानगृह शोभिताम्" शब्द का प्रयोग करते हैं। टीकाकार

विमान शब्द से सात मंजिला मकान लेते हैं; परन्तु हमें ऐसा प्रतीत होता है कि वह काल विमानों का युग था। व्योमयानों को रखने के लिए विशेष मकान बनाये जाते थे। सर्वसाधारण के छोटे-मोटे विमान कैसे भी रहते होंगे; परन्तु राजकीय महा व्योमयान कदाचित् बड़े प्रबन्ध से रखे जाते होंगे। इसमें सन्देह की बात इतनी ही है कि अयोध्या-वासियों के सम्बन्ध में कहीं भी व्योम-यानों का उपयोग नहीं है।

अयोध्या की जन-संख्या बहुतही अधिक थी। सम्पूर्ण अयोध्या में इतने अधिक मकान थे कि कोई स्थान खाली न था।

अयोध्या में अनाज की कमी न थी। वर्त्तमान महानगर लण्डन में जिस प्रकार आधुनिक सभ्यता के अनुकूल भोजन के लिए मछलियाँ, गो-मांस तथा गेहूँ और चावल के अनेक जहाज़ लदकर जाते हैं इस प्रकार अयोध्या अनाज के लिए विदेश का मुहँ न ताकती और न मांस-लोलुप होकर गो-मांस और मत्स्य-मांस की प्रचुरता की आकांक्षिणी थी। वह शालि और तण्डुल से भरी हुई थी जो यहाँ ही उत्पन्न होते थे। नगर-निवासियों की आवश्यकता पूरी हो जाने पर भी प्रचुर परिमाणमें अनाज बच रहता था। यूरोप की नवीन सभ्यता में पेय सम्पत्ति मदिरा है जो चरित्र-भ्रष्ट करने के साथ ही साथ शरीर को भी हानि-पहुँचाती है। अयोध्यावासी पानी के स्थान पर बारहों महीने गन्ने का मधुर रस पिया करते थे। वर्तमान-काल में भी पंजाब के वासियों को इसका सुख बहुत अच्छी तरह से अनुभव होता है। वे बारह मास गन्ने की गंडेरियाँ चूसना पसन्द करते और अति प्रसन्न रहते हैं। गन्ने का ताजा रस पाचक, शीतल, रोग-नाशक और पुष्टि-कर होता है।

आजकल भारत के महानगरों की विचित्र रौनक है। दरिद्र लोगों का रोना-पीटना, हायतोबा अधिक सुनाई देता है। मन्दिरों में झाँझ और घण्टे भी बजते हैं, तोभी उससे बढ़कर भिखमँगों की पुकार का करुण शब्द सुनाई पड़ता है। स्थान स्थान पर कसाईखाने होने से गाय, बकरी और भेड़ों का आर्त्तस्वर, विधवाओं का रोना, रोग-पीड़ितों की आहें और धनियों की मोटरकारों की धांधा कूंकू और आम लोगों की गाली-गलौजके सिवा और क्या सुनाई पड़ता है। अयोध्याका दृश्य भिन्न था। अयोध्या में प्रविष्ट होते ही दुन्दुभि, मृदंग, वीणापणव, आदि नाना मनोहर बाजे बजते सुनाई पड़ते थे। दुनियाँ भर में उस समय सबसे उत्तम नगरी अयोध्या थी, जिसमें मकानों की स्थिति और रचना बहुत सुन्दर थी, जिसमें अनेक अच्छे पुरुष बहुत संख्या में बसे थे। धनुर्विद्या-विशारद चतुर पुरुषों की भी कमी न थी।

इस अवसर पर वाल्मीकि योद्धाओं के या नगर-रक्षकों के विषय में एक बात बड़ी ध्यान देने योग्य कहते हैं। वह यह है कि उस समय अयोध्या के सैनिक आजकल की तरह शराब के नशे में कोर्ट मार्शल करके अन्धाधुन्ध शस्त्र का प्रयोग कभी न करते थे। वे अपने समूह से भ्रष्ट अकेले दुकेले पर कभी बाण न चलाते थे, और पिता-पुत्रादि से रहित अनाथ पर शस्त्र का प्रयोग नहीं करते थे। यदि शत्रु पीठ दिखा कर भाग जाता था तो उसे मारने में समर्थ होते हुए भी नहीं मारते थे, क्योंकि उसने क्षात्र-धर्म से भ्रष्ट होकर पीठ दिखा दी है।

अपने शस्त्रादि के प्रयोग में इन सैनिकों के हाथ खूब सधे हुए (लघुहस्त) थे। वे वनों में गर्जते

हुए शेर-चीते और शूकरों का तेज शस्त्रों से नहीं, निहत्थे भी काम तमाम कर देते थे। अयोध्या में ऐसे एक दो नहीं, सैकड़ों पुरुष विद्यमान थे। इस प्रकार राजा दशरथ ने अपनी पुरी को विद्वानों के आदर-सत्कार का केन्द्र बनाया था, जिसमें यज्ञ करनेवाले छहों अंगों को जाननेवाले वेदज्ञ और सहस्रों का दान देनेवाले तथा सत्यपर आचरण करनेवाले ऋषि-महर्षि आकर बस गये थे।

महर्षि वाल्मीकि के समय अयोध्या नगर में जो उच्चता तथा विशेषता थी, वह पाठकों के समक्ष रख दी। अब यह आलोचना करनी है कि उस समय क्या वस्तु न थी—(१) उस समय भिखमँगे लोग न थे, क्योंकि देश में धन-धान्य अत्यधिक था। साथ ही, वाल्मीकि लिखते हैं कि उस नगर में ऐसा कोई न था जिसके पास संपत्ति थोड़ी हो और ऐसा कोई कुटुम्ब न था, जिसके पास धन संचित न था। (२) वर्तमान योरुप में इस समय जैसी पूँजीवाले (Capitalists) पेटू लोग तथा श्रमी लोगों (Labourers) की आपस में तनती रहती है और हड़तालों की धूम रहती है उस प्रकार अयोध्या में न होता था, क्योंकि रामायण-काल में अयोध्या में "कामी वान कदर्यो वा नृशंसः पुरुषः कचित्" कोई कामी वा अधीन पुरुषों को चूसनेवाला कदर्य और मनुष्यों पर भी अत्याचार करनेवाला नृशंस न था। (३)उस समय पागलखाने न थे। इन्साइक्लोपीडिया के अनुसार लण्डन के २९ विभागों में १० पागलखाने हैं। पर अयोध्या में एक भी न था, क्योंकि वाल्मीकि लिखते हैं "न दीनः क्षिप्तचित्तो वा व्यथितो वापि कश्चन"। अयोध्या में दीन, पागल, जिसका दिमाग़ फिर गया हो और दुखी कोई था ही नहीं, तो पागलख़ाने किसके लिए होते ? (४) योरुप में बच्चों की मृत्यु को देखकर अब नवीन सभ्यता को चिन्ता हो रही है कि कहीं गोरी जाति लुप्त न हो जाय। New popular science के प्रथम भाग में गर्भ-विद्या पर लिखा गया है कि "The death rate is lowest in the highest civilisations and the highest parts of such civilisations" (chapt. 4) 'मृत्यु-संख्या उच्च सभ्यताओं और उच्च सभ्यता के भागों में बहुत कम हो जाती है।" वर्तमान सभ्यता के विषय में लिखा है—
"The most familiar and accurate name is murder that indeed is the only name for our infant mortality in this country today" (chapt. 8.) इस देश (इंग्लैण्ड) में आज दिन भी होनेवाली बाल-मृत्यु को बालहत्या के परिचित नाम से ही पुकारना चाहिए। परन्तु वाल्मीकि लिखते हैं "दीर्घायुषो नराः सर्वे धर्मं सत्यं च संश्रिताः" अर्थात् धर्म और सत्य पर आश्रित सब लोग उस समय दीर्घायु होते थे। (५) उस समय क़ैदख़ाने न होते रहे होंगे; क्योंकि लिखा है "नास्तिको नानृती वापि", उस समय नास्तिक और झूठा कोई न था। न कोई छोटे दिल का था और न कोई चोर था। जब चोर और झूठे न थे तो क़ैदख़ाने किसके लिए होते ? (६) इसीसे प्रतीत होता है कि आजकल की तरह खुले दिन में भी असत्य बोलने की महादूकानों—अदालतों—की भी आवश्यकता न थी।

अयोध्या का वर्णन पूरा हो गया। पाठक तुलना कर जान सकते हैं कि प्राचीन-नगर-निर्माण-कला आजकल की अपेक्षा कितनी अधिक उन्नत और सुन्दर थी।

——:०:——

अर्जुन और चित्रांगदा।

(लेखक—बाबू देवीप्रसाद गुप्त, बी० ए०, एल० एल-बी०)

मणिपुर की राजसत्ता चित्रांगदा ने पाई।
तब से प्रजा की हितकर चिन्ता उसे सुहाई।
रहती थी वह सुशासन करने में रत सदा ही।
देती थी उसका पहरा बन करके खुद सिपाही ॥१॥

कोमल हृदय था पूरित बल-वीरता से इतना।
सातों समुद्र में भी होगा न वारि जितना।
कौन्तेय-कीर्ति का भी कल कान्ति-मय कलाधर।
था चढ़ रहा विमलतम वीरत्व नव छटा पर ॥२॥

संयोग-हित उमड़ता था प्रकृति का नियम जब।
कैसे कहें न होती चित्रांगदा विकल तब।
प्रति क्षण मिलन की आशा बेचैन कर रही थी।
उत्सुक हृदय की उसके सुख-शान्ति हर रही थी ॥३॥

कारण न जानती थी पर थी जलन हृदय में।
बन्धन न प्रेम का था पर थी लगन हृदय में।
रह रह हृदय में उठता था राग कुछ रसीला।
अज्ञात पर उसे थी सारी मनोज—लीला ॥४॥

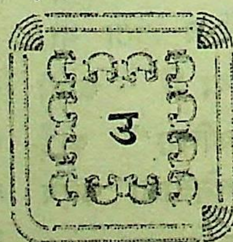
देखूँगी कब उसे मैं जिसपर है मन भुलाना।
मैं पासकूँगी कब वह उल्लास का खजाना।
यह सोचती हुई वह मृगया से आ रही थी।
अपने ही मन को अपनी गाथा सुना रही थी ॥५॥

निर्जन था वन जहाँ से होकर वह जा रही थी।
इससे तपन हृदय की रोकर बुझा रही थी।
घोड़ा थका हुआ था या मन्द गति से चलकर।
समवेदना का परिचय था दे रहा समय पर ॥६॥

चलते हुए अचानक घोड़े ने सिर उठाया।
और रुक गया सहम कर कुछ दृष्टि ज्योंही आया।
चित्राङ्गदा ने देखा सन्मुख कोई पड़ा है।
ललकार कर वह बोली "निर्लज्ज तू बड़ा है ॥७॥
सोता है रोक कर तू क्यों राह को हमारी।
हट जा नहीं तो मुझ से पावेगा दण्ड भारी" ॥
सुनकर के क्रुद्ध होकर कुछ बोलने को था वह।
अबला थी किन्तु इससे चुपचाप सब गया सह ॥८॥
करने लगा उसी क्षण पर वीर तेज पुष्कल।
अज्ञान-रूप से कुछ नारी हृदय में हलचल।
चित्राङ्गदा ने पूछा 'परिचय है क्या तुम्हारा'?
बोला वह 'पार्थ कहता है मुझको विश्व सारा' ॥९॥
सुन करके रह गई वह संज्ञा--विहीन सी कुछ।
गरदन भी झुक गई हो लज्जा में लीन सी कुछ।
तत्क्षण खड़ा हो अर्जुन अदृश्य हो गया तब।
चित्राङ्गदा को मिलकर पलभर में खो गया सब ॥१०॥
वह चित्र खिंच गया पर नारी--हृदय--पटल पर।
पति- भावना को जिसने दी चित्त में अटल कर।
प्रण तब किया "वरूँगी तो पार्थ को वरूँगी।
धारण कुमारिका-व्रत आजन्म या करूँगी" ॥११॥

हमारा अभाव।

(लेखक—बाबू प्रियोनाथ दसक, बी. ए., एल. टी.)



त्तम और दृढ़ इच्छा-शक्ति सम्पादन करना ही शिक्षा का मुख्य उद्देश्य है। शास्त्र के तत्व, धर्म के नैतिक सिद्धान्त, प्राचीन समय में युवकों की शिक्षा, और आधुनिक प्राकृतिक पद्धतियाँ सभी इसी उद्देश का निर्देश करती हैं। परंतु इन दिनों यह समस्या बड़ी कठिन हो गई है और छात्रावस्था में प्रधान स्थान ग्रहण किये हुए है। अभी



अर्जुन और चित्रांगदा।

सर्वाधिकार
"श्रीशारदा" के अधीन।

चित्रकार—
श्रीयुक्त टी, जे, पटेल।

तक शिक्षा में जो कुछ उन्नति हुई है और होने की आशा है वह इच्छा शक्ति के विकाश की दृष्टि से अत्यन्त असन्तोषजनक है। हम निःसंकोच कह सकते हैं कि हमारी सभ्यता और सुधार के रहते हुए भी हम प्राचीन समय से एक पग भी आगे नहीं बढ़े।

शिक्षा व्यापक रूप में होने, और मनोविज्ञानिक तत्वों के अनुसार दी जाने पर भी मनुष्य कर्मण्यता से हीन पाये जाते हैं। मनुष्य की शक्ति रुपये में आठ आना या तो नष्ट की जाती है या काम में नहीं लाई जाती, और यदि हम कर्मवीर और आदर्श पुरुषों की योग्यता के संबंध से देखें तो इससे भी अधिक हिस्सा ऐसा देखने में आवेगा। जीवन के सुभीते और आराम बेहिसाब बढ़ गये हैं; परंतु उसका फल यह हुआ है कि हमारी जनता कोमल, दुर्बल, और दृढ़ता से हीन हो गई है। आलसी पिता और उनकी आलस्य-प्रिय संतान की कर्मण्यता और दृढ़ता की आशा उतनी ही कम है जितनी कि सुई के छेद से एक ऊँट के निकल जाने की। यात्रा-संबंधी ज्ञान, आजतक की उन्नत कला, और सार्वकालिक तथा सार्वस्थानिक साहित्य हमारी आज्ञा में है; परंतु बली व्यक्ति में कुछ गंभीरता नहीं है और वे सुलभ आनंद-प्रद बातों में ही फँसे हुए हैं। शिक्षा आनंद-दायक बनाई गई है और बनाई जा रही है; परंतु इससे कोई भी लाभ नहीं हो रहा है। इच्छा-शक्ति तक पहुँच ही नहीं है। राष्ट्र के उत्थान के लिए जिन क्षमताशाली पुरुषों की आवश्यकता है उनका अभाव ही बना हुआ है। हितकर मानवी आन्दोलन बढ़ते जा रहे हैं; परंतु अधिकांश मनुष्य बुद्धि के नहीं, वरन् बलहीनता के द्योतक हैं। वैज्ञानिक विस्तार हो रहा है, नैतिक बातें सिखलाई जाती हैं, ज्ञान की कमी नहीं है, परंतु उत्तरदायित्व का अभाव है, विवेक और कर्त्तव्य-परायणता की कमी है। ईश्वरीय आज्ञाएँ मानी ही नहीं जातीं; अथवा घृणा की दृष्टि से देखी जाती हैं। आत्मिक ज्ञान अत्यंत क्षीण है और व्यक्ति अथवा समाज में आचरण-संबंधी दृढ़ता नहीं है। धर्म का प्रभाव कम कर दिया गया है; परंतु उसके स्थान में जीवन के उद्धार का अन्य कोई सिद्धान्त रक्खा ही नहीं गया। संक्षेप में गूढ़ विचार, उत्तरदायित्व और क्षमता का मान नहीं रहा। युवक कठिन भारों को अपने सिर पर लेने के लिए तैयार नहीं हैं और आचरण से हीन हैं। यह सब केवल एक इच्छा-शक्ति की दुर्बलता के कारण हैं।

कार्य-कौशल देश की आर्थिक उन्नति के लिए बहुत आवश्यक है। इसका आचरण से घना संबंध है और योग्यता और आचरण नैतिक बल पर ही निर्भर हैं। प्रश्न यह होता है कि जब मनुष्य 'यम के यहाँ पाप-पुण्य का लेखा होगा' इसको ध्यान में रख कार्य करते थे उस समय उनकी कुशलता और मानसिक बल अधिक था या नहीं। आजकल की शिक्षा मनुष्यों को निष्कपट और साहसी बनाती है या नहीं? ईरानी लोग अपनी संतान को पहिले धर्म की, दूसरे सच्चाई की, तीसरे संयम की, और चौथे साहस की शिक्षा देते थे। केवल निपुणता ही मनुष्य को बड़ा नहीं बना देती।

यदि नरक में जाने का कोई रास्ता है तो वह मन की तरंगों के अनुसरण में, अभावों के न

जानने में, सहन-शीलता के न होने में, और किसी कार्य के न करने में ही है । एक धनी व्यक्ति का लाड़-प्यार से पाला हुआ लड़का अपनी सब सम्पत्ति उड़ा विपत्ति में पड़ता और कहता है—"आरंभ से लेकर सर्वदा सब वस्तुएँ मुझे सहज-प्राप्त थीं । जीवन में कोई कष्ट नहीं था, शिक्षा सहज थी, आनंद की कमी नहीं थी, मित्रता भी बहुत थी, दया, पाप, आदि भी बहुत सहज थे । एक ही बात भयानक, कठिन और दुष्प्राप्य थी और वह यह कि "मेरा यह दृढ़ निश्चय है, और यही मैं करना चाहता हूँ । अभी तक मेरे लिए इच्छा-शक्ति का कोई भी अर्थ नहीं था । केवल चाहने और न चाहने पर ही सब बातों का निपटारा हो जाता था; परन्तु अब दुर्भाग्य के चक्कर में पड़, जब मेरे मानसिक बल की परीक्षा आई—" सार यह है कि इस प्रकार की शिक्षा अमार्जनीय पाप है। अब न तो वह अपने को सम्हाल सकता है और न छोड़ सकता है । जब वह कोई प्रयत्न करता है, तो वह जी-जान से, विश्वास के साथ नहीं । वह बुरे तक को नहीं चुन सकता और न उसपर चल सकता है । उसमें इतना भी साहस नहीं कि अपने को नष्ट कर डाले । उसका अन्त पाप का दासत्व ही है ।

सत्य जीवन के लिए कड़ी ठोकरें ही प्रधान शिक्षक हैं । अत्यन्त सफल मनुष्य उन कठिन समयों के अत्यन्त अनुगृहीत हैं, जिन्होंने कि उन के साहस को बढ़ाया, और इच्छा-शक्ति को दृढ़ किया । एक वैज्ञानिक ने कुछ मेंडकों पर एक आचरण-सम्बन्धी परीक्षा की । एक झुंड अत्यंत कठिनाई और जीवन की आघातों की अवस्था में पाला गया, और दूसरों को जीवन के आनन्द प्राप्त करने का पूरा अवसर दिया गया । अंत में पहिले वाले अत्यंत स्वस्थ और कर्मण्य निकले; परंतु दूसरे बिलकुल निकम्मे और मेंडकों के नाम पर धब्बा लगानेवाले हो गये । यही हाल मनुष्य का भी है । मनुष्य संसार की जितनी अधिक बाधाओं का सामना करेगा, उतनी ही उसमें सहन[illegible] और दृढ़ता अधिक होगी । विलासिता का ज[illegible]न शरीर को कोमल और आत्मा को बल-हीन [illegible]ता है । वीरता के लिए इच्छा-शक्ति का दृढ़ होना आवश्यक है । संसार में बहुत से मनुष्य हैं जो धनी हैं; परन्तु उनके पास कुछ धन नहीं और बहुतसे ऐसे भी हैं जिनके पास कुछ भी नहीं हैं, परन्तु तिस पर भी धनी हैं। वर्तमान अनुभव से यह सत्यता इतनी स्पष्ट हो गई है कि पश्चिमी धनिक अपनी संतान का पालन-पोषण बनावटी दरिद्रता की अवस्था और जीवन की कठिनाइयों में करते हैं, ताकि वे घात-प्रतिघातों को सह कर दृढ़ और अनुभवी हो जावें ।

वह इच्छा, जो कठिनाइयों में दृढ़ रहती है, जो बाधा और विघ्नों का सामना करती है और उनसे लड़ कर उन्हें परास्त करती है, वह इच्छा जब कुछ नहीं रहता तब भी रहती है, और दूरवर्ती उद्देश तक मनुष्य को खींच ले जाती है, वह इच्छा जो उसे अच्छी वा बुरी अवस्था में निश्चित और दृढ़ बनाये रखती है, सचमुच ही मनुष्य को मनुष्य बना देती है । क्योंकि जनता जब अपना सिर खोकर तुमपर दोष लगाती है यदि उस समय तुम अपना सिर ठीक रख सकते हो, जब सब तुम्हें संदेह की दृष्टि से देखने लगते हैं यदि उस समय तुममें आत्म-विश्वास है, यदि तुम शांतिपूर्वक ठहर सकते हो, और ठहरे ठहरे उकताते नहीं, यदि सब तुम्हें झूठा कहें, पर तुम झूठे का व्यवहार नहीं करते, या घृणित

होने पर भी किसीको घृणा नहीं करते; यदि तुम स्वप्न-राज्य में घूम सकते हो; परंतु उनका तुम पर अधिकार नहीं है; यदि तुम विचार कर सकते हो; परंतु विचार ही तुम्हारा लक्ष्य नहीं है; यदि तुम विजय और हार दोनों को एकसा ही समझते हो, यदि तुम अपनी बनाई हुई वस्तुओं को दूसरों द्वारा तोड़ी जाने पर फिर भी शांत चित्त से उन्हें बनाने में लग जाते हो; यदि तुम अपनी कुल सम्पत्ति को सत्य पक्ष के लिए लगा सकते हो और उसके खो जाने पर फिर भी उस का अर्जन आरम्भ कर सकते हो; यदि चारों ओर निराशा रहने पर भी तुम्हारे मन में आशा और साहस है; यदि तुम जनता के साथ रहकर भी अपने गुणों को नहीं भूले और धनी–मानी व्यक्तियों के साथ रह घमंड से नहीं फूले, यदि शत्रु या मित्र तुमको कभी कोई दुख नहीं पहुँचाते, वरन् तुम्हें देख उनके हृदय में भाव भर आते हैं; यदि तुममें प्रति सेकंड मनुष्यत्व की धारा बहती है, तो यह पृथ्वी और इसमें जो कुछ है सब तुम्हारा है और तुम मनुष्य हो।

दुर्घटनाओं का साहस के साथ सामना करने वाली और उनसे पाई हुई शिक्षा द्वारा जीवन को नियम-बद्ध करनेवाली इच्छा का एक दृष्टांत यह है—मुझे अत्यन्त हर्ष है कि मेरे पैर में काँटा गड़ा और दुःख दे रहा है; क्योंकि जब मैं अपने भाई का घाव देखूँगा तो मैं उसके दुख का अनुभव कर सकूँगा। मुझे हर्ष है कि मैं बोझ से दबा जा रहा हूँ, जब मैं दूसरे को गिरा हुआ देखूँगा तो समझ सकूँगा कि उसपर कितना बोझ है। मुझे आनन्द है कि मैं सहायता के लिए चिल्लाया; इससे मैं दूसरे के हृदय की चीत्कार को भी सुन सकूँगा। मैंने अपने सब दुःख अकेले सहे। मैं समझ सकता हूँ कि दूसरे जब सहायता से हीन रहते हैं तो उन्हें कैसा कष्ट होता है। वह इच्छा-शक्ति जो कि दुःख और शोक से आनन्द और शिक्षा प्राप्त कर सकती है, जो बलहीनता को शक्ति में परिणत कर देती है, जो दीनता को सफलता देती है, सचमुच में कड़ी जाँच के समय वही नैतिक महत्ता तक पहुँच सकती है। वही अत्यन्त उच्च और धन्य है! यदि हम इन सब बातों पर विचार करें तो हम सत्य ही इन दिनों हममें असली अभाव वा आवश्यकता क्या है जान लेंगे।

असंगत विकास को किसीने 'भूतों का नाच' कहा है। जीवन सत्य में आवेगों का अनियमित समावेश, घटनाओं का क्रम, या आकस्मिक घटनाओं का योग नहीं है। यह सुशृंखलित, नियमबद्ध और उद्देशपूर्ण आचरण है। प्लेटो का दृष्टांत क्या ही अच्छा है। एक युवक रथ हाँक रहा है जिसका घोड़ा सीधा एवं आज्ञाकारी तथा दूसरा पाजी एवं विरोधी है। केवल चैतन्य, विवेक और दृढ़ इच्छा ही रक्षापूर्वक यात्रा पार करा सकते हैं। शिक्षा के बदलते हुए विचारों में एक सत्य यह अवश्य है कि यथार्थता, दृढ़ता और सहनशीलता की शिक्षा अत्याज्य है। विषय की अपेक्षा विषय के अध्ययन करने की रीति अधिक प्रभावशाली है। एक ही बात जिस ने कि शिक्षा को दूषित बनाए रक्खा है वह मानसिक बल का अभाव है। शिक्षा का अर्थ केवल ज्ञान अर्जन करने में आनन्द, सौन्दर्य-विवेक, आदि ही नहीं है। परंतु जीवन को सफलतापूर्वक निर्वाह करने के लिए आचरण और इच्छा-शक्ति का विकाश ही मुख्य है।

'प्रकृति के अनुसार शिक्षा' ने हमें बहुत अधिक हानि पहुँचाई है। प्राकृतिक अवस्था दासत्व है। आत्म-दमन ही सामाजिक उन्नति का मूल है। हक्सले साहिब का कहना है कि प्राकृतिक

विकाश और सामाजिक उन्नति एक ही नहीं है। और सामाजिक विकाश का अर्थ अत्यन्त योग्य और उत्तम की रक्षा है, न कि अत्यन्त गाल बजानेवालों की। उनका मत है कि हमें बहुतसे स्थलों में प्रकृति से लड़ना पड़ता है और मनुष्य का स्वभाव, आदर्श, विचार, और इच्छा द्वारा सुधारा जा सकता है। मानस शास्त्र भी यही कहता है। इच्छा-शक्ति ऐसी दशाएँ उपस्थित कर सकती है जो रोगादि को शत्रु-भाव हैं और जो उनको आश्चर्य रूप से अच्छा कर सकती हैं। शरीर पर इच्छा शक्ति का प्रभाव पाश्चात्य विज्ञान के लिए एक नया तथ्य है। यदि इच्छा शरीर को स्वस्थ होने में सहायता कर सकती है, तो मन को स्वस्थ रखने में यह और भी अधिक शक्तिशाली है इसमें सन्देह नहीं। इच्छा हमारे कार्यों पर पूर्ण प्रभाव दर्शा सकती है। यह स्वभाव और वंशज प्रकृतियों से सफलता-पूर्वक लड़ सकती है। हमें इच्छा की पूर्ण शक्ति मालूम नहीं है, नहीं तो संसार में घटनाओं पर विजय पाना कोई बड़ी बात नहीं है।

इच्छा-शक्ति की शिक्षा पर पुस्तकें लिखी जा सकती हैं। ठीक स्वभाव या अभ्यास, वर्तन के नियम, आचरण-सूत्र आदि का मूल्य सबको विदित है। वह मनुष्य जोकि संसार के अनुभव के स्थान में अपने अनुभव से काम लेता है सहस्रों भूलें कर बैठता है। आत्मश्लाघा जोकि सामाजिक स्थान, सत्यवादिता अथवा योग्यता के संबंध से बड़ी विवेकी है मनुष्य में आदि चालक कारण है, और इसका अभाव नैतिक अधःपतन है। जापानी राज–भक्ति का यही प्रधान मंत्र है। उनके कार्य सर्वदा कुटुम्बी, मित्र, देश-वासी, राजा को, चाहे वे जीवित हों अथवा मृत अथवा होनेवाले हों दृष्टि में रख कर होते हैं। विश्वास ही उन्हें अत्यन्त मानसिक बल और स्वार्थ-त्याग की शक्ति देता है। परन्तु हम यहाँ मनके उन झुकावों से संबंध रखना चाहते हैं जोकि मनुष्य का आचरण बनाते हैं। अविश्वास, घृणा, नीच आदर्श आदि में चालक या उत्तेजक शक्ति नहीं है। नास्तिकता में कोई मधुरता नहीं, जो मनुष्य सब कार्यों के पीछे एक वृहत् इच्छा शक्ति को देखता है, जो समस्त इतिहासों में एक उन्नति-शील उद्देश्य पाता है, वह अपनी इच्छा का मूल्य और शक्ति को अच्छी तरह से समझ सकता है। वही हर एक कारण और कार्य का पता ले सकता है और इस जगती में विषय और अपने को जीत अच्छे कार्य के लिए लड़ स्वतंत्र विचर सकता है। सनातन धर्म को लीजिए। आदर्श सनातन धर्म जीवन की पूर्णता है। इस से हम रीति, प्रथाएँ, आदि अनेक संकीर्णताओं को यदि हटा दें तो हम देखेंगे कि यह एक सहज और पूर्ण विकाश का स्रोत है। इसका आदर्श 'पूर्णता' होने के कारण इसमें अत्युत्तम शिक्षा का समावेश है। यह सब बातों को दूर दृष्टि से देखता है। इसमें सबसे उत्तम उन्नति है, अत्यन्त अधिक परिश्रम भी है, और उत्तम कार्यों में साथ देना भी है। परन्तु हमारे जीवन की प्रेरणाओं का आदि चाहे जो कुछ हो इससे हमें स्वास्थ्य, शक्ति और सद्वस्तु के प्रमाणित अंग से संबंध प्राप्त होना चाहिए। निराश हो, भाग्य पर निर्भर रह केवल संसार में सुख खोजना मनुष्यत्व नहीं है। यही एक वाक्य जीवन की सत्ता को ठीकर बतलाता है। भाग्य के भरोसे रहना याने नष्टता को प्राप्त होना है। मानसिक बल अपने आदर्श को सामने रख विकाश का एक साधन हो जाता है और इसी के द्वारा मनुष्य अपना भाग्य निर्माण करता है। व्यक्तिगत भाव ... कि सोच विचार सकता है, जोकि उच्च आकांक्षा रखता और जो अपने ऊपर उत्तर दायित्व

सकता है, अपना उचित पुरस्कार पायगा, और यही उन्नतिशील समाज का मुख्य सूत्र है। केवल दैव पर भरोसा रखने वाला बलहीन और असफल मनुष्य है। जो मनुष्य सर्वदा अपना मन बदलता रहता है वह और कुछ भी नहीं बदल सकता। चंचल बुद्धि के मनुष्य कहीं के भी नहीं रहते। वह मनुष्य जोकि कठिनाइयों में दृढ़ नहीं रह सकता, उनसे डरता है अपनी उन्नति नहीं कर सकता। दृढ़ इच्छा में ईश्वर, स्वतंत्रता, सफलता और अमरता का निवास है।

इन दिनों मनुष्य कहा करते हैं—"मैं ख्याली पुलाव नहीं पकाता, मैं कार्य करता हूँ। मैं अब आदर्श के पीछे नहीं दौड़ता। मुझे ऐसी कोई वस्तु की आवश्यकता नहीं जो मेरे काम न आवे।" ऐसे मनुष्यों का कहना कुछ अंश में सत्य है। डर इस बात का है कि स्वप्न और विचार, न कि उनका कार्य में परिणत करना, कहीं लक्ष्य न बन बैठे। बहुत से विचार और भावों का समय बहुत ... फलों का भी समय है। अमर साहित्य, राजनीति, नैतिक आवेग, साहस के कार्य, आशा और विश्वास, जो प्रत्येक कार्य तक पहुँचते हैं—विचार पहिले, कार्य पीछे, यदि हम किसीको कर्मण्य बनाना चाहते हैं, तो हमें उचित है कि हम उसमें अच्छे अच्छे विचार भरें। यदि विचार अच्छे और गंभीर न होंगे, तो कर्म भी नीच होंगे। उच्च विचार, घृणा और असत्यता आदि अवगुणों से परे हैं। ये चापलूसी, शत्रुता, सौभाग्य अथवा दुर्भाग्य से डिग नहीं सकते। अपने स्थान और अवस्थाओं में वे अपना कार्य और आनंद ढूँढ़ लेते हैं। फिर उच्च-विचार-शील और दृढ़-प्रतिज्ञ मनुष्य अकेले ही नहीं है। मनुष्य उन्हें सहायता देने को सर्वदा तैयार रहते हैं। जब कोई राजनैतिक शक्ति उत्पन्न होती है, जबकि कोई उच्च कर्मचारी कर्तव्य को ध्यान में रख कार्य करता है, न कि केवल अपने दल की जीत के लिए जबकि कोई नियम-प्रणेता सार्वजनिक सेवा को उच्चासन प्रदान करता है, और अच्छे हितकर नियम बनाता है, तब साधारण मनुष्य उनको मान और सहायता देने के लिए आप ही आप तैयार हो जाते हैं। जब सचमुच में कोई अच्छा सुधारक उत्पन्न होता है, उत्तम धार्मिक शिक्षक, महा कवि, अथवा बड़े देशभक्त पुरुष अपने को प्रकट करते हैं, तो वे सब उन्नत संसार में प्रतिष्ठा और सम्मान पाते हैं। ये सब बातें इस समय की अत्यंत आशा-प्रद सूचनाएँ हैं। मनुष्य के प्रत्येक उन्नति-कार्य की आशा उपस्थित है, और उसके लिए इतना अधिक, विविध और सहज-प्राप्य सामान और कभी नहीं था। कार्य-क्षेत्र विस्तीर्ण है, सम्मान-प्राप्ति की वस्तुएँ और उपाय भी बहुत हैं; परंतु इस कार्य-क्षेत्र में अभाव केवल उन्हीं मनुष्यों का है जो अपनी मर्यादा और पौरुष को समझते हैं और जिनमें इच्छा-शक्ति का पूर्ण विकाश है।

असि-धारा-व्रत।

(लेखक—श्रीयुत नारायण हरि आपटे)



निम्न लिखित गीत विन्ध्याचल के शान्त अरण्य को निनादित कर रहा था—

अरुन उदित विगत सर्वरी ससांक किरनहीन।
दीन दीप ज्योति मलिन दुति समूह तारे॥
मनहु ज्ञान घन प्रकास बीते सब भौ विलास।
आस त्रास तिमिर तोम तरनि तेज जारे॥
बोलत खग निकर मुखर मधुर करि प्रतीति सुनहु।
स्रवन प्रान जीवन धन मेरे तुम वारे॥

उस समय गीत-वर्णित शोभा ही चारों ओर दीख पड़ती थी। पूर्व क्षितिज पर अरुण की लाल ध्वजा फहरा रही थी। स्वच्छ आकाश धीरे धीरे प्रकाशमान हो रहा था। प्रभात-कालीन शीतल समीर ऐसी मन्द-गति से बह रहा था मानो वह उपरोक्त मधुर गीत प्रेम-भाव से सुन रहा हो। विन्ध्याचल की विस्तृत गोद में लेटी हुई वनराजी भी प्रसन्न-चित्त से यह गान सुन रही थी। उसके आश्रित विहंगों का विचित्र आलाप-मय कूजन तो वह प्रति दिन सुन ही लेती थी; पर आज के मनुष्य-कृत गायन का प्रभाव भी उसपर खूब पड़ा हुआ मालूम था। गायन था ही वैसा श्रुति-मनोहर!

दोनों ओर घना घना जंगल था और बीच में से एक पगडंडी सर्प की वक्राकार गति से जा रही थी। उसी के अनुरोध से चार साधु प्रवास कर रहे थे। सर्वाग्रणी साधु गा रहा था। उसका कण्ठ जैसा मधुर था वैसी ही उसकी मुद्रा भी भव्य और दिव्य थी। उसकी दृष्टि में एक ऐसा कुछ अनोखा तेज था कि जिसपर वह पड़ती......पर प्रत्येक अवयव का ऐसा वर्णन करके उसका रहस्य बढ़ाने की अपेक्षा हम उस पुरुष का नाम ही पाठकों से कहे देते हैं जिसे सुनते ही वे स्वयं ही जान लेंगे कि वह कैसा था।

प्रिय पाठक! वह दिव्य पुरुष महाराष्ट्र वीर-शिरोमणि शिवाजी थे। विश्वास-घातक औरंगज़ेब की क़ैद से किसी उपाय से छुटकारा पाकर, वे अपने पुत्र एवं मित्रों के साथ दक्षिण को भागे जा रहे थे। इस समय उनके साथ पुत्र संभाजी और मित्र-श्रेष्ठ तानाजी तथा येसाजी थे। सबों ने एक ही साथ साधु-वेष धारण किया था। संकट-काल में शठ के साथ शाठ्य करना ही उचित होता है।

गीत गाते २ बीच में ही शिवाजी रुक गये। कुछ देर तक चारों ओर देखते रहे, फिर पूर्व की तरफ़ मुँह फेर कर बोले—"देखो, तानाजी, सूर्य के आगमन का प्रभाव तो देखो। इधर उधर प्रकाश फैलता जा रहा है, और प्रकृति सुन्दरी को सचेत कर रहा है। कैसा अपूर्व दृश्य है! गत रात्रि को इसी अरण्य का क्या हाल था? तिमिराच्छन्न वन-श्री मुरझायी हुई पड़ी थी। उसकी शोभा बढ़ानेवाले विहंग अपने अपने कोटरों में घुसकर निद्रा ले रहे थे। चारों ओर सन्नाटा छा गया था, और ऐसे भयानक अवसर पर मज़ा उड़ानेवाले सिंह, व्याघ्रादिक हिंस्र पशु स्वच्छंदता से विहार कर रहे थे।

तानाजी—"जब किसी राष्ट्र पर परवशता की निशा फैलती है, तब उसकी दशा भी इसी प्रकार होती है। स्वातंत्र्य-सूर्य का अस्त होते ही अज्ञान का अंधेरा घिरकर आने लगता है। प्रजा के सद्गुण नष्ट हो जाते हैं, और जगह जगह स्वार्थ-परायणता, भीरुता, स्वजन-द्रोह, विश्वास-घात इत्यादि हिंसक दुर्गुण खड़े होकर राष्ट्र का सत्यानाश कर देते हैं। हा! परवशता कितनी बुरी अवस्था है!"

तानाजी ने प्रेमादरपूर्वक स्वामी का मुख देखते कहा—"एक काल था जब महाराष्ट्र पर भी यही निशा फैल गई थी, किन्तु भवानी देवी की कृपा से आपका अवतार हुआ, और आपने प्राण-प्रण से चेष्टा कर उस भाग्यशाली देश को यवनों के हाथ से मुक्त कर दिया। महाराज! महाराष्ट्र के स्वातंत्र्य-सूर्य तो आप ही हैं—श्री भवानी देवी की कृपा-छत्र हमारे राजाधिराज शिवाजी महाराज

पर सदैव बना रहे ! " यह कहते कहते आदर-भाव से तानाजी का कण्ठ भर आया ।

वीर पुरुषों को स्व-स्तुति बड़ी अप्रिय होती है । शिवाजी संभाजी की तरफ़ देखते हुए पूर्व की ओर हाथ बढ़ाकर बोले, " देखो बेटा, बाल-सूर्य-बिम्ब की शोभा देखो--शम्भूजी ! सूर्य देव को प्रणाम करो ! "

सबों ने राजाज्ञा मान्य की और भक्ति-भाव से सूर्यदेव को प्रणाम किया ।

सूर्यदेव आकाश-पथ पर चढ़ने लगे, और हमारे प्रवासी भी मार्ग-क्रमण करने लगे । बहुत देर तक कोई न बोला ।

तदनन्तर येसाजी ने तानाजी से धीरे से कहा-- " देखो मित्र, इस उदीयमान सूर्य का ग्रास करने के लिए कितने मेघ-खण्ड एकत्रित हो गये हैं ? अभी अभी आकाश कैसा निर्मल था; पर इतने ही में देखो क्या चमत्कार हो गया---"

तानाजी ने उधर दृष्टिपात कर कहा, " पर क्या वे क्षुद्र मेघ-खण्ड सहस्रकर का नाश कर सकते हैं ? नहीं, हमारे पुण्य-प्रतापी महाराज ने, जैसे औरंगज़ेब का जाल तोड़ दिया, वैसे ही सूर्य-देव भी उन मूर्ख बादलों की चुंगल में से निकल जावेंगे, और जगत को प्रकाश-दान करेंगे । घबड़ाना नहीं । येसाजी, अब सूर्योदय हो गया है, अब चाहे जितने मेघ इकट्ठे क्यों न हों अन्धकार का नाश होगा, और चारों ओर प्रकाश की छटा छिटकेगी । अपने महाराज जैसे अखिल भारत-वर्ष को स्वतंत्रता देकर प्रकाशित करेंगे वैसेही भगवान् सूर्य नारायण---"

तानाजी अपनी बात पूरी कहने न पाया था कि इतने में कहीं पास ही से एक भयानक चीख़ हवा में गूँज उठी । चारों व्यक्ति चौंक कर जहाँ के तहाँ रुक गये । शिवाजी की तीक्ष्ण दृष्टि अष्ट दिशाओं में घूमने लगी ।

फिर एक चीख़ सुनाई दी । शिवाजी ने देखा, वहाँ से क़रीब ४०, ५० क़दम पर एक बड़ा भारी भालू भागते हुए भील लड़के का पीछा कर रहा है । डर के मारे चिल्लाते चिल्लाते वह लड़का बार बार पीछे देखते हुए आगे भाग रहा था, और वह दुष्ट भालू अपना भक्ष्य दबोचने के लिए उसका पीछा कर रहा था ।

उस समय शिवाजी के हाथ में सिर्फ एक लाठी थी; पर उसका उन्होंने कुछ भी विचार नहीं किया । वे उस संकट-ग्रस्त लड़के के सहायतार्थ तुरन्त उधर दौड़े । भागते भागते लड़का थक गया, और घबड़ाहट में एक पत्थर से ठोकर खाकर गिर पड़ा । उसके शत्रु को यह बड़ा अच्छा मौक़ा मिला । यदि इस समय शिवाजी फुर्ती से वहाँ न जा पहुँचते, तो बड़ा अनर्थ हो जाता, किन्तु उस लड़के की आयु-रज्जु मज़बूत थी । शिवाजी ने उसकी जान छुड़ाकर अपनी जोखिम में डालदी । उनके शीघ्रता से एक लट्ठ उस जानवर की पीठ पर मारते ही, उसने मुँह फेर कर अपना नया शत्रु देख लिया । उसने बड़े क्रोध से शिवाजी पर आक्रमण किया । वे तैय्यार थे ही, दोनों की कुश्ती होने लगी ।

इतने में उनके मित्र वहाँ आ पहुँचे । उस लड़के की चिल्लाहट सुनकर बहुतसे भील भी दौड़कर आ गये । सबोंने मिलकर भालू को मार डाला । लड़के की बात सुनने के बाद सब भीलों ने शिवाजी को अनेक धन्यवाद दिये ।

कुछ कालोपरान्त शिवाजी अपने पुत्र-मित्रों के साथ; दक्षिण की ओर चले । रास्ते में तानाजी

की नज़र अपने स्वामी की दक्षिण भुजा पर गई। लोहू से वह बिलकुल लथ-पथ हो गई थी।

तानाजी उनके पास जाकर उस जगह का वस्त्र उठा चौंक कर बोला, "ओफ्! महाराज! यह क्या हुआ?"

शिवाजी हँस कर बोले, "कुछ नहीं! भालू ने क्रोधावेश में उस भुजा को काट खाया है।" यह बात उन्होंने हँसकर कही; परन्तु उसकी पीड़ा से वे बड़े व्याकुल हो गये थे। तानाजी ने उनका दुःख जान लिया। उसने फिर अपने स्वामी को आगे जाने नहीं दिया। सब वहाँ ही ठहर गये।

तानाजी और येसाजी ने मिलकर उनका ज़ख्म पानी से धोकर उसपर एक जंगली जड़ी का रस लगा दिया और पट्टी बाँध दी। पहले पहल उन सबों को यह बात मामूली सी मालूम पड़ी; पर वह वैसी न थी। थोड़ी देर बाद शिवाजी को ज्वर आने लगा। उनका चेहरा लाल हो गया और उनकी शक्ति भी घटने लगी। बड़ा विकट प्रसंग उपस्थित हुआ।

शाम तक किसी न किसी प्रकार तानाजी और येसाजी शिवाजी को कन्धों पर लेकर घबड़ाये हुए संभाजी को समझाते समझाते एक गाँव में आ निकले। वहाँ उनको एक ग़रीब ब्राह्मण ने आश्रय दे दिया।

दैव-गति बड़ी विचित्र होती है। गो-ब्राह्मणों का प्रतिपालन करना ही शिवाजी का एकमात्र व्रत था। ऐसे महापुरुष को आज एक ग़रीब ब्राह्मण के यहाँ ही आश्रित होना पड़ा।

ब्राह्मणदेव दरिद्री होने पर भी सत्वशील और परोपकारी थे, नहीं तो चार मनुष्यों को प्रति-दिन भोजन देने की उनकी शक्ति न होते हुए भी वे उन्हें कैसे आश्रय देते? शिवाजी की मूर्ति देखते ही वे अपनी दरिद्रता भूल गये। निरपेक्ष बुद्धि से उन्होंने उनकी सहायता की।

दो-चार दिन हो गये, तोभी शिवाजी की बीमारी न हटी और न हटने का शीघ्र कोई चिन्ह ही दीख पड़ा। उन दोनों स्वामि-निष्ठ सेवकों को यह चिन्ता हुई कि अब क्या करें? बीमारी के कारण शिवाजी महाराज के तो होश ही ठिकाने न थे। संभाजी की उम्र छोटी थी। स्वदेश अभी बहुत दूर था और असहाय स्थिति में वे शत्रु-राज्य में से होकर भागे जा रहे थे। कोई संकट आ गया, तो क्या करेंगे? किसी को अपना छद्म-वेश प्रकट हो गया तो कैसा उत्पात होगा? इस गाँव में ही पड़े रहेंगे, तो भी अच्छा न होगा। ये साधु कहाँ के हैं और कहाँ जायँगे यह चर्चा लोगों में ज़रूर होगी और उसका परिणाम कभी अच्छा न होगा इत्यादि अनेक चिन्ताएँ उनके मन में आईं और रातदिन उन्हें इसी बात का सोच पड़ा कि आगे करें क्या?

इसी चिन्ता में और दो दिन बीत गये। आखिर तानाजी ने एक उपाय निश्चित किया। उसने अपने मित्र से कहा, "भाई येसाजी, अब क्या करें ऐसे ही सोचते बैठे रहेंगे, तो शायद अन्त में पछताना पड़ेगा। इससे अच्छा यह होगा कि जो कुछ अभी सूझता है वही श्रीभवानी का नाम स्मरण कर करने लगें। अब मुझे तो एक ही उपाय दीखता है। तुम युवराज संभाजी को लेकर दक्षिण में चल निकलो। महाराज को चंगा होने में कितने दिन लगेंगे, क्या मालूम? इससे तुम दोनों का आगे जाना ही ठीक होगा। वहाँ जाकर मंत्रि-मंडल को शिवाजी महाराज किस हालत में पड़े हैं, यह कह देना। तबतक मैं जहाँतक होगा, अपने स्वामी की रक्षा करते रहूँगा। आगे श्रीभवानी की इच्छा।"

येसाजी को भी यह बात पसन्द आई। दूसरे दिन पौ फटते ही येसाजी ने अश्रु-पूर्ण नेत्रों से अपने बेहोश स्वामी के पैर छूकर उनकी बन्दना की और कंपित स्वर में तानाजी से कहा, "मित्र, अकेले तुमपर महाराज की रक्षा का कार्य छोड़ जाता हूँ—मुझे बड़ा दुःख होता है। अभिवानी तुम्हें इस कार्य में यश दें।" उनसे अधिक कहा न गया। वह चुपचाप संभाजी को लेकर वहाँ से चला गया। तानाजी भविष्य की चिन्ता करते बैठा रहा।

प्रायः देखा गया है कि नीरोगी मनुष्य कभी बीमार नहीं होता, और जब होता है तब इतना अधिक होता है कि प्राणों पर आ पड़ती है। शिवाजी की बीमारी भी इसी प्रकार की थी। प्रति-दिन वह बढ़ती ही गई। आश्रय-दाता ब्राह्मण और तानाजी दोनों जन रात-दिन शुश्रूषा करते रहे। अन्त में इक्कीस दिन के बाद महाराज को पसीना आया और बुखार हटने लगा। उनको होश भी आ गया। फिर एक दिन एकान्त में तानाजी ने येसाजी और संभाजी की गमन-वार्ता उनको सुनाई। महाराज को बोलने की शक्ति न थी। उन्होंने कृतज्ञता का भाव नेत्रों से ही दर्शित किया।

दोपहर का समय था। ब्राह्मण-पत्नी का पकाया हुआ दाल-चावल खाकर शिवाजी अपनी खाट पर पड़ रहे। तानाजी कहीं बाहर चला गया था। भीतर की एक कोठरी में ब्राह्मण-दम्पती के बीच बातचीत हो रही थी। महाराज की इच्छा न होते हुए भी उनके कानों में वह प्रविष्ट हो रहा था।

ब्राह्मण ने कहा "देखो प्रिये, आज मैं कुछ न खाऊँगा। मुझे कुछ अजीर्णसा हो गया है। इच्छा है कि दिन भर उपवास करूँ।"

ब्राह्मण-पत्नी ने कहा, "यह आप क्या कह रहे हैं? आज महीना भर हो गया, हम दोनों पेट भर खाना तो खाते ही नहीं, फिर आपको अजीर्ण कहाँ से हुआ? उन दोनों साधुओं को खिलाने पर बचता ही क्या है?"

ब्राह्मण—चुप रहो! ज़ोर से मत बोलो। वे दोनों संकट में पड़ कर अपने यहाँ आये हैं। मैं ब्राह्मण हूँ तो भी गृहस्थ हूँ। उनको आश्रय देना मेरा कर्त्तव्य है। प्रिये, परोपकार करना जितना उचित है उतना ही उसका उच्चारण करना अनुचित है। जाओ, जो कुछ घर में होगा वही खाकर आनन्द करो। कल रात को तुमने कुछ नहीं खाया—अब थोड़ा खा लो। मैं थोड़ा जल-पान कर रह जाऊँगा। देखो प्रिये, अब वे ज़ियादा दिन अपने यहाँ न रहेंगे। दो-चार दिन में चल देंगे। तब तक क्या तुम निभा नहीं लोगी?

ब्रा० प०—पर वे हैं कौन? पड़ोसी तो हमेशा पूछा करते हैं—

ब्राह्मण—किसी से कुछ न कहो। वे कौन हैं, यह मैं भी नहीं जानता। हाँ, इतना ज़रूर कहूँगा कि वे साधारण पुरुष नहीं हैं। वे साधू नहीं हैं। क्या बीमार पड़े हुए पुरुष को तुमने अच्छी तरह से नहीं देखा? आहा! बड़ा भाग्य-शील दीख पड़ता है। न मालूम बेचारे पर क्या संकट आया है जो ऐसा साधु-वेष लेकर फिरता है। कुछ भी हो, उनकी सहायता करना भी अपना कर्त्तव्य है।"

जल-पान करके ब्राह्मण बाहर आगया। उसे आते देख शिवाजी ने आँखें बन्द कर लीं और स्वस्थ पड़े रहे; किन्तु उस सम्वाद का उन्हें बड़ा खेद हुआ। वे मन ही मन में बोले, "शिवाजी! क्या तुम शिवाजी ही हो? श्रद्धास्पद माता

जिजाई ने तुम्हें क्या ऐसी ही शिक्षा दी है ? क्या तुम्हारा जन्म ब्राह्मणों को कष्ट देने ही के लिए हुआ है ? धिक्कार ! एक बार नहीं शतबार तुम्हें धिक्कार है ! हा, हन्त ! मेरे लिए एक ब्राह्मण-दम्पती को आध-पेट रहना पड़ा ! एक दो दिन नहीं, बराबर एक मास तक ! गो-ब्राह्मण-प्रतिपालन का व्रत क्या ऐसा ही होता है ? क्या करूँ ?- इस ब्राह्मण के असीम उपकारों से मैं कैसे मुक्त हो जाऊँ ? इस समय न मेरे पास कुछ धन है- न उस उदारधी की कुछ सेवा करने को शरीर में बल है । हे परमेश्वर ! इस ब्राह्मण का दारिद्र्य दुःख दूर करना मेरा कर्त्तव्य था। वह तो हुआ नहीं"—

इसी समय बाहर रास्ते पर किसी की ऊँची आवाज सुनाई दी ।

"+ + + मरहट्टों का राजा शिवाजी शाहंशाह औरंगजेब की क़ैद से छूटकर भाग गया है । जो कोई शख्स उसे पकड़वा देगा, या उसका बराबर पता लगा देगा, उसे पाँच हज़ार अशर्फियाँ इनाम में मिलेंगी । सरदार मीरबख्श शहर कोतवाल इसी वास्ते घूम रहे हैं, और वे आज इसी गाँव में आकर ठहरे हैं । शिवाजी के बाबत् किसी को कुछ कहना हो तो वह चाहे जब सरदार साहब से मिल ले-हो उ उ उ !!! "

इस वार्त्ता को सुनते ही शिवाजी के मन में अनेक विचार आने लगे । अपने ऊपर आने वाले सङ्कटों से तो वे ज़रा भी न डरते थे; पर उनको चिन्ता उत्पन्न हुई उस ब्राह्मण की रक्षा की । कहीं ऐसा न हो जाय कि अपना उसके यहाँ का अस्तित्व किसी नीच को मालूम हो जाय, और वह उस उदाराशय को सङ्कट में डाल दे । इस विचार से उनका चित्त बड़ा अस्थिर हो उठा ; पड़े पड़े वे कुछ युक्ति सोचते लगे ।

इधर द्वार पर खड़े होकर ब्राह्मण ने भी यह वार्ता सुन ली थी । सुनते ही उसकी मुद्रा बिगड़ गई । वह जोर से बोल उठा, "परमात्मन् ! गो—ब्राह्मणों का प्रतिपालन करनेवाला एक महापुरुष अभी कहीं पैदा होगया है, तो उसपर इतने संकट । क्या हमारा उद्धार होवेगा ही नहीं, ऐसी आपकी इच्छा है ?" यह कहते कहते उसने एक बार आँखें मींच कर पड़े हुए शिवाजी की ओर देखा और दुःख की एक निश्वास छोड़कर वहाँ से चला गया ।

इतने में घबड़ाया हुआ तानाजी वहाँ आगया, और उसने शिवाजी के पास जाकर धीरे से उन्हें आते हुए संकट की सूचना दे दी, और पूछा, "अब आगे क्या करें ? आपमें अभीतक प्रवास करने की शक्ति तो नहीं है हाँ, इतना ज़रूर है कि अभीतक अपने पर किसी का शक नहीं है ।"

शिवाजी का मन तो किसी दूसरी ही उधेड़-बुन में लगा हुआ था । वे शान्त स्वर से इतना ही बोले, "तानाजी, चित्त को स्थिर रखो। संकटों का सामना करना तो अपना व्रत ही है । श्रीभवानी माता की जो इच्छा होगी वह होगा ही । घबड़ाना मत ।" फिर वे विचार-मग्न हो गये ।

तानाजी कुछ देर चुप बैठा रहा । फिर उसने कहा, "महाराज ! आपकी आज्ञा शिरोधार्य है, तो भी शायद चुप बैठे रहना घातक हो जायगा । इसलिए मैं एक काम करता हूँ । जिस भील-लड़के की रक्षा करने में आपके ऊपर

इस स्थान पर रहने की आपत्ति आ गई है, उसका बाप पास ही के जंगल में रहता है। वह बहुतसे भीलों का नायक है। उसकी सहायता आपको जरूर मिलेगी। उससे मिले लेता हूँ। कुछ कठिन प्रसंग आ ही गया, तो उसे सावधान कर रखना उचित होगा।"

मालूम नहीं शिवाजी का लक्ष्य इस समय किधर था, क्योंकि वे कुछ भी नहीं बोले। तानाजी उनकी स्तब्धता को अनुमति समझ कर अपने नियोजित कार्य के लिए चला गया।

उसके जाने के कुछ काल पश्चात् शिवाजी का विचार कुछ पक्का हो गया सा जान पड़ा। वे उठ बैठे और बोले, "हाँ, ऐसाही करना उचित होगा। यही मेरा धर्म है—यही मेरा व्रत है।"

कुछ समय उपरान्त वह ब्राह्मण बाहर से आया। उसके आते ही शिवाजी ने उससे क़लम-दावात और काग़ज़ की याचना की। उसने आश्चर्य करते हुए वे चीजें उन्हें ला दीं। शिवाजी पत्र लिखने बैठ गये। ब्राह्मण कुछ दूर पर खड़ा रहकर उनकी कार्रवाई देखने लगा। अभीतक उसे उनपर कुछ भी शक नहीं हुआ था।

शिवाजी ने पत्र लिखते लिखते बीच में ही उससे पूछा, "भूदेव! क्या मेरा एक काम आप कीजिएगा?"

"हाँ! क्यों नहीं? मेरी शक्ति में हो तो—"

"देहली के शहर-कोतवाल मीरबख़्श साहब यहाँ आगये हैं ऐसा मैंने अभी अभी सुना है। उनसे मेरा दोस्ती है। उन्हीं को मैं यह चिट्ठी लिख रहा हूँ। आप कृपया यह उनके पास पहुँचा देंगे, तो मुझपर आपका बड़ा उपकार होगा।"

ब्राह्मण ने उत्तर दिया, "यह तो बड़ी सादी बात है। पत्र लिखकर दे दीजिएगा। मैं अभी दे आऊँगा।"

शिवाजी ने हँसकर 'आप की कृपा' कह पत्र लिखा। पत्र में कुछ विशेष मजमून नहीं था। वह शीघ्र समाप्त होगया।

उसे अच्छी तरह लपेट कर शिवाजी ने उसे ब्राह्मण के हाथ में दे दिया और कहा, "मीर-बख़्शजी मेरे बड़े दोस्त हैं। मेरा पत्र देखते ही वे प्रसन्न होंगे, और आपका सत्कार करेंगे। वे बड़े उदार हैं, शायद वे आपको कुछ धन वग़ैरह भी देंगे। घबड़ाइएगा नहीं। उस धन को सहर्ष स्वीकार कीजिएगा। फिर वह मुझसे मिलने की इच्छा करेंगे, उनको यहाँ लेते आइएगा। अच्छा, अब जाइए।"

कपड़े पहनकर ब्राह्मण आश्चर्य करते हुए घर के बाहर हो गया। उसने स्वगत कहा, "मैंने पहले से ही जान लिया था कि यह कोई बड़ा आदमी है।" बेचारे ब्राह्मण के ध्यान में यह बिलकुल न आया कि वह शिवाजी होगा। कैसे आता? उसने न तो कभी उस महापुरुष का दर्शन किया था और न कभी कल्पना ही की थी कि प्रसंगवशात् शिवाजी आकर ठहरेंगे। जो उसे यह मालूम हो जाता, तो क्या वह पत्र पहुँचा देने का कार्य स्वीकार करता? कभी नहीं।

पाठक, शिवाजी ने उस पत्र में क्या लिखा होगा ? क्या आपको कुछ कल्पना आती है ? उस महापुरुष ने अपने उपकार-कर्ता ब्राह्मण का दारिद्रय दूर करने के लिए, उसके उपकारों से उऋण होने के लिए अपनी जान फिर धोखे में डाल दी थी। उस पत्र में उन्होंने अपना अस्तित्व बतला दिया था।

\+ + +

पत्र देखते ही मीरबख्श खुशी के मारे फूल गया। उसने बार बार पत्र पढ़ कर उस ब्राह्मण को 'क्या यह पत्र देनेवाला तुम्हारे घर है ?" ऐसा प्रश्न पुनः पुनः करके तंग किया। ब्राह्मण को पाँच सहस्र अशर्फियाँ मिल गईं। आश्चर्य से उसके होश हवा हो गए!

फिर मीरबख्श ने उससे कहा, "चलो पण्डतजी! तुम्हारे घर चलो। अशर्फियों का यह बोझा हम तुम्हारे घर पहुँचा देते हैं, चलो।" ऐसा कह वह अपने पचास साथी लेकर ब्राह्मण के घर की तरफ चला।

बेचारा ग़रीब ब्राह्मण! यह सारी बात उसे स्वप्न सी मालूम पड़ती थी।

\+ + +

शिवाजी फिर से गिरफ्तार हो गये! तब उस परोपकार-रत ब्राह्मण को सब भेद खुल गया। वह चौंक पड़ा। बड़ा ही दुःखित हुआ। पकड़े हुए शिवाजी के पैरों-तले पड़ कर वह गिड़गिड़ाते हुए बोला, 'शिवाजी!—शिवाजी!! यह तुमने क्या अत्याचार किया! भूपते! क्रियमाण सनातन धर्म को सिर्फ़ एक तुम्हारा ही आधार था! तुमने जान बूझ कर यह संकट अपने ऊपर क्यों बुला लिया ? मैं दीन-हीन ब्राह्मण हूँ। तुम्हें कैसे छुड़ाऊँ ? क्या करूँ ? शिवाजी! शिवाजी!' फिर उनके पैर पकड़ कर ब्राह्मण रोने लगा। फिर बोला, "शिवाजी! परमेश्वर मुझे क्या कहेगा! धर्म मुझे क्या कहेगा ? लोग क्या कहेंगे ? कहेंगे कि इस बदमाश ने द्रव्य के लोभ से शिवाजी के साथ विश्वास-घात किया—स्वराज्य के पौधे पर आग रख दी। महाराज! मेरे हाथों तुमने यह पाप क्यों करवाया ? हे भगवन्, इसका प्रायश्चित्त क्या होगा ? (मीरबख्श के तरफ देख कर) मीरबख्श, तुम अपना वह धन ले जाओ, और कृपा कर हमारे प्राण-दाता को छोड़ कर—तुम नहीं छोड़ोगे! अच्छा, तो एक बात करो। जिस हाथ ने वह दुष्ट पत्र तुम्हें लाकर दिया—उसे तोड़ डालो! मीरबख्श! इस हाथ को तोड़ डालो! हा हन्त! हा हन्त!" ऐसा कहते कहते उसने अपने दोनों हाथ आगे बढ़ाकर चिल्ला कर कहा, "अरे भाई! कोई कृपा करके यह मेरे हाथ तोड़ डालो! मैं अधम हूँ! मुझे मार डालो! मैंने कुछ भी विचार नहीं किया! मारो, हे देश-भक्तो! हे सनातन धर्म बंधुओ! इस चाण्डाल को मार डालो!" बोलते बोलते ब्राह्मण उन्मत्त हो गया और बेहोश होकर गिर पड़ा।

शिवाजी को इससे बड़ा दुःख हुआ। पर अब करना ही क्या था। उन्होंने पास खड़े हुए गाँववालों से उस ब्राह्मण की रक्षा करने के लिए करुण शब्दों में प्रार्थना की, और स्वयं अपने शत्रुओं के साथ हो गये।

\+ + +

शिवाजी संकट में पड़ गये, पर माता भवानी ने उनकी रक्षा का भार अपने माथे ले लिया था। अभीतक स्वराज्य का कार्य बाक़ी था न ?

उसी रात को मीरबख्श शिवाजी को लेकर देहली चल निकला। पर अपने नूतन भील-मित्रों सहित तानाजी उसकी बाट जोह ही रहे थे।

फिर शिवाजी संकट-मुक्त हो गये। भीलों ने उनको महाराष्ट्र में पहुँचा देने का कार्य हर्ष से मान्य किया था। उनकी सहायता से वे बेखटके स्वदेश पहुँच गये।

पर पाठक ! ऐसा न समझिए कि वे अपने आश्रयदाता ब्राह्मण को भूल गये। नहीं, वे उसे भी अपने साथ ले गये !

वीर पुरुषों का असि-धारा-व्रत ऐसा ही होता है और उसका पालन करते हुए वे यह नहीं सोचते कि अपना क्या होगा।

विविध विषय।

(१) श्रीयुत राघवेन्द्रराव का भाषण।

हिन्दी मध्यप्रान्त की प्रथम राजनैतिक परिषद् ने जिस सज्जन को सभापति चुनकर अपने को गौरवान्वित किया वे बिलासपुर के सुप्रसिद्ध बैरिस्टर श्रीयुत राघवेन्द्रराव हैं। कौंसिल में जाने का विचार त्याग कर तथा बैरिस्टरी को तिलांजलि दे आपने कठिन समय में भारतीय राष्ट्रीयता का साथ दिया है। मि० राव वयोवृद्ध नहीं हैं; परन्तु उन्हें ज्ञान-वृद्ध कहने में कोई न हिचकेगा। विद्वत्ता आपके भाषण से स्पष्ट झलकती है। आप राजनीतिशास्त्र और संसार की वर्तमान राजनैतिक परिस्थिति के विचारशील विद्यार्थी जान पड़ते हैं। शासनतंत्र को दो भागों में विभाजित कर आप उनकी व्याख्या करते हुए कहते हैं :—‘मानवजाति का शासन या तो लोक-सम्मति से चलता है, अथवा भौतिक-शक्ति से। जनता की जोरदार राय का मानना जो शासन-तंत्र अपना कर्तव्य समझता है, और उसे मानता है वह लोक-सम्मति पर चलता हुआ कहा जाता है; परन्तु जब लोकमत के अनुसार किए जानेवाले कार्यों को रोकने में सरकार अपनी सारी शक्ति लगा देती है, तब उसे भौतिक बल पर चलता समझना चाहिए।”

क्या ब्रिटिश साम्राज्य लोकमत पर चल रहा है ? श्रीयुत राव इसका उत्तर यों देते हैं:—“केवल भारतवर्ष में ही नहीं, बल्कि इंगलैण्ड के सभी मातहत देशों में, जहाँ जहाँ अंग्रेजी जाति का झण्डा फहरा रहा है इस राज्य का नैतिक प्रभाव सर्वथा नष्ट हो चुका है। साम्राज्य में कहीं भी उसके प्रति प्रेम नहीं दिखलाई पड़ता। साधारण जन-समाज का भी, जो सदा कायदों के अनुसार चला करता है, इस राज्य पर से विश्वास उठ गया है। जो शासन अपने अस्तित्व के लिए समस्त भौतिक शक्तियों का उपयोग करता है और लोगों के देश-भक्ति पूर्ण संग्रामों को कुचलता है, उसे पाशविक और निरंकुश शासन के अतिरिक्त और क्या कह सकते हैं ?”

भारत के वर्तमान शासन के इतने बुरे होने पर भी यदि उसका अन्त नहीं हो रहा है, तो उसका कारण वे मुट्ठी भर लोग हैं जो स्वार्थ के भावों से प्रेरित होकर उसकी रक्षा में लगे हैं। श्रीयुत राव, ऐसे लोगों को तीन भागों में विभाजित करते हैं। सर्वप्रथम वे लोग हैं, जिनके स्वार्थ ब्रिटिश सरकार के स्वार्थों से अभिन्न हैं। समाज के

वर्तमान संगठन में किसी प्रकार के परिवर्तन होते ही, उनके स्वार्थों का समूल नाश हो जावेगा। ऐसे लोग उस समय तक वर्तमान सरकार का साथ देते रहेंगे, जबतक वह उनके इन स्वार्थों की रक्षा कर सकेगी। दूसरे विभागों में वे लोग आते हैं जो ब्रिटिश सरकार को सात्विक और देश की वर्तमान अवस्था में उसका यहाँ क़ायम रहना आवश्यक समझते हैं। इन्हें अपने देश और जाति की शक्तियों पर विश्वास नहीं है। सरकार इनके इस अविश्वास और देश-भक्ति के भावों से लाभ उठा कर उन्हें अपनी मुट्ठी में किए है। सब से पिछले के विभाग में एक ऐसा समाज है जो देश की वर्तमान स्थिति से लाभ उठा कर अपने लिए राजनैतिक शक्ति प्राप्त करना चाहता है; और जिसे विश्वास है कि इसी के द्वारा जातीय अभ्युदय होगा। इन लोगों के पास नैतिक सिद्धान्त नहीं हैं। ये ऐसे किसी भी शासन के अधीन रहेंगे, जो इन्हें वश में रखने के लिए काफ़ी शक्तिमान होंगे। उपरोक्त तीन प्रकार के लोगों को छोड़कर सारी जाति का विश्वास वर्तमान सर्कार पर से उठ गया है, और यदि देश भर के लोगों के मत लिए जावें, तो वे उसके ख़िलाफ़ होंगे।

इस प्रकार देश के अन्य लोगों के साथ श्रीयुत राव का भी यह विचार है कि कुशासन के कारण वर्तमान ब्रिटिश शासन का भारत में अन्त हो जाना चाहिए। परन्तु इसके साथ ही साथ वे एक दूसरा भी कारण बताते हैं, जो अत्यन्त महत्व-पूर्ण है। वे उन लोगों की तीव्र आलोचना करते हैं जिनका विचार है कि ब्रिटिश साम्राज्य सृष्टि के अन्त तक इसी प्रकार स्थिर रहेगा। संसार में आजतक अनेक साम्राज्य संगठित हुए और काल-कवलित हो गए। यदि भूत-काल के आधार पर भविष्य के विषय में कुछ कहा जा सकता है, यदि इतिहास की गवाही ग़लत नहीं है, तो ब्रिटिश साम्राज्य को अमर मानकर भारत का भाग्य उसके दामन से सदा के लिए जोड़ देना भारी भूल है। मि० राव का कथन है—"मेरा विचार है कि भारत जिन बन्धनों -द्वारा इँग्लैण्ड से सम्बद्ध किया गया है उनमें कोई नैतिक अथवा राजनैतिक सजातीयता नहीं है, वे नितान्त अप्राकृतिक और बनावटी हैं। पृथ्वी के किसी भाग में होनेवाली एक साधारण घटना, साम्राज्य की राजधानी के विप्लव अथवा भूगोल की परिस्थिति का कोई भी परिवर्तन इन बन्धनों को शिथिल कर सकता है, और आश्चर्य नहीं कि हम एक दिन प्रातःकाल उठें और देखें कि हमारी इच्छा रहते हुए भी इँग-लैण्ड से हमारा सम्बन्ध टूट गया। यदि ऐसी दुर्घटना घटे, तो हमारी क्या दशा होगी?"

ब्रिटिश सरकार ने डेढ़ सौ वर्षों के शासन-काल में हमें आत्म-रक्षा के योग्य बनाना तो दूर रहा, और भी दुर्बल बना दिया है; अतएव भविष्य में वह हमें स्वावलम्बी बना देगी, इस पर विश्वास नहीं किया जा सकता। तब क्या किया जावे?

मि० राव का उत्तर यह है:—

"अतएव हम लोगों के लिए यह आवश्यक हो गया है कि वर्तमान शासन-व्यवस्था में इसी वक्त पूर्ण परिवर्तन कर दें, और तब अपने राष्ट्रीय इतिहास के आदर्शों और देश-बन्धुओं की मानसिक प्रवृत्ति के अनुसार अपनी राजनैतिक और सामाजिक संस्थाओं को सङ्गठित करने का काम हाथ में लें"।

कहने की आवश्यकता नहीं है कि इस सहसा परिवर्तन का उपयुक्त नाम क्रान्ति ही होगा। मि० राव चाहते तो क्रान्ति हैं; परन्तु उसके नाम से घबड़ाते हुए जान पड़ते हैं। वे कहते हैं:—"जो लोग हमारे विरुद्ध हैं उन्हें हमारा विचार क्रान्तिकारी जान पड़ता है।" क्रान्तिकारी जान ही नहीं पड़ता, यह विचार क्रान्तिकारी है ही। देश अब-तक विकास (Evolution) के मार्ग पर चल कर जातीय अधोगति से निकलना चाहता था, परन्तु दवा के साथ ही साथ मर्ज़ भी बढ़ता गया। अब नेताओं को विश्वास होगया है कि राष्ट्र के अधोगति-रूपी फोड़े में बिना नश्तर लगाए काम नहीं चल सकता। यही क्रान्ति है। क्रान्ति शब्द का उपयोग हम—"अव्यवस्था और रक्त-पात" के अर्थ में नहीं कर रहे हैं। सहसा परिवर्तन को ही हम क्रान्ति कहते हैं। विकास-वादी लोग बार बार पूछते हैं कि क्या भारत विकास के मार्ग को छोड़ क्रान्ति-पथ का अनुसरण करेगा? राष्ट्रीय दल के लोगों को अब ज़ोरदार शब्दों में स्पष्ट उत्तर दे देना चाहिए कि वे क्रान्ति ही चाहते हैं।

अब प्रश्न यह होता है कि शासन-व्यवस्था को एक साथ परिवर्तित करने के लिए किन उपायों का अवलम्बन किया जावे? विगत दिसम्बर में होनेवाली भारतीय महासभा ने असहयोग-प्रस्ताव को स्वीकृत कर इस प्रश्न को हल कर दिया है।

असहयोग के विषय में श्रीयुत राघवेन्द्र-राव कहते हैं:—

"मज़बूत सैनिक बल के आधार पर चलने वाले एकतंत्रों के विरुद्ध पराधीन और असहाय राष्ट्रों के पास यदि कोई रामबाण और उचित उपाय है, तो वह यही (असहयोग) है राजनैतिक आन्दोलन के लिए यह ठीक शस्त्र है; क्योंकि हम हिन्दुस्थानियों की नीति-कल्पना से वह खूब मिलता-जुलता है। हमारे विचारों की दिशा हमारा इतिहास और हमारा राष्ट्रीय शील सब यही बतलाते हैं कि शत्रुओं पर शारीरिक बल के प्रयोग करने की अपेक्षा खुद कष्ट सहन करके उनपर विजय प्राप्त करें। जनता ने इस मार्ग का शीघ्रता से अवलम्बन करके हमें आश्चर्य-चकित कर दिया है। हमने जो कुछ सफलता पाई है, वह खुद को बधाई देने योग्य है"।

(२) बाबू गोविन्ददासजी का भाषण।

हिन्दुस्थानी मध्यप्रदेश की प्रथम राजनैतिक परिषद की स्वागत-कारिणी-समिति के सभापति बाबू गोविन्ददास जी के भाषण में सामयिकता के अतिरिक्त आगन्तुक महाशयों के प्रति भक्ति-भाव और राष्ट्रीयता की पूरी पूरी पुट थी। हम यहाँ उसके कुछ अवतरण नीचे देते हैं।

असहयोग आन्दोलन के विषय में आपने कहा, "असहयोग का प्रश्न केवल स्वराज्य का प्रश्न नहीं है। वह है भारतीय जाति और सभ्यता के जीवन-मरण का प्रश्न। असहयोग ने भाई भाई को गले लगा दिया है। आज श्रीयुत चित्तरंजनदास और बंगाल के एक कंगाल और अशिक्षित किसान का वेष एक यही बात सूचित करता है कि जहाँ एक पर निरंकुशता का प्रहार होगा, वहाँ दूसरा छाती खोलकर सामने आ जावेगा। आज पंडित मोतीलाल नेहरू के आनन्दभवन के द्वार पर खड़ा होकर संयुक्त-प्रांत का एक किसान अन्दर जाने की आज्ञा का मार्ग नहीं देखेगा। सुदामा का नाम सुनकर कृष्ण ने जितनी आतुरता दिखाई थी, उससे

कई गुनी अधिक आतुरता से स्वदेशी वस्त्र और गान्धी टोपी का नाम सुनकर नेहरूजी अपने बन्धु की कुशल पूछने के लिए उसकी ओर दौड़ेंगे"।

वर्तमान दमन-नीति के संबंध में आपने कहा, "जनता को इस दमन से भयभीत होने की आवश्यकता नहीं। मुक़द्दमा, मुचलके, जुर्माने, कारावास, देश-निष्कासन और सर्व-शक्तिमान् समझा जानेवाला मार्शल-ला भी उस जाति के पथ को अवरुद्ध नहीं कर सकता, जिसने शान्ति-पूर्ण साधनों से स्वतंत्रता प्राप्त करने का दृढ़ निश्चय कर लिया है। यदि हमारे आन्दोलन को कोई भय है, तो अपने ही हाथों से बहाये हुए रक्त से। सरकार यदि हमारे रक्त की नदियाँ भी बहा दे तोभी उसमें हम और हमारा आन्दोलन नहीं डूब सकता; परन्तु अपने हाथ से बहाये हुए एक चुल्लू रक्त में ही हम अपने को और अपने पवित्र आन्दोलन को डुबा सकते हैं।"

आगे चलकर विद्यार्थि-वर्ग को सम्बोधित करते हुए आपने कहा, "एक एक करके देश के सभी कार्य-कर्त्ता बलिवेदी पर चढ़ते जाते हैं। क्या हमारे विद्यार्थी चाहते हैं कि विदेश के लोग हम पर यह ताना मारें कि संख्या में तीस करोड़ रहने पर भी असहयोग सा सरल और शान्त किन्तु अचूक अस्त्र भारतवर्ष में कार्य-कर्त्ताओं की कमी के कारण निष्फल होगया? हमारा विद्यार्थि-समाज देश के जिन नेताओं पर असीम श्रद्धा रखता है, उनका देश-निष्कासन और कारावास होते देख उनसे 'गुलाम-खानों' में कैसे रहा जाता है, यह समझ में नहीं आता।

"इटली के प्रसिद्ध देश-भक्त महात्मा मैजिनी का यह दृढ़ विचार था कि यदि स्वतंत्रता जनता के लिए प्राप्त करनी है तो वह जनता के ही धन और बल के सहारे प्राप्त होनी चाहिए; क्योंकि ऐसा न होने से दूसरों के द्वारा प्राप्त कराई हुई स्वाधीनता का उपयोग जनता अधिक दिनों तक नहीं कर सकती। इस सिद्धान्त के अनुसार राष्ट्रीय कार्य के लिए कांग्रेस ने जो एक करोड़ रुपया माँगा है उसमें जनता के धन का भी पर्याप्त अंश रहना चाहिए। भिक्षा-नीति के हम सर्वथा विरुद्ध हैं। भिक्षा देनेवाले प्रायः सहानुभूति रखनेवाले होते हैं। जिसे वे भिक्षा देते हैं, उसके हितों और स्वयं उनके हितों में एकता नहीं होती। स्वराज्य की बात ऐसी नहीं है। जिस स्वराज्य के लिए हम लोग प्रयत्न-शील हैं वह तीस करोड़ जनता का होगा। इसलिए जनता को चाहिए कि यदि आवश्यकता पड़े तो वह आधा पेट खावे और फटे-पुराने कपड़े पहिने; परंतु अपने स्वराज्य में चंदा अवश्य दे। जब कि हम यह निश्चित रूप से जानते हैं कि भारतीय हमारे साथ हैं तो यदि हमें तीस करोड़ लोगों से एक करोड़ रुपया न मिले, तो हमारे संगठन ही का दोष है, न कि जनता का।"

(३) श्रीयुक्त सुन्दरलाल जी का भाषण।

मध्यप्रान्त और बरार की प्रान्तीय विद्यार्थि-परिषद् की प्रथम बैठक के सभापति का आसन प्रयाग से निकलनेवाले दैनिक 'भविष्य' के सम्पादक श्रीयुक्त सुन्दरलालजी ने ग्रहण किया था। परिषद् की प्रथम बैठक ही हो पाई थी कि १४ तारीख को श्रीयुत सुन्दरलालजी गिरफ़्तार कर लिए गए। सभापति की हैसियत से आपने विद्यार्थियों के सामने जो भाषण किया, वह उन के अटूट देश-प्रेम और वीर-हृदय के योग्य था। अबतक मध्यप्रान्त के विद्यार्थियों पर यह दोषा-

रोपण किया जाता रहा है कि उन्होंने संकट के समय देश का साथ नहीं दिया। श्रीयुत सुन्दरलाल जी ने असहयोगी विद्यार्थियों की संख्या को अपने अनुमान द्वारा बतला कर इस कथन का निराकरण करते हुए कहा कि मध्यप्रान्त के विद्यार्थी बंगाल को छोड़ शेष प्रान्तों के विद्यार्थियों से आगे हैं। यह मानते हुए कि मध्यप्रदेश के विद्यार्थियों ने अपने पूर्ण कर्तव्य का पालन नहीं किया, आप पूछते हैं कि देश की कौनसी श्रेणी है जिसने अपने कर्तव्य का यथोचित पालन किया है। आप कहते हैं कि यदि विद्यार्थी, वकील, व्यापारी और मुवाक्किलों में से किसी एक जमात के ९० की सदी लोग अपना कर्तव्य पूरा कर देते, तो दूसरों की सहायता के बिना ही स्वराज्य स्थापित हो जाता।

श्रीयुत सुन्दरलालजी को जनता की आहों की शक्ति और शुद्ध-हृदय रखनेवाले युवक और युवतियों के आदर्श-वाद पर दृढ़ विश्वास है। वे कहते हैं:—

"भारत के पुत्र और पुत्रियो, मानव-संसार के रक्त-मय और स्वार्थमय इतिहास में स्वतंत्रता, समता और न्याय के सच्चे पोषक केवल दो ही हैं। एक दुःखित जनता और दूसरा शुद्ध-हृदय युवक और युवती। जनता इस कारण कि मानव-जाति के अन्याय का वास्तविक भार सबसे अधिक इन्हीं के दबे हुए कन्धों पर पड़ता है और प्राकृतिक सभ्यता के झूठे अभिमान और उसके सूक्ष्म दोषों से ये बचे रहते हैं; युवक और युवतियाँ इसलिए कि सच्चा ईश्वरीय उत्साह वास्तव में इन्हीं के हृदयों में वास करता है और कर सकता है। ये दोनों ही दो मुख्य स्तम्भ हैं, जो संसार में स्वतंत्रता, समता और न्याय की छत को ज्यों त्यों कर सँभाले हुए हैं। यह दो ईश्वरीय परंद हैं जो स्वार्थों के भार से दबे हुए मानव-समाज को ज्यों त्यों कर सच्चे धार्मिक और ईश्वरीय जीवन की ओर उड़ाये लिए जा रहे हैं।"

जनता की शक्ति और विद्यार्थियों के उत्साह के बल पर श्रीयुत सुन्दरलालजी का विश्वास है कि महात्मा गांधी के कथनानुसार वर्ष भर में स्वराज्य प्राप्त हो जावेगा। आप कहते हैं कि यदि कोई इस विषय में मेरा विचार जानना चाहे तो देश की स्थिति को अच्छी तरह जानते हुए और स्वराज्य कायम करने वाली और उसका विरोध करने वाली दोनों तरह की शक्तियों को देखते और परखते हुए मेरी आत्मा में यह विश्वास अटल रूप से जमा है और हर दिन व हर घड़ी अधिकाधिक होता जा रहा है, कि पृथ्वी के फट कर दो टुकड़े हो जावें; सम्भव है, सूर्य बजाय पूर्व के पश्चिम से निकलने लगे; और बजाय पश्चिम के पूर्व में अस्त होने लगे. किन्तु असम्भव है कि आगामी दिसम्बर की अहमदाबाद कांग्रेस के पहिले पहल स्वराज्य, शुभ स्वराज्य व पूर्ण स्वराज्य इस भूमि में क़ायम न हो जावे।

(४) पण्डित लोचनप्रसादजी पाण्डेय का भाषण।

इस प्रांत के सुकवि तथा हिन्दी के अनन्य भक्त पं० लोचनप्रसाद जी पांडेय ने प्रांतीय साहित्य-सम्मेलन का पद गौरवान्वित किया। आपके भाषण में इस प्रान्त के शृंखला-बद्ध इतिहास का स्थान स्फुट बातों ने लिया और वे सभी बातें रोचक होने के साथ ही ज्ञातव्य थीं। साथ ही, उसमें गद्य के साथ

पद्य के अवतरणों का सुन्दर सम्मिश्रण था, और यह अल्प--संख्यक उपस्थिति के लिए जिसमें साहित्य-सेवियों की संख्या प्रधान थी आकर्षक था। पाण्डेय जी के भाषण में एक जो अति महत्त्वपूर्ण बात थी वह उच्च-साहित्य-निर्माण में संरक्षण-नीति की सुन्दर व्याख्या थी। आपने कहा "संरक्षण नीति का अर्थ यह है कि स्व-साहित्य की पुष्टि और वृद्धि के लिए योग्यतम साहित्य-सेवियों को अर्थ-सहायता देकर उनके स्वाधीन भावों की रक्षा करना। एक स्थायी कोष की प्रतिष्ठा करके उस कोष से कुछ ऐसे योग्य लेखक, अध्यापक, अनुवादक तथा समालोचकों को मासिक अर्थ-साहाय्य देना चाहिए जिससे उन्हें अन्न-चिंता सता न सके, और वे अनन्य-कर्मा होकर साहित्य-सेवा ही में जीवन अतिवाहित कर सकें। बिना इस प्रकार के उद्योग के उच्च साहित्य का निर्माण शीघ्रता से कदापि न हो सकेगा। जब बेचारे ग्रंथकार या लेखकों को अर्थोपार्जन की चिंता अस्थिर करती रहेगी तब वे भारत के इस मानसिक ह्रास के दिनों में साहित्य-सेवा में क्यों कर और कैसे समय लगाने में उत्साहित होंगे; अतः समाज का कर्तव्य है कि वह सुयोग्य लेखक और कवि-पण्डितों को अर्थाभाव के ताप से बचा कर उनकी विद्या-बुद्धि एवं योग्यता का लाभ उठावे।" इस कार्य को सम्पन्न करने के विचार से राष्ट्रीय-हिन्दी मन्दिर की स्थापना तथा बाबू गोकुलचन्द्र जी के ४०,०००) के दान का उल्लेख आपने किया।

इस प्रान्त के साहित्य का इतिहास उपलब्ध न हो यह बड़ी लज्जा और परिताप की बात है। सम्मेलन इस अभाव की पूर्ति के लिए प्रयत्न कर अवश्य ही अपने कर्तव्य का पालन करेगा।

इस सम्मेलन में जो प्रस्ताव स्वीकृत हुए उन सबमें सबसे अधिक महत्व का वह था जिस में कहा गया है कि इस प्रान्त के लेखक और कवि अपनी साहित्यिक शक्तियाँ ऐसे साहित्य का निर्माण करने में लगावें जो जीते-जागते वर्तमान समय की आवश्यकता की पूर्ति में, अर्थात् देश में जो राजनैतिक भावनाएँ प्रबलता से उठ रही हैं उनमें और उसके फल-स्वरूप स्वराज्य स्थापित करने में सहायक हो। हम इस अत्युपयोगी प्रस्ताव को कार्य-रूप में परिणत होते देखना चाहते हैं।

(५) पं० रघुवरप्रसादजी द्विवेदी का भाषण।

गत प्रान्तीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, जबलपुर, की स्वागतकारिणी सभा के सभापति रा० सा० पं० रघुवरप्रसाद द्विवेदी, बी० ए० ने अपने भाषण में राष्ट्र-निर्म्माण में साहित्य का भाग बतलाते हुए जो विचार प्रकट किये थे वे महत्वपूर्ण हैं। आपने यूरोप के इतिहास का दिग्दर्शन करते हुए बतलाया कि—"साहित्य की उन्नति तथा उसकी निस्पृह भक्ति ने ही यूरोपखण्ड में वह जागृति उत्पन्न कर दी जिसके कारण उस देश के धर्म्म, समाज, राजनीति आदि का काया-पलट हो गया। क्या कोई अब भी यह कहेगा कि राष्ट्र-निर्म्माण का प्रबल साधन साहित्य-निर्म्माण नहीं है? मैं तो यही समझता हूँ कि सब प्रकार की उन्नति का मूल साधन प्रत्येक देश के साहित्य का आविर्भाव और उसकी क्रमशः उन्नति ही है। जिस देश में साहित्य ही नहीं है अथवा अत्यन्त हीन दशा में



प्रथम हिन्दुस्थानी मध्यप्रदेश राजनैतिक परिषद्के सभापति

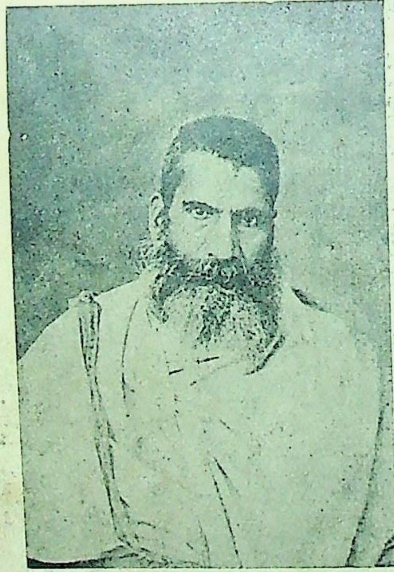
श्रीयुक्त राघवेन्द्रराव।





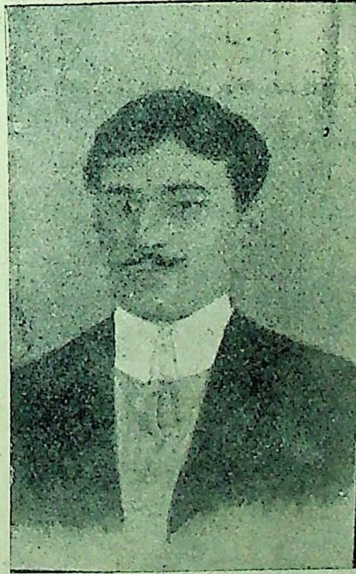
चतुर्थ मध्यप्रान्तीय हिन्दी–साहित्य–सम्मेलनके सभापति

पण्डित लोचनप्रसादजी पाण्डेय।



राष्ट्रीय हिन्दी—मन्दिरके
प्रथम वार्षिकोत्सवके सभापति
स्वामी श्रद्धानन्दजी।





प्रथम मध्यप्रान्तीय खिलाफत
कान्फरेंसके सभापति
डाक्टर सईफुद्दीन किचलू।

Lakshmi Art, Bombay, No. 8

है उस देश का सर्वांग उत्थान वन्ध्या-सुत के अस्तित्व के समान निरी कल्पना है ।"

आगे चल कर आपने बतलाया कि हमारा राष्ट्रीय साहित्य कैसा होना चाहिए । "हमारा जो राष्ट्रीय साहित्य हमारी राष्ट्र-भाषा में लिखा जाय वह दोनों जातियों को एकसा ग्राह्य हो । यदि हमारी मातृ-भाषा में मुसलमानोपयोगी ग्रंथ न लिखे जायँगे और मुसलमान-इतिहास के साथ सहानुभूति प्रकट करते हुए नाटक, उपन्यास, काव्यादि की रचना न की जायगी और इसी तरह पारसियों तथा ख्रीष्टियों के लिए सुपठनीय ग्रंथ हिन्दी में न रचे जायँगे तो अभीष्ट राष्ट्रीय साहित्य की उत्पत्ति कैसे होगी ? साथ ही इन ग्रंथों में यदि अरबी, फारसी आदि भाषाओं से प्राप्त हुए प्रचलित शब्दों का बहिष्कार किया जायगा, जैसा कि कई हिन्दी-सुलेखक करते हैं तो इन भ्राताओं के लिए हमारी भाषा बहुत कठिन हो जायगी जिससे वे उसे स्वीकार करने में आनाकानी करें तो आश्चर्य ही क्या ? इन सब प्रश्नों को अपने सन्मुख देखकर आप जान सकते हैं कि राष्ट्रीय साहित्य एवं राष्ट्र-भाषा का प्रश्न कितना जटिल है जो दो-तीन दिन के सम्मेलनों में अनेक प्रस्ताव स्वीकृत हो जाने से हल नहीं होने का।" बात बहुत ठीक है ।

फिर आपने हिन्दी के अभाव का दिग्दर्शन कराया और दूसरी उन्नति-शील भाषाओं से अनुवाद करके मातृ-भाषा के साहित्य को पुष्ट करने की उपयोगिता प्रदर्शित की । आपने हिन्दी-सेवियों और देश-भक्तों की उदासीनता भी दिखाई कि वे हिन्दी को माध्यम बनाने में तथा रजवाड़ों में उसका प्रचार न कराने में कितनी उदासीनता दिखा रहे हैं। आपने अंग्रेज़ी की आवश्यकता बतलाते हुए अपनी यह सम्मति प्रकट की कि—

"यदि हम अपने देश को एक शक्तिशाली राष्ट्र बना कर अन्यान्य शक्तिशाली राष्ट्रों की पंक्ति में बैठाना चाहते हैं तो हमें अंग्रेज़ी भाषा में जो आज दिन संसार की सबसे अधिक ज्ञात भाषा बन रही है उसका बहिष्कार करना मानो अन्य सब राष्ट्रों से अपना सम्बन्ध तोड़ देना है ।"

अन्त में आपने यह कहते हुए अपना वक्तव्य समाप्त किया कि हमें किसी बात पर मत-भेद हो जाने से अपनी मातृ-भाषा की सेवा से मुख नहीं मोड़ना चाहिए तथा स्वराज्य को ध्येय मानकर सच्चे राष्ट्रीय साहित्य का निर्म्माण करना चाहिए ।

(६) मध्यप्रदेश में दमन-चक्र के सुदर्शन ।

लार्ड चेम्सफोर्ड के प्रस्थान तथा लार्ड रीडिंग के पदार्पण करते ही नौकरशाही का अमोघ ब्रह्मास्त्र जो दमन-नीति के नाम से अधिक प्रसिद्ध है छोड़ दिया गया । प्रत्येक प्रान्त में उसकी छाया पड़ रही है—कहीं कम और कहीं अधिक । संयुक्तप्रान्त में किसानों के लिए जो परचा लिखने के लिए श्रीयुत मोतीलाल जी नेहरू का कुछ नहीं किया गया उसी को बाँटने के लिए बेचारे बालक अपराधी समझे जाकर जेल में ठूँस दिये गये हैं । न्याय और नीति का यह छोटा सा निदर्शन है । ब्रिटिश न्याय का स्वरूप यह दिखता है कि दुर्बल व्यक्ति का जो कृत्य दण्डनीय समझा जा सकता है उसी के लिए बली व्यक्ति की ओर अँगुली तक नहीं उठाई जा सकती ।

मध्यप्रदेश में यह दमन-चक्र अधिक क्रूरता के साथ चलाया जा रहा है । यहाँ के नेता जेल को पवित्र करने के लिए चुन चुन कर भेजे जा रहे हैं । श्रीयुत भगवानदीन जी तथा सेठ अ...

लाल जी सेठी की आवाज़ आज कारावास की नीरवता में परिवर्तित हो रही है; डाक्टर चोलकर आदि पर मुकदमा चल रहा है; पर इस मुकदमे के अभिनय का परिणाम क्या होगा इसे लोग अच्छी तरह जानते हैं । अब प्रयाग-निवासी श्रीयुत सुन्दरलाल जी एक वर्ष के लिए कारा-वास में भेज दिये गये । जिस समय वे गिरफ्तार किये गये थे उस समय मालूम हो गया था कि वे जेल जाँयगे और तबतक के लिए जायँगे जबतक कि देश में स्वराज्य स्थापित न हो जायगा । श्रीयुत सुन्दरलालजी पर जो अभियोग लगाया गया वह ऐसा है जो आजकल देश के प्रायः प्रत्येक मनुष्य पर लगाया जा सकता है, और वह, चार्ज-शीट के अनुसार, यही है कि " आपने ऐसा व्याख्यान दिया है जिसका सारांश यह है कि भारतवर्ष का ब्रिटिश शासन भारत की धन-सम्पत्ति को चूसने और उसे दरिद्र और असहाय बनाने के लिए किया जा रहा है, देश में जो अकाल आदि पड़ते हैं, उद्योग-धंधे नष्ट हो रहे हैं तथा अन्य जो आपत्तियाँ आया करती हैं उन सबके लिए ब्रिटिश सरकार ही जिम्मेदार है, मुसलमानों को जो वचन दिये गये थे उन्हें सरकार ने भंग किया है, पंजाब में क्रूर से क्रूर अत्याचार किये गये हैं और लोगों का विश्वास सरकार पर से बिल्कुल उठ गया है । इस सब का उपाय यही है कि भारतवर्ष से ब्रिटिश शासन उठ जावे और यह कार्य हिंसा-रहित असहयोग के द्वारा सिद्ध किया जायगा ।" मतलब यह कि कि श्रीयुत सुन्दरलालजी ने यदि कोई अपराध किया है तो वह यही है कि वे हिंसा-रहित असहयोग का तत्व लोगों को समझाते थे, और यदि यह सचमुच कोई अपराध है तो सारा देश इसका दोषी है, और हम समझते हैं कि यदि सरकार मुक़दमे चलानेके अभिनयसे बचना चाहती है तो बहुत अच्छा होगा कि देश के चारों ओर एक मज़बूत दीवाल खींच दी जाय और समूचा देश कारागृह में परिणत कर दिया जाय । जिस प्रकार का जेल अभी दिया जा रहा है यदि उसका उद्देश यह है कि कुछ लोगों को जेल भेजने से शेष लोग डर जावेंगे, तो कहना चाहिए कि यह उद्देश बुरी तरह से असफल हो रहा है । जेल जाना भारत को स्वाधीन करने का मार्ग है, और जनता उस मार्ग का अनुसरण करने के लिए लालायित हो रही है । जिनके पास आँखें हैं वे देख रहे हैं कि जेल का मार्ग फूलों से बिछा हुआ है । उस मार्ग पर चलनेवालों के पीछे लोगों की प्रसन्नता की मुस्क्यान और सदिच्छाएँ दौड़ रही हैं । क्या सरकार इसपर से नहीं देख सकती कि जेल का भय अब कोई भय नहीं है और अब लोग देश की स्वाधीनता प्राप्त करने के लिए आत्म-बलि-दान तक करने को तैयार हैं ? आज जनता में स्वतंत्रता की जो भावनाएँ उठ रही हैं उनकी प्रबलता प्रत्येक विरोधी प्रयत्न को विफल कर रही है ।

श्रीयुत सुन्दरलालजी का जीवन देश के लिए आत्म-बलिदान का जीवन है जो कि उनकी पिछली सेवाओं से स्पष्ट है । "कर्मयोगी" और "भविष्य" का प्रकाशन कर उन्होंने कौन से कष्ट नहीं भोगे हैं ? इस समय वे असहयोग-आन्दो-लन के लिए मध्यप्रदेश में अत्यंत महत्वपूर्ण काम कर रहे थे कि उनपर दमन-चक्र की छाया पड़ी । अदालत से पूछे जाने पर कि "क्या आपने वह भाषण दिया था ?" उन्होंने कहा—"मुझे केवल

एकही बात कहनी है जिसके बाद आपको कुछ पूछने की आवश्यकता न पड़ेगी। मैंने जो कुछ किया वह सच्चे इरादे से किया, मैंने जो कुछ कहा मेरा विश्वास है कि वह ठीक और मेरे देश के लिए अत्यन्त फ़ायदेमन्द है। मैंने अपना कर्त्तव्य किया और मेरी आत्मा साफ़ है। इस मुकदमे के बारे में मैं अनुभव करता हूँ कि वर्तमान सरकार के साथ हिंसा-रहित असहयोग का सिद्धान्त जो मेरे लिए धार्मिक विश्वास के समान पूर्णरूप से पवित्र है मुझे इस अदालत के सामने अपना बचाव पेश करने और मुक़द्दमे की पैरवी में किसी अन्य प्रकार की सहायता देने से रोकता है। इसलिए मुझे और कुछ नहीं कहना है और मुझे अपने देश तथा अपने विश्वास के के लिए चाहे जितने कष्ट सहने पड़ें उसमें मैं अपना सम्मान और गौरव समझूँगा।" इस प्रकार अदालत का काम और भी सुगम हो गया। अच्छा तो यह हो कि सरकार मुकद्दमे चलाने में अपनी शक्ति और समय व्यय न करके दूसरा कोई काम करे। यदि मुक़द्दमे चलाने की सफ़ाई देकर सरकार जनता का विश्वास अपने प्रति आकर्षित करने की आशा रखती है, तो वह केवल दुराशा है।

(७) अंग्रेज़-हृदय को धक्का पहुँचने की क्षति-पूर्ति।

एक स्वाधीन जाति के किसी मनुष्य के हृदय को केवल धक्का पहुँचने से उसकी कितनी हानि होती है यह आपको पञ्जाब के उस उदाहरण से मालूम हो जायगा जो हाल में वाइसराय की घोषणा से प्रकट हुआ है। पञ्जाब के उन यूरोपीय व्यक्तियों को क्षति-पूर्ति दी गई है जिन्हें पञ्जाब के हत्याकाण्ड के समय शारीरिक अथवा मानसिक किसी भी प्रकार का धक्का पहुँचा है। पञ्जाब के 'ट्रिब्यून' ने कुछ उदाहरण दिये हैं जो पढ़ने लायक़ हैं:---

मि० टॉमिंसन की विधवा को १,३५,०००) रुपये और मि० स्टूअर्ट की विधवा को तीन लाख रुपये दिये गये हैं। लेफ़्टनेण्ट बूटन की पत्नी को ७५,०००) रुपये दिये गये हैं और वे केवल इसलिए कि लेफ़्टनेण्ट बूटन के हत्याकाण्ड का समाचार सुनकर, धक्का पहुँचने से, हो गई; यद्यपि इस बात के प्रमाण मिल चुके हैं कि लेफ़्टनेंट साहब १० अप्रैल को अमृतसर में जूड़ी बुखार से सख़्त बीमार थे। मिस शीयरवुड को ५०,०००) रुपये इसलिए दिये गये हैं कि उन्होंने अपना कोई भी अधिकार पाने के लिए अस्वीकार करना ठीक न समझा। मिसेज़ ईसडन को भी २०,०००) रुपये दिये गये हैं। यद्यपि इन महिला महाशया को कोई भी चोट नहीं पहुँची तोभी क्षति-पूर्ति इसलिए दी गई कि ये हिन्दुस्थानी वेष धारण करके छिपकर भाग निकलीं और गड़बड़ मचाने वाले इन्हें पकड़ने में असफल हुए।

अंग्रेजी न्याय और बुद्धिमत्ता का यह उदाहरण है। इसपर टीका करना निरर्थक है।

राष्ट्रीय हिन्दी-मन्दिर का प्रथम वार्षिकोत्सव।

राष्ट्रीय हिन्दी-मन्दिर का प्रथम वार्षिकोत्सव ११ मई की शाम को ७½ बजे प्रारम्भ हुआ नगर तथा प्रान्त के अनेक गण्य-मान्य सज्जन

उपस्थित थे। मंगलाचरण और स्वागत-गायनों के पश्चात्, स्वागत-कारिणी-समिति के सभापति श्रीयुत ब्यौहार रघुवीरसिंह जी ने अपना भाषण पढ़ा जिसमें उन्होंने स्वर्गीय पं० विष्णुदत्तजी शुक्ल की मृत्यु पर शोक प्रकाशित किया और आगत सज्जनों का स्वागत किया।

पश्चात् रायसाहब पं० रघुवरप्रसादजी द्विवेदी के प्रस्ताव, पंडित रविशंकरजी शुक्ल के अनुमोदन तथा पं० मनोहरकृष्ण गोलवलकर के समर्थन पर हरिद्वार-निवासी प्रसिद्ध देशभक्त स्वामी श्रद्धानन्द जी ने, करतल-ध्वनि के बीच, सभापति का आसन ग्रहण किया।

इसके अनन्तर पं० माधवरावजी सप्रे ने राष्ट्रीय हिन्दी-मन्दिर का वार्षिक विवरण पढ़कर सुनाया जिसका सारांश यह है कि स्थानीय शारदा-भवन-पुस्तकालय का सूत्रपात २२ मार्च, १९१४ को हुआ। स्वर्गीय श्रीयुत पं० विष्णुदत्तजी शुक्ल बाबू गोविन्ददासजी प्रभृति की सहायता और कार्यशीलता से यह उत्तरोत्तर उन्नति करता गया। सन् १९२० के अप्रैल मास में शारदाभवन-पुस्तकालय सार्वजनिक कर दिया गया और राष्ट्रीय हिन्दी-मन्दिर की स्थापना महर्षि पं० मदनमोहनजी मालवीय के द्वारा की गई। असहयोग आन्दोलन के प्रारंभ हो जाने से देश की शक्तियाँ उस ओर लग गईं और राष्ट्रीय हिन्दी-मन्दिर का कार्य जैसा चाहिए था वैसा न हो सका। राष्ट्रीय हिन्दी-मन्दिर ने इस आन्दोलन में अपना भाग लेना उचित समझा और इसके अनुसार राष्ट्रीय शिक्षा के लिए उपयुक्त पाठ्य ग्रन्थ तथा राष्ट्रीय जाग्रति एवं राष्ट्रीय उत्थान में सहायक ग्रन्थों का निर्माण करना निश्चित किया। साथ ही मन्दिर की मुखपत्रिका "श्रीशारदा" में राजनैतिक विषयों का समावेश किया जाने लगा।

मन्दिर के पुस्तक-प्रकाशन-भाग में ४० ग्रन्थ आये और रवीन्द्र-दर्शन, कालिदास और मुहम्मद ये तीन ग्रन्थ इस वर्ष प्रकाशित हुए। इसके सिवा उल्लेखनीय बात यह हुई कि पं० मनोहरपंतजी गोलवलकर ने अपना बहुमूल्य पुस्तकालय राष्ट्रीय-हिन्दी-मन्दिर को दे दिया तथा पं० नर्म्मदाप्रसादजी मिश्र ने अपना समस्त जीवन मन्दिर की सेवा में अर्पित करने का निश्चय किया।

इसके अनन्तर स्वामी श्रद्धानन्दजी का भाषण आरम्भ हुआ। स्वामीजी ने श्रद्धेय शुक्लजी की मृत्यु पर शोक प्रकट करते हुए कहा कि देश की उन्नति का भार किसी एक पर नहीं है, प्रत्येक देश-वासी पर है। यह राष्ट्रीय हिन्दी-मन्दिर का उत्सव है; अतएव आपका पहला कर्तव्य यह है कि हिन्दी को राष्ट्रीय बनाइए। मेरे गुरु स्वामी दयानन्द सरस्वती गुजराती थे और महात्मा गांधी भी गुजराती हैं; पर इन दोनों की राय है कि हिन्दी ही राष्ट्र-भाषा हो सकती है। हमें वह साहित्य चाहिए जिससे हम अपने देश में प्राचीन आदर्श ला सकें एवं स्वतंत्रता देवी के दर्शन कर सकें। आजकल असहयोग आन्दोलन चल रहा है। असहयोग में असली युद्ध पूर्व और पश्चिम की सभ्यता का है। पश्चिमी सभ्यता भोग-प्रधान है और हमारी सभ्यता कहती है कि प्राणियों में मनुष्य और मनुष्यों में ब्राह्मण श्रेष्ठ है। जो व्यक्ति ज्ञान का उपार्जन और प्रकाशन करे और अपने लिए कुछ भी न बचा रखे वह ब्राह्मण है। ऐसे ही ब्राह्मण सत्-साहित्य का निर्माण करते थे और उनके चरणों पर राजा-महाराजा सिर झुकाते थे।

आपका साहित्य ऐसा हो कि वह अपनी प्राचीन सभ्यता लावे, आदर्श शिक्षक उत्पन्न करे। उसके कारण लोग ब्रह्मचर्य का पालन करें और चारों वर्ण अपने कर्त्तव्य पर दृढ़ रहें। आपका साहित्य स्वार्थ का जीवन न सिखावे।

आपका राष्ट्रीय हिन्दी-मन्दिर तभी सच्चा राष्ट्रीय होगा जब उसके कार्यकर्त्ता निःस्वार्थ हों। यदि इस संस्था के अन्दर माया-जाल में फँसनेवाले रहेंगे तो कुछ ठीक न होगा। सबको सच्चे सिपाही बनना होगा, माता को स्वतंत्र बनाना होगा।"

महिलाओं द्वारा गायन होने के पश्चात् दूसरे दिन के कार्य-क्रम की सूचना दी गई और प्रथम दिवस का कार्य समाप्त हुआ।

द्वितीय दिवस।

कार्यारम्भ लगभग ७½ बजे संध्या समय आरम्भ हुआ। महिलाओं ने मधुर स्वर में गायन किया। पश्चात् सभापति महोदय ने श्रीमान् पं० विष्णुदत्तजी शुक्ल की असामयिक मृत्यु का शोक-प्रस्ताव उपस्थित किया और उपस्थित जनता ने खड़े होकर उसका अनुमोदन किया।

राष्ट्रीय हिन्दी-मन्दिर के लिए द्रव्य देनेवाले सज्जनों को धन्यवाद देने का दूसरा प्रस्ताव भी सभापति महोदय ने उपस्थित किया और जनता ने करतल-ध्वनि से उसका अनुमोदन किया।

पश्चात् कुमारी लक्ष्मीबाई ने "प्राचीन भारत की स्त्रियाँ" शीर्षक अपना निबन्ध सुनाया और श्रीमती गायत्री देवी ने "हिन्दी-साहित्य में स्त्रियों का स्थान" इस विषय पर भाषण किया।

इसके बाद रायपुर-निवासी पं० रविशंकर जी शुक्ल ने यह प्रस्ताव किया कि राष्ट्रीय हिन्दी-मन्दिर हिन्दी के सुयोग्य लेखकों, ग्रन्थ-प्रकाशकों तथा अन्यान्य हिन्दी-प्रेमियों से प्रार्थना करता है कि वे राष्ट्रीय विद्यालयों के लिए पाठ्य ग्रन्थ तैयार करें। इसका अनुमोदन पं० माधवराव जी सप्रे ने तथा समर्थन पं० माखनलाल जी चतुर्वेदी ने ज़ोरदार शब्दों में किया। श्रीमती सुभद्रा कुमारी के द्वारा एक सरस कविता (जो इसी अंक के प्रथम पृष्ठ पर प्रकाशित है) पढ़ी जाने के पश्चात् स्वामी श्रद्धानन्दजी ने अपना अन्तिम भाषण किया। आपने असहयोग-आन्दोलन की उपयोगिता बतलाते हुए कहा कि असहयोग-कार्य-क्रम के जितने अंग हैं उनमेंसे सरकार के लिए सबसे भयानक सरकारी स्कूल और कालेज का बहिष्कार है। आजतक जितनी राष्ट्रीय शालाएँ स्थापित हुई हैं उन सबको सरकार ने थोड़ा सा धन देकर उनपर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया है। फल यह हुआ है कि हिन्दू-विश्व-विद्यालय सरीखी संस्था में भी हिन्दी को अभीतक उचित स्थान नहीं मिला। एक गुरुकुल ही ऐसा बच रहा जिसमें सरकार की दाल न गली।

आपका मध्यप्रान्त हिन्दी का केन्द्र-स्थल है। आपके यहाँ प्रतिशत ९७ मनुष्य हिन्दी-भाषा-भाषी हैं। यदि आप लोग हिन्दी प्रचार के पवित्र कार्य को अपने हाथ में इसी उत्साह से लिये रहेंगे तो मैं विश्वास दिलाता हूँ कि राष्ट्र-भाषा हिन्दी का साहित्य बहुत शीघ्र उन्नत होगा। यदि आप इस कार्य को दृढ़ता से उठायँगे तो मैं वचन देता हूँ कि मैं आपकी सेवा करने के लिए तैयार रहूँगा।

अन्त में, स्वामीजी ने राष्ट्रीय हिन्दी-मन्दिर के कार्य से संतोष प्रकट किया और भविष्य के लिए शुभाशीर्वाद दिया। 'स्वामी श्रद्धानन्द की जय', 'महात्मा गांधी की जय', 'राष्ट्रभाषा हिन्दी की जय' आदि जय-ध्वनि के बीच सभापति महोदय को फूल-मालाएँ पहनाई गईं और सभापति महोदय, आगन्तुक महाशय तथा उपस्थित सज्जनों को धन्यवाद दे राष्ट्रीय हिन्दी-मन्दिर का प्रथम वार्षिकोत्सव निर्विघ्न एवं सानन्द समाप्त हुआ।

हिन्दी-नाटक-प्रचारक-मित्र-मण्डल ने उत्सव के समय दो नाटकों का अभिनय करने का निश्चय किया था; किन्तु नाट्यशाला का प्रबन्ध न होने से वे नाटक उत्सव के समय न खेले जा सके। पश्चात् ता: १९ और २४ मई को पं० गणेशरामजी कृत "बेटे का बदला" और बंगला के नाटककार बाबू द्विजेन्द्रलालराय-कृत "चन्द्रगुप्त" नाटक का अभिनय सफलतापूर्वक किया गया।

स्थायी सभा।

स्थायी सभा की वार्षिक बैठक जो कोरम पूरा न होने से कल नहीं हो सकी थी आज गुरुवार ता: १२-५-२१ को निम्न लिखित सदस्यों की उपस्थिति में हुई :—

१. पं० रविशंकर जी शुक्ल, रायपुर।
२. पं० शंकरगोविन्द टिमरनीकर, बिलासपुर।
३. पं० रघुवरप्रसादजी द्विवेदी
४. बाबू श्यामसुन्दरजी भार्गव
५. बाबू कन्छेदीलालजी
६. बाबू तुलसीदासजी
७. श्रीयुत शंकररावजी पोहनकर
८. श्रीयुत लाला बैजनाथजी परमानन्द
९. श्रीयुत सिंघई प्रेमचन्द जी
१०. श्रीयुत नाथूरामजी
११. पं० शालग्रामजी द्विवेदी
१२. पं० नर्म्मदाप्रसादजी मिश्र

१. पं० नर्म्मदाप्रसादजी मिश्र के प्रस्ताव, बाबू श्यामसुन्दरजी भार्गव के अनुमोदन तथा बाबू तुलसीदास जी के समर्थन से पंडित रविशंकरजी शुक्ल ने सभापति का आसन ग्रहण किया।

२. स्थायी सभापति श्रीमान् बाबू गोविन्ददासजी द्वारा लिखित वार्षिक विवरण सर्व-सम्मति से स्वीकृत किया गया।

३. आय-व्यय-परीक्षक द्वारा जाँचा गया गत वर्ष के आय-व्यय का लेखा उपस्थित किया गया और सर्व-सम्मति से स्वीकृत हुआ।

४. स्थायी सभा के निम्न लिखित पदाधिकारी निर्वाचित हुए :—

सभापति—श्रीमान् बाबू गोविन्ददासजी
प्रस्तावक—पं० नर्म्मदाप्रसादजी मिश्र
अनुमोदक—श्री० पोहनकरजी

उप-सभापति—पं० रविशंकरजी शुक्ल
प्रस्तावक—श्री० पोहनकरजी
अनुमोदक—बाबू श्यामसुन्दर जी भार्गव

मंत्री—पं० नर्म्मदाप्रसाद जी मिश्र
प्रस्तावक—बाबू तुलसीदासजी
अनुमोदक—श्री सिंघई प्रेमचन्द जी

उपमंत्री—पं० माधवरावजी सप्रे
प्रस्तावक—पं० शालग्रामजी द्विवेदी
अनुमोदक—श्री० टिमरनीकरजी

५. प्रबंध-समिति के लिए निम्न लिखित पदाधिकारी चुने गये—

सभापति—बाबू गोविन्ददासजी
प्रस्तावक—पं० रविशंकरजी शुक्ल
अनुमोदक—पं० शालग्रामजी द्विवेदी

उपसभापति—पं० मनोहरकृष्ण गोलवलकर
प्रस्तावक—पं० नर्म्मदाप्रसादजी मिश्र
अनुमोदक—बाबू तुलसीदास जी

मंत्री—पं० नर्म्मदाप्रसाद जी मिश्र
प्रस्तावक—पं० रविशंकर जी शुक्ल
अनुमोदक—श्रीयुत टिमरनीकरजी

उपमंत्री—पं० माधवरावजी सप्रे
प्रस्तावक—पं० नर्म्मदाप्रसादजी मिश्र
अनुमोदक—श्रीयुत सिंघई प्रेमचन्दजी

सदस्य १. बाबू रामचन्द्र जी संघी
प्रस्तावक—लाला बैजनाथ परमानन्द जी
अनुमोदक—पं० शालग्राम जी द्विवेदी

२. बाबू तुलसीदास जी
प्रस्तावक—लाला बैजनाथ परमानन्द जी
अनुमोदक—श्री० पोहनकर जी

३. बाबू मोतीलाल जैन सराफ़
प्रस्तावक—श्री० सिंघई प्रेमचन्द्र जी
अनुमोदक—बाबू तुलसीदास जी

६. सम्वत् १९७८ के लिए ६०,१००) के आय-व्यय का चिट्ठा जो बोर्ड ऑव् ट्रस्टीज़ की १६-३-२१ की बैठक में सर्व-सम्मति से स्वीकृत हो चुका था उपस्थित किया गया और सर्व सम्मति से स्वीकृत हुआ; परन्तु इस बात पर विशेष ज़ोर दिया गया कि जिस प्रकार आमदनी होती जाय उसी प्रकार ख़र्च किया जाय।

७. १३ सज्जनों के आवेदन-पत्र उपस्थित किये गये और निश्चय हुआ कि वे सदस्य बना लिए जाँय।

८. सभापतिजी को धन्यवाद देकर सभा विसार्जितहुई

नर्म्मदाप्रसाद मिश्र, मंत्री।

रविशंकरशुक्ल, सभापति।

पुस्तकादि-परिचय।

१. राष्ट्रभाषा—लेखक, "एक भारतीय हृदय"; प्रकाशक, हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग; पृष्ठ-संख्या १६४, मूल्य ॥)

हिन्दी ही राष्ट्रभाषा का पद ग्रहण कर सकती है—इस विषय पर देशी तथा विदेशी एवं हिन्दू तथा अ-हिन्दू महानुभावों द्वारा प्रकट किये गये विचारों का संग्रह इस पुस्तक में किया गया है। जो सज्जन हिन्दी को उक्त पद के योग्य मानने में आनाकानी करते हैं वे इसे पढ़कर अपना भ्रम तिरोहित कर सकते हैं। पुस्तक-लेखक की आज्ञा है "जो महानुभाव इस क्षुद्र पुस्तक की आलोचना करने की कृपा करें वे इसकी छपाई, काग़ज़, आकार और पृष्ठ-संख्या इत्यादि लिखकर व्यर्थ ही समय नष्ट न करें। यदि वे इस पुस्तक को उपयोगी समझते हैं, तो उनका कर्त्तव्य है कि वे "राष्ट्रभाषा और राष्ट्रलिपि" के विषय पर लेख लिखें।" इसके उत्तर में हमारा निवेदन केवल इतना ही है कि समालोचना न करते हुए भी, हमने 'हिन्दी राष्ट्रभाषा हो सकती है या नहीं' शीर्षक लेख, १५ मास पूर्व, श्रीशारदा के प्रथमांक में ही प्रकाशित किया था। इस अंक में हम वह कर रहे हैं जिसे करने की आज्ञा लेखक ने नहीं दी है; परन्तु जो कदाचित् अनधिकार-चेष्टा न होगी।

२. सावित्री-सत्यवान—अनुवादक, बाबू नवजादिकलाल श्रीवास्तव; प्रकाशक, आर. एल. वर्म्मन एंड को०, ३७१ अपर चीतपुर रोड, कलकत्ता; पृष्ठ-संख्या १४५; ६ रंगीन तथा ७ सादे चित्रों से विभूषित; मूल्य २)।

सावित्री-सत्यवान का पौराणिक उपाख्यान हिन्दू घरों में अपरिचित नहीं। सती-शिरोमणि सावित्री हिन्दू ललनाओं के लिए वह आदर्श है जिसकी प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना उनके जन्म-जन्मान्तर का ध्येय हुआ करता है। यही सुन्दर आदर्श प्रस्तुत पुस्तक में बड़े ही आकर्षक रूप में रखा गया है। उपाख्यान परिचित होते हुए भी, वर्णन-शैली और वाह्यांग ने पुस्तक में नवीनता ला दी है। चित्रों में "सावित्री का त्रिरात्रि व्रत" रंगीन चित्र बहुत ही सुन्दर, भाव-पूर्ण और नेत्र-रञ्जक है।

३. पलासी का युद्ध—अर्थात्, बंगीय कविवर—नवीनचन्द्र सेन के 'पलाशिर युद्ध' नामक बँगला काव्य का हिन्दी पद्यानुवाद; अनुवादक, श्रीयुक्त "मधुप"

प्रकाशक, साहित्य-सदन, चिरगाँव (झाँसी); पृष्ठ-संख्या, ४१+१३०; मूल्य १॥)।

धन कमाने के लिए आये हुए, परन्तु धरती कमाने वाले वर्त्तमान अँग्रेज़ शासकों के भाग्याकाश में पलासी का युद्ध एक महत्वपूर्ण घटना है। सिराजुद्दौला के अत्याचार-पूर्ण शासन ने किस प्रकार बंगाल में उनके पैर जमाये इसके लिए भारतवर्ष का इतिहास साक्षी है। "पलासी का युद्ध" में उसी ऐतिहासिक घटना को वह रूप दिया गया है जो अस्थि-चर्मावशिष्ट पञ्जर में रक्त-मांस तथा जीवनी शक्ति संचार करने से होता है। जो सहृदय जन कवि की ऊँची कल्पना के साथ उड़ान भर सकते हैं उनके लिए उक्त काव्य परमानन्द की सामग्री है। बँगला भाषा में उक्त काव्य का बड़ा आदर है। हर्ष की बात है, अब हिन्दी में भी वह भाषान्तरित हो गया। इस अनुवाद को पढ़ते समय यही मालूम होता है मानों हम कोई मूल काव्य पढ़ रहे हैं। अनुवाद में जहाँ एक ओर भाषा की सुन्दरता और स्वाभाविकता है वहीं दूसरी ओर भावों की स्पष्टता और कथा-भाग की सुसंबद्धता है। हिन्दी-साहित्य इस ग्रंथ-रत्न से निःसन्देह गौरवान्वित हुआ है।

४. मंजरी, अर्थात्, बँगला के कुछ लब्ध-प्रतिष्ठ गल्प-लेखकों की दस सुन्दर गल्पों का हिन्दी अनुवाद; अनुवादक, बँगला-हिन्दी-अनुवाद करने में सिद्धहस्त पं० रूपनारायण पाण्डेय; प्रकाशक, गंगा-पुस्तक माला-कार्यालय, लखनऊ; पृष्ठ-संख्या, २६०; मूल्य, १=)

इस पुस्तक की सभी गल्पें अतीव भाव-पूर्ण हैं। अन्तिम गल्प "बिंदो का लड़का" देखने में तो उपन्यास सी मालूम होती हैं—पृष्ठ-संख्या १०० से भी ऊपर है—पर उसके लेखक श्रीशरच्चन्द्र चट्टोपाध्याय ने उसके लिखने में अपूर्व कौशल दिखाया है। उसे पढ़ते पढ़ते हृदय विस्मय-विमुग्ध और आनन्द-परिपूर्ण हो जाता है। केवल इसी एक गल्प के कारण, पुस्तक का मूल्य १=) होते हुए भी, वह अमूल्य हो गई है। श्रीरवीन्द्रनाथ ठाकुर की भी एक गल्प जिसका नाम "विचारक" है इस ग्रंथ में है; परन्तु हम समझते हैं, इसके स्थान में यदि उनकी "चाची" गल्प दी जाती, तो संग्रह और भी सुन्दर हो जाता। फिर, ऐसी कोई गल्प नहीं जो तृतीय श्रेणी की हो।

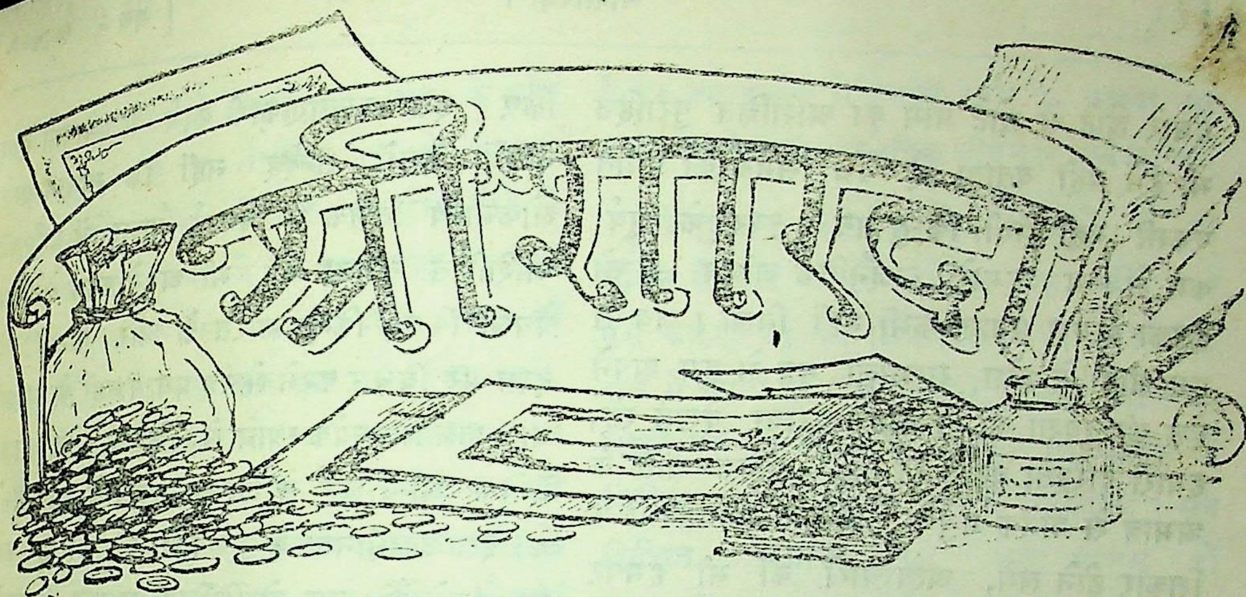


मन्थरा और कैकेयी।

कैकेयी—

"मन्थरा! तेरे मुँहमें घी-शकर पड़े। क्या कल सचमुच रामका राज्याभिषेक होगा? ले, यह शुभ समाचार सुनानेके लिए, मैं तुझे अपने गहने उतारकर इनाममें देती हूँ।"

वर्म्मन प्रेस, कलकत्ता।



साहित्य-तथा-राजनीति-संबंधी-विविध-विषय-विभूषित सचित्र मासिक पत्रिका ।

वर्ष २, खण्ड १] आषाढ़, शुक्ल प्रतिपदा, १९७८ * ६ जुलाई, १९२१ [संख्या ४, पूर्ण संख्या १६

हृदय की उमंग।



(लेखक—बाबू देवीप्रसाद गुप्त, बी० ए०, एल-एल० बी)

उठी है मन में यही उमंग ।
करके ही छोड़ेंगे उन्नत हम जग-जीवन-जंग ॥१॥

मातृ-भूमि का मान करेंगे,
निज गौरव-हित जियें-मरेंगे,
विश्व-व्योम में फहरा देंगे भारत-कीर्ति-पतंग ॥२॥

दास-भाव को जगह न देंगे,
पराधीनता मोल न लेंगे,
दम्भ-राज्य के रंगों को हम कर देंगे बदरंग ॥३॥

[illegible]-मुक्ति के बनकर भोगी,
होंगे कर्म--योग के योगी,
देख देख जिनके कृत्यों को दुनिया होगी दंग ॥४॥

देश-प्रेम-हित क्लेश सहेंगे,
देश--प्रेम में मग्न रहेंगे,
देश-प्रेम की उठा देयँगे रंगारंग तरंग ॥५॥

दास-प्रथा को नष्ट करेंगे,
तिल भर इस प्रण से न टरेंगे,
जूझेंगे यदि समय आयगा, तो यम के भी संग ॥६॥

वर्तमान राजनैतिक आन्दोलन और किसान।

(लेखक—श्रीयुत ठाकुर छेदीलाल, एम० ए०)



जो भारतवर्ष अकर्मण्यता के लिए प्रसिद्ध हो रहा था आज वहाँ भी राजनैतिक तथा सामाजिक जीवन में हेर-फेर हो रहा है। लड़कपन से ही हम लोग सुनते आये हैं कि समय परिवर्तनशील है।

हमारे छोटे से छोटे ग्राम का अशिक्षित पुरोहित भी हमें यही बताता है कि समय की प्रगति एकसी नहीं होती; किन्तु सन् १९१४ के पूर्व, कम से कम हमारे राजनैतिक जीवन में तो इसका प्रत्यक्ष प्रमाण कभी नहीं मिला। जब से हम लोगों ने होश सम्भाला तब से हम अपने देश की दुर्दशा का ही नाटक बराबर देखते रहे, हमारी दरिद्रता बढ़ती ही गई, पोषक-शक्ति के अभाव से अनेक मनुष्य भयंकर बीमारियों के शिकार होने लगे, अत्याचारों की भी हमपर भरमार होने लगी और पेट की ज्वाला से हमारे बहुतसे भाई तड़प तड़पकर अकाल-काल के गाल में जाने लगे। हमारे लिए वही अवस्था बराबर विद्यमान रही। सन् १९१४ तक, क्या कृषक, क्या जमीन के मालिक, सब शंकित पड़े थे और इनपर "वही रफ्तार बेढंगी जो पहिले थी सो अब भी है" वाला न्याय पूर्ण रीति से चरितार्थ होता रहा।

यद्यपि ऐतिहासिक दृष्टि से देश में राजनैतिक जीवन का विकास, ह्यूम प्रभृति सज्जनों द्वारा कांग्रेस स्थापित होने से हुआ, तथापि सन् १९०६ तक कांग्रेस का ध्येय उतना स्थिर नहीं हुआ था। हाँ, कलकत्ते में, १९०६ में, स्वर्गीय दादा भाई नौरोजी ने स्वराज्य-प्राप्ति को ही भारतीय-राजनैतिक आन्दोलन का ध्येय बताया और एक तरह से एक नया आदर्श देश के सामने रखा। किन्तु इस आन्दोलन में उस समय न तो किसान ही शामिल थे और न धनिक-व्यापारी तथा जमींदारों ने ही इसमें भाग लिया। कुछ थोड़े से शिक्षित लोग ही इस आन्दोलन के कर्त्ता-धर्त्ता थे और इन लोगों ने उस समय यह प्रयत्न सच्चे हृदय से नहीं किया कि भारत के सब लोग इस जागृति में सम्मलित होकर देश के लिए इस कल्याणकारी कार्य में अपना हाथ बटावें। इसमें सन्देह नहीं कि स्वनाम-धन्य लोकमान्य तिलक ने बम्बई प्रान्त में वहाँ की अशिक्षित जनता को भी अपने साथ लेने का प्रयत्न किया, किन्तु भारत के और प्रान्तों की दशा पर विचार करने से यह प्रयत्न नहीं के बराबर था। फलतः प्रत्येक स्थान में किसान लोग राजनैतिक आन्दोलन से तटस्थ रहते थे। किसानों की इस उदासीनता के मुख्यतः दो कारण कहे जा सकते हैं। एक तो शिक्षित समाज किसानों की अवस्था पर कुछ भी ध्यान नहीं देता था और दूसरे, वे किसानों को बराबर सताते रहते थे। हम इन दोनों बातों पर क्रमशः प्रकाश डालेंगे।

कांग्रेस के ही उस समय के अधिकतर प्रस्ताव शिक्षित समाज ही के लाभ के लिए होते थे। मेरे कहने का यह तात्पर्य नहीं है कि कांग्रेस ने किसानों के लिए कुछ भी नहीं किया। अभिप्राय यह है कि कांग्रेस ने उतना नहीं किया जितना कि उसे करना उचित था। पढ़े-लिखे लोगों को अधिक सर्कारी नौकरियाँ मिलें इसपर कांग्रेस वाले दूसरे विषयों की अपेक्षा अधिक जोर देते थे। इतना ही नहीं, पश्चिमीय सभ्यता की चकाचौंध में फँसनेवाले कई भारतीय युवक हमारे किसान भाइयों को असभ्य तक समझते थे, और उनका उद्धार इसीमें समझते थे कि वे अपनी प्राचीन प्रथा को एकदम त्याग देवें।

शिक्षित समाज किसानों के प्रति केवल उदा
सीन ही नहीं था, बल्कि किसानों पर अत्याचार
भी करता था। पटवारी, वकील, बैरिस्टर, अदा
लत के अमले तथा रेलवे कर्मचारी आदि हिन्दु
स्थानी शिक्षित समाज में ही गिने जावेंगे। बा

कम ऐसे किसान होंगे जिन्हें इन लोगों के हाथ कुछ न कुछ कष्ट न भोगना पड़ा हो। उल्टी शिक्षा मिलने और धर्म-व्रत का ह्रास होने के कारण सब यही सोचते थे कि इन अपढ़ किसानों से जितना अधिक पैसा ऐंठा जा सके उतना ही अच्छा है। यदि वास्तविक दृष्टि से देखा जावे, तो हमारे ग्रामीण किसानों पर अत्याचार करने वाले, हर तरह की तरकीबों से उनके धन को अपहरण करनेवाले, और उनको घृणा की दृष्टि से देखने वाले हमारे शिक्षित भाई ही थे। कौनसा ऐसा किसान है, जिसे सरकारी अमलों द्वारा सताये जाने का मौक़ा न आया होगा? इस बर्ताव का परिणाम यह हुआ कि हमारे किसान भाई शिक्षित समाज को भी घृणा की दृष्टि से देखने लगे। उनकी दृष्टि में सरकार के अत्याचार तथा शिक्षित समाज के अत्याचार में कोई भेद नहीं था। शिक्षितों की उदासीनता के कारण उन से भविष्य में इन्हें कोई आशा भी नहीं थी। इसीलिए सन् १९१४ के पहिले किसानों ने किसी भी राजनैतिक आन्दोलन में पूर्ण रूप से भाग नहीं लिया। उनके हृदय में यह धारणा हो गई कि चाहे सरकार हो या उन्हींके शिक्षित भाई, उनको तो अत्याचार सहना ही पड़ेगा। इसी धारणा के कारण ग्रामीण कहा करते थे कि 'कोउ नृप होय हमें का हानी, चेरी छाँड़ि न होउब रानी।' यही कारण था जिससे किसान लोग किसी भी राजनैतिक कार्य में दिलचस्पी नहीं लेते थे। वास्तव में शिक्षित समाज को ये लोग अविश्वास की दृष्टि से देखते थे, और जब विश्वास ही नहीं था, तब सहकारिता-पूर्वक कार्य कैसे हो सकता था? सन् १९१४ तक इन लोगों के राजनैतिक आन्दोलन से तटस्थ रहने के कारण उस समय तक देश का राजनैतिक जीवन निर्जीव सा था।

किन्तु सन् १९१४ से किसानों के भी जीवन में घोर परिवर्तन होने लगा, और कई ऐसे कारण आ गये जिनसे उन्हें भी राजनैतिक क्षेत्र में आना ही पड़ा। हमारे किसान भाइयों का राजनैतिक आन्दोलन में भाग लेने का कारण है शिक्षित समाज के विचारों में परिवर्तन। सब शिक्षित समाज को यह मालूम हो गया कि जबतक ९० सैकड़ा जनता उनके कार्यों का समर्थन न करेगी तबतक सरकार से उनको कुछ भी आशा नहीं रखनी चाहिए। उनको विश्वास हो गया कि सरकार ने जो इतने समय तक कांग्रेस के प्रस्तावों की अवहेलना करने की धृष्टता की है उसका मुख्य कारण यही था कि जनता कांग्रेस में शामिल नहीं होती थी शिक्षित समाज को अब पूर्ण रूप से अनुभव हो गया कि यदि किसान उनके साथ मिलकर काम न करेंगे, तो उन्हें अपने आन्दोलन में सफलता कभी नहीं मिलेगी। उन्हें अपने विचार बदलने पड़े, और शिक्षित समाज की ओर से प्रयत्न होने लगा कि इन आन्दोलनों में सब लोग सम्मिलित होवें। किसानों को तथा अशिक्षित जनता को राजनैतिक आन्दोलन में पूर्ण रीति से शामिल कराने का श्रेय यदि किसी एक व्यक्ति को मिल सकता है, तो वे हैं महात्मा गान्धी। आपने दक्षिण आफ्रिका में भारतीय जनता के लिये कष्ट उठाकर संसार में बड़ी ख्याति पाई थी भारत में लौटते ही आप किसानों के ही हित में लग गये। खेड़ा में जो कुछ आपने किया उससे तथा चंपारन के किसानों को राक्षसी प्रवृत्ति

रखनेवाले निलहे गोरों के पंजों से छुड़ाकर आपने यह सिद्ध कर दिया कि ऊँची से ऊँची पश्चिमीय शिक्षा पाकर भी भारतीय किसानों का शुभचिन्तक होना सम्भव है। राजनैतिक कार्य का राष्ट्रीय भाषा में प्रचारकर उन्होंने किसानों को राजनीति में दिलचस्पी लेने का अवसर दिया। उनका विश्वास दिन-प्रति-दिन महात्माजी पर बढ़ने लगा, और इस तरह शिक्षित समुदाय पर से उनका अविश्वास कुछ कुछ हटने लगा। दिल्ली कांग्रेस से किसान लोग भी राष्ट्रीय महासभा में भाग लेकर उसे यथार्थ में राष्ट्रीय महासभा बनाने का प्रयत्न करने लगे। इसके बाद रौलेट एक्ट के विरुद्ध आन्दोलन आरंभ कर दिया गया, और यह श्रेय महात्माजी को है कि उन्होंने इस आन्दोलन में पहिलेपहिल शिक्षित तथा अशिक्षित समाज दोनों को एक साथ सम्मिलित कर उन्हें अपने विचारों को व्यक्त करने का अवसर दिया। इस घटना के बाद स्थान स्थान में किसान-सभाएँ स्थापित होने लगीं, और हमारे किसान भाई भी राजनैतिक कार्यों में भाग लेने लगे।

दूसरा कारण जिससे किसानों के हृदय में शिक्षित समाज के प्रति श्रद्धा उत्पन्न हुई है वह यह है कि जनता के लाभ के लिए शिक्षित समाज-द्वारा सेवा-समिति आदि संस्थाओं की स्थापना होने लगी। इसका आरंभ पूज्य मालवीयजी ने किया। इलाहाबाद के कुंभ के मेले में शिक्षित समाज को अपनी हर तरह से सेवा करते देख जनता को—विशेषकर किसानों को—उनके प्रति श्रद्धा होने लगी, उनके पुराने विचार पलटने लगे, और उनको विश्वास होने लगा कि शिक्षित भारत-वासी उनके लिए सब कुछ कर सकता है। इसी विश्वास के साथ साथ, किसानों ने नेताओं की आज्ञा मानना भी आरंभ कर दिया।

तीसरा कारण सरकारी न्याय पर से किसानों के विश्वास का हट जाना है। किसान सदैव से सरकार के हितेच्छु थे, और उनका विश्वास था, चाहे इस राज्य में उन्हें कष्ट ही क्यों न हो, पर सरकार तो न्याय-शील है, और इसी कारण वे सरकार का सदैव पक्ष लेते थे; किन्तु कई कारणों से उनकी यह धारणा भी नष्ट हो गई। दिन पर दिन उनपर सरकारी अत्याचार बढ़ने लगा। प्रत्येक किसान को यह मालूम होने लगा कि प्रतिवर्ष उसकी अवस्था खराब होती जा रही है। उसके हृदय में राम-राज्य की कथा याद आने लगी, जब धन-धान्य भरपूर रहता था, और दूध और घी की नदियाँ बहा करती थीं। पेट भूखा होने के कारण अतीत काल का ध्यान उसे व्याकुल करने लगा। ऐसे समय में पुलिस के अत्याचार, छोटे साहब, बड़े साहब वगैरह के आराम के लिए मार खाकर काम करना, और सर्वस्व देकर भी यम-रूपी सरकारी कर्मचारियों से छुटकारा न पाना उसके क्षुब्ध हृदय को और भी व्यथित कर देता था। अत्याचार की भी सीमा होती है, जिसके बाद कमज़ोर से कमज़ोर व्यक्ति भी प्रतीकार करने के लिए खड़ा हो जाता है। 'मरता क्या न करता' वाली कहावत चरितार्थ होने लगी। साथ ही, सरकारी न्याय की पोल खुलने लगी। हिन्दुस्थानियों को कुत्ते-बिल्ली की तरह मारकर भी अंग्रेज़ लोग

न्यायालयों से बराबर मुक्त किये जाने लगे। पुत्री का सतीत्व नष्ट करने का निश्चय करनेवाला, और उसके पाशविक कार्य में हस्तक्षेप करने के कारण, पितृ-घातक, चा-बगीचे का मैनेजर भी जब छुटकारा पाने लगा, तब लोगों की आँखें खुलने लगीं। जब पंजाब के हत्याकाण्ड की कथा मालूम हुई उससमय भी कई लोगों का सरकार के न्याय पर कुछ न कुछ विश्वास था; किन्तु जब अत्याचारियों को सरकार ने केवल दंड-मुक्त ही नहीं किया, बल्कि कई नर-पिशाचों की पदोन्नति भी की, तब तो अन्ध-विश्वास की इतिश्री होगई। जब अंग्रेजी लोक-मत ने और पार्लामेन्ट ने भी सरकारी अन्याय का समर्थन कर दिया, तब लोगों की आँखें खुल गईं, और उनको यह प्रत्यक्ष होने लगा कि अब वे भी राजनैतिक आन्दोलनों में भाग लेवें, नहीं तो उनका अस्तित्व तक मिट जावेगा।

इस परिवर्तन का अंतिम कारण समय की गति है। युद्ध के समय जनता की सहायता पाने के लिए मित्रराष्ट्रों ने उनके कानोंमें स्वतंत्रता तथा स्वाधीनता की अनेक तानें अलापीं। अपनी उदारता दिखाने के लिए जर्मनी, आस्ट्रिया तथा टर्की के राज्य में स्वभाग्य-निर्णय के सिद्धान्तों को लागू करने की डींग भी खूब हाँकी। इसके अतिरिक्त, एशिया भर में ही नहीं, समस्त संसार में, जागृति की एक लहर सी फैल गई, और राष्ट्रीयता की रक्षा के लिए पिछड़े हुए देशों में भी आन्दोलन होने लगा। इसका भी भारत पर पूरा प्रभाव पड़ा, और लोग स्वराज्य को अपना स्वत्व समझ उसके लिए प्रयत्न करना अपना कर्तव्य समझने लगे।

इन्हीं कारणों से देश के प्रत्येक स्थान में सभाएँ की जा रही हैं, और सब लोग अपने कर्तव्य को स्थिर करने के लिए उपाय कर रहे हैं। समय में इतना परिवर्तन हो गया है कि जो बात सन् १९१३ में असम्भव समझी जाती थी केवल छै वर्ष के ही भीतर हम उसको पूर्ण रूप से सफल होने की आशा कर रहे हैं। इन्हीं छै वर्षों में हमारे जीवन में, विचार में तथा राष्ट्रीय ध्येय में घोर परिवर्तन हो गया, जिसकी इसके पूर्व कल्पना भी नहीं की जा सकती थी।

हमारे सामने एक आवश्यक प्रश्न यह है कि प्रचलित राजनैतिक आन्दोलनों के प्रति हमारा कर्तव्य क्या होना चाहिये। उदाहरणार्थ, हमारे देश में असहयोग का आन्दोलन चारों ओर फैल रहा है। इसके प्रति हम लोग किस तरह का बर्ताव करें? प्रयाग की किसान-सभा ने अपने लिए इस आन्दोलन में तटस्थ रहना उचित समझा है; किन्तु मेरा विश्वास है कि हमको इसमें भाग लेना चाहिए। इसका मुख्य कारण यही है कि हम किसी भी आन्दोलन से तटस्थ नहीं रह सकते, और यदि हम उदासीन भी रहना चाहें, तो उसके अच्छे और बुरे परिणाम हमें भोगने ही पड़ेंगे। यह सम्भव नहीं है कि हम असहयोग के अच्छे या बुरे परिणाम को भोगने से बच सकें। इसलिए हमें इस आन्दोलन के वास्तविक तत्वों पर विचार कर अपनी सम्मति स्पष्ट रूप से प्रकाशित करनी चाहिए।

खिलाफ़त-अन्याय तथा पंजाब के अत्याचार असहयोग के प्रचार के कारण बताये जाते हैं। आप लोग इन कारणों को चाहे मानिये या न

मानिये मैं असहयोग का समर्थन दूसरे ही कारणों से करता हूं।

पहला कारण यह है कि असहयोग ही हम को स्वावलम्बी तथा उत्साही बना सकता है। विदेशी शासन चाहे कितना ही अच्छा क्यों न हो शासित जनता के हृदय में असमर्थता के भाव को अवश्य उत्पन्न कर देता है। जिस राष्ट्र की जनता में ऐसे भाव हों उससे स्वावलम्बन की वृत्ति दूर हो जाती है, और उसके स्थान में प्रत्येक कार्य में निःसहायता की वृत्ति आ जाती है। ये दोनों अवगुण मनुष्यत्व के नाशक हैं। यही कारण है कि राजनीतिज्ञ कहते हैं कि सु-शासन स्व-शासन से कदापि अच्छा नहीं है (Good government is no substitute for self-government). विदेशी शासन का हमपर बड़ा बुरा प्रभाव पड़ा है। हममें से स्वावलम्बन की वृत्ति का एक दम ह्रास हो गया है। हमपर कोई भी आपत्ति आती है तो हम उसका स्वयं प्रतीकार न कर अफ़सरों की शरण में जाते हैं। हमें अपनी शक्तियों पर बिल्कुल विश्वास नहीं है। हम जब कोई भी कार्य उठाते हैं उस समय सबके हृदय में यही धारणा होती है कि हम लोग इस काम को न चला सकेंगे। इस तरह की वृत्ति हमारे राष्ट्रीय जीवन को कभी बढ़ने नहीं दे सकती। क्योंकि बिना इसके दूर हुए हममें आत्माभिमान हो ही नहीं सकता, और बिना आत्माभिमान के कोई भी देश उन्नति नहीं कर सकता। कुशासन में रहकर इन बातों में हमसे अफ़गान लोग भी कहीं अच्छे हैं। अफ़गान का तिरस्कार कोई भी उतनी आसानी से नहीं कर सकता, जितना एक भारतीय का किया जा सकता है। यही कारण है कि संसार के सब भागों में भारतीय सताये जा रहे हैं। इस लिए हमें राष्ट्राभिमान होना चाहिये, और यह भाव बिना स्वावलम्बी हुए कदापि नहीं आ सकता। स्वावलम्बन हमें आचरण द्वारा सीखना होगा, और इसको सिखाने के लिए असहयोग से बढ़कर कोई दूसरा अस्त्र हमें नहीं मिल सकता। यदि हम असहयोगी हों, तो आपत्ति आने पर हम सरकार से सहायता न माँगेंगे। उसका प्रतीकार करने के लिए केवल बड़े साहब को एक दरख्वास्त ही देकर अपने कर्तव्य की इतिश्री नहीं समझेंगे, वरन ऐसे उपायों की योजना स्वयं करेंगे जिससे ऐसे अत्याचारों का होना असम्भव हो जावे। इससे हमारी आत्म-प्रतिष्ठा बढ़ेगी। बिना असहयोग के सिद्धान्त का प्रचार किये हम यह नहीं कर सकते। भिक्षुक-वृत्ति से हमें छुटकारा पाना ही चाहिए, नहीं तो हम अपनी कुछ उन्नति न कर सकेंगे।

असहयोग को स्वीकार करने का दूसरा कारण यह है कि यह ही हमें सहयोग करना सिखलावेगा। हममें राष्ट्रीय दोष यह है कि हम मिलकर एक साथ काम नहीं कर सकते। वैयक्तिक झगड़ों का बुरा परिणाम हमारे राष्ट्रीय कार्यों पर भी पड़ता है। हमारे राष्ट्रीय जीवन के लिए यह आवश्यक है कि हम वैयक्तिक जीवन और सार्वजनिक जीवन में भेद करना सीखें। यदि कोई व्यक्ति मेरा शत्रु भी है, और सार्वजनिक कार्य के लिए वह योग्य है तब मुझे उसीके लिए राय देनी चाहिये, अपनी व्यक्ति-गत शत्रुता के लिए सार्वजनिक कार्य को नहीं

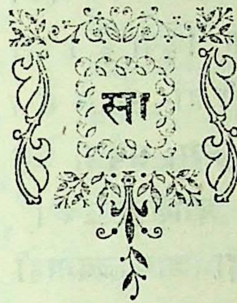
बिगाड़ना चाहिए। यह गुण तभी आ सकता है जब हम आपस के व्यक्ति-गत भेद-भावों को भूल राष्ट्रीय कार्यों को करना सीखें। यदि हम सरकार के साथ सच्चा असहयोग करें, तो हम को अपने भाइयों के साथ सहयोग करना ही पड़ेगा। बिना आपस में सहयोग किये हम सच्चे असहयोगी हो ही नहीं सकते। इसलिए राष्ट्रीय जीवन के लिये यह आवश्यक है कि हम असहयोग को स्वीकार कर इन राष्ट्रीय गुणों को प्राप्त करें। बिना असहयोग के हमें इनका प्राप्त करना प्रायः असम्भव है।

इसमें सन्देह नहीं कि असहयोग का मार्ग कठिन तथा कंटक-पूर्ण है; किन्तु हमें यह भी स्मरण रखना चाहिये कि कठिन रोग के लिए औषधि भी वैसीही देनी पड़ती है। हमारे ऊपर गुलामी का रोग सदियों से लग रहा है, और हमारी नस नस में घुस गया है। इस रोग से हम आसानी से मुक्ति नहीं पा सकते। स्वाधीनता के समान अलभ्य वस्तु आसानी से कदापि नहीं मिल सकती। इसकी प्राप्ति के लिए प्रत्येक राष्ट्र को अनन्त आत्म-बलिदान की आवश्यकता पड़ी है और खून की नदियाँ बहा दी गई हैं। जो आज स्वतंत्र हैं उन्हें इस स्वतंत्रता के लिए बहुत मुसीबतें उठानी पड़ी हैं। आज यह आवश्यक है कि अपनी मातृभूमि के उद्धार के लिए हम इस कठिन मार्ग का अनुसरण करें।



मेघदूत में सामाजिक दशा।

(लेखक -- बाबू राजेश्वरप्रसादनारायण सिंह)



साहित्य से समाज का घनिष्ठ सम्बन्ध है। साहित्य नहीं, तो समाज नहीं; समाज नहीं, तो साहित्य नहीं। समाज की-देश की--जिस समय जैसी अवस्था रहती है उस समय की रचनाओं पर उसकी छाया अवश्य पड़ती है। इस समय भारत परतन्त्रता की बेड़ी तोड़ कर स्वतंत्रता-सुख का अनुभव करना चाहता है। इस समय की रचनाओं पर यह बात साफ़ साफ़ लक्षित है। सहस्रों वर्ष के बाद, इन काव्यों से मालूम होगा कि रचना-काल में भारत की कैसी दशा थी, विदेशियों का अत्याचार कैसे जारी था, जालियानवाला बाग़ की हत्या कैसे हुई, इसपर कैसा आन्दोलन उठा, असहयोग ने कैसे ज़ोर पकड़ा, इत्यादि।

कवि-श्रेष्ठ कालिदास के स्थिति-काल में आर्यावर्त्त की दशा कैसी थी यह ठीक ठीक नहीं ज्ञात होता। अभी तो उनके स्थिति-काल में ही मत-भेद है। कोई उन्हें विक्रमादित्य के शासन-काल में विद्यमान बताता है, तो कोई उन्हें राजा भोज का सभाकवि कहता है। एक ही कालिदास कभी काश्मीरी बनते हैं, तो कभी मालवा प्रान्त के वासी; कभी बंगाली बनाये जाते हैं, तो कभी बिहारी। जो हो, हमें यहाँ उनके आत्म-चरित से कोई मतलब नहीं। कालिदास कहीं के हों, उनकी कृति में जो खूबसूरती है वह कहीं नहीं जाती

कालिदास ने कई काव्य तथा नाटक लिखे हैं; पर मेघदूत इनमें सर्वोच्च माना जाता है। रघुवंश, अभिज्ञान--शाकुन्तल आदि काव्यों से मेघदूत कहीं अधिक सरस है। इसमें कवि ने अपने भावों को स्वतंत्रता--पूर्वक व्यक्त किया है। इस में जो उपमाएँ दी गई हैं वे बड़ी ही सरस हैं। कालिदास की उपमाएँ इसी में क्या, सर्वत्र, श्रेष्ठ हैं। कहावत भी है कि "उपमा कालिदासस्य।" मेघदूत जितने ही बार पढ़ा जाय उतनाही अधिक मनोमोहक लगता है।

मेघदूत को पढ़ने से विदित होता है कि उस समय यहाँ विलासिता खूब फैली हुई थी। वेश्याओं की कमी नहीं थी और सुरा-पान भी प्रचलित था। उस समय के मनुष्य भोग-विलास-प्रिय बहुत होते थे; परन्तु दुराचारी बहुत कम। यक्ष और यक्ष-पत्नी का निर्म्मल प्रेम इसका उज्ज्वल दृष्टान्त है। उपरोक्त बातें निम्न लिखित श्लोकों से भलीभाँति मालूम होती हैं —

पादन्यासैः क्वणितरशनास्तत्र लीलावधूतै-
रत्नच्छायाखचितवलिभिश्चामरैः क्लान्तहस्ताः।
वेश्यास्त्वत्तो नखपदसुखान्प्राप्य वर्षाग्रबिन्दू-
नामोक्ष्यन्ते त्वयि मधुकरश्रेणिदीर्घान्कटाक्षान्॥

अर्थात्,

नाचें वेश्या सुललित जहाँ किङ्किनी बाजती हैं,
रत्नाभा से खचित चमरें ढोरते वे थकी हैं।
आनन्दी हो प्रिय-नख-क्षतों में नये बूँद लेंगी,
तेरे आगे अलि-अवलि-से नेत्र बाँके करेंगी॥

यस्यां यक्षाः सितमणिमयान्येत्य हर्म्यस्थलानि
ज्योतिश्छायाकुसुमरचितान्युत्तमस्त्रीसहायाः।
आसेवन्ते मधु रतिफलं कल्पवृक्षप्रसूतं
त्वद्गम्भीरध्वनिषु शनकैः पुष्करेष्वाहतेषु॥

अर्थात्,—

हर्म्यों में जो सितमणिमयी, पुष्प से ऋक्ष-बिम्ब
शोभे हैं, स्वरक[illegible]-सम जहाँ चारु बाजें मृदंग।
पीते हाला रतिफल जहाँ कल्पवृक्षी रसीली,
यक्षों का है रमणस्थल जो, संग नारी छबीली॥

रक्ताशोकश्चलकिसलयः केसरश्चात्र कान्तः
प्रत्यासन्नौ कुरबकवृतेर्माधवीमण्डपस्य।
एकः सख्यास्तव सह मया वामपादाभिलाषी
काङ्क्षत्यन्यो वदनमदिरां दोहदच्छद्मनास्याः॥

अर्थात्, कुरवक से घिरा हुआ, एक माधवी कुञ्ज, जिसके पास बकुल और अशोक के पेड़ डोलते हैं, शोभा देता है। तेरी सखी से (यक्ष-पत्नी से) वे दोनों कुछ लालसा रखते हैं- एक मुखं मधु का कुल्ला तथा दूसरा वामपाद का स्पर्श। (कहते हैं सौभाग्यवती स्त्री के गण्डूष से बकुल और वामपाद के स्पर्श से अशोक फूलते हैं।) एक जगह और लिखा है—

"प्रत्यादेशादपि च मधुनो विस्मृतभ्रूविलासम्।"
अर्थात्, सुभ्रूविलास और सुरा-पान भूल गई है।

उपरोक्त श्लोकों से हमारे कथन की पुष्टि होती है। उस समय भारतवर्ष के लोग सुखी थे, सर्वत्र शांति थी, और लोग स्वतंत्र थे। शांति तथा स्वतंत्र अवस्था में इन चीज़ों का समावेश हो जाना स्वाभाविक ही है। इसके सिवा, भारत को उस समय किस चीज़ की कमी थी? धन-सम्पत्ति इतनी प्रचुर थी कि इतना चूसे जाने पर भी, आज किसी तरह इसका अस्तित्व है ही? रोम मिट गया, यूनान नामशेष हो गया, कार्थेज का पता नहीं, पर भारतवर्ष अभी है,

---

१ तारा, २ तेरी ध्वनि, ३ कल्पवृक्ष की रतिफल नाम की मदिरा, ४ विहार-स्थल, ५ मदिरा।

और यदि अब भी दोहन-क्रिया बन्द हो जाय, तो वह फिर पूर्ववत् धन-धान्य से परिपूर्ण हो जाय। आधुनिक काल की तरह, प्राचीन काल में यहाँ के लोगों की आमदनी बीस रुपया प्रति व्यक्ति नहीं थी। इतिहास से ज्ञात होता है कि, सुबुक्त-गीन, फ़ीरोज़ आदि लुटेरे भारत से अगणित माल ढोकर ले गये। यह सब ऊँटों पर लाद कर रवाना किया गया। आधुनिक काल में ही देखिए, आगरे के ताजमहल में जड़े हुए असली मणि तो लिए गये और बदले में नक़ली लगा दिये गए। अस्तु।

कालिदास के समय में, भारत में, मोतियों की कितनी ज्यादती थी, यह इस श्लोक से विदित होता है—

गत्युत्कम्पादलकपतितैर्यत्र मन्दारपुष्पैः
पत्रच्छेदैः कनककमलैः कर्णविभ्रंशिभिश्च
मुक्ताजालैः स्तनपरिसरच्छिन्नसूत्रैश्च हारै-
र्नैशो मार्गः सवितुरुदये सूच्यते कामिनीनाम् ॥

अर्थात्, रात्रि में अलका से बाहर जाने-आने वाली रमणियों का मार्ग, प्रातःकाल, उनके कर्णफूल के कमल की पत्तियों तथा मुक्ताजाल के गिर जाने के कारण, मालूम होता है।

आजकल तो बड़े बड़े ज़मीन्दारों के घर पर भी शायद ही मोती मिलेंगे, पर उन दिनों सर्व-साधारण की स्त्रियों के गले से भी मोती का हार[1] टूट टूट कर गिर जाया करता था, और उन्हें इसकी कोई परवा नहीं थी। ज़रूरत क्या? आज-कल भी यदि किसी के हाथों से एक साधारण पुष्प गिर जाता है, तो वह इसके लिए कितनी परवा करता है? फिर, यह तो यक्ष-पत्नियों की बात है—कुबेर-पत्नी की दशा भगवान् ही जानें!

कालिदास के समय में, हीरे की अधिकता कितनी थी, यह देखिए—

मन्दाकिन्याः सलिलशिशिरैः सेव्यमाना मरुद्भि—
र्मन्दाराणामनुतटरुहां छायया वारितोष्णाः।
अन्वेष्टव्यैः कनकसिकतामुष्टिनिक्षेपगूढ़ैः
सङ्क्रीडन्ते मणिभिरमरप्रार्थिता यत्र कन्याः ॥

अर्थात्, अलकापुरी की कन्याएँ, जो जलकणयुत शीतल समीर सेवन करती हैं, और सुरतरु की छाँह में बैठती हैं, जिन्हें देखकर देवतागण भी अधीर हो उठते हैं, बालू में "गुप्तहीर"* खेल खेलती हैं। हीरे का प्राचुर्य्य इसीसे मालूम होता है। जिस तरह आधुनिक कन्याएँ गुड़ियादि खेलती हैं, उसी तरह उस समय बालिकाएँ 'गुप्तहीर' खेल खेलती थीं। अब तो हीरा यहाँ राजा-महाराजाओं के यहाँ छोड़कर, कहीं देखने को भी नहीं मिलता। यहाँ हम रघुवंश का भी एक श्लोक दे देना चाहते हैं।

सूर्य्य—चन्द्र पर पृथ्वी की छाया पड़ने से ग्रहण लगता है, यह बात आजकल के पाश्चात्य वैज्ञानिक समझते हैं कि इन्होंने खोज निकाली है। कुछ अन्ध-विश्वासी भारतीयों का भी यही ख़याल है। इस श्लोक से विदित होगा कि यह बात पहिले भी भारतीय समाज को मालूम थी—

अवैमि चैनामनघेति किन्तु
लोकापवादो बलवान् मतो मे।
छाया हि भूमेः शशिनो मलत्वे—
नारोपिता शुद्धिमतः प्रजाभिः ॥

अर्थात्, "मैं जानता हूँ कि सीता साध्वी है,

[1] मोती का हार।

* गुप्तहीर उस खेल को कहते हैं, जिसमें कोई हीरे को बालू में छिपाती है, और कोई उसे ढूँढने लगती है।

पर लोकापवाद इससे गुरुतर है। पृथ्वी का छाया पड़ने से चन्द्रग्रहण लगता है; पर लोग उस निर्म्मल चाँद में कलंक लगाते हैं"। इसमें शक नहीं कि उस समय भी कुछ लोग थे, जो इस बात को मिथ्या बताते थे; पर यह बात मानी हुई थी।

कालिदास के समय में साहित्य की भी पूर्ण उन्नति हुई थी। इसका प्रमाण स्वयं उनके काव्य ही देते हैं

मेघदूत के उत्तर-भाग से ज्ञात होता है कि उस समय स्त्रियाँ अपने को पुष्पों से खूब सजाती थीं। स्त्रियों की उत्पत्ति सौन्दर्य के ही लिए है, हाथ में बन्दूक लेकर शिकार करने के हेतु नहीं। अपने शरीर को पुष्पों से विभूषित करना प्राकृतिक है—अप्राकृतिक नहीं। शरद ऋतु के प्रातःकाल में, सिसकते रहने पर भी, पंखा झलवाना वे नहीं जानती थीं। यह यूरोप का अप्राकृतिक साज है। एक श्लोक देखिए—

> हस्ते लीलाकमलमलके बालकुन्दानुविद्धं
> नीता लोध्रप्रसवरजसा पाण्डुतामानने श्रीः।
> चूडापाशे नवकुरबकं चारुकर्णे शिरीषं
> सीमन्ते च त्वदुपगमजं यत्र नीपं वधूनाम्॥

अर्थात्, वहाँ कामनियों के हाथों में क्रीड़ा-कमल है, अलकों में कुन्द की कली है, लोध्रपुष्प की पराग से मुख की कान्ति पीली दीख पड़ती है, वेणी में कुरवक गुँथे हुए हैं, कानों में शिरीष के पुष्प रखे हुए हैं, और कदम्ब के फूल माँग में लगे हुए हैं।

एक लेखक का कथन है—

"Women are for beauty and not for war; they should be sincere to their husband' son, etc. and should adore themselves which is quite natural for them."

अर्थात्, स्त्रियाँ सौन्दर्य्य के लिए हैं, युद्ध के लिए नहीं। उन्हें अपने पति-पुत्रादि के प्रति शुभाकांक्षिणी होना चाहिए, और अपनेको सजाना भी चाहिए जो उनके लिए पूर्णतः प्राकृतिक है। स्त्रियों को कैसी होना चाहिए, यह महाकवि रवीन्द्रनाथ ने चित्रांगदा में भलीभाँति दर्शाया है। संभव है, उपरोक्त बातें गलत हों; पर मेघदूत के पढ़ने से ये बातें सत्य प्रतीत होती हैं

विकलता।

(लेखक—पं० मुकुटधर पाण्डेय)

बंधु, तुम्हारे हेतु आज हैं विकल हो रहे प्राण,
जलती हृदय-देश में मेरे है विरहाग्नि महान।
तुम्हें भले ही उसका दारुण ताप न हो मालूम,
पर मेरा सर्वस्व उड़ गया, पड़ इसमें हो धूम।
स्वास्थ्य और सुख-शांति हो गये कब से मेरे नष्ट,
किन्तु बढ़ रही गुप्त-कोप के दिशि भी यह हा कष्ट!
श्रद्धा शुभ विश्वास, आत्म-बल, धैर्य और दृढ़ भाव,
एक एक कर भस्म हो गये, यह दुर्भाग्य-प्रभाव।
नहीं भाग्य का नाम यहाँ बस है सन्तोष-विधान,
मिलने का भी है क्या इससे कहो कभी यह त्राण?
मुझे पूछते हैं वे आकर 'कुशल कहो हे मीत'!
सुनते हो क्या उत्तर में जो गाता हूँ मैं गीत।
अब तो निश्चय ही असह्य हो उठा लखो यह ताप,
भला कहीं होता इससे हाँ कठिन मृत्यु का शाप।
पल पल मुझे पहाड़ हो रहे, यह कैसा प्रतिशोध?
दर्शन ही जो नहीं भला तो दो बस अपना बोध

जगती-तल में जहाँ न ढूँढ़ा इसे कहाँ वह ठौर ?
दे सकता यह रत्न तुम्हारे बिना न कोई और ।
यदि इतनी भी दया न हो तो जीवन यह बेकाम,
बन्धु, छोड़ दो मुझे, तुम्हीं क्या होगे कम बदनाम ?
आओ तो यह उठी हृदय में प्रबल-अग्नि की ज्वाल,
हाथों से तुम उसमें मेरी दो आहुती कराल ।

स्त्री-सत्ता की तैयारी ।

(लेखक—पं० गोपाल दामोदर तामस्कर, एम० ए०, एल० टी०)

कमला—(अपने पति नारायणप्रसाद से) आप कल शाम को कहाँ गये थे ?

नारायणप्रसाद—कल स्त्रीशिक्षा पर व्याख्यान देना था, इसलिये रामबाग गया था ।

कमला—आपके व्याख्यान का सारांश क्या था ?

ना० प्र०—मेरे कहने का सार इतना ही था कि पुरुषों के समान स्त्रियाँ भी मनुष्य हैं; इसलिए उन्हें शिक्षित करके बराबरी के हक़ देने चाहिए ।

क०—परन्तु, प्यारे, कभी आपके दिल में इस बात का भी ख़याल आया कि स्त्री-शिक्षा देने से पहले अपनी भाषा और अपने समाज का थोड़ा सुधार करना आवश्यक है ?

ना० प्र०—वह कैसे ?

क०—तो लीजिए, आज मेरा ही व्याख्यान सुन लीजिए । आपने अभी कहा कि 'पुरुषों के समान स्त्रियाँ भी मनुष्य हैं ।' 'मनुष्य' शब्द का लिंग क्या है ?

ना० प्र०—पुल्लिंग ।

क०—और, आपने उपयोग किया स्त्रियों के लिए ?

ना० प्र०—हाँ ।

क०—तो कहिए, आप पुरुष लोग स्वार्थी हैं या नहीं ?

ना० प्र०—इसमें स्वार्थ कहाँ रहा ?

क०—स्वार्थ कहाँ रहा ? अजी 'मनुष्य' के बदले 'मनुष्या' कहते तो क्या बुरा होता ? यदि हम कहें कि पुरुष स्त्रियों के समान हैं, तो क्या आप पसन्द करेंगे ? आप लोग स्त्रियों का उल्लेख अपने लिंगवाले शब्दों से किया करते हैं, इससे अधिक स्वार्थ और क्या चाहिए । स्त्रियों को 'मनुष्य,' 'मानव,' 'Man,' 'प्राणी' इत्यादि कहते हैं; पर कहीं आपने पुरुषों के लिये भी 'मनुष्या,' 'मानवा,' 'woman,' 'प्राणिनी' का उपयोग किया है ? यदि स्त्रीलिंग के बोध के लिए पुल्लिंग शब्द आ सकता है, तो पुल्लिंग के लिये स्त्रीलिंगी शब्द आने में कौन सी बुराई है ?

क०—युक्ति से तो कोई बुराई नहीं । यह केवल रूढ़ि है ।

का०—अजी रूढ़ि तो है; पर उसपर किसी की नज़र नहीं जाती । हिन्दुस्थान की बात जाने दो । यहाँ तो स्त्रियों की दशा इतनी बुरी है कि "कलत्र" और "दारा:" का भी हमारे लिए उपयोग होता है । हिन्दी में 'खटला' शब्द पुल्लिंग में

आता है। कभी हम पुल्लिंग बन जाती हैं, तो कभी नपुंसकलिंग और निर्जीव। परन्तु यूरोप में भी दशा क्या अच्छी है? Man is mortal! अजी woman is mortal कहते। उसी अर्थ का बोध क्यों नहीं किया जाता? पुरुषों की स्वार्थान्धता की—उनकी सत्ताप्रियता की—कोई हद भी है! पूर्ण पुल्लिंग का बोध करने वाले 'पुरुष' शब्द में भी 'स्त्री' का बोध हो जाता है! 'स्त्री' शब्द से पुरुषों का बोध क्यों नहीं होता? पहले भाषा को सुधार लो, भाषा में जो असमानता भरी है उसे दूर कर लो, फिर उसके द्वारा स्त्रियों को शिक्षा दो। पुल्लिंगी शब्दों से जब स्त्रियों का बोध हो जाता है, तब उन का अलग अस्तित्व ही कहाँ है? फिर आप शिक्षा किन्हें देंगे? पत्नी को अर्धाङ्गिनी कहते हैं; परन्तु पति को किसी ने अर्धाङ्गी कहा है? घर पर कोई आता है, तो पूछता है 'मालिक' कहाँ हैं? 'मालकिन' को भी कोई पूछता है?

ना० प्र०—'मालकिन' शब्द से और क्या क्या होता है?

क०—अजी, मुझे मत धोखा दो। 'मालकिन' शब्द 'मालिक' से बना है! आप ही लोगों ने व्याकरण रचा है। आप ही उसका अर्थ करते हैं कि 'मालिक की स्त्री'। कभी यह अर्थ भी हुआ है कि 'मालकिन' यानी 'घर की अधिकारिणी'?

ना० प्र०—क्यों नहीं? कभी कभी होता है।

क०—यह केवल आलंकारिक अर्थ है। उसमें वास्तविकता कुछ भी नहीं रहती। कभी उसका वास्तविक अर्थ रहा हो, तो यह होता है कि 'मालिक की अनुपस्थिति में घर का कामकाज चलाने वाली स्त्री'। परन्तु आपका स्वार्थ भाषा और घर दोनों पर ही नहीं है। समाज में भी वही हाल है। विवाह होने पर स्त्री पति के घर जाती है, पति क्यों नहीं स्त्री के घर जाता? घर का असली काम-काज स्त्री के हाथ में क्यों नहीं रहता? पति उनके आज्ञानुसार काम क्यों नहीं करते? राज्य का काम स्त्रियों के हाथ में क्यों नहीं दिया जाता? आज कल स्त्रियाँ जैसी शोभा-मात्र के लिए रानियाँ कहलाती हैं, वैसे ही पुरुष शोभा-मात्र के लिए 'राजा' क्यों नहीं बनते? सभ्यता की डींग मारने वाले यूरोप में क्या यही हाल नहीं है? इससे तो मैं आस्ट्रेलिया के मूलनिवासियों को अधिक सभ्य समझती हूँ। वहाँ, पति पत्नी के घर जाते हैं, वहाँ पत्नी का मुख्य अधिकार रहता है, और लड़के-लड़कियाँ अपनी माता के नाम से जानी जाती हैं। तुम्हारा लड़का यदि शाला में नाम लिखवाने गया, तो स्कूल-वाले तुम्हारा नाम पूछेंगे या मेरा?

ना० प्र०—मेरा।

क०—फिर बतलाओ, तुमलोग स्वार्थी और सत्ताप्रिय हो या नहीं?

नारायणप्रसाद चुप! बेचारा क्या बोलता! उठ कर चुपचाप कमरे में चला गया। उसके पास युक्ति रहती तो बहस करता। वह मन में यही सोचता रहा कि स्त्रियाँ पुरुषों के हाथ से शीघ्र ही सब सत्ता छीन लेंगी। फिर क्या होगा?

खलीफ़ा मामूँ रशीद ।

(लेखक—पं० पद्मसिंह शर्म्मा)



मुसलमान शासकों में खलीफ़ा "मामूँ रशीद" बड़ा ही सहृदय, विद्याप्रेमी, विद्वान् और न्याय-परायण शासक हुआ है। यह सुप्रसिद्ध खलीफ़ा "हारूँ रशीद" का पुत्र था। विद्या-प्रेम के लिए हारूँ रशीद का नाम भी बहुत प्रसिद्ध है। हारूँ रशीद ने एक बहुत बड़ा अनुवाद-विभाग "बैतुल्‌हिकमत" (विद्या-मन्दिर) नाम से क़ायम किया था, जिसमें बड़े बड़े विद्वान् विविध भाषाओं से उपादेय ग्रन्थों के अनुवाद करने पर नियुक्त थे। मामूँ रशीद ने इस विभाग की अपने शासन-काल में बहुत उन्नति की। इसने सुदूर देशों से बड़े बड़े वेतनों पर अनेक विषयों के विशेषज्ञ विद्वानों को बुला कर अपने यहाँ इकट्ठा किया, और अनुवाद द्वारा विविध विषयों के ग्रन्थों से अरबी भाषा को मालामाल कर दिया। इस विद्या-मंदिर के बहुत से अनुवादकों का वेतन आज-कल के हिसाब से ढाई ढाई हज़ार रुपये मासिक था! वेतन के अतिरिक्त पुरस्कार भी यथेष्ट मिलता था। मशहूर है कि 'मामूँ' प्रत्येक पुस्तक के अनुवाद के बदले में पुस्तक के बराबर सोना तोल कर देता था। अनुवादकों में अनेक भिन्न मतावलम्बी विदेशी विद्वान् थे, जिनके साथ मामूँ का बर्ताव अत्यन्त उदारतापूर्ण था। मुसलमान शासक धार्मिक विद्वेष के लिए बदनाम हैं; पर मामूँ इस विषय में बहुत उदार था। उसके दरबार में बहुत से पारसी, यहूदी, ईसाई और हिन्दू विद्वान् थे, जिन्हें अपने धार्मिक कृत्यों में पूरी स्वतंत्रता थी। मामूँरशीद स्वयं भी अनेक विद्याओं का बहुत बड़ा विद्वान् था। गणित और फ़िलासफ़ी उसके अत्यन्त प्रिय विषय थे। उसके गणित-प्रेम का परिचय इसी से मिलता है कि आस्तीनों पर उक़लैदस के पहले मिक़ाले की ५ वीं शकल का 'तुग़रा' (चित्रबन्ध) बना हुआ था; क्योंकि यह 'शकल' उसको बहुत ही प्रिय थी। इसी कारण अरबी में पाँचवीं शकल को "शकले मामूनी" कहते हैं। मामूँ के सिवा और किसी मुसलमान बादशाह को यह फ़ख़ हासिल नहीं है कि उसके नाम से कोई इल्मी इसतलाह (परिभाषा) क़ायम हुई हो।

जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है, हारूँ रशीद का क़ायम किया हुआ "बैतुल् हिकमत" या अनुवाद-विभाग मौजूद था, जिसमें पारसी ईसाई, यहूदी, हिन्दू अनुवादक थे, जो फ़िलसफ़े की पुस्तकों का अनुवाद और रचना करते रहते थे; पर अबतक जो सामग्री एकत्र हुई थी वह मामूँ की विज्ञान-पिपासा को शान्त करने में अपर्याप्त थी।

मामूँ ने एक रात स्वप्न में देखा कि एक पूज्य व्यक्ति उच्च आसन (तख़्त) पर आसीन हैं। मामूँ ने समीप जाकर पूछा, आपका शुभनाम? तख़्तनशीन ने कहा—"अरस्तू"। यह सुनकर मामूँ हर्षातिरेक से विह्वल हो उठा। फिर अर्ज़ किया, 'हज़रत! दुनिया में कौनसी चीज़ अच्छी है?' ख्याली अरस्तू ने उत्तर दिया, "जिसे अक़्ल (बुद्धि) अच्छा कहे।" दुबारा मामूँ ने दरख्वास्त की कि मुझको शिक्षा प्रदान कीजिये। उत्तर मिला, "तौहीद (अद्वैतवाद) और सत्सङ्गति को हाथ से न देना"। मामूँ यों ही फ़िलसफ़े पर मिटा हुआ था; अरस्तू के इस स्वप्न-दर्शन ने और भी आग पर घी का काम दिया। उसने क़ैसररूम को ख़त लिखा कि "अरस्तू की जिस क़दर पुस्तकें मिल सकें भेजी जायँ।" क़ैसररूम ने इसके उत्तर में पाँच ऊँट लाद कर फ़िलसफ़े की किताबें मामूँ के पास भेजीं, मामूँ ने और भी बहुत से योग्य आदमियों को प्राचीन पुस्तकों की खोज में, पर्याप्त धन दे देकर, इधर उधर भेजा। देश-देशान्तरों से ढूँढ ढूँढ और चुन चुन कर पुस्तकें मँगायीं, और उनके अनुवाद कराये। मामूँ एक आदर्श विद्या-प्रेमी विद्वान्

और गुणग्राहक शासक था । मामूँ का यह असाधारण विद्या-प्रेम उस समय और भी आदरणीय प्रतीत होता है जब हम इतिहास में पढ़ते हैं कि मामूँ के पूर्ववर्ती एक 'ख़लीफ़ा' ने ही सिकन्दरिया का जगत्प्रसिद्ध पुस्तकालय जलाकर खाक कर दिया था। और भी कितने ही धर्मान्ध शासकों ने अनेक बार पुस्तकों से हम्माम गरम कराये हैं । विद्या-निषेध के ये दुर्दृश्य पुराने असभ्य समय में अशिक्षित शासकों द्वारा ही संसार को देखने नहीं पड़े, प्रत्युत सभ्यता के ठेकेदार योरप की सुशिक्षित शक्तियों ने भी ऐसी होली खेली है। बाक्सर-विद्रोह के समय जब चीन पर योरप के नवग्रहों ने चढ़ाई की थी उस समय का समाचार एक प्रत्यक्ष-दर्शी ने बड़े दुःख से लिखा है कि चीन के अत्यंत प्राचीन राजकीय विद्यालय की बहुमूल्य अलभ्य पुस्तकें और ऐतिहासिक सामग्री हफ्तों तक गाड़ियों में लाद लाद कर शाही महल के सहन में इकट्ठी की गयी और जलायी गयी जिनकी राख से पेकिन की चौड़ी सड़कें पट गयीं और कुएँ अट गये। लोवेन के पुस्तकालय की जो दुर्दशा सभ्यताभिमानी जर्मनों ने की वह अभी कलकी घटना है। मतलब यह कि विद्या-प्रेम किसी जाति की बपौती नहीं है । प्रत्येक जाति में विद्या-प्रेमी और विद्याद्वेषी होते रहे हैं। मामूँ रशीद के प्रशंसनीय विद्या-प्रेम पर मुसलमान जाति ही नहीं, एशिया-निवासी समुचित गर्व कर सकते हैं। मामूँ के समय जिन विद्या-सम्बन्धी भारतीय और यूनानी ग्रन्थों के अनुवाद हुए, बाद को प्रायः उन्हीं के सहारे योरप में विद्या-प्रकाश पहुंचा। इस प्रकार यूरप भी उसका बहुत अच्छा ऋणी है।

मामूँ विद्या-प्रेम की दृष्टि से ही प्रशंसनीय नहीं, वह जैसा उच्च कोटि का विद्वान् था वैसा ही प्रथम श्रेणी का सुशासक भी था। उसमें शासकोचित समस्त सद्गुण अत्यधिक मात्रा में विद्यमान थे । उसकी क्षमाशीलता और न्याय-प्रियता सीमा से भी आगे बढ़ गयी थी। इन दो गुणों के कारण उसका शासन इसलाम के इतिहास में 'बदनाम' है । नीति-निपुण सज्जनों की सम्मति में शासक में 'भीम' और 'कान्त' दोनों गुण समान मात्रा में होना आवश्यक है। इस गुण-निधि शासक-समुद्र में कमनीय रत्न ही रत्न भरे थे, भय-जनक जन्तुओं का अभाव था। इस 'अभाव' की अक्सर शिकायत की गयी है। मौलाना शिबली मामूँ की जीवनी में लिखते हैं— "मामूँ के उदार चरित पर यदि कुछ नुक़्ताचीनी हो सकती है, तो यह हो सकती है कि उसका रहम (दया) और इन्साफ़ (न्याय) एतदाल की हद (औचित्य की सीमा) से आगे बढ़ गया था, जिसका यह असर था कि उसने ज़ाती हकूक़ को (व्यक्तिगत स्वत्वों को) बिलकुल नज़र अन्दाज़ कर दिया था। बदज़बान शायर उसकी हिजो (निन्दापरक कविता) लिखते थे, पर वह ध्यान न देता था। उसके नौकर गुस्ताखियाँ करते थे लेकिन उसे ज़रा परवा नहीं होती थी! यही नहीं, उसकी निन्दा में कवियों ने जो कविताएँ लिखी थीं वह उसे कण्ठस्थ थीं। वह कविता की दृष्टि से उनकी दाद देता और प्रशंसा किया करता था। वह अच्छी कविता का बड़ा क़दरदान और स्वयं सुकवि था"। उस समय एक अरबी कवि बड़ा ही उद्दण्ड और निन्दा लिखने में "सौदा" की तरह सिद्ध-हस्त था। उसकी हिजो-गोई से, अक्सर लोग तंग थे। उसके बारे में एक बार मामूँ के चचा इबराहीम ने शिकायत की कि उसकी बद-ज़बानियाँ हद से गुज़र गयीं। मेरी ऐसी हिजो (निन्दा) लिखी है जो किसी तरह दर गुज़र के क़ाबिल नहीं। इबराहीम ने उस हिजो के कुछ पद्य भी सुनाये। मामूँ ने कहा चचा जान! उसने मेरी हिजो इससे भी बढ़कर लिखी है, चूँकि मैंने दर गुज़र की, उम्मीद है आप भी ऐसी दर गुज़र करेंगे। इबराहीम ही नहीं, उस कवि की करतूत से सारा दरबार परेशान था। मामूँ के एक प्रतिष्ठित दरबारी ने, जो स्वयं भी कवि था, कई बार उस निंदक कवि के विरुद्ध मामूँ को भड़काया कि आखिर दर गुज़र कहाँ तक? मामूँ ने कहा कि अच्छा, यदि यह

ही लेना है, तो तुम भी उसकी निन्दा लिखदो; परन्तु सिर्फ़ यह लिखो कि वह लोगों की निन्दा में जो कुछ कहता है ग़लत कहता है। मामूँ अक्सर कहा करता था कि मुझे क्षमा-प्रदान में जो मज़ा आता है, यदि लोग उसे जान जायँ, तो अपराध और आज्ञाभंग का मेरे पास 'तोहफा' लेकर आवें। मामूँ को दावा था कि बड़े से बड़ा अपराध भी मेरी क्षमा-शीलता को भंग नहीं कर सकता। एक आदमी से, जो अनेक बार आज्ञा-भंग का अपराध कर चुका था, मामूँ ने कहा कि तू जिस क़दर गुनाह (अपराध) करता जायगा, मैं बराबर बख्शता जाऊँगा, यहाँ तक कि आख़िर यह मेरा क्षमा-भाव तुझे थकाकर दुरुस्त कर देगा। मामूँ को अपनी इस हद से बढ़ी हुई क्षमा-शीलता पर (जो शासन-नीति के विरुद्ध है) अभिमान था। वह फ़ख्र से कहता था कि दास और दासियाँ अक्सर अपनी श्रेणी में मुझको गालियाँ देती हैं, और मैं खुद अपने कानों से सुनकर जान बूझकर टाल जाता हूँ। इस क्षमाशीलता के कारण मामूँ के गुलाम तक इतने ढीठ हो गये थे कि जवाब दे बैठते थे। मामूँ के एक मुसाहिब ने एक ऐसी ही घटना का उल्लेख किया है। उसका बयान है कि "मैं (मुसाहब) एक बार मामूँ की ख़िदमत में हाज़िर था। मामूँने गुलाम को आवाज़ दी; पर कोई न बोला। फिर पुकारा तो एक तुर्की गुलाम हाज़िर हुआ और बड़बड़ाने लगा कि "क्या गुलाम खाते-पीते नहीं? जब ज़रा किसी काम से बाहर गये तो आप "या गुलाम या गुलाम!" चिल्लाने लगते हैं! आख़िर या गुलाम की कोई हद भी है? मामूँ ने सिर झुका लिया और देर तक सिर नीचा किए बैठा रहा। मैंने समझा कि बस, अब गुलाम की ख़ैर नहीं। मामूँ ने मेरी ओर देख कर कहा "नेकमिज़ाजी में यह बड़ी आफ़त है कि नौकर और गुलाम धृष्ट और बदमिज़ाज हो जाते हैं; पर यह तो नहीं हो सकता कि उन्हें विनीत बनाने के लिये मैं स्वयं दुर्विनीत बनूँ।"

यह बात ठीक हो सकती है कि शासक के लिये इतनी सहनशीलता शोभा नहीं देती, इस से उसकी प्रतिष्ठा में फ़र्क़ आता है, रोब-दाब जाता रहता है; पर मामूँ ने इस सीमातिक्रान्त गुण से अपने 'ज़ाती हक़ूक़' भले ही भुला दिये हों, सर्व साधारण के स्वत्वों की वह पूरी रक्षा करता था। अपने व्यक्तिगत मिथ्या गौरव की उसे परवा न थी; पर इससे उसकी न्याय-निष्ठा में कुछ अन्तर नहीं आने पाता था। क्षमाशीलता कुछ निर्बलता के कारण नहीं थी। यह उसके समवेदना-शील, सहानुभूति-पूर्ण और दयार्द्र अन्तःकरण का पूरा प्रतिबिम्ब थी। उसे इसपर गर्व था और समुचित गर्व था। इस विषय में उसका यह सिद्धान्त था कि "शरीफ़ (सज्जन) की यह पहिचान है कि अपने से बड़े को दबा ले और छोटे से खुद दब जाय"—इस सिद्धान्त का वह सच्चा अनुगामी था, जैसा कि उसके जीवन की अनेक ऐतिहासिक घटनाओं से सिद्ध है। उसके उच्च पदाधिकारियों के अन्याय की जब कोई शिकायत उसकेपास पहुँचती थी, तो वह बड़े ध्यान से सुनता और प्रतीकार किया करता था। एक बार उसके एक बहुत बड़े अधिकारी के विरुद्ध किसी ने अर्ज़ी दी। मामूँ ने उसपर यह हुकुम लिख कर उस अधिकारी के पास भेज दी—"जिस वक्त तक एक आदमी भी मेरे दरवाज़े पर तेरी शिकायत करनेवाला मौजूद है, तुझको मेरे दरबार में रसाई (पहुँच) न होगी।" मामूँ के भाई अबू ईसा की किसी ने शिकायत की। मामूँ ने अपने भाई को लिखा—"प्रलयके दिन जब इन्साफ़ होगा तो कुल और गौरव पर ध्यान नहीं दिया जायगा।" हमीद नामक एक दूसरे अधिकारी को किसी की शिकायत पर यह कह कर फटकारा—"ऐ हमीद! दरबारी-पने पर न भूलना, न्याय में तू और कमीना गुलाम दोनों बराबर हैं।" ऐसे ही प्रसंग पर एक और अधिकारी को यह डाँट बतलायी—"तेरा बेतमीज़ और दुःस्वभाव तो मैंने गवारा (सहन) किया; लेकिन प्रजा पर जुल्म करना तो नहींवर

दाश्त कर सकता हूं। " डमरू नामक उद्दण्ड पदाधिकारी को यह उपदेशपूर्ण भर्त्सना की—"ऐ डमरू! अपने को अदल (न्याय) से आबाद कर, ज़ुल्म तो उसका ढा देने वाला है"।

मामूँ का यह उपदेश दूसरों के लिये ही नहीं था, न्याय-दण्ड का प्रहार सहने को स्वयं भी सहर्ष सदा तयार रहता था। रविवार का दिन उसने दीन-दुखियों की पुकार सुनने के लिये नियत कर रक्खा था। उस दिन वह प्रातःकाल से लेकर दिन ढले तक दरबार आम करता था जिसमें खास व आम किसी के लिये कुछ रोक न थी, और जहाँ पहुँच कर एक कमज़ोर मज़दूर को अपने हक़ूक़ में खानदान-शाही-की बराबरी का दावा-होता था।

एक दिन एक दीन बुढ़िया ने दरबार में आकर यानी शिकायत पेश की कि "एक ज़ालिम (अन्यायी) ने मेरी जायदाद छीन ली है।" मामूँ ने कहा-"किसने और वह कहाँ है?" बुढ़िया ने इशारे से बताया कि "आपके पहलू (बग़ल) में"। मामूँ ने देखा तो खुद उसका बड़ा बेटा अब्बास था। वज़ीर आज़म को हुक्म दिया कि शाहज़ादे को बुढ़िया के बराबर ले जा कर खड़ा कर दें; दोनों के इज़हार सुने। शाहज़ादा अब्बास रुक रुक कर आहिस्ता गुफ़्तगू करता था। लेकिन बुढ़िया की आवाज़ निर्भयता के साथ ऊँची होती जाती थी। वज़ीर आज़म ने रोका कि खलीफ़ा के सामने चिल्लाकर बोलना (ख़िलाफ़े अदब) सभ्यता के विरुद्ध है। मामूँ ने कहा जिस तरह चाहे आज़ादी से कहने दो, सचाई ने उसकी ज़बान तेज़ कर दी है और अब्बास को गूंगा बना दिया है।" आख़ीर में मुक़द्दमे का फ़ैसला बुढ़िया के हक़ में हुआ, और जायदाद वापस दिला दी गयी।

मामूँ की इस आज़ाद-पसन्दी (स्वातन्त्र्य-प्रियता) ने उसके न्यायाधिकारियों को भी न्याय-परायणता में बहुत स्वतंत्र और निर्भय बना दिया था।

एक बार खुद मामूँ पर एक शख्स ने तीस हज़ार का दावा दायर किया, जिसकी जवाबदेही के लिये उसको (मामूँ को) दारुलक़ज़ा (चीफ़ जस्टिस के इजलास) में हाज़िर होना पड़ा। सेवकों ने क़ालीन लाकर बिछाया कि खलीफ़ा (मामूँ) उसपर तशरीफ़ रक्खें, लेकिन क़ाज़ी-उलक़ज़ात (चीफ जस्टिस) ने मामूँ से कहा कि यहाँ आप और मुद्दई दोनों बराबर दर्जा रखते हैं। मामूँ ने कुछ बुरा न माना, बल्कि इस न्याय के पुरस्कार में चीफ़ जस्टिस का वेतन और बढ़ा दिया।

ये घटनाएँ मामूँ की न्याय-प्रियता और प्रजा-पालन-दक्षता के उज्ज्वल प्रमाण हैं। आज-कल की रोशनी के ज़माने में प्रजा-तन्त्र-प्रणाली के शासनों में भी ऐसे उदाहरण कहीं ढूंढे न मिलेंगे। झूठी धाक (Prestige) की मान-मर्यादा के लिये भयङ्कर हत्या-काण्डों पर पालिसी का पर्दा डालकर असलियत को छिपा देना ही आज-कल की राजनीति है जिनके मत में अन्याय-पीड़ित प्रजा के आर्तनाद को बग़ावत समझना, और दाद के बदले दण्ड देना ही आतङ्क बिठाने का बढ़िया उपाय है, वे भले ही मामूँ की शासन-योग्यता पर सन्देह या नुक्ताचीनी करें; पर इन्साफ़ से देखा जाय तो मामूँ वास्तव में सच्चा शासक था। फिर यह भी नहीं कि वह निरा नरम ही था। उसके न्याय-मार्ग में जो रुकावट डालता था, चाहे वह कितना ही प्रभावशाली या प्रिय व्यक्ति क्यों न हो, उसका जानी दुश्मन था। वज़ीर आज़म 'फ़ज़ल' जो बचपन से उसका साथी था, जिसने मामूँ की हर मुश्किल में मदद की, जिसके बल-पराक्रम से मामूँ ने निष्कण्टक राज्य पाया और साम्राज्य बढ़ाया, वह जब अधिकार-मद में अत्याचार पर उतारू हुआ, न्यायार्थियों को खलीफ़ा के पास पहुंचने में बाधा देने लगा, लोग उसके आतङ्क से काँपने लगे, सच ज़ाहिर करने में डरने लगे, तब यद्यपि वह सल्तनत में स्याह सफ़ेद का मालिक था, खलीफ़ा भी उसकी कारगुज़ारियों का बड़ा कृतज्ञ था, उसका [illegible]

लिहाज़ करता था; पर उसकी न्याय-बाधा को अधिक सहन न कर सका । आखिर ख़लीफ़ा ने 'फ़ज़ल' का काँटा छाकर ही छोड़ा, कराटको दूर करके न्यायमार्ग को निष्कराट बनाकर ही दम लिया । सचमुच वह अपने इस आदर्श (Motto) के अनुसार सच्चा शरीफ़ था—"शरीफ़ की यह पहचान है कि वह अपने से बड़े को दबाए, और छोटे से खुद दब जाय।"

मामूँ को सर्व साधारण के समाचार जानने का बड़ा शौक़ था । १७०० बूढ़ी औरतें मुकर्रर थीं जो तमाम दिन शहर बग़दाद में फिरती थीं, और शहर का कच्चा चिट्ठा उसको पहुँचाती थीं, पर मामूँ के सिवा किसी को उनके नामो-निशान का पता न था । हर सीगे (विभाग) में अलग अलग खुफ़ियानवीस और वाक़ानिगार (घटना-लेखक) मुक़र्रर थे । मुल्क का कोई ज़रूरी वाक़ा उससे छिपा न रह सकता था; पर यह अजीब बात है कि इस तरह की कुरेद और खोज का जो यह आम असर होता है कि हर शख्स से बदगुमान हो जाना, और सर्वसाधारण की स्वतन्त्रता में बाधक होना, मामूँ इस ऐब से बिलकुल बरी था । उसके जीवन-इतिहास का एक एक अक्षर छान डालो, एक घटना भी ऐसी नहीं मिल सकती जिससे उसकी इस कार्रवाई पर हरफ़ आ सके । मामूँ के इस खुफ़िया महकमे से प्रजा को बहुत लाभ पहुँचता था। मामूँ को लोगों के भेद जानने का एक व्यसन सा था। वह भेदिया-विभाग पर लाखों रुपये खर्च करता था; पर ये भेदिये आज कल की तरह के भेड़िये नहीं होने पाते थे । मामूँ चुग़लखोरों और पिशुनों का जानी दुश्मन था । इस विषय में उसके उच्च विचार सोने के अक्षरों में लिखने के लायक़ हैं । उसके सामने जब पर-निन्दक पिशुनों का प्रसङ्ग आता था तो वह कहा करता था कि " उन लोगों की निसबत तुम क्या ख्याल कर सकते हो जिन्हें ईश्वर ने सच कहने पर भी लानत (धिक्कार) की है?" उसका कथन था कि "जिस शख्स ने किसी की शिकायत करके अपनी इज़्ज़त मेरी आँखों में घटा दी, फिर किसी तरह बसे नहीं बढ़ा सकता ।"

'शिबली' लिखते हैं कि " मामूँ यद्यपि बड़ी शान शौक़त का बादशाह था, नामवरी के दफ्तर में इतिहासलेखकों ने उसके प्रभुत्व की महत्वपूर्ण गाथाएं मोटे अक्षरों में लिखी हैं; पर हमारी राय में जो चीज़ उसके जीवनचरित्र को अत्यन्त अलंकृत और प्रभावशाली बना देती है वह उसकी सादा मिज़ाजी और बेतकल्लुफ़ी है । एक ऐसा बादशाह जो तख्त हुकूमत पर बैठ कर कुल इसलामी दुनिया के भाग्य का विधाता बन जाता है किस क़दर अजीब बात है कि आम दोस्तों से मिलने जुलने में सल्तनत की शान का लिहाज़ रखना पसन्द नहीं करता । अकसर विद्वान् और गुणी पुरुष रात को उसके अतिथि होते थे और उसके बिस्तर से बिस्तर लगा कर सोते थे; पर उसका आम बरताव ऐसा ही होता था जैसा कि एक अन्तरंग मित्र का मित्र के साथ होता है । क़ाज़ी 'याहया' एक रात उसके मेहमान थे । अचानक आधी रात के बाद उनकी आँख खुल गई, और प्यास मालूम हुई । चूंकि चेहरे से व्याकुलता प्रकट होती थी, मामूँ ने पूछा, कुशल है ? क़ाज़ी साहब ने प्यास की शिकायत की । मामूँ खुद चला गया, और दूसरे कमरे से पानी की सुराही उठा लाया । क़ाज़ी साहब ने घबराकर कहा—हुज़ूर ने नौकरों को आज्ञा दी होती। मामूँ ने मुहम्मद साहब की एक आज्ञा सुना कर कहा कि "सेवा-भाव ही आदमी को बड़ा बनाता है । " रात को सेवक सो जाते थे, तो वह खुद उठकर चिराग़ और शमा दुरुस्त कर देता था ।

एक बार बाग़ की सैर को गया। क़ाज़ी यहिया भी साथ थे । मामूँ उनके हाथ में हाथ देकर टहलने लगा । जाने के वक्त धूप का रुख़ क़ाज़ी साहब की तरफ था, वापिस आते वक्त मामूँ की तरफ बदल गया । क़ाज़ी साहब ने चाहा कि धूप का पहलू खुद ले लें, जिससे मामूँ छाया में आ जाय; पर मामूँ ने यह न माना और कहा कि ।

यह बात इन्साफ़ से बहुत दूर है। पहले मैं छाया में था, अब वापिसी के वक्त तुम्हारा हक़ है। मामूँ की सादा मिज़ाजी उस समय और भी विचित्र मालूम होती है जब इसी अब्बासी ख़ान्दान के उससे पहले ख़लीफ़ाओं के चरित्रों पर दृष्टि डाली जाती है। मामूँ के परदादा ख़लीफ़ा 'महदी' से पहले तो दरबारियों को ख़लीफ़ा के दर्शन भी न मिलते थे। ख़लीफ़ा के सिंहासन के आगे कोई बीस हाथ के फ़ासले पर एक बहुमूल्य परदा पड़ा रहता था, और दरबारी लोग उससे कुछ फ़ासले पर हाथ बाँधे खड़े होते थे, ख़लीफ़ा परदे की ओट में बैठकर आज्ञा-प्रदान करता था। यद्यपि ख़लीफ़ा 'महदी' ने ख़िलाफ़त के चेहरे से यह उपचारपूर्ण परदा उठा दिया था; पर फिर भी और बहुत से तक़ल्लुफ़ के परदे अभी बाक़ी चले आते थे। मामूँ के अहद तक तमाम दरबार अब तक इसी तरह के रीति रिवाज़ का पाबन्द चला आता था। मामूँ ने अपनी सादा मिज़ाजी से दरबार के क़ायदों में बहुत कुछ बे-तक़ल्लुफ़ी और सादगी पैदा कर दी थी।

मामूँ विद्वानों का कितना क़दरदान था, विद्वानों के सम्मान का उसे कितना ध्यान था, इसका पता इस नीचे लिखी घटना से अच्छा मिलता है। मामूँ के दो पुत्र 'फ़र्रा' नामक एक विद्वान् से शिक्षा पाते थे। एक बार उक्त शिक्षक किसी काम के लिए अपनी गद्दी से उठा, दोनों शहज़ादे दौड़े कि जूतियाँ सीधी करके आगे रख दें; पर क्योंकि दोनों साथ पहुंचे, इस पर झगड़ा हुआ कि गुरु-सेवा का यह श्रेय किसे प्राप्त हो। आख़िर दोनों ने आपस में फ़ैसला कर लिया। हर एक ने एक जूता सामने लाकर रक्खा। मामूँ ने एक एक चीज़ पर पर्चेनवीस मुक़र्रर कर रक्खे थे। फ़ौरन इत्तला हुई; और उस्ताद 'फ़र्रा' बुलाये गये। मामूँ ने उससे कहा—'आज दुनिया में सबसे अधिक प्रतिष्ठित और पूज्य कौन है? फ़र्रा ने कहा "अमीर उल्मोमनीन (मुसलमानों के स्वामी—मामूँ) से अधिक प्रतिष्ठित कौन हो सकता है? मामूँ ने कहा "वह जिसकी जूतियाँ सीधी करने पर अमीर उल्मोमनीन के प्राणोपम पुत्र भी आपस में झगड़ा करें!" फ़र्रा ने उत्तर दिया "मैंने ख़ुद शाहज़ादों को रोकना चाहा था; पर फिर ख़्याल हुआ कि उनके इस श्रद्धाभाव में बाधक क्यों बनूं"। मामूं "यदि तुम उनको रोकते, तो मैं तुम से बहुत अप्रसन्न होता। इस बात ने उनकी इज़्ज़त (प्रतिष्ठा) कुछ कम नहीं की; किन्तु कुलीनता और शिष्टता का और परिचय दे दिया। बादशाह, बाप, और गुरु की सेवा से इज़्ज़त बढ़ती है घटती नहीं।" यह कहकर लड़कों को गुरु-भक्ति और 'फ़र्रा' को अध्यापन-दक्षता के पुरस्कार में दस दस हज़ार दर्हम* दिलाये।

मामूँ अनेक विषयों का असाधारण विद्वान् था। विद्वत्ता की दृष्टि से वह एक आदर्श प्रामाणिक पुरुष माना जाता था; पर उसे अहंकार और आग्रह छू नहीं गया था। अपनी ग़लती को ग़लती मान लेने में उसे ज़रा संकोच न था। "बुद्धेः फलमनाग्रहः" का इससे उत्तम उदाहरण और क्या होगा कि एक शब्द की एक ज़रा सी ज़ेर। ज़बर की ग़लती बताने पर एक विद्वान् को उसने इतना पुरस्कार दे डाला जितना किसी ने अपनी प्रशंसा में 'क़सीदा' (कविता) सुनकर भी न दिया होगा। एक बार एक बहुत बड़े विद्वान् 'नज़र' नामक मामूं की ख़िदमत में हाज़िर हुए। वे मामूं की सादगी और बेतकल्लुफ़ी से वाक़िफ़ थे। कपड़े तक नहीं बदले, वही कुहन के मैले-कुचैले मोटे कपड़े पहने दरबार शाही में चले आये। मामूं—"क्यों नज़र! अमीर उल्मोमनीन से इस लिबास (वेष) में मिलने आये हो!" नज़र—सख़्त गर्मी की इन्हीं कपड़ों से हिफ़ाज़त होती है। मामूं—"यह तो बहाने हैं, असल बात यह है कि तुम किफ़ायत शाही पर मरते हो"। इसके बाद फिर इल्म 'हदीस' की चर्चा शुरू हुई। मामूं ने एक 'हदीस' कही; पर "सिदाद" शब्द को जो इस हदीस में

---

*'दर्हम' उस वक्त का एक तांबे का सिक्का था जो आज कल के ।) के बराबर होता था। संस्कृत वालों का "द्रम्म" भी शायद यही है!

आया है ग़लत पढ़ गये। नज़र ने यह ग़लती उनपर ज़ाहिर करनी चाही, तो उसी हदीस को अपने ढंग पर बयान किया और उस शब्द को कसर-ज़ेर के साथ "सिदाद" पढ़ा। मामूँ तकिया लगाए बैठा था, सहसा सँभल बैठा, और कहा क्यों, क्या "सदाद" फ़तह-ज़बर-से ग़लत है। नज़र ने कहा कि हाँ, 'हशीम' आप के उस्ताद ने आप को ग़लत बताया।" मामूं—क्या दोनों के मानी (अर्थ) मुख्तलिफ़ हैं। नज़र—हाँ, 'सदाद' के मानी रास्तरवी (सीधे मार्ग पर चलना) के हैं। 'सिदाद' उसको कहते हैं जिससे कोई चीज़ रोकी जाय' मामूं ने कहा—"कोई 'सनद' (प्रमाण) बता सकते हो?" नज़र ने अपने कथन की पुष्टि में अरबी का एक शेर पढ़ा। मामूं ने सिर नीचे कर लिया, और कहा, "ख़ुदा उसका बुरा करे जिस को फ़ने-अदब (साहित्यशास्त्र) नहीं आता।" फिर नज़र से भिन्न भिन्न विषयों के पद्य सुनें, और रुख़सत होते वक्त वज़ीर आज़म फ़ज़ल को रुक्का लिख दिया कि नज़र को पचास हज़ार दर्हम अदा किये जायँ।" नज़र यह रुक्का लेकर ख़ुद फ़ज़ल के पास गये। फ़ज़ल ने रुक्का पढ़कर कहा-"तुमने अमीरउलमोमनीन (मामूं) की ग़लती साबित की?" नज़र ने कहा—नहीं, ग़लती तो हशीम (मामूं के उस्ताद) ने की। अमीर-उलमोमनीन पर क्या इलज़ाम है। फ़ज़ल ने पचास हज़ार पर तीस हज़ार अपनी तरफ़ से और बढ़ाये।" इस तरह एक ग़लती बताने के बदले में नज़र ने अस्सी हज़ार दर्हम हासिल किये।

मामूं को विद्या का व्यसन था। यों तो उसकी कोई मजलिस (सभा) भी शास्त्र-चर्चा से ख़ाली नहीं होती थी, पर मंगलवार शास्त्रार्थ का नियत दिन था। इसका ढंग यह था कि प्रातःकाल कुछ दिन चढ़े, हर मज़हब और सम्प्रदाय के विद्वान् और कला-कुशल गुणी जन उपस्थित हुए। शाही दरबार का एक बड़ा कमरा पहले ही से सजाया रहता था, सब लोग बहुत बेतकल्लुफ़ी से वहाँ बैठगये। सेवकों ने प्रत्येक उपस्थित सज्जन के सामने आकर अर्ज़ किया कि बेतकल्लुफ़ी से तशरीफ़ रखिए, और चाहें तो पाँव से मोज़े भी उतार दीजिए। फिर तरह तरह की खाने पीने की चीज़ें प्रस्तुत हुईं सबने भोजन किया। हाथ-मुँह धोया। अगर और लोबान की अँगीठियाँ आईं। कपड़े बसाये, ख़ुशबू मली। ख़ूब तृप्त और सुगन्धित होकर शास्त्रार्थ मन्दिर (दारुल्-मनाज़रा) में पहुंचे और मामूं के जानू से जानू मिलाकर बैठे। शास्त्रार्थ शुरू हुआ। मामूं ख़ुद एक फ़रीक़ बनता था; पर भाषण इस स्वतन्त्रता से होते थे कि मानो किसी शख़्स को यह मालूम ही नहीं कि सभा में ख़लीफ़ा भी मौजूद है! दोपहर तक यह सभा जमी रहती। सूरज ढलने के बाद फिर खा-पीकर रुख़सत होते थे। इन शास्त्रार्थों में कभी कभी वक्ता लोग सीमा का उल्लंघन भी कर जाते थे; पर मामूं बड़ी गम्भीरता और शान्ति से बरदाश्त करता था।

मामूं की विद्या-सभा में बीस विद्वद्-रत्न थे, जो हज़ारों विद्वानों में से चुनकर रक्खे गये थे। मामूँ को जिस प्रसिद्ध विद्वान् का कहीं पता मिलता, जिस तरह बनता उसे अपने यहाँ बुलाने का प्रयत्न करता। उस समय यूनान में 'लीव' या 'ल्यू' नामक कोई तत्ववेत्ता विद्वान् था। उसके लिए मामूं ने शाहयूनान को लिखा कि उक्त विद्वान् को आज्ञा दी जाय कि वह मुझे यहाँ आकर फ़िलसफ़ा पढ़ा जाय, जिसके बदले में सदा के लिये सन्धि की प्रतिज्ञा और पाँच टन सोना देना मंजूर करता हूं। एक टन २७ मन के क़रीब होता है। कितनी भारी गुरुदक्षिणा है! और शाश्वतिक सन्धि की प्रतिज्ञा इसके अतिरिक्त !!

ये उल्लिखित घटनाएँ मामूँ की उदारता के समुद्र में से दो एक बिन्दु हैं। उसका समस्त जीवन-वृत्तान्त इसी प्रकार के उदारतापूर्ण उपाख्यानों से भरा हुआ है। इस छोटे से लेख में किस किसका उल्लेख किया जाय। ऐसी बातें इस ज़माने में निरी कहानियाँ मालूम होती हैं लेकिन वह ज़माना कवि के शब्दों में बड़ी हसरत से कह रहा है—

"बर्गे ख्वाब की तरह जो कर रहा है,
यह क़िस्सा है जबका कि 'आतिश' जवाँ था।"*

निराली धुन।

[लेखक—साहित्यरत्न पण्डित अयोध्यासिंह उपाध्याय]

मिल गई होती हवा में ही तुरत,
चाहिए था चित्त वह लेती न हर।
जो उठी उससे लहर जी में बुरी,
तो गई क्यों फैल गाने की लहर ॥ १ ॥

सुन जिसे मनचले बहक जावें,
मन करे बार बार मनमाना।
क्यों नहीं वह बिगड़ बिगड़ जाता,
दे भली रुचि बिगाड़ जो गाना ॥ २ ॥

कान से सुन गीत पापों के लिए,
जो न पापी आँख से आँसू छना।
ढंग लोगों का बना उससे न जो,
तब अगर गाना बना तो क्या बना ॥ ३ ॥

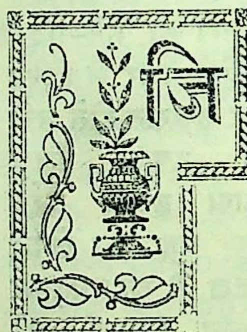
कंठ मीठा न मोह ले हमको,
है बुरा राग-रंग का बाना।
सुन जिसे गाँठ का गँवा देवें,
है भला गठ सके न वह गाना ॥ ४ ॥

जो बुरे भाव भर दिलों में दे,
कर उन्हें बार बार बेगाना।
सुन जिसे पग सुपंथ से उखड़ें,
क्यों नहीं वह उखड़ गया गाना ॥ ५ ॥

जब हमें ताक ताक कान तलक,
काम ने था कमान को ताना।
जब जमा पाँव था बुरे पथ में,
तब भला किस लिए जमा गाना ॥ ६ ॥

चीन में अफ़ीम का विष-वृक्ष।

(लेखक—बाबू जंगबहादुरसिंह)



जिस देश पर पश्चिमीय सभ्यता के चरों की परछाईं तक पड़ गई उस देश का सर्वनाश ही होकर रहा। अभागे थे वे देश जिनपर यह आपत्ति आई, और जो इस आपत्ति के ग्रास बन गए। जो इस पिशाच के मुख से बचकर निकल सके वे ऐसा विकृत स्वरूप लेकर निकले कि उन्हें पहिचानना कठिन हो गया।

कोई समय था जब चीनियों के आचार-व्यवहार में विदेशियों के लिए मनोमुग्धकारी आकर्षण-शक्ति थी। उनके हृदय में अनाचार-कारिणी वृत्तियों का होना दूर रहा, क्रोध तक के लिए स्थान न था। स्निग्ध-वदना-सरस्वती वहाँ पिता को पुत्र से प्रेम करने का और युवावस्था में क़दम रखते हुए किशोरों को वृद्धजनों की ओर आदर-भरी दृष्टि से देखने का सुन्दर पाठ पढ़ाया करती थी। अविश्रांत परिश्रम और विद्योपार्जन ही उनके जीवन की सफलता को सुलभ बना सकते थे। चीनी सरकार अपनी प्यारी प्रजा को प्राणप्रण से इसमें सहायता देने को बाध्य थी।

---

* मामूँ रशीद अब्बासियों के वंश का ६टा ख़लीफ़ा था। इस वंश की ख़िलाफ़त ५२४ वर्ष तक रही। 'मामूँ' का जन्म सन् १७० हिजरी में हुआ, मृत्यु ४८ वर्ष की अवस्था में २१८ हिजरी में हुई। अर्थात् अब से कोई ११०० वर्ष पूर्व, विक्रम की ९ वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में, मामूँ वर्तमान था। स्वर्गीय मौलाना शिबली नेमानी की प्रसिद्ध पुस्तक "अल मामून" से यह लेख संकलित किया गया है।—लेखक।

उसकी ओर से तीन परीक्षाएँ होतीं थीं। जो उनमें उत्तीर्ण होते थे उन्हें वैभव की गोद में स्थान मिलता था। जन्म स्वत्व के स्वेच्छाचारिता-पूर्ण खड्ग की धार यहाँ अपनी तीक्ष्णता खो चुकी थी। पुत्र अपने पिता की कमाई के बल गुलछर्रे नहीं उड़ा सकता था। भारतवर्ष के ब्राह्मणों की भाँति निरक्षर भट्टाचार्य्य के होते भी, कोई जन्म के कारण, पालागन का अधिकारी नहीं समझा जाता था। यहाँ राजा-प्रजा की समता पिता-पुत्र से की जाती थी। इस सम्बन्ध में प्रकृति का वह मधुरस पाया जाता था, जो उनके जीवन की ज्योति को हँसते हँसते जलने में सहायता देता था। उनके न्यायालयों तक में न्याय के गले में हाथ डाले हुए दया राज्य करती थी। न्यायाधीश को राज्य-विद्रोही के अतिरिक्त किसी भी अभियोगी को प्राण-दंड देने का अधिकार न था। सारांश यह कि चीन ऐसे विस्तृत साम्राज्य के कोने कोने में उस समय के सुशासन की मधुर चर्चा सुनाई पड़ती थी।

किन्तु बचा कौन देश? आख़िर चीन के ऊपर भी क्रूर काल की कुदृष्टि पड़ी। अंगरेज़ों ने चीन में अपना पैर जमाया। गोरे-व्यापार का सुदर्शन-चक्र दीन भारतवासियों के गलों को फाड़ता हुआ अभागे चीनियों के सिर पर आकर मँडराने लगा। आगे जो हुआ वह एक दुःख-कथा है। अंगरेज़ों के अमानुषिक कर्मों की गाथा है। फिर भी चीनियों को ईश्वर का कृतज्ञ होना चाहिए कि उनका प्राणों से प्यारा देश बच गया।

सन् १७२९ में महाराज यांगचांग (Emperor Yung Chang) ने एक घोषणा निकाली, जिसमें उन्होंने व्यापार द्वारा अंगरेज़ों के चीन में अफ़ीम के प्रचार करने का घोर प्रतिवाद किया। उस समय चीन में अफ़ीम की खपत लगभग दो सौ सन्दूक़ थी। ज्यों ज्यों प्रतिवाद की आवाज़ को ऊँचा करते हुए घोषणाएँ निकलती गईं, त्यों त्यों इन सन्दूक़ों की संख्या में वृद्धि होती गई। अंगरेज़ी व्यापारियों की धृष्टता बढ़ती ही गई। धन के लोभ ने उनको पागल बना दिया। उन्हें पाप-पुण्य की पहिचान न रही, वे मनमाने अनाचार करने लगे। इन धन-लोलुप व्यापारियों पर सदा यही धुन सवार रहती थी कि किसी प्रकार इनमें विष का व्यापार बढ़े। वे अपने जाति-भाइयों के मुख पर कालिमा लगाने पर तुले हुए थे। इस विष का जो भयंकर प्रभाव चीनियों पर पड़ रहा था उसके भीषण चित्र को देखकर मनुष्य का हृदय काँप उठता है। विलास-प्रियता उनकी शक्ति का ह्रास कर रही थी, और वे धीरे धीरे नैराश्य के अन्ध-कूप में गिर रहे थे। गोरे व्यापारी सब कुछ जानते हुए भी नहीं देखते थे। और, वे देखते ही क्यों? उन्हें तो अपनी थैलियों के सर्व्वाहारी पेट भरने थे। उन्हें भर कर वे इँगलैण्ड को लौट जाते, और वहाँ अपने भव्य कमरे की अँगीठी के पास बैठ कर आनन्द के गीत गाते थे। उन्हें इसकी क्या चिंता थी कि चीन का बच्चा बच्चा अंगरेज़ों को कोसता है। उलटे चीनियों के प्रतिवाद का विरोध करते हैं डाक्टरों के इस कथन को कि अफ़ीम का प्रचार करके चीनियों की शारीरिक तथा मानसिक शक्तियों का ख़ून किया जा रहा है वे हँसकर उड़ा दिया करते। स्वार्थपरते! बता तेरी सीमा कहाँ है?

धन का लोभ बढ़ता ही गया। व्यापार बढ़ाने की चिन्ता में इँगलैण्ड ने अत्याचारों की की सूची पूरी कर दी। एक बार नहीं, कई बार चीनियों को युद्ध करने पर विवश कर दिया, और बेचारों को शक्ति-हीन पाकर गोरे उनकी भूमि पर अधिकार जमा बैठे, जिससे कि ये

सामुद्रिक डाकू वहाँ अपने विष का ज़हर उतार सकें। इन धूर्तों की चालों के कारण अन्त में चीनी सरकार को भी चीन ही में इस विष के उपजाने के लिए बाध्य होना पड़ा। क्या कोई ऐसा भी अँगरेज़ है जिसकी गर्दन अपने पूर्वजों के इन दुष्कर्मों का हाल सुनकर लज्जा से झुक न जायगी ?

सन १७७३ में मामूली व्यापारियों के हाथ से निकलकर यह विष-व्यापार ईस्ट-इण्डिया कम्पनी के हाथ में चला गया। इससे अधिक बुद्धिमानी की बात और क्या की जा सकती थी ? 'क़ातिल' को 'क़त्ल' करने का काम सौंपा गया अच्छा ही हुआ। ईस्ट-इण्डिया कम्पनी की छुरी हिन्दुस्थानियों के गलों पर चल कर काफ़ी तेज़ हो चुकी थी। जो टेढ़ी चालें इन्होंने यहाँ चलीं थीं वही चीन में भी चलना आरम्भ कर दीं। कंपनी के पत्र-विद्युत ने चमक चमक कर उस घोर अंधकार में प्रकाश फैलाया। कहा गया कि यह अफ़ीम का विषैला व्यापार अंगरेज़ों के लिए लज्जाजनक है, शीघ्र ही इसका अन्त होगा। डाइरेक्टरों के आज्ञा-पत्र-जलद ने खूब ही गर्जन किया। चीनियों ने समझा कि अमृत-वर्षा होगी जिससे तप्त हृदयों को शान्ति मिलेगी। परन्तु वे मेघ बिना बरसे ही चले गये। उस वर्ष इस व्यापार में कम्पनी तथा उसके एजन्टों को लम्बी रक़में मिलीं।

इतना करके भी कंपनी को संतोष न हुआ। भारतवर्ष में भी यह विष-वृक्ष बोया जाने लगा, और चीन में जगी हुई नीच प्रकृतियों की उदर-पूर्ति की जाने लगी। मिस्टर सैमुअल राउनट्री का कहना है कि "जिन जहाज़ों पर लादकर यह विष चीन में लाया जाता था उनपर तोपें चढ़ी रहती थीं और जहाज़ वाले स्वयं सिर से पैर तक अस्त्र-शस्त्रों से सज्जित रहते थे। इस प्रकार लूट का यह घृणित कार्य्य जारी रखा गया।' इसका विरोध करते करते चीन के एक राजा क गला फट गया। वह घोषणा निकालते निकालते थक गया; किन्तु अफ़ीम का विक्रय बढ़ता ही गया और यहाँ तक बढ़ा कि अफ़ीम के बक्सों की संख्या, जो सन् १७२९ में २०० के लगभग थी सन् १८३५ में १७,००० के ऊपर पहुँच गई ! कम्पनी के प्रबन्ध-कर्ताओं ने इस प्रलयाग्नि को बढ़ाने में कुछ उठा न रक्खा। दिन-दहाड़े लूटमार होने लगी। देश-भक्त चीनियों की जान पर आ बनी। सन् १८३५ में ब्रिटिश सरकार की आँख का इशारा पाकर ये लुटेरे और भी स्वेच्छाचारी हो गए।

चीनियों के राष्ट्रीय-जीवन के लिए यह व्यापार इतना प्राण-घातक था कि अन्त में चीनी ऐसी शान्तिप्रिय जाति को भी यह असह्य हो उठा, और उसकी तनी हुई भ्रुकुटि को देखकर कुछ समय के लिए इँगलैंड के राजनीतिज्ञों में खलबली मच गई। सन १८३८ की १५ जून को लार्ड पामर्स्टन ने कैपटन इलियट को इस आशय का पत्र लिखा:--"आपके १८ और १९ नवम्बर, और ७ दिसम्बर, सन १८३७ के पत्रों के उत्तर में मुझे लिखना पड़ता है कि ब्रिटिश सरकार उस व्यापार में जिसके द्वारा चीन की शांति भंग की जाती है, और वहाँ के नियमों का उल्लंघन किया जाता है किसी प्रकार की भी सहायता नहीं दे सकती........................!" इसी सिलसिले में पामर्स्टन ने यह भी लिखा था कि "ब्रिटिश सरकार इस घृणित व्यापार के विषय में चीनी सरकार के साथ किसी प्रकार का समझौता करने के लिए प्रस्तावित कमीशन नियत करने को तैयार नहीं है।" यह पत्र कैप्टन इलियट को दो वर्ष के बाद मिला और फिर वह वहीं पड़ा रह गया !

'मर्ज़ बढ़ता ही गया ज्यों ज्यों दवा की।' अगले वर्ष अफ़ीम की खासी बिक्री हुई! १८३९ में फिर चीन के मंत्री ने इँगलैण्ड की अनुनय-विनय की: हाथ जोड़े, पैर पड़े, धर्म की दुहाइयाँ कीं; परन्तु फिर भी कोई सुनाई न हुई। वही चालें, वही धूर्तता, वही वाक्-चातुर्य! यहीं पर अत्याचार का अन्त न हुआ। चूंसा (Chunsa) में आग लगी, और बात की बात में निकट-वर्ती बंदरगाहों में फैल गई। सन १८४० में अंगरेज़ों की तोपों ने चीनियों की मातृ-भूमि के वक्ष-स्थल पर आग के लाल लाल गोले बरसाये। ब्रिटिश सिंह ने चीनियों के रक्त से अपनी प्यास बुझाई।

सन् १८४२ की नामाकिन [Navaynte] की संधि द्वारा हाँगकाँग [Hong Cong] ग्रेटब्रिटेन के अधिकार में आगया, और धीरे धीरे लुटेरों और डाकुओं का अड्डा बन गया। वहाँ यूनियन जैक बड़े गर्व से इस नगर में फहराया करता था और उसीकी छाया के नीचे लूट मचाने के नये नये ढंगों का आविष्कार होता था।

एक नया गुल खिला। कुछ वर्ष पूर्व जिन लार्ड पामर्स्टन ने इस व्यापार का विरोध किया था उन्होंने ही ब्रिटिश एजेन्टों को इस बात के लिए उकसाना आरंभ किया कि वे चीनी सरकार को इस व्यापार की नियमानुकूलता स्वीकार करने के लिए विवश करें। पामर्स्टन की इस सकारी को देख किस सत्याप्रिय पुरुष की तबियत इँगलैंड के राजनीतिज्ञों की ओर से खट्टी न हो जायगी? चीन के महाराजा ने अपने ही हाथों से अपनी प्रजा को विष का प्याला पिलाने से साफ़ इन्कार कर दिया। ईसाई धर्म की पवित्रता की डींगों का अर्थ सब पर खुल गया।

सन् १८४२ में इस व्यापार की और भी वृद्धि हुई, और हाँगकांग की सुरक्षित दीवालों की आड़ में न्याय और धर्म की हत्या की जाने लगी। लाइसेन्स बेचे जाने लगे, और अन्तर्जातीय नियमों तक का निर्दयता के साथ उल्लंघन किया जाने लगा। परिणाम यह हुआ कि सन् १८५६-५७ में फिर एक युद्ध हुआ, जिसमें चीनियों की ही हार हुई। सन् १८५८ में चीनियों को विवश होकर इस व्यापार को जायज़ मानना पड़ा। 'मरता क्या न करता' की कहावत चरितार्थ हुई। इस प्रकार सन् १८५८ से सन् १९०६ तक यह लूट (जायज़ लूट!) बराबर जारी रही।

चीन के निवासी शक्ति-हीन होने लगे। उनके सर्वनाश की आशंका प्रति पल उनके हृदय को कंपाने लगी। उनका हितैषी राजा उनकी इस दुर्दशा को देख विचलित हो उठा। उसने अपने चारों ओर दृष्टि डाली, तो उसके मुख से एक सर्द आह निकल पड़ी—चीन की आबादी का चौथाई भाग विष-पान कर रहा था!

इसी समय इँगलैंड ने एक रायल कमीशन नियुक्त किया। सदा की भाँति स्वार्थी और वाचालों की टोली की प्रधान मूर्तियाँ इस कमीशन की सदस्य बनाई गईं। डाक्टर और मिशनरीज़ चिल्लाते ही रहे, उन्होंने इस व्यापार की उपयोगिता पर अपनी मोहर लगा दी। ब्रिटिश न्याय का यह स्वरूप देखकर अन्याय के मुख-मंडल पर लज्जा के कारण लालिमा छा गई। हिंडमैन ने सच कहा कि "यह रायल कमीशन्स और पारलियामेंटरी कमेटिज़ केवल दिखावे के लिए ही होती हैं। ये तो केवल सरकार के कार्यों को न्याय-संगत सिद्ध करने के लिए अथवा राजनीतिज्ञों की बातों पर रंग चढ़ाने के लिए नियत की जाती हैं"।

अब प्रतिवाद की आँधी ने उग्र रूप धारण कर लिया। चीन एकमत होकर इन अत्याचारियों का विरोध करने के लिए कार्यक्षेत्र में कूद पड़ा।

इँगलैंड के लिए भी यह असम्भव हो गया कि वह २०वीं शताब्दी में उसी निरंकुशता के साथ अपने व्यापार को जारी रख सके जिस निरंकुशता के साथ उसने इसे सन् १८४२ और सन् १८५६-५८ में जारी रक्खा था। चीन को एशियाई तथा यूरोपियि मित्र के मिल जाने की सम्भावना ने इँगलैंड को भयभीत कर दिया। अतः इँगलैंड ने आत्म-समर्पण कर दिया; और १९०६ की २०वीं सितम्बर को चीन के राजा का यह आज्ञा-पत्र निकला :—

१. प्रति वर्ष चीन में अफ़ीम के खेतों का विस्तार $\frac{1}{10}$ के हिसाब से कम किया जाय।

२. प्रत्येक अफ़ीमी का नाम रजिस्टर में दर्ज किया जाय।

३. अफ़ीम की दूकानें धीरे धीरे बन्द कर दी जाँय और लोग छै मास के भीतर भीतर अफ़ीम पीने की आदत छोड़ दें।

४. अफ़ीम के प्रचार का विरोध करने के लिए सभाएँ खोली जायँ, और इस रोग से मुक्ति पाने के लिए दवाएँ मुफ़्त में बाँटी जायँ।

५. सरकारी कर्मचारी आदर्श जीवन व्यतीत करें। साठ वर्ष से कम अवस्था वाले अफ़ीम का प्रयोग छोड़ दें, अथवा नौकरी से हाथ धोवें।

इस आज्ञा के अक्षर अक्षर के साथ लोगों ने सहानुभूति प्रकट की। केवल मौखिक सहानुभूति ही नहीं, वरन् उसके ऊपर आचरण करना भी आरंभ कर दिया। सन् १९०७ में भारतवर्ष में भी अफ़ीम की खेती कम कर दी गई। चीन सर्वनाश के गर्भ में विलीन होने से बाल बाल बच गया।

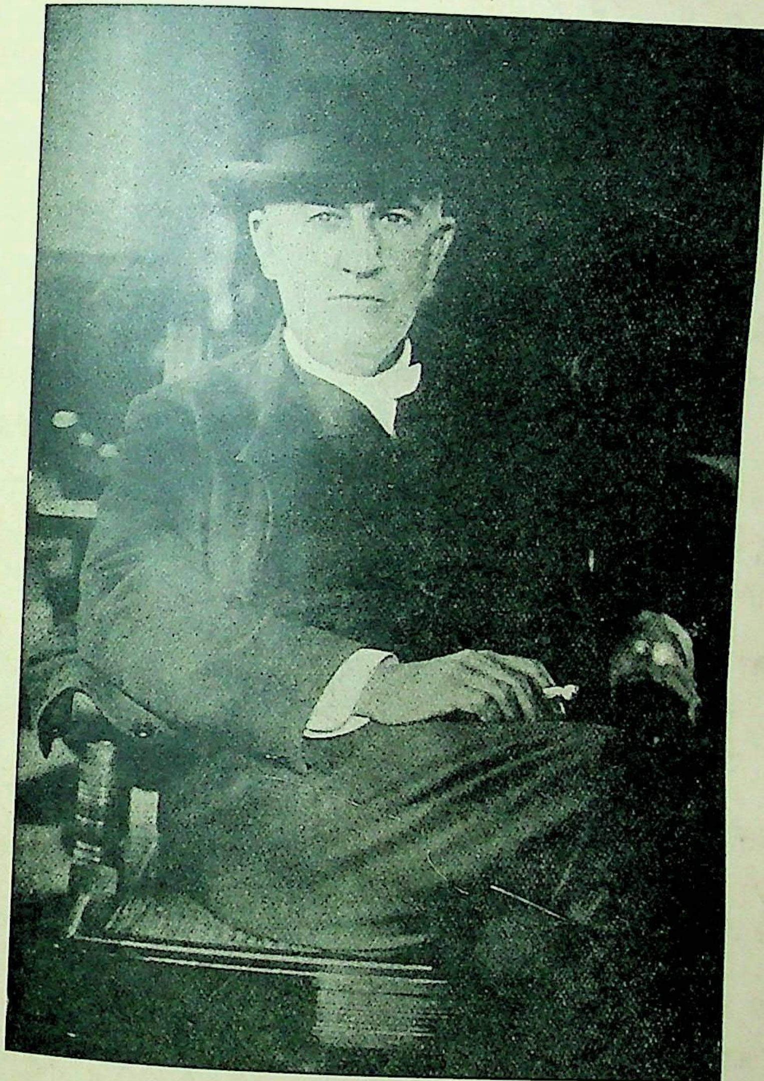


टामस अलभा एडीसन
(या मेनलो पार्क का जादूगर)

(लेखक— पं सूरजप्रसाद अवस्थी, बी. ए., एल. टी.)

यह वैज्ञानिक युग है। इस युग में सब युगों की अपेक्षा अधिक वैज्ञानिक आविष्कार हुए हैं। साधारण मनुष्य की सम्मति में तो अब नये वैज्ञानिक आविष्कारों के लिये कोई स्थान ही शेष नहीं रहा, परंतु वैज्ञानिकों का ध्येय कुछ दूसरा ही है। अभीतक जितने आविष्कार हुए हैं उनसे उन्हें सन्तोष नहीं है। वे कहते हैं कि प्रकृति का भाण्डार अनन्त चमत्कारों से भरा पड़ा है। जिन चमत्कारों का उद्घाटन हो चुका है वे बड़े समुद्र के सिर्फ़ छोटे छोटे रेत के कुछ कणों के सदृश हैं। ऐसे महान् वैज्ञानिक आविष्कार-कर्त्ताओं में से टामस अलभा एडीसन भी एक हैं, जो प्रकृति पर अधिकार पाने के प्रयत्न में निरन्तर लगे रहते हैं।

एडीसन साहब का जन्म अमरीका के छोटे से नगर मिलान में, १८४७ ई० में, हुआ था। इनके मातापिता धनाढ्य न थे। इस कारण छोटी उमर में ही ये खोंचा लगाकर, रेलगाड़ियों पर फल-फूल और समाचार-पत्र बेंच, कुछ पैसा कमाकर कुटुम्ब के पालन में सहायता देने लगे। ये बाल्यावस्था से ही बुद्धिमान् थे। कोई न कोई नई बात सोचा करते थे। इस खोंचे लगाने में भी ये सफल हुए। उनका यह रोज़गार यहाँ तक बढ़ा कि उन्हें अनेक सहायक रखने की आवश्यकता पड़ी। इनके समाचार-पत्र बेचने में भी बड़ी खूबी थी। एक पत्र जिसकी कीमत



मि० टामस अलभा एडीसन।

आधआना होती थी, ये कभी कभी उसकी प्रतियाँ आठ आठ दस दस आने में बेचा करते थे। तार-बाबुओं को अपने मधुर स्वभाव से ऐसा मिला लिया था कि वे आगे की स्टेशन-वालों को ताज़ी खबरों के शीर्षक, तार द्वारा, भेज दिया करते थे; जिनको सुनकर आगे की स्टेशन वाले यात्री, उन खबरों को जानने के लिए उत्सुक हो उठते और समाचार-पत्रों के पहुँचने पर, मुँहमाँगे दाम देकर, उन्हें ख़रीद लेते थे।

इस रोज़गार से उन्हें जो फ़ायदा हुआ उसने एडीसन के हृदय को पत्र-संचालन के लिए उत्साहित किया। तब उन्होंने छापे की एक पुरानी मशीन ख़रीदी, और "ग्रेण्ड ट्रँक हेराल्ड" नाम का पत्र निकालना आरम्भ कर दिया। यह समाचार-पत्र चल निकला, और इसीके फ़ायदे से उन्होंने दूसरे पत्र का संचालन प्रारम्भ कर दिया। परन्तु दूसरा पत्र "पाल-प्राई" उतनी सफलता प्राप्त न कर सका, जितनी कि पहिले ने प्राप्त की थी। इस पत्र में उन्होंने किसी पर व्यक्ति-गत कटाक्ष किये थे। इस कारण उसने क्रुद्ध होकर एक दिन एडीसन को नदी में ढकेल दिया। बस, इसी दिन से, एडीसन ने पत्र-संचालन का कार्य बंद कर दिया। इसी समय में एक और ऐसी घटना घट गई थी जिसका उल्लेख करना यहाँ उचित है। एक दिन जब एडीसन अपने छापे की मशीन के साथ रेल पर जा रहे थे, तब उसी मशीन के समीप आग लग गई और गाड़ी का डब्बा जलते जलते बच गया। गार्ड दौड़ा हुआ आया, और आव देखा न ताव एडीसन के जबड़े पर ऐसा ठूँसा दिया कि वे जन्म भर के लिये बहरे हो गये।

पत्र- संचालन-काल में ही पत्र-संचालन के साथ ही साथ वे अनेक रासायनिक प्रयोगों में लगे रहते थे। विद्युत् और तार उनके लिए विशेष आनन्द की सामग्री थे। प्रथम पत्र की सफलता के साथ साथ उनका विचार विद्युत् शक्ति के अध्ययन की ओर बढ़ रहा था, और वह अनुराग क्रमशः इतना बढ़ा कि अन्त में वे तार-बाबू बन गये। ज्यों ज्यों समय बढ़ता गया इनके साथियों को यह ज्ञात होता गया कि एडीसन कोई साधारण युवक नहीं हैं। विश्राम के घंटों में जब उनके साथी गप शप उड़ाने में काल-यापन किया करते, तब एडीसन अपनी प्रयोग-शाला में जा डटते थे। प्रायः बचपन से ही एडीसन में अध्यवसाय पर्याप्त अंश में था। जिस काम में वे एक बार लग जाते उससे फिर न हटते। इसी कारण वे कभी कभी नौकरी से भी हटा दिये गए।

जिस समय एडीसन तार-बाबू थे, उसी समय उन्होंने विद्युत्-संचालित तार में छोटे छोटे आविष्कार किए। इसी बीच में दूसरे आविष्कार-कर्त्ताओं ने यह ढूँढ़ लिया था कि ध्वनि, विद्युत्-संचालित तार-द्वारा, एक स्थान से दूसरे स्थान तक जा सकती है। इसी बात की सहायता लेकर और कर्बन-ट्रान्समिटर का आविष्कार कर एडीसन ने टेलीफ़ोन बनाया। इस कर्बन ट्रान्समिटर में एक कर्बन (carbon) के टुकड़े से मिले हुए टुकड़े रहते हैं। जब ध्वनि एक टुकड़े से दूसरे में जाती है, तब वह घन-फल में बढ़ जाती है। इस आविष्कार के कारण एडीसन ने अधिक द्रव्य कमाया। इस कर्म की वेदी पर बलि होने वाले योगी के दिन फिरे।

अब वह खोंचा लगाने वाला नहीं रहा। अब उसे पत्र-संचालन कर मुँह पर थप्पड़ खाने की जरूरत न रही। अब वह तार-बाबू भी न था। अब एडीसन एक धनी-मानी आविष्कारक हो गए थे। अब उन्हों ने न्यूयार्क के समीप एक कारखाना खोल लिया था, जहाँ पर सैकड़ों आदमी उनके आविष्कार किये हुए यंत्रों को बनाने में लगे रहते थे। उस समय इनकी अवस्था तीस वर्ष से अधिक न थी। इतनी उमर में भी इनका सद्व्यवहार कारखाने के मजदूरों से आदर्श-रूप था। यही कारण था कि इनके कारखानों के लोग इनको आदर और श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे। एक दिन की बात है कि कारखाने में एक मशीन बिगड़ गई। कुछ चुने हुए कारीगरों को साथ ले ये उस यंत्र को सुधारने चले। यंत्र के समीप जब पहुँच गये, तब इन्होंने दरवाजा बन्द कर दिया, और कारीगरों से कहा कि दोस्तो, अब दरवाज़ा तभी खुलेगा जब कि यह यंत्र दुरुस्त हो जायगा। कारीगरों ने एक दिल हो उस मशीन को ठीक करने का कार्य आरम्भ कर दिया, और वे उस समय तक लगे रहे जब तक कि यंत्र बिलकुल न सुधर गया। इनके यंत्रालय में बड़ी विचित्रता यह है कि संसार के जितने यंत्र हैं उन सबके नमूने बने हुए रखे हैं। इस कारख़ाने में एक सुन्दर पुस्तकालय है और सिर्फ़ इसके परीक्षागृह के बनाने में तीन लाख रुपया लगा था।

मेनलो पार्क के अनेक चमत्कारों में से एक ग्रामोफ़ोन है। ग्रामोफ़ोन वह यंत्र है जिसमें किसी पूर्व-स्थापित ध्वनि को पुनरुत्पादन करने की शक्ति रहती है। जिस समय एडीसन टेलीफ़ोन के आविष्कार में लगे हुए थे, उसी समय अनायास ग्रामोफ़ोन के आविष्कार का बीजारोपण होगया था। एक बेलन पर सुई से कुछ अक्षर खोदकर उस बेलन को वे टेलीफ़ोन यंत्र में लगा रहे थे। भूल से सुई उसी बेलन पर लगी रह गई। ज्योंही उस बेलन को उन्होंने टेलीफ़ोन में बैठाकर यंत्र में आवाज़ दी, त्योंही ध्वनि-कम्पन की शक्ति के कारण वह सुई निकलकर एडीसन की उँगली में चुभ गई। एक साधारण मनुष्य के लिए इसमें कुछ भी अर्थ न होता, परंतु एडीसन के लिए इसमें एक चमत्कार--पूर्ण आविष्कार का संदेशा था। उन्होंने सोचा कि श्रेणी-कम्पन में इतनी शक्ति है कि वे सुई को उँगली में चुभा सकते हैं, उससे किसी विशेष पदार्थ पर चिह्न भी अंकित कर सकते हैं, और इसमें कोई सन्देह नहीं कि जिस ध्वनि ने वे चिह्न बनाये हैं, उन चिह्नों पर आघात से वह ध्वनि न निकले। इसी आकस्मिक घटना और सिद्धान्त से फ़ोनोग्राफ़ और ग्रामोफ़ोन बन गये।

ज्यों ज्यों प्रकृति की शक्तियों पर मनुष्य का अधिकार बढ़ता गया, त्यों त्यों मानव जाति की उन्नति में वृद्धि होती आयी है। एक प्राकृतिक शक्ति के आविष्कार और उपयोग के बाद दूसरी का आविष्कार और उपयोग चला आता है। अग्नि और पवन, जल और भाफ़, वायव्य और विद्युत् एक के बाद दूसरी ये शक्तियाँ मनुष्य का कार्य करने के लिए बाध्य की गई। मनुष्य के इच्छानुसार इनको कार्य--संपादन करना पड़ा। अनेक विज्ञान-वेत्ता इस प्रयत्न में थे कि विद्युत् का प्रयोग कर किसी प्रकार से उससे बल उत्पन्न

किया जाय, जैसा बल भाफ़ से उत्पन्न किया जाता है। इस कार्य में दूसरों के साथ साथ एडीसन ने भी सफलता पाई। एडीसन ने भी विद्युत् की मोटर बनाई। उसने ऐसा यंत्र बनाया जिससे रेलगाड़ियाँ खींची जा सकें। इसका उपयोग रेलगाड़ियाँ में तो अधिक न हुआ; पर ट्राम गाड़ियाँ खींचने में अवश्य हुआ। मेनलो पार्क में एडीसन ने विद्युत् से चलने वाला एक ऐसा ऐंजिन बनाया जो प्रति घंटे ४० मील दौड़ सकता था। अब तो प्रत्येक बड़े बड़े नगर में विद्युत् से चलने वाली ट्राम-गाड़ियाँ दौड़ती देखी जाती हैं।

एडीसन के सैकड़ों आविष्कारों में से उत्कृष्ट आविष्कार विद्युद्दीपक है। ज्यों ज्यों मनुष्य के कार्य रात्रि में अधिक होने लगे, त्यों त्यों तिमिर नाश करने की आवश्यकता प्रतीत होती गई। मनुष्य के आमोद-प्रमोद भी सभ्यता के साथ साथ बढ़े, और रात्रि का अधिक भाग इनमें खर्च होने लगा। इस कारण सूर्यास्त होने पर अन्धकार के हटाने का प्रयत्न आरम्भ हुआ। अनेक प्रकार के दीपकों का निर्माण हुआ; परन्तु विद्युद्दीपक को जलाने के लिए पहिला प्रयत्न हमफ्री नामक अंग्रेज़ महाशय ने किया था। उस विद्युत् प्रकाश के लिए उन्हें दो हज़ार विद्युत् घंटों का उपयोग करना पड़ा था; इस कारण उस पर अधिक खर्च लगाना पड़ा। हमफ्री साहब ने धनुष-प्रकाश का आविष्कार किया था। इस प्रकाश का आविष्कार इस प्रकार से हुआ था। दो कर्बन की पेन्सिलें एक दूसरे के समीप रखकर उनमें विद्युत्-प्रवाह चलाने पर उनसे विद्युत्-प्रकाश उत्पन्न होता है। जिन्होंने विद्युत्-उत्पादक यंत्र (Electric Machine) देखी है वे इस बात को आसानी से समझ सकते हैं। उन्हें ज्ञात है कि जब उस यंत्र में विद्युत् उत्पन्न होने लगती है, तब वह दो गोलियों पर इकट्ठी होती है और यदि ये गोलियाँ अधिक समीप लाई जावें तो उनसे चिनगारी निकलती है। इस कार्य में विद्युत् का प्रवाह चलता है, और एक गोली से दूसरी गोली तक जाने के लिए वह उस गोली के कर्बन का भाग ले, उस पर आरूढ़ हो, दूसरे से मिलता है। इस कार्य में कर्बन का वह परमाणु विद्युत्-शक्ति-पूर्ण होने के कारण प्रकाशमान् हो जाता है। यद्यपि यह अवश्य एक अपूर्व बात थी; परन्तु व्यापारिक दृष्टि से इससे लाभ उठाना असम्भव था। इसमें कोई संशय नहीं कि अधिक खर्च करने पर ऐसी जो रोशनी मिलती, वह बहुत मँहगी होती और उस का उपयोग घर घर न हुआ होता। एक घाटे की बात इसमें और थी कि ज्यों ज्यों इसका उपयोग होता था, त्यों त्यों एक पेन्सिल का कर्बन क्रमशः न्यून होता जाता था यहाँ तक कि थोड़े ही समय के भीतर उन दोनों पेन्सिलों में अधिक अन्तर हो जाने से प्रवाह अवरुद्ध हो जाता और चिराग़ गुल हो जाता। किसी किसी ने कर्बन की सख्त पेन्सिलों का उपयोग कर इस प्रकाश को सस्ता बनाने का प्रयत्न किया; परन्तु वे सफल न हुए। सर्व साधारण एक चीज के बदले दूसरी चीज़ का उपयोग तभी करते हैं जब वे देख लेते हैं कि जो गुण पहली चीज़ में थे वेही दूसरी में हैं और वह सस्ती भी है।

यह पता लग चुका था कि कुछ पदार्थों में विद्युत-प्रवाह का प्रतिरोध करने की शक्ति रहती है। यदि प्रवाह चलता ही रहे, तो वे गर्म होकर

लाल हो जाते हैं। इस रीति से पतले पतले चाँदी तथा प्लेटिनम आदि धातुओं के तार गरम कर सफ़ेद किये जा सकते हैं। कर्बन यद्यपि बहुत जल्दी जल जाता है, तथापि वह भी उज्ज्वल प्रकाश देता है। विद्युत्-प्रकाश का प्रश्न इस हद मय पहुँच चुका था, जब एडीसन ने उसे अपने हाथ लिया तें। उसे ज्ञात था कि प्रश्न बड़ा जटिल है। कर्बन ही एक ऐसा पदार्थ है जिसमें प्रतिरोधी शक्ति अधिक होने के कारण विद्युत्-प्रवाह-गमन होते समय, वह बिना पिघले ही लाल-गरम हो जाता है। कर्बन क्या है यह पाठकों को मालूम न होगा। कर्बन एक तत्व है, जो कोयला, पत्थर का कोयला, लकड़ी-कारिख या काजल में होता है। इसका शुद्ध रूप ग्रेफाइट और हीरे में मिलता है। कर्बन भञ्जनशील (elastic) और कोमल रहता है। इसका जो फिलामेन्ट बनाया जाता है वह बहुत नाजुक और पतला रहता है। पाठकों को अभी मालूम हुआ जाता है कि फिलामेन्ट क्या है। उपरोक्त कठिनाइयाँ होने पर भी एडीसन ने प्रयत्न करने की मन में ठान ली। उसके ध्यान में पहिला सिद्धान्त यह आया कि चाहे सफ़ेद—गरम ही क्यों न किया गया हो कर्बन खाक नहीं हो सकता, यदि हवा की अनुपस्थिति हो; इसी सिद्धान्त का उपयोग करने के लिए उसने बहुत से काँच के ऐसे कुमकुमें फूंके जिनमें से हवा बिल्कुल निकाली जा सके जबकि फिलामेंट उनमें बैठाया जाय।

जब विचार यहाँ तक निश्चित हो गया तब एडीसन और उसका साथी बेचलर, दोनों, कर्बन के फिलामेंट को बनाने के कार्य में लग गये। प्रथम उन्होंने प्लेटीनम की एक चादर ली, जिसमें इच्छित गढ़े बनाये। उन गढ़ों में कढ़े कपास के धागे जमाये और इस सबको विशेष भट्टी में रख कर कोयले के चूर्ण को भुरका कर गरम करना आरम्भ किया। पाँच घंटे तक कोयले के चूर्ण को धागों पर बैठाने का कार्य किया; परंतु ज्योंही उसे उठाया वह टुकड़े टुकड़े हो जमीन पर गिर पड़ा। भट्टी में कुछ परिवर्तन कर फिर आरम्भ कर पूर्व परिणाम को प्राप्त हुए। घंटों के बाद घंटे गुजर गये। रात्रि हो गई, सबेरा हो गया। फिर संध्या हो गई। फिर सबेरा हो गया। बिना खाये-पिये, बिना सोये, ये दोनों दो दिन रात इसी परिश्रम में लगे रहे। अन्त में तीसरे दिन एक फिलामेंट बिना टूटे उठा सके। बेचलर उसे काँच के कुमकुमें में बैठा रहा था कि इतने में फिलामेंट के टुकड़े टुकड़े होकर उसके हाथ में आ गये। इस समय एडीसन ने जो उद्गार निकाले थे वे नेपोलियन के अयोग्य न थे। उसने तेजी के साथ कहा, बैचलर, देखो, या तो दीपक बना कर सोवेंगे या प्रयत्न में अपने जीवन-दीपक को ही बुझाएँगे। दो दिन-रात और गुजर गये। इतने पर भी हद से ज्यादा थके दोनों आविष्कारक अपने कार्य में लगे रहे। एक फिलामेंट के बाद दूसरा बनता और बिगड़ता था। चौथे दिन प्रातःकाल एक पूर्ण फिलामेन्ट बनकर तैयार होगया। जब बेचलर उसे लेकर काँच का कुमकुमा बैठाने के लिए काँच की भट्टी के पास जा रहा था, एक हवा के झोंके ने उसे हिलाकर टुकड़े टुकड़े कर दिया।

बेचारे बेचलर ने एडीसन से कहा, भाई, वह टूट गया, हवा के झोंके से टूट गया। अब तो इससे तंग आगये। इतने पर भी वे फिर उसी काम में लग गए और दूसरे दिन प्रातः-

काल पूर्ण दीपक बनाया और जलाया। जब उन्होंने उस दीपक को सुन्दर एवं स्निग्ध प्रकाश से पूर्ण देखा, उनके आनन्द का पारावार न रहा। इसके उपरांत वे सोये। उनका प्रयत्न सफल हुआ, और यथार्थ में एक उष्ण ज्वलित विद्युत् दीपक का आविष्कार हुआ; पर दीपक अब भी कुछ त्रुटियों से युक्त था।

जो फिलामेन्ट बना था उसमें भी त्रुटियाँ थीं। इस कारण उसमें सुधार की आवश्यकता थी, और उसमें सुधार हुए भी। अब बाज़ार में जो विद्युद्दीपक मिलते हैं, उनमें दो प्रकार के फिलामेन्ट होते हैं। एक तो कर्बन का और दूसरा तेलुरियम का। दोनों में सस्ता कर्बन का होता है। अब जो लेम्प देखने में आते हैं वे सब एडीसन और बेचलर के लेम्प का सुधार-मात्र हैं। अब जो विद्युत-प्रकाश हम देखते हैं इसका मूल कारण एडीसन की प्रतिभा और उसका अध्यवसाय है।

जैसा कहा जाता है कि एडीसन ने सैकड़ों आविष्कार किये हैं, सत्य है; परंतु अब हम उनके एक और आविष्कार के विषय में लिखना चाहते हैं; और वह बायस्कोप है। इस बायस्कोप या चलती-फिरती तसबीरों का खेल हिंदुस्थान के नगरों में भी दिखाया जाता है।

बायस्कोप का सिद्धान्त एक साधारण बात पर अवलम्बित है। जब एक छोटी सी लकड़ी में तार बाँधकर उसमें तेल से भीगी कपड़े की गोली जलाकर घुमाई जाती है, तब ऐसा प्रतीत होता है मानो वह जलता हुआ एक चक्कर हो। बस, इसी सिद्धान्त पर चलती-फिरती तसबीरें बनाई गई हैं। यदि एक ही चलती चीज़ की अनेक तसबीरें अल्प समय में ही ली जावें और यदि ये तसबीरें किसी यंत्र से उतने ही थोड़े समय में परदे पर बताई जावें, तो तसबीरें चलती-फिरती दीखने लगेंगी, और प्रत्येक बात ऐसी दीखने लगेगी मानो सत्य हो। इस विचार को ध्यान में रखकर एडीसन ने एक ऐसा यंत्र बनाया जो एक के बाद दूसरी तसबीर अति अधिक शीघ्रता से ले सके, और शीघ्रता के रहते हुए भी एक तसबीर दूसरे से बिलकुल अलग रहे। ये तसबीरें एक विशेष झिल्ली पर उतारी जाती हैं। उसके बाद उसने एक दूसरा यंत्र बनाया, जो इन तसबीरों को उतनी ही शीघ्रता से मेजिक लालटेन के पदार्थ-ताल पर से गुज़ार दे। यह सब हो जाने पर ही आज हम बायस्कोप का तमाशा देख सकते हैं। इस क्रिया से अद्‌भुत दृश्य दिखाये जा सकते हैं। चलती रेल पर से जो दृश्य देखे जाते हैं वे भी दिखाये जा सकते हैं। दौड़ते हुए रिसाले दिखाये जा सकते हैं। दो मल्लों का युद्ध दिखाया जा सकता है। अनेक दृश्य और बातें इसके द्वारा दिखाई जा सकती हैं।

यद्यपि इस आविष्कारक की आयु इस समय लगभग सत्तर वर्ष की है, तथापि उसने अब भी कार्यक्षेत्र से विदा नहीं ली। एडीसन अब भी चौदह या पन्द्रह घंटे कार्य करते हैं। उन्हों ने कभी शराब नहीं पी, और न कभी अपना समय ही व्यर्थ व्यतीत किया। एक कार्य को छोड़ दूसरे प्रकार के कार्य में ही उन्होंने सदैव आनन्द पाया है। उनका मस्तिष्क सदैव मौलिक विषयों और विचारों में निमग्न रहता

है। उनकी कीर्ति भविष्य में स्थिर रहेगी। इसमें सन्देह नहीं।

तार, विद्युत्-प्रकाश, टेलीफ़ोन, फ़ोनोग्राफ़, बायस्कोप आदि कम से कम एक हज़ार आविष्कार उनके नाम से प्रचलित हैं। आप इस समय एक ऐसे आविष्कार में लगे हैं, जिसने सारे संसार में सनसनी फैला दी है। आप ऐसे एक यंत्र की रचना कर रहे हैं जिससे मृत मनुष्यों की आत्माओं से लिखकर बातचीत हुआ करेगी। आप आशा करते हैं कि यह सूक्ष्म यंत्र कुछ महीनों में बनकर तैयार हो जायगा। प्रकृति आपको इस महत् आविष्कार में सहायता दे!



वायु-यान ।



(लेखक—पं० माधवलाल शर्मा)





भारतवर्ष के प्राचीन और अर्वाचीन संस्कृत-ग्रंथों में अनेक स्थानों पर विमानों का वर्णन मिलता है। ये विमान बड़ी बड़ी यात्राएँ करते थे। यहाँ तक कि इन्द्रादि लोकों से विमान आते-जाते थे। रामायण में लिखा है कि स्वयं रामचन्द्रजी लंका जीत और विभीषण को राज्य दे पुष्पक विमान में बैठकर अयोध्या आये थे। ये यात्राएँ अत्यन्त अल्प समय में की जाती थीं।

यह सब वर्णन अनेक प्रामाणिक ग्रंथों में भी मिलता है; परन्तु इस सबको आजकल की सभ्यता कपोल-कल्पित समझती है। कई तो इसे केवल कवि-कल्पना मानते हैं। इसकी उपमा जूलियस वर्न आउट के उपन्यासों से दी जाती है। ये उपन्यास उसने उस समय लिखे थे जब वायुयान का युग नहीं आया था। इन उपन्यासों में उसने वायु-यानों का वर्णन किया था, और उनके द्वारा उपन्यासों के पात्रों ने यात्रा भी की थी। उपन्यास-लेखन का समय वायु-यान का नहीं था; किन्तु व्योम-यान तो चल निकले थे। सम्भव है कि उसने हमारे देश के विमानों की चर्चा सुनी हो। यदि न भी सुनी हो, तो भी व्योम-यान को अपनी मानसिक शक्ति से सुधारकर वायु-यान का साधारण रूप वह अपनी कल्पना में उपस्थित कर सकता था, जिसके लिए अनेक विद्वान् उसकी प्रशंसा करते हैं।

दूसरा आक्षेप यह किया जाता है कि यदि वायु-यान उस समय बनाये जाते थे, तो इतिहास में उनका वर्णन क्यों नहीं है? यद्यपि संस्कृत की अनेक पुस्तकों में इनका वर्णन है, किन्तु वे इतिहास नहीं कही जा सकती हैं। अनेक पुस्तकें नष्ट-भ्रष्ट हो चुकी हैं; अतएव यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि हिन्दुस्थान में इतिहास-विभाग था ही नहीं, और यह भी नहीं कहा जा सकता है कि संस्कृत के वर्त्तमान ग्रंथ किसी प्रकार ऐतिहासिक और प्रामाणिक ग्रंथ नहीं माने जा सकते हैं।

एक तीसरा आक्षेप यह है कि इसकी कृति का वर्णन भी किसी ग्रंथ में नहीं मिलता है। अनेक पुस्तकों के लुप्त हो जाने से यह नहीं कहा जा है, कि इस विषय की पुस्तक लिखी ही नहीं गई थी, या लिखी गई थी, और नष्ट हो गई। दोनों बातें

सम्भव हैं, किन्तु यह बात सत्य है कि अभी तक वायु-यान की कृति का वर्णन करनेवाली कोई पुरातन पुस्तक नहीं मिली है। इसलिए पाश्चात्य और पाश्चात्य विचारों में रँगे लोग कहते हैं कि कृति-विषयक ऐतिहासिक और प्रामाणिक ग्रंथ न होने से ये वर्णन सत्य स्वीकार करने योग्य नहीं हैं।

विमान के लोप होने का और उसकी कृति को वर्णन करनेवाली पुस्तकों के न मिलने का एक सबब और है। कई स्थानों पर ऐसा लिखा हुआ मिलता है कि अमुक महात्मा प्रसन्न हुए, और उन्होंने अपने सेवक को एक विमान दिया। अब इसका अनेक लोग यह अर्थ समझते हैं कि विमान एक योग-सिद्धि थी। ऐसा सोचना भ्रम मालूम होता है। मेरा यह अर्थ नहीं है कि विमान योग की सिद्धि के द्वारा उत्पन्न नहीं किये जा सकते हैं। यह योग का विषय है, अतएव इसपर यहाँ वाद-विवाद करना वृथा है। कहने का तात्पर्य यह है कि यह सांसारिक वस्तुओं के समान ही उपहार में दिया जाता था। इस विषय में दो सम्भावनाएँ की जा सकती हैं। एक तो यह कि महात्मा लोग यह वचन लेकर कि प्रसाद ग्रहण करनेवाला दूसरे किसीको उसकी कृति न बतावेगा, प्रसाद-रूप में उसकी कृति समझा देते थे। ऐसा माना और जाना जाता है कि उस समय के महात्मा लोग सर्व-शास्त्र-सम्पन्न होते थे, और सदैव संसार के हित में रत रहते थे। वे जिन्हें योग्य समझते थे, गुप्त ज्ञान दे देते थे। दूसरा अनुमान यह हो सकता है कि वे स्वयं विमान बनवाकर उपहार में दे देते रहे होंगे। ये महात्मा लोग सबको सब प्रकार की शिक्षा वा ज्ञान देते थे। जिसको जिस योग्य समझते थे, उसको उसके योग्य शिक्षा देते थे। मानसिक शास्त्र में पारङ्गत होने से वे प्रत्येक के मन की वृत्ति को पहिचान लेते थे। जिसमें जिसे पवित्र रुचि होती थी, उसे उसी शास्त्र का ज्ञान दिया जाता था। शिष्य भी गुरु बन ऐसाही करते थे। अर्थात्, उचित पात्र को उचित शिक्षा होती थी। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि गुरु की प्रसन्नता होने और पात्र समझे जाने पर विद्या और कला-कौशल की गुप्त बातें विदित हो सकती थीं।

इससे अनेक लाभ होते थे। एक तो यह कि उस पृथ्वी में बीज बोया जाता था, जिसमें उत्पन्न होकर ख़ूब फलता और फूलता था, और अपने वंश की उन्नति कर बढ़िया बीज छोड़ जाता था। दूसरा लाभ यह था कि विदेशी लोग यहाँ आकर विद्या को चुराकर नहीं ले जा सकते थे, और जब जब जिस जिसने धोखा देकर चोरी करने का उपाय किया है, तब तब गुरु लोगों को मालूम हो गया है। कर्ण, ईसामसीह, इत्यादि इसके दृष्टान्त हैं। यहाँ आकर ईसामसीह वेदांत की शिक्षा ग्रहणकर गये, जिसका परिणाम यह हुआ कि उनके प्रचलित किये हुए धर्म को आज करोड़ों मनुष्य मानते हैं। उस समय की बात कौन कहे, आजकल भी कई सभ्य कहलानेवाली जातियाँ ऐसी हैं जो विद्या, कला, कौशल, व्यापा, इत्यादि की गुप्त बातें परदेशियों को नहीं बतातीं। इनकी कुंजियाँ न मालूम होने से व्यापार में सफलता होना असम्भव नहीं, तो कठिन अवश्य है। कभी कभी सभ्य जातियाँ अपने को सभ्यता के शिखर पर चिरकाल तक आरूढ़ रखने के लिए, आसन छिन जाने के भय से, आनेवाली जातियों को अपने आवि-

ष्कारों से अपरिचित रखने का उद्योग करती हैं, जिससे वे स्वयं सुरक्षित रहें। परन्तु यह प्रथा आजकल सर्वमान्य नहीं है। आजकल सब अपनी अपने शोधों का वर्णन लिखकर ग्रंथ के ग्रंथ प्रकाशित करते चले जाते है। वे कहते हैं कि जो योग्य होंगे वे आपही आप ग्रहण कर लेंगे। गुरु या ग्रंथकार को योग्य पुरुष ढूँढ़ने की कोई आवश्यकता नहीं। योग्य मनुष्य आपही आप योग्य गुरु और ग्रंथ को ढूँढ़ लेता है। दो भिन्न भिन्न सिद्धान्त हमारे सम्मुख उपस्थित हैं, और जो परिणाम संसार के लोगों ने भोगे हैं या भोग रहे हैं, वे इतिहास से छिपे नहीं हैं।

हानि यह हुई कि इस पद्धति से शिक्षा देने के कारण भारतवर्ष से अनेक शास्त्र लुप्त हो गये। जिन जिन शास्त्रों के ग्रंथ थे, और उनमें से जो बच गये, वे अब भी उन शास्त्रों का कुछ ज्ञान दे सकते हैं। यदि सब शास्त्रों पर ग्रंथ लिखे जाते, (मालूम नहीं लिखे गये थे, या नहीं), और वे सब बच जाते, तो हमारे यहाँ की विद्या का लोप तो कम से कम न होता। हम ऐसा कदापि नहीं कह सकते हैं कि ग्रंथ न होने से ही हम पतित हो गये। जो ग्रंथ हैं उनसे हमने क्या लाभ उठाया, और इसका क्या प्रमाण है कि, यदि वे होते तो हम उनका अवश्य ही उपयोग करते ?

अब वह समय नहीं है कि हम अपनी पुरातन महानता के मद में चूर होकर बैठे रहें, अथवा यह कहें कि यवनों को हम अपना गुरु नहीं बना सकते हैं। अब समय इस बात के लिए ही है कि हम जापानियों के समान विदेशों में जाकर सब विद्या-कला-कौशल सीखकर आवें। इनका केवल ऊपरी ज्ञान प्राप्त करके ही न आवें; वरन् उनका मार्मिक, प्रयोज्य और गुप्त कुंजियों का ज्ञान प्राप्त कर आवें और फिर देश को उच्च बनाने में प्राप्त ज्ञान का उपयोग करें।

सन् १८६७ ई० से अनेक मनुष्यों का ध्यान वायुयान की ओर आकर्षित हुआ था। अमेरिका के प्रोफेसर लैंगली और सर हीरम मेक्समे ने इस सम्बन्ध में शोध का कार्य किया था; परन्तु ये विजय की माला न पहिन सके। लिलैंथीयल और राइट और उनके भ्रातागणों को ही इसमें कुछ सफलता प्राप्त हुई थी। सबसे पहिले सन् १९०५ ई० में राइट भ्रातागण ने अपने बनाए हुए बाईप्लेन अर्थात् दो-पंखी में बैठकर हवा में यात्रा की थी। सन १९०६ ई० में हेनरी फरमन ने एक बाईप्लेन बनाया था, और उसके द्वारा हवा में आधमील की यात्रा की थी। सन् १९०८ के सेप्टेम्बर मास में आर्विल राइट ने एक विमान से साठ मील लंबी यात्रा की थी। उसी साल उसके भाई बिलबर राइट को फ्रांस में हवाई-यात्रा-सम्बन्धी तीन लक्ष रुपये का इनाम मिला था। १९०९ में एक पंखी अर्थात् मोनो-प्लेन बना। लंदन के डेलीमेल पत्र के अधिपति ने प्रकट किया था कि जो कोई विमान के द्वारा अंग्रेज़ी खाड़ी को पहिलेपहल पार करेगा, उसे पंद्रह हज़ार रुपये का इनाम दिया जावेगा। जुलाई मास में यह इनाम ब्लेरीयट नामक विमान-वेत्ता को मिला था। इन उत्तेजनाओं से उत्साहित हो विमान-शास्त्रियों ने बहुत उन्नति कर डाली। वायुयान-सम्बन्धी कई शालाएँ देश देश में स्थापित हो गईं, और प्रदर्शिनियाँ होने लगीं। वायु-यान बनाने के लिए कई कारखाने (Aerodomes) बने, और प्रत्येक कारखाने के साथ साथ उड़ना सिखानेवाली शाला भी रहती थी।

पूर्वोक्त डेलीमेल दैनिक पत्र के मालिक ने एक इनाम फिर देना स्वीकार किया। इस बार यह इनाम उस विमानी को दिया जाने वाला था जो लंदन से मेनचेस्टर केवल एक जगह ठहरकर पहुँच जाय। यह इनाम केवल एक लाख पचास

हज़ार रुपये का था। २७ अप्रेल १९१० इसकी परीक्षा के लिए नियत की गई। दो यन्त्र-कला-विशारदों में शर्त लगी। एक फ़रासीसी और दूसरा अंग्रेज़ था। फ़रासीसी का नाम पाल्हन था, और अंग्रेज़ का नाम ग्रेहम। पाल्हन बाज़ी ले गया, और इनाम लेकर घर गया।

थोड़े दिनों के बाद डेलीमेल के मालिक ने फिर डेढ़ लाख रुपये का पारितोषिक देने का वचन दिया। इस समय यह उस विमानी को दिया जाने वाला था जो ग्रेटब्रिटिन के द्वीप के चारों ओर विमान के द्वारा एक चक्कर सबसे जल्दी और सकुशल लगा आवे। सन् १९१० ई० में लंदन की रायल-ऐरो क्लब की अध्यक्षता में इसकी परीक्षा हुई। इस चक्कर का मार्ग यह था कि ब्रुकलैंड से हेडन, हैरोगेट, न्युकासल-आन-टाईन, एडिम्बरो, स्टर्लिंग, ब्रिस्टल, एक्सीटर, ब्राइन, और ब्राइटन से फिर ब्रुकलैंड आ जावे। इस समय सौ वायु-यान उड़े थे। लेफ्टिनेंट कौनेन प्रथम आए, और पारितोषिक के अधिकारी हुए। इसके पश्चात् योरप की प्रदक्षिणा, पेरिस से रोम, पेरिस से मेड्रिड, पेरिस से पेकिन, अमेरिका की प्रदक्षिणा इत्यादि इत्यादि कई यात्राओं के लिए पारितोषिक दिए गए थे। उन सब का वर्णन यहाँ करने से लेख बहुत बड़ा हो जावेगा।

अभी हालही में निश्चय हुआ है कि जो वायु-शास्त्री लंदन से करांची और करांची से लंदन विमान द्वारा जल्दी पहुँचेगा उसे पारितोषिक दिया जायगा। यह दौड़ शीघ्र ही होने वाली है। इस दौड़ में जबलपुर, कलकत्ता, इत्यादि भारतवर्ष के नगरों में दर्शन दे जानेवाला हैंडलेपेज नामक वायु-यान भी भाग लेगा।

अब वेग का विचार कीजिए। वायु-यान की अधिकतर उन्नति गत दश बर्षों में हुई है। पहिले पहिल उड़नेवाले लोग वायु में केवल कुछ मिनिट ही स्थिर रह सकते थे; परंतु अब तो, घंटों की बात कौन कहे, कई लोग दिन पर दिन व्यतीत कर देते हैं। आरम्भ में एक घंटे में बीस-पच्चीस मील जाना ही अनहोनी बात समझी जाती थी; परन्तु अब अस्सी मील प्रति घंटे जाना साधारण समझा जाता है। वर्त्तमान समय में वायु-यान १४० मील प्रति घंटे तक जा सकते हैं। आधुनिक वायु-यान में १६० घोड़ों की शक्ति का एंजिन लगाया जाता है। जब जहाज़ों के समान वायु-यानों में भी हज़ारों घोड़ों की शक्तिवाले एंजिन लगाये जायँगे, तब कदाचित् वायु-यान में ४,५ हज़ार मनुष्य एक घंटे में सैकड़ों मील उड़कर जा सकेंगे, और महीनों का प्रवास घंटों में होने लगेगा। जैसे अंग्रेज़ लोग वर्त्तमान समय में शनिवार को चलकर पेरिस या स्काटलैंड की सैर कर चन्द्रवार को प्रातःकाल आ जाते हैं, वैसे ही भविष्य में इतने ही समय में इंग्लैंड से न्यूयार्क होकर आ जाया करेंगे।

अब भिन्न भिन्न प्रकार के वायु-यानों का संक्षेप में वर्णन लिखा जाता है।

बाक्स काइट—पतंगों और पक्षियों को हवा में उड़ते हुए देखकर मनुष्यों को हवा में उड़ने की रुचि उत्पन्न हुई। लिलैन्थील आदि यंत्र-कला-विशारदों ने पतंग के सिद्धान्तानुसार बाक्स काइट बनाई थी। बाक्सकाइट साधारण तथा चपटे समधरातल पंखों के बनते हैं। इसमें दो पंख इस प्रकार लगाये जाते हैं कि उनमें वायु आ जा सकती है। ये पंखे तनिक नीचे की ओर झुके रहते हैं, अतएव ये एक दूसरे को सहायता दे सकते हैं, और ऊपर के बोझ को सँभाल सकते हैं। ये पंखे आगे की ओर कुछ मोटे रहते हैं, और पीछे की ओर थोड़े थोड़े पतले होते जाते हैं। वास्तव में इसकी कृति में चील के शरीर का बिलकुल अनुकरण किया गया है।

जैसे पतंग हवा होने से ही उड़ सकती है, और हवा के न्यूनाधिक होने पर उसकी उड़ान निर्भर रहती है, वैसेही बाक्स काइट भी हवा के बिना नहीं उड़ सकती है। हवा के एकदम बंद हो जाने से जैसे पतंग एकदम नीचे गिर पडती है, वैसेही इस बाक्स काइट का भी हाल होता है। लिलैन्थील सबसे प्रथम उड़नेवाला होने के कारण हवा के बंद होते ही उसकी बाक्स काइट गिर गई, और वह मर गया।

ग्लाइडर—उक्त बाक्स काइट में कुछ सुधार करके ग्लाइडर बनाया गया। ग्लाइडर में दो पंख एक दूसरे के नीचे रहते हैं। नीचे के पंख के खोखले स्थान में ग्लाइडर के अधिकार में रखने का सामान रखा जाता है। ग्लाइडर को किसी पहाड़ी या ऊँचे स्थान से उड़ाया जाता है। ग्लाइडर के पंख के नीचे हवा भरकर एवं उसका गुरुत्व बढ़ाकर इसे धीरे धीरे नीचे उतारते हैं।

वायु-यान—वायु-यान ग्लाइडर का परिवर्द्धित रूप है। सब वायु-यानों में कुछ झुके हुए पंखे रखे जाते हैं, और इससे इस यान को मनमानी गति से उड़ाया जा सकता है। इस यान के तीन मुख्य भेद हैं —एक-पंखी, दो-पंखी, और तीन-पंखी।

एक-पंखी वायु-यान—इस यंत्र में एक पंख रहता है। यह दो-पंखी वायु-यान से अधिक सुन्दर होता है। इसका आकार चील से मिलता हुआ होता है। इसके सिर के समीप गति-प्रदायक-यंत्र रखा जाता है। एंजिन की नली का सम्बन्ध गति-प्रदायक-यंत्र से होता है। एंजिन का चलाने वाला, एंजिन के सामने, एक कुर्सी पर बैठा रहता है, और आवश्यक कल तथा सामान उसके सन्मुख रहते हैं।

दो-पंखी वायु-यान—यह दो पंखेवाला वायु-यान होता है। ये दो पंखे एक दूसरे पर आड़े रखे जाते हैं। सामने ही उद्धारक यंत्र लगाया जाता है, और मुख्य पंखे के पीछे गति-प्रदायक यंत्र लगाया जाता है। दोनों पंखों के बीच के स्थान में एक चबूतरा होता है। एंजिन और उससे सम्बंध रखने वाली वस्तुएँ इसी स्थान पर रखी जाती हैं, और एंजिन चलानेवाला भी इसी स्थान पर बैठता है।

तीन-पंखी वायु-यान—इस यंत्र में तीन पंखे रहते हैं। यह दो पंखी के समान ही होता है। अन्तर केवल इतना ही होता है कि वायु में वह अच्छी तरह चल फिर सके, इसलिए उसमें एक पंख और लगा देते हैं।

जल वायु-यान—मनुष्य दुःख का स्वाद लेकर ज्ञान प्राप्त करता है। कई बार ऐसा हुआ कि वायु-यान या व्योम-यान हवा में उड़े, और किसी कारण वे हवा में न ठहर सके और नीचे गिरे। ज़मीन पर धीरे से गिरने से वे बच गये; परन्तु ज़मीन पर ज़ोर से गिरने से अथवा समुद्र में गिरने से जान खो बैठे; अतएव अनेक यत्न कर के ऐसा यंत्र बनाया गया, जो हवा में उड़ सके, और पानी पर भी चल सके। ऐसे यान को ही जल-वायु-यान कहते हैं। इस वायु-यान के नीचे लकड़ी के ऐसे पटिये लगे रहते हैं जो वायुयान के समुद्र पर गिरते ही उसे ऊपर उठाये रखते हैं, जिससे यान तैरता रहता, और डूबने नहीं पाता। जिस प्रकार साधारण वायु-यान पृथ्वी पर से उड़कर पृथ्वी पर वापिस आ सकता है, वैसे ही यह जल-वायु-यान जल पर से उड़कर जल पर या पृथ्वी पर उतर सकता है; और पृथ्वी पर से उड़कर जल या पृथ्वी पर उतर सकता है। इस प्रकार के जल-वायु यान या सामुद्रिक वायु-यान या दरियाई विमान का उपयोग पीछा करनेवाले जहाज़ों या जंगी जहाज़ों के नाश करने में किया जाता है। ऐसे ही यानों की सहायता से मित्रों ने डार्डनील्स के किनारे क़िलों का शोध और नाश किया था।

अब विचार कीजिए कि वायु यान हवा में किस प्रकार उड़ सकता है ? जिस सिद्धांतानुसार पतंग उड़ सकती है, उसी सिद्धांतानुसार वायु-यान भी हवा में उड़ता है। वायु-यान के आकार की हवा के वज़न से वायु-यान का वज़न कम होना चाहिए। जिस स्थान पर पतंग होती है उस के पास की और नीचे की हवा उसे सम्हालती और गतिमान् करती है। इसी प्रकार वायु-यान के लिए भी समझना चाहिए। वायु-यान में एक विशेषता यह है कि जैसे चील अपने पंख हिलाकर उपस्थित हवा को हिलाती और चलाती है, जिसके द्वारा वह स्वयं गतिमान् होती है, वैसे ही वायु-यान भी अपने पंखों के द्वारा करता है।

वायु की गति का अवरोध करने से भँवर उत्पन्न होते हैं। भँवर में पड़े हुए पक्षी की हालत हम में से कई ने देखी होगी। यंत्र-शास्त्रियों ने इसका स्वयं अनुभव कर पक्षियों की दशा, उनके उड़ने का ढंग और भँवर में पड़कर निकलने और बचने की युक्ति का अभ्यास कर नवीन यानों के बनाने में अपने इस परिमार्जित ज्ञान का उपयोग किया। यानों को इस प्रकार बनाया कि वायु पंखे के ऊपर आकर लगती है, और छोटा कोण बना घूम जाती है। इससे पंखे का पिछला ऊपरी भाग थोड़ा वायु-शून्य हो जाता है, इसलिए वायु-यान वायु से हल्का हो हवा में उड़ने लगता है। जो हवा यान के पंखों के नीचे रह जाती है, वह उसे आगे ढकेलने का काम देती है, और जब यान हवा में शीघ्र गति से दौड़ता है, तब उसे समतौल रखती है। ये बातें बिना देखे समझ में नहीं आ सकतीं। जिन्होंने वायु-यान उड़ते देखा है, वे चील इत्यादि पक्षियों के उड़ान पर से कुछ अनुमान कर सकते हैं।

वायु-यान में अनेक वस्तुओं का उपयोग होता है। वायु-यान के बाल्य-काल में बाँस, एश नामक विलायती वृक्ष की सफ़ेद मज़बूत लकड़ी और हीकोरी नामक वृक्ष की लकड़ी काम में आते थे; किन्तु अब इन वस्तुओं का स्थान फ़ौलाद, एल्युमीनियम या एल्युमिनम की मिश्रित धातुओं ने ले लिया है। धातुओं के टुकड़े लकड़ी की अपेक्षा हल्के और छोटे बनाये जाते हैं। इसके अतिरिक्त पंखे बनाने में केनवास नामक मोटा कपड़ा काम में लाया जाता है। वायु-यान का एंजिन मोटरकार के एंजिन के सिद्धांत पर बनाया जाता है, और उसमें पेट्रोल की आवश्यकता होती है।

वायु-यान को उड़ाने और उतारने की भी ख़ास युक्तियाँ हैं। उद्धारक यंत्र की सहायता से वायु-यान ऊपर उठाया और नीचे उतारा जाता है। जब उद्धारक यंत्र को वायु-यान को ऊपर चढ़ाने के लिए घुमाते हैं, तब वायु-यान का मुख ऊँचा हो जाता है, और वह ऊपर चढ़ने लगता है। इसी प्रकार नीचे उतरते समय वह नीचा हो जाता है, जिससे वह नीचे उतरने लगता है। वायु-यान को दाहनी या बाईं ओर घुमाने के लिए खड़े-सुकान का उपयोग किया जाता है। किसी में एक और किसी में दो सुकान होते हैं। साधारणतया, जिनमें एक रहता है, वह पीछे के भाग में लगा रहता है। जिनमें दो रहते हैं, वे यातो दोनों सिरों पर लगे रहते हैं, या साथ ही साथ, या एक दूसरे के ऊपर लगे रहते हैं। वायु-यान को जब बाईं ओर फिराना होता है, तब सुकान को बाईं ओर और जब दाहिनी ओर फिराना होता है, तब सुकान को दाहिनी ओर फिराते हैं। ऊपर की हवा के दबाव के कारण वायु-यान का पिछला भाग अग्रभाग से उलटी दिशा में फिर जाता है।

वायु-यान की गति के विषय में ऊपर कुछ लिखा जा चुका है। इसको गतिमान् करने के लिए गति-प्रदायक नामक यंत्र रहता है। यह यंत्र पेट्रोल के एंजिन से चलाया जाता है, और

अनुमानतः एक मिनिट में एक हज़ार चक्कर के हिसाब से गति--प्रदायक पंखे घूमते हैं। इन पंखों की गति से ही वायु-यान आगे चलता है। जब ये पंखे घूमते रहते हैं, तब हवा में ऐसा शब्द होता है मानो हज़ारों भौंरे अपने पंखों से शब्द कर रहे हैं। वायु-यान के कल-पुरजों के बिगड़ने में कुछ समय नहीं लगता, इसलिए बहुतसा सामान रख लिया जाता है। कई यानों में ५।६ एंजिन भी रहते हैं।

वायु-यानों द्वारा यात्रा हो सकती है, इसके विषय में अब कुछ कहना बाक़ी नहीं रह गया। क्योंकि गत यूरोपीय महायुद्ध में वायु-यान का कार्य्य हम देख चुके है, और हाल ही में विलायत से डाक भी हवाई जहाज़ में आई थी। थोड़े ही दिन हुए, हेन्डलेपेज नामक वायु-यान ने कलकत्ते से बम्बई तक यात्रा की थी, और कई स्थानों पर उतरकर नगर--निवासियों को दर्शन दिये थे। कई यूरोपीय देशों में तो वह कई नगरों के बीच रेलवे का काम दे रहा है। इसमें बैठनेवालों को ख़ास प्रकार की टोपी और कपड़े पहिनने पड़ते हैं। कारण कि १०० फुट के ऊपर सूर्य्य की किरणों की प्रखरता से आंखों के सामने अँधेरा छाने लगता है, और दो हज़ार फुट ऊपर जाने से हवा कम हो जाती है, सर्दी बढ़ने लगती है। इससे बचने के लिए उपाय भी ढूँढ़ लिए गये हैं; अतएव वायु-यान द्वारा यात्रा करने में अब इनका भी डर नहीं है।

अब वायु-यान से लाभ तथा हानि पर विचार कीजिए। जिन्होंने गत यूरोपीय महासंग्राम का वर्णन समय समय पर पढ़ा होगा, उन्हें यह अच्छी तरह विदित होगा कि युद्ध के आरंभ में जर्मनी ने अपने वायु-यानों द्वारा अपने विपक्षियों को कितना त्रास दिया था, और इसी कारण वह आरंभ में कुछ विजयी हुआ था; परन्तु जब मित्र-राज्य उनका सामना करनेवाले वायु-यान बनाकर उपयोग में लाये, तब जर्मनी की विजय रुक गई। जैसे लड़ाई में जहाज़ वायुयानों द्वारा डुबाये गये, वैसेही शांति के समय में वे डूबते हुए जहाज़ के यात्रियों और बहुतसे सामान को बचा भी सकते हैं। थोड़े ही दिनों में हरएक जहाज़ पर कुछ वायु-यान अवश्य रक्खे जाने लगेंगे। यदि टाइटनिक जहाज़ पर कुछ हवाई जहाज़ होते तो उसमें के अनेक यात्री और कुछ सामान नष्ट होने से बचा लिया जाता।

आरम्भ में पक्षियों के समान हवा में उड़ने की आनन्द--वृत्ति को सन्तुष्ट करने के लिए छोटे छोटे वायु-यान बनाये गये थे। ज्यों ज्यों उनकी आवश्यकता और लाभ अधिक अधिक विदित होते गये, त्यों त्यों इस कला का विकास होता गया। जैसे युद्ध में इसके द्वारा अनेक दुस्तर, किन्तु दुष्ट और मृत्युकारक कार्य्य किये गये हैं, वैसे ही अब शांति के समय में अब उनसे भी दुस्तर पुण्य-कार्य्य किये जावेंगे। बड़ी बड़ी एवं लम्बी लम्बी यात्राएँ अति अल्प समय में और सकुशल हो सकेंगी, जिसके कारण यात्रा और व्यापार दोनों सुलभ हो जावेंगे।

यदि वायु--यानों की सृष्टि कहीं पहिले हो गई होती, तो उतनी जानें, जितनी अभीतक उत्तर और दक्षिण ध्रुवों के खोज में गई हैं, न जाने पातीं। अभीतक ध्रुवों के अनेक भाग अज्ञात हैं। अब इनका ज्ञान वायु-यान की सहायता से अत्यन्त सरलतापूर्वक प्राप्त किया जा सकेगा।

यहाँ अत्यन्त साधारण वायु-यानों का वर्णन किया गया है। इनके अतिरिक्त ज़ेपलीन इत्यादि कई प्रकार के वायु-यान और भी होते हैं, जिनका वर्णन यत्र--तत्र पत्रों में थोड़ा-बहुत हो चुका है।

आदर्श विरोध।

(लेखक—श्रीयुत प्रेमचन्द)

(१)

महाशय दयाकृष्ण मेहता के पाँव ज़मीन पर न पड़ते थे। उनकी वह आकांक्षा पूरी हो गई थी जो उनके जीवनका मधुर स्वप्न थी। उन्हें वह राज्याधिकार मिल गया था जो भारत-निवासियों के लिए जीवन-स्वर्ग है। वाइसराय ने उन्हें अपनी कार्यकारिणी सभा का मेम्बर नियुक्त कर दिया था।

मित्र-गण उन्हें बधाइयाँ दे रहे थे। चारों ओर आनन्दोत्सव मनाया जा रहा था। कहीं दावतें होती थीं, कहीं आश्वासन-पत्र दिए जाते थे। यह उनका व्यक्तिगत सम्मान नहीं, राष्ट्रीय सम्मान समझा जाता था। अँग्रेज़ अधिकारी-वर्ग भी उन्हें हाथों हाथ लिए फिरते थे।

महाशय दयाकृष्ण लखनऊ के एक सुविख्यात बैरिस्टर थे। बड़े उदार-हृदय, राजनीति में कुशल तथा प्रजाभक्त थे। सदैव सार्वजनिक कार्यों में तल्लीन रहते थे। समस्त देश में शासन का ऐसा निर्भय, तत्वान्वेषी, ऐसा निस्पृह समालोचक न था, और न प्रजा का ऐसा सूक्ष्मदर्शी, ऐसा विश्वसनीय, और ऐसा सहृदय बन्धु।

समाचार-पत्रों में इस नियुक्ति पर खूब टीकाएँ हो रही थीं। एक ओर से आवाज़ आती थी 'हम गवर्नमेन्ट को इस चुनाव पर बधाई नहीं दे सकते;' दूसरी ओर के लोग कहते थे—"यह सरकार की उदारता और प्रजाहित-चिन्ता का सर्वोत्तम प्रमाण है"। एक तीसरा दल भी था, जो दबी ज़बान से कहता था कि राष्ट्र का एक और स्तम्भ गिर गया।

संध्या का समय था। कैसरपार्क में लिबरल लीग की ओर से महाशय मेहता को पार्टी दी गई थी। प्रान्त भर के सम्भ्रान्त पुरुष एकत्र थे। भोजन के पश्चात् सभापति ने अपनी वक्तृता में कहा, "हमें पूरा विश्वास है कि आपका अधिकार-प्रवेश प्रजा के लिये हितकर होगा, और आपके प्रयत्नों से उन धाराओं में संशोधन हो जायगा जो हमारे राष्ट्रीय जीवन में बाधक हैं"।

महाशय मेहता ने उत्तर देते हुए कहा, "राष्ट्र के क़ानून वर्तमान परिस्थितियों के अधीन होते हैं। जब तक परिस्थिति में परिवर्तन न हो, क़ानून में सुव्यवस्था की आशा करना भ्रम है।"

सभा विसर्जित हो गई। एक दल ने कहा—"कितना न्याय-युक्त और प्रशंसनीय राजनैतिक सिद्धान्त है;।" दूसरा पक्ष बोला, "आगए जाल में।" तीसरे दल ने नैराश्यपूर्ण भाव से सिर हिलादिया, पर मुँह से कुछ न कहा।

(२)

मि० दयाकृष्ण को दिल्ली आये हुए एक महीना हो गया। फागुन का महीना था। शाम हो रही थी। वे अपने उद्यान में हौज़ के किनारे एक मख़मली आराम-कुरसी पर बैठे हुए थे। मिसेज़ राजेश्वरी मेहता सामने बैठी हुई प्यानो बजाना सीख रही थीं, और मिस मनोरमा हौज़ की मछलियों को विस्कुट के टुकड़े खिला रही थीं। सहसा उसने पिता से पूछा—"यह अभी कौन साहब आये थे?"

मेहता—कौन्सिल के सैनिक मेम्बर हैं।

मनोरमा—वाइसराय के नीचे यही होंगे?

मेहता—वाइसराय के नीचे तो सभी हैं। वेतन भी सबका बराबर है; लेकिन

इनकी योग्यता को कोई नहीं पहुँचता। क्यों राजेश्वरी, तुमने देखा, अंग्रेज़ लोग कितने सज्जन और विनयशील होते हैं !

राजेश्वरी—मैं तो इन्हें विनय की मूर्ति कहती हूँ। इस गुण में भी ये हमसे बढ़े हुए हैं। उनकी पत्नी मुझसे कितने प्रेम से गले मिलीं।

मनोरमा—मेरा तो जी चाहता था, उनके पैरों पर गिर पड़ूँ।

मेहता—मैंने ऐसे उदार, शिष्ट, निष्कपट और गुणग्राही मनुष्य नहीं देखे। हमारा दया-धर्म कहने ही को है। मुझे इसका बहुत खेद है कि अब तक क्यों बद-गुमान रहा। सामान्यत: इनसे हम लोगों को जो शिकायतें हैं उनका कारण पारस्परिक सम्मिलन का न होना है, एक दूसरे के स्वभाव और प्रकृति से परि-चित नहीं।

राजेश्वरी—एक यूनियन क्लब की बड़ी आव-श्यकता है, जहाँ दोनों जातियों के लोग सहवास का आनन्द उठावें। मिथ्या द्वेष-भाव के मिटाने का एकमात्र यही उपाय है।

मेहता—मेरा भी यही विचार है। (घड़ी देख कर) ७ बज रहे हैं। व्यवसाय-मंडल के जलसे का समय आ गया। भारत-निवासियों की विचित्र दशा है। वे समझते हैं कि हिन्दुस्तानी मेम्बर कौंसिल में आते ही हिन्दुस्तान के स्वामी हो जाते हैं। जो चाहें स्वच्छ-न्दता से कर सकते हैं। आशा की जाती है कि वे शासन की प्रचलित नीति को पलट दें, नया आकाश और नया सूर्य्य बना दें। उन सीमाओं पर विचार नहीं किया जाता है जिन के अन्दर मेम्बरों को काम करना पड़ता है।

राजेश्वरी—इसमें उनका दोष नहीं। संसार की यही रीति है कि लोग अपनों से सभी प्रकार की आशा रखते हैं। अब तो कौन्सिल के आधे मेम्बर हिन्दुस्तानी हैं। क्या उनकी राय का सरकार की नीति पर असर नहीं हो सकता है?

मेहता—अवश्य हो सकता है, और हो रहा है, किन्तु उससे नीति में परिवर्तन नहीं किया जा सकता। आधे नहीं, अगर सारे मेम्बर हिन्दुस्तानी हों, तो भी वे किसी नई नीति का उद्घाटन नहीं कर सकते। वे कैसे भूल जावें कि कौन्सिल में उनकी उपस्थिति केवल सरकार की कृपा और विश्वास पर निर्भर है। इसके अतिरिक्त, यहाँ आकर उन्हें आन्तरिक अवस्था का अनुभव होता है, और जनता की अधिकांश शंकाएँ असंगत प्रतीत होने लगती हैं। पद के साथ उत्तरदायित्व का भारी बोझ भी सिर पर आ पड़ता है। किसी नई नीति की सृष्टि करते हुए उनके मन में यह चिन्ता उठनी स्वाभाविक है कि कहीं इसका फल आशा-विरुद्ध न हो। यहाँ वस्तुत: उनकी स्वाधीनता नष्ट हो जाती है। उन लोगों से मिलते हुए भी झिझकते हैं जो पहले उनके सहकारी थे; पर

अब अपने उच्छृङ्खल विचारों के कारण सरकार की आँखों में खटक रहे हैं। वे अपनी वक्तृताओं में न्याय और सत्य की बातें करते हैं, और सरकारी नीति को हानिकर समझते हुए भी उसका समर्थन करते हैं। जब इसके प्रतिकूल वे कुछ कर ही नहीं सकते, उसका विरोध करके अपमानित क्यों बनें? इस अवस्था में यही सर्वोचित है कि शब्दाडम्बर से काम लेकर अपनी मान-रक्षा की जाय। और, सबसे बड़ी बात तो यह है कि ऐसे सज्जन, उदार, नीतिज्ञ, शुभचिन्तकों के विरुद्ध कुछ कहना या करना मनुष्यत्व और सद्व्यवहार का गला घोटना है। यह लो, मोटर आ गई। चलो, व्यवसाय-मंडल में लोग आ गये होंगे।

ये लोग वहाँ पहुँचे, तो करतलध्वनि होने लगी। सभापति महोदय ने एड्रेस पढ़ा, जिसका निष्कर्ष यह था कि सरकार को उन शिल्प-कलाओं की रक्षा करनी चाहिए जो अन्यदेशी प्रतिद्वन्द्विता के कारण मिटी जाती हैं, राष्ट्र की व्यावसायिक उन्नति के लिए नये नये कारखाने खोलने चाहिए, और जब वे सफल हो जावें तो उन्हें व्यवसायिक संस्थाओं के हवाले कर देना चाहिए। उन कलाओं की आर्थिक सहायता करना भी उसका कर्तव्य है जो अभी शैशवावस्था में हैं, जिससे जनता का उत्साह बढ़े।

मेहता महोदय ने सभापति को धन्यवाद देने के पश्चात् सरकार की औद्योगिक नीति की घोषणा करते हुए कहा, "आपके सिद्धान्त निर्दोष हैं, किन्तु उनको व्यवहार में लाना नितान्त दुस्तर है। गवर्नमेन्ट आपको सम्मति प्रदान कर सकती है, लेकिन व्यावसायिक कार्यों में अग्रसर बनना जनता का काम है। आपको स्मरण रखना चाहिए कि ईश्वर भी उन्हीं की सहायता करता है जो अपनी सहायता आप करते हैं। आपमें विश्वास और औद्योगिक उत्साह का बड़ा अभाव है। पग पग पर सरकार के सामने हाथ फैलाना अपनी अयोग्यता और अकर्मण्यता की सूचना देना है।

दूसरे दिन समाचार-पत्रों में इस वक्तृता पर टीकाएँ होने लगीं। एक दल ने कहा—"मिस्टर मेहता की स्पीच ने सरकार की नीति को बड़ी स्पष्टता और कुशलता से निर्धारित कर दिया है।"

दूसरे दल ने लिखा—"हम मिस्टर मेहता की स्पीच पढ़कर स्तम्भित हो गये। व्यवसाय-मंडल ने वही पथ ग्रहण किया जिसके प्रदर्शक स्वयं मिस्टर मेहता थे। उन्होंने इस लोकोक्ति को चरितार्थ कर दिया कि नमक की खान में जो कुछ जाता है नमक हो जाता है"।

तीसरे दल ने लिखा—"हम मेहता महोदय के इस सिद्धान्त से सम्पूर्णतः सहमत हैं कि हमें पग पग पर सरकार के सामने दीन भाव से हाथ न फैलाना चाहिए। यह वक्तृता उन लोगों की आँखें खोल देगी जो कहते हैं कि हमें अपने योग्यतम पुरुषों को कौन्सिल में भेजना चाहिए। व्यवसाय-मंडल के सदस्यों पर हमें दया आती है जो आत्म-विश्वास का उपदेश ग्रहण करने के लिए कानपुर से दिल्ली गए थे।"

(३)

चैत का महीना था। शिमला आबाद हो चुका था। मेहता महाशय अपने पुस्तकालय में बैठे हुए कुछ पढ़ रहे थे कि राजेश्वरी ने आकर पूछा—"ये कैसे पत्र हैं"?

मेहता—यह आय-व्यय का मसविदा है। आगामी सप्ताह में कौन्सिल में पेश होगा। इसकी कई मदें ऐसी हैं जिन पर मुझे पहले भी शंका थी, और अब भी है। अब समझ में नहीं आता कि उसपर अनुमति कैसे दूँ। यह देखो तीन करोड़ रुपये उच्च कर्म-चारियों की वेतन-वृद्धि के लिए रक्खे गये हैं। यहाँ कर्मचारियों का वेतन पहले से ही बढ़ा हुआ है। इस वृद्धि की ज़रूरत ही नहीं; पर यह बात जुबान पर कैसे लाऊँ। जिन्हें इससे लाभ होगा वे सभी नित्य के मिलने वाले हैं। सैनिक व्यय में बीस करोड़ बढ़ गये हैं। जब हमारी सेनाएँ अन्य देशों में भेजी जाती हैं तो विदित ही है कि वह हमारी आवश्यकता से अधिक हैं। लेकिन इस मद का विरोध करूँ, तो कौंसिल मुझ पर उँगलियाँ उठाने लगे।

राजेश्वरी—इस भय से चुप रह जाना तो उचित नहीं। फिर तुम्हारे यहाँ आने से ही क्या लाभ हुआ?

मेहता—कहना तो आसान है; पर करना कठिन है। यहाँ जो कुछ आदर-सम्मान है सब 'हाँ हुजूर" में है। वाइसराय की निगाह जरा तिरछी हो जाय, तो कोई पास भी न फटके। नक्कू बन जाऊँ। वह लो, राजा भद्र-बहादुरसिंहजी आ गए।

राजेश्वरी—शिवराजपुर कोई बड़ी रियासत है?

मेहता—हाँ, १५ लाख वार्षिक से कम आय न होगी और फिर स्वाधीन राज्य है।

राजेश्वरी--राजा साहब मनोरमा की ओर बहुत आकर्षित हो रहे हैं। मनोरमा को भी उनसे प्रेम होता जान पड़ता है।

मेहता--यह सम्बन्ध हो जाय, तो क्या पूछना। यह मेरा अधिकार है जो राजा साहब को इधर खींच रहा है। लखनऊ में ऐसे सुअवसर कहाँ थे? वह देखो, अर्थसचिव मिस्टर काक आ गये।

काक-(मेहता से हाथ मिलाते हुए) मिसेज़ मेहता, मैं आपके पहनाव पर आसक्त हूँ। खेद है हमारी लेडियाँ साड़ी नहीं पहनतीं।

मिसेज़ मेहता-मैं तो अब गाउन पहनना चाहती हूँ।

काक--नहीं, मिसेज़ मेहता, खुदा के वास्ते यह अनर्थ न करना। मिस्टर मेहता, मैं आपके वास्ते एक बड़ी खुशखबरी लाया हूँ। आपके सुयोग्य पुत्र अभी आ रहे हैं या नहीं? महाराज भिंद उन्हें अपना प्राइवेट सेक्रेटरी बनाना चाहते हैं। आप उन्हें आजही सूचना दे दें।

मेहता—मैं आपका बहुत अनुग्रहीत हूँ।

काक--तार दे दीजिए तो अच्छा हो। आप ने काबुल की रिपोर्ट तो पढ़ी होगी! हिज़ मैजेस्टी अमीर हमसे सन्धि करने के लिए उत्सुक नहीं जान पड़ते। वे बोलशेविकों की ओर झुके हुए हैं। अवस्था चिंताजनक है।

मेहता-- मैं तो ऐसा नहीं समझता। गत शताब्दि में काबुल को भारत पर आक्रमण करने का साहस कभी नहीं हुआ। भारत ही अग्रसर हुआ। हाँ, वे लोग अपनी रक्षा करने में कुशल हैं।

काक—लेकिन क्षमा कीजिएगा, आप भूले जाते हैं कि ईरान, अफ़गानिस्तान, और बाल्शेविस्टों में सन्धि हो गई है। क्या हमारी सीमा पर इतने शत्रुओं का जमा हो जाना चिन्ता की बात नहीं ? उनसे सतर्क रहना हमारा कर्तव्य है।

इतने में लंच (जलपान) का समय आ गया। लोग मेज़ पर जा बैठे। उस समय घुड़-दौड़ और नाट्यशाला की चर्चा ही रुचिकर प्रतीत हुई।

(४)

मेहता महोदय ने बजट पर जो विचार प्रकट किये उनसे समस्त देश में हलचल मच गई। एक दल उन विचारों को देववाणी समझता था। दूसरा दल भी कुछ अंशों को छोड़ कर शेष विचारों से सहमत था; किन्तु तीसरा दल वक्तृता के एक एक शब्द पर, निराशा से सिर धुनता और भारत की अधोगति पर रोता था। उसे विश्वास ही न आता था कि ये शब्द मेहता की ज़बान से निकले होंगे:—

"मुझे आश्चर्य है कि ग़ैर-सरकारी सदस्यों ने एक स्वर से प्रस्तावित व्यय के उस भाग का विरोध किया है जिसपर देश की रक्षा और शान्ति, सुदशा और और उन्नति अवलम्बित है। आप शिक्षा-संबंधी सुधारों को, आरोग्य विधान को, नहरों की वृद्धि को अधिक महत्वपूर्ण समझते हैं। आपको अल्प वेतन पाने वाले कर्मचारियों का अधिक ध्यान है। मुझे आप लोगों के राजनैतिक ज्ञान पर इस से अधिक विश्वास था। शासन का प्रधान कर्तव्य भीतर और बाहर की अशान्तिकारी शक्तियों से देश को बचाना है। शिक्षा और चिकित्सा, उद्योग और व्यवसाय गौण कर्त्तव्य हैं। हम अपनी समस्त प्रजा को अज्ञान-सागर में निमग्न देख सकते हैं, समस्त देश को प्लेग और मलेरिया में ग्रसित रख सकते हैं, अल्प वेतन वाले कर्मचारियों को दारुण चिन्ता का आहार बना सकते हैं, कृषकों को प्रकृति की अनिश्चित दया पर छोड़ सकते हैं, किन्तु अपनी सीमा पर किसी शत्रु को खड़े नहीं देख सकते। अगर हमारी आय सम्पूर्णतः देश-रक्षा पर समर्पित हो जाय, तो भी हम को आपत्ति न होनी चाहिए। आप कहेंगे, इस समय किसी आक्रमण की सम्भावना नहीं है। मैं कहता हूं, संसार में "असम्भव" का राज्य है। हवा में रेल चल सकती है, पानी में आग लग सकती है, वृक्षों में वार्तालाप हो सकता है, जड़ चैतन्य हो सकता है। क्या ये रहस्य नित्य प्रति हमारी नज़रों से नहीं गुज़रते ? आप कहेंगे, राजनीतिज्ञों का काम सम्भावनाओं के पीछे दौड़ना नहीं, वर्तमान और निकट भविष्य की समस्याओं को हल करना है। राजनीतिज्ञों के कर्तव्य क्या हैं, मैं इस बहस में नहीं पड़ना चाहता; लेकिन इतना तो सभी मानते हैं कि पथ्य औषधि-सेवन से अच्छा होता है। आपका केवल यही धर्म नहीं कि सरकार के सैनिक व्यय का समर्थन करें, बल्कि यह मन्तव्य आपकी ओर से पेश होना चाहिये। आप कहेंगे कि स्वयंसेवकों की सेना बनाई जाय। सरकार को हाल के महासंग्राम में इसका बहुत ही खेदजनक अनुभव हो चुका है। शिक्षित वर्ग विलास-प्रिय, साहस-हीन और स्वार्थ-सेवी है। देहात के लोग शान्ति-प्रिय, संकीर्ण-हृदय (मैं भीरु न कहूंगा) और गृहसेवी हैं। उनमें वह आत्मत्याग कहाँ, वह वीरता कहाँ, अपने पुरुषाओं की वीर कथाएँ कहाँ ? और शायद मुझे यह याद दिलाने की ज़रूरत नहीं कि किसी शान्ति-प्रिय जनता को आप दो चार वर्षों में रण-कुशल और समर-प्रवीण नहीं बना सकते।"

(५)

जेठ का महीना था, लेकिन शिमले में न लू की ज्वाला थी और न धूप की ताप। महाशय मेहता विलायती चिट्ठियाँ खोल रहे थे। 'बालकृष्ण' देखते ही फड़क उठे, लेकिन जब उसे पढ़ा तो मुखमंडल पर उदासी छा गई। पत्र लिए हुए राजेश्वरी के पास आये। उसने उत्सुक होकर पूछा, बाला का पत्र आया ?

मेहता—हाँ, यह है।

राजेश्वरी—कब आ रहे हैं ?

मेहता—जाने-जाने के विषय में तो कुछ नहीं लिखा, बस सारे पत्र में मेरे जाति-द्रोह और दुर्नीति का रोना है। उनकी दृष्टि में मैं जाति का शत्रु, धूर्त, स्वार्थान्ध, दुरात्मा—सब कुछ हूँ। मैं नहीं समझता कि उसके विचारों में इतना अंतर हो गया। मैं तो उसे बहुतही शान्त-प्रकृति, गम्भीर, सुशील, सच्चरित्र, और सिद्धान्त-प्रिय नवयुवक समझता था, और उसपर गर्व करता था। और फिर, उसे यह पत्र लिखकर ही सन्तोष नहीं हुआ। उसने मेरी स्पीच का विस्तृत विवेचन एक प्रसिद्ध अंग्रेजी पत्रिका में छपवाया है। इतनी कुशल हुई कि यह लेख अपने नाम से नहीं लिखा, नहीं तो मैं कहीं मुँह दिखाने योग्य न रहता। मालूम नहीं, यह किन लोगों की कुसंगति का फल है। महाराजा भिन्द की नौकरी उसके विचार में गुलामी है, राजा भद्रबहादुरसिंह के साथ मनोरमा का विवाह घृणित और अपमान-जनक है। उसे इतना साहस कि मुझे धूर्त, मक्कार, ईमान बेचनेवाला, कुलद्रोही कहे! यह अपमान! मैं उसका मुँह नहीं देखना चाहता.........................

राजेश्वरी—"लाओ, ज़रा इस पत्र को मैं भी देखूँ. वह तो इतना मुँहफट न था"।

यह कहकर उसने पति के हाथ से पत्र लिया, और एक मिनट में आद्यन्त पढ़कर बोली-यह सब कटु बातें कहाँ हैं? मुझे तो इसमें एक भी अपशब्द नहीं मिलता।

मेहता—भाव देखो, शब्दों पर न जाओ।

राजेश्वरी—जब तुम्हारे और उसके आदर्शों में विरोध है, तो उसे तुमपर श्रद्धा क्यों कर हो सकती है?

लेकिन मेहता महोदय जामे से बाहर हो रहे थे। राजेश्वरी की सहिष्णुता-पूर्ण बातों से वे और जल उठे। दफ्तर में जाकर उसी क्रोध में पुत्र को पत्र लिखने लगे जिसका एक एक शब्द छुरी और कटार से भी ज्यादा तीखा था।

(६)

उपरोक्त घटना के दो सप्ताह पीछे मिस्टर मेहता ने विलायती डाक खोली तो बालकृष्ण का कोई पत्र न था। समझे, मेरी चोटें काम कर गईं, आ गया सीधे रास्ते पर; तभी तो उत्तर देने का साहस नहीं हुआ। लन्दन टाइम्स की चिट फाड़ी (इस पत्र को बड़े चाव से पढ़ा करते थे) और तार की खबरें देखने लगे। सहसा उनके मुँह से एक आह निकली, पत्र हाथ से छूटकर गिर पड़ा। पहला ही समाचार था—

लन्दन में भारतीय देशभक्तों का जमाव, आनरेबल मिस्टर मेहता की वक्तृता पर असंतोष,

मिस्टर बालकृष्ण मेहता का विरोध और आत्महत्या।

गत शनिवार को बैकसटन हाल में भारतीय युवकों और नेताओं की एक बड़ी सभा हुई। सभापति मिस्टर तालिवजी ने कहा—"हमको बहुत खोजने पर भी कौंसिल के किसी अंग्रेज़ मेम्बर की वक्तृता में ऐसे मर्म-भेदी, ऐसे कठोर शब्द नहीं मिलते। हमने अबतक किसी राजनीतिज्ञ के मुख से ऐसे भ्रान्तिकारक, ऐसे निरंकुश विचार नहीं सुने। इस वक्तृता ने सिद्ध कर दिया कि भारत के उद्धार का कोई उपाय है, तो वह स्वराज्य है जिसका आशय है मन और वचन की पूर्ण स्वाधीनता। क्रमागत उन्नति (evolution) पर से यदि हमारा एतबार अबतक नहीं उठा था तो अब उठ गया। हमारा रोग असाध्य हो गया है। वह अब चूरणों और अवलेहों से अच्छा नहीं हो सकता। उससे निवृत्त होने के लिए हमें काया-कल्प की आवश्यकता है। ऊँचे राज्य-पद हमें स्वाधीन नहीं बनाते, बल्कि हमारी आध्यात्मिक पराधीनता को और भी पुष्ट कर देते हैं। हमें विश्वास है कि आनरेबल मिस्टर मेहता ने जिन विचारों का प्रतिपादन किया है उन्हें वे अंतःकरण से मिथ्या समझते हैं; लेकिन सम्मान-लालसा, श्रेय-प्रेम और पदानुराग ने उन्हें अपनी आत्मा का गला घोंटने पर वाध्य कर दिया है ....(किसी ने उच्च स्वर से कहा, यह मिथ्या दोषारोपण है)।

लोगों ने विस्मित हो कर देखा, तो मिस्टर वालकृष्ण अपनी जगह पर खड़े थे। क्रोध से उनका शरीर काँप रहा था। वे बोलना चाहते थे, लेकिन लोगों ने उन्हें घेर लिया और उनकी निन्दा और अपमान करने लगे। सभापति ने बड़ी कठिनाई से लोगों को शान्त किया; किन्तु मिस्टर वालकृष्ण वहाँ से उठकर चले गये।

दूसरे दिन जब मित्र-गण बालकृष्ण से मिलने गये तो उनकी लाश फ़र्श पर पड़ी हुई थी। पिस्तौल की दो गोलियाँ छाती से पार हो गई थीं। मेज़ पर उनकी डायरी खुली पड़ी थी उसपर ये पंक्तियाँ लिखी हुई थीं—

आज सभा में मेरा गर्व दलित हो गया। मैं यह अपमान नहीं सह सकता। मुझे अपने पूज्य पिता के प्रति ऐसे कितने ही निन्दासूचक दृश्य देखने पड़ेंगे। इस आदर्श विरोध का अंत ही कर देना अच्छा है। संभव है, मेरा जीवन उनके निर्दिष्ट मार्ग में बाधक हो। ईश्वर! मुझे बल प्रदान कर!!

निरलंकारा।

(लेखक—श्रीयुत "नयन")

घटा हटा दो उपमाओं की
छटा शब्द की दूर करो।
वर्ण योजना के आभूषण
एक एक कर छोड़ धरो॥
सोने-चाँदी के गहनों में
मुझे न, सजनी, उलझाओ।
अपना शून्य रूप दिखलाकर
आँखों-बीच समा जाओ॥

अमेरिका के संयुक्त-राज्य।

(लेखक—राय साहब पं० रघुवरप्रसाद द्विवेदी, बी० ए०)

यूनाइटेड स्टेट्स अर्थात् अमेरिका के संयुक्त-राज्यों में प्रजातंत्र राज्य है। वहाँ कोई राजा राज्य नहीं करता। जहाँ राजा ही नहीं होता वहाँ ख़ान्दानी अमीर ही कहाँ से हो सकते हैं, और राजसी आडम्बर ही कहाँ से संभव है। वहाँ नौकरशाही का ज़ोर भी नहीं है, और प्रत्येक अमेरिकन

अपने को दूसरों के बराबर समझता है। वहाँ न तो कोई बड़ा है और न कोई छोटा, सब बराबर समझे जाते हैं, जैसा कि प्रजातंत्र में होना ही चाहिए। जिस देश में भ्रातृ-भाव नहीं है, जहाँ बड़े-छोटे, ऊँच-नीच आदि का भेद है वहाँ प्रजातंत्र हो ही नहीं सकता। जिस देश के निवासी अपने ही करोड़ों देश-बान्धवों को अत्यन्त नीच और अपने गुलाम समझते हैं उसमें स्वातन्त्र्य आवेगा ही कहाँ से?

शासन-प्रणाली।

यह संयुक्त-राष्ट्र कई स्वतंत्र राष्ट्रों से मिल कर बना है। प्रत्येक राष्ट्र का आभ्यन्तरिक राज-प्रबंध एक एक अध्यक्ष के नीचे, उसकी व्यवस्थापक सभा के द्वारा, अलग, चलता है, और पूरे देश का प्रबन्ध कांग्रेस नाम की एक प्रजा-प्रतिनिधि-सभा और अध्यक्ष-द्वारा जिसे प्रेसीडेण्ट या राष्ट्र-पति कहते हैं, चलाया जाता है। इस तरह वहाँ एक प्रधान सरकार और प्रत्येक राष्ट्र की अलग अलग राष्ट्रीय सरकारें होती हैं। पहले हम इसी प्रधान सरकार या फ़िडरल गवर्नमेण्ट (Federal Government) का वर्णन करते हैं।

प्रधान सरकार।

हम ऊपर कह चुके हैं कि अमेरिका के संयुक्त-राष्ट्रों में प्रजातंत्र है, अर्थात् समस्त शासनाधिकार देश-निवासियों के हाथ में है और वे उसका उपयोग अपने प्रतिनिधियों के द्वारा करते हैं। ये प्रजा-प्रतिनिधि प्रत्येक राष्ट्र से निर्वाचित हो कर वाशिंगटन शहर में बैठने वाली कांग्रेस-सभा में जाते हैं।

इस प्रधान सरकार के तीन अङ्ग हैं—(१) न्याय संबन्धी (२) व्यवस्थापक और (३) कार्यकारी। इँगलैण्ड में जहाँ राजा अपनी पार्लिमेण्ट सभा के द्वारा देश एवं साम्राज्य का शासन करता है, व्यवस्थापक अङ्ग, जो क़ानून बनाता है, सर्वश्रेष्ठ समझा जाता है, और शेष अङ्ग उसके अधिकृत समझे जाते हैं; पर अमेरिका में ये तीनों अङ्ग समान हैं। किसी के नीचे नहीं हैं।

जिस शासन में न्याय-विभाग प्रबल नहीं होता, वह अच्छा नहीं कहा जा सकता। इसमें सन्देह नहीं कि संयुक्त राष्ट्रों का न्याय-विभाग संसार के अच्छे से अच्छे न्याय-विभागों में गिना जा सकता है। यहाँ तीन प्रकार के न्यायालय होते हैं–(१) उच्चतम न्यायालय (Supreme court), (२) सेशंस न्यायालय, जो स्थान स्थान में घूमकर अपील सुनते हैं, और (३) ज़िला न्यायालय।

(१) उच्च न्यायालय।

इसमें एक प्रधान और आठ सम्मिलित न्यायाधीश न्याय करते हैं। वाशिंगटन नगर में कैपिटल नामक बृहत् भवन के एक भाग में यह उच्च न्यायालय बैठता है। अभियोग सुनने के लिए कम से कम छै न्यायाधीशों की उपस्थिति आवश्यक समझी जाती है, और निर्णय बहुमत के अनुसार दिया जाता है। इस उच्च न्यायालय को यह विशेष अधिकार है कि व्यवस्थापक सभा में जो नये क़ानून बनाये जाते हैं, वे यहाँ के शासन-तत्वों के अनुसार हैं या नहीं, इसका भी वही निर्णय करता है, अर्थात् उसकी स्वीकृति के बिना व्यवस्थापक सभा कोई क़ानून पास नहीं कर

सकती। यह बात यूरोप के राष्ट्रों में नहीं पाई जाती। इसी प्रकार कार्य-कारी-वर्ग की आज्ञाओं को भी वह देखती है कि क़ानून की दृष्टि से वे उचित हैं या अनुचित। हाँ, ऐसे मौक़े आते तो बहुत कम हैं—गत सौ वर्षों में कांग्रेस के केवल बारह कार्य इसने अनुचित ठहराये हैं; पर इसे यह अधिकार है अवश्य।

(२) अपील के सेशंस न्यायालय।

समूचे संयुक्त राष्ट्रों के नौ विभाग किये गये हैं, जिनमें से प्रत्येक में यह न्यायालय बैठता है। प्रत्येक न्यायालय में दो से चार तक न्यायाधीश बैठा करते हैं; और उनकी संख्या कार्य्य की मात्रा के अनुसार रक्खी जाती है। उच्च न्यायालय का एक एक न्यायाधीश भी इनके साथ बैठता है।

(३) जिला न्यायालय।

पूरा देश अस्सी से नब्बे तक ज़िलों में विभक्त है, और प्रत्येक ज़िले में एक एक ऐसा न्यायालय है जो ज़िला कोर्ट कहलाता है। प्रत्येक ज़िला कोर्ट में, कार्य की मात्रा के अनुसार, दो से चार तक न्यायाधीश बैठते हैं।

कांग्रेस।

अमेरिका की संयुक्त राज्यों की प्रधान व्यवस्थापक सभा में, जो कांग्रेस कहलाती है और वाशिंगटन नगर के विशाल केपिटल नामक राजकीय भवन में बैठती है, दो विभाग हैं, जो उच्च और निम्न सभा कहलाते हैं। उच्च सभा को सीनेट और निम्न को प्रतिनिधि—सभा (House of Representatives) कहते हैं। इँगलैण्ड में भी पार्लिमेंट नामक व्यवस्थापक सभा के ऐसे ही दो विभाग हैं, और जहाँ जहाँ व्यवस्थापक सभाएँ हैं वहाँ वहाँ ऐसे ही विभाग देखे जाते हैं। इससे यह लाभ है कि किसी नये क़ानून की रचना में उतावली के कारण भूल नहीं होने पाती, और प्रत्येक क़ानून बहुत सोच विचार कर बनाया जाता है।

अमेरिका-वालों ने अपने राष्ट्र-संगठन में इँगलैण्ड के संगठन की भूलों का निराकरण करना चाहा था। पहिले उनमें से कुछ लोग कांग्रेस के ऐसे दो विभाग नहीं करना चाहते थे। इन विरोधियों में जेफ़रसन नामक नेता प्रधान था। जनरल वाशिंगटन इन दो विभागों के पक्ष में था। एक दिन दोनों में यही विवाद हो रहा था कि चाय के प्याले लाये गये। जेफ़रसन ने प्याले से रकाबी में चाय ठंढी की। इसपर से वाशिंगटन ने कहा कि आपही के इस कार्य से सिद्ध हो गया कि कांग्रेस में दो विभागों की आवश्यकता है। एक विभाग में बनकर जब क़ानून दूसरे में जायगा, तो वहाँ उसपर वादविवाद होने से वह बहुत कुछ ठंढा पड़ जायगा।

इँगलैण्ड की पार्लिमेंट का समय सात वर्ष का है, अर्थात् साधारण निर्वाचन के बाद वह सात वर्षों से अधिक नहीं चलती, नये निर्वाचन के पश्चात् इतने ही वर्ष रहती है; पर कभी कभी सरकार के विरुद्ध बहुमत हो जाने से उसके हार जाने पर वह कुछ महीनों के बाद ही समाप्त कर दी जाती है, और नये सिरे से निर्वाचन होता है। कांग्रेस की अवधि पाँच वर्ष की रक्खी गई है। साधारणतः वह प्रत्येक वर्ष दिसम्बर मास के प्रथम सोमवार को बैठती है; पर यदि आव-

श्यकता पड़े, तो राष्ट्र-पति उसे जब चाहे तब ज़रूरी क़ानून पास करने के लिए बुला सकता है।

कांग्रेस को क़ानून बनाने का बहुत बड़ा अधिकार है। वह उन विषयों पर क़ानून बनाती है, जिनका सम्बन्ध समूचे देश से है। राष्ट्रीय सरकारों से सम्बन्ध रखने वाले क़ानून राष्ट्रीय व्यवस्थापक सभाओं में बनाए जाते हैं। ये सार्व-देशिक विषय इस प्रकार होते हैं— (१) युद्ध और संधि, (२) सैनिक और नाविक विभाग, (३) देशी और विदेशी वाणिज्य, (४) विदेशियों को स्वदेशियों के अधिकार प्रदान, (५) मुद्रित धन, (६) डाक-विभाग और डाक-सड़क, (७) न्याय-विभाग, (८) शासन-कार्य के लिए राज्य-कर की वसूली।

इन विषयों में प्रधान-सरकार को पूर्णाधिकार है; पर शेष विषयों में जो निरे राष्ट्रीय होते हैं, वह हस्तक्षेप नहीं करती, बरन उन्हें राष्ट्रीय सरकारों के हाथों में छोड़ देती है।

कांग्रेस का प्रत्येक विभाग अपना संगठन मन-माना कर लेता है। प्रत्येक को अपने अपने कर्म-चारी नियुक्त करने का अधिकार है। उप-राष्ट्र-पति के चुनने का अधिकार उसे नहीं है। यह उप-राष्ट्रपति सीनेट-सभा का सभापति होता है। प्रत्येक विभाग में कई क्लर्क होते हैं, जो हाज़िरी लगाते, बिल या क़ानूनी मसविदे पढ़ते और प्रत्येक दिवस की कार्यवाही लिखते हैं। एक सारजण्ट होता है; जो शान्ति-रक्षा किया करता है। एक पादरी साहब ईश-वन्दना के लिए, एक द्वारपाल, एक पोस्ट-मास्टर और कई छोटे-मोटे कार्य-कर्ता होते हैं।

सीनेट का अध्यक्ष प्रेसीडेण्ट और प्रजा-प्रतिनिधि-सभा का प्रमुख अथवा "स्पीकर" कहलाता है। प्रमुख के निर्वाचन का अधिकार प्रजा-प्रतिनिधियों को ही होता है, और इँगलैण्ड में जिस तरह इस चुनाव की स्वीकृति सम्राट् के द्वारा न होने से वह कार्य नहीं कर सकता उस तरह अमेरिका में यह नियम नहीं है। इससे स्पष्ट है कि प्रजा-प्रतिनिधि-सभा सर्व्वथा स्वतन्त्र होती है।

आईन-रचना।

कांग्रेस के दोनों भागों में प्रतिवर्ष ४५,००० क़ानूनी मसविदे पेश होते हैं, और सदस्य-गण ही इन्हें पेश करते हैं, जिससे प्रकट है कि इस क़ानूनी टकसाल का काम कितना अधिक है। है। प्रत्येक मसविदे पर विचार करने के लिए केवल चार मिनिट दिये जायँ, तो पूरा काम ३०० दिनों में समाप्त हो सकता है। इसी से प्रत्येक विभाग के सदस्यों की अनेक कमेटियाँ बनाकर इन मसविदों पर विचार किया जाता, और रिपोर्ट पेश की जाती है। उस पर सभा विचार करके उसे पास करती, और दूसरी सभा को भेजती है। वहाँ भी पास हो जाने पर, वह राष्ट्रपति के पास भेजा जाता है, और उन के हस्ताक्षर हो जाने पर क़ानून माना जाता है। यदि राष्ट्रपति को बिल पसन्द नहीं होता, तो वे कारण लिखकर उसी सभा के पास भेज देते हैं जिसमें वह पहले पेश हुआ था। कांग्रेस को अधिकार है कि वह राष्ट्रपति के निर्णय को न माने। इसके लिए उस बिल को दोनों सभाओं में दूसरी बार दो तिहाई बहुमत से पास होना चाहिए। ऐसा होने पर फिर राष्ट्रपति महोदय के हस्ताक्षर एवं स्वीकृति की आवश्यकता नहीं होती।

इँगलेण्ड में पार्लिमेण्ट के किसी मेम्बर के दिये हुए टिकट को दिखाकर हम उस सभा में प्रवेश कर सकते हैं और बाहरी लोगों के लिए नियत किये हुए स्थान में बैठ सकते हैं; पर कांग्रेस में जाने के लिए कोई रोक नहीं है। युद्ध के समय तो कभी कभी दर्शक रोक दिये जाते हैं; पर साधारणतः ऐसा नहीं होता।

प्रतिनिधि-सभा के सदस्य संख्या में ४३५ होते हैं। मत-दाता इन्हें दो वर्षों के लिए चुनते हैं। प्रत्येक राष्ट्र की जन-संख्या के अनुसार सदस्यों की संख्या निर्दिष्ट रहती है, और बहुधा तीन लाख दस हज़ार संख्या पीछे एक सदस्य चुना जाता है। सदस्य चुने जाने के लिए प्रार्थी में ये तीन बातें होनी चाहिए—(१) सात वर्ष अमेरिका में नागरिक वास, (२) २५ वर्ष की अवस्था, और (३) अपने ही निवास-स्थान के ज़िले एवं प्रदेश से निर्वाचन।

२५ वर्ष की अवस्था का नियम बहुत उपयोगी है; क्योंकि ऐसे महत्कार्य्य के लिए ऐसे ही सदस्य चुने जाने चाहिए जिनके विचार परिपक्व हो चुके हों। इँगलेण्ड में २१ वर्ष की अवस्था नियत है जिसका फल यह होता है कि पार्लिमेण्ट सभा में कच्ची उमर के सदस्य प्रवेश कर सकते हैं। स्थानीय प्रार्थी का चुना जाना भी उचित ही है; क्योंकि यदि इँगलेण्ड के समान एक प्रान्त का निवासी किसी दूसरे प्रान्त के किसी स्थान से चुना जाता है, तो वह अपने मत-दाताओं के बीच विदेशी सा होता है जिससे वह उनकी उचित सेवा नहीं कर सकता। अंग्रेज़ी प्रथा के पक्षपाती कहा करते हैं कि ऐसा करने से देश के उत्तमोत्तम निवासियों को अवसर मिलता है; पर अमेरिका वाले उत्तर देते हैं कि प्रत्येक प्रदेश में ऐसे उत्तमोत्तम सज्जन अवश्य पाये जाते हैं।

सीनेट तथा प्रजा-प्रतिनिधि-सभा के सदस्यों का वेतन क़ानून से नियत किया गया है। प्रत्येक को प्रति वर्ष २२,५००) रुपये का वेतन मिलता है। इसके सिवा उसे ३६,००) रुपये सेक्रेटरी रखने के लिए, ३७५) रु० काग़ज़ क़लम, स्याही आदि के लिए और दश आने मील सवारी के लिए मिलता है। साथ ही, इन सदस्यों को सरकारी डाक भेजने के लिए टिकट नहीं लेना पड़ता। इँगलेण्ड में अभी कुछ वर्ष पहले मेम्बरों को वेतन नहीं मिलता था। हाँ, मज़दूर-दल अपने मेम्बरों को कुछ वेतन चंदा करके देते थे; पर सरकार से किसी को कुछ नहीं दिया जाता था। इन लोगों की यह धारणा थी कि देश-सेवा के लिए हमें कुछ नहीं लेना चाहिए; पर परिणाम यह होता था कि योग्य से योग्य, पर ग़रीब, मनुष्य को देश-सेवा का अवसर मिलता ही न था। कभी कभी ये मेंबर, धनी मित्रों की सहायता से, पार्लिमेण्ट में प्रवेश करते थे; पर इसमें यह दोष था कि ऐसे मेम्बर स्वतंत्रता खो बैठते थे। अपने सहायकों के मतानुसार उन्हें चलना पड़ता था। इन सब बातों पर विचार करके यही निश्चय किया गया और अन्य देशों के समान इँगलेण्ड की कामन्स सभा (House of Commons) के मेम्बरों को सन् १९११ से प्रत्येक को ६,०००) रु० वार्षिक वेतन दिया जाने लगा है यूनाइटेडस्टेट्स के मेम्बरों के और कई स्वत्व हैं; जैसे, वे कांग्रेस को आते-जाते या उसमें काम करते हुए, वारंट पर, गिरफ्तार नहीं किये जा सकते। साथ ही,

कांग्रेस में वे जो भाषण देते हैं उसमें कही हुई बातों के लिए वे किसी न्यायालय आदि के सम्मुख उत्तरदायी नहीं हैं, अर्थात् उनपर अभियोग नहीं चलाया जा सकता। इँगलैण्ड में भी कही हुई बातोंको लेकर पार्लिमेंट मेम्बर पर अभियोग नहीं चल सकता; पर यदि वह अपना भाषण प्रकाशित करे तो चल सकता है। इससे स्पष्ट है कि अमेरिका में मेम्बरों को जो वाक्-स्वतंत्रता है वह अन्यत्र नहीं है। वे यदि अपने भाषणों की लाखों प्रतियाँ मुद्रित कराकर बाँटना चाहें, तो सरकारी मुद्रालय में बिना कुछ दिये छपा सकते हैं। बहुधा कांग्रेस में भाषण पढ़े न जाने पर भी छाप दिये जाते हैं; और विचित्रता यह है कि बीच बीच में निरे कल्पित "जय-घोष" आदि शब्द लिखे रहते हैं।

सीनेट और प्रतिनिधि-सभा के मेम्बरों को सुविधायें भी हैं, और असुविधायें भी, अर्थात् कई कार्य्यों के करने में, जिनसे उनके कर्तव्य-पालन में बाधा पड़ सकती है, वे स्वतंत्र नहीं होते। इन मेम्बरों को सरकारी या अन्य नौकरी करने का अधिकार नहीं होता।

आधे से ज्यादा सदस्य उपस्थित हुए बिना **कोरम** नहीं होता, और कोरम न होने पर कांग्रेस का कार्य स्थगित कर दिया जाता है। इँगलैंड की पार्लिमेण्ट सभा में ४० सदस्य होने पर ही कार्य्य होता है, और लाट-सभा में केवल तीन सदस्यों का कोरम माना जाता है। अमेरिका में यह कड़ा नियम इसलिए रक्खा गया है कि थोड़े से सदस्य एकत्र होकर अपने लाभ के क़ानून न बना डालें।

सीनेट।

कांग्रेस के उच्च विभाग "सीनेट" के केवल ९६ सदस्य होते हैं। प्रत्येक प्रादेशिक राज्य से दो दो सदस्य सीनेट में बैठने के लिए चुने जाते हैं। ये छै वर्ष के लिए चुने जाते हैं। सीनेट के सदस्यों के लिए तीन वर्ष की अवस्था की क़ैद रहती है। नौ वर्ष से कम समय तक नागरिक या किसी दूसरे प्रदेश का रहनेवाला इस सभा में नहीं बैठ सकता।

इँगलैण्ड की लाट-सभा में और अमेरिका के इस सीनेट में बड़ा अन्तर है, अर्थात्—

लाट-सभा	सीनेट
१) लाट पदवीधारी बिना निर्वाचन के इसके मेम्बर होते हैं। राजा को अधिकार है कि नये लाट बनाकर इस सभा के मेम्बरों की संख्या अनियमित रूप से बढ़ा सकता है।	(१) कोई भी मनुष्य निर्वाचित होने पर इसका सदस्य बन सकता है। (अमेरिका में उपाधियाँ होतीं ही नहीं।)

अमेरिका के उपनिवेशों से कांग्रेस में बैठने के लिए प्रतिनिधि आते हैं; पर अंग्रेज़ी उपनिवेशों को ऐसे प्रतिनिधि भेजने का अधिकार नहीं रहता। अलास्का, हवाई और पोर्ट राइको से एक एक और फ़िलिपाइन द्वीपों से दो प्रतिनिधि भेजे जाते हैं। इन्हें अमेरिका के अन्य सदस्यों के समान वेतन मिलता है और सुविधाएँ रहती हैं; केवल मत देने का अधिकार नहीं रहता। अपने अपने देश की वास्तविक स्थिति बतलाने के लिए इन्हें पूर्ण अधिकार रहता है।

राष्ट्र-पति।

संयुक्त-राज्यों के राष्ट्रपति "प्रेसिडेन्ट-आफ़ दि यूनाइटेडस्टेट्स आफ़ अमेरिका" (President

6

of the United states of America) कहलाते हैं। इनके शासन-काल की अवधि चार वर्ष की होती है; पर सर्व्व-प्रिय होने पर ये दूसरी बार चुने जा सकते हैं; परन्तु तीसरी बार चुने जाने का नियम नहीं है। सन् १८८० में राष्ट्रपति ग्रांट ने तीसरी बार चुने जाने का उद्योग किया था; पर बड़ा विरोध हुआ था। राष्ट्रपति भी अमेरिका के साधारण नागरिक समझे जाते हैं। अपने शासन-काल में वाशिंगटन के सरकारी भवन "ह्वाइट हौज़" में रहते हैं। निर्व्वाचन के बाद, महीना भर, जो चाहता उनसे मिलने जाता है और वे प्रत्येक से हाथ मिलाते हैं। इन मुलाक़ातियों की संख्या ५० से ७० हज़ार तक होती है। यदि आप मिलते वक्त चौकन्ने न रहें और हाथ ढीला रक्खें तो अवश्य ही वह मोच खाकर सूज उठे। शासन-काल पूरा होने पर प्रत्येक प्रेसिडेण्ट फिर अपने व्यवसाय में लग जाता है और साधारण नागरिक समझा जाने लगता है।

कोई भी अमेरिकन जो कम से कम चौदह वर्ष नागरिक रह चुका है, और इस अवस्था में पैंतीस वर्ष तक रह चुका है वह राष्ट्रपति होने की आशा रख सकता है। एक चीनी एलची का यह कथन बहुत ठीक है कि यूनाइटेड-स्टेट्स का प्रत्येक निवासी "ह्वाइट हौज़" की गद्दी का उत्तराधिकारी है।

उप-राष्ट्रपति।

यदि राष्ट्रपति पदच्युत किया जाय, या मर जाय या और किसी कारणवश अपना कार्य करने में असमर्थ हो तो सारा कार्य्यभार उप-राष्ट्रपति को सँभालना पड़ता है, और वही राष्ट्र-पति मान लिया जाता है। ऐसा प्रसंग पाँच बार आया है। यदि दोनों न रहें तो कांग्रेस इसका प्रबन्ध करती है।

राष्ट्रपति के स्वत्व।

राष्ट्रपति गिरफ़्तार नहीं किया जा सकता और न साधारण न्यायालयों का अधिकार उस पर चलता है। हाँ, एक बार एक नीग्रो कान्स्टेबिल ने राष्ट्रपति ग्रांट को, गाड़ी बहुत तेज़ चलाने के अपराध में, गिरफ़्तार कर लिया था, और उन्होंने साठ रुपये बतौर ज़मानत के जमा किये थे जो दूसरे दिन न्यायालय में उपस्थित न होने के कारण ज़ब्त होगये थे। आपने उस कान्स्टेबिल की कर्तव्य-परायणता की भूरि भूरि प्रशंसा की थी। यदि राष्ट्रपति से कोई जुर्म हो जाता है, तो प्रतिनिधि-सभा उनपर अभियोग चलाती है और सीनेट न्यायाधीश बनकर उनका निर्णय करता है। सीनेट के बनाये हुए इस विशेष न्यायालय के अध्यक्ष अमेरिका के प्रधान न्यायालय के प्रधान न्यायाधीश हुआ करते हैं। अपराध प्रमाणित होने पर राष्ट्रपति पदच्युत कर दिये जाते हैं, और फिर आगे किसी सार्व्वजनिक पद पाने से वञ्चित रक्खे जाते हैं। केवल एक बार राष्ट्रपति एजान्सन पर ऐसा प्रसंग आया था; पर आप पर अपराध प्रमाणित नहीं हो सका था।

राष्ट्रपति का वार्षिक वेतन सवा दो लाख रुपये हैं। साथ ही, उन्हें साढ़े सात लाख रुपये अपने दफ़्तर, घोड़े, गाड़ी, यात्रादि के लिए मिलते हैं। अन्य देशों के राजाओं के ख़र्च के सामने यह ख़र्च निरा पासंग है।

राष्ट्र-पति के अधिकार।

वास्तव में अमेरिका के राष्ट्रपति के जो अधिकार हैं वे यूरोप के राजाओं के भी नहीं हैं। शासन-प्रणाली की रक्षा करना और क़ानून के अनुसार कार्य्य करा लेना तो राष्ट्रपति का कर्तव्य है ही, साथ ही क़ानून-रचना में भी उसका बहुत कुछ हाथ है। वह समय समय पर कांग्रेस को

सन्देश भेजा करता है, जिसमें देश की स्थिति और आवश्यक क़ानून बनाने का उल्लेख रहा करता है। ऐसा एक सन्देश प्रति वर्ष निकलता है, और समय समय पर अन्य सन्देश भी निकला करते हैं। आरंभ में राष्ट्रपति स्वयं कांग्रेस में आकर यह सन्देश देता था; पर तीसरे प्रेसीडेण्ट जिफ़रसन के समय से यह चाल बन्द हो गई थी। राष्ट्रपति विलसन ने उसका प्रचार फिर से किया है। क़ानूनी मसविदों को लौटा सकने का अधिकार रहने से राष्ट्रपति का प्रभाव प्रत्येक क़ानून पर पड़े बिना नहीं रह सकता। वास्तव में यह अधिकार इँगलैण्ड के महाराज को भी नहीं है, यद्यपि शासन-प्रणाली में स्वीकार किया गया है कि उनके हस्ताक्षर न होने से लार्ड और कामन्स-सभा (House of Lords and House of Commons) में पास हुआ भी क़ानून नहीं बन सकता; क्योंकि इन सभाओं के स्वीकृत किये हुए मसविदे को अस्वीकार करने से संभव है कि महाराज को अपना पद खोना पड़े। महाराज भी देखते हैं कि क़ानून का सम्बन्ध प्रजा से है; अतएव जिसको प्रजा-प्रतिनिधि स्वीकार करते हैं उसमें हस्तक्षेप करने की आवश्यकता ही क्या?

अधिकारी-वर्ग की नियुक्ति भी राष्ट्रपति के हाथ में है। ६,००० सिविल और मिलिटरी अधिकारियों को प्रायः प्रत्येक राष्ट्रपति अपने शासन-काल में नियुक्त करता है। न्यायाधीशों को छोड़ कर शेष सब मरते तक के लिए नियुक्त हुआ करते हैं। सब पदाधिकारियों को पदच्युत करने का अधिकार भी उसे रहता है। वह सैनिक और नाविक-दल का प्रधान सेनापति भी होता है, पर युद्ध-घोषणा करने का अधिकार उसे न रहकर कांग्रेस को रहता है। उसे अपराधियों को क्षमा-प्रदान करने का भी अधिकार है; पर उनको नहीं जिनपर प्रजा-प्रतिनिधि-सभा अपराध लगाती है।

कैबिनेट (कार्य्य-कारिणी-समिति)।

प्रत्येक विभाग के प्रधान अपने अपने विभाग का कार्य्य चलाते हैं और ऐसे दस विभागों के अधिकारियों से मिल कर कार्य्य-कारिणी समिति बनती है। इन अधिकारियों को (१) स्टेट सेक्रेटरी, (२) कोष-मंत्री, (३) युद्ध-मंत्री, (४) अटरनी जनरल, (५) पोस्ट मास्टर जनरल, (६) नाविक-विभाग-मंत्री, (७) देशीय विभाग-मंत्री, (८) कृषि-विभाग-मंत्री, (९) वाणिज्य-विभाग-मंत्री और (१०) श्रम-विभाग-मंत्री कहते हैं। इन मंत्रियों को राष्ट्रपति ही नियुक्त करता है, और वे बहुधा उसीके राजनैतिक दल के हुआ करते हैं। इस मंत्रि-मण्डल पर कांग्रेस का कोई अधिकार नहीं रहता, जैसा कि इँगलैण्ड तथा अन्य यूरोपीय देशों में रहा करता है। इस कारण से वे अपनी नीति कांग्रेस द्वारा अनुमोदित न होने पर पद-त्याग नहीं करते जैसा इँगलैण्ड में करना पड़ता है। वे लोग राष्ट्रपति के मंत्री होते हैं, न कि कांग्रेस के; पर उनकी सम्मति राष्ट्रपति को स्वीकार करनी पड़ती है।

ये मंत्री जब चाहें, अपना पद त्याग कर सकते हैं और राष्ट्रपति जब चाहे तब उन्हें अलग कर सकता है जैसा कि निम्न लिखित घटना से स्पष्ट है—

राष्ट्रपति ग्रांट—ज़रा ठहरिए, पोस्ट मास्टर जनरल साहब (मार्शल जुअल), मुझे आपसे

कुछ कहना है। मैं आपसे अपने पद का त्याग-पत्र माँगना चाहता हूँ।

पो.मा. जनरल—बेशक, मिस्टर प्रेसिडेंट, दफ्तर जाते ही भेजता हूँ।

रा. प. ग्रांट—(टेबिल की ओर संकेत कर) देखिये, वहाँ काग़ज़-क़लम सब है।

इससे स्पष्ट है कि राष्ट्रपति तुरन्त ही मंत्री को पद-च्युत कर सकता है।

संयुक्त राज्यों की शासन-प्रणाली की रचना इँगलैण्ड की शासन-प्रणाली पर स्थिर की गई है; पर पुरानी प्रणाली के दोष उसमें नहीं आने पाये। हाँ, उसमें भी दोषों की कमी नहीं है; पर प्रजा-तंत्र की दृष्टि से वह बहुत कुछ संतोषदायक ठहरी है। यह न समझ लेना चाहिए कि अमेरिका में प्रजातंत्र होने से सदा राम-राज्य रहता है। सच पूछो तो वहाँ भी पक्षपात, अन्याय, घूस-खोरी आदि दोष कम नहीं हैं। वहाँ भी हुल्लड़बाज़ बेचारे नीग्रो लोगों को फाँसी पर लटका देते हैं, और कोई सुनता नहीं। रमानी हाल वाले प्रजा-प्रतिनिधियों के चुनाव में बहुत कुछ हस्त-क्षेप कर सकते हैं।

चरखे के सम्बन्ध में

महात्मा कबीरदास के भजन।

देश की आर्थिक स्वाधीनता के लिए घर घर में चरखे का प्रचार होना परम आवश्यक है। चारों ओर प्रयत्न हो रहा है और सफलता के लक्षण स्पष्टतया दीख रहे हैं। चरखे का साहित्य तैयार हो रहा है। कवियों को उत्साहित कर सामयिक कविताओं की सृष्टि करानेवाले कानपुर-निवासी श्री० बेनीमाधवजी खन्ना चरखे के संबंध में लिखे गये उत्तम गायन के लिए पुरस्कार देने की घोषणा कर चुके हैं। आशा है, कविगण इस ओर ध्यान देंगे। तब तक हिन्दी-भक्त महात्मा कबीरदास के भजन कुछ कम चाव से न पढ़े जावेंगे। कबीरदासजी जाति के जुलाहे थे। चरखा चलाना उनका व्यवसाय था। चरखे के संबंध में उन्होंने जो भजन लिखे हैं वे हिन्दी में बहुत आदर की चीज़ हैं। वे सब भजन निर्गुण ब्रह्म पर घटित होते हैं। इनके गाने में एक पंथ दो काज सिद्ध होते हैं—गाने का गाना और राम का नाम। आशा है, इनका अच्छा प्रचार होगा।

(१)

चरखे का सिरजनहार बढ़ैया इक नाम है।
बाबुल मोरा ब्याह करा दो, अनजाया बर लाय।
अनजाया बर ना मिलै तो तोहीं सों मेरा ब्याह॥
हरे हरे बाँस कटा मेरे बाबुल पालन मड़वाँ छाय।
सुरत निरत की भाँवर डारी, ज्ञान की गाँठ लगाय॥
सास मरे ननदीहु मरे रे लहुरा देवर मर जाय।
एक बढ़ैया ना मरे चरखे का सिरजनहार॥
कहै कबीर सुनो भई साधो चरखा लखा न जाय।
इस चरखे को जो लखै रे आवागमन छुटि जाय॥

(२)

चरखा नहीं निगोड़ा चलता।
पाँच तत्व का बना है चरखा तीन गुनन में गलता॥
टूटी माल तीन भये टुकड़े टेकुवा हो गया टेढ़ा।
माँजत माँजत हार गया मैं धागा नहीं निकलता॥
मिस्त्र बढ़ैया दूर बसत है किसके घर दे आऊँ।
ठोंकत ठोंकत हार गया मैं तब भी नहीं सम्हलता॥
कहै कबीर सुनो भई साधो जले बिना नहीं छूटे।
जलते समय में सूखा गीला धधक धधक के जलता।

(३)

चरखा चले सुरत बिरहिन का।
काया नगरी बनी अति सुन्दर महल बना चेतन का।
सुरत भाँवरी होत गगन में पीढ़ा ज्ञान रतन का॥
चित चमरख तिरगुन का टेकुआ माल मनोरथमनका।
पिउँनी पाँच पचीस रंग की कुकुरी नाम भजन का॥

दृढ़ वैराग का गढ़ि दुइ खूँटा मंझा जोग जुगन का।
द्वादस नाम धरो दुइ पखुरी नथियासार सबद का॥
येहीं सूत संत जन कातैं माँझा प्रेम भगति का।
कहैं कबीर सुनो भइ साधो जुगन जुगन सतमत का॥

(४)

हरि मोरे पीउ मैं राम की बहुरिया।
राम मोरे बड़ा मैं तिनकी लहुरिया॥
हरि मोर रहटा मैं रतन पिउरिया।
हरि को नाम लै कातैला बहुरिया॥
छः मास ताग बरस दिन कुकुरी।
लोग बोलें भल कातल बपुरी॥
कहै कबीर सूत भल काता।
रहँटवा होय मुकुति कर दाता॥

(५)

झीनी झीनी बीनी चदरिया।
काहे के ताना काहे कै भरनी कौन तार से बीनी चदरिया।
इंगला पिंगला ताना भरनी सुख मन तार से बीनी चदरिया॥
आठ कंवल दस चरखा डोले पाँच तत्त गुन तीनी चदरिया।
साईं को सियत मास दस लागे ठोंक ठोंक कै बीनी चदरिया॥
सो चादर सुरनर मुनि ओढ़े ओढ़िकै मैली कीनी चदरिया।
दास कबीर जतन से ओढ़ी ज्यों की त्यों धर दीनी चदरिया॥

पुस्तकादि-परिचय।

१—होलकर-हिन्दी-ग्रन्थमाला की तीन पुस्तकें—[१] स्वास्थ्य—लेखक, राय बहादुर डाक्टर सरजूप्रसाद तिवारी; मूल्य, ≡। आने; पृष्ठ-संख्या ४६; छपाई, कागज़ अच्छा। इस छोटी, किन्तु उपयोगी, पुस्तक में ईश्वर, स्वास्थ्य, भोजन, व्यायाम, सदाचार आदि शीर्षक बारह पाठ हैं। अन्त में स्वर्गीय दादाभाई नौरोजी के कुछ अत्युपयोगी उपदेश जोड़ दिये गये हैं। पुस्तक की उपयोगिता इसीसे सिद्ध होती है कि वह हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन की प्रथमा परीक्षा के लिए पाठ्य ग्रन्थ चुनी गई है। पुस्तक बालकों के काम की चीज़ है। [२] आरोग्य-प्रदीप—इसके लेखक उपरोक्त डाक्टर सा० तथा पंडित अम्बालाल दाधीच, एल- एम. पी. हैं; पृष्ठ-संख्या १३८, मूल्य दस आने; छपाई सुन्दर। पुस्तक से शरीर के भीतरी भागों और क्रियाओं का ज्ञान बहुत जल्दी हो जाता है। पुस्तक में २५ अध्याय हैं जिनमें निवास-स्थान, शारीरिक संगठन, अंग-प्रत्यंग का विस्तृत वर्णन, भिन्न रोगों का वर्णन, गार्हस्थ्य जीवन, व्यसन आदि सभी उपयोगी विषयों का समावेश है। पुस्तक में विषय का क्रम बहुत अच्छा रखा गया है। इस छोटी पुस्तक में कई आवश्यक बातों का विस्तृत वर्णन नहीं हो सका है; अतएव हम आशा करते हैं कि लेखक-युग्म गार्हस्थ्य जीवन, शिशु-रक्षा, भोजनादि में ऋतुओं के अनुसार संयम आदि विषयों पर, भारतीय दृष्टि से, अपना अनुभव विस्तृत रूप से लिखने का कष्ट उठावें तो जनता के लिए बहुत लाभप्रद हो। [३] विज्ञान और आविष्कार—होल्कर-हिन्दी-ग्रन्थमाला की इस छठवीं पुस्तक के लेखक श्रीयुत सुखसम्पत्तिराय भंडारी हैं; पृष्ठ-संख्या २७४; मूल्य १=); छपाई अच्छी। पुस्तक का विषय उसके नाम से ही प्रकट है। इसके लिखने में लेखक ने "अंग्रेजी भाषा के कोई चालीस पचास ग्रन्थों से सहायता" ली है; किन्तु किसी भी पुस्तक का नामोल्लेख करना उचित नहीं समझा गया। पुस्तक में विज्ञान, सत्य और प्रमाण, ज्ञान की खोज, बीमारियों पर विजय, एक्सरेज़, सृष्टि के इतिहास-विषयक प्राचीन विचार, वायुयानों का इतिहास, खगोल विज्ञान, तारे आदि उपयोगी विषयों पर १६ अध्याय हैं। विज्ञान और आविष्कार के संबंध में आरम्भिक ज्ञान की प्राप्ति के लिए पुस्तक उपयोगी है, किन्तु जहाँ तहाँ भाषा की अशुद्धियाँ बहुत खटकती हैं, और विचारों की अस्पष्टता तथा अंग्रेजी से किये गये अनुवाद की झलक पूरी पूरी दिखाई देती है।

तीनों पुस्तकें मध्यभारत-हिन्दी-साहित्य-समिति, इन्दौर, से मिलती हैं।

२—नेटाली हिन्द—लेखक, श्रीयुत भवानीदयालजी; प्रकाशक, सरस्वती-सदन, इन्दौर; मूल्य, दस आने, पृष्ठ-संख्या १५२, छपाई आदि सन्तोषजनक।

पुस्तक उपन्यास के ढंग पर लिखी गई है। "इसमें एक 'नेटाली हिन्दू' का सच्चा चित्र खींचा गया है। इसे पढ़कर भारत के हिन्दी-प्रेमियों को जहाँ प्रवासी भारतीयों की स्थिति का थोड़ा बहुत परिचय मिलेगा वहाँ प्रवासी भारतीयों को अपने अधःपतन और उद्धार का यत्किञ्चित् ज्ञान हुए बिना नहीं रहेगा।"

नेटाली हिन्दुओं में ताजिया-परस्ती बहुत बढ़ गई है। इसी दोष का दिग्दर्शन इस पुस्तक में किया गया है। साथ ही उन दोषों का वर्णन भी है जो वहाँ के हिन्दुओं में दिन दिन बढ़ रहे हैं; जैसे, मांस-भक्षण, मदिरा-पान, व्यभिचार आदि। कई स्थलों पर नैतिक अधःपतन का वर्णन पढ़कर जी दहल उठता है। प्रत्येक हिन्दू को अपने प्रवासी भाइयों की यह कहानी अवश्य पढ़नी चाहिए। भाषा सरल और मुहाविरेदार है।

१-वरदान-लेखक, श्रीयुत प्रेमचन्द्रजी; प्रकाशक, ग्रंथ-भंडार, लेडी हार्डिंज रोड, माटूँगा, बम्बई; पृष्ठ-संख्या, २४०; मूल्य, २।),

श्रीयुत 'प्रेमचन्दजी' प्रसिद्ध गल्प-लेखक हैं। पहले आप हिन्दी, फ़ारसी लिपि में, दाहिनी ओर से बाईं ओर को, लिखा करते थे। अब, कुछ वर्षों से, देवनागरी लिपि में, बाईं ओर से दाहिनी ओर लिखने लगे हैं। इस बीच में आपकी बीसों सुन्दर गल्पें हिन्दी-पत्रों में निकल चुकी हैं। 'सेवा-सदन' सदृश सुन्दर एवं मौलिक उपन्यास हिन्दी की श्रीवृद्धि कर रहा है। 'वरदान' भी एक सुन्दर उपन्यास है। लेखक के हृदय में सहृदयता और मस्तिष्क में खोज और कल्पना है। इनके कारण आप की कोई भी रचना पाठकों के हृदय को अपनी ओर खींच सकती है। 'वरदान' में भी वही विशेषता है। विरजन तथा प्रताप के चरित्र बहुत सुन्दर रीति से अंकित किये गये हैं।

नीचे जिन पुस्तकों के नाम लिखे हैं वे भी पहुँच गई हैं। प्रेषक महाशयों को धन्यवाद।

(१) जैन धर्म पर सेठीजी के विचार और उनकी आलोचना—लेखक, पं० मक्खनलालजी न्यायालंकार।

(२) अनन्तमती—लेखक, बाबू कृष्णलाल वर्मा; प्रकाशक, ग्रंथभंडार, लेडी हार्डिंज रोड, माटूँगा, बम्बई; मूल्य, ।।।=)

(३) गत ५० वर्षों में विहार में हिन्दी की दशा—लेखक बाबू शिवनन्दनसहाय, प्रकाशक—नागरी-प्रचारिणी सभा, आरा।

(४) सुशील शिक्षा—लेखक, पं० ईश्वरीप्रसाद शर्म्मा; प्रकाशक, नागरी-प्रचारिणी सभा, आरा।

(५) बालोपयोगी अर्थशास्त्र—लेखक, बाबू व्रजनंदनसहाय; प्रकाशक, नागरी-प्रचारिणी सभा, आरा।

(६) सृष्टि-तत्त्व—लेखक, पं० सकलनारायण पाण्डेय; प्रकाशक, नागरी-प्रचारिणी सभा, आरा।

(७) योगत्रयी—लेखक, ठाकुर प्रसिद्धनारायण-सिंह; प्रकाशक, देश-सुधार-ग्रंथमाला कार्यालय, बनारस; मूल्य ॥)

सहयोगियों का स्वागत।

१. किसान—प्रयाग के अभ्युदय प्रेस से, दो मास से, प्रति सप्ताह निकलने लगा है। आठवाँ अंक इस समय हमारे सामने है। प्रत्येक अंक हम बहुत चाव से पढ़ते रहे हैं। प्रत्येक अंक में इस बात का प्रयत्न किया जाता है कि किसान लोग देश की दशा से परिचित होने के साथ ही अपने उद्यम की ज्ञातव्य बातें सीखकर उसमें उन्नति करें। जिस ढंग से पत्र निकल रहा है उसे देखकर उससे बहुत आशा की जाती है। प्रत्येक अंक में साप्ताहिक "प्रताप" के आकार के १२ पृष्ठ रहते हैं, और वार्षिक मूल्य ३) है।

२. कर्त्तव्य-यह साप्ताहिक पत्र इटावा से, लगभग ३ मास से, निकल रहा है। प्रत्येक अंक में साप्ताहिक "प्रताप" के आकार के १६ पृष्ठ रहते हैं। वार्षिक मूल्य ३) है। अपने ढंग का अच्छा पत्र है। कांग्रेस की नीति का समर्थन करता है। हम इसकी उन्नति की कामना करते हैं।

३. तरुण भारत—यह भी एक साप्ताहिक पत्र है। इसका दूसरा अंक हमारे सामने है। महात्मा गांधी द्वारा सम्पादित Young India पत्र से अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे पाठक भली भाँति परिचित होंगे। यह उसीका हिन्दी अनुवाद है। पटना से निकलता है। वार्षिक मूल्य ३)

है। इस समय महात्मा गांधी के विचारों को जानने के लिए प्रत्येक कांग्रेस-मतानुयायी उत्सुक रहता है। यह पत्र उसी उत्सुकता को शान्त करेगा। आशा है, हिन्दी-संसार में इसका अच्छा प्रचार होगा।

४. स्वराज—यह साप्ताहिक पत्र प्रयाग से अभी निकला है। साप्ताहिक "प्रताप" के आकार के १६ पृष्ठ हैं। वार्षिक मूल्य ३॥) है। इसका उद्देश असहयोग के मार्ग पर चलकर स्वराज्य प्राप्त करना है। ऐसे पत्रों का प्रचार जितना अधिक हो उतनाही अच्छा।

५. छात्र-सहोदर—१५ मास से, नियमित समय पर, जबलपुर से प्रकाशित हो रहा है। छात्रों को देशोत्थान के सुमार्ग पर लगाना इसका पवित्र उद्देश है। अभी तक अनेक सुन्दर लेख इसमें निकल चुके हैं। लेखों की सामयिकता पर भी ध्यान दिया जाता है। गम्भीरता और सुरुचि की मात्रा कुछ अधिक होतेही पत्र उठेगा और अधिक लोकप्रिय होगा। "वल्कल-शिथिलीकरण" सदृश चित्र प्रकाशित करते समय, छात्रों के सामने उनकी उपयुक्तता पर अधिक विचार किया जाय, तो अधिक अच्छा हो। ऐसा अच्छा पत्र निकालने के लिए हम इसके अत्यंत-उत्साही प्रकाशक तथा सुयोग्य सम्पादक को हृदय से बधाई देते हैं। हम इसे उन्नति-पथ पर अधिकाधिक अग्रसर देखने के अभिलाषी हैं। वार्षिक मूल्य ३)

साहित्य-सुमन।



(१) शान्ति और जीवन।

"शान्ति और जीवन" पर लाला लाजपतराय का एक लेख प्रकाशित हुआ है। उसमें लालाजी ने शान्ति और क्रान्ति का जीवन से समुचित सम्बन्ध स्थिर करते हुए इस प्रश्न को हल करने का प्रयत्न किया है कि स्वाधीनता के लिए किये जाने वाले आन्दोलनों के विरोधी जन, शान्ति के नाम पर, उनका विरोध क्यों करते हैं। शान्ति और जीवन के विषय में लालाजी कहते हैं—"शान्ति साध्य नहीं, साधन है। इसके विपरीत, जीवन साध्य वस्तु है, अर्थात् शान्ति जीवन के लिए है, जीवन शान्ति के लिए नहीं है। स्वतंत्रता की उस दशा के अतिरिक्त जिसमें मनुष्य अपने जीवन का सर्वोत्तम उपयोग करने का मौक़ा पाता है दूसरा आदर्श अधिक उत्तम नहीं हो सकता। कोई भी पदार्थ जो जीवन के इस सर्वोत्तम उपयोग और उपभोग में बाधक है, चाहे वह शान्ति हो अथवा क्रान्ति, हानिप्रद और अवाञ्छनीय है।"

प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में ऐसे मौक़े आते हैं जब शान्ति क्रान्ति के बराबर और कभी कभी उससे भी अधिक हानिकर सिद्ध होने लगती है इस शान्ति की स्थिति में परिवर्तन करना अनिवार्य हो जाता है। इसी सिद्धान्त को राष्ट्रीय जीवन पर घटित करते समय यह देखने की आवश्यकता है कि शान्ति की अवस्था राष्ट्र के अधिकांश व्यक्तियों के लिए लाभदायक है अथवा हानिकर। राष्ट्रीय जीवन के लिए शान्ति की वे ही अवस्थाएँ वाञ्छनीय हो सकती हैं जो उसे स्वतंत्रता की ओर ले जावें।

स्वाधीनता के लिए होनेवाले आन्दोलनों के विरोधी राजा-महाराजा, ताल्लुकेदार तथा ज़मींदार, पूँजीपति व्यापारी, वेतन-भोगी सर्कारी कर्म्मचारी और प्रतिमास सहस्रों की आमदनी करने वाले वकील हैं। वर्तमान शासन के सहारे प्रजा की इच्छाओं को पैरों तले रौंद कर, उसीके परिश्रम-जन्य धन का उपयोग यूरोप में जाकर करने के लिए भारतीय महाराजा स्वतंत्र हैं। ज़मींदार और ताल्लुकेदारों ने पूर्व परिस्थिति से लाभ उठा कर देश के बड़े बड़े भागों

को अधिकृत कर लिया है। प्रजा चाहे भूखों से प्राण दे, उन्हें अपना लगान और साथ ही साथ दूसरे प्रकार के अन्यायी कर मिलने चाहिए। यदि कहीं वर्तमान शान्ति भंग हुई, तो इन राजा-महाराजाओं और ताल्लुकेदारों तथा ज़र्मींदारों को अपनी विलासिता का उपभोग परित्याग करना पड़ेगा। वे किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं चाहते। यही दशा बड़े बड़े पूँजीपति व्यापारियों, सर्कारी कर्म्मचारियों तथा वकीलों की है। यद्यपि इनकी दशा अति संतोषप्रद नहीं है, तथापि वर्तमान व्यवस्था को अपनी उन्नति के अनुकूल समझने के कारण वे परिवर्तन का विरोध करते हैं; परन्तु लालाजी के शब्दों में—

"राष्ट्र केवल इन्हीं लोगों का समूह नहीं है। क्या दश करोड़ से अधिक वे लोग भी राष्ट्र के अन्तर्गत नहीं हैं जो, लार्ड सिनहा के शब्दों में, यह भी नहीं जानते कि पेट की ज्वाला कैसे शान्त की जाय? उन ९४ सैकड़ा के हित कहाँ जावेंगे, जो निरक्षर हैं? संक्षेप में, उन करोड़ों व्यक्तियों का क्या होगा जिनके पास जमीन नहीं है, जो निश्चित वेतन नहीं पाते और जो आधे पेट खा कर तथा फटे पुराने वस्त्रों से अपनी मनुष्यता की लज्जा को दूर कर अनिश्चित जीवन व्यतीत करते हैं? शान्ति की वह अवस्था जो इन करोड़ों लोगों का ध्यान नहीं रखती किसी भी दशा में स्थिर रखने योग्य नहीं है।

"इस प्रकार की शान्ति में उनका जीवन मरण के तुल्य है। धर्म और कर्त्तव्य-शास्त्र के किस सिद्धान्त के अनुसार थोड़े से लोगों के सुख के लिए जो दूसरों की कमाई से गुलछर्रे उड़ाते हैं ये करोड़ों लोग जीवन के पूर्ण उपभोग और उपयोग से वञ्चित रखे जा सकते हैं?"

उपरोक्त कथन से यह सिद्ध होता है कि लोग अपने अपने स्वार्थ के अनुसार शान्ति का अर्थ किया करते हैं; परन्तु राष्ट्र को अधिकांश व्यक्तियों के हित की चिन्ता रहती है; अतएव उसके लिए वह शान्ति वाञ्छनीय नहीं है जिसमें करोड़ों मनुष्य जीवन के सुखों से वंचित रहते हैं।

अन्त में लालाजी ने इस प्रश्न पर प्रकाश डाला है कि कतिपय त्यागी सुधारक शान्ति के नाम पर आन्दोलनों का विरोध क्यों करते हैं? लालाजी का कहना है कि इन सुधारकों को अपने सुधारों की सफलता के लिए पूँजीपतियों के धन पर निर्भर रहना पड़ता है। ऐसी अवस्था में सुधारक कोई भी ऐसा कार्य्य नहीं कर सकते जो उनके सहायकों के हितों के प्रतिकूल हो। पाश्चात्य देशों में गिरजाघर धनिकों की सहायता से संचालित होते हैं; अतएव उनमें दिये जाने वाले उपदेश इन लोगों के स्वार्थों के अनुकूल होते हैं। अपने धनिक सहायकों के मद से ही यूरोप के धर्म्म-पुरोहित शान्ति के नाम पर वर्तमान साम्यवाद का विरोध कर रहे हैं। इन लोगों के विषय में लालाजी कहते हैं—"ये लोग यह नहीं देखते कि उनके लिए जो शान्ति है वही उनके करोड़ों देश-बन्धुओं के लिए मृत्यु है। उनके लिए जो विकासात्मक उन्नति है वही उनके राष्ट्र के लिए क्षुधा की ज्वाला, तीव्र आवश्यकता, अज्ञान और अपमान का पूर्ववत् जारी रहना है। समव्यवस्थित समाज के लिए सविकासात्मक उन्नति लाभदायक है; परन्तु जहाँ पर सामाजिक अवस्था में अस्वाभाविकता है वहाँ विका-

स की बात करना वितण्डावाद में लीन होना है। अप्राकृतिक समाज में शान्ति नहीं होती। यह अशान्ति है जिसके बलपर मुट्ठी भर सशक्त लोगों के नीचे करोड़ों रक्खे जाते हैं। उनकी क्रान्ति की आवाज़ स्वार्थपूर्ण आवाज़ है। उनकी आँखों में थोड़ों का बहुतों पर शासन शान्ति और थोड़ों पर बहुतों का शासन अशान्ति है। जिस शान्ति के बल पर वे जीवन के सब लाभ प्राप्त कर सकते हैं वह उन्हें प्यारी है; परन्तु दिन प्रति दिन लूटी जाने वाली जनता के पास इस शान्ति की प्रशंसा के लिए एक भी शब्द नहीं है।

(२) मिसेज़ मेकस्विनी की गवाही।

आयर्लैंण्ड की स्वाधीनता के लिए आत्माहुति देने वाले प्रसिद्ध वीर टेरेन्स मेकस्विनी की धर्म-पत्नी ने अमेरिकन कमीशन के सामने जो गवाही दी है वह आयर्लैण्ड की स्वाधीनता के इतिहास में अपना खास स्थान रखती है। पराधीन जाति के प्रत्येक व्यक्ति के लिए वह एक महामन्त्र है। आयर्लैंण्ड की स्वाधीनता की लड़ाई से अपना सम्बन्ध बतलाते हुए श्रीमती मेकस्विनी ने कहा—

"मेरी समझ में अभी तक यह बात न आई कि संसार में ग़रीब और धनवान् मनुष्य क्यों होना चाहिए। आप जानते हैं कि आयर्लैंण्ड में बहुत ग़रीबी है, और ख़ासकर कार्क में जहाँ कि हम लोग रहते हैं, बहुत ही अधिक ग़रीबी है। मैंने यह दशा बहुत छुटपन से ही देखी है। मैं समझ न सकी कि ऐसा क्यों होना चाहिए। मैं यह भी नहीं चाहती कि ग़रीब लोगों को दान में धन दे दिया जाय। मेरे पिता सुख-सम्पत्ति से भरे-पूरे थे। जब मैंने होश सम्हाला तो मुझे मालूम हुआ कि हमारे देश की ग़रीबी का कारण इँग्लैण्ड है और उसी पर इसका उत्तरदायित्व है, और यदि यहाँ हमारा ही राज्य होता तो हम इसे दूर करने का कुछ उपाय करते; परन्तु जब तक कि अपना ही राज्य न हो जाय, तब तक हम कुछ नहीं कर सकते थे। मुझे मालूम हुआ कि इँग्लैण्ड हमारे देश में चोर के समान आया और उसे यहाँ आने का कोई भी हक़ न था।"

इसके बाद मिसेज़ मेकस्विनी ने बतलाया कि आयर्लैंण्ड का बच्चा बच्चा भी किस प्रकार स्वाधीनता की इस लड़ाई में शामिल हुआ; मि० मेकस्विनी से उनका विवाह किस प्रकार जेल में ही हुआ; कितने बार मि० मेकस्विनी पकड़े गये और वह भी बिना कारण बताये; इत्यादि अपना पूर्व इतिहास सुनाते हुए श्रीमती मेकस्विनी ने कहा कि इस जीवन में वे दम्पती केवल एक बार क्रिसमस का उत्सव साथ रहकर मना सके थे। एक बार जब दोनों लगभग सात मास तक साथ रह पाये थे, तब मि० मेकस्विनी ने चलते समय जो कुछ कहा था वह आत्माभिमानी देशभक्त के योग्य था। श्रीमती मेकस्विनी ने गवाही देते हुए सुनाया—

"मेरे पति आयरिश भाषा अच्छी तरह जानते थे। मैं इतना अधिक नहीं जानती थी। हम लोग बलिंगेर में लगभग सात मास साथ रहे। हम लोगों के पास यह अँगूठी थी। मेरे पति ने कहा कि तुम्हें यह अँगूठी उस समय मिल सकती है जब कि तुम लिखकर यह प्रतिज्ञा कर दो कि हम ऐसे किसी भी व्यक्ति से जिसके पास ऐसी अँगूठी होगी अंग्रेज़ी में बातचीत न करेंगे। जब मुझे यह अँगूठी मिलगई तब से मैंने अपने पति या छोटी पुत्री से अंग्रेजी में एक शब्द भी नहीं कहा। जब हमारे पुत्री हुई थी तभी हमने उसे ऐसी एक अँगूठी पहिना दी थी जिससे कि वह

भी आयरिश भाषा ही बोले; किन्तु बाद में इसलिए निकाल ली थी कि कहीं वह मुँह में न डाले। बस, इसके बाद वियोग हुआ, और फिर हम लोग न मिल सके।.......मैंने अपने पति के मुँह से उनके विकट शत्रु तक के विरुद्ध कभी भी एक शब्द न सुना। मुझे मालूम है जबकि वे वेकफील्ड में अपने कुछ साथियों के साथ जेल में थे और उस समय ऐसा सुना जाता था कि सबके सब गोली से मार डाले जावेंगे, किन्तु उस समय भी उन्होंने अंग्रेजों के विरुद्ध कोई भी कटु शब्द नहीं कहे।"

कमीशन के प्रेसीडेन्ट ने पूछा—'क्या तुमने अपने पति से कभी यह कहते सुना कि उनके बलिदान हो जाने से आयर्लेण्ड का क्या होगा?'' श्रीमती मेकस्विनी ने उत्तर दिया—"वे आशा करते थे कि उनके बलिदान से आयर्लैण्ड-वासियों में स्वाधीनता का युद्ध करने के लिए और भी अधिक बल आजायगा। निस्सन्देह यही उनके जीवन का सच्चा उद्देश्य था। उन्होंने इसके सिवा और कुछ भी नहीं सोचा। बस, असली बात यही है कि आयर्लैंड को स्वाधीनता मिले।"

सी. एफ. एन्ड्रूज़ महाशय मार्च के 'माडर्न रिव्यू' में श्रीमती-मेकस्विनी की गवाही का हाल लिखते हुए कहते हैं—"मिसेज़ मेकस्विनी के ये अन्तिम शब्द कि "बस, असली बात यह है कि आयर्लैण्ड को स्वाधीनता मिले" जीवन और मरण के इस नाटक के सार-भूत हैं। भारत को स्वाधीनता दिलाने में भी वीरता-पूर्वक ऐसे ही आत्म-समर्पण की आवश्यकता होगी, और उससे भी बढ़कर इस बात की आवश्यकता है कि भारत के तैंतीस करोड़ निवासी एक स्वर से यही प्रण करें कि वे स्वतन्त्र रह कर ही दम लेंगे।

विविध विषय।

(१) मध्यप्रदेश के व्यवसाय-विभाग की सरकारी रिपोर्ट।

मध्यप्रदेश के व्यवसाय-विभाग (Department of Industries) ने अपनी सन् १९२० की वार्षिक रिपोर्ट प्रकाशित की है। रिपोर्ट में फुल्सकेप पैमाने के केवल १० पृष्ठ हैं और मूल्य रखा गया है बारह आने! इतना अधिक मूल्य शायद इसलिए रखा गया है कि उसका प्रचार जनता में कम होवे। जनता सरकार के दाँव-पेंचों को जान लेगी न। ख़ैर, आगे की बात सुनिए। डाइरेक्टर साहब इस विभाग के प्रधान हैं और उनको सम्मति देने के लिए एक सम्मति-समिति है। डाइरेक्टर साहब के हाथ के नीचे नौ कर्मचारी हैं जिन्हें लम्बी लम्बी तनख़्वाहें मिलती हैं।

व्यवसाय-विभाग ने अब तक जो वास्तविक कार्य्य किया है वह कुछ नहीं के बराबर है। कहा जाता है कि उसने प्रान्त के जुलाहों में करघों का प्रचार कर बुनने के काम को उत्तेजना दी है और बुननेवालों की आमदनी दुगनी कर दी है। १९१५ से लेकर अब तक इस विभाग ने प्रान्त भर में केवल ३,११२ करघों का प्रचार किया है; परन्तु इतने पर भी उसने अपने उद्योग की तारीफ़ में कई सतरें घसीट डाली हैं! प्रान्त के बढ़ई लोगों में भी इतना उत्साह फैला कि उन्होंने भी एकही वर्ष में १९९ करघे बना डाले!! सरकारी व्यवसाय-विभाग का यह अध्यवसाय इतना अभूतपूर्व है कि हमारे असहयोगी भाइयों को उसपर ध्यान देना चाहिए।

लुहार, बढ़ई और मोची का काम सिखाने के लिए व्यवसाय-विभाग ने कई शहरों में शालाएँ स्थापित की हैं। इसी प्रकार की एक शाला १९१३ में नागपुर में खोली गई थी। इस वर्ष इसमें शिक्षा पाने वाले विद्यार्थियों की संख्या में बहुत वृद्धि हुई है। वह ७९ तक पहुँच गई है! इसी प्रकार की उन्नति दूसरे शहरों की पाठशालाओं में भी हुई है।

प्रान्त को बिजली की रोशनी और विद्युत शक्ति द्वारा भी लाभ पहुँचाने का विचार हो रहा है। म्युनिसिपैलिटी, रेल और सैनिक अधिकारियों से बातचीत हो रही है। पचमढ़ी, खण्डवा, जबलपुर और अमरावती में विद्युत शक्ति पहुँचाने के लिए ठेकेदारों को लैसन्स भी दे दिए गए हैं। कहा जाता है कि बिजली द्वारा दूकानदारों को भी लाभ पहुँचाने का पूरा ध्यान रक्खा जावेगा। जनता को थोड़े दिन और सन्तोष करना चाहिए। बहुत अच्छा।

प्रान्त में प्रति वर्ष २९,६३,०००) कीमत के चमड़े के माल की खपत होती है। यदि प्रान्त में चमड़े के व्यवसाय को उत्तेजना दी जावे, तो माल बेचने के लिए अधिक प्रयत्न न करना पड़ेगा। व्यवसाय-विभाग ने इस बात का ज्ञान-सम्पादन कर लिया है; अतएव वह चमड़े का काम सिखाने के लिए एक ट्रेनिंग स्कूल (Leather Training School) खोलने का विचार कर रहा है; परन्तु धन के अभाव में कार्य्यारम्भ अभी नहीं हुआ है।

व्यवसाय-विभाग की एक और भी महती इच्छा है। वह चाहता है कि प्रान्त भर के उद्योग-धन्धों का लेखा लगाया जावे, और इसी आधार पर वर्तमान उद्योग-धन्धों को उत्तेजना और नये नये धन्धों को जन्म दिया जावे; परन्तु रसायन शास्त्रज्ञ न मिलने के कारण यह अभिलाषा नहीं पूर्ण हो रही है। आशा की जाती है कि जब भारत-सरकार केन्द्रीय--अनुसंधान-संस्था (Central Research Institute) की स्थापना कर चुकेगी, तब ये रसायनज्ञ मिल सकेंगे। अनुसंधान हो चुकने पर इस प्रश्न पर विचार किया जावेगा कि मध्यप्रांत में भी प्रान्तीय अनुसंधान-संस्था के स्थापना की आवश्यकता है अथवा नहीं।

सुधारक-शिक्षालय के कामों का दिग्दर्शन कराकर रिपोर्ट समाप्त हुई है। हम इसे गत वर्ष के कार्यों की रिपोर्ट कहें अथवा व्यवसाय विभाग के यह सिद्ध करने का असफल उद्योग कहें कि उसका अस्तित्व और उसपर किया गया द्रव्य-व्यय व्यर्थ नहीं है।

(२) अमीर खद्दर पहनें और गरीब मशीन का बना कपड़ा।

सुनने में तो यह बात अटपटी जान पड़ती है, पर महात्मा गांधीजी यही कहते हैं, और बात है भी बिलकुल ठीक। ईस्ट इंडिया कम्पनी की कुटिल नीति से देश का जो उद्योग धन्धा नष्ट हुआ है उसे पुनर्जीवित करने के लिए घर घर चरखे का प्रचार होना चाहिए। यद्यपि मशीनों के साथ चरखों का मुकाबिला करना कठिन है, तथापि यदि चरखों का प्रचार बढ़ाया जाय, और उनसे खूब काम लिया जावे, तो खद्दर यदि मशीन के बने कपड़े से सस्ता नहीं, तो उतने दाम में अवश्य मिल सकता है। जब तक खद्दर इस भाव से नहीं मिलता, तबतक यह स्वाभाविक ही है कि गरीब

लोग मशीन के बने सस्ते कपड़े को ही ख़रीदना चाहेंगे। ग़रीब लोगों की जो परिमित आमदनी है उसे देखते हुए उनसे यह आशा नहीं की जा सकती कि वे अधिक आत्म-त्याग कर सकें। आत्म-त्याग कर सकते हैं अमीर और अच्छी स्थिति वाले लोग। अमीरों से जिस त्याग की बात की जाती है एक दृष्टि से वह कोई त्याग नहीं है। वह दृष्टि यह है कि जो अमीर लोग १०) गज़ का रेशम पहनते थे वे अब यदि ।=) गज़ का खद्दर पहनते हैं, तो वे आर्थिक दृष्टि से कोई त्याग नहीं करते हैं, वरन रुपयों की बचत करते हैं। अतः हम इसे त्याग न कह कर तपस्या के महत्वपूर्ण नाम से पुकारेंगे। प्रति दिन मोटे कपड़े पहननेवाला मनुष्य यदि और भी मोटा खद्दर पहनता है तो वह उतना कष्ट नहीं सहता जितना कि प्रति दिन रेशमी कपड़े पहनने वाला अमीर खद्दर को पहन कर सहता है। पं० मोतीलाल नेहरू ने खद्दर पहन कर भले ही कोई त्याग न किया हो; परन्तु उन्होंने उसके द्वारा मातृभूमि के लिए कष्ट सहन करने का जो उदाहरण सामने रखा है वह अवश्य ही अनुकरणीय और प्रशंसनीय है। त्याग और तपस्या का मूल्य रुपये-पैसे पर से नहीं, वरन हृदय के भावों पर से, नापा जाता है। इस प्रकार के तपस्वी अमीर मातृभूमि के उद्धार के लिए जो घोर कष्ट सह रहे हैं उसे देखते हुए उनसे यह कहने का अवकाश ही नहीं है कि आप खद्दर ही पहना कीजिये। बात केवल इतनी ही है कि वे इस बात को स्मरण रखें कि उनके खद्दर पहनने से देश के एक अति महत्व-पूर्ण घरू धंधे का पुनरुद्धार हो रहा है। खद्दर की जितनी अधिक माँग होगी उतना ही वह सस्ता होगा, और उसके सस्ते होते ही उसका प्रचार और भी अधिक व्यापी रहेगा, और एक समय आवेगा जब वह मशीन के बने कपड़े का स्थान लेगा। इसके लिए आवश्यकता इस बात की है कि अमीर लोग खद्दर पहनें और ग़रीब लोग, यदि चाहें तो, अभी हाल में, मशीन का बना मोटा कपड़ा पहनें। देश की आर्थिक स्वाधीनता का यही सरल मार्ग है।

(३) एक यूरोपियन व्यायाम-शिक्षक।

गत २५ जून के "अभ्युदय" से विदित हुआ कि ढाका यूनीवर्सिटी में व्यायाम की शिक्षा देने के लिए, १,२५०) मासिक वेतन पर, एक यूरोपियन की नियुक्ति हुई है।

इस समाचार को पढ़कर हमें कोई आश्चर्य न हुआ होता यदि हमें मालूम हो जाता कि उल्लिखित सज्जन को नियुक्त करने के पूर्व ढाका-विश्व-विद्यालय ने भारतवर्ष में इस बात की घोषणा की थी कि अमुक पद के लिए कोई योग्य मनुष्य चाहिए। यदि प्रयत्न करने पर उस पद के योग्य कोई भारतवासी न मिलता, तो एक यूरोपियन को उस पद पर अभिषिक्त करना कदाचित् अनुचित न होता, यद्यपि हम इस बात को मानते हैं कि किसी पद पर किसी यूरोपियन को नियुक्त करने की अपेक्षा उससे कुछ कम योग्यता वाले भारतीय को नियुक्त करना अधिक उचित और वाञ्छनीय है। जिस भारत-भूमि ने भीम, अर्जुन, द्रोण आदि सदृश वीर उपजाये उस भूमि के नवयुवकों को व्यायाम की शिक्षा देने के लिए सात समुद्र पार से एक यूरोपियन बुलवाये जावें यह इस देश के लिए भारी राष्ट्रीय अपमान है, और यह अप[illegible] जाता है एक एतद्देशीय संस्था द्वारा! भारतवर्ष कितना ही अवनत क्यों न हो गया हो, उसमें अब भी राम-

मूर्ति सदृश अतुल बलशाली, लल्लूभाई सरीखे धनुर्विद्या-विशारद और गामा के समान मल्ल-विद्या-निष्णात जन्म ग्रहण करते हैं।

किसी यूरोपियन जाति या व्यक्ति विशेष से हमें कोई द्वेष नहीं। नीति तथा सिद्धान्त की दृष्टि से यह बहुत आवश्यक है कि भारतवर्ष के किसी पदके लिए पहले योग्य भारतवासी ही चुने जायँ, और वैसे योग्य जनों की यहाँ कोई कमी नहीं। शिक्षा की उत्तमता की दृष्टि से भी यह निर्विवाद है कि भारतीय नवयुवकों को वे जन शिक्षा दे सकते हैं जो विद्यार्थियों की आवश्यकताओं तथा उनके स्वभाव से पूर्णतः परिचित हैं। यह परिचय किसी भारतीय शिक्षक को जितना हो सकता है उतना किसी विदेशी को होना सहज-साध्य नहीं। फिर व्यायाम की शिक्षा के संबंध में हमारे देशी खेल-कूद भारतीय शारीरिक-संगठन के लिए जितने अनुकूल हो सकते हैं उतने विदेशी खेल-कूद कदापि नहीं हो सकते। इसी व्यायाम की शिक्षा के लिए ढाका-यूनीवर्सिटी एक यूरोपियन व्यायाम-शिक्षक को नियुक्त करे यह व्यायाम की विडम्बना है।

(४) "अदालत के बहिष्कार" का नया भाष्य।

भारतीय राष्ट्र की महासभा, कांग्रेस, किसी बड़े नगर में वर्ष भर में ३-४ दिन बैठकर देश की राजनैतिक स्थिति पर विचार करती और अपना कार्य-पथ निर्दिष्ट किया करती है। उसके ये आदेश और निर्देश कार्य-रूप में समुचित रीति से परिणत हुआ करें इसके लिए अखिल-भारतवर्षीय-कांग्रेस-कार्यकर्त्री समिति संगठित हो चुकी है जिसका कर्त्तव्य हुआ करता है कि वर्ष भर में जब जब आवश्यकता पड़ा करे तब तब वह बैठकर इस बात के लिए उपाय सोचा करे और उन्हें काम में लाया करे कि कांग्रेस के प्रस्तावों के अनुसार कार्य किस प्रकार किया जा सकता है और किया जाना चाहिए। कांग्रेस यदि मस्तिष्क का कार्य करती है, तो उल्लिखित कार्य-कर्त्री समिति को मस्तिष्क के साथ ही हाथ-पैर का भी काम करना पड़ता है। इस प्रकार कार्य-कर्त्री समिति का महत्त्व और उत्तरदायित्व कांग्रेस के महत्त्व और उत्तरदायित्व से कहीं बढ़कर है। कांग्रेस के आदेशों की सफलता इसी कार्यकर्त्री समिति के विवेक, बुद्धि और कार्यशीलता पर निर्भर है। अवश्य ही कार्यकर्त्री समिति को अधिकार है और होना चाहिए कि वह कांग्रेस के आदेशों का पालन आँख बन्द कर न करे, वरन प्रत्येक आदेश का भाव ग्रहण करने में अपनी विवेक-बुद्धि का उपयोग करे; परन्तु इसका मतलब यह नहीं है कि कांग्रेस के किसी प्रस्ताव के कार्य-रूप में परिणत होने के मार्ग में कठिनाइयाँ देखकर वह उस प्रस्ताव का दुरर्थ कर डाले। यदि वह ऐसा करती है, तो यह उसकी अनधिकार-चेष्टा है; और, जहाँ तक हम समझ सकते हैं, हमें खेद के साथ कहना पड़ता है कि उसने बम्बई में गत १५ और १६ जून को हो चुकी अपनी बैठक में, अदालतों के बहिष्कार के सम्बन्ध में कांग्रेस के पुराने प्रस्ताव का नया भाष्य करने में ऐसी ही चेष्टा की है।

पाठकों को स्मरण होगा कि कांग्रेस के प्रस्ताव का अंश यह था:—

"वकील लोग अपनी वकालत स्थगित करने में अधिक प्रयत्न करें और अपना ध्यान राष्ट्रीय सेवा में लगावें, जिस सेवा में यह भी शामिल रहना चाहिए कि मुक़द्दमे सरकारी अदालतों में न जाने पावें, उनका निर्णय पंचायती अदालतों में हो और दूसरे वकील लोग भी अपनी वकालत स्थगित करें।"

अब, कांग्रेस की कार्यकर्त्री समिति अपनी बम्बई की बैठक में इस प्रस्तावांश को यों समझाती है—

"वकीलों और सरकारी अदालतों के संबंध में कांग्रेस में जो प्रस्ताव स्वीकृत हो चुका है उसका अर्थ और भाव निकालने में जो नासमझी हो रही है उसे देखकर यह कार्यकर्त्री समिति प्रस्ताव करती है कि यदि असहयोगियों पर कोई मुक़द्दमा या कोई दीवानी मुक़द्दमा चलाया जावे, तो वे अदालत में सच्ची बातों का केवल बयान भर दे दें, अधिक योग न देवें। यह बयान वे इसलिए देवें ताकि जनता के समक्ष उनकी निर्दोषता प्रमाणित हो जावे। कार्यकर्त्री समिति की यह भी सम्मति है कि यदि असहयोगी से ज़ाब्ता फ़ौजदारी के नियमों के अनुसार जमानत माँगी जावे तो वे जमानत देना अस्वीकार करें और कारावास-दण्ड भोगने को तैयार रहें।"

"कार्यकर्त्री समिति की सम्मति में कांग्रेस का प्रस्ताव असहयोगी वकीलों को, फ़ीस लेकर या बिना फ़ीस लिये, अदालत में वकालत करने से रोकता है।"

उल्लिखित पुराने और नए दोनों प्रस्तावों को पढ़ने से इकदम विदित हो जाता है कि पुराने प्रस्ताव में असहयोग का पूर्ण तत्त्व था—वकील लोग वकालत छोड़दें, मुक़द्दमे पंचायती अदालतों में तय किये जावें। क्यों? इसलिए नहीं कि सरकारी अदालत के प्रत्येक मुक़द्दमे में अन्याय ही होता है। नहीं, इसलिए कि वर्तमान शासन-प्रणाली पर से हमारा विश्वास उठ गया है। जब तक वह शासन-प्रणाली सुधरती नहीं या यदि सुधरना असाध्य है तो जब तक वह नष्ट नहीं हो जाती तबतक सरकारी अदालतों से हमारा कोई सरोकार नहीं। हम उनमें वकालत नहीं करेंगे हम उनमें अपना कोई मुक़द्दमा नहीं ले जायेंगे। हमारी हानि भले ही हो। हम उसे सह लेंगे, पर जिस सरकार पर से हमारा विश्वास उठ गया है हम उसकी अदालतों से कोई सम्बन्ध नहीं रखना चाहते। जिन हाथों ने हमें विष पिलाया है उनसे चाहे अमृत भी मिले हमें वह अमृत नहीं चाहिए। पुराने प्रस्ताव का यह भाव था और उसमें जो नैतिक बल है वह किसी से छिपा नहीं। अब कार्य-कर्त्री समिति उस प्रस्ताव का जो नया रूप रखती है उसमें असहयोग के स्थान में किसी सीमा तक सहयोग की बास आती है। "हम जनता के सामने अपनी निर्दोषता प्रमाणित करने के लिए अदालत में सच्ची बातों का बयान भर करदें।" निर्दोषता प्रमाणित करने की इतनी आवश्यकता ही क्यों? और, निर्दोषता प्रमाणित करना क्या इतना सरल है कि सच्ची बातों के बयान कर देने से ही वह प्रमाणित हो जायगी? एक ओर कहा जाता है कि असहयोगी वकीलों को फ़ीस लेकर या बिना फ़ीस लिए भी सरकारी अदालतों में वकालत न करनी चाहिए, दूसरी ओर कहा जाता है कि निर्दोषता प्रमाणित करने के लिए केवल बयान भर दे दिया जाय। यदि निर्दोषता प्रमाणित करने की आवश्यकता ही है कि जिस सर्वोत्तम उपाय से वह प्रमाणित हो सकती हो उसका अवलम्बन किया जाय। अच्छे वकील किये जायँ (वकील इसलिए कि आजकल अदालतों के दाँव-पेंच इतने बढ़ गये हैं कि वकीलों की सहायता के बिना सत्य बात को सत्य प्रमाणित करना बृहस्पति का ही काम है) और गवाहों से अच्छी जिरह की

जावे। यदि यह न किया गया होता, तो डाक्टर चोलकर अभी बड़े घर की हवा खाते होते; और यह न किया जाने के कारण पं० माखनलाल जी चतुर्वेदी आठ मास के लिए कारागृह भेजे गये हैं। "जनता के सामने निर्दोषता प्रमाणित करने के लिए"—जनता बहुत अर्थ-गर्भित शब्द है। किस जनता के सामने यह निर्दोषता प्रमाणित की जाय? जब डा० चोलकर के मुक़द्दमे का फ़ैसला न हुआ था, तब जनता के कुछ व्यक्ति उन्हें दोषी समझ सकते थे और अब चतुर्वेदीजी के मुक़द्दमे के पश्चात्, उनके बयान दे चुकने पर, जनता के कुछ व्यक्ति उन्हें दोषी समझ सकते हैं। इन 'कुछ' व्यक्तियों की संख्या कौन गिनेगा? आदर्श की दृष्टि से देखा जाय, तो सच्ची निर्दोषता तो वही है कि एक धोबी भी सती-शिरोमणि सीता को दोषी न ठहरा सके। व्यवहार की दृष्टि से, जनता के सामने, अपनी निर्दोषता प्रमाणित करना अत्यंत दुष्कर कार्य है। इसीलिए "राजा करै सो न्याय" माना जाता है; और, अब जबकि राजा की प्रतिनिधि-स्वरूपिणी नौकरशाही के न्याय में विश्वास ही नहीं रहा, तो जनता के सामने निर्दोषता प्रमाणित करने का व्यर्थ दिखावा करने से कोई लाभ नहीं। एक बात यह भी है कि अदालत में दिया हुआ बयान जनता के सामने आ जाया करे इसका कोई अच्छा साधन नहीं है। सरकार तो इसके लिए बाध्य है ही नहीं कि प्रत्येक बयान जनता की जानकारी के लिए किसी पत्र में प्रकाशित कर दिया जाय। हाँ, समाचार-पत्रों के प्रतिनिधि कभी कभी और कहीं कहीं यह बयान ले लिया करते हैं; पर यह साधन त्रुटिपूर्ण है। अतः सरकारी अदालतों में बयान दे देने से ही उसका जनता के पास पहुँचना कठिन है।

यदि बयान भर देने से निर्दोषता सिद्ध हो सकती है, तो वह बयान सरकारी अदालत में न दिया जाकर केवल जनता के सामने ही दे दिया जाय। सरकारी अदालत से तो पूर्ण असहयोग ही किया जाय। यदि किसी असहयोगी की शक्ति का लोहा सरकार मानती है, तो अली-बन्धुओं द्वारा जनता के सन्मुख की गई क्षमा-प्रार्थना के सदृश क्यों न सरकार जनता के सामने किये गये बयान को अपने सामने किया गया बयान समझ ले? मतलब यह कि सरकारी अदालत में केवल बयान दे देने से जनता किसी व्यक्ति को निर्दोष समझे यह कठिन है और जब यह कठिन है, तब कांग्रेस की कार्य कर्त्री समिति ने पुराने प्रस्ताव का नया भाष्य करके असहयोग के सिद्धान्त को शिथिल करने की अनधिकार-चेष्टा व्यर्थ की है।

(५) एक करोड़ रुपयों का क्या होगा?

लोकमान्य तिलक की पवित्र स्मृति में, स्वराज्य सदृश ध्येय की प्राप्ति के लिए, महात्मा गांधी जैसे सर्वमान्य नेता की अपील पर, भारतवर्ष सदृश विस्तृत देश से, गत ३० जून के पूर्व एक करोड़ रुपया एकत्र होना था, और हो गया उससे कई लाख अधिक। जिस समय महात्मा गांधी ने अपील की थी, विरोधी-दल को हँसी आई थी कि एक करोड़ रुपया और इतने थोड़े समय के भीतर एकत्र हो जाय! श्रद्धेय मालवीयजी तक का आश्चर्य हुआ था; क्योंकि वे हिन्दू विश्वविद्यालय के लिए अथक प्रयत्न करके देख चुके हैं कि रुपया एकत्र करना कितना कठिन काम है; अतः मालवीयजी का आश्चर्य अनुभव के आधार पर था। पर, उन्हें आश्चर्य न होता यदि उन्होंने यह विचार किया होता कि हिन्दू-विश्वविद्यालय और स्वराज्य में बहुत अन्तर है।

जो हो, मालवीयजी ने गांधीजी को लिखा था कि यदि ३० जून के पूर्व ५० लाख रुपया भी एकत्र हो, तो आपको सन्तोष मानना और अपना कार्य आरम्भ कर देना चाहिए। १६ जून तक जब भारतवर्ष भर से ३० लाख रुपये जमा हुए तब ऐसा मालूम होता था कि कदाचित् मालवीयजी का ही अनुमान सत्य निकलेगा; पर अवधि के समीप आते आते प्रयत्न भी प्रबल हो उठा, और १४ दिन के भीतर भारतवर्ष ने देख लिया कि स्वराज्य कोष में १ करोड़ से भी अधिक रुपये पहुँच गये हैं। यद्यपि इस कोष के दाताओं में बड़े बड़े राजा महाराजा, जमींदार आदि शामिल नहीं हैं तथापि जनता का प्रायः प्रत्येक व्यक्ति शामिल है और इससे यह बात निर्विवाद रीति से सिद्ध होती है कि स्वराज्य के लिए जनता कितनी लालायित है और वह उसकी प्राप्ति के लिए आकुल प्राणों और उन्मत्त हृदय से अपना सर्वस्व अर्पण कर देने को कितनी तत्पर है। इस बात को देखते हुए एक करोड़ की रक़म बहुत महत्वपूर्ण है और स्वराज्य के लिए उत्सुक जनता की सात्विक इच्छा का उत्तम प्रमाण है।

अब प्रश्न यह होता है कि इस द्रव्य का होगा क्या। महात्मा गांधी कहते हैं कि यह द्रव्य असहकारिता के प्रचार में लगाया जाना चाहिए, अर्थात् उससे (१) चरखों और खादी का विस्तार, (२) अछूत जातियों का उद्धार, (३) राष्ट्रीय पाठशालाओं का प्रचार, और (४) मादक द्रव्यों का निषेध किया जाना चाहिए। ये कार्य प्रान्तीय कांग्रेस-कमेटियों द्वारा किये जायँगे। कार्य के महत्व को देखते हुए एक करोड़ की रक़म बहुत छोटी दिखाई देती है, विशेष कर तब जब कई लोग इसका विचार करते हैं कि एक करोड़ के ब्याज से ही काम चलना चाहिए। पर, महात्मा जी इसके विरुद्ध हैं। वे कहते हैं कि इस रक़म को सूद पर उठा देना और केवल सूद से ख़र्च चलाना मानों अपने में और राष्ट्र में अविश्वास करना है। राष्ट्र का विश्वास ही हमारा मूलधन होना चाहिए, और उस विश्वास के बल पर समय समय पर हमें जो मिला करे उसीको सूद समझना चाहिए। यदि हम इस बात का दावा रखते हैं कि हम राष्ट्र के प्रतिनिधि हैं तो हमें राष्ट्र के भरोसे रहना चाहिए। केवल सूद पर निर्भर रहने से हम उत्तरदायित्व-हीन हो सकते हैं। भारत के मन्दिरों को ही देखिए। करोड़ों की सम्पत्ति उनमें लगी है और केवल सूद से उनका काम चलता है। इसका फल यह हुआ है कि मठाधीश, पुजारी आदि अपने कर्तव्य को भूलकर चैन की वंशी बजाते हैं; क्योंकि वे जानते तो हैं कि मन्दिरों आदि में जो सम्पत्ति लगी है वह तो कहीं जाती नहीं। यदि उन्हें अपने प्रतिदिन के ख़र्च के लिए जनता पर निर्भर रहना पड़ता, तो वे कर्त्तव्य-जागरूक रहते और ऐसे काम करते रहने का ध्यान रखते जिससे जनता का विश्वास उनपर से उठ न जाय। इसीलिए महात्माजी कहते हैं कि तिलक-स्वराज्य-फंड में जो कुछ द्रव्य आया है वह सब इसी वर्ष, दिसम्बर के पूर्व, ख़र्च कर डालना चाहिए।

बात ठीक है। एक करोड़ रुपयों के सूद से स्वराज्य की लड़ाई नहीं लड़ी जा सकती। और वह लड़ी भी कबतक जायगी? हमें तो इसी वर्ष स्वराज्य चाहिए। इसके लिए विदेशी कपड़ों का सर्वथा बहिष्कार करना चाहिए और इस बहिष्कार के लिए चरखे, हाथ का कता सूत और खद्दर, जी खोलकर, ख़रीदना चाहिए। यह सब कार्य इस प्रकार किया जाना चाहिए जिससे चरखों का प्रचार व्यावसायिक ढंग पर हो सके।

देखें, कांग्रेस की बैठक जो इसी मास में बम्बई में होने वाली है क्या निश्चय करती है।



छत्रपति शिवाजी।

प्रजा निःस्वार्थी नहीं हो सकती; जो राज्य प्रजा-पीड़क है उसकी प्रजा दुर्बल-रक्षक नहीं हो सकती; जो राज जनता के एक अंश को दूसरे से ऊँचा समझता है उसकी प्रजा उदार नहीं हो सकती; जो राज अपनी आय-वृद्धि के लिए दुराचारों को देखकर भी अवशिष्ट रहने देता है उसकी प्रजा सदाचारी नहीं हो सकती। अतः ... नैतिक शिक्षा देने का प्रथम सोपान यह ... अपने भौतिक बल का दुरुपयोग करके अपने मनमाने सिद्धान्तों का प्रचार न करे?

इस देखभाल के लिए पहिला प्रबन्ध तो उस प्रकार का होना चाहिए जैसा कि प्राचीन भारत में था। समाज में ब्राह्मणों का स्थान सर्वश्रेष्ठ होना चाहिए। मेरा तात्पर्य्य भारतवर्ष के ब्राह्मण-कुलोत्पन्न विप्रों से नहीं है। प्रत्येक देश के विद्वान और धर्मोपदेष्टा उसके ब्राह्मण हैं। इन

साहित्य-तथा-राजनीति-संबंधी-विविध-विषय-विभूषित सचित्र मासिक पत्रिका ।

वर्ष २, खण्ड १] श्रावण, शुक्ल प्रतिपदा, १९७८ * ४ अगस्त, १९२१ [संख्या ५, पूर्ण संख्या १७

लीला-धाम ।

(लेखक—पण्डित बलदेवप्रसाद मिश्र, एम.ए., एल-एल.बी.)

(१)

जगत दुःखमय रच डाला प्रभु !
तो मन में ऐसा बल देते ।
जिससे इसका भार मुदित हो
सबके सब सुख से सह लेते ॥
अथवा ऐसा कर देने में
खोजाती वह छवि लीला की ।
इससेही क्या नटवर ! तुमने
धरती ऐसी दुःशीला की ?

(२)

जगत ऊब कर डूब न जावे
पाकर अतल दुःख की धारा ।
इसीलिए तो बजा रहे हो
आशा का ऊँचा इकतारा ॥
जब जब मनुज धैर्य खोता है
तब तब वह झंकार मनोहर ।
होती है चुप, हृदय-गगन में
घन के भीतर प्रभा दिखाकर ॥

(३)

फिर मन कुछ बलसा पा करके
दौड़ लगाता है, गिरता है ।
सभी ओर सब अवसर छाई
इसी तरह की अस्थिरता है ॥
उठा, गिरा, रोया, गाया, पर
रहा सदा जैसा का तैसा ।
आदि अंत का पता नहीं है
खेल खिलाड़ी ! है यह कैसा ?

(४)

बहुत हो चुका, भर पाया सब
अब न अधिक झंझट में डालो ।
वा मन ही हो तो सागर में
इस सरिता को शीघ्र मिलालो ॥
जिससे अधःपतन-उन्मुख यह
निपट क्षुद्र जीवन मिट जावे ।
और इसीकी फिर सब लीला
सुखद विश्व-व्यापी कहलावे ॥

एक दूसरे से बाधा न पहुँचे। मोक्ष का प्रधान साधन धर्म्म है; अतः धर्म्म-संस्थापन और धर्म्म-संरक्षण ही राज-सत्ता का प्रधान कर्त्तव्य हुआ; क्योंकि साधन के ठीक रहने से साध्य की प्राप्ति सुगम हो जाती है।

अब प्रश्न यह उठता है कि राज-द्वारा धर्म्म-पोषण कैसे किया जाय। मुसलमानी राज्यों ने धर्म्म-पोषण का बीड़ा उठाकर पृथ्वी को रक्त से रँग दिया; ईसाई राज्यों ने धर्म्म के नाम पर सहस्रों मनुष्यों को इंकिज़िशन राक्षसी के चरणों पर चढ़ा दिया। इन उदाहरणों से तो यही प्रतीत होता है कि जब जब धर्म्म को राजशक्ति का आश्रय मिला है, तब तब अनर्थ ही हुआ है। परंतु सदैव ऐसा नहीं रहा। आर्य्य नरेशों ने, जो धर्म्म के प्रबल प्रपोषक थे, कभी ऐसे काम नहीं किये जो धर्म्म के नाम को कलुषित करते; अशोक और हर्षवर्द्धन ने धर्म्म की अपूर्व उन्नति करते हुए भी कभी प्रमाद-पथ पर पैर नहीं रक्खा। इससे यह प्रतीत होता है कि धर्म्म-प्रपोषण और अत्याचार में कोई अपरिहेय सम्बन्ध नहीं है। इसीलिए हमको उन उपायों का अन्वेषण करना है जिनसे राज-धर्म्म की सहायता करते हुए भी अत्याचार से बच सकें।

आदि वाक्यों से पापियों तक को मोक्ष की आशा दिलाई गई है; पर इसका तात्पर्य्य यह नहीं हो सकता कि मनुष्य मुमुक्षु भी बना रहे और पाप भी करता जाय। भगवान् के कथन का आशय यह है कि यदि पापी भी पश्चात्ताप करके भक्ति-पथ पर आरूढ़ हो जाय, तो उसके लिए भी आशा है।

अस्तु, प्रत्येक राज का यह कर्त्तव्य है कि वह प्रजा की नैतिक शिक्षा पर पूरा पूरा ध्यान दे। यह शिक्षा व्यापक होनी चाहिए। जीवन का ऐसा कोई कार्य्य नहीं है जो धर्म्म की परिधि के बाहर हो। आर्य्य शास्त्रकारों ने प्रातरुत्थान से लेकर शयन तक के सभी कृत्यों को धर्म्म-रज्जु से परिवेष्ठित किया था। ऐसा होना भी चाहिए। राज को इस बात का प्रयत्न करना चाहिए कि बाल और वृद्ध, स्त्री और पुरुष, सबको पूर्ण नैतिक शिक्षा—ऐसी शिक्षा जो उनको जीवन-यात्रा में सफल पथिक बना सके—दी जाय। पर जब तक स्वयम् राज का व्यवहार नैतिक न हो, तब तक उसकी सारी शिक्षा निष्फल है। जो राज अपने कार्य्य-क्रम में कूट-नीति से काम लेता है उसकी प्रजा सत्यवादिनी नहीं हो सकती; जो राज अपने पड़ोसी राष्ट्रों का स्वत्वापहरण करता है, उसकी

प्रजा निःस्वार्थी नहीं हो सकती; जो राज्य प्रजा-पीड़क है उसकी प्रजा दुर्बल-रक्षक नहीं हो सकती; जो राज जनता के एक अंश को दूसरे से ऊँचा समझता है उसकी प्रजा उदार नहीं हो सकती; जो राज अपनी आय-वृद्धि के लिए दुराचारों को देखकर भी अवशिष्ट रहने देता है उसकी प्रजा सदाचारी नहीं हो सकती। अतः प्रजा को नैतिक शिक्षा देने का प्रथम सोपान यह है कि राज स्वयं सत्य-शील, उदार, त्यागी, सिद्धान्तारूढ़ और दृढ़-सङ्कल्पी हो।

धर्म्म का एक प्रधान अङ्ग उपासना है। राज का यह भी कर्त्तव्य है कि वह जनता को उपासना की ओर झुकावे। देश में अनेक मत-मतान्तर हो सकते हैं। जब तक वे एक दूसरे के साथ द्वेष नहीं सिखलाते और किसी अनैतिक प्रथा का प्रचार नहीं करते, तब तक सभी सम्मान और संरक्षण के पात्र हैं। उपासना-क्रम में भेद होने से सज्जन लोग एक दूसरे से लड़ा नहीं करते। यदि नैतिक शिक्षा भलीभाँति दी गई है तो ऐसी अवस्था कदापि उपस्थित नहीं हो सकती कि भिन्न भिन्न मतों के अनुयायी आपस में लड़ना चाहें। इसलिए जो जिस मत का अनुयायी हो वह उस मत के अनुसार ईश्वरार्चन करे। पर, ईश्वरार्चन करें सब।

एक बड़ा प्रश्न अब भी रह गया। इस बात का कौन निर्णय करेगा कि कौन कौन सी बातें नैतिक हैं और कौन कौन सी अनैतिक? इस बात का निरीक्षण कौन करेगा कि धर्म्म के नाम पर धर्म्मान्धता की वृद्धि तो नहीं हो रही है? इस बात पर कौन दृष्टि रक्खेगा कि राजसत्ता अपने भौतिक बल का दुरुपयोग करके अपने मनमाने सिद्धान्तों का प्रचार न करे?

इस देखभाल के लिए पहिला प्रबन्ध तो उस प्रकार का होना चाहिए जैसा कि प्राचीन भारत में था। समाज में ब्राह्मणों का स्थान सर्वश्रेष्ठ होना चाहिए। मेरा तात्पर्य्य भारतवर्ष के ब्राह्मण-कुलोत्पन्न विप्रों से नहीं है। प्रत्येक देश के विद्वान् और धर्म्मोपदेष्टा उसके ब्राह्मण हैं। इन ब्राह्मणों का भरण-पोषण राज के द्वारा होना चाहिए। बिना पूरी जाँच के कोई व्यक्ति धर्म्मोपदेशक, पुरोहित या अध्यापक न हो सके। यों तो समय समय पर योगी-महात्मा उत्पन्न होते रहेंगे जिनके उपदेश करोड़ों मनुष्य सुनेंगे। मेरा यह तात्पर्य्य नहीं है कि उनसे कोई परीक्षा उत्तीर्ण कराई जाय। मेरा आशय यह है कि राज, जिन लोगों को वेतन देकर नीति और धर्म्म का शिक्षक बनावे, वे पूर्ण विद्वान् और सच्चरित्र हों। यही गुण अध्यापकों में होने चाहिए। एक बात और यह होनी चाहिए कि ये ब्राह्मण पूर्ण तपस्वी हों। इसका एक बड़ा उपाय यह है कि उनकी प्रतिष्ठा सबसे बढ़ कर हो; पर उनके पास धनादि संग्रह का साधन न हो। हर्ष के समय में नालन्द विश्व-विद्यालय के अधिष्ठाता आचार्य्य शीलभद्र का आसन सम्राट् के आसन के बराबर लगता था। आर्य्य नरेश ऋषि-मुनियों को देखकर अपने आसन छोड़ देते थे। ये ऋषि, साधु, श्रमण सभी निर्धन थे। इस प्रकार की प्रतिष्ठा पाने के लिए लोहे के चने चाबना पड़ते थे। जो मनुष्य ब्राह्मण बनना चाहे उसे विषय-सुख-पराङ्मुख होना ही चाहिए, पर उसकी आवश्यकताओं की पूर्त्ति में रुकावट न होनी चाहिए।

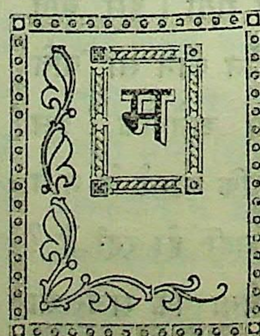
जो विद्वान् बाहर से आवें उनका भी इसी प्रकार समादर करना चाहिए। हर्ष ने चीनी यात्री ह्युएनसाङ्ग का किसी भारतीय साधु से कम समादर न किया था। ऐसे लोगों की जितनी प्रतिष्ठा होनी चाहिए वैसाही शुद्ध इनका जीवन होना चाहिए। दूसरे मनुष्य की नैतिक भूल चाहे क्षम्य हो; पर ब्राह्मण का कुकर्म्म अक्षम्यप्राय होना चाहिए। बिना घोर तप के उसका अञ्चल पवित्र हो ही नहीं सकता। ऐसा करने से देश में एक ऐसे समुदाय की सृष्टि होगी जिसके सभी सदस्य उज्जवल चरित्र वाले, विद्वान्, तपस्वी, सन्तोषी और धार्मिक होंगे। ये लोग प्रकृत्या निर्भय और निष्पक्ष होंगे। ये न तो स्वयं दुष्कर्म्म करेंगे और न दूसरे का दुष्कर्म्म देख सकेंगे। समस्त प्रजा इनका आदर करेगी और यह उसके स्वाभाविक नेता होंगे। इनके धार्म्मिक और नैतिक निर्णय वस्तुतः आप्त-वाक्य होंगे।

अतः प्रजा को नैतिक शिक्षा देने के साथ साथ राज को एक ब्राह्मण-समुदाय की सृष्टि करनी चाहिए जो राज और प्रजा दोनों को पथ-भ्रष्ट होने से बचावे। इस ब्राह्मण-समुदाय में कोई किसी एक मत के अनुयायी नहीं हो सकते। नैमिषारण्य में तथा कुम्भ आदि के अवसर पर आर्य्य-धर्म्म के प्रचार तथा उसके विवाद-ग्रस्त प्रश्नों का निर्णय करने के लिए अट्ठासी सहस्र मुनि एकत्र होते थे जिनके विषय में यह प्रसिद्ध उक्ति है 'नैको मुनिर्यस्य मतिर्न भिन्ना'। बात यह है कि मतभेद होने पर भी दश सयाने जहाँ मिलेंगे वहाँ लोक-हित ही होगा; परन्तु दो मूर्खों का एकमत लोकोपकार नहीं कर सकता।

ये ब्राह्मण भी मनुष्य ही होंगे, इसलिए यह भी सम्भव है कि ये आपस में मिलकर एक पुरोहित-राज्य (Theocracy) स्थापित करलें। इसलिए इनपर भी रोक होनी चाहिए। यह रोक प्रजा ही कर सकती है। जनता में शिक्षा का पूर्ण प्रचार होना चाहिए। छोटे-बड़े, स्त्री-पुरुष सबको ही यथायोग्य और यथासम्भव उदार शिक्षा, साहित्य, विज्ञान, इतिहास, कला-कौशल तथा दर्शन की शिक्षा मिलनी चाहिए। ऐसी प्रजा विद्वानों का आदर कर सकती है; पर अन्ध-विश्वासी नहीं हो सकती। वह इस बात के लिए सहर्ष उद्यत रहेगी कि गूढ़ विषयों का निर्णय ऐसे विशेषज्ञों पर छोड़ा जाय जिनके पास सिवा तत्वानुसन्धान के कोई दूसरा काम ही न हो; पर वह इन विशेषज्ञों को इस बात की कदापि अनुज्ञा न देगी कि वे उसकी आँख में धूल झोंक दें। बिना ऐसी सुशिक्षित प्रजा की सतत तीव्रालोचना के ब्राह्मण भी धर्म्म-च्युत हो जायँगे और राज में ऐसी दुरवस्था हो जायगी जिससे प्रधान उद्देश्य की पूर्ति न हो सकेगी।

सामाजिक अत्याचार।

(लेखक—पं० श्रीकृष्ण मिश्र, एम. ए., बी. एल.)



नुष्यों के समूह को समाज नहीं कहते हैं। समूह के मनुष्य जब परस्पर हितै-षिता और सार्वजनिक लाभ की इच्छा से सूत्रबद्ध रहते हैं तभी समाज का आरम्भ होता है। समाज का प्रारम्भ

कब से हुआ इसकी कोई नियत तिथि या काल बताना नितान्त कठिन है। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि जब मनुष्यों की प्राकृतिक अवस्था की स्वच्छंदता व्यक्तियों के सुख में बाधक हुई तभी उन्होंने सामाजिक नियमों के प्रति सिर झुकाया और समाज के हित के लिए व्यक्तिगत स्वेच्छाचारिता का निरोध किया। हौब्स, लौक और रूसो ने सामाजिक संगठन का कारण सामाजिक कंट्राक्ट (Social Contract) माना है। इन विद्वानों की कल्पनाएँ सदोष अवश्य हैं; परंतु हौब्स की तरह हम लोग भी मनुष्य की प्रारम्भिक अवस्था का मानसिक चित्र अवश्य खींच सकते हैं जब स्वार्थ के कारण प्रत्येक मनुष्य को अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए अपने लोहे पर विश्वास करना पड़ता था, जब प्रत्येक मनुष्य का हाथ अपने पड़ोसी की गर्दन पर रहता था और जब जीवन-निर्वाह की कठिनाइयाँ मानवी शक्ति को अपने बोझ से दबाये डालती थीं। खैर, उन कठिनाइयों को दूर करने के लिए तथा मनुष्य के स्वार्थ की सिद्धि में अधिक सुविधा हो इसका प्रबंध करने के लिए समाज का संगठन हुआ। अब समाज का उद्देश और लक्ष्य यही है और होना चाहिए कि वह ऐसे विचारों का प्रचार करे जिससे उसके अवयवों के सुख की अधिकतम वृद्धि हो और उनको ऐसे सुयोग प्राप्त हों जिससे उनकी मानसिक, शारीरिक, आर्थिक, नैतिक और आध्यात्मिक उन्नति में सहायता पहुँचे, और सम्पूर्ण मनुष्यत्व के विकास में जो अन्तराय हों वे दूर हो जायँ।

रूढ़ि की कठोरता और स्वार्थ की प्रबलता के कारण समाज में बहुत सी असमानताएँ राज्य कर रही हैं जिनके कारण समाज के बहुत से लोगों को कष्ट उठाना पड़ता है। यह सत्य है कि सब मनुष्य स्वभाव से बराबर बुद्धि और बल वाले नहीं होते। परिस्थिति की विभिन्नता के कारण अथवा किसी दैवी हेतु से, मनुष्य में, जन्म से ही, अनेक बातों का अंतर पाया जाता है। तथापि यदि हर एक मनुष्य को कृत्रिम सामाजिक नियमों के कारण अपनी बुद्धि और शक्तियों के विकास के लिए सुअवसर न मिल सके, तो इसको अन्याय और सामाजिक अत्याचार कहना पड़ेगा।

ऐसे सामाजिक अत्याचारों में से कुछ का उल्लेख नीचे किया जाता है—

(१) ज़मींदार और किसान।

ज़मींदारी की प्रथा की उत्पत्ति और उसके इतिहास के विषय में यहाँ पर लिखने की आवश्यकता नहीं। मैं केवल ज़मींदार और किसानों के पारस्परिक व्यवहार की ओर ध्यान दिलाना चाहता हूँ। यह शायद किसी को अविदित नहीं कि ज़मींदार लोग किसानों को पशु से भी हेय और तुच्छ समझते हैं। उनके ध्यान में यह बात कभी नहीं आती कि किसान लोग भी मनुष्य हैं और उनके हृदय में भी मनुष्यत्व के भाव रह सकते हैं। जो किसान अपने ख़ून को पसीना करके ज़मींदारों के वैभव और विलासिता के सहायक होते हैं, उन किसानों की भलाई के लिए ज़मींदार महाशय उँगुली भी नहीं उठाते। उन्हें तो बस अपनी मालगुज़ारी से मतलब। बहुत से ज़मींदार तो ऐसे हैं जो अपनी ज़मींदारी में कभी पैर भी नहीं रखते, और कलकत्ता,

बम्बई जैसे बड़े शहरों में रह कर भोग-विलास में समय व्यतीत करते हैं। भला ऐसे लोगों को प्रजा के प्रति सहानुभूति कहाँ तक हो सकती है? यदि हमारे जमींदार चाहें तो अपनी रैयत में शिक्षा का प्रचार सहज ही में कर सकते हैं। यदि वे चाहें तो कृषकों का समुचित संगठन करके उनके हृदय में सार्वजनिक जीवन का संचार और मिलकर काम करने की रुचि उत्पन्न कर सकते हैं। परन्तु, उनकी बुद्धि तो केवल अफ़सरों की खुशामद में और उनकी वीरता ग़रीब किसानों को तंग करने में ख़र्च होती है। वे समझते हैं कि शिक्षित और जागृत हो जाने पर किसान उनके साथ बराबरी का दावा करने लगेंगे, और उनकी नादिरशाही में बाधा पहुँचेगी। परन्तु सोचने का विषय है कि दूसरों को पद-दलित रखने की चेष्टा करते हुए वे स्वयं पद-दलित हो रहे हैं। दीन, दुखी, अशिक्षित तथा असहाय किसानों पर हुकूमत करने की अपेक्षा सुखी, शिक्षित और स्वतंत्र मनुष्यत्व के महत्व को पहिचानने वाले प्रेम की दृष्टि से देखने वाले कृषकों का स्वामी बनना श्रेयस्कर है—क्या यह भी उन्हें समझाना होगा। अन्याय का राज्य अधिक दिनों तक नहीं चल सकता। मेरा अभिप्राय जमींदारों के प्रति किसानों की विद्वेषाग्नि प्रज्वलित करने का नहीं है; परन्तु भिन्न भिन्न स्थानों में किसानों की दशा देखकर कहना पड़ता है कि जमींदारों को अपनी पुरानी रीतियों में बहुत कुछ परिवर्तन करना पड़ेगा, अन्यथा कुशल नहीं। यदि समष्टिवाद का झंडा हिन्दुस्थान में कभी खड़ा हुआ, तो वह होगा किसानों के असन्तोष के कारण और उसके ज़िम्मेदार होंगे भारत के ज़मींदार।

(२) मालिक और मज़दूर।

यद्यपि भारतवर्ष कृषि-प्रधान देश है, तथापि यहाँ पश्चिमी औद्योगिक संस्थाओं की भी कमी नहीं। कलकत्ता, बम्बई, कराँची, रंगून, अहमदाबाद इत्यादि बड़े बड़े शहरों में मिलें और फ़ैक्टरियाँ हैं जहाँ हज़ारों मज़दूर एकत्र होकर काम करते हैं। रेलवे और जहाज़ के कारखानों में भी सहस्रों मज़दूर काम में लगे हुए हैं। मेहनत उनकी पूँजी है और वे मज़दूरी के लिए पूँजीपतियों का मुँह ताकते रहते हैं। अट्ठारहवीं शताब्दी के योरुप में उद्योग की जो स्थिति थी हिन्दुस्थान में प्रायः वही हालत हो रही है। पूँजीपतियों को ध्यान रखना चाहिए के मज़दूर मनुष्य हैं, कलपुर्जे नहीं। उनका वेतन कम से कम इतना तो अवश्य होना चाहिए जिससे उनका भरण-पोषण हो सके और उनके बाल-बच्चे भूखों न मरें। उनसे उतनी ही मिहनत लेनी चाहिए जिससे उनके शरीर पर ऐसा बोझ न पड़े जिसे वे सँभाल न सकें और बराबर अधिक परिश्रम से पीड़ित रह कर अकाल के गाल में न जा पड़ें। जिन स्थानों में वे काम करें वहाँ हवा और रोशनी जाने का उचित प्रबंध हो। उपर्युक्त विषयों में अब तक बहुत कुछ उदासीनता दिखाई गई है। पाश्चात्य देशों में इसी तरह की उदासीनता के कारण सभ्यता की बड़ी इमारत मज़दूरों के प्रकोप से चूर चूर हो जाने पर है। रूस में बौलशेविज़्म की विजय हो चुकी और उसकी भीषण मूर्ति सारे योरुप को आज भय से कँपा रही है। हमें इन घटनाओं से शिक्षा लेनी चाहिए और जाने हुए गढ़े से बचकर चलना चाहिए। मज़दूरों के साथ ऐसा व्यवहार होना चाहिए

कि वे पूँजीपतियों को सहानुभूति की दृष्टि से देखें, द्वेष की दृष्टि से नहीं।

(३) अनत्यज जातियाँ।

हिंदू-समाज के लिए बड़ी लज्जा और लांछना की बात है कि उसने एक समुदाय को अछूतों की श्रेणी में डाल रक्खा है। जो हमारे समाज के अंग हैं, जो हमारे भाई-बन्धु हैं उनको स्पर्श करने में हम पाप समझते हैं, इससे बढ़कर और अन्याय क्या हो सकता है। हम कितनी ही जातियों का पानी भी ग्रहण नहीं करते। यह क्यों? यदि हम अपने देशवासियों के साथ इतनी असभ्यता और अन्याय का वरताव कर सकते हैं, तो दूसरे हमारे साथ उसी तरह का व्यवहार करें, तो आश्चर्य्य ही क्या। हमारा धर्म्म होना चाहिए कि नीच जातियों की ओर प्रेम की दृष्टि से देखें। यदि वे गिरे हुए हों तो उन्हें उठाने की चेष्टा करें। यदि वे अज्ञान के अन्धकार में डूबे हुए हों तो उनकी ज्ञान की आँखें खोल दें। यदि वे दब्बूपन के कारण पीछे हटे हों, तो उन्हें उत्साहित करके आगे बढ़ावें।

(४) स्त्रियों की परवशता।

"स्त्रियाँ स्वतंत्र हो ही नहीं सकतीं" यह भारतवर्ष के लिए बहुत ही हानिकारक सिद्ध हुआ है। हम लोग स्त्रियों को जिस तरह रखते हैं वह अवश्य ही स्त्रियों की मर्यादा के विरुद्ध है। हिंदू समाज का स्त्रियों के प्रति अविश्वास का व्यवहार अवश्य शोचनीय है। स्त्रियों को कुमारी और माता की हैसियत से अवश्य आदर मिलता है; परन्तु न्याय तो यह है कि स्त्री स्त्री की हैसियत से आदृत की जाय। आधा भारतवर्ष जब तक परदे से छिपा रहेगा और उसमें अविद्या का राज्य रहेगा तब तक उन्नति की आशा करना व्यर्थ है। इस विषय पर अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं। अपनी स्त्रियों को हम लोगों ने कैसा पंगु बना रखा है यह सबको विदित है।

ऊपर कुछ प्रत्यक्ष सामाजिक अत्याचारों का संक्षेप में निदर्शन किया गया है। इन विषयों पर ध्यान देना उतना ही आवश्यक है जितना राजनैतिक आन्दोलन में। स्वराज्य की नींव सुन्दर सामाजिक संस्थाओं पर ही दी जा सकती है। जबतक प्रत्येक मनुष्य को अपनी शक्तियों के विकाश करने में समुचित अवकाश नहीं मिलता तबतक सामाजिक संस्थाएँ दोषपूर्ण हैं और उनका संस्कार अवश्यमेव होना चाहिए।

स्वाधीनता-सम्बन्धी कुछ विचार।

राजसत्ता के मद में चूर ब्रिटिश सरकार के क्रूर एवं अत्याचार-पूर्ण प्रहार से, भारतवर्ष के समान, आयर्लैंड भी व्यथित है एवं अपनी स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिए प्राण-पण से युद्ध कर रहा है। वहाँ का एक एक वीर मातृभूमि के उद्धार के लिए अपने प्राण न्यौछावर करने में अपना गौरव समझता है। वहाँ के प्रसिद्ध देशभक्त टेरेन्स मैकस्विनी भी मनुष्य मात्र के जन्मसिद्ध अधिकार—स्वतंत्रता—के लिए आमरण लड़ते रहे, परन्तु उन्होंने अत्याचारिणी शक्ति के आगे सिर झुकाना उचित नहीं समझा। वे ७४ दिन

उपासे रहे; परन्तु एक क्षण के लिए भी अपने पवित्र एवं अटल व्रत से विचलित नहीं हुए। ऐसे वीर स्वदेशभक्त के विचार प्रत्येक स्वदेशभक्त के गले के हार हैं। इस लेख में उनके कुछ विचार दिए जाते हैं।

स्वाधीनता का आधार।

"आत्मिक विजय के आगे शारीरिक विजय कोई चीज़ नहीं।"

"हम लोग जो स्वाधीनता माँगते हैं उसका वास्तविक महत्त्व इसी एक बात में है कि स्वाधीनता आत्मा के लिए आवश्यक है। इस संसार में भी उसकी आवश्यकता पड़ती है—यह बात उतने महत्त्व की नहीं। प्रत्येक मनुष्य जो इस संसार में अवतीर्ण होता है कुछ आत्मिक और शारीरिक शक्तियों से सम्पन्न रहता है, और यह बहुत आवश्यक है कि अपनी शक्तियों को विकसित करने और अपने कर्तव्य का निर्वाह उत्तम रीति से करने का उसे पूरा अवसर दिया जावे। स्वतंत्र देश में यह अवसर स्वभावतः दिया जाता है; परन्तु परतन्त्रता-पाश में जकड़े हुए देश की दशा इसके विपरीत रहती है। जब एक देश दूसरे देश के अधीन हो जाता है, तब उस (अधीन देश) की दुहरी हानि होती है। पहली हानि भौतिक हानि है, और वह अधीन देश की धन-सम्पत्ति पर दूसरे का अधिकार हो जाने से होना बहुत साधारण बात है। दूसरी हानि नैतिक हानि है और वह इस प्रकार होती है कि बली राष्ट्र अपना आधिपत्य जमाये रखने के लिए अत्याचार-पूर्ण उपायों का अवलम्बन करता है। यह नैतिक हानि भौतिक हानि से कहीं अधिक भयंकर है और इससे बचने के लिए प्रत्येक राष्ट्र को जी-जान से प्रयत्न करना चाहिए। इस प्रयत्न का अभिप्राय युद्ध करना है; क्योंकि युद्ध के सिवा दूसरी गति नहीं। न्यायी राष्ट्र का कर्तव्य हुआ करता है कि वह अपनी प्रजा के अच्छे भावों का विकास करे, और अत्याचारी राष्ट्र निकृष्ट भावों का विकास किया करता है।"

'हमें जो शक्ति प्रबलता से प्रेरित कर रही है वह आत्मा की प्रेरणा है। हम एक सुन्दर आदर्श के पीछे पड़कर कर्त्तव्य-पथ पर अग्रसर हो रहे हैं। आदर्श के समान हमारी प्रेरक शक्ति भी सत्यता-पूर्ण और सुन्दर होनी चाहिए। हम जिस भाव से प्रेरित हो रहे हैं वह स्वदेशानुराग है, न कि शत्रु के प्रति घृणा-भाव अथवा उसके पुराने कामों का बदला निकालने की अभिलाषा।"

"हम स्वाधीनता के लिए लड़ रहे हैं—संसार के सामने अपनी शक्तियों का प्रदर्शन करने के लिए नहीं और न इसीलिए कि हम उतने बड़े हो जायँ जितने कि हमारे पड़ोसी हैं। इसके लिए हमें जो शक्ति प्रेरित कर रही है उसका उद्भव हमारे अस्तित्व के तत्त्व में अन्तर्हित है। व्यक्ति की दृष्टि से तथा राष्ट्र के अवयव की दृष्टि से भी हमें इस बात की आवश्यकता है कि हम अपना विकास करें। यदि हम अपनी उन्नति नहीं करते, तो हम अवश्य अवनत होंगे—नीचे गिरेंगे। यह प्रश्न जीवन-मरण का प्रश्न है, और इसीमें हमारी मोक्ष है। इस काम में यदि पूरा राष्ट्र हमारा साथ देता है, तो बहुत प्रसन्नता की बात है—हमें अच्छी सफलता मिलेगी; परन्तु यदि थोड़े से लोग ही हमारा साथ देते हैं, तो उन्हें और भी अधिक दृढ़ प्रतिज्ञ होना चाहिए। वे ऐसे अधिकार के लिए लड़ रहे हैं जो प्रत्येक व्यक्ति को मिलना चाहिए और जो किसी दूसरे को नहीं दिया जा सकता। बहुत से मनुष्य मिलकर भी उस अधिकार को रद्द नहीं कर सकते और न कोई शक्ति उसे नष्ट कर सकती है। जो उसके लिए लड़ते हैं उन्हें अत्याचारी लोग सता सकते या देश से निर्वासित

सकते हैं या उनका वध कर सकते हैं; परन्तु उस अधिकार का नाश नहीं हो सकता । उसकी रक्षा करने के लिए किसी बड़ी भारी सेना की आवश्यकता नहीं है, और यद्यपि कवि-गण सदैव उसका गुण-गान करते रहे हैं, तथापि उसकी घोषणा करने के लिए किसी बड़े प्रतिभाशाली व्यक्ति की आवश्यकता नहीं है। कोई भी मनुष्य उसका पक्ष-समर्थन कर सकता है, और उस एक मनुष्य के असफल न होने के कारण उसका आज-तक नाश नहीं हो सका ।"

"स्वाधीनता का उद्देश यही है कि मनुष्य-मात्र सुखी हों, और संसार अधिक सुन्दर और सुखमय बने।"

नैतिक बल।

"जब हम कहते हैं कि अमुक मनुष्य में नैतिक बल है, तो उसका मतलब यही है कि वह किसी बात को सत्य और आवश्यक समझकर उसका पक्ष लेकर खड़ा हो जाता है और उसके परिणामों की ओर ध्यान नहीं देता। उसका पहला सिद्धान्त यह रहता है कि जो बात सत्य है वह अच्छी है और अच्छी बात के लिए यदि उचित रीति से प्रयत्न किया जाय तो कभी कोई दुष्परिणाम नहीं हो सकते।"

"जो मनुष्य स्वतंत्रता के लिए युद्ध करता है वह जानता है कि मैं सत्य के लिए लड़ रहा हूँ और मेरे विजयी होते ही संसार अधिक सुन्दर हो जायगा। यदि मैं इस संग्राम में दूसरों को पीड़ा पहुँचाता हूँ, तो वह केवल इसलिए कि जो पीड़ा पा रहे हैं वे बन्धन-विमुक्त होवें, जो प्राण विसर्जन कर रहे हैं उनका गौरव बढ़े तथा भावी सन्तान सुरक्षित रहकर सुखमय जीवन व्यतीत कर सके।"

"एक सशस्त्र मनुष्य बहुत से लोगों का सामना नहीं कर सकता, और न एक छोटी सेना अक्षौहिणी के सन्मुख टिक सकती है; परन्तु समस्त विश्व भर की सेना सत्य के पक्षपाती को पीछे नहीं हटा सकती और अन्त में उसीकी विजय होती है।"

"जो मनुष्य स्वतंत्रता के लिए सच्चे हृदय से लड़ता है वह आघात पहुँचाने और ठीक स्थान पर चोट लगाने से कभी पीछे नहीं हट सकता; क्योंकि वह जानता है कि दृढ़ निश्चय पर उसके डटे रहने से ही स्वतंत्रता की रक्षा हो सकती है। परन्तु, साथ ही, वह यह जानता है कि संयम बड़ा भारी गुण है, और मनुष्य जो पशुओं से श्रेष्ठ समझा जाता है उसका कारण इसी संयम की विशेषता है। प्रतिहिंसा एक बहुत नीच उपाय है और उसका अवलम्बन नीच और दास लोग ही किया करते हैं। उदारता मनुष्य का भूषण है। जब स्वतंत्रता के लिए लड़ने वाला मनुष्य शत्रु पर आघात करता है, तब उसका उद्देश शत्रु के प्राण अपहरण करना नहीं, बरन उसके दुष्कृत्यों को नष्ट करना होता है। ऐसा करने से उसे स्वतंत्रता तो मिलती ही है, साथ ही शत्रु का भी उद्धार होता है।

"दासत्व-पङ्क में मग्न राज्य में प्रत्येक नीच बात का विकास होता है और इसका मतलब यह है कि ऐसे राज्य में उस बात का विरोध करना और भी अधिक आवश्यक है। स्वतंत्र देशों में भी साधारणतः बहुत सी बुराइयाँ उठ खड़ी होती हैं; परन्तु वे क्षणिक होती हैं और स्वतंत्रता के प्रकाश के आगे वे भयंकर नहीं होतीं। वे उसी प्रकार नष्ट हो जाती हैं जिस प्रकार सूर्य के प्रकाश में रोग नष्ट हो जाते हैं। परन्तु जहाँ स्वतंत्रता का गला घोंटा जाता है वहाँ छोटी से छोटी बुराई भी बढ़ सकती है और बुराइयों की संख्या बढ़ती

जाती है। यही कारण है जो पतित जाति के उद्धार का बीड़ा उठाने वालों को छोटी भी बुराई और निर्बलता पर दृष्टि रखना और उसे निर्मूल करने का प्रयत्न करना चाहिए।"

"भावी संग्राम में हमें बलवान् बनने की अपेक्षा दृढ़ संकल्पी बनने की अधिक आवश्यकता है। हमारे भाव प्रबल होना चाहिए; परन्तु हमारे मन को उनपर अपना नियंत्रण रखना चाहिए। हमें चाहिए कि हम शूर और उदार बनें जिससे कोई हम पर विजय न प्राप्त करे। सेनाओं के पराजित होने पर भी आत्मा कभी हार नहीं सकती। शरीर भले ही नष्ट हो जावे; परन्तु आत्मा इस नश्वर शरीर से निकल कर भी नष्ट नहीं होती, वरन दूसरे लोगों को कर्मपथ पर अग्रसर करती है जिससे स्वतंत्रता के संग्राम में विजय प्राप्त होती है। जो मनुष्य सच्चा और दृढ़-निश्चयी है उसे अंत में विजय मिलती ही है। उसमें कितनी भी निर्बलता क्यों न हो वह प्रतिहिंसा नहीं कर सकता। न वह अपनी बपौती को ही छोड़ेगा और न अपने स्वभाव को ही बिगाड़ेगा। प्रत्येक आपत्ति के समय में वह पहाड़ के समान निश्चल रहता है और जो कुछ वह करता है ठीक ही करता है। इसलिए, प्रिय बन्धुओ, प्रसन्न होओ। हमारी आत्माएँ अब भी हमारी ही हैं। यद्यपि समय को देखते हुए उसमें कुछ उदासी और उदासीनता आ गई है, तथापि पुरानी ज्वाला फिर से धधक उठी है। पुराना उत्साह अब भी ज्यों का त्यों है और हमारी नस नस में घूम रहा है। हम अपनी स्वाधीनता के लिए संग्राम कर रहे हैं। अवश्य ही हमारी विजय होगी।"

मित्र और शत्रु।

"हमारे शत्रु हमारे वे भाई हैं जिनसे हमारा सर्वनाश हो गया है।"

"यदि आयर्लैंड का पुनरुद्धार करना है, तो · भर में एकता होनी चाहिए। यदि हम संसा भर का उद्धार करना चाहते हैं, तो संसार · को ऐक्य-सूत्र में बँधना चाहिए। इस एकताका अभि- प्राय यह नहीं है कि सब राज्यशासन एक हो जा वरन सब लोग भाई भाई हो जायँ इसके लि प्रत्येक व्यक्ति और प्रत्येक राष्ट्र को अपना अप कर्तव्य पूरा करना होगा और कहीं इसमें कोई त्रु न हो जाय इसलिए हमें लगातार इस बात प विचार करते रहना चाहिए कि हम सब एक परम पिता की सन्तान हैं, इस संसार में हम सब समान अधिकार है, तथा हमारा एक दूसरे से बर बर सम्बन्ध है।"

"जब आन्तरिक एकता सम्पन्न हो जायगी, तब हम स्वतंत्रता प्राप्त कर सकेंगे।"

शक्ति का रहस्य।

"हमें चाहिए कि हम व्यक्तिगत धैर्य, साहस और संकल्प का विकास करें, और यह करना बहुत स है। हमने जहाँ एक बार मनमें स्थिर कर लि कि हमें यह काम करना है, त्योंही उसका प्रा हो जाता है। कोई कोई लोग सोचा करते हैं कि समय आवेगा जब हमें स्वतंत्रता के संग्राम प्रवृत होना पड़ेगा, परन्तु जब तक वह समय आया है, तब तक हमारे लिए कोई काम ही है। यह विचार बहुत भ्रमपूर्ण है। हमें चाहि हम एक भी क्षण व्यर्थ न खोकर तैयारी करते रहें अपनी शक्ति को बढ़ावें। कई लोग यह भी करते हैं कि राष्ट्रीय कार्य एक भिन्न कार्य है, सामाजिक, धार्मिक आदि कार्यों से उसका सम्बन्ध नहीं है। यही सोच कर वे प्रतिदिन घंटे राष्ट्रीय कार्य करते हैं और शेष समय व्यवहार करते हैं मानो कोई राष्ट्र है ही नहीं।

समय बराबर सम्बद्ध रहता है । प्रातःकाल और सायंकाल से मध्याह्नका स्वभावतः सम्बन्ध रहता है । मनुष्य चाहे किसी भी क्षेत्र में काम करता हो दूसरे क्षेत्रों के साथ उसका सम्बन्ध रहता ही है और किसी भी क्षेत्र में उसका आचरण ऐसा कदापि न होना चाहिए जो दूसरे क्षेत्र के विरुद्ध हो । वास्तव में वही मनुष्य सच्चा स्वदेशाभिमानी और सच्चा सैनिक है जो सच्चा बन्धु और सच्चा नागरिक है। यह हो नहीं सकता कि मनुष्य एक क्षेत्र में बहुत ईमानदारी के साथ काम करे और दूसरे में बिलकुल बेईमान हो जाय। कोई भी मनुष्य सदाचारी हुए बिना देश के प्रति अपने कर्तव्य का निर्वाह नहीं कर सकता, और इसलिए यह आवश्यक है कि वह इन सब गुणों का विकास करे जिनसे वह सदाचारी हो सकता है। इसके लिए उसे ऐसे कई गुणों का भी विकास करना पड़ेगा जिनकी आवश्यकता राष्ट्रीय दृष्टि से ऊपर से देखने में भले ही न मालूम हो। ”

मेरा भारत।

(लेखक—पं० माधवप्रसाद शर्मा)

मेरा भारत सब से आला ।
री गौरव-गरिमा पर मैं हूँ मन से मतवाला ॥
शोभित है शुचि शस्य-श्यामला तेरी भूमि विशाला।
कृति-भवन तू है भूतल का नंदन विपिन निराला ॥
री मोहन मंजु मूर्त्ति पर मोहित हैं सुर-बाला ।
मा, तुमको उर बन्द करूँ, दृग, लगा पलक का ताला ॥
र्ग-समान है रज-कण तेरा प्रति गृह एक शिवाला।
गी शान्त तुम्ही से जग में मानव-मन की ज्वाला ॥
ा हुआ पीकर मैं तेरे स्नेह-सुधा का प्याला ।
पता रहूँ निरन्तर तेरे अमर नाम की माला ॥

एम्मन्युल कान्ट की ज्ञान-मीमांसा।

(लेखक—लाला कन्नोमल, एम. ए.)



रूप के दार्शनिक विद्वानों में कान्ट का स्थान बहुत उच्च है । आपके विचारों ने आधुनिक दर्शन शास्त्र में चमत्कार उत्पन्न कर दिया है । आपने ज्ञान की सीमा को केवल बढ़ाया ही नहीं, बल्कि निश्चित कर दिया है । कान्ट का जन्म प्रूसिया के कौनसबर्ग नगर में सन् १७२४ ई० में हुआ था । आपके माता-पिता साधारण कोटि के मनुष्य थे । पितामह स्काटलैण्ड से जर्मनी में सकुटुम्ब आबसे थे । आपने अपने जन्मस्थान के विश्व-विद्यालय में शिक्षा पाई थी । आप कुछ काल लड़कों को घर पर पढ़ाकर कौनसबर्ग के विश्व-विद्यालय में अध्यापक हो गये थे और वहाँ इनके पढ़ाने के विषय थे—तर्क-शास्त्र, आचार-शास्त्र, दर्शन-शास्त्र, गणित-विद्या, संसारोत्पत्ति-शास्त्र और भूगोल-विद्या । सन् १७७० ई० में आप पूरे प्रोफ़ेसर बना दिये गये, और सन् १७९७ तक आप वहीं अध्यापन-कार्य करते रहे । सन् १८०४ ई० में आप पूर्ण आयु और पूर्ण यशस्वी होकर मरे ।

आप अपने प्रान्त से कभी बाहर नहीं गये और न आपने विवाह ही किया । आपका स्वास्थ्य अच्छा था और आप अपने प्रतिदिन के कार्यों में सर्वथा नियम-बद्ध थे। आपको परिवार की कोई चिन्ता नहीं रही और आपने अपना जीवन ७५ वर्षों तक विद्या-विज्ञान के सुखों में ही व्यतीत किया और इस प्रकार आपने एथेंस और रोम के तत्व-वेत्ताओं का आदर्श चरितार्थ कर दिखाया । आप में यह विशेषता थी कि कठिन-व्रत स्टोइक मुनि के जीवन की रूक्षता को आपने अपने प्रसन्न-चित्त और शील-स्वभाव से मृदु कर दिखाया था । ये दार्शनिक शास्त्र के संशोधक थे और इतिहास में इनकी महत्ता साक्रेटीज़ के बराबर समझी गई है।

इनके ग्रंथ जीवन की दो भिन्न भिन्न अवस्थाओं के लिखे हुये हैं । एक युवावस्था के, जब आपके विचारों पर लीब्नीज़ और उल्फ़ नामक दार्शनिक विद्वानों के प्रमाण-

हीन कल्पना-पूर्ण विचारों का अति प्रभाव था। इस समय के लिखे ग्रंथों में इन्हीं विद्वानों के विचारों की पुष्टि की गई है। दूसरे ग्रंथ उस समय के लिखे हैं जब आपकी बुद्धि परिपक्व हो गई थी और आपके विचारों का वेग ह्यूम के सिद्धांतों से उठकर ज्ञान की परीक्षा की ओर आकर्षित हो गया था। पिछली अवस्था के लिखे ग्रन्थ ८ हैं जिनमें Critique of pure Reason (विशुद्ध-ज्ञान-मीमांसा) और Critique of practical Reason (मनोवृत्ति-मीमांसा) अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। यह लेख इन्हींके विचारों के आधार पर लिखा गया है।

दार्शनिक विचारों में दो बड़े प्रसिद्ध मत हैं और इन दोनों मतों में योरुप के नामी नामी विद्वान हुए हैं। एक मत तो यह है कि हमारा जितना ज्ञान है वह सब इन्द्रियों-द्वारा ही उपलब्ध होता है। बुद्धि अथवा मन में कोई ज्ञान-शक्ति नहीं है। हमारे बड़े से बड़े और कठिन से कठिन विचार उसी ज्ञान पर अवलम्बित हैं जो हमें इन्द्रियों-द्वारा बाह्य संसार से मिलता है। बुद्धि और मन इस ज्ञान में अपनी ओर से कोई चीज़ नहीं मिलाते हैं। इस मत का नाम है Sensationalism, अर्थात्, इन्द्रिय-ग्राह्यता अथवा प्रत्यक्ष-ज्ञान-मत। दूसरा मत है कि हमारा सब ज्ञान हमारे भीतर ही है। बाहर से ज्ञान के आने की कोई आवश्यकता नहीं है, बल्कि बाह्य पदार्थ कोई वस्तु ही नहीं है। बाहर की सब वस्तुएँ हमारे भीतर के ज्ञान के प्रतिबिम्ब हैं। इन वस्तुओं की सत्ता प्राकृतिक नहीं है बल्कि मनोमय है। इस मत का नाम है Idealism, अर्थात्, संविद्वाद। इन दोनों मतों से आगे बढ़कर काण्ट ने अपना एक तीसरा ही मत निकाला है, जिसका नाम है Trancendentalism। इस मत का उद्देश्य प्रमाण-हीन कल्पनावाद में सत्य और असत्य का निर्णय करना है। इस मत में यह बात तो मान ली गई है कि हमारे ज्ञान की सामग्री इन्द्रियों-द्वारा बाहर से आती है; पर जब तक इसपर बुद्धि की छाप नहीं लग जाती है, तबतक वह किसी काम की नहीं है। इस छाप के लगने पर ही वस्तुओं का रूप बनता है।

बुद्धि की तीन शक्तियाँ हैं—ज्ञान-शक्ति, कृति-शक्ति और सौन्दर्य-ग्रहण-शक्ति। पहली शक्ति के द्वारा शक्ति की खोज की जाती है। दूसरी शक्ति-द्वारा आचार-धर्म का आदर्श या औचित्य बताया जाता है और इसीसे मानवी स्वतंत्रता स्थापित होती है। तीसरी शक्ति के द्वारा प्राकृतिक सौन्दर्य का ग्रहण होता है। इन तीनों शक्तियों की परीक्षा करना और उनके कार्य निश्चित करना काण्ट के प्रधान ग्रन्थों का उद्देश्य है।

ज्ञान-शक्ति के तीन भेद हैं—प्रत्यक्ष ज्ञान, चिन्तन ज्ञान, और शुद्ध ज्ञान। प्रत्यक्ष ज्ञान में ज्ञान की सामग्री तो इन्द्रियों-द्वारा बाहर से आती है; पर बुद्धि इस पर देश-काल की छाप लगा देती है। हम नहीं कह सकते कि जो सामग्री बाहर से आती है वह क्या है? उसका रूप बुद्धि की छाप से बँधता है। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि देश और काल बाह्य पदार्थ नहीं हैं, बल्कि हमारी बुद्धि के प्रकार ही हैं। अब तक लोग यह मानते आये थे कि देश-काल मनके बाहर संसार में हैं; लेकिन काण्ट का कथन है कि यह बात सर्वथा असत्य है। उसने अभ्रान्त प्रमाणों से सिद्ध कर दिखाया है कि देश-काल मनोमय पदार्थ हैं, बाह्य नहीं। इनकी उत्पत्ति अनुभव पर निर्भर नहीं है। ये अनुभव के पहले भी हमारी बुद्धि में स्थित हैं। उदाहरण लीजिए। अनुभव होने के पहले ही बच्चा दुःख-दायक वस्तु से दूर हटता है और सुखदायक वस्तु की ओर हाथ बढ़ाता है; अतः बच्चे को पहले से ही ज्ञान है कि कौनसी चीज़ मेरे आगे है और कौनसी पीछे है। इस उदाहरण से देश-सम्बन्धी ज्ञान अनुभव से पहले का होना सिद्ध हुआ। इसी प्रकार काल में भी पहले-पीछे का ज्ञान होना सबको स्वाभाविक है। यदि ज्ञान-सीमा से सब वस्तुएँ निकाल दी जायँ, तो मन में देश-काल का ज्ञान तो रह ही जाता है। अंकगणित और रेखागणित के सिद्धान्त सार्व-कालिक और सार्व-स्थानिक माने जाते हैं। अंकगणित का काल से सम्बन्ध है और रेखागणित का देश से। यदि देश और काल मन के बाहर होते जैसा कि सर्व-साधारण मनुष्य मानते हैं, तो इन विद्याओं का ज्ञान भी अन्य विद्याओं के समान एकदेशीय होता, सर्वदेशीय नहीं। लोगों की यह बड़ी भूल है कि देश-काल को बाहरी वस्तुएँ मानते हैं। ये दोनों तो मनमें ही हैं। इन्हीं दोनों के द्वारा सब वस्तुओं का ज्ञान होता है। बाहरी वस्तुओं का क्या स्वरूप है, यह तब तक नहीं

मालूम होता जब तक इन में देश-काल नहीं मिलाया जाता और देश-काल मिलाने का काम बुद्धि का है। यदि बाहरी वस्तुओं में से देश-काल हटा दिये जायँ तो वे क्या हैं यह कोई नहीं कह सकता, और उनका स्वयं रूप क्या है यह नहीं मालूम हो सकता। परन्तु, वे कैसी दिखाई देती हैं यह हम अपनी बुद्धि-द्वारा मालूम कर सकते हैं; क्योंकि बुद्धि इन बाहरी वस्तुओं में अपनी ओर से देश-काल की छाप लगा देती है और तब यह देश-काल के साँचे में ढली हुई दिखाई देने लगती है। संसार क्या है? इसका हमें कुछ ज्ञान नहीं हो सकता; लेकिन उसके दृश्य कैसे हैं इसका ज्ञान हमें हो सकता है। फलतः हम दृश्यमान् संसार की ओर देख सकते हैं, उसके असली रूप को नहीं। अब प्रश्न यह है कि ज्ञान क्या है। मनुष्य, पृथ्वी, उष्णता आदि शब्दों को पृथक पृथक लें तो यह शब्द-ज्ञान नहीं कहलावेंगे। ज्ञान-प्राप्ति के लिए दूसरे शब्दों का सम्बन्ध होना अत्यावश्यक है; इसलिये उद्देश्य और विधेय दो वस्तुओं का सम्बन्ध होना चाहिए, क्योंकि ज्ञान में सम्बन्ध-ग्रहण बहुत आवश्यक है। उदाहरण लीजिए। मनुष्य एक उत्तर-दायी प्राणी है। पृथ्वी एक ग्रह है। उष्णता द्रव्यों को फैलाती है। ज्ञान वाक्यों के रूप में होता है। ज्ञान का रूप है सिद्धान्त-पूर्ण वाक्य। यह नहीं समझना चाहिए कि सब ऐसे वाक्य ज्ञानात्मक हैं। सिद्धान्त-पूर्ण वाक्य या प्रतिज्ञाएँ दो प्रकार की होती है, एक तो विवरण-प्रतिज्ञा और दूसरी संयोजन-प्रतिज्ञा। विवरण-प्रतिज्ञा वे हैं जो किसी शब्द का कोरा विश्लेषण करें और उसमें कोई नई बात नहीं मिलावें; जैसे मूर्तिमान वस्तुएँ विस्तृत होती हैं। इस वाक्य में विस्तृत शब्द जो विधेय है उद्देश्य में कोई नई बात नहीं बतलाता है, केवल उसका गुण ही बताता है। इस प्रतिज्ञा से कोई नई बात नहीं मालूम होती है और न हमारे ज्ञान में कुछ वृद्धि ही होती है। अब दूसरी प्रकार की प्रतिज्ञा देखिए:— पृथ्वी एक ग्रह है। यह संयोजन प्रतिज्ञा है। इसमें उद्देश्य के साथ ऐसा विधेय मिला है जिससे उसके विषय में नई बात मालूम होती है। यह बात आवश्यक नहीं है कि पृथ्वी के साथ ग्रह की धारणा हमेशा ही रहे। पृथ्वी ग्रह है इस बात को मनुष्यों ने हजारों वर्षों में मालूम किया है। अतः संयोजन प्रतिज्ञा से हमारे ज्ञान की वृद्धि, विस्तृति और महत्ता होती हैं, और ये ही ज्ञान के आवश्यक अंग हैं। यह बात विवरण-प्रतिज्ञा में नहीं है।

किन्तु एक बात और ध्यान में रखने की है। प्रत्येक संयोजन-प्रतिज्ञा में वैज्ञानिक ज्ञान नहीं रहता है, सामान्य ज्ञान तो अवश्य होता है। जिस प्रतिज्ञा में वैज्ञानिक ज्ञान होता है वह सदैव सत्य होती है। जो सम्बन्ध उसके उद्देश्य और विधेय में होता है वह आकस्मिक नहीं, बल्कि सार्वकालिक होता है। आज गर्मी है यह संयोजन-प्रतिज्ञा तो हो गई; लेकिन इसमें वैज्ञानिक ज्ञान नहीं हुआ; क्योंकि यह प्रतिज्ञा सार्वकालिक सत्य नहीं है। यदि आज गर्मी है, तो कल सर्दी हो सकती है। यहाँ उद्देश्य और विधेय का सम्बन्ध सार्वकालिक नहीं है; लेकिन यदि हम यह कहें कि गर्मी से चीज़ें फैलती हैं, तो इसमें वैज्ञानिक ज्ञान है; क्योंकि गर्मी चीज़ों को सदैव फैलाती है। यह बात किसी एक समय के लिए नहीं है, बल्कि सर्वदा सत्य है।

अब प्रश्न यह है कि यह बात कैसे मालूम हुई कि गर्मी चीज़ों को फैलाती है? क्या हमने सब चीज़ों को देख लिया है? क्या कभी ऐसा नहीं हो सकता कि गर्मी चीज़ों को न फैलावे? यह कहना कि हमने यह नियम सब चीजों को सर्वकाल में देखकर बाँधा है व्यर्थ है; क्योंकि अनुभव द्वारा हम कुछ चीज़ें ही देख सकते हैं, और सो भी सदैव नहीं। इस विषय में ह्यूम की राय ठीक है, जब अनुभव से हम किसी चीज़ को कुछ बार ही देख सकते हैं, तो अनुभव के आधार पर यह सिद्धान्त नहीं निकलता है कि यह चीज़ सदैव ही ऐसी है; इसलिए अनुभव-सिद्ध प्रतिज्ञा वैज्ञानिक ज्ञान को उत्पन्न नहीं कर सकती। सार्वकालिक सम्बन्ध या वैज्ञानिक ज्ञान सिद्ध करने के लिए प्रतिज्ञा का आधार बुद्धि पर होना चाहिए, उसमें अनुभव और बुद्धि-ज्ञान दोनों होने चाहिए। इस प्रतिज्ञा में कुछ अंश तो अनुभव से उत्पन्न होता है और कुछ बुद्धि से। गणितशास्त्र, पदार्थ-विद्या, दर्शन-शास्त्र आदि का आधार ऐसी संयोजन प्रतिज्ञाओं पर है जिनमें ज्ञान की प्राप्ति अनुभव से ही नहीं हुई है, बल्कि बुद्धि से भी। इसलिए ज्ञान की परिभाषा है बुद्धि-युक्त संयोजन-प्रतिज्ञा। और यही उत्तर इस प्रश्न का है कि ज्ञान क्या है।

अब यह बताना है कि बुद्धि-युक्त संयोजन प्रतिज्ञाएँ कैसे बनती हैं। ज्ञान होने के लिए किन किन अवस्थाओं की आवश्यकता है ? इस प्रश्न का उत्तर देना कान्ट के ज्ञान-परीक्षा-वाद का काम है।

गर्मी चीज़ों को फैलाती है इस वाक्य में दो बातें हैं-एक तो वह चीज़ जो हमें इन्द्रियों-द्वारा उपलब्ध हुई है; जैसे, गर्मी, चीज़ें इत्यादि और दूसरी वह चीज़ जो बुद्धि से प्राप्त हुई। प्रत्येक प्रतिज्ञा में ये ही दो चीज़ें होती हैं। जो इन दोनों को नहीं मानते हैं, एक को ही मानते हैं उनके लिए यह दूसरा उदाहरण है। जो मनुष्य जन्म से अंधा है उसे रंग का रूप कभी नहीं मालूम हो सकता। इस उदाहरण में रंग का रूप ज्ञात होने के लिए बाहर का अनुभव असम्भव है; क्योंकि जन्म से अंधा होने के कारण इस मनुष्य ने रंग कभी देखा ही नहीं है। यदि बाहर से अनुभव करने की आवश्यकता न होती और सब ज्ञान बुद्धि ही में होता, तो इसे रंग के रूप का ज्ञान अवश्य होना चाहिए था; लेकिन यह बात नहीं है इसलिए यह बात सिद्ध हुई कि जो लोग यह कहते हैं कि सब ज्ञान बुद्धि से ही होता है, बाहरी पदार्थों के अनुभव की कुछ आवश्यकता नहीं उनका कथन ठीक नहीं; अतः सम्विद्वाद में यही दोष है।

अब दूसरा उदाहरण लीजिए। जो मनुष्य जड़ बुद्धि है उसकी ज्ञानेन्द्रियाँ कैसीही तीव्र क्यों न हों, उस में वैज्ञानिक विचार उत्पन्न हो ही नहीं सकता। इस उदाहरण में इन्द्रियों-द्वारा बाह्य वस्तुओं के अनुभव की तो प्रधानता है; लेकिन बुद्धि का अभाव है। इस दशा में भी ज्ञान नहीं हो सकता। इसलिए यह दोष प्रत्यक्ष ज्ञानवाद में है।

बुद्धि दो भागों में विभक्त है। एक वह भाग जिसका काम बाहर से ज्ञान देना है, दूसरा वह भाग जिसका काम बाहर से ज्ञान प्राप्त करने पर विचार करना है। देश-काल का ज्ञान बुद्धि के पहले भाग से सम्बन्ध रखता है। दूसरे भाग का काम विचार करना है। इसका नाम चिन्तन बुद्धि है। यह बाहर से आई हुई सब सामग्री को १२ वर्गों में विभक्त करती है। वस्तुओं को इन बारह सम्बन्धों में लाकर बुद्धि अपनी कल्पनाएं फैलाती है। इन १२ वर्गों में ४ वर्ग मुख्य हैं। इनके नाम हैं परिणाम, गुण, सम्बन्ध और प्रकार। प्रत्येक वर्ग के तीन तीन भेद हैं। इस तरह १२ वर्ग होते हैं और इन्हीं बारह में सब प्रकार की प्रतिज्ञाएं आ जाती हैं। इन से परे कोई प्रतिज्ञा या सिद्धान्त-पूर्ण वाक्य नहीं बन सकता है। इन वर्गों का उदाहरण-सहित विवरण इस प्रकार है:—

परिणाम {
एक—गोविन्द पण्डित है।
समस्त—सब मनुष्य नाशवान हैं।
असमस्त—कुछ मनुष्य अंधे हैं।

गुण {
विधि—पशु प्राणी है।
निषेध—पाषाण प्राणी नहीं है।
पर्युदास—ईश्वर अमर है।

सम्बन्ध {
स्वतंत्र—आत्मा अमर है।
सापेक्ष—यदि आत्मा अमूर्त है तो अमर है।
वैकल्पिक—आत्मा अमूर्त है या अमर है।

प्रकार {
सम्भावना—शायद मनुष्य १०८ वर्ष से अधिक भी जी सके।
प्रतिपत्ति—आत्मा नित्य है।
आवश्यक प्रतिपत्ति—आत्मा को नित्यही होना चाहिए।

इन वर्गों से निम्न लिखित नियम निकलते हैं। ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो बुद्धि-गोचर होवे, अर्थात् जिस वस्तु का ज्ञान हो सकता है उसमें परिणाम, गुण, सम्बन्ध और प्रकार न हो और जिसमें देश-काल का समावेश न हो। इस बात को मानते हुए नीचे लिखी चीज़ें सिद्ध नहीं हो सकतीं—परमाणु, शून्य, दैव, आकस्मिकता, इन्द्रजाल आदि आदि। इन सब वर्गों में सम्बन्ध मुख्य है और इसका हेतु काल है और इसीसे कार्य-कारण शृंखला का आरम्भ होता है। इन चारों वर्गों में से परिणाम और गुण के वर्गों से वस्तु-परम्परा सिद्ध होती है और सम्बन्ध और प्रकार के वर्गों से कार्य-कारणता। हम पहले कह आये हैं कि बुद्धि के तीन भेद हैं, अर्थात् प्रत्यक्ष-ज्ञान-बुद्धि, चिन्तन-बुद्धि और विशुद्ध-ज्ञान-बुद्धि। इनमें से अबतक प्रत्यक्षज्ञान और चिन्तन-बुद्धि-विषयों का संक्षिप्त विवरण दिया है। अब विशुद्ध-ज्ञान-बुद्धि का कुछ हाल लिखते हैं। इस बुद्धि का सम्बन्ध ब्रह्म, विश्व और आत्मा से है। इन तीनों विचारों का अस्तित्व तो बुद्धि में है; पर वह यह नहीं बता सकती कि यह क्या पदार्थ है; क्योंकि बुद्धि की गम्य अनुभव से परे नहीं है और यह विषय अनुभव से परे है; अतः सृष्टि-सम्बन्धी शास्त्र, आध्यात्मिक शास्त्र और ईश्वर सम्बन्धी शास्त्र प्रमाणों

से सिद्ध नहीं है। इन्हें असिद्ध बताने में कान्ट ने बड़ी प्रबल युक्तियों का प्रयोग किया है।

यदि यह बात है तो कान्ट नास्तिक है। वह नास्तिक भी नहीं है। उसका कथन है कि ये बातें ज्ञान-शक्ति से परे हैं और बुद्धि-द्वारा इनका कभी निर्णय नहीं हो सकता है; परन्तु ये विषय कृत-शक्ति की पहुँच में हैं।

प्रकृति के नियम अटल हैं—उन्हें भोगना ही पड़ता है। पर आचार के नियम जो भलाई के लिए है ऐसे अनिवार्य नहीं हैं। मनुष्य में इस बात की स्वतंत्रता है कि वह अपने कर्त्तव्य को करे या न करे। कर्त्तव्य का उल्लंघन करना सम्भव है, असम्भव नहीं; पर उचित नहीं है; लेकिन इस प्रकार प्रकृति के नियमों को टालना सम्भव नहीं है। यहाँ पर मनुष्य की स्वतंत्रता कुछ भी नहीं है। यदि मनुष्य खड्ग से अपने हाथ काटे तो यह नहीं हो सकता कि हाथ न कटे और कष्ट न हो; क्योंकि यह प्रकृति का नियम है जो अनिवार्य है, लेकिन वह चाहे तो हाथ को काटे और चाहे न काटे। यह इच्छा पर निर्भर है। यहाँ उसको पूरी स्वतंत्रता है। इसलिए आचार तत्वों द्वारा मनुष्य का स्वातंत्र्य सिद्ध है। मनुष्य की स्वतंत्रता ज्ञान-शक्ति द्वारा सिद्ध नहीं हो सकती है; पर कृत शक्ति द्वारा हो सकती है। मनुष्य चाहे धर्म करे और चाहे अधर्म; जैसा करेगा वैसा फल पावेगा। प्रकृति की गति प्रत्यक्ष-गोचर विषय तक है, अप्रत्यक्ष वस्तुओं तक नहीं, अतः परमार्थक वस्तु में प्रकृति के नियमों का समावेश नहीं हो सकता। आत्मा अप्रत्यक्ष वस्तु है, इस तक प्रकृति की पहुँच नहीं, इसलिए वह स्वतंत्र और अमर है; क्योंकि प्रकृति के नियम स्वतंत्रता और अमरत्व के बाधक हैं और पहुँच इनकी वहाँ नहीं है।

सारांश यह है कि बुद्धि के तीन भेद हैं—प्रत्यक्ष-ग्रहण-बुद्धि जो इन्द्रियों-द्वारा बाहर के संसार की सामग्री को ग्रहण कर उसपर देश-काल की छाप लगा देती है। दूसरी चिन्तन बुद्धि जो बाहर से आई हुई सामग्री को परिणाम, गुण, सम्बन्ध और प्रकार और उनके भेद वर्गों द्वारा देखती है। जितनी चीज़ों का विचार हो सकता है वे सब इन वर्गों के भीतर आ जाती हैं। जो वस्तुएँ इन वर्गों के भीतर नहीं आती हैं वे बुद्धि-द्वारा सिद्ध नहीं हो सकतीं। तीसरी शुद्ध बुद्धि जिसमें ईश्वर, संसार और आत्मा के विचार तो हैं, पर उसमें इन्हें सिद्ध करने की शक्ति नहीं है। शुद्ध-बुद्धि के विचारों में बाहर से कोई सामग्री नहीं आती है; क्योंकि ईश्वर संसार और आत्मा के रूपों का ज्ञान बाहर से नहीं आ सकता है; इसलिए इनका ज्ञान, बुद्धि द्वारा नहीं हो सकता। पूर्वोक्त दो बुद्धि रूपों में अर्थात् प्रत्यक्ष-ग्रहण-बुद्धि और चिन्तन-बुद्धि में बाहर से सामग्री आना निश्चित हो चुका है और इसलिए उन वस्तुओं का बुद्धि द्वारा ज्ञान होना भी निश्चित है; पर शुद्ध बुद्धि में तो कोई सामग्री बाहर आ ही नहीं सकती; इसलिए उसके विचार-विषयों का निर्णय होना असम्भव है। यही बात उपनिषदों में:—

> नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
> यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुऽस्वाम्॥

अर्थात्, यह आत्मा न वेदाध्ययन से, न बुद्धि से और न अनेक शास्त्रों के पढ़ने से ही प्राप्त होती है। जिस पर ईश्वर कृपा करता है यह उसीको प्राप्त होती है।

कृति-शक्ति जिसका सम्बन्ध आचार से है स्वतंत्र है। ज्ञान-शक्ति परतंत्र है। हम चाहें तो धर्म करें और चाहें न करें, यह बात हमारी इच्छा पर है। इसलिए इच्छा स्वतंत्र है। बुद्धि परतंत्र है; क्योंकि बुद्धि के सामने जो कुछ आवेगा उसे उसपर विचार करना ही पड़ेगा। वह प्राकृतिक नियमों से जकड़ी हुई है और यह नियम जैसा कि हम कह चुके हैं अनिवार्य है। इच्छा पर नियमों का कुछ प्रभाव नहीं है, इसलिए इच्छा बुद्धि से उच्च श्रेणी की है और स्वतंत्र है। इच्छा के द्वारा हम ईश्वर और आत्मा की स्वतंत्रता सिद्ध कर सकते हैं। जब स्वतंत्रता सिद्ध हो गई, तो यह कहना व्यर्थ है कि ईश्वर और आत्मा परिणाम, गुण, सम्बन्ध और प्रकार की शृंखलाओं से आबद्ध हैं।

कान्ट का मत वेदान्त-सिद्धान्तों से कुछ कुछ मिलता है; पर इसके उत्तराधिकारी फ़िक्टे का मत सर्वथा वेदान्त है; क्योंकि उसने वे सब त्रुटियाँ निकाल डाली हैं जो कान्ट के मत में रह गई थीं। यदि अवकाश मिला, तो हम फ़िक्टे के दार्शनिक विचारों का भी दिग्दर्शन कभी करावेंगे।



हिन्दी-संग्रह †

(समालोचना)

(लेखक—पं० कामताप्रसाद गुरु, एम. आर. ए. एस.)

बड़े हर्ष की बात है कि प्रयाग-विश्व-विद्यालय ने कई वर्षों की कड़ी रगड़ के पश्चात् प्रवेशिका-परीक्षा के परीक्षा-र्थियों का पिंड 'रामकहानी' से छुड़ा दिया, और सन् १९२० में इस सर-कार-सम्मानित पुस्तक का ताँता टूट गया। अब १९२१ के तथा अगले वर्षों के परीक्षार्थियों को बाबू श्याम-सुन्दरदास सम्पादित राम-चरित-मानस के संक्षिप्त संस्करण के अतिरिक्त एक नये संग्रह में परीक्षा देनी होगी जिसके विषय में मैं यह लेख लिखने का साहस करता हूँ। इस संग्रह के साथ पं० द्वारकाप्रसाद चतुर्वेदी के गद्य-पद्य-संग्रह का भी त्याग होता है।

इस नये संग्रह में सबसे विचित्र एक बात यह है कि हिन्दी में इसका कोई नाम नहीं है। पुराने संग्रहों का रूप कुछ भी रहा हो, पर उनका नाम तो था; चाहे 'रामकहानी' से वक वक की और 'गद्य-पद्य-संग्रह' से विनोद की ध्वनि निकलती रही हो! पर इस नये संग्रह में नाम का अभाव तो है ही, साथ ही रूप में भी (जैसा कि आगे प्रकट होगा) वह चितवन नहीं है (जेहि बस होत सुजान)।

समालोच्य पुस्तक के काल-क्रमानुसार संस्थापक और सम्पादक म्योर सेन्ट्रल कालेज, प्रयाग के अध्यापक श्रीयुत अमरनाथ झा, एम० ए०, हैं, और हिन्दी प्रस्तावना-लेखक हैं लाला सीताराम, बी० ए०, एफ० ए० यू०। तथापि दोनों महाशयों में से किसी एक को भी इस बात की सुध न रही कि पुस्तक का नाम-निर्देश हिन्दी में तो कर देते अथवा उसके अंग्रेज़ी नाम ही का भाषानुवाद कर देते। सम्पादक महाशय ने अपनी भूमिका अँगरेज़ी में लिखी है। इसलिए उनसे यह आशा नहीं की जा सकती कि वे हिन्दी में भी कुछ लिखें अथवा लिख सकें, क्योंकि इस संग्रह में उनकी कृति केवल यही अँगरेज़ी भूमिका दिखाई पड़ती है। ऐसी अवस्था में लाला जी का हिन्दी में भूमिका लिख देना ही सौभाग्य का विषय है। अँग्रेज़ी में इस संग्रह का नाम "हिन्दी सलेक्शन्स इन प्रोज़ एण्ड पोइट्री" है। हमने इसका अर्थ संक्षेप में करके पुस्तक का नाम "हिन्दी-संग्रह" रख लिया है, क्योंकि बिना नाम की किसी भी वस्तु का वर्णन करने में वैसी कठिनाई है जैसी उस लड़के को हुई जो अपने मालिक का नाम और "ऊँट" शब्द नहीं जानता था। अस्तु।

सम्पादक महाशय अपनी अँगरेज़ी भूमिका में उन सिद्धान्तों का उल्लेख करते हैं जिनके आधार पर यह संग्रह रचा गया है। उन सिद्धान्तों में से मुख्य सिद्धान्त ये हैं—

(क) निर्दोष लेखों का संग्रह कठिन काम है।

(ख) हिन्दी-संग्रह में लेख काल-क्रमानुसार दिये गये हैं।

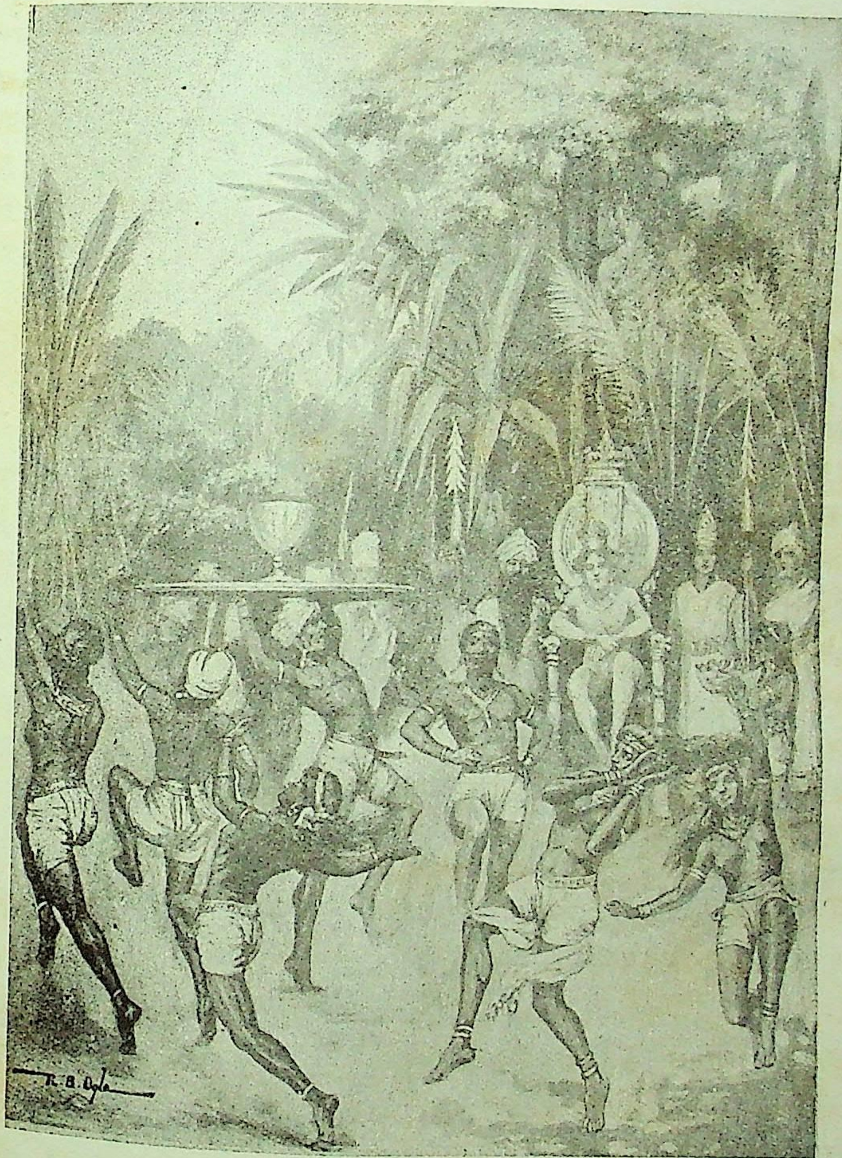
(ग) लेख विविध विषयों पर हैं; यथा, पुराण, इतिहास, तत्वज्ञान, साहित्य, गल्प, नीति और दन्तकथा।

(घ) साहित्य के किसी भी विशेष अंग पर लिखने वाले अथवा किसी विशेष विचार-प्रकृति का प्रचार करने वाले प्रतिनिधि लेखकों के ही लेख इस संग्रह में हैं।

(ङ) जिन लेखकों के लेख लिये गये हैं उनके विषय में कुछ नहीं कहा गया और न उनकी योग्यता के विषय की विवाद-ग्रस्त बातों का उल्लेख किया गया है।

सबसे पहले सम्पादक महाशय के इन सिद्धान्तों की साधारण समीक्षा कर लेना उचित होगा।

† Hindi Selections in Prose & Poetry.



महाराज अशोककी राजसभामें विजयोत्सव।

लक्ष्मी आर्ट, बंबई, नं. ८

(१) निर्दोष लेखों का संग्रह करना सचमुच में एक कठिन काम है; पर आज कल बाज़ार में इतने संग्रह भरे पड़े हैं कि भानमती का कुनबा तो सहज में जोड़ा जा सकता है और थोड़ी भी बुद्धि से काम लेने वाला व्यक्ति एक साधारण-तया निर्दोष संग्रह अल्प परिश्रम से तैयार कर सकता है। हमारी समझ में सम्पादक महाशय का काम उतना कठिन नहीं रहा जितना वे उसे समझते हैं। उनके संग्रह में कई लेख पूर्ववर्त्ती संग्रहों से लिये गये हैं। जो अंश उनके निज संग्र-हीत हैं उनमें महाश्वेता की कथा न तो शिष्ट विषय की दृष्टि से और न शुद्ध भाषा की दृष्टि से संग्रहणीय है। अन्तिम गद्य-लेख "कौन गा रहा है" इतना गूढ़ है, उसके विचार इतने असम्बद्ध हैं, और उसमें इतना शब्द-जाल है कि प्रवेशिका के परीक्षार्थी संभवतः उसे न समझ सकेंगे। उसमें किसी प्रकार की मनोरंजकता भी नहीं है। ऐसी अवस्था में हमें भी सम्पादक महा-शय की हाँ में हाँ मिलाकर यही कहना पड़ता है कि निर्दोष लेखों का संग्रह सचमुच में बड़ा कठिन काम है। जान पड़ता है कि सम्पादक महाशय के लिए यह काम बहुत ही कठिन रहा है, विशेष कर जब इस बात का विचार किया जाता है कि आप को 'शिवसिंह सरोज' की प्रति लाला सीतारामजी से मिली थी, और अपनी पुस्तक में आपने हिन्दी में एक शब्द भी नहीं लिखा।

(२) सम्पादक महाशय ने इस संग्रह में कदा-चित् अनेक विषयों के लेख देने का विचार किया था; पर जितने विषयों का नामोल्लेख उन्होंने अपनी अँग्रेज़ी भूमिका में किया है उतने विषय इस संग्रह में नहीं आये। गद्य-भाग में शुद्ध साहित्य और दन्त-कथाओं का सर्वथा अभाव है। हाँ, पद्यभाग में सूर्यग्रहण पर अन्योक्ति को खींच तानकर साहित्य मान सकते हैं, पर उसमें भी दन्तकथा के अभाव का पूरा भाव है। गल्प के नाम से महाश्वेता की गिनती हो सकती है, पर इस प्रकार के विषय हिन्दी में बहुधा पौराणिक ही माने जाते हैं। जान पड़ता है कि सम्पादकजी ने विषयों की सूची कदाचित् लेखों के संग्रह के पूर्व ही बना ली थी और फिर सूची और संग्रह का मिलान करना आप भूल गये।

लेखों के परिमाण के विषय में भी आपने विशेष मनोयोग से काम नहीं लिया। गद्य और पद्य के लेखों के लिए आपने बराबर बराबर पृष्ठ दिये हैं; पर यह न सोचा कि जितने समय में गद्य के दो पृष्ठ पढ़े जा सकते हैं उतने में पद्य का आधा पृष्ठ भी पढ़ना कठिन है। जब पद्य की एक अलग पूरी पुस्तक पढ़ने के लिए नियत है तब संग्रह में इस विषय का भाग गद्य से भी अधिक रखने की क्या आवश्यकता थी? फिर, आपने लेखकों के साथ भी अन्याय किया है। गद्य में आपको दिये गये आश्रय-दान की मात्रा इस प्रकार है:—

(१) सदल मिश्र	... ½	पृष्ठ
(२) लल्लूजी	... १५½	,,
(३) लक्ष्मणसिंह	... ६	,,
(४) गदाधरसिंह	... ७½	,,
(५) 'छत्तीसगढ़-मित्र'	... ७	,,
(६) जगन्नाथदास	... १३½	,,
(७) कार्तिकप्रसाद	... १७	,,
(८) श्यामसुन्दरदास	... ६	,,
(९) महावीरप्रसाद द्विवेदी	१०½	,,
(१०) रूपनारायण पांडे	... ५	,,
कुल	८८	,,

इस तालिका से जान पड़ता है कि आपने नं० २ और नं० ७ पर विशेष कृपा की है। लल्लू जी पर आपकी अतुल दया का कारण उनकी प्राचीनता हो सकती है, और कार्त्तिकप्रसादजी पर आप कदाचित् इसलिए मोहित हैं कि इन लेखक ने हिन्दी को पचमेल उपन्यासों से भर दिया है। पद्य में आपने अपने आश्रय-दाताओं की सृष्टि में और भी दया-दृष्टि की वृद्धि की है।

पद्य-भाग में आपकी बरसात के इंचों का हिसाब इस प्रकार है:—

(१) कबीरदास	…	½
(२) सूरदास	…	१
(३) मीराबाई	…	½
(४) रहीमकवि	…	½
(५) रसखान	…	१
(६) केशवदास	…	२१
(७) तुलसीदास	…	१५
(८) विहारीलाल	…	२
(९) मतिराम	…	१
(१०) भूषण	…	३
(११) मधुसूधनदास	…	½
(१२) रामचन्द्र	…	१
(१३) पद्माकर	…	½
(१४) राजा लक्ष्मणसिंह	…	½
(१५) भारतेन्दु हरिश्चन्द्र	…	३
(१६) बद्री (बदरी?)नारायण	…	½
(१७) प्रतापनारायण मिश्र	…	१
(१८) नाथूराम शंकर शर्मा	…	२
(१९) लाला सीताराम	…	११½
(२०) महावीरप्रसाद द्विवेदी	…	३½
(२१) राय देवीप्रसाद पूर्ण	…	१
(२२) अयोध्यासिंह उपाध्याय	…	२½
(२३) मैथिलीशरण गुप्त	…	६½
(२४) रामचरित उपाध्याय	…	१½
(२५) चन्द कवि	…	१
कुल		८२

इस सूची में १० था इससे ऊपर पृष्ठ केवल तीन भाग्यशाली कवियों को प्राप्त हुए हैं—केशवदास २१, तुलसीदास १५, और लाला सीताराम ११½। मालूम नहीं, लालाजी का आधा नम्बर घटाया गया है या बढ़ाया गया है। यह या तो प्रस्तावना लिखने का पुरस्कार हो सकता है अथवा खद्योती कविता के कारण काटा गया हो। कुछ भी हो, इस सूची में पं० श्रीधर पाठक का नाम न पाकर पाठक लोग सम्पादक महाशय की रुचि की प्रशंसा नहीं कर सकते। पाठकजी 'उडुगण' से किसी प्रकार कम नहीं हैं और जब प्रस्तावना-लेखक के मतानुसार "खद्योतों से अँधेरी रात की शोभा बढ़ जाती है" तब पाठकजी के प्रकाश का अभाव और भी खलता है। जिस महानुभाव ने बोलचाल की कविता का पथ परिष्कृत किया, जिसने ब्रजभूमि में जन्म लेकर शुद्ध ब्रज-भाषा की मनोहर रागिनी सुनाई, उसके विषय में इतनी विस्मृति! जिन द्विवेदीजी की कविता का संग्रह करके सम्पादकजी ने अपने संग्रह को धन्य माना होगा उन्होंने पाठकजी की छन्दो-बद्ध स्तुति की है। तब भी क्या पाठकजी प्रतिनिधि लेखक (कवि) नहीं हैं? फिर जब ब्रज के मोर की केका सम्पादक महाशय को नहीं सुनाई पड़ी, तब मध्यप्रदेश के कवि और लेखकों का पता लगाना तो आप के लिए विन्ध्यारोहण के समान दुस्तर कार्य है। अस्तु।

(३) सम्पादक महाशय ने किसी किसी लेखक और कवि के दो-दो तीन-तीन अंश संगृहीत किये हैं। इस प्रणाली का कारण हमारी समझ में यही प्रतीत होता है कि "येन केन प्रकारेण स्थानं पूरयेत्"। यदि ऐसा न होता तो एक प्रतिष्ठित कवि अथवा लेखक के बदले ऐसेही दो वा तीन सज्जन आपके संग्रह में स्थान पा जाते, और मनोरंजन के लिए भाषा-शैली तथा विचार-प्रवृत्ति की विविधता प्राप्त हो जाती।

(४) संग्रह में कवियों तथा लेखकों का परिचय न दिये जाने से यह हानि हुई है कि रामचन्द्र सरीखे अपरिचित कवि का पता नहीं लग सकता और न बहुधा यह जाना जा सकता है कि कौन सा अंश किस ग्रंथ से लिया गया है। पुस्तक के आदि में जो विषय-सूची दी गई है, उसमें लेखकों, ग्रंथों और विषयों के नामों में बहुत अव्यवस्था है। अधिकांश स्थानों में विषयों के साथ लेखकों के नाम दिये गये हैं; पर "दिल्ली" नामक विषय के साथ "छत्तीसगढ़ मित्र से" लिखा गया है और "प्राचीन हिन्दी भाषा के कुछ उदाहरण" में एक जगह केवल लेख का

नाम है, लेखक का नहीं और दो स्थानों में केवल लेखकों के नाम हैं, लेखों के नहीं। फिर ये सब नाम आगे पुस्तक में बहुधा विरुद्ध क्रम से दिये गये हैं। लेखकों के नामों में साधारणतया आदर-सूचक उपसर्ग नहीं हैं; पर लक्ष्मणसिंह के साथ "राजा," देवीप्रसाद के साथ "राय" और प्रस्तावना-लेखक तथा "रघुवंश" के कर्ता, सीताराम के साथ "लाला" शब्द आया है। पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी एक जगह "पं०" और दूसरी जगह कोरे हैं! प्रायः नामों की इसी प्रकार की अव्यवस्था पुस्तक के विषयों के साथ भी है। "दिल्ली" विषय के साथ "छत्तीसगढ़-मित्र" लिखा गया है जिससे यह भ्रम हो सकता है कि यह लेखक का नाम है। फिर इस नाम के बाद एक कामा (,) भी आ गया है! इस विषय के अधिक उदाहरण देने की आवश्यकता नहीं है; पर यह कह देना आवश्यक जान पड़ता है कि सम्पादक महाराज ने अपनी एकमात्र अँग्रेज़ी-भूमिका में इस प्रकार की भूलों की सम्भावना की कल्पना ही नहीं की, फिर उनके लिए क्षमा माँगने की बात तो दूर रही।

लाला सीतारामजी ने अपनी प्रस्तावना में दो तीन महत्त्वपूर्ण बातें लिखी हैं जिनपर विचार करना आवश्यक है। आप एक जगह लिखते हैं कि बुन्देलखंड (बुँदेलखण्ड) में "तीता" भीगे को कहते हैं और यहाँ (?) तीता कड़ुवे के अर्थ में प्रयोग किया जाता है; पर कौन कहेगा कि पद्माकर भाषा का महाकवि नहीं है? लालाजी के इस कथन से यह ध्वनि निकलती है कि यदि किसी हिन्दी भाषी प्रदेश में संयुक्तप्रदेश (विशेष कर आपके प्रयाग) के शब्दों से भिन्न शब्दों का प्रचार हो तो वहाँ के कवियों को महा-कवि मानने में सन्देह हो सकता है। पर आप इस बात का विचार नहीं करते कि प्राचीन कविता की सर्वमान्य भाषा ब्रजभाषा है और अवधी की अपेक्षा बुँदेलखण्डी उससे अधिक सादृश्य रखती है। यदि शब्दों की भिन्नता ही हीनता का कारण हो तो आपके लिखे "कड़ुवे," 'भाँट,' 'हेराना' आदि शब्द एकदेशीय होने के कारण आपके महाकवि होने में सन्देह उपस्थित कर सकते हैं। आप के कुछ वाक्य भी ऐसे हैं जिनका अर्थ दूसरे स्थान वाले सरलता से नहीं समझ सकते। आपने लिखा है कि "हमारी हिन्दी-भाषा का साहित्य किसी सभ्य भाषा वाले से घटा नहीं है"। इस वाक्य का क्या अर्थ है? क्या आप साहित्य की तुलना साहित्य के बदले मनुष्य से कर रहे हैं? सभ्य भाषा वाले से साहित्य "घटा" कैसे होता है? क्या यह साहित्य प्रतिदिन घट रहा है?

क्या इस प्रकार की ऊटपटाँग रचना करने से लेखक की प्रतिष्ठा की हानि नहीं होती? भूमिका-कार महाशय आगे चलकर एक दूसरी ही कथा सुनाते हैं। आपका कथन है कि "जिनकी मति शिक्षा-प्रणाली के दोष से भ्रष्ट हो रही है वह अँगरेज़ी टेनीसन के आगे रामायण नहीं पढ़ते... ....और एक प्राचीन संस्कृत-वाक्य के अनुसार शिक्षित कहे जाने पर भी बिना सींग-पूँछ के पशु बन जाते हैं।" खेद है कि आपका यह मत प्रस्तुत संग्रह के सम्पादक पर बहुत कुछ घटित होता है; क्योंकि ये महाशय अपनी भूमिका अँगरेज़ी में लिखते हैं और उसमें भी केवल हर्टली कालरिज की दुहाई देते हैं।

लेख बहुत बढ़ रहा है; इसलिए अब हम केवल संगृहीत अंशों की उपयुक्तता तथा पुस्तक की छपाई आदि पर ही विचार करेंगे।

सम्पादकजी ने गद्य में प्रेमसागर से लगभग १६ पृष्ठों की सामग्री ली है जो बाबू कार्तिकप्रसाद के लेख को छोड़कर अन्य सब लेखों से अधिक है। लल्लूजीलाल के लेख विशेषतः भाषा की प्राचीनता और शैली दिखाने के विचार से लिये जाते हैं; अतएव समालोच्य संग्रह में इनकी संख्या कम की जा सकती थी। इसलिये "युधिष्ठिर के यज्ञ" का प्रथम अध्याय किसी भी प्रकार की हानि के बिना, वरन लाभ की दृष्टि से, छोड़ा जा सकता था। यहाँ यह बताने की आवश्यकता नहीं है कि इतना अंश

सर्वथा अनावश्यक और अनुपयुक्त है। सातवें और ग्यारहवें गद्य-अंशों के विषय में कहीं पहले कहा जा चुका है। वहाँ हम यह भी बता चुके हैं कि गद्य-भाग में विषयों की विशेष विविधता नहीं है। पद्य-भाग में बहुधा एक एक कवि के एक से अधिक अंश लिये गये हैं। उदाहरणार्थ सूरदास का एक पद्य "वर्णन" और दूसरा "बालकृष्ण" लिया गया है। पिछले अंश में श्रीकृष्णजी के बालपन का संक्षिप्त वर्णन है; पर वह इतना अशुद्ध छपा है कि उसमें जो कुछ सुन्दरता है वह भी नष्ट हो गई है। "पुराणमित्येव न साधु सर्वम्" के अनुसार सूरदासजी की प्रत्येक पंक्ति मनोहर नहीं हो सकती और यदि मनोहर भी हो तो भी वह सभी अवस्था के पाठकों को रुचिकर नहीं हो सकती। यदि सूरदास का ऐसा ही (दूसरा) अंश देने की आवश्यकता ही थी, तो नीचे लिखा अंश संभवतः बहुत ही उपयुक्त होता—

'मातु मोहिं दाऊ बहुत खिझायो।
मोसों कहत मोल को लीन्हो तोहि जसुमति कब जायो।' केशवदास को २१ पृष्ठ देने में भी कोई सिद्धान्त नहीं दिखाई देता। जब हम देखते हैं कि तुलसीदास जी को १५ पृष्ठ दिये गये हैं और उनकी "विनय-पत्रिका" से कुछ भी नहीं लिया गया तब हमें इस संग्रह के "मनमौजीपन" का पूरा विश्वास हो जाता है।

इस संग्रह की छपाई साहित्यक दृष्टि से असन्तोषदायक है। पुस्तक में जहाँ-तहाँ मात्राएँ टूटी हैं, विराम-चिह्नों का दुरुपयोग है और वर्ण-विन्यास अनिश्चित तथा अशुद्ध है। पिछले दो प्रकार की भूलों के लिए हम इस संग्रह के दो-एक अंश जैसे के तैसे उद्धृत करते हैं:—

(क) "तीन दिन में वह विमान अयोध्या के पास पँहुचा तब श्रीरामचन्द्र की आज्ञा से हनूमानजी ने जाकर भरत जी से श्रीरामचन्द्र के आने का समाचार कहा; जिसे सुनकर भरत, वशिष्ठ और माता आदि परिवार तथा प्रजा-वर्ग के साथ चौदह वर्ष के बिछुड़े हुए भाई से मिलने के लिये चले।"

(ख) "उस अवसर पर एक व्याध ने दूर से यह जानकर कि कोई मृग है, उनके पाँव में एक बाण मारा; जब निकट आकर उसने श्रीकृष्ण को देखा डर से काँपने लगा। किन्तु श्रीकृष्णजी ने उससे यह कहकर कि तुम डरो मत, जो होना होता है वही होता है, तुम्हारा कुछ दोष नहीं है। उसको धैर्य धराया और आप परम धाम को पधारे।"

गद्य-भाग में जो लेख संग्रहीत हैं उनमें मौलिक लेख कदाचित् एक भी नहीं है। सम्पादक महाशय भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को किसी शैली का प्रवर्तक नहीं मानते; पर रूपनारायण पांडे आपकी समझ में हिन्दी की लेख-शैली में युगान्तर उपस्थित करते हैं! कदाचित् इसी विचार से आपने हरिश्चन्द्र के गद्य का कोई उदाहरण नहीं दिया, और पाण्डेयजी की गद्य-शैली से वह लेख चुना है जो कई शिक्षकों की भी समझ में नहीं आता। पद्य में जो अंश चुने गये हैं उनमें अधिकांश पौराणिक हैं और कई एक, जैसे, नं० १४, १५, १६ और १७ साधारण कविता के उदाहरण हैं। पद्य-भाग में वर्ण-विन्यास, यति आदि के अनेक दोष भरे पड़े हैं। उदाहरणार्थ, वृद्धावस्था (नं० २०) में अधिकांश छन्दों-भंग-दोष से पूर्ण हैं जिसे संपादक महाशय सुधार न सके।

अन्त में इस पुस्तक के सम्बन्ध में हमारा यही वक्तव्य है कि यह संग्रह किसी भी विषय में आदर्श नहीं कहा जा सकता। यदि इस पुस्तक के अंशों को पढ़कर विद्यार्थी उनके लेखकों के उसी विषय के अथवा अन्यान्य विषयों के और और लेख पढ़ना चाहें तो उन्हें यह पता नहीं लग सकता कि वे अंश कहाँ मिलेंगे। जान पड़ता है कि सम्पादक महाशय को जो अंश जहाँ जैसा मिल गया उसे वहाँ से वैसा उठाकर उन्होंने संग्रह में रख दिया। प्राचीन हिन्दी के उद्धरणों में यह कमी और भी खटकती है। विश्वविद्यालय की चुनी हुई पाठ्य-पुस्तक में जो गुण होने चाहिए उनके शोचनीय अभाव से इस पुस्तक की उपयुक्तता

बहुत कम हो गई है। बहुत अच्छा हो यदि प्रयाग विश्वविद्यालय इस संग्रह का चक्र एक से अधिक बार न चलावे, नहीं तो साहित्य-क्षेत्र में संहार हो जाने की आशंका है।

महाराष्ट्र-केसरी महाराज छत्रपति शिवाजी।

(लेखक—रायसाहब पं० रघुवरप्रसाद द्विवेदी, बी०ए०)

श्रीयुत शेषाद्रि वासुदेव रड्डी ने अभी हाल ही में महाराज छत्रपति शिवाजी की एक वृहत् जीविनी लिख कर प्रकाशित की है। पुस्तक अँग्रेज़ी में है। लेखक महाशय का मत है कि शिवाजी को इस्लाम धर्म का शत्रु तथा मुसलमानों का कट्टर विरोधी मानना बड़ी भूल है। बात यह है कि शिवाजी दक्षिण के हिन्दू—मुसलमान दोनों को मुग़लों के अधिकार में नहीं आने देना चाहते थे। उनका विरोध मुसलमानों से नहीं, बरन मुग़ल—सत्ता के दक्षिण में प्रस्थापित होने में था। दक्षिण के हिन्दू-मुसलमानों को वे अपने देश-बान्धव और मुग़लों को विदेशी समझते थे; इसीसे उनका विरोध करने को वे कमर कस कर खड़े हुए थे। बीजापुर, गोलकुंडा आदि के मुसलमान सुलतान बिलकुल हिन्दुस्थानी हो गये थे, और अपने राज्य में हिन्दू और मुसलमानों को एक से एक बड़े पद देते थे। विदेशी मुसलमानों की फ़ौज रखकर वे मुग़लों के समान हिंदू राज्यों को अपने वश में नहीं करते फिरते थे। वे अपनी राज-सत्ता इन विदेशी सिपाहियों के भरोसे नहीं चलाते थे, बरन् अपनी हिन्दू-मुसलिम प्रजा को सन्तुष्ट रखकर वे उसे सुदृढ़ बनाये हुए थे।

जिस प्रकार चाँदबीबी, मलिक अम्बर प्रभृति मुसलमानों ने दक्षिण में मुग़लों का प्रवेश अवरुद्ध करने का प्रयत्न किया था, उसी प्रकार शिवाजी ने भी उनके साथ लोहा लेना उचित समझा था। ऐसा करना मुसलमानों का विरोध करना नहीं कहा जा सकता जैसी कि साधारण लोगों की धारणा हो गई है। लोग तो यहाँ तक समझ बैठे हैं कि मुसलमानी सत्ता का नाश करने के लिए ही शिवाजी का अवतार हुआ था। बात इतनी थी कि मुग़लों का साम्हना जिस तरह दक्षिण के अन्यान्य सत्ताधारी मुसलमानों ने किया था; पर बीजापुर और गोलकुंडा के मुसलमान सुल्तानों को औरंगज़ेब ने अन्त में परास्त किया; पर वह शिवाजी को न दबा सका और इसी उपद्रव में अवकाश पाकर उन्होंने अपना राज्य जमा लिया। दक्षिण के मुसलमानों को भी मुग़लों से वैसी घृणा थी जैसी हिन्दुओं को थी और मुग़ल लोग भी जब किसी स्थान पर विजयी होते थे, तो हिन्दुओं के समान मुसलमानों को भी अपना गुलाम बना कर बेच डालते थे।

शिवाजी इस्लाम धर्म मात्र के विरोधी न थे। इस बात का एक यह भी प्रमाण है कि वे अपनी सेना में बहुतेरे मुसलमान सरदार और सिपाही रक्खे हुए थे। आप के नौ विभागों में दो प्रधान सरदार थे जिनमें से एक मुसलमान था। क्या कोई मुसलमानों का कट्टर विरोधी कभी किसी मुसलमान को एक ऐसे उच्च पद पर नियुक्त कर सकता है ? साथ ही, उन्होंने अपने दरबार, सेना आदि में मुसलमानी पदवियाँ भी रक्खी थीं जो इस विरोध को अप्रमाणित करती हैं। आपने एक मुसलमानी राज्य बीजापुर की रक्षा भी,

औरंगज़ेब के विरुद्ध, दिल खोल कर की थी और निज़ामशाही सरकार की संस्थाओं का पुनरुद्धार किया था। क्या मुसलमानी धर्म का एक कट्टर विरोधी ऐसा कर सकता है? वास्तव में दक्षिण के मुसलमानी राज्यों से मराठे बड़े प्रसन्न रहा करते थे और मुसलमानों के साथ भाई भाई का व्यवहार रखते थे। वे इन राज्यों के पक्ष में मुग़लों से बराबर लड़ते थे। इन सब बातों से यही निष्कर्ष निकलता है कि शिवाजी इस्लाम के विरोधी न थे, थे तो केवल मुग़लों की स्वातंत्र्यापहारिणी नीति के जिसके वशीभूत होकर औरंगज़ेब और उसके पूर्वभूत दिल्लीश्वर दक्षिण को भी अपने वश में लाना चाहते थे। प्रान्तीय देश-प्रेम ने ही शिवाजी को मुग़लों का शत्रु बनाया था, न कि उनकी धर्म्मान्धताने।

शिवाजी की कीर्ति का एक बड़ा आधार--रूपस्तंभ उनकी संगठन-शक्ति है जिसके भरोसे उन्होंने राज्य जमाया और अपनी वंश-परम्परा स्थापित की थी। प्रबन्ध-कार्य्य में भी वे पूर्ण कुशल थे। उनका राज-प्रबन्ध एक प्रधान सचिव और ८ अमात्यों के द्वारा चलाया जाता था। यह कार्य-कारिणी-समिति आपकी कैबिनेट थी। ये अमात्य वे ही होते थे जिनमें जनता का विश्वास होता था जिससे वे प्रजा-प्रतिनिधि माने जा सकते हैं। यह देख कर स्वीकार करना होगा कि शिवाजी ने अपने राज्य में थोड़ी बहुत प्रजा-तंत्र नीति का प्रचार किया था। हाँ, अन्य सैनिक शासकों के समान शासन के सब सूत्र वे अपने हाथों में रखना चाहते थे। आपने ग्राम्य पंचायतें तो जैसी की तैसी रक्खी थीं; पर पटैलों के अधिकार कम कर दिये थे और गाँवों की भीतें गिरवा दी थीं जिससे ग्राम्य जनता अपने पटैलों के नेतृत्व में कभी विद्रोह न कर सके। इस कार्य को कोई कोई बुरा भी कह सकते हैं जो ग्राम्य स्वतंत्रता के बड़े पक्षपाती हैं। जो हो, पर मुसलमानी काल में ऐसा कोई दूसरा हिन्दू राजा नहीं हुआ जिसने इस रीति से कई नई नई संस्थाएँ स्थापित कर अपना राज-प्रबन्ध चलाया हो।

आचार-नीति की दृष्टि से देखने पर भी हमें शिवाजी को बहुत ऊँचा आसन देना होगा। जिन पर वे विजय प्राप्त करते थे उनकी स्त्रियों, बच्चों तथा साधुओं का अपमान नहीं होने देते थे, चाहे वे हिन्दू हों या मुसलमान। उन्होंने कभी किसी मस्जिद या क़बर को ढाने की आज्ञा नहीं दी, यद्यपि औरंगज़ेब की हिन्दू मन्दिरों तथा मूर्तियों को नष्ट करने की नीति को देख कर ऐसा करना स्वाभाविक समझा जा सकता था। शिवाजी न्यायी भी बड़े थे। उनके सैनिकों को सब चीजें दाम देकर मोल लेनी पड़ती थीं। वे किसी प्रकार का अत्याचार नहीं करने पाते थे। अपने शत्रु की प्रजा के साथ भी उनका यही व्यवहार रहता था। इसी न्याय-बुद्धि से प्रेरित होकर आपने राजापुर में ईस्ट इंडिया कम्पनी की क्षति की पूर्ति की थी; क्योंकि सन् १६६० में उनके सैनिकों ने कम्पनी को कुछ हानि पहुँचाई थी।

नौ-विभाग का प्रबल संगठन करके शिवाजी ने बहुत बड़ी योग्यता प्रदर्शित की। उनके पूर्व न तो मराठी राष्ट्र था, न राज्य और न पोत-समूह; पर उनकी मृत्यु के पूर्व तीनों का संगठन होकर उनकी उन्नति उच्च सीमा को पहुँच चुकी थी। इस पोत-समूह के द्वारा उन्होंने पश्चिम-

समुद्र-तट पूर्णतया अधिकृत कर लिया था। हाँ, जंजीरा वालों को वे भी परास्त नहीं कर सके थे।

श्रीयुत रड्डी ने अपने चरित्र-नायक को किसी देवता का अवतार नहीं माना और न उनके चरित्र में उन्होंने गुण ही गुण बतलाये हैं। आपने स्वीकार किया है कि शिवाजी के चरित्र में कई नैतिक दोष भी थे। आपके कई कार्य्य ऐसे थे जो आदर्श-नीति की दृष्टि से नीचे दीख पड़ते थे; पर आत्म-रक्षा तथा प्रान्तीय देश-प्रेम की दृष्टि से देखो तो आवश्यक होने से किसी प्रकार क्षम्य भी थे।

इस देश के इतिहास में शिवाजी का कौनसा पद है इस बात का निर्णय आपने नहीं किया। क्या शिवाजी इस देश के उत्तम शासक अशोक, अकबर आदि के समकक्ष थे अथवा इनसे भिन्न श्रेणी के महान् पुरुषों में से थे? इस प्रश्न का उत्तर देना तनिक कठिन बात है। वास्तव में शिवाजी के महत्व को लोग अभी अभी स्वीकार करने लग गये हैं जिसका यश हमारे ही देश-बान्धवों तथा कतिपय अंग्रेज़ लेखकों को है, नहीं तो पहले इतिहास-सामग्री पूरी पूरी न मिलने से अंग्रेज़ ऐतिहासिकों को भी मुसलमान लेखकों के ग्रन्थों का सहारा लेना पड़ा था, जिससे उनके सम्बन्ध में लुटेरा, पहाड़ी चूहा, विश्वासघाती आदि शब्दों का प्रयोग किया जाता था। वैसे तो जितने बड़े बड़े राज्य जमाने वाले वीर पुरुष संसार में हुए हैं जिन्होंने अपने बाहुबल एवं विचक्षण बुद्धि से दूसरों पर विजय करके अपनी सत्ता स्थापित की है वे आरम्भ में ऐसा ही करते आये हैं; पर इसका मतलब यह नहीं कि उनके भले-बुरे कार्य्यों की समालोचना न की जाय, बल्कि न्याय तो यही कहता है कि बड़े से बड़े लोगों की त्रुटियाँ भी त्रुटियाँ ही हैं; अतएव "समरथ को नहिं दोष गुसाईं" कह कर हम उन्हें टाल नहीं सकते। यदि ऐसा किया जाय तो उच्चादर्श रह ही नहीं सकते और साधारण जन भ्रष्ट-चरित्र बन जा सकते हैं; क्योंकि वे यही समझने लगते हैं कि जब इतने इतने बड़े महापुरुषों का यह हाल रहा है और उनको कोई बुरा भी नहीं कहता तो वे कार्य्य भी वास्तव में इतने बुरे नहीं कहे जा सकते। इसीसे चाहे कोई महापुरुष हमारा कितना ही अधिक श्रद्धा-पात्र क्यों न हो; पर उसके दोषों को दोष ही कहना चाहिए।

इतना तो अवश्य है कि शिवाजी ने शिल्प, साहित्य तथा अन्य ललित कलाओं को उत्तेजना नहीं दी और अपने को भोज, विक्रम आदि के समकक्ष नहीं बनाया। हाँ, कवि भूषण ने तो उनके ही दरबार में आश्रय पाया था और स्वामी रामदास ने उन्हींके आश्रय में रहकर दासबोध नामक मराठी ग्रन्थ लिखा था; पर और भी किसी कवि या चित्रकार ने उनके दरबार में आश्रय पाया हो सो हम नहीं जानते।

क्यों ?

(लेखक—श्रीयुत आनन्दिप्रसाद श्रीवास्तव)

क्यों रुदन में हमको न हँसने से अधिक उल्लास हो,
जो आँसुओं का पोंछने वाला सजल दृग पास हो?
जो दे किसी के अश्रु-सिञ्चित अंक का उपधान वर,

हम क्यों न वह मूर्छा बुलावें मानता कुछ मान कर ?
संसार से प्यारा न क्यों वह स्वप्नमय संसार हो,
जिसमें मिला हमको किसी के प्रेम का उपहार हो ?
पागलपना सब भाँति सिर की स्वस्थता से वह भला,
जो दे हमें अप्राप्य अपने वैद्य प्रेमी से मिला ?
प्रभु की कृपा की प्राप्ति में बाधक अगर धन-मान हों,
तो क्योंन अतिशय प्रियहमें दारिद्र्य औ अपमान हों?
जिस मृत्यु के पश्चात् ही हो नित्य जीवन से मिलन,
क्यों प्राप्त करने को उसे यह हो उठे उत्सुक न मन ?

अबला का कर्त्तव्य।

(लेखक—श्रीयुत आत्माराम देवकर)

(१)

भानुमती विधवा थी। वह अपने छोटे से 'शिशु' के साथ मातृ-गृह-में कालयापन करती थी; ससुराल में उसका भरण-पोषण करने वाला कोई न था। इधर पीहर में दरिद्रता देवी का अखंड राज्य था। किन्तु, मा की ममता बुरी होती है। अपने पेट से काट कर, फटे-पुराने कपड़े पहनकर, उस ने किसी प्रकार घर में अपनी भानुमती के लिए जगह बना ली थी। पति-हीना निराश्रिता विधवा भानुमती शिशु का मुँह देखती हुई ज्यों त्यों कर दिन काटती थी। जब कभी उसे पति का स्मरण आता, अपने भारवत् सुख-शून्य जीवन पर विचार करने का अवसर मिलता, तब मरुभूमि में एक मात्र प्रस्रवण की नाईं उस छोटे से शिशु की आशा उसे ढाढ़स बँधाती थी और भविष्य-पट पर कल्पना के सुखद चित्र अंकित कर मानों कहती थी—"चिन्ता न करो, तुम्हारे दिन शीघ्र ही फिरेंगे।"

(२)

भानुमती के पिता भी जीवित नहीं थे। मामा शिवलालजी उस परिवार के एकमात्र अभिभावक थे। उनकी स्त्री परिवार में इतने अधिक मनुष्य का रहना देख मन ही मन कुढ़ती थी; किन्तु अपमान के भय से कुछ कहती न थी। इधर शिवलाल भी कुछ कम चिन्तित न थे। इसमें उनका दोष न था। क्योंकि दो लड़के, चार लड़कियाँ, बहिन, स्त्री सब मिलाकर आठ जीव उनके गले से बँधे थे; किन्तु वेतन मिलता था केवल तीस रुपया। अब पाठक सहज ही समझ जायँगे कि उनकी पारिवारिक स्थिति कितनी शोचनीय थी। फिर भी, बहिन के स्नेह-बंधन को तोड़ न सके। उन्होंने भानुमती को रक्षा का वचन दे तो दिया, किन्तु मन ही मन चिन्ता की प्रबल ज्वाला से जलने लगे। "जल-संकोच विकल भये मीना, विविध कुटुंबी जिमि धनहीना" के अनुसार उसने भीषण रूप धारण किया। यहाँ आफिस के काम का भार, वहाँ परिवार के भरण-पोषण की चिन्ता, दोनों ने घुन की नाईं उनके शरीर को खोखला कर दिया। बहिन ने उनका यह भाव ताड़ लिया। उन्होंने अपनी दो गायें गाँव पर से मँगवा कर दूध की बँधी तुड़वा दी। गायों के खिलाने-पिलाने और सम्हालने का भार अपने ऊपर लिया। ढीमर और धोबी का काम मा-बेटी स्वयं करने लगीं। इसके सिवा अवकाश मिलने पर दोनों

ने कुछ सीने--पिरौने का काम भी प्रारंभ कर दिया। किन्तु वे श्रीकृष्ण तो थीं नहीं जो इतने बड़े गोवर्धन को कानिष्ठा अँगुली पर उठा लेतीं।

(३)

दबी हुई आग भीतर ही भीतर खूब सुलग कर इकदम भभक उठती है। यही दशा बाबू शिवलालजी की हुई। वे ज्यों त्यों कर दो वर्ष तक इस बिना पहियों की गाड़ी को खींचते चले गये; किन्तु अन्त में ठोकर खा जमीन पर गिर पड़े। धीरे धीरे उनका अन्त असाध्य हो चला। मा-बेटी दोनों ने शरीर का मोह त्याग उनकी खूब सेवा की। जो कुछ पास था बेंच कर वैद्यों की भेंट कर दिया। अहर्निश अविराम परिश्रम करते करते वृद्ध बहिन ने भी चारपाई पकड़ ली। अब सारा भार भानुमती पर आ पड़ा। शिवलालजी की स्त्री उसे ही अमंगल का मूल कारण समझ दिनरात गालियाँ सुनाने लगी। किन्तु भानुमती जो सदा के लिए अपना कपार ठोक चुकी थी इन सब लांछनाओं को नितांत तुच्छ तथा सामान्य समझती थी। वह दिन भर शारीरिक परिश्रम कर परिवार के लिए भोजन जुटाती और रात भर दोनों रोगियों के पास बैठी रहती थी। 'शिशु' उसके बिना एक घड़ी भी नहीं रहता था; किन्तु अब उसे भूखे-प्यासे एक कोने में पड़े पड़े दिन बिताने पड़ते थे। कोई उसे रोता देख निकट नहीं आता था। ठीक ही है, अभागिनी का अभागा शिशु ठहरा न। असमय में प्राण त्याग उसके पिता ने उसे शायद सदा के लिए अभागा कर दिया था!

(४)

'निर्धन के धन गिरधारी' इस कहावत के अनुसार शिवलालजी धीरे धीरे अच्छे होने लगे। एक वैद्य महाराज कुछ योंही सोंठ-मिर्च बतला जाते थे, उसी उपचार से परमात्मा ने उन्हें नवजीवन दे दिया। एकही मास में उन्होंने चारपाई छोड़ दी। यह देख वृद्धा की टूटी हुई कमर सीधी हो गई। उसमें फिर से बल आगया। वह अनाथ-नाथ भगवान् रामचन्द्र के चरण-कमलों का ध्यान करती हुई उठ बैठी और भाई पर स्नेह-भरी दृष्टि डाल गद्गद कण्ठ से रोने लगी। शिवलालजी ने बहिन को समझा-बुझाकर शांत किया और उस दिन से वे पुनः पूर्ववत् कर्त्तव्य-पालन में संलग्न हुए।

(५)

मामा के लिए भानुमती ने दुर्गा-पूजा की मानता की थी। तदनुसार नवदिन का व्रत कर वह मा के साथ देवी जी के मंदिर में गई और उन्हें माथा नवा हाथ जोड़ अर्द्ध-स्फुट स्वर से कुछ प्रार्थना करने लगी। मा उसे न सुन सकी; पर अन्तर्य्यामिनी भक्तवत्सला भला कब आना-कानी कर सकती थीं। उन्होंने स्नेह-वात्सल्य एवं करुणा-भरे भाव से भानुमती की ओर देखकर कुछ कहा, जिसे केवल वही सुन सकी। डब-डबाई हुई आँखों से प्रतिमा की ओर प्रणत हो अंचल पसार उसने उनका वह महादान आदर-पूर्व्वक ग्रहण किया, और हँसते हुए आनंद मुख से मा के साथ घर लौट आई। लोगों ने देखा, उस समय उसके मुख पर कृतज्ञता एवं परितृप्ति की अमिट रेखा अंकित थी।

(६)

दूसरे दिन भानुमती को जाड़ा देकर ज्वर हो आया। उसने शय्या पर पड़े पड़े प्यार से शिशु का मुख चुंबन किया और ऊपर की ओर आँख उठाकर देखा। तुरंत ही उसका मुख तत्काल के खिले हुए कमल की नाईं विकसित हो उठा। उसने मा को बुला कोमल एवं क्षीण, किन्तु हर्ष-युक्त, स्वर से कहा, 'मा! मुझे क्षमा करो। मेरे रहने से तुम्हें बहुत कष्ट था। किन्तु हर्ष है, महामाया ने मेरी पुकार सुन ली। अब मैं जाती हूँ।" इसके बाद शिशु को बाबू शिवलालजी की गोद में रख वह उसी दिन रात्रि के तीसरे पहर अनन्त धाम को चली गई।

उस समय मातृ-पितृ-हीन अनाथ शिशु बाबू शिवलालजी की गोद में सुख की नींद ले रहा था।

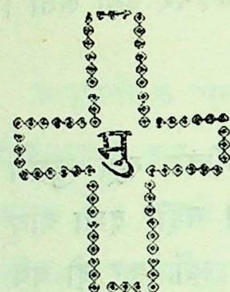
इसके बाद शिवलालजी का भाग्य चमका। उनका वेतन ३०) से १००) हो गया। अब वे सपरिवार बड़े सुख से अपना समय बिताने लगे। किन्तु, शिशु के भोले मुख पर दृष्टि डालने से उनके हृदय की जो गति होती थी वह लिखी नहीं जा सकती।

बहिन के कहने से बाबू शिवलालजी ने बड़ी धूमधाम से देवीजी की पूजा की। साम्हना होते ही उनका हृदय भर आया। आँखें छल छला उठीं। जगज्जननी ने भी उस समय मानों सांत्वनाबोधक कोमल स्वर से कहा—'तुम्हारे ही लिए वह स्वर्ग गई है। वह वहाँ सब तरह सुखी है। उसके लिए तुम्हें चिन्ता न करनी चाहिए। पुण्यात्माओं को कहीं भी दुःख नहीं है।"



मुहम्मद तुग़लककी एक दो बातें।

(लेखक—बाबू देवीप्रसाद गुप्त, बी. ए., एल. एल. बी.)



हम्मद तुग़लक यदि यूरोप के किसी देश का शासक होता तो उसके यशगान में सैकड़ों पुस्तकें लिखी जातीं और प्रशंसा के पुल बाँध दिये जाते। परन्तु वह भारत का शासक था, पराई वस्तु था, एक असभ्य देश का राजा था, इस कारण अनेक पाश्चात्य इतिहास-लेखक जिनकी पुस्तकें हमारे बच्चों को शालाओं में पढ़ाई जाती हैं सदा की भाँति उसके विषय में दो चार साधारण सी बातें लिख कर चुप रह गये। फिर भी जो कुछ लिखा उसमें बताया गया यह कि वह अपने पिता की हत्या करके सिंहासन पर बैठा, वह लालची था, वह उद्दण्ड था, वह दुष्ट था, वह 'सन्कुलहवास' था, वह दिल्ली से राजधानी उठाकर दौलताबाद को ले गया। उसने दूसरे देशों पर चढ़ाइयाँ करने के लिए बड़ी बड़ी तैयारियाँ कीं और ख़ज़ाना ख़ाली कर दिया; पर उन तैयारियों से कुछ भी लाभ न हुआ। उसने संकेत मुद्रा* चलाने का प्रयत्न किया; परन्तु वह सफल न हुआ, इत्यादि इत्यादि। इन सब बातों में सबसे बुरी बात अबुल मुजाहिद मुहम्मद तुग़लक शाह सरीखे महापुरुष को अपने पिता गयासुद्दीन तुग़लक की हत्या का अभियोग है। कुछ इतिहास-लेखकों ने तो उसे 'खूनी' उपाधि ही दे डाली है। उसके नाम के

* Token Currency संकेत-मुद्रा उस मुद्रा को कहते हैं जिसकी क़ीमत गला डालने पर उतनी न रहे जितनी कि बिना गलाये रहती है। हमारा रुपया संकेत मुद्रा है। उसकी क़ीमत, गला डालने पर, लगभग दस आने के रह जाती है।

साथ इस खूनी " Bloody " शब्द को ही जोड़ रक्खा है। कोई कोई इतिहासज्ञ उसके संकेत-मुद्रा चलाने के प्रयत्न पर भी उसकी अदूर-दर्शिता तथा उसपर प्रजा का अविश्वास दिखा कर उसकी हँसी उड़ाते हुए कहते हैं कि यह भी उसकी एक सनक थी। कोई कोई लेखक उसको विचारवान् बताने की उदारता दिखाते हैं; परन्तु यह भी कहते हैं कि वह व्यावहारिक बुद्धि से शून्य था। इस लेख में इन्हीं दो बातों पर विचार किया जायगा।

पितृ-हत्या का अभियोग।

सुलतान गयासुद्दीन तुग़लक (१३२१—२५) ने १३२४ ई० में बंगाल पर चढ़ाई की; क्योंकि बंगाल बल्बन के समय से दिल्ली के आधिपत्य को स्वीकार नहीं करता था। १३२५ में गयासुद्दीन सफलता प्राप्त करके लौटा। अपने पिता के स्वागत के लिए दिल्ली से कुछ दूरी पर, बरूनी के कथनानुसार ३ या ४ कोस पर, अफ़गानपुर में शाहज़ादे जौना ने जोकि पीछे मुहम्मद तुग़लक के नाम से सिंहासन पर बैठा, एक लकड़ी का मकान बनवाया। विजयी होकर पिता के लौटने की खुशी में इस मकान में नाच-रंग हुआ। जानवरों की दौड़, लड़ाई, खेल आदि भी हुए। हाथियों की दौड़ के समय यह मकान एकाएक गिर पड़ा और उसमें गयासुद्दीन, छोटा शाहज़ादा मुहम्मद और दो तीन मुसाहिब लोग दब गये।

कुछ इतिहासज्ञ लोग इस घटना के आधार पर मुहम्मद तुग़लक को हत्यारा ठहराते हैं। उनका कहना है कि मूर यात्री शेख़ अबू अबदुल्ला मुहम्मद जोकि १३४१ में भारत-यात्रा के लिए आया था और जो इतिहास में इब्नबतूता के नाम से प्रसिद्ध है अपने लेखों में ऐसी ही बातें लिखता है। एलफ़िन्स्टन सा० जो भारतीय इतिहास के एक प्रामाणिक लेखक माने जाते हैं फ़रमाते हैं कि सुल्तान गयासुद्दीन के स्वागत के लिए एक लकड़ी के मकान का बनवाना बिलकुल असाधारण और अनावश्यक बात थी।× इसलिए अवश्य ही शाहज़ादे जौना (मुहम्मद तुग़लक) की इच्छा पिता की हत्या करने की रही होगी। इन बातों के अतिरिक्त मकान के गिरते समय शाहज़ादे जौना का भी दब जाना हमारे उन इतिहास-लेखकों की इच्छा की पूर्ति करना है कि वे उसके माथे पितृ-हत्या के कलंक का टीका लगाते हैं।

इब्नबतूता ने जो कुछ गयासुद्दीन तुग़लक की मृत्यु के विषय में लिखा है वह लोगों से सुन कर लिखा है, न कि आँखों से देख कर; क्योंकि वह १३४१ ई० में गयासुद्दीन की मृत्यु के १६ वर्ष बाद मुहम्मद तुग़लक के राजत्व-काल में यहाँ आया था। झूठी बातों के विषय में जिस प्रकार लोगों के कहने में अन्तर हुआ करता है उसी प्रकार गयासुद्दीन की मृत्यु के विषय में भी इब्नबतूता ने किसी से कुछ सुना और और किसी से कुछ। वह लिखता है—" Some assert that Tuglak was taken out dead, others on the contrary maintain that he was alive and that an end was made of him."

× एलफ़िन्स्टन साहब के तर्क में कहाँ तक जान है इस बात को स्वयं पाठक ही विचार लें। यदि वे इस समय होते, तो उनसे ये प्रश्न किये जाने के योग्य थे :—

(१) इस यूरोपीय महासमर में विजय प्राप्त होने के पश्चात् मित्रराष्ट्रों का उत्सव मनाना असाधारण और अनावश्यक है क्या?

(२) Peace Memorial के लिए हम लोगों से क्यों चन्दा माँगा गया?

(३) प्रिन्स आफ़ वेल्स के भारत में आते समय स्वागत के लिए क्यों तैयारियाँ हो रही हैं?

अर्थात् कोई कोई कहते हैं कि (गयासुद्दीन) तुग़लक (मकान से) मरा हुआ निकाला गया था और कोई कोई इसके विरुद्ध कहते हैं कि (गिरे हुए मकान से) निकालते समय वह जीवित था; परन्तु पीछे वह मार डाला गया। माना कि उसने जो कुछ सुना वही लिखा है; परन्तु वह आया था १३४१ में, अर्थात् उस समय जब मुहम्मद तुग़लक की आज्ञा से दिल्ली से राजधानी देवगिरि (दौलताबाद) को पहुँचने तथा हिन्दुओं के प्रति उसका अच्छा बर्ताव होने तथा उनको स्वतंत्रतापूर्वक अपने धर्म के अनुसार चलने की आज्ञा मिल जाने के कारण प्रजा के कुछ लोग, विशेषतया मुसलमान, उससे क्रुद्ध थे।

शहर के मुख्य क़ाज़ी शेख़ कमलुद्दीन से जो एक कट्टर मुसलमान था और जिसको हिन्दुओं के प्रति सुल्तान का अच्छा बर्ताव होना खटकता था बहुतसी बातें सुनकर इब्नबतूता ने लिखी हैं। सम्भव है कि कमलुद्दीन की बात ही पर अधिक विश्वास करके उसने पितृ-हत्या की बात को सत्य मान लिया हो। इसी प्रकार की ग़ल्ती इब्नबतूता ने बल्बन के विषय में लिखते हुए की है। उसने किसीसे सुन कर यह कह डाला है कि गयासुद्दीन बल्बन अपने मालिक नसीरुद्दीन मुहम्मद को मार कर गद्दी पर बैठा था जोकि एक प्रमाणित असत्य है।

गयासुद्दीन तुग़लक एक बहुत अच्छा वीर, उदार हृदय, न्यायी और प्रजाप्रिय बादशाह था। सन्तान-प्रेम उसके हृदय में यहाँ तक था कि जिस समय मकान गिरा उस समय उसने अपने शाहज़ादे मुहम्मद को बचाने के लिए अपने शरीर को उसके ऊपर झुका दिया था। जौना (मुहम्मद तुग़लक) भी उसका बड़ा पुत्र था। उसपर भी उसका असीम प्रेम था। जौना के हृदय में ऐसे पिता की हत्या की बात नहीं आ सकती थी। यदि आती भी तो उसके इस घृणित कार्य में साथ देने के लिए अपने प्रजा-प्रिय और न्यायी बादशाह की हत्या में उसका कोई हाथ न बटाता। यदि कुछ दुष्ट उसका साथ देने को भी उससे मिल जाते तो इस बात की ख़बर गयासुद्दीन को भी अवश्य मिल जाती और वह सचेत हो जाता और अफ़ग़ानपुर में न ठहर कर तीन चार कोस और चलकर दिल्ली ही पहुँच जाता। यदि यह भी न होता तो फ़रेब से गयासुद्दीन के मारे जाने के बाद प्रजा अपने हत्यारे बादशाह के सिंहासन पर बैठते समय अवश्य उपद्रव करती। वह बहरामख़ाँ, जाफ़रख़ाँ, नसरतख़ाँ शाहज़ादों का पक्ष लेकर अवश्य उनमें से किसीको अपना बादशाह मानती; परन्तु यह कुछ भी नहीं हुआ। इब्नबतूता ही कहता है कि " Jauna ascended the throne with the agreement of the Amirs and the officers of the court without encountering either adversary or rebel "

यह भी कहा जाता है कि "गयासुद्दीन जब बंगाल में था उस समय शाहज़ादे जौना ने बहुत से गुलाम ख़रीदे थे और उसने कई लोगों को इनामें बाँटी थीं। यह सब कदाचित् गयासुद्दीन की हत्या की तैयारी थी।" हैं ये सब शक की ही बातें। न तो गुलामों का ख़रीदना इस बात का कोई सबूत है कि वह हत्या की ही तैयारी कर रहा था और न इनामों का बाँटना ही; क्योंकि इनामें उसकी स्वाभाविक उदारता के कारण हमेशा ही दी जाया करती थीं। उसके सिंहासनारूढ़ होने के पहले और पीछे सदैव ही वह इनामें देता रहा है। इब्नबतूता, मालूम नहीं किस आधार पर, कहता है कि सुल्तान गयासुद्दीन को जौना पर सन्देह हो गया था और उसने जौना को इस सन्देह के कारण कुछ

कहा-सुना भी था। यह भी कहा जाता है कि दिल्ली के एक फ़क़ीर निज़ामुद्दीन बदावनी ने जिस समय गयासुद्दीन बंगाल में था यह भविष्यद्वाणी की थी कि जौना शाही तख़्त पर बैठेगा और गयासुद्दीन लौट कर दिल्ली न आवेगा। इब्न-बतूता कहता है कि इस भविष्यद्वाणी की सूचना लोगों ने गयासुद्दीन को दी। उसने इसपर विश्वास किया और उसको जौना पर कुछ सन्देह भी होने लगा। ये सब बे-सिर-पैर की बातें हैं। यदि उसको सूचना मिली थी तो उसने अपने गुप्तचरों द्वारा अवश्य उसकी सत्यता के विषय में अनुसन्धान कराया होगा। यदि जौना पर सन्देह का कुछ भी कारण उसे मिलता तो वह अपने प्राण के भूखे जौना को लकड़ी का मकान बनवाने की क्यों आज्ञा देता? जौना ने वह मकान सुल्तान गयासुद्दीन की ही आज्ञा से बनवाया था। इस बात को स्वयं इब्नबतूता स्वीकार करते हुए लिखता है—"Ghiyasuddin Tughlak ordered his son to build a palace for him or as these people call it a kiosk near a river which runs by a place called Afganpur."

यदि उसको अपने घातकों का पता लग चुका था अथवा उसे किसी पर सन्देह हुआ था, यदि किसी फ़क़ीर की भविष्यद्वाणी थी और यदि उसपर उसने विश्वास किया था तो उस भविष्यद्वाणी को झूठा ठहराने तथा विजयी सेना सहित अपनी उपस्थिति से विद्रोहियों के छक्के छुड़ा देने के अभिप्राय से अफ़ग़ानपुर में न ठहर कर सीधे तीन चार कोस और चलकर दिल्ली पहुँचने से उसे किसने रोका था?

इब्नबतूता कहता है कि वह मकान इस ढंग से बनाया गया था कि उसको किसी स्थान विशेष में हाथी द्वारा छुए जाने पर ही वह (मकान) एक दम अर्राकर गिर पड़े। जौना के आज्ञानुसार एक ओर से हाथी लाये गये और मकान गिर पड़ा। उस समय मकान के भीतर गयासुद्दीन, छोटा शाहज़ादा मुहम्मद और गयासुद्दीन के दो तीन विश्वास-पात्र मुसाहिब लोग थे। बाक़ी सब बाहर आ गये थे। जौना पहले से ही बाहर था। इतिहास-वेत्ता अब्दुल कादर लिखता है कि बंगाल से लाये हुए हाथियों की दौड़ कराने की आज्ञा स्वयं सुल्तान गयासुदीन ने दी थी। मकान बहुत जल्दी में, केवल तीन दिन के समय में, बनाया गया था, इस कारण उसकी नींव मज़बूत नहीं हो पाई थी और वह इस समय तक गीला था। उसके आसपास बड़े बड़े हाथियों के चलने से वह उनके पैरों की धमस न सह सका। इस कारण हिलने लगा और अन्त में गिर पड़ा। अपने पिता की इच्छा हाथियों की दौड़ देखने की थी, इस कारण शाहज़ादा जौना बाहर स्वयं ही उसकी तैयारी करा रहा था। जब मुसाहिबों को मालूम हुआ कि दौड़ की तैयारी हो चुकी और सुल्तान बहुत शीघ्र बाहर निकल कर दौड़ शुरू कराने वाले हैं तब वे बहुत जल्दी जल्दी हाथ धोकर और उनमें से कई बिना हाथ धोये ही बाहर निकल आये। भीतर केवल सुल्तान, शाहज़ादा मुहम्मद और दो तीन मुसाहिब लोग जो कदाचित् सुल्तान के साथ खाना खाने को बैठे थे रह गये। इतने ही में मकान एकाएक अर्रा पड़ा और पाँचों दब गये। लगभग १६१२ ई०. में इतिहास-वेत्ता फरिश्ता भी इस घटना के विषय में अपनी पुस्तक में लिखता है कि मुहम्मद तुग़लक (जौना) का सम्बन्ध इस घटना से जोड़ना बिलकुल उचित नहीं मालूम होता। क्योंकि मकान के गिरने के पहले जौना भी अपने पिता के साथ बहुत देर तक उसी मकान में रहा था। वह केवल हाथियों की दौड़ की तैयारी के लिए बाहर आया था। यदि मकान बिलकुल धोखे की टट्टी था, तो

जानते हुए भी जौना उसके भीतर क्यों रहता।

वरूनी कहता है कि एकाएक आसमान से बिजली गिरी जिससे मकान बैठ गया, और सदरजहाँ गुजराती कहता है कि शाहज़ादे जौना ने जादू से मकान खड़ा किया था। ज्योंही जादू की शक्ति अलग करली गई, त्योंही वह गिर पड़ा। इन दोनों के कहने का मूल्य सिवा इसके और कुछ नहीं हो सकता कि मकान अकस्मात् देखते देखते ही गिर पड़ा था।

संकेत-मुद्रा-प्रचार।

मुहम्मद तुग़लक अच्छा अर्थ-नीतिज्ञ था। उसने बड़ी बुद्धिमानी के साथ प्रचलित सिक्कों में आवश्यकतानुसार कई बार हेर-फेर किये और इस प्रकार अर्थ-शास्त्र की बड़ी बड़ी उपस्थित समस्याओं को बिना किसी कठिनता के उसने हल किया।

मुहम्मद तुग़लक के सिंहासनारूढ़ होते समय प्रचलित मुद्राक्रम इस प्रकार था:—

२ एकनी	=	एक द्विकनी या सुल्तानी दिरहम।
६ एकनी अथवा ३ द्विकनी	=	१ षष्कनी।
८ एकनी अथवा ४ द्विकनी	=	१ हश्तकनी।
१२ एकनी अथवा २ षष्कनी	=	१ द्वाज्दकनी।
१६ एकनी अथवा २ हश्तकनी	=	१ सन्द्कनी।
६४ एकनी अथवा ८ हश्तकनी	=	१ तनका (चाँदी का)।

चाँदी के सिक्के 'दिरहम' कहलाते थे। उल्लिखित सब सिक्के चाँदी के थे। इसी प्रकार सोने के सिक्के भी थे और वे 'दीनार' कहलाते थे। प्रत्येक चाँदी अथवा सोने के तनका का वजन १७५ ग्रेन होता था। अन्य सिक्कों का वज़न उनकी क़ीमत के अनुसार कम था। एकनी का वजन इस हिसाब से $\frac{१७५}{६४}$ अर्थात् २.७५ ग्रेन हुआ। इन सोने और चाँदी के सिक्कों के अतिरिक्त सुविधा के लिए ताँबे के सिक्के भी प्रचलित थे जो आठ मिलकर एक सुल्तानी दिरहम अथवा ४ मिलकर एक एकनी के बराबर होते थे।

उस समय भारत में सोना अटूट था। उस समय अब के समान सोना बाहर भेजने के न तो कोई साधन थे और न अब के समान विदेशी लालची लोग भारत को कंगाल बनाकर तथा उसके धन को ढोकर अपने देशों को ही ले जाते थे। उस समय भारत में कितना अधिक सोना रहा होगा इसका अनुमान केवल इस एक साधारण बात पर से लगा लीजिए कि अलाउद्दीन खिलजी के समय में—मुहम्मद तुग़लक के कोई १५ वर्ष पहले ही—१३१० ई० के लगभग मलिक काफ़ूर दक्षिण के एक छोटे से द्वारासमुद्र के राज्य को लूटकर आया था; उस समय उसके पास ९६,००० मन सोना था जिसे उसने १३,००० बैलों की पीठ पर लाद कर दिल्ली में प्रवेश किया था। भारत में इतना अधिक सोना होने पर भी वायनद और कौलर के आसपास की खदानोंसे प्रति वर्ष बेहिसाब सोना निकाला जाता था। विन्सेन्ट स्मिथ का कथन है—"The modern miners in the wynaad and kolar districts find every where the traces of ancient workings."

इसके अतिरिक्त दूसरे देशों के व्यापारी लोग "आप गरज़" भारत को सोना दे जाते और बदले में उससे तरह तरह के सामान ले जाते थे। एक तत्कालीन इतिहासज्ञ कहता है "merchants of all countries never cease to carry pure gold into India, and to take back goods in exchange."

इन्हीं सब कारणोंसे भारत में सोना इतना अधिक था कि उसकी क़ीमत चाँदी से केवल

आठ गुनी थी।* उस समय संकेत-मुद्रा प्रचलित नहीं थे, अर्थात् जो मुद्रा जितने में चलता था उसको गलाने पर भी उसमें उतने ही मूल्य की धातु निकलती थी। मुहम्मद तुग़लक के राजत्व-काल के आरम्भ में ही भारत में, विशेषतया दक्षिण में, कई कारणों से सोने की आय बहुत हुई और चाँदी की कम। इस कारण अर्थशास्त्र के 'आमद और माँग' के सिद्धान्त के अनुसार सोने की क़ीमत चाँदी से आठ गुनी के बदले अब केवल लगभग सात गुनी रह गई। इस कारण प्रचलित मुद्राओं की क़ीमत में भी गड़-बड़ी पड़ गई। मुहम्मद तुग़लक ने इस समस्या को एक बिलकुल सीधे ढँग से हल कर दिया। उसने सोने के तनकों को उनकी क़ीमत के अनुसार १७५ ग्रेन से अधिक वज़नदार ढलवाये और चाँदी के तनकों को कम वज़नदार। इन तनकों के वज़न के अनुसार सोने और चाँदी के अन्य सिक्कों के वजन में भी कमी-बेशी की गई। उसके राजत्वकाल की पहली और दूसरी सालों में, अर्थात् १३२५ और १३२६ में, जो सोने के सिक्के ढले वे लगभग २०० ग्रेन के वज़न के पाये गये हैं और चाँदी के लगभग १४५ ग्रेन के।

मुहम्मद तुग़लक पहले के सब प्रचलित सिक्कों को, लोगों के गाड़ रखने की लालच, उनकी ज़ेवर बनाने की आदत, सोने के सिक्के व्यवहार में कम + आने आदि कारणों से इकट्ठे नहीं कर सका। इस कारण दोनों प्रकार के सिक्के प्रचलित रहे। परन्तु इससे व्यवहार में कोई विशेष असुविधा नहीं हुई।

मुहम्मद तुग़लक १३२५ में जिस समय गद्दी पर बैठा था उस समय उसके हाथ में वह कोष आया था कि जिसको अलाउद्दीन खिलजी (१२९६-१३१६), मुबारिकशाह खिलजी (१३१६-२१) और गयासुद्दीन तुग़लक (१३२१-२५) लबालब भर कर छोड़े गये थे; परन्तु निम्नांकित कारणों से मुहम्मद तुग़लक का कोष बहुत शीघ्र प्रायः ख़र्च हो गया:—

१—अपने प्रियजनों के प्रति जिनमें अधि-कांश विदेशी विशेषतया यमन, खुरासान और फ़ारस के हुआ करते थे इनाम-इकराम देने में सुल्तान की उदारता इब्नबतूता के शब्दों में यह थी कि—"Countries at some distance from India, such as the Yemen, Khorasan, Persia are full of anecdotes of this prince and their inhabitants know him very well; and they are not ignorant especially of his beneficence towards foreigners, whom he prefers to Indians and favours and honors them greatly."

२—दिल्ली से १३२७ में राजधानी उठाकर, ७०० मील की दूरी पर दौलताबाद (देवगिरी) ले जाने के लिए देहली से दौलताबाद तक सड़क बनवाई गई। दोनों ओर झाड़ लगाये गये और सराय, कुआ, आदि बनवाये गये जिससे लोगों को ४० दिन की मंजिल तय करने में सुभीता हो। आवश्यकतानुसार लोगों को राह-ख़र्च तथा दौलताबाद पहुँचने पर आर्थिक सहायता भी दी गई।

३—राज्य बढ़ाने की लालसा से बड़ी बड़ी सेनाओं का एकत्रित करना। फ़ारस को जीतने

* चाँदी की क़ीमत तांबे से लगभग ३२ गुनी थी।

+ खाने-पीने तथा व्यवहार की अन्य वस्तुएँ इतनी सस्ती थीं कि साधारणतया दीनारों अथवा अर्ध-दीनारों का उपयोग बहुत कम होता था। हश्तकनी, षष्कनी, और सुल्तानी उपयोग में बहुत आती थीं। सबसे अधिक उपयोग सुल्तानी अर्थात् द्विकनी का होता था।

के लिए उसने ३,७०,००० सवारों की सेना बनाई थी और चीन के लिए १,००,००० सिपाहियों की। कोष खाली हो जाने के कारण मुहम्मद तुग़लक के राज्य कार्य में रुकावट पड़ने लगी। इस कारण उसके सन्मुख ऋण लेने की समस्या उपस्थित हुई। कोष में जो थोड़ा बहुत सोना था उसका भाव दिन पर दिन गिर रहा था। उसके सिक्के ढालकर बाहर निकालने से और भी बड़ी हानि होती। यह दूसरी समस्या उपस्थित हुई। मुहम्मद तुग़लक ने बड़ी बुद्धिमानी से इन दोनों समस्याओं को हल करने की केवल एकही युक्ति सोची। वह युक्ति थी संकेत-मुद्रा का प्रचार करना। मुहम्मद तुग़लक भारत का पहला बादशाह था जिसने इस युक्ति से काम निकाला ×। उसने अनुमान कर लिया कि लगभग दो तीन वर्ष की आमदनी सावधानता पूर्वक एकत्र कर लेने से वह संकेत-मुद्राओं को सुविधा के साथ वापिस भी ले सकेगा। मुहम्मद तुग़लक का विचार प्रजा को धोखा देकर संकेत-मुद्राओं के बदले उससे सोना-चाँदी ले लेने का नहीं था। उसको केवल अपनी आवश्यकता पूर्ण करना थी। उसने सोचा कि दो तीन वर्षों में इस बात की परीक्षा भी हो जायगी कि प्रजा उस पर कितना विश्वास रखती है और संकेत-मुद्रा सदा के लिए प्रचलित की जा सकती है अथवा नहीं यदि प्रजा में संकेत-मुद्राओं ने कुछ हलचल की, तो दो तीन वर्ष में उसे इसका पूरा पूरा ज्ञान हो जायगा और इतने समय के बाद वह संकेत-मुद्राओं को बन्द कर देगा। तब तक उसका कोष भी भर जायगा और कदाचित् सोने का भाव भी ठिकाने पर आ जायगा।

इन सब बातों को सोचकर मुहम्मद तुग़लक ने चाँदी के तनके के वज़न के हिसाब पर १३८ ग्रेन का ताँबे का तनका ढलवाया। चाँदी का तनका वज़न में १७५ ग्रेन होता था और उसकी क़ीमत ६४ एकनी होती थी। यदि यह चाँदी का तनका १३८ ग्रेन होता तो इसकी क़ीमत ५० एकनी होती। मुहम्मद तुग़लक ने १३८ ग्रेन के ताँबे के तनके की क़ीमत के बराबर अर्थात् ५० एकनी रखीं। यह ताँबे का तनका मुहम्मद तुग़लक का संकेत-मुद्रा बनकर चला। ताँबे की संकेत–मुद्रा ढलवाने में भी मुहम्मद तुग़लक की बुद्धिमानी थी। यदि वह चाहता तो अंग्रेज़ सरकार के चलाये हुए नोटों के समान, काग़ज़ के टुकड़े चला सकता था; परन्तु उसने सोचा कि काग़ज़ के टुकड़े दीमक, चूहे, पानी आदि द्वारा नष्ट हो सकते हैं और इससे प्रजा को हानि पहुँचने की सम्भावना है; इस कारण उसने धातुकी संकेत-मुद्रा चलाई। चाँदी के अर्थात् १७५ ग्रेन वज़न के तनके के बराबर ताँबे का न चलाने में भी उसकी बुद्धिमानी थी। वह यह कि १३८ ग्रेन के वज़न का कोई दूसरा सिक्का प्रचलित नहीं था। इस कारण धूर्त लोग किसी फ़रेब से इस ताँबे के तनके को भोले-भाले लोगों को किसी दूसरे सिक्के के बदले नहीं दे सकते थे। ये संकेत-मुद्रा लगभग १३३२ में दिल्ली और दौलताबाद की टकसालों से प्रचलित हुई।

परन्तु उस समय का भारत इस समय के भारत से भिन्न था। मुहम्मद तुग़लक के समय

× संसार का इतिहास बतलाता है कि १२४१ में इटली के बादशाह फ्रेडरिक (दूसरे) ने भी अपने सोने के सिक्कों के मूल्य पर चमड़े के टुकड़े चलाये थे। जापान में १४ वीं सदी में काग़ज़ के टुकड़े चलाये गये थे। चीन में, सन ई० से लगभग १०० वर्ष पहले, चमड़े के सिक्के चलते थे। धातुओं के सिक्कों के चलने के बाद चीन के एक बादशाह ने आवश्यकता पड़ने पर काग़ज़ के टुकड़े (हमारे नोटों के सदृश) चलाये थे। देखा-देखी फारस के बादशाह कैख़ातू ने भी बिना आवश्यकता, केवल प्रजा को लूटने के लिए, काग़ज़ के नोट चलाये; पर उसको सफलता प्राप्त नहीं हुई। —लेखक।



अतिथि-सत्कार।

"सर्वदेवमयोऽतिथिः।"

तक भारत की प्रजा ने न तो कभी संकेत-मुद्रा देखी थीं और न सुनी थीं। लोग केवल उन मुद्राओं को व्यवहार में लाये थे जिनको गलाने पर भी उतनी ही क़ीमत होती थी जितनी मुद्रा के रूप में। इस कारण संकेत-मुद्राओं को देखकर लोग मालूम नहीं क्या क्या सोचने लगे। उनने सोने और चाँदी के सिक्कों को गाड़कर रखना आरंभ कर दिया। दूरस्थ प्रदेश संकेत-मुद्रा लेने में हिचकिचाने लगे। इससे व्यापार को हानि पहुँची। विदेशी व्यापारी लोग अपने अपने देशों से सोने और चाँदी के सिक्के भारतीय माल के बदले लेकर भारत को ताँबा टिकाने लगे। मुहम्मद तुग़लक़ के कोष में भी ताँबा ही ताँबा पहुँचने लगा। व्यापारी लोग टकसालों के कर्म-चारियों से मिलकर कम क़ीमत में ताँबे के खानगी सिक्के ढलवाने लगे। सुनार लोग घरों में सिक्के ढालने लगे। "तारीखे-फ़ीरोजशाही" में तो बरूनी यहाँ तक लिखता है कि "प्रत्येक हिन्दू का घर एक टकसाल बन गया था।" जो कुछ हो, संकेत-मुद्राओं से राज्य में बड़ी गड़बड़ी मच गई। दो ढाई वर्ष के समय में जैसा कि उसने पहले ही सोच लिया था मुहम्मद तुग़लक के कोष में भी इतना सोना और चाँदी एकत्र हो गया कि जिससे वह संकेत-मुद्राओं को बन्द करते तथा प्रचलित संकेत-मुद्राओं को कोष में वापिस लेकर उनके बदले सोने और चाँदी के मुद्रा देने की आज्ञा निकाल सका। आज्ञा निकलते ही असली और बनावटी अरबों खरबों ताँबे की संकेत-मुद्रा कोष में आई कि जिनके 'पहाड़ के पहाड़' उठ गये। लेनपूल कहता है कि ये 'पहाड़ के पहाड़' सौ वर्ष बाद मुबारिक-शाह (दूसरे) के समय तक जैसे के तैसे लोगों ने देखे हैं। मुहम्मद तुग़लक ने प्रजा से लिये हुए ऋण को इस प्रकार पटाया। बनावटी सिक्कों के बदले में जो कुछ उसको देना पड़ा उसको उसने व्याज समझ लिया, यद्यपि व्याज की यह दर उसको बहुत महँगी पड़ी।

मानसी व्यथा।

(लेखक—पं० रामचरित उपाध्याय)

(१)

सभी विधि उच्च सबसे तू रहा है,
बड़ाई, सोच तू, अब वह कहाँ है ?
सभी आपत्तियाँ तेरे यहाँ हैं,
महा दुख मौन हो तू सह रहा है ॥

स्वबल से क्यों न होता तू खड़ा है ?
अरे क्यों देश ! परवश में पड़ा है ?

(२)

प्रतापी सूर्य तू, हैं अन्य तारे,
रहे हैं शिष्य तेरे जन्तु सारे।
उठे जितने सभी तेरे सहारे,
सभी हैं सब तरह तेरे उबारे ॥

न कोई विश्व में तुझसे बड़ा है।
अरे क्यों देश ! परवश में पड़ा है ?

(३)

सुराऽसुर काँपते हैं धन्य ! तुझसे,
डरेंगे क्यों नहीं तब अन्य तुझसे ?
रहेंगे क्यों बड़े फिर वन्य तुझसे ?
बनेगा कौन मानीमन्य तुझसे ?

धता दे तू नहीं किससे कड़ा है।
अरे क्यों देश ! परवश में पड़ा है ?

(४)

कड़क अब कान अपने झाड़ दे तू,
नहीं मायावियों को मान दे तू।
असहयोगी बने प्रण ठान दे तू,
स्वदेशी-व्रत-नियम पर ध्यान दे तू॥

गढ़े में लाज के क्यों तू गड़ा है?
अरे क्यों देश! परवश में पड़ा है?

(५)

अभी तूने नहीं दुख क्या उठाया?
न क्यों पहिचानता अपना पराया?
भरी है श्वेत तन में घोर माया,
खलों से लाभ किसके हाथ आया?

विदेशी-द्वार पर क्यों जा अड़ा है?
अरे क्यों देश! परवश में पड़ा है?

(६)

भिड़े तुझसे विविध दुर्जन अनय से,
हटाया है उन्हें तूने विनय से।
दबा क्यों दस्युओं के आज भय से?
गिरावेगा उन्हें भी तू समय से॥

न किससे धर्म-रण में तू लड़ा है?
अरे क्यों देश! परवश में पड़ा है?



सूरदास भट्ट।

(लेखक—प्रो० रामस्वरूप कौशल, साहित्य-भूषण, एम. ए., एम. आर० ए० एस०)



रदास ब्रज के रहने वाले थे और सन् १५५० ईस्वी तक चारों ओर विख्यात हो गये थे। वे और उनके पिता बाबा रामदास सम्राट अकबर के दरबार में गवैये थे। सूरदास और तुलसीदास दोनों ही भाषा-कविता के आकाश में दो सर्वोच्च कीर्तिशाली तारे हैं। तुलसीदास राम के भक्त ("एकान्त राम-सेवक") थे और सूरदास कृष्ण के ("एकान्त कृष्ण—सेवक")। इन दोनों ने अपने अपने भक्ति-भाजन के गुण-गान और प्रेम में अपने कला-चातुर्य्य को शिखर पर पहुँचा दिया है।

"भक्त-माल" और चौरासी वार्त्ता" की टीकाओं में यह दन्तकथा लिखी हुई है कि "सूरदास सारस्वत ब्राह्मण थे। उनके माता-पिता भिक्षुक थे और 'गौघाट' अथवा 'दिल्ली' उनका निवासस्थान था"। परन्तु यह ठीक नहीं है। यह स्मरण रखना चाहिए कि जब प्रियदास ने इन दन्त—कथाओं का संग्रह करके 'भक्तमाल' की टीका में यह परिचय लिखा था उस समय सूरदास को मरे एक सौ से भी अधिक वर्ष बीत चुके थे; इसलिए सम्भव है कि भूल हो गई हो। परन्तु इन दोनों प्रतिष्ठित पुस्तकों में इस कहावत के स्थान पा लेने के कारण बहुत से देशी और विदेशी विद्वानों ने भी इसे सत्य मान लिया है। इसीसे मध्यकालीन भारत के विद्वानों और लेखकों की इस प्रवृत्ति का भी पता लगता

है कि कुछ लोग स्वाधीन अनुसन्धान और खोज किये बिना ही प्रचलित दन्त-कथाओं और कहावतों पर विश्वास कर लिया करते थे। सूरदास ने अपने विषय में स्वयं लिखा है कि वे सारस्वत ब्राह्मण नहीं थे। उनके माता-पिता भिक्षु-वृत्ति से अपना निर्वाह नहीं करते थे और न उनका निवास गौघाट में था।

सूरदास ने अपने दृष्टकूट में (जो काशी के लाईट प्रेस में पुस्तकाकार छप चुकी है) अपने विषय में लिखा है कि—"हमारे वंश के पूर्वज 'ब्रह्मराओ' × थे जिनका गोत्र 'जगात' * अथवा 'प्रथ जगात' † था। उन्हींके सुप्रसिद्ध वंश में सुन्दर चन्द ने जन्म लिया जिन्हें राजा पृथ्वीचन्द ने (जो सन् ११९० ईस्वी में राज्य करता था) 'ज्वाला' देश प्रदान किया था। उनके चार पुत्र थे जिनमें से सबसे बड़े अपने पिता की मृत्यु के पश्चात 'नरेश' अथवा राजा बने। चन्द्र के दूसरे बेटे का नाम गुणचन्द्र था जिनका पुत्र शीलचन्द्र और पौत्र वीरचन्द्र था। वीरचन्द्र रणथम्भौर के सुविख्यात राजा हमीर ‡ (जिस पर अलाउद्दीन खिलजी ने आक्रमण किया था और जिसके कारण उसकी १००० रानियाँ सती हो गई थीं) के साथ खेला करता था। उनके वंश में हरीचन्द्र ने जन्म लिया जिनका निवास आगरे में था। हरीचन्द्र का वीर पुत्र रामचन्द्र § था जो गोपचल में रहते थे। उनके सात पुत्र ये थे:-(१) कृष्णचन्द, (२) उदारचन्द, (३) जुरूपचंद (रूपचन्द), (४) बुद्धिचन्द, (५) देवचन्द, (६) संसृत [?] चन्द, और (७) सातवाँ मैं सूरजचन्द। मेरे ६ भाई मुसलमानों के साथ युद्ध में मारे गए और मैं अकेला सूरजचन्द, अन्धा※ और निकम्मा बचा रहा। मैं अन्धे कुए में गिर पड़ा। मैंने सहायता के लिए बहुत प्रार्थनाएँ कीं; परन्तु किसीने मुझे न बचाया। अन्त में सातवें दिन यदुपति श्रीकृष्णचन्द्र ने स्वयं आकर मुझे अन्ध× कूप से बाहर निकाला और मुझे दर्शन देकर (अथवा मेरे नेत्र खोल कर†) कहा:—"पुत्र! वर माँग।" मैंने उत्तर दिया—"भगवन्! मैं यह वर माँगता हूँ—(१) मुझे पूर्ण भक्ति प्रदान करो, (२) मेरे वैरियों‡ (काम क्रोध-लोभ-मोह-अहंकार इत्यादि) का नाश करो, और (३) हे नाथ! ऐसी कृपा करो कि अब जब मैंने साक्षात अपने परमेश्वर के दर्शन कर लिये हैं तब मेरे चक्षु और कुछ न देख सकें ("दूसरो ना देखूँ रूप देखो राधेश्याम")। दयानिधि ने मेरी प्रार्थना सुन कर कहा—तथाऽस्तु+। दक्षिण का

× 'राओ' से प्रगट होता है कि वे या तो राजा थे या भाट।

* पण्डित राधेश मिश्र ने जो सूची सारस्वत ब्राह्मणों के गोत्रों की बनाई है उसमें यह गोत्र नहीं है।

† 'जगात' का अर्थ भी भाट ही है।

‡ राजा हमीर की मृत्यु सन् १३०० ईस्वी के लगभग हुई थी।

§ शायद वैष्णव मत के अनुयायी होने के कारण उनने अपना नाम 'रामचन्द्र' से 'रामदास' रख लिया था।

※इसके दोनों ही अर्थ हो सकते हैं या तो सूरदास वास्तव में ही अंधे थे या विषयों में फँसे होने के कारण उनने अपने आपको अंधा कहा है। सूरदास के अंधे होने का लोगों को विश्वास है क्योंकि प्रायः सभी लोग अंधे साधुओं और भिक्षुकों को 'सूरदास' कहकर सम्बोधन करते हैं।

×या तो सूरदास सचमुच किसी कूप में गिर पड़े थे अथवा विषयों के अन्धकार में फँसे रहने से यहाँ विषय विकारों का कुआ ही ठीक प्रतीत होता है।

† अथवा चर्म्म-चक्षु नहीं, ज्ञान-चक्षु खोलकर।

‡ कुछ विद्वानों ने भूल से इसका अर्थ मुसलमान भी लिया है; परन्तु वह ठीक नहीं।

\+ अर्थात् सूरदास अंधे हो गये। डा० ग्रियर्सन ने इस का यह अर्थ भी लिया है कि शायद कृष्णजी रात के चौथे पहर में गये थे। उस समय अन्धकार ही अन्धकार होता है। इसी कारण सूरदास को कुछ न कुछ दिखाई देता रहा होगा।

रहने वाला एक ब्राह्मण तेरे बैरियों का नाश करेगा।" फिर वे मुझे 'सूरजदास', 'सूर', 'सूरश्याम' इत्यादि नामों से पुकार कर अन्तर्धान हो गये। जब वे चले गये मेरे लिए चारों ओर अन्धकार ही अन्धकार हो गया। फिर मैं जाकर ब्रज में रहने लगा जहाँ गोस्वामी विट्ठलनाथ ने कृपा करके मेरा नाम भी 'अष्टछाप' (ब्रज के आठ प्रख्यात कवियों के नामों की सूची) में लिख दिया।"

इस वर्णन पर से निम्न लिखित वंशावली प्राप्त होती है:—

ब्रह्म राओ 'जगात'
|
चन्द्र (सन ११९० ई० में जीवित था)
|
दूसरा पुत्र गुणचन्द्र
|
शीलचन्द्र
|
वीरचन्द्र (सन १३०० ई० में उन्नति की अवस्था में था)
|
हरीचन्द्र (आगरा-निवासी)
|
सन्तान का कुछ पता नहीं चलता।
|
रामचन्द्र (गोपचल-निवासी)।
|
सूरजचन्द (सन् १५५० ई० में सुविख्यात हो गये थे) और ६ और।

इससे प्रमाणित होता है कि सूरदासजी ब्राह्मण ही न थे वरन क्षत्रिय थे; क्योंकि उनने स्वयं भी चन्द्र के सबसे बड़े पुत्र को 'नरेश' लिखा है। कहावत के अनुसार उनका जन्म सम्वत् १५५० (सन् १४८३ ई०) में हुआ था। उनके पिता ने आगरे में ही उनको गान-विद्या, फारसी तथा नागरी भाषा की शिक्षा दी थी। अपने पिता की मृत्यु के पश्चात् सूरदासजी भजन लिखने का अभ्यास करने लगे और शीघ्र ही उनके बहुत से शिष्य हो गये। इस समय वे भजनों में अपना नाम 'सूर स्वामी' लिखा करते थे और इसी नाम से उनने अपना 'नल—दमयन्ती' काव्य भी लिखा जिसकी अब एक प्रति भी प्राप्य नहीं है। अब सूरदास पूर्ण युवा अवस्था में थे और कहा जाता है कि आगरे से ९ कोस पर मथुरा को जाने वाली सड़क के किनारे गौघाट नाम के एक ग्राम में रहते थे। फिर वे श्रीवल्लभाचार्य्यजी[*] के शिष्य हो गये और भजनों में अपना नाम 'सूरदास', 'सूर', 'सूरजदास', 'सन्तदास' (अथवा कभी कभी पहले ही की भाँति 'सूरश्याम') लिखने लगे। इसी समय उनने 'भागवत पुराण' का हिन्दी पद्य में अनुवाद किया और अपने भजनों का संग्रह करके उसका नाम 'सूरसागर" रक्खा। कहते हैं कि इस संग्रह में ६०,००० पद थे। जब सूरदास बूढ़े हो चले तब उनके यश की बात सम्राट् अकबर के कानों तक पहुँची और उन्होंने सूरदास को अपने दरबार में बुलवाया। सम्वत १६२० (सन् १५६३ ई०) में गोकुल धाम में सूरदास का देहान्त हो गया।

यह दंत—कथा और बातों में भले ही ठीक हो; परन्तु कम से कम तिथियाँ और सम्वत् ठीक नहीं हैं और न सूरदास के पिता का हाल ही ठीक है। 'आईन-ए-अकबरी' में जो सन् १५-९६-९७ ई० में लिखी गई थी, सूरदास और उनके पिता रामदास का इस प्रकार वर्णन किया गया है जिससे ज्ञात होता है कि वे दोनों ही उस समय जीवित थे। अब्बुल फ़ज़ल ने लिखा है कि रामदास ग्वालियर से आया था।

[*] श्रीवल्लभाचार्य।

परन्तु बदाऊनी का मत है कि वह लखनऊ से आया था।

भारतवर्ष में काश्मीर से लेकर रासकुमारी तक सूरदास अपने भक्ति-भाव और प्रेम के लिए बहुत प्रसिद्ध हैं और उनके विषय में और भी कई दन्त-कथाएँ प्रचलित हैं। उनमें से एक यहाँ दी जाती है।

अन्धे हो जाने पर सूरदास भजन बनाया करते और स्वयं न लिख सकने के कारण किसी अन्य व्यक्ति से उन्हें लिखवाया करते थे। उस समय श्रीकृष्णजी कवि के मुख से शब्दों और पदों के उच्चारण होने से पहिले ही उन्हें लिखते जाते थे। अन्त में सूरदास ताड़ गये कि "वे अन्तर्यामी परमेश्वर हैं" और तुरन्त उनका हाथ पकड़ लिया; परन्तु कृष्ण जी ने उनका हाथ झटक कर भाग जाने की चेष्टा की। तब सूरदास ने अपना सबसे प्रसिद्ध यह छन्द कहा:—

"हाथ छुड़ाए जात हो निबल जानके मोहि।
हिरदय से जब जाओगे मरद बखानूँ तोहि'॥

जिसका अर्थ यह है कि आप मुझे निर्बल और एक तुच्छ जीव समझकर अपना हाथ छुड़ाए जाते हो; परन्तु जब आप मेरे हृदय से भी निकल जासको तभी मैं आपको बलवान समझूँ। अर्थात् केवल मात्र मेरा हाथ झटक कर भाग जाने की चेष्टा करने से आप मुझे अपनी ओर से विरक्त करने में सफल नहीं हो सकते, मैं आपका ध्यान नहीं छोड़ सकता।

एक अंग्रेजी विद्वान् ने इसका अर्थ यह किया है:-
Thou thrustest away my hand and Departest, knowing that I am weak (and pretending that thou art but a man), But not till thou depart from my heart, will I confess thee to be a mortal."

अर्थात् यह जानकर कि मैं दुर्बल हूँ और अपने आप एक साधारण प्राणी होने का बहाना करके, आप इस प्रकार मेरा हाथ झटक कर जाने की चेष्टा करते हो; परन्तु जब तक आप मेरे हृदय से न निकल जाओगे मैं आप को मनुष्य नहीं समझ सकता।

कुछ भी क्यों न हो इसका अर्थ साफ़ है और इससे सूरदास की असीम भक्ति और अथाह प्रेम प्रकट होता है। कहते हैं कि उसी समय भगवान् श्रीकृष्ण ने प्रसन्न होकर सूरदास से कहा:— "सूरदास! चिन्ता न करो। मैं तुम्हारी परीक्षा कर रहा था, अब मैं तुम्हारे साथ हूँ।"

साहित्य में सूरदास का कौनसा स्थान है यह बात निर्विवाद सिद्ध है। उनको एक प्रतिष्ठित और उच्च स्थान दिये जाने पर देशी और विदेशी सभी विद्वानों का एक ही मत है। सभी मुक्तकण्ठ से उनकी प्रशंसा करते हैं। सूरदास सब प्रकार की शब्द-रचना और रसों के वर्णन में सिद्ध-हस्त थे। समयानुसार भजन, छन्द, दोहे और कवित्त इत्यादि कह सकते थे। किसी किसी विशेष गुण के लिए अन्य कवियों की तुलना सूरदास से की जा सकती है; परन्तु सूरदास में सभी गुण और उत्तमताएँ थीं। अकबर के दरबार के किसी कवि ने लिखा है:—" गंग छन्द और छोटी छोटी कविताएँ अच्छी कहते हैं, बीरबल कवित्त कहने में सिद्ध-हस्त हैं, केशव अपनी कविता के अर्थ के गौरव के लिए प्रसिद्ध हैं; परन्तु सूर में इन तीनों ही के गुण हैं।"

मौलिकता का महत्त्व।

(लेखक-पं० गोपाल दामोदर तामसकर, एम. ए., एल. टी.)

मौलिकता दुर्लभ गुण है। वह सर्वत्र नहीं दिखलाई पड़ता। 'शैले शैले न माणिक्यं' के समान 'लेखे लेखे न मौलिक्यं' भी ठीक है। परन्तु इससे कोई यह न समझ ले कि मौलिकता केवल शोभामात्र है और दुर्लभता के कारण उसका मूल्य अधिक है। दुर्लभता से वस्तु की क़ीमत बढ़ ज़रूर जाती है; परन्तु उपयोगिता नहीं बढ़ती। किसी वस्तु के महत्त्व में उसकी दुर्लभता का ही विचार नहीं रहता, मुख्य विचार रहता है उपयोगिता का। लोहा बहुत दुर्लभ नहीं, परन्तु मनुष्य के लिए बहुतही उपयोगी पदार्थ है और इस कारण हमारे लिए उसका महत्त्व सोने की अपेक्षा अधिक है। इसी दृष्टि से मौलिकता के महत्त्व का विचार करना चाहिए।

मौलिकता में तीन प्रधान गुण होते हैं—(क) जिस देश में वह लेख लिखा जाता है उस देश की, (ख) जिस काल में लिखा जाता है उस काल की, और (ग) जिस व्यक्ति द्वारा लिखा जाता है उस व्यक्ति की छाया उस लेख में बड़ी गहरी रहती है। प्रत्येक मनुष्य के विचार अपने ही देश और काल से अधिक मिलते-जुलते रहते हैं। इस कारण मौलिक विचारों का प्रभाव लोगों के मनों पर भरपूर होता है। व्यक्ति की छाया का परिणाम यह होता है कि लेख स्वाभाविक होता है, कृत्रिम नहीं। उसकी भाषा, उसकी विचारशैली आदि स्वाभाविक होने के कारण वह लेख ज़ोरदार होता है। इस कारण मौलिक लेखों का मनुष्यों के मन पर और भी अधिक प्रभाव पड़ता है। लेख में स्वाभाविकता जितनी अधिक होगी उतना ही वह परिणामकारक होगा।

इन गुणों के कारण मौलिकता का महत्त्व किसी देश के लिए, किसी भी काल के लिए और किसी भी व्यक्ति के लिए बहुत अधिक है। अनुवाद में ये गुण नहीं पाये जाते। इस कारण उसका महत्त्व कम है। परन्तु, अनुवाद के भी कई भेद होते हैं। उनमें भी थोड़ी बहुत मौलिकता आ सकती है। भावानुवाद, छायानुवाद, मर्मानुवाद-इनमें अनुक्रम से मौलिकता बढ़ती जाती है। इस कारण लोग भी उनकी क़ीमत इसी क्रम से करते हैं। 'आधारात्मक' पुस्तकों में मर्मानुवाद से भी अधिक मौलिकता रहती है, अर्थात् देश, काल, और लेखक के व्यक्तित्व का प्रभाव उसमें अधिक दीख पड़ता है। इस कारण 'आधारात्मक' पुस्तकों की क़ीमत भी अधिक है। इनमें कई श्रेणियाँ हो सकती हैं। आधारभूत पुस्तकों की संख्या जितनी बढ़ती जावेगी, अर्थात् किसी एक पुस्तक के आधार की मात्रा जितनी कम होगी, उतनी ही लिखी पुस्तक की मौलिकता बढ़ती जावेगी और लोगों में उसकी उपयोगिता अधिक होगी। इसी कारण लोग शाब्दिक अनुवादों को कम पसन्द करते हैं।

परन्तु, भौतिक विज्ञान की बात कुछ भिन्न है। इस प्रकार के विज्ञान के तत्व सार्वदेशीय और सार्वकालिक सत्य होते हैं। देश और काल के परिवर्तन से उन तत्वों की सत्यता में कोई विशेष अन्तर नहीं होता। इस कारण इन पुस्तकों के अनुवाद किये बिना अन्य उपाय नहीं और लोग इन अनुवादों को बुरा भी नहीं कहते; तथापि इस विषय की भी पुस्तकें देश और काल की आवश्यकताओं को देखकर बनानी पड़ती हैं, अन्यथा उनकी उपयोगिता कम हो जाती है। अनुवाद बहुधा नितांत मौलिक पुस्तकों का तो अनुवाद होता है; परन्तु बाक़ी पुस्तकें आधारात्मक ही बनाई जाती हैं।

कल्पनात्मक पुस्तकों में देश, काल और व्यक्तित्व के परिणाम बहुत ही क्या, सब से अधिक रहते हैं। इस कारण ऐसी पुस्तकों का अनुवाद बहुत ही हीन लेख समझा जाता है। जो मूल पढ़ और समझ सकते हैं उनके लिए अनुवाद की आवश्यकता नहीं। जो मूल पढ़ और समझ नहीं सकते उनको अनुवाद से कोई विशेष लाभ नहीं; क्योंकि मूल की भाषा से अपरिचित होने के कारण उस देश के समाज और इतिहास की बातें मालूम होने की संभावना कम रहती है। समाज के रीति-रस्म और इतिहास को जाने बिना कल्पनात्मक पुस्तकों का पूरा रसास्वाद नहीं मिलता। हाँ, कोई भी समझदार पुरुष इतना अवश्य मानेगा कि इस प्रकार के कुछ उच्च ग्रंथों का अनुवाद बुरा नहीं, उनमें देश, काल और व्यक्तित्व न दीख पड़ेंगे; परन्तु एक बात अवश्य रहेगी और वह है मनुष्य का स्वभाव, इसी दृष्टि से ये पुस्तकें पठनीय होती हैं। गंदी और रद्दी 'मौलिक' पुस्तकों की अपेक्षा उच्च कोटि के उत्तम ग्रंथों के अनुवाद कभी बुरे नहीं होते।

उल्लिखित गुणों के सिवा, मौलिकता में एक और गुण है और वह भी भारी महत्व का है। मौलिकता से दुनियाँ के ज्ञान-भाण्डार में वृद्धि भी होती है, अनुवादों से ज्ञान का केवल वितरण होता है। यह भेद भी बड़ा भारी है। मनुष्य की सदा इच्छा रहती है कि मैं ऐसा कुछ कार्य करूँ जो और किसी ने न किया हो। यह इच्छा मौलिकता की वृद्धि का कारण है और उसमें उसका महत्त्व भी है। मौलिक उत्पत्ति करने की इच्छा में ही मौलिक उत्पत्ति देखने की भी इच्छा समाविष्ट है। इस इच्छा के वश लोग नई नई रचना करने का प्रयत्न करते हैं। जो ऐसा कर सकते हैं वे अपने को दूसरों से अधिक योग्य समझते हैं। इस कारण लोग दूसरों की योग्यता तभी मानते हैं कि जब उनमें भी कुछ नई बातें दीख पड़ें। इस तरह नई बातें करने और देखने की इच्छा परस्पर-सम्बद्ध रहती है।

मौलिकता से व्यक्ति की ही योग्यता नहीं दीख पड़ती; किन्तु राष्ट्रीय उन्नति भी जानी जाती है। व्यक्ति व्यक्ति के बीच बराबरी की जैसी इच्छा रहती है वैसी ही राष्ट्र राष्ट्र के बीच होती है। इसलिए प्रत्येक राष्ट्र चाहता है कि हमारे देश में ऐसी पुस्तकें लिखी जावें जैसी दूसरे देशों में न लिखी गई हों। इस दृष्टि से भी लोग, जाने-अनजाने, मौलिक ग्रंथों का विचार किया करते हैं और इस कारण उनकी दृष्टि में ऐसे ग्रंथों का महत्व अधिक बना रहता है। यह स्पष्ट ही है कि मौलिक ग्रंथों का यह महत्व मनोभावना-मूलक भी है केवल उपयोगिता-मूलक नहीं। इस कारण कभी कभी ग्रंथों की समालोचना युक्ति-हीन रहती है। ऐसे समय में मनोभावना को दूरकर केवल उपयोगिता की दृष्टि से पुस्तकों की समालोचना करनी चाहिए; परन्तु यह इच्छा नितांत बुरी नहीं है। उसमें भलाई का भी भाग है। वह यह है कि इस इच्छा से लोग मौलिक पुस्तकें लिखने की ओर झुकते हैं।

व्यक्ति समाज का एक अंग है। इस कारण समाज की इच्छाओं का उसपर भारी प्रभाव पड़ता है। समष्टि की इच्छाएँ व्यष्टि में भी थोड़े बहुत प्रमाण में अवश्य दीख पड़ती हैं और इस प्रेरणा से भी नई पुस्तकों की सृष्टि लोग किया करते हैं। समाज में लोग आत्म-महत्त्व बढ़ाना अवश्य चाहते हैं; परन्तु यह भी जाने-अनजाने चाहते हैं कि अपने समाज का महत्त्व बढ़े। इसे सभी सदिच्छा ही कहेंगे; परन्तु जब वह बहुत तानी जाती है, लेखक पर जब वह बहुत अधिक मात्रा में लागू की जाती है, तब उसके

बुरे परिणाम भी देखने में आते हैं। इसी कारण मनोभावना-मूलक महत्त्व को उपयोगिता-मूलक महत्त्व से हमने हीन माना है।

सारांश, मौलिकता का महत्त्व केवल इसीलिए नहीं है कि वह दुर्लभ और दुष्प्राप्य है; किन्तु उसका मनुष्य-समाज के लिए वास्तविक उपयोग है। अतएव उपयोगिता की दृष्टि से ही पुस्तकों की समालोचना करनी चाहिए। कोई पुस्तक अनुवाद ग्रन्थ है, इसी कारण उसकी बुरी समालोचना करना या मौलिक है इसलिए उसे अच्छा कहना ठीक नहीं। मनोभावना-मूलक महत्त्व विचारणीय है; परन्तु उसे बहुत तानना ठीक नहीं। राष्ट्रीय प्रगति की वह एक माप है और बहुतांश में राष्ट्रीय शिक्षा का परिणाम है। राष्ट्र की शिक्षा का प्रबंध जितना अच्छा होगा उतनी ही मौलिकता भी दीख पड़ेगी।

साहित्य-सुमन।

(१) दमन-नीति का तत्व।

गत मई मास के 'माडर्न रिव्यू' में प्रकाशित एक नोट में यह विचार बहुत सुन्दर रीति से किया गया है कि मनुष्यों को आन्दोलन करने की ज़रूरत क्यों पड़ती है; और यदि वे अकारण ही आन्दोलन करते हैं तो वह आन्दोलन सर्व-व्यापी न होना चाहिए और न मनुष्यों को अधिक संख्या में कष्ट सहने के लिए ही कटिबद्ध होना चाहिए। लेखक के शब्दों में—

"मान लीजिए कि जो मनुष्य आजकल जगह जगह पकड़े जा रहे हैं उन सबने क़ानून भंग किया है; पर प्रश्न यह होता है क्या उन लोगों को कष्ट भोगने और अपने कुटुम्ब को दुःख-सागर में डुबाने का शौक़ है? फिर बात क्या है जो वे प्रसन्नता-पूर्वक इस कष्ट का आह्वान कर रहे हैं? मनुष्य अपने को वीर क्यों कहलाना चाहते हैं? क्या यह सत्य है कि कष्ट भोगनेवाले ये लोग गुमराह हैं और नौकरशाही ही ठीक मार्ग पर चल रही है? इस विषय में इतिहास क्या कहता है?

"क्या पाशविक बल से ये दोष दूर हो सकते हैं? क्या इतिहास से यह पता चलता है कि पाशविक बल से कभी ये दोष दूर हुए हैं?

"सरकार को दमन-नीति का अवलम्बन करना पड़ता है, क्या केवल इसी एक बात से शासन-प्रबन्ध की हीनता नहीं प्रकट होती है? नौकरशाही चाहे कुछ भी समझे, मानव-स्वभाव कष्ट की अपेक्षा सुख और शान्ति अधिक चाहता है और जब मनुष्य स्वार्थ-भरे सुख और शान्ति के बदले कष्ट सहने को तैयार हो जाते हैं तो वे अवश्य ही किसी उच्च ध्येय की प्राप्ति के लिए ऐसा करते हैं। यह कहना या समझना कि आन्दोलक मनुष्यों को बहका रहे हैं निरी मूर्खता है। यदि मनुष्य मज़े से ख़ूब खाते-पीते और हट्टे-कट्टे हैं तो क्या आन्दोलनकारी वर्ग उन मनुष्यों के मन में यह भाव भर सकता है कि वे भूखे और दुर्बल हैं? यदि उनके पास यथेष्ट कपड़े-लत्ते हैं, तो क्या आन्दोलनकारी वर्ग उन्हें यह बता सकता है कि वे लोग नंगे हैं या उनके पास फटे-पुराने कपड़े हैं? यदि वे साफ़-सुथरे घर में रहते हैं, तो क्या आन्दोलनकारी वर्ग उन्हें यह विश्वास करा सकता है कि वे झोपड़ियों में, या खुले मैदान में रहते हैं? यदि वे बीमारियों से काल-कवलित नहीं होते हैं, यदि उन्हें समय पर ओषधि मिलती है तो क्या आन्दोलनकारी वर्ग उन्हें यह विश्वास दिला सकता है कि वे लोग

उपयोगी औषधि बिना कीड़ों-पतंगों के समान मर रहे हैं ? यदि वे लोग पढ़े-लिखे हैं तो क्या आन्दोलनकारी वर्ग यह विश्वास करा सकता है कि वे अपढ़ हैं ? यदि उनके साथ सहानुभूति-पूर्वक व्यवहार किया जाता है, यदि उनपर अन्याय और अत्याचार नहीं किया जाता, यदि वे आत्माभिमान-पूर्वक अपना जीवन व्यतीत करते हैं, तो क्या आन्दोलनकारी-वर्ग उन्हें यह विश्वास करा सकता है कि उनपर अत्याचार होते हैं, उनके साथ बुरा व्यवहार किया जाता है और वे गुलाम समझे जाते हैं ? यदि अपने देश के काम-काज में मनुष्यों का कोई हाथ है, तो क्या आन्दोलनकारी वर्ग यह विश्वास करा सकता है कि उनके अधिकार छीन लिये गए हैं और वे पूरे गुलाम हैं ?

"यदि आन्दोलनकारी वर्ग यह सब कुछ कर सकता है तो कहना चाहिए कि उसके पास अद्भुत शक्ति है और ऐसी दशा में नौकरशाही जितनी जल्दी उनसे सन्धि करले उतना ही अच्छा । नौकरशाही को यह ध्यान रखना चाहिए कि संसार की कोई भी शक्ति, चाहे वह आन्दोलनकारी वर्ग ही हो, सदैव सब मनुष्यों को मूर्खता के गड्ढे में नहीं रख सकता है, चाहे थोड़े समय के लिए थोड़े से मनुष्य इस भूलभुलैयाँ में भले ही डाले जा सकें ।"

(२) लोक-तंत्र ।

यूरोप में तो लोक-तंत्र का प्रवाह शताब्दियों से बह रहा है । विगत पचास वर्षों से उसने सीमातिक्रांत कर एशिया में भी पदार्पण किया है । भारत ने भी उसका स्वागत किया है । लोक-तंत्र-वाद के वास्तविक अर्थ को समझने और समझाने का प्रयत्न हो रहा है । जून के "इंडियन रिव्यू" में एक लेखक ने इसी प्रकार का प्रयत्न किया है । उसकी कुछ विचारणीय बातें यहाँ दी जाती हैं ।

लोकतंत्र का पर्यायवाची अंग्रेजी का 'Democracy' शब्द यूनानी भाषा के 'Demos' शब्द से निकला है । 'Demos' का अर्थ है "स्वतंत्र नागरिकों का पूर्ण समूह;" अतएव 'Democracy' का अर्थ है "समाज के सब प्रकार के लोगों का शासन" । 'Democracy' के लिए हिन्दी में 'प्रजातंत्र' शब्द भी व्यवहृत होता है; परन्तु यह ठीक नहीं जँचता । 'प्रजा' संबंधवाची शब्द है । 'राजा' के अभाव में प्रजा शब्द निरर्थक हो जाता है । Democracy राज-तंत्र के अस्तित्व को जायज़ नहीं समझती; अतएव उसके लिए 'प्रजातंत्र' शब्द का व्यवहार भ्रमात्मक है । 'लोकतंत्र' ही Democracy का उत्कृष्ट पर्यायवाची जान पड़ता है ।

ऐसा जान पड़ता है कि आजकल लोकतंत्र का वास्तविक अर्थ यूरोप-निवासी भी नहीं समझ रहे हैं । मजदूर और किसानों की शासन-स्थापना का वहाँ जो प्रयत्न हो रहा है वह लोक-तांत्रिक शासन कभी नहीं कहला सकता । इसी प्रकार मद्रास में जिन लोगों ने लोक-तंत्र की चिल्लाहट मचाकर एकमात्र अब्राह्मणों के शासन का प्रयत्न किया है वे या तो स्वयं भ्रम में हैं, अथवा जनता को धोखा दे रहे हैं । आदर्श लोकतंत्र वही कहला सकता है, जिसके संचालन में कुली, किसान धनी, निर्धनी, कुलीन और अकुलीन सबका प्रत्यक्ष अथवा प्रतिनिधि द्वारा हाथ हो ।

लोक-तंत्र में गुण भी हैं, दुर्गुण भी हैं। विद्वान् प्रोफेसर फ्रीमैन के शब्दों में लेखक लोक-तंत्र के सद्गुणों का वर्णन इस प्रकार करता है:- "लोकतंत्र ही एकमात्र शासन-संगठन है, जो प्रत्येक मनुष्य को इस बात का मौक़ा देता है कि वह अपनी सैनिक शक्तियों का पूर्ण उपयोग कर सके। लोकतंत्र ही के द्वारा सम्पूर्ण समाज की भी शक्तियों का पूर्ण विकास हो सकता है।"

लोक-तंत्र में अनेक अवगुण हैं, जिनमें से लेखक ने तीन पर प्रकाश डाला है। आजकल जिन देशों में लोकतंत्र शासन स्थापित है प्रायः वे सब बड़े हैं। अधिक जन-समाज के कारण प्रत्येक व्यक्ति शासन में भाग नहीं ले सकता, अतएव प्रतिनिधि चुने जाते हैं। इस प्रतिनिधि-प्रथा से पैतृक प्रतिनिधित्व (oligarchy) का दोष उत्पन्न हो जाता है, अर्थात् किसी विशेष समाज के प्रतिनिधि बार बार एक ही वंश से चुने जाते हैं। प्रबल हो जाने पर यह वंश स्वयं शासनाधिकार हड़प कर लोक-तंत्र का अन्त कर देता है। इसके सिवा प्रतिनिधि-प्रथा के कारण दलबन्दी प्रारम्भ होती है और शासनाधिकार अनेक के स्थान पर मुट्ठी भर लोगों के हाथों में चला जाता है। सुप्रसिद्ध लेखक कारलाईल लोक-तंत्र के घोर विरोधी थे। उनके विरोध का प्रबल कारण यह था कि लोकतंत्र में वोट देने वाले लोग क़ानूनी और चालबाज लोगों के फंदे पड़ जाते हैं और शान्त व्यक्ति को भूल जाते हैं। यह तर्क इतना युक्तिपूर्ण है, और अनुभव ने इसे अब तक इस ख़ूबी से सिद्ध किया है कि लोक-तंत्र के अनन्य भक्त भी इसका उचित उत्तर नहीं दे सकते हैं। हाँ, 'उदात्त और शांत' कारलाईल को गालियाँ देने और बदनाम करने में इन्होंने कुछ उठा नहीं रक्खा।

उपरोक्त दोष प्रतिनिधियों की स्वार्थ-परायणता और कूटनीति से उत्पन्न होता है; परन्तु क्या स्वयं जनता पूर्ण और उच्च आदर्श-विहीन नहीं होती? जन-समुदाय विवेक-शून्य और उत्तेजित होता है। ठंडे दिमाग के व्यक्ति भी भीड़ में मिलकर उत्तेजित होजाते हैं। ऐसी दशा में यह आशा कैसे की जा सकती है कि लोक-तांत्रिक शासन द्वारा जनता राष्ट्रीय जीवन को नीचे गिरा कर उत्कर्ष की ओर ले जा सकेगी?

लेखक महोदय का कथन है:—"हमें निराश नहीं हो जाना चाहिए; क्योंकि सुसंगठित समाज की सामूहिक प्रवृति वैयक्तिक प्रवृत्ति की अपेक्षा मानसिक और नैतिक दोनों क्षेत्रों में अधिक उच्चता को प्राप्त होती है।"

यह कहना कठिन है कि लेखक का कथन कहाँ तक मान्य है। यूनान देश के नागरिक राष्ट्रों में अल्प जनसंख्या होने के कारण प्रतिनिधि-प्रथा न थी। वे सुसंगठित भी थे; परन्तु जिसने यूनान का इतिहास तर्कशील दृष्टि से पढ़ा है, वह भली भाँति जानता है कि उनमें ईर्ष्या, द्वेष, स्वार्थ, शारीरिक सुखेच्छा आदि नीच प्रवृत्तियों का कितना प्रबल राज्य था। दार्शनिक सुकरात को विष का प्याला इस सुगठित लोकतांत्रिक समाज में ही दिया गया था।

लोकतंत्र-विषयक ये ऐसे प्रश्न हैं जिन्हें यूरोप हल नहीं कर सका है, देखें एशिया क्या करता।

है। एडवर्ड कारपेन्टर के शब्दों में यूरोप तो यही जपता जान पड़ता है—Democracy with all thy faults I love thee still. अर्थात लोकतन्त्र ! तुझमें अनेक बुराइयाँ होते हुए भी, तू मुझे प्यारा है।

(३) नगर की कसौटी।

चाणक्य ने अपने नीति-शास्त्र में लिखा है कि मनुष्य को उसी नगर में रहना चाहिए जहाँ पाँच हों—राजा, पंडित, वैद्य, महाजन और जलपूर्ण नदी। यह उपदेश चाणक्य के समय जितना महत्त्वपूर्ण था उतना ही अब भी है; किन्तु समय के प्रभाव में पड़ कर लोग इसे भूल सा गये हैं। एक अमरिकन पत्र ने अभी हाल में दस ऐसी बातें बतलाई हैं, जिनके होने से कोई नगर रहने-योग्य कहा जा सकता है, अन्यथा नहीं। संक्षिप्त विवरण-सहित वे इस प्रकार हैं:—

(१) वह आकर्षक हो।

क्या उसमें ऐसी चौड़ी सड़कें हैं जिनके दोनों ओर छायादार सुन्दर पेड़ हैं ? क्या उसमें अच्छे अच्छे महल हैं ? क्या वह खूब खुला और दूर दूर बसा है ? क्या वह यथेष्ट स्वच्छ और प्रकाशयुक्त है ?

(२) वह स्वास्थ्यप्रद हो।

क्या उसमें रहने से मनुष्य नीरोग रहेगा ? स्वच्छता का क्या प्रबन्ध है ? पानी का प्रबन्ध कैसा है ? दूध की विशुद्धता की परीक्षा करने के लिए क्या प्रबन्ध है ? अस्पताल हैं या नहीं ?

(३) शिक्षा-दान का प्रबन्ध हो।

क्या वहाँ रहने वालों को और उनके बाल-बच्चों को यथेष्ट शिक्षा मिल सकती है ? सार्वजनिक पाठशालाओं का प्रबन्ध कैसा है ? उच्च शिक्षा तथा व्यवसायिक शिक्षा का प्रबन्ध कैसा है ? पुस्तकालय तथा वाचनालय हैं या नहीं ? डाकखाना है ? क्या ऐसा भी कोई स्थान है या नहीं जहाँ वादविवाद, व्याख्यान आदि हुआ करते हों ?

(४) निवासी सहानुभूति-पूर्ण हों।

क्या नगर-निवासी मित्र के समान सहानुभूति-प्रदर्शक हैं ? झूठे और झगड़ालू तो नहीं हैं ? क्या वहाँ धार्मिक और सामाजिक संगठन है ?

(५) मनबहलाव की बातें हों।

क्या उसमें मनबहलाव के लिए विचित्रालय, नाटक-भवन, खेल-घर, उद्यान आदि हैं ? क्या वहाँ ऐसी कोई संस्थाएँ हैं जो खेल आदि के उत्तेजना देती हों ? सुबह-शाम, हवाखोरी के लिए, यथेष्ट स्थान है या नहीं ?

(६) जीवन-निर्वाह सस्ता हो।

क्या वहाँ सस्ते में जीवन-निर्वाह हो सकता है ? क्या वहाँ बिजली, गैस, टेलीफ़ोन आदि का सुभीता है ? उपाहार-गृह अच्छे हैं ? शाक-भाजी यथेष्ट मिल सकती हैं ?

(७) आने-जाने का सुपास हो।

क्या उस शहर से बाहर आने-जाने के लिए सवारी का अच्छा प्रबन्ध है ? रेल आदि का खूब विस्तार है ? शहर में और आसपास के मार्ग पक्के हैं ?

(८) व्यापार का स्थान हो।

क्या वहाँ पूँजी लगाने से लाभ हो सकता है? बैंक हैं? बड़ी बड़ी दूकानें हैं? जहाज आने-जाने का सुभीता है? व्यापार-संबन्धी सहयोग-समितियाँ हैं? व्यापार में ईमानदारी होती है?

(९) नौकरी मिल सकती हो।

क्या उसमें यथेष्ट वेतन पर ऐसी नौकरी मिल सकती है जहाँ भविष्य में तरक्की की आशा हो? क्या वहाँ बाहिरी आदमियों को सुभीता कर देने के लिए कोई संघ स्थापित हैं?

(१०) उन्नति का स्थान हो।

क्या वहाँ म्यूनिसिपाल्टी का अच्छा प्रबन्ध है? नागरिक के पूरे अधिकार हैं? आग से बचाने के लिए यंत्रादि का प्रबन्ध है? भविष्य में आगे बढ़ने की कोई आशा है? क्या नगर उन्नति पर है?

इस अमेरिकन कसौटी पर रखकर पाठकगण भिन्न भिन्न नगरों और ग्रामों की जाँच कर सकते हैं। कदाचित् भारतवर्ष में तो एक भी नगर ऐसा न निकलेगा जहाँ ये सब बातें हों। हम समझते हैं, इस समय इन सबकी आवश्यकता भी भारत को नहीं है। इस समय तो जहाँ ये पाँच बातें हों वहाँ रहना चाहिए:—

१—दिल से काम करने वाली कांग्रेस-कमेटी, पञ्चायती अदालत और स्वयं-सेवक-दल।

२—घर घर चर्खा और गाँव की माँग पूरी करने वाले जुलाहे।

३—जेल जाने को सदैव तैयार रहने वाले शान्तिप्रिय असहयोगी कार्यकर्त्ता।

४—अहिंसा व्रत को धारण करने वाली शान्ति-प्रिय असहयोगी जनता।

५—मिहनती मजदूर और किसानों की दशा सुधारने वाले, अछूतों का उद्धार करने वाले, हिन्दू-मुसलिम-एकता के पक्षपाती तथा उदार, सहानुभूति-प्रदर्शक, सच्चे कट्टर असहयोगी रईस और महाजन।

(४) व्यवस्थापिका सभाओं में स्त्री प्रतिनिधि की आवश्यकता क्यों है?

इँग्लैण्ड की पार्लमेन्ट में स्त्रियों की ओर से जो प्रतिनिधि चुनी गई हैं उनका नाम है लेडी एसटर। ये अमेरिकन हैं; इसलिए अमेरिकन स्त्री-वर्ग को इस बात का अभिमान है कि उनमें से एक महिला एक बड़े साम्राज्य की राज-सभा में प्रतिनिधि हुई है।

लेडी एसटर अपनी योग्यता और स्त्री-वर्ग के प्रति अपनी कर्त्तव्य-बुद्धि के लिए प्रसिद्ध हैं। उनने अपने एक लेख में बतलाया है कि स्त्रियों को व्यवस्थापिका सभाओं में क्यों सम्मिलित होना चाहिए। उनका कहना है:—

"स्त्रियों का दृष्टि-कोण पुरुषों के दृष्टि-कोण से भिन्न है; इसलिए जबतक यह भिन्नता है तबतक स्त्रियों को प्रत्येक सार्वजनिक कार्य में अपना भिन्न भाग लेना चाहिए। मनुष्य इस भिन्नता को भलीभाँति जानते हैं। वे यह भी जानते हैं कि उनके ऊपर उनकी माता का प्रभाव, पिता की अपेक्षा, किसी रूप में अधिक और भिन्न है; किन्तु वे उसे सदैव समझा नहीं सकते। प्रभाव की उसी अधिकता के कारण स्त्रियों को राजनैतिक क्षेत्र में आकर भाग लेने की जरूरत है।

"निदान, मनुष्य आधा मनुष्य ही ठहरा; वह अकेला पूरा नहीं हो सकता। यद्यपि उसने सदैव

ऐसे काम किये हैं जिनमें उसने यह दिखाया है मानो वह अपने तईं पूरा मनुष्य है। वह सरकार जिसमें केवल आधा मनुष्य-समाज भाग लेता है न तो लोक-तन्त्र कहलाई जा सकती और न न्यायपूर्ण। स्त्रियाँ अपने तईं मनुष्यों से उच्च नहीं होना चाहतीं; परन्तु वे मनुष्य अवश्य बनना चाहती हैं और केवल उतनी ही जितने कि मनुष्य स्वयं मनुष्य बनना चाहते हैं। अतएव उन्हें मनुष्यों के ही समान अधिकार, कार्य-भार, और उत्तरदायित्व मिलना चाहिए। जिस प्रकार मनुष्य अपने कुछ सद्गुणों और विशेषताओं से सरकार और शासन का लाभ पहुँचा सकते हैं उसी प्रकार स्त्रियाँ भी पहुँचा सकती हैं।"

इसी सम्बन्ध में लेडी एसटर के ये दो वाक्य बड़े महत्व के हैं:—"जब तक कि तुम पूरे मनुष्य न हो लो तब तक पूरा शासनाधिकार तुम्हें नहीं मिल सकता।"

"मैंने स्त्रियों को यह पूछते सुना है कि स्त्रियों को हाउस आव कामन्स में क्यों बैठना चाहिए। मैं इस बात का अनुभव करती हूँ कि किसी न किसी को अनाथ बालकों की रक्षा करना चाहिए और इसीलिए मैं कामन्स सभा में जाने को तैयार हूँ कि वहाँ जाकर न केवल स्त्रियों और पुरुषों की भलाई कर सकूँ, किन्तु बालकों का विशेष हित-चिन्तन करने में सफल हो सकूँ।"

(५) नया अपराध।

बागलकोट-निवासी श्रीयुत जयराव सुलिकेरी महाशय ने "मराठा" में 'नया अपराध' शीर्षक एक नोट छपवाया है। वह जितना मज़ेदार है उतना ही सामयिक और शिक्षाप्रद है। आप लिखते हैं:—

"अमेरिका के एक प्रसिद्ध हास्यरस-लेखक मार्क ट्वेन ने पागलपन के उदाहरण देते हुए एक बार लिखा था कि अमेरिका में एक ऐसा समय हो चुका है जब अपराधियों को पागलपन के कारण किये गये अपराधों के लिए कुछ भी दण्ड नहीं दिया जाता था। उन दिनों प्रायः सभी अपराधी अपने को पागल बताकर दण्ड पाने से छुटकारा पा जाया करते थे। एक दिन हेकेट नामक एक अमेरिकावासी ने एक जर्मन क़साई को मार डाला। दण्ड दिये जाते समय उसने कहा कि मैंने तो उसे उस समय मारा है, जब मैं होश में न था। जब मुक़द्दमा पंचों के पास पहुँचा तो उन्होंने उसके कहने को बहाना माना; किन्तु हेकेट अपना पागल होना सिद्ध करके बच गया। उसने कहा कि पागलपन का यह दुर्गुण वंशानुक्रम से चला आ रहा है और मेरी स्त्री के सौतेले बाप से मुझे लग गया है। (हिन्दुस्थान की सौतेली मा के समान, यूरोप, अमेरिका आदि में सौतेले बाप भी हो जाते हैं।) बस, क्या था, हज़रत हेकेट छूट गये। अन्त में, अमेरिकावासियों को इस 'नये अपराध' के लिए क़ानून बना देना पड़ा।

"यह 'नया अपराध' आजकल हिन्दुस्थान में नौकरशाही के बीच ख़ूब ज़ोर पकड़ रहा है। यह पहले पहल जनरल डायर के द्वारा पंजाब में किया गया था। जिसमें जनरल डायर हेकेट के समान 'निर्णय की भूल' के नाम पर ख़ूब प्रसिद्धि पा चुका है। 'निर्णय की भूल' का दुर्गुण पागलपन का मामा है। उसके दो भाई और भी हैं। एक तो है 'सत्य-अस्वीकृति' और दूसरा 'मिथ्या पक्षपात'। जनरल डायर ने इसका नमूना उपस्थित किया और उसके भाई-बन्धुओं ने उसकी नकल की।

"इसी 'नये अपराध' में जनरल डायर ने पञ्जाब में हत्याकाण्ड कर डाला। इसी 'नये अपराध' में नानकाना के महन्त ने लछमणसिंह और उनके दल को क़त्ल कर डाला। इसी 'नये अपराध' में चन्द्रपुर की घटना घटित हुई। फिर यही 'नया अपराध' ही है जिसके कारण भिन्न २ प्रान्तों की सरकारें निर्दोष तथा शान्ति-प्रिय असहयोगियों पर कड़े हुक्म निकालतीं और सख्ती करती हैं। इसी 'नये अपराध' की बदौलत बीजापुर के मि० हेन्डरसन ने 'गांधी केप' से युद्ध ठाना है (जैसा कि मध्यप्रदेश में मि० डिक्स ने)। बीजापुर के मि० हीरेमथ भी इसी 'नये अपराध' में, कांग्रेस की सभासदी में, राज-विद्रोह की गन्ध पाते हैं।

'अमेरिका के समान, कहना चाहिए कि, यहाँ भी, इस 'नये अपराध' को रोकने के लिए क़ानून बनाया जाय। परन्तु प्रश्न यह है कि क़ानून बनावे कौन और कैसे? अमरीका के समान यहाँ क़ानून बनाना प्रजा के हाथों में तो है नहीं। हाँ, यह तभी हो सकता है जब कि स्वाधीनता-प्रेमी प्रत्येक भारतीय असहयोग में अपनी पूरी शक्ति लगा दे।"

अन्त में लेखक महाशय प्रश्न करते हैं कि—"क्या यह हो सकता है?" इसका उत्तर पाठक-गण ही अपने मन में दे लें और उसे कार्यरूप में परिणत कर दिखावें।

(६) इस्लाम धर्म और चरखा।

दा-इम-उल-इस्लाम नाम का ग्रंथ, १० वीं सदी में, कैरो के मुख्य न्यायकर्त्ता क़ाज़ी नोमन-बिन मुहम्मद साहब ने लिखा है। उसमें एक जगह लिखा है कि—"पैगम्बर साहब फ़रमाते हैं कि हर मुसलमान औरत के लिए सबसे बढ़िया धन्धा चरखा है।"

इस पर टीका करते हुए शेख़ इब्राहीम सैफ़ी नाम के सज्जन अपने "किताबुन्नजाह" नामक ग्रंथ में लिखते हैं—

"इससे प्रगट होता है कि पैगम्बर साहब ने उस स्त्री की प्रशंसा की है जो चरखे के चलाने में लगी रहती है। इसी तरह उन्होंने सूत कातने के काम की भी प्रशंसा की है। इसमें दो खूबियाँ हैं। एक तो यह कि वह घर ही में करने योग्य धन्धा है और दूसरी यह कि उससे रुपया कमाया जा सकता है। यह वह धन्धा है जिससे इस दुनिया में रोटी और दूसरी दुनिया में पुण्य मिल सकता है।

'कहा जाता है कि चरखे का आविष्कार करने वाले ने इस नैतिक दुनिया की नकल की है। उसमें दो हिस्से हैं, एक ऊँचा और दूसरा नीचा, जो स्वर्ग और नरक को बतलाते हैं। चरखे की गुलाई स्वर्ग की गुलाई को बतलाती है। उसका घूमना सितारों का घूमना बतलाता है। उसमें १२ आरे होते हैं जो १२ राशि के नक्षत्र-मंडल के समान हैं। उसके दो पैर दो पृथ्वी के उत्तर और दक्षिण ध्रुव हैं। उसमें एक मूठ होती है जो मनुष्य के काम का फल देने वाले स्वर्ग के गुण (धागा) को बतलाती है। उसमें एक धुरा होता है जो ध्रुवों की शक्ति का संबंध और एक दूसरों का सहायक होना बतलाता है। उसमें एक तकुवा होता है जिसपर सूत लपेटा जाता है। वह सब चीजें पैदा करने वाली दुनिया का द्योतक है। उसमें एक ऐसा धागा होता है जो आरों को तकुओं से जोड़ता और घुमाता है जिससे कपास काता जाता है। वह धागा उन उपायों को बतलाता है जिनसे स्वर्गीय वस्तुओं का पृथ्वी पर असर पड़ता है। कपास उन चार मूल पदार्थों को बतलाता है जिनसे संसार की सब वस्तुएँ बनी हैं और सूत इन तीन पदार्थों को बतलाता है-खनिज, पौधे

और प्राणी। कातने वाले के दो हाथ उन देव-दूतों के समान हैं जो संसार की बनावट का प्रबन्ध करते हैं। दहिना हाथ स्वर्ग-दूत और बायाँ हाथ पृथ्वी-दूत के समान है। अन्त में, यही कहना बस है कि कातने वाला सृष्टिकर्त्ता ईश्वर के समान हैं। यहाँ संसार में कातने वाला ही ईश्वर है।"

इससे पता चल सकता है कि २५० वर्ष पूर्व भी इस्लामी धर्म के अनुयायियों में चरखे का कितना महत्व था।

(७) विदेशी कपड़े का बहिष्कार कैसे किया जाय ?

महात्मा गांधी अपने 'यंग इंडिया' में लिखते हैं कि विदेशी कपड़े का बहिष्कार करने में हमारा उद्देश्य विदेशियों से वैर भँजाना नहीं है। अब यह बतलाने की आवश्यकता नहीं कि राष्ट्रीय-जीवन के अस्तित्व के लिए विदेशी वस्त्र का बहिष्कार करना उतना ही आवश्यक है जितना जीवन धारण करने के लिए स्वाँस लेना। स्वदेशी के बिना हम स्वराज्य स्थापित नहीं कर सकते और न स्थापित होने पर हम उसकी रक्षा ही कर सकते हैं। विदेशी कपड़े का बहिष्कार करने के लिए—

(१) मिल के मालिक अपने लाभ की सीमा निश्चित कर लें और देश के बाज़ार में खर्च होने वाला कपड़ा ही अधिक बनावें।

(२) बाहर से माल मँगाने वाले व्यापारी विदेशी माल ख़रीदना बन्द कर दें।

(३) लोग विदेशी कपड़ा न ख़रीदें। आवश्यकता पड़ने पर खादी ख़रीदें।

(४) लोग सिर्फ़ खादी का ही उपयोग करें। मिल का कपड़ा उन ग़रीबों के लिए रख छोड़ा जाय जो स्वदेशी और विदेशी का भेद न समझ सकें।

(५) स्वराज्य स्थापित न होने तथा अधिक खादी न बनने तक उतनी ही खादी ख़रीदी जावे जितनी कि शरीर ढाँकने के लिए ज़रूरी है।

(६) विदेशी कपड़े का नाश उसी प्रकार करो जिस प्रकार शराबी, पीने की प्रतिज्ञा कर शराब का नाश कर देते हैं; या विदेशी कपड़े को परदेश में या घर के दूसरे कामों में ख़र्च कर दो।

अन्त में, महात्माजी ने यह आशा की है कि प्रत्येक मनुष्य अपने अपने कर्तव्य का पालन करेगा। दृढ़ निश्चय से ही विजय होती है। हम सब को गुलामी के इस चिह्न को धारण करना छोड़ देना चाहिए।

पुस्तकादि-परिचय ।

१. सचित्र महाभारत—सम्पादक, पं० ईश्वरीप्रसाद शर्मा; प्रकाशक, बाबू रामलाल वर्म्मा, ३७१, अपर चीतपुर रोड, कलकत्ता; पृष्ठ-संख्या ३०८; चित्र-संख्या २२; मूल्य ३)

प्रकाशक का कथन है—"इसमें महाभारत के अठारहों पर्वों का सारांश दे दिया गया है, और उपन्यास के ढंग पर रचना की गई है जिसमें साधारण हिन्दी-पाठक भी इसे चाव के साथ पढ़ें और सम्पूर्ण महाभारत का सरल रीति से आशय समझ जायें। स्थान स्थान पर सुन्दर सुन्दर चित्रों की योजना कर हमने इसे और भी चित्ताकर्षक बनाने का प्रयत्न किया है, जिससे बालक, बूढ़े, स्त्रियाँ सब इसे देखते ही पढ़ने की उत्सुकता प्रकट करने लग जायें।" इसमें सन्देह नहीं, पुस्तक सरल और शुद्ध भाषा में, रोचक ढंग से, लिखी गई है। छपाई काग़ज़ आदि भी उत्तम है।

२. असहयोग अर्थात् असहयोग-सम्बन्धी एक-अंकी नाटक—प्रकाशक, भारत-पुस्तक-एजेंसी, दीक्षित-पुरा, जबलपुर; पृष्ठ-संख्या ६४; मूल्य ।)

कुछ मास पूर्व, मद्रास के मि० एस. एम. माइकेल द्वारा लिखित एक छोटासा अंग्रेज़ी नाटक प्रकाशित हुआ था जिसके पात्र मौलाना गांधी, महात्मा शौकतअली आदि थे। नाटक में असहयोग-आन्दोलन की व्यंग-पूर्ण व्याख्या और अन्त में उसकी विफलता तथा 'मौलाना गांधी' का वन-गमन चित्रित किया गया था। कई ऐंग्लो-इंडियन पत्रों ने उक्त अंग्रेज़ी नाटक को अपने अपने पत्रों में उद्धृत कर अपने सम्पादकीय कर्त्तव्य का पालन किया था। उसीका हिन्दी-अनुवाद जिसका शीर्षक 'असहयोग का मजाक था' स्थानीय "कर्मवीर" पत्र में प्रकाशित हुआ था। साथही उसका मुँहतोड़ उत्तर भी 'मज़ाक के बाद' शीर्षक से प्रकाशित हुआ था। इस उत्तर में असहयोग का उद्भव और तत्व, उसका भारत-व्यापी विस्तार तथा सफलता आदि बातें बहुत अच्छे ढंग से चित्रित की गई थीं। ये ही दोनों नाटक—मज़ाक और उसका उत्तर—प्रस्तुत पुस्तक में प्रकाशित किए गये हैं। पुस्तक सामयिक होने के साथ ही विनोद-पूर्ण है। सहयोगी और असहयोगी दोनों इसे पढ़ कर प्रसन्न होंगे।

३. हिन्दी स्वयंबोधनी, या हिन्दी-तेलगु-शिक्षा—लेखक, पं० पी. हृषिकेश शर्मा; प्रकाशक, हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन-प्रचार-कार्यालय, मइलापुर, मद्रास; पृष्ठ-संख्या १००; मूल्य ॥=)

महात्मा गांधी के निर्देश तथा हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के शुभ प्रयत्न से हिन्दी का प्रचार मद्रास प्रान्त में बढ़ रहा है—यह बहुत प्रसन्नता का विषय है। प्रस्तुत पुस्तक इसी प्रचार-कार्य में सहायता देने के उद्देश से लिखी गई है। लेखक के शब्दों में उसका उद्देश यह है—"आंध्र-भाषा-भाषी भाई, इस पुस्तक की मदद से हिन्दी का व्यावहारिक अभ्यास कर लें, यह तो इस किताब का मुख्य प्रयोजन है; और, यदि हिन्दी-भाषा-भाषी सज्जन भी मनोरंजन के लिये या आन्ध्र देश में पर्यटन करने के लिये आन्ध्रभाषा का साधारण कामचलाऊ अभ्यास करना चाहें, तो इसकी सहायता से कर सकते हैं।" लेखक की मातृ-भाषा कदाचित् मद्रासी है; इस हेतु भी उनका यह प्रयत्न, प्रथम होते हुए भी, अत्यन्त सराहनीय है।

४. दीनदयालगिरि-ग्रंथावली—बाबू श्यामसुन्दरदास बी० ए० द्वारा सम्पादित; प्रकाशक, नागरीप्रचारिणी सभा, काशी; पृष्ठ-संख्या २६०; मूल्य १)

दीनदयालगिरिजी काशीनिवासी थे। उनका शरीर छूटे अभी ५०-६० वर्ष ही हुए हैं। उनके ५ काव्य-ग्रंथ प्रसिद्ध हैं जो इस ग्रंथावली में सम्मिलित हैं। वे एक उच्च कोटि के कवि थे। उनकी कविता में सरलता, मनोहरता तथा प्रौढ़ता है। बहुत अच्छा हुआ जो उनकी कविता सर्व साधारण के लिए इस रूप में प्रकाशित होगई।

५. लाल फीता या मजिस्ट्रेट का इस्तीफा—लेखक, श्रीयुत प्रेमचंदजी; प्रकाशक, हिन्दी पुस्तकएजेंसी, १२६ हरिसन रोड, कलकत्ता; पृष्ठ-संख्या ३४; मूल्य -)

इस छोटीसी कहानी को पढ़ कर हम अत्यन्त प्रसन्न हुए। सरकार की अन्यायपूर्ण आज्ञाओं के पालन करने में असमर्थ होकर एक मजिस्ट्रेट ने किस प्रकार अपना इस्तीफा दिया और एक कृषक का सरल एवं शांतिमय जीवन स्वीकृत हुआ इसका रोचक वर्णन इस कहानी में है। लेखक प्रसिद्ध गल्प-लेखक होने के अतिरिक्त सच्चे असहयोगी भी हैं; अतः यह असहयोग की कहानी बहुत प्रभावोत्पादक हुई है।

लागत मूल्य पर ऐसे सामयिक साहित्य का प्रचार करने के लिए प्रकाशक धन्यवाद के पात्र हैं।

६. मूर्ख-मण्डली—रचयिता, पं० रूपनारायण पाण्डेय; प्रकाशक, गंगा-पुस्तक-माला-कार्यालय, लखनऊ; पृष्ठ-संख्या ११८; मूल्य ॥=)

यह प्रहसन बँगला के ख्यातनामा नाटककार श्रीद्विजेन्द्रलाल राय के एक प्रहसन के आधार पर रचा गया है। सम्पादक का कथन है कि यह पुस्तक पाठकों को केवल मनोरंजक ही नहीं, वरन शिक्षाप्रद भी प्रतीत होगी। खेद है, हमें यह मनोरंजक ही प्रतीत हुई। वैसे तो वृक्ष, लता आदि से भी शिक्षा मिल सकती है; परन्तु उन्हें शिक्षाप्रद कहना शोभा नहीं देता। पुस्तक में हाहाहूहू की धूम है। कुछ चरित्र-भ्रष्ट लोगों का चरित्र-चित्रण है। स्टेज पर खेले जाने योग्य है।

७. रसाल-वन—रचयिता, "गिरीश" नाम-धारी पं० गिरिजादत्त शुक्ल; प्रकाशिका, श्रीमती प्रेमलतादेवी, प्रेम-मंदिर, आरा; पृष्ठ-संख्या २३; मूल्य ।-)

यह छोटा सा काव्य-ग्रंथ उदीयमान लेखक की प्रतिभा का अच्छा परिचायक है। कथा-भाग बहुत हृदय-द्रावक है। शब्द-जाल पर विशेष ध्यान देने के कारण वर्णन कहीं कहीं कुछ अस्वाभाविक होते हुए भी, रचना सरस तथा मनोहर है। हिंदू समाज के जिस दुराचार का चित्र इसमें खींचा गया है उसका मूलोच्छेद करना प्रत्येक समाज-सुधारक का कर्तव्य होना चाहिए।

७. तरंग—लेखक, श्रीयुत राधिकारमणप्रसादसिंह, एम० ए०; प्रकाशक, मंत्री, विहार-प्रादेशिक हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, मुज़फ्फरपुर; पृष्ठ-संख्या १०७; मूल्य ।।=)

इस छोटी सी पुस्तक में स्त्री-शिक्षा, अछूतों का उद्धार, अन्तर्योग आदि विषयों की अच्छी चर्चा है। वर्णन बातचीत के रूप में है। एक मनुष्य पूर्व पक्ष लेता है और दूसरा उत्तर पक्ष। विचार प्रौढ़ और विद्वत्तापूर्ण हैं। इसकी बड़ी भारी विशेषता यह है कि पूरी पुस्तक पढ़ जाने पर भी यह पता नहीं चलता कि लेखक के विचार किस पक्ष के हैं। जोहो; रचना-कौशल प्रशंसनीय है। आशा है, इस विद्वान् लेखक की अन्य रचनाएँ पढ़ने का अवसर हमें प्राप्त होगा।

८. चोट—लेखक, बाबू अनादिधन वन्द्योपाध्याय, बी० ए०; प्रकाशक, हिन्दी-ग्रन्थ-भण्डार-कार्यालय, बनारस सिटी; पृष्ठ-संख्या, १०४; मूल्य ।।।=)

इस पुस्तक में ११ गल्पें हैं जो सामयिक पत्रों में, समय समय पर, निकल चुकी हैं। आरम्भ में "चोट" शीर्षक एक गल्प है जिसके कारण कदाचित् इस संग्रह का नाम "चोट" रक्खा गया है। "मेघनाथ" गल्प का नाम "माता की ममता" रक्खा गया होता, तो अच्छा होता। भूमिका में किये लेखक के इस आत्म-प्रशंसा-पूर्ण आग्रह से कि "जो गल्प-उपन्यास पढ़ने से झिझकते हैं उनसे मेरा विशेष अनुरोध है कि वे कृपया इस "चोट" को एक बार निश्चय पढ़ें" हमने इस पुस्तक को आद्योपान्त पढ़ा और यह ठहराया कि सभी गल्पें कुछ बुरी नहिं हैं। भाषा कहीं कहीं त्रुटि-पूर्ण है जो त्रुटि लेखक के बंगाली होने के कारण क्षंतव्य है; परन्तु हमें यह देखकर आश्चर्य हुआ कि "मेघनाथ" शीर्षक गल्प में जो काशी के "इन्दु" में प्रकाशित हो चुकी है भाषा की अनेक भद्दी भूलें हैं; यथा, 'मेघनाथ के आँखों में, अंगरेज़ों के लड़कियों सा, आदि। "मुक्त हो जाने पर" (After Delivery), "हमें बारह बजे की गाड़ी पकड़नी है" आदि में अँग्रेज़ी मुहावरों का अनुकरण दिखाई देता है। अस्तु, एक बंगाली लेखक हिन्दी में गल्पें लिखें जिनके लिखने वाले हिंदी में थोड़े ही हैं प्रसन्नता की बात है।

९. मनाजात बेवा या विधवा-प्रार्थना—

यह छोटे आकार वाली ४३ पृष्ठ की पुस्तक उर्दू के परम प्रसिद्ध लेखक और कवि मौलाना अल्ताफ़ हुसैन 'हाली' की कविता "मनाजात बेवा" का नागराक्षर संस्करण है। इसके संपादक श्रीयुत अमीचन्द्र जैन (रोहतक) और प्रकाशक बम्बई के श्रीयुत कृष्णलाल वर्मा ('ग्रंथ-भण्डार' के संचालक) हैं। पुस्तक अच्छे कागज़ पर सुन्दर अक्षरों में छपी है। इसका मूल्य ।-) पांच आने व्यापारी बुद्धि से रक्खा गया जान पड़ता है।

सम्पादक ने मूल पुस्तक के कठिन उर्दू और अप्रचलित हिन्दी शब्दों के अर्थ पाद-टीका के रूप में दिये हैं, पर छापेखाने की कठिनाइयों से आप उर्दू उच्चारण सूचित करने के लिए हिंदी अक्षरों में बिन्दु-प्रयोग न कर सके। अधिकांश अर्थ कठिन शब्दों के हैं; पर कहीं कहीं तमन्ना, ओस, कौम, मजहब, इन्साफ, हमले, रखवैया, जी, सरीखे साधारण शब्दों के अनावश्यक अर्थ भी पाये जाते हैं। एक प्रामाणिक उर्दू कोश के अनुसार मनाजात शब्द का शुद्ध उच्चारण मुनाजात होना चाहिए।

हाली साहब ने अपनी 'मनाजात' ऐसी सहज भाषा में लिखी है कि उससे मुसलमान और हिन्दुस्थानी लेखकों को उपदेश ग्रहण करना चाहिए। हमें जहां तक इस विषय का अनुमान हुआ है मौलाना साहब ने इस कविता में विशेषकर हिन्दू विधवाओं के दुःखों का वर्णन किया है, क्योंकि इसमें बाल-विवाह आदि कुप्रथाओं का उल्लेख है जो कदाचित् मुसलमानों में प्रचलित नहीं हैं। सरल भाषा में हिन्दू विधवाओं का दुख वर्णन करके कवि ने परोक्ष रूप से इस सिद्धान्त की सूचना दी है कि विषय और पात्र के अनुसार भाषा होनी चाहिए। बिना विचारे सभी जगह अरबी, फारसी और संस्कृत शब्दों का प्रयोग करने से लेखक की यथार्थ अथवा कल्पित योग्यता सूचित होने के अतिरिक्त और कोई लाभ नहीं है। 'मनाजात' के एक (३३ वें) पृष्ठ के शब्दों का संग्रह करने से जान पड़ता है कि इस कविता में अधिकांश शब्द ठेठ हिन्दी के हैं। भाषाओं के अनुसार इस पृष्ठ के सब शब्दों का मोटा ब्योरा इस प्रकार है—

कठिन अरबी फारसी	२	उक़बा, नफ़र
प्रच० अरबी फारसी	२०	तरफ, सिवा, दुनिया, इ०
प्रचलित ठेठ हिन्दी	७४	बेड़ा, मँझधार, अंधेरा इ०
अप्रचलित ठेठ हिन्दी	२	खरसा, आन
संस्कृत के अपभ्रंश	१	समन्दर

कुल शब्द १००

इस सूची में जो कठिन अरबी-फारसी शब्द आये हैं उनके लिए लेखक की जाति और धर्म उत्तरदायी जान पड़ते हैं। उन्हें कदाचित् हिन्दी शब्द ज्ञात न हों अथवा इनकी आवश्यकता प्रतीत न हुई हो; पर जहाँ ठेठ हिन्दी शब्दों की प्रधानता है वहां 'उकबा' और 'नफ्स' गंगा-मदार के जोड़े के समान अवश्य खटकते हैं। कम से कम हिन्दू विधवा इस अवसर पर 'परलोक' और 'इच्छा' का ही प्रयोग करेगी। 'मनाजात' में तत्सम संस्कृत शब्दों का पूर्ण अभाव भी खटकता है, क्योंकि उर्दू में बहुधा इनका बहिष्कार किया जाता है। जो हो, हाली साहब की इस कविता की भाषा से मिलती-जुलती भाषा ही संभवतः भारत की राष्ट्रभाषा हो सकती है और यह एक आनन्द का विषय है कि अधिकांश मुसलमान वक्ता पूर्व संस्कारों से मुक्त और हिन्दी की ओर प्रवृत्त होने की चेष्टा करते दीख पड़ते हैं। यथार्थ में जातियों की एकता भाषा की एकता पर विशेषकर अवलंबित है। 'मनाजात' का विषय करुणा-प्रधान है। आरंभ के १४ पृष्ठों में विधवा शोक-भरे शब्दों में ईश्वर की लीला का वर्णन करती है; फिर शेष अंश में वह अपनी 'रामकहानी' सुनाती है। किसी किसी को यह बात खटक सकती है कि विधवा को अपने शोक की अवस्था में ईश्वर की गुणावली और न्याय का गीत गाने की चिन्ता हुई; पर समष्टि-रूप से यह कहा जा सकता है कि 'मनाजात' एक अद्वितीय वर्णन है। इसमें विधवाओं के संकटों और उससे उत्पन्न हुए भावों का सजीव चित्र है। नीचे लिखी कुछ पँक्तियाँ पढ़कर किसे अनुभव न होगा कि विधवा का जीवन संकटों का समूह है—

माँ और बाप अजीज और प्यारे।
बेकल हैं जीने से हमारे॥
रोके पलक नम कर नहीं सकती।
हँसके गलत गम कर नहीं सकती॥
रोइये तो सब रोते हैं घर के।
रोने नहीं देते जी भर के॥
हँसें तो हँसना ऐब है हम को।
क्योंकर इलाही काटिये गम को॥

भाव और रस की प्रधानता के सिवा इस कविता में अलंकार, प्रकृति-वर्णन, मनोहर पद-योजना आदि अनेक चमत्कार हैं जिनका आनन्द पुस्तक आद्योपान्त पढ़ने ही से प्राप्त हो सकता है। भाव और भाषा दोनों के विचार से 'विधवा-प्रार्थना' एक आदर्श-रचना का आदर्श है।—का०

नीचे जिन पुस्तकों के नाम लिखे हैं वे भी पहुँच गई हैं। प्रेषक महाशयों को धन्यवाद।

(१) **बिहार का विहार**—लेखक, बाबू शिव-पूजनसहाय; प्रकाशक, ग्रन्थमाला-कार्यालय, बाँकीपुर; मूल्य ॥।)

(२) **लोकमान्य तिलक**—लेखक, पं० नन्दकुमार देव शर्मा; मिलने का पता, जोशी एण्ड कम्पनी, पोस्ट बाक्स नं० ७०४, बड़ा बाज़ार, कलकत्ता; मूल्य १)

(३) **हिन्दी-नाट्य-समिति,** कलकत्ता का प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ वार्षिक विवरण और नियमावली—सम्पादक, बाबू रामलाल वर्म्मा, मंत्री, हिन्दी-नाट्य-समिति, ३७४, अपर चीतपुर रोड, कलकत्ता।

(४) **रचना-प्रबोध**—सम्पादक, अध्यापक राम-रत्न; प्रकाशक, रत्नाश्रम, आगरा; मूल्य ॥≈)

(५) **अयोध्याकांड रामायण**—सम्पादक, अध्यापक रामरत्न और पं० चन्द्रहंस शर्मा; प्रकाशक, रत्नाश्रम, आगरा; मूल्य ॥।)

(६) **अलंकार-प्रबोध**—लेखक और प्रकाशक, अध्यापक रामरत्न, आगरा; मूल्य ।-)

(७) **चिह्न-विचार**—लेखक और प्रकाशक, अध्यापक रामरत्न, आगरा; मूल्य -)॥

(८) **लोकोक्ति-संग्रह**—लेखक और प्रकाशक, अध्यापक रामरत्न, आगरा; मूल्य ≈)

(९) **भारत की स्वतन्त्रता**—प्रकाशक, बाबू रामनारायणलाल, नं. ३, डेकर्सलेन, कलकत्ता; मूल्य ।)

(१०) **स्त्रीरत्न, प्रथम भाग**—लेखक और प्रकाशक, बाबू कृष्णलाल वर्मा, तारदेव, बम्बई; मूल्य ।=)

(११) **प्रबन्ध-पूर्णिमा**—सम्पादक, बाबू अम्बिका-प्रसादजी गुप्त; प्रकाशक, हिन्दी-ग्रंथ-भाण्डार कार्यालय, बनारस; मूल्य १)

(१२) **आचार्य कोश अर्थात् हिन्दी-संस्कृतानुवाद कोष**—लेखक, पं० रामचरणाचार्य; प्राप्ति-स्थान, मैनेजर, ए. पी. भण्डार, बहावलपुर (पंजाब); मूल्य २)

विविध विषय ।

(१) राष्ट्रीय शिक्षा सरकारी नीति के विरुद्ध नहीं है ।

यदि कोई मनुष्य दिन को दिन कहता है, तो सुनने वाले को कोई आश्चर्य न होना चाहिए। इसी प्रकार गुलामी के शिकंजे में कसे हुए लोग यदि स्वतंत्रता की मधुर तान अलापते हैं तो उससे स्वतन्त्रता की कोई प्रशंसा नहीं होती है। इसीलिए हम जबलपुर के एडीशनल जज पं० रामनारायण त्रिवेदी की प्रशंसा राष्ट्रीय शिक्षा-सम्बन्धी उनके उन विचारों के लिए नहीं करना चाहते जो उन्होंने हितकारिणी हाई स्कूल की जायदाद का रिसीवर नियुक्त करते समय प्रकट किये हैं। यदि उन्होंने वे विचार प्रकट न किये होते, तो हमें अवश्य आश्चर्य होता। हम केवल इतना ही कहना चाहते हैं कि त्रिवेदीजी के विचार ऐसे हैं जो प्रकट करते हैं कि त्रिवेदीजी सरकारी नौकरी करते हुए भी अपनी भारतीयता नहीं खो बैठे हैं और उनमें अपने विचार प्रकट करने का वह साहस है जिसका अनुकरण किया जाना चाहिए।

त्रिवेदीजी लिखते हैं—

"कोई भी भारतीय जो भारत का चमड़ा, भारत का मांस, भारत का रक्त, भारत की हड्डी और भारत की चर्बी, भारत का हृदय, भारत का दिमाग़, भारत की बुद्धि और ऊँचे और पवित्र इतिहास अपने साथ रखता है और जो अपने आप से और अपने देश के प्रति सच्चा है वह कभी नहीं कह सकता कि भारत में राष्ट्रीय शिक्षा का होना इष्ट नहीं है या वर्तमान शिक्षण-संस्थाओं के दोष जो कि राष्ट्रीयता के मार्ग में बाधा उपस्थित करते हैं, उनको दूर करना इष्ट नहीं है। भारत में क़ानून-द्वारा शासन स्थापित करते समय पूजनीया ब्रिटिश महारानी ने अपने धार्मिक गुरुओं, सरदारों और ब्रिटेन और आयर्लैंड की साधारण जनता की जो कि पार्लिमेंट में एकत्र थी सलाह से घोषित किया था कि भारतीय लोगों के अधिकार ब्रिटिश प्रजा के समान हैं और भारत के राजाओं के हक़ ख़ास शाही घराने के राजपुत्रों के समान और भारत का शासन भारतीय लोगों के लाभ के लिए तथा उनकी भौतिक और नैतिक उन्नति के लिए किया जायगा। अतः यह बात सूर्य-प्रकाश की तरह स्पष्ट है कि हिन्दुस्थान की शिक्षण-संस्थाओं को राष्ट्रीय बनाना गवर्मेंट की किसी नीति के विपरीत नहीं है, बल्कि वह हर तरह से उन सिद्धान्तों के अनुसार है जिसके अनुसार इस देश का शासन भारतीय तथा ब्रिटिश लोगों द्वारा चलाया जाता है। इससे यह मतलब निकलता है कि वर्तमान मुक़द्दमे में जिन स्कूलों का सम्बन्ध है उनका राष्ट्रीय किया जाना गवर्मेंट की नीति तथा हेतु और जबलपुर की हितकारिणी सभा के उद्देश्यों के विपरीत नहीं है। इसके विपरीत यह बात बिलकुल स्पष्ट है कि यदि जबलपुर के नागरिक इन स्कूलों को खानगी मिहनत से और गवर्मेंट से सहायता लिए बिना उन्नत करें तो वे गवर्मेंट की एक तरह से सहायता ही करेंगे, जो कि हरएक आदमी जानता है, कि प्रान्तीय तथा भारतीय बजटों की कम आमदनी के कारण धन-हीन होगई है।"

मतलब यह है कि राष्ट्रीय शिक्षा की बड़ी भारी आवश्यकता है और राष्ट्रीय शिक्षा देना गवर्नमेंट की नीति के विरुद्ध नहीं है। यदि जनता सरकार की सहायता लिए बिना राष्ट्रीय शिक्षा देने का प्रबन्ध करती है, तो वह सरकार की सहायता ही करती है। दूसरे शब्दों में यह कहा

जा सकता है कि त्रिवेदीजी के मतानुसार कांग्रेस के असहयोग-प्रस्ताव का राष्ट्रीय शिक्षा से जहाँतक सम्बन्ध है वह सर्वथा सरकारी नीति और क़ानून के अनुकूल है।

(२) हिन्दी के विवाद-ग्रस्त विषय।

एकादश हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, कलकत्ता, में निम्नलिखित प्रस्ताव स्वीकृत हुआ था—

"सम्मेलन, आगामी वर्ष की स्थायी समिति को आदेश तथा अधिकार देता है कि समय समय पर हिन्दी के विवाद-ग्रस्त विषयों पर उप-समिति बनाकर उसकी सम्मति ले और इस सम्मति को प्रकाशित कर सर्व-साधारण की सम्मति का आवाहन करे और फिर अपने एक विशेष अधिवेशन में सब सम्मतियों का विचार कर उन विषयों का निर्णय करे। स्थायी समिति का निर्णय सम्मेलन का निर्णय समझा जायगा और उसका पालन सम्मेलन के समस्त कार्यों में होगा।"

इस प्रस्ताव के अनुसार हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के प्रधान मंत्री ने एक छपा हुआ पत्र भेजकर हिन्दी के प्रेमियों तथा विद्वानों से यह जानने के लिए प्रार्थना की है कि 'कौन से ऐसे विवाद-ग्रस्त विषय हैं जिनके लिए उप-समिति बनाकर अभी निर्णय करने की आवश्यकता है। इस सूचना के अनुसार कुछ विवाद-ग्रस्त विषय नीचे लिखे जाते हैं—

(१) उभय-लिंग शब्दों (जैसे समाज, आत्मा, पवन, विनय, झंझट आदि) की सूची बनाकर यह निश्चय किया जाय कि प्रयोग-बाहुल्य से कौन शब्द किस लिंग में विशेषतया प्रयुक्त होता है और आगे होना चाहिए।

(२) विभक्ति के योग से आकारान्त नगर-वाचक संज्ञाओं का रूप निश्चयपूर्वक 'ए' होना चाहिए अथवा इच्छानुसार आ अथवा ए रहना चाहिए; जैसे, अम्बाला से या अम्बाले से, दरभंगा में या दरभंगे में, इ०।

(३) 'कर' और 'वाला' प्रत्यय शब्द के साथ अथवा अलग लिखे जायँ; जैसे देखकर या देख कर, दूधवाला अथवा दूध वाला।

(४) जी, सा, ही आदि प्रत्ययों के सम्बन्ध में भी निश्चय किया जावे कि वे शब्दों के साथ लिखे जावें अथवा अलग।

(५) नीचे लिखे शब्दों का वर्ण-विन्यास निश्चित करना आवश्यक है—

पहला-पहिला, बेचारा-बिचारा, बाहर-बाहिर, साहब—साहिब, सिवाय—सिवा, छः—छह, कुर्सी-कुरसी, साम्हने-सामने, रक्खा-रखा इत्यादि।

(६) क्या प्रत्यक्ष भाषण में अँग्रेज़ी के अनुकरण पर उलटे कामाओं (" ") का प्रयोग आवश्यक समझा जाय ? जैसे, राम ने कहा, "मैं अभी आता हूँ।"

(७) ऐतिहासिक पुरुषों के सम्बन्ध में आदरार्थ रूप के प्रयोग का विचार किया जाय— शिवाजी मरे, औरंगज़ेब मरा, पृथ्वीराज क़ैद किये गये, इ०।

(८) क्रिया के नीचे लिखे रूपों का भी विचार करना चाहिए—

लिये-लिए, हुए-हुये, जाओ-जावो, गई-गयी इत्यादि।

(९) सामासिक शब्दों को मिलाकर अथवा योजक चिह्न से जोड़ कर लिखना अनिवार्य है या नहीं।

(१०) विदेशी शब्दों में अक्षरों के साथ हिन्दी-प्रयोग का विचार करना आवश्यक है।

(११) व्याकरण-विरुद्ध रचना की तीव्र समालोचना करने की आवश्यकता है।

कामताप्रसाद गुरु।

(३) संस्कृत नाटकों पर यूनानी साहित्य का प्रभाव।

भारत और यूनान के प्राचीन साहित्य में कहीं कहीं विचित्र साम्य है। इसके कई प्रमाण अभी तक मिल चुके हैं। बहु-भाषा-विज्ञ मैक्समूलर ने प्राचीन यूनानी भाषा और संस्कृत के शब्द-भंडार से शब्दों को निकाल निकाल कर जब उन्हें एक ही धातु के रूपान्तर-मात्र सिद्ध करना प्रारम्भ किया, तब से साहित्य प्रेमियों का ध्यान इन देशों के तुलनात्मक साहित्य के अध्ययन की ओर आकृष्ट हुआ और भाषा शास्त्र के विद्यार्थियों ने एकाएक देखा कि भारत और यूनान के धार्मिक आदर्शों—उनके अनेक देवी-देवताओं—में आश्चर्यजनक समता है। धीरे धीरे जब रोम और ईरान के प्राचीन साहित्य का भी अध्ययन किया गया, तो वहाँ भी यही साम्य दृष्टि-गत हुआ। बस, फिर क्या था इतिहासकारों ने कह दिया कि रोमन, यूनानी, ईरानी और भारतवासियों के पूर्व्वज एकही थे।

परन्तु इतिहासकारों का उत्तरोक्त कथन कभी सर्व्वमान्य नहीं हुआ। अनेक आधुनिक यूरोपीय पण्डितों का मत इसके विपरीत है। वे कहते हैं कि भाषा और धार्मिक आदर्शों की एकता रक्त की एकता का प्रमाण नहीं है।

कुछ भी हो, यूनानी और संस्कृत के प्राचीन नाटकों में जो अद्भुत सादृश्य है उसे अस्वीकार करना कठिन है। कालिदास का प्रख्यात नाटक शकुन्तला संसार के साहित्य में अपना विशेष स्थान रखता है; परन्तु यूनान के प्राचीनतम साहित्य में उसकी झलक स्पष्टतया दिखलाई पड़ती है। शकुन्तला नाटक में ऋषि-पुत्री शकुन्तला की मुद्रिका एक झरने में गिर गई थी और वह एक मछली के पेट में से निकली। उसे पकड़ने वाले मछुवे पर चोरी का अपराध लगाया गया और सफ़ाई देने के लिए उसे सम्राट् के सम्मुख जाना पड़ा। ज्यों ही दुष्यन्त ने मुद्रिका हाथ में ली त्योंही सारी माया विलुप्त हो गई और महाराज ने अपनी धर्म्म-पत्नी शकुन्तला को राज-महिषी कहकर स्वीकार किया। इसी प्रकार की कथा हेरोडोटस ने पौलीक्रटस के विषय में लिखी है। पौलीक्रटस सैमास का अन्यायी शासक था। उसने वरुण-देव को प्रसन्न करने के अभिप्राय से अपनी अतिप्रिय मुद्रिका समुद्र में फेंक दी। एक मछुवे ने उसी रातको एक सुन्दर मछली लाकर पौलीक्रटस को भेंट की। काटे जाने पर उसके पेट में से वही मुद्रिका निकली। शकुन्तला के समान इस कथा में प्रेम का भाव नहीं है। केवल मछली के पेट में से मुद्रिका निकालने की घटना दोनों में है; परन्तु क्या इतनेही साम्य के बल पर कोई भी समझदार व्यक्ति इतना व्यापक सिद्धान्त स्थिर कर सकता है कि संस्कृत नाटकों में यूनानी प्रभाव लक्षित होता है?

कुछ विद्वान् अपने मत की पुष्टि में यह प्रमाण देते हैं कि यदि संस्कृत नाटकों पर यूनानी प्रभाव न पड़ा होता, तो पूर्वीय प्रान्तों की अपेक्षा

पश्चिमी प्रान्तों में ही उनका विशेष उत्कर्ष क्यों होता। इस कथन में कुछ सबलता अवश्य है; परन्तु स्मरण रखना चाहिए कि हिन्दू सभ्यता पर यूनान का जो प्रभाव पड़ा वह इतना कम है कि इतिहास तक में स्थान नहीं प्राप्त कर सकता। सिकन्दर ने आक्रमण कर अपने सेनापतित्व के बल पर भारत के कुछ अंशों पर विजय-पताका फहराई; परन्तु कहीं भी सुदृढ़ शासन नहीं किया। वह उल्कापात के सदृश भारत में दिखलाई पड़ा, एक बार चमका और सदा के लिए विलुप्त होगया। उसके उत्तराधिकारियों का शासन झेलम के इस पार कभी न पहुँच सका। सन् ५० ई० में एक कुशन-नरेश ने यूनान के अन्तिम शासक को बहिष्कृत कर यूनानी सत्ता का अन्त कर दिया।

कालिदास का आविर्भाव-काल पाँचवीं शताब्दी के पूर्व्व नहीं लाया जा सकता। अतएव यह कहा जा सकता है कि यूनानी साहित्य की किरणें, वे क्षीण ही क्यों न हों, इन पाँचसौ वर्षों के अन्धकार को भेद कर कालिदास तक पहुँच गई होंगी। इस कथन से यूनानी प्रभाव की बात को अवश्य पुष्टि मिली होती यदि तुर्किस्तान के मंदिरों में डाक्टर वौन लेकाग (Von Lecog) ने ताड़ पत्र पर लिखे हुए भारतीय नाटकों के कुछ अंशों की हस्तलिखित प्रतियाँ न पाई होतीं। इस अनुसन्धान ने यूनानी पक्ष को यदि नष्ट नहीं, तो नितान्त निर्बल अवश्य कर दिया है। ये नाटक कुशन-शासन-काल के हैं, जो ईसा के १०० वर्ष पूर्व्व माना जाता है।

इस दशा में शकुन्तला की कथा के उद्भव का पता लगाना तो कठिन हो ही जाता है; परन्तु यूनानी प्रभाव की बात भी युक्ति-संगत नहीं रह जाती।

(४) लोकमान्य का पवित्र स्मरण।

बारह महीने बीत चुके, आज पहली अगस्त का ही दिन था जब कि भारत के राजनैतिक आकाश का दैदीप्यमान प्रभाकर शांतिपूर्वक अस्त हो गया। हिन्द का लोकमान्य नेता, और संसार का तत्वदर्शी विद्वान् उठ गया। निस्सन्देह आज का दिन हमारे लिए राष्ट्रीय दिन है। हम अपने हृदय से पूछते हैं कि हमारे लिए आज कौन सा भाव अधिक उपयुक्त और प्रासंगिक होगा? उत्तर नहीं मिलता।

प्यारे लोकमान्य! जिस समय हम अपनी परतंत्रता-रूपी दुर्भाग्य की तिमिरमयी निशा में बेसुध और बेखटके सो रहे थे उस समय भारत की गली-कूँचों में नंगे पैर घूमकर गश्त लगाने वाला सिवा तुम्हारे कौन था? आज तुम नहीं हो; परंतु कानों को बिजली पिलाने वाली तुम्हारी वह आवाज़ आज भी हमारे कानों में गूँज रही है। भारत को जागृत कर देने का तुम्हारा प्रयत्न सोलह आने सफल हो गया। देखो तो, भारत उठ खड़ा हुआ है। अब वह कमर कसता हुआ दिखाई देता है। इसलिए कि भगवान्-कृष्ण के गाये हुए समर-संगीत की निराली तान जो तुमने जंजीरों की झनकार के साथ छेड़ी थी उसपर गुणग्राही भारत सौ जान से मुग्ध है। वह उसे भूल नहीं सकता।

क्या यह सच है कि तुम हमसे दूर हो गये हो! विश्वास कहता है, नहीं। वैभव की गोद में पले हुए जो मनुष्य श्री के प्रेमालिंगन का तिरस्कार

करके आज देश के नाम पर सन्यासी बन बैठे हैं उनमें किसकी त्याग-बुद्धि समा रही है ? परमार्थ के यज्ञ में स्वार्थ का बलिदान करके भारतमाता की वेदी पर मिट जाने के लिए जो लालायित हो रहे हैं उनमें किसकी आत्म-समर्पण-बुद्धि काम कर रही है ? थोड़े से रुपयों की ज़मानत न देकर जो असहयोग-व्रत का व्रती कारागार जाने की प्रसन्नता में वन्देमातरम् की तान छेड़ रहा है, उसे किसकी सहनशीलता प्रेरित कर रही है ?

निस्सन्देह आज तुम एक जीर्ण शरीर का परित्याग करके सबके शरीरों में व्याप्त हो रहे हो। हमारे लिए यह आश्वासन क्या कम है ?

तिलक महाराज ! जीते हुए भी तुम भारत पर मिट चुके थे और मिटकर भी आज तुम भारत के लिए जी रहे हो। आँखों से ओझल होकर तुमने भारतीय जनता के हृदय–मंदिर में सदैव के लिए स्थान बना लिया है। क्या तुम हमारे हृदय में विराजमान नहीं हो ?

"यह कह सकते हो हम दिल में
नहीं हैं, पर यह बतलाओ
जो दिल में नहीं तुम हो
तो आँखों से निहाँ क्यों हो ?"

'निर्गुण।'

(५) हिन्दी में अशुद्ध शब्द।

हिन्दी में संस्कृत, उर्दू, अंग्रेज़ी आदि भाषाओं के जो शब्द आया करते हैं वे हिन्दी में किस रूप में प्रयुक्त होवें इस विषय में बहुत मत-भेद है। कुछ लोग उन शब्दों को उसी रूप में प्रयुक्त करना चाहते हैं जिस रूप में कि वे उन भाषाओं में आते हैं जिनके वे शब्द हैं। कुछ लोग उन शब्दों को हिन्दी का जामा पहना कर उन्हें वह रूप देना चाहते हैं कि वे हिन्दी में इस प्रकार घुल-मिल जायँ कि हिन्दी के ही बन जायँ। भाषा की सजीवता और पुष्टता के विचार से दूसरे दल के विचारों में अधिक सत्यांश दिखाई देता है; परन्तु भाषा की सुन्दरता की ओर अधिक ध्यान देने वाले लोग पहले दल के अनुयायी हैं, और आश्चर्य की बात है कि इन्हीं लोगों की संख्या अधिक दिख पड़ती है। इनका मार्ग हिन्दी की सरलता का बाधक होता हुआ भी अधिक कण्टकाकीर्ण है। इस मार्ग पर सफलतापूर्वक चल सकने के लिए संस्कृत, उर्दू, अंग्रेज़ी आदि अनेक भाषाओं का साधारण ज्ञान होना चाहिए।

बाँकीपुर से निकलने वाली "शिक्षा" पत्रिका के सुयोग्य सम्पादक तत्सम शब्दों के पक्षपाती हैं, और वे समय समय पर अपनी पत्रिका में, हिन्दी के शब्दों के शुद्ध रूप के विषय में, लिखा करते हैं। गत १४ जुलाई के अंक में उन्होंने कुछ शब्दों के विषय में जो कुछ लिखा है वह नीचे दिया जाता है। आशा है, हिन्दी के विद्वान् इस पर विचार करेंगे।

"बंगभाषा के संसर्ग से हिन्दी में बहुत से अशुद्ध शब्द व्यवहृत होते हैं। हिन्दी-रसिकों को उनसे बचना चाहिये। प्रातःकालीन अथवा समकालीन आदि शब्द पाणिनि-व्याकरण के विरुद्ध हैं। यहाँ 'कालाट्ठञ्' इस सूत्र के अनुसार ठञ् प्रत्यय होने पर 'प्रातःकालिक' तथा 'सामकालिक' रूप होंगे। ये ही लिखना चाहिए।

"गल्प" शब्द बंगभाषा का देशज है। हिन्दी-भाषी इसे भ्रमवश संस्कृत भाषा का समझते हैं।

जिन पुस्तकों में "गल्प" शब्द का व्यवहार हुआ है वहाँ हिन्दी का 'गप्प' शब्द किसी प्रकार प्रयुक्त हो सकता है। यदि गल्प के स्थान में 'आख्यान' अथवा 'आख्यायिका' शब्द का प्रयोग करें तो अर्थ में तनिक भेद नहीं होगा।

"एवं, स्वयं" आदि शब्द में हलन्त मकार लिखना उचित है; क्योंकि वर्ण पर-भाग में रहने पर अनुस्वार लिखा जाता है; अतएव शुद्ध रूप 'स्वयम्' और 'एवम्' है। पण्डित-शैली की हिन्दी में कभी २ 'ज्योतिः, शिरः' आदि शब्द दीख पड़ते हैं। यद्यपि वे शुद्ध हैं, तथापि हिन्दी में इनके अपभ्रंश रूप 'ज्योति तथा सिर' आदि व्यवहृत होते हैं, तत्सम उक्त रूप नहीं। बहुत से 'लोग जोत तथा सर' लिखते हैं; ये भी ठीक हैं।

'विद्रूप' शब्द बंगला का है। बुरे रूप को यह बतलाता है। हिन्दी में इसका व्यवहार अपमानजनक है। क्या हिन्दी का शब्दभाण्डार सूना है, जो दूसरी भाषा के शब्द को संस्कृत का शब्द समझ कर प्रयुक्त करें?

'महात्मागण' तथा 'मनीषिगण' आदि शब्द इन दिनों हिन्दी में लिखे जाते हैं; पर ये अशुद्ध हैं! क्योंकि 'महात्मन्' और 'मनीषिन्' शब्द का समास जब गण शब्द से होता है तब अन्तिम अक्षर लुप्त हो जाता है और अकार अथवा इकार दीर्घ नहीं होता। इनके शुद्ध रूप 'महात्मगण' तथा 'मनीषिगण' आदि हैं। इसी शैली पर 'प्रेमिवृन्द' तथा "धनिगण" आदि शुद्ध शब्द लिखने चाहिये।

"इण्डिया और स्टेशन" जो लिखते हैं वे समझते हैं कि इनमें सन्धि हुई है; अतएव णकार तथा षकार लिखना उचित है; पर वे भूलते हैं। क्योंकि संस्कृत व्याकरण के नियम संस्कृत शब्दों के लिए हैं, अंग्रेजी शब्दों के लिए नहीं। यदि इनमें सन्धि मानें, तो 'पत्थर ईंट' इनमें सन्धि करने में रुकावट नहीं होगी। यहाँ संधि के द्वारा 'पत्थरेंटे' ऐसा अशुद्ध प्रयोग हो जायगा।

यदि एक शब्द संस्कृत का और दूसरा अन्य भाषा का हो तो संस्कृत व्याकरण का नियम नहीं प्रवृत्त होगा; अन्यथा 'स्कूलाध्यक्ष' तथा 'जिलाधीश' आदि शब्द शुद्ध मानने पड़ेंगे जो सर्वथा अशुद्ध हैं। यहाँ सन्धि जो की गयी है एकदम अनुचित है! आशा है कि हिन्दी-लेखक बंग भाषा का अनुकरण करके हिन्दी का गौरव नष्ट नहीं करेंगे।"

(६) एक मुसलमान देवी का देश प्रेम।

श्रीमती खदीजा बेगम पञ्जाब में प्रथम मुसलमान ग्रेजुएट देवी हैं। आपके पिता शिक्षा-विभाग में इंस्पेक्टर हैं। कुछ दिन पूर्व, रावलपिंडी में एक राष्ट्रीय सभा हुई थी जिसके साथ साथ स्त्रियों की एक राजनैतिक सभा भी हुई थी और कुमारी खदीजा बेगम उसकी सभानेत्री हुई थीं। उस समय आपने प्रतिज्ञा की थी कि जब तक देश में स्वराज्य स्थापित न हो जायगा, तब तक मैं विवाह न करूँगी।

प्रतिज्ञा कुछ बुरी नहीं है। यदि बेगम साहिबा के विवाह करने से उनके काम-काज करने की स्वतंत्रता चली जाने की आशंका थी, तो उनके अविवाहित रह कर कार्य करने से अवश्य ही देश को लाभ हो सकता है।

(७) कल्पितनाम-धारी लेखक और महात्मा गांधी।

आजकल अनेक लेखक, बनावटी नाम की आड़ में, बहुत विष उगला करते हैं। कई लेखकों के सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि इससे उनकी नैतिक निर्बलता ही सूचित होती है। श्रीशारदा के किसी पिछले अंक में इस विषय पर एक लेख प्रकाशित हो चुका है।

महात्मा गांधी भी इस प्रथा की निन्दा करते हुए लिखते हैं —

"मेरी इच्छा है कि लेखक-गण बनावटी नाम की आड़ में लिखने की दूषित प्रथा का त्याग करेंगे। अब जबकि हम लोग स्वराज्य के भावों को विकसित कर रहे हैं इस बात की आवश्यकता है कि हम लोग निर्भय होकर अपने विचार प्रकट करें।"

(८) फ्रांस में शिक्षा-सम्बन्धिनी सुविधाएँ।

कुछ भारतीय विद्वानों के प्रयत्न से फ्रान्स का ध्यान भारत की ओर आकृष्ट हुआ है। पेरिस विश्वविद्यालय के प्रेसीडेंट मि० एपेल ने उक्त विश्वविद्यालय की ओर से भारतीय प्रोफ़ेसरों और विद्वानों को फ्रान्स में आने के लिए निमंत्रण भेजा है। अबतक भारत के जितने विद्यार्थी शिक्षा-लाभ के लिए फ्रान्स गए हैं उनकी संख्या कुछ नहीं के बराबर है। इसका एक कारण यह भी है कि भारत के विश्वविद्यालयों की कक्षाओं और फ्रान्स के विश्वविद्यालयों की कक्षाओं में शिक्षण-सम्बन्ध स्थिर करने के प्रश्न पर अब तक विचार नहीं किया गया है।

फ्रान्स में जीवन-निर्वाह के लिए दूसरे देशों की अपेक्षा अधिक धन की आवश्यकता नहीं होती। सामाजिक जीवन भी सुगम है। वैद्यक, अर्थशास्त्र, धातु बनाने की विद्या तथा भाषा-शास्त्र आदि सभी शास्त्रों का प्रयोग फ्रांस में सरलता-पूर्वक हो सकता है। यदि भारत के शिक्षा-शास्त्री फ्रान्स में एक ऐसी संस्था स्थापित करें जो भारत के विज्ञान और विद्या-सम्बन्धी आविष्कार तथा साहित्य को वहाँ के निवासियों के सामने रख सकें, तो मि० एपेल के प्रयत्न से पेरिस का विश्व-विद्यालय उसे अपने से सम्बद्ध कर लेगा। आवश्यकता इस बात की है कि फ्रांस और भारत, बिना दुभाषिए के, स्वयं ही, एक दूसरे को समझ सकें।



चित्र-परिचय।



इस अंक में प्रकाशित "छत्रपति शिवाजी" चित्र देखिए। यह चित्र हमें बम्बई के लक्ष्मी आर्ट प्रेस की कृपा से प्राप्त हुआ है।

धर्मभीरु भारत अतिथि-सत्कार की महिमा को कितना जानता है, किस प्रकार अतिथि के रूप में अपने इष्टदेव की प्रति-मूर्ति देखता है यही बात अतिथि-सत्कार चित्र में दिखाई गई है।

"महाराज अशोक की राजसभा में विजयोत्सव" चित्र परिचय-सापेक्ष नहीं है।



राष्ट्रीय हिन्दी-मन्दिर की प्रबन्ध-समिति।

(पाँच बजे सन्ध्याकाल)

ता:—३०—७—२१

स्थान—राष्ट्रीय हिन्दी-मन्दिर-कार्यालय।

उपस्थिति—

बाबू रामचन्द्रजी संघी
पं० मनोहरकृष्णजी गोलवलकर
पं० माधवरावजी सप्रे
बाबू मोतीलालजी सुरा
पं० नर्म्मदाप्रसादजी मिश्र

१ पं० मनोहरकृष्णजी गोलवलकर जी के प्रस्ताव और पं० माधवरावजी सप्रे के अनुमोदन से बाबू रामचन्द्रजी संघी ने सभापति का आसन ग्रहण किया।

२ पिछली बैठक की कार्यवाही पढ़कर सुनाई गई और स्वीकृत हुई।

३ पं० माधवरावजी सप्रे का पत्र उपस्थित किया गया जिसमें उन्होंने लिखा था कि राष्ट्रीय हिन्दी-मन्दिर से उन्हें जो वेतन दिया जाता है वह १ जुलाई, १९२१ से बन्द कर दिया जाय। निश्चय हुआ कि सप्रेजी का यह त्याग धन्यवाद-पूर्वक स्वीकार किया जाय।

४ हिन्दी-मन्दिर के सदस्य होने के इच्छुक ५३ सज्जनों के आवेदन-पत्र उपस्थित किए गये और स्वीकृत हुए।

५ प्रबन्धक की नियुक्ति के सम्बन्ध में यह स्थिर हुआ कि अभी वह पद रिक्त रहे और प्रबन्धक का कार्य मंत्री अन्य कर्मचारियों में बाँट दें। प्रबन्ध-कार्य का उत्तर-दायित्व पं० सीतारामजी तिवारी को सौंपा जाय और उन्हें इस अधिक कार्य के लिए १०) दस रुपया मासिक अलग, १ अगस्त, १९२१, से दिया जाय और दो मास उनका कार्य देखकर प्रबन्ध-समिति को सूचना दी जाय।

६ (अ) पं० लक्ष्मीप्रसादजी शुक्ल को २२—६—१९२१ से दस दिन की अत्यावश्यक छुट्टी दी जाय।

(आ) पं० नर्म्मदाप्रसादजी मिश्र की १२ दिनों की छुट्टी अर्थात् ५ जुलाई से १६ जुलाई तक की, स्वीकार की जाय।

७ निश्चय हुआ कि पं० बच्चूलालजी मिश्र और पं० लक्ष्मीप्रसादजी शुक्ल के स्थान में बाबू मंगलप्रसादजी विश्वकर्मा २५) पच्चीस रुपया मासिक वेतन पर ता० १ जुलाई, १९२१ से नियुक्त किये जावें।

८ महावीरप्रसाद चपरासी जो ३ जुलाई से बिना कोई सूचना दिये काम पर नहीं आया उसके सम्बन्ध में यह निश्चय हुआ कि दूसरा आदमी या उतने ही वेतन में दो आदमी रख लिये जावें।

९ प्रवासी एजेन्ट बाबू देवीप्रसादजी वर्मा के सम्बन्ध में यह निश्चय हुआ कि उनके लिए अभी तक जो व्यय हुआ है वह स्वीकृत किया जाय; परन्तु भविष्य में प्रवासी एजेन्ट वेतन पर न रखे जाकर कमीशन पर रखे

जावें और मंत्री प्रवासी एजेन्टों तथा स्थानीय एजेण्टों के कमीशन का हिसाब शीघ्र ही उपस्थित करें ।

१० प्रबन्ध-समिति का कार्य-विवरण "श्रीशारदा" में प्रति मास छपा करे ।

११ व्याख्यान-समिति का पत्र उपस्थित किया गया और निश्चय हुआ कि उस पत्र में जो नियम लिखे गये हैं उनमें से ७ वें और १० वें नियम को छोड़कर शेष नियम स्वीकार किये जावें । ७ वें नियम के सम्बन्ध में यह निश्चय हुआ कि व्याख्यान-समिति को जितने द्रव्य की आवश्यकता हो उसका प्रबन्ध वह स्वयं करे । १० वें नियम के स्थान में यह नियम रखा जाय—"नगरस्थ तथा वाहरी विद्वानों के व्याख्यानों की व्यवस्था प्रति मास करना व्याख्यान-समिति का कर्त्तव्य होगा ।"

१२ अप्रेल, मई और जून, १९२१ का आय-व्यय आगामी शनिवार को उपस्थित किया जाय ।

सभापति को धन्यवाद देने के पश्चात् सभा विसर्जित हुई ।

व्याख्यान-समिति का पत्र-

समीप—

श्रीयुत मंत्रीजी,

राष्ट्रीय हिन्दी-मन्दिर,

जबलपुर ।

प्रिय महाशय,

आपका ताः १४-६-२१ का कृपापत्र मिला । राष्ट्रीय हिन्दी-मन्दिर की प्रबन्ध-समिति ने व्याख्यान-समिति का संगठन करके मुझे उस समिति का संयोजक चुना है । मैं इस पद को धन्यवादपूर्वक स्वीकृत करता हूँ । कृपया इस बात की सूचना दीजिये कि इस समिति के कौन सज्जन सदस्य हैं ताकि उन लोगों को निमंत्रित कर इस समिति के कार्य के सम्बन्ध में उनसे चर्चा की जावे और कोई विचार निश्चित किया जावे ।

आपके साथ बातचीत करने से मुझे मालूम हुआ कि पं० माधवराव जी सप्रे और पं० बालमुकुन्द जी त्रिपाठी व्याख्यान-समिति के सदस्य चुने गये हैं । इसलिए आज हम तीनों ने एकत्र बैठकर इस समिति के कार्य के स्वरूप के विषय में कुछ विचार किया है, जिसकी सूचना आपको दी जाती है ।

(१) मध्यप्रदेश में वक्तृत्व-कला को उत्तेजन देने के लिए राष्ट्रीय हिन्दी-मन्दिर की ओर से एक 'वक्तृतोत्तेजक समारम्भ' प्रति वर्ष जबलपुर में किया जावे । इस काम के लिए आवश्यकता के अनुसार लगातार तीन चार दिन नियत किये जावें ।

(२) यह समारम्भ दशहरा और दिवाली के बीच में जो छुट्टियाँ स्कूल और कालेजों में मिलती हैं उस समय किया जावे।

(३) व्याख्यान सिर्फ हिन्दी भाषा में हों।

(४) व्याख्यान देने वाले व्यक्ति मध्यप्रदेश के निवासी हों।

(५) व्याख्यानों के लिए किसी एक विशेष विषय की क़ैद न रखी जाय। समाज, धर्म, राजनीति, साहित्य आदि सब विषयों पर व्याख्यान हों।

(६) एक परीक्षक-संघ के द्वारा व्याख्यानों की जाँच कराई जावे और प्रत्येक विषय में उत्तीर्ण होने वाले प्रथम तीन वक्ताओं को नगद और पदक के रूप में पुरस्कार दिया जावे।

(७) नगद और पदक के रूप में पुरस्कार देने के लिए राष्ट्रीय हिन्दी-मन्दिर को कम से कम ३००) और अधिक से अधिक ५००) तक प्रतिवर्ष खर्च करना चाहिए।

(८) व्याख्यानों के विषय, स्थान और समय की सूचना व्याख्यान देने वाले उम्मेदवारों को व्याख्यान देने की तिथि से कम से कम एक मास पूर्व समाचार-पत्रों, तथा प्रान्तीय भिन्न भिन्न संस्थाओं द्वारा देना आवश्यक होगा।

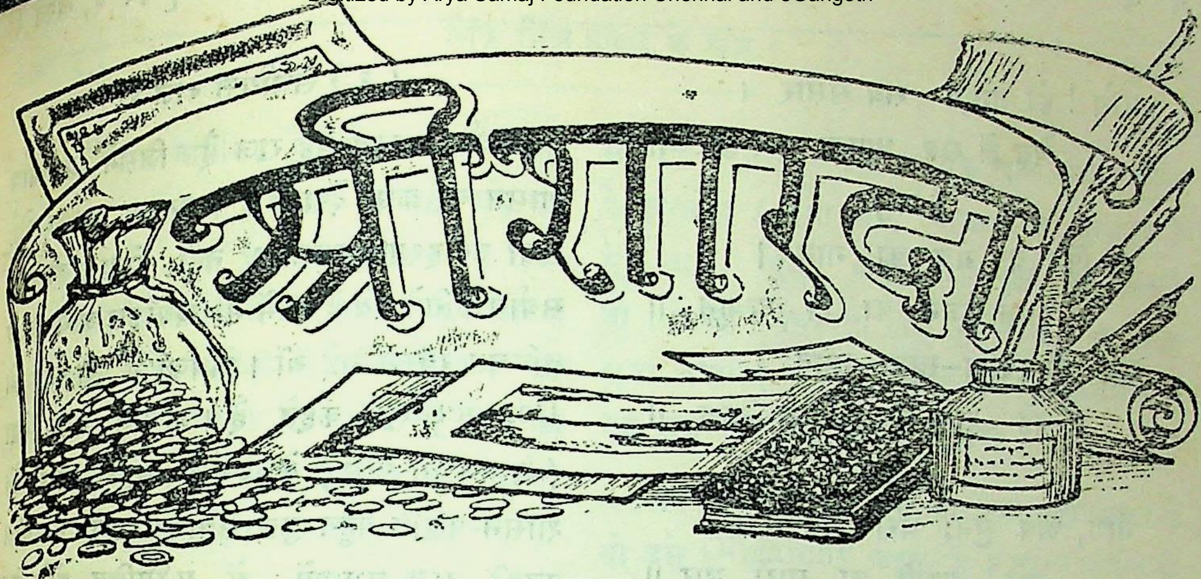
(९) इस नगर में सम्मेलन-पुस्तकालय द्वारा बलदेवबाग़ में एक व्याख्यान-माला वर्ष में लगातार तीन चार मास तक चलती रहती है। इसलिए राष्ट्रीय हिन्दी-मन्दिर द्वारा भी वैसी व्याख्यान-माला का प्रबन्ध करने की सम्प्रति कोई आवश्यकता नहीं है।

(१०) विशेष अवसर पर यदि कोई विशेष भाषण की आवश्यकता इस समिति को जान पड़ेगी तो वह उसका प्रबन्ध करेगी।

यदि ऊपर लिखे गये विचार प्रबन्ध-समिति को स्वीकृत हों, तो शीघ्र सूचना देने की कृपा कीजिए। आपकी सूचना पाने पर उप-समिति की बैठक होगी और इस वर्ष के 'वक्तृतोत्तेजक समारम्भ' के (जिसका समय आगामी अक्टूबर मास में होगा) प्रबन्ध का विचार किया जायगा।

लक्ष्मणराव पराड़कर,
संयोजक, व्याख्यान-समिति,
राष्ट्रीय हिन्दी-मन्दिर, जबलपुर।

३० जुलाई २१,



साहित्य-तथा-राजनीति-संबंधी-विविध-विषय-विभूषित सचित्र मासिक पत्रिका।

वर्ष २, खण्ड १] भाद्रपद, शुक्ल प्रतिपदा, १९७८ * ३ सितंबर, १९२१ [संख्या ६, पूर्ण संख्या १८

अवतार का आवाहन।

(लेखक—पं० जगन्नारायण देव शर्मा)

(१)

जगत में होता हाहाकार।
कर रही जनता ईश-पुकार॥
छा गया क्या कलियुग विकराल?
डस रहा जो बन करके व्याल॥

(२)

मेदिनी में बढ़ता है पाप।
वृद्धि पाते हैं तीनों ताप॥
बढ़े होते हैं अत्याचार।
राक्षसी फैला है अधिकार॥

(३)

सरासर होते हैं अन्याय।
सहन करते जाते हम हाय!
नहीं है गो-ब्राह्मण का त्राण।
पड़े सबके संकट में प्राण॥

(४)

धर्म की होती जाती ग्लानि।
हाय! भारत की होती हानि॥
पाप का बढ़ा प्रचण्ड प्रताप।
जिसे नित देख रहे हैं आप॥

(५)

सत्व का होता सत्यानाश।
नहीं उन्नति की कोई आश॥
फूँक दो कर्मवीरता-मंत्र।
शीघ्र दे दर्शन करो स्वतंत्र॥

(६)

दुष्कृतों का हो सर्व-विनाश।
आत्मा-विद्या का करो प्रकाश॥
भँवर में नौका दी है डार।
तुम्ही हो केवल खेवन-हार॥

(७)

यही जग में है ऊषाकाल।
गगन होता जाता है लाल॥

प्रभो ! हो जागृत सब संसार ।
चेत लें सब अपना घर-द्वार ॥

(८)

उठे फिर वेद मंत्र का गान ।
हवन-पूजन का हो उत्थान ॥
कर्म हों स्वाहा-स्वधा-समेत ।
बढ़े गुण गौरव-दिव्य-निकेत ॥

(९)

नाथ, अब पुनः धरो अवतार ।
हरो पृथ्वी का सारा भार ॥
ब्रह्म-मय हो जावे संसार ।
करें हम भारत की जयकार ॥

भिन्न भिन्न प्रकार के राज।

(लेखक—श्रीयुक्त सम्पूर्णानन्द, बी. एस-सी., एल. टी.)

पहिले के निबन्धों में हमने इस प्रश्न पर विचार किया है कि राज का मूल उद्देश्य क्या है और वह इस उद्देश्य की पूर्त्ति किस प्रकार कर सकता है। अब हमको यह देखना है कि किस प्रकार का राज इस काम को औरों की अपेक्षा उत्तमता से कर सकता है। पर इस प्रश्न का निर्णय करने के पहिले यह जानना आवश्यक है कि राज कितने प्रकार के होते या हो सकते हैं।

राजनीति-शास्त्र के आचार्यों ने राजों के चार विभाग किये थे—सर्वायत्त, बह्वायत्त, अल्पायत्त और एकायत्त। अब हम संक्षेपतः इनमें से प्रत्येक का स्वरूप दिखलाएँगे।

(१) सर्वायत्त राज।

सर्वायत्त राज वह राज है जिसमें प्रजामात्र शासन का काम देखती है। वस्तुतः इसका कोई सच्चा उदाहरण उपलब्ध नहीं होता। जो राज सर्वायत्त गिने गये हैं उनमें भी स्त्रियाँ इस अधिकार से वञ्चित रक्खी गई थीं। अँग्रेजी में ऐसे राज को Democracy कहते हैं। प्राचीन यवन देश (यूनान या ग्रीस) के एथेंस आदि नगरों की शासन-पद्धति बहुत-कुछ सर्वायत्त ढंग की थी। इनकी राज-सभाओं में सम्मिलित होने का अधिकार प्रत्येक नागरिक को था। खुली सभा में सभी बैठ जाते और सबकी सम्मति से कर्मचारियों के चुनाव, युद्ध और सन्धि के प्रबंध आदि बड़े बड़े राज-कार्य्य किये जाते थे।

जब किसी देश की व्यवस्था बिगड़ती है तब यह निश्चित नहीं रहता कि किसके क्या अधिकार हैं। बल होना चाहिए, फिर सबके सभी अधिकार हो जाते हैं। सर्वायत्त-शासन के इस विकृत रूप को अराजकता या Anarchy कहते हैं।

यह स्पष्ट है कि सर्वायत्त-शासन छोटे देशों के लिए ही उपयुक्त है। बड़े देशों में न तो सब को इतना अवकाश होता है कि राजकाज में सम्मिलित हों और न यह सम्भव है कि किसी बड़े देश के सब निवासी एक जगह इकट्ठे हो सकें।

(२) बह्वायत्त राज।

इसमें सबको तो नहीं, परन्तु प्रजा के बड़े भाग को राजकाज देखने का अधिकार होता है। इसका उदाहरण प्राचीन रोम से मिल सकता है। गुलामों और कुछ अन्य लोगों को छोड़कर

प्रायः सभी लोग नागरिक थे और प्रत्येक नागरिक को यह अधिकार प्राप्त था कि वह बड़े बड़े राजनैतिक प्रश्नों पर अपनी सम्मति दे। राज-क्रान्ति आदि के समय में वह विकृत रूप धारण कर लेता है जिसे अँग्रेज़ी में mobocracy कह सकते हैं। mobocracy का अर्थ है भीड़ का राज। बहुत से मनुष्य भीड़ लगाकर जो अन्धेर चाहते हैं कर डालते हैं।

इसमें भी सर्वायत्त राज के सदृश यह दोष है कि यह छोटे ही देशों के लिए उपयुक्त है, बड़े देशों की जनता का बड़ा भाग एकत्र नहीं किया जा सकता।

(३) अल्पायत्त राज।

इसमें राजकाज की देख-भाल का स्वत्व प्रजा के एक छोटे समूह को होता है। इसे अँग्रेज़ी में Aristocracy कहते हैं। यह समूह जिसे विशेष अधिकार होता है प्रजा के दूसरे अंशों से विद्या या जन्म में श्रेष्ठ माना जाता है। एक दृष्टि से प्राचीन भारत की राज-प्रणाली इसी प्रकार की थी; क्योंकि उसमें प्रायः सभी अधिकार द्विजों के ही हाथ में थे, यद्यपि संख्या में शूद्र, म्लेच्छ और अनार्य्य, द्विजों से कहीं अधिक थे। भारत में इसके सिवा और भी कई ऐसे राज थे जिनको अँग्रेज़ विद्वान् Republics अर्थात् प्रजातंत्र कहते हैं। कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में इनको 'विराट्' (नरेश-हीन राष्ट्र) कहा है। पर अब यह सिद्ध हो गया है कि यह शुद्ध प्रजातंत्र न होकर अल्पायत्त प्रजातन्त्र (Aristocractic republics) थे। इनमें सारा अधिकार कुछ क्षत्रिय कुटुम्बों के हाथ में था। अभी लगभग डेढ़ सौ वर्ष हुए, इस प्रकार का एक राज बलिया ज़िले के अन्तर्वेद (गंगा और घाघरा के दोआब) में था। वहाँ सेंगर राजपूतों की बस्ती थी। वे लोग पंचायती राज करते थे। काशी के राजा चेतसिंह के पिता बलवन्तसिंह के हाथों से यह राज नष्ट-भ्रष्ट कर दिया गया।

जब अल्पायत्त शासन का रूप बिगड़ता है तो उसे Oligarchy कहते हैं। ऐसे समय में कुछ अयोग्य और स्वार्थी मनुष्य हठात् राज्यधुरी अपने हाथ में ले लेते हैं।

अल्पायत्त शासन ऐसा है कि वह छोटे तथा बड़े सभी प्रकार के देशों में चल सकता है।

(४) एकायत्त राज।

इसमें राज-कार्य्य का सारा अधिकार एक मनुष्य को होता है। उस मनुष्य को राजा, सम्राट्, किङ्ग, बादशाह आदि अनेक नामों से पुकारते हैं। उसका स्वत्व अविभक्त होता है। वह पृथ्वी पर ईश्वर का प्रतिनिधि माना जाता है। 'नावमन्तव्यो मनुष्य इति भूमिपः' उसको लौकिक ही नहीं, प्रत्युत कुछ न कुछ धार्मिक अधिकार भी होते हैं। इस प्रकार के शासन के उदाहरण पृथ्वी के इतिहास में भरे पड़े हैं। यह छोटे बड़े सभी प्रकार के देशों में पाया जा सकता है।

यह कोई अपरिहेय नियम नहीं है कि एकायत्त राज में प्रजा को कष्ट ही हो। यों तो यदि नरेश को अपने दायित्व की ओर ध्यान न हो, वह विषयी हो और प्रजा को अपने क्रीत दासों का समुदाय समझे, तो अवश्यमेव कष्ट होगा। यह एक साधारण नियम सा है कि अधिकार

पाकर मनुष्य उन्मत्त हो जाता है, फिर अधिकार भी कैसा ? देवोपम । ऐसे विकृत एकायत्त-शासन का पारिभाषिक अँग्रेज़ी नाम Tyranny है । इसका एक ही उपाय है । जब प्रजा अत्याचार सहन करने में असमर्थ हो जाती है तो वह विद्रोह करती है । यदि नरेश सँभल गया तो ठीक है, नहीं तो अन्त में उसकी वही गति होती है जो वेणु, चार्ल्स, लुई और रूस के अन्तिम ज़ार की हुई ।

बहुधा ऐसा होता है कि वैध बन्धनों के न होते हुए भी नरेशों के स्वेच्छाचार पर कुछ रुकावटें होती हैं । एक तो उनका स्वार्थ ही उनको यह सिखा देता है कि प्रजा को दबाने की एक सीमा है; पर एक बन्धन इससे भी बढ़कर है । ऐसे नरेशों की निरंकुशता का एक ही सहारा है—प्रजा की धर्म्म-बुद्धि । जनता को किसी न किसी प्रकार यह विश्वास दिला दिया जाता है कि नरेश ईश्वर का प्रतिनिधि है । उसकी आज्ञा ईश्वराज्ञा है, उसकी अवहेलना दैवापमान है । 'नाविष्णुः पृथ्वीपतिः'; इसीलिए प्रजा कष्ट सहकर भी चुप रह जाती है । पर प्रतिनिधि अपने प्रधान या स्वामी की आज्ञाओं का उल्लंघन नहीं कर सकता । जो ईश्वर का प्रतिनिधि है वह ईश्वर की आज्ञाओं के प्रतिकूल नहीं चल सकता । जिस दिन उसने ऐसा किया उसी दिन प्रजा मान लेगी कि उसपर से ईश्वर का साया (या उसमें से ईश्वर का अंश) उठ गया । यही कारण था कि आर्य्य-नरेश धर्म्म-शास्त्रों के विरुद्ध हाथ-पाँव नहीं हिला सकते थे । कोई मुसलमान बादशाह शरियत के ख़िलाफ़ नहीं जा सकता था । ऐसे स्वेच्छाचारी नरेशों का पतन भी प्रायः तभी हुआ है जब मदान्ध होकर उन्होंने धर्म्म के आचार्य्यों को रुष्ट करके प्रजा का नेता बना दिया है ।

अस्तु, ये चार विभाग तो अरस्तू के समय से चले आते हैं; पर आजकल दो और प्रकार के शासन हैं, जिनका महत्व सबसे बढ़ा हुआ है । बिना इनकी आलोचना किये हमारा निर्णय अधूरा रह जायगा ।

(१) वैध या सीमाबद्ध एकायत्त शासन (Constitutional or Limited Monarchy इन दिनों इँग्लैण्ड इसका सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है । नामको शासन एकायत्त है । काग़ज़ पर ब्रिटिश नरेश के अधिकार प्राचीन काल के नरेशों से प्रायः कम नहीं हैं; वे जिस राष्ट्र से चाहें युद्ध घोषित कर सकते हैं, किसी से भी सन्धि कर सकते हैं, मंत्रियों को नियुक्त और पद-च्युत कर सकते हैं, जिसे जो उपाधि चाहें दे सकते हैं, इत्यादि । यह सब होते हुए भी बच्चा बच्चा जानता है कि उनकी शक्ति परिमित है । बहुत सी बातों में वे मंत्रि-मण्डल की सम्मति के बिना कुछ नहीं कर सकते और मंत्रि-मण्डल पार्लिमेंट के अधीन है । इस सारी अधीनता की जड़ यह है कि कोष की कुंजी पार्लिमेण्ट के हाथ में है । उसकी इच्छा के बिना न तो कोई नया कर लग सकता और न ऋण ही लिया जा सकता है । इस प्रकार के दबाव से शासन-पद्धति में एकायत्त और बह्वायत्त नहीं, तो कम से कम एकायत्त और अल्पायत्त शासनों का तो अवश्यमेव संमिश्रण हो गया है ।

(२) प्रतिनिधि-शासन—बह्वायत्त और सर्वायत्त क्रमों में कई गुण थे; पर जैसा कि हम

दिखला चुके हैं, उनमें यह बड़ा दोष था कि बड़े देशों में उनसे काम लेना असम्भव था। प्रतिनिधि-शासन ने यह दोष दूर कर दिया है। जिन लोगों को नागरिक अधिकार प्राप्त हैं उन सबको स्वतः एकत्र होने की कोई आवश्यकता नहीं है। वे अपने में से कुछ लोगों को, जिनको प्रतिनिधि कहते हैं, चुन लेते हैं। ये प्रतिनिधि लोग एकत्र होकर काम सँभालते हैं। आजकल की सभा पार्लिमेण्ट, राजसभाएँ और व्यवस्थापक समितियाँ प्रतिनिधि-मूलक हैं। साधारण नागरिक का यह कर्तव्य है कि वह यथा-सम्भव योग्यतम प्रतिनिधि चुने और यदि वह प्रतिनिधि अपने कर्त्तव्य का पालन न करे तो दूसरी बार उसका स्थान किसी दूसरे मनुष्य को दे। जिस प्रकार परिमित राजसत्ता (बँध या सीमाबद्ध स्वायत्त शासन) एकायत्त शासन का एक रूपान्तर है उसी प्रकार प्रतिनिधि-शासन बह्वायत्त या सर्वायत्त शासन का केवल एक भेद विशेष है।

इनके अतिरिक्त कुछ भी और भेद हैं; परन्तु वे सब इनके ही अन्तर्गत हैं। अब अगले लेख में हम देखेंगे कि इनमें से कौनसी पद्धति हमारे लिए सर्वोत्कृष्ट हो सकती है।

राष्ट्रीयता का आदर्श।

(लेखक—पं० श्रीकृष्ण मिश्र, एम.ए., बी.एल.)

सभ्यता की बाल्यावस्था से ही प्रबल राष्ट्र और महावीर सेनापति और राजनीतिज्ञ संसार में एक राज्य अर्थात् संसार-राज्य स्थापित करने की कल्पना और चेष्टा करते आये हैं। रोम के विजयी सेनापति रोम का साम्राज्य उस समय की दुनियाँ के कोने कोने में फैला रहे थे। यही विशाल स्वप्न उनको प्रेरित कर रहा था। वे सब राष्ट्रों को रोम-साम्राज्य की छत्र च्छाया में लाना चाहते थे। कार्थिज के प्रसिद्ध योद्धा हैनीबल के हृदय में भी कदाचित् येही भाव उत्पन्न हुए थे। सिकन्दर की वीर-वाहिनी सिन्धु के तट तक इसी उद्देश की सिद्धि के लिए अपने यशस्वी नेता के साथ विजय-हुंकार करती हुई चढ़ आई थी। मध्य युग में नेपोलियन बोनापार्ट की लोभी प्रतिभा ने इसी महान् लक्ष्य को अपना आदर्श बनाया था और उसी नेपोलियन ने फ्रांस के आधिपत्य में एक संसार-साम्राज्य स्थापित करने के लिए भगीरथ-प्रयत्न किया। प्रशिया के प्रसिद्ध राजा फ्रेडरिक दि ग्रेट की आकांक्षा एक ऐसाही वृहत् साम्राज्य स्थापित करने की थी।

इतिहास बतलाता है कि उपर्युक्त वीरों की आशा फलने न पाई। रोमन साम्राज्य अन्य राष्ट्रों को अधीन करने की चेष्टा में स्वयं ही नष्ट हो गया। सिकन्दर का महान् राज्य उसकी मृत्यु के उपरान्त भीतरी कलहों के कारण टुकड़े२ हो गया। नेपोलियन सेन्ट हेलना के टापू में क़ैदी होकर मरा और फ्रेडरिक का स्वप्न बीसवीं शताब्दी के महाभारत में धूल में मिल गया। उदाहरणों से मालूम होता है कि राष्ट्रीयता के स्थान में संसार-राज्य की स्थापना असम्भव सी है। सदियों के महायुद्ध और नाना प्रकार की मुठभेड़ों के बाद राष्ट्रीयता की पताका सब ओर फहरा रही है और राष्ट्रीयता की वेदी पर महान् आत्मा अपना सब कुछ न्यौछावर करने को बराबर तैयार रही हैं और आज तक तैयार हैं।

यूरोप के वर्तमान महाभारत के मूल कारणों से जो अभिज्ञ हैं उन्हें मालूम है कि इँग्लैन्ड, फ्रांस, इटली रूस और जर्मनी न्याय की रक्षा और छोटे राष्ट्रों को बचाने के लिए रणक्षेत्र में नहीं कूदे थे, बल्कि उन्होंने अपने राष्ट्रीय दम्भ के जोश और अपने राष्ट्र के लिए अधिक स्थान प्राप्त करने की इच्छा से म्यान से तलवार निकाली थी। युद्ध के बाद विजयी राष्ट्रों को संसार में शान्ति स्थापित करने की सूझी है और वे अंतर्राष्ट्रीयता को गले लगाने का स्वाँग रच रहे हैं। राष्ट्र-संघ (Leagues of nations) इसी स्वांग का परिणाम है; परन्तु जो समझते हैं कि राष्ट्र-संघ की स्थापना से राष्ट्रीयता का वेग कम हो जायगा और यूरोप की मदोन्मत्त जातियाँ अपनी अर्थ-लोलुपता और स्वार्थ-परता को तिलांजलि देकर जिसकी लाठी उसकी भैंस की नीति का त्याग करेंगी वे बड़ी भूल करते हैं। यह संघ एशिया और आफ्रिका के प्रभूत धन को आसानी से अपहरण करने के लिए यूरोप के राष्ट्रों के समझौता से स्थापित हुआ है। इसका उद्देश है कि एशिया के पददलित राष्ट्र अपना शिर कदापि न उठावें और कदाचित् अलग अलग काम करने में ये बेचारे कुछ कठिनाइयाँ उपस्थित करें, इसीलिए यूरोप के राष्ट्र मिलजुल कर स्वार्थ-साधन का काम करें। सारांश यह है कि राष्ट्र-संघ यूरोप के राष्ट्रों की स्वार्थ-सिद्धि के लिए हुआ है। उसमें अंतर्जातीयता का आभास देखना निरी मूर्खता है।

राष्ट्रीयता संसार की पूजनीय देवी है। प्रत्येक देश के रहनेवाले अपने ही देश की उन्नति चाहते हैं, चाहे उसके लिये खून की नदियाँ ही क्यों न बह जाँय। अपने देश के वाणिज्य-व्यवसाय की वृद्धि सबको अभीष्ट है। उसके लिए संसार के कोने कोने में जाकर बाज़ार अपने हाथ में किये जाते हैं और देश के बने माल को खपाने के लिये व्यक्तियों का ही नहीं, बल्कि राज्य का प्रचुर धन व्यय होता है। वर्तमान राजनीति तथा कूटनीति व्यापार के विस्तार करने की चेष्टा में प्रवृत्त रहती है। अपने देश की सभ्यता को सर्वोपरि समझकर अन्य देशों में उसका आलोक फैलाने का प्रयत्न किया जाता है और कभी कभी इसी उद्देश से दूसरे लोगों को दासत्व की शृंखला में बाँधकर देश पर अधिकार कर लिया जाता है। विशेष कर गोरे राष्ट्र तो [दूसरे देश को सभ्य बनाने के] इस बोझ को बड़ी खुशी से अपने कँधे पर ढोया करते हैं और वे इसे अपना कर्त्तव्य समझते हैं। इसीलिए तो बेचारे अंग्रेज़ अपने घर से इतनी दूर आकर हिन्दुस्थान की गर्मी और सर्दी, मलेरिया, हैज़ा, प्लेग, दुर्भिक्ष और अशिक्षा की चोटें सह रहे हैं। हिन्दुस्थानियों सा कृतघ्न कौन होगा जिनके मुँह से इतना श्रम और त्याग करनेवाले अंग्रेज़ों के लिए धन्यवाद का एक भी शब्द नहीं निकलता?

अब हमें देखना है कि राष्ट्रीयता के मूल अवयव क्या हैं। एक छोटे लेख में राष्ट्रीयता के सब अंगों का वर्णन करना कठिन है; अतः केवल उसके प्रधान अंगों का ही यहाँ उल्लेख किया जायगा। राष्ट्र के लिए देश का होना आवश्यक है। यदि देश न हुआ तो रीति, रिवाज, इतिहास, परम्परा, उद्देश और साधनों में एकता रहने पर भी कोई जाति राष्ट्र नहीं कही जा सकती। हेब्रू जाति इसका उदाहरण है। उनका धर्म्म, इतिहास इत्यादि एक ही हैं; परन्तु

उनका अपना कोई स्थान नहीं है। इसलिए वे संसार के सब देशों में अलग अलग फैले हुए हैं। यहूदियों का कोई राष्ट्र नहीं, इसीलिए शायद ज्योनिस्ट आन्दोलन (Zeonist Movement) कई वर्षों से चला आता है और हमारी न्यायप्रिय सरकार मुसलमानों से पैलेस्टाइन छीनकर यहूदियों को देना चाहती है।

राष्ट्र के लिए दूसरी आवश्यक वस्तु है आंतरिक और बाह्य सर्वाधिपत्य (internal and external Soverignty), अर्थात् राष्ट्र को अन्य राष्ट्रों से अपने देश की रक्षा करने का सामर्थ्य होना चाहिए। जिस राष्ट्र के सीमान्त की रक्षा का भार दूसरे राष्ट्र पर है वह, राष्ट्र कहलाने के योग्य नहीं है। अपने अस्तित्व के बचाये रखने के लिए दूसरे देशों से युद्ध करने की शक्ति का होना राष्ट्र संज्ञा के अन्तर्गत है। इसके अतिरिक्त कहने की आवश्यकता नहीं कि राष्ट्र के अन्तर्गत सब लोगों का एक उद्देश होना चाहिए और उनके धर्म्म-परम्परा और रहन-सहन की परिपाटी में बहुत कुछ समानता होनी चाहिए। इन समान गुणों से युक्त मनुष्यों का समूह एक शासन के अन्दर रहें, तो वह राष्ट्र कहा जा सकता है।

राष्ट्र की उपरियुक्त परिभाषा पर ध्यान देते हुए क्या हम भारतवर्ष को राष्ट्र कह सकते हैं? इसमें सन्देह नहीं कि भारतवर्ष भी एक देश है और हिमालय से कुमारिका अन्तरीप तक एक रीढ़ से जुड़ा हुआ है। एक ही राम और कृष्ण की पूजा भारत के कोने कोने में की जाती है। भारतवर्ष के पूज्य और पवित्र देवस्थान चारों दिशाओं में स्थापित हैं। वही वेद, शास्त्र, पुराण, महाभारत और रामायण के पुण्य श्लोक प्रत्येक स्थान में गाये जाते हैं। वही पिंगल और वही व्याकरण सब जगह व्यवहृत हैं। वही पर्व-त्योहार सब जगह मनाये जाते हैं। कहीं गंगा, कहीं सिन्धु, कहीं ब्रह्मपुत्र, कहीं नर्मदा और गोदावरी की पवित्र धाराएँ भारतवासियों को जीवन और मरण में शुद्ध रखती हैं। वे ही सामाजिक संस्थाएँ शताब्दियों से कालचक्र का निष्ठुर आक्रमण सहन करते हुए भारत की प्राचीनता, विशेषता, सभ्यता और गौरव को सुरक्षित किये हुए हैं। भारतवर्ष के स्वतंत्र गाँव अब भी सब जगह एक से बने हुए हैं। भारतवर्ष के कोने कोने में वही पुराना हल और वही पुरानी चौकी अब भी काम में लाई जाती है। वही कारीगरी, वही पूर्व्व पुरुषों की पूजा, वही ईश्वर का भय और वही पंचायत का बन्धन सब जगह दृष्टिगोचर होता है। आज दुःख के दिनों में भारतवर्ष के सभी मनुष्य दुर्दैव से ग्रसित हैं। दासत्व की बेड़ी सबके पैरों में पड़ी हुई है। प्लेग और महामारी किसी को नहीं छोड़ती। घर घर में दानों-दानों के लाले पड़े हैं। भारतवर्ष के एक देश और एक जाति (People) होने में किसी भी तरह की द्विविधा नहीं हो सकती। भारतवर्ष एक जाति है, स्विटिज़रलैण्ड की तरह नहीं, बल्कि इंग्लैंड, जर्म्मनी, फ्रान्स और अमेरिका की तरह। परन्तु भारतवर्ष को आंतरिक और बाह्य स्वाधिपत्य प्राप्त नहीं। इसके घर का प्रबन्ध दूसरे देशवासियों के हाथ में है और दुश्मनों से उसकी रक्षा करने का भार भी दूसरे लोगों के हाथ में है। भारत के राष्ट्र होने में इतनी ही कसर है और यही एक बड़ी भारी कसर है। भारतीय राष्ट्र की इस अपूर्णता को पूर्ण करने का उद्देश्य

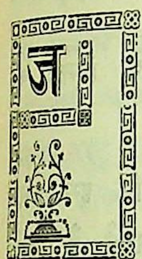
जिस दल के सामने हो उसीको राष्ट्रीय दल कह सकते हैं।

भारत की सभ्यता संसार में अन्य किसी सभ्यता से पीछे नहीं है। भारतवासियों की प्रतिभा किसी प्रकार अन्य देशवासियों की प्रतिभा से न्यून नहीं है; अतएव प्रत्येक हिन्दुस्थानी का यह पुण्य व्रत होना चाहिए कि भारतवर्ष पुनः स्वतंत्रता के सिंहासन पर आरूढ़ हो। प्रत्येक राष्ट्रीय आन्दोलन और प्रत्येक राष्ट्यि संस्था का यहीं आदर्श हो। भारतवासियों को अभी अन्तर्जातीयता या विश्वप्रेम का पाठ पढ़ना उपहासनयि है। जो राष्ट्र संसार के पैरों से कुचला हुआ है जिसकी ओर अन्य राष्ट्र लिप्सा, अवज्ञा और अनुकम्पा की दृष्टि से देखते हैं उनसे हाथ मिलाने के लिए हाथ बढ़ाना विदूषक के हास्य-जनक प्रयत्न के समान है। भारत जब तक समान आसन पर अन्य राष्ट्रों के साथ नहीं बैठ सकता तबतक उसकी सभ्यता, विद्या तथा मर्यादा की रक्षा और विस्तार संभव नहीं। इस युग में राष्ट्रीयता हमारा आराध्य देव होना चाहिए। सब के हृदय में यही भाव हो कि भारत सब प्रकार अपने कार्य स्वयं सँभालने के योग्य हो जावे और किसी बात के लिए उसे दूसरों का मुँह न ताकना पड़े। अतएव भारतवर्ष के राजनैतिक आकाश में यह आदर्श उज्जवल रूप से प्रगट नहीं हुआ था। बीसवीं शताब्दी के प्रथम वर्षों में एक महान् महाराष्ट्र आत्मा के हृदय में राष्ट्रीयता का उच्चत्तम आदर्श उदित हुआ था और उस आदर्श तक पहुँचने की चेष्टा में उस महावीर मेधावी ने प्राणपण से प्रयत्न किया। नाना प्रकार के असह्नयि कष्टों को सहन करते हुए तथा शत्रुओं के अन्याय लेते हुए उस ब्राह्मण ने अपने देश की लड़ाई निरन्तर जारी रखी। अन्त में, देश ने अपने नेता को पहचाना। जिस भाव को लेकर महाराष्ट्र ब्राह्मण सदा के लिए सो गया वही भाव एक अन्य महात्मा के हृदय में जागृत हुआ और स्वराज्य का झंडा उस निर्बल निर्धन सन्यासी ने अचल रूप से भारतवर्ष में गाड़ दिया। नागपुर काँग्रेस के ध्येय में जो परिवर्तन हुआ वह भारत की राजनीति में एक नये युग का प्रवर्तक है। भारतवासियों की आँखें शताब्दियों की गुलामी के कारण ठीक रास्ता देख नहीं सकती थीं। उनकी आँखें खोल दी गई और उनका आदर्श उनके सामने रख दिया गया। यही आदर्श प्राप्त करना है और इसीके लिए किये गये सब उद्योग सार्थक हैं। विदेशियों की उपस्थिति निवारण करना सुसाध्य नहीं; परन्तु जो परतंत्रता को अपना ध्येय समझ रहे हैं वे कुछ समय के लिए बुद्धिमान् और प्रतिष्ठित भले ही समझे जावें आश्चर्य नहीं; परन्तु वे भारतमाता का उद्धार नहीं कर सकते। इसमें कोई सन्देह नहीं कि जो आदर्श कांग्रेस ने देश के सन्मुख रखा है वह अत्यंत महान् एवं अत्यंत दुस्साध्य है। जो इस व्रत के साधन में अपनी शक्तियों को लगावेंगे उन्हें किसी प्रकार के भौतिक सुख की इच्छा नहीं रखना चाहिए। त्याग देशोद्धार के लिए अनिवार्य्य है।

हिन्दी-साहित्य का इतिहास।

(एक अंग्रेज़ी पुस्तक की आलोचना)

(लेखक—प्रोफ़ेसर लाला भगवानदीनजी)



बलपुर के एक महानुभाव पादरी मिस्टर एफ़. ई. के, एम० ए०, ने हिन्दी कवियों का एक इतिहास (A History of Hindi Literature) लिखा है। श्री-शारदा-सम्पादक पं० नर्म्मदा-प्रसाद जी मिश्र की कृपा से यह पुस्तक मुझे देखने को मिली। पुस्तक के आद्योपान्त देखने से चित्त बहुत ही प्रसन्न हुआ। पादरी साहब ने इस छोटी सी पुस्तक में बड़ा काम किया है। जिन अँगरेज़ी पढ़े-लिखे लोगों को हिन्दी कवियों की जानकारी चाहिए उनको यह पुस्तक अवश्य पढ़ना चाहिए। इँगलैंड, अमेरिका इत्यादि देशों में हिन्दी की चर्चा फैलाने का काम इस पुस्तक-द्वारा सरलता से हो सकता है। हिन्दी-प्रचारिणी संस्थाओं को चाहिए कि इस पुस्तक की हज़ारों प्रतियाँ उन देशों में पहुँचावें जहाँ केवल अँगरेज़ी भाषा जानने वाले लोग रहते हैं। सम्मेलन के प्रचार-विभाग को चाहिए कि भारत के मद्रास, आसाम, और सिंध प्रान्तों में इसकी हज़ारों प्रतियाँ खपवाने का प्रबंध करे और लेखक महोदय को बधाई और धन्यवाद दे।

हाँ, इस पुस्तक में मुझे एक त्रुटि जान पड़ी। वह यह कि हिन्दी के प्रसिद्ध प्रसिद्ध और महान् कवियों की कविता के नमूने जो केवल अनुवाद-रूप में दिये गये हैं वे बहुत थोड़े हैं। नमूने कुछ और अधिक होते और अपने असली रूप में (अर्थात् हिन्दी ही भाषा में और देवनागरी लिपि में) होते तो और भी अच्छा होता। पर ऐसा करने से पुस्तक का आकार कुछ बढ़ जाता। संक्षेप के कारण ही शायद ऐसा किया गया हो।

अब रही भूलों की बात, सो भूलें तो मनुष्य-मात्र से होती है। इसमें लेखक का बहुत बड़ा दोष नहीं दिख पड़ता। लेखक महाशय विदेशी ठहरे, पुस्तकों के आधार पर पुस्तक तैयार करना ही उनके लिए बड़ा काम है। स्वयं अनुभवहीन मनुष्य आधार-रूप पुस्तकों की भूलें कैसे सुधार सकता है। महाशय ग्रियर्सन और मिश्र-बंधुओं की की हुई भूलें इसमें भी मौजूद हैं। उनमें से कुछ का उल्लेख मैं यहाँ किये देता हूँ और आशा करता हूँ कि आगामी संस्करण में लेखक महोदय इन्हें सुधार देंगे।

१—पेज १३ में 'अनन्यदास' को चंदबरदाई का समकालीन लिखा गया है। यह भ्रम है। 'अनन्यदास' और 'अक्षर अनन्य' एक ही कवि हैं और यह कवि पृथ्वीराज चौहान के समय में नहीं हुआ, न चंदबरदाई का समकालीन था, वरन् यह कवि बुँदेलखंडान्तर्गत दतिया राज के परगना सेउँढ़ा के आमिल, राजा दलपतिराय के पुत्र पृथ्वीराजसिंह के दरबार में लगभग संवत् १७४० विक्रम में हुआ है। पृथ्वीराजसिंह (दतियावाले) को पृथ्वीराज चौहान का एक-नामी समझकर ग्रियर्सन महोदय को भ्रम हुआ। वही भ्रम इस पुस्तक के लेखक को भी रहा आया।

२—पेज १८ में 'भूपति' कवि का होना तेरहवीं शताब्दी के अंतिम भाग में लिखा है।

यह भूल मिश्र-बन्धुओं से ली गई है। 'भूपति' कवि अमेठी के राजा थे और ये महाशय १८ वीं शताब्दी में हुए हैं। इनका नाम गुरुदत्तसिंह था। मिश्र बंधुओं ने अमेठी के राजा और भूपति कवि को पृथक् पृथक् व्यक्ति समझकर गलती की है। वही भूल इसमें भी मौजूद है, यद्यपि ४७ पेज में 'भूपति' उपनाम से राजा गुरुदत्तसिंह का ज़िक्र किया है; पर दोनों व्यक्ति अलग अलग न थे, एक ही थे।

३-पेज ४९ में भिखारीदास कवि का निवास-स्थान प्रतापगढ़ बुँदेलखंड में लिखा गया है। भिखारीदासजी ज़िला प्रतापगढ़ के मौजा 'टेउँगा' के निवासी थे और प्रतापगढ़ के राजा के कवि थे। 'दास' जी के वंशज अब भी उस ग्राम में मौजूद हैं।

४-पेज ५० में 'ठाकुर' कवि के विषय में भारी भ्रमात्मक बात लिखी गई है। दो 'ठाकुरों' को एक में मिला दिया गया है। 'सवैया' वाले ठाकुर बुँदेलखंड के कायस्थ थे और बिजावर में रहते थे। जिस 'ठाकुर' ने बिहारी-सतसई की टीका लिखी है (जो 'देवकीनंदन टीका' के नाम से प्रसिद्ध है) वह वर्तमान ज़िला फतेहपुर के 'असनी' ग्राम के निवासी बंदीजन थे। दोनों को एक समझना भारी भ्रम है।

पेज १०२ के पाँचवें पैराग्राफ़ में पादरी महोदय ने हिन्दी-साहित्य के विषय में अपनी सम्मति लिखी है। उस सम्मति में दो वाक्य ऐसे हैं जिनसे मैं सहमत नहीं हो सकता। वे वाक्य ये हैं:—

(1)—Another thing to be noticed in Hindi Poetry is "the limitation of the range of its subject-matter".

(2)—There is indeed a good deal of erotic poetry of a very unhealthy type.

पहले वाक्य का तात्पर्य्य है कि हिन्दी की कविता का मैदान सीमाबद्ध है।

हमारी समझ में नहीं आया कि इस कथन से लेखक महोदय का क्या तात्पर्य्य है। सृष्टि भर की कौनसी ऐसी वस्तु वा कौनसा ऐसा भाव है जिसका वर्णन हिन्दी-साहित्य में नहीं है और अन्य साहित्यों में है। विचार-पूर्वक और सृष्टि के तत्वों के अनुसार देखने से स्पष्ट ज्ञात होता है कि संसार में सत, रज और तम गुणों के अनुसार समस्त मानसिक भावनाएँ तीन प्रकार की हो सकती हैं। इसी विचार से हमारे आचार्यों ने सत्वगुण-प्रधान शान्तरस, रजोगुण-प्रधान शृंगाररस, और तमोगुण-प्रधान वीररस की मुख्यता रखते हुए अन्य छोटे और मिश्रित रसों की भी उद्भावना की है। शान्तरस-प्रधान सूर और तुलसी की कविता ज़रूरत से ज्यादा हिन्दी में मौजूद है। रजोगुण-प्रधान शृंगार की तो बड़ी अधिकता है जिसे पादरी महोदय स्वयं ही स्वीकार करते हैं। तमोगुण-प्रधान वीररस की कविता चंदबरदाई का पृथ्वीराज रासो, सूदन का सुजानचरित्र, भूषण का शिवाबावनी-सहित शिवराज-भूषण, पदमाकर की 'हिम्मतबहादुर बिरदावली' मौजूद है। मैं सलाह देता हूँ कि, पादरी साहब इन ग्रंथों को पहले पढ़ें, तब अपनी राय कायम करें तो कुछ जँचे भी। यदि पादरी

साहब को दावा हो और अपने कथन की सत्यता पर उन्हें विश्वास हो, तो वे कोई भाव ऐसा लिख भेजें जिसका वर्णन हिन्दी कविता में उनकी जानकारी के अनुसार न हो, तो मेरा दावा है कि मैं उसका वर्णन हिन्दी कविता में दिखला दूँगा। फ़र्क़ होगा तो केवल इतना ही कि वह हिन्दू ढंग का होगा। यह बात प्राकृतिक है कि एक ही वस्तु वा एक ही भाव का वर्णन एक अंगरेज़ कवि अन्य ढंग से करेगा और एक हिन्दी कवि कुछ दूसरे ढंग से। संभव है कि हिन्दी कवि का ढंग अंगरेज़ कवि को न भावे; पर यह नहीं कहा जा सकता कि उसका वर्णन हिन्दी में है ही नहीं। अतः हिन्दी कविता को सीमाबद्ध कहना महज़ पादरी साहब की कपोल-कल्पना-मात्र ही है।

दूसरे अंग्रेज़ी वाक्य का तात्पर्य्य यह है कि हिन्दी में अश्लील शृंगाररस की भरमार है। इसके विरोध में मैं विनयपूर्वक लेखक महोदय से निवेदन करना चाहता हूं कि "हनोज़ देहली दूरस्त"। हिन्दी कविता का मर्म समझना सरल बात नहीं है। अंगरेज़ जैसी अश्लीलतापसंद जाति का एक मेम्बर हिन्दी कविता में अधिकतर अश्लीलता देखे तो आश्चर्य ही क्या है? जिस समाज में 'कोर्टशिप' एक सभ्य प्रथा समझी जाय उस समाज का एक सदस्य हिन्दी कविता के अधिक भाग को अश्लील कहे, यह छोटे मुँह बड़ी बात है। जिस जाति की भाषा के साहित्य में 'रस-निरूपण' पर एक भी ग्रंथ न हो उस जाति का एक व्यक्ति हिन्दी के शृंगार-रस की गंभीरता समझ ले यह ठीक वैसी ही बात है जैसे कोई वामन कहै कि मैंने चंद्रमा को पकड़ लिया। जिस जाति के साहित्य में "मिस्ट्रीज़ आफ़ दी कोर्ट आफ़ लंडन" सरीखे महान् अश्लील ग्रंथ लाखों की संख्या में छपें और बिकें उस जाति का एक व्यक्ति हिन्दी साहित्य को गंदा बतलावे यह केवल दुःसाहस-मात्र है या सच्चाई की ओर से आँखें मीच लेना है। अंत में, मैं पुनः एक बार लेखक महोदय से क्षमा प्रार्थना करके उन्हें बधाई देता हूं कि उन्होंने यह पुस्तक लिखकर हिन्दी का भी उपकार किया है और अपनी समाज को भी लाभ पहुँचाने की सफल चेष्टा की है। हिन्दी आप के सम्मुख चिरकाल तक कृतज्ञ रहेगी। यह पुस्तक प्रत्येक बड़ी बड़ी रेलवे स्टेशनों पर, हीलर कंपनी के बुकस्टाल से, १।=) में मिला करती है।

असमर्थ।

(लेखक—पं० राजाराम शुक्ल)

(१)

कैसे तुझे मनाने आऊँ ?
बँधा हुआ हूँ भव-बन्धन में,
कैसे तुझ तक आने पाऊँ ?
तुझसे बहुत बड़ा अन्तर है,
यह विपत्ति-वारिधि दुस्तर है।
मग में मर मिटने का डर है,
और शेष किञ्चित् अवसर है ॥
मैं निरस्त्र, निरुपाय, किन्तु हैं
प्रबल-शत्रु, विकराल समर है।
पर तू तो करुणा-सागर है।
सोच रहा हूँ कैसे तुझ तक,

अपने स्वल्प-शब्द पहुँचाऊँ।
कैसे तुझे मनाने आऊँ॥

(२)

शेष नहीं कुछ तन में बल है,
निपट-निरर्थक जीवन-कल है।
किन्तु प्रबल उत्साह अटल है,
क्या यह सब प्रयास निष्फल है?
द्रवित हो रहा होगा निश्चय,
यदि तू सत्य-भक्त-वत्सल है।
समदर्शी, कृपाल, अविचल है॥
आ कर जा उद्धार दयामय!
प्रति-पल तेरेही गुण गाऊँ।
कैसे तुझे मनाने आऊँ॥

(३)

अब तक तेरा ध्यान नहीं था,
भले—बुरे का ज्ञान नहीं था!
प्रगट मान-अपमान नहीं था,
और आत्म-अभिमान नहीं था॥
कितना पतित हो चुका हूँ मैं,
इसका भी अनुमान नहीं था।
पर मेरा अवसान नहीं था॥
बन्द पड़ा हूँ कैसे अपना,
आहत हृदय दिखाने लाऊँ?
कैसे तुझे मनाने आऊँ॥

(४)

प्रभु! अब हुई शुद्ध मति मेरी,
और बढ़ी तुझ में रति मेरी।
कर दो दूर अधोगति मेरी,
करुणा कर रख लो पत मेरी॥
तेरी कृपा-दृष्टि से क्षण में,
होगी पूर्ण पूर्व क्षति मेरी।
थी वह भूल जगत्पति! मेरी॥
आकर तेरी शरण शक्ति-मय!
किसको अपना शीश झुकाऊँ।
कैसे तुझे मनाने आऊँ॥



फ्रान्स की राज-क्रान्ति के समय की क्रूरता और धर्म्म-परायणता।

(लेखक—राय साहब पं० रघुवरप्रसाद द्विवेदी, बी. ए.)

संसारमें घोर पातकी, प्रजा-हिंसक, स्वार्थ-लोलुप विषय-सुखासक्त कई नृपति हुए हैं और उन्होंने प्रजा पर बड़े बड़े भयंकर अत्याचार किये हैं जिन का वर्णन सुनकर वा पढ़कर अब भी हमारे रोंगटे खड़े हो जाते हैं; पर इन नराधमों के अत्याचार से पीड़ित होकर प्रजा ने जैसी जैसी क्रान्तियाँ की हैं उनका वृत्तान्त उससे भी लोम-हर्षक है। इन क्रान्तियोंमें खून की नदियाँ बही हैं, अपराधियों के साथ निरपराध जीवभी मारे गये हैं, राजाओं के कुल-कुटुम्बों,का शिर-च्छेदन हुआ है, राजभक्त कर्म्मचारियों का नाश हुआ है। बड़े बड़े धनी-मानी पुरुष लूट-मार के कारण रास्ते के भिखारी बन गये हैं और देश को ऐसा धक्का लगा है जिससे सम्हलने में उसके कई वर्ष बीत गये हैं। विदेशी आक्रमण-कारी शत्रुओं से युद्ध करने में देश को जो हानि सहनी पड़ती है उससे कम हानि राज-क्रान्तियों के कारण नहीं सहनी पड़ती। स्मरण रहे कि जब प्रजा में से प्रत्येक स्त्री-पुरुष यही सोचने लगता है कि मृत्यु अच्छी; पर अब इस अत्याचारी शासकके नीचे जीना अच्छा नहीं, तभी राज-क्रान्तियोंमें सफलता होती है। जबतक शासकों के सहायकों की संख्या अधिक रहती है तबतक उन्हें गिराना कठिन होता है। यदि प्रयत्न भी किया जाता है तो निष्फल ही जाता है और प्रजा की दशा आगे से भी अधिक शोचनीय हो जाती है।

इतिहास में फ्रान्स की राज-क्रान्ति के समान सफलता कदाचित् और किसी क्रान्तिने नहीं पाई। इसका कारण यही था

कि फ्रान्स के पिछले तीन राजाओं के समय में प्रजा को जो कष्ट भोगने पड़े वे ऐसे भयंकर थे कि फ़रासीसियों को जीवन भारवत् प्रतीत होने लगा था और वे यही संकल्प कर बैठे थे कि या तो ऐसे दुष्ट शासन का सर्वनाश कर डालेंगे या अपने प्राण ही दे डालेंगे। फ्रांस के इतिहास में चौदहवाँ लुइस बड़ा युद्धशील राजा हो गया है। इसने अपना दीर्घ राजत्व-काल यूरोपके कई देशोंसे युद्ध करनेमें ही व्यतीत किया। बीसों लड़ाइयाँ लड़कर इसने हार बहुत कम खायी; परन्तु युद्धों में उस देश के जन-धनकी पूर्णाहुति दे डाली। फ़रासीसी प्रजा अत्यन्त दुखी हो गई। अनेक कुटुम्बोंमें तरुण पुरुषोंका नाम न रह गया। इन युद्धों का व्यय पूरा करने के लिए टैक्स पर टैक्स बैठाये जिनके कारण प्रजाके पास धनभी न रह गया। इतना सब होने पर भी लुइस की वीरता से मुग्ध होकर प्रजा राज–भक्त बनी ही रही; पर चौदहवें लुइस की मृत्यु के बाद पन्द्रहवाँ लुइस जो फ्रान्स के राज-सिंहासन पर बैठा बड़ा ही इन्द्रिय-सुख लोलुप निकला। इसके राजत्व-काल में देश का शासन रण्डियों और भडुँओं के हाथ में रहने लगा। मैडम पम्पेडार, मैडम डुवारी आदिने राजाको अपने वश में रखकर मनमाने गुलछर्रे उड़ाना शुरू किया और राज-कर्म्मचारियों को अपनी मुट्ठी में लेकर गरीब प्रजा को लूटना आरम्भ कर दिया। राजाकी विषयलोलुपता तथा उसके प्रेम-पात्र-स्त्री–पुरुषों की लूट-खसोटके मारे समस्त प्रजा-गणों का चित्त राजा तथा अमीरों की ओर से फिर गया। मज़ा तो यह कि गरीबोंको तो राजा, अमीर तथा धर्म्माधिकारियों को अलग अलग टैक्स देना पड़ता था; पर ये अमीर तथा धर्म्माधिकारी सब प्रकार के टैक्सों से विमुक्त थे। सारांश यह कि पन्द्रहवें लुइस मृत्यु–शय्या पर पड़े, तब प्रजाने तनिकभी चिन्ता न की, तनिक भी शोक न मनाया, बल्कि उनके मर जाने से एक प्रकार से सब को सन्तोष हुआ। पन्द्रहवें लुइसने अपने दुष्कर्म्मों तथा अत्याचारों से अपनी प्रजा के हृदयों से राज-भक्ति का लोप कर दिया और उस राज–क्रान्ति का बीज बो दिया जिसका फल उसके उत्तराधिकारी सोलहवें लुइस को भोगना पड़ा। यह राजा था तो पूर्ण सज्जन, पर ऐसे कठिन समय में शासन की बागडोर अपने हाथ में लेने के नितान्त अयोग्य था। उसका सारा समय दुर्व्यसनों में तो नहीं; पर राजाओं के अयोग्य मनोरञ्जन ही में व्यतीत होता था। वह अच्छा लुहार और घड़ीसाज़ था। वह महलों में लुहारी कारखाना खोल कर घण्टों उसमें ताले आदि बनाया करता था। कभी कभी मनमें आती तो आखेट के लिए जंगलों में अपना समय व्यतीत करता था। राज-काज में इसकी रानी का हाथ था। वह आस्ट्रिया की राजकुमारी थी। वह फ़रासीसी प्रजा से तनिक भी सहानुभूति न रखती थी। यद्यपि प्रजा राजा को बुरा नहीं समझती थी; पर रानी से वह बहुत असन्तुष्ट थी। राजा प्रजा की भलाई तो चाहता था; पर स्थिति ऐसी बिगड़ी हुई थी कि ऐसे निरे साधू बाबासे करते धरते कुछ नहीं बनता था। अतएव वह बैठे बैठे ताले ही बनाया करता था।

निदान प्रजा की आर्थिक दशा अधिकाधिक शोचनीय होती गई। साथही राजनैतिक लेखकोंने राल में चिनगारियाँ डालने का कार्य्य किया। आश्चर्य्य की बात है कि चौदहवें लुइस का राजत्व-काल फ्रान्स के इतिहास में साहित्य के उच्च विकास का समय था। वाल्टेर, डिडरो, रूसो आदि राजनीति–लेखकों ने अपने ग्रन्थों द्वारा मानो राज-क्रान्ति का मार्ग साफ़ कर दिया और समस्त यूरोप में राज-नैतिक जागृति फैला दी। फ्रान्स तथा अन्य देशों के नूतन विधि से राष्ट्र-निर्माण में इनका हाथ बहुत कुछ रहा। इनके ग्रन्थों से मृत-प्राय प्रजा के हृदयों में जीवनसंचार सा होगया और वह अपने स्वत्वों तथा शक्तियों को बहुत कुछ समझने लगी। राजाओं तथा राजकर्म्मचारियों और दरबारी अमीरों ने उसे बहुत दबाना चाहा; पर वह फिर दबी नहीं। यदि इन शासकोंके हृदयोंमें तनिक भी सहानुभूति होती, यदि वे उसकी भलाई के लिए तनिक भी उपाय करते, तो कदाचित् उनके हित-चिन्तक भी कई होते और यह क्रान्ति इतना भयंकर रूप न धारण कर पाती; पर पाठक–गण देखेंगे कि इन लोगों को तो अपने ऐशोआरामसे ही फ़ुर्सत न थी और उसकी सामग्री एकत्र करने के लिए ही वे प्रजा को उपयोगी समझते थे। वह समय ही ऐसा था जब कि प्रजागण राजाओं की दुधार गाय ही समझे जाते थे, और कुछ नहीं। यदि प्रजा को कुछ अधिकार था, यदि राजा बिलकुल निरंकुश न था तो केवल इँग्लैण्ड में, अन्यत्र नहीं। यहाँ भी सन् १६८८, अर्थात् १०० वर्ष पूर्व, से अंग्रेज़ प्रजा ने कुछ थोड़े-बहुत अधिकार पाये थे, नहीं तो वहाँ भी राजाही सब कुछ समझा जाता था और उसका अधिकार ईश्वर-प्रदत्त (Divine Right) माना जाता था। राजा तो ऐसा मानता ही था; क्योंकि उसे ऐसे मानने से बड़ा लाभ था; पर प्रजा भी ऐसा ही समझती थी।

अब हम फ्रान्स की राजक्रान्ति की ओर फिर मुड़ते हैं। यहाँ इस क्रान्ति का सूक्ष्म या सविस्तर विवरण लिखना हमारा अभीष्ट नहीं है, वरन् उस भयंकर समय की दुर्घटनाओं का चित्र हम अपने पाठकों के सम्मुख रखना चाहते हैं।

यों तो उस समय के हत्याकाण्ड का सर्वांग-पूर्ण चित्र खींचना किसी योग्य से योग्य लेखक, कवि वा चित्रकार की शक्ति से भी परे है; पर थोड़ा बहुत परिचय हो जाना ही बहुत है।

फ़रासीसी प्रजा कई पीढ़ियों के अत्याचार से ऐसी पागल सी बन गई थी, उसके हृदय में प्रतिहिंसा की ज्वाला ऐसी धधक रही थी कि जब उसने अपने देशके शासकोंका सर्वनाश करने पर कमर कसी, तो फिर उसकी आँखोंमें लाल ही लाल दीखने लगा। उसे दया, धर्म्म आदि का कुछ भी ख्याल न रहा और मारकाट के सिवा उसे और कुछ सूझता ही न था। देश की उत्तमोत्तम संस्थाओं को भी उनका दुरुपयोग किये जानें से उसने समूल नष्ट कर डाला। शासकों, धर्म्माधिकारियों तथा अमीरों में भी सभी दुष्ट न थे। कई तो अच्छे साधु पुरुष थे और अपने हत्यारों की अपेक्षा बहुत भले थे, पर उच्च वंश में जन्म लेना ही उनका बड़ा पाप समझा गया था जिससे नीच से नीच, पतित से पतित, दुराचारी प्रजागण उन्हें मार डालने में तनिक भी संकोच नहीं करते थे। अपने सीधे-सादे राजा को, उसके राजकुमारोंको तथा उसकी सुन्दरी पत्नीको इन नर-पिशाचोंने जिस क्रूरता के साथ वध किया था उसका वर्णन पढ़ते कलेजा दहल उठता है।

इस क्रान्ति के नेतागण कदाचित् यह नहीं समझते थे कि जनता भी कभी कभी उमड़ पड़ने पर अपने नेताओं के वश में नहीं रहती; वरन् खासी "भस्मासुर" बन बैठती है और मनमानी प्रतिहिंसा करने लगती है। मनुष्य चाहे क्रूर से क्रूर बनैले पशु को अपने वश में करले; पर उमड़ी हुई जनता को वश में करना बड़ी टेढ़ी खीर है। मनुष्य अकेले में जिन कार्य्यों को अत्यन्त जघन्य समझता है और कदापि उन्हें करने का साहस नहीं कर सकता उन्हें ही वह भीड़में उन्मत्त सा होकर कर बैठता और पीछे बहुत पछताता है। वह मन ही मन सोचता है कि ऐसा काम मुझसे कैसे बन पड़ा। जन-समूह का मानस-शास्त्र (Mob-Psychology) व्यक्ति विशेष के मानस-शास्त्र से बिलकुल भिन्न होता है। यही कारण है कि निरे "भीड़ के तीसमारखां" जनसमुदाय को उभाड़ने में इतने कृत-कृत्य हुआ करते हैं। उनके कुत्सित भाषणों का प्रभाव जिन व्यक्तियों पर अलग अलग नहीं पड़ता उन्हीं पर जन-समुदाय में सम्मिलित होने पर विचित्र प्रभाव पड़ता है। जिन लोगों को ब्रह्म-राक्षस के शान्त करने का मंत्र नहीं मालूम उन्हें उसे जगाने के मंत्र को कभी भूल कर भी प्रयोगमें न लाना चाहिये, नहीं तो आपत्ति निश्चित समझिये। फ्रान्स के क्रान्तिकारी नेतागणों ने जिस न्याय और स्वाधीनता को स्थापित करने के लिये जनता-रूपी पिशाच को जाग्रत किया था उसने उसी न्याय और स्वाधीनता के विरुद्ध निरे हत्या-काण्ड को ही महान् आनन्द-कारी मान प्रत्येक रात्रि को सहस्रों निरपराध देश-बान्धवों को लालटेनों के स्थान में सड़कों पर लटका कर फाँसी दे दी। यह भयंकरता का साम्राज्य (Reign of terror) बराबर वर्ष भर रहा। कितने फ़रासीसी इस पिशाच-लीला के समय प्राण खो बैठे उसका कुछ ठिकाना है?

पाठकगण, परमात्मा के इस प्रपंचमें, माया की इस अवर्णनीय क्रीड़ामें, सत् और असत्, भला और बुरा, दोनों साथ-साथ दीख पड़ते हैं। काली से काली मेघ-माला में चाँदी के सदृश चमकती हुई किनार रहती ही है। जो प्रगाढ़ बलाहक-समूह नीचे की भूमि को अन्धकारमय बना देता है उसके ऊपर वह प्रकाश होता है जो चकाचौंध उत्पन्न कर देता है। इसी प्राकृतिक नियम के अनुसार फ्रान्स की राज-क्रान्ति के समय सहस्रावधि पैशाचिक काण्डों के साथ साथ अनेक स्वर्गीय घटनाएं भी संगठित हुई थीं। उन्हीं में से एक का वर्णन हम नीचे करते हैं:-

फ्रान्स-नरेश और उनका कुटुम्ब आस्ट्रिया को भागा जा रहा था। कुछ मील की दूरी पर पेरिस के अनेक पिशाचों ने इन्हें आ घेरा और उनपर शत्रुसे मिलने और उसके द्वारा फ्रान्स पर आक्रमण कराने के षडयन्त्र रचने का अपराध आरोपित करके बड़ी विडम्बना के साथ उन्हें फिर पेरिस ले आये। १० वीं अगस्त, सन् १७९२ की रात को फ्रान्स का राज-वंश इन खूंखार भेड़ियों से भी बदतर फ़रासीसियों के हाथ क़ैद हो गया। राज-वंश के स्विस सिपाही आगे के समान अपने स्वामी का पहरा देने लगे। कुछ क्रान्ति-कारियों को राज-वंश के खून की तृषा ने बहुत सताया। वे लोग रातको उनका वध करने के लिए प्रस्थानित हुए। जब महलों के समीप पहुंचे, तब इन स्वामि-भक्त सिपाहियोंने उनको भीतर घुसने से रोका। इन रक्त के प्यासे नर-देही श्वापदों की अपेक्षा इन सिपाहियोंकी संख्या अत्यल्प थी। वे जानते थे कि इनको बाधा पहुंचाने में हमारी मृत्यु अवश्य होगी; पर सच्चे वीर अपने कर्त्तव्य-पालन में यमराजसे भी भिड़ जाने में संकोच नहीं करते। बस, इन लोगोंने अपनी जान हथेली में लेकर शत्रुओं को रोका, जिसका फल यह हुआ कि बात की बात में सब काट डाले गये। इन स्वामि-भक्त वीरों की स्मृति रक्षित रखने के लिए स्विट्ज़रलैण्ड देश में एक स्मारक बनाया गया है, जिसमें एक सिंह लिली नामक पुष्पों की रक्षा

करता हुआ देख पड़ता है। ये पुष्प फ्रान्स के राज-वंश के चिह्न हैं।

दूसरे दिन इससे भी भयंकर हत्या-काण्ड देखने में आया। मूर्ख जनता को भ्रम था कि राजा तथा उसके पक्षपाती अमीरों से और भद्र पुरुषों में एक ऐसी गुप्त शक्ति है जिसका प्रयोग करते ही वे सब हम सब गरीबोंको पीस डालेंगे। पेरिस में इस समय राज-कुटुम्ब के अतिरिक्त ८,००० अमीर तथा भद्र पुरुष क़ैद थे जिससे जेलखानों में अब थोड़ासा भी स्थान नहीं बचा था। इसी समय राज-कुटुम्ब की रक्षा के लिए जर्मन रजवाड़े फ्रान्स पर चढ़ाई करने के प्रयत्न में थे। यह सुन फ़रासीसी जनता भूखे बाघ के समान रक्त-तृषित हो बैठी।

इन जेलखानों में से अबाये नामक जेल में एक ७३ वर्ष के कुलीन वृद्ध भी क़ैद थे। ये पहले किसी सरकारी उच्चपद पर काम कर चुके थे। इनका नाम महाशय कैजोटी था। अपने वृद्ध पिता को इस आपत्तिमें पड़ा देख इनकी २० वर्षीया युवती कन्या इलीज़ेबेथ अपना सब आराम छोड़ पिता की सेवा-शुश्रूषा के लिए इनके साथ जेलखानेमें रहती थी। महाशय कैजोठी का सारा समय अपने साथी क़ैदियों को आश्वासन देने तथा धर्मोपदेश करने में व्यतीत होता था। इलीज़िबेथ के समान और कई कुलीन रमणियाँ अपने अपने पतियों, भ्राताओं तथा पिताओंकी सेवाके लिए इस जेल में अपना कष्टमय, पर महान् पवित्र जीवन, व्यतीत कर रही थीं। अगस्त मास में वहां इतनी गर्मी थी और क़ैदियोंकी संख्या इतनी अधिक थी कि लोग रात को सो नहीं सकते थे। इलीज़ेबेथ अन्य दो रमणियों के साथ एक दूसरे कोठे में रात बिताती थीं। निदान दूसरी सितम्बर को ये क़साईघर ऐसे भर गये कि कहीं तिल रखने को स्थान नहीं रहा। उसी दिन दुष्ट क्रान्तिकारियोंने १०० नर-पिशाचों को आज्ञा दी कि जाकर इन जेलखानेंके क़ैदियों का वध करो। ये खूँखार क़साई बन्दूकें और कुल्हाड़ियाँ लेकर इन शस्त्रहीन क़ैदियों पर आक्रमण करने के लिए रवाना हुए। यहाँ इन बेचारों को भी कुछ कुछ सन्देह सा होने लगा। क्योंकि जेलरने अकस्मात् अपने बालबच्चे कहीं अन्यत्र भेज दिये थे। पर, चारा ही क्या था। ईसाइयोंका पवित्र दिन रविवार होने से, महाशय कैजोटी आदि क़ैदियों ने ईश्वरोपासना में अपना मन लगाया। उन्हें क्या मालूम था कि मृत्यु इतनी समीप है। अकस्मात् भयंकर कोलाहल होने लगा। बन्दूकें धड़ाधड़ चलने लगीं। मालूम हुआ कि भीड़ जेल के फाटक तोड़ रही है। जेल के एक कमरे में धर्मोपदेशक लोग जो उसी दिन प्रातःकाल लाये गये थे, बन्द थे। उनमें पादरी सिकार्ड भी था जिसका सारा जीवनकाल गूंगे-बहरों की सेवामें व्यतीत हुआ था। अपने अभागे शिष्योंको पढ़ाते समय ही तारीख २६ वीं अगस्त को वह क़ैद किया गया था। इसपर उसके शिष्यों ने मिलकर जातीय परिषद् के सम्मुख अपना निवेदन-पत्र पेश किया कि हमारे गुरु जी छोड़ दिये जायँ। इन्हीं की शिक्षा से हम लोग मनुष्य बने हैं, नहीं तो पशुओं में और हम में कोई भेद न होता। इन मूक-बधिर युवकों के कातर मुखों को देख उस परिषद के निष्ठुर सभ्यों के दिल भी पिघल गये। एक दूसरे युवक ने जिसका पादरी साहिबसे कोई सम्बन्ध नहीं था एक सत्पुरुष की रक्षा के लिए उसके बदले में क़ैद जाने की प्रार्थना की थी। इस तरुण पुरुष की सहृयता का प्रभाव इतना अधिक पड़ा कि परिषद के सभ्यों ने पादरीके विषय में फिर से पूछताछ करनेकी आज्ञा दे दी; पर हुआ कुछ नहीं। आज द्वितीय सितम्बर को धर्मोपदेशक पादरी सिकार्ड भी इसी अबये जेलमें उपस्थित थे। आप अन्य पादरियों के साथ जब इस जेल में लाये गये थे तो देश-भक्त जनता ने आप लोगोंको मार्गमें खूब गालियाँ दी थीं और पत्थर-ईंटों से भी इन साधुजनों का अच्छा सत्कार किया था जिससे कई आहत हो रक्त-स्राव कर रहे थे।

निदान भीड़ फाटकों को तोड़कर आ घुसी। जेल का आँगन इन नर-पिशाचों एवं पिशाचनियों से भर गया। कुछ थोड़े से जाकर जेलरके दफ्तरमें न्यायाधीश बनकर न्याय का खेल खेलने लगे। क़ैदियोंके नाम पुकारे जाते और ज्योंही वे भीड़ में लाये जाते, त्योंही कोई न कोई उन्हें कुल्हाड़ी से काट डालता। न्यायाधीशों के सम्मुख एक भी न पहुँच पाता था। स्त्रियाँ भी ऐसी निष्ठुर होगई थीं कि इस हत्याकाण्ड को देख देख कर रणक्षेत्र की डाकिनी-शाकिनी पिशाचनियों के सदृश खिल-खिलाकर हँसती थीं। वे इन हत्यारोंको प्याले भर भर कर शराब पिलातीं और समय समय पर भोजन लाकर देती-थीं। इसी मार-काट की गड़बड़ में पादरी सिकार्ड और उसका एक साथी भागकर न्यायालय में घुस गये और इन दुष्टोंसे रक्षा की प्रार्थना की; पर आज्ञा मिली-हटो, दूर हो, क्या तुम्हारे लिए हम अपनी जान दें। उन पाखण्डियों में भी एक न्याय-मूर्ति निकला। वह सिकार्ड को पहचान गया कि इसी को राष्ट्रीय परिषद्ने प्राण-रक्षा का वचन दिया है। और इसके सम्बन्धमें पूछताछ हो रही है। वह उसे एक कोठरी में लेगया और कहा कि मुझ से जहाँ तक तुम्हारी रक्षा करते बनेगी करूँगा, घबराओ मत। वहाँ एक पिशाचिनी ने चिल्लाकर हत्यारों से सिकार्ड और

उसके साथी धर्मोपदेशक का पता दिया कि वे दोनों उस कोठरी में छिपे हैं। बस फिर क्या था, इन दुष्टोंने वहाँ जाकर उसे तोड़ना शुरू किया। बेचारा सिकार्ड अपना अन्तिम समय जान घुटने टेककर परमात्मा का स्मरण करने लगा। इतने में घर टूट गया और कई नर-पिशाच भीतर घुस आये। सिकार्ड के साथी को पहिचानते ही उन्होंने उसे काट डाला। दूसरे ने सिकार्ड को काटनेके लिए कुल्हाड़ा उठाया ही था कि किसी भीड़में से एक ने आकर अपनी छाती उसके साम्हने खोल दी और कहा कि पहले मुझे मारो, फिर इस साधु को मारना। जानते नहीं, यह वही पादरी सिकार्ड है जिसे सब "मूक-बधिरों का पिता" कहते रहे हैं ? ऐसे दीन-बन्धुओं का वध करके तुम क्या नाम उठाओगे ? यह सुन उस हत्यारे ने अपना कुल्हाड़ा नीचे कर लिया। रात्रि भर सिकार्ड न्यायालय ही में रहे। बाद, आप दो और कैदियों के साथ एक कोठे में रक्खे गये। बाहर हत्यारों ने शराब पी पी कर खूब हुल्लड़ मचाया। वे स्त्रियों के साथ नाचते और फिर शराब पीते थे। तीन बजे रात को उनकी रक्तपिपासा फिर जागृत हुई। उन्होंने उस कोठरी के द्वार को तोड़ना आरम्भ किया। वहीं भीतर एक मचान था। सिकार्ड के साथी कैदियों ने उनसे उसी पर चढ़ कर छिप रहने को बहुत कहा; पर वे न माने। वे दरवाज़े को गिराने पर ही थे कि न जाने कहाँ से उन्हें दूसरे अभागे मिल गये जिनका वध करके उनकी रक्त-पिपासा कुछ समय के लिए तृप्त होगई और वे फिर मदिरा-पान और नृत्य में प्रवृत्त होगये। दो दिन सिकार्ड उसी कोठरी में पड़े रहे। तीसरे दिन उनकी रिहाई की आज्ञा आने पर वे फिर अपने कार्य्य में प्रवृत्त हो गये। सच है, मारनेवाले से बचानेवाला बड़ा होता है। ईश्वर ने उसी साधु पुरुष की रक्षा की, नहीं तो वह कैसे बचता।

अब महाशय केज़ोटी प्रभृति कैदियों का हाल सुनिये। रात होते ही वे २२ रमणियाँ जो अपने अपने आत्मीय जनोंके साथ अबेय कैदखाने में रहती थीं उनसे पृथक कर दी गईं थोड़ी देर बाद उनसे कहा गया कि तुम्हारे आत्मीयों को रिहाई मिल गई, तुम भी घर जाओ। उन में से दो, दुष्टों का कहना मान कर ज्योंही कमरे से बाहर हुईं, त्योंहीं उन अधम जीवोंने उनके टुकड़े टुकड़े कर डाले। शेष को संत्रीने सावधान कर दिया जिससे वे फिर बाहर नहीं आईं। मेरी नामक महिला अपने पिता के समीप चली गई। जब पिता को बाहर जाने को कहा गया, तब वह उसके साथ निकली और हत्यारों के कुल्हाड़ा उठाते ही अपने पिताके शरीरसे ऐसी लपट गयी कि केवल बूढ़े के प्राण लेना असम्भव हो गया। एक हत्यारे का कलेजा पिघल उठा और उसने मेरी से कहा कि यदि तू राष्ट्र की जय बोल कर एक प्याला शराब पी ले, तो हम लोग तुम दोनोंको छोड़ दें। उसने स्वीकार कर लिया; पर प्याले में लाल लाल वस्तु देख उसे सन्देह हुआ कि कदाचित् इन दुष्टों ने इसमें नर-रक्त भर दिया है। उसे उस प्याले से घोर घृणा तो हुई; पर पिता की रक्षा इसी में देख उसने वह प्याला खाली कर दिया। इस तरह उस आदर्श कन्या ने वृद्ध पिता के प्राणों की रक्षा तो की; पर उस दिन से लाल शराब को देखते ही उसे मूर्च्छा आ जाती थी। इसी प्रकार इलीज़ेबेथ ने भी अपने पिता महाशय केज़ोटी को बचाया।

राजकुमारलिम्बेल एक अत्यन्त सुन्दरी फ़रासीसी रमणी थी। वह फ्रान्स की महारानी मेरी अण्टायनेटकी सखियों में से थी और उसके कारण फ्रान्स-दरबारकी शोभा बहुत बढ़ गई थी। अन्य विदुषी रमणियाँ उसे छिछोड़ी कहकर उसका तिरस्कार किया करती थीं। पर भीतरी कारण, उसकी रूप-राशि से ईर्षा थी। इसी छिछोड़ लम्बेल ने सिद्ध कर दिया वह कैसी आदर्शचरित्र रमणी थी। राज-क्रान्ति के आरम्भ में उसके वृद्ध ससुर उसे लेकर विदेश चले गये थे; पर ज्योंही उसने सुना कि महारानी और राजवंश पर बड़ी आपत्ति और उनके प्राण संकट में हैं त्योंही वह अपने प्राणों का मोह छोड़ कर फ्रान्स चली आई, और महारानी के साथ रह कर उन्हें आश्वासन देने लगी और उनकी सेवा करने लगी। दसवीं अगस्त को वह महारानी के पास से हटा दी गई और ला फोर्स जेल में रक्खी गई। २ री सितम्बरको वह न्यायालयके सम्मुख लाई गई और उससे कहा गया कि स्वाधीनता, समता और राजा-रानी के प्रति घृणा की शपथ ले ले, तो तू छोड़ दी जायगी। इस वीरांगना ने निर्भय उत्तर दिया कि पहली दो बातों की शपथ ले सकती हूँ; पर तीसरी बात की शपथ लेनेसे मेरा सत्य जायगा। मुझे राजा-रानी से घृणा के बदले प्रगाढ़ प्रेम है।

हत्यारेने कहा, "शीघ्र शपथ ले, नहीं तो प्राणों का मोह छोड़"। इसपर उस वीर महिलाने आकाश की ओर दृष्टि करके ईश्वर का स्मरण किया और मृत्यु का साम्हना करने के लिए वह कमरे से बाहर होगई। उन हत्यारोंने बर्छियों से उस कोमलांगी को छिन्नभिन्न कर डाला। उसके मर जाने पर इन दुष्टोंने उसके कोमल शरीरके टुकड़े टुकड़े कर डाले और उसका सिर एक बर्छे में लगाकर महारानीके जेलकी खिड़कीके सम्मुख खड़ा किया। महारानीने जब अपनी प्रिय

सती के स्वर्णमय केशपाश-जटित मुखको देखा तो उन्हें बड़ा दुःख हुआ और वे समझ गईं कि मेरी भी यही दशा की जायगी। पर उन्होंने यह देखा कि अब भी ऐसे विपत्ति-काल में ऐसे सच्चे मित्र हैं जो हमारे लिए अपने प्राण प्रसन्नतापूर्वक न्योछावर करते हैं, उन्हें विशेष सन्तोष हुआ।

खेद की बात है कि महाशय केज़ोटी पुनर्वार जेल में ठूँस दिये गये। इस बार उनकी प्यारी पुत्री का सारा उद्योग निष्फल हुआ। वह उन्हें न बचा सकी। अन्त में दोनों का बिछोह हुआ और गिलोटीन नामक यन्त्र द्वारा आपका शिरच्छेद कर डाला गया। मरने के पूर्व आपने कहाः—

"मैं जन्म भर ईश्वर और राजा का सच्चा भक्त रहा और अब मरती बार भी उनका वैसा ही भक्त हूँ।"

अतीत की स्मृति।

(लेखक—बाबू मंगलप्रसाद विश्वकर्मा)

"भगवान् अंशुमाली के सान्ध्य आलोक में मुझे अपने जीवन में जो संतोष मिला है वह सर्वथा अनुच्चारणीय है। कनिष्ठ भ्राता के सुखमय साहचर्य में जो रसास्वादन मिला है वह अवर्णनीय एवं अपरिमित है। उस समय मेरे लिए यह नीलाकाश अत्यन्त मनोरम और रमणीक प्रतीत होता था, किन्तु···।"

मेरे मित्र दिनेश यह कहते कहते रुक गये। आज संध्या समय हम दोनों आफ़िस से लौट रहे थे। उस समय मेरे मन में सहसा आया कि चलो, आज स्टेशन से मेल ट्रेन देखकर चलेंगे। इसके लिए मैंने दिनेश से प्रार्थना की और उन्होंने उसे सहर्ष स्वीकार भी किया।

एक ही आफ़िस में कार्य करने तथा आफ़िस से घर जाने का एक ही मार्ग होने से दिनेश के साथ मेरा अच्छा परिचय हो गया है। वे अत्यन्त सरल स्वभाव के तथा मृदुभाषी हैं; दूसरे, परस्पर प्रकृति के मिलने से हम दोनों की पटती भी खूब है। मैं उनके साथ और वे मेरे साथ रहना अधिक पसन्द करते हैं। अस्तु, आगे चलने पर ज्ञात पड़ा कि गाड़ी स्टेशन पर आ गई है; अतः हम लोग शीघ्रता से बढ़े और वहाँ के जन-कलरव एवं यात्रियों की उत्सुकता को प्रफुल्लित हो निहारने लगे।

घंटी हो चुकी थी। गाड़ी छूटने को ही थी। एक ग्रामीण यात्री अपने अनुज से कह रहा था—"भैया, जहाँ तक हो सकेगा, हम शीघ्र लौटने का प्रयत्न करेंगे (गाड़ी ने सीटी दी) भगवान् तुम्हें चिरायु करे!" यह कह यात्री ने उसका मुख चूम लिया। वत्सलता के आवेग से दोनों के नेत्रों से प्रेमाश्रु झरझर गिरने लगे। गाड़ी चली। युवक ज्येष्ठ भ्राता की ओर सतृष्ण नेत्रों से देखता रहा। मैंने दिनेश से कहा-"चलो, अब घर चलें"; किन्तु उनके नेत्रों से अविरल अश्रुधारा पतित हो रही थी। मैंने कहा—"यह क्या?" उन्होंने कुछ उत्तर न दिया। अत्यन्त आग्रह करने पर, उन्होंने उपरोक्त शब्द बड़ी गंभीरता से कहे। हम लोग इस समय घर की ओर चल पड़े। मैंने कहा-"किन्तु, किन्तु क्या दिनेश?"

"कुछ नहीं, चन्द्र, जाने दो।"

"आखिर कुछ भी तो।"

"क्या करोगे सुनकर?"

"नहीं, अवश्य कहो।"

मेरे हठ करने पर उन्होंने कहा-"देखो"। मैंने तुरन्त कहा-"भाई, इसमें देखने की कोई बात नहीं, तुम कहो, मैं सुनूँगा।" अश्रु-पूर्ण नेत्रों से उन्होंने कहा-"चन्द्र, एक कहानी है और कुछ नहीं।" यह कहते कहते दिनेश पास के एक पुल के पत्थर पर बैठ गये। मैं भी उनके सन्निकट बैठ गया। वे धीरे धीरे कहने लगे—"चन्द्र, हरिद्वार में मन्दाकिनी के तटद्वय पर खड़े होकर मैंने भगवान् अंशुमाली को पश्चिम पयोधि में पतित होते देखा। अब भी प्रतिदिन पश्चिमाकाश की ओर मुँह कर दिननाथ की रक्त-राग-रंजित किरणों को एकटक हो निहारता हूँ; किन्तु वह आनन्द नहीं। सूर्यास्त, जो मैंने अपने बाल्यकालीन सुखमय दिवसों में, अपनी कुटी के द्वार पर क्रीड़ा करते समय, देखा था, वह मैं आज तक फिर नहीं देख सका। हम लोग पहले एक गांव में रहते थे। एक दिन की घटना मुझे अब भी स्मरण है।"

सन्ध्या हो चुकी थी। नभोमंडल मेघाच्छन्न रहने के कारण, अन्धकार और भी शीघ्रता से अपना प्रभुत्व स्थापित कर रहा था। मैं अपने छोटे भाई रमेश की प्रतीक्षा में, अपनी फूस की झोपड़ी के सामने बैठा हुआ था। घर के भीतर वृद्धा मा चरखा कात रही थीं। बड़ा आनन्द था। सुखद संन्ध्या थी। गांव में एक अर्द्ध-शिक्षित ब्राह्मण रहते थे। मैं उन्हींके यहाँ पढ़ने के बहाने दो एक घड़ी खेल आया करता था। हाँ, तो मा ने पुकारा—"दिनेश, सन्ध्या हो गई, रम्मू अभीतक नहीं आया"। मैं उत्तर देना चाहता था कि आता होगा, इतने में आँगन में बँधे हुए छोटे छोटे बच्चे रँभाने लगे। मुझे गायों के खुरों का शब्द भी स्पष्टतया सुन पड़ने लगा। मैंने मुँह फेर कर देखा, और चिल्लाकर कहा—"मा रम्मू आ रहा है।"

रम्मू आँगन में अपना सोटा लट्ठ पटककर, गाएँ बाँधने लगा। मैंने बड़ी व्यग्रता से पूछा—"रम्मू, तुम्हारे कपड़े इतने क्यों भींग रहे हैं?" रम्मू ने बड़े प्रेम से कहा-"दादा, कुछ न पूछो, आज नदी की बाढ़ से मेरी दुलारी बह गई थी। उसीको निकालने के लिए नदी में कूद पड़ा था; इसीसे भींग गया हूँ।"

मा ने बीच ही में रोक कर कहा—"तब तो तुम कृष्ण ठहरे।" रम्मू ने तुरन्त उत्तर दिया-मा, हमें माखन मिश्री दो, तब न।"

इतने में मा हँस पड़ी। मैंने पूछा—"रम्मू जब तुम गो-पालक कृष्ण हुए तो गीता…"

बात को बीच ही में काटकर रम्मू ने कहा—"हम ही सुनावेंगे।" हम लोग इस बात पर और ज़ोर से हँसने लगे। रम्मू चुप रहा। चन्द्र, वह सुख अब भी स्मरण है। चन्द्र, नन्हें नन्हें हाथ बढ़ाकर, वह अब भी पुकारता है—"दादा!" उत्सुकता के आवेग में मैं भी कह उठता हूँ—"रम्मू!" किन्तु शून्य हृदयाकाश में उठी हुई प्रतिध्वनि क्रमशः शान्त होते होते न जाने कहाँ विलीन हो जाती है।

स्मृति किसी क्षण की क्यों न हो, उसके बिना जीवन नीरस मरुभूमिसा प्रतीत होता है। स्मृति से ही परितोष और हृदय में अपूर्व भावों का उदय होता है।

अच्छा, रम्मू की कहानी आगे सुनिये। बहुत दिन हो गये हम लोग शहर में आकर बसे। पिताजी ने हम लोगों का शिक्षण-क्रम आरम्भ कर दिया था। मैं, मा और रम्मू शहर ही में रहा करते थे और पिताजी गाँव में खेती-किसानी क्रिया करते थे।

कई वर्ष विद्या-अध्ययन के पश्चात् हमारी आर्थिक स्थिति अत्यन्त क्षीण हो चली; अतः विवश होकर मुझे एक आफ़िस में नौकरी कर लेनी पड़ी। पाठशाला में जाने-आने तथा मनोनीत साधन-सामग्री प्राप्त होने से रम्मू का स्वभाव अत्यन्त चंचल होगया था। उसने महाकवि मिल्टन, वर्डस्वर्थ तथा वाल्मीकि-रामायण की अनेक प्रसंग-युक्त बातें कंठ कर ली थीं। आफ़िस से लौटने पर मैं मार्ग से देखता था कि रम्मू अपने कमरे में खिड़की की तरफ़ मुँह किये वर्डस्वर्थ की कविताएँ अत्यन्त गंभीरता से मनन कर रहा है। मैं ज़ोर से पुकारता था "रम्मू" और रम्मू दौड़ कर आता और बड़े प्रेम से कहता "दादा"। मैं कहता था कि रम्मू, जल पीना है। रम्मू बड़े प्रेम से जल लाता और कहता—"दादा, बन्दीगृह के बन्दी बनकर, इतना परिश्रम क्यों उठा रहे हो? दासत्व-बन्धन से मुक्त होने की चेष्टा करो। उसके इस वाक्य को सुनकर मैं केवल मुसकरा देता था। मुझे क्या मालूम था कि यह बुझते हुए प्रदीप का उज्वल आलोक है और मेरे भविष्य जीवन का अभिनय आरम्भ होते ही, दुःखद मेघ अपनी गर्जन-तर्जन से मेरी आशा-लता को नष्ट कर देगा।

एक दिन मैं आफ़िस से घर लौट रहा था। मेरे वाम नेत्र का स्पन्दन हुआ। सोचा, यह अपशकुन कैसे? भगवान् का नाम ले दृष्टि ऊपर उठाई। पश्चिम आकाश में भगवान् मरीचिमाली का प्रकाश क्षीण हो चला था। सोचने लगा, यह अधःपतन क्यों? इसका उत्तर मुझे न मिल सका। गृह-द्वार पर पहुँचते ही देखा कि आज वह श्रीहत हो रहा है। किसी व्यक्ति का शब्द नहीं सुन पड़ता है। मैं भारी हृदय से गृह में प्रवेश कर रहा था कि मा ने पुकारा—दिनेश, ज़रा देखना, रम्मू के माथे में पीड़ा है। मैं सीधा रम्मू के कमरे में चला गया और देखा कि रम्मू का मुँह मुरझाया है और वह आँखें मूँदे सो रहा है। चन्द्र, मेरा हृदय काँप उठा। सोचा, भगवन्! आज इस पर्णकुटी में क्या कोई विपत्ति आने वाली है।

मैं धीरे से चारपाई पर बैठ गया। मा ने व्यालू करने के लिए बहुत आग्रह किया; किन्तु मैंने व्यालू नहीं की। चुपचाप बैठा रहा। रात्रि हो चली। क्रमशः आठ, नौ, दस बज गये। खिड़की की ओर से बाहर देखा, मेघाच्छन्न नभोमंडल भयंकर कालरात्रि का द्योतक बन रहा है। वर्षा भी हो रही है। जन कलरव बिलकुल शान्त है। प्रकृति-माता भयविह्वल हो रही है। निद्रादेवी प्राणिमात्र को अपनी शान्तिदायिनी गोद में लिये बैठी है।

'मा, पानी।' मेरा ध्यान भंग होगया। मैंने धीमे स्वर में कहा, "रम्मू!" रम्मू न जाने किस अज्ञात भाव से प्रपीड़ित होकर मेरी ओर देख रहा था। थोड़ी देर में उसने फिर आँखें मींच लीं।

गृह-कार्य से निश्चिन्त हो मा मेरे पास आकर बैठ गई। उनसे मैंने रम्मू के अस्वस्थ होने के विषय में अनेक प्रश्न किये। उत्तर में उन्होंने केवल यही कहा कि दोपहर से सिर में असहनीय पीड़ा हो रही है। सोते समय बीच बीच में चौंक भी पड़ता है। मैंने दवा पिलाने के लिए अनेक चेष्टाएँ कीं; किन्तु सब निष्फल हुआ। इस समय मैं कुछ न बोल सका। कमरे में मलीन प्रकाश से प्रदीप जल रहा था। सब ओर शान्ति का साम्राज्य था। मैंने मा से कहा—"मा, लेट जाओ, मैं जग रहा हूँ।" इसी समय रम्मू ने फिर पुकारा—'मा, पानी।'

मैंने कहा "रम्मू, दवा पी लो, फिर पानी पी लेना।" रम्मू ने कहा—"दादा, अब मैं दवा नहीं पी सकता, पानी।

मैंने कहा—"तुम समझदार हो। पहले दवा पी लो, फिर पानी दूँगा।" प्रत्युत्तर में रम्मू ने कहा—"दादा, अब तो औषधिर्जाह्नवीतोयं वैद्यो नारायणो हरिः है। यदि आप आग्रह करते हैं, तो लाइए, दवा ही पीलूँ।"

दवा पीकर वह कहने लगा—"दादा, अब तो पानी दो।" मैंने मा से कुनकुना पानी लाने के लिए संकेत किया; किन्तु रम्मू ने तुरन्त ही उसे ओंठ से अलग कर दिया और कहा—"ओफ़! यह तो गरम पानी है दादा।"

मैंने कहा—"रम्मू, ठंडा जल कल देंगे।"

रम्मू किसी आन्तरिक भाव से उद्वेलित हो कहने लगा—'दादा कल, पर किसे?' चन्द्र मैं दिल में अत्यन्त चिन्तित हो विचारने लगा—'रम्मू क्या वास्तव में तुम दिनमणि का आगमन होते ही किसी अज्ञेय पथ के पथिक हो जाओगे। मेरे नेत्रों के सामने अन्धकार छा गया। कुछ सचेत होने पर देखा कि दीवाल की घड़ी ने तीन बजा दिये। मैं कमरे से बाहर आया। इस समय वर्षा बन्द हो गई थी। आकाश में यत्र-तत्र तारिकाएँ छिटक रही थीं। चन्द्रदेव भी चन्द्रिका के परिहास में बदली में से कभी कभी अपना विमल प्रकाश मेदिनी भर को आच्छादित कर देते हैं। प्रकृति प्रसुप्ता है। पपीहा मरणोन्मुख है; किन्तु स्वाती-जल के लिए प्राण-पण से चेष्टा कर रहा है। मैं उत्सुकता से सोचने लगा—चन्द्र, मेरे इस उत्तप्त हृदय को शांति कैसे मिल सकती है? मुझे परितोष कैसे हो सकता है? आज आफ़िस से लौटते समय, बुरे शकुन, क्या कोई दूरवर्ती नीरस भविष्यत् का परिचय दे रहे थे? क्या वे शकुन मेरे घातक होंगे? यही सोचते सोचते मैं व्याकुल हो उठा। मुझे जान पड़ता था, निशानाथ रोहिणी से प्रेम-परिहास ही करते हैं; किन्तु आज मुझे जान पड़ा, वे अपना कलंक छिपाने के लिए प्राणप्रिया रोहिणी के हृदय में धृष्टता का परिचालन कर रहे हैं। और मैं.........."

"दिनेश, देखो देखो, रम्मू क्या बर्रा रहा है।"

मैं शीघ्रता से कमरे में दौड़ कर गया। रम्मू बर्रा रहा था—"मेरा...का...म...देश...से......।"

मैंने शीघ्रता से पुकारा—"रम्मू, क्या बर्रा रहे हो?" रम्मू ने धीरे से आँख खोल कर कहा—"कुछ नहीं दादा।" मैंने उसी क्षण पूछा—"कुछ भी तो।"

रम्मू ने विचलित भाव से कहा—"मेरा एक काम है दादा, और यदि आप उसे पूरा कर सकें तो मैं सुख से प्रमाण कर सकूँ। मैंने आशा का एक कल्पित बाँध बाँध रखा था कि भविष्य में, एक समय देश भर में जाग्रति का प्रसार करने का उद्योग करूँगा। क्या आप इसे कर...।' मैं चुप रहा।

रम्मू निराश होकर कहने लगा—'दादा, अच्छा है, न करो। मैं इस पवित्र कार्य को जन्म-जन्मान्तरों में अवश्य ही पूरा करूँगा।' यह कह वह क्षण भर चुप रहा

पश्चात् उसे हिचकियाँ आने लगीं। वह उसी दशा में ही अस्फुटित स्वर में कहने लगा—'दादा...आ...प... मेरी......आश...न...क...रो।"

मा के नेत्रों से अविराम अश्रुधारा बह रही थी। मेरा गला रुँध रहा था। मैंने चिल्लाकर कहा—"रम्मू का जीवनप्रदीप बुझ गया"। मैं मूर्छित होकर गिर पड़ा। मा चीख मार कर खाट पर गिर पड़ीं।

किसी प्रकार सबेरा हुआ। मा को रोते विलपते ज्वर चढ़ आया था। वे भी आज दिन भर चारपाई पर पड़ी रहीं। शोक संतप्त रहने के कारण उन्होंने एक शब्द भी नहीं कहा। मैं समझता था, मा रोने के कारण ही अस्वस्थ सी हो गई हैं। मैं यह क्या जानता था कि इस बार मेरे शेष जीवन की यवनिका का पतन ही है।

रात्रि बहुत हो चुकी थी। धीरे धीरे काल के भयंकर प्रहार का समय उपस्थित हो गया था। चार बजने में कोई विलंब नहीं था। मैं पागल की भाँति ज़ोर से चिल्ला उठा—"भगवन्! संहारकर्ता न बन, तुझे तो...... ।"

मा ने पुकारा, "दिनेश, सुन।"

मैंने धीरे से मा का हाथ पकड़ कर कहा—"मा क्या है?" मा ने कहा—"दिनेश समय हो गया, मुझे भी अब विलम्ब हो रहा है। मैं भी अब वहाँ जाती हूँ जहाँ मेरा रम्मू है। उसे वहाँ कष्ट होता होगा, वहाँ जाकर मैं उसे अपने अंचल में आश्रय दूँगी। अब मैं जाती हूँ, जगदीश्वर तुम्हें चिरायु करें।"

हाय! चंद्र, लीलामय से यह भी न देखा गया। मेरा जीवनोद्यान मरुभूमि में परिणत हो गया। अब केवल ये अतीत स्मृतियाँ हैं। क्षणिक शान्तिदायी काल्पनिक जगत में मैंने कई बार देखा है—मूसलधार वर्षा हो रही है, दुर्गमपथ में आश्रय-हीन खड़ा हूँ, मार्ग-भ्रष्ट हूँ, कोई सहारा नहीं। चपला मुक्तामाल हिलाती है। उसके प्रकाश में देखता हूँ रम्मू पानी में खेल रहा है। कह उठता हूँ—"पानी में न खेलो रम्मू!" रम्मू मुस्कराता हुआ कह उठता है—"बुद्धि-हीन! तुमने तो शीतल जल से मेरी प्यास तक नहीं बुझाई। अब यह मैं नहीं सुनने का।"

चन्द्र, कभी कभी निर्मल नीलाकाश में उसकी मोहिनी मूर्ति का आभास किसी योगी के वेश में देख पड़ता है उसके मिलने का यथाशक्ति प्रयत्न करता हूँ, किन्तु वह दूर ही से कह उठता है—"दिनेश, यह पवित्र कच्च आरंभ शूरों के लिए नहीं। तुमने आरम्भ-शौर्य्य के वशीभूत होकर मेरा यह महत्तम अनुष्ठान पूर्ण करने की प्रतिज्ञा की थी। जाओ, अपने उत्तरदायित्व-भार को समझो। ऐसी दशा में चन्द्र, मुझे फिर शान्ति नहीं मिलती। मध्य रात्रि में जब कभी मेघाच्छन्न व्योम में कोई तारिका देख पाता हूँ, तो मुझे प्रतीत होता है कि यह मेरी प्यारी मा है, मुझे सुन पड़ता है—"दिनेश, जगदीश्वर तुम्हें चिरायु करे।"

ये दिन वर्षा ऋतु के थे। पानी बरसना आरम्भ हो गया। मैंने विचारा, दिनेश से कहूँ, चलो अब चलें, इतने में फिर वह कह उठा—"चन्द्र, आशा-प्रत्याशा का कोई अन्त नहीं किन्तु रम्मू की मूर्ति में वह दैवी-प्रदत्त ज्योति थी कि जिसके स्मरण-मात्र से मैं उसकी ओर किसी डोरे के सहारे खिंच रहा हूँ। यही वह आकाश है जो मुझे उस समय नीला दिखाई पड़ता था, यही वह माता वसुन्धरा है जहाँ मुझे इतना सुख मिला था जो अब मुझे भविष्यत् जीवन में कभी नहीं मिल सकता। जीवन की प्रत्येक घड़ी उस समय सुख का अनुभव करती थीं। हाँ, वह देखो, रम्मू मुझे ऐसी दशा में देखकर हँस रहा है। जानते हो चन्द्र, वह ऐसा क्यों कर रहा है?"

दिनेश को उद्विग्न देख मैंने उसका हाथ पकड़ कर कहा भाई, चलो, देखो न, हमें यहीं रात हो रही है। दीपक भी जलना प्रारम्भ हो गया है। यह सुन कर वह मेरे साथ साथ चलने लगा।



चेतना।

(लेखक—बाबू सियारामशरण गुप्त)

यह रात सहसा आ गई,
नभ में अँधेरी छा गई।
सोना पड़ेगा अब हमें,
ये कार्य तज कर सब हमें।
हैं कार्य पूर्ण न एक भी
किस भाँति सो जावें अभी।

क्या नींद अच्छी आयगी ?
　　या रात यों ही जायगी ।
जो नेत्र झँपने जायँगे
　　दुःस्वप्न दुख पहुँचायँगे ।
हे नाथ ! लें न विराम हम,
　　दिन भर करें बस काम हम ।
संध्या-समय ऐसे थकें,
　　हम नींद गहरी ले सकें ।
जिसमें कि हम फिर जब जगें,
　　सोत्साह कार्यों में लगें ।

चैतन्य चित्र ।

(लेखक-पं० विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक)

इस समय सिनामेटोग्राफ़ी (Cinematography) अर्थात् चलित-चित्र-कला का-संसार के सबसे बड़े उद्योग धंधों में तीसरा नम्बर है । इस विचित्र आविष्कार ने संसार की सभ्यता को एक नया जीवन दिया है। प्रारम्भ में जब इसका आविष्कार हुआ था तब यह केवल मनोरंजन की सामग्री समझी जाती थी। उस समय लोगों को स्वप्न में भी यह ध्यान नहीं था कि यही कला आगे चलकर संसार के लिए शिक्षा का एक बहुत और सबसे अच्छा हेतु बन जावेगी । चलित-चित्र-कला ने शिक्षा की पद्धति को किस प्रकार परिष्कृत किया है यह बताने के पूर्व हम पाठकों को चलित-चित्र-कला के आविष्कार के संबंध में कुछ बताना उचित समझते हैं ।

सबसे पहले फ्रान्स के प्रसिद्ध चित्रकार मेसोनीर को यह ज्ञात हुआ कि मनुष्य के नेत्र-पटल पर वस्तु की जो छाया पड़ती है उस छाया का प्रभाव नेत्र-पटल पर २ १/४ सेकेण्ड तक रहता है । नेत्र-पटल पर किसी एक वस्तु की छाया पड़ने के पश्चात् २ १/४ सेकेण्ड के अन्दर यदि किसी दूसरी वस्तु की छाया पड़े तो आँख को न तो पहली छाया का पूर्ण ज्ञान होगा और न दूसरी छाया का; वरन् इन दोनों के संमिश्रण से जो एक तीसरी छाया उत्पन्न होगी केवल उसीका ज्ञान होगा । इसी सिद्धांत को लेकर उक्त चित्र-कार ने दौड़ते हुए घोड़ों के कुछ चित्र बनाये और उनके द्वारा लोगों को यह समझाने की चेष्टा की कि दौड़ते हुए घोड़े की टाँगें वास्तव में किस क्रम से उठती हैं । उसने इससे यह सिद्ध करना चाहा कि मनुष्य की आँखों को दौड़ते हुए घोड़े की टाँगों का जो क्रम दिखाई पड़ता है वह सर्वथा भ्रम-मूलक है । चित्रकार की इस चेष्टा पर लोगों ने उसका खूब उपहास उड़ाया और उसे पागल समझा । इसका परिणाम यह हुआ कि बेचारा चित्रकार जनता की दृष्टि से बिलकुल गिर गया ।

उन्हीं दिनों सन् १८७२ में मुइब्रिज (Muybridge) नामक एक अंग्रेज ने २४ फ़ोटोग्राफ़िक केमरों को एक क़तार में खड़ा करके एक दौड़ते हुए घोड़े के एक ही समय में २४ चित्र लिए । जिस समय मेसोनीर ने मुई-ब्रिज के इस प्रकार चित्र लेने की बात सुनी, तो वह मुईब्रिज से मिला और यह प्रस्ताव किया कि मुईब्रिज अपने उन चित्रों की एक प्रदर्शनी पेरिस में करे । मुईब्रिज ने वैसा ही किया। परि-

णाम यह हुआ कि लोगों को मेसोनीर की बात माननी पड़ी और जो लोग उसे पागल समझते थे वे ही उसे एक अत्यन्त तीव्र दृष्टिवाला तथा उत्तम चित्रकार मानने लगे। फल यह हुआ कि उसका यह सिद्धान्त सबको मान लेना पड़ा कि आँख १/२४ सेकेण्ड में केवल एक ही छाया देख सकती है।

उन्नीसवीं सदी के आरम्भ में सर जान हरशेल ने एक खिलौना बनाया था जिसमें एक दफ्ती के टुकड़े के एक ओर एक पक्षी का चित्र बनाया था और दूसरी ओर पिंजड़े का। इस दफ्ती के टुकड़े में डोरा डालकर घुमाने से पक्षी पिंजड़े के अन्दर बैठा हुआ मालूम पड़ता था। मेसोनीर के सिद्धान्त से लोगों को इस खिलौने का रहस्य मालूम हो गया। इसके पश्चात् इङ्गलैण्ड फ्रांस और संयुक्तराज्य (अमेरिका) में रेनांड (Reynaud) ग्रीन, इत्यादि लोगों द्वारा चालित-चित्र-कला में उन्नति की गई। परन्तु इस कला का पूर्ण रहस्य ज्ञात हो जाने पर भी इसमें विशेष उन्नति न हो सकी; क्योंकि फ़ोटोग्राफ़ी में शीशे के प्लेट व्यवहृत होने के कारण किसी एक ही चलती-फिरती चीज़ के बहुत से चित्र नहीं लिये जा सकते थे।

अन्त में, सन् १८८९ में संयुक्तराज्य के मि० इस्टमैन ने सिलुलाइड नामक एक ऐसा पदार्थ बनाया जो शीशे की तरह पारदर्शक होने के साथ ही साथ काग़ज़ की तरह पतला और लचीला होता है। सिलोलाइड के बड़े बड़े फ़ीते (Film) तैयार किये गये। इस फ़ीते पर फ़ोटोग्राफ़ी का मसाला लगाकर उसे एक विशेष प्रकार के कैमरे में चर्ख़ी पर चढ़ाया। चर्ख़ी घुमाने से फ़ीता फ़ोटो के कैमरे के शीशे (लेन्स) के सामने से होता हुआ दूसरी चर्ख़ी पर लिपटता गया और इस प्रकार कैमरे के सामने चलने-फिरने-वाली चीज़ की प्रत्येक अङ्गभङ्गी का अलग अलग चित्र फ़ीते पर खिंचता गया। इस फ़ीते को फ़ोटोग्राफ़ के नियमानुसार डेवेलप करके उसका नेगेटिव तैयार किया गया। उस नेगेटिव से सैकड़ों और हज़ारों पाज़ेटिव तैयार कर लिए गए। सिलुलाइड को व्यवहार में लाकर चलित चित्र तैयार करने की पूर्ण मशीन बनाने का श्रेय संयुक्तराज्य के मि० टी० ए० एडीसन (T. A. Edison) को प्राप्त है।

पाज़ेटिव तैयार हो जाने पर उसे एक विशेष प्रकार की मेजिक लेन्टर्न पर जिसे प्रोजेक्टर कहते हैं चढ़ा दिया और चर्ख़ी घुमाई गई। चर्ख़ी घुमाने से फ़ीता एक चर्ख़ी पर से खुलकर शीशे के सामने से होता हुआ दूसरी चर्ख़ी पर लिपटता गया। फ़ीते के पीछे रोशनी होने से उसकी छाया सामने के पर्दे पर पड़ी। चर्ख़ी इतने वेग से घुमाई जाती है कि एक सेकेण्ड में चालीस चित्र परदे पर पड़ते हैं। इस प्रकार नेत्र-पटल पर उन चित्रों का एक सिलसिला बँध जाता है। सिलसिला बँध जाने पर चित्र के अलग अलग अङ्गभङ्गी के चित्रों का संमिश्रण हो जाता है तथा आँखों को चलता-फिरता चित्र दिखाई देता है।

यह तो चलित चित्र-कला का जन्म-इतिहास हुआ। अब इसका उपयोग किन किन बातों में किया जाता है सो सुनिए। वैसे तो आजकल इसकी कृपा से उपन्यासों, नाटकों के चित्र-अभिनय बिलकुल स्वाभाविक ढंग से देखने को मिलते हैं। संसार

के प्रायः सब स्थानों के दर्शनीय दृश्य, वहाँ के निवासियों के रहन-सहन, बोल-चाल के ढंग तथा उनके हाव-भाव घर बैठे देखने को मिल जाते हैं। ये सब होते हुए इसका उपयोग शिक्षा में किस प्रकार किया जाता है। केवल यही बात हम यहाँ पाठकों को बताना चाहते हैं।

यूरोप और अमेरिका में इस कला के द्वारा बालकों को शिक्षा दी जाती है। भूगोल पढ़ाते समय जिस नगर का भूगोल पढ़ाया जाता है उस नगर का फिल्म बालकों को दिखाते हैं। फिल्म देखने से बालकों को उस नगर की बनावट, वहाँ के निवासियों का रूप-रंग, रहन-सहन और उनके हाव-भाव का ज्ञान तुरंत हो जाता है। आँखों-देखी बात कभी नहीं भूलती और प्रायः एक ही बार के देखने में याद हो जाती है। अतएव बालकों को फ़िल्म दिखा देने मात्र से सब बातें याद हो जाती हैं और उन्हें उन बातों को याद करने के लिए तोता-रटंत नहीं करनी पड़ती। इसी प्रकार नदियों, पहाड़ों इत्यादि के फ़िल्म दिखा देने से बालकों को वे बातें तुरंत याद हो जाती हैं। पशु-पक्षियों के संबंध में भी इसी प्रकार किया जाता है। जिस पशु अथवा पक्षी के संबंध में बालकों को बताना हुआ उसका फ़िल्म दिखा दिया गया। फ़िल्म देखते ही बालकों को उसके रूप-रंग के साथ ही साथ उसके हाव-भाव और स्वभाव इत्यादि का ज्ञान तुरंत हो जाता है। उद्योग-धंधों के संबंध में शिक्षा देने में भी यही किया जाता है। शकर बनाने की विधि बतानी हुई, तो बस, उसका फ़िल्म दिखा देना काफ़ी है। यह आवश्यकता नहीं कि उन्हें किसी शकर के कारखाने में ले जाकर शकर बनती हुई दिखाई जावे। फ़िल्म के द्वारा उन्हें गन्ना बोने, काटने, रस निकालने, रस से शकर बनाने की पूर्ण विधि का ज्ञान हो जाता है। शकर बनाने की विधि के साथ ही साथ उन्हें उस संबंध की मशीनों की बनावट भी मालूम हो जाती है; क्योंकि आज कल जो फ़िल्म बनाये जाते हैं वे इस ढंग से बनाये जाते हैं कि देखने वालों को मशीन के एक एक पुर्जे का ज्ञान हो जाता है। मोटर बनाने की विधि का फ़िल्म इस ढंग से बनाया जाता है कि उसमें प्रत्येक कारीगर को अलग अलग काम करते और पुर्जे जोड़ते हुए दिखाते हैं, जिससे मोटर के प्रत्येक पुर्ज़े का ज्ञान होने के साथ ही उसके जोड़ने की स्थूल रीति भी मालूम हो जाती है। इसी प्रकार नक़ली हीरे, अनेक प्रकार के खिलौने, अनेक प्रकार के खाद्य पदार्थ, सेना का सामान, तोपें, तोपों के गोले, जहाज़, इत्यादि इत्यादि के बनाने की विधि फ़िल्म द्वारा बड़ी सरलतापूर्वक क्लास में बैठे हुए ही बता दी जाती हैं। साहित्य को छोड़कर प्रायः सब बातों की शिक्षा देने में फ़िल्म की सहायता ली जाती है।

बहुतसी ऐसी बातें जिन्हें एकही समय में देखना असम्भव था अब इस कला की कृपा से सम्भव हो गई हैं; उदाहरणार्थ, वृक्षों का ऊगना। पाँच मिनिट के अन्दर बीज से पूरा वृक्ष उगाकर दिखाया जाता है। साथ ही, यह खूबी है कि वृक्ष को ऊगते हुए दिखाने में उसकी कोई भी वैकासिक अवस्था छूटने नहीं पाती। पाठकों को यह बात असम्भव न प्रतीत हो, इसलिए यह बता देना उचित है कि यह किस प्रकार किया

जाता है। पहले बीज का फ़ोटो लिया गया। उस बीज को भूमि में बोने की विधि का चित्र बनाया गया। इसके पश्चात् जब उस बीज में से कली फूटी, तब उसका चित्र ले लिया गया। इसके पश्चात् वृक्ष के पूर्णाङ्ग होने तक उसकी बीच की अवस्थाओं का चित्र ले लेकर रखते गये। यहाँ तक कि फल और फूल की भी अनेक अवस्थाओं के चित्र, समय समय पर, ले लेकर रखते गये। जब सब चित्र पूरे हो गये, तब उन्हें जोड़कर एक फ़िल्म अर्थात् एक चित्रमाला तैयार कर ली गई। अब मान लीजिए, यह चित्र-माला दो सौ फुट की तैयार हुई। दो सौ फुट दिखाने में अधिक से अधिक दस मिनिट लगते हैं; अतएव इन दस मिनिट में बीज से लेकर वृक्ष के फूलने-फलने तक का दृश्य दिखा दिया जाता है। जिस समय यह दृश्य दिखाया जाता है उस समय ऐसा मालूम होता है मानों जादू के ज़ोर से बीज से क्रमशः वृक्ष बनाया जा रहा हो। ऐसे फ़िल्म बनाने में उतने ही दिन लगते हैं जितने दिन कि वृक्ष को ऊगकर फलने-फूलने में लगते हैं।

फ़िल्म की बदौलत शरीर-शास्त्र की शिक्षा में भी नया जीवन आ गया है। एक्स-रेज़ के द्वारा शरीर का फ़िल्म बनाया जाता है। जिस समय यह फ़िल्म दिखाया जाता है उस समय दर्शक अवाक् रह जाते हैं। शरीर के अन्दर हृदय, फेफड़े, इत्यादि अपना अपना काम करते हुए स्पष्ट दिखाई देते हैं। इसी प्रकार रक्त का संचालन, माँस-पेशियों का फैलना-सिकुड़ना इत्यादि स्पष्ट दिखाई देता है। ये बातें ऐसी हैं जो सर्व-साधारण के देखने में नहीं आ सकतीं। परन्तु, चलित-चित्र-कला की बदौलत ये बातें प्रत्येक मनुष्य देख सकता है। इसी प्रकार अनेक रोगों के कीटाणु, रक्त में उनका कार्य, ओषधियों से उन कीटाणुओं का द्वंद्व-युद्ध तथा कीटाणुओं का नाश बड़ी उत्तमता से दिखाया जाता है।

समाचार-पत्र-जगत् में भी चालित-चित्र-कला ने अपना कार्य कौशल दिखाया है। देश-विदेश में होने वाली घटनाओं का सजीव चित्र इसी कला की कृपा से देखने को मिलता है। यूरोप और अमेरिका में समाचार-पत्र की तरह फ़िल्म निकलते हैं, जिनमें दिन भर की घटनाओं का सजीव चित्र होता है। बहुत सी घटनाएँ ऐसी होती हैं कि बहुत अधिक भीड़ होने के कारण सर्व साधा-रण उसे नहीं देख सकते; अतएव वही घटना शाम को केवल कुछ पैसे ख़र्च करके, आराम से कुर्सी पर बैठे, देखने को मिल जाती है। उदा-हरणार्थ, लार्ड मेयर आफ़ कार्क की शवयात्रा के समय इतनी भीड़ थी और साथ ही पुलिस का इतना कड़ा प्रबंध था कि हज़ारों मनुष्यों को उनके ताबूत के दर्शन तक न हुए और न लोग उनके ताबूत को क़ब्र में रक्खे जाते हुए देख सके। परन्तु शाम को बायस्कोप में इसी शव-यात्रा का पूर्ण दृश्य बड़े आराम से लोगों को देखने को मिल गया। यही दृश्य भगवान तिलक की शवयात्रा के समय था; पर चालित-चित्र-कला की कृपा से उसका फ़िल्म बन गया और अब प्रत्येक मनुष्य उसे बड़े आराम से, घर बैठे, देख सकता है।

अमेरिका और यूरोप में तो अब बड़े आदमी घटनास्थल पर जाकर कोई घटना देखना नापसन्द करते हैं; क्योंकि वहाँ भीड़ बहुत होने के

कारण उन्हें बहुत कष्ट होता है। वे उसी घटना को आराम से बायस्कोप में देखना अधिक पसंद करते हैं। स्क्रीन अब तो ऐसा (वह पर्दा जिस पर चित्र दिखाये जाते हैं) बनाया गया है कि उससे दिन-दोपहर, खुले मैदान में, बायस्कोप उतना ही स्पष्ट देखा जा सकता है जैसा कि रात को, अँधेरे में। साथ ही, बहुत सी कम्पनियाँ बहुत सस्ते और साथ ही अच्छे प्रोजेक्टर बनाने की चेष्टा कर रही हैं। इस प्रकार इन दोनों बातों के हो जाने से बहुत बड़ी सुविधा हो जायगी और एक दिन वह आवेगा जब कि ग्राहकों के पास समाचार पत्रों के स्थान में समाचार-फिल्म आया करेंगे जिन्हें वे, अपने घर में, आराम से पलँग पर लेटे हुए देख सकेंगे और इस प्रकार किसी समाचार को पढ़ने की अपेक्षा वे उसका सजीव चित्र देख सकेंगे।



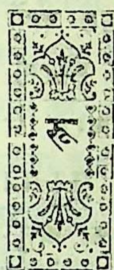
"ऐ गुलामी, अरे दासपन अरी कमज़ोरी, अब समय आ गया; बाँधो बिस्तर, उठाओ लत्तापत्ता, छोड़ो मुक्त पुरुषों के देश को।

"सोनेवालो! बादल भी तुम्हारे शोक में रो रहे हैं, बह जाओ गंगा में, डूब मरो समुद्र में, गल जाओ हिमालय में..........राम का यह शरीर नहीं गिरेगा जब तक भारत बहाल न हो लेगा। यह शरीर नाश भी हो जायगा, तो भी इसकी हड्डियाँ दधीचि की हड्डियों के समान इन्द्र का वज्र बनकर द्वैत के राक्षस को चकनाचूर कर ही देंगी। यह शरीर मर भी जायगा तो भी इसका ब्रह्मवाण नहीं चूक सकता।"

—स्वामी रामतीर्थ।

रूस में मित्रराष्ट्रों का उत्पात।

(लेखक—अध्यापक प्राणनाथ, विद्यालङ्कार)



रूसी किसान-राज्य ने ब्रैस्ट-लिटवस्क की सन्धि लाचार होकर की थी। इसी सन्धि के बाद लैनिन तथा ट्राटस्की ने किसानों और मेहनती मज़दूरों की सेनाओं को तैयार किया। यही सेना रूस की रक्षक हुई और लाल सेना के नाम से गत वर्ष प्रसिद्ध हो गई। इसके साथ ही लैनिन ने रूसी साम्राज्य की आर्थिक दशा सुधारने का यत्न किया। यूरोप के पूंजीतन्त्र राज्यों का संगठन जाति तथा जातीयता और साम्राज्यवाद पर है; परन्तु लैनिन रूस का संगठन भ्रातृभाव, स्वतंत्रता और साम्यवाद पर करना चाहता था। काम कठिन अवश्य था। लैनिन की बुद्धि तथा विवेक की जितनी प्रशंसा की जाय उतनी ही थोड़ी है। बहुत थोड़े समय में ही उसने रूस की आर्थिक दशा सुधार ली. शिक्षा तथा पढ़ाई का प्रबन्ध कर दिया और ग़रीब मेहनती मज़दूरों तथा किसानों को आनन्द तथा प्रसन्नता में जीवन व्यतीत करने का पूरा मौक़ा दे दिया।

रूसी किसानों तथा ग़रीबों के दुर्भाग्य से अंग्रेज़ तथा उनके मित्र-राज्यों ने रूस में शान्ति तथा उन्नति का होना पसन्द न किया उनके सामने तो रूस की खानें, जंगल तथा प्राकृतिक संपत्ति थी। जब तक उनसे धन कमाने का इनको मौक़ा न मिलता, तब तक इनकी अर्थ-तृष्णा कैसे शान्त हो सकती थी? सन् १९१८ के आरम्भ से ही लण्डन तथा पेरिस भयानक से भयानक

और क्रूर से क्रूर षड्यन्त्रों के अड्डे बन गये। अंग्रेज़ तथा फ़रासीसी पूँजीपति, स्वार्थ तथा धन-लोभ से प्रेरित होकर, ज़ार के स्वेच्छाचारी राज्य को रूस में फिर से स्थापित करने के लिए, उद्योग करने लगे। उन्होंने उन भयंकर पापों तक का करना बुरा न समझा जिनके स्मरण मात्र से हृदय काँप उठता है। रेनीमर्चेरड ने फ़रासीसी प्रधान पायंकेर के पास जो गुप्त पत्र भेजा था उससे इन लोगों की करनी का अनुमान लगाया जा सकता है। पत्र के शब्द हैं कि:—

"प्रिय प्रधान,

……………मित्र-राष्ट्रों ने रूस के सर्वनाश का इरादा किया है। यदि वे कुछ सुधार न सकें तो बिगाड़ें भी क्यों? जुलाई के बाद जैरोस्लोन पर मित्र-राष्ट्रों ने वृथा ही रूसी किसान-राज्य को परेशान किया। हज़ारों ग़रीब मेहनती मजदूरों तथा रूसी किसानों को इन्होंने क़त्ल किया। ……………इसके बाद २३ और २४ अगस्त को अमेरिका के काउन्सल जनरल मूले के मकान पर मित्र-राष्ट्रों के प्रतिनिधियों की गुप्त बैठक हुई। दैवात् मैं भी उसमें पहुँच गया। ये लोग जो सलाहें कर रहे थे वे पाप-वासनाओं से परिपूर्ण थीं। उनकी बातचीत से मुझे मालूम पड़ा कि अंग्रेज लोगों ने ज्वान्का स्टेशन से आगे वाले वोल्काफ़ नदी के संसार प्रसिद्ध पुल को बारूद से उड़ा देने का षड्यन्त्र रचा है। इसके नष्ट होने से पेट्रोग्रेड शहर तथा ज़िले के लोग एक एक दाने के लिए तड़फ तड़फ कर मर जायँगे; क्योंकि इसी पुल के सहारे तो पूर्वीय देशों की मन्डियों से पेट्रोग्रेड में अनाज पहुँचता है। इसी बातचीत में फ़्रान्स के एक प्रतिनिधि ने कहा कि मैंने चैरीपावत्स के पुल को तोड़ने का प्रबन्ध किया है। यह भी ज्वान्का के पुल के सदृश ही महत्वपूर्ण है। इस पुल के उड़ते ही पेट्रोग्रेड के लोग भागकर भी कहीं न जा सकेंगे। अन्न-पानी की बात तो दूर है, उन्हें बर्फ़ से बचने के लिए आग और कपड़े तक न मिलेंगे। इसके बाद उन प्रतिनिधियों ने रूस की रेलवे लाइन तोड़ने, सवारी की गाड़ियों को उलटने, रेलवे कर्मचारियों को घूँस देने तथा इन षड्यन्त्रों में मिलाने के विषय में अनेक बातें कहीं।"

रूसी किसान-राज्य ने तो शुरू में ही मित्र-राष्ट्रों से सहायता माँगी थी। लाल सेना को तैय्यार करने, रेलों का प्रबन्ध करने तथा अन्तर्जातीय ऋण को अदा करने के लिए उचित प्रबन्ध हो जाय इस उद्देश्य से उन्होंने मित्र-राष्ट्रों से मिन्नतें भी थीं। परन्तु यहाँ तो उल्टी गंगा बह रही थी। मित्र-राष्ट्र के प्रतिनिधि तो रूस का सर्वनाश करके और रूस में अराजकता उत्पन्न कर रूस की खानों, जंगलों तथा प्राकृतिक संपत्तियों को हड़प करने की चिन्ता में थे। कोरे सुधार तो उनको पसन्द ही न थे, भला फिर वे रूस के किसान-राज्य का हाथ बँटाने क्यों चले हैं? सन् १९१८ की मई के आरम्भ से मित्र-राष्ट्रों ने रूस के सब बड़े बड़े शहरों में भयंकर गुप्त षड्यन्त्र रचे। ये सब काम जनरल अलक्सजीफ के द्वारा किये गये। दैवी घटना से रूस के किसान-राज्य के हाथ में कुछ ऐसी चिट्ठियाँ आगईं जिनसे यह बात खुल गई कि फ़रासीसी राज्य की ओर से जो सैनि

मिशन रूस में आया है उसका कुछ क्रूर उद्देश्य है। जनरल अलकूजीफ के द्वारा वह रूस में तृतीय राज्यक्रान्ति करवाने की चिन्ता में है और रूस का गला किसी एक व्यक्ति के हाथ में देना चाहता है। इन चिट्ठियों के हाथ में आने ही बोल्शेविक किसान-राज्य सावधान हो गया और देशद्रोही षड्यन्त्रकारियों को पकड़ना ही चाहता था कि ये लोग भाग गये।

सन् १९१८ के जून में इन भगोड़े देश-द्रोहियों ने पूर्वी यूरोपीय रूस में मित्र-राष्ट्रों के रुपयों तथा कूट मन्त्रों से शैतानियाँ करना आरम्भ किया। फ्रान्स के सैनिक मिशन ने वोल्गा नदी के नगरों पर जनरल अलकूजीफ का आधिपत्य स्थापित कर दिया और रूस को अन्न की मण्डियों से अलग कर दिया। आर्चेंगल से [illegible]न के मुहाने तक फ्रान्स तथा जनरल अलकूजीफ का प्रभाव होने से रूसी किसानों को अपने पंचायती राज्य तथा देश को बचाने के प्रयत्न में युद्ध के लिए नये सिरे से तैयार होना पड़ा। ब्रैस्ट-लिटाव्स्क की सन्धि से पूर्व जचोस्लावक लोगों की स्वयं सेना फरासीसी सैनिक मिशन के संरक्षण में थी। इसके सेनापति ने छुट्टी माँगी और पश्चिमी सीमा पर जाने का इरादा किया। रूसी किसान-राज्य ने उनको आज्ञा दे दी। उसकी सेनाएँ धीरे धीरे रूस के बीच में ब्लाडिवास्टक की ओर जाने लगीं। वहाँ से ही उनको फ्रान्स के लिए रवाना होना था।

जून महीने के बीच में रूस के किसान राज्य को इस बात पर सन्देह हुआ कि क्या कारण है कि मास्को में जचोस्लावक जातीय सभा को फरासीसी प्रतिनिधि ने एक करोड़ दस लाख रबल और अंग्रेज़ प्रतिनिधि ने बारह लाख रुपये दिये? इस सन्देह के होते ही उसने जचोस्लावक लोगों से इन रुपयों के विषय में पूछा और उनको रेलगाड़ी न दे इष्ट स्थान पर पहुँचने से रोक दिया। अब क्या था, इन्होंने पूर्वी रूस के रेलवे स्टेशनों पर कब्जा कर लिया। इधर जनरल अलकूजीफ तथा फरासीसी सैनिक मिशन ने उनको घेर लिया और उन्हें रूसी किसान-राज्य के साथ लड़ने के लिए प्रेरित किया। स्वाभाविक था कि इन भयंकर विपत्तियों में पड़कर रूस अराजकता में बरबाद हो जाता, और मित्रराष्ट्रों को दोनों हाथ लड्डू लूटने का अवसर मिलता। बोल्शेविक लोगों ने रूसी किसानों को एक एक बात समझा दी और पूरे तौर पर अपने साथ मिला लिया। राम राम कर आपत्ति टली।

१९१८ के नवंबर में जाँच-पड़ताल करने से बोल्शेविक लोगों को मालूम पड़ा कि फरासीसी तथा अंग्रेज़ कूट राजनीतिज्ञ महाशय मेनार्ड तथा लोकार्ड ने अगस्त महीने में ही लैटिश सोवियट सेना के एक सेनापति को बीस लाख रबल धन दिया। यह धन उसे इसलिए दिया गया कि वह अपनी सेना के द्वारा रूसी किसान-राज्य के पलटने का काम करे।

मित्रराष्ट्रों की स्वतंत्रता कैसी अद्भुत है? उनकी सभ्यता कैसी अपूर्व है? सारा एशिया उनके धन-लोभ से ग्रस्त है। लाल सेना का भय गोरे अखबारों में प्रकाशित हुआ करता है; परन्तु गोरी सेना का भय तो उससे कहीं बढ़कर है!

मित्रराष्ट्रों की धूर्तता तथा चालाकी से रूसी किसान गुस्से से आग बबूला हो गये। अपने पंचायती राज्य को बचाने के लिए वे लोग तन-मन-धन से लड़ाई लड़ने को कटिबद्ध हो गये। षड्यंत्रकारियों को कठोर दण्ड दिया गया।

रूसी किसान अपनी स्वतंत्रता से निराश हो चुके थे। यही कारण है कि वे जी छोड़कर विद्रोहियों पर टूट पड़े। उन्होंने पंचायती राज्य के दुश्मनों से भयंकर बदला लिया। मित्रराष्ट्रों के प्रतिनिधि थरथर काँपने लगे। कजान, सिम्ब्रिक, सिजरान तथा समारा पर लाल झंडा फहराने लगा। कुछ ही समय के बाद वालगा नदी के नगर भी लाल सेना के हाथ में आ गये। शीघ्र ही दुर्भिक्ष-पीड़ित नगरों को अनाज पहुँचाने का [illegible]न किया गया; पर यथेष्ट अनाज न पहुँच सका; इसलिए बहुत से लोगों को भूखों मरना पड़ा।

जर्मन राज्य-क्रान्ति के बाद मित्रराष्ट्रों ने रूस को चारों तरफ से इस तरह घेर लिया मानों उन्होंने रूस का आपस में बँटवारा कर लिया हो। १८१८-१९ तक उन्होंने रूस के उद्योग-धंधों को भूखों मारने का इरादा किया। आश्चर्य तो यह है कि अमेरिका के प्रेसिडेंट विलसन भी इन पाप-कर्म्मों में पूरी तरह सम्मिलित थे। जचोस्लावक षड्यंत्र में उनका भी पूरा हाथ था।

मित्रराष्ट्रों ने बोल्शेविक लोगों के किसान-राज्य को पलटने के लिए पानी की तरह रुपया बहाया। डान, उत्तरी काकेशस तथा साइबेरिया में ज़ार के समय के सेनापतियों को अपने गुट्ट में मिलाकर मित्रराष्ट्रों ने बड़ा उत्पात मचाया। जनरल डैनकिन ने उत्तरी काकेशस में भयंकर अत्याचार किए। एड्मिरल कोलचक ने साइबेरिया में जो क्रूर कर्म किए उनसे मित्रराष्ट्रों के दिल का हाल अच्छी तरह मालूम पड़ता है। कोलचक के विषय में कनेडियन सेना के सेनापति ने अपने मित्र के पास जो चिट्ठी लिखी थी उसके शब्द इस प्रकार हैं:—

"हम लोग आजकल एक ऐसे मनुष्य की सहायता कर रहे हैं जो स्वेच्छाचारिता का पूरा नमूना है। वह देश का मुख्य शासक बन बैठा है। उसने जनता के प्रतिनिधियों को जेल में ठूँस दिया है और अनेकों को देश-निकाला दे दिया है .... उसकी आज्ञाएँ ईश्वर की आज्ञाएँ बन गई हैं। साइबेरिया में राजनैतिक स्वतंत्रता पूरी तरह लुप्त हो चुकी है। फाँसी, जेल तथा क़त्ल के भय के मारे प्रजा का कोई भी मनुष्य मुँह तक नहीं खोल सकता। मेहनती मजदूर तथा किसान कोड़ों से बुरी तरह पीटे जाते हैं। श्रम-समितियाँ बन्द कर दी गई हैं। सारांश यह है कि साइबेरिया पूरी तरह गुलाम बना दिया गया है। .... यदि हम अंग्रेज़ एक मिनिट के लिए भी कोलचक की सहायता करना छोड़ दें तो वह साइबेरिया का शासन क्षण भर भी न कर सके। विश्वास रखो कि मैं तनिक भी अत्युक्ति नहीं कह रहा हूँ। इसका एक एक अक्षर सत्य है। .... हम अंग्रेज़ों की स्थिति साइबेरिया में बहुत घृणित तथा लज्जास्पद है। रूस की जनता हमको राक्षस समझती है। हम ही रूस के लोगों को आपस

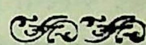
में लड़वाते हैं । जिस दल का हम साथ देते हैं वह दल रूस की स्वतन्त्रता का दुश्मन होकर ही रहता है ।"

मित्रराष्ट्रों के पाप का क़िस्सा बड़ा लम्बा है । इस क़िस्से को अब अधिक न बढ़ाकर एक दो दृष्टान्त और देकर हम इस लेख को समाप्त करते हैं ।

दक्षिणी रूस को अंग्रेज़ों तथा फ़रासीसियों ने एशियाटिक तथा आफ्रीकन सेनाओं के द्वारा घेर रखा था । बाकू के मिट्टी के तेल के चश्मों को हड़प करने के लिए अंग्रेज़ों ने हिंदुस्थानी पलटनों को रखा था । इसी तरह फ़रासीसियों ने ओडेसा पर सैनीगाल तथा अलजीरिया की हब्शी सेना को चढ़ा दिया था । डाक्टर हैराल्ड विलियन्ज़ ने डेली क्रानिकल में इस विषय पर जो लेख लिखा था उसका कुछ अंश ध्यान देने योग्य है । वे लिखते हैं:--

"यह दुःख की बात है कि दक्षिणी रूस पर हम लोगों ने काली फ़ौजों को चढ़ा रखा है । यह काम बुरा है कि गोरी फ़ौजों को चढ़ाने का साहस किसी को भी नहीं हुआ । आर्चेंगल में हमारी फ़ौजें बर्फ़ से बुरी तरह गल रही हैं । इस पर भी समुद्र-सेनापति कैम्प अंग्रेज़ी राज्य को उसका रहे हैं कि रूस में हस्तक्षेप करना न छोड़ो । मास्को तथा पेट्रोग्रेड के साथ ही साथ रूस के जंगल, रेल, खान तथा अनाज को अपने कब्ज़े में कर लो । ईश्वर इन लोगों से बचावे !"

यह सब होते हुए भी भगवान् रूसी देश-भक्तों के साथ था । जर्मन-सैनिकों को बाल्टिक प्रान्तों से बहुत बुरी तरह लौटना पड़ा । बोल्शेविक सरकार का रूसी प्रजा ने पूरी तरह साथ दिया । देखते ही देखते, लाल सेना की वीरता ने बेइमानों के हृदय कँपा दिये । मित्र-राज्य यहाँतक पिटे कि उन्होंने जर्मनी के राज्य के साथ मिल कर रीगा पर रूस की लाल सेना का मुक़ाबिला किया; परन्तु अन्त में परास्त ही हुए । बाल्टिक प्रान्त के जर्मनों ने भी खूब हाथ-पैर पटके; परन्तु उनकी कुछ भी दाल न गली ।



मनोराज्य ।

(लेखक --श्रीयुत 'निर्गुण')

(१)



हम केवल राजनैतिक परतंत्रता के दलदल में ही निमग्न नहीं हैं, बरन हमारे हाथ-पैर आर्थिक पराधीनता की जंजीरों से भी जकड़े हुए हैं । यदि हमारी यह धारणा हो कि हम केवल अंग्रेज़ों के द्वारा ही शासित हो रहे हैं, तो समझना चाहिए कि हम एक ऐसी भूल कर रहे हैं जिसका जितनी जल्दी सुधार हो उतना ही अच्छा होगा । यथार्थ में, भारतवर्ष के शासक होने का दावा आज की प्रत्येक उन्नत जाति कर सकती है । यदि राजनैतिक आधिपत्य हमें अंग्रेज़ों का स्वीकार है, तो अमेरिका, जर्मनी, जापान प्रभृति देशों की आर्थिक दासता भी हमें स्वीकार करनी होगी । निस्संदेह हमारे शासक कई हैं ।

सिद्धान्त की बात तो यही है कि मनुष्य जितना परावलम्बी होता है उतना ही वह दूसरों

के द्वारा शासित हुआ करता है और जितने अंश में वह आत्मावलंबी हो जाता है उतने ही अंश में उसे स्वतंत्रता प्राप्त हो जाती है। इस सिद्धान्त पर विचार करते हुए हमें कहना पड़ता है कि स्वराज्य-कामी भारत पहले अपनी आर्थिक स्वतंत्रता प्राप्त करने का प्रयत्न करे। राजनैतिक परतंत्रता से मुक्त होना उसके लिए कोई कठिन बात न रह जावेगी। विदेशी वस्त्रों के बहिष्कार में हमें यही तथ्य दिखाई देता है। स्वदेशी व्रत भारत के लिए जितना कल्याण-कारी होगा उतना कदाचित् कोई भी दूसरा साधन नहीं है।

स्वतंत्रता यदि कोई है, तो वह मन की अवस्था विशेष के सिवा कुछ भी नहीं है। बंधनों के अभाव में ही स्वतंत्रता की संभावना रहा करती है। बंधनों से मनुष्य को मुक्त करने में मन की एक विशेष अवस्था ही सहायक हुआ करती है। ऐसी हालत में जब हम यह सुनते हैं कि ड्यूक आफ कनाट या प्रिंस आफ वेल्स की केवल एक घोषणा-मात्र से भारत स्वतंत्र हो जावेगा, तो हमें बड़ा विस्मय हुआ करता है। स्वतंत्रता न तो देने की कोई देनगी है, न लेने का कोई पुरस्कार है। वह कठिन तपस्या और आत्मावलंबन के द्वारा प्राप्त होने वाला अलौकिक पुण्य और मानव-जीवन का अलंकार है। दान में मिली हुई स्वतंत्रता यदि कोई चीज हो सकती है, तो वह पास की गंदी नाली में फेंक देने योग्य ही होगी। स्वतंत्रता एक ऐसी लता के समान है जिसकी कलम नहीं लगती। उसका बीज मनुष्य-हृदय के अन्तरतम प्रदेश की क्यारी में निहित रहता है और वहीं से उसका आविर्भाव होता है।

परतंत्र भारत! तू यह अच्छी तरह समझले कि जिस बंधन से तू जकड़ा हुआ है उसका दूसरा छोर तेरे ही हाथ में है।

(२)

इस देश को यूरोप की राजनैतिक और आर्थिक परतंत्रता से मुक्त करना निस्संदेह एक कठिन समस्या है; परन्तु हम अपने संकल्प पर दृढ़ रहते हुए इन दोनों बंधनों से मुक्त हो सकते हैं। इस संबंध में निराशा के लिए हमारे हृदय में कोई स्थान नहीं है; परन्तु भारतीय सभ्यता पर यूरोपीय संस्कार की जो गहरी छाप बैठती हुई दिखाई देती है उसे मिटा देना हमें एक तरह से असाध्य प्रतीत हो रहा है।

हमारे प्राचीन साहित्य से जिन्होंने थोड़ा बहुत भी परिचय प्राप्त कर लिया है वे इसे स्वीकार करेंगे कि हिन्दू जाति राजनैतिक, सामाजिक, नैतिक, धार्मिक तथा तात्विक विकास की एक अवस्था को बहुत पहले ही प्राप्त हो चुकी है। यदि आज हमारे ये गुण संसार को नहीं दिखाई देते, तो उसका कारण इतना ही है कि हमारे इन जातीय-गुणों पर राजनैतिक परतंत्रता का परदा पड़ा हुआ है। जो हो, परन्तु हम देखते हैं कि हमारे शास्त्रों में अधिकारों की चर्चा विशेष रूप से कहीं दिखाई नहीं देती। हमारे शास्त्र हमारा ध्यान सदैव कर्तव्यों की ओर झुकाते आये हैं। हिन्दू-समाज और सभ्यता की विशाल इमारत केवल कर्तव्य बुद्धि की बुनियाद पर खड़ी की गई है। इस समाज में हमें पिता-पुत्र, पति-पत्नी के भिन्न भिन्न कर्त्तव्यों का ही उपदेश मिला करता है। उसी तरह राज-धर्म-शास्त्रों में राज

और प्रजा के कर्तव्यों का ही विकट निरूपण हम पढ़ा करते हैं। अधिकारों की चर्चा हमें कहीं दिखाई नहीं देती। सारांश इतना ही है कि भारतीय सभ्यता कर्तव्य-बुद्धि प्रधान है, अधिकार-बुद्धि को वह महत्त्व नहीं देती।

इसके विरुद्ध हम देखते हैं कि यूरोपीय सभ्यता अधिकार-बुद्धि-प्रधान है। वर्तमान समय में प्रचलित यूरोपीय "डेमॉक्रेसी" इसी अधिकार-बुद्धि से ओत-प्रोत भरी हुई है। इसी बुद्धि-भेद के कारण भारतीय और यूरोपीय संस्कारों में भी बड़ा अंतर दिखाई देता है।

कर्तव्य और अधिकार दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। जहाँ प्रत्येक मनुष्य अपने कर्तव्य-पालन में संलग्न है, वहाँ प्रत्येक को अपने अधिकार भी अनायास प्राप्त हो जाते हैं; उन्हें आपस में अपने अधिकारों के लिए विरोध नहीं करना पड़ता। परंतु, जहां प्रत्येक मनुष्य अपने अधिकारों के लिए लड़ता है वहाँ कर्तव्यों पर दुर्दैव होने की संभावना बढ़ जाती है। कर्तव्य-बुद्धि मनुष्य को शीलवान बनाती है। अधिकार-बुद्धि के जागृत होने से मनुष्य उद्दंड और असंतुष्ट हो जाता है।

यूरोप की यह अधिकार-बुद्धि वहाँ की प्रजा-सत्तात्मक शासन-प्रणाली के साथ साथ भारत में आना ही चाहती है। हमारी यह धारणा निश्चल हो गई है कि भारतीय शीलता और संस्कार को इस असर्यादित अधिकार-बुद्धि से बड़ा भय है। हमें पश्चिम के इस बुरे संस्कार से बचना चाहिए।

हम राजनीतिज्ञ नहीं हैं; इसलिए हम यह नहीं कह सकते कि किन किन परिवर्तनों के साथ अथवा किस रूप में निरंकुश "डेमॉक्रेसी" का आह्वान किया जाय; परंतु यह समस्या इस देश के राजनीतिज्ञों के लिए ही है, दूसरों के लिए नहीं वे इस विषय पर अवश्य विचार करें।

आजकल 'डेमाक्रेसी' पर लोग मिटे हुए हैं। हमारी हालत भी बहुत-कुछ वैसी ही है। हम भी प्रेमासक्त होकर इस मोहिनी का अंचल हाथ में पकड़े हुए सचल रहे हैं; परंतु इसकी कुछ अदायें हमें पसंद नहीं आतीं।

प्रजा-सत्तात्मक शासन हमारे कानों में खटकता सा है; क्योंकि वह सत्तात्मक है। हमें ऐसा कुछ चाहिए जो कर्तव्यात्मक हो। बस, बढ़ती हुई धारणा के विरुद्ध हमारी इतनी ही शिकायत है।

(३)

जब हमने प्रणिपात-पूर्वक तुमसे प्रार्थना की थी तब तुमने हमें यह भी प्रकट नहीं होने दिया कि तुम सुन रहे हो।

"यां लब पै लाख लाख सखुन इज्तराब में।
वां एक खामोशी तेरी सबके जवाब में॥"

तिरस्कार की हद हो ली!

प्रार्थना से विरक्त होकर जब हम स्वावलंबन का पाठ कंठस्थ करने लगे, तब तुम्हारे श्रीमुख से इतने शब्द निकले, "चुप रहो, शांति भंग मत करो।"

जब कभी हम स्वावलंबन का पाठ पढ़कर तदनुकूल अपना व्यवहार प्रकट करते हैं, तब तुम्हें स्वयं उठ कर हमारे मुँह, हाथ और पैर बाँधने का कष्ट उठाना पड़ता है। तुम्हारी यह तकलीफ़ हमें मुबारक हो। तुम्हारे इन व्यवहारों

से क्या हम यह समझ लें कि हमारी इज्जत तुम्हारी नज़रों में दिनों दिन बढ़ती जा रही है ?

(४)

राष्ट्रीय सभा ने असहयोग का जो कार्य-क्रम निश्चित किया है बुद्धिमान् लोग उसके दो विभाग करते हैं। पहले विभाग को वे विनाशक कहते हैं और दूसरे को विधायक।

जिनके हिस्से में बुद्धि अधिक आ गई है उनकी शिकायत है कि असहयोग का विनाशक अंग अच्छा नहीं है; क्योंकि बनी हुई बातों के के बिगाड़ने में बुद्धिमानी का कुछ भी परिचय नहीं मिलता।

हमारी राय में यह आक्षेप सिर्फ स्वभाव की कमज़ोरी का परिचय देता है। शक्तिमान् मनुष्य में रचना-शक्ति का होना यदि उसके योग्य है, तो संहार-कारी कार्यों में सक्षम होना भी उसके लिए गौरव की बात है। सृष्टिकर्त्ता इस तरह की बनी-बनाई सृष्टि न जाने कितनी बार नष्ट कर चुका है। वह प्रलय का बड़ा प्रेमी है। ऐसे नाश-कारी कार्यों में उसे ममता नहीं व्यापती; क्योंकि वह महान् है। हमारी राय यह है कि आवश्यकता पड़ने पर बड़ी बड़ी बातों को निर्दयता-पूर्वक नष्ट कर देना महापुरुष का लक्षण होना चाहिए।

दया और करुणा यदि मनुष्यहृदय के भूषण हैं, तो उनका अनावश्यक और अप्रासंगिक उपयोग दूषण भी हो सकता है। अपनी कृति पर किसे ममता नहीं होती। यह मनुष्य स्वभाव की ऐसी कमज़ोरी है जो हर गली और कूचे में पड़ी हुई मिलती है। यदि स्वादिष्ट फलों की आशा से बढ़ाया हुआ विटप अंत में विष-वृक्ष, साबित हो तो उसको छिन्न-मूल करने का पुण्य उन्हीं हाथों को लूटना चाहिए जिन्होंने उसकी रक्षा करने में कोई भी बात उठा न रखी थी। ईश्वर के विराट् रूप में ममताक्रान्त अर्जुन को किस बात की शिक्षा मिली थी ? इसका उत्तर वे ही दें जो करुणा और दया सरीखे कमज़ोर गुणों में ही मनुष्य-स्वभाव की पूर्णता देखते हैं।

स्वराज्य के सिंहद्वार पर "रचना और संहार" ये दोनों बड़े बड़े अक्षरों में हमें अंकित दिखाई देते हैं। भारत के बहुत से प्रार्थनावादी विद्वान् संहार के नाम से भयभीत हो रहे हैं। हमें आश्चर्य है कि एक मामूली सी संस्था की ममता ने एक वीर हृदय देश-सेवक के बढ़ते हुए हौसलों को पस्त कर दिया।

ममते ! तू थोड़ी देर के लिए भारत से दूर हो जा।

अवशिष्ट--कीर्ति-रक्षण।

(लेखक—"श्रीमान्")

दिल टूट गया, दिल्ली छूटी,
चित्तौड़ छिना, चित चोट लगी।
पूना से सूना हुआ हृदय,
यह अग्नि कोट परकोट जगी॥
व्याकुल हूँ, कल कहाँ ? गया
काली का भी प्रिय धाम हरे !
काशी लंका सी जलती है,
मिट गया सेतु का नाम हरे॥



अवशिष्ट-कीर्त्ति-रक्षणं।

सर्वाधिकार—
श्रीशारदाके अधीन।

चित्रकार—
श्रीयुत गजानन।

नहीं सुदर्शन-चक्र रहा वह
अर्जुन का गांडीव नहीं ।
चंद्रगुप्त है सुत, पिथौरा
के धन्वा में जीव नहीं ॥
राणा का भाला टूटा है,
वह शिवा की तलवार नहीं ।
टीपू के, रणजीतसिंह के,
हथियारों में धार नहीं ॥
जर्र वस्त्र, शस्त्र-हीना हूँ,
थकी, छकी, गति रुकी हुई ।
थामे हूँ अवशिष्ट-कीर्ति सी
फटी पताका मैं झुकी हुई ॥
विजय-दिवस की आशा है, पर
मन में होती जाती क्रांति ।
द्रव्य और आदर्श नाश का
देता नहीं हृदय को शांति ॥
लोहा, लहू, आग की लीला
छोड़ो प्रलय काल का छंद ।
हिंसा—प्रभु की प्रतिकृतियों की
हत्या—कर दो, कर दो, बंद ॥
दया-धार से धुल जाने दो
खून भरा पिछला इतिहास ।
शांति-सूर्य की किरणों में श्री
तथा शारदा करें विलास ॥
बीते कष्टों का कलियुग फिर
नवयुग जग में छा जावे ।
स्फूर्तिमयी अवशिष्ट-कीर्ति
की उच्च पताका लहरावे ॥



सामाजिक सुधार।

(लेखक—बाबू मावलीप्रसाद श्रीवास्तव)

हमारी वर्तमान समाज-व्यवस्था हमारी नूतन आवश्यकताओं और परिस्थितियों के अनुकूल नहीं है । इसमें सन्देह नहीं कि हिन्दू जाति की प्राचीन सामाजिक रूढ़ियाँ और आचार-विचार अपने समय में अत्यन्त उत्तम और सर्वोपयोगी थे । यही नहीं, इस विभिन्न युग में भी उन्हें जीवित देखकर उनके मूलतत्त्वों की उत्तमता की प्रशंसा अवश्य करनी पड़ेगी । भूत काल में हमारी समाज-व्यवस्था को अनेक आपत्तिपूर्ण आँधियों का साम्हना करना पड़ा है; पर त्रिकाल-सत्य तत्त्वों पर स्थित रहने के कारण इनसे उसका नाश न हो सका । अब वर्तमान समय में हमारी समाज-व्यवस्था अपनी प्राचीन रूढ़ियों और समय के प्रतिकूल आचार-विचारों को साथ लेकर कभी नहीं ठहर सकती । साथ ही, अनेक सामाजिक कुरीतियाँ, कुप्रथाएँ, बंधन और बुराइयाँ उसकी जड़ को निरन्तर कमजोर बना रही हैं । यदि आवश्यक परिवर्तन, संशोधन अथवा पुनर्संगठन न किया जावेगा, तो बहुत संभव है कि हमारी समाज-व्यवस्था-रूपी विशाल इमारत शीघ्र ही नष्ट-भ्रष्ट होकर गिर पड़े और उसके आश्रय में रहने-वाले हम लोग दबकर अपना अस्तित्व खो बैठे ।

अब प्रश्न यह उठता है कि हमें क्या करना चाहिए । क्या अपने को बचाने के लिए किसी दूसरे आदर्श का आश्रय ढूँढ़ना चाहिए अथवा अपने समाज का संशोधन कर—अर्थात् उसे परि-

वर्जित नूतन और बलिष्ठ स्वरूप देकर—उसके परंपरा-गत गुणों की रक्षा करते हुए उसके ही आश्रय में रहना चाहिए ? यदि हम किसी दूसरे आदर्श का आश्रय ढूँढना चाहते हैं, तो हमें अपनी समाज-व्यवस्था-संबंधी सभी बातों की पूरी पूरी उथल-पुथल और हत्या करनी पड़ेगी और फल यह होगा कि हिन्दू जाति को जिस प्राचीनता, राष्ट्रीयता और सभ्यता का अभिमान है उसकी नींव एकदम उखड़ जावेगी। यदि हम समूल त्याग न कर अपने समाज में केवल आवश्यक सुधार अथवा संशोधन करना चाहते हैं, तो हमें केवल बुराइयों और कुरीतियों को दूर करने की आवश्यकता होगी और शेष अन्य विषयों को ज्यों के त्यों स्वतंत्र और सुरक्षित छोड़ देने का सुभीता मिलेगा। पहिला उपाय संभावना के परे, मनुष्य-स्वभाव के विपरीत और नाशकारी है और दूसरा साध्य तथा कल्याण-कारक है। हाँ, हमें यह मानना पड़ेगा कि कल्याण-कारक और साध्य होने पर भी दूसरा उपाय सुख-साध्य नहीं है। उसमें बहुत सी बड़ी बड़ी कठिनाइयाँ हैं; क्योंकि हमारी समाज-रूपी प्राचीन इमारत में बुराइयों और कुरीतियों की घास का जंगल कहीं कहीं इतना अधिक बढ़ गया है कि उनसे अपनी रक्षा करने के लिए हमें उनकी जड़ तक को पूरा पूरा खोदना पड़ेगा। प्राचीन निरुपयोगी प्रथाओं और दुष्ट दंतकथाओं के बंधनों में हम इतने अधिक जकड़ गये हैं कि अपमानित होने पर निद्रा-त्याग करने के बदले हममें क्षमा और सहिष्णुता का भाव उत्पन्न होता है! बुराइयों और कुरीतियों के द्वारा होने वाली अनंत हानियों को देख-समझकर भी हम लोगों ने उन्हें अपने अन्धेपन और सहिष्णुता के कारण मनमाने बढ़ने दिया है। इसके लिए हमें आजतक यथेष्ट प्रायश्चित्त भी करना पड़ा है। हम जानते हैं कि शताब्दियों से वे हमारी उन्नति के मार्ग में बाधक और कर्तव्यपथ में कंटक हैं; परंतु हम लोग जानकर भी निरपेक्ष और उदासीन बने रहे। फलतः हम लोगों के द्वारा केवल अपनी सन्तान की ही नहीं, बल्कि सारे हिन्दू-समाज और देश की हानि हुई है।

जबतक हम लोगों का अन्य राष्ट्रों से घनिष्ठ संबंध आरंभ नहीं हुआ था, तबतक हम अपनी उदासीनता और निरपेक्ष-भाव के दुष्परिणामों को अच्छी तरह से नहीं देख सकते थे; परन्तु पाश्चात्य देशों से संबंध होने के कारण अब हमें इस दुःखपूर्ण सत्य का ज्ञान हुआ है कि हम लोग अवनति के गड्ढे में बेतरह गिरे हैं। जब तक हम लोगों को अपनी अवनति और उसके कारणों का ज्ञान न था तब तक हम लोग अपनी उदासीनता और अकर्मण्यता के लिए क्षमा के पात्र थे; परन्तु अपनी नाशकारी अवनति और उसके कारणों को जान लेने पर भी यदि हम हाथ पर हाथ धरकर बैठे रहें, तो हमारा अपराध अक्षम्य हो जाता है। जिस समाज के व्यक्ति अपने इच्छानुसार तर्क-संगत कार्य करने के लिए स्वतंत्र न हों, जो समाज अपने महत्त्वपूर्ण तथा आवश्यक अंगों को तितर-बितर होते देख कुछ न कर सके और जो समाज अपने बिखरे हुए अंगों को फिर से एकत्रित न कर सके वह समाज किसी काम का नहीं है। जब तक प्रत्येक समाज के व्यक्तियों को सार्वजनिक हित के लिए अपनी योग्यता और न्याय-बुद्धि के अनुसार कार्य करने की पूरी पूरी स्वतंत्रता न मिलेगी, तब तक

किसी भी राष्ट्र का कल्याण नहीं हो सकता। वर्ण-विभाग से हानियों के साथ ही अनेक लाभ भी हुए हैं; परन्तु इस समय यहाँ उनके वर्णन करने की आवश्यकता नहीं है। हमारे शास्त्रकारों ने केवल चार जातियाँ बनाई थीं। हम लोगों ने चार सौ, बल्कि चार हजार जातियाँ और बना डाली हैं। एक जाति में पचीस उपजातियाँ रहती हैं, फिर प्रत्येक उपजाति में शाखाएँ और प्रशाखाएँ होती हैं। वर्णविभाग से तो बहुत से बंधन हैं ही; परन्तु कार्य-विभाग से भी बहुत से बंधन उत्पन्न हो गये हैं। यदि दो हजार वर्षों के पहिले कोई क्षत्री थैली लेकर साहूकारी करने बैठता और वह जाति के बाहर कर दिया जाता तो कोई हर्ज नहीं था; परन्तु अब ज़माना बदल गया है। अब तो उच्च जाति वाले चंदन-तिलक-धारी हिन्दू को भी प्रसंगवश जूते की दुकान खोलनी पड़ती है और उसे खोलनी भी चाहिए। चारों वर्णों में चार प्रकार के कार्यों का रजिष्ट्री शुदा विभाग कर देने से फल यह हुआ है कि विज्ञान की प्रतिद्वन्द्वता के कारण प्राचीन--काल की तरह हम अपने पैतृक व्यवसायों की रक्षा नहीं कर सके और न हम लोगों की महत्वाकांक्षाएँ उच्च तथा उद्देश और सिद्धान्त अधिक व्यापक हो पाते। वे जिस काली कोठरी में पहिले बंद कर दिये गये थे उससे बाहर वे न तो निकलना ही जानते हैं और न निकल ही सकते हैं।

हम लोग बड़े अभिमान के साथ कहा करते हैं कि "ज़बर्दस्त का ठेंगा सिर पर" वाली कहावत झूठ है; परन्तु सच पूछा जावे तो आज हिन्दू समाज में जिसकी लाठी उसकी भैंस हो रही है। भारतवर्ष का ज्ञानकुंड समानता के तत्त्व से भरा पड़ा है। "समोऽहं सर्वभूतेषु" के मीठे उपदेश को सुनकर भारतवासी जीता है और "समत्वं योगमुच्यते" को सुनकर वह मरता है। भारतवासी समानता-तत्त्व का इतना प्रेमी है कि झाड़ को काटते समय और पत्थर को फोड़ते समय भी वह 'हिंसा' "हिंसा" चिल्ला उठता है। हम भारतवासी सड़क और बाज़ार में तथा जंगल और पहाड़ में समानता-तत्त्व का सुर अलापते फिरते हैं। राजनैतिक बातों में समानता प्राप्त करने के लिए तो हम लोगों ने आज कई वर्षों से डंका पीटना भी आरंभ कर दिया है; परन्तु हमारी मनुष्यता घर में आरंभ नहीं होती। न तो हम घर में स्त्रियों की बेड़ियों को ही काटना चाहते हैं और न हम बाहर में अछूत जातियों को ही मनुष्य-प्राणी मानने के लिए तैयार हैं। क्या हमारे घर की देवियाँ और अछूत जातियाँ प्राकृतिक नियमों के अनुसार समानता का अधिकार नहीं रखतीं? फिर उन्हें देखते ही हम लोग असमानता के आदेश में आकर अंधे क्यों हो जाते हैं? शिक्षा का प्रश्न उठते ही यह क्यों कहा जाता है कि उन्हें शिक्षा पाने का अधिकार ही नहीं है?

इनके सिवा हिन्दूसमाज में और भी ऐसी अनेक भयंकर कुरीतियाँ तथा अत्याचार प्रचलित हैं जिनके साथ हमें निरन्तर संग्राम करना पड़ेगा। उनका विस्तृत विवेचन करने के लिए यहाँ स्थान नहीं। राष्ट्रभाषा हिन्दी में उनके संबंध में बहुत सा साहित्य निर्माण हो चुका है और हो रहा है। हाँ, उनमें से कुछ का यहाँ नामोल्लेख करना अनुचित न होगा। वे ये हैं:-बाल

विवाह, अनमेल विवाह, कन्या बेंचना और पुत्र का नीलाम करना, हुंडा और दहेज, एक ही जाति की उपजातियों में भी सहभोजन न होना इत्यादि। इन विषयों पर समाज का सुधार करने के लिए भारतवर्ष के पुरुषरत्नों ने समय पर अपने विचार प्रगट किये हैं। उन सारगर्भित विचारों और अकाट्य युक्तियों को देखकर समाज के सुधार करने की उपयोगिता और महत्त्व के संबंध में वर्तमान युग में कोई शंका अथवा संदेह नहीं किया जा सकता।

अब प्रश्न यह होता है कि हमें भविष्य में किन किन उपायों का अवलंबन करना चाहिए। क्या हम आज तक जो कुछ करते आये हैं और कर रहे हैं उतने से ही हमें संतुष्ट हो जाना चाहिए अथवा नये उपायों और नये अस्त्रों का प्रयोग करना चाहिए? हाँ, राजा राममोहनराय, प्रोफेसर आगरकर आदि पिछले वर्षों में जितना लड़े हैं वह वृथा नहीं था। उन्होंने सामाजिक कुरीतियों पर बहुत कुछ विजय प्राप्त की है और हमें उसका अभिमान भी है। देश के कोने कोने में जागृति हुई है और चिरकाल का सोनेवाला आलसी भी जाग उठा है। उत्साह और उन्नति-प्रियता की लहरों से देश में आशा का प्रवाह उमड़ आया है। मुर्दों में भी जिन्दापन लाने के लिए प्रयत्न हो रहा है। हमारे नेताओं और शुभचिन्तकों का उपदेश अब लेखों के समाधि-स्थान और सभाभवनों तथा व्याख्यानों के शयन-मंदिर को चीरकर सीधा भारतवासियों के हृदय तक जा पहुँचता है। अनेक जातीय सभाओं का संगठन हो चुका है। कुछ जातीय सभाएँ ऐसी हैं जिन्हें देखकर हमें खेद होता है; क्योंकि वे दल-बन्दी का पाठ पढ़ाती हैं। उन्हें यह पाठ पढ़ाना चाहिए कि वे हिन्दू-समाज-रूपी विशाल शरीर के एक आवश्यक और अभिन्न अंग हैं। अस्तु, ये शुभ लक्षण हैं। इनसे मालूम होता है कि हमारी सामाजिक सुधार-प्रियता केवल बातों में ही नहीं रह गई है। हमें यह देखकर कभी कभी प्रसन्न होने का भी अवसर मिलता है कि अमुक स्थान में अमुक महाशय ने गालियाँ सह-कर भी यौवन काल के पहिले अपनी लड़के-लड़-कियों की शादी न करने का दृढ़ निश्चय कर लिया है। सामाजिक सुधार की आवश्यकता और महत्त्व को समाज के साम्हने व्यावहारिक उदाहरणों के द्वारा उपस्थित करने के लिए सरा-हनीय स्वार्थत्याग और आदर्श आत्मत्याग करने वाले आत्मवीरों का जन्म हो गया है। हमें पूरा पूरा भरोसा है कि इन दृढ़ आत्माओं के द्वारा किसी समय इस प्राचीन आर्यावर्त से यह भाव सदा के लिए उठ जावेगा कि घर में कन्या का जन्म होना दुर्भाग्य-सूचक है।

हमें यह देख कर और भी अधिक हर्ष होता है कि सीता, सावित्री, लीलावती, मैत्रेयी और गार्गी की भूमि इस भारतवर्ष में स्त्री-शिक्षा का प्रचार आरंभ हो गया है। यद्यपि इस विषय में बहुत कुछ किया जा रहा है, तथापि फल अभी तक संतोषजनक नहीं है। हमें स्मरण रखना चाहिए कि देश की उन्नति का संबंध समाज-सुधार से बड़ा घनिष्ट है। अतएव हमें अधिक उत्साह और अधिक शक्ति के साथ कार्य करना चाहिए तथा इस बात को कभी न भूलना चाहिए कि गृहदेवियों के शिक्षित होने पर बहुत

से सामाजिक सुधार आप ही आप संपन्न हो जावेंगे। समाज-सुधार के आंदोलन की सच्ची सफलता स्त्रीशिक्षा पर अधिक अवलंबित है। जिस तरह से भगवान् सूर्यदेव के उदय होने पर अंधकार भाग जाता है उसी तरह मनुष्य-समाज के एक अत्यन्त महत्वपूर्ण अंग स्त्री-समुदाय में ज्ञानसूर्य का उदय होने पर हमारे सब सामाजिक अत्याचार और दोष शीघ्र ही दूर होने लगेंगे। राजनैतिक आन्दोलन के संबंध में हमारे एक विद्वान् नेता ने हमें अच्छा उपदेश दिया है। वह उपदेश समाज-सुधार-आंदोलन के संबंध में भी ठीक ठीक लागू होता है; अतएव उसका अवतरण देकर यह लेख समाप्त किया जाता है। उक्त सज्जन ने कहा है: —

"भाइयो, अब मेरी नम्र प्रार्थना यही है कि उठिए, जागिए, आलस का त्याग कर दीजिए। यह काम करने का ज़माना है, न कि बोलने का। सारी दुनिया शीघ्रता से उन्नति की घुड़दौड़ में लगी है। जो लोग पीछे रह जावेंगे उन्हें फिर मौक़ा न मिलेगा। इसलिए उठिए, घुड़दौड़ लगाइए और जब तक मुकाम पर न पहुँच जावें तब तक साँस लेने के लिए भी न ठहरिए। जब आप लोग ऐसा करेंगे तभी, न केवल अंग्रेज़ जाति, बरन सारी दुनिया इस बात को मानेगी कि भारतवासी स्वयं-शासन करने के योग्य हैं और वे यथार्थ में अपनी मातृभूमि के सच्चे सपूत हैं"।



पुस्तकादि-परिचय।

१-शकुन्तला—लेखक, पं० ईश्वरीप्रसाद शर्म्मा; प्रकाशक, आर. एल. बर्म्मन एण्ड कम्पनी, ३७१, अपर चीतपुर रोड, कलकत्ता; पृष्ठ-संख्या १५८; चित्र-संख्या १३, मूल्य २)

कवि-कुल-तिलक कालिदास की अनुपम कृति का यह हिन्दी-रूपान्तर है। मूल ग्रन्थ की सरसता तो मूल ग्रन्थ में ही मिल सकती है, भावानुवाद या मर्म्मानुवाद में उसे खोजना ही व्यर्थ है; पर इसमें सन्देह नहीं, भावानुवाद में जो सरलता लाई जा सकती थी उसे लाने में शर्म्माजी ने कुछ नहीं उठा रक्खा, और उन्हें इस कार्य में बहुत कुछ सफलता भी हुई है।

मर्म्मानुवाद की कुछ बातें
एक उदाहरण लीजिए
शकुन्तला को शापित...

भगानेवाली गैस।

विचिन्तयन्ती य... है कि आवश्यकता आवि-
तपो... जब मनुष्य को किसी वस्तु
स्मरिष्यति त्वां ... है तब वह उसकी पूर्ति के
कथां ... य ढूँढ़ निकालता है।
इसे शर्माजी, हिन्दी ... थत हुई तो रेल का आ-
तू अपने घर पर आये हुए
किसके ध्यान में? अच्छा, ... ई समुद्रों को पार करने
जिसकी चिन्ता में मग्न हो, बड़े धूम्रपोत तैयार कर
एकदम भूल जायगा। ल... रा शत्रु-संहार कठिन
कर सकेगा। दूध की मक्खी ... और अरबों
निकालकर दूर फेंक देगा।" इस वाक्य-
अर्थात् "दूध की मक्खी की तरह तुझे ... लिए गये;
कर दूर फेंक देगा" शर्म्माजी की कल्पना ... दृष्टियों
"कथां प्रमत्तः प्रथमं कृतामिव" है उसके बदले
यह वाक्य लिखा गया है; पर मूल में जो सुन्दर भाव है

बिल्कुल जाता रहा। मूल का भाव यह है कि जिस प्रकार शराब आदि पीकर मतवाला मनुष्य पहले किये गये अपने कार्य को भूल जाता है, उसी प्रकार दुष्यन्त तुझे भूल जायगा, सदा के लिए नहीं, केवल थोड़े समय के लिए, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार प्रमत्त मनुष्य, नशा उतरने पर, अपने पहले कृत्य को

स्मरण करता है उसी प्रकार दुष्यन्त तुझे थोड़े समय के लिए भूल कर तुझे पुनः स्मरण करेगा।

एक और उदाहरण लीजिए। मूल में एक श्लोक है--

अर्थो हि कन्या परकीय एव
तामद्य सम्प्रेष्य परिग्रहीतुः।
जातो ममायं विशदः प्रकामं
प्रत्यर्पितन्यास इवान्तरात्मा॥

इसके भावानुवाद में शर्म्माजी "अर्थोहि कन्या परकीय एव" को बिल्कुल ही छोड़ गये, और इस छूट से मूल की बहुत सी सुन्दरता चली गई। अस्तु, इसी प्रकार के कई स्थल समालोच्य पुस्तक में हैं। शर्म्माजी से प्रार्थना है कि वे, मूल पुस्तक को सामने रखकर, अपनी इस कृति को एक बार दुहरा लें। हमारा बड़े प्रेमभाव से, उनसे, यह अनुरोध है।

किन [illegible] मे पुस्तक, प्रकाशक के अत्यन्त उत्साह से, जिस [illegible] न्दरतर हो जायगा। पुस्तक की क्या हम आज तक जो [illegible] कर रहे हैं उतने से ही हमें [illegible] ह बहुरंगे हैं। चाहिए अथवा नये उपायों इसमें चित्रित शकुन्तला का प्रयोग करना चाहिए? हो देखते ही बनती है। कई प्रोफ़ेसर घ्रागरकर आदि किन्तु अन्य चित्रों में जहाँ लड़े हैं वह वृथा नहीं थ [illegible] का नाम अंकित है वहाँ तला-जन्म" में से रविवर्म्मा कुरीतियों पर बहुत कुछ गया है। "शकुन्तला-पत्र-हमें उसका अभिमान भी अलग करके Seyne में जागृति हुई है और [illegible] का ब्लाक बनाया है आ आलसी भी जाग उठा है [illegible] क को इस ओर ध्यान देना न्त साधारण है। उसके प्रियता की लहरों से द्वारा अंकित इसी भाव का चित्र उमड़ आया है होता। शकुन्तला का स्वरूप भिन्न भिन्न लिए प्रयत्न - इससे चित्र की [illegible] नष्ट हुई है। [illegible] द्वारा चित्रि [illegible] शुभचि [illegible] स्वरूप-सादृश्य की थी। मालूम होता है, जो चित्र सरलता से मिल गये वे ही दे दिये गए हैं, या बनवाते समय इसपर ध्यान नहीं दिया गया।

प्रकाशक इस प्रकार की पुस्तकें बहुधा छापा करते हैं; अतः हमने यह सब इसलिए लिखा है कि वे भविष्य में इस ओर विशेष ध्यान दिया करें।

२-मध्यप्रान्त के पाँच नजरबन्द—लेखक, बाबू ब्रजमोहनलाल वर्म्मा, वकील, छिंदवाड़ा; प्रकाशक, हिन्दी-ग्रंथ-प्रसारक-समिति, छिंदवाड़ा; मूल्य।=)

गत यूरोपीय महायुद्ध के आरम्भ होते ही, देश-भक्ति-पूर्ण प्रायः प्रत्येक कार्य में देशद्रोह की गंध पानेवाली ब्रिटिश सरकार ने, भारत-रक्षा-कानून-रूपी अमोघ ब्रह्मास्त्र चलाकर, देश की शान्ति-रक्षा के नामपर, जिन सहस्रों भारतीय नवयुवकों को नजरक़ैद कर उनका सार्वजनिक जीवन नष्ट किया है उनमें मध्यप्रदेश के ये पाँच होनहार नवयुवक भी थे—१ बाबू शैलेन्द्रनाथ घोष, बी. ए., २ बाबू शिवप्रसाद वर्म्मा, बी. एस. सी. एल. एल. बी., ३ बाबू प्रफुल्लकुमार चक्रवर्ती. ४ बाबू देवीचरण-सिंह (अब स्वर्गीय) और ५ श्रीयुत चिताम्बरम् पिल्ले। इनमें से अन्तिम का परिचय उपलब्ध न हो सकने के कारण इस पुस्तिका में नहीं दिया जा सका, शेष ४ सज्जनों का ही संक्षिप्त परिचय दिया गया है। हम प्रथम और चतुर्थ सज्जन से भली भाँति परिचित रहे हैं और उनका जीवन इतना शुद्ध और सरल रहा है कि हमें आश्चर्य होता है, वे क्यों नजरबंद किये गये। बाबू शैलेन्द्रनाथ घोष धार्मिक प्रवृत्ति के पुरुष हैं, और उनसे हमें बड़ी बड़ी आशाएँ हैं।

इस समय देश की स्वाधीनता के लिए जो अनेक देशभक्त सज्जन जेल जा चुके हैं या जा रहे हैं उनका भी सचित्र एवं संक्षिप्त परिचय, उल्लिखित पुस्तिका के ढंग पर, यदि प्रकाशित किया जाय, तो अच्छा हो।

३-मैं नीरोग हूँ या रोगी—अर्थात् जर्मनी के प्रसिद्ध आविष्कर्ता लूई कूने की एक पुस्तिका का स्वतंत्रानुवाद; प्रकाशक, हिन्दी-पुस्तक-एजेंसी, १२६, हरिसन रोड, कलकत्ता; मूल्य ।)

संसार में एलोपैथी, होमियोपैथी, योग-चिकित्सा, उपवास-चिकित्सा, दुग्ध-चिकित्सा, वर्ण-जल-चिकित्सा आदि अनेक चिकित्साएँ प्रचलित हैं जिनसे मनुष्यों को, अपने २ विश्वास के अनुसार, लाभ हुआ करता है। वैसे तो कोई भी चिकित्सा मृत्यु को नहीं जीत सकती; परन्तु रोगी के कष्ट को दूर करना प्रत्येक चिकित्सक का प्रयत्न हुआ करता है—एतद् वैद्यस्य वैद्यत्वं न वैद्यः प्रभुरायुषः। लूई कूने सा० की जलचिकित्सा एक प्राकृतिक, अतः वैज्ञानिक चिकित्सा है जिससे अनेक कठिन रोगों से, यथा, श्वास, क्षय, गलित कुष्ठ आदि से, आक्रान्त जनों को लाभ उठाते हुए हमने स्वयं देखा है। कठिनाई यह है कि इस चिकित्सा

को जानने वाले लोग, देहातों की कौन कहे, बड़े बड़े नगरों में भी कठिनाई से मिलते हैं, अन्यथा यह चिकित्सा अभी तक बहुत प्रसिद्ध और लोकप्रिय हुई होती, और डाक्टरों के बड़े बड़े बिलों से त्राण मिला करता। इस चिकित्सा को अधिक लोकप्रिय बनाने का एक साधन यह भी है कि इस विषय की अधिक पुस्तिकाएँ प्रकाशित की जावें; अतः वर्तमान पुस्तक के प्रकाशक का प्रयत्न सराहनीय है। आशा है, प्रत्येक नीरोग और रोगी मनुष्य इस विषय का ज्ञान प्राप्तकर इससे लाभ उठावेगा।

४. **केशवचंद्र सेन**—लेखक, "एक भारतीय हृदय"; प्रकाशक, गंगापुस्तकमाला-कार्यालय, लखनऊ; पृष्ठ-संख्या २६०; मूल्य १≡)

सुप्रसिद्ध समाज-सुधारक और ब्राह्म-धर्म के धुरंधर प्रचारक महात्मा केशवचन्द्र सेन की यह जीवनी है। इसमें सन्देह नहीं, केशवचन्द्र सच्चे महात्मा थे। उन्होंने, अनेक कष्टों का सामना करते हुए भी स्त्री-शिक्षा-प्रचार, बाल-विवाह एवं बहु-विवाह का विरोध, भिन्न भिन्न जातियों के बीच भातृ-भाव स्थापन, एकेश्वरवाद-प्रचार, आदि अनेक कार्य किये हैं। ब्राह्म-समाज के तो वे प्राण ही थे और उसके लिए उन्होंने जो कुछ किया है उसे कोई भी मनुष्य, ब्राह्म-समाज का अस्तित्व रहते, नहीं भूल सकता। यद्यपि केशवचन्द्र का प्रधान कार्यक्षेत्र बंगाल प्रान्त था, तथापि वे प्रान्तीयता के दोष से सर्वथा विनिर्मुक्त थे। बम्बई, सिंध आदि प्रान्तों में ब्राह्म-समाज की स्थापना करने में उन्होंने कुछ नहीं उठा रक्खा।

जीवन-चरित्र, परिश्रम-पूर्वक, अत्युत्तम रीतिसे लिखा गया है। चरित्र-नायक के चरित्र पर कई दृष्टियों से विचार किया गया है। इसमें सबसे बड़ी और अच्छी बात यह दिखाई पड़ी कि चरित्र-लेखक ने, अनेक चरित्र-लेखकों में समान, अपने चरित्र-नायक को ईश्वर नहीं, मनुष्य माना है, और मनुष्य-मात्र में कमज़ोरियाँ होती हैं इस बात को ध्यान में रखते हुए चरित्र-नायक के दोषों का भी स्पष्ट उल्लेख किया है जिससे लेखक की निरपेक्षता तथा चरित्र-नायक की महत्ता ही प्रकट होती है। हिन्दी-साहित्य में यह चरित्र एक आदरणीय वस्तु समझा जाना चाहिए।

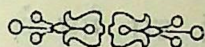
नीचे जिन पुस्तकों के नाम लिखे हैं वे भी प्राप्त हो चुकी हैं—

(१) **वीर अभिमन्यु** (सचित्र पौराणिक नाटक)—लेखक, "गुप्त"; प्रकाशक, हिन्दी-पुस्तक-भाण्डार, कचौड़ी गली, बनारस सिटी; पृष्ठ-संख्या ११०; मूल्य ।||)

(२) **स्वदेशी धर्म**—अनुवादक, बाबू कृष्णलाल वर्मा; प्रकाशक, ग्रंथ-भंडार, लेडी हार्डिंज रोड, माटुंगा, बम्बई; मूल्य ।)

(३) **हिन्दी-डिक्टेशन**—लेखक, पं० गोकुलचन्द्र शर्मा; प्रकाशक, साहित्य-सदन, अलीगढ़; मूल्य ।≡)||

(४) **देशी माला** (प्रथम और द्वितीय पुष्प) अर्थात् देश-भक्ति-पूर्ण कुछ सुन्दर कविताओं का संग्रह; लेखक, श्रीयुक्त 'दास'; प्रकाशक, छात्र-सहोदर-कार्यालय, जबलपुर।



विज्ञान-संसार।



(१) भीड़ भगानेवाली गैस।

अंग्रेज़ी में कहावत है कि आवश्यकता आविष्कार की जननी है। जब मनुष्य को किसी वस्तु की आवश्यकता होती है तब वह उसकी पूर्ति के लिए कोई न कोई उपाय ढूँढ़ निकालता है। यात्रा की कठिनाई उपस्थित हुई तो रेल का आविष्कार हो गया; बड़े बड़े समुद्रों को पार करने की समस्या उठी तो बड़े बड़े धूम्रपोत तैयार कर लिये गये; थल-सेना-द्वारा शत्रु-संहार कठिन हो गया तो सैकड़ों जानें होम कर और अरबों रुपये व्यय करके व्योम-यान बना लिए गये; अधिक क्या, परमार्थ और स्वार्थ दोनों दृष्टियों से जो भिन्न भिन्न आविष्कार हुए हैं वे किसी न किसी आवश्यकता की पूर्ति के उद्देश्य से ही, वर्तमान रूप में, प्रकट हुए हैं। शत्रु का नाश करना था तो महायुद्ध के समय ऐसे गैस बनाये गये कि स्वाँस द्वारा शरीर में जिनके प्रविष्ट होते ही मनुष्य प्राण छोड़ देता था।

आजकल देश-प्रेम और देशोन्नति के भाव जहाँ-तहाँ ज़ोर पकड़ रहे हैं और जनता प्रजा-तंत्र की दुहाई दे रही है। ऐसी दशा में राज-तंत्र वाले बड़े परेशान हैं कि वे कौन से उपाय करें जिसमें लोग इकट्ठे न हों और न मिलकर विचार ही कर सकें। राज-तंत्र वालों की कठिनाई को दूर करने के लिए एक अमेरिकन आविष्कार-कर्त्ता ने एक ऐसी गैस तैयार की है जो भीड़ को भगा देती है। भीड़ में इस गैस को छोड़ देने से लोगों का दम फूलने लगता है और आँखों में से आँसू निकलने लगते हैं, जिससे लोग भागने लगते हैं। इसमें एक विशेषता और है कि बदन पर कुछ दाग़ भी पड़ जाते हैं जिससे भीड़ का आदमी आसानी से पहिचाना जा सकता है। इस गैस से मनुष्य की मृत्यु नहीं होती।

भारत का एक सहयोगी पत्र लिखता है कि भारत-सरकार इस गैस को क्यों न मँगावे! पर बेचारे को यह नहीं मालूम कि भारत सरकार के पास क़ानूनों के रूप में भीड़ भगाने वाली गैस बहुत पहले से तैयार है।

(२) बहु-वस्त्र-धारण से हानि।

प्राचीन भारतीय इतिहास के कतिपय विद्वानों का मत है कि हमारे वेद और उपनिषत्-कालीन पूर्व्वज सीने की कला न जानने के कारण केवल धोती पहनते थे, और ऊपर के आधे अंग पर एक चादर डाले रहते थे। यद्यपि यह बात विवाद-ग्रस्त है, तथापि इतना तो निश्चित है कि हमारे पूर्व्वज बहुत थोड़े कपड़े पहनते थे। परन्तु अब भारतवासियों ने पाश्चात्यों का अनुकरण कर अपने को कपड़ों से लादना प्रारम्भ कर दिया है। इससे कार्य करने में कितनी असुविधा होती है इसका अनुभव हम लोग प्रतिदिन करते हैं। डाक्टर लिओनार्ड हिल ने अपनी खोजों द्वारा यह सिद्ध किया है कि सदा कार्यशील रहने के लिए अङ्ग-प्रत्यङ्ग में हवा लगना आवश्यक है। वे लिखते हैं—"सच बात तो यह है कि मनुष्य का शरीर जड़-चर्म द्वारा आच्छादित नहीं है। यह चर्म प्रत्येक उत्तेजक क्रिया के विपरीत प्रति-क्रिया करने के लिए तैयार रहता है। इस चमड़े में जो रक्त रहता है उसका परिमाण बदलता रहता है। फलतः देह की उष्णता नियमित रहती है और शरीर कार्य्य करने की स्थिति में रहता है। वस्त्र-धारण करते समय मनुष्य को चमड़े के इस कार्य्य पर ध्यान रखना चाहिए। चिकने, घने बने हुए और ख़ास कर सख्त तथा कलफ़ किये हुए कपड़े उसके लिए उपयुक्त नहीं हैं। हवा इनमें कठिनता से प्रवेश कर पाती है और उनके नीचे अधिक नमी रहती है। इस नमी के कारण पसीना आता है, और शारीरिक श्रम में बाधा पड़ने लगती है।"

पाश्चात्य सभ्यता की नकल अंधाधुंध करने वाले लोग इससे शिक्षा ग्रहण करें।

(३) एक बोले और हज़ारों सुनें।

वर्तमान समय वक्तृत्वकला की उन्नति का युग है। प्रायः देखा जाता है कि लब्ध-प्रतिष्ठ वक्ताओं के भाषण सुनने के लिए हज़ारों लोग एकत्रित हो जाते हैं। ऐसी दशा में यदि वक्ता की आवाज़ धीमी अथवा श्रोताओं की भीड़ अपार हुई, तो सभा-भवन के प्रत्येक स्थान तक वह आवाज़ नहीं पहुँच सकती। पाश्चात्य देश बहुत दिनों से इस असुविधा का अनुभव करते आ रहे हैं।

विगत दस वर्षों से वहाँ के विज्ञान-वेत्ता किसी ऐसी युक्ति के ढूँढ़ने में लगे थे जिसके द्वारा वक्ताओं की आवाज़ विशाल से विशाल सभा-भवन के भी कोने कोने में पहुँच सके। अमरीका ने सर्व-प्रथम इस युक्ति का अनुसन्धान करने का श्रेय प्राप्त किया है। शिकागो नगर में लोक-तंत्र-संघ (Republican Convention) के समय इस विधि का सफलतापूर्व्वक प्रयोग भी हुआ। "साइन्टफिक-अमरीकन" का कहना है कि संघ-मंच के सामने, कुछ फुट ऊपर, एक साधारण आकार का यंत्र स्थित किया गया था। वक्ताओं के सिर से कुछ ऊपर, लगभग दस फुट लम्बे सींगों के आकार के, लकड़ी के ध्वनि-वाहक यंत्र लगे थे, जिनके छोर सभा-भवन की अनेक दिशाओं की ओर खुले हुए थे। यद्यपि श्रोता इस क्रिया को नहीं देख सके, तथापि वक्ताओं की ध्वनि को सुनते ही उन्हें ऐसा जान पड़ा मानो हम मंच के निकट बैठे हों।

कहा जाता है कि वक्ता के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह ध्वनि-वाहक यंत्र में ही बोले। वह मंच पर, आगे-पीछे, आ-जा सकता है। उसकी आवाज़ ध्वनि-वाहक यंत्र में जाती है, और वहाँ ध्वनि का मूल प्रवाह ध्वनि-वाहक यंत्र में पहुँचने के पूर्व्व हज़ारों गुना तेज हो जाता है। ध्वनि-वाहक यंत्रमें जाकर वह प्रवाह फिर आवाज़ बन जाता है। व्याख्याता और सींग के आकार वाले ध्वनि-वाहक यंत्र की दोनों आवाज़ एक ही साथ निकलती हैं, मानव वाणी अपनी सजातीय विद्युत् वाणी से मिलकर एकस्वर हो जाती है। मंच के निकटस्थ श्रोतागण वक्ता के साधारण स्वर और यंत्र के दीर्घ स्वर दोनों को सुनते हैं; परन्तु उन्हें ऐसा जान पड़ता है मानों वे एक ही स्वर सुन रहे हैं। सुदूरवर्ती श्रोताओं को केवल यंत्र की उच्च आवाज़ सुनाई पड़ती है।

यद्यपि उपरोक्त आविष्कार एक पाश्चात्य देश में हुआ है, तथापि उसका पूर्ण लाभ एशियाई देश ही उठा सकेंगे। भारत और चीन की मनुष्य-संख्या क्रमशः ३२ और ४० करोड़ है। इन देशों के निवासियों में अब प्रजा-तंत्र-शासन की प्रवृत्ति उत्पन्न हो गई है, और साथ ही, लोकमत के प्रधान उत्तेजक शांति-वक्तृत्व-कला का भी जन्म हुआ है।

भारत में १९१९ के सत्याग्रह-आन्दोलन में कई स्थानों पर सभाओं में पचास से ले लेकर अस्सी हज़ार तक जनता एकत्र हुई थी। इस वर्ष भी बनारस की जिस सभा में अवध के किसानों के नेता बाबा रामचन्द्र गिरफ्तार किए गये थे, कहा जाता है कि, उसमें महात्मा गांधी के व्याख्यान सुनने के लिए, एक लाख जनता एकत्रित हुई थी। ऐसे स्थलों पर या तो कई मंच तैय्यार करने पड़ते हैं, अथवा अधिकांश श्रोता निराश होकर लौट जाते हैं। यदि भारत ने उपरोक्त आविष्कार से लाभ उठाने का उद्योग किया, तो यह कठिनाई सहज ही दूर हो जावेगी।

(४) वायुमंडल के उपजाऊ बनाने से खेतों की उपज बढ़ती है।

कई वर्षों से लोग जानते आ रहे हैं कि ज़मीन के तत्वों के सिवा प्राणान्तक वायु भी पौधों का भोजन है; परन्तु अब तक यह कल्पना किसी ने न की थी कि वायु को उपजाऊ बनाने से पौधों से अधिक उपज प्राप्त हो सकती है।

एग्रीकल्चरल जरनल ने लिखा है कि जर्मन रसायन-शास्त्रियों ने केवल कल्पना ही नहीं की है, वरन अपने देश की उपज भी बढ़ा ली है।

इन रसायन-शास्त्रियों ने सोचा कि प्राणान्तक वायु पौधों का भोजन है; परन्तु वायु-मंडल में उसका इतना कम अंश रहता है कि पौधे उसे बहुत थोड़े परिमाण में पा सकते हैं। उन्होंने कल्पना की कि यदि वायु-मंडल की प्राणान्तक वायु बढ़ा दी जावे, तो पौधे अधिक हृष्ट-पुष्ट होंगे। उन्होंने परीक्षाएँ भी की हैं।

रसायन-शास्त्रियों को यह भलीभाँति विदित था कि भट्टियों में से जो धुआँ निकलता है उसमें प्राणान्तक वायु का अपरिमित अंश रहता है; परन्तु इसमें अन्यान्य अशुद्ध पदार्थों के साथ ही साथ गन्धक बहुत मिला रहता है। गन्धक पौधों की बाढ़ के लिए हानिकारक है, इसी कारण भट्टियों के निकट के खेत कम उपजाऊ होते हैं।

एक लोहे की कम्पनी के जर्म्मन रसायन-शास्त्री ने भट्टियों से निकलती हुई प्राणान्तक वायु में से गन्धक का अंश निकाल दिया और रबड़ की फूटी नलियों द्वारा उसे अपने बग़ीचे के वायु-मंडल से मिला दिया। इसका आश्चर्य्य-जनक परिणाम हुआ। थोड़े ही दिनों में पौधे वेग से बढ़ने लगे। उनमें निकट के बाग़ों के पौधों की अपेक्षा शीघ्र फूल निकले। फ़सल कटने पर टोमैटो की उपज में १७५ सैकड़े और ककड़ी की उपज में ७० सैकड़े की वृद्धि हुई। इसके बाद दो-एक परीक्षाएँ और हुईं जिनमें भी वैसी ही सफलता प्राप्त हुई।

इन उदाहरणों से उत्साहित होकर १९१८ में रसायन-शास्त्रियों ने ३०,००० वर्ग-मीटर भूमि पर फिर एक परीक्षा की। इस बार टोमैटो की उपज में १३० और आलू की फ़सल में ३०० सैकड़ा वृद्धि हुई। कुछ और परीक्षाओं से सिद्ध हो गया है कि खाद आदि डालकर जमीन को उपजाऊ बनाने की अपेक्षा वायु-मंडल को उपजाऊ बनाना अधिक लाभ-प्रद है। केवल भूमि को उपजाऊ बनाने से १८ सैकड़ा उपज में वृद्धि हुई; परन्तु भूमि और वायु-मंडल दोनों को उपजाऊ बनाने से ८२ सैकड़े की वृद्धि हुई। रसायन-शास्त्रियों का कहना है कि केवल वायु-मंडल को ही उपजाऊ बनाने से काम न चलेगा, भूमि और वायु-मंडल को उपजाऊ बनाने से ही उपज में विशेष वृद्धि हो सकती है।

(५) अब लकड़ी में आग न लगेगी।

"दी वेल्थ आव् इण्डिया" नामक मासिक पत्र ने यह समाचार प्रकाशित किया है कि इंग्लैण्ड में एक ऐसी वैज्ञानिक क्रिया आविष्कृत हुई है जिसके द्वारा लकड़ी अग्नि-भय से मुक्त हो गई है।

वह क्रिया इस प्रकार है कि एक बन्द नली में लकड़ी रख दी जाती है और फिर उसे आँच दिखाई जाती है। भाफ़ उत्पन्न होते ही निकाल दी जाती और नली भाफ़ से शून्य हो जाती है। आँच के प्रभाव से फिर भाफ़ उत्पन्न होती और वह फिर निकाल दी जाती है। यह काम तब तक होता रहता है जब तक लकड़ी के छेदों में समाई हुई हवा और नमी दूर नहीं हो जाती तथा लकड़ी का द्रव अंश (रस) भाफ़ बनकर नहीं उड़ जाता। इतना हो चुकने पर, जल-पीड़न यंत्र

द्वारा, लकड़ी में कुछ अग्निरोधक कई रासायनिक द्रव्यों का द्रावण (घोला) प्रविष्ट किया जाता है जो उन सब तत्वों का स्थान ग्रहण कर लेता है जो पूर्व प्रयोग द्वारा स्थानान्तरित कर दिये गए थे। अन्त में इस द्रावण में जल का जो अंश होता है वह सोख लिया जाता है और बचे हुए शुष्क रसायन-द्रव्य बारीक़ परमाणुओं का आकार धारण कर लकड़ी के भीतर हिल-मिल सट जाते हैं और लकड़ी अपना दहन-स्वभाव परित्यक्त कर देती है। जब कभी उससे आग का संघर्ष होता है, तब आँच के कारण परमाणु दीर्घ आकार धारण करने लगते हैं और चिकना आच्छादन बनकर उसे ढक लेते हैं, जिसके कारण आक्सिजन उसमें प्रवेश नहीं करने पाता और यह एक प्रसिद्ध बात है कि आक्सिजन बिना आग नहीं जलती। लकड़ी से आक्सिजन के न मिल सकने के कारण उसमें आग लगना असंभव हो जाता है।

इस प्रकार का प्रयोग हो चुकने पर अन्य बातों में इस लकड़ी और साधारण लकड़ी में कोई भेद नहीं रहता। यह भी कहा जाता है कि इस से कीलों या पेंचों में मोर्चा नहीं लगता। यदि मकान बनाने में इस लकड़ी का सर्वत्र प्रयोग होने लगा तो अग्निदेव को भूखे ही रहना पड़ेगा।




विविध विषय।

(१) रायपुर म्युनिसिपैलिटी का अनुकरणीय काम।

म्यूनीसिपैलिटियाँ वास्तव में स्वराज्य की संस्थाएँ हैं; परन्तु उन्होंने अपने को सरकार से इतना सम्बद्ध समझ लिया है कि वे अपने स्वतंत्र अस्तित्व को भूल सा गई हैं, और उन्हें, हनूमानजी के समान, उनकी शक्ति का स्मरण दिलाने की आवश्यकता प्रतीत होती है। रायपुर (मध्यप्रदेश) की म्यूनीसिपैलिटी ने अभी हाल में कुछ प्रस्ताव स्वीकार करके अपने स्वतंत्र अस्तित्व का परिचय देते हुए दूसरी म्यूनीसिपैलिटियों के लिए पथ-प्रदर्शन किया है। वे प्रस्ताव ये हैं—

१. म्यूनीसिपल स्कूलों में पढ़नेवाले सब लड़कों को चाहिए कि वे १ अगस्त, १९२१ से खादी का कोट या कुरता और खादी की टोपी पहना करेंगे।

२. यह कमिटी आशा करती है कि इसके सब कर्मचारी स्वदेशी कपड़ों का उपयोग किया करेंगे।

३. म्यूनिसिपल नौकरों को जो पोशाक दी जाय वह सब खादी की बननी चाहिए।

ये प्रस्ताव ऐसे नहीं हैं कि इनसे उक्त म्यूनीसिपैलिटी असहयोगिनी संस्था बन जावे। स्वदेशी वस्त्र पहनना कोई अराजकता नहीं है। धारवाड़ के मि० पेंटर जैसे मनचले अफ़सर स्वदेशी वस्त्रों

के उपयोग में राजद्रोह के तत्व भले ही देखें; पर, क्या उन्होंने कभी यह भी सोचा है कि यदि विलायत की सरकार ने यह आज्ञा निकाली होती कि विलायत का जो कोई निवासी विलायत के बने कपड़े पहनेगा वह राजविद्रोही समझा जावेगा, तो क्या मि० पेंटर ने हिन्दुस्थान की बनी खादी का व्यवहार किया होता ?

(२) भारत में काग़ज़ की सामग्री।

हिसाब लगाकर बताया गया है कि संसार भर में, प्रति वर्ष, एक करोड़ बीस लाख टन काग़ज़ खर्च होता है और इतना सब काग़ज़ केवल भारतवर्ष में तैयार किया जा सकता है। भारत-सरकार के एक विशेषज्ञ, मि० रेट, का कथन है कि ब्रह्मदेश, बंगाल और दक्षिण-पश्चिम भारत के बाँसों से प्रति वर्ष १ करोड़ टन काग़ज़ बनाने लायक़ मसाला तैयार हो सकता है। अब बच गया बीस लाख टन और, सो उसके लिए विदेश जाने की ज़रूरत नहीं। आसाम में जो सबन्ना घास होता है उससे ३० लाख टन काग़ज़ का मसाला तैयार हो सकता है। इस तरह १ करोड़ ३० लाख टन काग़ज़ की सामग्री इस रत्नगर्भा भारत-भूमि से ही प्राप्त हो सकती है। इतना क़ागज़ तैयार करने की क्षमता रखते हुए भी भारत आज काग़ज़ के लिए परमुखापेक्षी हो रहा है। महायुद्ध प्रारंभ हुआ, दूसरे देशों से काग़ज़ का आना बंद हुआ और यहाँ काग़ज़ का दाम चढ़ने लगा। जो काग़ज़ युद्ध के पहले चार आने सेर बिकता था वही युद्ध के समय १$\frac{3}{2}$ रुपये सेर बिकने लगा। काग़ज़ क्या हुआ, घी हो गया। कुछ ठिकाना है इस महँगी का ! अब काग़ज़ का भाव कुछ अवश्य उतरा है; पर वह पहले भाव से तिगुना महँगा अभी बिक ही रहा है। कौन जानता है, पुराने भाव अब फिर कभी आवेंगे। हमें तो मालूम होता है—ते हि नो दिवसा गताः। खैर, इस समय प्रश्न यह है कि काग़ज़ बनाने की इतनी अटूट सामग्री भारत में होते हुए भी हम दूसरे देशों का महँगा काग़ज़ क्यों ले रहे हैं। इसका प्रधान कारण तो यही दिखता है कि वर्तमान भारत-सरकार अपने पैतृक गुणों को—कम्पनी की व्यावसायिक बुद्धि को—अब भी लिये हुए है। जहाँ एक ओर उसका उद्देश भारत को राजनैतिक दासत्व में दबाये रखना है वहाँ दूसरी ओर उसका उद्देश भारत के व्यापार-व्यवसाय पर नियंत्रण रखकर उसे सत्व-हीन करना है। यदि आज हम अपने व्यापार-व्यवसाय में स्वतंत्र होते, तो इतने निर्धन होकर अपने देश में ही परदेशी के समान न रहते। कहाँ हैं धारवाड़ के मि० पेंटर ? ज़रा वे सामने आवें। कपड़े की महँगी के कारण यदि लूटमार होगी, तो महात्मा गांधी उसके जिम्मेदार होंगे। आप यही कहते थे न ? पर, यदि क़ागज की महंगी के कारण लूटमार होगी, और यदि लूटमार न भी हुई, तो काग़ज़ की कमी के कारण सरकारी आज्ञाएँ मौखिक होनेसे जो नासमझी फैलेगी उसका जिम्मेदार कौन होगा ?

(३) स्वदेशी वस्त्रों पर सरकारी चढ़ाई।

धारवाड़ के कलेक्टर और डिस्ट्रिक्ट मैजिस्ट्रेट मि० पेण्टर बड़े अर्थशास्त्रज्ञ मालूम होते हैं। समय के अनुसार अपनी गति बदलने तथा सरकार से वे जो वेतन पाते हैं उसे पूरा पूरा अदा करने का प्रयत्न करने में वे अपना सानी नहीं रखते। गत ५ अगस्त को आपने जो सरक्यूलर निकाला है

उससे पता चलता है कि सरकार की मति-गति किस ओर है और असहयोग की गति कुण्ठित करने के लिए सरकार कुछ नहीं उठा रखना चाहती है। मालूम नहीं, यह सरक्यूलर मि० पेण्टर के उपजाऊ दिमाग़ की स्वतंत्र उपज है या इसके लिए खाद्य आदि भारत-सरकार ने दिया है। पर, भारत-सरकार की ओर से इस सरक्यूलर का कोई प्रतिवाद न निकलने के कारण, ऐसा समझने के लिए यथेष्ट कारण है कि समस्त सरकारी मशीन एकही सूत्र के सहारे चल रही है और एक पुरजे की गति दूसरे से प्राप्त होती और दूसरों को सहायता देती है। उक्त सरक्यूलर इस प्रकार है—

(१) "कलेक्टर और ज़िला मजिस्ट्रेट के मातहत सब अफ़सरों को चाहिए कि वे लोगों को यह समझाने का प्रयत्न करें कि भारत को जितना कपड़ा चाहिए उससे कम कपड़ा भारतवर्ष में पैदा होने के कारण यह बिल्कुल निश्चित बात है कि विदेशी कपड़ों का बहिष्कार या नाश करने या उसे दूसरे देशों को भेजने से कपड़े का भाव चढ़ेगा जिससे बड़ी अशांति फैलेगी। अशांति ही नहीं, लूटमार मच जायगी। और, यह सब होगा सरकार के कारण नहीं, बरन मि० गान्धी के असहयोग आन्दोलन के कारण।

(२) इसके लिए तालुका हैड-क्वाटर में सभाएँ की जावें, और जहाँ कहीं असहयोग की सभाएँ होवें वहाँ, उन सभाओं में, विदेशी वस्त्रों का बहिष्कार न किया जावे इसके लिए व्याख्यान दिये जावें। सरकारी कर्मचारियों को यह अच्छा अवसर आ लगा है और उन्हें चाहिए कि वे इस दफ़्तर ता:.........के पत्र सं०.........के अनुसार चलकर अपना काम बतावें और इनाम पावें।

(३) जो कपड़े के व्यापारी यह समझते हों कि विदेशी वस्त्रों का बहिष्कार करना ठीक नहीं है वे प्रान्त अफ़सर या डिपुटी कलेक्टर सा० से बातचीत करने के लिए निमंत्रित किये जाँय, और इसके पश्चात् वे कलेक्टर सा० से उनके दफ़्तर में, किसी भी दिन, १२ बजे दो-पहर से ३ बजे शाम तक, मिल सकते हैं।"

यह है मि० पेण्टर का सरक्यूलर। इसके स्वभावतः दो विभाग हो सकते हैं। पहले विभाग में सरकार के प्रयत्न की आवश्यकता बताई गई है, और दूसरे में प्रयत्न की दिशा। प्रयत्न की आवश्यकता के लिए जो कारण बताये गये हैं उनसे कोई भी मनुष्य जिसने अर्थशास्त्र का कुछ भी अध्ययन किया है कदापि सहमत नहीं हो सकता। बेपढ़े लोग तक सहमत नहीं हो सकते। वे सहमत हों कैसे? वे आँखों देखी बात मानें या मि० पेण्टर की पोच दलील पर विश्वास करें। वे प्रतिदिन देख रहे हैं कि जब से स्वदेशी वस्त्रों का प्रचार बढ़ रहा है, तब से विदेशी कपड़े का भाव चढ़ नहीं, उतर रहा है, अर्थात् विदेशी वस्त्र सस्ता हो रहा है और विदेशी वस्त्रों के मुक़ाबिले में स्वदेशी कपड़ा कितना सस्ता पड़ता है यह मि० पेण्टर भी जानते होंगे। यदि मि० पेण्टर से थोड़ी देर विवाद करने के लिए यह भी मान लें कि भारत में उतना कपड़ा तैयार नहीं होता जितने की आवश्यकता है, तो क्या इसका यह मतलब है कि उसके लिए प्रयत्न ही न किया जाय? अथवा, महँगा विदेशी कपड़ा ख़रीदा जाय? रही अशांति

फैलने की बात, सो भारतवासी तो स्वभाव से ही शांतिप्रिय हैं, और दूसरे, इस समय उन्होंने व्रत लिया है हिंसा-रहित असहयोग का। मि० पेण्टर यदि वास्तव में अशांति दूर करना चाहते हैं, तो वे अनाज की महँगी को दूर करने का प्रयत्न करें। वे सरकार के कृपापात्र तो हैं ही, अनाज की महँगी दूरकर वे प्रजा के प्रेमपात्र हो सकते हैं। मनुष्य फटा-पुराना कपड़ा पहनकर किसी प्रकार अपना निर्वाह कर सकता है; पर वह भूखा रह कर जो न करे सो थोड़ा। बुभुक्षितः किन्न करोति पापम्। आश्चर्य है, मि० पेण्टर अशांति के मूल कारण को समझने का प्रयत्न न करके कल्पित अशांति के साथ युद्ध करना चाहते हैं। इसका फल यही मिलेगा जो उस बुड्ढे को मिला जिसने सबको खुश करना चाहा; पर खुश तो कोई नहीं हुआ, बैल भी हाथ से गया और जो हँसी हुई सो अलग।

(४) स्वदेशी आन्दोलन और विदेशी बायकाट।

कांग्रेस की आज्ञा के अनुसार सरकारी स्कूल छोड़ने, वकालत स्थगित करने आदि प्रश्न इस समय कुछ स्थगित से दीखते हैं। इस समय देश की प्रधान शक्तियाँ स्वदेशी वस्त्रों के प्रचार और विदेशी के बहिष्कार में लगी हुई हैं। यह कार्यक्षेत्र नया नहीं है। लोकमान्य तिलक ने इस दिशा में विशेष प्रयत्न किया था और अब उन प्रयत्नों में फल लगते दिखते हैं।

स्वदेशी वस्त्रों के व्यवहार से देश को लाभ ही होगा, हानि नहीं। यदि स्वदेशी वस्त्रों के लिए कुछ अधिक दाम भी देने पड़ें, तो भी कोई हानि नहीं। जितना विदेशी कपड़ा ५ करोड़ रु० में आता है उतने स्वदेशी कपड़े के लिए ६ करोड़ रु० देने से भी देश को लाभ ही होगा। पिछली स्थिति में एक करोड़ रुपयों का प्रत्यक्ष घाटा सहते हुए भी, कुल छै करोड़ रुपये, अंत में हमारे ही देश में रहेंगे, और कुछ तो हमारे भाई-बंधुओं के पास जावेंगे, और कुछ देशी व्यवसाय को सहायता पहुँचावेंगे। इसमें सन्देह नहीं, इस समय खादी कुछ महँगी बिक रही है। बात यह है, जितनी खादी की माँग है उतनी तैयार नहीं हो रही है। पर, ज्यों ज्यों माँग बढ़ेगी, त्यों त्यों अधिक वह तैयार होगी और अधिक तैयार होते ही वह सस्ती पड़ेगी। इसलिए थोड़े समय की कुछ महँगी सहनी चाहिए। इसके साथ ही, विदेशी वस्त्रों का बहिष्कार करना पड़ेगा। बिना बहिष्कार के स्वदेशी का उद्धार नहीं। महात्मा गांधीजी कांग्रेस के गत विशेष अधिवेशन में जो गत वर्ष कलकत्ते में हुआ था विदेशी वस्त्रों के बहिष्कार के पक्ष में नहीं दिखते थे। वे समझते थे कि बहिष्कार में द्वेषभाव के तत्व हैं, और शान्त असहयोग में द्वेष नहीं रहना चाहिए। पर, महात्माजी के विचार अब बदल गये हैं; और अब वे बहिष्कार के पक्ष में आ गये हैं, जो अच्छा ही हुआ; क्योंकि स्वदेशी आन्दोलन तब तक पूर्णतया सफल नहीं हो सकता जब तक विदेशी वस्त्रों का बहिष्कार न किया जाय। दोनों का मतलब वैसे तो एक ही है। स्वदेशी आन्दोलन बतलाता है कि क्या करना चाहिए और विदेशी का बहिष्कार बताता है कि क्या त्यागना चाहिए।

जिस प्रकार "सत्य बोलो" शब्द जिससे कहे जाते हैं उसे यह बताने से कि "झूठ न बोलो" उपदेशक का उपदेश अधिक स्पष्ट हो जाता है, उसी प्रकार "स्वदेशी वस्त्रों का उपयोग करो" कहने के साथ ही यह भी कहने से कि "विदेशी का बहिष्कार करो" कथन अधिक स्पष्ट हो जाता है; अतः "स्वदेशी आन्दोलन और विदेशी बायकाट" में कुछ पुनरुक्ति होते हुए भी स्पष्टता अधिक है। स्वदेशी वस्तुओं का व्यवहार करने से यदि हममें द्वेष-भाव नहीं आता, तो विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार करने से ही द्वेष-भाव कहाँ से आ सकता है। प्रधान बात है स्वदेशी का प्रचार। "विदेशी का बहिष्कार" तो केवल उसका निषेधात्मक स्वरूप है।

(५) अग्नये स्वाहा।

विदेशी वस्त्रों के बहिष्कार के लिए अग्नये स्वाहा किया जा रहा है, हमें खेद है, हम इसका समर्थन नहीं कर सकते। विदेशी वस्त्रों के बहिष्कार का यह अर्थ लेना कि समस्त विदेशी वस्त्र नष्ट कर दिया जाय हमें उचित नहीं प्रतीत होता। दरिद्र भारतवर्ष के लिए यह बहुत कठोर आघात है। महात्मा गांधीजी के इस भाव की पवित्रता को हम मानते है कि "जो वस्त्र हम स्वयं नहीं पहनना चाहते उन्हें हम दूसरों को क्यों दें ?" ठीक है; पर जो वस्त्र हम स्वयं नहीं पहना चाहते उसे हम समर्नों को क्यों भेजें ? दूसरे, हम अपने देश-भाइयों को गली गली भीख माँग कर खाते हुए तो देखें; पर यदि वे अपनी लज्जा-निवारण करने के लिए हमसे वस्त्र माँगने आवें तो हम वह वस्त्र जिसे हम नहीं पहनना चाहते उन्हें न देकर पहनना स्वाहा कर दें—इसमें असहयोग का कौनसा सिद्धान्त अन्तर्हित है इसे समझने में हम असमर्थ हैं। हमें तो इस अग्नये स्वाहा में अर्थशास्त्र का कोई सिद्धान्त नहीं दिखता है, दिखता है प्रबल भावनाओं का पवित्र रूप। पर हमें यह उचित नहीं दिखता कि हम भावनाओं के वश में होकर बुद्धि से काम न लें और विरोधियों को व्यर्थ हँसी करने का अवसर देवें।

(६) "पुसीफुट" मि० जानसन।

मद्य-पान-निषेध का कार्य कराना जिन्होंने अपने जीवन का ध्येय समझ लिया है वे ही मि० जानसन इसी सितम्बर मास में भारतवर्ष में पधारे हैं। आपके शुभागमन का उद्देश इस देश के मद्य-पान-निषेध के आन्दोलन को गति प्रदान करना है। अवश्य ही आप बहुत अनुकूल समय में पधारे हैं और भारतवर्ष आपके सदुद्योग से अवश्य ही लाभ उठावेगा।

मि० जानसन का कर्मक्षेत्र अमेरिका है। वहाँ लगभग २० वर्ष कठोर परिश्रम करके आपने मद्यपान-निषेधक क़ानून बनवाया है। वहाँ की अनेक रियासतों में भी आपने यही काम किया है। अमेरिका में सफलता प्राप्त करके आप इँग्लैंड पहुँचे; पर, इँग्लैंडवालों का सद्व्यवहार तो देखिए। मि० जानसन का उपदेश भी उनसे न सहा गया। उन लोगों ने मि० जानसन पर ईंट-पत्थरों की वर्षा की और उनकी बाँई आँख ही फोड़ डाली।

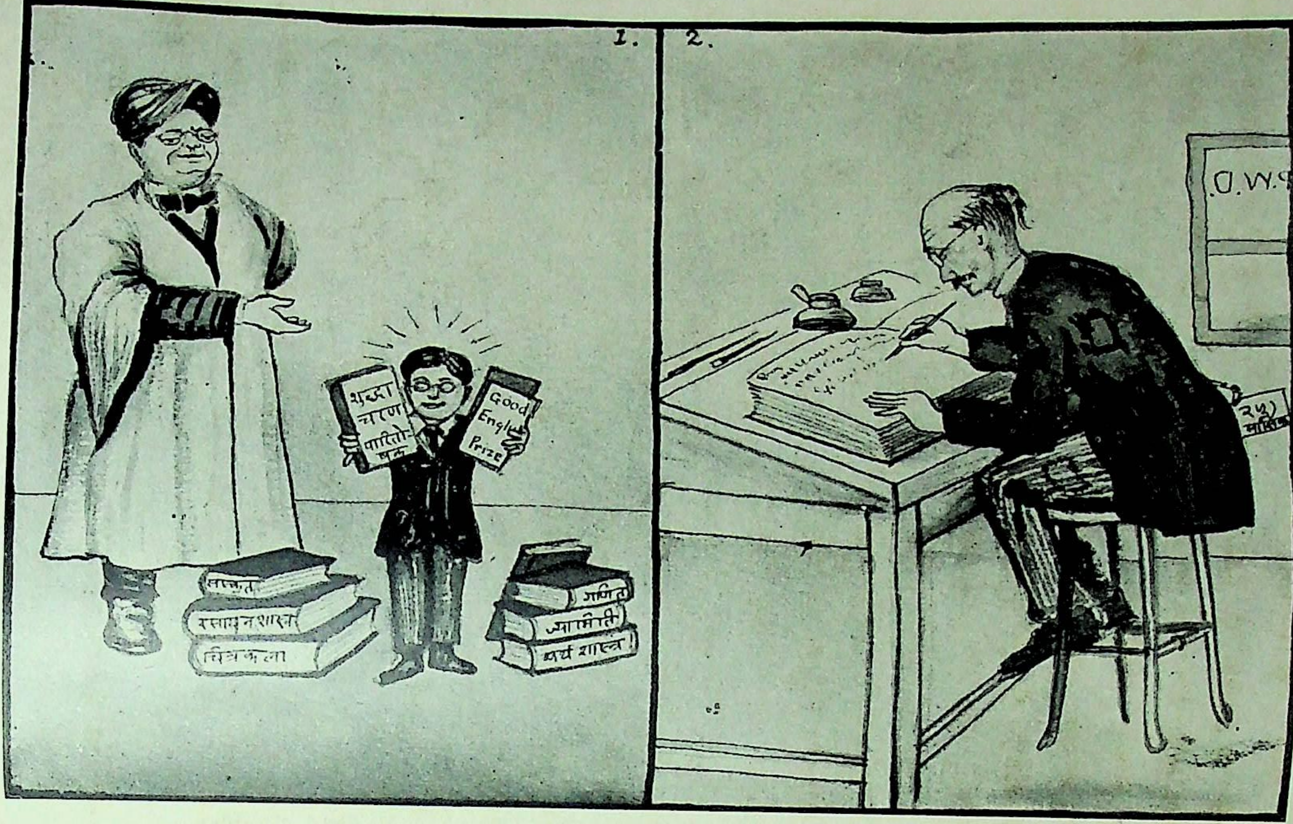
अब मि० जानसन के भारतवर्ष में पधारते ही गोरे अख़बारों ने हल्ला मचाना शुरू किया

है। उनका कहना है—आबकारी विभाग अब हस्तान्तरित विषय है, अर्थात् यह विभाग अब हिन्दुस्थानी मंत्रियों को सौंपा गया है; अतः मद्य-पान-निषेध के संबंध में मंत्री जो कुछ करना चाहें कर सकते हैं। उनके हाथ को रोकने-वाला कोई नहीं है। प्रान्तयि सरकार की आमदनी का बहुत बड़ा हिस्सा इसी विभाग से प्राप्त होता है; अतः मद्य-पान-निषेध पर ज़ोर देना प्रान्तीय सरकारों की आमदनी मारना और हिन्दुस्थानी मंत्रियों को जो अधिकार दिया गया है उसके संबंध में मानो उनकी अयोग्यता सिद्ध करना है। इसलिए, उचित तो यह होगा कि मि० जानसन भारतवर्ष में इस समय कुछ गड़बड़ न करें।" ये हैं गोरे अख़बारों के सदिच्छापूर्ण विचार। अब मिस्टर जानसन के विचार सुनिए। वे कहते हैं—"आबकारी-विभाग जितनी आमदनी करता है उससे पचगुना वह जनता का नैतिक और आर्थिक अधःपतन करता है। वह आमदनी मारी जायगी, तो उसकी कमी किस प्रकार पूर्ण की जायगी यह बताना मेरा काम नहीं है। यदि मंत्री मद्य-पान-निषेधक क़ानून पास करने के पक्ष में आ जायँ, तो काम बहुत सरल हो जाय। अमेरिका में शराबबन्दी का क़ानून पास हो जाने से, इसमें सन्देह नहीं, वहाँ के कुछ अमीर चोरी से शराब पिया करते हैं; पर मैं पूछता हूँ, संसार में ऐसा कौनसा पाप है जिसे अमीर लोग अपनी अमीरी के बल पर नहीं कर सकते? तो क्या आप लोगों के कहने का यह मतलब है कि उन पापों के निषेध का क़ानून न रखकर उन्हें करने का सुभीता कर दिया जाय?" यह है गोरे अख़बारों की पोची दलीलों का मुँहतोड़ उत्तर।

हम मि० जानसन का सादर स्वागत करते हैं।

(७) इंपीरियल इंस्टिट्यूट।

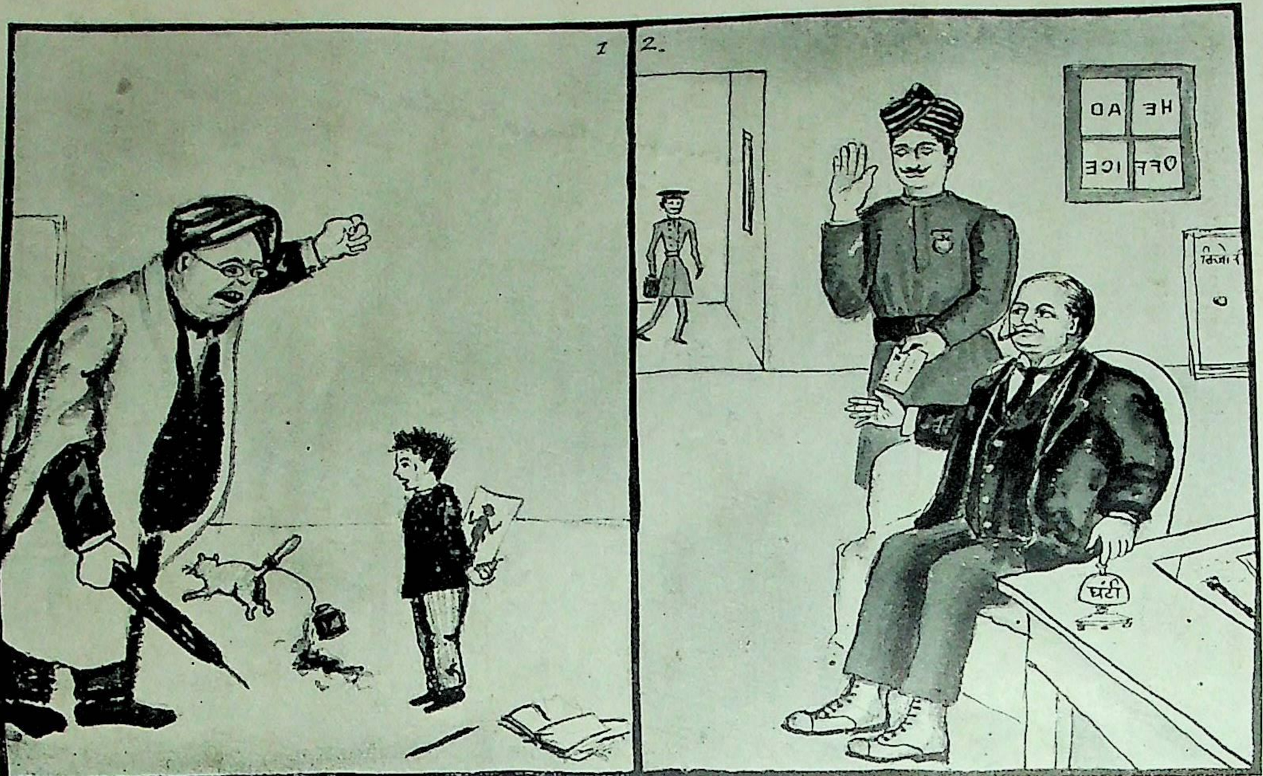
बहुत समय पहले वाट ने भारत के व्यापारीय पदार्थों पर एक बड़ा ग्रन्थ लिखा था। कुछ समय बाद गवर्नमेंट ने उसका संक्षिप्त संस्करण प्रकाशित किया। यह ग्रन्थ इतना महत्वपूर्ण था कि उसका भाषान्तर हिन्दी में हो जाता तो बहुत अच्छा होता। परन्तु इस ओर विशेष ध्यान नहीं दिया गया। आजकल इंपीरियल इंस्टिट्यूट ने इसी ढंग से काम को करना शुरू किया है। पिछले साल उसने भारत के बाँस, जंगल, खाद, चावल, गेहूँ आदि पर भिन्न भिन्न ग्रन्थ प्रकाशित किये हैं। अब उसने जूट तथा रेशम पर एक नया ग्रन्थ प्रकाशित किया है। इस ग्रन्थ में दिखाया गया है कि भारत में जूट का कारोबार कहाँ तक बढ़ा है और कहाँ तक बढ़ सकता है। रेशम के विषय में लिखा गया है कि भारत का रेशम चीन तथा जापान के रेशम के सदृश ही उत्तम है। यदि भारत में रेशम की उत्पत्ति बढ़ायी जाय, तो इँगलैंड में रेशम का उद्योग-धंधा बहुत उन्नति कर सकता है। इसी प्रकार उसमें लकड़ी के बुरादे से वुड-पल्प का काम ले सकने के तरीक़ों का और साथ ही रुई तथा जूट के डंठों से एसिटिक् एसिड् चारकोल, टार तथा काग़ज़ बनाने के तरीक़ों का विस्तृत वर्णन है। इंपीरियल इंस्टिट्यूट के ग्रन्थ इँगलैण्ड के पूँजीपतियों के लिए लिखे गये हैं। भारत-सरकार इनका भाषान्तर देशी भाषाओं में करावेगी यह



आधुनिक शिक्षा की विडम्बना।

सर्वाधिकार—
श्रीशारदाके अधीन।

चित्रकार
पं० गणेशराम मिश्र।



आधुनिक शिक्षा की विडम्बना।

चित्रकार
पं० गणेशराम मिश्र।

आशा करना वृथा है। उचित तो यह है कि इस महान् कार्य को भारत के श्रीमान् लोग स्वयं करवावें और लोगों के सामने उस महान् ज्ञान को रखें जो भारत की आर्थिक उन्नति का आधार बने और देश की समृद्धि को बढ़ावे। इंपीरियल इंस्टिट्यूट के संपूर्ण आर्थिक ग्रन्थ "जोन मर्रे, लन्डन" से मँगाये जा सकते हैं।

(८) विदेशी डाक की दर।

इसी सितम्बर महीने से विदेश में चिट्ठी अखबार तथा किताबें भेजने की दर इस प्रकार नियत हुई है —

(१) क. चिट्ठी इँगलैण्ड, ईजिप्ट तथा अंग्रेज़ी उपनिवेशों में एक आउन्स वज़न की चिट्ठी पर २ आने का टिकट और अगले प्रत्येक आउन्स पर १½ आने का टिकट लगाना पड़ेगा।

ख. सीलोन तथा पोर्तुगीज़ इंडिया को छोड़ कर अन्य पर-राष्ट्रों में एक आउन्स की चिट्ठी भेजने के लिए ३ आने का टिकट और अगले प्रत्येक आउन्स पर १½ आने का टिकट लगाना पड़ेगा।

ग. सीलोन तथा पोर्तुगीज़ इंडिया के सम्बन्ध में वही नियम हैं जोकि भारत में प्रचलित हैं।

(२) पोस्टकार्ड—इँगलैण्ड, ईजिप्ट तथा अंग्रेज़ी उपनिवेशों में कार्ड भेजने के लिए १½ आने का टिकट और जवाबी कार्ड के लिए ३ आने का टिकट लगाना चाहिए। सीलोन तथा पोर्तुगीज़ इंडिया में भारत के नियम ही प्रचलित हैं।

(३) अख़बार तथा ट्रैक्ट—इँगलैण्ड, ईजिप्ट तथा अंग्रेज़ी उपनिवेशों में १० आउन्स के पैकट भेजने के लिए ३ आने का टिकट और अगले प्रत्येक २ आउन्स पर दो पैसा और लगाना चाहिए।

(४) साधारण साहित्यिक ट्रैक्ट—इँगलैंड में ऐसे ट्रैक्ट या पैकट भेजने के लिए प्रत्येक पाउन्ड पर दो पैसे और १ पाउन्ड से ५ पाउन्ड तक और दो पैसे और ५ से ११ पाउन्ड के भार के पैकट पर ३ आने के टिकट लगाना चाहिए।

(९) भारत में बैंकों की स्थिति।

पिछले साल के तूफानों में भारतीय बैंक नहीं डगमगाये यह प्रसन्नता का विषय है। भारत में प्रकाशित एक नोट में, १९२१-२२ के बजट पर लिखते समय, यह बात कही गई थी कि कहीं यह बजट हिन्दुस्थान के व्यापारीय संतुलन को सुधारने और विनिमय-दर को पुनः पूर्ववर्ती स्थान पर पहुँचाने के लिए न बनाया गया हो? रुई के कपड़ों पर सामुद्रिक चुंगी बढ़ाने का मुख्य उद्देश्य भी कहीं यही न हो? अभी छै ही महीने गुज़रे हैं, घटनाएँ इसी बात को पुष्ट कर रही हैं। विनिमय की दर तथा व्यापारीय संतुलन दोनों ही इस मार्ग की ओर झुक पड़े हैं। इनके सुधरने के साथ ही बैंक भी ख़तरों से बच गये। जून महीने

के अंत में इंपीरियल बैंक ने ३,७५,००,००० गृहीत पूँजी पर ५८ लाख रुपयों की आमदनी प्रकट की। इनमें से १० लाख रुपया स्थायी कोष में, ५ लाख रुपया पैन्शन-फंड में और १० लाख रुपया चलतू खाते में डाल दिया गया। शेष रुपयों के द्वारा हिस्सेदारों को १४ फी सैकड़े के हिसाब से लाभ बाँटा गया। बंगाल सर्किल के प्रधान. वाट्सन स्मिथ, की सम्मति है कि शीघ्र ही व्यापार तथा व्यवसाय मज़े में हो जायेंगे और बैंकों की स्थिति दृढ़ हो जायगी।

इंपीरियल बैंक के सदृश ही पी० एण्ड ओ बैंकिंग कार्पोरेशन ने भी बड़ी सफलता प्राप्त की। नौ महीने में ही उसके धरोहर में २६,६२,४०० पाउन्ड धन पहुँच गया। उसको ६६,७०० पाउन्ड की शुद्ध आमदनी हुई। चार्टर्ड बैंक ने अपने हिस्सेदारों को २०½ प्रति शतक धन और एलायन्स बैंक ऑव् शिमला ने १४ प्रति शतक धन लाभ में बाँटा। काक्स एण्ड कंपनी ने रिपोर्ट दी है कि भारतीय प्रबन्ध में संचालित व्यावसायिक बैंक भी बहुत अच्छा काम कर रहे हैं। कलकत्ता इंडस्ट्रियल बैंक, सैन्ट्रल बैंक ऑव् इंडिया, बैंक ऑव् बड़ोदा, पंजाब नेशनल, तथा नेशनल ऑव् इंडिया इत्यादि नये भारतीय बैंकों ने बड़ी सफलता से पिछला साल गुज़ारा। ताता बैंक तो अपना कार्य्य दिन दूना रात चौगुना बढ़ा रहा है। ताता बैंक का कुल धन १२,५४,८६,-४०० से १६,६६,५६,४०० रुपयों तक जा पहुँचा है। यही बात ईस्टर्न बैंक तथा योकोहामा स्पीशी बैंक की है! इन सब बातों को देखते हुए तो यही कहा जा सकता है कि इस साल का बजट किसी अंश तक सफल होगा।

(१०) लंका का उद्योग।

भारत में शिल्प, व्यवसाय, तथा व्यापार की शिक्षा का विशेष प्रबन्ध नहीं है। लंका के पूँजी-पति शिक्षित व्यक्तियों के न मिलने से कई बार व्यावसायिक कार्यों में असफल हुए। कोलंबो के गवर्नमेण्ट टैक्निकल कॉलेज और पैराडीनिया के गवर्नमेण्ट एग्रीकल्चरल कॉलेज ने इस ओर जो उद्योग किया है वह प्रशंसनीय है। आज-कल इन कॉलेजों में कृषि-व्यवसाय तथा व्यापार के सम्बन्ध में बहुत कुछ पढ़ाया जा रहा है। महाशय हवितरण ने प्रत्येक वर्ष एक विद्यार्थी जापान भेजने के लिए छात्रवृत्ति का प्रबन्ध किया। जापान जाकर ये विद्यार्थी दियासलाई, कपड़ा बुनना तथा फूल-पत्ती बनाने के काम को सीखते थे। तीन साल पहिले की बात है कि सीलोन सेफ्टी मैच मैनूफैकचरिंग कंपनी ने ऐसे ही एक विद्यार्थी की सहायता से काम शुरू किया। इसका परिणाम यह हुआ कि उसकी दियासलाई स्वीडन की दियासलाई के सदृश ही उत्तम बनीं। क्या भारत में ऐसी छात्रवृत्तियों का कुछ भी प्रबन्ध न होगा? गांधी-राष्ट्रीय-विद्यालय तथा भारत के देशभक्त श्रीमान् यदि बहुत संख्या में ग़रीब विद्यार्थियों को औद्योगिक काम सीखने के लिये विदेश भेजें तो क्या भारत का आर्थिक उद्धार कुछ सुगम न हो जाय? लोगों में उदारता पर्य्याप्त मात्रा में है प्रश्न केवल ध्यान देने का है।

राष्ट्रीय हिंदी-मंदिर की शिकायतों का उत्तर।

२५ जुलाई के 'स्वतंत्र' और अगस्त मास के 'छात्रसहोदर' में राष्ट्रीय हिन्दी-मंदिर के संचालकों के नाम दो खुली चिट्ठियाँ "एक स्थिबिगड़" (?) तथा एक "सदस्य" द्वारा प्रकाशित की गई हैं। इन पत्रों में राष्ट्रीय हिंदी-मंदिर के संबंध में जो बातें कही गई हैं उनका ही उत्तर इस पत्र में देने का प्रयत्न, राष्ट्रीय हिन्दी-मंदिर की स्थायी सभा की ओर से, किया जाता है। उक्त दोनों सज्जनों ने इस प्रकार पत्र छपवाकर राष्ट्रीय हिंदी-मंदिर के संबंध में जो चर्चा और सुधार की प्रेरणा बढ़ाई उसके लिए यह संस्था उनकी कृतज्ञ है, परंतु हम यह भी प्रकट रूप से कह देना चाहते हैं कि वे सदस्य महोदय इन बातों को स्थायी सभा में रखते तो अधिक शांति तथा सुगमतापूर्वक वही कार्य हो सकता था। "स्थिबिगड़" महाशय से हमें यह कहना है कि वे इन प्रश्नों को एकाएक समाचार-पत्र में छपवाने की अपेक्षा यहीं पर प्रबंधकारिणी या स्थायी सभा में पेश करते या करवाते, तो अधिक अच्छा होता; क्योंकि उससे संस्था उन प्रश्नों के प्रकाशित होने से उत्पन्न होने वाली सार्वजनिक शंका आदि से बच जाती और उचित शिकायतें उनकी इच्छा के अनुसार ही दूर हो जातीं।

विवरण इस प्रकार है कि राष्ट्रीय हिन्दी-मन्दिर की शारदा-पुस्तक-माला में अभी तक नीचे लिखे ४ ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं:—

(१) रवीन्द्र-दर्शन—लेखक, श्रीयुत सुखसम्पतिराय भण्डारी; पृष्ठ-संख्या २१७ मूल्य सादी प्रति का ॥=) और सजिल्द का ॥।=)

(२) कालिदास—लेखक, पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी; पृष्ठ २३५, मूल्य, सादी जिल्द का ॥।) और सजिल्द का १)

(३) मुहम्मद—लेखक, पं० शिवनारायण द्विवेदी; पृष्ठ-संख्या १६०; मूल्य, ॥।=) और सजिल्द का १=)

(४) अमेरिकन संयुक्त राज्य की शासन-प्रणाली—लेखक, बाबू देवीप्रसाद गुप्त बी० ए०, एल०एल० बी०; मूल्य १।) तथा पक्की जिल्द १॥-)

ये पुस्तकें हिन्दी-साहित्य-संसार में कौन सा स्थान रखती हैं यह बात नीचे लिखी सम्मतियों पर से भलीभाँति मालूम हो सकती है। अभी तक पहली दो पुस्तकों की ही समालोचना निकली है और वही यहाँ दी जाती है। स्थानाभाव से दो-एक सम्मतियाँ ही दी जाती हैं:—

हिन्दी की प्रसिद्ध पत्रिका 'सरस्वती' ने 'रवीन्द्र-दर्शन' के विषय में लिखा था—"इसमें वङ्ग-कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर का चरित है जो अच्छे ढँग से लिखा गया है। कविवर के सामाजिक, धार्मिक, दार्शनिक, राजनैतिक और शिक्षा-विषयक विचारों के सिवा उनकी अन्यान्य भावनाओं का भी विशद वर्णन लेखक ने इस पुस्तक में किया है। पूर्वी और पश्चिमी सभ्यता, जाति-भेद, पुनर्जन्म, प्राकृतिक सौन्दर्य और भारतीय स्वराज्य पर व्यक्त किये गये रवि बाबू के विचार सुनने और मनन करने-योग्य हैं। पुस्तक के महत्वपूर्ण होने में सन्देह नहीं"।

'कालिदास' के विषय में 'श्रद्धा' नामक साप्ताहिक पत्र में देश के नेता और हिन्दी के

परम प्रसिद्ध विद्वान् स्वामी श्रद्धानन्द जी लिखते हैं—"इस पुस्तक ने हिन्दी-साहित्य में एक बड़ी भारी कमी को पूरा कर दिया है। यह बड़ी प्रसन्नता की बात है कि हिन्दी के प्रकाण्ड लेखक श्रीद्विवेदीजी ने इस ओर ध्यान दिया। पुस्तक सर्वांश में अत्युत्तम है। द्विवेदीजी हिन्दी के अद्वितीय समालोचक हैं। यह बात इस पुस्तक के अध्ययन से स्पष्ट है।xxx इस पुस्तक के किस किस प्रकरण पर हम अपनी पृथक् सम्मति दें यह हमारी समझ में नहीं आता। सब ही प्रकरण योग्यता से लिखे गये हैं तथा अत्यन्त रोचक और विचारपूर्ण हैं। पुस्तक की उपयोगिता के सम्मुख ।।) मूल्य बहुत ही कम है"।

शेष दो पुस्तकें अर्थात् 'मुहम्मद' और 'अमेरिकन संयुक्तराज्य की शासनप्रणाली,' कुछ दिन हुए, भिन्न भिन्न सम्पादकों के पास, भेजी गई हैं। अभी तक उनकी समालोचना प्रकाशित नहीं हुई।

नीचे लिखे सात ग्रन्थ स्वीकृत हो चुके हैं और लेखकों को उनका पुरस्कार भी दिया जा चुका है। ये ग्रन्थ शीघ्र ही प्रकाशित होंगे:—

१—"मराठे और अंग्रेज़"—मूल ग्रंथ मराठी में है। उसके लेखक मराठी भाषा के सिद्धहस्त लेखक श्रीयुत नरसिंह चिन्तामणि केलकर हैं। अनुवाद-कर्ता श्रीयुत सूरजमल जैन हैं। छपने पर इसमें लगभग ४०० पृष्ठ होंगे. मराठों का उत्थान और पतन इतिहास की एक आश्चर्यजनक घटना है। मराठा-इतिहास के पूर्वार्ध अर्थात् मराठों के उत्थान के विषय में अबतक अंग्रेज़ी तथा मराठी में कई ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं; परंतु मराठों के पतन के कारणों का विवेचन करने का साहस अब तक किसी लेखक ने नहीं किया था। केलकर महोदय ने "मराठे और अंग्रेज" नामक ग्रन्थ लिखकर इस कमी की पूर्ति की है। इसमें अंग्रेज़ों द्वारा मराठों की पराजय के साथ ही साथ भारतीय चरित्र की दुर्बलताओं पर वैज्ञानिक प्रकाश डाला गया है।

२—"रसज्ञ-रञ्जन"-इसमें पं० महावीरप्रसादजी द्विवेदी लिखित ९ लेखों का संग्रह है। कवि, कवियों की कविता और कवि-कर्त्तव्य आदि पर छः सरस लेख हैं। शेष तीन लेख हंस नीर-क्षीर-विवेक, कवियों की उर्म्मिला-विषयक उदासीनता और नल का दुस्तर दूत-कार्य्य मौलिक और गम्भीर विचारों से पूर्ण हैं।

३—"सम्पत्तिशास्त्र"—यह ग्रन्थ तीन भागों में समाप्त हुआ है। 'सम्पत्तिशास्त्र' के समान उपयोगी और महत्वपूर्ण विषय पर हिन्दी में तो क्या, मराठी और बंगाली में भी, इसके जोड़ के ग्रन्थ कम होंगे। इसके लेखक हिन्दू-विश्वविद्यालय के प्रोफ़ेसर प्राणनाथ विद्यालंकार हैं।

४— 'छाया"-यह एक छोटा किन्तु मौलिक सामाजिक उपन्यास है। 'छाया' का पति-प्रेम, एक विधवा के विचारों का उत्थान और पतन तथा महेश की परोपकार—वृत्ति का अत्यन्त उपदेशपूर्ण और मनोरंजक वर्णन है। छपने पर लगभग १५० पृष्ठ होंगे। इसके लेखक पण्डित शिवनारायणजी द्विवेदी हैं।

५—"शिक्षा-मीमांसा"-इसके लेखक पण्डित गोपाल दामोदर तामसकर, एम.ए., एल.टी. हैं। 'शिक्षा'

विषय पर यह ग्रन्थ अपने ढंग का एक ही है। विवेचन शास्त्रीय एवं रोचक है। छपने पर लगभग ३०० पृष्ठ होंगे।

६-"श्रीकृष्ण का दूतत्व"—यह एक मौलिक नाटक है। हमारा विश्वास है कि प्रकाशित होने पर यह नाटक हिन्दी साहित्य में प्रथम-श्रेणी का गिना जावेगा। इसमें प्राचीनता के साथ सामयिकता एवं धार्मिकता के साथ राष्ट्रीयता की पूरी झलक दिखाई गई है। इसके लेखक ठाकुर लक्ष्मणसिंहजी, बी०ए०, एल०एल० बी० हैं।

७-"आरोग्य-प्रदीप"-इसपुस्तक को यदि वैज्ञानिक स्वास्थ्य—शास्त्र कहें तो अत्युक्ति न होगी। मूल ग्रन्थ मराठी में है और दो विद्वानों ने अंग्रेज़ी के अनेक ग्रन्थों का अध्ययन कर बड़े परिश्रम से उसे लिखा है। अनुवाद सर्वथा सराहनीय हुआ है। इसके लेखक श्रीयुत सिंघई गुलाबचन्द्र वैद्य हैं।

इनके अतिरिक्त तीन ग्रन्थ और भी स्वीकृत हो चुके हैं। समय पाकर ये भी प्रकाशित होंगे।

पहला—"औद्योगिकी" इसके लेखक प्रसिद्ध पण्डित महावीरप्रसादजी द्विवेदी हैं। इसमें उद्योग-संबंधी १२ लेखों का संग्रह है। सभी लेख सामयिक एवं महत्वपूर्ण हैं।

दूसरा—"इ-त्सिङ्ग"-यह तीन भागों में है। इसमें बौद्धधर्म का इतिहास है तथा बौद्धकालीन भारतीय समाज का भी वर्णन है। मूल ग्रंथ चीनी भाषा में है। बाबू सन्तराम जी बी० ए० ने अंग्रेज़ी से हिन्दी में इसका अनुवाद किया है।

तीसरा—"आर्यों का मूल-स्थान—यह नारायणराव पावगी के प्रसिद्ध ग्रन्थ का अनुवाद है। आर्यों का मूल स्थान कहाँ था, इस प्रश्न पर अनेक विद्वानों ने अपने विचार प्रगट किये हैं। पावगी महाशय का उन सबसे मतभेद है। उनके मत में "सप्त-सिन्धु" देश ही आर्यों का मूल-निवासस्थान था। प्रत्येक भारतीय आर्य इस ग्रन्थ का आदर करेगा।

यों तो अभी तक ७० ग्रन्थ कार्यालय में आ चुके हैं जिनमें से ऊपर बतलाये हुए स्वीकृत हो चुके हैं और १९ ग्रन्थ अभी सम्पादक-समिति के निर्णय के लिए रखे हैं। शेष ग्रन्थ, अस्वीकृत होने के कारण, लेखकों के पास लौटा दिये गये हैं।

एक और उल्लेखनीय बात यह है कि नीचे लिखे ५ विषयों पर भारतवर्ष के हिन्दी-प्रेमी प्रसिद्ध विद्वान् लेखकों से ग्रन्थ लिखाये जा रहे हैं:—(१) राजनीतिशास्त्र, (२) संसार को भारत का सन्देश, (३) सम्पादन-कला, (४) समाज-शास्त्र के मूल तत्व, (५) साम्यवाद और भारत।

इन ग्रन्थों के तैयार होने के लिए विशेष समय चाहिए; क्योंकि ये मौलिक होने के साथ ही विशेष महत्व के रहेंगे। यह कहना अत्युक्ति न होगा कि ये ग्रन्थ प्रकाशित होने पर हिन्दी-साहित्य में विशेष स्थान प्राप्त करने के साथ साथ पुस्तक-माला और राष्ट्रीय हिन्दी-मंदिर का नाम चिरस्मरणीय रखेंगे।

छोटी छोटी पुस्तिकाएँ प्रकाशित करने के उद्देश्य से नीचे लिखे ३० विषयों की एक सूची तैयार की गईः—

(१) लार्ड चेम्सफोर्ड का शासन-काल।
(२) किसानों की दुर्दशा।
(३) मनुष्य के अधिकार।
(४) स्वराज्य की परिभाषा।
(५) महात्मा गांधी और लेनिन।
(६) स्त्रियों के अधिकार।
(७) सेवा का महत्त्व।
(८) औद्योगिक भारत।
(९) आधुनिक शिक्षा के गुण-दोष।
(१०) रसद और बेगार।
(११) विद्यार्थियों का कार्यक्षेत्र।
(१२) पंचायती अदालतें।
(१३) स्वदेशी वस्तुओं का प्रचार और विदेशी का बहिष्कार।
(१४) अहिंसात्मक असहयोग।
(१५) अछूतों का उद्धार।
(१६) प्राचीन भारत की शिक्षा-प्रणाली।
(१७) संसार की उन्नति में विद्यार्थियों का हाथ।
(१८) राष्ट्रीयता।
(१९) हमारे जीवन-संबंधी आदर्श।
(२०) उपनिवेशों में हिन्दुस्थानियों की दशा।
(२१) पंजाब का हत्याकाण्ड।
(२२) खिलाफ़त का प्रश्न।
(२३) चरखे का महत्व।
(२४) अपने अधिकारों के लिए पाश्चात्य देशों की स्त्रियों के संग्राम।
(२५) सरकार की शिक्षा-नीति।
(२६) सत्याग्रह का तत्व।
(२७) राष्ट्रीय शिक्षा की समस्या।
(२८) हिन्दू और मुसलमान।
(२९) ब्राह्मणों और अब्राह्मणों का झगड़ा।
(३०) कांग्रेस का जन्म और विकास।

यह सूची स्थानीय हिन्दी-लेखकों की सेवा में भेजी गई और उनसे प्रार्थना की गई कि वे इनमें से किसी एक या अधिक विषयों पर पुस्तिकाएँ लिखने की कृपा करें। लेखकों को यह भी सूचित कर दिया था कि किसी पुस्तिका की पृष्ठ-संख्या २४ पृष्ठों से कम और ३२ से अधिक न हो। आकार डबल क्राउन १६ पेजी होगा। भाषा सरल तथा सुबोध हो, और विषय इस ढंग से प्रतिपादित किया जाय कि साधारण जनता भी उसे समझ सके। विचार सरल, रोचक और सामयिक परिस्थिति से संबंध रखने वाले हों।

यद्यपि, आरम्भ में, दो एक को छोड़कर, प्रायः सभी ने यह कार्य-भार लेना अस्वीकार किया; पर विशेष प्रयत्न करने पर नीचे लिखे कुछ सज्जनों ने यह कार्य स्वीकार कर लिया है। लेखक और विषय इस प्रकार हैं:—

[१] पं० मनोहरकृष्ण गोलवलकर, बी० ए०, एल-एल०बी०—
 (१) राष्ट्रीय शिक्षा की समस्या, और
 (२) राष्ट्रीयता।

[२] राय साहब पं० रघुवरप्रसाद द्विवेदी, बी० ए०—
 (१) आधुनिक शिक्षा के गुण-दोष।

[३] गोपाल दामोदर तामस्कर, एम० ए०, एल. टी.—

(१) प्राचीन भारत की शिक्षा-प्रणाली

[४] बाबू देवीप्रसाद गुप्त, बी०ए०,एल-एल० बी०

(१) मनुष्य के अधिकार, और (२) सेवा का महत्व।

[५] पण्डित सिद्धनाथ लोंढे—

(१) कांग्रेस का जन्म और विकास।

[६] श्रीयुक्त सुन्दरलाल जैन, बी०ए०—

(१) स्त्रियों के अधिकार।

[७] पण्डित मातादीन शुक्ल—

(१) महात्मा गांधी और लेनिन, और (२) अहिंसात्मक असहयोग।

[८] पण्डित सूरजप्रसाद अवस्थी, बी० ए०, एल० टी०—

(१) विद्यार्थियों का कार्यक्षेत्र।

इनमें से कुछ ने शीघ्र ही पुस्तिकाएँ लिखकर भेज देने का वचन दिया है। अभी अन्य महाशयों से भी पत्र-व्यवहार हो रहा है और सम्भव है कि लेखकों की संख्या कई गुनी हो जाय।

स्वतंत्र में छपे हुए पत्र के अन्त में १० प्रश्न किए गए हैं। उनके उत्तर नीचे दिए जाते है। इन्हींमें श्रीशारदा संबन्धी प्रश्नों के उत्तर भी आ गए है।

(१) सदस्य बनाने वाले वैतानिक प्रचारकों का कार्य वर्तमान परिस्थिति को देखते हुए संतोष-जनक है। जुलाई १९२१ के अन्त तक उन्होंने १७८सदस्य बनाए हैं जिसका औसद २५ सदस्य प्रति मास होता है जिससे ३००) प्रति मास की आय हुई है और उनके वेतन तथा अलाउन्स इत्यादि में १८७) मासिक ख़र्च औसतन पड़ा है।

(२) त्रैमासिक आयव्यय का लेखा प्रबन्ध-समिति में स्वीकृत होकर शीघ्र ही प्रकाशित होने वाला है और नियमानुसार आगे भी प्रकाशित हुआ करेगा।

(३) ग्राहक--संख्या से अधिक संख्या में पत्रिकाएँ छपाना सदस्यों तथा ग्राहकों की संख्या बढ़ने की आशा से तथा प्रचार और लेखकों को देने के लिए आवश्यक होता है। इसलिए ग्राहक-संख्या से अधिक संख्या में पत्रिकाएँ अवश्य छपी हैं और उनकी संख्या यथाशक्य घटाई जा रही है।

(४) संस्था की आर्थिक अवस्था सुधारने के लिए, संस्था के कार्यों का निरीक्षण करके खर्च घटाने तथा आय बढ़ाने की आयोजना तैयार करने के लिए, एक कमेटी नियुक्त की गई है। उसकी रिपोर्ट आने पर उचित व्यवस्था की जावेगी।

(५) संस्था ने जिस व्यक्ति को योग्य समझ उसे संपादकत्व के लिए नियुक्त किया। अभी उसे किसी "लब्धप्रतिष्ठ व्यक्ति व मंडल" की आवश्यता नहीं दीखती, न पत्रिका को बंद करने की ही आवश्यकता मालूम होती है। जो कुछ परिवर्तन होगा वह उपर्युक्त कमेटी की रिपोर्ट के अनुसार होग

(६) यह ठीक है कि यह सारे भारतवर्ष की संस्था है, किन्तु भारतवर्ष की संस्था होने के लिए भिन्न भिन्न स्थान के लोगों की नियुक्त होना आवश्यक नहीं है, केवल व्यक्तियों की योग्यता देखी जानी चाहिए और इस संस्था में ऐसा ही हुआ है।

(७) वैतनिक कर्मचारियों को प्रबन्धकारिणी समिति में स्थान देने के लिए संस्था के नियमों में कोई बाधा नहीं है।

(८) (अ) पहले सम्पादक महोदय केवल ३ घन्टे का समय देते थे; पर अब वे पूरा समय देते हैं। साथ ही, उन्हें पुस्तक माला के सम्पादन का भी भार दे दिया गया है; इसलिए उनका वेतन बढ़ाया गया है।

(आ) इसी प्रकार उपसम्पादक महोदय भी ३ घन्टे की जगह पूरा समय देने लगे हैं; इसलिए वेतन वृद्धि की गई है।

(इ) प्रबन्धक का वेतन पूरा समय देने के लिए बढ़ाया गया था। परन्तु वह पद अब खाली है।

(ई) यह वेतन-वृद्धि बोर्ड आफ़ ट्रस्टीज़ की कार्यकारिणी समिति की स्वीकृति से हुई है जो वर्तमान प्रबन्ध-समिति के संगठन के पहले राष्ट्रीय हिन्दी-मन्दिर के कार्यों का प्रबन्ध करती थी।

(उ) वेतन-वृद्धि के बारे में कार्य-विवरण की पुस्तक में कुछ नहीं लिखा गया है; क्योंकि उस समय तक बोर्ड आफ़ ट्रस्टीज़ की कार्यवाही नियमपूर्वक नहीं लिखी जाती थी। परन्तु इस वर्ष के आरम्भ से प्रबन्ध कारिणी समिति का नवीन संगठन हो गया है, तब से उसकी कार्यवाही नियमपूर्वक लिखी जाती है। वेतन की वृद्धि करने की साक्षी ट्रस्टियों की प्रबन्ध-समिति है।

(ऊ) वर्तमान कार्यकर्त्ता अपने वेतन के अनुसार योग्यतापूर्ण कार्य करते हैं या नहीं इसका उत्तर ऊपर उत्तर नं० ५ में दिया जा चुका है।

(ऋ) कम कार्यकर्त्ताओं से काम चल सकता है या नहीं इसका विचार उत्तर ४ में कही गई कमेटी करेगी।

(ॠ) जहाँ तक मालूम हुआ है, कोई कार्यकर्त्ता अपने निजी साहित्य-कार्यों को हिन्दी-मंन्दिर के कार्यालय में नहीं करते।

(ऌ) पहले ६०) मासिक वेतन पर दो क्लर्क थे; किन्तु अब नहीं हैं।

(९) रा. हिन्दी-मान्दिर ता: ३-६-१९२० को, जनता को, सौंप दिया गया था, तब से उसकी कार्यवाही ट्रस्टियों के द्वारा हुई है या नहीं तथा उसकी कोई लिखी हुई कार्यवाही है या नहीं इसका उत्तर ऊपर उत्तर नं० ८ खंड (उ) में आ जाता है।

(१०) रा० हिन्दी-मन्दिर का कार्य, यथाशक्ति, ट्रस्ट डीड के अनुसार ही, हो रहा है।

"छात्रसहोदर" में किए गये आक्षेपों का उत्तर भी ऊपर आ चुका है । यहाँ पर हम यह भी व्यक्त कर देना चाहते हैं कि संस्था के सूत्रधार श्रीयुत बाबू गोविंददासजी तथा श्रीयुत पं. माधवराव जी सप्रे ने जितना कार्य, संस्था के लिए देश की वर्तमान परिस्थिति को देखते हुए करना सम्भव था, किया है । हमें यह प्रकट करने में विशेष सन्तोष होता है कि श्रीयुत पं० माधवरावजी सप्रे ने बिना वेतन लिए भी बहुत काम किया है और करते हैं । खुरई के श्रीमन्त सेठ मोहनलाल जी का १००००) का दान, भोपाल के सेठ मूलचन्द जी का ५०००) का दान तथा गाडरवारा और होशंगाबाद के सज्जनों के पाँच पाँच हज़ार के दान प्राप्त करने में आपही सज्जनों की विशेष सहायता रही है ।

अंत में, हम यह भी विश्वास दिलाना चाहते हैं कि संस्था का जो मूल उद्देश अर्थात् वेतन पर लेखकों को ग्रन्थ लिखने के लिए नियुक्त करना है संस्था उसे नहीं भूली है । राजनैतिक परिस्थिति के बदले जाने से इस समय पर्याप्त धन न मिलने के कारण कुछ बाधाएँ अवश्य पड़ रही हैं, और सम्भव है, इसलिए जनता को कुछ शैथिल्य दीखे; परन्तु यथेष्ठ द्रव्य-संग्रह होने पर यह कार्य पूर्ण होगा ।

'स्वतन्त्र' और 'छात्रसहोदर' में छपे हुए पत्रों का यह उत्तर देरी से इसलिए जा रहा है कि वे पत्र रा. हिन्दी-मन्दिर की स्थायी सभा में विचारार्थ पेश किए गए थे । उसके विचार करने के लिए विषय के महत्व को देखते हुए पर्याप्त संख्या में सदस्य उपस्थित नहीं हुए तथा अन्य कारणों से कोई निश्चय शीघ्र नहीं हो सका । अन्त में ४-९-२१ की बैठक में उत्तरों का अन्तिम निर्णय ऊपर लिखे रूप में, सर्व-सम्मति से हुआ है ।

राष्ट्रीय हिन्दी-मन्दिर की स्थायी सभा,

५—९—२१ जबलपुर ।



मन्दिर के नये संरक्षक ।

अभी हाल में श्री० बाबू गोविन्ददासजी तथा पं० माधवरावजी सप्रे के शुभ प्रयत्न से भंडारा-निवासी श्रीमान् गणपतरावजी ने जबलपुर के राष्ट्रीय हिन्दी-मन्दिर को उदारतापूर्वक ५,०००) का दान दिया है । आपके इस सात्विक दान के लिए आपको अनेक धन्यवाद !

सम्पादक, "श्रीशारदा" ।

"श्रीशारदा" पर कुछ विद्वानों की सम्मति—

पंडित श्रीधर पाठक—इसकी उत्तमता पर बहुत बधाइयाँ।

पंडित अम्बिकाप्रसाद बाजपेई—सम्पादन अच्छा होता है।

रा० ब० हीरालाल सा०, डिपुटी कमिश्नर—The get-up is excellent and the articles interesting.

बाबू अनिलप्रसाद सर्वाधिकारी—The contents are quite worth its name.

लाला कन्नोमल, एम. ए, डिस्ट्रिक्ट और सेशन्स जज्ज—लेख महत्वपूर्ण हैं।

पंडित गिरिधर शर्म्मा, नवरत्न—पत्रिका बहुत अच्छी है।

कविवर 'सनेही'—जिसने देखा पसन्द किया। जितनी पत्रिकाएँ सम्प्रति हिन्दी का गौरव-स्वरूप हैं शारदा ने निकलते ही उनमें अच्छा आसन प्राप्त कर लिया। ऐसे अच्छे सम्पादन में मेरा सम्मति-दान सूर्य को दीपक-दान है।

लाला भगवानदीन—सब ही लेख सुपाठ्य हैं।

बाबू गोपाल-स्वरूप भार्गव, एम० एस-सी०—अति उत्तम लेख निकाले।

साहित्याचार्य जगन्नाथप्रसाद 'भानुकवि'—सजधज सर्वथा प्रशंसनीय है। लेख भी सुपाठ्य और उपयोगी हैं।

पंडित लोचनप्रसाद पांडेय—"श्रीशारदा" उच्च कोटि की पत्रिका है।

पंडित नाथूराम शंकर शर्मा "शंकर"—श्रीशारदा बहुत ही अच्छी निकल रही है।

श्रीयुत संतराम बी० ए०—"श्रीशारदा" की सजधज बहुत बढ़िया है। लेख भी बड़े उपयोगी और उपादेय हैं।

ठाकुर युगलसिंह, एम० ए०, एल० एल-बी०—जिन जिन मित्रों से मैं मिला वे सभी "श्रीशारदा" के ललित और मौलिक लेखों की प्रशंसा करते हैं। वास्तव में श्रीशारदा हिन्दी-साहित्य में नवीन युग का स्थापन करेगी।

पता—व्यवस्थापक, श्रीशारदा,

राष्ट्रीय हिन्दी-मन्दिर,

जबलपुर।

श्रीशारदा

सचित्र

मासिक पत्रिका

वर्ष २, खण्ड २

आश्विन—फाल्गुन

संवत् १९७८



सम्पादक

साहित्यशास्त्री पं० नर्म्मदाप्रसाद मिश्र बी० ए०, विशारद



प्रकाशक

राष्ट्रीय हिन्दी-मन्दिर

वार्षिक मूल्य, पाँच रुपया] जबलपुर [एक प्रति का मूल्य, आठ आना

लेख-सूची ।

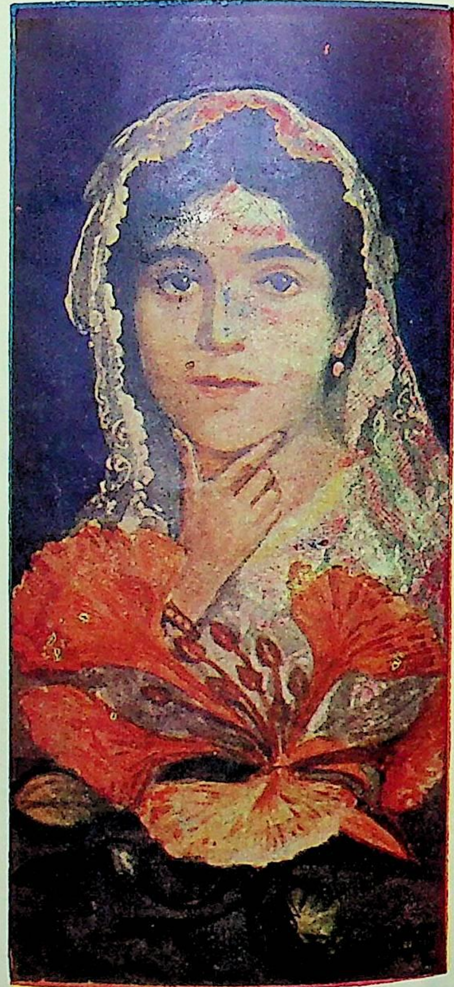
चित्र-सूची ।

रंगीनचित्र

सादे चित्र

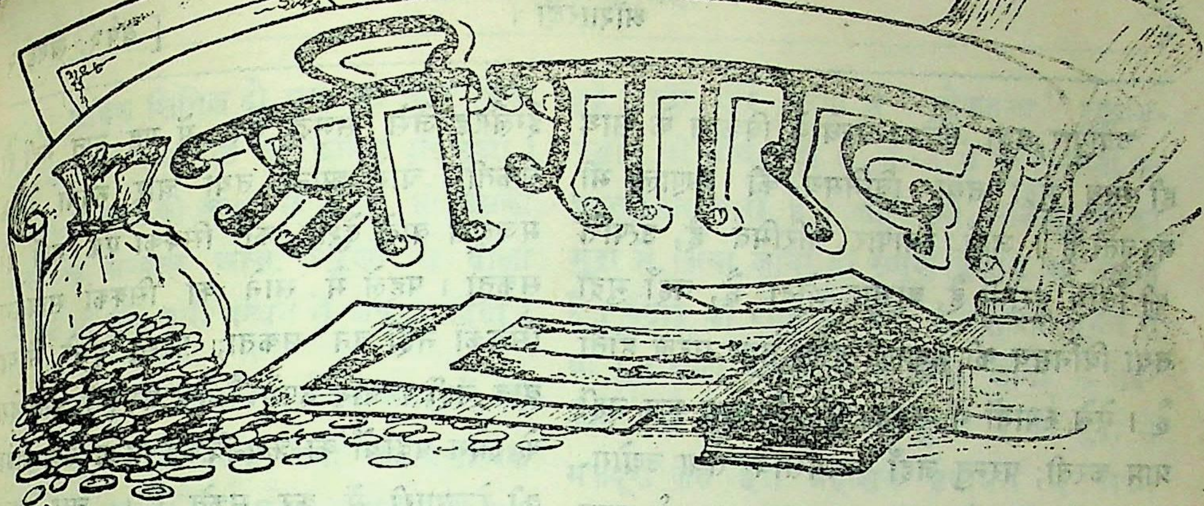


गुलाब



गुलनार

Lakshmi Art, Bombay, No. 8



साहित्य-तथा-राजनीति-संबंधी-विविध-विषय-विभूषित सचित्र मासिक पत्रिका।

वर्ष २, खण्ड २] आश्विन, शुक्ल प्रतिपदा, १९७८ * २ अक्टूबर, १९२१ [संख्या १, पूर्ण संख्या १९

समाज में मुद्रा का महत्व।

(लेखक—प्रोफ़ेसर प्राणनाथ, विद्यालंकार,)

जन-समाज की उन्नति तथा सभ्यता में विनिमय की विधि तथा मुद्रा-प्रणाली का भाग विशेष महत्वपूर्ण है। व्यक्ति तथा समाज के जीवन का कोई अंश नहीं, जिसपर इसकी छाप न बनी हो। यह होते हुए भी बहुत से अर्थशास्त्रज्ञ इसको एक गौण वस्तु ही समझते हैं। कई तो मुद्रा तथा साख के दोषों को ही देखते हैं और विनिमय के इन साधनों के मटियामेट करने में ही मनुष्य-समाज का कल्याण समझते हैं। महाशय मिल तक ने लिख दिया है कि "समाज के जीवन में मुद्रा एक तुच्छ वस्तु है।[1]" सत्य तो यह है कि व्यक्ति तथा समाज का जीवन मुद्रा पर निर्भर है। मुद्रा के ताने-बाने में प्रत्येक मनुष्य बुना हुआ है। यदि यह ताना-बाना टूट जाय, तो मनुष्य-समाज के जीवन का सौन्दर्य नष्ट हो जाय। बहुत से पारस्परिक संबन्ध छिन्न-भिन्न हो जायँ जो कि मनुष्य-समाज को जान से भी अधिक प्यारे हैं। मुद्रा तथा विनिमय के परिवर्तनों के साथ ही साथ आर्थिक उन्नति परिवर्तित होती है। दोनों एक साथ ही घूमते हैं। हाब्सन ने ठीक लिखा है कि "कल-यन्त्र द्वारा उत्पत्ति की विधि में परिवर्तन होते ही मुद्रा तथा विनिमय की प्रणाली ने एक नवीन रूप धारण किया। दोनों के जातीय तथा अन्तर्जातीय स्वरूप में प्रगट होते ही साख ने विशाल रूप प्राप्त किया। सारा का सारा व्यावसायिक परिवर्तन मुद्रा तथा विनिमय प्रणाली के महत्वपूर्ण परिवर्तन का ही एक अंग समझा जा सकता है और उसपर उसी की दृष्टि से विचार किया जा सकता है[2]।"

---

१. मिल लिखित "प्रिन्सिपिल्स आफ् पोलिटिकल-इकानमी," भाग ३, परि. ७, पै. ३.

२. हाब्सन लिखित "एवोल्यूशन आफ् माडर्न कैपिटलिज़्म," पृ. ७.

व्यापार तथा उद्योग-धन्धे के विकास के साथ ही साथ मुद्रा तथा विनिमय की प्रणाली भी बदलती है। जहाँ व्यापार परिमित है, उत्पत्ति की विधि पुरानी है, बाज़ार छोटा है, वहाँ मुद्रा तथा विनिमय की प्रणाली तुच्छ तथा सरल होती है। ऐसे स्थानों में साख भी विशाल रूप नहीं प्राप्त करती; परन्तु जहाँ व्यवसाय तथा उद्योग-धंधा सुसंगठित हो, कल-यन्त्र-द्वारा पदार्थ बहुत मात्रा में उत्पन्न किया जाता हो, बाजार विस्तृत हो और आमदनी बहुत अधिक हो, वहाँ मुद्रा बहु-मूल्य तथा विनिमय की प्रणाली विषम होती है। शिकार-जीवी जाति में धनुष, बाण और चमड़ा ही मुद्रा है। सोना, साख, हुंडी तथा विदेशीय विनि-मय बिल आदि वर्तमान समाज में ही विनिमय के साधन हो सकते हैं। अल्प पूँजी से बहुत बड़ा काम करना, धात्विक मुद्रा का काम पत्र-मुद्रा से निकालना, धात्विक मुद्राओं के बनाने में श्रम तथा पूँजी का वृथा प्रयोग न करना, साख का संसारव्यापी विशाल भवन खड़ा करना और लेन-देन के शुद्ध करने के लिए संशोधक गृहों का प्रयोग करना इस बात का सूचक है कि मुद्रा तथा विनिमय का स्वरूप जन-समाज की उन्नति का दिग्दर्शक यन्त्र है।

मुद्रा तथा विनिमय की प्रणाली के देखते ही किसी समाज की सभ्यता, जीवन-निर्वाह, रहन-सहन तथा आर्थिक उन्नति का पता लगाया जा सकता है। मनुष्य आमदनी के अनुसार ही खर्च करता है। कम धन से क़ीमती चीज़ें नहीं ख़रीदी जा सकतीं। भारत जैसे निर्धन देश में पैसा, अधेला तथा कौड़ियाँ चल सकती हैं। इँगलैण्ड जैसे समृद्ध देश में यह बात नहीं हो सकती। चार आना तथा चार रुपया दैनिक मज़दूरी वाले देशों का सिक्का एक नहीं हो सकता। पहले में सोने का सिक्का साधारण सिक्का नहीं बन सकता; परन्तु दूसरे में यह बात नहीं। चार रुपये दैनिक मज़दूरी वाले देश के लोग पदार्थों का क्रय-विक्रय पाउंड तथा पाउंड की रेज़गारी में कर सकते हैं। चार आना मज़दूरी वाले देश के लोग पाउंड का व्यवहार करही कैसे सकते हैं जबकि उनकी मासिक मज़दूरी भी पाउंड तक न पहुँचती हो। सारांश यह है कि सिक्के के स्वरूप को देखते ही जन-समाज की आर्थिक उन्नति का अनुमान किया जा सकता है। गिन्नी तथा रुपये में जो भेद है वही भेद गिन्नी तथा रुपये का व्यवहार करने वाले देशों की अमीरी और ग़रीबी में है।

श्रम-विभाग तथा मुद्रा-प्रणाली में भी घनिष्ठ सम्बन्ध है। उत्पत्ति की वर्तमान विधि श्रम-विभाग के विस्तृत प्रयोग का एक नमूना है। श्रमविभाग का विस्तृत प्रयोग बाज़ार के विस्तार पर और वह स्वयं विनिमय-प्रणाली तथा मुद्रा की उत्तमता पर निर्भर है। इसे इस प्रकार भी कह सकते हैं कि अन्तर्जातीय व्यापार का आधार मुद्रा तथा विनिमय-प्रणाली पर है। यदि यह आकस्मिक कारण से सर्वथा नष्ट हो जाय, तो संसार का प्रत्येक राष्ट्र एक दूसरे से पृथक् हो जाय। राष्ट्रों का पारस्परिक सम्बन्ध मुद्रा-रूपी रस्सी से बँधा है। सर आर्ची वाल्ड एलिसन का मत है कि रोम का अधःपात मुद्रा की कमी से हुआ। इसमें सन्देह नहीं है कि रोम का अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध मुद्रा की कमी के कारण

बहुत ही अधिक शिथिल हो गया था और किसी अंश तक उसके अधःपात का कारण भी हुआ। यदि रोम में मुद्रा की कमी न होती, तो उसका अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध अन्य कारणों से ढीला पड़ते हुए भी मुद्रा-रूपी बन्धन से जकड़ा रहता।

मुद्रा-प्रणाली का आर्थिक स्वतन्त्रता में भी बड़ा भाग है। राजनैतिक तथा व्यावसायिक स्वतन्त्रता में मुद्रा ने जो छाप बनायी है वह भुलाई नहीं जा सकती। सर हैरर्डमैन ने ठीक लिखा है कि रीति-रिवाज तथा लोक-प्रथा के स्थान पर मौद्रिक व्यवहार का प्रारंभ होते ही सभ्यता बहुत शीघ्रता से बढ़ी। मुद्रा के प्रयोग से राज्य-कर तथा मालगुज़ारी का देना सुगम हो गया। शारीरिक दासता लुप्त होकर मजदूरी के रूप में प्रगट हुई। अर्धदास रुपयों में मालगुज़ारी देकर ताल्लुकेदारों की अनुचित हुकूमत से छुटकारा पा गये। महाशय निकलसन ने लिखा है कि* "मध्यकाल में मुद्रा के बढ़ते ही सामाजिक संशोधन बहुत हुए। किसान लोग रुपयों में हिसाब-किताब कर ताल्लुकेदारों की दासता से मुक्त हो गए। यूरोपिय नगरों ने रुपया इकट्ठा कर ताल्लुकेदारों के प्रभुत्व को चकनाचूर किया। मासिक-वेतन पर सिपाहियों को नौकर रखकर आत्म-संरक्षण का मार्ग निकाल लिया और अपनी स्वतन्त्रता को सुरक्षित किया। रुपयों में मालगुज़ारी देना शुरू होने पर स्वेच्छाचारी राजाओं ने मालगुज़ारी बढ़ाना प्रारम्भ किया। इस स्वेच्छाचार को नष्ट करने के लिए जनता एकत्रित हुई। धीरे धीरे यूरोप में "लोकतन्त्र" शासन-पद्धति की नींव पड़ी।" भारत में भी किसानों का आन्दोलन जारी है। यहाँ भी मालगुज़ारी का मुद्रा में लिया जाना ही संपूर्ण विक्षोभ का कारण है। बँटाई की रीति में यह आन्दोलन संभव न था। दक्षिणी आफ्रीका में नीग्रो लोगों में वेही लोग कुछ कुछ स्वतन्त्र तथा सुखी हैं जो मुद्रा में मज़दूरी लेते हैं। महाशय डवायस ने अपने "दि सोल्ज़ आव् ब्लैक फ़ाक" नामक ग्रंथ में इस विषय पर अच्छा प्रकाश डाला है। इँग्लैण्ड में कुछ सदियों पूर्व श्रमियों को मेहनताना पदार्थ में दिया जाता था। इस प्रणाली का दोष प्रत्यक्ष है। चीज़ों के ख़रीदने में बिचारे श्रमियों को स्वतन्त्रता न होने से दासत्व से बढ़कर दासत्व हो गया।

जातीयता की वृद्धि में भी मुद्रा तथा विनियम-प्रणाली का भाग है। मुद्रा, विनिमय तथा श्रम-विभाग की वृद्धि से इँग्लैण्ड के गाँवों में बड़ा परिवर्तन हो गया। शहरों तथा गाँवों का संबन्ध घनिष्ठ हो गया। व्यापारीय तथा व्यावसायिक एकता बढ़ गई। पूँजी तथा श्रम का भ्रमण बढ़ गया। रेलों तथा जहाज़ों के सदृश ही मुद्रा ने संसार के लोगों को एक दूसरे के पास कर दिया है और जातियों में जातीयता के भावों को बढ़ा दिया है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि आज कल मुद्रा भी जातिय हो गई है। जनता विजातीय मुद्राओं के ग्रहण करने तथा स्वजातीय मुद्राओं के छोड़ने को तैयार नहीं। लाभ तथा सुविधा के होते हुए भी जातियाँ किसी एक संसार-प्रमाणित सार्वभौम मुद्रा को स्वीकार नहीं कर रही हैं। यही नहीं, मुद्रा जातीय विज्ञापन का साधन

---

* निकलसन, लिखित 'मनी एण्ड मानेटरी प्राब्लम्स, पृष्ठ १७,

बन रही है। इँग्लैण्ड तथा जर्मनी का यह विश्वास है कि आंग्ल तथा जर्मन मुद्राओं के चलन से एशियाटिक देशों में उनका व्यापार बहुत बढ़ सकता है। निस्सन्देह इसमें सचाई है और संसार का हित इसीमें है कि सभी देश किसी एकही मुद्रा का समान तौर पर व्यवहार करें।

मुद्रा तथा विनिमय का वर्तमान स्वरूप व्यापार तथा व्यवसाय की वृद्धि में एक मुख्य कारण है। इसीके कारण पूँजी का एकात्रित करना सुगम हो गया। एकत्रित पूँजी से लोग भिन्न भिन्न कम्पनियों के हिस्से खरीदते हैं और इस प्रकार नवीन उद्योग-धन्धों को बढ़ाते हैं। भारत में रेलों, चाय के बाग़ों तथा जूट की कम्पनियों में रुपयों का लगाना इसी बात का उदाहरण है। बहुत दूर के देशों में पूँजी लगाना उत्तम मुद्रा के बिना नहीं होसकता। वस्तु-विनिमय या बार्टर से पूँजी का भ्रमण स्थानीय ही होता है। व्यय-योग्य पदार्थों का बढ़ना रुक जाता यदि मुद्रा वस्तुविनिमय का स्थान न ले लेती। परन्तु इसका यह मतलब नहीं कि मुद्रा की संख्या के बढ़ते ही व्यय-योग्य पदार्थ बढ़ जाते हैं और कोई देश समृद्ध हो जाता है। जरूरत से ज्यादा मुद्रा की संख्या के बढ़ने का परिणाम महँगी है। महँगी होते ही देश की मुद्रा उस ओर बह जाती है जहाँ सस्ती होती है। यही बात देश में सोने चाँदी की खानों के होने पर होती है। खानों से बहुमूल्य धातु खोदकर कोई भी देश अपनी क्रय-शक्ति बढ़ा सकता है और इस प्रकार समृद्ध हो सकता है। गंभीर विचार करने से मालूम पड़ेगा कि इस समृद्धि का मुख्य कारण मुद्रा या बहुमूल्य धातु से किसी देश का जुदा होना है, न कि उनको एकही राष्ट्र में एकत्रित करना।

गुणों के सदृश ही मुद्रा में कतिपय ऐसे भयंकर दोष हैं जो कि उसके संपूर्ण गुणों पर पर्दा डालते हैं। धन की असमानता में मुद्रा का विशेष भाग है। माना कि प्राचीन काल में, जब कि वस्तु-विनिमय ही व्यवहार का मुख्य साधन था, जनता में धन तथा संपत्ति की असमानता मौजूद थी; परन्तु वह असमानता इतनी हानिकर तथा दुःखजनक न थी जितनी कि आजकल की धन की असमानता है। प्राचीन काल में उत्पत्ति के साधन सरल तथा सस्ते थे; परन्तु अब बात ऐसी नहीं रही। नये ढंग के कलयन्त्र तथा पुतलीघर से काम लेने के लिए लाखों की संपत्ति तथा अन्तर्जातीय बाजार की जरूरत है। अपरिमित मुद्रा जुटाने वाले धनिक लोग ही संपूर्ण शिल्पी पदार्थों के बनवाने तथा बेचने वाले बन बैठे हैं। इससे धनिकों तथा मेहनतियों की दो श्रेणियाँ उत्पन्न हो गई हैं। अन्तर्जातीय बाजार की जरूरत से प्रेरित होकर दूरवर्ती राष्ट्रों को पराधीन करना तथा उनकी कारीगरी नष्ट करना यूरोपीय पूँजीपतियों का हररोज़ का खेल सा हो गया है। यदि मुद्रा ने किसी हद तक स्वतन्त्रता उत्पन्न की है तो अन्तर्जातीय दासता तथा समाज में आर्थिक दासता उत्पन्न करने में भी उसका कुछ कम भाग नहीं। अन्तर्जातीय दासता से जातीय विक्षोभ और आर्थिक दासता से सामाजिक विक्षोभ पैदा हो गये हैं। स्वतन्त्रता-युद्ध, असहयोग, सत्याग्रह, हड़ताल तथा द्वाराव-रोध का वर्तमान मुद्रा-प्रणाली से घनिष्ठ संबंध है। मुद्रा के मूल्य की अस्थिरता ने भी इन सामाजिक विक्षोभों को तूल दी है। महँगी के बढ़ने के साथ साथ वेतन-भोगियों का वेतन नहीं बढ़ता। लाचार होकर उनको हड़ताल करनी पड़ती है और हड़ताल में सफल न होकर वे सब कष्ट उनको भुगतने पड़ते हैं जो कि एक युद्ध में पराजित सैनिक भुगतता है। निस्सन्देह मुद्रा ने

जातीयता बढ़ायी है; परन्तु प्रश्न यह है कि यह गुण कहीं दोष तो नहीं? यदि मुद्रा जातीय प्रतीति का स्थान न बन जाती तो विनिमय की रेट का प्रपंच न खड़ा होता और न महायुद्ध के खतम होने पर अन्तर्जातिय व्यापार तथा उस पर अवलंबित जातीय उद्योग-धन्धे इतनी रुकावटें सहते। मुद्रा के भेद से भारत का धन चूसना इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है कि मुद्रा ने जातीयता का अंग बनकर लाभ के सदृश ही नुकसान किया है। श्रमविभाग-विषयक मुद्रा का लाभ भी कुछ कुछ गौण पड़ जाता है जबकि व्यवसाय-पतियों में धन की तृष्णा तथा लोभ न्याययुक्त सीमा का उल्लंघन कर श्रमियों की आर्थिक दासता बढ़ाने में या उनको एकमात्र मशीन बनाने में ही प्रगट होता है।×

इन सब दोषों के होते हुए भी मुद्रा का बहिष्कार समाज के लिए हितकर न होगा। निस्सन्देह साम्यवादी यही चाहते हैं। उन्होंने मुद्रा के स्थान पर श्रमटिकट का चलाना ही उचित समझा है। यदि श्रमटिकट पारस्परिक व्यवहार का साधन हो और ज़रूरत पड़ने पर एक दूसरे को दिया जा सकता हो, तो उसमें तथा पत्र-मुद्रा में नाम का ही भेद रह जाता है। यदि श्रमटिकट में यह बात न हो, तो राजकीय भंडार के अध्यक्ष के द्वारा जनता की स्वतन्त्रता कुछ कुछ नष्ट की जा सकती है। राजकीय कर्मचारियों के अत्याचार, दुर्व्यवहार तथा लोभ का परिणाम भयंकर हो सकता है। जब समस्त जनता को राजकीय भंडारों पर ही आवश्यकीय पदार्थों के लिए निर्भर रहना पड़ेगा, तो भंडारियों की शक्ति बहुत अधिक बढ़ जायगी। सबसे बड़ी बात तो यह है कि किसान तथा कारीगर अपने अपने पदार्थों को मुफ्त में ही क्यों राजकयि भंडार में भेजने लगे? स्वत्व तथा वैयक्तिक लाभ का पदार्थों की उत्पत्ति में बड़ा भाग है। यदि ये दोनों बातें न रहें तो पदार्थों का उत्पन्न करना छोड़ दिया जाय। सारांश यह है कि मुद्रा का बहिष्कार अनुचित है। मुद्रा समाज का जीवन तथा प्राण है। उचित तो यह है कि मुद्रा के दोषों को दूर करने के तरीक़े ढूँढ़े जायँ। इसीमें समाज का हित तथा कल्याण है।+

× कार्ल मार्क्स लिखित "कैपिटल एण्ड कैपिटलिस्ट प्रोडक्शन।"

+ हार्पर लिखित "मनी एण्ड सोशल प्राब्लम्ज़," परि. ३; किंले लिखित "मनी," परि १; ज्यार्ज ट्रकर लिखित "ड्यूटी आव् मनी एण्ड बैंक्स," परि. ३.



* मैना-वध।

(लेखक—पं० रामचरित उपाध्याय)

(१)

नाना साहब धीर वीरवर जग-विश्रुत थे,
थे बिठूर-नभ-सूर्य शौर्य में अंजनि-सुत थे।
शत्रु-संघ के लिए काल से कभी न कम थे,
साधु जनों के लिए शान्त नीरधि के सम थे॥
थी एकमात्र उनकी छता मैना अति नय-नागरी।
दयामयी, शोभामयी, अगणित-गुण-गण से भरी॥

(२)

देख पिता को पगे हुए निज देश-प्रेम से,
स्थिर रखने के लिए उन्हें जग-बीच क्षेम से।
न्याय-मार्ग पर उन्हें अचल रहने कहती थी,
इसीलिए वह कभी कभी दुख भी सहती थी॥
पर पिता-भक्ति उसकी तनिक कभी विचलती थी नहीं।
वह जलती रहती झूठ से, नय से टलती थी नहीं॥

* सर टामस हे की सरकारी रिपोर्ट और १८५७ की छठवीं सितम्बर के "टाइम्स" तथा १८५७ की दसवीं सितम्बर के "हरकारा" पत्र के आधार पर लिखित और श्रीयुत महादेव चिटनवीस के "बाखर" से संकलित। —लेखक

(३)

अँगरेज़ों का रामपाल जासूस बना था,
या होकर वह सिंह लोभ से मूस बना था।
देश रहे परतन्त्र यही शिक्षा उसकी थी,
जगदीश्वर से सदा यही भिक्षा उसकी थी॥
वह नाना साहब का बड़ा घोर शत्रु था, क्रूर था।
अति स्वार्थ-लिप्त था शूर था, देश-भक्ति से दूर था॥

(४)

तो भी देती रही सहारा मैना उसको,
साधुजनों से लाभ नहीं होता है किसको?
गार्डन और हिफेन, रोज़* की रक्षा की थी—
मैना ने ही, धन्य, विपत अपने सिर ली थी॥
था रामपाल का तातिया मीत बना आकूत से।
अहि-नकुल साथ रहने लगे मैना की करतूत से॥

(५)

मैकेयर था फ्रांस देश का डाकू नामी,
हत्यारा था, नर-पिशाच था, निर्दय कामी।
अब्दुल था शैतान-सरीखा सहचर उसका,
मानो था वह बना हुआ दायाँ कर उसका॥
हा! इन दोनों ही ने वृथा प्राण हेलना × का लिया।
था ब्रिटिश राज्य के नाश का प्रण इन दोनों ने किया॥

(६)

मैना ने ही क़ैद कराया उन्हें युक्ति से,
+टोपी से‡ नाना-वैर कराया नीति-उक्ति से।
कभी कभी अनुकूल कम्पनी § के हो करके,
समझाती थी पूज्य पिता को रो रो करके॥
वह कभी किसी के हृदय को दुख पहुँचाती थी नहीं।
वह काम, क्रोध या लोभ के वश में जाती थी नहीं॥

(७)

किन्तु समय है सबल, प्रबल है हरि की माया,
भारत के सिर हाय! अचानक संकट आया।
हुआ सिपाही-गदर घोर सन् सत्तावन में,
सब जन चिन्तित दुखी हुए थे निज निज मन में॥
अगणित मनुजों ने व्यर्थ ही प्राण दिये थे उस घड़ी।
थी खड़ी अनेकों स्थान में बड़ी अराजकता कड़ी॥

* गार्डन साहब की बड़ी लड़की। × गार्डन की छोटी लड़की। + तातिया टोपी। ‡ धुन्धुपन्त नाना साहब। § ईस्ट इंडिया कम्पनी।

(८)

निरपराध नर अमित हताहत हुए समर में,
हा हा रव के साथ त्रास फैला घर घर में।
मारकाट के साहित गये गोले बरसाये,
गये गिराये गेह असंख्यक गये जलाये॥
नर अमित गौर मारे गये अमित श्याम फाँसी चढ़े।
बहु मनुज हुए दण्डित कड़े सहे बहुत ने दुख बड़े॥

(९)

प्रजाजनों का दोष रहा या नृप-पुरुषों का,
पर दोनों में क्रोध भरा था ज्यों बरसों का।
भभक उठी क्रोधाग्नि एक ही क्षण दोनों में,
धर्म-नीति से हीन हुआ फिर रण दोनों में॥
कुछ भारतीय यद्यपि लड़े शेष सभी चुप हो गये।
अविवेक-पंक में भाग्य-वश नहीं सभी थे सो गये॥

(१०)

नाना साहब भगे पता फिर लगा न उनका,
मर्माहत यों हुए भाग्य फिर जगा न उनका।
झटपट उनका गेह गिराया गया तोप से,
स्मृति तक उनकी मनो मिटाई गई कोप से॥
हा! मैना ने इस काम को करने से रोका सही।
पर क्रूर क्रुद्ध के हृदय में सद्विचार आया नहीं॥

(११)

मैना ने बहुभाँति यदपि अरि को समझाया,
धर्म-वाक्य पर हाय! नहीं "हे" के उर भाया।
फिर मेरी † का पत्र उसे सविनय दिखलाया,
नीचा-ऊँचा उसे विविध नृप-नय सिखलाया॥
पर "टामस हे" के हृदय में तनिक दया आई नहीं।
ज्यों सूखे तरु में नम्रता कहीं गई पाई नहीं॥

(१२)

घर को उड़ते देख उड़ी मैना भी घर से,
तुरत कहीं जा छिपी बची निष्ठुर के कर से।
"आउटरम"* ने भलीभाँति खोजा मैना को,
भेजा चारों ओर घोरने निज सेना को॥
पर कर मैना आई नहीं वह हताश मन में रहा।
तो भी "आउटरम" कुछ दिनों बना उसी वन में रहा॥

† मेरी टामस हे की कन्या और मैना की सखी थी।
* एक अंगरेज़ सैनिक।

(१३)

पितृ-गेह का स्नेह रहा मैना को भारी,
कभी रात में प्रेम-बद्ध हो वह बेचारी।
आकर बैठी शोक-तप्त हो निज खँडहर में,
मानों नलिनी मलिन पड़ी हो सूखे सर में॥
फिर कह "हरहर" रोने लगी सह न सकी सन्ताप को।
होकर विरक्त संसार से और भूलकर आपको॥

(१४)

रुदन शब्द सुन शत्रु-संघ तब दौड़ा आया,
अनायास ही तुरत वहाँ मैना को पाया।
उसे बाँध ले गया किले के भीतर बल से,
साधु-कर्म क्या कभी कहीं होता है खल से॥
फिर न्याय-विचारक ने तुरत प्राण-दण्ड उसको दिया।
क्या दया-हीन ने भी कभी दया किसी पर है किया?

(१५)

खंभ में बाँधा शीघ्र उसे निर्दय घातक ने,
मानों धारण किया मनुज-तन को पातक ने।
मैना के चहुँओर गया फिर अनल जलाया,
पल में जलकर भस्म हुई मैना की काया॥
अन्याय-लिप्त इस न्याय को नौकरशाही ने किया।
क्या खासा अपने हृदय का शोक! हमें परिचय दिया॥

(१६)

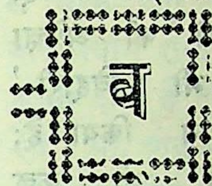
मैना! तुम मर मिटीं, मिटा पर नाम नहीं है,
हुआ नहीं विपरीत कार्य-परिणाम कहीं है।
निरपराध ही यदपि गये थे प्राण तुम्हारे,
दोषी तो भी न थे हुए सम्राट् हमारे॥
हा जग में "जीवित-दग्ध" का दण्ड नहीं तुमको दिया।
अपने सिर अपयश आपही नौकरशाही ने लिया॥



विहारी और देव।

(समालोचना)

(लेखक—लाला भगवानदीन)



हुत दिन हुए जब इटौंजा-निवासी श्रीयुत पं० बालदत्त मिश्र ने 'देव' कृत 'सुख-सागर-तरंग' नामक ग्रंथ की भूमिका में अपनी यह सम्मति प्रकाशित की थी कि 'देव' कवि हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ कवि है। 'विहारी' बेचारे की तो बात ही क्या, उन्होंने 'देव' को सूर, तुलसी, केशव इत्यादि महाकवियों से भी अधिक श्रेष्ठ कहने का साहस किया था। पर इस सम्मति को कितने विद्वानों ने माना सो हमें नहीं मालूम हो सका। हम अपनी कहते हैं कि जब हमने वह राय पढ़ी तब हमने उसे स्वीकार करने में अपने को असमर्थ पाया।

इन्हीं पं० बालदत्त मिश्र के तीन पुत्ररत्नों ने, जिनको इस समय के हिन्दी-साहित्य-सेवी भली-भाँति जानते हैं और जो 'मिश्रबंधु' के नाम से प्रसिद्ध हैं, संवत् १९६७ में 'नवरत्न' नामक ग्रंथ प्रकाशित कराया, जिसमें इन विद्वानों ने हिन्दी के नव कवियों के जीवनचरित लिखे और उनकी कविता की आलोचना भी की। इस ग्रंथ से हिन्दी का उपकार हुआ। इस ग्रंथ में भी इन विद्वान लेखकों ने विहारी की अपेक्षा 'देव' कवि को श्रेष्ठतर ठहराने की चेष्टा की है और 'विहारी' के कुछ दूषण दिखलाये हैं। इन दूषणों का परिमार्जन श्रीयुत पं० पद्मसिंह शर्मा ने अपने 'विहारी की सतसई' (पहला भाग) ग्रंथ में कुछ कुछ किया है। इस 'नवरत्न' नामक ग्रंथ को पढ़कर हमें भी आश्चर्य हुआ था; पर उस समय हमने कुछ लिखना उचित नहीं समझा।

हाल में पं० कृष्णबिहारी मिश्र ने 'देव और बिहारी' नामक एक पुस्तक लिखकर प्रकाशित कराई है। यह पुस्तक बड़े अच्छे ढँग से लिखी गई है। भाषा भी 'नवरत्न' की भाषा से अच्छी है; पर इसमें भी लेखक ने अंत में यही नतीजा निकाला है कि 'बिहारी' की अपेक्षा 'देव' श्रेष्ठतर कवि थे। हमने भी 'बिहारी' और 'देव' के ग्रंथों का अध्ययन किया है; अतः इस विषय में हमें भी कुछ लिखने का अधिकार है। 'बिहारी' बेचारे पर मिश्रगण ने तीन पुश्त से लगातार चढ़ाई बोल दी है। एक 'बिहारी' पर चार चार बिहारियों का धावा देखकर बेचारा हिन्दी-साहित्य-संसार घबड़ा उठा है। लखनऊ प्रान्त के निवासी बिहारियों ने रसिकराज कृष्ण की जन्मभूमि मथुरा नगर के निवासी 'बिहारी' की कविता को हलकी ठहराकर 'देव' पर बेतरह आसक्ति दिखाई है, यह देखकर सबको आश्चर्य हो, तो अनुचित नहीं है। अतः हमने उचित समझा कि इस विषय में हम भी अपना मत प्रकट कर दें, शायद लोगों का आश्चर्य कुछ कम हो जाय।

हम अपने इस लेख को तीन मुख्य भागों में बाँटेंगे। पहले भाग में हम 'बिहारी पर चार बिहारियों द्वारा लगाये हुए दोषों का निराकरण करेंगे। साथ ही यह भी दिखलाते जायँगे कि वे ही दोष 'देव' की कविता में बहुतायत से मौजूद हैं। दूसरे भाग में हम यह दिखलायँगे कि मिश्रबंधु वा बिहारी-चतुष्क ने 'देव' और 'बिहारी' को कितना समझा है। तीसरे भाग में देव-कृत अक्षम्य दूषणों का दिग्दर्शन कराते हुए अपना सिद्धान्त प्रकट करेंगे। एक एक भाग में कई लेख होंगे। पाठकगण से निवेदन है कि घबड़ावें नहीं, धैर्य-पूर्वक पढ़ते जावें और अंत में जो उनका चित्त कहे वह सिद्धान्त निर्धारित कर लें। चाहे बिहारी को श्रेष्ठ मानें और चाहे देव को—हमें किसी से कुछ मिलना नहीं है। मगर इस लेख में लिखी हुई बातोंको यदि आप अच्छी भाँति समझना चाहते हैं तो मिश्रबंधु कृत नवरत्न, बिहारी-सतसई, और देवकृत सुजान-विनोद, रसविलास, सुखसागरतरंग, प्रेमचंद्रिका, अष्टयाम, रागरत्नाकर तथा पं० कृष्णबिहारी कृत 'देव और बिहारी' अपने निकट रख लीजियेगा। नवरत्न वही प्रथम एडीशनवाला, 'बिहारी' सतसई वही हरिप्रकाश टीका की, और सुजान-विनोद, प्रेमचंद्रिका और रागरत्नाकर, नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी, द्वारा प्रकाशित; रसविलास और अष्टयाम भारतजीवनवाला एडीशन, और सुखसागर-तरंग वही प्रथम एडीशन की। बस, इतने से काम चल जायगा और आप समझ जायँगे कि 'बिहारी और देव' इन दो में से कौन श्रेष्ठतर है।

अच्छा, यदि उपर्युक्त सामग्री आपके पास एकत्र हो गई हो, तो अब 'नवरत्न' पुस्तक उठाइए और उसका २२६ वाँ पेज देखिए। यहाँ मिश्रबंधुओं ने बिहारी के दोष दिखलाये हैं। **पहला दोष** यह दिखलाया है कि "छाकु, उड़ायक, आदि पद इन्होंने बना भी लिये हैं।" हम कहते हैं कि यदि यह दोष है, तो इस दोष के दोषी 'देव' भी हैं और बिहारी से कहीं अधिक दोषी हैं। बिहारी के बनाए हुए शब्दों का पता तो सरलता से चल जाता है और तुरंत अर्थ भी लग जाता है। देव ने तो ऐसे शब्द गढ़े हैं कि उनका पता और अर्थ लगाना बहुत कठिन हो जाता है। उदाहरण लीजिए:—

विद्योत = विदित (प्रे. चं. पन्ना २, छंद ६)। रिख्यो = रेखांकित किया हुआ। बिख्यो = विषसा (प्रे. चं. पन्ना १८, छंद २४)। लुभिरह्यो ॥ लोभाय रहा (प्रे. चं. पन्ना २२, छंद ३९)।

उतरायल = उतायल, आकुल (प्रे. चं. पन्ना २५, छंद ४७) गाढ़ति = कड़ाई सखती (प्रे. चं. पन्ना ३५, छंद २४) लुही = लुभी हुई (प्रेम. चं. पन्ना ३६, छंद २६) विलासरो = विलास (प्रे चं. पन्ना ५१, छंद १८)

उदाहरण लेकर देखिए (प्रे. चं. पन्ना ३५, छंद २४)

देवजू दे चुकी कंचन सो तन लै चुकी पंचन की गुरु गाढ़ति ।

यहाँ 'गाढ़ति' शब्द का अर्थ है कड़ाई, सखती । देवजी की गढ़ंत का नमूना है ।

(देखिये प्रे. चं. पन्ना ३६, छंद २६)

घरिकै वह आजु अकेले गई खरिकै हरिकै गुन रूप लुही ।

(देखिये प्रे. चं. पन्ना ६८, छंद ६३)

देव दीनबंधु दयासिंधु सिंधुरादि के
सहाय ह्वै अबंधु की मदंधता गुभाई है ।

(देखिये सुजानविनोद, पन्ना ७०, छंद ३१)

मारगु न सूझत अरूझत सुमारग न
बूझत न देव कोई गूझत न गात है ।

ऊपर लिखे इन दोनों उद्धरणों में 'गुभाई' और 'गूझत' का अर्थ पाठक निकालें । ये शब्द 'गुह्य' से निकले हुए हैं । सुजानविनोद का यह छंद देखकर पाठक प्रसन्न हों और देव की शब्द-गढ़ंत शक्ति की दाद दें:—

पीछे पीछे डोलत हैं सामुहे ह्वै बोलत है
खोलत है घूंघट सुग्रानन पुखोत है ।
पग पग मग में बिछाय प्रेम पाँवड़े से
धोखे हूं न भूले देखादेखी में धुखोत है ।
देव सखियान की सिराई अँखियान ऐसे
निसदिनु देखि अनदेखे हूँ दुखोत है ।
इन्दुवदनी के नीके इन्दु से वदन अर-
विंद है गुविंद अरविंदनि सुखोत है ।

इसमें पुखोत है=पुखता करता है वा पोषता है, धुखोत है=धोखा देता है, दुखोत है=दुख होता है, सुखोत है=सुखाता है—यही अर्थ है

या और कुछ, हमने तो ये शब्द कहीं अन्यत्र नहीं पढ़े । जब देवजी ऐसे शब्द बनाकर भी सर्वश्रेष्ठ कवि ठहराये जाते हैं तो बेचारे विहारी ने कौनसा अक्षम्य पाप कर डाला जो छकना से छाकु और 'उड़ाना' से 'उड़ायक' बना लिया। यदि नवीन शब्द बनाने के लिए विहारी एक आना दोषी हैं तो 'देव' सोलह आने दोषी ठहरेंगे । यह बात उनके ग्रंथ ही कह रहे हैं ।

दूसरा दोष जो विहारी पर लगाया गया है (नवरत्न, पन्ना २२६) वह स्वयं मिश्र-बंधुओं का ही दोष है । आप लिखते हैं:—"एकाध स्थान पर इन्होंने असमर्थ शब्द भी कहे हैं; यथा, 'दीजतु' और 'ज्यों'—

"सबहितु बितुही ससिउदै दीजतु अरघ अकाल" ।
"जात जात ज्यों राखियत पिय को नाम सुनाय" ।

यहाँ 'दीजतु' से 'देवेंगी' या 'देती हैं' का और 'ज्यों' से 'ज्यों त्यों' का अर्थ लिया गया है; पर ये शब्द ये अर्थ पूर्णतया प्रकट करने में असमर्थ हैं" ।

नहीं, मिश्रबंधु जी, आप ज़बरदस्ती कर रहे हैं । जान-बूझकर आप विहारी को बदनाम कर रहे हैं । आपने प्रभुदयाल पांडेय वाली टीका से अशुद्ध पाठ लिया है। विहारी-सतसई पर जितनी टीकाएँ लिखी गई हैं उनमें से पांडेयजी की यह पुस्तक महाभ्रष्ट है; न तो पाठ शुद्ध है, न टीका ही । उसीसे आपने पाठ लिया है । अन्य प्रतियों में देखने की तकलीफ़ ज़रा भी नहीं उठाई । ज़रा 'हरिप्रकाश टीका' वा 'विहारी-विहार' पर नज़र डाल लेते तो आपका भ्रम दूर हो जाता । इनमें 'दीजतु' के स्थान पर 'दे हैं' शुद्ध पाठ छपा हुआ है । 'ज्यों' का अर्थ करने में भी ज़बरदस्ती । हरिप्रकाश टीका में 'ज्यो' और 'विहारी—विहार' में 'जिय' शुद्ध पाठ मौजूद है । पर आप की तो मंशा है किसी प्रकार विहारी को 'देव' के मुकाबिले में नीचा

दिखाना; फिर भला आप शुद्ध पाठ क्यों ढूँढ़ने लगे। विहारी के शब्दों में चाहे असमर्थ दोष हो वा न हो; पर 'देव' के कम से कम एक दर्जन शब्दों में हम असमर्थ दोष दिखलाते हैं। पाठक, हम एक दर्जन शब्द नंबर देकर लिखते हैं। आप अर्थ बतलाइए, तो शब्दों का सामर्थ्य प्रमाणित हो जाय। यदि आप अर्थ न बतला सकें तो आपको मानना पड़ेगा कि वे शब्द अपना अर्थ बतलाने में असमर्थ हैं। लीजिए —

(१) उराह (२) अचान (३) जरा (४) सरीक में (५) ऊष (६ हेंउत (७) निधर (८) निरधार (९) गहिरी (१०) बावस (११) चाड़िली (१२ रोत, खोत। कहिए पाठक! कोई शब्द समझे। शायद दो एक समझ में आगये हों। या तो ये शब्द असमर्थ हैं या आपकी बुद्धि असमर्थ है। अच्छा, अब ज़्यादा हैरान मत हूजिये। 'देव' जी ने जिस शब्द को जिस अर्थ में लिखा है वह भी सुन लीजिए-(१) उराह=उराहना (प्रे. चं. पन्ना १०, छंद ४४), (२) अचान=अचानक (प्रे. चं. पन्ना १७, छंद २१), (३) जरा=जाल (प्रे. चं. पन्ना १९, छंद २६), (४) सरीक में= सखियों में (प्रे. चं० पन्ना ३५, छंद २४, (५) ऊष=उषःकाल (राग. र. पन्ना ४, छंद ११), (६) हेंउत=हेमन्त सु. वि. पन्ना ८४, छंद ४१, तथा पन्ना ८५, छंद ४४ तथा देव और विहारी' पन्ना ११३, (७) निधर=निधड़क (प्रे. चं. पन्ना ६८, छंद ६१), (८) निरधार=निराधार (प्रे. चं. पन्ना १३, छंद ५२), (९) गाहिरी=बहुत अधिक (सुजानविनोद, पन्ना ३५, छंद २०)

(नोट) 'गहीर' शब्द को देव ने (१) बहुत, अधिक (२) सुन्दर (३) गहरा इत्यादि अनेक अर्थों में मनमाना प्रयोग किया है।

(१० : बावस = अर्थ नहीं मालूम हो सका (देखिये देव और विहारी, पन्ना ११३)

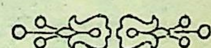
(११) चालिड़ी = (?)

(नोट)— मिश्रबंधु स्वीकार करते हैं कि यह शब्द व्यर्थ है (देखो नवरत्न, पन्ना २०८)

(१२) रोत, खोत = रोता है, खोता है (देखो सु. वि. पन्ना ३९, छंद २८)

पाठकों को जानना चाहिए कि ये एक दर्जन शब्द तो हमने नमूने के तौर पर दिखलाये हैं। इनकी सारी कविता में इसी प्रकार सैकड़ों शब्द व्यर्थ वा असमर्थ भरे पड़े हैं और यह सब अनर्थ देव ने यमक के लिए किया है। 'विहारी' ने कोई भी शब्द व्यर्थ वा असमर्थ नहीं लिखा, हम दावे से कहते हैं। यदि तलाश से विहारी के कोई असमर्थ शब्द मिल भी जायँगे तो हमें विश्वास है कि वे तुलना में इतने असमर्थ कदापि न होंगे जितने 'देव' के अनेक शब्द हैं।

[क्रमशः]



अमरीका का एक गुप्त समाज।

(लेखक—श्रीयुत सन्तराम, बी० ए०)

अमरीका के संयुक्त राज्यों में एक गुप्त समाज बना हुआ है। इसके सदस्य रात के समय लोगों पर अचानक आ टूटते हैं। उनके वस्त्र सफ़ेद होते हैं और मुँह पर एक नक़ली चेहरा चढ़ा होता है ताकि पहचान में न आवें। संयुक्त राज्यों के सहस्रों लोग इस गुप्त समाज से त्रस्त होकर अशान्त रहते हैं। इस विचित्र

रहस्यमय, गुप्त समाज का नाम कु-क्लक्स-क्लान (Ku-Klux-Klan) है। अभी हाल में दो व्यक्ति इसके शिकार हुए हैं। इनमें से एक तो टेक्सास की श्रीमती ब्यूलाह जॉनसन हैं और दूसरे फ़िलिप एस० डर्विन नामक एक पादरी।

श्वेत-वस्त्रधारी मनुष्यों की एक टोली श्रीमती जॉनसन को उठाकर ले गई और उसके शरीर पर डामर लगाकर उसे पक्षियों के परों से मढ़ दिया। श्रीयुत डर्विन भी इसी प्रकार चुराये गये थे और उनकी भी ऐसी ही दुर्गति की गई थी।

इन दोनों व्यक्तियों ने इस गुप्त समाज की दृष्टि में कोई अपराध किया था। इस समाज की संगठन-संहिता का प्रधान सिद्धान्त अन्य लोगों का कालों पर आधिपत्य और इनके अपने बनाये हुए आचार-शास्त्र के नियमों का पूर्ण रीति से पालन कराना है।

इस समाज के सभी काम बहुत ही गुप्त रहते हैं। इसका संगठन बहुत बड़ा है। इसकी शक्ति मुख्यतः काले लोगों के विरुद्ध कार्य करती है। इसलिए अमरीका के काले अधिवासी, विशेषतः ऐसे लोग जिन्होंने कोई अपराध किया हो, इस गुप्त दल से बड़े भयभीत रहते हैं। जहाँ कहीं काले और गोरों में आधिपत्य के लिए युद्ध होने लगता है यह समाज झट गोरों की सहायता के लिए चुपचाप वहाँ पहुँच जाता है। ये लोग ऐसी गुप्त रीति से और यथाविधि कार्य करते हैं कि न उन्हें कोई देख पाता है और न किसी को इनके आने की ख़बर ही होती है। बदला लेने के काम में इस समाज को कचित् ही विफलता होती है।

"कु-क्लक्स-क्लान" के काम करने की रीतियाँ बहुत ही पाशविक हैं। अमरीका की घरेलू लड़ाई के दिनों में यह समाज क़ानून द्वारा दबा दिया गया था; परन्तु पिछले कुछ वर्षों में यह फिर जीवित हो गया है और इसने दूर दूर तक अपना जाल फैला लिया है। यह अमरीका में गोरी जाति का चिरस्थायी और शाश्वत शासन तथा प्राधान्य चाहता है। इसकी सारी निर्दय शक्ति गोरी जाति के इस प्राधान्य को क़ायम रखने में ही लगती है। इसका एक और भी बड़ा उद्देश्य है। यह समाज स्त्रियों के सम्मान और घर की पवित्रता का बड़ा ध्यान रखता है।

यह गुप्त दल प्रायः रात को ही अपना कार्य करता है। यह अपने काम में कभी चूकते नहीं देखा गया। निश्चय को दृढ़ करके यह अन्त तक यत्न करता रहता है और जब तक अभीष्ट सिद्ध न हो जाय बराबर डटा रहता है। बहुधा अपराधी को मार कर ही यह विश्राम लेता है।

जहाँ कहीं किसी काले मनुष्य द्वारा किसी गोरी स्त्री का अपमान हुआ या अपमान होने की आशंका हुई वहाँ तो इस समाज के सदस्यों में आश्चर्य-जनक फुर्ती और सर्वज्ञता आ जाती है। इसलिए इसके सदस्य 'क्लान उकाब' कहलाते हैं। आगे दी हुई घटना से इन उकाबों की कार्य प्रणाली का अच्छा उदाहरण मिल जायगा। किसी एटलाण्टन होटल में एक बूट बनाने वाले नीग्रो लड़के ने एक गोरी स्त्री का अपमान किया। वह समझता था कि मेरे इस दुष्कर्म का किसी को पता नहीं लगेगा; परन्तु शीघ्र ही उसे उसका कुफल भोगना पड़ा।

आधी रात के समय मुख पर चेहरा लगाये हुए मनुष्यों का एक दल उसे बिछौने पर से उठा कर ले गया। उसे स्टोन पहाड़ की ढाल पर ले गये वहाँ पहुँचकर उससे कहा गया कि तुम्हें पाँच मिनिट का अवकाश दिया जाता है, या तो शपथ लो कि मैं जीवन भर फिर कभी किसी भी गोरी स्त्री से किसी प्रकार का मेलजोल न रखूँगा, नहीं तो तुम जीते जला दिये जाओगे। भय से काँपता हुआ नीग्रो लड़का पैरों पर गिर पड़ा और उसने शपथ ली। तब जिस रहस्यमयी रीति से वे लोग आये थे वैसे ही अन्तर्हित हो गये।

प्रत्येक नीग्रो कु-क्लक्स-क्लान के नाम से डरता है। इसका नाम सुनते ही वह काँपने लगता है। वह जानता है कि यह दल प्रत्येक काम को पूरी तरह से सिद्ध करके ही छोड़ता है।

अभी थोड़े ही दिनों की बात है कि एक दक्षिणी ग्राम में एक घुड़-सवार क्लान का भयोत्पादक वेश पहने हुए आया। उसके चेहरे से यमदूत की सी यह आवाज निकली कि "कुछ ही मिनट में गम्भीर और दृढ़ निश्चय वाले मनुष्यों का एक दल आयगा। कोई व्यक्ति उनके पीछे न आवे।" तब दूर से मेघ-गर्जन का सा शब्द सुनाई दिया। यह क्रमशः उच्चतर होता गया। अन्त को उस एकत्रित जन-समूह की विस्मित दृष्टि के सामने रात को चढ़ाई करनेवाले क्लान के दो सौ अश्वारोही आ उपस्थित हुए। प्रत्येक मनुष्य अपने समाज की वर्दी पहिने, मुख पर चेहरा चढ़ाये, और भारी शस्त्र-अस्त्र से सुसज्जित था।

ग्राम के बड़े द्वार की मेहराब पर लेम्प जल रहे थे। उनसे वायु में धुवाँ फैल रहा था। ज्योंही वह दल द्वार के नीचे से गुजरा लेम्प एकदम बुझ गये। जब वे चले गये तब फिर प्रकाश हो गया। यह उनकी शक्ति और अधिकार को स्वीकार करने का चिह्न था। दूसरे दिन अनरीति करने वाला प्रत्येक नीग्रो नगर की सीमा छोड़ कर भाग गया!

अमरीकन सरकार ने इस प्रकार के एक ही गुप्त समाज को स्वीकार किया है यह क्लान-समाज पहले पहल सन १८६६ ई० में स्थापित हुआ था और पीछे से इसका अस्तित्व मिटा दिया गया था; परन्तु दक्षिण में इसका भाव नहीं मरा था, और जब समय आया यह फिर जागकर कार्य करने लगा। इस बार इसका बल और दृढ़ता और भी बड़ी हुई है।

क्लान की शक्ति कितनी महान् है इसका उचित रूप से अंदाजा तभी लग सकता है जब मनुष्य इस समाज की शाखाओं और प्रतिशाखाओं से मेल-मिलाप करे। फिर भी, कम से कम इसकी उच्च स्थिति का कुछ पता इस बात से लग जाता है कि इसके दल में अमरीका के उच्चतम जन, कांग्रेस के मेम्बर, बड़े बड़े पादरी, तथा अन्य प्रभावशाली मनुष्य हैं; किन्तु उनके नाम गुप्त रक्खे जाते हैं।

यद्यपि सभी लोग यह जानते हैं कि इसी संस्था के साथ ऐसे ऐसे उच्चपदस्थ लोगों का संबंध है; पर लाखों सदस्यों में से आज तक संसार को केवल एक ही "ड्रैगन" का नाम मालूम हो सका है। यह मनुष्य एटलाण्टा के लोवयर विश्वविद्यालय में दक्षिणी इतिहास का



"कु-क्लक्स-क्लान" समाज का सदस्य
अपने भयोत्पादक भेष में।

शारदा प्रेस, जबलपुर में छपा।



प्रोफ़ेसर है। इसका नाम कर्नल विलियम जे० सिम्मन्स है। यह "राजकीय जादूगर" (Imperial wizard) के नाम से विख्यात है।

कहते हैं कि क्लान दल ने अनेक बार काले नीग्रो लोगों का बड़ी निर्दयता से रक्त-पात किया है। यह भी कहते हैं कि रातों को चढ़ाई करके इस दल ने नीग्रो जाति पर अमानुषिक अत्याचार किये हैं; परन्तु कर्नल सिम्मन्स इस दोष को स्वीकार नहीं करते। वे कहते हैं कि समाज को चाहिए कि इन कलंकों से साफ़ इन्कार करदे। उनके कथनानुसार, 'गला काटने वाले और घातक होने के स्थान में लोग उच्चकोटि के मनुष्य थे और मनुष्यों तथा सम्पत्ति की रक्षा के लिए कार्य करते थे।"

अनेक स्थानों में जहाँ रीति के विरुद्ध लोगों को दण्ड मिला है वहाँ सारा दोष क्लान के मत्थे मढ़ा गया है; परन्तु यह समाज क़ानून और व्यवस्था के विरुद्ध जो कोई बात है उसे स्वीकार नहीं करता। किन्तु जहाँ क़ानून असमर्थ और उसकी गति बहुत धीमी समझी जाती है वहाँ हस्तक्षेप करने से क्लान बिलकुल नहीं झिझकता।

हाल ही में एक नीग्रो ने दूसरों के साथ मिलकर पुलिस के एक सिपाही को मार डाला। यह सिपाही अर्कंसास में एक जुए-खाने पर छापा मारने गया था। इस मुक़द्दमे में जो दूसरे नीग्रो पकड़े गये थे उनके साथ ही वह प्राणघातक नीग्रो भी स्थानीय जेल में रक्खा गया। अकस्मात् कोई तीन सौ मनुष्य कहीं से वहाँ आ प्रकट हुए। उन्होंने बड़े विनीत भाव से जेलर से तालियाँ माँगी जेलर ने भी जो सम्भवतः स्वयं क्लान समाज का सदस्य था, वैसे ही विनीत भाव से पहले उस दल से प्रार्थना की कि क़ानून को अपना काम करने दीजिए; पर फिर उसने तालियाँ उन्हें दे दीं।

दल के मुखिया निःसंकोच भाव से क़ैदियों की कोठारियों के पास गये। जाते ही उन्होंने ताले खोले, और बाकी नीग्रो क़ैदियों को छोड़कर केवल उसी मनुष्य को पकड़ लिया जिसने पुलिस के सिपाही की हत्या की थी। वे उसे बाहर खींच लाये, और तार के एक खम्भे पर उन्होंने उसे फाँसी दे दी।

फिर भी क्लान समाज केवल काले लोगों के विरुद्ध ही कार्य नहीं करता स्त्रियों की रक्षा में वे जिस किसी को भी, चाहे वह काला हो या गोरा, अपराधी समझते हैं उसे दण्ड देते हैं।

यह समाज भूल कभी नहीं करता। प्रायः किसी लोकोत्तर प्रत्यादेश के द्वारा यह बड़े ही अटल निश्चय के साथ कार्य करता है। इससे दुष्कर्म करने वाले सभी लोग भयभीत रहते हैं। जहाँ कहीं क्रूर और निर्दय अत्याचार हुए हैं वहाँ यह साफ़ तौर पर सिद्ध हो गया है कि इसमें इस समाज के सदस्यों का कोई हाथ न था ऐसे अपराधों के करने वाले क्रूर-कर्मा आततायियों के दल हैं जो झूठ-मूठ क्लान का भेष धारण कर लेते हैं।

"वाईड वर्ल्ड मेग्ज़ीन" नामक पत्र की अगस्त की संख्या में इस विषय पर लिखते हुए श्री० शॉ डेस्माण्ड ने लिखा है कि इन्हीं अत्याचारों को देखकर 'राजकीय जादूगर' ने यह घोषणा निकाली है—

'भूमण्डल के लोगो, सावधान ! सावधान !! कु-क्लक्स क्लान एक और केवल एक ही है। इसलिए इस नाम की प्रत्येक दूसरी संस्था से विषैले साँप की तरह बचो। हम आपको सतर्क करते हैं। सावधान !"

"कु-क्लक्स-क्लान" का नवीनतम रूप अपराधियों को गरम लोहे से दागना है।

कुछ सप्ताह हुए, चेहरे लगाये हुए कुछ लोगों का एक दल अलेग्ज़ेण्डर जॉनसन नामक एक नीग्रो के घर गया। यह लड़का टेक्सास के अन्तर्गत डालस नगर के एक होटल में घंटी बजाने के काम पर नौकर था। इसने कु-क्लक्स-क्लान की आचार-संहिता के विरुद्ध कोई अपराध किया था। उन लोगों ने आते ही चुपचाप उस लड़के को उठाकर एक तेज़ दौड़ने वाली गाड़ी में रख लिया और वे बिना लेम्प जलाये ही झटपट किसी एकान्त स्थान की ओर चले गये।

जब तक वे अपने ठिकाने पर पहुँचे तबतक वह लड़का मारे डर के पागल सा हो गया। उसके बार बार दीन भाव से प्रार्थना करने पर भी, उन्होंने उसे एक वृक्ष से बाँध दिया और फिर चूतड़ों तक नंगा करके एक बलवान् मनुष्य ने बड़े ज़ोरों से उसको पच्चीस बेंत मारे और तेज़ाब की एक बोतल निकाल कर उसके माथे पर अमिट रूप से "कु-क्लक्स-क्लान" छाप दिया गया।



वैधव्य-वेदना।

(लेखक—श्रीयुक्त भगवन्त गणपति गोइलीय)

(१)

हे नाथ, तुम कहाँ हो, कुछ तो पता बताओ,
मिलते नहीं कहीं हो।
किस पंथ से मिलोगे हे कंत, आ जताओ;
क्या तुम यहीं कहीं हो?

(२)

मैं थी अबोध बाला, यदि दोष हो गया था;
उसको विसार देते।
जल-मग्न तो न होती, यदि ज्ञान खो गया था;
कर को पसार देते॥

(३)

मझधार डूबती हूँ, तुम पार पा गए हो;
समवेदना कहाँ है।
गरजे बिना अहो घन, बिजली गिरा गए हो;
नित वेदना यहाँ है॥

(४)

या तो लगूँ किनारे, या शीघ्र डूब जाऊँ;
यह प्राण खल रहा है।
अपनी-करुण कहानी, आकर कहाँ सुनाऊँ;
संसार जल रहा है॥

(५)

जो शान्ति है कहीं तो प्रियतम-चरण-शरण में;
मिलना सरल नहीं है।
है सुख नहीं तनिक भी मैं जानती मरण में;
लाओ गरल कहीं है?

हिन्दी-साहित्य का भय-स्थान

(लेखक—श्रीयुत इन्द्र, विद्या-वाचस्पति)



किसी भाषा का स्थायी गौरव न सामयिक पुस्तिकाओं से है और न समाचार पत्रों से। लोग सामयिक पुस्तिकाओं या समाचारपत्रों को एक बार पढ़कर रद्दी की टोकनी में फेंक देते या

फाड़कर अलमारी में बिछा लेते हैं। अच्छे से अच्छे सामयिक पत्र भी जिस जल्दी से लिखे जाते हैं, उसी जल्दी से पढ़ जाकर रख दिये जाते हैं। लिखने वाला जानता है कि पाठक मेरे लेख को किसी फुर्सत के समय पढ़ेंगे, इस कारण वह फुर्सत के समय ही लेख लिखता है। उधर पढ़ने वाले भी पहिचानते हैं कि लेखक महाशय ने अपने पेशे से मजबूर होकर, या सम्पादक के अत्यन्त अनुरोध से विवश होकर, अथवा खाली समय को सहूलियत से टालने के लिए लेख लिखा है। अतः वे भी लेख पर नज़र दौड़ाते हैं और उसे भी सम्पादक या लेखक पर कृपा समझते हैं।

सामयिक पोथियों सामयिक पत्रों या दैनिक पत्रों से राष्ट्रीयता में बड़ी सहायता मिलती है। किसी प्रकार का भी आन्दोलन करना हो तो आजकल इनके बिना काम नहीं चलता। यह मानकर भी हम यह कहेंगे कि साहित्य का स्थिर कोष कोई दूसरा ही है। यह सब तो चलतू खाता है, जिसपर न सूद आता है, और न भावी सन्तान को कोई भरोसा है। चलतू हिसाब पर बहुत लम्बी आशाएँ नहीं बाँध सकते।

साहित्य का स्थिर कोष काव्य, नाटक, उपन्यास और दार्शनिक ग्रन्थ हैं। इनमें से काव्य, नाटक और उपन्यास साहित्य का ललित अंश है। लेख-शैली उत्पन्न करना, नये नये मुहाविरों और अनमोल उक्तियों का उद्भावन, यह सब ललित साहित्य द्वारा, सहूलियत से, हो सकता है; गम्भीर लेख-शैली दार्शनिक ग्रन्थों से बनती है। साधारण लोगों की लेख-शैली ललित साहित्य और दार्शनिक लेख-शैलियों का मेल होती है। यह स्मरण रखना चाहिए कि सामयिक साहित्य में यह शक्ति नहीं है कि वह किसी साहित्य को दृढ़ पायों पर खड़ा कर सके। वह भाषा का प्रयोग है, निर्माण नहीं। प्रयोग भी अभ्यास है, और अभ्यास में उन्नति करने की शक्ति है; परन्तु जो पहले पर्याप्त तय्यारी कर चुका हो, वही अभ्यास से दृढ़ता उत्पन्न कर सकता है, दूसरा नहीं। ब्रह्मचर्याश्रम में शक्तियों का संचय किया जाता है, और गृहस्थ में उसका उपयोग। जिसने संचय के बिना उपयोग आरम्भ कर दिया वह उस विलासी पुरुष के समान है जिसकी धरोहर में कुछ नहीं है जो आता है उसे खा जाता है। जिस भाषा में स्थायी साहित्य उत्पन्न नहीं हुआ, और पहले से व्यय आरम्भ हो गया है उसकी पुष्टि नहीं हो सकती।

यह हिन्दी का दुर्भाग्य है कि वह संचय से पहिले ही व्यय के लिए बाधित हुई है। हिन्दी के कुछेक प्रारम्भिक लेखकों के पीछे मौलिक साहित्य उत्पन्न करने का यत्न नहीं हो सका। हिन्दी के विद्वान्, पुराने सेवक और पूज्य महानुभाव क्षमा करें। इन शब्दों में उनके प्रति किसी अपमान का व्यंग्य नहीं है। हिन्दी के सुलेखकों का परिश्रम शतमुख से प्रशंसनीय है; परन्तु जिस मनुष्य ने भाषा पर ऐतिहासिक दृष्टि से विचार किया है वह दो बातें देखकर दुःखित होता है।

प्रथम बात यह है कि हिन्दी में स्थायी साहित्य बहुत ही कम उत्पन्न हुआ है। ऐसे प्रतिभाशाली लेखक बहुत ही कम हुए हैं जिनका सिक्का सब ने माना हो। भारतेन्दु को छोड़कर, और कोई कवि या उपन्यास-लेखक ऐसा नहीं है जिसकी लेख-शैली के सामने सब सिर झुकाते हों। भारतेन्दु के लिखने का ढंग निराला है, नया है। उनके पीछे किसी ने बँगला के उपन्यास का अनुवाद किया, तो बँगला-हिन्दी लिख डाली; और किसी ने मराठी के काव्य का अनुवाद किया, तो मराठी-हिन्दी घसीट दी। साहित्य का स्थिर और उच्च भाग प्रायः अनुवाद से बना। कोई आदमी

पराई वस्तु से उतनी ही देरतक मालदार हो सकता है जितनी देरतक वह उस वस्तु के परायेपन को छिपा सके। दूसरे के बच्चे को गोद में लेकर पुत्रवान् बनने का सन्तोष चाहे भले ही कर लो, पर उससे पितृ-ऋण उतरना कठिन है।

हिन्दी साहित्य के सम्बन्ध में दूसरी बात, जो खटकती है, वह है कि उसे बहुत शीघ्र, तय्यारी से पहले ही सामयिक आन्दोलन ने आ दबाया है। इससे पूर्व कि वह काव्य, नाटक, उपन्यास, दार्शनिक और ऐतिहासिक ग्रन्थों से सुसज्जित होती, वह समाचारपत्रों की भाषा बन गई है। अभी ऐसे ग्रन्थ नहीं बने, जिनमें लोग नई लेख-शैली और मौलिक विचार-शक्ति खोजने के लिए प्रवेश कर सकें। प्राचीन काव्य के ग्रंथों की भाषा दूसरी है, उनका वायुमंडल भी भिन्न था। उनसे हम आजकल के योग्य स्फूर्ति नहीं ले सकते। अर्वाचीन समय में, खड़ी बोली का प्रयोग करनेवाले कुछ आदि पुरुषों को छोड़कर आगे जितने बड़े बड़े नाम ढूँढ़िये सब समाचार-पत्रों से सम्बन्ध रखते हैं। बाबू बालमुकुन्द गुप्त, पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी, बाबू श्यामसुन्दरदास आदि महानुभाव अपनी साहित्य-सेवाओं के लिए ही विख्यात हैं। बाबू मैथिलीशरण गुप्त आदि हमारी भाषा के सामयिक कवि हैं। पंडित रूपनारायण पाण्डेय आदि महानुभाव हमारी भाषा के उत्कृष्ट अनुवादक हैं। मिश्र-बंधु और उनके ढंग के अन्य लेखकों की लेख-शैली शायद ऐसी नहीं है कि उसे पढ़कर कोई विद्यार्थी उत्तम भाषा लिखना सीख ले। सारांश यह कि हमारे पास सब कुछ है, केवल मौलिक साहित्य के लेखक और स्थायी कोष के निर्माता नहीं हैं। यही हिन्दी-साहित्य का भय-स्थान है।



भारतीय नारी-समाज का निर्वाचनाधिकार।

(लेखिका—श्रीमती हेमन्त कुमारी चौधुरानी)



भारत में नवयुग का आरम्भ हुआ है। पराधीन जाति स्वाधीनता-लाभ के लिए जाग रही है। क्या स्त्रियों को इस देश-व्यापिनी जागृति ने स्पर्श नहीं किया? भारत में '**स्वराज**'--प्राप्ति की आशा से पुरुष-समाज का हृदय आशा और आनन्द से उत्फुल्ल हो रहा है। क्या नारी-समाज को उस आनन्द का भाग नहीं मिलेगा? बङ्गीय कवि ने सत्य ही गाया है—"ना जागिले सब भारत ललना ए भारत आर जागेना जागेना"। आज इस शुभ जागरण के दिन में भारतमाता के सुपुत्र-गण अपनी माता, भगिनी, कन्या और सहधर्मिणियों को भूल नहीं सकते। भारत के प्रसिद्ध दो प्रदेशों ने नारियों को पुरुषों के साथ क्या सामाजिक क्या राजनैतिक दोनों अधिकार देना स्वीकार कर लिया है। बम्बई प्रदेश ने तो और भी ज्वलन्त दृष्टान्त दिखा दिया है। परहितव्रतधारिणी श्रीमती रमाबाई रानडे (स्वर्गवासी जस्टिस रानडे की धर्म्मपत्नी) को वहाँ की लेजिस्लेटिव कौन्सिल की सदस्या चुना है। इस कार्य में क्या यूरोपियन और क्या भारतीय सभी सभ्यों ने बड़े गौरव के साथ अपनी सम्मति दी। हमें आशा है कि श्रीमती रानडे अपने धर्म्मशील जीवन के द्वारा देशसेवा में जिस प्रकार लगी हैं, वैसे ही उन्हें और भी अधिक देशोन्नति में भाग लेने का

अवसर मिलेगा और वे देश के दीन-दुखियों का पक्ष ग्रहण करके नारी-जाति का गौरव बढ़ावेंगी। पूना में श्रीमतीजी का निवास और विशाल कार्यक्षेत्र है। जेलखाने के घृणित क़ैदियों को धर्म्मकथा सुना वे उनकी आत्माओं को शान्ति देकर सुपथ दिखाती हैं। वे स्त्री-जाति की सर्व प्रकार से उन्नति की चेष्टा करती हैं। स्त्री-शिक्षा के विस्तार में अपना अमूल्य समय देती हैं। आदर्श ब्रह्मचारिणी बनकर सबके हृदय में भक्ति और श्रद्धा का संचार करती हैं। हम बड़े आनन्द के साथ बम्बई-प्रदेश-वासिनी बहिनों को इस गौरव के लिए बधाई देते हैं। हमें आशा है कि अन्यान्य प्रदेशों में भी नारी-जाति को ऐसा ही सम्मान मिलेगा।

मद्रास-वासियों ने भी नारी-समाज को वोट देने का अधिकार देकर अपना गौरव बढ़ाया है; परन्तु बड़े खेद की बात यह है कि बङ्गाली जाति जो सरस्वती देवी की कृपा से ज्ञानोन्नति में भारत की सब जातियों से श्रेष्ठ गिनी जाती है, जिस जाति में कविचूड़ामणि रवींद्रनाथ, विज्ञानाचार्य्य जगदीशचन्द्र बोस, सर पी. सी. राय, पण्डित ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, युगप्रवर्त्तक राजा राममोहनराय, धर्म्मात्मा रामकृष्ण परमहंस, उपदेशक विवेकानन्द जैसे गुणियों ने जन्म ग्रहण किया है, उसी जाति के कुछ संकीर्ण-हृदय लोगों ने आज मातृजाति का अनादर किया। सहस्रों सम्भ्रान्त, कुलशीला, सुशिक्षिता, हिन्दू-मुसलमान नारियों को न्यायानुमोदित अधिकार से वंचित करके बङ्गवासियों ने जो कुदृष्टान्त दिखाया है वह बड़ा ही लज्जाजनक हुआ है, इसमें कोई सन्देह नहीं। बङ्गीय व्यवस्थापक सभा के सभासद श्रियुत सुधांशुमोहन बोस (बैरिस्टर, कलकत्ता हाईकोर्ट) ने नारी-जाति को वोट देने के पक्ष में सयुक्तिक प्रस्ताव उपस्थित किया था। वर्द्धमान के महाराज बहादुर (जिनकी महाराणी साहेबा स्वयं लाट साहेब की निमन्त्रण पार्टी में भी जाती हैं, और खुली मोटर गाड़ियों में फिरती हैं) नारीजाति को वोट देने का अधिकार देने में विरोधी हुए। उनके साथ कई हिन्दू-मुसलमान सभ्यों ने भी विरोध किया। अधिकार देने के पक्षपाती भी अनेक सम्भ्रान्त लोग थे; परन्तु अनेक कारणों से वे सब सभा में उपस्थित नहीं हो सके। विरोधियों ने जिन कारणों से विरोध किया था वे निरे लचर और हास्यास्पद हैं। सुशिक्षिता उच्च उपाधि-(बी० ए०, एम० ए०, एम० बी०, एम० डी०, बी० एल०, बी० टी०, इत्यादि) धारिणी स्त्रियों की संख्या अन्य प्रदेशों की तुलना में बङ्ग देश में ही अधिक है, तथापि वहाँ पुरुषों को मातृजाति का अपमान करने में वहाँ लज्जा नहीं आई।

यूरोपीय महायुद्ध के प्रभाव से वहाँ की पुरुष जाति में सहृदयता का संचार हुआ। जो लोग पहले स्त्रियों को राजनैतिक क्षेत्र में समान अधिकार देने में केवल विरोध ही नहीं करते थे, किन्तु उनके ऊपर बहुत अत्याचार भी करते थे वे सब आज मुक्त-कण्ठ से मातृ-जाति को पुरुषों के साथ केवल समानाधिकार ही नहीं दे रहे, बरन योग्य स्त्रियों को सिविल सर्विस परीक्षा देने का भी अधिकार दे रहे हैं। अमरिका तो सदाही इस विषय में उदार रहा है। अभी यह अत्यन्त आनन्द का समाचार सुनने में आया है कि

असीरिया देश के लोगों ने एक विद्यावती मन-स्विनी नारी को अपने राष्ट्र की सभानेत्री का सर्व्वोच्च आसन देकर नारी जाति का गौरव बढ़ाया है। नारी को गवर्नर, मजिस्ट्रेट इत्यादि का पद तो मिलाही है; परन्तु असीरिया-वासियों ने यह अत्यन्त उदार दृष्टान्त जगत को दिखाया है। टर्की में जहाँ कठिन अवरोधप्रथा प्रचलित थी वहाँ एक विदुषी नारी को शिक्षामंत्री का पद मिला है। उस राज्य के शिक्षा-सम्बन्धी सारे काम उन्हीं महिला की आज्ञा से होते हैं।

हमारे बङ्गीय पुरुषों की आपत्ति का पहला कारण है कि अवरोधप्रथा के कारण योग्य कुल की स्त्रियाँ तो वोट देने के लिए प्रकट रूप से उप-स्थित होंगी नहीं, उनके बदले वेश्याओं को वोट देने की सुविधा मिल जायगी। उनका दूसरा कारण यह है कि नारी-समाज में सुशिक्षिता नारियों की संख्या कम होने से वे अपने कर्त्तव्य को नहीं समझेंगी, इससे वोट देने में असुविधा होगी।

बङ्गाल के सारे प्रसिद्ध नगरों और जिलों से महिलागण तीव्र प्रतिवाद कर रही हैं। हिन्दू-मुसलमान पर्देनशीन सम्भ्रान्त महिलाएँ सभाएँ करके बङ्गवासियों के इस अनुदार व्यवहार के विरुद्ध घोर आन्दोलन कर रही हैं। आशा है कि इस आन्दोलन के द्वारा अनुदार लोगों की आँखें खुल जावेंगी।

स्त्री-शिक्षा का विस्तार, गृह की स्वास्थ्य-रक्षा, बाल-बच्चों का उचित रूप से पालन, आदि स्त्रियों के ऊपर ही निर्भर है। जब तक नारी-शक्ति पुरुष शक्ति के साथ सम्मिलित होकर काम में नहीं लगेगी, तब तक स्वराज्य-प्राप्ति की आशा कोसों दूर है। महात्मा गांधीजी का भी यही कथन है। शास्त्रकारों ने भी ठीक कहा है:—"यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता:।" क्या इसमें कोई सन्देह की बात है? बङ्गदेश की कई नारियों ने विश्वविद्यालय की उच्चतम परीक्षाओं में पुरुषों के साथ तुलना में उच्चस्थान प्राप्त किया है। प्राचीन बङ्गनारी-समाज में ऐसी स्त्रियाँ हुई हैं जिन्होंने बड़ी विलक्षणता से राज्य-कार्य भी सम्पादन किया है। कासिमबाजार की स्वर्गवासिनी महारानी स्वर्णमयी का पुण्यशील नाम कौन नहीं जानता? महारानी भवानी ने भारत के इतिहास में एक समय कैसा उच्चस्थान पाया था? महा-रानी शरत्सुन्दरी, रानी हेमन्तकुमारी आदि नारियों ने बड़ी सुयोग्यता से विशाल जमींदारी का प्रबन्ध किया था। अद्यापि कितनी नारियाँ बुद्धिमत्ता के साथ अपनी सम्पत्ति की रक्षा कर रही हैं। पर्दे में रहकर भी यह सारे काम हो रहे हैं। क्या बङ्गीय नारियाँ थियेटर का अभि-नय देखने नहीं जातीं? क्या उन्होंने स्वदेशी आन्दोलन के समय बङ्गीय पुरुषों को सहायता नहीं दी? क्या अब भी स्वराज्य-प्राप्ति के आन्दो-लन में वे भाग नहीं ले रही हैं? देशबन्धु चित्त-रञ्जन दास की भगिनी उर्म्मिलादेवी बरिसाल में जाकर वहाँ की पतिता नारियों को पाप-पङ्क से उद्धार करने का यत्न कर रही हैं और बङ्गीय नारियों को चरखा चलाने का उत्साह देने के लिए पूर्व बङ्गाल में भ्रमण कर रही हैं।

हमें पूर्ण आशा है कि भारत में सर्वत्र नारी-शक्ति का प्रभाव फैलेगा। दुर्बल सन्तानों की शक्तिदायिनी तथा दुर्गति-नाशिनी नारी जब कार्य-क्षेत्र में अवतीर्ण होंगी, तभी जन्मभूमि की यथार्थ उन्नति होगी। मातृजाति को पददलित करके कभी किसी जाति ने उन्नति नहीं की और न कभी करेगी।

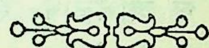


ईश-स्तवन।

(लेखक—पंडित बलदेवप्रसाद मिश्र, एम. ए., एल-एल. बी.)

त्रस्त रावण से हुए जब पूर्णतः
तब असरगण क्षीर-सागर में गये।
विष्णु के आगे खड़े होकर तथा
दीन वे सब भक्ति से कहने लगे ॥१॥
सृष्टि में, स्थिति में, प्रलय में, हे प्रभो!
आपही आधेय हैं—आधार हैं।
आप ही की शक्ति से अभिलाष से
सृष्ट सारे विश्व के व्यापार हैं ॥२॥
भक्ति का डोरा थँभा कर हाथ में
ज्ञान की लकड़ी सहारे को अहो!
ले हमें आते तथा संसार को
ईश! कृपया आप अपने पास हो ॥३॥
सृष्टि के जो तत्व हैं माने गये
तत्व उनके भी बने तुम हो विभो!
आँख के आगे खड़े होकर स्वयम्
योगियों को भी अगोचर हो प्रभो ॥४॥
मिट गई है लालसा जिनकी सभी
उन नरों के भी हरे! तुम ध्येय हो।
लिप्त रहते भी हुए संसार में
घोर माया से सदैव अजेय हो ॥५॥
फाँसकर निज अंश माया-जाल में
देखते सब कर्म उनके आप हैं।
फिर उन्हें ही ज्ञान से परिपूर्ण कर
आप करते दूर सब संताप हैं ॥६॥
कर्म से ही कर्म अपने काट के
भक्ति से है चित्त अपना शुद्ध कर।
आपको पहिचान करके आपही
जीव बनता आपसा ही शक्तिधर ॥७॥
सिन्धु के जल, सूर्य के हो तेज तुम
शैत्य शशि के, प्राणियों के प्राण हो।
रम्य के हो रूप, बल बलवान् के
ईश! तुम ही ज्ञानियों के ज्ञान हो ॥८॥
हैं सदागति के गति-प्रद आपही
रक्षकों के भी तथा रक्षक बने।
तेज तेजस्वी गुणी गुण आपही
कर्म भी हैं आप, कर्ता भी बने ॥९॥
आत्म में कर लीन विस्तृत सृष्टि को
आप होते योग-निद्रासीन हैं।
सगुण होकर भी निगुण से हैं परे
आदि पूरुष! नित्य आप नवीन हैं ॥१०॥
सृष्टिकर्ता! सृष्टि के होकर परे
आप रहते भक्त-जन के पास हैं।
निर्विकार! शरीर भी धर कर विभो!
आप करते दूर उनके त्रास हैं ॥११॥
ज्ञानियों के ज्ञान की भी आँख है
पा न सकती आपका आभास भी।
यदि न धरते सगुण नर-तनु आप तो
देख सकतीं स्थूल आँखें क्या कभी ॥१२॥
जब कभी है धर्म खण्डित सा हुआ
देव! प्रगटे तुम स्वयं उस काल हो।
शान्ति प्रचलित कर पुनः संसार में
दूर करते पापियों के जाल हो ॥१३॥
शक्ति पाकर विश्व का भी कम्प कर
है हिरण्यकशिपु अभी भूला नहीं।
वह अपूर्व नृसिंह-तनु भी आपका
चित्त से विस्मृत भला होगा कहीं ॥१४॥
वे भयंकर कर्म उसके दानवी
हम सबों की त्रासयुक्त दशा अहो!

भक्तिमय प्रह्लाद का आह्लाद वह
चित्तपट पर है सभी अंकित विभो॥१५॥
पूर्व का वह वैर किन्तु असुर वही
विश्रवा का पुत्र हो इस जन्म में।
है चुकाता द्विगुण शठ बन कर हरे!
पाप से संताप दे दे कर हमें॥१६॥
आप से अपमान उसका था हुआ
किन्तु मारे जा रहे हम दीन हैं।
शक्त से अपकृत नरों के तथ्य हा!
विश्व में होते सदा बल-हीन हैं॥१७॥
सूर्य रहता द्वार पर घर में शशी
मृदु पवन उद्यान में सब काल है।
कर रहे सेवा सभी भयभीत हो
बन गया वह काल का भी काल है॥१८॥
शान्त निर्धन तापसों से भी अहो!
रक्त कर में ले रहा वह दुष्ट है।
बन्द यद्यपि कर दिये शुभ कर्म सब
वह तथापि हुआ नहीं सन्तुष्ट है॥१९॥
दे दिया आदेश ऋषि-संहार का
पूर्णतः उसने निशाचर-वृन्द को।
शक्ति पाकर शान्त रह सकते कभी
नीच जन संसार में क्योंकर अहो!॥२०॥
इन्द्र पर रख हाथ, पुष्पक-यान पर
जब कभी चढ़ता असुर सुख-पूर्ण है।
दिग्गजों के साथ हिल उठती धरा
सिन्धु का भी धैर्य होता चूर्ण है॥२१॥
पूर्ण आज्ञा के बिना उस दुष्ट की
श्वास लेना भी पवन को हेय है।
शून्य नभ भी मेघ-रूपी नेत्र से
रो चुका यह दुःख देख अमेय है॥२२॥
वज्रतनु पर कंकड़ी से शस्त्र हैं
सब हमारे पूर्णतः निष्फल हुए।
घोर-तम-परिपूर्ण कारागार में
अयुत संवत्सर-सदृश हैं पल हुए॥२३॥
भक्त पर अनुरक्त होकर आपने
था हिरण्यकशिपु असुर का वध किया।
अब उसीके क्रूरतम अवतार को
देख कैसे मौन धारण कर लिया॥२४॥
अब न क्या प्रभुवर! हमें अपनायँगे
आप क्या अब तक न कष्ट हटायँगे।
शरण-आगत निपट दीनों पर दया
क्या दयासागर! न अब दिखलायँगे॥२५॥



व्यक्ति और समाज।

(लेखक—साहित्याचार्य्य पंडित चन्द्रशेखर शास्त्री)

व्यक्ति की स्वाधीनता पर समाज की स्थापना होती है।

मनुष्य उन्नत जीव है सही—काव्य, दर्शन, विज्ञान, नीति आदि विद्याओंका वह निर्माण करता है, उनका अध्ययन करता है; पर उसे अपने पर विश्वास नहीं। अधिक से अधिक योग्य मनुष्य भी इस बात का दावा नहीं कर सकता कि मुझसे अपराध नहीं होंगे। छोटेबड़े, पढ़े-अनपढ़े सभी जानते हैं कि चोरी करना बुरा है; पर चोरीसे कोई भी बाज़ नहीं आता। कोई रुपये-पैसे चुराता है, कोई गाय, बैल, घोड़े आदि कोई लेख, कविता अथवा उनके भाव चुराता है और कोई बड़े बड़े राज्योंको ही हड़प जानेकी बन्दिशें बाँधा करता है। इस प्रकार अन्य कई ऐसे अपराध हैं जिन्हें मनुष्य करता है। अपराध करना बुरा है

इस बातको जानकर भी वह कभी कभी अपराध कर बैठता है।

मनुष्य अपराध करता है सही; पर वह अपराधों को अच्छा नहीं समझता। अपराध न हों यही सबकी इच्छा बनी रहती है। इसी इच्छासे प्रेरित होकर ही मनुष्य-समूह ने समाजकी तथा राज्य की स्थापना की और अपनी स्वाधीनताका कुछ भाग समाजको और कुछ भाग राज्य को सौंपा। यह स्वाधीनता-समर्पण मनुष्यों के द्वारा इसलिए किया गया कि अपराधोंका होना दूर हो, अपराधों के कारण मानवी शान्ति में जो बाधा पड़ती है वह न पड़े; इसीलिए समाजकी आज्ञा और राज्य की आज्ञा का पालन करना मनुष्य ने अपना कर्तव्य समझा और वे वैसा करने लगे। समाजने और राज्यने कई नियम बनाये, कई व्यवस्थाएँ नियत कीं, इस आशा से कि अपराध कम हों; अपराधोंके कारण मानवी शान्तिका भंग न हो। इससे समाजकी आज्ञा का पालन करना प्रत्येक मनुष्यका धर्म होगया। व्यक्तिगत स्वाधीनता का कुछ भाग समाजको दिया गया, और समाजने उस प्राप्त की हुई स्वाधीनताके बल पर शासन करना प्रारम्भ किया।

व्यक्ति की स्वाधीनता सामाजिक नियमों से परिमित है।

यह प्रश्न विकट रूप धारण करता जाता है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने विवेक के अनुसार काम करे अथवा समाज की आज्ञा में अपने विवेक को मिलादे। मान लीजिए, समाज ने यह बात निश्चित करदी कि 'समाज का कोई भी व्यक्ति शराब न पीवे, शराब पीना उसके लिए अधर्म है। समाज की इस आज्ञाको बहुतोंने मान लिया और बहुतोंने नहीं। जिन लोगोंने यह आज्ञा न मानी उन लोगोंने अपने पक्ष को पुष्ट करने के लिए यह दलील पेश की कि भाई, यह आज्ञा मेरे विवेक के विरुद्ध है; अतएव मैं इसे मानने के लिये बाध्य नहीं हूँ, मैं अन्धा नहीं। पर न्यायकी दृष्टि और समाज-संगठन के उद्देश्य पर ध्यान देने से यह बात अवश्य माननी चाहिए कि समाजकी आज्ञाओंको मानने के लिए समाजका प्रत्येक व्यक्ति बाध्य है यदि वह उस समाज में रहना चाहता है। उसका विवेक कोई वस्तु नहीं, समाजकी आज्ञा बहुमतकी आज्ञा होती है, वह आज्ञा बहुविवेक के अनुसार बनायी जाती है; अतएव उसके सामने व्यक्ति विशेष के विवेक का कोई महत्व नहीं, वह कोई वस्तु नहीं। ऐसी दशा में जो यह कहता है कि मैं अन्धा नहीं हूँ कि अपने विवेक के विरुद्ध समाजकी आज्ञा मानूँ, उस व्यक्तिका यह कहना अहंकार और दम्भकी बात है, वह विघ्नपटु प्रकृतिका मनुष्य मालूम पड़ता है।

कोईभी व्यवस्था क्यों न हो, कोई भी नियम क्यों न हो, मानने से ही उसका पोषण होता है यह बात लिखी जाचुकी है कि समाज-बन्धन-कल्पना मानवी अपूर्णता का द्योतक है। मनुष्य समझता है कि मैं अकेला स्वयं अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सकता, मैं अपनी अकेली शक्ति के भरोसे शांतिसुख का उपभोग नहीं कर सकता; अतएव वह समाज की स्थापना करता है। समाज स्थापित होने पर उसे समाज का प्रत्येक व्यक्ति अपनी स्वाधीनता का थोड़ा भाग अर्पित करता है और उतने अंशों में वह समाज के अधीन हो जाता है। फिर उसका विवेक कोई वस्तु नहीं रह जाता और न उसे अपने

विवेक की दुहाई देने का अधिकार है; क्योंकि ऐसा करने से सामाजिक बन्धन शिथिल हो जाता है, समाज का बल जाता रहता है। यदि सभी अपने अपने विवेक की दुहाई दें, तो काहे का समाज, और फिर कहाँ रही उद्देश्य की एकता ?

कल्पना कीजिए, एक समाज ने निश्चय किया कि हम अपने बच्चोंको चलती भाषा के द्वारा शिक्षा देंगे। समाज के सामने शिक्षा का प्रश्न जिस समय पेश था उस समय सभी सभासदों ने अपनी राय पेश की। अन्तमें बहुमत से निश्चय हुआ कि चलती भाषा के द्वारा शिक्षा का होना हमें इष्ट है। अब इस निश्चय के विरुद्ध कोई बालक या बालक का पिता यह आन्दोलन करे कि यह हमारे विवेक के विरुद्ध है तो उसका यह कथन माननीय नहीं। अच्छा, यदि यह बात उसके विवेकके विरुद्ध है तो वह न माने; पर उसे आन्दोलन करनेका अधिकार है कि नहीं। अपने विवेक की छाप दूसरों के विवेक पर लगाने का उसे अधिकार है कि नहीं। यदि वह व्यक्ति स्वातन्त्र्य वादी है, तो उसे कोई अधिकार नहीं कि वह दूसरों को अपनी बात मानने के लिये विवश करे या उछलकूद मचावे। यदि वह ऐसा करता है तो इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि उसे व्यक्ति-स्वातन्त्र्य से प्रेम नहीं। वह अपने को व्यक्ति समझता है, अपने विवेक को विवेक समझता है और झूठे व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की दुहाई देकर कुछ लोगों को अपनी ओर मिलाकर समाज का द्रोह करना चाहता है, उसकी इच्छा समाज से युद्ध घोषणा करने की है।

कोई व्यक्ति किसी व्यक्ति के विवेक के अनुसार चलनेके लिए बाध्य नहीं है।

इससे ऐसा नहीं समझना चाहिए कि व्यक्ति कोई वस्तु नहीं है। उसकी स्वाधीनता छठे दर्जे के लड़कों की गेंद है जो बुरी तरह इधर-उधर लुढ़का करती है। समाज के सामने पराधीन होने पर भी व्यक्तित्व की दृष्टि से प्रत्येक व्यक्ति स्वाधीन है। केवल समाज के नियमों की अवहेलना वह नहीं कर सकता; पर अपने कामों में जिनका संबन्ध उस के परिवार से है, उससे है वह स्वाधीन है। वह किसी व्यक्ति के सामने भी पराधीन नहीं है। वह किसी आदमी की बात मानने के लिए बाध्य नहीं है, चाहे वह उसके विवेक के विरुद्ध भी क्यों न हो।

किसी व्यक्ति को कोई अधिकार नहीं है कि वह अपना विवेक किसी दूसरे से मनवावे; क्योंकि जिस प्रकार समाज को प्रत्येक व्यक्ति अपनी स्वाधीनता परिमित करने का अधिकार देता है उसी प्रकार किसी व्यक्ति को वैसा अधिकार नहीं दिया गया है। अवयस्क बालक का विचार नहीं किया जाता। सभी वयस्क अपने लिए उत्तम मार्ग सोच सकते हैं। जहाँ उसे सन्देह होगा वहाँ वह सामाजिक नियमों का सहारा ले सकता है, य किसी व्यक्ति से भी सहायता ले सकता है; पर किसी व्यक्ति को यह न्याय्य अधिकार प्राप्त नहीं है कि वह किसी व्यक्ति को अपने विवेक के अनुसार चलने को बाध्य करे।

महान् व्यक्ति का मत समाजका मत हो जाता है यदि समाज उसे स्वीकार कर ले।

समाज के सभी व्यक्ति समान नहीं होते, किसी किसीका व्यक्तित्व बड़ा ही ऊँचा होता है, और उसकी बातों के विरुद्ध आवाज उठाने की किसी में ताक़त नहीं होती। यदि कोई बहुत साहस कर आवाज़ उठावे भी, तो उसकी बात

सुनी अनसुनी कर दी जाती है। ऐसी दशा में उसी एक मनुष्यकी बात, उसका मत, क्या सभीको मानना चाहिए? क्या उस व्यक्ति के सामने औरोंको अपना व्यक्तित्व खो देना चाहिए? इस प्रश्नका उत्तर हाँ और नहीं दोनों हैं। यदि समाजका कोई महान् व्यक्ति बल-प्रयोग के द्वारा, कूट नीति के द्वारा, अपने स्वार्थ-साधन के लिए अपनी बात समाज से मनवाना चाहता है और समाज के अधिकांश व्यक्तियों ने भयभीत होकर उसकी बात मान ली है, तो न्याय-प्रेमी और साहसी व्यक्ति को चाहिए कि उसके विरुद्ध आवाज उठावे, उसकी बुराइयाँ लोगों को समझावे, क्योंकि महान् व्यक्ति अपना व्यक्तित्व समाज के नाश करने में लगा रहा है, वह समाज को अपने व्यक्तित्व का गुलाम बनाना चाहता है। पर, यदि कोई व्यक्ति व्यक्तियों के कल्याण के लिए अपने नैतिक महत्व का उपयोग करता है, समाजके लिए कोई मार्ग बतलाता है, और उसकी बात समाज में अधिकांश मनुष्य मान लेते हैं, तो ऐसी दशा में उस एक व्यक्ति का मत भी समाजका मत हो जाता है, और उस मत के सामने सभीको सिर झुकाना आवश्यक हो जाता है। जो सामाजिक व्यक्ति ऐसा नहीं करता, जो ऐसे विषयों में तर्क करता है, वह समाज के तत्वोंको नहीं जानता। ऐसी दशा उपस्थित होने पर यह बात बिना समझाये-बुझाये भी सबकी समझ में आ जाती है कि वह पूरा दाम्भिक है।





प्रारब्ध।

(लेखक—श्रीयुक्त प्रेमचन्द्र)

(१)



लाला जीवनदास को मृत्यु-शैया पर पड़े ६ मास हो गये हैं। अवस्था दिनों दिन शोचनीय होती जाती है। चिकित्सा पर उन्हें अब ज़रा भी विश्वास नहीं रहा, केवल प्रारब्ध का ही भरोसा है। कोई हितैषी वैद्य या डाक्टर का नाम लेता है तो वे मुँह फेर लेते हैं। उन्हें जीवन की अब कोई आशा नहीं है, यहाँ तक कि अब उन्हें अपनी बीमारी के ज़िक्र से भी घृणा होती है। वे एक क्षण के लिए भूल जाना चाहते हैं कि मैं काल के मुख में हूँ। एक क्षण के लिए इस दुस्साध्य चिन्ता-भार को सिर से फेंक कर स्वाधीनता से साँस लेनेके लिए उनका चित लालायित हो जाता है। उन्हें राजनीति से कभी रुचि नहीं रही। वे अपनी व्यक्तिगत चिन्ताओं ही में लीन रहते थे। लेकिन अब उन्हें राजनैतिक विषयों से विशेष प्रेम हो गया है। अपनी बीमारी की चर्चा के अतिरिक्त वे प्रत्येक विषय को शौक़ से सुनते हैं; किन्तु ज्यों ही किसीने सहानुभूति-भाव से किसी औषधि का नाम लिया, तो उनकी त्योरी बदल जाती है। अंधकार में विलाप-ध्वनि इतनी आशाजनक नहीं होती जितनी प्रकाश की एक झलक।

वे यथार्थ-वादी पुरुष थे। धर्म, अधर्म, स्वर्ग, नर्क की व्यवस्थाएँ उनके विचार-परिधि से बाहर थीं, यहाँ तक कि अज्ञात भय से भी वे शंकित न होते थे। लेकिन इसका कारण उनकी मानसिक शिथिलता न थी, बल्कि लोक चिन्ता ने परलोक-चिन्ता का स्थान ही शेष न रखा था। उनका परिवार बहुत छोटा था; पत्नी थी और एक बालक। लेकिन स्वभाव उदार था, ऋण धन से बढ़ा रहता था। उस पर इस असाध्य और चिरकालीन रोग ने ऋण पर कई दर्जों की वृद्धि कर दी थी। मेरे पीछे इन निस्सहायोंका क्या हाल होगा, यह ध्यान आतेही उनका चित्त विह्वल हो जाता था इनका निर्वाह कैसे होगा? ये किस के सामने हाथ फैलायेंगे? कौन इनकी खबर लेगा? हाय! मैंने विवाह क्यों किया, पारिवारिक बन्धन में क्यों फँसा, क्या इसीलिए कि ये संसार के हिम-तुल्य दया के पात्र बनें? क्या अपने कुल की प्रतिष्ठा और सम्मान को यों विनिष्ट होने दूँ? जिस दुर्गादास ने सारे नगर को अपनी अनुग्रह-वृष्टि से प्लावित कर दिया था उसीके पोते और बहू द्वार द्वार ठोकरें खाते फिरें?

हाय क्या होगा ? कोई अपना नहीं, चारों ओर भयावह वन है ! कहीं मार्ग का पता नहीं ! यह सरला रमणी, यह अबोध बालक ! इन्हें किसपर छोड़ूँ ?

हम अपनी आन पर जान देते थे, हमने किसीके सामने सिर नहीं झुकाया, किसीके ऋणी नहीं हुए, सदैव गर्दन उठाकर चले, और अब यह नौबत है कि कफ़न का भी ठिकाना नहीं !

(२)

आधी रात गुज़र चुकी थी। जीवनदास की हालत आज बहुत नाज़ुक थी। बार बार मूर्छा आ जाती, बार बार हृदय की गति रुक जाती, उन्हें ज्ञात होता था कि अब अन्त निकट है। कमरे में एक लैम्प जल रहा था। उनकी चारपाई के समीप ही प्रभावती और उसका बालक साथ सोये हुए थे। जीवनदास ने कमरे की दीवारों को निराशा-पूर्ण नेत्रों से देखा जैसे कोई भटका हुआ पथिक निवासस्थान की खोज में हो। चारों ओर से घूम कर उनकी आँखें प्रभावती के चेहरे पर जम गईं। "हा! यह सुन्दरी एक क्षण में विधवा हो जायगी, यह बालक पिताहीन हो जायगा ! यही दोनों व्यक्ति मेरी जीवन-आशाओं के केन्द्र थे। मैंने जो कुछ किया इन्हींके लिए किया। मैंने अपना जीवन इन्हीं पर समर्पण कर दिया था, और अब इन्हें मँझधार में छोड़े जाता हूँ, इसीलिए कि वे विपत्ति-भंवर का कौर बन जायँ।" इन विचार ने उनके हृदय को मसोस लिया, आँखों से आँसू बहने लगे।

अचानक उनके विचार-प्रवाह में एक विचित्र परिवर्तन हुआ ! निराशा की जगह मुख पर एक दृढ़ संकल्प की आभ दिखाई दी, जैसे किसी गृह-स्वामी की झिड़कियाँ सुनकर एक दीन भिक्षुक के तीवर बदल जाते हैं। "नहीं कदापि नहीं ! मैं अपन प्रिय पुत्र, अपनी प्राणप्रिया पत्नी पर प्रारब्ध का अत्याचार न होने दूँगा। अपने कुल की मर्यादा को यों भ्रष्ट न होने दूँगा, एक अबला, को जीवन की कठिन परीक्षा में न डालूँगा। मैं मर रहा हूँ लेकिन प्रारब्ध के सामने सिर न झुकाऊँगा, उसका दास नहीं, स्वामी बनूँगा। अपनी नौका को निर्दय तरंगों का आश्रित न बनने दूँगा।

"निस्सन्देह संसार मुँह बनायेगा। मुझे दुरात्मा, घातक नराधम कहेगा, इसलिए कि उसके पाशविक आमोद में, उसकी पशाचिक क्रीड़ाओं में, एक व्यवस्था कम हो जायगी। कोई चिन्त नहीं। मुझे यह सन्तोष तो रहेगा कि उसका अत्याचार मेरा बाल भी बाँका नहीं कर सकता, उसकी अनर्थ लीला से मैं सुरक्षित हूँ।"

जीवनदास के मुख पर वर्णहीन संकल्प अंकित था, वह संकल्प जो आत्म-हत्या का सूचक है। वे बिछौने से उठे, मगर हाथ-पाँव थर थर काँप रहे थे। कमरे की प्रत्येक वस्तु उन्हें आँखें फाड़ फाड़ कर देखती हुई जान पड़ती थीं। आलमारी के शीशे में अपनी परछाईं दिखाई दी। चौंक पड़े, यह कौन ? ख्याल आ गया यह तो अपनी छाया है। उन्होंने अलमारी से एक चमचा और प्याला निकाला। प्याले में वह जहरीली दवा थी जो डाक्टर ने उनकी छाती पर मलने के लिए दी थी। प्याले को हाथ में लिये, चारों ओर सहमी हुई दृष्टि से ताकते हुए वे प्रभावती के सिरहाने आकर खड़े हो गये। हृदय पर करुणा का आवेग हुआ। "आह ! इन प्यारों को क्या मेरे ही हाथों मरना लिखा था ? मैं ही इनका यमदूत बनूँगा। यह अपने ही कर्मों का फल है। मैं आँखें बन्द करके वैवाहिक बन्धन में फँसा ! इन भावी आपदाओं की ओर क्यों मेरा ध्यान न गया ? मैं उस समय ऐसा हर्षित और प्रफुल्ल था मानों जीवन एक अनादि सुलस्वर है, एक सुधामय आनन्द-सरोवर है। यह इसी अदूरदर्शिता का परिणाम है कि आज मैं यह दुर्दिन देख रहा हूँ।"

हठात् उनके पैरों में कम्पन हुआ, आँखों में अँधेरा छा गया, नाड़ी की गति बन्द होने लगी। वे करुणामयी भावनायें मिट गईं। शंका हुई, कौन जानें यही दौरा जीवन का अन्त न हो। वे सभँल कर उठे और प्याले से दवा का एक चम्मच निकाल कर प्रभावती के मुँह में डाल दिया। उसने नींद में दो एक बेर मुँह चलाकर करवट बदल ली। तब उन्होंने लखनदास का मुँह खोलकर उसमें भी एक चम्मच भर दवा डाल दी और प्याले को ज़मीन पर पटक दिया। पर, हा ! मानव परवशता ! हा प्रबल भावी ! भाग्य की विषम क्रीड़ा अब भी उनसे चाल चल रही थी। प्याले में विष न था, वह टानिक था जो डाक्टर ने उनका बल बढ़ाने के लिए दिया था।

प्याले को रखते ही उनके काँपते हुए पैर स्थिर हो गये, मूर्च्छा के सब लक्षण जाते रहे। चित्त पर भय का प्रकोप हुआ। वे कमरे में एक क्षण भी न ठहर सके। हत्याप्रकाश का भय हत्याकर्म से भी कहीं दारुण था। उन्हें दण्ड की चिंता थी; पर निंदा और तिरस्कार से बचना चाहते थे। वे घर से इस तरह बाहर निकले जैसे किसीने उन्हें ढकेल दिया हो। उनके अंगों में कभी इतनी स्फूर्ति न थी। घर सड़क पर था, द्वार पर एक ताँगा मिला। वे उस पर जा बैठे। नाड़ियों में विद्युत शक्ति दौड़ रही थी।

ताँगे-वाले ने पूछा—कहाँ चलूँ ?

"जहाँ चाहो।"

"स्टेशन चलूँ ?"

"वहीं सही।"

"छोटी लैन चलूँ या बड़ी लैन ?"

"जहाँ गाड़ी जल्द मिल जाय।"

ताँगेवाले ने उन्हें कौतूहल से देखा। परिचित था, बोला—"आपकी तबियत अच्छी नहीं है, क्या और कोई साथ न जायगा ?"

"नहीं, मैं अकेला ही जाऊँगा।"

"आप कहाँ जाना चाहते हैं ?"

"बहुत बातें न करो, यहाँ से जल्द चलो।"

ताँगेवाले ने घोड़े को चाबुक लगाया और स्टेशन की ओर चला। जीवनदास वहाँ पहुँचते ही ताँगे से कूद पड़े और स्टेशन के अन्दर चले। ताँगेवाले ने कहा—"पैसे ?"

जीवनदास को अब ज्ञात हुआ कि मैं घर से कुछ नहीं लेकर चला, यहाँ तक कि शरीर पर वस्त्र भी न थे। बोले, पैसे फिर मिलेंगे।

"आप न जानें कब लौटेंगे।"

"मेरा जूता नया है, ले लो।"

ताँगे-वाले का आश्चर्य और भी बढ़ा, समझा इन्होंने शराब पी है, अपने आपे में नहीं है। चुपके से जूते लिये और चलता हुआ।

गाड़ी के आने में अभी घंटों की देर थी। जीवनदास प्लेटफ़ार्म पर जा कर टहलने लगे। धीरे धीरे उनकी गति तीव्र होने लगी मानो कोई उनका पीछा कर रहा है। उन्हें इसकी बिल्कुल चिन्ता न थी कि मैं ख़ाली हाथ हूँ। जाड़े के दिन थे। लोग सर्दी के मारे अकड़े जाते थे, किन्तु उन्हें ओढ़ने-बिछौने की भी सुधि न थी। उनकी चैतन्य-शक्ति नष्ट हो गई थी; केवल अपने दुष्कर्म का ज्ञान जीवित था। ऐसी शंका होती थी कि प्रभावती मेरे पीछे दौड़ी चली आती है, कभी भ्रम होता कि लखनदास भागता हुआ आरहा है, कभी पड़ोसियों के धर-पकड़ की आवाज़ कानों में आती थी, उनकी कल्पना प्रतिक्षण उत्तेजित होती जाती थी, यहाँ तक कि वे प्राणभय से माल के बोरों के बीच में जा छिपे। एक एक मिनट पर चौंक पड़ते थे और सशंक नेत्रों से इधर उधर देखकर फिर छिप जाते थे। उन्हें अब यह भी स्मरण न रहा कि मैं यहाँ क्या करने को आया हूँ, केवल अपनी प्राण-रक्षा का ज्ञान शेष था। घंटियाँ बजीं, मुसाफ़िरों के झुंड के झुंड आने लगे, कुलियों की बक-झक, मुसाफ़िरों की चीख़ और पुकार, आनेजानेवाले एंजिनों की धकधक से हाहाकार मचा हुआ था; किन्तु जीवनदास उन जड़ बोरों के बीच में इस तरह पैंतरे बदल रहे थे मानो वे चैतन्य होकर उन्हें घेरना चाहते हैं।

निदान गाड़ी स्टेशन पर आकर खड़ी हो गई। जीवनदास सँभल गये। स्मृति जागृत हो गई। लपक कर बोरों में से निकले और एक कमरे में जा बैठे।

इतने में गाड़ी के द्वार पर 'खटखट' की ध्वनि सुनाई दी। जीवनदास ने चौंक कर देखा, टिकट का निरीक्षक खड़ा था। उनकी अचेतावस्था भंग हो गई। वह कौन सा नशा है जो मार के आगे भाग न जाय। व्याधि की शंका संज्ञा को जागृत कर देती है। उन्होंने शीघ्रता से जलमद खोला और उसमें घुस गये। निरीक्षक ने पूछा—"और कोई नहीं ?" मुसाफ़िरों ने एक स्वर से कहा—"अब कोई नहीं है।" जनता को अधिकारिवर्ग से एक नैसर्गिक द्वेष होता है। गाड़ी चली, तो जीवनदास बाहर निकले। यात्रियों ने एक प्रचण्ड हास्यध्वनि से उनका स्वागत किया। यह देहरादून मेल था।

(३)

रास्ते भर जीवनदास कल्पनाओं में मग्न रहे। हरद्वार पहुँचे, तो उनकी मानसिक अशांति बहुत कुछ कम हो गई थी। एक क्षेत्र से कम्मल लाये, भोजन किया और वहीं पड़ रहे। अनुग्रह के कच्चे धागे को वे लोहे की बेड़ी समझते थे; पर दुरवस्था ने आत्म-गौरव का नाश कर दिया था।

इस भाँति कई दिन बीत गये; किन्तु मौत का तो कहना ही क्या, वह व्याधि भी शांति होने लगी जिसने उन्हें जीवन से निराश कर दिया था। उनकी शक्ति दिनोंदिन बढ़ने लगी, मुख की कान्ति प्रदीप्त होने लगी। वायु का प्रकोप शांत होगया, मानो दो प्रिय प्राणियों के बलिदान ने मृत्यु को तृप्त कर दिया था।

जीवनदास को यह रोग-निवृत्ति उस दारुण रोग से भी अधिक दुखदाई प्रतीत होती थी। वे अब मृत्यु का आवाहन करते, ईश्वर से प्रार्थना करते कि फिर उसी जीर्णावस्था का दुरागमन हो, नाना प्रकार के कुपथ्य करते; किन्तु कोई प्रयत्न सफल न होता था। उन बलिदानों ने वास्तव में यमराज को संतुष्ट कर दिया था।

अब उन्हें चिन्ता होने लगी, क्या मैं वास्तव में जिन्दा रहूँगा। लक्षण ऐसे ही दीख पड़ते थे। नित्य प्रति यह शंका प्रबल होती जाती थी। उन्होंने प्रारब्ध को अपने पैरों पर झुकाना चाहा था; पर अब स्वयं उसके पैरों की रज चाट रहे थे। उन्हें बारबार अपने ऊपर क्रोध आता, कभी व्यग्र होकर उठते कि जीवन का अंत करदूँ, तक़दीर को दिखा दूँ कि मैं अब भी उसे कुचल सकता हूँ; किन्तु उसके हाथों इतनी विकट यन्त्रणा भोगने के बाद उन्हें भय होता था कि कहीं इससे भी जटिल समस्या न उपस्थित हो जाय; क्योंकि उन्हें उसकी शक्ति का कुछ कुछ अनुमान हो गया था।

इन विचारों ने उनके मन में नास्तिकता के भाव उत्पन्न किये। वर्तमान भौतिक शिक्षा ने उन्हें पहले ही अनात्मवादी बना दिया था। अब उन्हें समस्त प्रकृति अनर्थ और अधर्म के रंग में डूबी हुई मालूम होने लगी। यहाँ न्याय नहीं, दया नहीं, सत्य नहीं, असंभव है कि यह सृष्टि किसी कृपालु शक्ति के अधीन हो और उसके ज्ञान में नित्य ऐसे वीभत्स, ऐसे भीषण अभिनय होते रहें। वह न दयालु है, न वत्सल है, वह सर्वज्ञानी और अन्तर्यामी भी नहीं; निस्सन्देह वह एक विनाशिनी, वक्र और विकारमय शक्ति है। सांसारिक प्राणियों ने उसकी अनिष्ट क्रीड़ा से भयभीत होकर उसे सत्य का सागर, दया और धर्म का भंडार, प्रकाश और ज्ञान का स्रोत बना दिया है। यह हमारा दीन विलाप है, अपनी दुर्बलता का करुण अश्रुपात। इसी शक्तिहीनता को, इसी निरसहायता को हम उपासना और आराधना कहते हैं और उस पर गर्व करते हैं। दार्शनिकों का कथन है कि यह प्रकृति अटल नियमों के अधीन है, यह भी उनकी शृद्धालुता है। नियम जड़, अचैतन्य होते हैं, उनमें कपट के भाव कहाँ? इन नियमों का संचालक, इस इन्द्रजाल का मदारी अवश्य है, यह स्पष्ट है; किन्तु वह प्राणी देवता नहीं, पिशाच है।

इन भावों ने शनैः शनैः क्रियात्मक रूप धारण किया। सद्भक्ति हमें ऊपर ले जाती है, असद्भक्ति हमें नीचे गिराती है। जीवनदास की नौका का लंगर उखड़ गया। अब उसका न कोई लक्ष्य था और न कोई आधार; तरंगों में डाँवाडोल होती रहती थी।

(४)

पन्द्रह वर्ष बीत गये। जीवनदास का जीवन आनन्द और विलास में कटता था। रमणीक निवासस्थान था, सवारियाँ थीं, नौकर-चाकर थे। नित्य राग-रंग होता रहता था। अब इन्द्रिय-लिप्सा उनका धर्म थी, वासना-तृप्ति उनका जीवन-तत्व। वे विचार और विवेक के बन्धनों से मुक्त हो गये थे। नीति और अनीति का ज्ञान लुप्त हो गया था। साधनों की भी कमी न थी। बँधे बैल और छूटे साँड़ में बड़ा अंतर है। एक रातिब पाकर भी दुर्बल है, दूसरा घासपात ही खाकर मस्त हो रहा है। स्वाधीनता बड़ी पोषक वस्तु है।

जीवनदास को अब अपनी स्त्री और बालक की याद न सताती थी। भूत और भविष्य का उनके हृदय पर कोई चिह्न न था। उनकी निगाह केवल वर्णमात्र पर रहती थी। वह धर्म को अधर्म समझते थे और अधर्म को धर्म। उन्हें सृष्टि का यह मूल तत्व प्रतीत होता था। उनका जीवन स्वयं इसी दुर्नीति का उज्ज्वल प्रमाण था। आत्मबन्धन को तोड़कर वे जितने उन्नत हुए वहाँ तक उन बन्धनों में पड़े हुए उनकी दृष्टि भी न पहुँच सकती थी। जिधर आँख उठती अधर्म का साम्राज्य दीख पड़ता था। यही सफल जीवन का मंत्र था। स्वेच्छाचारी हवा में उड़ते थे, धर्म के सेवक एड़ियाँ रगड़ते थे। व्यापार और राज्यनीति, भवन, ज्ञान और भक्ति-मन्दिर, साहित्य और काव्य की रंगशाला, प्रेम और अनुराग की मंडलियाँ सब इसी दीपक से आलोकित हो रही थीं। ऐसी विराट् ज्योति की आराधना क्यों न की जाय?

गरमी के दिन थे, संध्या का समय, हरिद्वार के रेलवे स्टेशन पर यात्रियों की भीड़ थी। जीवनदास एक गेरुवे रँग की रेशमी चादर गले में डाले, सुनहरी चश्मा लगाये, दिव्य ज्ञान की मूर्ति बने हुए अपने सहचरों के साथ प्लेटफ़ार्म पर टहल रहे थे। उनकी भेदक दृष्टि यात्रियों पर लगी हुई थी। अचानक उन्हें दूसरे दर्जे के कमरे में एक शिकार दिखाई दिया। यह एक रूपवान युवक था। चेहरे से प्रतिभा झलक रही थी। उसकी घड़ी की जंजीर सुनहरी थी, तंजेब की अचकन के बटन भी सोने के थे। जिस प्रकार वधिक की दृष्टि पशु के माँस और चर्म पर रहती है, उसी प्रकार जीवनदास की दृष्टि में मनुष्य एक भोग्य पदार्थ था। उनके अनुमान ने आश्चर्यजनक कुशलता प्राप्त कर ली थी और उसमें कभी भूल न होती थी। यह युवक अवश्य कोई रईस है। सरल और गौरवशील भी है, अतएव सुगमता से जाल में फँस जायगा। उसपर अपनी सिद्धता का सिक्का बिठाना चाहिए। उस की सरलहृदयता पर निशाना मारना चाहिए। मैं गुरु बनूँ, यह दोनों मेरे शिष्य बन जायँ, छल की घातें चलें, मेरी अपार विद्वत्ता, अलौकिक कीर्ति और अगाध वैराग्य का मधुर गान हो, शब्दाडंबरों के दाने बिखेर दिये जायँ और मृगा पर फँदा डाल दिया जाय।

यह निश्चय करके जीवनदास कमरे में दाखिल हुए। युवक ने उनकी ओर गौर से देखा जैसे अपने भूले हुए मित्र को पहचानने की चेष्टा कर रहा हो। तब अधीर होकर बोला—

"महात्माजी, आपका स्थान कहाँ है ?"

जीवनदास प्रसन्न होकर बोले—" बाबा, सन्तों का स्थान कहाँ ! समस्त संसार हमारा स्थान है।"

युवक ने फिर पूछा—"आप लाला जीवनदास तो नहीं हैं ?" जीवनदास चौंक पड़े। छाती बल्लियों उछलने लगी। चेहरे पर हवाइयाँ उड़ने लगीं। कहीं यह खुफ़िया पुलिस का कर्मचारी तो नहीं है, कुछ निश्चय न कर सके क्या उत्तर दूँ। गुम-सुम हो गये।

युवक ने उन्हें असमंजस में पड़े देखकर कहा—"मेरी यह धृष्टता क्षमा कीजिएगा। मैंने वह बात इसलिए पूछी कि आपका श्रीमुख मेरे पिताजी से बहुत मिलता है। वे बहुत दिनों से गायब हैं। लोग कहते हैं सन्यासी हो गये। बरसों से उन्हींकी तलाश में मारा मारा फिर रहा हूँ।"

जिस प्रकार क्षितिज पर मेघराशि चढ़ती है और क्षणमात्र में सम्पूर्ण वायुमंडल को घेर लेती है उसी प्रकार जीवनदास को अपने हृदय में पूर्व स्मृतियों की एक लहर सी उठती हुई मालूम हुई। गला फँस गया और आँखों के सामने वस्तु तैरती हुई जान पड़ने लगी। युवक की ओर सचेष्ट नेत्रों से देखा, स्मृति सजग हो गई। उसके गले से लपट कर बोले—"लखखू !"

लखनदास उनके पैरों पर गिर पड़ा।

"मैंने बिलकुल नहीं पहचाना।"

"एक युग हो गया।"

(४)

आधी रात गुज़र चुकी थी। लखनदास सो रहा था और जीवनदास खिड़की से सिर निकाले विचारों में मग्न थे। प्रारब्ध का एक नया अभिनय उनके नेत्रों के सामने था। वह धारणा जो अतीत काल से उनकी पथ-प्रदर्शक बनी हुई थी हिल गई थी। मुझे अहंकार ने कितना विवेक-हीन बना दिया था। समझता था, मैं ही सृष्टि का संचालक हूँ, मेरे मरने पर परिवार का अधःपतन हो जायगा; पर मेरी यह दुश्चिन्ता कितनी मिथ्या निकली। जिन्हें मैंने विष दिया वे आज जीवित हैं, सुखी हैं और सम्पत्तिशाली हैं। असंभव था कि मैं लखखू को ऐसी उच्च शिक्षा दे सकता। माता के पुत्र-प्रेम और अध्यवसाय ने कठिन मार्ग कितना सुगम कर दिया। मैं उसे इतना सच्चरित्र, इतना दृढ़ संकल्प, इतना कर्तव्यशील कभी न बना सकता। यह स्वावलंबन का फल है। मेरा विष उनके लिए अमृत हो गया। कितना विनयशील, हँसमुख, निस्पृह और चतुर युवक है ! मुझे तो अब उसके साथ बैठते भी संकोच होता है। मेरा सौभाग्य कैसा उदय हुआ है ! मैं विराट् जगत् को किसी पैशाचिक शक्ति के अधीन समझता था जो दीन प्राणियों के साथ बिल्ली और चूहे का खेल खेलती हैं। हा मूर्खता, हा अज्ञान ! आज मुझ जैसा पापी मनुष्य इतना सुखी है। इसमें सन्देह नहीं, इस जगत का स्वामी दया और कृपा का महासागर है। प्रातःकाल मुझे उस देवी से साक्षात् होगा जिसके साथ जीवन के क्या क्या सुख नहीं भोगे ! मेरे पोते और पोतियाँ मेरी गोद में खेलेंगी, मित्र-गण मेरा स्वागत करेंगे। ऐसे दयामय भगवान् को मैं अमंगल का मूल समझता था।

इन विचारों में पड़े हुए जीवनदास को नींद आ गई। जब आँखें खुलीं तो "लखनऊ" की प्रिय और चिरपरिचित ध्वनि कानों में आई। वे चौंक कर उठ बैठे। लखनदास असबाब उतरवा रहे थे। स्टेशन के बाहर उनकी फ़िटन खड़ी थी। दोनों आदमी उसपर बैठे। जीवनदास का हृदय आह्लाद से भर रहा था। वे मौनरूप बैठे हुए थे मानो समाधि में हों।

फ़िटन चली। जीवनदास को प्रायः सभी चीजें नई मालूम होती थीं। न वे बाज़ार, न वे गलीकूचे, न वे प्राणी थे। एक युगान्तर सा हो गया था। निदान उन्हें एक रमणीक बंगला सा दिखाई पड़ा, जिसके द्वार पर मोटे अक्षरों में अंकित था—

" जीवनदास पाठशाला।"

जीवनदास ने विस्मित होकर पूछा—"यह क्या है ?"

लखनदास ने कहा—"माताजी ने आपके स्मृतिरूप पाठशाला खोली है। यहाँ कई लड़के छात्रवृत्ति पाते हैं।"

जीवनदास का दिल और भी बैठ गया। मुँह से एक ठंडी सांस निकल आई।

थोड़ी देर के बाद फ़िटन रुकी, लखनदास उतर पड़े। नौकरों ने असबाब उतारना शुरू किया। जीवनदास ने देखा तो एक पक्का दोमंज़िला मकान था। उनके पुराने खपरैल वाले घर का कोई चिह्न न था। केवल एक नीम का वृक्ष बाक़ी था। दो कोमल बालक 'बाबूजी' कहते हुए दौड़े और लखनदास के पैरों से लिपट गये। घर में एक हलचल सी मच गई। दीवानखाना खुल गया जो खूब सजा हुआ था। दीवानखाने के पीछे एक सुन्दर पुष्प-वाटिका थी। जीवनदास ऐसे चकित हो रहे थे मानों ये कोई तिलिस्म देख रहे हों !

(६)

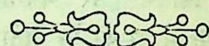
रात्रि का समय था। बारह बज चुके थे। जीवनदास को किसी करवट नींद न आती थी। अपने जीवन का चित्र उनके सामने था। इन पन्द्रह वर्षों में उन्होंने जो काँटे बोये थे वे इस समय उनके हृदय में चुभ रहे थे। जो गढ़े खोदे थे वे उन्हें निगलने के लिए मुँह खोले हुए थे। उनकी दशा में एक ही दिन में घोर परिवर्तन हो गया था। अभक्ति और अविश्वास की जगह विश्वास का अभ्युदय हो गया था, और यह विश्वास केवल मानसिक न था, बरन प्रत्यक्ष था। ईश्वरीय न्याय का भय एक भयंकर मूर्ति के सदृश उनके सामने खड़ा था। उससे बचने की अब उन्हें कोई युक्ति नज़र न आती थी। अबतक उनकी स्थिति उस आग की चिनगारी के समान थी जो किसी मरुभूमि पर पड़ी हुई हो। उससे हानि की कोई शंका न थी। लेकिन आज वह चिनगारी एक खलिहान के पास पड़ी हुई थी। मालूम नहीं, कब वह प्रज्वलित होकर खलिहान को भस्मीभूत कर दे।

ज्यों ज्यों रात गुज़रती थी, यह भय ग्लानि का रूप धारण करता जाता था। "हा शोक! मैं इस योग्य भी नहीं कि इस साक्षात् क्षमा और दया को अपना कलुषित मुँह दिखाऊँ। उसने मुझपर सदैव करुणा और वात्सल्य की दृष्टि रक्खी और यह शुभ दिन दिखाया। मेरी कालिमा उस की उज्ज्वल कीर्ति पर एक काला दाग है। मेरी कलुषता क्या इस मंगल चित्र को कलुषित न कर देगी? मेरी पापाग्नि के स्पर्श से क्या यह हरा-भरा उद्यान मटियामेट न हो जायगा? मेरी अपकीर्ति कभी न कभी प्रगट होकर इस कुल की मर्यादा और सम्मान को नष्ट न कर देगी? मेरे जीवन से अब किसको सुख है? कदाचित् भगवान् ने मुझे लज्जित करने के लिए, मुझे अपनी तुच्छता से अवगत करने के लिए, मेरे गले में अनुताप की फाँसी डालने के लिए यह अद्भुत लीला दिखाई है। हा! इसी कुल की मर्य्यादा-रक्षा के लिए भीषण हत्याएँ की थीं? क्या अब जीवित रहकर इसकी वह दुर्दशा कर दूँ जो मर कर भी न कर सका? मेरे हाथ खून से लाल हो रहे हैं। परमात्मा! वह खून रँग न लाये। यह हृदय पापों के कीटाणु से जर्जर हो रहा है। भगवन्! यह कुल उसके छूत से बचा रहे।"

इन विचारों ने जीवनदास में ग्लानि और भय के भावों को इतना उत्तेजित किया कि वह व्यस्त हो गये। जैसे परती भूमि में बीज का असाधारण विकास और प्रसार होता है, उसी तरह विश्वास-हीन हृदय में जब विश्वास का बीज पड़ता है तो उसमें विलक्षण सजीवता और विकास का प्रादुर्भाव होता है। उसमें विचार के बदले व्यवहार का प्राधान्य होता है। आत्म-समर्पण उसका विशेष लक्ष्य होता है। जीवनदास को अपने चारों तरफ़ एक सर्वव्यापक शक्ति, एक विराट् आत्मा का अनुभव हो रहा था। प्रति क्षण उनकी कल्पना सजग और प्रदीप्त होती जाती थी। अपने जीवन की घटनाएँ ज्वालाशिखा बन बन कर उस घर की ओर, उस मंगल और आनन्द के निवास-भवन की ओर दौड़ती हुई जान पड़ती थीं मानो उसे निगल जायँगी।

पूर्व की ओर आकाश अरुण वर्ण हो रहा था। जीवनदास की आँखें भी अरुण थीं। वे घर से निकले। हाथ में केवल एक धोती थी। उन्होंने अपने अनिष्टमय अस्तित्व को मिटा देने का निश्चय कर लिया था। अपनी पापाग्नि की आँच से अपने परिवार को बचाने का संकल्प कर चुके थे। प्राणपण से अपने आत्मशोक और हृदयदाह को शांत करने पर उद्यत हो गये थे।

सूर्योदय हो रहा था। उसी समय जीवनदास गोमती की लहरों में समा गये।



स्वतन्त्रता।

(लेखक—राय साहब पंडित रघुवरप्रसाद द्विवेदी, बी. ए.)

(१) परिभाषा।

आजकल इस देश में स्वतन्त्रता की इच्छा का प्रवाह बहुत ज़ोरों से बह रहा है; अतएव यह समझ लेना परमावश्यक है कि स्वतन्त्रता है क्या वस्तु और उसका प्राप्त करना कहाँ तक सम्भव है। हम इस लेख में किसी विशेष देश की स्वतन्त्रता न लेकर सामान्य अर्थ में उसपर विचार करने का प्रयत्न करेंगे। हाँ, कई प्रदेशों में उसने कितनी और किस तरह की उन्नति की है इन बातों का उल्लेख कहीं कहीं करना पड़ेगा।

अन्य भाववाचक शब्दों के समान स्वतन्त्रता की परिभाषा भी ठीक ठीक लिख देना कठिन है। अंग्रेज़ी में इसके पर्य्यायवाची शब्द फ्रीडम (Freedom) और लिबर्टी (Liberty) हैं पर

इन दोनों में भी कुछ अन्तर सा दीखता है। अंग्रेज़ी भाषा के विद्वान् इस अंतर को भलीभाँति समझ सकते हैं। स्वतन्त्रता की यहाँ एक परिभाषा लीजिए:-बिना किसी बाहरी दबाव के इच्छानुकूल किसी कार्य्य को कर सकना स्वतन्त्रता है।

मोटी दृष्टि से देखने पर यह परिभाषा ठीक सी प्रतीत होती है। अंग्रेजी में "फ्री एज़ एअर" (Free as air) अर्थात् 'वायु के समान स्वतन्त्र' कहकर हम पूर्ण स्वतन्त्रता का भाव प्रकट करते हैं; पर सच पूछो, तो वायु बहने में स्वच्छन्द नहीं होती वरन उसका प्रवाह सूर्य्य की गर्मी, समुद्र बरफ़, मरुस्थल आदि के अस्तित्व पर निर्भर है। इस परिभाषा के अनुसार हिमालय पर्वत की कन्दराओं में रहनेवाले योगी ही सच्चे स्वतन्त्र जीव दीखते हैं।

घटना-चक्र में पड़कर एक नाविक अपनी नौका के नष्ट हो जाने पर एक निर्जन द्वीप में जा पड़ता और कहता है:—

दृष्टि-क्षेत्र का मैं राजा हूँ
मेरा है सबपर अधिकार,
नहीं किसी का अंकुश मुझपर
करता हूँ स्वच्छन्द विहार।

इसका अर्थ? वह बेचारा समझता है कि जैसे स्वच्छन्द नृपति-गण होते हैं वैसा ही मैं भी हूँ। उसे क्या ख़बर कि परतन्त्रता की जञ्जीरों से जकड़ा हुआ एक राजा के समान कोई दूसरा जीव नहीं होता। तो क्या ऐसे निर्जन द्वीप में निवास करने वाले मनुष्य की सी स्वतंत्रता हमें अभीष्ट है? चाहे ऐसी स्वतंत्रता प्राप्त करके मनुष्य सुखी हो सके; पर ऐसे स्वतन्त्रता-प्रिय जीवों के लिए इतने निर्जन द्वीप ही कहाँ से आवेंगे? यदि संसार के सभी स्त्री-पुरुष ऐसी स्वतन्त्रता के अनुरागी हो जायँ, तो इतने बड़े भू-मंडल में भी एकान्तवास कर वन में रहने का आनन्द नहीं मिल सकता। हाँ, यदि निर्जन वन में निवास करने से सिंह, व्याघ्रादि श्वापद इनकी संख्या बहुत घटा दें, तो वह हो सकता है। साथ ही, यदि प्रत्येक स्त्री-पुरुष इस तरह एकान्त-वासी बन जाय, तो कुछ समय में मनुष्य-जाति का ही अन्त हो जा सकता है। अतएव ऐसी स्वतन्त्रता अभीष्ट होने पर भी उपादेय नहीं कही जा सकती।

उस एकान्तवासी नाविक को ऐसी भी स्वतन्त्रता से सन्तोष नहीं हुआ। इस तरह निर्भय रहने के बदले वह सभय रहना पसन्द करता है। कहता है—'He would live in the midst of alarms.' बाहरी दबाव न रहने से वह स्वच्छन्द तो पूरा था; पर उसे जन-समाज में रहकर सामाजिक बन्धनों से जकड़ा जाना अधिक प्रिय था। ऐसे कई मनुष्य हैं जिन्हें एकान्तवास की ऐसी स्वतन्त्रता अच्छी नहीं लगती। पर, इसमें सन्देह नहीं कि समाज में रहकर एक से दो होते ही हमारी स्वच्छन्दता नहीं रह सकती, वरन हमें अपने कार्यों में दूसरों का मुँह ताकना पड़ता है। हमारे ऊपर बाहरी दबाव पड़ता ही है; इससे हमें स्वतन्त्रता की उपरोक्त परिभाषा में कुछ परिवर्तन करना ही पड़ता है।

कविवर मिल्टन ने सदाचार की प्रशंसा करते हुए कहा है कि सदाचार में ही वास्तविक स्वतन्त्रता है। मनुष्य को सदाचारी बनने के लिए समाज में रहना ही पड़ता है; क्योंकि कई आत्म-गत कर्तव्य भी वह अकेले रहकर नहीं निबाह सकता। तो फिर सच्ची स्वतन्त्रता क्या है? क्या बाह्य आज्ञा के पालन करते ही स्वतन्त्रता चली जाती है? नहीं, जब हमारी बुद्धि, तर्क-शक्ति और बाह्य आज्ञा में किसी प्रकार का विरोध नहीं रहता और उसके पालने में हमें तनिक भी संकोच नहीं होता अर्थात् जब बाह्य दबाव का तनिक भी भान नहीं होता और हम प्रसन्नता-पूर्वक उस आज्ञा का पालन करते हैं। ऐसी स्वतन्त्रता में सुख भी है जो एक निर्जन द्वीप में रहने वाले उस स्वच्छन्द-विहारी नाविक को नहीं था। ऐसी स्वतन्त्रता से ही हम उपाय करते करते पूर्ण पुरुष अथवा पुरुषोत्तम बन सकते हैं; इसीमें पूर्ण आनन्द भी है।

पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त करना उतना ही कठिन है जितना पूर्ण आनन्द प्राप्त करना है, और जिस स्वतन्त्रता में पूर्ण आनन्द नहीं है वह सच्ची स्वतन्त्रता नहीं हो सकती। न तो बहुत से मनुष्यों में बुद्धि ही ऐसी प्रबल होती है और न उनकी इच्छाएँ ही इतनी उच्च होती हैं कि बाह्य दबाव के बिना उनके कार्य अच्छे हो सकें। हाँ, ऐसे भी महात्मा इस संसार में जन्म लेते हैं जिनके सब कार्य्य उच्चतम नियमों के अनुसार आप से आप होते हैं और समाज तथा शासक के बनाये हुए नियमों का अंकुश मानने की उन्हें आवश्यकता नहीं होती; पर साधारण जीवों का हाल ऐसा नहीं होता। उन महात्माओं की स्वतन्त्रता के भी कई दरजे होते हैं। साथ ही, उसके कई रूप भी आभ्यन्तरिक होते हैं इसलिए कि मानवी जीवन की भिन्न भिन्न दशाओं से उसका सम्बन्ध है कभी कभी जो मनुष्य क्रीतदास नहीं होता वह स्वतन्त्र कहलाता है। प्राचीन रूम में तथा अन्य देशों में जहाँ दास रखने की प्रथा जारी थी दो प्रकार के मनुष्य होते थे, अर्थात् स्वतन्त्र पुरुष और दास (Free man and slaves.) स्वतन्त्र पुरुष वे कहलाते थे जिन्हें क़ानूनी वा सामाजिक बाधाएँ नहीं लगती थीं, जो अपने स्वामी आपही होते थे. जो अपने विचारों, कथनों तथा कार्यों में किसी दूसरे का मुँह नहीं ताकते थे, जो अपने निर्वाह के लिए मनमाना व्यवसाय करते थे, जो आईन के सम्मुख अन्य नागरिकों के बराबर समझे जाते थे और जो उसी धर्म को मानते थे जिसमें उनकी श्रद्धा थी। सभ्य देशों में सभी मनुष्य अब इतने स्वतन्त्र समझे जाते हैं।

यह हुई व्यक्तिगत स्वतन्त्रता। अब राष्ट्रीय स्वतन्त्रता क्या है, सो देखिए। जिस राष्ट्र के प्रत्येक वयस्क व्यक्ति का अधिकार राष्ट्र के शासन में रहता है और जो बिना जोखिम के शासकों के किसी कार्य्य को बदलवाने तथा अपनी सम्मति दूसरों से मनवाने का प्रयत्न कर सकता है वह राष्ट्र स्वतन्त्र माना जाता है। जातीय स्वतन्त्रता तब कहलाती है जब किसी जाति का शासन उसी जाति के लोगों के हाथ में रहता है और वही जाति अन्य जातियों के साथ अपना मनमाना बर्ताव रखती तथा उसके कार्यों में किसी दूसरी जाति का हाथ नहीं रहता। स्वतन्त्रता के इन रूपों के सिवा उसके और भी कई रूप होते हैं, अर्थात् कौटुम्बिक स्वतन्त्रता (पति-पत्नी तथा बच्चों के स्वत्व), आर्थिक स्वतन्त्रता (नियमित वेतन आदि के स्वत्व), सामाजिक स्वतन्त्रता आदि।

स्वतन्त्रता के जितने रूप ऊपर बतलाये गये हैं उन सबमें संसार की सब जातियों ने पूर्ण उन्नति कर ली हो, सो बात नहीं है यह स्वतन्त्रता धीरे धीरे उन्नति करती है और भिन्न भिन्न देशों में अब भी कर रही है। ऐसा कोई देश वा राष्ट्र नहीं है जहाँ सर्वाङ्ग-पूर्ण स्वतन्त्रता पाई जाती हो। जिन राष्ट्रों वा जातियों में उसने बहुत उन्नति की है वहाँ भी वह अभी पूर्णता को नहीं पहुँच सकी। साथही, एक प्रकार की स्वतन्त्रता रहते भी अन्य प्रकार की स्वतन्त्रता अभी नहीं है। इंग्लैण्ड ही को देखिए। वहाँ राजनैतिक तथा आईन-सम्बन्धी स्वतन्त्रता ने तो बहुत उन्नति करली है और करती ही जाती है; पर सामाजिक एवं विचार-सम्बन्धी स्वातन्त्र्य वहाँ अभी इतना नहीं बढ़ा जितना अमेरिका, फ्रान्स आदि देशों में है

हमारे देश में राजनैतिक तथा जातीय स्वतन्त्रता के लिए ही लोग आन्दोलन कर रहे हैं और इन्हीं दो विषयों पर हम अधिक ज़ोर देना चाहते हैं; पर सामाजिक तथा विचार स्वातन्त्र्य का उल्लेख भी हम कहीं कहीं करेंगे क्योंकि विचार-स्वातन्त्र्य के न रहते शासन स्वातन्त्र्य नहीं हो सकता अथवा हुआ भी तो, समुदाय विशेष में रहता है, पूरे राष्ट्र में नहीं। हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि हमारे समाचार-पत्र किसी दल विशेष के मुख-पत्र बन रहे हैं और दूसरे दलों के विचारों को अपने स्तम्भों में स्थान तक नहीं देना चाहते। सभा-समाजों में भी जो लोग एक छोटे दल से सम्बन्ध रखते हैं उन्हें अपने

विचार प्रगट करने के लिए अवसर नहीं दिया जाता और समाचार-पत्र लिखा करते हैं कि इन व्याख्याताओं को ऐसी सभाओं में बोलने का दुस्साहस ही क्यों करना चाहिए। जहाँ यह परिस्थिति है वहाँ विचार-स्वातन्त्र्य का अभाव ही समझना चाहिए।

(२) शासनाधिकार की उत्पत्ति।

स्वतंत्रता और शासनाधिकार का सघन सम्बन्ध है, अतएव उसपर विचार करना अभीष्ट है। सबसे पहले शासनाधिकार का आरम्भ कौटुम्बिक दीखता है। माता-पिता ही पहले-पहल अपनी सन्तान के शासक बने होंगे। वैसे तो शासन-प्रबन्ध चीटियों, मधुमक्खियों आदि निम्न से निम्न योनियों के जीवों में हुआ करता है; पर मनुष्य-जाति में उसका आरम्भ कुटुम्ब से ही हुआ होगा और उसकी जड़ बच्चों की निर्बलता तथा माता-पिता द्वारा उनकी रक्षा ही रही होगी। माता-पिता ने भी दण्ड-विधान द्वारा उनपर शासन जमाया होगा। बाद, कई कुटुम्बों के बीच शादी-विवाह आदि का सम्बन्ध होते होते उनकी एक जाति बनी होगी और पंचों तथा मुखियाओं द्वारा उनका शासन-विधान स्थिर किया गया होगा। जिन उद्देश्यों से पशु-पक्षी मिलकर समुदाय बना लेते हैं उसी तरह कई कुटुम्बों ने मिलकर ऐसा किया होगा। जिन लोगों ने मिलकर शत्रु का साम्हना किया होगा उनके बीच प्रेम-भाव एवम् मैत्री की वृद्धि हुई होगी और जिन वीरों की वीरता के बल से विजय प्राप्त हुई होगी वही इन समुदायों या जातियों के नेता बने होंगे। ये ही नेता सर्व-सम्मति से राजा बनाए गये होंगे।

धीरे धीरे कुछ इस तरह हुआ होगाः—

जाति के प्रत्येक व्यक्ति ने कहा होगा—"मैं अमुक नेता अथवा पञ्चों को अपने ऊपर शासन करने का अधिकार देता हूँ; पर शर्त यह है कि आप लोग भी ऐसा ही करें और उसे पूर्ण जाति का शासक समझें।" इसी प्रकार आरम्भ में राष्ट्र-निर्माण हुआ होगा। इसीका नाम रूसो आदि तत्व-वेत्ताओं ने सामाजिक इक़रार रक्खा है। यह कुछ वर्तमान समय के इक़रारनामों के समान स्टाम्प पर तो लिया न गया होगा, उसका कल्पित नाम रख लिया गया है। इतना तो अवश्य है कि राजा या शासकों का आरम्भ कुछ इसी तरह हुआ होगा और वे धीरे धीरे भूसुर अर्थात् संसारी देवता समझे जाने लगे होंगे और युद्ध, सन्धि, जीवन, मरण आदि का अधिकार इन्हें मिला होगा। फलतः राजा ही राष्ट्र माना गया और उसका हक़ दैवी माना गया। अभी १८ वीं शताब्दि तक यूरोप के नृपति-गण अपने को अपनी प्रजा के सम्मुख उत्तर-दायी नहीं समझते थे और प्रजा-गण भी उन्हें ऐसा ही स्वच्छन्द मानते थे। जर्मनी के पद-च्युत क़ैसर तो अभीतक ऐसा ही समझते आते हैं। चौदहवें लिविस नामक फ्रान्सीसी राजा से जब किसी ने कहा था कि राष्ट्र (स्टेट) की सम्मति तो देखिये क्या है, तो उसने उत्तर दिया था "राष्ट्र! मैं ही तो राष्ट्र हूँ।" हमारे यहाँ भी राजा 'भूपति', 'पृथ्वीनाथ' आदि नाम से प्रसिद्ध था और उसका राज्य उसकी स्त्री के सदृश समझा जाता था। हमारे धार्मिक विश्वास में तो राजा के दर्शन देवता से भी बढ़कर हैं; क्योंकि उसके दर्शन करके फिर देव-दर्शन करने की प्रथा चली आई है। धीरे धीरे राजाओं के ईश्वर-प्रदत्त स्वत्व के विषय में प्रजा-गणों को सन्देह होने लगा और इङ्गलैण्ड तथा फ्रान्स में प्रजा ने राजा का वध करना भी अनुचित न समझा। मिल्टन, रूसो, हाब्स, डिडरो प्रभृति दार्शनिकों ने अपने लेखों द्वारा लोगों का दृष्टि-कोण बदल दिया जिससे कई देशों में राजाओं का दैविक पुरुष समझा जाना कम होकर प्रजा-गणों का महत्व बढ़ चला और प्रजा-सत्तात्मक शासन-प्रणाली का उदय हुआ।

स्मरण रहे कि राजा तथा उसके सहायक ज़मीन्दार ही किसी समय मनुष्य समझे जाते थे। साधारण श्रमजीवियों को ये बड़े लोग

अपने प्रभुत्व का साधन-मात्र समझते थे। इस देश में शूद्रों का इतना बुरा हाल न था जितना इँग्लैण्ड में "विलेन" प्रभृति साधारण कृषकों का था। बड़े बड़े उपद्रव होकर पहले इन लोगों ने धार्मिक स्वतंत्रता प्राप्त की। इंग्लैंड, जर्मनी आदि देशों में धार्मिक सुधार होने पर सर्व-साधारण को स्वतंत्रता का महत्व मालूम होने लगा। धार्मिक स्वतन्त्रता पाने के लिए उन्हें अपने राजा से लड़ना पड़ा। इस लड़ाई से अपने राजाओं के प्रति उनकी श्रद्धा घट गई और राजनैतिक स्वतन्त्रता पाने की इच्छा प्रबल हुई। धीरे धीरे सर्व-साधारण के हृदयों में स्वायत्त-शासन का मूल्य बढ़ने लगा और इस तरह उसके लिए प्रयत्न करना इँग्लैंड आदि देशों में मनुष्य का प्रधान कर्त्तव्य समझा जाने लगा। वास्तव में धर्म-शृङ्खलाओं से मुक्त होने पर ये लोग राजनीतिक शृङ्खलाओं को तोड़ सके। इतिहास तो यही कहता है कि जब तक किसी राष्ट्र ने धार्मिक तथा सामाजिक व्यर्थ बन्धनों को नहीं तोड़ा तबतक वह राजनीतिक स्वतन्त्रता पाने योग्य नहीं बनता; क्योंकि ऐसा सम्भव नहीं कि मनुष्य कई बातों में तो निरा दास बना रहे और कई में स्वतंत्र। जबतक वह धार्मिक एवं सामाजिक जंज़ीरों से जकड़ा हुआ है तबतक वह अपने सब देशभाइयों को समान दृष्टि से नहीं देख सकता और ऐसे विषम-भाव राजनैतिक स्वतंत्रता के मार्ग में कण्टक हैं। सच्चे स्वतन्त्र राष्ट्रों में जहाँ स्वायत्त-शासन ने उच्च कोटि की उन्नति कर ली है प्रत्येक स्त्री-पुरुष के स्वत्व (हक़ हकूक) समान समझे जाते हैं। जन्म से कोई बड़ा और छोटा नहीं माना जाता। सबको अपनी उन्नति करने का एकसा अधिकार रहता है। अमेरिका में छोटे से छोटे सड़क पर झाड़ू देने वाले व्यक्ति का पुत्र राष्ट्र-पति होने का हौसला रखता है और उस पदपर पहुँचने के योग्य अपने को बनाने में उसे किसी बाधा का सामना नहीं करना पड़ता, बल्कि सरकार की ओर से उत्साह ही मिलता है। इंग्लैण्ड के प्रधान मन्त्री के अभिभावक एक निरे जूते जोड़ने वाले व्यक्ति थे। हमारे भारतीय बड़े लाट रीडिंग साहिब के यहाँ तरकारी भाजी बेचने का रोज़गार होता था और आप भी दो वर्ष तक एक जहाज़ में मज़दूरी कर चुके हैं।

(३) इङ्गलैण्ड में राजनैतिक स्वतन्त्रता।

मेकाले का कथन है कि इङ्गलैण्ड का इतिहास स्वतन्त्रता का इतिहास है। वास्तव में इङ्गलैण्ड के इतिहास से हम देख सकते हैं कि वहाँ राजनैतिक स्वतन्त्रता ने क्रमशः कैसी उन्नति की और वहाँ के स्वायत्त-शासन की इमारत कैसी मज़बूत बनी है। इंग्लैण्ड की पार्लिमेंट सभा संसार की ऐसी सभाओं की जननी मानी गयी है। हम लोगों को पार्लिमेंट की रचना के इतिहास से बहुत कुछ राजनैतिक शिक्षा मिल सकती है। यदि हम स्वराज्य चाहते हैं, तो हमें राजनैतिक स्वतन्त्रता की उन्नति का इतिहास अवश्य पढ़ना चाहिए और इँग्लैण्ड की परिस्थिति, जनता का शील-स्वभाव आदि बातों का पूर्ण परिचय प्राप्त करना चाहिए। यदि हमारे चरित्र में किसी प्रकार की त्रुटि दिखाई दे, यदि स्वायत्त-शासन के कार्य में बाधा डालने वाले कोई दोष हमारे सामाजिक तथा धार्मिक परिस्थिति में दिखाई देते हों, तो उनका उन्मूलन कर देना हमारा कर्तव्य है। सारांश यह कि स्वायत्त-शासन-रूपी बीज बोने के पूर्व हमें जनता-रूपी क्षेत्र को जोतकर बखर देना चाहिए। धार्मिक एवं सामाजिक स्वतंत्रता प्राप्त किये बिना हममें साम्य भाव आवेगा ही नहीं और उसके आये बिना स्वायत्त शासन फूले-फलेगा नहीं।

हम देख चुके हैं कि राजनीतिक स्वतन्त्रता अन्य प्रकार की स्वतंत्रता से सघन सम्बन्ध रखती है। जबतक मनुष्य सब कार्यक्षेत्रों में स्वतन्त्र नहीं हो जाता तबतक वह अपनी सर्वांगीण उन्नति नहीं कर सकता। सच्चा स्वतंत्र राष्ट्र वही है जहाँ प्रत्येक निवासी के स्वत्व एक से हों किसी के कम-बढ़ न हों। प्रत्येक बच्चे को अपनी आत्मगत उन्नति करने का एकसा अवसर मिल सके, आईन की दृष्टि से ग़रीब और अमीर बराबर हों और प्रत्येक स्त्री-पुरुष धार्मिक विश्वास रखने या न रखने में सताया न जाय और उसका आदर वा अनादर उसके गुण, कर्म और स्वभाव के कारण हो, न कि निरे जन्म के कारण।

चक्र सुदर्शन ।

(लेखक—पंडित रूपनारायण पाण्डेय)

यह चर्खा चक्र सुदर्शन है।
मनोहर इसका दर्शन है ॥

किया विश्वकर्मा गाँधी ने इसका पुनः प्रचार।
दिया जनार्दन जनता के कर करने को उद्धार ॥

यही सुख-स्वराज्य-साधन है।
कि चर्खा चक्र सुदर्शन है ॥१॥

'मय' मन्चेस्टर की माया का मोह मिटानेवाला।
दुःख-दैन्य-दानव-दल दलकर उन्हें हटानेवाला ॥

'बली'-बन्धन यह वामन है।
कि चर्खा चक्र सुदर्शन है ॥२॥

इसके चक्कर से चक्कर में आया लंकाशायर।
घनचक्कर बन रहे विदेशी वस्त्रों के सौदागर ॥

हिला पशुबल का आसन है।
कि चर्खा चक्र सुदर्शन है ॥३॥

असहयोग का आज छिड़ा है देवासुर-संग्राम।
इसमें 'विजय-लक्ष्मी' यह देगा बड़ा करेगा काम ॥

यहाँ की यह मशीन गन है।
कि चर्खा चक्र सुदर्शन है ॥४॥



देवयोनि का विषधर प्राणी ।

(लेखक—पण्डित गणेशराम मिश्र)



इस कालिकाल में देव-योनि वाला प्राणी केवल विषधर सर्प ही है। पाठकों को यह पढ़कर कदाचित् आश्चर्य होगा; परन्तु जिनको कभी अवसर प्राप्त हुआ होगा वे जानते होंगे कि यह प्राणी अपने शरीर में रहते हुए भी, अन्य रूप से, दूसरे के शरीर में ऐसे प्रवेश कर जाता और बातचीत करता है जैसे प्रेत अथवा सात्विक आत्माएँ प्रवेश कर बातचीत करती हैं।

इस प्राणी की स्मरण तथा प्रतिहिंसा-शक्ति तो विश्व-विख्यात है। कई बार सुना गया है कि इसने अपने बैरी से अवश्य बदला लिया। यह प्राणी बिना सताये गये किसी को नहीं काटता; पर, जान या अनजान में सताये जाने पर, बदला लिए बिना नहीं रहता। सताये जाने पर उसी समय या कुछ समय बाद बदला लेने की बात सुनी गई है। यह अपने बैरी की पहिचान भी खूब रखता है।

अनेक लोगों के बीच में पड़े सोते हुए अपने बैरी को पहिचान लेना इसीका काम है। इसी प्रकार अपने प्राणदाता को धर्म की डाढ़ से इसका काटना भी एक अद्भुत बात है। कहते हैं कि जिसे वह धर्म-डाढ़ से काटता है उसे विष कभी नहीं चढ़ता! सिर पर आकर बोलना, मंत्र-बल से बुलाये जाने पर आ जाना, विष चूसना आदि इसकी अनेक क्रियाएँ आश्चर्यजनक हैं।

वृद्ध लोग आँखों-देखी बताते हैं कि मांत्रिक दो कौड़ी या उड़द के दाने अभिमंत्रित कर फेंकता है। वे ही कौड़ियाँ या दाने उस सर्प को खींच लाते हैं। मांत्रिक सर्प को देख और सिर की पगड़ी निकालकर मंत्र को पढ़ते पढ़ते ज्योंही पगड़ी के छोर को उमेंठना शुरू करता है त्योंही सर्प भी ऐंठने लगता है। मांत्रिक कहता है कि अपना जीवन चाहो तो विष चूसलो। इसपर सर्प यदि फन हिलाकर नाहीं करता, तो पगड़ी फिर ऐंठी जाती है। तब सर्प को, डर कर, विष चूसना ही पड़ता है। सर्प पूजा-प्रसाद लेकर चला जाता है और रोगी अच्छा हो जाता है। यदि सर्प किसी प्रकार नहीं मानता, तो मांत्रिक अपनी पगिया मंत्र पढ़ते हुए एक सिरे से ज्योंही फाड़ता है कि सर्प भी पूँछ की तरफ़ से फटने लगता है। यदि सर्प हठीला हुआ, तो प्राण खो बैठता है। सर्प के मर जाने पर, काटने के स्थान पर चीरा दिया जाता है और रक्त निकाल कर जहर-मुहरा, जो एक गोली के समान होता है और जिसकी प्रकृति विष खींचने की होती है, लगा दिया जाता है। वह सारा ज़हर खींच लेता है और मनुष्य बिलकुल स्वस्थ हो जाता है।

वृद्धों की देखी बात यदि आप न मानें तो मेरी आँखों-देखी घटना सुनिए। "मुकुन्दराम महाराज की जय" खण्डवा शहर-वासियों के लिए अमृत है। इसी जय-ध्वनि से वहाँ सर्प से डसे हुए अनेकों आदमी त्राण पाते हैं। खण्डवा में एक परदेशी पुरा है। वहाँ एक बुढ़िया को सर्प ने काटा। मांत्रिक के पास खबर भेजी गई। मांत्रिक घर पर न था। सर्प ने ५ बजे दिन को काटा था। क़रीब नौ बजे रात को जब मैं रास्ते पर से जा रहा था मैंने मांत्रिक को गीली धोती पहने, हाथ में कुबड़ी लकड़ी लिये आते देखा। बुढ़िया घर से बाहर लाई गई और रास्ते के किनारे, खुले स्थान में, ठंडे पानी से नहलाकर, पटे पर बैठाई गई और दो आदमी उस मृत-प्राय शरीर को सम्हाले रहे।

मांत्रिक ने कुछ प्रार्थना सी की और बुड्ढी के सिर पर हाथ रखा। फिर दोनों आदमियों को हटाकर वह अकेले ही एक हाथ से उसे सम्हाले रहा। फिर सिर पर लकड़ी घुमाई, परिक्रमा की और जय-ध्वनि का आदेश किया। जितने लोग वहाँ जमा थे सबने "मुकुन्दराम महाराज की जय" बार बार की। थोड़ी देर में बुढ़िया चैतन्य सी हुई और उसका सिर सीधा हो गया। जय-ध्वनि बंद की गई और मांत्रिक उस बुढ़िया के शरीर में प्रवेश-प्राप्त सर्प से बातें करने लगा। सर्प ने बताया कि मैं रास्ते में पड़ा था, पूँछ पर लात पड़ने से मुझे कष्ट हुआ; इसलिए मैंने काटा। तब मांत्रिक ने उस सर्प को इस प्रकार समझाना आरम्भ किया:—"आपने वृथा सताया बुढ़िया निर्दोष है। आपको अनजाने में उसके द्वारा कष्ट हुआ। जब आप जानते थे कि उसने जानबूझ कर पैर नहीं रक्खा, तब आपने उसे व्यर्थ काटा। वह अबला है, छोड़ दीजिए। उसका अनजान में किया हुआ अपराध क्षमा कीजिए। आप महान् हैं, सर्वव्यापी हैं, आपकी धरती-पृथ्वी है।"

बुढ़िया का सिर हिला, जिससे नाहीं की सूचना मिली। फिर जय-ध्वनि शुरू हुई—"मुकुन्दराम महाराज की जय"। ध्वनि बंद

होने पर मांत्रिक ने कहा—"यदि आप इसे न छोड़ेंगे, तो महाराज के नाम की निन्दा होगी। आपके पूर्वज का वचन झूठा समझा जायगा। लोग वैसे ही नास्तिक हैं, देवी-देवताओं को मानते ही नहीं। कलियुग में आपही एक प्रत्यक्ष देवता हैं। यदि आप ऐसा करेंगे तो धर्म-कर्म का पता ही न रहेगा। दैववशात् आप कर्म-भोग से सर्प हुए हैं यदि अब इस योनि में भी ऐसे काम करेंगे तो फिर क्या गति होगी सो आप ही जानें, हम महा अधम क्या जानें। आप सर्वज्ञ हैं, अधिक क्या कहें। महाराज के नाम पर दया कीजिए! अपने पूर्वज के वचन का विचार कर इसे छोड़ दीजिए। हम लोगों से जो कुछ सेवा हो सकेगी हम आपके प्रीत्यर्थ करने को तैयार हैं।"

बुढ़िया के मुँह से उत्तर निकला—"अच्छा, छोड़ दिया।" तब मांत्रिक ने पूछा अब क्या आज्ञा है?" उत्तर मिला—"प्रसाद चढ़ाओ।" पास खड़े हुए लोग प्रसाद लेने गये। यहाँ जय-ध्वनि होने लगी, लोग प्रेम-मग्न हो गये।

बुढ़िया को स्नान कराया गया, वह होश में आ गई और उठ खड़ी हुई। कहते हैं कि सर्प का विष चढ़ने पर तीखी से तीखी वस्तु का स्वाद मालूम नहीं पड़ता। जब बुढ़िया को मिर्च, नमक आदि खाने को दिया गया, तो उसने ठीक स्वाद बताकर थूँक दिया। पश्चात् प्रसाद बाँटा गया। प्रसाद बँट जाने पर मांत्रिक घर गया। उसने प्रसाद नहीं लिया। उस दिन से मांत्रिक का उस बुढ़िया के घर आना-जाना तथा उससे एक पैसा भी लेना निषिद्ध हो गया। इतना ही नहीं, अब भविष्य में वह उसकी छाया में भी नहीं जा सकता। निःस्वार्थ परोपकार की पराकाष्ठा हो गई!

कहिए पाठक, कैसी अद्भुत घटना हुई। यदि कभी आप खण्डवा जावें, तो महाराज के नाम की चर्चा अवश्य सुनें और यदि वहाँ कुछ दिन रहें और कभी मौक़ा आवे (भगवान् न करे कोई सर्प से काटा जावे) तो अपनी आँखों से यह दृश्य देख लीजिए।

खण्डवे में सर्प बहुत होते हैं। मुकुन्दराम महाराज की जमात के शिष्यों के अतिरिक्त वहाँ किसी पास के ग्राम में सर्प-मांत्रिकों की एक दूसरी जमात भी है। वे लोग मन्त्र-बल से रोगी को अच्छा करते हैं। सर्प रोगी के शरीर में प्रवेश करके बोलता है। यदि सर्प निर्दयी होकर रोगी को नहीं छोड़ता तो उस रोगी को एक गंडा बाँधकर अच्छा कर देते हैं। फिर नागपंचमी के दिन दरबार होता है जिसमें गंडा छोड़ते ही नीरोगी फिर रोगी होकर विष से व्याकुल होने लगता है। उसका मुक़द्दमा होता है और सर्प-रोगी के प्राण बचाये जाते हैं। सुना है, गंडा बाँध देने से नागपंचमी तक सर्प को कुछ शारीरिक यातना होती रहती है जिससे वह नागपंचमी को, दरबार में आते ही, रोगी को छोड़ने पर राज़ी हो जाता है।

खण्डवा में वृद्ध लोग सर्प-सम्बन्धी अनेक बातें बताते हैं। उन्हीं के मुँह से मुकुन्दराम महाराज की वरदान-प्राप्ति के विषय में यह सुना है कि कोई ढाई सौ वर्ष हुए जब खण्डवा में एक ग़रीब भिक्षुक ब्राह्मण रहता था। वह भगवद्भक्त और निर्लोभी था। प्रति दिन ९-१० बजे दिन को

स्नान-संध्या के लिए नदी जाता और वहाँ से एक घड़ा जल पीने के लिए भर लाता था। ग्रीष्म ऋतु में एक दिन दोपहर के समय वह नित्य-नेम कर घड़े में जल लेकर लौटा। उसने रेत में एक काले सर्प को छटपटाते देखकर उसे अपनी लकड़ी पर उठा लिया और एक झाड़ के नीचे ले जाकर घड़े के जल से उसे स्नान कराया। धूप और तप्त रेत से दुखी सर्प स्नान से चैतन्य हो गया; पर घड़े का सब पानी ख़र्च हो चुका था, धूप कड़ी होने से ब्राह्मण की हिम्मत फिर से पानी भर लाने की नहीं हुई; इसलिए वह खाली घड़ा लेकर घर लौट आया। वह ब्राह्मण अपने धर्म-कर्म में बड़ा कट्टर था; दूसरे के हाथ का पानी ले नहीं सकता था। पानी न होने से रोटी न बनाकर भूखे रह जाना ही उसने पसन्द किया। उसी रात को स्वप्न में सर्प ने दर्शन दिये और वर माँगने को कहा और प्रातःकाल मिलने का आदेश दिया।

दूसरे दिन ब्राह्मण जब स्नान ध्यान के लिए नदी गया, तो मार्ग में उसे एक दूसरा ब्राह्मण मिला। उसे हमारे ग़रीब ब्राह्मण ने रात के स्वप्न की बात याद कर पहिचान लिया और प्रणाम कर कहा—"यदि आप प्रसन्न हैं, तो मुझे यही वरदान दीजिए कि सर्प-जाति का विष, आपके आशीर्वाद और मेरे नाम के प्रताप से, उतर जाया करे।" ब्राह्मण-रूपी वह सर्प 'तथास्तु' कहकर अन्तर्हित हो गया।

यह ग़रीब ब्राह्मण मुकुन्दराम ही थे। महाराज के जीवन-काल में ही उनके नाम-स्मरण से सर्प-विष अलग होने लगा था। उनकी कीर्ति से आकर्षित हो उनके एक दो शिष्य हो गये। महाराज स्वयं रोगी को सामने आते ही अपनी लकड़ी से झाड़ देते और अच्छा कर देते थे। उनके पीछे अब उनके कई शिष्य उसी लकड़ी के टुकड़ों को शुभ मुहूर्त में अपनी लकड़ी से स्पर्श कर लेते हैं और फिर उसकी पूजार्चना किया करते हैं। शिष्य गण नियम से रहते हैं और महाराज के नाम की जय-ध्वनि कराकर रोगी को अच्छा कर देते हैं। अच्छा करने में अधिक से अधिक एक घंटे का समय लगता है। नाग-पञ्चमी के दिन खण्डवा में एक नागदेवता के स्थान पर उनके शिष्य-गण पूजा करते हैं। उस समय सभी धर्मों के लोग पहुँचकर प्रसाद चढ़ाते हैं।

यद्यपि मुकुन्दराम महाराज को अमर-पद प्राप्त किये ३०० वर्ष हो चुके, तथापि अनेकों रोगी, जिन्हें डाक्टर, वैद्य, हकीम आदि अच्छा नहीं कर सकते, उनका नाम स्मरण कर अब भी त्राण पाते हैं और इस प्रकार उनका पुण्य प्रति वर्ष संचित होता रहता है। कहना चाहिए कि वे मरे नहीं हैं, वे अक्षय पद वाले स्वर्ग-सिंहासन पर विराजमान हैं। ×

× जबलपुर में, मालदारपुरा के निवासी, बाबू पूर्णचन्द्रदत्त भी सर्पमंत्र के ज्ञाता हैं। अभी कुछ दिन हुए उन्होंने गनकेरिज फेक्टरी में दो रोगियों को अच्छा किया था। जिन पाठकों को सर्पमंत्र-विद्या में सन्देह हो वे कृपाकर उनसे अवश्य मिलें और अपना भ्रम निवारण करें।

—लेखक।

क्रान्ति और भावी भारत।

(लेखक—पंडित देवीदत्त मिश्र)

भारत की भावी क्रान्ति पर कुछ भी मत प्रगट करने के पूर्व यह जान लेना आवश्यक है कि क्रान्ति है क्या? यद्यपि क्रान्ति प्रकृति का एक व्यापक अंग है, तथापि 'क्रान्ति' शब्द कहते ही मानव-समाज, कहने वाले की ओर, आश्चर्यान्वित और भीति-पूर्ण दृष्टि से एकटक देखने लगता है। उसे यह नहीं मालूम कि मनुष्य स्वयं क्रान्ति का एक छोटा सा रूप है और न उसे यह मालूम कि क्रान्ति प्रकृति का एक उतना ही व्यापक अंग है जितना कि ईश्वर। क्रान्ति ईश्वरीय रचना का आवश्यक और प्रधान साधन है, वह प्रकृति के जीवन का जीवन है।

यदि क्रान्ति प्रकृति के अंग से विभक्त कर ली जाय, तो प्रकृति की वही दशा हो जो जीवात्मा के पृथक् होने पर मनुष्य के शरीर की होती है। शरीर तभी तक अपनी वर्तमान अवस्था पर स्थिर रह सकता है जबतक कि जीवात्मा उसमें विराजमान है। जीवात्मा-शून्य शरीर अपनी मौलिक अवस्था से विरक्त होता हुआ शनैः शनैः पंच तत्वों में मिल जाता है। इसी प्रकार क्रान्ति जो प्रकृति की जीवात्मा है यदि प्रकृति से निर्वासित कर दी जाय, तो उसकी अन्तर्गत सम्पूर्ण वस्तुएँ अपना अपना कर्तव्य छोड़ दें। वृक्ष सूख जायँ, सूर्य-चन्द्रादि नक्षत्रों की गति रुक जाय, ऋतु-परिवर्तन न हो और वर्तमान संसार का यह रूप ही बदल जाय। फिर उसका रूप कैसा हो, यह बताना कठिन है; क्योंकि वह ईश्वरीय शक्ति की अधिकृत बात है। उन्नत, नत, विस्तृत, संकीर्ण, बुद्धिमान् और मूर्ख—ये सभी क्रान्ति की परिवर्तित अवस्थाएँ हैं। इन अवस्थाओं के बीच में एक संघर्ष हुआ करता है और उसीको क्रान्ति कहते हैं। जन्म, मरण, पुनर्जन्म आदि क्या हैं? क्रान्ति। क्रान्ति का रुख सर्वदा नीचे से ऊपर की ओर होता है। जब आत्मा क्रान्तियों का अतिक्रमण कर लेती है, तब उसे वह अवस्था प्राप्त होती है जिसे हम मुक्ति कहते हैं। मुक्ति क्रान्ति की अन्तिम अवस्थाओं तक का परिणाम है।

जिस भाँति समयानुसार ऋतु-परिवर्तन हुआ करते हैं, उसी भाँति प्रत्येक समाज, प्रत्येक जाति और प्रत्येक देश में क्रान्तियाँ हुआ करती हैं। प्रश्न होगा कि क्रान्तियों का आधार क्या है? इनका आधार है एकमात्र असंतोष। मनुष्य का यह एक स्वाभाविक गुण है कि वह अपनी स्थिति से संतुष्ट नहीं रहता। उसकी इच्छाएँ मृग-तृष्णाएँ हैं। वह आगे ही बढ़ने का प्रयत्न किया करता है। यह बात दूसरी है कि किसी की गति मन्द और किसी की तीव्र हो; परन्तु आगे सभी बढ़ना चाहते हैं। प्रत्येक का उद्देश्य एक ही है। मनुष्य आगे बढ़ता है और मार्ग में अवरोध पड़ते हैं। वह उन्हें देखकर कभी हिचकता है और कभी साहसपूर्वक सामना करता है। सामना करने में संघर्षण होता है और तब इसे हम क्रान्ति कहते हैं। मशक के अन्दर भरा हुआ पानी तभीतक शान्त रहता है जबतक कि वह मशक किसी ओर से दबाई नहीं जाती; परन्तु उसको दबाते ही पानी में एक प्रकार का असंतोष उत्पन्न होता है जिसके फलस्वरूप वह

मशक के केन्द्र से बाहर होने की जगह ढूँढ़ता है, यहाँ तक कि दबाते दबाते जब उसके एक ओर का चमड़ा फट जाता है तब पानी अपने इच्छा-नुकूल उस संकीर्ण केन्द्र से स्वतन्त्र हो जाता है। असंतोष में वह शक्ति है जो किसी भी शक्ति में नहीं।

क्रान्ति के लिए बल का होना अनिवार्य नहीं है। उसके लिए आवश्यकता है असंतोष की। कभी कभी ऐसा होता है कि असंतोष होते हुए भी लोग क्रान्ति नहीं करते। इसका कारण यह है कि उनमें अभी पूर्ण असंतोष का आविर्भाव नहीं हुआ। असन्तोष जब अपनी सीमा तक पहुँच चुकता है, तब अपने विपक्ष में चाहे भी कितना बड़ा बल या शक्ति-संगठन क्यों न हो वह आत्म-बलिदान करने में पीछे नहीं हटता। परिणाम विजय हो या पराजय--उसकी न तो उसको चिंता है और न इच्छा ही। वह अपनी असंतोषाग्नि को बुझाता अवश्य है। वह उस समय असंतोष की अवस्था की अपेक्षा सब अवस्थाओं को अच्छा समझता है, चाहे वह आत्म-घात ही क्यों न हो।

यदि कोई कहे कि मानव-समाज से असंतोष दूर कर दिया जाय, तो क्या क्रान्तियाँ रुक जायँगी? बेशक, कारण कि वही उनका आधार है और जब वस्तु आधारहीन कर दी गई, तो उसकी स्थिरता कैसी? इसके साथ ही यह बात न भूलनी चाहिए कि असंतोष समय विशेष के लिए तो अवश्य अलग कर दिया जा सकता है; परन्तु उसकी जड़ कुछ समय पश्चात् फिर हरी हो उठती है और उसमें नई नई शाखाएँ फूटने लगती हैं, यहाँ तक कि क्रम से वह अपनी भूतपूर्व अवस्था को पुनः प्राप्त हो जाता है, और वही दशा फिर उत्पन्न हो जाती है--अर्थात् क्रान्तियाँ फिर से अपना स्वरूप धारण कर लेती हैं। लोग कह सकते हैं, क्या असंतोष की जड़ नहीं नष्ट की जा सकती? नहीं। क्रान्ति का फ़िल्म बड़ा ही विचित्र और विस्तारयुक्त है। जिस प्रकार लाठी का मारा पानी जुदा नहीं हो सकता, इसी प्रकार संसार से असंतोष अलग नहीं किया जा सकता। वह क्रान्ति का जीवन है और क्रान्ति संसार का जीवन है।

आधुनिक शताब्दिवालों का यह सौभाग्य है कि वे क्रान्ति के सजीव चित्र बड़ी सुगमता से सर्वत्र देख सकते हैं। वर्तमान संसार का प्रत्येक राष्ट्र इस समय क्रान्ति-मंच पर अपना अभिनय करने में संलग्न है। भारतवर्ष भी इन्हीं राष्ट्रों में से है।

लोगों का मत है कि यहाँ की क्रान्ति अन्य देशों की क्रान्तियों से भिन्न है। यहाँ की क्रान्ति शान्ति-पूर्ण है और अन्यों की अशांति-पूर्ण। लोग यह भी कहते हैं कि यहाँ इसी प्रकार की क्रान्ति द्वारा ध्येय-प्राप्ति की स्थापना होगी; परन्तु यह बात केवल तात्कालिक मतलब सिद्ध करने की चाल है। भविष्य-भारत की क्रान्ति (जो कि समीप है) अन्य राष्ट्रों की क्रान्तियों की समकालीन होगी और उसका होना मेरी राय में कोई पाप नहीं है। वह धर्म-युद्ध है। शारीरिक शक्ति को होम कर एक ऊँचे सिद्धांत की सफलता प्राप्त करना कोई पाप नहीं है--वह श्रेष्ठ धर्म है, बलि-दान करने में भी दृढ़ आत्मा की आवश्यकता होती

है। कायर युद्ध-क्षेत्र में विजय नहीं प्राप्त किया करते। जिन्होंने अपने शरीर को केवल कर्म करने का औजार माना है, जिन्होंने अपने सिद्धांत को इस नश्वर शरीर से कहीं अधिक मूल्यवान् समझा है और जिन्होंने 'शरीर नष्टप्राय है, आत्मा नहीं' इस मर्म को हृदयङ्गम किया है, वे ही युद्ध-क्षेत्र में धर्म के लिए न्याय देवी की वेदी पर शरीर की बलि देकर अपने सिद्धांत की रक्षा कर सकते हैं। सिद्धांत-रक्षा के मार्ग की बाधाओं का निवारण करना पाप नहीं है, वरन यह आगे आने वाली मनुष्य-जाति के प्रति बड़े उपकार का कार्य है।

भारतीय क्रान्ति अन्य राष्ट्रों की क्रान्तियों की समकक्षिनी होगी। इसका कारण यह है कि इस देश की क्रान्ति का उसी ओर रुख है जिस ओर कि अन्य राष्ट्रों का। इन दोनों प्रकार से क्रान्तियों का उद्देश्य एक ही है और वह है 'समानता'।

इस समय भारतीय क्रान्ति का वही रूप क्यों नहीं है जो कि अन्य क्रान्तिकारी देशों का है? इस प्रश्न का उत्तर यही है कि भारतीय क्रान्ति अभी अधिक परिपक्व और अनुभवयुक्त नहीं होने पाई। उसकी गति उन्नति की ओर अवश्य है। अन्य देशों की क्रांतियों की एक ऐसी अवस्था भी रह चुकी है जैसी कि आज भारतवर्ष की क्रांति की है। यह बात भिन्न है कि प्रत्येक देश अपनी वर्तमान स्थिति के हिसाब से क्रान्ति के साधन एकत्र करता हो; परन्तु साधनों के भेद से उनके सिद्धांतों में भिन्नता नहीं आती। कुछ लोग कहेंगे कि भारतीय क्रान्ति का सिद्धांत अन्याय को नष्ट करना है और अन्य राष्ट्रों की क्रान्तियों का अन्यायी को नष्ट करना है। हाँ, अभी ऐसा ही है; परन्तु मुझे इस लेख में यही बताना है कि भावी क्रान्ति का रूप क्या होगा।

उपरोक्त अन्याय के नष्ट करने और अन्यायी को नष्ट करने इन दोनों सिद्धांतों का परिणाम एक ही है। दोनों के कथन में भेद अवश्य है; परन्तु फल वही है। क्योंकि जब अन्यायी अनेक शान्ति-पूर्ण उपायों और समझाने-बुझाने पर भी अपना अन्याय-क्रम जारी रक्खेगा तब अन्याय के नष्ट करने वाले वीरों का कर्तव्य क्या होता है? वही जो अन्यायी को नष्ट करने वाले वीरों का होता है। इससे यह स्पष्ट है कि भारतीय क्रान्ति का भविष्य वही होगा जो अन्य देशों की क्रान्तियों का है। यह बात दूसरी है कि ये दोनों प्रकार के क्रान्तिकारी राष्ट्र क्रान्तियों के सफल होने पर और समानता स्थापित कर लेने पर अपने अपने देशों में अधिक सभ्य और कम सभ्य नियमों की रचना करें, लेकिन तबतक जबतक कि वे दोनों अपने ध्रुव पर नहीं पहुँचते, समान कर्म वाले नहीं हो लेते। वे एक न एक दिन समान प्रवृत्ति वाले होंगे। तभी तो आज भारतीय भी आयर्लैंड के राष्ट्रीय दल की ओर (जिसकी क्रान्ति का रूप भारतीय क्रान्ति से अभी भिन्न है) सहानुभूति-पूर्ण दृष्टि से देखते हैं और इतना ही नहीं, बरन मेकस्विनी तथा अन्य नेताओं के लिए शोक और सहानुभूति के प्रस्ताव पास करते हैं। यह सब इसीलिए कि दोनों का सिद्धांत एक है। वे दोनों ही अन्याय नष्ट करने और स्वतंत्रता स्थापित करने का मूल्य आत्म-बलिदान में चुकाने का निश्चय कर चुके हैं।

भारत की भावी क्रान्ति और असहयोग आन्दोलन से घनिष्ठ सम्बन्ध है। असहयोग की अहिंसा नीति ने भारत को भविष्य में हिंसापूर्ण

क्रान्ति करने के अनेक साधन उपस्थित कर दिये हैं, जिन साधनों में स्पष्टता और आत्म-बलिदान विशेष उल्लेखनीय और अनिवार्य हैं। जिस हिंसात्मक क्रान्ति की तैयारी के लिए बड़े बड़े षड्यन्त्रों की रचना की जाती है और जिनकी सफलतापर भी कोई विश्वास नहीं करता उसीको थोड़े ही समय में असहयोग ने पूरा कर दिया है। यह असहयोग ही है जिसने देश के हृदयों में एक ही प्रकार की लहर उत्पन्न कर दी है। इस काम में षड्यंत्र बहुत कम सफल हुआ करते हैं। एक बात और है जिसे षड्यन्त्र कभी उत्पन्न ही न कर सकते। वह है स्पष्टता। स्पष्टता आत्म-बलिदान में बड़ी ही सहायक होती है। देश के नैतिक जीवन में इस स्पष्टता का बहुत अच्छा प्रभाव पड़ा है। असहयोग स्वयं भी स्पष्टता का रूप है।

यद्यपि क्रान्ति का बीज क्रान्ति होने के कहीं पहले बोया जा चुकता है, तथापि कुछ समय तक वह भीतर ही भीतर अंकुरित होता रहता है। इसके अनन्तर उसमें नई नई पत्तियाँ और फिर शाखाएँ और इसके बाद वही बीज वृक्ष का रूप धारण कर लेता है। भारत की भावी क्रान्ति का बीज बहुत पहले ही बोया जा चुका है; परन्तु क्रान्ति की पास वाली घटनाओं पर लोग विशेष ध्यान देते हैं। यह प्राकृतिक नियम है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि क्रान्ति में उपस्थित नेता का जितना नाम होता है उतना उसके पहले के नेताओं का नाम नहीं हुआ करता; परन्तु वास्तविक दृष्टि से क्रान्ति के पहले होने वाले नेताओं का महत्व किसी प्रकार कम नहीं है। वे ही तो क्रान्ति के लिए साधन एकत्र कर जाते हैं। क्रान्ति में उपस्थित नेता फिर उन्हीं साधनों का बुद्धिमत्ता से उपयोग करता है। आधुनिक भारतीय जागृति में लो० तिलक की अदृश्य प्रतिमा खचित है, इस समय अदृश्य इसलिए कि राष्ट्र के संचालक अब महात्मा गांधी हैं।

महात्माजी के संचालन में आज देश असहयोग अनुष्ठान में लगा हुआ है। असहयोग बृटिश गवर्मेण्ट के अन्यायों से उत्पन्न भारतीय असंतोष का स्पष्ट स्वरूप है। इसी असंतोष के अन्तर्गत भारत की भावी क्रान्ति का रूप निर्मित हो रहा है। इसका निर्माण और भी तीव्र होता है जब कि दमन का उपयोग अधिकाधिक उन्नतावस्था को पहुँचता जाता है। यह दमन ही क्रान्ति का पोषक है, यह दमन ही भावी क्रान्ति-वृक्ष का खाद है। नीतिवान् चाहे तो क्रान्ति को रोक सकता है; परन्तु 'चाहे तो' के अन्दर बड़ी बड़ी कठिनाइयाँ हैं। शासक-दल का मस्तिष्क क्यों नीति का अवलम्ब लेने चला है जबकि उसके सामने उसकी बड़ी बड़ी फ़ौजों, मेशीनगनों, वायुयानों और जलयानों के चित्र प्रत्येक समय घूमा करते हैं, जब कि उसे ऊँचे ऊँचे दुर्गों के विचार स्वयंरक्षा के लिए संतुष्ट कर देते हैं। उसे यह कल्पना नहीं कि उसकी तोपें करोड़ों की भीड़ के सामने केवल खिलौने होंगी। उसे यह कल्पना नहीं कि उसके रक्षा-स्थान, बड़े बड़े दुर्ग, त्रिशंकोटि के केवल वन्देमातरम् की ध्वनि से हिलकर गिर पड़ेंगे।

इसीलिए भारत की भावी क्रान्ति अनिवार्य है। भारतीय असन्तोष इस समय सोख्ते पर पड़ी हुई स्याही की बिन्दु की भाँति प्रति दिन बढ़ता जा रहा है। इसकी अन्तिम कक्षा भीषण क्रान्ति होगी, जिसमें असन्तोष के कारणों की इति तथा शान्ति की प्रारंभिक रचना होगी। यह स्पष्ट है कि वर्तमान गवर्मेंट ही असन्तोष का हेतु है। यदि उसकी इति हो, तो किसी का दोष नहीं। यह ठीक ही कहा गया है—"The governments are not overthrown but that they commit suicide." अर्थात् शासन किसी के द्वारा नष्ट नहीं किये जाते, वे स्वयं ही आत्म-घात कर लेते हैं।



"कर्मवीर"-सम्पादक

श्रीकृष्ण-जन्म-स्थान-निवासी

पण्डित माखनलाल चतुर्वेदी ।

(यह फ़ोटो गत १२ जून, १९२१ को जबलपुर की कोतवाली में लिया गया था जहाँ कि चतुर्वेदीजी १२४ अ. के अनुसार होनेवाली अपनी गिरफ्तारी की ख़बर पाकर, अपने को गिरफ्तार कराने के लिए, कोतवाल सा० के पास, स्वयं, पहुँचे थे।)

Lakshmi Art, Bombay, No. 8

भारतीय आत्मा
पं० माखनलालजी चतुर्वेदी ।

(लेखक श्रीयुक्त ठाकुर लक्ष्मणसिंह, बी. ए., एल. एल. बी.)

"शत्रुओं पर भी हो न प्रहार"

--भारतीय आत्मा ।

यदि इस संसार में व्यक्तियों के जीवन का कुछ उद्देश्य और संदेश रहा करता है, तो अवश्य ही पं० माखनलालजी चतुर्वेदी के जीवन का उद्देश्य और संदेश विश्वप्रेम है। जीव-दया जो उनके कवित्व में उद्भासित होकर 'शत्रुओं पर भी हो न प्रहार' का अलाप छेड़ती है, प्रतिष्ठा-मूढ़ नौकरशाही की दमनाकुलसंहार-लीला में 'कर्म पर आओ हों बलिदान' का आवाहन करती है और इस दासता-बद्ध अवस्था में आक्रमणकारी राष्ट्रीयता की पताका उठाकर आगे बढ़ती है यह कहती हुई कि 'मा की पुकार हुई और मैं तैयार हूँ।' हृदय के उदात्त भावों और पवित्रतम आत्म-त्याग का परिमाण यदि कीर्ति के मानदण्ड से ही नहीं नापा जाता है और उसका नाप है, कठोर वचन सुनकर मुसकुरा देना, क्रूराघात पर केवल रो देना, कोई सर्वनाश करने को उतारू हो तौभी अन्तरात्मा से उसकी हित-कामना करना और सत्य के ऊपर बिना आह किये मर मिटना, तो पं० माखनलालजी चतुर्वेदी के भाव और त्याग बहुत उच्चकोटि के हैं। यह बात भिन्न है कि सुमन सिंहासन पर नहीं पहुँचा, वह पौधे की टहनी पर ही खिला और जिसके लिए खिला उसीके धक्के से बिखर गया; किन्तु इससे उस पुष्प का गौरव नहीं घट गया। चतुर्वेदीजी की विद्युत्संचारी कविता को पढ़कर ऊँचे साहित्य के प्रेमी अफ़सोस करते हैं कि चतुर्वेदीजी के राजनैतिक क्षेत्र में चले जाने से साहित्य ने अपना चिरप्रकाशी रत्न खो दिया। किन्तु सच बात तो यह है कि जो स्फूर्ति चतुर्वेदीजी की आत्मा में है उसकी संजीवनी का संचय अपनी ही तृप्ति के लिए करते रहने का स्वार्थ उन्हें स्वभावतः असह्य है। इसीलिए साहित्यिक एकांत के निरापद वैभव को छोड़कर वे राजनैतिक जंजाल में कूद पड़े। यह उनका बड़ा भारी आत्म-त्याग था और विशेषकर उस अवसर पर जब कि दो वर्ष की रुग्ण शय्या को, जो मृत्यु-शय्या मालूम होती थी, छोड़कर अभी पहले पहल दो तीन फ़र्लांग चलने में समर्थ हुए थे। प्रायः एक वर्ष तक वे चारपाई पर से अपने आप उठ नहीं सकते थे। पर ज़रा अच्छे होते ही उन्होंने अपने डाक्टर से राजनैतिक कार्य करने की इच्छा प्रकट की। डाक्टर मना करता था कि यदि तुमने पूरे एक वर्ष तक यहाँ आराम नहीं किया तो शीघ्र ही दूसरे लोक में जाकर आराम करना पड़ेगा; किन्तु इनका हठ था कि

पड़े पड़े आराम तो मिल सकता है, परंतु चैन नहीं मिलती; चैन तो तभी मिलेगी जब हमारी गुलामी की बेड़ियाँ टूटेंगी। दो वर्ष की बीमारी, कोई विशेषज्ञ कहते हैं क्षय, और कोई कहते हैं मंदाग्नि या आम्लपित्त के हिंसक आघातों से जर्जर-अस्थि चर्मावृत पिंजर को, या चतुर्वेदीजी के एक मित्र कहा करते हैं 'जीवित मक़बरे' को लेकर चतुर्वेदीजी कार्यक्षेत्र में आए। पहले खंडवा से 'प्रभा' को प्रकाशित करके वे अनुभव कर चुके थे कि वे कुछ कर सकते हैं और उन्हें बेचैनी थी कि मेरे सोये हुए प्रदेश को जगाने के लिए मैं कुछ अवश्य करूँ। यहाँ पर चतुर्वेदीजी के एक दोष का उल्लेख कर देना अनुचित न होगा कि उनके हृदय में भाव तो उठते हैं विश्वप्रेम के; किन्तु मध्यप्रदेश को 'मेरा' कहने की, उनमें निःसीम अनुदारता है। अन्य प्रान्तों के कई मित्रों ने, जिन्होंने उनकी बीमारी में निरंतर सहायता और सेवा करके उन्हें जीवदान सा दिया था, चतुर्वेदीजी को अपने प्रांत में रहकर साहित्यक या राजनैतिक, वे जो काम करना चाहें, करने का आग्रह किया; किन्तु यहाँ तो मध्यप्रदेश से 'मेरा'—पन अटूट रूप से जुटा हुआ था। उन्हें समझाया गया कि घर का जोगी जोगड़ा कहाता है; परंतु इस मस्ताने को तो अपने ही घर की धूल में आनन्द मालूम होता था। इन्होंने मध्यप्रदेश को ही अपना कार्यक्षेत्र बनाया। ये पहले खंडवा में रहते थे, वहीं इनका विकास हुआ। अतएव निवास का प्रेम और उत्थान की कृतज्ञता इन्हें जकड़कर खंडवे में रखना चाहती थी; परंतु यहाँ तो मध्यप्रदेश का मानचित्र हृदय में समाया हुआ था, खंडवे की अटक इन्हें न अटका सकी। इन्होंने जागृति के सूर्य का आभास देखने के लिए सुदूर क्षितिज पर दृष्टि दौड़ाई और देखा, कई अन्य भक्त भी अपने अपने दीपक लेकर सूर्य की पूजा की प्रतीक्षा में खड़े हैं। यह भक्तों का भक्त उनके पास दौड़ा गया और दो ही नहीं, तीन दिवाने मिल बैठे। इन तीनों ने मिलकर वह ज़ोर से मंत्रघोष प्रारंभ किया कि सूर्य को क्षितिज के ऊपर आना पड़ा, मध्यप्रदेश की जनता जागी और मदमस्त नौकरशाही चौंक पड़ी। एक ने आनंद और दूसरे ने विस्मय के साथ जबलपुर में 'कर्मवीर' को देखा, एक ने दर्शन किए और दूसरे ने समझ लिया कि आठवें बालक का जन्म हो चुका।

श्रीयुत चतुर्वेदीजी के संपादकत्व में 'कर्मवीर' ने मध्यप्रदेश की जो सेवा की है उसको आज मध्यप्रदेश की सीमा के बाहर का भारतवर्ष भी जानता है, क्योंकि कर्मवीर अपने छोटे से जीवन में ही प्रांतीय ही नहीं, भारतवर्षीय हो रहा है।

नौकरशाही इस जागृति के प्रवर्तक को कबतक अपनी प्रकाशमय झांकी का विस्तार करने देती। उसके छोटे-मोटे प्रयत्न व्यर्थ हुए। अन्त में, वह अपना शैतानी अंधेर लेकर चतुर्वेदीजी पर टूट पड़ी और परिणाम यह हुआ कि वे क़रीब ५ मास से बिलासपुर की जेल में क़ैदी हैं। उनका अपराध था कि उन्होंने "सच" बात कही, यह कि सन् सत्तावन में हमारे जो बापदादे लड़े वे बहादुर थे (कायर कभी लड़ ही नहीं सकते), ब्रिटिश राज के प्रेस-एक्ट ने हमें नामर्द बना दिया है। इसका समर्थन चतुर्वेदीजी

को ८ मास की कड़ी जेल की सज़ा देनेवाले मैजिस्ट्रेट मि० पारधी फ़ैसले में इस प्रकार कहते हैं कि महायुद्ध के समय काफ़ी रंगरूट नहीं मिले, इसका कारण सरकार का आर्मस--एक्ट बताया जाता है। दूसरी सच बात चतुर्वेदीजी ने यह कही कि डेढ़ सौ साल के अन्दर ब्रिटिश सरकार सिर्फ़ १० फ़ीसदी हिन्दुस्थानियों को पढ़ा सकी। इसको मैजिस्ट्रेट साहब अस्वीकार नहीं करते। तीसरी सच बात यह थी कि सरकार की नीति देश के हित के विरुद्ध है। इसका मैजिस्ट्रेट-साहब इस प्रकार समर्थन करते हैं कि माण्टेग-चेम्सफ़ोर्ड-सुधार-योजना की रिपोर्ट में लिखा है कि हिन्दुस्थान के लोग सरकार की आर्थिक नीति से बहुत असंतुष्ट हैं। चौथी बात यह कही कि हमारे यहाँ के स्वदेशी कपड़े के व्यापार को नष्ट करने के लिए कम्पनी के नौकरों ने जुलाहों के अँगूठे काट डाले (ये पुलिस के शब्द हैं; किन्तु सत्य यह है कि कम्पनी के नौकरों से तंग आकर जुलाहों ने अपने अँगूठे काट डाले)। पाँचवीं सच बात यह थी कि हिन्दुस्थान में अंगरेज़ लोग मुट्ठी भर हैं। यदि हम चाहें तो उनका कचूमर कर डालें; किन्तु कम तादाद वाले अंग्रेज़ों को मारना कायरता और नचिता है। छठवीं सच बात यह है कि सरकार को धोखा देने में हम सफल नहीं हो सकते; क्योंकि ब्रिटिश गवर्नमेन्ट को हम धोखेबाज़ी में नहीं जीत सकते और सातवीं सच बात चतुर्वेदीजी ने यह कही कि हम अहिंसात्मक असहयोग से इस सरकार की बिजली बुझा देना चाहते हैं। मैजिस्ट्रेट भी स्वीकार करते हैं कि चतुर्वेदीजी ने हिंसा का प्रचार नहीं किया, वे इस का भी सबूत कहीं नहीं पाते कि उनके भाषण का जनता पर क्या असर हुआ। तौभी वे कहते हैं कि बातें चाहें सच हों, तोभी अगर वे ऐसी हैं कि उनसे सरकार के प्रति घृणा उत्पन्न होती हो तो वे सच बातें कहना राजद्रोह है। इसलिए चतुर्वेदीजी को गत ५ जुलाई, १९२१ को आठ मास की कड़ी जेल दी गई। पाठक, फ़ैसले पर मुसकराना नहीं, न शंका करना कि इस फ़ैसले में कुछ रहस्य है। हमारी ब्रिटिश सरकार अपने मैजिस्ट्रेटों को D.O. (गुप्त आज्ञाएँ) जरूर भेजती है। हम उन्हें नहीं जानते; परन्तु हम यह जानते हैं कि चतुर्वेदीजी ने सुस्त मध्यप्रदेश में नई जान फूँक दी थी, नरसिंहपुर के नवाबों की नवाबी प्रकट की थी और उनके द्वारा संचालित 'कर्मवीर' निर्भयता-पूर्वक स्वतंत्रता की भेरी बजा रहा था।

नरसिंहपुर के कुशासन की जाँच का प्रश्न उठने पर कौंसिल में होम-मेम्बर मि० जोशी ने तारीख़ ४ मार्च १९२१ को कहा था कि कर्मवीर के सम्पादक (पं० माखनलालजी चतुर्वेदी) पर मुक़द्दमा चलाने का प्रश्न मंजूरी के लिए सरकार के पास गया है। स्पष्ट है कि यह मुक़द्दमा चलनेवाला था नरसिंहपुर के कुशासन की निर्भीक आलोचना करने पर; किन्तु सरकार ने मंजूरी दी बिलासपुर के १२ मार्च १९२१ के भाषण के लिए चतुर्वेदीजी पर मुक़द्दमा चलाने की। इस प्रकार ऊधव का बदला माधव के बहाने लिया गया और वह भी किस घटना पर जब चतुर्वेदीजी बीमार थे, अत्यन्त आग्रह करने पर परिषद् में शायद दस—पन्द्रह मिनट बोले और इतने धीरे धीरे कि पास के लोग भी कठिनाई से सुन पाते थे। उनके भाषण के बीच में पण्डाल की रोशनी भी बुझ गई थी। वह भाषण विप्र-

बाधा-पूर्ण अवश्य था; पर सरकार ने उसे राज-द्रोह-पूर्ण माना।

उस दिन पण्डाल में दो सब-इन्सपेक्टर और दो ई. ए. सी. व्याख्यानों के नोट लेने गये थे। सरकार ने उनमें से दो सीनियर (अधिक साल के) अफ़सरों को गवाही में नहीं बुलाया; किन्तु नए अफ़सरों का गवाही में बुलाया और बुलाया जमींदार कहलानेवाले एक व्यक्ति को जो, कहा जाता है, चतुर्वेदीजी के भाषण के समय नहीं, किन्तु दूसरे दिन पहलेपहल परिषद में आया था और सरकार का जीहुजूर होने के कारण जनता ने जिसका स्वागत तालियाँ पीटकर किया था! खैर, सरकारी अदालत तो ठहरी, फ़ैसला दे दिया गया। चतुर्वेदीजी ने असहयोगी होने के कारण अपनी तरफ़ से कोई पैरवी नहीं की। फ़ैसला सुनकर लोगों और समाचार-पत्रों के मुँह से यही निकला, बेचारा जज क्या करे, उसे अपनी नौकरी का भी तो ख्याल था। उसने एक साल की सज़ा नहीं दी, यह क्या कम किया!

फ़ैसला, न्याय करने की इच्छा और किसी दबाव के नीचे झुकने की विवशता, न्यायी भाव और अन्यायी क्रिया, आत्मा और शैतान के द्वंद्व का चित्र है और उसका परिणाम निकला अन्याय और शैतान की विजय! यह स्वाभाविक था। फ़ैसले के बाद ही चतुर्वेदीजी के हृदय ने स्वराज्य के द्वार, श्रीकृष्ण-जन्मस्थान, जेल में जाकर शान्ति पाई और सज्जन मैजिस्ट्रेट के दुःखित हृदय ने कुछ ही दिन बाद शान्ति पाई मृत्यु की गोद में, जहाँ वे पापियों की आज्ञा मानने को बाध्य नहीं होंगे; किन्तु सरकार लोगों के कुतर्कों को सुनकर, मृत मैजिस्ट्रेट के पीछे एक सर्टिफ़िकेट लेकर दौड़ी। उसने सी० पी० गजट में मि० पारधी की मृत्यु पर शोक प्रकट करते हुए इस बात पर जोर दिया कि वे न्यायात्मा (Conscientious) अफ़सर थे। हम ईश्वर से प्रार्थना करते हैं कि सरकार के इस सर्टिफ़िकेट की आवाज़ मि० पारधी तक न पहुँचे, नहीं तो परलोक में भी उन्हें शान्ति न मिलेगी।

अस्तु, न्याय का परिणाम यह हुआ कि जिस आदमी के जीवन का सिद्धान्त अहिंसा हो, जिसका ध्येय हो 'शत्रुओं पर भी हो न प्रहार,' जिसका हृदय माखन के ही समान कोमल हो और जिसने बात सच कही हो किन्तु कही हो जीवित शब्दों में, वह व्यक्ति आज ब्रिटिश जेल में है। किन्तु, जेल में जाते हुए उनके ये शब्द आज भी उनकी आत्मा को हमसे अविभिन्न कर रहे हैं:—

पिंजड़े के द्वार से कहता हूँ मुझे याद रहो।
क़ौम को ज़िन्दा रखो जीते रहो शाद रहो॥
'फूलों के हार'—नहीं हार से हटना सीखूँ।
प्यारी ज़ंजीर से जाने दो लिपटना सीखूँ॥
लेके ढेरा मज़े से रस्सियाँ बटना सीखूँ।
धक्के खाते हुए स्वच्छन्द हूँ ये रटना सीखूँ॥

× × × ×

फ़क़त ये कहना है मुझे तुम्हें जाते जाते।
चार महीने हैं और दिन हैं यों जाते जाते॥
मर के मिट जाना जो जीते जी गुलाम रहो।
करके दिखलाना माता कहीं बदनाम न हो॥
लौटूँ तो देखूँ, ज़माने को वीर याद हो तुम।
या तो दुनियां में न हो, हो तो आज़ाद हो तुम॥
शान्त रहना, न उभाड़े से उभड़ना हरगिज़।
एक हो तुम न बिगाड़े से बिगड़ना हरगिज़॥

सेवा करते हुए मैंने कई अपराध किये।
बचते बचते भी मैंने भाई दिल दुखा ही दिये॥
मानो तो जी की एक अपनी और बात कहूं।
देश तुम्हें याद रहे मैं न तुम्हें याद रहूं॥
माया ममताएं हटा लो सुखी दीवाने से।
गम मनाना न कभी मेरे चले जाने से॥
मातृ-वेदी पर था बलिदान तो होने ही को था।
आज या कल यहां महमान तो होने ही को था॥

पाठक, क्षमा करना, चतुर्वेदीजी का परिचय मैंने बाल्यकाल और विद्यार्थि-अवस्था से नहीं शुरू किया, उनके बालचरित्रों को उनके मातापिता जानें जो अपनी वृद्धावस्था में प्यारे पुत्र को मातृभूमि के लिए जेल जाते देख अपने को धन्य समझ रहे हैं। मैंने उनके साहित्यिक जीवन का परिचय भी नहीं दिया; क्योंकि खण्डवा से प्रभा के जन्मदाता और सम्पादक की हैसियत से उन्हें हिन्दी-संसार जानता है, 'कर्मवीर' के जन्मदाता, सञ्चालक और सम्पादक की हैसियत से उन्हें जनता पहिचानती है और एक भारतीय आत्मा के नाम से वीरता की बिजली का संचार कर देने वाली कविता जिसने पढ़ी है उसे उनकी शक्ति का अनुभव हो चुका है। मैं उच्च कोटि के कवि की जीवनी भी नहीं लिखने बैठा था, न ओजस्वी वक्ता का वर्णन, न धूम मचा देनेवाले सम्पादक का चरित्र, और न किसी तेजस्वी आत्मा का परिचय जो दुबली-पतली देह में, निर्धनता के क्रूर पाश में और कठिन परिस्थितियों के जंजाल में न फँसी, न दबी, न नष्ट हुई; किन्तु जिसने स्वयं आगे बढ़कर दूसरों को भी बढ़ाया। मैं तो लिखने बैठा हूँ माता के एक नम्र सेवक के बलि-दान की छोटी सी कहानी जिसे भविष्य का इतिहासकार चाहे भूल जावेगा; किन्तु भविष्य के भारत की स्वतंत्रता उसकी गवाही रहेगी।



विविध विषय।

(१) अपूर्व स्वागत।

श्रीमान् ड्यूक ऑव कनाट आये और चले गये। उनके आने के पहले, बहुत से लोग जो उनके स्वागत के पक्ष में थे, सोच रहे थे कि ड्यूक साहब, बाजीगर के समान, अपने थैले में ऐसा कुछ लावेंगे जिस 'कुछ' को देखते ही लोग विस्मय-विमुग्ध और मोद-मग्न हो जावेंगे। ड्यूक सा० क्या लाये और क्या दे गये यह तो वे ही लोग जानें जो उनसे कुछ पाने की आशा लगाये बैठे थे, हमें तो कुछ नहीं मालूम कि वे क्या लाये और "आज्ञाकारी सेवक होने में सन्मान मानने वालों" को या प्रजा को ही क्या मिला। हमने देखा कि उनका शुभागमन, ससुराल में दामाद के सर्वप्रथम आगमन के समान, नाच-रंग के लिए था और वही नाच-रंग हुआ। दारिद्र्य-परवश तथा असन्तोषाग्नि में धधकते हुए भारत पर बनावटी सन्तोष और राजभक्ति का यह लेप चढ़ाया गया कि वह थोड़े समय के लिए चूना-पुती क़बर सा दिखने लगा। भारत से ड्यूक सा० के पीठ फेरते ही सोंटेशाही का वह दंगल मचा, वह दमन-दावानल प्रज्वलित किया गया कि सहस्रों देशभक्तों की आहुतियाँ हो गईं; और अब भी 'स्वाहा-ध्वनि,' प्रशान्त महासागर में लीन न होकर, भारत-मन्दिर के कोने कोने में प्रतिध्वनित हो रही है। ड्यूक सा० को पधार चुके आज अनेक मास होते आते हैं, और हमारा अनुभव इसी बात को पुष्ट करता

है। सौभाग्य से हम किसी कौन्सिल के मेम्बर नहीं हैं, नहीं तो प्रो० साह्नी सदृश कोई राज-भक्ति-शिक्षक, हमारे ऐसा कहने पर, हमें कौंसिल से बाहर जाने का दरवाज़ा बताते।

अब ड्यूक सा० के नाती, अर्थात् राजराजेश्वर पंचम जार्ज के चिरञ्जीव श्रीमान् प्रिंस ऑव्-वेल्स महोदय यहाँ पदार्पण करने वाले हैं,× और लोगों से कहा जाता है कि उनका स्वागत करो। सच्चा स्वागत तो उसका किया जाता है जो हमारे निमंत्रित करने पर या स्वयं बिना कोई सूचना दिये, अतिथि के रूप में, अचानक आ जाता है; पर प्रिंस ऑव् वेल्स महोदय के सम्बन्ध में ऐसी कोई बात नहीं है। भारत-सरकार जनता की सम्मति लिए बिना ही उन्हें बुलाने का निश्चय कर चुकी है और इतना कर चुकने पर उनके स्वागत का प्रस्ताव कौंसिल ऑव स्टेट तथा लेजिस्लेटिव असेम्बली में रखा जाता है। कौंसिल ऑव स्टेट में सैयद रजाअलीने सरकार के अनुचित ढंग की भर्त्सना की, यद्यपि उन्होंने स्वागत का विरोध, प्रत्यक्ष रीति से, नहीं किया; परन्तु इसपर से ही सरकार को समझ लेना था कि हवा की गति किस ओर है। लेजिस्लेटिव असेम्ब्ली में प्रत्यक्ष विरोध हुआ और विरोध करने वाले थे मध्यप्रदेश के प्रतिनिधि बिलासपुर–निवासी पं० कुंजविहारीलालजी अग्निहोत्री। इस अवसर पर श्रीयुक्त अग्निहोत्रीजी ने जो निर्भीकता और विचार-स्वतंत्रता प्रकट की वह सर्वथा प्रशंसनीय है। अग्निहोत्रीजी का बोलना था कि समस्त कौरव-सभा में कोलाहल मच गया। 'राजभक्ति' शब्द की वह खींचातान मची कि द्रौपदी की साड़ी क्या खींची गई होगी। वह दृश्य अवश्य ही देवताओं के देखने-योग्य रहा होगा जबकि अग्निहोत्रीजी के अत्यन्त शिष्ट भाषा में स्वागत-प्रस्ताव का सकारण और उचित विरोध करने पर, दूसरों को शिष्टता सिखाने का दावा रखने वाले तथा अपनी बुद्धि के अंश को संसार भर की जनता की बुद्धि से अधिक समझने वाले लोग आग-बबूला हो रहे थे। विचार-सहिष्णुता की हद हो गई!

हमने अग्निहोत्रीजी के पूरे भाषण को बहुत ध्यानपूर्वक पढ़ा। हम नहीं समझते कि उन्होंने ऐसा क्या कहा जिससे उनकी ली हुई राजभक्ति की शपथ टूटती हो। हाँ, इतना हम अवश्य कहेंगे कि उन्होंने वह कहा जो अधिकांश जनता आजकल सोच रही है और उस शिष्ट और सौम्य भाषा में कहा जिसका प्रयोग हिंसा-रहित असहयोग को माननेवाली जनता करती और करना चाहती है। यदि जनता के विचारों को कौंसिल में प्रगट करना कोई अपराध है, तो जनता के प्रतिनिधियों के लिए कौन्सिल का दरवाजा बंद रहना चाहिए, और इसीलिए कौन्सिल ने उसे बन्द समझा है। अब अग्निहोत्रीजी कौंसिल का नाटक देख आये और अनुभव कर गये परिस्थिति की वह कठिनाई, जिसमें रहकर प्रजा का हितचिन्तन करना अत्यन्त दुष्कर है।

श्रीयुत अग्निहोत्रीजी ने कौन्सिल में उचित शिष्टता के साथ जो कुछ कहा उसका सार यह है—मैं भलीभाँति जानता हूँ कि राजभक्ति एक ऐसा गुण है जो भारतवासियों की नस नस में भिदा हुआ है और यही कारण है जो समय समय पर जनता पर किये गये अत्याचारों के दुःख को राजभक्ति के मधुर व्याख्यान सुनाकर मिटाने का प्रयत्न किया जाता है। अतिथि की सेवा हमारे धर्म का प्रधान अङ्ग है। शत्रु-सम

× इस अंक के छपते छपते वे पदार्पण कर भी चुके।

जन भी यदि हमारे घर पर आवे, तो उसकी सेवा करने का आदेश हमारे शास्त्र हमें देते हैं। मेरा निवास ऐसे स्थान में है जहाँ किसी समय राजा मोरध्वज ने, अतिथि-सत्कार के लिए, अपने एकमात्र पुत्र को आरे से चीरने में भी संकोच नहीं किया था। अतिथि--सत्कार का यह उच्च भाव धनी और निर्धन सब में आज भी विद्यमान है। यही भाव है जिससे प्रेरित होकर भारतवासी दूसरे देश के निवासियों को जिन्हों ने हमें सत्व-हीन तथा हमारे भाइयों के साथ अमानुषिक व्यवहार करने में कुछ भी नहीं उठा छोड़ा अपने देश में आश्रय देते आये हैं। यह तो साधारण जनों के अतिथि-सत्कार की बात है। राजा को हम लोग ईश्वर की विशेष विभूति से युक्त मानते आये हैं, फिर उनका आतिथ्य करना तो हम लोगों का परम सौभाग्य होना चाहिए। मुझे खेद के साथ कहना पड़ता है कि देश की आर्थिक तथा राजनैतिक परिस्थिति ऐसी है कि श्रीमान् प्रिंस आव वेल्स के पधारने के लिए यह समय उपयुक्त नहीं है। गत वर्ष आय से अधिक जो व्यय हुआ उसे पूरा करने के लिए इस वर्ष नये टैक्स लगाये गये, और इस वर्ष फिर ऐसे लक्षण दिखते हैं कि व्यय अधिक होगा और इसका प्रभाव देश पर कई वर्षों तक रहेगा। इसके सिवा देश भरमें दुर्भिक्ष की जो छाया पड़ रही है वह आप लोगोंको विदित ही है। खिलाफ़त और पंजाब के अन्याय के साथ ही नौकरशाही की दमन-नीति से जो दुःख हुआ है उसे जनता इस प्रकार नहीं भूल सकती है। इन क्षुब्ध भावों को श्रीमान् ड्यूक आव कनाट महोदय का शांति-पाठ सन्तुष्ट नहीं कर सका है। इसमें सन्देह नहीं, राजा का पद राजनीति, दलबंदी आदि के परे है; परन्तु जनता समझती है कि नौकरशाही इसीका अनुचित लाभ उठाना चाहती है, और इसीलिए जनता समझती है कि श्रीमान् प्रिंस का आगमन एक राजनैतिक चाल है। विचित्रता तो यह है कि इस सुधार-युग में जनता के प्रतिनिधियों की सम्मति लिये बिना ही, इसका निश्चय कर लिया गया है। आप जरा इस प्रस्ताव पर विचार करते समय यह न सोचिए कि इस शुभागमन के सम्बन्ध में जनता के क्या भाव होने चाहिए, पर यह सोचिए कि जनता के क्या भाव हैं और उस समय क्या होंगे। मुझे तो देश-व्यापी आन्दोलन को देखकर यह विश्वास होता है कि जनता इस आगमन का बहिष्कार करेगी। ऐसी दशा में आपका जो अपने को जनता के प्रतिनिधि समझते हैं, इस प्रस्ताव का पास करना कहाँ तक प्रतिनिधि-स्वरूप होगा इसका विचार आपही करें। आप इसका भी विचार करें कि जब प्रिंस महोदय यहाँ पधारेंगे और जनता उनका स्वागत न करके हड़ताल मनावेगी, तब प्रिंस महोदय के हृदय में आप लोगों के प्रति क्या भाव होंगे। अतः मैं चाहता हूँ कि सरकार अनुरोध करे कि श्रीमान् प्रिंस आव वेल्स महोदय अभी न पधारकर कुछ समय के पश्चात् अधिक सुख-मय अवसर पर पधारें और उस समय उनका ऐसा स्वागत किया जाय जैसा कि धर्म-प्राण भारतवर्ष की ओर से किया जाना चाहिए।

अग्निहोत्रीजी ने जो कुछ कहा उसका सारांश हो चुका। पाठक स्वयं विचार करें कि इन विचारों में ऐसी कौनसी बात है जिससे वक्ता की राजभक्ति की शपथ टूटती है। विचार-

स्वातन्त्र्य का गला घोंटने वाली तथा जनता की आवाज़ को सरकार के कानों तक पहुँचाने के इच्छुक प्रतिनिधि का मुँह बन्द करने वाली ऐसी लेजिस्लेटिव असेंब्ली को दूर से ही नमस्कार।

(२) मुसलमान से फिर हिन्दू।

जिस प्रकार सजीव भाषा वह है जो दूसरी भाषाओं के शब्दों को, आवश्यकतानुसार, अपने में मिला ले, उसी प्रकार सजीव धर्म वही समझा जाता है जो दूसरे धर्मावलम्बी को अपने में मिलाने को तैयार रहता है। खेद है, हिन्दू धर्म आज अनेक शताब्दियों से उस जलाशय के समान हो रहा है जिससे अनेक नदियाँ बाहर तो निकलती हैं; पर एक भी नदी उसमें नहीं आती। इसका परिणाम यह हुआ है कि हिन्दू धर्मावलम्बियों की संख्या दिनोंदिन संकुचित होती जा रही है। लगभग १ हज़ार वर्ष पहले, भारतवर्ष में, मुसलमानों की संख्या कुछ नहीं के बराबर थी; पर आज भारतवर्ष में लगभग ७ करोड़ मुसलमान पाये जाते हैं। यहाँ यह कहा जा सकता है कि ये मुसलमान दूसरे देशों से आकर बस गये होंगे; पर नहीं, बात ऐसी नहीं है। मि० टानशेंड "एशिया और यूरोप" नामक अपने ग्रंथ में, पृष्ठ ४३ पर, लिखते हैं कि "भारतवर्ष में इस समय जितने मुसलमान बसते हैं उनमें से सैकड़ा पीछे कम से कम ६० ऐसे हैं जो जन्म से हिंदू हैं"। इससे स्पष्ट है कि इस देश में जो लगभग सात करोड़ मुसलमान हैं, ईसाई आदि धर्मों में जो लोग चले गये हैं उन्हें छोड़ दीजिए, उन्होंने या उनके पूर्वजों ने हिन्दू कुलों में जन्म लिया था और हिन्दुओं ने अपने इन धर्मान्तरित भाइयों को सदैव के लिए धर्मभ्रष्ट कर डाला। हिंदू धर्म के लिए यह बड़ा भारी भय-स्थान है। यदि दूसरे धर्मों में चले गये हिन्दू भाई, किसी उपाय से, हिन्दू धर्म में फिर नहीं मिलाये जाते, तो हिन्दू जाति कुछ समय में अतीत काल की कथा के समान स्मरण आया करेगी।

पाठकों को विदित ही होगा कि मलाबार में मोपला लोगों ने अनेक हिन्दुओं को ज़बरदस्ती मुसलमान बना लिया है, इसलिए इस समय देश के सामने बड़ा महत्व-पूर्ण प्रश्न उपस्थित है कि ज़बरदस्ती मुसलमान बनाये गये हिन्दू फिर हिन्दू-क्षेत्र के भीतर ले लिये जायँ। स्थान स्थान में सभाएँ होकर इस विषय के अनुकूल मत प्रकट किया जा रहा है। कट्टर से कट्टर मुसलमान, मोपलाओं के इस धर्मान्धता-युक्त कार्य की निन्दा मुक्त-कण्ठ से कर रहे हैं। महात्मा गान्धी लिखते हैं—"कुरानशरीफ में ऐसा कहीं उल्लेख नहीं है कि लोग ज़बरदस्ती मुसलमान बनाये जावें। उसमें स्पष्ट लिखा है, 'धर्म की नींव बल-प्रयोग पर स्थित नहीं है।' मुहम्मद सा० का समस्त जीवन ही धार्मिक कार्यों में बल-प्रयोग के अवलम्बन का विरोध करता है। जहाँतक मैं जानता हूँ, ऐसा कोई मुसलमान नहीं है जिसने कभी बलप्रयोग के पक्ष का समर्थन किया हो।" दूसरी ओर धर्म-प्राण हिन्दू लोग यह सम्मति प्रगट कर रहे हैं कि जो हिन्दू लोग ज़बरदस्ती मुसलमान बनाये गये हैं वे पुनः हिन्दू बना लिये जावें। माननीय मालवीयजी ने लिखा है—"मेरा दृढ़ विश्वास है कि ज़बरदस्ती बनाये जाने से ही हिन्दू मुसलमान नहीं हो गये, वे हिन्दू ही हैं। ज़बरदस्ती और दबाव के कारण यदि उनको कुछ

धर्म-विरुद्ध बातें करनी पड़ी हैं, तो उसके लिए प्रायश्चित्त की ज़रूरत पड़ेगी। यदि ज़रूरत हुई तो कुछ समय बाद मैं स्वयं मलाबार पहुँचूँगा और वहाँ के हिन्दुओं से अनुनय-विनय करूँगा कि ज़बरदस्ती मुसलमान बनाये गयों के साथ वे उदारता का व्यवहार करें जो कि हिन्दू धर्म के उच्च और पवित्र सिद्धान्तों के सर्वथा अनुकूल है।" पूज्य श्री० शंकराचार्य, डा० कुर्तकोटि, की स्पष्ट सम्मति है कि धर्मशास्त्र में इसका पूर्ण विधान है कि ज़बरदस्ती धर्म-च्युत किये गये लोग पुनः अपने धर्म में लाये जा सकते हैं। कलकत्ते से श्रीयुत शैलेन्द्रकृष्ण वसु लिखते हैं कि मत्स्यपुराण (२१५, ६२) में लिखा है कि जो लोग जाति-च्युत हो गये हैं उन्हें राजा उनकी जाति में फिर मिला देवे। यह अवश्य ही शुभ चिह्न है। हिन्दू-धर्म अपनी संकीर्णता को छोड़ उदार नीति का अवलम्बन कर रहा है यह हिन्दू जाति और हिन्दू धर्म दोनों के लिए कल्याण-कारक है।

इसके साथ ही, एक प्रश्न और उपस्थित हो सकता है जो यद्यपि समाचार-पत्रों और सभाओं में नहीं उपस्थित किया जा रहा है। प्रश्न यह है कि मोपलाओं ने जिन हिन्दुओं को ज़बरदस्ती मुसलमान बना लिया है उन्हें लेने के लिए आप हिन्दू धर्म का फाटक खोलने को तैयार हैं; परन्तु जिन मुसलमानों या अन्य जातिवालों ने कुछ हिन्दुओं को, अनुचित धर्मावेश में आकर, ज़बरदस्ती, मुसलमान या अपना जाति का बना लिया है, चाहे यह घटना एक हजार वर्ष पहले ही क्यों न हुई हो, क्या आप उन्हें फिर हिन्दू बनाने को तैयार नहीं हैं? प्रश्न न्यायोचित है; और धर्माधिकारियों को इसपर भी विचार करना चाहिए। यह प्रश्न केवल मलाबार के हिंदुओं का नहीं, वरन हिन्दू जाति और हिंदू धर्म का है।

(३) मलाबार में मार्शल ला।

पंजाब में राजविद्रोह बताकर, शांति-स्थापना के नाम पर, जब सरकार ने मार्शल ला का उपयोग किया था, तब तो भारतवर्ष में एक छोर से दूसरे छोर तक खलबली मच गई थी; किन्तु मलाबार में मोपलाओं का उपद्रव शान्त करने के लिए जो मार्शल ला का उपयोग अभी किया गया है उसपर प्रायः किसीने भी आवाज नहीं उठाई। यद्यपि अभी तक मोपलाओं के उपद्रव की बिलकुल सच्ची खबर किसी ग़ैर-सरकारी विश्वसनीय सूत्र से प्रकाशित नहीं हुई है, तथापि यह सब मान सा बैठे हैं कि मोपलाओं ने दरअसल में कुछ ऐसा उपद्रव किया है जो क्षन्तव्य नहीं और इसीलिए प्रायः सब चुप हैं। जिस प्रकार मोपलाओं के कुछ देशभक्तिपूर्ण कृत्यों का समर्थन कई दिशाओं से हुआ है, उसी प्रकार उनके देश-द्रोही कृत्यों की खुले शब्दों में लाञ्छना भी खूब की गई हैं। पंजाब और मलाबार के उदाहरणों पर से सरकार को यह जान लेना चाहिए कि भारतीय जनता उपद्रव और आन्दोलन में जो भेद है उसे अच्छी तरह समझती है, और इस समझ का ही परिणाम है कि वह पञ्जाब के उस हत्याकाण्ड और 'निर्णय की भूल' को जिसके कारण सरकार देश-देशान्तरों में ही बदनाम हो चुकी है, किसी भी प्रकार भूल नहीं सकती और उसका प्रायश्चित्त कराने पर भी डटी है। 'लीडर सरीखा सहयोगी पत्र भी इस बात को मानता है

कि " फिर इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि पञ्जाब में जो घाव हो चुके हैं वे अभी तक पुर नहीं सके हैं।"

इस तुलना से हमारा यह मतलब नहीं कि हम मलाबार में मार्शल ला के प्रयोग का समर्थन करते हैं। बिलकुल सच्ची घटना जाने बिना उसका समर्थन कोई भी नहीं कर सकता; पर हाँ, इसकी तुलना से पंजाब में मार्शल ला जारी करने में सरकार की जो दुर्नीति रही है वह और भी प्रकट हो जाती है।

(४) गेहूँ की महँगी।

देश भर में गेहूँ की हाय हाय मची है। गेहूँ की पिछली फ़सल अच्छी आने पर भी उसकी वर्तमान महँगी लोगों को आश्चर्य-चकित कर रही है। पर आश्चर्य की कोई बात नहीं है। सरकार की वेही पुरानी चालें हैं और वेही इस महँगी के लिए उत्तरदायी हैं। देश की माँग का विचार न करके सरकार मनमाने परिमाण में गेहूँ विदेशों को भेज चुकी है। यही इस महँगी का मूल कारण है।

अभी उस दिन, अर्थात् गत २८ सितंबर को, बड़ी व्यवस्थापिका सभा में, एक प्रश्न के उत्तर में, सरकार की ओर से कहा गया कि पहली अप्रेल से छठवीं अगस्त तक, सन् १९१९ में ३,३०६ टन, १९२० में ३,६९२ टन और इस वर्ष ९२,२७० टन गेहूँ भारतवर्ष से विदेश को गया।

मतलब यह कि इस वर्ष, गत ४१/४ मास में, ९२,२७० टन या लगभग २० लाख मन गेहूँ इस देश से, सदा के लिए, सात समुद्र पार चला गया।

फिर भी, इस देश में गेहूँ महँगा न हो तो हो क्या? सरकार का इसमें कोई भारी दोष नहीं; क्योंकि वह विदेशी ठहरी और उसे विदेश के लोगों का भी ख़याल करना पड़ेगा। भारतवर्ष स्वराज्य क्यों चाहता है, इसका भी तत्त्व इसी में है।

(५) गेहूँ की महँगी का रहस्य।

लोग बहुधा पूछा करते हैं—"क्या स्वराज्य मिलने से गेहूँ सस्ता हो जायगा?" इसका उत्तर समझने के लिए गेहूँ की महँगी का मूल कारण जानना चाहिए। यह तो सभी जानते हैं कि देश में इतना अनाज उत्पन्न होता है कि देश-वासियों की उदर-पूर्ति भलीभाँति हो सकती है। पर हमारी विश्व-हितैषिणी सरकार को देश के बाहर के लोगों का ख़याल करना पड़ता है। भारत में अनाज किसी वर्ष भले ही कम हो; पर यदि किसी देश में अनाज की आवश्यकता हो, भारतवर्ष उसे अन्न-दान देगा। जिस प्रकार कुटुम्ब के लोग आपस में बाँटकर खाते हैं, उसी प्रकार वसुधा को कुटुम्ब मानने वाली ब्रिटिश सरकार दूसरे देशों में अनाज की कमी देखकर भारत का धान्य वहाँ भेजने का प्रबन्ध करती है, चाहे इससे भारत को अन्न-कष्ट भले ही हो। इसी शुभ विचार से प्रेरित होकर भारत-सरकार भारत का धान्य दूसरे देशों को भेजती है।

इस वर्ष भारत में अन्य वर्षों की अपेक्षा ३४ सैकड़ा गेहूँ कम हुआ। पिछले वर्ष गेहूँ २,९९,४९,००० एकड़ भूमि पर बोया गया

था; परन्तु इस वर्ष वह २,५७,२२,००० एकड़ में ही बोया गया। इतने पर भी, वृष्टि यथेष्ट न होने से, इस वर्ष उपज भी कम हुई। और वर्ष तो उपज प्रति एकड़ ७५७ पौण्ड होती थी; पर इस वर्ष ५८४ पौंड ही हुई।

अन्य देशों में उपज अच्छी हुई जो नीचे लिखे अंकों से प्रकट होता है—

गेहूँ की उत्पत्ति एकड़ों में

	१९२१ में	१९२० में
अमेरिका	५,६७,४४,०००	५,७१,९२,०००
कनेडा	१,८६,५४,०००	१,८२,३२,०००
फ्रान्स	१,२८,५५,०००	१,२०,९७,०००
इटली	१,१४,९१,०००	१,१२,९०,०००
स्पेन	१,०३,५६,०००	१,०२,५५,०००
बल्गेरिया	२३,६७,०००	२१,३१,०००

इस वर्ष भारतवर्ष में गेहूँ की पैदावार कम होने पर भी, भारत-सरकार ने यहाँ का गेहूँ दूसरे देशों को भेजना उचित समझा, और भेजा भी कितना ? और वर्षों की अपेक्षा १६–१७ गुना अधिक ! सन् १९१९ में, पहली अप्रेल से लेकर १७ सितंबर तक, ४,५७६ टन, और सन् १९२० में, इतने ही समय में, ४,६०७ टन गेहूँ बाहर भेजा गया था; परन्तु इस वर्ष जब कि भारत में दो तिहाई गेहूँ उत्पन्न हुआ और जिस समय कि उचित था कि एक भी दाना गेहूँ बाहर न भेजा जाता भारत-सरकार ने पहली अप्रेल से लेकर १७ सितंबर तक ९८,४२१ टन गेहूँ बाहर भेजा। कुछ ठिकाना है भारत-सरकार की इस प्रजा-हितैषिता का ! इसीलिए तो स्वराज्य के लिए शान्त असहयोग का युद्ध ठना है। स्वराज्य की प्राप्ति केवल राजनीतिक ढकोसला या राजनीतिज्ञ चाल नहीं है। स्वराज्य का प्रश्न रोटी प्राप्त करने का प्रश्न है—देश के जीवन-मरण का प्रश्न है। जिस दिन देश में स्वराज्य हो जायगा उस दिन गेहूँ भी सस्ता होगा। 'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।'

(६) स्वदेशी मिलों में असहयोग की सफलता।

इस देश में असहयोग आन्दोलन से एक वर्ष से स्वदेशी का जो प्रचार और चरखों का पुनरुद्धार हो रहा है उसकी सन्तोषजनक सफलता इसी बात से प्रकट होती है कि इस देश में रुई के कारख़ानों को गत वर्ष १३·०६ करोड़ रुपयों की आमदनी हुई थी; परन्तु इस वर्ष वही आमदनी १६.५३ करोड़ रुपयों पर जा पहुँची। सूत कातनेवाले कारख़ानों को १२४ प्रतिशत लाभ हुआ है और हिस्सेदारों को ५५ प्रतिशत लाभ बाँटा गया है। गत २५ वर्षों में यह पहला ही अवसर है जब सूत कातने वाले कारख़ानों ने इतना कमाया है। बुनने का काम करने वाले कारख़ानों ने भी अच्छा लाभ उठाया। उन्होंने ३० प्रतिशत लाभ तो हिस्सेदारों को ही बाँटा। सूत कातनेवाली मिलों को सन् १९१८ में ६ प्रति शत लाभ हुआ था; परन्तु इस वर्ष वह लाभ ११० प्रति शत हुआ। इन अंकों से प्रकट होता है कि देश में स्वदेशी का प्रचार कितना हुआ है।

(७) एक गणितज्ञ बालक।

एसोसियेटेड प्रेस का तार है—

"राजनारायण नामक एक ११ वर्ष के ब्राह्मण-कुमार की गणित में बड़ी अभिरुचि है।

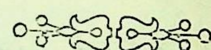
यह बालक आजकल मद्रास में है। कहा जाता है कि इसने गणित के बड़े बड़े विषयों का अध्ययन किया है। उसने, गुरु की सहायता के बिना, बीजगणित, त्रिकोणमिति, तथा विश्लेषणात्मक रेखागणित को सीखा है।"

आशंका है, मद्रास के प्रसिद्ध गणितज्ञ मि० रामानुजम् के समान यह बालक क्लर्की करते करते कहीं अपनी प्रतिभा का दुरुपयोग न कर डाले। उसे उच्च शिक्षा दिलाने की व्यवस्था अभी से की जानी चाहिए।

(८) निःशस्त्रीकरण।

पाठक जानते होंगे कि राष्ट्रों की निःशस्त्रीकरण की समस्या पर विचार करने के लिए वाशिंगटन में एक कान्फरेंस होने वाली है जिसमें प्रायः सभी बड़े बड़े राष्ट्रों के प्रतिनिधि आमंत्रित किये गये हैं। इस कान्फरेंस में मुख्य काम कर रहे हैं अमेरिका के संयुक्त राज्यों के सभापति हार्डिंज सा०। इस कान्फरेंस का क्या फल होगा यह कान्फरेंस हो चुकने पर ही विदित होगा। हमें आशंका हो रही है, कहीं इस कान्फरेंस की वही दशा न हो जो हार्डिंज सा० के पूर्वाधिकारी सभापति डाक्टर विल्सन की शान्ति-सभा की हुई थी।

"करेंट ओपीनियन" ने लिखा है-- निःशस्त्रीकरण सबसे बड़ा भ्रमजाल है। जबतक संसार में तृष्णा का अस्तित्व है, तबतक किसी राष्ट्र की आत्मरक्षिणी शक्ति को कम करना अत्याचारों की वृद्धि में सहायता देना है। यदि सेना घटानाही है, तो फ्रांस (८,००,०००) और पोलेंड (६,००,०००) की सेनाओं को पहले घटाना चाहिए। परन्तु प्रत्येक जानकार मनुष्य जानताहै कि यदि फ्रांस की फ़ौज न होती, तो वर्सिलीज़ की संधि की शर्तें जर्मनी से पूरा कराना कठिन हो जाता और यदि आज फ्रांस की सेना लुप्त हो जाय तो इस बात का जिम्मा कौन लेने को तैयार है कि भविष्य में शर्तें पूरी होती रहेंगी? इसी प्रकार यदि पोलेंड की सेना आज नष्ट होजाय, तो बोल्शेविक रूस से पोलेंड का त्राण करने में कौन वीर समर्थ होगा? यूरोप की सेनाओं में कोई विशेष कमी की जाय इसके पहले इन प्रश्नों का उत्तर देना चाहिए। देखें, कौन उत्तर देता है?



राष्ट्रीय हिंदी-मंदिर की स्थायी सभा।

साधारण बैठक

स्थान—राष्ट्रीय हिन्दी-मंदिर का कार्यालय, समय—५ बजे सायंकाल, भाद्र कृष्ण, सं० १९७८, २१-८-२१.

उपस्थित—

१ पं० मनोहर कृष्ण जी गोलवलकर, २ पं० माधवरावजी सप्रे, ३ बाबू कस्तूरचंदजी, ४ बाबू मोतीलालजी भुरा, ५ बाबू तुलसीदासजी, ६ बाबू प्रेमचन्दजी, ७ बाबू नत्थूलालजी, ८ पं० बालमुकुन्दजी त्रिपाठी, ९ पं० सदाशिवरावजी कासखेड़ीकर, १० पं० शालग्रामजी द्विवेदी, ११ बाबू रतनचन्दजी सराफ, १२ बाबू नाथूरामजी मोदी (सभापति महोदय द्वारा विशेष रूप से आमंत्रित), और १३ पं० नर्म्मदाप्रसादजी मिश्र।

१. मंत्री के प्रस्ताव और बाबू कस्तूरचन्दजी के अनुमोदन पर श्रीयुक्त गोलवलकरजी ने सभापति का आसन ग्रहण किया।

२. मंत्री ने सभासद होने के इच्छुक निम्न लिखित सज्जनों के नाम पढ़कर सुनाये और प्रस्ताव किया कि वे सभासद बना लिए जावें। बाबू कस्तूरचन्दजी ने इस प्रस्ताव का अनुमोदन किया और सर्व-सम्मति से ये सज्जन सभासद चुने गये—(१) श्री० बालकृष्ण रामचन्द्र पाँचपोर, दुरुग, (२) श्री० केशवराम गोवर्धन, बिलासपुर (३) श्री० लक्ष्मणराव उदगीरकर, रायपुर, (४) श्री० बसोरेलाल गठौरया, जबलपुर, (५) श्री० सुगुनचन्द कोचर, नरसिंहपुर, (६) बाबू निर्म्मलचन्द, कलकत्ता, (७) श्री० पुरुषोत्तमदास, गाड़रवारा, (८) श्री० खेतशी भाई, गाड़रवारा, (९) श्री० जीवनलाल पलोड़, गाड़रवारा, (१०) श्री० लक्ष्मीनारायणजी राठी, गाड़रवारा, (११) श्री० बेनीप्रसाद, गाड़रवारा, (१२) श्री० माँगीलाल राठी, (१३) श्री० मन्नूलाल, गाड़रवारा, (१४) श्री० बद्रीप्रसाद वैश्य, गाड़रवारा, (१५) श्री० सेठ नर्म्मदाप्रसाद पिपरिया, (१६) श्री० मोहनलाल छदामीलाल, पिपरिया, (१७) श्री० बालकृष्णदास ब्रजमोहनदास पिपरिया, (१८) श्री० अभयराम चुन्नीलाल, पिपरिया, (१९) श्री० गजाधरप्रसाद जायसवाल, सोहागपुर, (२०) पं० प्रेमशंकर तिवारी, सोहागपुर, (२१) पं० शिवदयाल तिवारी, सोहागपुर, (२२) श्री० नन्दकिशोर, इटारसी, (२३) श्री० धनराज गोठी, बैतूल, (२४) पं० नारायणदास द्विवेदी, ब्रह्मा, (२५) श्री० मूलचन्द मिस्त्री, इटारसी, (२६) श्री० सेठ हरीशंकर, हरदा, (२७) श्री० सेठ रणछोड़दास, हरदा, (२८) श्री० छोगमल परतावसिंह, हरदा, (२९) श्री० गंगाविशुन लक्ष्मीनारायण, हरदा, (३०) सेठ जुगराज दूकानदार, सोहागपुर (३१) श्री० बालमुकुन्द कन्हैयालाल, खंडवा, (३२) श्री० सुन्दरलाल वाहेती, खंडवा, (३३) श्री० राधाकिशन, खंडवा, (३४) श्री० कालूराम गंगराड़े, खंडवा, (३५) श्री० छोटेलाल ठेकेदार, खंडवा, (३६) श्री० कासीराम वाहेती, खंडवा, (३७) बाबू ताराचन्द्र बड़जात्या, खंडवा, (३८) श्री० बख़्तावरसिंह, खंडवा, (३९) सेठ रतनचन्द पारख, रायपुर, (४०) सेठ रामकिशुन नत्थानी, रायपुर, (४१) सेठ गोकुलचन्द नत्थानी, रायपुर, (४२) पं० सखाराम दुबे, रायपुर, (४३) पं० बदरीप्रसाद पुजारी, रायपुर, (४४) पं० दामोदरराव डेग्वेकर, रायपुर, (४५) श्री० श्रीराम गौड़, रायपुर, (४६) श्री० भोलानाथ रिछारिया, रायपुर, (४७) सेठ शिवदास डागा, रायपुर, (४८) श्री० जमनालाल चौपड़ा, रायपुर, (४९) श्री० सौमित्रलाल, रायपुर, (५०) श्री० शम्भुदयाल रायपुर, (५१) श्री० दाशरथीलाल अगरवाला, रायपुर, (५२) बाबू बदरीविशाललाल, रायपुर, (५३) सेठ जोरावरमल डागा, रायपुर, (५४) पं० कृष्णकुमार चौबे रायपुर, (५५) श्री० सेठ शिवदत्तराय, रायपुर, (५६) सेठ

नत्थूजी जगताप, रायपुर, (५७) श्री० नारायण विठ्ठल फड़नवसि, धमतरी, (५८) श्री० देहानकर शंकरराव, रायपुर, (५९) श्री० त्र्यम्बक यादव बिलासपुर. (६०) श्री० हेडमास्टर राष्ट्रीय विद्यालय, रायपुर, (६१) श्री० जागन्नाथ गाड़रवारा।

३. पं० द्वारकाप्रसाद मिश्र का त्याग-पत्र उपस्थित किया गया, जिसपर बाबू कस्तूरचन्दजी ने प्रस्ताव किया वह स्वीकृत कर लिया जाय; पर उसमें किये गये आक्षेपों के विचारार्थ वह आगामी बैठक में पुनः उपस्थित किया जाय। पं० द्वारकाप्रसादजी भी उस बैठक में उपस्थित रहें। पं० बालमुकुन्दजी त्रिपाठी ने प्रस्ताव का अनुमोदन किया और वह सर्व-सम्मति से स्वीकृत हुआ।

४. सर्व-सम्मति से निश्चय हुआ कि आज की बैठक के अनेक विषय विवाद-ग्रस्त एवं विशेष महत्वपूर्ण होने के कारण, उनका विचार अधिक सदस्यों की उपस्थिति में होना चाहिए; अतः दूसरी बैठक आगामी रविवार अर्थात् ता० २८-८-२१ को ३ बजे दिन के समय, बलदेवबाग में, की जावे।

स्थगित अधिवेशन।

स्थान--बलदेवबाग।

समय--५ बजे सायंकाल, २८-८-१९२१.

गत रविवार को स्थगित की गई बैठक आज निम्न लिखित सदस्यों की उपस्थिति में हुई:—

१. श्री० बाबू गोविन्ददासजी (सभापति), २. पं० मनोहरपन्तजी गोलवलकर, ३. पं० माधवरावजी सप्रे, ४. बाबू कन्छेदीलालजी, ५. पं० जनार्दन रामचन्द्र परांजपे, ६. बाबू सुरेशचन्द्रजी, ७. बाबू रामचन्द्रजी संघी, ८. बाबू रामचन्द्रजी शाहरा, ९. बाबू नत्थूलालजी, १०. बाबू मोतीलालजी भुरा, ११. बाबू कस्तूरचन्दजी, १२. पं० बालमुकुन्दजी त्रिपाठी, १३. पं० हरप्रसादजी पाण्डे, १४. बाबू तुलसीदासजी, और १५. पं० नर्म्मदाप्रसादजी मिश्र।

१. मंत्री ने स्थायी समिति के गत दो अधिवेशनों का कार्य-विवरण पढ़कर सुनाया और वह स्वीकृत हुआ।

२. प्रबन्ध-समिति के १९-६-२१, १३-६-२१ और ३०-७-२१ के अधिवेशनों का कार्य-विवरण पढ़कर सुनाया गया और वह भी स्वीकृत हुआ।

३०-७-२१ के अधिवेशन में जो ५वाँ प्रस्ताव स्वीकृत हुआ था वह इस प्रकार था:— प्रबन्धक की नियुक्ति के सम्बन्ध में यह स्थिर हुआ कि अभी वह पद रिक्त रहे और प्रबन्धक का कार्य मंत्री अन्य कर्मचारियों में बाँट दें। प्रबन्ध-कार्य का उत्तरदायित्व पं० सीतारामजी को सौंपा जाय और उनके इस अधिक कार्य के लिए १०) दस रुपया मासिक, अलग, १ अगस्त २१ से दिया जाय, और दो मास उनका काम देखकर प्रबन्ध-समिति को सूचना दी जाय।

इस प्रस्ताव के सम्बन्ध में पं० बालमुकुन्दजी त्रिपाठी और बाबू कस्तूरचन्दजी का कहना था कि प्रबन्ध-कार्य सदृश गुरुतर कार्य किसी वयस्क और अनुभवी व्यक्ति को सौंपा जाना चाहिए; अतः पं० सीतारामजी

तिवारी को जो १०) मासिक अतिरिक्त वेतन दिया जाता है वह १ सितम्बर, १९२१ से बन्द कर दिया जाय और किसी अनुभवी व्यक्ति की नियुक्ति की जावे।

इसके विपक्ष में पं० माधवरावजी सप्रे और बाबू रामचन्द्रजी संघी का कथन था कि प्रबन्ध-कार्य पं० सीतारामजी तिवारी को अभी दो मास के लिए सौंपा गया है और अभी इस अवधि के समाप्त होने पर उनके कार्य पर विचार किया जायगा कि उन्हें प्रबन्धक के पद पर रखना या न रखना चाहिए; अतः प्रबन्ध-समिति ने जो दो मास का समय दिया था और जिसमें से एक मास और बच गया है वह एक मास, परीक्षा के लिए, दिया जाय।

अन्त में दोनों पक्षों पर वोट लिए गये। प्रबन्ध-समिति के सातों सदस्यों ने जो वहाँ पर उपस्थित थे इस सम्बन्ध में वोट देने का अधिकार रखते हुए भी वोट नहीं दिये। पं० बालमुकुन्दजी त्रिपाठी के पक्ष को ३ वोट और पं माधवरावजी सप्रे के पक्ष को ५ वोट मिले और प्रबन्ध-समिति का उल्लखित प्रस्ताव बहुमत से स्वीकृत हुआ। इस प्रकार प्रबन्ध-समिति के गत ३ अधिवेशनों की कार्यवाही स्वीकृत हुई।

३. हिन्दी-मन्दिर के सदस्य होने के इच्छुक निम्न लिखित सज्जनों के आवेदन-पत्र जो प्रबन्ध-समिति ने भेजे थे उपस्थित किये गये और सर्व-सम्मति से निश्चय हुआ कि वे सभी सज्जन सदस्य बना लिए जायँ:—

(१) पं० सूरजप्रसादजी अवस्थी, जबलपुर। बम्बई-निवासी—(२) श्रीयुत कल्याणदासजी, (३) श्री० रनैयालालजी, (४) श्रीयुत कृष्णप्रसादजी, (५) सेठ रामगोपालजी, (६) सेठ लक्ष्मणदासजी (७) सेठ अनन्दीलालजी (८) सेठ विशम्भरलालजी, (९) श्रीयुत गुरुमुखरायजी, (१०) श्री० नारायणदासजी (११) श्री० हनुमानप्रसादजी, (१२) बाबू नाथूरामजी प्रेमी।

४. "स्वतंत्र" और "छात्रसहोदर" में प्रकाशित खुली चिट्ठियाँ, तथा बाबू कस्तूरचन्दजी और बाबू सुन्दरलालजी द्वारा स्थायी समिति को लिखे गये पत्र मंत्री ने पढ़कर सुनाये। इसके पश्चात् मंत्री ने उक्त दो खुली चिट्ठियों का लिखित उत्तर पढ़कर सुनाया; परन्तु समय अधिक हो जाने के कारण इस विषय पर पूर्ण विचार न होसका और यह विषय आगामी बैठक के लिए स्थगित किया गया।

५. सभापति महोदय ने प्रबन्ध-कारिणी समिति के सदस्य बाबू तुलसीदासजी का त्याग-पत्र पढ़ कर सुनाया जिसका कुछ अंश यह था—"अधिक समय तक बाहर रहने के कारण मैं समय समय पर प्रबन्ध-कारिणी-समिति की बैठक में उपस्थित नहीं हो सकता। प्रबन्ध का महत्व देखते हुए यह उचित प्रतीत नहीं होता कि मैं केवल संख्या पूरी करने के लिए सदस्य बना रहकर किसी योग्य महाशय की उचित सम्मति से मंदिर को लाभ न पहुँचने देकर अधिकार का दुरुपयोग करूँ, अतः प्रार्थना है कि मेरी कठिनाइयों की ओर देखकर यह त्यागपत्र स्वीकार किया जाय।"

बाबू तुलसीदासजी का यह त्यागपत्र पं० माधवरावजी सप्रे के प्रस्ताव, और पं० जनार्दन

रावजी परांजपे के अनुमोदन करने पर सर्व-सम्मति से स्वीकृत हुआ।

६. उसी त्यागपत्र में बाबू तुलसीदासजी ने, रा. हि. मंदिर के सदस्य के नाते, यह प्रस्ताव किया था कि उनके स्थान में पं० हरप्रसादजी पांडेय, बी० ए० एल० एल० बी० प्रबन्ध-कारिणी-समिति के सदस्य चुन लिये जावें। इस प्रस्ताव का लिखित अनुमोदन तथा समर्थन बाबू सुरेशचन्द्र मुकरजी तथा बाबू भैयालालजी ने किया था। सर्व-सम्मतिसे स्थिर हुआ कि पांडेयजी प्रबन्धकारिणी समिति के सदस्य बना लिये जावें।

समय अधिक हो जानेके कारण अन्य विषयों पर विचार न होसका और यह निश्चय किया गया कि वे विषय आगामी बैठक में जो बाबू श्यामसुन्दरजी भार्गव के घरपर, परसों ६ बजे सन्ध्या को, होगी उपस्थित किये जावें। यह भी स्थिर हुआ कि इस बैठक की सूचना सदस्यों को देना आवश्यक न समझा जाय।

स्थगित अधिवेशन।

स्थान-बाबू श्यामसुन्दरजी भार्गव की कोठी

समय-६ बजे सायंकाल, ३० अगस्त, १९२१

ता० २८-८-२१ को स्थगित की गई बैठक आज निम्न लिखित सदस्य की उपस्थिति में हुई—

१ श्री० बाबू गोविन्ददासजी (सभापति), २ पं० मनोहरपन्तजी गोलवलकर, ३ पं० माधवरावजी सप्रे, ४ बाबू मोतीलालजी मुरा, ५ बाबू रामचन्द्रजी संघी, ६ बाबू कन्छेदीलालजी, ७ बाबू लक्ष्मणसिंहजी, ८ पं० सूरजप्रसादजी अवस्थी, ९ बाबू तुलसीदासजी, १० पं० बालमकुन्दजी त्रिपाठी, ११ बाबू कस्तूरचन्दजी, १२ पं० हरप्रसादजी पाण्डेय, १३ बाबू रामचन्द्रजी शाहरा, १४ बाबू नत्थूलालजी, १५ बाबू नाथूरामजी मोदी (सभापति द्वारा विशेष रूप से आमंत्रित, और १६ पं० नर्मदाप्रसादजी मिश्र।

१—मंत्री ने पिछली बैठक का कार्य-विवरण पढ़कर सुनाया और वह सर्व-सम्मति से स्वीकृत हुआ।

२—बाबू कस्तूरचन्दजी ने निम्न-लिखित प्रस्ताव उपस्थित किया—

रा० हि० मंदिर के कर्मचारियों का मासिक वेतन इस प्रकार रखा जावे—

१ श्रीशारदा-सम्पादक—८०) से १००)
२ श्रीशारदा-सम्पादक के लिए क्लर्क-२०)
३ पुस्तकमाला-सम्पादक-१००) से १२५)
४ पुस्तकमाला-सम्पादक के लिए क्लर्क-२०)
५ एक प्रचारक—४०) से ५०) तक
६ एकाउंटेंट जो क्लर्क का भी काम करेगा-३०)
७ एक लाईब्रेरी—क्लर्क—१५)
८ दो चपरासी—२५)

इस प्रस्ताव का अनुमोदन बाबू रामचन्द्रजी शाहरा ने किया।

इस प्रस्ताव के विपक्ष में पं० माधवरावजी सप्रे ने कहा कि इस प्रस्ताव के स्वीकृत होने से अभी व्यवस्थित रूप से चलते हुए काम में एकदम बाधा आ सकती है; दूसरे, यह काम प्रबंधकारिणी समिति करे तो अच्छा होगा; तीसरे

हम लोग इस बड़ी सभा में केवल वेतन घटाने के प्रश्न पर जो इस प्रश्न का कि रा० हि० मन्दिर का व्यय कहाँ कहाँ कम किया जा सकता है केवल एक भाग है, विचार न करके समूचे प्रश्न पर विचार करें; अतः मेरा कहना है कि इस विषय पर इस समय विचार न किया जावे।

श्रीयुत सप्रेजी के इस कथन का अनुमोदन पं० बालमुकुन्दजी त्रिपाठी ने किया।

अंत में, वोट लिये गये और बाबू कस्तूरचन्दजी के पक्ष को ४ वोट और पं० माधवरावजी सप्रे के पक्ष को ८ वोट मिले। इस प्रकार बाबू कस्तूरचन्दजी का उक्त प्रस्ताव बहुमत से अस्वीकृत हुआ।

३-बाबू कन्छेदीलालजी ने प्रस्ताव किया कि-"१ बाबू कस्तूरचन्दजी, २ बाबू लक्ष्मणसिंहजी और ३ बाबू कन्छेदीलालजी इन तीनों सज्जनों की एक कमेटी बनाई जावे जो यह जाँच करे कि राष्ट्रीय हिन्दी-मंदिर का काम कितना है, कार्य-विभाग किस प्रकार है, कर्मचारियों को कितना वेतन दिया जाता है। इन सब बातों पर ध्यान देकर यह कमेटी १५ सितंबर १९२१ के पूर्व प्रबन्ध-कारिणी-समिति के पास रिपोर्ट करे कि वर्तमान कार्य में हानि न पहुँचाते हुए वेतन तथा अन्य व्यय किस प्रकार घटाये जा सकते हैं। साथ ही, यह भी रिपोर्ट करे कि आमदनी किस प्रकार बढ़ाई जा सकती है।"

पं० माधवरावजी सप्रे ने इस प्रस्ताव का अनुमोदन किया, और वह सर्व-सम्मति से स्वीकृत हुआ।

४-इसके पश्चात् "स्वतंत्र" में प्रकाशित खुली चिट्ठी का उत्तर इसलिए लिखा जाना स्थिर हुआ। कि वह समाचारपत्रों में रा० हि०-मन्दिर की ओर से प्रकाशित किया जावे। उक्त चिट्ठी का पहला प्रश्न लिया गया और उसका उत्तर लिखाया जाने लगा; परन्तु इस प्रकार कार्य करने में बहुत अधिक विलम्ब होता देखकर सर्वसम्मति से यह निश्चय हुआ कि १ पं० बालमुकुन्दजी त्रिपाठी, २ पं० सूरजप्रसादजी अवस्थी, ३ बाबू रामचन्द्रजी संधी तथा ४ बाबू कस्तूरचन्दजी-इन चार सज्जनों की एक कमेटी बनाई जावे जो 'स्वतंत्र' में प्रकाशित खुली चिट्ठी का उत्तर लिखकर परसों गुरुवार (ता० १-९-२१) को ६ बजे शाम को होने वाली स्थायी समिति की बैठक में उसे उपस्थित करे।

५- समय अधिक होजाने के कारण आज की बैठक स्थगित की गई और निश्चय हुआ कि परसों ६ बजे सन्ध्या समय सब लोग इसी स्थान पर एकत्र होवें। सभापतिजी को धन्यवाद दे सभा विसर्जित हुई।

स्थगित अधिवेशन।

स्थान—बाबू श्यामसुन्दरजी भार्गव की कोठी।

समय—६ बजे सायंकाल, ता:-१-९-२१

उपस्थित—१ श्री० बाबू गोविन्ददासजी (सभापति), २ पं० माधवरावजी सप्रे, ३ पं० सूरजप्रसादजी अवस्थी, ४ बाबू तुलसीदासजी, ५ बाबू मोतीलालजी भुरा, ६ बाबू लक्ष्मणसिंहजी, ७ बाबू कस्तूरचन्दजी, ८ पं० हरप्रसादजी पांडे, ९ पं० सदाशिवरावजी कासखेड़ीकर, १० पं० बालमुकुन्दजी त्रिपाठी, और ११ पं० नर्म्मदाप्रसादजी मिश्र।

१–पं० सूरजप्रसादजी अवस्थी ने प्रस्ताव किया कि 'स्वतंत्र' में प्रकाशित पत्र का उत्तर देने के लिए जो कमेटी बनाई गई थी वह अभी अपना उत्तर नहीं तैयार कर सकी है; इसलिए उसे आगामी रविवार तक का समय और दिया जाय।

बाबू कस्तूरचन्दजी ने ऊपर लिखे प्रस्ताव का अनुमोदन किया।

इस प्रस्ताव के विपक्ष में पं० माधवरावजी सप्रे ने कहा कि "यह महत्वपूर्ण विषय बहुत समय से टलता आ रहा है जिसके फल-स्वरूप कार्य में बाधा होरही है, अतः मेरा प्रस्ताव है कि यह विषय अब और अधिक समय के लिए न टाला जावे"। पं० हरप्रसादजी पांडेय ने इस कथन का अनुमोदन किया।

अन्त में वोट लिये गये। अवस्थीजी के पक्ष को ४ वोट और दूसरे पक्ष को भी ४ ही वोट मिले। तब सभापतिजी ने अपना अतिरिक्त वोट अवस्थीजी के पक्ष को दिया और इस प्रकार वह प्रस्ताव बहुमत से स्वीकृत हुआ।

२–सर्वसम्मति से स्थिर हुआ कि बाबू कस्तूरचन्द जी उक्त कमेटी के संयोजक नियत किये जावें और वे यह व्यवस्था करें कि कमेटी के सब सदस्य आगामी रविवार (ता: ४-९-१९२१) को ११॥ बजे दिन के समय, कार्यालय में पहुँचें और उसी दिन ५ बजे संध्या समय इसी स्थान में स्थायी समिति के सामने उक्त कमेटी का उत्तर विचार के लिए रखा जावे।

३–पं० हरप्रसादजी पांडेय ने प्रस्ताव किया कि बाबू लक्ष्मणसिंहजी भी उक्त कमिटी में रखे जावें। पं० नर्मदाप्रसादजी मिश्र ने इस प्रस्ताव का अनुमोदन किया। केवल बाबू मोतीलालजी इस प्रस्ताव के विपक्ष में थे; अतः पांडेयजी का प्रस्ताव स्वीकृत हुआ।

४–पं० माधवरावजी सप्रे ने प्रस्ताव किया कि "जबतक यह आवश्यक प्रश्न हल न होजावे, तबतक स्थायी समिति को अधिकार रहे कि वह अपनी बैठक स्थगित करती जावे"।

सर्व-सम्मति से यह प्रस्ताव स्वीकृत हुआ।

५–पं० माधवरावजी सप्रे ने दूसरा प्रस्ताव उपस्थित किया जो इस प्रकार था—"प्रबन्धकारिणी-समिति तथा कार्य-कर्ताओं की दृष्टि से यह दीख पड़ता है कि जबतक वर्तमान विषय का अंतिम निर्णय न होजावे, तबतक वे अपना अपना कार्य ठीक तौर से नहीं कर सकेंगे; इसलिए तबतक उनके कार्यों की ज़िम्मेदारी स्थगित समझी जावे"।

पं० नर्म्मदाप्रसादजी मिश्र ने इस प्रस्ताव का अनुमोदन किया।

बाबू कस्तूरचन्दजी ने उक्त प्रस्ताव पर अपना संशोधन इन शब्दों में उपस्थित किया—"जबतक वर्तमान विषय का निर्णय न हो जावे, तबतक के लिए वर्तमान प्रबन्ध–कारिणी समिति और कर्मचारी सस्पेंड किये जावें।"

बाबू मोतीलालजी ने इस संशोधन का अनुमोदन किया।

पं. सूरजप्रसादजी अवस्थी ने दूसरा संशोधन उपस्थित किया जो इस प्रकार था--"यह सभा कार्य-कर्ताओं और प्रबन्ध-कारिणी समिति पर उस समय तक पूर्ण विश्वास रखती है जबतक इस सभा ने जो विषय चल रहे हैं उनका निर्णय नहीं कर लिया है।"

सप्रेजीने अपना ऊपर लिखा प्रस्ताव लौटा लिया ।

इसके कुछ समय पहले सभापतिजी अपना आसन बाबू कन्छेदीलालजी को देकर चले गये थे।

६-पं० सूरजप्रसादजी अवस्थी ने अपना प्रस्ताव उपस्थित किया—"यह सभा कार्यकर्त्ताओं और प्रबन्ध-कारिणी समिति पर इस समय तक पूर्ण विश्वास रखती है जबतक इस सभा ने जो विषय चल रहे हैं उनका निर्णय नहीं कर लिया है।"

पं० हरप्रसादजी पांडे ने इस प्रस्ताव का अनुमोदन किया। बाबू कस्तूरचन्दजी ने इस प्रस्ताव पर संशोधन उपस्थित किया जो इस प्रकार था "जब तक वर्तमान विषय का निर्णय न हो जावे, तब तक के लिए प्रबन्ध-कारिणी समिति और कर्मचारी सस्पेंड किये जावें।"

बाबू मोतीलालजी ने इस संशोधन का अनुमोदन किया। अन्त में वोट लिये गये।

संशोधन के पक्ष में केवल प्रस्तावक और अनुमोदक, अर्थात् बाबू कस्तूरचन्दजी और बाबू मोतीलालजी थे। उसके विपक्ष में निम्न लिखित सात सदस्य थे—१ पं० हरप्रसादजी पांडे, २ पं० बालमुकुन्दजी त्रिपाठी, ३ बाबू लक्ष्मणसिंहजी, ४ बाबू तुलसीदासजी, ५ पं० सूरजप्रसादजी अवस्थी, ६ पं० सदाशिवरावजी कासखेड़ीकर, और ७ पं० नर्म्मदाप्रसादजी मिश्र।

पं० माधवरावजी सप्रे ने वोट नहीं दी।

इस प्रकार संशोधन रद्द हुआ और अवस्थीजी का मूल प्रस्ताव स्वीकृत हुआ।

७—बाबू कस्तूरचन्दजी ने सभापति महोदय से कहा कि मैंने पं० माधवरावजी सप्रे से जो यह प्रार्थना की थी कि वे अपना प्रस्ताव उठा लेवें, उसे कार्यवाही में लिखना चाहिए।

सभापतिजी ने उत्तर दिया कि वह आपसी बातचीत थी; अतः वह कार्यवाही में नहीं लिखी जानी चाहिए।

सभापति महोदय को धन्यवाद दे सभा स्थगित की गई।

स्थगित अधिवेशन।

स्थान-बाबू श्यामसुन्दरजी भार्गव की कोठी।
समय-५ बजे सायंकाल, रविवार, ता० ४-९-२१

उपस्थित—१ श्रीयुत बाबू गोविन्ददासजी (सभापति), २ पं० मनोहरपंतजी गोलवलकर, ३ पं० सदाशिवरावजी कासखेड़ीकर, ४ श्रीयुत सिंघई प्रेमचन्दजी, ५ पं० सूरजप्रसादजी अवस्थी, ६ बाबू रामचन्द्रजी संघी, ७ बाबू मोतीलालजी सुरा, ८ पं० हरप्रसादजी पांडेय, ९ ठाकुर लक्ष्मणसिंहजी १० बाबू कस्तूरचन्दजी ११ पं० बालमुकुन्दजी त्रिपाठी, १२ बाबू तुलसीदासजी, १३ बाबू नत्थूलालजी, १४ बाबू रामचन्द्रजी शाहरा, १५ बाबू सुरेशचन्द्रजी मुकुर्जी, १६ बाबू नाथूलालजी और १७ पं० नर्म्मदाप्रसादजी मिश्र।

१-मंत्री ने पिछली दो बैठकों का कार्य-विवरण पढ़कर सुनाया और वह सर्व-सम्मति से स्वीकृत हुआ।

२-गत अधिवेशन के पहले और दूसरे प्रस्ताव के अनुसार जो कमेटी बनाई गई थी उसने 'स्वतंत्र' और 'छात्रसहोदर' में प्रकाशित खुली चिट्ठियों का उत्तर उपस्थित किया और सर्वसम्मति से वह, कुछ संशोधनों के पश्चात्, स्वीकृत हुआ और निश्चय हुआ कि यह उत्तर रा० हिन्दी-मंदिर की स्थायी समिति की ओर से समाचार-पत्रों में प्रकाशित किया जावे, और इस कार्य को ठाकुर लक्ष्मणसिंहजी, मंत्री की सहायता से, करें।

३ स्थायी समिति के नाम लिखे गये बाबू

कस्तूरचन्दजी और बाबू सुन्दरलालजी के पत्र उपस्थित किये गये और निश्चित हुआ कि ये पत्र ताः ३०-८-२१ के अधिवेशन के दूसरे और चौथे प्रस्ताव के अनुसार संगठित की गईं कमेटियों के सामने रखे जावें।

४-पं० द्वारकाप्रसादजी मिश्र का त्यागपत्र उपस्थित किया गया और निश्चय हुआ कि वह फ़ाइल किया जाय।

प्रबन्ध-समिति।

स्थगित अधिवेशन, [ताः १६-११-२१

४-सर्व-सम्मति से निम्न लिखित प्रस्ताव स्वीकृत हुआ--

"स्थायी-समिति की ३० अगस्त, १९२१ की बैठक में जो दो कमेटियाँ × पिछला हिसाब जाँचने और कार्य-विभाग देखकर व्यय घटाने एवं आय बढ़ाने की योजना प्रबन्ध-समिति के पास क्रमात् १ अक्टूबर, १९२१ और १५ सितम्बर १९२१ के पूर्व, भेजने के लिए संगठित की गई थीं उनके पास अनेक बार सूचना भेजे जाने पर तथा छुट्टी के दिन उनके आने की सूचना पाने पर रविवार तथा दुर्गाष्टमी और नवमी की छुट्टी में कार्यालय खोले जाने पर भी वे आजतक अपना कर्त्तव्य पूरा नहीं कर सकी हैं। उनकी इस उपेक्षा से आय-व्यय का लेखा प्रकाशित करने आदि में बहुत बाधा पहुँची है। प्रबन्ध-समिति को इसका बहुत खेद है, और वह उक्त कमेटियों से अन्तिम बार निवेदन करती है कि वे अपना निर्दिष्ट कार्य अतीव शीघ्र करने तथा प्रबन्ध-समिति के पास अपनी रिपोर्ट १ जनवरी १९२२ के पूर्व भेजने की कृपा करें ताकि वे रिपोर्टें जनवरी, १९२२ में होने वाले स्थायी समिति के अधिवेशन में उपस्थित की जा सकें।"

× स्थायी समिति की ये कमेटियाँ ३०।८।२१ की बैठक ... प्रकाशित हैं।

राष्ट्रीय हिन्दी-मंदिर के आय-व्यय एवं हानि-लाभ का लेखा, माह अप्रेल से सितम्बर १९२१ ई० तक।

विवरण		आय		विवरण			व्यय	
गत वर्ष का दान—								
गत वर्ष दान से मिला—५१५००)								
जिसमें से ख़र्च खाते—११२५)								
शेष स्थायी कोष में जमा —		५०३७५						
गत वर्ष की रोकड़ बाकी—								
गत वर्ष की कुल आय २०२०५।=)११ में से व्यय—१८८६४=)११ के रोकड़ बाकी—		१३११	३					
इस छःमाही का दान				**स्थायी कोष।**				
श्रीयुत सेठ गणेशराम हीरालाल, पोसार के ११०१) के दान में से आई रकम—	१०००			स्थायी कोष खाते जमाः— दीवान बहादुर सेठ वल्लभदासजी की दूकान में जमा ६) सै० वार्षिक सूद पर— ...	२५०००			
श्रीयुत सेठ मानिकचन्द बलदेवजी, गाड़रवारा के १०००) के दान की शेष रकम ८००) में से आई हुई रकम—	२००			दीवान बहादुर सेठ जीवनदासजी की दूकान में जमा ६) सै० वार्षिक सूद पर— ...	२५०००			
श्रीयुत सेठ जगन्नाथजी ओंकारदासजी गौरीशंकरजी, गाड़रवारा के १०००) के दान में से आई हुई पहली क़िस्त—	२००			दीवान बहादुर सेठ जीवनदासजी की दूकान में बिना सूद का जमा गत वर्ष का—३७५) इस छः माही में जमा किया— ४२५।)				
श्रीयुत सेठ मन्नालालजी, गाड़रवारा के ५००) के दान में से आई हुई पहली क़िस्त—	१००				८००	४	५०८००	४
श्रीयुत सेठ मोहनलालजी राधेरमणजी, गाड़रवारा के पूरे दान की रक़म—	१०१							
श्रीयुत फूलचन्दजी डागा, गाड़रवारा के ५००) के दान की शेष रक़म ४५०) में से आई हुई दूसरी किस्त—	५०							
श्रीयुत सेठ हरदेवदासजी, गोपीकिसुनजी, गाड़रवारा के ५००) के दान की शेष रक़म ४५०) में से आई हुई दूसरी किस्त—	५०	१७०१						

राष्ट्रीय हिन्दी-मंदिर के आय-व्यय एवं हानि-लाभ का लेखा, माह अप्रेल से सितम्बर १६२१ ई० तक।

विवरण				आय		
हिन्दी-मंदिर की आय						
५०,०००) पर इस छः माही का सूद—	१५००					
हिन्दी-मन्दिर के सदस्यों से इस छः माही में मिला हुआ चन्दा ११११) इस छः माही की आय से १८३ सदस्यों का श्रीशारदा का वार्षिक चन्दा ६१५) निकालकर शेष चन्दा—	१६६					
नोट—१८३ सदस्यों में उन सदस्यों की संख्या भी शामिल है जो इस छःमाही के पूर्व सदस्य हो चुके हैं और जिनके चंदे से प्राप्त हुआ ६६७) गत वर्ष की आय में सम्मिलित हो चुका है; किन्तु उस रुपये में से श्रीशारदा का वार्षिक चन्दा नहीं निकाला गया था, इससे इन सदस्यों का वार्षिक चन्दा इस छःमाही की आय से निकाला गया।]						
व्हीलर कम्पनी से शारदा-भवन-पुस्तकालय की बुकडिपो की पुस्तकों का प्राप्त मूल्य १७१) बुकडिपो की पुस्तकों की फुटकर बिक्री से प्राप्त ४२।)॥	२१३	४	६			
स्फुट आय—	५३	६		१६६२	१०	६
				५५३४१	१३	६

विवरण				व्यय		
हिन्दी-मन्दिर का व्यय—						
स्टेशनरी और स्फुट व्यय—	१११	४				
डाक व्यय—	१	१३	६			
प्रचार ख़र्च—	१३०	१०				
कर्मचारियों का वेतन—	८६७	५	३			
पुस्तकमाला की पुस्तकें जो ख़रीदकर भेंट में और समालोचना के लिए दी गईं—	६०					
प्लेग में अल्प वैतनिक कर्मचारियों को झोपड़ी बनाने के लिए सहायता दी गई—	४१					
प्लेग केम्प में दफ्तर ले जाने और झोपड़ी बनाने का ख़र्च—	६५	१४	६	१३०७	१५	६
				५२१०८	३	६

५५३४९ | १३ | ६ — ५२१०८ | ३ | ६

राष्ट्रीय हिन्दी-मंदिर के आय-व्यय एवं हानि-लाभ का लेखा माह अप्रेल से सितम्बर १९२१ ई. तक।

विवरण			आय		
पिछले पृष्ठ का मीज़ान ...			५५३४९	१३	६
" श्रीशारदा " विभाग सेआय--					
श्रीशारदा का वार्षिक चन्दा वाहगी ...१३३६)					
हिन्दी-मंदिर के सदस्यों का चन्दा ... ९१५)	२२५१)				
फुटकर विक्री ...	३२	॥)			
विज्ञापन ...	६५)				
			२३४८	॥)	
पुस्तकमाला विभाग से आय—					
पुस्तकों की विक्री-पिछले साल के स्टाक में ६५४।=) मूल्य की पुस्तकें थीं जिसमें से नीचे लिखे अनुसार बिकीं—					
रवीन्द्र-दर्शन ...१०२॥)					
कालिदास ...१३७॥।)					
कुल मीज़ान ...	२४०	।)			
इस छःमाही की नई पुस्तकों की कुल बिक्री—					
मुहम्मद ...१८७॥।=)					

विवरण			व्यय		
			५२१०८	३	॥
" श्रीशारदा " विभाग का व्यय—					
स्टेशनरी और स्फुट ... ११२॥)॥।					
प्रचार खर्च ... १३१।-)।					
डाकखर्च पत्रादि तथा श्रीशारदा पेकट— ३६॥=) ९६-)॥। १३२॥= ॥।					
कर्मचारियों का वेतन ...१४२१)॥					
	१७९७॥=	।			
श्रीशारदा के लेखों का पुरस्कार...२०७॥)					
चित्र ...८००)					
कागज ६१ रीम १० द० ...९१८।)॥					
छपाई ...९२१=)					
श्रीशारदा की बँधाई १४ वें से १७ वें अंक तक— ... ५८॥।-)					
पैकिंग ... १५)					
वापसी वी० पी० पर डाक ख़र्च की नुकसानी ... २०॥।)	२९४१	।=	॥		

राष्ट्रीय हिन्दी-मंदिर के आय-व्यय एवं हानि-लाभ का लेखा, माह अप्रेल से सितंबर १९२१, ई० तक।

विवरण	रु.	आ.	आय रु.	आय आ.	विवरण	रु.	आ.	पा.	व्यय रु.	व्यय आ.	व्यय पा.
अमरिकन संयुक्त राष्ट्र की शासन—					**पुस्तकमाला विभाग का व्यय—**						
प्रणाली ...१९३।।।)					कर्मचारियों का वेतन ...९९८-।।।)						
खरीदी हुई अन्य पुस्तकों की बिक्री... ४)	३८५	१३			स्टेशनरी और स्फुट ... २९=)						
					प्रचार ...१८०।-)।।।						
					पेकिंग ... ८।=)						
					डाक ... १६।=)।						
प्रवेश शुल्क ...	६८	८	६९४	६	वी० पी० की वापसी से नुकसानी... ४।।।-)।।	१२४०	३	३			
					पुस्तक प्रकाशन व्यय—						
					"मुहम्मद" की १००० प्रतियों पर.६९८।-)।।						
					अमरिकन संयुक्त-राष्ट्र की शासन—						
					प्रणाली की ९०० प्रतियों पर ...९४४।-)।।	१६४२	११				
					वी० पी० की वापसी पुस्तकें एवं						
					बाहरी पुस्तकों की खरीद ...	३६	६				
पुस्तकालय-विभाग से आय—					ख्वाजा ग्राहकों को 'मुहम्मद' और						
					'अमरिकन' पौने मूल्य पर देनेसे						
दण्ड ...	३)				पाव मूल्य की हानि ...	१०७	१४	६			
हरजाना ...		४			'रवीन्द्र' और 'कालिदास' देनेसे ...	१४	९	३	३०४१	१२	३
					पुस्तकालय विभाग का व्यय—						
खोई हुई पुस्तकों का मूल्य ...	४)	१४			स्टेशनरी और स्फुट व्यय ...	६२	१२	३			
					पुस्तकों की मरम्मत ...	१४					
			८	२	कर्मचारियों का वेतन ...	२९१	३	३	३६७	१५	६

राष्ट्रीय हिन्दी-मंदिर के आय-व्यय एवं हानि-लाभ का लेखा, माह अप्रेल से सितम्बर १९२१ ई० तक

विवरण				आय			विवरण				आय		
पिछले पृष्ठ का मीजान—				५८४०३		६					६०२८७	१	
देना--						६							
दीवान बहादुर सेठ जीवनदासजी को गत वर्ष का देना—	१५०५५	११	११				पुस्तकमाला खाते पुस्तकों के लिए अग्रिम लेख पुरस्कार— ‘ मराठे और अंग्रेज़” २५०) “रसज्ञ-रंजन” १००)						
इस छः मांही का—	३७१४	३	६	१८७६६	१५	८	“सम्पतिशास्त्र” ४५०) “छाया” ८०) “शिक्षा-मिमांसा” ३००)						
गत वर्ष का फुटकर देना—१९०९॥– ४							“श्रीकृष्ण का दूतत्व” ४००–) “आरोग्य-प्रदीप” १००)						
जिसमें पटाया— १३२०।) ३							“भारत तथा साम्यवाद” ... ५०)						
———	५८६	५	१					१८३०	१				
							श्रीशारदा खाते–अग्रिम लेख पुरस्कार—	४)					
इस छःमाही का फुटकर देना—							फुटकर श्रीशारदा खाते भूल गत वर्ष का .. १॥–)						
कर्मवीर प्रेस १२१=) शुभचिंतक प्रेस १०६।=)							पुस्तक-माला खाते भूल का गत वर्ष का ... ११॥=)॥						
सुदर्शन कामताप्रसाद जिल्दगर–२३७॥।=)							भूतपूर्व ऐजेन्ट शुकदेवप्रसाद तिवारी से ... ६०।=)॥						
							,, कृष्ण गोपाल से ... ५)						
यू. राय कलकत्ता ३००=) कर्मचारियों का वेतन सितम्बर ३८०)॥							कर्मचारी श्रीयुत मावलीप्रसादजी से ... ६)						
							ऐजन्ट देवीप्रसाद वर्मा से ... ६॥–)॥	६१	४	६			
							डाक टिकट खरीदखाते कमी का पाना–	६३	१	३			
							वी. पी. खाते–पुस्तकों का मूल्य ... १०६।॥–)॥						
अन्य—७६॥।=)॥।	१२२८	६	३	१८१७	१४	४	डाकटिकट खर्च ... १५॥=)॥	१२२	६				

राष्ट्रीय हिन्दी-मंदिर के आय-व्यय एवं हानि-लाभ का लेखा, माह अप्रेल से सितम्बर १९२१ ई० तक।

विवरण				आय		
जमा—						
शारदाभवन पुस्तकालय के पाठकों का जमा—	३२०	५				
गत वर्ष का— २६३।≡)						
इसछः माही का— ११३)						
४०६।≡)						
वापिस की गई रकम— ८६=)						
३२०।-)						
अग्रिम।						
शिवचरणलाल सेठ लखिमपुर ग्राहक नं० ७७४ —		१३	३			
केशवदेव शराफ—	१					
दाशरथी घोष, सरस्वतीसदन, रायगढ़—		८				
रघूराज शाह—		१०				
	२०६११	२	३	३२३	४	३
कुल—				७९३१२	२	६
कुल व्यय वाद—				६८८६८	१४	११
घाटा—				१०४४३	३	१०
गत वर्ष का घाटा—	८८६०	२	१			
इस छःमाही का घाटा—	१५५३	१	९			

विवरण				व्यय		
स्थानीय ऐजन्ट से —	६४	५				
प्रचारक बाबू तुलसादासजी से —	६२	१२				
श्रीमान बाबू गोविंददासजी से बाबत उनखर्चों के जो आपने हिन्दी-मंदिर के काम में खर्च किया था; परन्तु जिसे आपने कृपापूर्वक अपने ऊपर लेना स्वीकार किया। —	१११७	१४				
इस छःमाही का सूद ... १५००)						
गत वर्ष की बाकी ...५४॥=)८	१५५४	१०	८	४९१०	९	८
स्टाकमें—						
स्थायी सामान —	२८५	१३	६			
कागज ४६$\frac{3}{4}$ रीम —	७२१	५	९			
शारदाभवन पुस्तकालय में पुस्तक, पत्रादि —	६१६	१५	९			
श्रीशारदा के ब्लाक और चित्र —	१४४१		६			
पुस्तकमाला खाते गतवर्ष की पुस्तकों का मूल्य ... ६५४।=)						
जिसमें इस छः माहीमें बिक्री ... २४०।)						
शेष ४१४-)	४१४	२		३४८२	५	६
पेशगी—						
कर्मचारियों से पेशगी पाना —	१४			१४		
रोकड बाकी—						
दी० वा० सेठ जीवनदासजी की दूकान में अमानत जमा	१३०					
मंत्रीजी के हाथ में रोकड बाकी —	४४	१४	६	१७४	१४	६
	८५८१	१३	११			
द: गणेशचन्द्र प्रामाणिक, अकाउन्टन्ट; राष्ट्रीय हिन्दी-मंदिर, जबलपुर। कुल—				६८८६८	१४	११

पुस्तक-प्रकाशन-खाते का आय-व्यय सं०१९७७

	१०४४२	३	१०	मंत्रीजी के हाथ में रोकड़ बाकी	—	४४	१४	६	१७४	१४	९
गत वर्ष का घाटा—	८८६०	२	१			८५८१	१३	११			
इस छमाही का घाटा—	१५५३	१	६	द: गणेशचन्द्र प्रामाणिक, कुल—					६८८६८	१४	११

अकाउन्टेन्ट: राष्ट्रीय हिन्दी-मंदिर, जबलपुर।

पुस्तक—प्रकाशन—खाते का आय–व्यय सं० १९७७

विवरण	पूँजी		संख्या	तैयार माल	दर	मूल्य	संख्या	बिक्री से वसूल	संख्या	शेष कीमत
सं० १९७७		रवीन्द्र-दर्शन-सजिल्द …	४०९	४१७ ≡)	|||=)	३५७ |||=)	३१५	२७५ ।=)	९४	८२ ।)
रवीन्द्र-दर्शन—		सादी …	५८९	४६२ ॥-) ६	॥=)	३६८ =)	४००	२५०	१८९	१९८ =)
चित्र … १४।=) छपाई …२२२) काग़ज़ १७½ रीम—२३६|||=)|||		कालिदास सजिल्द …	२६९	२६६ |||=)	१)	२६९	२५७	१५७	१४२	१४२)
लेखक का पुरस्कार— …२१०)		सादी …	७००	५१९ |||) ६	|||)	५२५	२८४	२१३	४१६	३१२)
							बिक्री—	८९५ ॥≈)	मौजूद-	६५४ ।=)
सजिल्द बंधाई १३७) सादी जिल्द,, ५९।=)	८७९ |||) ६								
						घटाया …	छूट …	१२६ |||)		
कालिदास							भेंट में ४४ — पुस्तकें	३५ ।=)		
								१६२ ≈)		
छपाई …१५४।) काग़ज़ १५ रीम १२½ दस्ता …२८५।=)||| लेखक को पुरस्कार— …२२६॥-) सजिल्द बँधाई ९७।=) सादी जिल्द,, ५३)									वसूल	७३३ ॥)
	८१६ ॥=) |||									
प्रकाशन-व्यय …	१६९६ ।=) ३	तैयार …	१६९७	१६९६ ।=) ३		१५५०	वसूल	७३३ ॥)		१३८७ |||=)
दफ़्तर ख़र्च ३५८३-)८					घटी	१४६ ।=) ३			घाटा	३०८ ॥-) ३

[शेषांश अगले अंक में

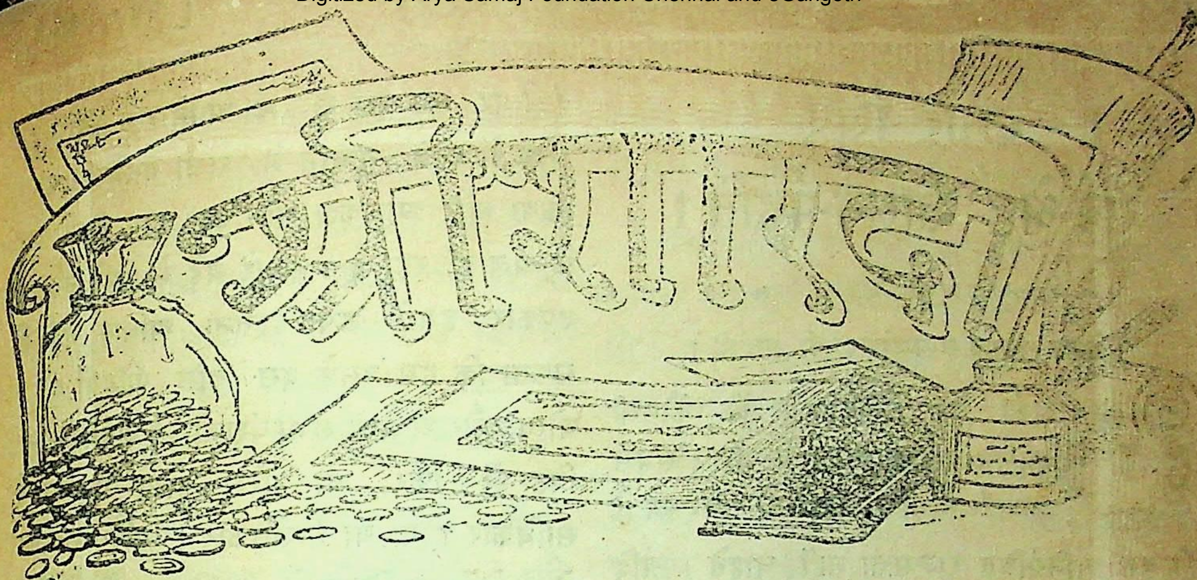

पुष्पहार



अहमदाबाद में होनेवाले कांग्रेस के आगामी अधिवेशन के
निर्वाचित सभापति

देशबन्धु चित्तरञ्जनदास।

Lakshmi Art, Bombay 8.



साहित्य-तथा-राजनीति-संबंधी-विविध-विषय-विभूषित सचित्र मासिक पत्रिका।

वर्ष २, खण्ड २] कार्तिक, शुक्ल प्रतिपदा, १९७८ * नवम्बर, १९२१ [संख्या २, पूर्ण संख्या २०

सूखे आँसू।

(लेखक—श्रीयुत "नवीन")

(१)

क्यों कलेजे की तड़प धीमी पड़ी ?
आज दिल सुनसान सा क्यों हो गया ?
आँख के अव्यक्त भावों की लड़ी—
तोड़ दी किसने ? कहाँ धन खो गया ?

(२)

इस विषमता की सरलता सूखकर—
किस सरोवर में तिरोहित हो गई ?
इस विपिन की वह कुहुकिनी कूक कर—
किस निनादित वेणु-वन में सो गई ?

(३)

सिसकने में ही मज़ा मिलता रहा।
कसक की उस वेदना की आह से—
हम विपन्नों का कमल खिलता रहा !
दर्द को दिल से लगाया चाह से।

(४)

हाय ! पर वह दर्द मेरा क्या हुआ ?
किस निठुर ने हाय ! पट्टी बाँध दी ?
लोल लोचन-बिन्दु, तुम अब हो कहाँ ?
सूखता है यह विटप,—लो, देख लो !

हमारे लिए सर्व-श्रेष्ठ शासन-पद्धति।

(लेखक–श्रीयुत सम्पूर्णानन्द, बी. एस-सी)



मको यह देखना है कि कौनसी शासन-पद्धति भारत के लिए सबसे अच्छी होगी। यह तो निश्चय है कि हम अनियंत्रित राजसत्ता नहीं चाहते। यदि एक मनुष्य के हाथों में अपरिमित अधिकार दे दिया जाय तो सम्भव है कि वह उस अधिकार से जनता का अपरिमित उपकार करे; परन्तु अपरिमित अपकार की अधिक आशंका है। अकबर एक ही हुआ है; परन्तु औरङ्गज़ेब, अलाउद्दीन, वाजिदअली प्रभृति का दल बहुत बड़ा है। अब यह प्रश्न रहा कि हम इँग्लिस्तान की भाँति नियंत्रित राजसत्ता रखना चाहते हैं या नहीं। मान लीजिए कि हमको कल स्वराज्य मिल गया, तो हम किसीको अपना राजा बनावेंगे या नहीं? कहा यह जाता है कि भारत प्रायः सदैव ही नरेश-तंत्र देश रहा है; अतः यहाँ के निवासी इस बात के अभ्यस्त हैं कि उनपर कोई न कोई नरेश राज करे। इतना उन्नत होने पर भी जापान का काम बिना नरेश के नहीं चलता। स्वतंत्र होने के कुछ ही काल पीछे चीनवालों ने अपने राष्ट्रपति युआन शिहकाई को अपना नरेश बनाना चाहा। अतः बिना एक न-एक नरेश के काम न चलेगा।

इसका उत्तर यह है कि इँग्लिस्तान और जापान की बात दूसरी है। वे नरेशों को कहाँ फेंक दें? पर, हम इस रोग को अपने गले क्यों मढ़ें? चीन में स्वयं युआन ने राजा बनने का प्रयत्न किया और आजकल चीन का काम बिना नरेश के चल ही रहा है। हमारे बड़े से बड़े नेता का उपकार हमारे ऊपर इतना अधिक नहीं हो सकता कि हम उसके दस बीस पीढ़ियों तक के योग्य और अयोग्य सभी वंशजों को अपने सिर पर बिठा लें। फिर, जो नरेश होगा वह या तो साधिकार होगा या निराधिकार। यदि साधिकार होगा तो अधिकार के दुरुपयोग की आशंका बनी रहेगी; यदि निरधिकार होगा तो काठ के ऐसे पुतले से लाभ ही क्या?

यह भी कहना निरर्थक है कि हम किसी सम्प्रदाय, वर्ण या दल विशेष का शासन नहीं चाहते। हमको शुद्ध लोकतंत्र-राज चाहिए। उदाहरण लेकर यहाँ विचार करना अनावश्यक है। लोकतंत्र स्थापित करने के लिए ऐसे नियम बन जायँगे जिनके अनुसार प्रजा के प्रतिनिधियों की एक सभा होगी और उसीके हाथ में शासन का मूल सूत्र होगा। वह सभा इँग्लिस्तान के पार्लिमेण्ट के ढङ्ग की होगी। बहुधा यह प्रश्न किया जाता है कि उस सभा के दो भाग हों या एक। अनुभव से सिद्ध होता है कि दो भाग वाली सभा अधिक अच्छी होती है। इँग्लिस्तान में कामन्स और लार्ड्स के पृथक् २ भाग हैं। अमेरिका में कांग्रेस और सीनेट पृथक् हैं। हमको कामंस और लार्ड्स सभा के अनुरूप तो विभाग करना नहीं है; क्योंकि हम धनिकों और उपाधि-धारियों को कोई विशेष अधिकार देना नहीं चाहते। अमरीका की प्रणाली भिन्न है। यह सभी जानते हैं कि वहाँ कई छोटे छोटे प्रदेशों के योग से संयुक्त-राष्ट्र

बना है। इनमें से प्रत्येक प्रदेश को स्टेट कहते हैं। प्रत्येक स्टेट का शासन कुछ अंशों में स्वतंत्र होता है। अमरीका की प्रणाली यह है कि कांग्रेस के प्रतिनिधि चुनने के लिए सारे देश की जनता एक मानी जाती है। प्रादेशिक सीमाओं की ओर ध्यान न देकर प्रतिनिधि चुने जाते हैं; परन्तु सीनेट में सरकार के प्रतिनिधि होते हैं।

हमको भी कुछ ऐसे ही नियम रखने चाहिए। अपनी भावी पार्लिमेण्ट की निम्न-सभा में सारे देश की जनता के प्रतिनिधि होने चाहिए। कांग्रेस ने निखिल—भारतवर्षीय-कांग्रेस कमेटी के लिए जो नियम बनाये हैं वे काम दे सकते हैं; पर मेरी समझ में इनकी अपेक्षा वे नियम अच्छे हैं जिनके अनुसार वाइसराय की व्यवस्थापिका सभा के सदस्य चुने जाते हैं। उनको सुधारकर अधिक उपयुक्त बना लेना चाहिए। अब रही ऊपर वाली सभा। उसके लिए एक तो प्रत्येक प्रान्त की सरकार के प्रतिनिधि जाने चाहिए, और दूसरे, प्रधान विद्या-पीठों के प्रतिनिधि भी उसीमें होना चाहिए।

यह तो हो जायगा; परन्तु फिर वही प्रश्न उपस्थित हुआ कि सबके ऊपर कौन हो। यदि नरेश नहीं तो राष्ट्रपति होना ही चाहिए। इस स्थान पर एक बात स्मरण रखनी चाहिए। इँग्लिस्तान आदि देशों को अपने नरेशों से एक बड़ा लाभ पहुँचता है। पार्लिमेण्ट और मंत्रि-मण्डल तो बराबर बदलता रहता है; परन्तु राजा नहीं बदलता; इसलिए उसका अनुभव बहुत बढ़ जाता है। साथ ही इसके, वह निष्पक्ष होता है, इसीलिए योग्य से योग्य मंत्रियों पर उसका प्रभाव पड़ता है। विलायत के सभी नीतिज्ञ विक्टोरिया और एडवर्ड की प्रतिष्ठा करते थे।

अब प्रबन्ध इस बात का होना चाहिए कि हमारा राष्ट्रपति अत्यन्त अनुभवी और निष्पक्ष हो। दूसरे, यह भी देखना होगा कि उसके पास इतने अधिकार न हों कि वह उनका दुरुपयोग कर सके; पर इतने अधिकार अवश्य हों जिनको देखकर योग्य मनुष्य इस पद को स्वीकार करने के लिए प्रवृत्त हों।

राष्ट्रपति दो प्रकार के होते हैं। फ्रांस के राष्ट्रपति के अधिकार अधिकांश बातों में इँग्लिस्तान के बादशाह के अधिकारों के समान हैं, अर्थात् बहुत कम हैं; पर वह सात वर्ष के लिए चुना जाता है। अमरीका के राष्ट्रपति के अधिकार अत्यन्त विस्तृत हैं। वैसे अधिकार बहुत से नरेशों के भी न होंगे; पर वह केवल तीन वर्ष के लिए चुना जाता है। मेरी समझ में अमरीकन पद्धति अच्छी है; परन्तु राष्ट्रपति पूरे दस वर्ष के लिए चुना जाना चाहिए। पार्लिमेण्ट की आयु पाँच वर्ष की होनी चाहिए। इससे प्रत्येक राष्ट्रपति को कम से कम दो पार्लिमेण्टों का अनुभव होगा। वह निष्पक्ष तो होगा ही; क्योंकि उसका अभ्युदय और पतन पार्लिमेंट या किसी दल विशेष के अभ्युदय तथा पतन पर निर्भर न होगा। अमरीका और फ्रांस की भाँति हमारा राष्ट्रपति भी समस्त जनता की पृथक् सम्मति से चुना जायगा और पार्लिमेण्ट का सदस्य न होगा। एक बात और यह होनी चाहिए जिसे काशी के दैनिक 'आज' पत्र ने लिखी थी कि राष्ट्रपति का चुनाव कांग्रेस के सभापति की भाँति हुआ करे। उसका आशय यह है कि इस

पद के लिए प्रयत्न (Canvassing) न हुआ करे, अर्थात् उम्मेदवार खड़े होकर चुनाव न हो; जैसे, एक मनुष्य खड़ा होकर कहे कि मैं राष्ट्रपति होऊँगा, दूसरा कहे कि मैं राष्ट्रपति होऊँगा। दोनों एक दूसरे का खण्डन-मण्डन करने में प्रवृत्त हों, फिर अन्त में जिसके लिए अधिक सम्मतियाँ हों वह राष्ट्रपति हो। 'आज' की सम्मतियों में यह प्रथा अच्छी नहीं है। मैं भी 'आज' से सहमत हूँ। इस प्रथा का प्रतिफल यह होता है कि जो लोग लम्बे-चौड़े व्याख्यान देने तथा खण्डन-प्रतिखण्डन को अच्छा नहीं समझते वे इस क्षेत्र में आ ही नहीं सकते। आजकल हमारी कांग्रेस में ऐसा नहीं होता। प्रत्येक प्रान्तीय कांग्रेस-कमेटी एक मनुष्य को मनोनीत करती है। फिर सब प्रान्तों को मिलाकर जिसके लिए अधिक सम्मतियाँ मिलती हैं वही सभापति होता है। यही नियम उस समय काम में लाया जाय। योग्यता की एक मर्यादा बाँध दी जाय। जिन लोगों में उस मर्यादा की योग्यता हो उनको सम्मति देने का अधिकार हो। प्रत्येक प्रान्त के सम्मति-दायकों के पृथक् पृथक् वर्ग बनाकर सब वर्गों से सम्मतियाँ ली जायँ और फिर बहुमत जिसके लिए हो वही राष्ट्रपति हो। उस अवस्था में कोई अपने लिए प्रयत्न न कर सकेगा। जिसको जनता अधिकतम योग्य, राष्ट्रभक्त, लोकोपकारक तथा कार्य्यकुशल समझेगी वही राष्ट्रपति चुना जायगा। जिसको उससे कम सम्मतियाँ मिलें वह उपराष्ट्रपति कर दिया जाय। जो व्यक्ति राष्ट्रपति चुने जायँ उनकी योग्यता के सम्बन्ध में दो तीन बातें होनी चाहिए। उन्होंने प्रचलित ढङ्ग की उच्च शिक्षा पाई हो (उस समय की किसी उपाधि को सीमा बनाना होगा), उनका वय ४० वर्ष से कम न हो और वे कम से कम किसी एक प्रान्तीय पार्लिमेंट के पूरे आयुष्काल (अर्थात ५ वर्ष) तक सदस्य रह चुके हों।

यहाँ पर संक्षेपतः इतना और बतला देना उचित है कि राष्ट्रपति के क्या अधिकार हुआ करते हैं और होने चाहिए। वह अपनी इच्छा से युद्ध घोषित कर सके, स्थगित कर सके और बन्द कर सके। युद्धकाल में वह सेना (जल, स्थल और वायु) का प्रधान नायक हो। इसके सिवा, प्रधान मंत्री की नियुक्ति करना, आवश्यकता पड़ने पर राज-कर्मचारियों को पद-च्युत करना, प्राणदण्ड पानेवाले को प्राण-भिक्षा देना, विशेष अवस्था में अपने मंत्रिमण्डल की सम्मति से किसी विधान विशेष को स्थगित करना तथा ऊँचे से ऊँचे न्यायालय की आज्ञा विशेष को रोक देना—यह सब राष्ट्रपति के अधिकार में होना चाहिए। इनमें से अधिकांश अधिकार अमरीका के राष्ट्रपति को हैं।

इनमें से दो तीन बातें किसी किसी को खटकेंगी, अतः यहाँ मैं इनपर संक्षेपतः विचार करूँगा। कोई यह सोचे कि युद्ध का छिड़ना तथा बन्द होना एक आदमी की इच्छा पर निर्भर न रहना चाहिए। यह आक्षेप उस समय उचित होता जबकि राष्ट्रपति को कोष पर भी अधिकार होता; परन्तु हमने यह अधिकार राष्ट्रपति को नहीं दिया है। युद्ध एक ऐसा विषय है कि उसका निर्णय एक बड़ी सभा के ऊपर नहीं छोड़ा जा सकता। उसमें तात्कालिक

निश्चय की आवश्यकता होती है । यह भी आवश्यक है कि युद्ध होगा या न होगा यह भेद शत्रु को ज्ञात न हो । यह बात तभी सम्भव है जबकि इसको बहुत कम लोग जानते हों । इसीलिए अन्तिम निर्णय राष्ट्रपति पर छोड़ा जाता है; पर राष्ट्रपति मनमाना काम नहीं कर सकता । वह पार्लिमेण्ट की आज्ञा बिना नई सेना भर्ती नहीं कर सकता; क्योंकि वेतन के लिए धन की स्वीकृति का अधिकार पार्लिमेण्ट को ही है । नये कर भी पार्लिमेण्ट ही लगा सकती है । इन बातों का परिणाम यह होगा कि राष्ट्रपति तबही लड़ाई छेड़ेगा जब वह इस बात का विश्वास कर लेगा कि मुझे पार्लिमेण्ट से सहायता मिलेगी । यही बात सन्धि के विषय में भी होगी । लड़ाई रोकना तो सहज है; पर संधि की आर्थिक शर्तें तभी काम में लाई जा सकती हैं जब पार्लिमेण्ट आज्ञा दे । इस प्रकार राष्ट्रपति स्वेच्छाचारी न हो सकेगा ।

कभी कभी इस बात की आवश्यकता होती है कि प्रान्त विशेष या सारे देश में साधारण क़ानून या इसका कोई अंश विशेष कुछ काल के लिए स्थगित कर दिया जाय । युद्ध, विदेशी आक्रमण, विद्रोह आदि के समय ऐसी आवश्यकता आ पड़ती है । ऐसी अवस्था में, विशेषतः जबकि पार्लिमेण्ट की बैठक न हो रही हो, या पार्लिमेण्ट से सम्मति लेने का अवकाश न हो, राष्ट्रपति को यह अधिकार होना ही चाहिए ।

मंत्रिमंडल की नियुक्ति बड़े महत्व का विषय है । इसका वर्णन आगे चलकर विस्तृत रूप से होगा ।

यहाँ पर दो प्रासङ्गिक प्रश्नों पर विचार करना आवश्यक है । राष्ट्रपति की उपाधि क्या हो ? यों तो राष्ट्रपति भी अच्छी और अत्यन्त उपयुक्त उपाधि है, परन्तु जहाँ तक पता लगता है, प्राचीन भारत में राष्ट्रपतियों को 'राजा' भी कहते थे । यूनान में भी राजा जनता द्वारा चुना राष्ट्रपति होता था । अतः यदि हमारा राष्ट्रपति सम्मानार्थ महाराजा या सम्राट् भी कहलाये तो कोई आपत्ति न होगी ।

इससे कहीं महत्व का प्रश्न यह है कि यदि राष्ट्रपति ठीक काम न करे अर्थात् कोई ऐसा काम करे जिससे राष्ट्र की प्रत्यक्ष हानि हो, तो वह पदच्युत कैसे किया जाय । भिन्न भिन्न देशों में इसकी भिन्न भिन्न रीतियाँ हैं । साधारण भूलों के लिए राष्ट्रपति पदच्युत नहीं किया जा सकता । देशद्रोह या बेईमानी या उत्कोच-ग्रहण (घूस लेना) के लिए ही उसे ऐसा दण्ड दिया जा सकता है । इसका प्रकार यह होना चाहिए कि यदि राष्ट्रपति पर ऐसा संदेह हो और पार्लिमेण्ट की दोनों सभाओं के कम से कम $\frac{2}{3}$ सदस्यों की ऐसी सम्मति हो, तो राष्ट्रपति का काम उपराष्ट्रपति करने लग जाय । उस समय दोनों सभाओं के तुल्य-संख्यक सदस्यों की एक समिति बनायी जाय जिसमें राष्ट्र के उच्चतम न्यायालय की ओर से चुने हुए उतने ही व्यक्ति हों जितने कि प्रत्येक सभा की ओर से चुने गये हैं । यह समिति राष्ट्रपति के कामों की जाँच करे । समिति की रिपोर्ट छापी जाय और फिर जिन लोगों ने राष्ट्रपति को चुना था उन्हींसे सम्मति ली जाय । यदि बहुमत से वह अपराधी ठहरे तो पद-च्युत किया

जाय। इसके पीछे यदि उचित प्रतीत हो तो सर्कार प्रधान न्यायालय में उसके विशेष कामों के लिए उसपर अभियोग चलावे।

कभी कभी यह भी सम्भव है कि पार्लिमेण्ट की सभाएँ स्वतः इस काम में अग्रसर न हों। यदि ऐसी दशा में राष्ट्रपति चुननेवाले प्रांतीय वर्गों में से आधे से अधिक वर्ग इस विषय का आवेदन-पत्र भेजें कि राष्ट्रपति को बदल देना चाहिए तब भी उपर्युक्त विधि से इस प्रश्न पर विचार करना होगा।

इस हस्तक्षेप का उद्देश्य यह है कि जो मनुष्य राष्ट्रपति के प्रभावशाली, वैभवशाली तथा सुप्रातिष्ठित पद पर नियुक्त हो वह सर्वथा योग्य और राष्ट्रहित का अनन्य सेवक हो। नियुक्त होने के पीछे वह स्वतंत्रतापूर्वक काम कर सके और अपनी शक्तियों से पूरा काम ले सके; पर इसके साथ ही उसको उच्छृङ्खल होने का अवसर न मिले। यदि वह जानबूझकर राष्ट्रहित को हानि पहुँचाये तो उसको दण्ड दिया जा सके। इसके साथ ही, इस बात का भी प्रबन्ध रहना चाहिए कि व्यक्तिगत वैर-विरोध तथा क्षुद्र मत-भेदों के कारण कोई योग्य मनुष्य अपने पद से च्युत न कर दिया जाय।

अब रही मंत्रियों की नियुक्ति। यह भी एक जटिल समस्या है। अमरीका और फ्रांस की प्रथा भिन्न है। दोनों देशों ने इँग्लिस्तान का अनुकरण किया है; परन्तु भिन्न भिन्न समयों में। अमरीका का लोकतंत्र पहले स्थापित हुआ। उन दिनों इँग्लिस्तान में नरेश के अधिकार विस्तृत थे और मंत्रियों की नियुक्ति उसके हाथ में थी। फ्रांस में लोकतंत्र पीछे हुआ। उस समय पार्लिमेण्ट का पूर्ण प्राधान्य हो गया था और शासन का ढँग प्रायः आजकल का सा था।

अमरीका के मंत्रियों को सेक्रेटरी कहते हैं। इनकी नियुक्ति प्रायः राष्ट्रपति की इच्छा पर निर्भर है। जिसको वह जिस पद के योग्य समझता है, अर्थात् जिसके विषय में वह यह समझता है कि मैं इस मनुष्य से भलीभाँति काम ले सकूँगा उसीको मंत्री बनाता हैं। ये मंत्री लोग राष्ट्रपति के अधीन काम करते हैं। इनका पद, अधिकार और दायित्व बराबर है। कोई किसीसे बड़ा या छोटा नहीं है। इनमें परस्पर कोई राजनीतिक सम्बन्ध भी नहीं है। ये लोग कांग्रेस के सदस्य भी नहीं होते। इससे अड़चन पड़ती है। जितने राज-विभाग अर्थात् जितने मंत्री हैं कांग्रेस ने उतनी ही उपसमितियाँ नियुक्त कर दी हैं। एक उपसमिति पर-राष्ट्र-विभाग के लिए, एक स्व-राष्ट्र के लिए, एक न्याय के लिए इत्यादि। जब किसी मंत्री को आवश्यकता पड़ती है, तो वह उपयुक्त उपसमिति को लिखता है। उपसमिति उसके पत्र पर विचार करके उस प्रश्न को कांग्रेस के सामने रखती है, कांग्रेस अपना निर्णय उपसमिति को बतलाती है और तब उपसमिति मंत्री को लिखती है। इसमें बहुत समय लगता है और काम में भी बाधा पड़ती है। लोगों ने सोचा यह था कि यदि मंत्री लोग कांग्रेस के सदस्य होंगे, तो या तो अपने भाषणों के प्रवाह से भोलेभाले सदस्यों से जो चाहेंगे करा लेंगे या घूस से काम लेंगे। उन दिनों इँग्लिस्तान में घूस का बाज़ार गर्म भी था; पर जब सदस्य इतने पतित नहीं होते—तो यह अवश्य होता है कि मंत्री बेचारों को यह भी

अवकाश नहीं मिलता कि आवश्यक बातें भी यथार्थ रूप से कांग्रेस के सामने उपस्थित कर सकें।

फ्रांस में ऐसा नहीं होता। वहाँ एक प्रधान मंत्री होता है। वही अपने साथियों अर्थात् अन्य मंत्रियों को चुनता है। जब किसी कारण से मंत्रि-मण्डल पद-त्याग करता है तो राष्ट्रपति पार्लिमेण्ट-चेम्बर के सबसे अधिक प्रभावशाली नेता को प्रधान बना देता है। शेष मंत्रियों का चुनाव, प्रधान करता है। ये सभी मंत्री चेम्बर के सदस्य होते हैं। इस पद्धति के अनुसार प्रधान मंत्री के ही हाथों में प्रायः सारा अधिकार होता है। राष्ट्रपति को स्वातंत्र्य नाममात्र को ही होता है। जो प्रधान चेम्बर को आकर्षित कर सके वह बहुत दिनों तक अधिकार-भोग कर सकता है।

अब देखना यह है कि हम किस प्रथा का अनुसरण करें। किसी प्रकार की शासन-पद्धति हो, उसके लिए यह आवश्यक है कि काम सुगमता से होता रहे और साथ ही कार्य्यकर्ताओं का प्रजा के प्रति दायित्व हो। अमरीकन पद्धति में जो दायित्व है वह देर में काम करता है; क्योंकि जनता के प्रतिनिधि मंत्रियों पर बराबर दबाव नहीं डाल सकते। एक बार कोई मंत्री अपने विभाग के लिए कांग्रेस से व्यय स्वीकार करा ले, फिर वह बहुत दिनों तक मनमानी कर सकता है; केवल राष्ट्रपति को उससे प्रसन्न रहना चाहिए। फ्रेंच पद्धति में यह है कि काम होता भी शीघ्र है और मंत्रियों पर जनता का प्रभाव भी बराबर, नित्य-प्रति, पड़ता रहता है; पर मंत्रियों को दृढ़तापूर्वक काम करने में बाधा पड़ती है। उनको यह डर लगा रहता है कि कहीं हमारे विरुद्ध अधिक सम्मतियाँ न आ जायँ, नहीं तो हमको आज ही पद-त्याग करना पड़ेगा। इसलिए उनको बहुधा न्याय और सत्य से मुँह मोड़कर ऐसे काम करना पड़ते हैं जिससे चेम्बर प्रसन्न रहे। हमको ऐसे मार्ग ढूँढ़ना चाहिए जिससे मंत्रियों का स्वातंत्र्य रहे और उनपर लोकमत का प्रभाव भी पड़ता रहे।

एक प्रधान-मंत्री का होना आवश्यक है। उसकी नियुक्ति और पद-च्युति राष्ट्रपति द्वारा होनी चाहिए। राष्ट्रपति को यह अधिकार होना चाहिए कि वह जिस मनुष्य को देश में सबसे योग्य समझे उसीको प्रधान-मंत्री चुने; चाहे वह मनुष्य पार्लिमेण्ट का सदस्य हो, या न हो। इस प्रधान मंत्री को यह अधिकार होना चाहिए कि वह पार्लिमेण्ट की दोनों सभाओं में सम्मिलित हो सके और भाषण दे सके; पर उसको सम्मति देने का अधिकार न होगा। यदि पार्लिमेण्ट का कोई सदस्य प्रधान मंत्री चुन लिया जाय तो उसका सम्मति देने का अधिकार जाता रहेगा और उसके नगरवालों को उसके स्थान में दूसरा मनुष्य चुनना होगा। राष्ट्रपति को यह भी अधिकार होगा कि प्रधान मंत्री से त्यागपत्र देने को कहे और यदि वह ऐसा न करे तो उसे पदच्युत कर दे; परन्तु ऐसी अवस्था में उसका यह कर्त्तव्य होगा कि पार्लिमेण्ट को लिखकर बतलावे कि प्रधान मंत्री क्यों निकाला गया। यदि पार्लिमेण्ट को राष्ट्रपति के बतलाये हुए कारण पर्याप्त या उचित प्रतीत न हों और दोनों सभाओं के $\frac{3}{4}$ संख्यक सदस्यों की सम्मति में प्रधान मंत्री दोषी न हो तो वह राष्ट्रपति से प्रार्थना करे कि प्रधान फिर रख लिया जाय। यह प्रार्थना राष्ट्रपति के लिए मान्य होगी।

प्रधान मंत्री को चुनने का अधिकार राष्ट्रपति को होगा; परन्तु शेष मंत्रियों का चुनाव प्रधान-मंत्री स्वयं करेगा। यह आवश्यक नहीं है कि सब मंत्री पार्लिमेण्ट के सदस्य हों; पर यह आवश्यक है कि कम से कम आधे मंत्री पार्लिमेण्ट के सदस्य हों और सभी मंत्रियों के सहायक अर्थात् उपमंत्री पार्लिमेण्ट के सदस्य हों। पार्लिमेण्ट के जो सदस्य मंत्री हो जायँगे उनको सम्मति देने का अधिकार न होगा। उनके नगर-वासी उनके स्थान पर दूसरा सदस्य चुन लेंगे। प्रत्येक मंत्री को यह अधिकार होगा कि पार्लिमेण्ट की सभाओं में जाकर भाषण करें; परन्तु सम्मति देने का अधिकार किसीको न होगा। राष्ट्रपति को अधिकार होगा कि प्रधान मंत्री की प्रार्थना पर किसी मंत्री विशेष को पदच्युत कर दे; परन्तु इसका कारण पार्लिमेण्ट के सामने उपस्थित करना होगा।

यह तो राष्ट्रपति और मंत्रिमंडल का संबंध हुआ। पार्लिमेण्ट के प्रति मंत्रिमण्डल का दायित्व प्रायः उसी प्रकार का होगा जैसा कि फ्रांस और इंग्लिस्तान के मंत्रिमंडल का होता है। यदि पार्लिमेण्ट मंत्रियों से असन्तुष्ट होगी, तो उनके विभागों के लिए व्यय स्वीकार न करेगी; अतः उनको हार मानकर पदत्याग करना होगा, या राष्ट्रपति उनको पृथक् कर देगा। इसी प्रकार यदि पार्लिमेण्ट की दोनों सभाएँ समस्त मंत्रिमंडल या किसी एक मंत्री के सम्बन्ध में असन्तोष-प्रस्ताव (Vote of censure) स्वीकार कर लें, तो सारे मण्डल को पदत्याग करना होगा। सम्भव है कि किसीका यह विचार हो कि एक मंत्री के लिए सब क्यों पदत्याग करें। इसका कारण यह है कि आज कल मंत्रिमण्डल का संयुक्त दायित्व माना जाता है, और यह ठीक भी है। यों तो प्रत्येक मंत्री अपने अपने विभाग के लिए उत्तरदाता है; परन्तु नीति के महत्वपूर्ण विषयों का निश्चय सबकी सम्मति से होना चाहिए। अतः कोई भी विभाग हो, सिद्धान्तों के लिए सब विभागों के लिए सबका दायित्व बराबर है। यही पद्धति इँग्लिस्तान में भी प्रचलित है। हाँ, राष्ट्रपति को यह अधिकार होना चाहिए कि यदि वह चाहे, तो उसी पुराने प्रधान को फिर प्रधान बनावे और प्रधान को भी यह अधिकार होना चाहिए कि वह अपने नये मंत्रिमण्डल में कतिपय पुराने मंत्रियों को सम्मिलित कर सके।

एक प्रश्न और बच रहा। पार्लिमेण्ट की दोनों सभाओं के अधिकारों में क्या भेद होगा? इस सम्बन्ध में हमको अन्य देशों का अनुकरण करना चाहिए। अधिकांश बातों में दोनों के अधिकार बराबर होंगे। जो मन्तव्य एक में स्वीकृत होगा वह दूसरी के सामने रक्खा जायगा, और दोनों में स्वीकृत होने पर राष्ट्रपति के पास हस्ताक्षर के लिए जायगा। परन्तु, यदि निम्न-सभा किसी प्रस्ताव को चार चार साल का अन्तर देकर तीन बार स्वीकार करे और तीनों बार ऊपर वाली सभा उसे अस्वीकार करे तो चौथी बार निम्न-सभा को अधिकार होगा कि प्रस्ताव को सीधे राष्ट्रपति के पास भेज दे। ऊपर वाली सभा राष्ट्र के आय-व्यय पर आलोचना कर सकती है, परन्तु नये कर स्वीकृत करना तथा नये व्ययों के लिए आज्ञा देना केवल निम्न-सभा के ही अधिकार में होगा। जनता की ओर से बड़े बड़े राज-कर्मचारियों पर जो शिकायतें होंगी या स्वयं सरकार बड़े

राजकर्मचारियों के आचरणों से असन्तुष्ट होगी, तो इस प्रश्न का विचार पहले ऊपरवाली सभा में होगा।

दोनों सभाओं के अधिकारों में जो भेद बतलाया गया है उसका कारण स्पष्ट है। निम्न-सभा में प्रजा के प्रतिनिधि होते हैं। उन्हींको कर देना पड़ता है; अतः यह निर्णय उनको ही करना चाहिए कि नया कर लगाया जाय या नहीं और यदि लगाया जाय, तो व्यय कैसे किया जाय। इसी प्रकार यदि जनता कोई नया विधान चाहती है; परन्तु अधिकारि-वर्ग उसके विरोधी हैं तो इस बात का प्रबंध होना ही चाहिए कि जनता की इच्छा के अनुसार काम हो; परन्तु स्वयं कर्मचारियों का आचरण एक ब्यौरे की बात है। जो लोग स्वयं शासन करते हैं वही जान सकते हैं कि किस अवस्था विशेष में किसी कर्मचारी को क्या करना पड़ता है और यह विश्वास नहीं होता कि सभा किसी बेईमान पदाधिकारी का पक्षपात करेगी।

यह उस शासन-पद्धति का, जो मेरी सम्मति में इस देश में स्वीकृत होनी चाहिए, एक अस्थि-पञ्जर है। इसमें यथासम्भव सभी सभ्य देशों की श्रेष्ठतम पद्धतियों से सामग्री ली गई है। यह विषय गम्भीर है; परन्तु मुझे विश्वास होता है कि मैंने जो मार्ग बतलाया है उसमें अत्यधिक त्रुटियाँ नहीं हैं। इसका पूरा रूप तो तब समझ में आवे जब प्रान्तीय शासन का ढँग भी बतलाया जाय। यथावकाश उस प्रश्न पर भी कभी विचार किया जावेगा।



अन्तिम झाँकी।

(लेखक—पं० लक्ष्मीनारायण मिश्र)

(१)

विमल अभ्र के वातायन से
झिलमिल हो प्रति पल में।
तारा-गण थे झाँक रहे ज्यों
सुविमल कमल सलिल में।
प्रकृति-मंच पर थिरक रही थी
ऊषा नटी नमित सी।
मित्र आगमन-सुखद-प्रतीक्षा
करती हुई श्रमित सी॥

(२)

शोभित दिनमणि एक झलकता
प्राची के अंचल में।
सौ सौ दिनमणि लगे झलकने
सत्वर सरिता-जल में।
बस मयूखमाली की किरणें
क्षिति पर लगीं छहरने।
हेम-नीर की तरल तरङ्गें
मानो लगीं विहरने॥

(३)

विकसे नवल कमल पुलकित हो
क्या कहना है छवि को।
शतशः नेत्र खोल कर मानों
प्रकृति देखती रवि को।
तरणी-तीर शिखर पर बैठी
पहने आशा-माला।
सस्मित वदन देखती यह छवि
एक अलौकिक बाला।

(४)

रवि को ऊँचा निरख गगन में
बोली अबला दुख से ।
मानो सुधा छिड़कते अनुपम
निकले अक्षर मुख से—
"संध्या-समय विलोका मैंने
अस्ताचल पर तुमको ।
निष्क्रिय, निष्प्रभ, निपट म्लान तुम
छोड़ चले थे तम को ॥

(५)

"पर सम्प्रति तुम पुनः उदित हो
दिनमणि ! उदयाचल से ।
कर सहस्र फैलाकर मिलते
हो अभिराम कमल से ।
'सच्चा प्रेम अचूक सदा है
होता सिद्ध' बताते ।
'जो जाता है फिर आता है'
या यह तत्त्व जताते ॥

(६)

"या कहते हो—'नहीं ठहरता
पापाचार निराला' ।
धाक नष्ट होती अन्यायी
की आखिर विकराला ।
कर्म-पन्थ का पान्थ डिगाता
सारे जगती-दुख को ।
एक उल्लासित--हृदय वितरता
जन जन में चिर-सुख को ॥

(७)

"मेरा जीवन-सूर्य अस्त हा !
हुआ बहुत दिन बीते ।
निर्झर होकर नयन बरसते,
हुए, अश्रु से रीते ।
धधक रही चिर-विरह-वह्नि है
दिनमणि मेरे तन में ।
मन है यही चाहता—'विचरूँ
बस, चिर-शान्ति-सदन में ॥'

(८)

"जगती-तल में सदा प्रेम में
विरह मात्र निश्चय है ।
शशा-शृङ्ग-वत् हुआ जगत में
शुद्ध-स्वरूप प्रणय है ।
आत्मार्थी है सुखित जगत में
दुखित आत्म-त्यागी है ।
सहृदयता से ले विराग जग
निष्ठुरता-रागी है ॥

(९)

"ऐसी माया-मय जगती से
उकता प्रिय निज मन में ।
जग-सेवा में निरत मोह तज,
पैठे शान्ति-सदन में ।
मैं भी चली उन्हींके पीछे,
किन्तु भूलती मग में ।
रही ठगी सी, हा व्याकुल मैं
निष्क्रिय, निर्गम जग में ॥

(१०)

"मम अमूल्य जीवन प्रिय-विरहित
जग का भार बना है ।
किंकर्तव्यविमूढ़ हो रही,
हा ! जग मोहमना है ।

हा ! इस विस्तृत जगती तल में
जीवन--ज्योति कहाँ है ।
यही ध्येय है वहीं पधारूँ
जीवन-ज्योति जहाँ है ॥ "

(११)

चुप हो गई कथन कर इतना
रमणी अन्तिम स्वर से ।
माने सुर-सरि-धार रुक गई
हिल--मिल कर सागर से ।

सस्मित वदन-छटा छिटकाकर,
प्रेम--विमोहित--मति हो ।
नवला अबला सरला जल में
कूद पड़ी पुलकित हो ॥

(१२)

तरल तरङ्गों की गोदों में
क्रीड़ा क्रमशः करती ।
हृदय, हृदय में प्रेम--पद्य का
सौरभ वितरण करती ।
बहने लगी साथ लहरों के
वह छवि शान्ति-अयन है ।
श्रेयष्करी प्रेम के मग में,
रंजित करती मन है ॥



मनोराज्य ।

(लेखक--श्रीयुत "निर्गुण")

(१)

भारत की रुचि एकदम निराली है। कोई कैसा भी पदार्थ क्यों न हो जबतक उसपर धर्म की पुट न चढ़ाई जावे तब तक भारत उसे स्वीकार नहीं करता। इसमें संदेह नहीं कि आज उसका ध्येय स्वराज्य है। इस ध्येय को पूरा करने के लिए वह सब कुछ करने को कटिबद्ध है; परंतु उसने धार्मिकता का ध्येय और भी ऊँचा चढ़ाकर रखा है। उसकी धारणा है कि हिंसा अधर्म है। अतएव अधर्म से स्वराज्य प्राप्त करना भी उसे अभीष्ट नहीं है। स्वराज्य के आदर्श ने ज्योंही धर्म से आलिंगन किया, भारत इस मेल पर मुग्ध होगया। आज वह धर्म-संगत स्वराज्य की उपासना हृदय से कर रहा है। उसकी वर्तमान विलक्षण चैतन्यता का यही रहस्य है।

राजनीति और धर्म में जिन्हें पृथ्वी और आकाश का अंतर दिखाई देता है वे इस विशेषता को क्या समझें। राजनीति में जो साधुता की आवश्यकता नहीं समझते उन्हें भारत से एक शिक्षा लेनी होगी और वह शिक्षा यह होगी--

"मनुष्य ! तू अहम्मन्यता का वशवर्ती होकर, केवल अपनी चतुराई के सहारे, अपने स्वार्थ का कैसा भी प्रबंध कर, जब तक तू मानव-धर्म की अवहेलना करेगा तब तक तेरी बुद्धिमत्ता तेरे ही नाश का कारण होगी।"

हम तुझसे पूछते हैं--भारत ! इस अनमोल शिक्षा की संसार को बड़ी आवश्यकता है। चाहे, तो तू दे सकता है ! बोल, क्या तू इस योग्य होगा ?

(२)

परम-पद-प्राप्त स्वामी विवेकानन्द कहा करते थे कि धर्म-प्राण भारत के हृदय में त्याग की ममता ओत-प्रोत भरी हुई है। वही पुरुष भारत के हृदय का हृदय-सम्राट् हो सकेगा जिसका जी रेशमी वस्त्रों की कोमलता से ऊब चुका है और जिसे गुदड़ी की गोद में ही आनन्द की सीमा मिल जाती है। इस जाति का ऐसा विलक्षण संस्कार है कि इसे लक्ष्मी के चित्त-विक्षेपकारी विलासों में नहीं, निधियों की मनोमुग्धकारी अठखेलियों में नहीं, शक्ति के विश्वविजयी व्यापारों में नहीं, सिर्फ़ गुदड़ी में मनुष्य की महानता दिखाई देती है। नरेन्द्र के वैभव को वह भले ही आश्चर्य की निगाहों से देखे, वह उसे अपने हृदय में स्थान नहीं देता। हृदय-मंदिर की वेदी पर भारत उसी महापुरुष का स्वागत करता है जिसने अपने खिले हुए जीवन-पुष्प की पखुरियों को जनता की अभ्यर्थना में झड़ा दिया हो ! और स्वयम् ? स्वयम् कुछ न बचा रखा हो।

भारत का हृदय-मंदिर ऐसी प्रतिमाओं से रिक्त नहीं है; परंतु दुःख का विषय इतना ही है कि उसने उसके द्वार सदियों से बंद कर रखे हैं। उसे स्वयं अपने हृदय की यथार्थता का ज्ञान बहुत कम है। वह आत्म--विस्मरण-शील हो रहा है। उसका हृदय-पट वही पुरुष खोल सकेगा जिसकी विशाल भुजाओं में त्याग की शक्तिमत्ता विलास कर रही है। जिस समय ऐसा महापुरुष भारत के हृदयद्वार पर आग्रहपूर्वक स्थिर होकर उसे खोलने में कृतकार्य होगा, उस समय भारत बाहर और भीतर एक ही रूप का दर्शन करके प्रसन्नता-पूर्वक चैतन्य हो उठेगा। उसके लिए संसार में फिर कोई समस्या न रह जावेगी।

मोहमग्न भारत ! कुछ शान्त होकर सुन ले। तेरे हृदय-मंदिर का दरवाज़ा इस समय कोई खटखटा रहा है। इस आवाज़ में प्रेम और आग्रह की अलौकिक ध्वनि सुनाई देती है।

(३)

पूर्व और पश्चिम के मध्य में बढ़ते हुए पारस्परिक वैमनस्य के विष-वृक्ष को छिन्नमूल करके उसके स्थान में अंतर्जातीय मेलरूपी कल्पवृक्ष को आरोपित करना कविवर रवीन्द्रनाथ का अत्यंत प्यारा विषय है। कदाचित् इसी लक्ष्य को सिद्ध करने की इच्छा से वे अपने शांति-निकेतन में अंतर्जातीय विश्वविद्यालय की रचना करना चाहते हैं। विश्व-प्रेम की बुनियाद पर खड़े हुए इस उदाराशय विद्यालय में पूर्वीय और पाश्चिमी सभ्यता का प्रेमालिंगन होगा। यहाँ मानव-मार्ग से भटके हुए पश्चिम के पैरों में चुभे हुए काँटों को प्रेमपूर्वक निकालकर उसके क्षुब्ध हृदय को पूर्ण शांति प्रदान करेगा। उसी तरह पश्चिम भी परमार्थ-वृत्ति से प्रेरित होकर तन्द्रा से झुकते हुए पूर्व के मस्तक को उठाकर उसके कानों में स्फूर्ति-संचारक मंत्र फूँक देगा।

यह मिलन-मंदिर मिलने वालों को मुबारक हो !

जड़वाद के ठाकुरद्वारा से लौटकर कवि महोदय ने अंतर्जातिय भाईचारे का जो गगन-भेदी स्वर समय समय पर आलापा है, वह निस्सन्देह दिव्य है। परंतु भारत उस स्वर्ग-संगीत से किसी तरह आनन्द नहीं उठा सकता; क्योंकि उसका हृदय दुरात्माओं के छोड़े हुए स्वार्थ के तीखे शर-संधानों से क्षत-विक्षत होरहा है। मर्मान्तक हृदय-वेदना उसे व्याकुल कर रही है। परमार्थ-कामी भारत स्वार्थ से विरक्त ही न हुआ, वह उसे सर्वथा भूल गया। इसीलिए उसे ये दुर्दिन देखने पड़े हैं। स्वार्थ से विरक्त रहना अच्छा है; परंतु उसे भूल जाना उतना ही बुरा है। स्वार्थ-विस्मरण का परिणाम इस देश के लिए अत्यंत दारुण हो रहा है। उसके लिए यह अत्यंत आवश्यक है कि खुली आँखों से वह अपनी परिस्थिति की जाँच करे और स्वार्थ-संपादन की एकांत इच्छा से कर्म-शील होकर उठ बैठे। परमार्थ की दूर-बीन से सुदूरवर्ती पदार्थों को देखना और अंतर्जातीय समस्याओं की जटिलता में उलझना उसके लिए शोभा देनेवाली बात न होगी। जिस जाति की जातीयता में टोटा है उसके लिए अंतर्जातीय उलझन में पड़ना किस मर्ज़ की दवा होगी, यह हमारी जड़ताक्रांत समझ में नहीं आता। इसीलिए हमारी यह निश्चित धारणा है कि इस समय अपना ही स्वार्थ देखना भारत का परम से परम कर्त्तव्य है।

भारत स्वतंत्र और शक्ति-संपन्न होवे। भारत की दिशाएँ जातीयता की गंभीर ध्वनि से गूँजने लगें। संसार की मनुष्य-जातियों की महासभा में उसे गौरव और प्रतिष्ठा की पदवी प्राप्त हो। उसके विशाल मस्तक से दासत्व-रूपी कलंक का टीका मिट जावे। बस, उसके प्राण इसीलिए कण्ठगत हो रहे हैं। एक बार वह अपनी-सद्वांछाएँ पूरी कर ले। फिर सभ्य-शिरोमणि भारत को अंतर्जातिय आदर्श की शिक्षा लेने की आवश्यकता न होगी। उसकी सभ्यता-रूपी विशाल इमारत के शीर्ष-भाग में "वसुधैव कुटुंबकम्" का सिद्धान्त बड़े बड़े अक्षरों में अंकित है। परंतु जातीय दुरवस्था के कारण यह सिद्धान्त ही उसके उपहास का कारण हो रहा है। वे दिन अभी दूर हैं जब कि इस सिद्धान्त को वह अपने जीवन में सार्थक कर सकेगा।

विशाल-काय भारत की एक हलकी सी मुट्ठी जिनके कार्यक्षेत्र के लिए काफ़ी है वे भी उसकी ओर नज़र उठाकर नहीं देखते। क्यों? क्योंकि उसका इस समय कोई व्यक्तित्व ही नहीं है। उसका सारा अस्तित्व गागर में सागर के समान इँग्लिस्तान के व्यक्तित्व में समा रहा है। इसीलिए हम कहते हैं कि संसार की मनुष्य-जातियों में जिस जाति की कोई पूछ नहीं है उसके लिए अंतर्जातीय शांति-साम्राज्य की बेसुरी तान आलापना विडंबना है, अनधिकार-चर्चा है।

रवीन्द्र बाबू की भौतिक परिस्थिति और मानसिक विकास में प्रकृति-देवी ने विलक्षण अनुकंपा का परिचय दिया है। अदृष्ट की इन देनगियों के कारण वे जन-समुदाय की अपेक्षा अधिक गौरव, प्रतिष्ठा और सम्मान के पात्र हो सकते हैं। यूरोपीय देशों से आपको बहु-संख्यक निमंत्रण-पत्र जो समय समय पर मिल चुके हैं और आपकी यूरोप-यात्रा में दर्शनाभिलाषी स्त्री-पुरुषों की जो उत्कंठित मंडली प्रत्येक स्टेशन

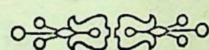
पर आपकी प्रतीक्षा किया करती थी उन सबका कारण आपकी हासिल की हुई "नोबेल प्राइज़" की पात्रता ही थी। यह कहने की आवश्यकता कदाचित् नहीं है कि आपकी गुणावली की जयमाला जो यूरोप ने आपके गले में सादर डाल दी है वह आज भी आपके वक्षस्थल में विलास कर रही है। हम रवीन्द्र बाबू से सादर अनुरोध करते हैं कि आप उसे थोड़ी देर के लिए हाथ में लेकर उसका ध्यान-पूर्वक निरीक्षण करें। आपको अनायास विदित हो जावेगा कि आपके व्यक्ति-गत गुण-रूपी पुष्पों से वह माला आदि से अंत तक भरी हुई है। परंतु—परंतु आपकी भारतीयता सबसे आख़िर में पिरो दी गई है। मालाकार की कदाचित् यह धारणा थी कि उस एक निर्गंध और सौंदर्य्य-हीन पुष्प से रवीन्द्र बाबू के गलहार की शोभा तो बढ़ ही नहीं सकती, प्रत्युत उसकी विशेषता बहुत कुछ घट जावेगी। हमें विवश होकर कहना पड़ता है कि आपके सम्मानित होने के कारण आपही की व्यक्तिगत विशेषताएँ हैं, आपकी भारतीयता नहीं।

जिन बेचारों के पास सिवा उनकी भारतीयता के कुछ है ही नहीं उनकी इज्ज़त यूरोपियन सभ्य-संसार में किस तरह होरही है, यह रवीन्द्र बाबू स्वयम् जानते हैं। हमारा इतना ही आशय है कि यूरोपीय हृदय कितना संकीर्ण और अनुदार है, कवीन्द्र महोदय का यूरोपीय स्वागत इसे भुला देने का कहीं कारण न हो जाय।

रवीन्द्र बाबू के उपदेश-वचन सुनने के लिए यह उद्भ्रांत शताब्दी बिलकुल तैयार नहीं है। भारत को इसकी आवश्यकता इसलिए नहीं है कि उसे आज दिन जीवन के लाले पड़े हैं। वर्तमान यूरोपीय स्वार्थ-महासागर में उसकी जीवन-नौका डगमगा रही है। यूरोप अभी इसके लिए तैयार नहीं है; क्योंकि उसका मस्तिष्क वैभव के मद से अभी तक फिरा हुआ है। उसकी मानव-रुधिर-पिपासा अभी शान्त नहीं हुई है।

हम देखते हैं कि कभी कभी व्यापक और बड़े बड़े प्रश्नों को हाथ में ले लेना छोटी, पर टेढ़ी, समस्याओं से मुक्त रहने का अच्छा साधन बन जाता है।

पृथ्वी पर चलनेवाले हम सरीखे क्षुद्र जीवों के लिए निश्चित मार्ग बने हुए हैं। इन मार्गों से भ्रष्ट होकर हम धर्म और समाज से तिरस्कृत हो जाते हैं; परंतु हम जानना चाहते हैं कि जो लोग प्रतिभा के परों से आसमान में चक्कर काटते हैं क्या उनके लिए कोई निर्दिष्ट पथ नहीं है? अवश्य होगा।



सामाजिक बीमा।

(लेखक—पं० मदनमोहन शर्मा, बी० ए०)

संसार के उन्नतिशील देशों में जो बहुत से सुधार किये गये हैं उनमें से एक बड़ा उपयोगी सुधार सामाजिक बीमा भी है। आजकल श्रम-जीवियों को अनेक ऐसे दुःख और कठिनाइयाँ झेलनी पड़ती हैं जिनसे अन्य पेशे वाले मुक्त हैं; जैसे, औद्योगिक दुर्घटनाएँ, रोग और अकाल-मृत्यु, समय पर कार्य का न मिलना, वृद्धावस्था इत्यादि। पहले से ही मज़दूरी में से कुछ धन बचाकर एकत्रित कर

रखने से, समय पर उन्हें कुछ आराम मिल सकता है; परंतु यह धन इतना कम होता है कि एक ही बीमारी में व्यय हो जाता है। इसके अतिरिक्त, मज़दूरों का दूरदर्शी होना भी बड़ा कठिन है। भारतवर्ष जैसे देश में जहाँ मज़दूरों को अन्य देशों की अपेक्षा अति अल्प मज़दूरी मिलती है मज़दूरों के लिए कुछ धन बचा लेना असंभव ही है। बहुत काल तक मज़दूरी से वंचित रहने का फल यह होता है कि उन्हें भीख माँगने के लिए बाध्य होना पड़ता है, और इससे उनकी कार्य-शक्ति का जितना ह्रास, और स्वयं उनका जितना पतन होता है उसे पाठक स्वयं समझ सकते हैं।

इन्हीं दुःखों से बचने के लिए सामाजिक बीमे की बड़ी आवश्यकता है। यदि प्रत्येक श्रमजीवी बीमा-फ़ंड में कुछ धन दे दिया करे, तो उसके दुःख दूर करने का अच्छा प्रबंध हो सकता है। इसके लिए एक सभा इस प्रकार की बनाई जाती है जिसका सदस्य प्रत्येक श्रमजीवी को बनना पड़ता है और उसके फ़ंड के लिए कुछ चंदा देना पड़ता है। इस फ़ंड का कुछ धन कारख़ानों के मालिक देते हैं, और कुछ गवर्नमेन्ट देती है। इसीको सामाजिक बीमा कहते हैं।

इस प्रकार की सभाएँ सबसे पूर्व सन् १८८४ में जर्मनी में खोली गई थीं और प्रत्येक कारख़ाने के मालिक को उसका सभासद होना पड़ता था, और इनका प्रबंध भी मालिकों के ही हाथ में था, और आजकल भी वह उन्हींके हाथ में रहता है; परंतु इसपर गवर्नमेन्ट की निगरानी रहती है। यदि किसी मज़दूर को किसी औद्योगिक दुर्घटना से चोट आ जावे अथवा अन्य कोई हानि पहुँचे, और इसके बदले में उसे बीमा-सभा से पर्याप्त धन न मिले, तो वह गवर्नमेन्ट से अपील कर सकता है। बीमारियों के लिए एक अलग फ़ंड होता है जिसमें प्रत्येक मज़दूर को भी चंदा देना पड़ता है।

फल यह हुआ है कि कारख़ानों के मालिकों को इस बात की बड़ी निगरानी रखनी पड़ती है कि कहीं कोई दुर्घटना न होने पावे। वे बहुत से निरीक्षक सिर्फ़ इस बात के लिए नियत करते हैं कि वे दुर्घटनाओं को रोकने और कम करने की तरक़ीबें उन्हें बतलाते रहें। इँगलैंड में यह प्रथा सन् १८९७ में प्रचलित हुई। वहाँ यदि कोई दुर्घटना होती है, तो उस श्रमजीवी को जिसे हानि पहुँचती है अथवा उसके परिवार के मनुष्यों को, बदले में, कुछ धन दे दिया जाता है; परंतु मालिकों को पूर्व से ही किसी प्रकार का प्रबंध नहीं करना पड़ता। यह प्रथा किसी किसी रूप में यूरोप के सब देशों में प्रचलित है। सब देशों में औद्योगिक दुर्घटनाओं का बदला मालिकों को ही देना पड़ता है। वे इस हानि को अपने कारख़ाने के ख़र्चे में शामिल कर लेते हैं, और माल का मूल्य बढ़ाकर वसूल करते हैं। हाँ, यदि कोई श्रमजीवी मदिरा पीकर, स्वयं, कोई दुर्घटना कर बैठे, तो उसके लिए कुछ नहीं मिलता। इस महान् हानि से बचने के लिए यूरोप के कारख़ानों की मशीनें अब इस प्रकार से लगाई और चलाई जाती हैं कि कोई दुर्घटना न होने पावे।

इसी प्रकार रोगों से बचाने के लिए भी कुछ सभाएँ बनाई गई हैं। जर्मनी में इसका बहुत

अच्छा प्रबंध है और राज्य की ओर से इसका क़ानून बना दिया गया है। इन सभाओं के द्वारा मजदूरों को बिना मूल्य औषध दी जाती और रोग-ग्रस्त दशा में उनकी देखरेख की जाती है। बीमारी के तीसरे दिन से उन्हें आधी मज़दूरी मिलती रहती है। यदि रोग से मज़दूर की मृत्यु हो जावे, तो उसकी अन्त्येष्टि—क्रिया के लिए उसकी मज़दूरी का २० गुना धन उसके उत्तराधिकारियों को मिलता है। विधवाओं और बच्चों को थोड़ी थोड़ी पेन्शन मिलती रहती है। इन सभाओं के कार्य से जर्मनी में मजदूरों की मृत्यु-संख्या बहुत घट गई है।

इसी प्रथा का अनुकरण ब्रिटेन ने भी किया और वहाँ सन् १९१२ में राष्ट्रीय बीमा-एक्ट (National Insurance Act) पास हो गया। इस एक्ट के अनुसार १६० पौंड वार्षिक से कम वेतन पाने वाले मजदूरों को वैसी ही सहायता पहुँचाई जाने लगी जैसी कि जर्मनी में है। बीमारी के इस फ़ंड में ब्रिटिश सरकार प्रति वर्ष लगभग ६ करोड़ रुपये व्यय करती है।

सबसे कठिन दुःख जो मज़दूरों को झेलना पड़ता है वह वृद्धावस्था है। इसके लिए भी जर्मन सरकार ने सन् १८८९ में बीमा जारी किया, जिसके अनुसार प्रत्येक मजदूर को वृद्धावस्था का एक कार्ड मिलता है। इसपर वह वह प्रति सप्ताह कुछ क़ीमत के टिकट लगाता है। इन टिकटों का आधा मूल्य तो वह स्वयं और आधा उसका मालिक देता है। सत्तर वर्ष की अवस्था पर पहुँच जाने पर वह इन टिकटों को उपस्थित कर कुछ पेन्शन पाने लगता है। जो सत्तर वर्ष से पूर्व ही अयोग्य हो जाते हैं उन्हें उसी समय से यह धन मिलने लगता है। इंगलैंड में गवर्नमेन्ट ही वृद्ध मज़दूरों को जिनकी आय १५० पौंड वार्षिक से कम रही हो कुछ पेन्शन देती है जो कि जीविका-निर्वाह के लिए पर्य्याप्त होती है। इस प्रकार मजदूर भीख माँगने के निन्द्य कार्य से बच जाते और अपनी मान-मर्य्यादा सुरक्षित रख सकते हैं।

काम का न मिलना मजदूरों के लिए सबसे कठिन आपत्ति है। जर्मनी जो सामाजिक बीमे में सब देशों का अगुआ रहा है इस बेकारी को दूर करने के लिए बीमे का कोई ढँग नहीं निकाल सका है। कारण यह है कि यह जानना बड़ा कठिन है कि कोई मजदूर काम न मिलने की वजह से आपत्ति उठा रहा है या वह कार्य करने का कष्ट नहीं उठाना चाहता। लाखों मजदूरों में इस बात को पहिचानना और भी अधिक कठिन हो जाता है, परंतु बेलजियम के घेन्ट नगर में इस बेकारी से बचने का एक नया ढँग है जिसे "घेन्ट सिस्टम" कहते हैं। इस कार्य का प्रबंध मजदूर-संघों Trade unions के हाथ में दे दिया गया है क्योंकि मज़दूर—संघ अपने संघ के मज़दूरों से अच्छी तरह परिचित रहते हैं। बेकारी के समय यह संघ अपने मजदूरों को अपने फ़ंड से सहायता करते हैं। सरकार भी इस फ़ंड में कुछ धन प्रदान करती है।

ब्रिटेन में इस बेकारी को मिटाने के लिए "श्रमजीवी-परिवर्तन ब्यूरो" (Labour exchanges bureaus) खोले गये हैं, जिनकी संख्या छोटे से ब्रिटेन में ५०० से अधिक है। इनके द्वारा उन कारख़ानों के मालिकों को जिन्हें मज़दूरों



भारत की साम्पत्तिक दशा।

एक ओर भारत के करोड़ों लोग अन्न की महँगी के कारण छटपटा रहे हैं, दूसरी ओर उसीका धनधान्य जहाज़ों में लदकर सात समुद्र-पार जा रहा है।

Lakshmi Art, Bombay

की आवश्यकता होती है मजदूर मिल जाते हैं, और बेकार मजदूरों को कार्य मिल जाता है।

भारतवर्ष के किसान श्रमजीवियों की, कल-कारख़ानों के मजदूरों की, और चाय और नील के खेतों के कुलियों की जो दशा है वह किसी से छिपी नहीं है। हज़ारों कुली अकालमृत्यु को प्राप्त होते हैं, और अनेक दुःख भोगते रहते हैं। उनकी, उनके परिवार और बच्चों की कोई ख़बर तक नहीं लेता। उन्हें सहायता देने के बदले उनपर अनेक प्रकार के अत्याचार किये जाते हैं।

जहाँ अन्य देशों में मजदूरों के सुधार और रक्षा के लिए क़ानून बन रहे हैं और बन चुके हैं, वहाँ हमारे देश की नई व्यवस्थापिका सभा भी कुम्भकरणी नींद सो रही है। शायद वह ऐसे क़ानून बनाने में अशक्त है। नेताओं को इस ओर ध्यान देना चाहिए।



बिहारी और देव।

(लेखक—अध्यापक लाला भगवानदीनजी)

(२)

तीसरा दोष मिश्र-बंधु यह लगाते हैं कि—"इन्होंने शब्दों को बहुत अधिक मरोड़ा है और उन्हें बहुतही बिगड़े हुए स्वरूप में रखा है"। इसकी पुष्टि में बंधुओं ने एक बड़ी लम्बी और परिश्रम-सूचक सूची दी है। हम उस सूची का एक एक शब्द लेकर कुछ निवेदन करना चाहते हैं।

समर--(स्मर=काम के अर्थ में)। आप के लिए यह मरोड़ा हुआ है; पर हम कहते हैं कि 'स्मर' शब्द का यही रूप हो सकता है; जैसे, 'स्नेह' का 'सनेह'।

तूठ्यो--(तुष्ट्यो के लिए) मरोड़ा हुआ नहीं, वरन शुद्ध प्राकृत रूप है।

हराहरु--(हलाहलु के लिए)। मिश्रबंधुजी! क्षमा कीजिएगा, यहाँ पर आपने समझने में ग़लती की है। 'हरा' शब्द में आपने आगेवाले शब्द को मिलाकर एक शब्द समझ लिया है। जहाँ से आपने यह शब्द लिया है उसका शुद्ध पाठ यों है:—

"अपने कर मोतिन गुह्यो भयो हरा हर-हार।"

यहाँ 'हरा' का अर्थ 'हार' और 'हर-हार' का अर्थ सर्प है। आपने यह ग़लती प्रभुदयाल पांडेय की टीका से ली है। ज़रा कष्ट उठाकर हरिप्रकाश टीका वा 'बिहारी-बिहार' देख लेते तो क्या होता। यदि आप कहें कि 'हरा' का अर्थ 'हार' कैसे होगा, तो उत्तर है कि स्वयं 'देव' जी ने भी इस शब्द का इसी अर्थ में प्रयोग किया है। देखिए सुजानविनोद, पन्ना ७६, छंद २५—

'झूलत है हियरा हरि को हिय माँह
तिहारे हरा के हिंडोरे"

ग़लती करें आप और सिर मढ़ें बिहारी के। भला यह कहाँ का न्याय है? आलोचना का काम बड़ा कठिन है। ज़रा ग़लती हुई और योग्यता की क़लई खुली।

आगिनि—(अग्नि के अर्थ में)। इसे आप बेतरह मरोड़ा हुआ बताते हैं। आश्चर्य है! हिन्दी के सभी कवियों ने, यहाँ तक कि सूर और तुलसी ने भी यही रूप लिखा है; फिर

बिहारी ही ने लिखा तो क्या हो गया। आपके आदर्श कवि ने भी इसी रूप में लिखा है। देखिए सुजानविनोद, पन्ना ८३, छंद ४०——

"रूप मनिदाही सी मयूख मनि मानिकन अगिनित चामीकर आगिनि तपाई-सी"।

क्यों मिश्रबंधुजी ! जो प्रयोग बिहारी के लिए दोष है वह क्या 'देव' के लिए नहीं है ?

मोष--(मोक्ष के अर्थ में) 'देव' कवि ने भी इस शब्द का इसी अर्थ में प्रयोग किया है। देखिए प्रेमचंद्रिका, पन्ना ६४, छंद ५२——

"मोषधी ओषधी व्याधिन को अरु औगुन कौन गनै गनिकागज"।

यहाँ पं० गणेशबिहारीजी मिश्र का नोट है कि 'मोषधी'='मोक्ष की बुद्धि'। हम भी कहते हैं कि ऐसा ही है। और भी अनेक कवियों ने इस शब्द को इसी रूप में लिखा है, तब बिहारी ही पर इसके मरोड़ने--इसकी हत्या करने--का पाप क्यों मढ़ा जाता है ?

ठिक (ठीक), भावक, दुसाल, नटसाल, ईठि, नीठि, अनखुली, घरदरि, सवादिल, बट (बाट), चोरटी, गोरटी, इत्यादि शब्द ज्यों के त्यों बिहारी से पहले के कवियों (केशव, सेनापति, मुबारक, रहीम) की कविता में प्रयुक्त हैं। इसके सिवा **ईठि, नीठि, बट, नटसाल** शब्द तो 'देव' जी की भी कविता में आये हैं। फिर बिहारी ही पर इनके मरोड़ने का दोषारोपण क्यों ?

दुकचित--यह शब्द तो सतसई में कहीं है ही नहीं। अलबत्ते मिश्रबंधुओं ने प्रभुदयाल की भ्रष्ट टीका के पाठ से लिया है। जिस दोहे से यह शब्द लिया गया है वह प्रभुदयाल की टीका में नं० १०० पर है, उसका पाठ यों लिखा है:—

"डक कुडगति सी छ्वै चली दुकचित चली निहारि"। यह पाठ भ्रष्ट है। बिहारी की अन्य प्रतियों में इसका शुद्ध पाठ मौजूद है और वह यों है:—

"डगकु डगति सी चलि ठठकि, चितई चली निहारि।"

यहाँ 'डगकु' का अर्थ है 'एक डग'। प्रभुदयाल तथा अम्बिकादत्त व्यास ने इसका पाठ भ्रष्ट किया और मिश्र सहोदरों ने भी बिना विचारे उसी को लिख मारा। प्रभुदयाल ने इसको लिखा "डग कुडगति' और 'दुकचित' न मालूम कहाँ से लाये। व्यासजी ने भी 'डग कुडगति' लिखमारा और पुस्तक के अंत में लगाये हुए शब्द-कोश में 'कुडगति' शब्द का अर्थ भी गढ़कर 'डगमगाती' लिख दिया। बलिहारी है ऐसे टीकाकारों की, और डबल बलिहारी है उन आलोचकों की जो स्वयं परिश्रम न करके टीकाकार की ग़लती के आधार पर आलोचना करने बैठे ! इसी प्रकार आप मरोड़े हुए शब्दों की सूची में एक शब्द 'कुकत' लिखते हैं। इसका भी वही हाल है। पहले शब्द का 'कु' अगले शब्द 'कत' में मिलाकर लिख मारा कि बिहारी ने 'कुकत' शब्द लिखा है।

"नतरकु कत इन बिय लगत उपजत बिरह कृशानु।" यह शुद्ध पाठ है, बल्कि हरिप्रकाश टीका में इसका पाठ यों है:—

"नतरकु इन बिय लगत कत उपजत बिरह कृशानु", जिससे स्पष्ट मालूम होता है कि 'नतरकु' एक शब्द अलग है और 'कत' उससे पृथक् है। आपने एक की दुम दूसरे के मस्तक पर लगाकर एक विलक्षण शब्द गढ़ डाला और उसका दोष बिहारी के मत्थे मढ़ दिया। यदि 'देव' ज़िन्दा होते तो हमें विश्वास है कि वे भी बंधुओं की इस कुचेष्टा से खुश न होते।

'हई'-(आश्चर्य के अर्थ में)। अधिक लिखने की ज़रूरत नहीं, अबतक भी यह शब्द ब्रज और राजपूताने में बोला जाता है और सब लोग इसका अर्थ समझते हैं। इसी शब्द का प्रयोग 'देव' जी ने 'हाई' रूप में किया है (देखिए सुजान-विनोद, पन्ना ६४, छंद ६८)

कैबा-(कै बार के अर्थ में)। यह भी ब्रज प्रदेश का बहुत प्रचलित शब्द है। बिहारी ने मरोड़ा नहीं है। सूरदास ने भी इसका प्रयोग किया है। जब 'देव' महाशय 'अचान, के स्थान पर अचानक, 'उछाहना' के स्थान पर 'उराह', 'नूतन' के स्थान पर 'नूत' और 'किंशुक' के स्थान पर 'किंसु' लिख सकते हैं, तो बिहारी ने 'कै बार' के स्थान पर 'कैबा' लिखा तो कौनसा महा-पाप कर डाला? देखिए:—

(प्रे. चं., पन्ना १७, छंद २१)—

'पहिचान न प्रीति अचान लगि'।

(प्रे. चं., पन्ना १०, छंद ४४)—

'सुख जीवन काज अकाज उराह'।

(सुजानविनोद, पन्ना ६७, छंद २२)—

'कोकिल रागनि नूत परागनि'।

(सुजानविनोद, पन्ना ६४, छंद २२)—

'केसरि किंसु कुसुंभ कुरौ'।

लाख—अबतक भी यह शब्द राजपूताने में उसी अर्थ में बोला जाता है जिस अर्थ में बिहारी ने प्रयुक्त किया है, फिर इसे 'बिहारी' का मरोड़ा हुआ आपने कैसे समझा? कृपा करके यह भी तो बतलाते कि यह किस शब्द का बिगड़ा हुआ रूप है।

डाढ़ी, रहँचट और लाय—ये शब्द बिहारी ने मरोड़े नहीं। अबतक इनका प्रयोग ब्रज प्रदेश में ज्यों का त्यों होता है। सूरदास ने भी यही रूप लिखा है। प्रभुदयाल पांडेय के लिखने के अनुसार डाढ़ी का अर्थ 'डाढ़ मारकर रोनेवाला,' रहँचटा का अर्थ 'सोने की चाट', और लाय का अर्थ 'लगनि' नहीं है। 'डाढ़ी' का अर्थ 'जली हुई' 'रहँचटा' का अर्थ 'प्रबल इच्छा' और 'लाय' का अर्थ 'अग्नि' है। बिहारी-सतसई पर ३० उत्तम टीकाएँ मौजूद रहते हुए भी न जाने क्यों मिश्र-बंधुओं ने सर्वभ्रष्ट टीका के सहारे बिहारी को समझने की चेष्टा की है। इससे तो कुछ और ही बात टपकती है और यह स्पष्ट मालूम होता है कि आप लोगों को 'बिहारी' की कविता समझने की गति ही नहीं है। जो ग्रंथ ही नहीं समझता उसपर उसकी आलोचना कैसी, और उसका मूल्य ही क्या?

पाठक! और देखिए, बिहारी ने लिखा है:—

हा हा बदन उघारि दृग, सफल करैं सब कोय।
रोज सरोजन के परै, हँसी ससी की होय॥

इसमें 'रोज' शब्द का अर्थ मिश्र-बंधुओं ने 'रोज़ा' (अनाहार ब्रत, उपवास, फ़ाक़ा) समझा है। अंधेर है, जब्र है, क़हर है। सब टीकाकारों ने इसका अर्थ 'रोना', 'मातम'

'सियापा', लिखा है। यहाँ तक कि मुसलमान कवि 'जायसी' ने भी इसी अर्थ में लिखा है। देखिए:—

दो०—बहुतक परे समुँद महँ, परत न पावा खोज।
जहाँ गरब तहँ पीरा जहाँ हँसी तहँ रोज॥
('पद्मावत,' चंद्रप्रभा प्रेस की छपी हुई, पन्ना १०२, दोहा नं० २८१)

बेचारे प्रभुदयाल पांडेय ने भी इसका अर्थ 'रोना' लिखा है; पर आप 'रोज़ा' ही समझे हैं। अभिप्राय स्पष्ट है—विहारी को नीचा दिखाना और देव को श्रेष्ठ ठहराना।

ईठि, खुँदी, और चिलकचौंध, तो बिल्कुल मरोड़े हुए नहीं जान पड़ते; न जाने ये शब्द किस मंशा से मरोड़े हुए शब्दों की सूची में लिखे गये हैं। **खुपरी** का अर्थ आप ढँकी हुई समझे हैं। आपको अधिकार है, आप चाहें सो समझें। **खोंटना** अबतक उसी अर्थ में प्रयुक्त है जिस अर्थ में विहारी ने लिखा है। **लोयन** शब्द विहारी ने 'लावण्य' के अर्थ में लिख दिया, ग़ज़ब हो गया, शब्द को मरोड़ डाला, विहारी को सज़ा होनी चाहिए; लेकिन याद रखिए, 'देव' महाशय को भी साथ साथ ही सज़ा देनी पड़ेगी; क्योंकि उन्होंने भी यही गुस्ताखी कर डाली है, देखिए पं० कृष्णविहारी-कृत 'देव और विहारी', पन्ना १९९—

"ऐसो मन मचला अचल अंग-अंग पर,
लालच के काज लोक-लाजहिं ते हटि गयो।
लट मैं लटकि, कटि-लोयन उलटि करि,
त्रिवली पलटि कटि-तटिन में कटि गयो"।

यहाँ, हमारे मत से, 'कटि-लोयन' का अर्थ "कमर का लावण्य" ही है। संभव है, हम भूल करते हों। पाठक स्वयं विचार कर लें कि 'लोयन' शब्द का यहाँ पर क्या अर्थ लग सकता है।

भूलि को आप **ऊलि** पढ़ें, तो विहारी का क्या दोष है?

नजक को आप **जनकु** पढ़ गये हैं। जिस दोहे से आप 'जनकु' शब्द लेते हैं उसका शुद्ध पाठ यों है:—

न जक धरत हरि हिय धरे, नाजुक कमला बाल।
भजत भार भयभीत ह्वै, घन-चंदन बनमाल॥

हरिप्रकाश टीका और विहारी-विहार में यह पाठ मौजूद है। आप 'नजक' को प्रभुदयाल के कहने से **जनकु** पढ़ें तो इसमें विहारी बेचारे का क्या दोष है। **बेथाथ** का अर्थ 'भूली हुई' नहीं, वरन अडोल, चकित, स्तंभित, जिसके हाथपैर न चलें, समझना चाहिए; पर आप अपने मन का अर्थ करने पर ही तुले हुए हैं।

सही शब्द को **सँगी** और **ऐंचि** शब्द को आप **औंचि** पढ़ गये हैं। क्या प्रभुदयाल पांडेय वाली टीका के अतिरिक्त अन्य किसी प्रति के न देखने की क़सम खा ली गई थी?

बींद 'विद्' धातु से निकला हुआ है और अबतक राजपूताने में बोला जाता है। विहारी ने इसे ज़रा भी नहीं मरोड़ा।

गाँस शब्द को जहाँ से आपने लिया है वहाँ वह क्रिया-रूप में नहीं, वरन प्रत्यक्ष संज्ञा-रूप में है। देखिए और विचारिए:—

"गहकि गाँस और गहे रहे अधकहे बैन।"
आपका क्रियात्मक अर्थ 'गांसना' 'फँसाना' कैसे लग सकेगा?

बूढ़—'बीरबहूटी' के अर्थ में ब्रज में अब भी बोला जाता है। ज़रा भी मरोड़ा हुआ नहीं है। हाँ, केलि (केला) और पानु (पाँव) कुछ मरोड़े हुए हैं, हम भी मानते हैं; परंतु प्रसंग देखते ही ध्यान तुरंत उसी अर्थ की ओर जाता है जिस अर्थ में वे प्रयुक्त हैं। हाँ, यह हो सकता है कि साहित्य-रीति से अनभिज्ञ और शब्द-कोष से खोखले पाठकों का ध्यान उस अर्थ पर न जावे। 'कौरि' को कोरि (कोटि) पढ़िए, बस अर्थ ठीक है।

जिसको आपने 'निग्न' पढ़ा है उसका शुद्ध पाठ 'निज' है और आज भी इस शब्द को सब लोग (आप भी) उसी अर्थ में बोलते हैं जिस अर्थ में विहारी ने लिखा है। वह ज़रा भी मरोड़ा नहीं गया। हाय रे विहारी! तू इतना बदबख्त और बदक़िस्मत है कि तेरे लिखे शब्द हिन्दी के धुरन्धर और लब्धप्रतिष्ठ विद्वानों से भी शुद्ध नहीं पढ़े जाते। तूने नवल से नौल, कमल से कौल की तरह अवम (क्षयतिथि) का रूप औम लिखा तो उसे मिश्रबंधु 'ओम' पढ़ गये; सुधि को सुध लिख दिया तो उसका अर्थ 'सुधा' लगा लिया।

पजरै—'प्रज्वलन' से है। कुछ अधिक तो नहीं मरोड़ा गया; पर माने लेते हैं। संसौ (संशय) का अर्थ 'साँस' कर लिया गया! क्यों ऐसा लिख गया कि विद्वानों को हैरान होना पड़ा?

ककै शब्द विहारी ने करके के अर्थ में लिखा, बड़ा बुरा किया, अवश्य बड़ा गुनाह है; परंतु 'देव' जी, तबतौ को ततौ लिख जाँय तो कुछ हर्ज नहीं है। देखिए तो कैसा अंधेर है। विहारी ने लिखा है:-

"नाक मोरि नाही ककै नारि निहोरे लेत"।

और 'देव' कहते हैं:—

(१) "प्रेम की पीर न जानत बीर जु
छैल कटाच्छहु सों छिन छ्वै है॥
'देव' ततौ त्रसि है हँसि है बलि
बावरी ह्वै रस रूसि है र्‍वै है।"

(२) "यादव वृद्ध जो लेन पठाये
ततौ धन गोधन लै सब जैये।"

विहारी ने एक ही बार ककै कहा है, पर देव ने इस 'ततौ' शब्द का कम से कम १० जगह प्रयोग किया है। पर भक्तों की दृष्टि जैसे अपने इष्टदेव के दोषों पर नहीं जाती वैसे ही बंधुओं को देव के ये दोष नहीं सूझे।

आथ—(अरुवार के अर्थ में) राजपूताने का शब्द है, बिलकुल नहीं मरोड़ा गया।

धर—(धरा के अर्थ में) सूर और तुलसी ने भी प्रयुक्त किया है, विहारी ही क्यों दोषी ठहराये जाते हैं?

तैन (?) यह प्रभुदयाल की या प्रेस के भूतों की ग़लती है। विहारी बेचारे ने तो ऐन लिखा था। शुद्ध पाठ यों है:—

चलित ललित श्रम स्वेद कन कलित अरुन मुख ऐन

प्रेस की ग़लतियाँ तक 'विहारी' की ग़लतियाँ समझी जायँ, यह विहारी की बदबख्ती नहीं, तो क्या है?

खियाल—(खेल के अर्थ में) विहारी ने लिखा है, तो 'देव' ने भी 'ख्याल' लिखा है। देखिए:—

(विहारी)- दियो जु पिय लखि चखन में
खेलत फाग खियाल।

(देव)-खाल को ख़्याल मढ़ो बजै ढोल ज्यों
'देव' तू चेतत क्यों न सवेरो।

देखिए (देव और विहारी, पन्ना १४२)

पाठक ! 'देव' जी खेल को 'ख़याल' लिखें तो हरज नहीं; पर विहारी ने किस बिरते पर 'खियाल' लिख दिया?

आघु-(मोल के अर्थ में) 'अर्घ्य' से निकलकर ठीक प्राकृत रूप में है। बेहद तो नहीं मरोड़ गया। 'महार्घ' से 'महँगा' शब्द अब तक बोला जाता है; पर हम इतना मानेंगे कि अप्रयुक्त चाहे तो कह लीजिए। आगे हम दिखलावेंगे कि 'देव' ने भी ऐसे अप्रयुक्त, कम-प्रयुक्त शब्द कसरत से लिखे हैं।

नीसक (निःशक्ति) कमज़ोर के अर्थ में अब भी बोला जाता है। इसके लिए विहारी दोषी नहीं।

पाठक-प्रवर ! देखा आपने, यही वे शब्द हैं जिन्हें 'नवरत्न' के लेखक महाशय मरोड़े हुए, अव्यवहृत वा बिगड़े हुए शब्द कहते हैं। ये सब मिलाकर कोई ५५ शब्द हैं। इनमें से कुछ का तो पाठ ही अशुद्ध लिया है, कुछ लेखकों की समझ से परे हैं, कुछ ज्यों के त्यों 'देव' की कविता में भी मौजूद हैं। कुछ ऐसे हैं, जो विहारी से पहले के कवियों के मरोड़े हुए हैं, कुछ केवल प्रेस के भूतों की ग़लतियाँ हैं; पर सारा दोष विहारी के मत्थे मढ़ा गया है। अपनी भूलें भी विहारी के मत्थे ! हम नहीं समझ सके कि मिश्र-बंधुओं की यह कैसी न्यायशीलता है। [क्रमशः]



"श्यामा-स्वप्न" की गुप्त-लिपि।

(लेखक--पं० कामताप्रसाद गुरु, एम. आर. ए. एस.)

मध्यप्रदेशान्तर्गत विजयराघवगढ़ के अधिपात्मज ठाकुर जगन्मोहनसिंह, एम० आर० ए० एस० एक उच्चकोटि के कवि और लेखक हो गये हैं। अब वे इस संसार में नहीं हैं; परन्तु उनकी "अक्षर-सम्बद्धा कीर्ति" भारत के भूतल पर अब भी चिरस्थायिनी है। आशा है, आपके सुयोग्य आत्मज ठाकुर व्रजमोहनसिंह, बी० ए०, अपने पूज्य पिता की स्मृति में, उनका पूर्ण जीवन-चरित लिखने अथवा लिखवाने का प्रयत्न अवश्य करेंगे। साथ ही, आपको उनके ग्रंथों का पुनर्मुद्रण भी कराना चाहिए।

कैलासवासी ठाकुर साहब ने गद्य और पद्य की कई उत्तमोत्तम पुस्तकें लिखी हैं। आप बाबू हरिश्चन्द्र के सहपाठी थे और उन्हींके समान सरस रचना करते थे। आपने कालिदास के प्रायः सभी काव्यों के अनुवाद किये थे और वे प्रकाशित भी हो गये हैं; पर अब उनकी प्रतियाँ उपलब्ध नहीं हैं। जगन्मोहनसिंहजी ने गद्य में "श्यामा-स्वप्न" लिखा था जो हिन्दी की तत्कालीन रचना का एक उत्कृष्ट नमूना है। यह पुस्तक प्रथम बार सन् १८८८ ई० में प्रकाशित हुई थी। इस में ठाकुर साहब ने चरित्र-चित्रण, प्रकृति-वर्णन और कथा-उल्लेख बड़ी योग्यता-पूर्वक किया है।

"श्यामा-स्वप्न" में एक प्रेम-पत्र गुप्त-लिपि* में लिखा है। इस लिपि की कुंजी संभवतः अन्य

* 'गुप्त' का अर्थ यहाँ 'गुप्त-कालीन' नहीं, किन्तु 'गूढ़' है।

लोगों को भी प्रकट हो गई हो अथवा उनके पास विद्यमान हो; परन्तु मैंने स्वतंत्र रीति से इसकी खोज की है और अब इसे पाठकों के विनोदार्थ इस लेख में प्रकाशित करता हूँ। इस लिपि की प्रतिलिपि * यह है—

"ऺy1÷ऺ 3ƨ41r,

109ट ƨ549 ƨट1—……÷5ƨ29381rट5
r185· 81÷1r9 4Iy1 ट 1— ƨ189ƨ 19·
12+1×49 10 ƨ 189 ƨ टo · 10टyo81r·
-549 ƨ÷5 ƨ—yo ƨ 381 × 5 715 ?
48उO—1 49ƨ 1 ट 1 819. 1O 218उ ट
4उ R ÷ 1 ट +1 ƨ 1 · 1 0 ट o 81÷1r5
व 9 r 181÷5 ƨ 381×5 715, 81÷ —
181ƨ+15ƨ ?

81÷ — o — 1×ƨ189ƨO 1 r ट 9;
81÷ — o 381ƨ 4ƨ9 ƨ 189
ƨऺ381ट9,45—8 ट 9 8938 1ट 9 O81 टट 9
819· 81÷ƨ5ƨ181ƨ5—1 781ट 289 38o4
491, 2141 4 उ—8×17ट1 819·1Oy 181ƨ
ऺ51 ƨ ट—189 ƨ 1+19 ट o138 1 8o,y
189 2817 W 1ƨऺ5÷1ƨ1 ट 5;819 ƨ · +
1281÷ ÷ 1r+ 1 W 5 ƨ ट 12+1812
28185+121· 81÷13 r य r 9 ƨ41r o ॐऺ10ƨ
1ट 9 819ƨ. 12 381×5 1o, 1 उ r ƨ 989ƨ टo
281 rƨ 1ॐ1 r 45—8 ट o×5ƨ75 ;721 ऺ—
ऺ y 1÷1"

इस लिपि में एक दो जगह छापे की भूलें हैं; पर उनसे कोई विशेष हानि नहीं। पढ़ने के सुभीते के लिए हमने इस लेख में विराम-चिह्न लगा दिये हैं। पूर्वोक्त लेख की कुंजी इस प्रकार है—

ऺ = श अथवा स
y = य
1 = आ, अ
÷ = म
3 = उ; 38 = च; 38̊ = छ
ƨ = न
4 = द, ड, ढ़
R, r = र,
5 = ए
7 = ग
8 = ह
ट = त वा ट
9 = इ वा ई
2 = ब
उ = ऊ
× = ल
O = प
— = क
+ = ज
W = व
ॐ = ज्ञ
व = घ
o = ओ

इस कुंजी से जान पड़ेगा कि लेखक ने इसमें रोमन-लिपि का अनुकरण किया है और जो सांकेतिक वर्ण व्यवहृत किये हैं वे अंगरेज़ी अक्षरों का क्रम सूचित करते हैं। कहीं कहीं हिन्दी अक्षर भी काम में लाये गये हैं। कहीं कहीं अँगरेज़ी गणित-चिह्नों के विरुद्धार्थी शब्दों का प्रथम अक्षर सांकेतिक मान लिया गया है।

आविष्कृत कुंजी की सहायता से यह लेख इस प्रकार पढ़ा जायगा—

* मूल प्रतिलिपि में जो चिह्न हैं उनमें से दो तीन कमीशनर प्रेस में न होने के कारण उनसे मिलते-जुलते चिह्न, उनके स्थान में, प्रयुक्त किये गये हैं।

"श्यामसुन्दर,

आप इतने दिन तक......में विचरते रहे। हमारी दया तक नहीं आई। अब जल्दी आओ नहीं तो--। आप त्योहार के दिन में क्यों चले गए?

धूप का दिन आता है। आप बहुत दूर मत जाना। आप तो हमारे विरह में चले गए, हम कहाँ जाएँ?

हमको कल नहीं पड़ती। हमको चाँदनी नहीं सुहाती, देखते ही छाती फटती है। हमने नहाने का घाट भी छोड़ दिया। बड़ा दुख लगता है।

आप यहाँ से अन्त कहीं न जाएँ तो अच्छा हो, यही भगवान से मनाते हैं। जब हम मर जावें तब जहाँ चाहे जाव। हम और वृन्दा रोज़ सपनाती हैं। अब चले आओ, और नहीं तो भर नज़र देख तो लेंगे, बस--

--श्यामा।"

इस छोटे से लेख का उद्देश केवल यही है कि ठाकुर जगन्मोहनसिंह की स्मृति हम लोगों के हृदयों में जागृत हो तथा उनकी गुप्त-लिपि के विषय में लोगों को जो कौतूहल है वह शान्त हो जावे। प्रेमी जन चाहें तो इसकी प्रेम-प्रणाली से परितोष प्राप्त कर सकते हैं।



हमारी स्वर्ण-भूमि।

(लेखक--पण्डित रूपनारायण पाण्डेय)

जय जय जय जन्मभूमि, नमो नमो पुण्यभूमि,
स्वर्णभूमि कर्मभूमि, महिमामयि माता।
ज्ञान-ध्यान तू प्रधान, तूही जप-तप-विधान,
सेवक हैं सावधान तेरे सब भ्राता ॥जय जय०॥

हिमगिरि का मुकुट श्वेत, आँचलसे श्याम खेत,
सागर शोभा-समेत मेखला पिन्हाता।
गंगा-यमुना अपार, जीवनप्रद स्तन्यधार,
खानों का रत्नहार, वैभव बतलाता ॥जय जय०॥

गोघृत है अमृत यहीं, षट ऋतु हैं प्रकृत यहीं,
सत्कृत है सुकृत यहीं, गौरव गुण पाता।
वसुन्धरा धरा यहीं, रत्नाकर भरा यहीं,
ईश्वर अवतरा यहीं, दीनों का त्राता ॥जय जय०॥

तेरे थे सुत सुजान, व्यास कपिल से महान,
आत्मा का विमल ज्ञान जान भये ज्ञाता।
हरिश्चन्द्र, रामचन्द्र, योगीश्वर कृष्णचन्द्र,
निष्कलंकपूर्णचन्द्र, शान्तिके विधाता॥जयजय॥

एक समय था महत्व, अपने का पूर्ण स्वत्व,
जाने थे गूढ़ तत्त्व, सदय था विधाता।
तेरा था अतुल ज्ञान, बल की थी अटल शान,
सभी जगत गुरुमान गौरव गुणगाता॥जय जय०॥

होती थी स्वर्ग-भ्रान्ति, घर घर थी परम शान्ति,
नर-नारी देवकान्ति, धर्मधनी, दाता।
तेरे थे पुत्र धीर, धर्मनिष्ठ कर्मवीर,
ब्रह्मचर्य-दृढ़-शरीर, दर्शनीय, त्राता। जयजय०॥

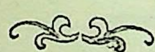
आज हुए पराधीन, सभी तरह दीनहीन,
मनमलीन नित नवीन कष्ट भी सताता ।
आपस में बढ़ी फूट, स्वावलंब गया छूट,
कूटनीति रही लूट, निज न नज़र आता ॥ जयजय० ।

चिन्ता, पर, कुछ न मित्र, आगे है पथ पवित्र,
देशभक्त सच्चरित्र जो हमें बनाता ।
सब प्रकार कर सुधार, होते हम सब उदार,
सत्यनिरत निर्विकार भारतीय भ्राता ॥ जयजय० ॥

निर्भय हो शुद्ध हृदय, "जहाँ धर्म वहाँ विजय,"
वाक्य यही सभी समय रहे बल बढ़ाता ।
क्यों हो निर्जीव यंत्र ? जपो राष्ट्रभक्ति-मंत्र,
तन मन से बन स्वतंत्र, × नेशन-निर्माता ॥ जय० ॥

जन्म ले कणाद, व्यास, बालमीकि, कालिदास,
गाँधी, लाल, बाल, पाल, मालवीय, दाता ।
पाण्डव से धर्मवीर, केशव से कर्मवीर,
कर्ण सदृश दानवीर पैदा कर माता ॥ जय० ॥

तेरी सन्तान चहे, कोटि कोटि कष्ट सहे ।
जन्म जन्म बना रहे, तुझसे यह नाता ॥



सहचरी ।

(१)

५ वर्ष पहले की बात है । यूरोपीय महासंग्राम आरंभ हो चुका था । भारतवर्ष में जहाँ-तहाँ धर-पकड़ मची हुई थी । उस समय वहाँ, जहाँ की यह घटना है, प्लेग का प्रकोप था । लोग शहर के बाहर, मैदान में, झोपड़ियों में पड़े थे । पुलिस की मोटरें, दुर्गन्ध के अन्वेषण में तत्पर मक्खियों के समान, दौड़ा करती थीं । अनुमान किया जाता था कि ब्रिटिश राज्य की इमारत धराशायी करने के लिए कहीं गुप्त प्रयत्न हो रहा है । उसीका अनुसन्धान करने के लिए इतना पेट्रोल खर्च हो रहा है । अत्यन्त परिचित लोगों में कभी कभी कानाफूसी हुआ करती थी कि अमुक अमुक लोग शीघ्र ही पकड़े जाने वाले हैं; परन्तु किसी पुलिस कर्मचारी या अपरिचित व्यक्ति की छाया दिख पड़ते ही वह बातचीत इस प्रकार रुक जाती थी जिस प्रकार लाल झंडी को देखते ही रेलगाड़ी । रामदास को पता लग गया था कि मैं भी पकड़ा जाने वाला हूँ । मालूम नहीं, सरकारी चित्रगुप्तों के बहुत प्रयत्न करने पर भी यह खबर "कान्फिडेंशिल" थैले में से कैसे फूट निकली ।

रामदास पोस्ट आफिस में नौकर थे । उन्होंने अपने मुहल्ले में एक अखाड़ा खोल रक्खा था, जहाँ बालकों को पटा-बनैटी का भी अभ्यास कराया जाता था । सार्वजनिक शान्ति को भंग करने का यही अपराध—यदि वह अपराध हो सकता है तो—रामदास ने किया था । कदाचित् सरकार को अपने गुप्तचर-विभाग से पता लगा था कि इस अखाड़े में अराजकों की सेना तैयार की जा रही है ।

(२)

जब रामदास शान्ति-रक्षा के ठेकेदार पुलिस कर्म-चारियों द्वारा मोटर गाड़ी में बैठाये गये, तब अपने जीवन में पहली बार मोटर में बैठने से उन्हें सुख हुआ या दुःख इसे रामदास ही जानें; परन्तु उनके आकस्मिक वियोग से उमा की बहुत शोचनीय दशा हुई ।

× नेशन (nation)=राष्ट्र ।

रामरतन कहार को लेकर वह पैदल चलते चलते बारह बजे रात्रि को बरेला के थाने के पास पहुँची । पुलिस की छाया में यमराज की विकराल प्रतिकृति देखनेवाला रामरतन, उमा के बहुत कहने सुनने पर भी थाने के भीतर न गया। संसार के विषम मार्गों से अनभिज्ञ उमा उस चाँदनी रात्रि में छाया-द्वितीय होकर, आगे बढ़ी। कर्तव्य-जागरूक संत्री अन्तर्दृष्टि खोले हुए कोई स्वप्न देख रहा था । रामदास नींद का आवाहन कर रहे थे; पर निद्रा देवी अपने भक्त को केवल कम्बल पर लेटा देखकर दर्शन देने में संकुचित हो रही थी । तब

ललितलवंगलतापरिशीलनकोमलमलयसमीरे
मधुकरनिकरकरंबितकोकिलकूजितकुंजकुटीरे

का पाठ करते हुए रामदास को शुभ्र ज्योत्स्ना के उज्ज्वल आलोक में, चिर-परिचित स्वर के सहारे, पहचान लेना उमा के लिए कुछ भी कठिन न था ।

× × ×

"क्या आपको खाट नहीं मिलती है ? "

"हम सरकार के दामाद बनकर तो आये नहीं हैं जो हमारा इतना सत्कार किया जाय ।"

"घर से खाट और कपड़े ला दूँ ? "

"क्या तुम पागल हुई हो ? सरकार हमें जिस प्रकार रखेगी उसी प्रकार रहना होगा । हमें कोई कष्ट भी नहीं है । हमारी चिन्ता भी न करना । हम बहुत मजे में हैं । "

पर, " हम मजे में हैं " शब्दावली उमा को सन्तुष्ट करने में समर्थ न हुई । उसकी आँखों से आँसू गिरने लगे।

(३)

दो दिन के बाद रामदास सेन्ट्रल जेल में पहुँचाये गये, और क़ैदी की पोशाक में एकान्त कमरे में रखे गये । उमा को इसकी खबर कुछ दिनों में लग गई । पर, यहाँ के जेल में उसका पहुँचना कल्पना-क्षेत्र के भीतर, किन्तु व्यवहार-क्षेत्र के बाहर था ।

पतिपरायणा उमा ने घर को ही जेल बना डाला । बरेला थाने से लौटते ही उसने भूमि पर कम्बल बिछाकर सोना आरम्भ कर दिया था। अब उसने भोजन में भी परिवर्तन कर डाला। रेत-मिले आटे की रोटी जो जेल के क़ैदियों को मिलती है उसका मुख्य भोजन हो गया । शृंगारादि संदूक के भीतर बंद कर दिये गये। झोपड़ी के बाहर निकलना उसने बिलकुल बन्द कर दिया । पतिदेव के कुशल-मंगल की चिन्ता उसके कोमल शरीर में, कमल में भ्रमरी के समान, प्रविष्ट हो गई। इमली के झाड़ पर रहनेवाली चिथरहाई देवी से लेकर बली बाबा आदि जितने देवी देवता उमा को याद आये उनकी मानता की गई कि किसी का भी पुरुषार्थ तो आड़े आवे ।

यहाँ, जेल में, रामदास के मुक़द्दमे की तैयारी हो रही थी । अनेक गुप्तचरों की शक्तियाँ इस कार्य में केन्द्रित थीं । उमा ने, अपने पिता की सहायता से, ३ वकील नियुक्त किये; पर न स्वयं रामदास को और न वकीलों को ही न्याय पाने की आशा थी । जनता रामदास को सर्वथा निर्दोष समझती थी । स्वयं रामदास भी अपने अन्तर्तम हृदय से अपने को निर्दोष मानते थे।

(४)

रामदास पर जो दोष लगाया गया उसका प्रायश्चित्त या तो आजन्म काले पानी या फाँसी

की सत्ता से हो सकता था। वही हुआ और रामदास को आजन्म काले पानी का दण्ड दिया गया। उमा के देवी-देवता, मित्रों के प्रयत्न और वकीलों का क़ानूनी ज्ञान रामदास को बचाने में सहायक न हुआ।

जिस समय उमा, अपने आराध्य देव से अन्तिम भेंट करने के लिए, जेल में पहुँची उस समय का दृश्य बहुत करुणोत्पादक था। निर्दोष रामदास के प्रति जनता की प्रबल भावनाएँ बाँसों उछल रही थीं। मित्रों का शोक निःसीम समुद्र के समान उमड़ रहा था। पर, उमा के हृदय में अलौकिक शान्ति थी। उसकी आँखों में न आँसू थे, और न मुख में एक भी करुणार्द्र शब्द। अपूर्व शान्ति के साथ उमा ने रामदास को विदा किया।

× × ×

देखते देखते देव-दुर्लभ भारतभूमि का पवित्रतट आँखों से ओझल होने लगा। रामदास ने निर्निमेष दृष्टि से उसे देखा। देश-सेवा की पवित्र भावनाएँ अपने उज्ज्वल स्वरूप में दृष्टि-पथ पर आईं। हृदय-पटल पर स्निग्ध भाव उदित होने लगे। अन्तर्दृष्टि के सामने प्रत्येक चिर-परिचित स्थान भूलने लगा। पति-परायणा उमा की एक एक बात याद आई—

"त्वया सह निवत्स्यामि वनेषु वनगन्धिषु।
इति हा रमतैवासौ स्नेहस्तस्याःस तादृशः॥"

वही उमा अब इस संसार में देखने को न मिलेगी, यह सोचते सोचते रामदास की वह दशा होगई जो सीता के विरह में श्रीरामचन्द्र की हुई थी—

हा हा देवि! स्फुटति हृदयं स्रंसते देहबन्धः।
शून्यं मन्ये जगदविरतज्वालमन्तर्ज्वलामि॥
सीदन्नन्धेतमसि विधुरो मज्जतीवान्तरात्मा।
विष्वङ् मोहः स्थगयति कथं मन्दभाग्यः करोमि॥

मूर्च्छा दूर होने पर रामदास ने अपने को "महाराजा" जहाज़ में पाया अन्तिम मूर्च्छा दूर होने पर रामदास ने देखा कि मैं काले पानी के जेल-अस्पताल में हूँ। थोड़े समय में रामदास जेल के जीवन से अभ्यस्त हो गये। मनुष्य का स्वभाव ही ऐसा होता है कि वह अपने को शीघ्र ही परिस्थिति के अनुकूल बना लेता है और कितनी भी आपत्ति पड़ने पर उसे इस बात का संतोष और समाधान होने लगता है कि संसार में इससे भी भारी आपत्तियाँ दूसरों के सिर पर लदी हैं। जेल के भोजन वस्त्र, स्थान आदि से पहले जो घृणा थी वह समय पाकर दूर होने लगी। साथियों से मेलजोल बढ़ने लगा।

(५)

धीरे धीरे समय बीतने लगा। सन्तोष की बात है, मनुष्य कितने ही दुःख में क्यों न हो, समय कट ही जाता है; परन्तु दुःख इस बात का है कि वह किसी की प्रतीक्षा नहीं करता। उमा प्रसन्न चित्त रहा करती थी। यद्यपि वह किसी से विशेष बातचीत नहीं करती थी, तथापि यह नहीं कहा जा सकता कि उसकी बाह्य आकृति तथा हाव-भाव उसका आभ्यन्तरिक दुःख प्रकट करते थे जिस समय रामदास पहले पहल जेल गये थे, तो उसे विशेष दुःख हुआ था; परन्तु उनके आजन्म-निर्वासन के पश्चात् उमा के हृदय में वह दुःख न था। जिन लोगों के पेट का अन्न बिना दूसरे की निन्दा किये पचता ही नहीं उनके लिए उमा का यह आचरण बहुत सी चर्चा की सामग्री बन गया; परन्तु जो

लोग उमा की प्रकृति और ऊँचे विचारों से परिचित थे वे अनुमान करते थे कि उमा किसी महदुद्देश्य की साधना में लगी है। इस प्रकार दिन पर दिन बीतने लगे और पृथ्वी सूर्य के आसपास एक चक्कर समाप्त करने पर आ गई। यहाँ उमा की तपस्या भी सिद्धि के समीप पहुँची।

एक दिन लोगों ने सुना कि उमा घर-द्वार छोड़कर न जाने कहाँ चली गई। फिर क्या था, जितने मुँह उतनी बातें होने लगीं। 'कुलटा', 'पतिता' सरीखे जितने विशेषण थे जिनमें अनेक किसी शब्दकोष में भी नहीं हैं वे सब उमा के लिए प्रयुक्त किये गये। जो लोग पहले उमा का पक्ष लिया करते थे वे अब अपना मुँह न खोल सके। उन्हें अपनी भूल विदित हो गई। यथार्थ में मनुष्य इतना अज्ञानी है कि उसका यह कहना कि मैं अमुक मनुष्य को अच्छी तरह जानता हूँ निरर्थक है। मनुष्य स्वयं अपने हृदय को नहीं जान सकता, नहीं तो वह भूल करके पश्चात्ताप न किया करता और ऋषिगण यह उपदेश न दिया करते कि "पहले अपने को जानो"।

काले पानी के जेल में रामदास किसी तरह अपने दिन काटने लगे। उन्हें आशा दी जाती थी कि महायुद्ध के समाप्त होते ही राजनीतिक क़ैदी मुक्त कर दिये जायँगे। पर उन्हें जो चिन्ता व्याकुल कर रही थी वह उमा की थी। भारतवर्ष से उन्हें जो पत्र मिलते थे उनमें उमा का उल्लेख न रहता था।

एक दिन प्रातःकाल ठीक ४ बजे जब कि जेल का ४ बजे का घण्टा वायुमण्डल के वक्षस्थल को विदीर्ण कर शान्त हो रहा था रामदास ने अपने कमरे में आँख मलते मलते देखा कि मूर्तिमती उमा उसके सामने खड़ी है। रामदास इस दृश्य को देखकर अवाक् रह गये। उमा ने कहा—"नाथ! अब तो हमारा तुम्हारा वियोग न होगा। अब मैं ऐसे रूप में हूँ कि तुम मुझे छोड़ नहीं सकते। मैं तुम्हारी छाया बनकर प्रति क्षण साथ रहूँगी।" यह कह कर उमा इस प्रकार अन्तर्हित हो गई जिस प्रकार वायु की थप्पड़ लगते ही धूम-पुञ्ज छिन्न-भिन्न हो जाता है। रामदास भारी हृदय से अपने चारों ओर देखने और इस घटना पर विचार करने लगे।

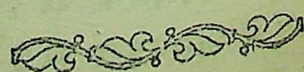
प्रातःकाल "गंजी" पीनेके लिए जब सब क़ैदी इकट्ठे हुए, तब रामदास के कान में यह आवाज़ आई कि वह स्त्री जो भारतवर्ष से उस दिन आई थी अपने कमरे में फाँसी लगाकर मर गई। रामदास के सामने उमा की वह शान्त मूर्ति फिर दिखी और लुप्त हो गई। रामदास ने मन में कहा—"तो क्या उमा संसार में नहीं है?" हृदय के दूसरे कोने से उत्तर मिला—"नहीं"। उसी समय वायुमण्डल की प्रत्येक तरंग से 'नहीं' की प्रतिध्वनि हुई। रामदास के सामने अँधेरा छा गया। उनके जीवन का प्रयोजन जाता रहा। अब यदि वे कारागार से मुक्त भी हो जावें, तो भारतवर्ष में उनके लिए आकर्षण नहीं रह गया।

उसी दिन शाम को जेल के सुपरिंटेंडेंट ने रामदास को बुलाकर एक पत्र दिया जो, उमा की मृत्यु के बाद, उसके पास मिला था। उसमें लिखा था—

"नाथ!

मैं काले पानी को जाकर आपके दर्शन कर सकूँगी इस आशा से मैंने एक हत्या का अभियोग जिसमें मैं सर्वथा निर्दोष थी अपने ऊपर लिया। यहाँ आकर मैंने आपका बहुत पता लगाया; पर आपके दर्शन करने में कठिनाई देखकर मैं आज शरीर को छोड़ती हूँ। भगवान् से प्रार्थना है कि वह आत्महत्या का मेरा यह अपराध क्षमा कर जन्म-जन्मान्तर में मुझे आपकी दासी बनावे। आपकी—

—उमा।"



देशबन्धु चित्तरञ्जनदास ।

(लेखक—श्रीयुत सम्पूर्णानन्द, बी॰ एस-सी)

पूर्व बंगाल का विक्रमपुर परगना प्राचीन गौड़ साम्राज्य की राजधानी था। उसके दिवंगत वैभव के भग्नावशेष अब भी सहृदय दर्शकों को अपनी कहानी रो रो कर सुनाते हैं। उसीके अन्तर्गत तेलीरबाग नाम के गाँव में एक प्रतिष्ठित वैद्य-परिवार रहता था। देशबन्धुदास उसी परिवार में उत्पन्न हुए हैं।

इनके दादा श्रीजगद्बन्धुदास मुख्तार थे। मुख्तारी से आय अच्छी थी; पर उसका बहुत बड़ा भाग दान-पुण्य में व्यय हो जाता था। ये बड़े श्रद्धालु वैष्णव थे और पद्य-रचना भी करते थे। इनके एकमात्र पुत्र श्रीभुवनमोहनदास कलकत्ता हाईकोर्ट के एटार्नी थे। ये अपने समय के प्रसिद्ध वकीलों में से थे। इनकी निर्भीकता और न्यायप्रियता का सिक्का हाईकोर्ट में खूब जम गया था। सभी इस बात को जानते थे कि भुवनमोहन बाबू झूठे मुक़द्दमे नहीं लेते। वह भी अपने पिता की भाँति साहित्यिक और धर्म्मनिष्ठ पुरुष थे। भेद केवल इतना था कि इन्होंने ब्राह्म धर्म्म ग्रहण कर लिया था। 'Brahmo Public Opinion' और उसके पीछे 'Bengal Public Opinion' का सम्पादन भी करते थे। इनकी दानशीलता पिता से भी बढ़ी हुई थी। वकालत की बृहत् आय का घर में सञ्चय होना तो दूर रहा उलटे ऋण हो जाता था। एक बार एक मनुष्य के लिए इन्हें ४०,०००) (चालीस सहस्र) की ज़मानत देना पड़ी। वह धूर्त्त काम निकल जाने पर चुप बैठ रहा। यह ऋण इनके गले पड़ा। अदालत में जाकर इन्हें अपने को 'दिवालिया' विज्ञप्त कराना पड़ा।

चित्तरञ्जन बाबू इन्हीं दानवीर के लड़के हैं। २० वीं कार्तिक १२७७ बँगला (सं॰ १९२७, सन् १८७०) को कलकत्ते में इनका जन्म हुआ। पीछे से इनके पिता भवानीपुर में रहने लगे। वहीं के लण्डन मिशन स्कूल से इन्होंने एण्ट्रेंस पास किया। सं॰ १९४७ में कलकत्ता-विश्वविद्यालय की बी. ए. परीक्षा में उत्तीर्ण हुए। उस समय ये प्रेसिडेंसी कालेज, कलकत्ता, में पढ़ते थे। गणित में अरुचि होने के कारण ये परीक्षाओं में बहुत उच्चस्थान पाने से वञ्चित रह जाते थे; पर इनके सभी अध्यापक तथा सहपाठी इनके साहित्य-प्रेम और वक्तृत्व-शक्ति की भूरि भूरि प्रशंसा करते थे।

बी॰ ए. पास करके ये लण्डन गये। इनके पिता की इच्छा यह थी कि ये सिविलियन होकर लौटें। इससे धन और प्रतिष्ठा दोनों की वृद्धि होती। अतः लण्डन जाकर इन्होंने सिविल सर्विस की परीक्षा के लिए तय्यारी आरम्भ की; पर साथ साथ क़ानून भी पढ़ने लगे। समय पर दोनों परीक्षाओं में ही बैठे। उन्हीं दिनों स्वर्गीय श्रीदादाभाई नौरोजी पार्लिमेंट के सदस्य होने का प्रयत्न कर रहे थे। परीक्षा से छुट्टी पाकर युवक चित्तरंजन ने उनका साथ दिया। लगे घूम घूम कर उनके पक्ष में व्याख्यान देने। इनके उत्साह से नौरोजी महाशय को अच्छी सहायता मिली। उसी समय मि॰ मैक्लीन नामक एक सज्जन ने पार्लिमेंट में कहा कि भारतीय हिन्दू-मुसलमान गुलाम और गुलामों के वंशज तथा अंगरेज़ों के दास हैं। बात ठीक भी है। कोई मुँह से कहे या न कहे, आज सारा संसार भारत के तैंतीस करोड़ मनुष्य को गुलाम जानता है; पर इस अभागे देश में अब भी कुछ ऐसे लोग हैं जो इसी अवस्था में पड़े रहना चाहते हैं। अस्तु, यों तो मैक्लीन की बातें सभी भारतीयों को बुरी लगीं; पर चित्तरंजन के लिए ये वाक्य असह्य हो गये। उन्होंने इंग्लैंड में आन्दोलन खड़ा किया। प्रधान समाचार-पत्रों में लेख और निबन्ध छपवाये गये। स्थान स्थान पर भाषण किये। एक्ज़ेटर हाल में एक विराट् सभा की गयी। स्वयं मि. ग्लैडस्टन ने अपनी सहानुभूति प्रगट की। परिणाम यह हुआ कि मैक्लीन को खेद

प्रकाशित करना पड़ा; पर इतने से ही उसका पिण्ड न छूटा। उसको पार्लिमेंट से पदत्याग कर के अपने सार्वजनिक जीवन को ही जलांजलि देना पड़ी। इन बातों से पठद्दशा में ही न केवल भारत वरन इंग्लैंड में भी चित्तरंजन की अच्छी ख्याति हुई।

इतने में परीक्षा-फल निकला। ये सिविल सर्विस में पास तो हुए पर इनका नाम इतना नीचे आया कि नौकरी न मिल सकी। बात यह है कि जितने लोग पास होते हैं सब को नौकरी नहीं मिलती। एक नियत संख्या को ही मिलती है। इनका नाम नियत संख्या के नीचे था। फलतः; कोरे बारिस्टर होकर घर लौटे।

इस समाचार से उनके घरवालों को बड़ा दुःख हुआ। उनकी सारी आशाओं पर पानी फिर गया। बारिस्टरी के चल जाने का कोई भरोसा तो था ही नहीं। पारिवारिक दशा अच्छी न थी। इनके एक आत्मीय श्रीसुकुमाररंजनदास ने उस समय का ज़िक्र करते हुए लिखा है 'दुवेला ना कि पुष्टिकर सुखाद्य संगृहीत हइत पारितेना (दोनों समय पुष्टिकर अच्छा भोजन भी नहीं मिल सकता था।) ये ही अकेले कमानेवाले थे और बोझ भारी था। यह कहना अत्युक्ति न होगा कि पारिवारिक कष्ट बहुत दिनों तक इनके पीछे हाथ धोकर पड़ा रहा।

इनके दो छोटे भाई और पाँच बहिनें थीं। इन्होंने दोनों भाइयों को बारिस्टर होने के लिए लण्डन भेजा। एक, श्रीप्रफुल्लरञ्जनदास, आजकल पटना-हाइकोर्ट के जज हैं; दूसरे, श्रीवसन्तरञ्जन दास, की अकाल-मृत्यु हो गई। तीन बहिनें विधवा हो गईं। उनका तथा उनके बाल-बच्चों का भरण-पोषण भी इनको ही करना पड़ता है। एक बहिन कुमारी अमला गानविद्या में अति निपुण थीं। कलकत्ता-कांग्रेस में 'वन्देमातरम्' उन्होंने ही गाया था। इसके अतिरिक्त वह लोक-सेवा-व्रती थीं। पुरुलिया में अनाथों और आतुरों के लिए एक आश्रम था। उसके संस्थापक तो चित्तरंजन बाबू थे; पर सेवाकार्य्य कुमारी अमला ने अपने ऊपर लिया था। वहीं वह कार्य्याधिक्य से रुग्ण हुईं और उनके दिव्य कर्ममय जीवन का दीप निर्वाण हुआ। इन सब आपत्तियों के सहने में दास महोदय को उनकी पत्नी वासन्ती देवी से बड़ी सहायता मिली है। वे बँगला, संस्कृत तथा अँग्रेज़ी का अच्छा ज्ञान रखती हैं; परन्तु उनको दिखावट पसन्द नहीं है। वे अपनी शक्तियों को यथासम्भव पारिवारिक क्षेत्र में ही लगाती हैं। अमृतसर के अखिलभारतीय महिला परिषद् की अध्यक्षा वे ही चुनी गई थीं। उस अवसर पर उन्होंने बहुत ही सुन्दर भाषण किया था।

अस्तु, जैसा कि मैंने ऊपर बतलाया है, इनकी कोरी बारिस्टरी से घरवालों को बहुत हर्ष नहीं हुआ। उनका हर्षाभाव बहुत अनुचित न था। सं० १९५० (सन् १८९३) में आप विलायत से लौटे। यह तो सबको शीघ्र ही विदित हो गया कि वे बड़ी ही निर्भय प्रकृति के मनुष्य हैं और इनकी क़ानूनी योग्यता असाधारण है। परन्तु बारिस्टरी बहुत अच्छी चली नहीं। जिसलिए विलायत गये थे वह न हुआ; न धन मिला, न प्रतिष्ठा बढ़ी। सं० १९६५ (सन १९०८) में एकाएक समय ने पलटा खाया। बंग-विच्छेद का समय था। ज़ोरशोर का आन्दोलन हो रहा था। बाबू सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, जो आज सर सुरेन्द्रनाथ कहलाने में अपने को धन्य मानते हैं, सारे बंगाल को अपने सिंहनाद से जगा रहे थे। इसी बीच में एक क्रान्तिकारी दल आ खड़ा हुआ जिसने सरकार और वैध आन्दोलनकारी समुदाय दोनों को हिला दिया। कहीं से बम फूटने के, कहीं से राजनैतिक डकैती के, कहीं से पुलिसवालों की हत्या के, समाचार आने लगे। सरकार ने भी कड़ाई आरम्भ की और अभियोग पर अभियोग होने लगे। इन अभियोगों में अलीपुर बम-अभियोग (Alipur Bomb Case) का महत्व सबसे बढ़कर था। अभियुक्तों की संख्या ३८ थी। इनमें से एक नरेन्द्र गोस्वामी सरकारी गवाह हो गया पर उसके दो साथियों ने उसे जेल में ही मार

डाला । इससे मामला और भी संगीन हो गया । अभियुक्तों में श्रीअरविन्द घोष और उनके भाई वारीन्द्रकुमार घोष भी थे ।

उन दिनों आवश्यकता एक ऐसे वकील की थी जो सुयोग्य और निर्भय होने के साथ ही निर्लोभ भी हो; क्योंकि अभियुक्त नाममात्र की ही फ़ीस दे सकते थे । हाइकोर्ट के बड़े बड़े वकील-बारिस्टर पीछे हट गये । ऐसे अवसर पर चित्तरंजन आगे आये । उधर सरकार की ओर से मि. नॉर्टन थे । आठ महीने मुक़द्दमा चला । इनका प्रायः सारा समय इसीमें लगता था । आमदनी बहुत कम हो गई; परन्तु अन्त में इनकी जीत हुई । श्रीअरविन्द निर्दोष सिद्ध हुए; अन्य अभियुक्तों में से कई की सज़ाएँ कम की गईं ।

अब इनकी आठ मास की तपस्या का फल निकला । जिस बात के लिए इतना परिश्रम किया था वह बात हो गई । अरविन्द बाबू छूट गये । इस अभियोग से हाइकोर्ट में ही नहीं, सारे देश में, इनकी धाक बैठ गई । यह सबको मानना पड़ा कि भारतीय वकील बारिस्टरों में फ़ौजदारी अभियोगों में इनकी बराबरी कोई नहीं कर सकता । रुपया भी आने लगा । जैसा कि इनकी एक बंगला जीवनी में लिखा है "नदी जेमन समुद्रगर्भे जल ढालिया देय चित्तरञ्जनेर पाकेटे मामलावाजेर टाका छड़ छड़ करिया प्रवेश करिते लागिल" अर्थात् नदी जैसे समुद्र-गर्भ में जल डाल देती है उसी प्रकार चित्तरंजन बाबू के पाकेट में मामलेवालों का रुपया छड़ छड़ करके प्रवेश करने लगा ।

इस आय से पहला काम जो इन्होंने किया वह यह था कि पिता का ४०,०००) का ऋण, जिसके कारण उनका नाम दिवालियों में लिखा गया था चुका दिया । बारिस्टर थे, कलकत्ते में रहते थे, चित्त में भाँति भाँति की लालसाएँ भरी थीं; परन्तु अभी तक धनाभाव के कारण उनको पूरी न कर सके थे । अब यह कठिनाई दूर हो गई । शीघ्र ही चित्तरंजन बाबू कलकत्ते के शौक़ीन रईसों में अग्रगण्य हो गये । इनके घर का साज-सामान अंग्रेज़ों की ढंग करता था ।

परन्तु इन्होंने रुपये का सदुपयोग भी असाधारण सीमा तक किया । तीस, पैंतीस सहस्र रुपये की मासिक आय थी । इसमें से लगभग बीस, पच्चीस सहस्र धर्मार्थ व्यय होता था । इसका बहुत बड़ा भाग विद्यार्थियों की सहायता में लगता था । अनाथ और अपाहिज सदा से इनके कृपापात्र थे । पहले ही लिख आया हूँ कि इन्होंने पुरुलिया में अनाथों और आतुरों के लिए एक आश्रम खोला था । दूसरा आश्रम भवानीपुर में है । जो धन गुप्तदान में दिया जाता था उसका किसी को पता ही नहीं है । एक बार इन्होंने नदिया (नवद्वीप) के श्रीनित्यानंद अनाथाश्रम को दो लाख रुपया गुप्त दान में दिया । इसके कई वर्ष पीछे जनता को आश्रम के व्यवस्थापक पं० कुलदाप्रसाद मल्लिक, भागवतरत्न, द्वारा यह रहस्य ज्ञात हुआ ।

उन दिनों आप राजनीतिक कामों में विशेष अभिरुचि नहीं दिखला रहे थे; पर ज्योंही धनागम के कारण पारिवारिक चिन्ता कुछ कुछ कम हुई त्यों ही इनका चित्त फिर इधर खिंचने लगा । संवत् १९७४ (सन् १९१७) में श्रीमती बीसेण्ट कलकत्ते में कांग्रेस की सभानेत्री हुईं । स्वागत-कारिणी समिति में बड़ा मतभेद था । एक ओर राय बहादुर बैकुण्ठनाथ सेन थे, दूसरी ओर दास, चक्रवर्ती, प्रभृति । अन्त में इन्हीं लोगों की बात रही । उसी साल ये बंगाल की प्रादेशिक राजनीतिक सभा के सभापति हुए ।

इसके बाद ही सरकार ने सुधारों का प्रलोभन देश के सामने रक्खा । कांग्रेस के अनुयायी दो दलों में विभक्त हो गये । 'नरम दल' और 'गरम दल' पृथक् होने लगे । सं० १९७५ (सन् १९१८) की दिल्ली-कांग्रेस के पीछे यह पार्थक्य निर्विवाद हो गया । बंगाल के 'अनभिषिक्त नरेश,(Un-Crowned king) सुरेन्द्र बाबू नरमों से जा मिले । उन्होंने सुधारों

को अपनाना ही उचित समझा। जनता की श्रद्धा उनपर से उठ गई। उनकी इस भूल ने उनकी वर्षों की अमूल्य सेवा पर पानी फेर दिया। कल जिसकी एक एक बात पर सहस्रों भारतवासी सिर देने को प्रस्तुत थे, आज कोई उसका भाषण नहीं सुनना चाहता। चित्तरंजन सुरेन्द्र बाबू की सूनी गद्दी पर जा विराजे। बंगाल ने उनको अपना नेता मान लिया।

रौलट ऐक्ट और जलियानवाला बाग़ की कहानी आज बच्चा बच्चा जानता है। उसका विस्तृत वर्णन करना अनावश्यक है। उस हत्याकाण्ड के बाद कांग्रेस ने जो कमीशन नियुक्त किया था उसके एक सदस्य दास बाबू भी थे।

इतने अत्याचारों के होते हुए भी अभी हमारे नेताओं को सरकार की ओर से पूरी दुराशा नहीं हुई थी। सं० १९७६ [सन् १९१९] की अमृतसर कांग्रेस ने सुधारों को पूर्णतया बहिष्कार्य्य नहीं ठहराया; परन्तु 'विनाशकाले विपरीतबुद्धिः।' सरकार भूल पर भूल करती गई। वह इतनी उन्मत्त हो गई थी कि उसकी सारी दूरदर्शिता लुप्त हो गई। उसने पञ्जाब के बहाने सारे भारत को ठुकराकर ही चैन लिया; अनर्थकारियों को दण्ड देना तो दूर रहा, उलटे उनकी पेंशन हुई। उधर ख़िलाफ़त के सम्बन्ध में प्रतिज्ञा-भङ्ग करके मुसलमानों को मर्माहत किया। परिणाम यह हुआ कि महात्मा गान्धी के नेतृत्व में सारा भारत एक हो गया। हिन्दू मुसलमान अपने कृत्रिम विभेदों को भूलकर राजनीतिक रंगमञ्च पर साथ साथ आ खड़े हुए। ख़िलाफ़त को हिन्दुओं ने और गोरक्षा को मुसलमानों ने अपनाया। सितम्बर में कलकत्ते में, कांग्रेस का विशेष अधिवेशन हुआ। उसमें महात्माजी ने असहयोग का प्रस्ताव उपस्थित किया। प्रस्ताव बहुमत से स्वीकृत हो गया। दास बाबू उन लोगों में से थे जो पाठशालाओं और न्यायालयों के बहिष्कार के विरोधी थे। वे शेष बातों में सहमत थे।

तीन महीने पीछे नागपुर में कांग्रेस हुई। उसका महत्व अपूर्व था। उसीने देश के सामने स्वराज्य का लक्ष्य रक्खा। इस बार दास बाबू के मत में भी पूरा परिवर्तन हो गया। वस्तुतः परिवर्तन की नींव पहले ही पड़ चुकी थी। कांग्रेस से लौटकर इन्होंने तपस्वी का रूप धारण किया। शौक़ीन बाबू त्याग-मूर्त्ति राजनीतिक सन्यासी हो गया। बारिस्टरी छोड़ दी, अपनी सम्पत्ति का बड़ा अंश राष्ट्रीय शिक्षा आदि देश-सेवा के कामों के लिए अर्पित कर दिया। दानशीलता के कारण बहुत नक़द धन तो यों भी नहीं था, जो था वह भी देश पर न्योछावर हो गया। चित्तरञ्जन अब सचमुच देशबन्धु कहलाने के अधिकारी हो गये।

इसके बाद इन्होंने जो कुछ किया है वह ज्ञात है। बङ्गाल में कांग्रेस के सिद्धान्तों का जो प्रचार हुआ है वह इन्हींके उद्योग का फल है। तिलक-स्वराज्य-कोष के लिए बङ्गाल से लगभग ४ लाख नक़द और लगभग २॥ लाख के वचन मिले हैं।

यह इस देशभक्त नेता की अबतक की संक्षिप्त जीवनी है। बंगाल के बाहर कम लोग यह जानते होंगे कि देशबन्धु कवि भी हैं। कई बंगीय काव्य-रसज्ञों का मत है कि इनकी कविता रवि बाबू से भी उत्कृष्ट कोटि की है। 'भिन्नरुचिर्हि लोकः'। मैं इस विषय में केवल इतना ही कह सकता हूँ कि उसमें असन्त माधुर्य्य और मानवप्रकृति-चित्रण है। "मालञ्च," "माला," "सागर-विलासनी," 'किशोर व किशोरी,' 'अन्तर्यामी'—ये इनकी पद्य-पुस्तकों के नाम हैं। ये बंगला-गद्य के भी अच्छे लेखक हैं; केवल गुणी ही नहीं, गुण-ग्राहक हैं। समय समय पर बंगाल के कई साहित्यज्ञों ने इनसे आश्रय पाया है।

इनकी कविता इनके धार्मिक भावों के लिए दर्पण का काम करती है। उसके देखने से ही इनके धार्मिक विचारों का पता लग जाता है। इनके पिता ब्रह्म-समाजी थे, इसलिए पहले ये भी ब्रह्म-समाजी ही थे; परंतु विलायत से लौटने पर



दीनबन्धु ।

भारत के एक कोने में, उसी की कमाई के बल पर, कैसा नाच-रंग मचा है, और शेष भाग में अगणित भारतवासी एड़ी-चोटी का पसीना एक कर भी भरपेट सूखी रोटी नहीं पाते । इसी विषमता की जड़ काटने के लिए "अहिंसात्मक असहयोग" के रूप में कमलास्त्र प्राप्त हुआ है

धार्मिक भावों में दृढ़ता न रही। मानसिक चिन्ताओं ने धर्म पर से भी श्रद्धा उठा दी, कम से कम उसकी जड़ दुर्बल कर दी। कुछ दिनों बाद यह बात जाती रही। आज दास बाबू वैष्णव धर्म के बड़े ही श्रद्धालु अनुयायी हैं। उनकी पिछली कविताओं में भक्तिरस कूट कूट कर भरा है।

परन्तु सामाजिक विचार इनके अब भी वैसे ही हैं जिनको सनातनधर्मावलम्बी बुरा समझते हैं। ये स्वयं वैश्य हैं, परन्तु इनकी धर्म्मपत्नी ब्राह्मणकुलोद्भवा हैं। इनकी दो लड़कियाँ हैं और एक लड़का। ज्येष्ठ कन्या का विवाह कायस्थ वर से हुआ है और वधू वैश्य कुल की लड़की है।

अस्तु, इस संक्षिप्त वर्णन से इनकी स्वतंत्र और निर्भय प्रकृति, इनकी स्वाभाविक त्यागशीलता और राजनीतिक तपोनिष्ठा का अनुमान हो सकता है। कुछ समझकर ही इस साल देश ने इनको कांग्रेस का सभापति चुना है। भावी अभी अनन्त काल के गर्भ में है; परन्तु इस देश में ऐसे बहुत से मनुष्य हैं जिनकी अन्तरात्मा यह कहती है कि अहमदाबाद-कांग्रेस का सभापति स्वतंत्र भारत का पहला राष्ट्रपति होगा। ऐसे अवसर पर जिसको देश की महत्तमा सेवा करने का सौभाग्य मिले वह धन्य है। उसके प्राक्तन पुण्यों के किसी प्रबल समुच्चय ने ही आज उसे इस योग्य बनाया है। परमात्मा देशबन्धु को वह शक्ति दे जिससे वे इस समय अपने गुरु कर्तव्य का सुचारु रूपसे पालन कर सकें!

नोट—उक्त जीवनी के छपते समय विदित हुआ कि देशबन्धु दास, क्रिमिनल ला एमेंडमेंट क़ानून की १७ (२) धारा के अनुसार, १० दिसम्बर, १९२१ को, भारत-सरकार के अतिथि बन चुके हैं। अतः अब उनके स्थान में कदाचित् उनकी वीर धर्मपत्नी श्रीमती वासन्ती देवी उनका संदेश, कांग्रेस-पण्डाल में, देश को सुनावेंगी। इस समय घटना-चक्र जिस तेज़ी के साथ घूम रहा है उसे देखते हुए यह निश्चित रीति से नहीं कहा जा सकता कि कांग्रेस का आगामी अधिवेशन किस प्रकार सम्पन्न होगा।

—श्रीशा०-सं०।



मानस-शास्त्र की कतिपय विचित्र बातें।

(लेखक—श्रीयुत सन्तराम, बी० ए०)

मानस-शास्त्र पदार्थ-विज्ञान के सदृश एक अलग और स्वतंत्र शास्त्र है। इसकी अनेक बातें ऐसी अद्भुत और विचित्र होती हैं कि उनका कुछ भी समाधान सूझ नहीं पड़ता। मानसिक चमत्कारों को देखकर बड़े बड़े वैज्ञानिकों की बुद्धि दंग रह जाती है।

इसी शास्त्र के आधार पर अब रोग की चिकित्सा 'मानसिक संस्कार' द्वारा की जाने लगी है। इससे संबंध रखनेवाले अन्वेषणों से मस्तिष्क के भेद भी टटोले जाने लगे हैं। ये भेद कितने रहस्यमय और अनाविष्कृत हैं यह बात "मेरी गोर्डन" नाम की एक निर्धन कन्या की अनाविष्कृत मस्तिष्क-तरङ्गों से प्रकट हो जायगी।

इस लड़की की सोई हुई शक्ति "उद्बोधन" के अनिवार्य बल से जगाई गई थी। एक बार वह बीमार पड़ गई, और शय्या पर लेटी हुई सहसा वक्तृता देने लगी। उसके मुख से अपरिचित और अज्ञात शब्द निकलते सुन पास बैठे हुए लोगों को बड़ा ही आश्चर्य हुआ।

जब तक चित्त-विभ्रम रहा मेरी बराबर बोलती रही। आसपास के विद्वानों को बुलाया। वे उसके मुख से निकलनेवाले शब्दों को लिखने लगे और उन्होंने लातीनी (Latin), यूना-

नी और इब्रानी के शब्दों से पृष्ठों के पृष्ठ भर दिये। ये शब्द स्पष्ट रूप से विविध प्राचीन ग्रन्थों के उद्धरण थे। पर अपनी चेतनावस्था में वह इन भाषाओं का नाम तक नहीं जानती थी।

इस युवती लड़की के पूर्व इतिहास की पूछताछ की गई, तो मालूम हुआ कि जब वह बहुत छोटी थी तब एक बूढ़े पादरी ने उसे लेकर पाला था। पादरी महाशय उसके पास बैठकर इन प्राचीन भाषाओं के ग्रन्थ उच्च स्वर से पढ़ा करते थे। समझ में न आनेवाले इन शब्दोंको बालि-का के मस्तिष्क ने बिना जाने-बूझे ही अंकित कर लिया था, और अब वह अनेक वर्ष बाद उन्हीं पादरी महाशय के सदृश ही शुद्ध रीति से उच्चारण करती थी।

एक और किसान लड़की की बात है। वह स्काटलैंड देश की रहने वाली एक अबोध बालिका थी। वह रोगग्रस्त होकर कई दिनों तक अचेत पड़ी रही। इन दिनों लोग उसकी सेवा-शुश्रूषा कर रहे थे। वे रुग्णा के मुख से बेला (violin) के स्वर निकलते सुनकर चकित रह गये। ये स्वर ऐसी पूर्ण रीति से निकलते थे कि कमरे के बाहर खड़ा मनुष्य यही समझता था कि भीतर कोई वाद्य-विशारद बेला बजा रहा है।

फिर वह बजाना एकदम बंद कर देती थी, और उसके मुख से ऐसा शब्द निकलने लगता था मानों कोई बेला के तारों को स्वर कर रहा हो। तब थोड़ी देर के बाद उसके मुख से उच्च-कोटि का संगीत शीघ्रता से निकलने लगता था।

जिस समय वह इस प्रकार बेला की नक़ल नहीं कर रही थी तब वह फ़रासीसी और लातीनी भाषाएँ अपनी मातृभाषा स्कॉच के सदृश धारा-प्रवाह रीति से बोलती थी, और एक बड़े विशेषज्ञ के समान धर्म और राजनीति की बातें करती थी।

पीछे अन्वेषण करने पर ज्ञात हुआ कि बचपन में वह गाय-भैंस चराया करती थी, और जिस कमरे में वह सोती थी उसके पास के कमरे में घूम घूमकर बेला बजाने वाला एक मनुष्य रहा करता था। उसके बेला बजाने से वह रात को नहीं सो सकती थी। बेला के स्वरों ने उसके मस्तिष्क में ऐसा घर बना लिया था कि इसके कई वर्ष बाद वह उनको, ज्यों का त्यों, जैसा उसने उन्हें सुना था, ठीक ठीक उत्पन्न कर सकती थी—यद्यपि वह एक स्वर को दूसरे से पहचान न सकती थी। उसके फ़रासीसी और लातीनी बोलने, और धर्म तथा राजनीति की विद्वत्तापूर्ण बातें कहने का अभी तक कोई भी समाधान नहीं मिल सकता।

स्मरण-शक्ति के ऐसे रहस्य ज्ञानेन्द्रियों के रहस्यों से अधिक विचित्र नहीं। अब ज़रा उनके विषय में भी सुनिए।

कुछ वर्ष की बात है एक स्कॉट स्त्री किसी अज्ञात कारण से अस्थायी रूप से अंधी हो गई; परन्तु इस रुकावट के होते हुए भी वह दूसरी इन्द्रियों के द्वारा 'देख' सकती थी।

उसकी इस अवस्था में एक पादरी उसे प्रति-दिन देखने जाया करता था। वह उसके विषय में लिखता है—वह, दिन हो चाहे रात, सब रंगों को ठीक ठीक पहचान लेती है। वह घटा-टोप अँधेरे कमरे में काग़ज़ पर उँगलियाँ फेरकर

न केवल छपी हुई पुस्तक ही शीघ्रतापूर्वक पढ़ सकती है, प्रत्युत वह किसी भी हस्तलेख को, उस पर केवल हाथ रखने से, पंक्तियों या अक्षरों को टटोले बिना ही, पढ़ सकती है। मैंने उसे चिट्ठियों को अपने कण्ठ या पैर या हाथ की पीठ के साथ लगाकर पढ़ते अनेक बार देखा है।

फ्रांस के प्रसिद्ध चिकित्सक डाक्टर पेलेटिन ने मिर्गी की बीमार एक स्त्री का वृत्तान्त लिखा है। इसकी सभी ज्ञानेन्द्रियों का स्थान हाथों तथा पैरों की उँगलियों के सिरों और आमाशय में स्थानान्तरित हो गया था।

इस प्रकार, जब ताश का पत्ता उसके आमाशय पर रक्खा जाता था तब वह झट कह देती थी, "मैं ईंट की मलका देख रही हूँ"। दूसरे पत्ते रखने पर भी वह उनका नाम इसी प्रकार ठीक ठीक बता देती थी।

यद्यपि उसकी स्वाभाविक ज्ञानेन्द्रियाँ बिलकुल काम नहीं कर रही थीं, तथापि दूसरी परीक्षाओं से यह सिद्ध होता था कि वह अपने हाथों तथा पैरों की उँगलियों के सिरों के द्वारा सुन, चख और सूंघ सकती है।

एक और स्त्री की बात है जो बोलोना के अस्पताल में किसी रोग से पीड़ित पड़ी थी। उसका शरीर इतना अचेत था कि वह अपने शरीर पर बड़े से बड़े दुःख और चोट का भी अनुभव न करती थी। रुग्णा ऊँचा से ऊँचा शब्द भी कान द्वारा न सुन सकती थी; परन्तु यदि उसके पाँव के तलुवे या हाथ की हथेली के पास धीमी सी भी आवाज़ की जाती तो वह उसे पूर्ण रूप से सुन लेती थी।

आँखें बंद होने, प्रत्युत उन पर पट्टी बँधी होने पर भी, वह इसी प्रकार वस्तुओं को तथा उनके रंगों को पहचान लेती थी। पाँव के तलुवे या हाथ की हथेली के साथ लगा देने से वह चिट्ठियाँ पढ़ सकती, घड़ी से समय देख सकती, वस्तुओं का स्वाद और गंध बता सकती थी।

'मानसिक संस्कारों' और मेस्मरेजम (मोहन विद्या) की शक्तियों के बीच एक निश्चित लड़ी है। मोहन-विद्या की शक्तियों के विषय में अनेक कहानियाँ सुनी जाती हैं। इस शक्ति का प्रभाव स्त्री पुरुष पर और पुरुष स्त्री पर रखता है। इसकी एक कहानी "एन ऑनलुकर इन फ्रांस" नामक पुस्तक में छपी है।

पुस्तक का रचयिता, सर विलियम आर्पेन, अपने मित्रों के साथ एक दिन एक भोजनालय में भोजन कर रहा था। इतने में एक मनुष्य भीतर आकर एक बड़े खाली मेज पर बैठ गया। वह एक फ़रासीसी सिविल अफ़सर था। उसके कपड़े काले, शरीर लम्बा और पतला, और बड़ी एवं पकी हुई डाढ़ी थी।

भोजनालय में भोजन परोसने तथा ग्राहकों की सेवा के लिए कई लड़कियाँ नौकर थीं। उनमें से एक का नाम मेरी लूई था। लूई ने उस आगन्तुक से पूछा कि आप क्या चाहते हैं। उसने उत्तर दिया—मदिरा का एक गिलास। यह सुन वह गिलास ले आई, परन्तु ज्योंही वह उसे मेज़ पर रखने लगी उस पुरुष ने अपने हाथ से उसकी बाँह को छुआ, और बहुत धीरे धीरे अपनी

टगती उसपर ऊपर और नीचे की ओर फेरी। मुख से वह एक भी शब्द नहीं बोला। लड़की चली गई और मदिरा का एक और गिलास भर लाई। फिर वह उसके पास बैठकर उसे पीने लगी; पर बोली वह भी कुछ नहीं।

उस पुरुष ने फिर हाथ उठाया और नौकरानी की ओर संकेत किया; उसने भी वही सारी प्रक्रिया की, और मदिरा लेकर उसके पास बैठ गई। उस पुरुष ने अपना यह काम चुपचाप जारी रक्खा, यहा तक कि सबकी सब नौकरानियाँ, जो आठ के लगभग थी, चुपचाप उसके पास आ बैठीं।

सर विलियम आर्पेन लिखते हैं कि—"कुछ देर तक तो हम आश्चर्य में डूबे हुए उन्हें चुपचाप देखते रहे; परन्तु दस मिनिट के बाद भूख ने सताना शुरू किया, और हम उन नौकरानियों को भोजन लाने के लिए उच्च स्वर से पुकारने लगे। उन्होंने हमारी पुकार पर कुछ भी ध्यान नहीं दिया; परन्तु अन्त में हमने इतना शोर मचाया कि भोजनालय का प्रबंधक श्रीयुत डाई वहाँ आ गया। वह बड़ा गरम-मिजाज मनुष्य था और अपनी अधीनस्थ नौकरानियों से कभी नरमी का बर्ताव न करता था। जब उसने अपने ग्राहकों को भोजन के लिए पुकारते और नौकरानियों को इस प्रकार बैठकर मदिरा-पान करते देखा तब क्रोध से उसका मुख-मण्डल लाल हो गया। वह झपटकर उनकी मेज़ के पास गया और डाँटने लगा; पर उन्होंने उसकी कुछ भी परवा न की।

"तब वह उस डाढ़ी वाले महाशय को सम्बोधन करके कहने लगा कि आप मेरे होटल से निकल जाइए। उसने कुछ उत्तर न दिया; पर वह धीरे धीरे उठा और सिर पर टोपी रखकर चलता बना। ज्योंही वह मेज़ पर से उठा कि सबकी सब नौकरानियाँ अपने अपने काम पर चली गईं, मानों कुछ हुआ ही न था। हम बराबर भोजन करते रहे। यह एक विचित्र व्यापार था। पीछे इन लड़कियों में से किसीको भी इस घटना का स्मरण न रहा"।



उँगली।

(लेखक—साहित्यरत्न पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय)

चौपदे

जो बने देती रहें सुख और को।
दूसरों के वास्ते दुख भी सहें।

जब कभी छिड़कें न छिड़कें गर्म जल।
उँगलियाँ चन्दन छिड़कती ही रहें॥१॥

छूटती हैं आदतें बिगड़ी नहीं।
रंग न्यारे हैं न देते बरतरी।

जल गया जी आँख में जल आ गया।
देख करके उँगलियाँ काजल-भरी॥२॥

जो किसी को खली भली न लगी।
चाहिए चाल वह न जाय चली।

जो गई तो गई किसी मुँह में।
किसलिए आँख में गई उँगली॥३॥

सोच उँगली तू ढले तो क्यों ढले ।
जो बुरी रुचि में ढला वह जाय ढल ।

हैं दमकते तो दमकने दे उन्हें ।
मोतियों से दाँत में मिस्सी न मल ॥ ४ ॥

डालकर सुरमा भलाई की गई ।
कब नहीं यह आँख दुखवाली रही ।

सोच उँगली तू न कर लाली गँवा ।
क्या हुआ कुछ काल जो काली रही ॥ ५ ॥

दुख हुआ तो हुआ, यही सुख है ।
हाथ से जो विपत्ति के छूटीं ।

तब भला टूट में पड़ीं क्या वे ।
टूटकर जो न उँगलियाँ टूटीं ॥ ६ ॥

जी करे तो लाल होने के लिए ।
लोभ में पड़ पड़ लहू में वे सनें ।

क्यों कहें पूलियाँ उन्हें छवि बेलि की ।
उँगलियाँ कलियाँ न चंपे की बनें ॥ ७ ॥



साहित्य-सुमन ।

(१) राष्ट्रभाषा हिन्दी और मुसलमान ।

जबलपुर में हो चुके मध्यप्रान्तीय चौथे हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का कार्य-विवरण, पं० बाल-मुकुन्दजी त्रिपाठी के उत्साह और कार्यशीलता से, छप गया है । उसे यत्र-तत्र देखते समय हमारा ध्यान उक्त सम्मेलन की स्वागत-कारिणी समिति के सभापति पं० रघुवरप्रसादजी द्विवेदी के भाषण की ओर आकृष्ट हुआ जो विद्वत्तापूर्ण विवेचन से आद्यन्त भरा पड़ा है। हिन्दू-मुस्लिम-एकता के वर्तमान युग में हिन्दी-लेखकों को जिन बातों पर विचार करना चाहिए उन्हें द्विवेदीजी इस प्रकार बताते हैं—

"हमारी राष्ट्रभाषा की लेख-शैली इस प्रकार की हो जो हिन्दू और मुसलमान दोनों को मान्य हो। यदि यही ढँग रहा जो आजकल लेखकों में पाया जाता है, अर्थात् साधारण हिन्दी के तद्भव शब्दों का तथा उर्दू से मिले हुए बोलचाल के शब्दों का बहिष्कार होता रहा, तो एक तो, हमारी भाषा की सरलता में बाधा पड़ेगी और वह अपने एक प्रसिद्ध गुण को खो बैठेगी । दूसरे, इस प्रकार का बहिष्कार हमारे मुसलिम भ्राताओं को असह्य होगा । हम देखते हैं कि हमारे हिन्दी-ग्रन्थों में जहाँ मुसलमान बादशाहों का वर्णन आया है वहाँ हमने उनके विषय में द्वेष-भाव-पूर्ण शब्दों एवं विचारों को प्रकट किया है । अब यदि हमारे मुसलमान भाई इन ग्रन्थों को पढ़ें, तो अवश्य ही वे हमसे रुष्ट होंगे; अतएव प्रत्येक हिन्दी लेखक को जो हमारी राष्ट्रभाषा को उच्च पद दिलाना चाहता है ऐसी अदूरदर्शिता न दिखलानी चाहिए । हमें स्मरण रखना चाहिए कि हमारा जो राष्ट्रीय

साहित्य हमारी राष्ट्र-भाषा में लिखा जाय वह दोनों जातियों को एकसा ग्राह्य हो। अब हमारे प्रमुख लेखकों को मुसलमानी ग्रन्थों से जो अरबी, फ़ारसी आदि भाषाओं में हैं काव्य, नाटक, उपन्यासादि के विषय लेकर ऐसे ग्रन्थ रचने चाहिए जिन्हें हमारे ये भाई आनन्द से पढ़ सकें; क्योंकि यह सम्भव नहीं है कि हिन्दू इतिहास, पुराणादि के आख्यानों एवं कथानकों को लेकर जो ग्रन्थ लिखे गये हैं और जिनका समग्र वातावरण हिन्दू धर्म तथा हिन्दू सभ्यता से प्राप्त है प्रत्येक अहिन्दू पाठक को रुचिकर हो सकें। इसीसे हम कहते हैं कि यदि हमारी मातृ-भाषा में मुसलमानोपयोगी ग्रन्थ न लिखे जायँगे और मुसलमान-इतिहास के साथ सहानुभूति प्रकट करते हुए नाटक, उपन्यास, काव्यादि की रचना न की जायगी और इसी तरह पारसियों तथा ख्रीष्टियों के लिए सुपठनीय ग्रन्थ हिन्दी में न रचे जायँगे, तो अभीष्ट राष्ट्रीय साहित्य की उत्पत्ति कैसे होगी? साथ ही, इन ग्रन्थों में यदि अरबी, फ़ारसी आदि भाषाओं से प्राप्त हुए प्रचलित शब्दों का बहिष्कार किया जायगा, जैसा कई हिन्दी सुलेखक करते हैं, तो इन भ्राताओं के लिए हमारी भाषा बहुत कठिन हो जायगी जिससे वे उसे स्वीकार करने में आनाकानी करें, तो आश्चर्य ही क्या?"

(२) कानपुर-हत्याकाण्ड में नाना साहब की निर्दोषता।

अंग्रेज़ ग्रन्थकारों ने अन्तिम पेशवा बाजीराव के दत्तक पुत्र धोंधूपन्त उपनाम नाना साहब को सन् १८५७ के सिपाही-विद्रोह के इतिहास में खूब बदनाम किया है। उन्हें बदमाश, हत्यारा आदि सब कुछ कह डाला है। इसी सम्बन्ध में एक लेख 'प्रवासी' के आधार पर, अभी हाल में, 'सरस्वती' में निकला है। उसमें एक प्रत्यक्षदर्शी का कथन उद्धृत किया गया है जिससे नाना साहब की निर्दोषता सिद्ध होती है।

कानपुर के हत्याकाण्ड के विषय में इतिहासकारों ने लिखा है कि नाना साहब अंग्रेज़ों के विरुद्ध हो गये थे और उन्होंने कानपुर के रहनेवाले सब अंग्रेज़ों को घेर लिया था। कुछ समय तक अंग्रेज़ लड़ते रहे; पर बाद को नाना साहब ने उन्हें नावों द्वारा इलाहाबाद पहुँचा देने की प्रतिज्ञा की; किन्तु ज्यों ही वे नावों पर सवार हुए त्योंही नानासाहब ने अपनी प्रतिज्ञा भङ्ग करके उनके ऊपर गोलों की वर्षा शुरू करा दी और इस प्रकार उनके संहार का उपाय किया। इस घटना के समय एक सौ पचीस स्त्री और बालक क़ैद भी हो गये थे। जब जनरल हैवलक की सेना कानपुर पहुँची तब नाना साहब उन सब क़ैदियों का वध करके वहाँ से भाग गये।

अब प्रत्यक्ष-दर्शी का कथन सुनिए। श्रीमती होरटेस्टेट नामक एक अंग्रेज़ महिला ने जिन्होंने स्वयं विद्रोह-जनित कष्टों को सहन किया था, सिपाही-विद्रोह के सम्बन्ध में फ़रासीसी भाषा में एक पुस्तक लिखी है। उस पुस्तक का अनुवाद फ़ारसी में हो चुका है। लेखिका ने नाना-साहब-सम्बन्धी हत्याकाण्ड का वर्णन खूब विस्तृत लिखा है। सन्धि की शर्तों के अनुसार जो अंग्रेज़ स्त्री-पुरुष नावों द्वारा भेजे गये थे उनमें लेखिका

भी एक थीं। नावों पर गोलाबारी होते समय लेखिका वाली नौका, हवा के ज़ोर से, दूसरे किनारे, सकुशल, जा लगी। पर इन सबको बड़ा डर था। लेखिका के साथ उनकी पुत्री, पुत्र तथा अन्य जाति-भाई भी थे। सबके सब प्रति क्षण मृत्यु की राह देख रहे थे कि इतने में नाना साहब घोड़े पर सवार कई अनुचरों सहित इनके पास आ पहुँचे और इन्हें क़ैद कर शहर ले गये। इस घटना का कुछ और हाल लेखिका के शब्दों में इस प्रकार है:—

"इसी अवसर पर मैंने नाना साहब को सर्व-प्रथम देखा था। लोग चाहे जो कुछ कहें; पर मैं बराबर यही कहूँगी कि कानपुर—हत्याकाण्ड के सम्बन्ध में नाना साहब कदापि दोषी नहीं। उस समय वे ३० वर्ष के युवक थे। उनका अन्तःकरण सीधा-सादा और स्वभाव बहुत अच्छा था। मैं ज़ोर देकर कहती हूँ कि यदि विद्रोही लोग नाना साहब की बात मानते तो कानपुर का हत्याकाण्ड कदापि न हुआ होता। विद्रोहियों के प्रतिज्ञा—भङ्ग का यह कारण था कि जिस समय हम लोग इलाहाबाद जाने के लिए नावों पर सवार हुए उसी समय उस बारूदख़ाने में, जो अस्पताल के मध्य में था, आग लगा दी गई। इससे उन्होंने यह समझा कि अंग्रेज़ों का एक दल, युद्ध जारी रखने के अभिप्राय से, जेनरल हैवलक की प्रतीक्षा में वहाँ छिपा हुआ है। किन्तु जीवित व्यक्तियों में जो लोग निर्दोष प्रमाणित हुए नाना साहब ने उनके प्राण-हरण नहीं किये।

"हम लोग पन्द्रह दिन तक नाना साहब की क़ैद में रहे। हम लोग बहुत सुखी थे। नाना साहब ने हमें बाहरी लोगों के साथ सम्पर्क रखने का निषेध कर दिया था; परन्तु कई अंग्रेज़ स्त्रियाँ अपनी चञ्चल प्रकृति के कारण उनकी आज्ञा उल्लङ्घन करने लगीं। दूसरे दिन × × × जिन चार स्त्रियों ने बाहरी मनुष्यों के साथ पत्र-व्यवहार किया था उन्हींको पकड़ने की आज्ञा दी गई और वे पकड़कर काट डाली गईं।"

अब कहिए, घटना के पचासों साल बाद और हज़ारों मील दूर बैठे हुए इतिहासकार जो कुछ लिखते हैं वह ठीक है या जो प्रत्यक्षदर्शी का कथन है वह ठीक समझा जाय?

(३) आर्थिक जीवन में स्त्रियों का स्थान।

लखनऊ विश्वविद्यालय के प्रोफ़ेसर राधाकमल मुकर्जी ने, अभी हाल में, अपने एक व्याख्यान में यह बतलाया है कि आर्थिक जीवन में स्त्रियों का स्थान बड़ा शोचनीय है। आपका कहना है कि बड़े बड़े शहरों में एक तो स्त्रियों की संख्या कम है और दूसरे, अर्थोपार्जन के लिए उन्हें यथेष्ट क्षेत्र नहीं है। आपके कथन का सार है कि—

"जिन नगरों में मिलें हैं वहाँ स्त्रियों की संख्या मनुष्यों की अपेक्षा लगभग आधी है। बम्बई और कलकत्ते में प्रति १,००० मनुष्य पीछे क्रमशः ५३० और ४७० स्त्रियाँ हैं। ऐसी दशा में, शहरों में, दुर्व्यसन और व्यभिचार बढ़ते हैं। फिर एक यह बात शहरों में और पाई जाती है कि मज़दूरी करने वाले स्त्री—पुरुष रद्दी से रद्दी घरों में रहते हैं और अपना अधिकांश समय ऐसे स्थानों में व्यतीत करते हैं जहाँ उन्हें न तो स्वच्छ हवा मिलती है और न यथेष्ट

प्रकाश ही। फल यह होता है कि वे बड़े शीघ्र काल-कवलित हो जाते हैं। शहरों में, घनी बस्ती और विलासिता की अनेक वस्तुएँ होने के कारण, ग्रामों की अपेक्षा मृत्यु-संख्या अधिक होती है और दुर्गुण बढ़ते हैं।"

प्रसंगवश वक्ता ने यह भी बतलाया कि खेड़ों की अपेक्षा नगरों में मनुष्यों तथा बालकों की मृत्यु-संख्या बहुत होती है। भारत में कानपुर का नम्बर बाल-मृत्यु में सबसे पहला है। वहाँ प्रति १,००० पीछे ५५१ बालकों की मृत्यु होती है। इँग्लैण्ड के घने बसे हुए व्यावसायिक नगरों में बाल-मृत्यु १,००० पीछे केवल १०० है।

इन सब बातों को देखते हुए मुकर्जी महाशय ने सम्मति दी है कि—"कृषि-कर्म तथा खेती-बाड़ी की उन्नति खूब होनी चाहिए। साथ ही, खेड़े खेड़े में भिन्न भिन्न व्यवसायों को उत्तेजित करना चाहिए। इससे आर्थिक जीवन में स्त्रियाँ अधिक भाग ले सकेंगी और साथ ही अपनी पुरानी कौटुम्बिक प्रथाओं का पालन भी कर सकेंगी।"

मुकर्जी महाशय की इस सम्मति से यह भी ध्वनि निकलती है कि खेड़ों में स्त्रियाँ चरखा चलावें और आर्थिक जीवन में अपना भाग लेते हुए देश को सम्पत्ति-शाली बनावें।

(४) क़ानून बनाने में स्त्रियों का भाग।

कई प्रान्तों में स्त्रियों को वोट देने का अधिकार प्राप्त हो गया है। ऐसे समय में प्रत्येक मनुष्य यह जानना चाहता है कि क़ानून बनाने में स्त्रियों का भाग कितना होना चाहिए। इसके संबंध में श्रीमती मारगरट ई. कज़िन्स लिखती हैं—

यूरोपीय महायुद्ध आरम्भ होते ही लाखों मनुष्यों को रण-क्षेत्रों में जाना पड़ा और उन्होंने देखा कि स्त्रियाँ हमारा काम बहुत अच्छी तरह कर सकती हैं। स्त्रियाँ उतनी ही साहसी, बुद्धिमती, योग्य, स्वदेशभक्त और देश के लिए उपयोगी हैं जितने कि पुरुष। यह देखकर पुरुषों ने पुराने नियम को बदल डाला और वे उन्हें क़ानून बनाने में पूरा योग देने की स्वतन्त्रता दे रहे हैं। यह हवा भारतवर्ष में भी बढ़ने लगी है। यहाँ की स्त्रियाँ भी जानती हैं कि हम भी उतनी ही योग्य हैं और देश-सेवा करने के लिए उतनी ही प्रबल इच्छा रखती हैं जितनी कि यूरोपीय देशों की स्त्रियाँ। इसलिए वे चाहती हैं कि भारत-सरकार हमारे साथ वही व्यवहार करे जो यूरोपीय स्त्रियों के साथ किया जाता है।

भारतीय रमणियाँ वोट और कौंसिलों की सदस्या होने का जो अधिकार चाहती हैं वह केवल आत्म और राष्ट्रीय सन्मान की दृष्टि से ही नहीं बरन् उसका प्रधान कारण यही है कि वे भलीभाँति जानती हैं कि पुरुष हमारी सहायता से अपना काम अधिक अच्छी तरह कर सकेंगे। वे यह भी जानती हैं कि कई प्रसंगों पर हम पुरुषों की अपेक्षा अधिक बुद्धि से काम लेती हैं।

पुरुष निरंतर खेत-खलियान, सभा-समाज आदि पदार्थों की बात सोचा करते हैं; परन्तु स्त्रियाँ बालक, वृद्ध, रोगी, पति आदि की बातें सोचती रहती हैं। इसलिए स्त्रियाँ ऐसे क़ानून

पास कराने में अधिक ध्यान देंगी जिनसे रोगों का मूलोच्छेद हो, भोजन के पदार्थ शुद्ध रूप में मिलें, जीवन-निर्वाह की आवश्यक सामग्री अत्यधिक महँगी बेंच और ग़रीबों का धन चूसकर बड़े २ लोग अपनी तोंद अधिक न फुलाने पावें। स्त्रियाँ नमक पर जो भारी टैक्स लगाया जाता है उसका विरोध करेंगी और कहेंगी—"भोजन की सामग्री और पहनने-ओढ़ने के कपड़ों को छोड़कर और चाहे जिस पदार्थ पर टैक्स लगाया जावे।" स्त्रियाँ शिक्षा-सम्बन्धी विषयों पर अपने ढंग से विचार करेंगी। वे यह अवश्य चाहती हैं कि हमारी कन्याओं को शिक्षा दी जाय; परन्तु वे यह नहीं चाहतीं कि स्यानी लड़कियाँ ऐसे समय में स्कूल में रहें जबकि घर के काम-काज में उनकी सहायता की आवश्यकता होती है; इसलिए वे क़ानून बनाने वालों को प्रभावित करके स्कूल का समय बदलवावेंगी।

आस्ट्रेलिया तथा अन्य देशों की स्त्रियाँ वोट देने का अधिकार प्राप्त करके लाखों शिशुओं और बालकों के प्राण बचाने में समर्थ हो सकी हैं। यह इस प्रकार किया गया कि उन्होंने क़ानून बनाने वालों से कह-सुनकर ज़िले २ में दौरा करने वाली दाइयाँ, डाक्टर आदि पहले की अपेक्षा बहुत अधिक संख्या में नियुक्त करवाये। अपराधी बालकों के मुक़द्दमों का फ़ैसला करने के लिए उन्होंने स्त्रियों को ही मैजिस्ट्रेट नियत करवाया है। इसी प्रकार के और भी अनेक सुधार उन्होंने किये हैं।

दक्षिण आफ्रिका में भारत-वासियों के लिए जो निष्ठुर क़ानून थे उन्हें बदलवाने के अभिप्राय से कारावास तक का दण्ड स्वीकार करने में महात्मा गान्धी की धर्मपत्नी ने महात्माजी की अपेक्षा कुछ कम तत्परता नहीं दिखाई थी, और यह कहने की आवश्यकता नहीं कि महात्माजी को अब भी उनसे कितनी सहायता मिला करती है।

(५) स्त्रियाँ वोट देकर क्या करेंगी?

इस प्रश्न का उत्तर "स्त्री-धर्म" में इस प्रकार दिया गया है—

इसमें सन्देह नहीं कि स्त्रियाँ वोट देने का अधिकार प्राप्त करके सबसे पहले इस बात का प्रयत्न करेंगी कि देश में स्त्री-शिक्षा के लिए अधिक द्रव्य ख़र्च किया जाय और अधिक सुभीते किये जायँ। यहाँ स्त्री-शिक्षा का इतना कम प्रचार है कि उसे देखकर प्रत्येक स्वदेशाभिमानिनी स्त्री का सिर, लज्जा के मारे, नीचा हो जाता है। स्त्रियाँ भी चाहती हैं कि भारतवर्ष अन्य राष्ट्रों की तुलना में अच्छा ठहर सके; परन्तु यह तबतक कदापि नहीं हो सकता जबतक कि भारतवर्ष में सैकड़े पीछे केवल दो स्त्रियों को शिक्षा दी जाती है। पाश्चात्य देशों में स्त्री-शिक्षा का यह हाल है कि वहाँ प्रतिशत ९० से भी अधिक स्त्रियाँ शिक्षा पाया करती हैं। इसमें सन्देह नहीं, यहाँ लड़कों की शिक्षा का भी प्रचार बहुत कम है; परन्तु स्त्री-शिक्षा की दशा तो दस गुनी ख़राब है। इसलिए कन्याओं की शालाओं, ट्रेनिंग स्कूलों, कालेजों आदि के लिए अधिक ग्रांट दिया जावे। इसके लिए स्त्रियाँ ख़ूब प्रयत्न करेंगी और जो पुरुष इस कार्य को करने के लिए वचन देंगे केवल उन्हींको स्त्रियाँ अपनी वोट देंगी।

बालकों पर स्त्रियों का स्नेह स्वभाव से ही होता है। ऐसी कोई माता न होगी जो अपने शिशु को बीमार देखकर व्याकुल न हो जाती हो। इस देश में बालकों की मृत्यु का यह हाल है कि एक वर्ष की अवस्था के प्रत्येक तीन बालकों में से एक काल-कवलित हो जाता है। अन्य देशों की तुलना में यह संख्या अत्यन्त हृदय-विदारक है। आस्ट्रेलिया में प्रति १००० पीछे ५१ शिशुओं की मृत्यु होती है; परन्तु यहाँ प्रति १,००० पीछे २५५ की ! ऐसी दशा में स्त्रियाँ वोट देने का अधिकार प्राप्त कर सरकार का विशेष ध्यान इस ओर आकर्षित करेंगी कि राष्ट्र के स्वास्थ्य की नींव अधिक दृढ़ की जावे। यदि क़ानून बुद्धिमत्ता के साथ बनाये जावें, तो बहुत से रोग आदि रोके जा सकते हैं। इंग्लैंड जिस समय अज्ञानावस्था में था उस समय वहाँ चेचक, प्लेग आदि छुतहे रोगों का बहुत दौरदौरा था; परन्तु वहाँ ज्यों ज्यों शिक्षा का प्रसार होता गया और रोगों को रोकने के लिए कई प्रकार के क़ानून बनते गये, त्यों त्यों इन बीमारियों से त्राण मिलता गया। उदाहरण के लिए, देखिए, इंग्लैंड में अब छुतहे रोगों से मरनेवालों की संख्या सैकड़े पीछे केवल २ है; परन्तु मद्रास में वही संख्या ३० है। रस्किन का कथन है कि देश को सबसे पहले अपने निवासियों के स्वास्थ्य की चिन्ता करनी चाहिए। यदि मनुष्य का जीवन सुरक्षित नहीं है, तो धन-सम्पत्ति की आशा करना वृथा है। वही देश सबसे अधिक सम्पत्तिशाली है जो सबसे अधिक लोगों को स्वस्थ और सुखी रखने का प्रयत्न करता है।

किसी समय भारतवर्ष जिस प्रकार अपनी अपार धन सम्पत्ति के लिए विख्यात था उसी प्रकार इस समय वह अपनी दरिद्रता के लिए बदनाम है। स्त्रियाँ वोट देने का अधिकार प्राप्त करके इस दरिद्रता को कम करने का भी प्रयत्न करेंगी।

(६) आदर्श और कविता।

"स्वाभाविक जीवन" नामक पुस्तक में जो अभी हाल में प्रकाशित हुई है इस विषय पर जो कुछ लिखा है वह इस प्रकार है—

मनुष्य-जाति आज अपने उच्च आदर्शों से खसक गई है। अब वह केवल आर्थिक लाभ और उसके हीन आदर्शों की ओर देखती है। प्रजा में उच्च आदर्शों के पुनः-स्थापन-रूपी महान् और पवित्र काम के लिए किसी प्रकार के बाहरी ढोंग की ज़रूरत नहीं है। उन आदमियों को, जो इस विषय को सुनने और ध्यान देने के लिए खुश नहीं हैं, ज़बानी उपदेश देने की बिलकुल ज़रूरत नहीं है, और न जनसाधारण के सामने ही आजकल की तरह स्टेजों पर चढ़कर गला फाड़ फाड़ कर चिल्लाने की ज़रूरत है। ज़रूरत है केवल उनकी जो अपने आचरण से आदर्श को मूर्तिमान् खड़ा करके दिखला सकें, स्वयं आदर्श बन सकें।

आजकल की कविताओं में सच्चे काव्य कहाँ हैं ? कविता की पुरानी रसिकता मिट ही गई। वाल्मीकि की "रामायण," व्यास के "महाभारत," तुलसीदास के "रामचरितमानस," भवभूति के "उत्तररामचरित," कालिदास के "शाकुन्तल," और होमर के "इलियड" और "ओडेसी" जैसे रसभरे, मनन-करने-योग्य, स्वाभाविक वर्णन से भरे हुए महाकाव्य क्या

आजकल भी बने हैं ? नित नये नये प्रकाशित होने वाले कितने ग्रन्थों में उनके जैसा रस, उनके जैसी हृदयहारकता, और वैसा स्वाभाविक, स्वल्पाक्षर और अर्थ-गंभीर वर्णन मिलता है। जड़वादी विज्ञान-शास्त्रका युग वैसे एक महाकाव्य को भी उत्पन्न न करसका। उन ग्रन्थ-रत्नों का जन्म उस समय हुआ था जबकि आजकल के बहुतसे लोगों की समझ के अनुसार मनुष्यों को पूरी तौर से लिखना-पढ़ना भी नहीं आता था। परन्तु ध्यान में रखना चाहिए कि उन प्राचीन महात्माओं की सुन्दर कविताएँ, आज हज़ारों वर्ष बीत जाने पर, और उस समय छापे की कला मौजूद न रहने पर भी, सुरक्षित रक्खी हुई हैं। जनता उन्हें अपनी अमूल्य सम्पत्ति समझती है। मेरे बन्धुओ! प्रकृति की ओर फिर लक्ष्य दो, सृष्टि-सौन्दर्य्य का निरीक्षण करो, और तन्मय बन जाओ, तो आपमें फिर वैसेही काव्यों के रचने की प्रतिभा उत्पन्न हो जायगी। प्रकृति में चारों ओर काव्य-रस भरा हुआ है। प्रकृति के आश्रय से जड़वादियों के नीरस विचार भी शान्त और सुखमय हो जायँगे।

यद्यपि उपर्युक्त काव्य भी सर्वोत्तम और पूर्णतः निर्दोष मनुष्यों के द्वारा लिखे हुए नहीं हैं। उनके लिखे जाने के समय भी मनुष्यों का जीवन अनेक अंशों में प्रकृति से विमुख होगया था। उनके खानपान में अस्वाभाविकता आगई थी। इसलिए उन सबसे भी श्रेष्ठ और उच्चकोटि के रससे भरे हुए प्राचीन धर्मग्रन्थ वेद, उपनिषद्, ब्राह्मणग्रन्थ, गीता, आदि की ओर मैं आप लोगों का ध्यान आकर्षित करता हूं। वे ग्रन्थ किसी व्यग्र और उत्तेजित मस्तिष्क की उपज नहीं हैं। इसलिए उनके पढ़ने से हमारे हृदयों में किसी प्रकार की अस्वाभाविक उत्तेजना न उत्पन्न होकर शान्ति और आराम मिलता है। परन्तु आजकल के मनुष्य कितने भाग्यहीन और भ्रम में पड़े हुए हैं कि उन सच्चे, शान्ति के भंडार धर्म-भाव-परिपूर्ण और पवित्र ग्रन्थरत्नों को समझ भी नहीं सकते।

प्रिय पाठकगण! मुझे दृढ़ विश्वास है कि यदि आप उपर्युक्त धर्म-ग्रन्थों में भरे हुए दैवी ज्ञानामृत के प्रवाह में बहने लग जाओ, बच्चों की तरह हृदय में श्रद्धा धारण करके उनका मनन करो और नियमतः दयासागर परमेश्वर की प्रार्थना करो तो अवश्य आपके शरीर स्वस्थ रहेंगे, आपका जीवन पवित्र होगा, बचपन का भोलापन, युवावस्था का सौन्दर्य और तेज आप के चेहरे पर स्थिर रहेगा, और पृथ्वी के सम्पूर्ण आनन्द फिर आपको मिलेंगे।



विश्व-वैचित्र्य।

(१) सर्प-दोहन।

गाय, बकरी आदि का दूध तो दुहा ही जाता है; पर अब साँप भी दुहे जाने लगे हैं; परन्तु उनका, दूध नहीं, विष, दुहा जाता है। यह विष दुहा जाकर "विषस्य विषमौषधम्" के सिद्धान्त के अनुसार उसी जाति के दूसरे सर्प का विष दूर करने के काम में आता है। पं० महावीर-प्रसादजी द्विवेदी का लिखा हुआ इस विषय का एक नोट सरस्वती के दिसम्बर, १९२१, के अंक में

प्रकाशित हुआ है। उसकी कुछ बातें नीचे लिखी जाती हैं।

बम्बई में एक संस्था स्थापित है। उसने बहुतसे काले नाग पाल रक्खे हैं। वे लकड़ी के बक्सों में रक्खे और समय समय पर दुहे जाते हैं। दुहने की रीति यह है कि एक आदमी ४ फुट लम्बे बाँस की पतली छड़ी हाथ में लेता है। जिस साँप को दुहना होता है उसकी पीठ पर वह उस छड़ी से धीरे धीरे आघात करता है। इसपर सर्पराज नाराज़ होकर बक्स से बाहर निकल आते हैं और पासही बिछी हुई बाँस की चटाई पर कुण्डलाकार बैठ जाते हैं। फन फैलाकर उसे ऊँचा उठाते हैं और ज़ोर ज़ोर से फुफकारने लगते हैं। कुछ ही देर में वे भागकर कहीं छिप जाने की चेष्टा करते हैं। बस, जहाँ उन्होंने अपना सिर चटाई पर रखकर लम्बे होने की ठानी तहाँ वह आदमी जो पहले ही से ताक में रहता है अपनी छड़ी को साँप की गरदन के पीछे रखकर उसे दाहने हाथ से ज़मीन पर दबा देता है जिसमें वह वहाँ से हिल न सके। यह करके वह बाँये हाथसे साँप का सिर छोड़कर उसके कुछ दूर पीछे उसकी गरदन पकड़ लेता है। इस समय साँप की पूँछ हन्टर के सदृश चलने लगती है। वह ग़ज़ब के गुस्से में आजाता है और बेतरह फुफकारें छोड़ता है। तब वह आदमी बाँस की छड़ी छोड़कर साँप की पूँछ दाहने हाथ से पकड़ लेता है और उसके सिर को खूब ऊँचा उठाता है। साँप उसके दोनों हाथों के बीच तना रहता है। उस समय एक और आदमी आगे बैठता है। उसके हाथ में काँच का एक प्याला रहता है। उसपर चमड़े का छन्ना लगा रहता है। इस प्याले को वह साँप के मुँह के पास ले जाता है। बस, पहुँचते ही साँप उसे ज़ोर से काटता है। उसके दाँत छन्ने में धँस जाते हैं और विष के बूँद प्याले में टपक पड़ते हैं। जब विष का टपकना बन्द हो जाता है तब प्याला अलग रख दिया जाता है। पीछे, यह विष सुखाकर रख लिया जाता है और पिचकारियों से घोड़ों के शरीर में प्रविष्ट किया जाता है। इन्हीं घोड़ों के विषाक्त रुधिर से सर्पदंश की औषधि जिसका नाम Anti-Venine है तैयार की जाती है। जिसे सर्प काटता है उसके शरीर में इसी औषधि की पिचकारी दी जाती है। सुनते हैं, इस प्रयोग से सर्पदंश का विष दूर हो जाता है; पर शर्त यह है कि काटनेवाला साँप उसी जाति का हो जिस जाति के साँप के विष से यह औषधि तैयार की गई हो।

(२) खटमल-जन्य रोग।

सोते समय मनुष्यों को काटने से ही खटमल बुरा नहीं समझा जाता। उसके द्वारा शरीर में रोग-जन्तु के प्रविष्ट होने का भी दोषारोपण किया जाता है। यह बात प्रथमतः पाश्चर संस्था के प्रो० मेकनिकॉफ़ नामक रसायन-शास्त्रज्ञ ने, सन् १८८७ में, कही थी। अब तो यह खोज भी हुई है कि आवर्तक सन्निपात के जन्तु मनुष्य से बन्दर के शरीर में ले जाये जाते हैं। इसके सिवा, काला बुख़ार, क्षय, विषम-ज्वर, रक्तकुष्ठ आदि रोगों के जन्तु भी खटमल द्वारा सशक्त मनुष्य के शरीर में पहुँचते हैं। इस बात को प्रसिद्ध शास्त्रज्ञों ने स्वीकार किया है। खटमलों द्वारा प्लेग का प्रसार होने की बात तो ध्रुव सत्य

है। सन् १९०४ में वर्जेविलिसका ने प्रयोग द्वारा खटमल के पेट में प्लेग-जन्तुओं की वृद्धि होती हुई दिखाकर उस प्रकार के खटमल से गिनीपिग नामक जन्तु के शरीर पर प्लेग की गिल्टियाँ भी निकलवा कर दिखाई थीं। इसी प्रकार सन १९१५ में बेकॉट ने चूहों को प्लेग-ग्रसित कराया था। इन बातों पर से सिद्ध होता है कि पिस्सू की ही भाँति, इस प्राणी के द्वारा भी, प्लेग का प्रसार होता है।

(३) डाक्टर खटमल।

ईश्वर की सृष्टि का एक क्षुद्र जन्तु खटमल भी कवियों के कल्पना-क्षेत्र के बाहर नहीं जाने पाया। अनेक कवियों ने खटमल--स्तुति करके अपनी प्रतिभा को सार्थक किया। ज़रा देखिए तो, कमल पर लक्ष्मी को, हिमालय पर महादेव को तथा क्षीरसागर में, शेषनाग की कुण्डली पर, विष्णु जी को, विश्राम करते देखकर कवि को यही विदित हुआ कि ये देवता खटमल के डर से ही पलँग छोड़कर यहाँ पड़े हैं--

कमले कमला शेते हरः शेते हिमालये।
क्षीरोब्धौ च हरिः शेते मन्ये मत्कुणशंकया॥

कवियों की बात छोड़िए। वैज्ञानिकों ने भी खटमलों के कोमल कलेवरों पर वैज्ञानिक प्रयोग करके यह निर्धारित किया है कि खटमलों में अनेक रोगों को दूर करने की शक्ति है।

महाकवि माघ-कृत 'शिशुपाल-वध' नामक काव्य के चौदहवें सर्ग में लिखा है कि हीरे की भस्म बनाने के लिए खटमल के रक्त की पुट देनी चाहिए। अपस्मार के रोगी के लिए खटमल के रक्त से नस्य (सुँघनी) तैयार की जाती है। इन दो के सिवा तीसरा प्रयोग बड़े ही महत्व का है, और उसका प्रत्यक्ष अनुभव कोई भी कर सकता है। प्रयोग इस प्रकार है कि पाँच या सात मोटे खटमल पकड़कर उन्हें साफ़ पानी में मसल डालो और फिर उस पानी को साफ़ कपड़े से तीन बार छानकर शीशी में भर लो। इसके बाद, शीतज्वर के रोगी को यह ओषधि पिलाओ। कितनी भी ठंड देकर बुखार क्यों न आता हो इससे वह बात की बात में दूर हो जायगा। इसी प्रकार मलेरिया आदि पर भी यह रामबाण है। अभी, लड़ाई के दिनों में, हमारे एक मित्र डाक्टर ने, जब विलायती दवाइयाँ अप्राप्य समझीं तब इसी युक्ति से सैकड़ों लोगों को रोगमुक्त किया था। उन्होंने भी इसे मलेरिया पर रामबाण कहा है। हाँ, उन्होंने यह अवश्य ही किया था कि खटमल को पानी में न मिलाकर गुड़ में मिला उसकी गोलियाँ बनाई और रोगियों को दीं, और जब उन गोलियों से लोगों को लाभ हुआ, तब चारों ओर से उन्हें इस आशय के पत्र मिलने लगे कि ये गोलियाँ किस वस्तु की बनी हुई हैं। तब उन्होंने इस विचार से कि कहीं लोगों के मन में किसी प्रकार की शंका या ग्लानि उत्पन्न न हो उसका लेटिन नाम 'गुपचुप' रख दिया।

सच-झूठ की बात श्रीयुत विश्वनाथ नारायण जानें, हमने तो उनके एक लेख का कुछ अंश, पाठकों के मनोविनोद के लिए, यहाँ लिख दिया है।



विविध विषय।

(१) ब्रिटिश नौकरशाही की सच्ची कालकोठरी।

मोपला लोग कितनेही बर्बर और क्रूर क्यों न हों और उन्होंने हिन्दुओं पर कितने ही भीषण अत्याचार क्यों न किये हों, अन्त में वे मनुष्य हैं और सर्वथा मनुष्योचित व्यवहार के पात्र हैं। यदि वे मनुष्य न होकर पशु ही होते, तो भी उनके साथ वैसा व्यवहार नहीं होना था जैसा कि इस नवम्बर मास की घटना में हुआ है। घटना इस प्रकार है कि १०० मोपला क़ैदी रेल के एक डिब्बे (लगेजवान) में जिसमें एक भी खिड़की या पायख़ाना नहीं था बन्द किये जाकर तिरूर से बेलेरी को भेजे गये। "टाइम्स आँव इंडिया" के कथनानुसार उस डिब्बे की लम्बाई २६ फुट और चौड़ाई ८ फुट थी, या यों समझिये कि २०८ वर्गफुट स्थान में १०० क़ैदी रखे गये। इस हिसाब से प्रत्येक क़ैदी को २$\frac{2}{25}$ वर्गफुट स्थान मिला। इतने संकुचित स्थान में वे किस प्रकार बैठ सके होंगे या कहना चाहिए, किस प्रकार बैठाये गये होंगे इसे बैठाने वाले ही जानें। ख़ैर,गाड़ी रवाना हुई और क़ैदियों का दम घुटने लगा। पुदनूर पहुँचने पर जब गाड़ी का दरवाज़ा खोला गया तो ५४ क़ैदी मरे हुए मिले और शेष सब म्रियमाण दशा में थे जिनमें से ८ शीघ्र ही मर गये। इस शोक-जनक घटना की जाँच करने के लिए एक सरकारी कमेटी नियुक्त की गई है। उसने अपना काम भी आरम्भ कर दिया है। जाँच की जो बातें प्रकट हो रही हैं वे अधिकारियों की पूरी लापरवाही और अमानुषिक व्यवहार सूचित करती हैं। हमें आशंका है, कहीं इस जाँच का फल निर्णय की भूल न निकले और लोगों से कहा जाये-"क्षमा कर दो और भूल जाओ"। इस दुर्घटना के सम्बन्ध में पहला प्रश्न यह उठता है कि वे क़ैदी लगेजवान में क्यों बन्द किये गये जिसमें न एक भी खिड़की थी और न शौचादि के लिए ही कोई स्थान था। दरवाज़े बन्द किये जाने पर हवा आने के लिए कोई स्थान ही न था। दरवाज़ों के ऊपर जो जालियाँ लगी थीं वे हालही में पोती गई थीं और इस प्रकार जो थोड़ी बहुत हवा उनमें से आ-जा सकती थी सो भी बन्द हो गई थी। मतलब यह कि क़ैदियों को उस में बन्द करते समय यह बात अच्छी तरह सोच ली गई थी कि इन लोगों को साँस लेने के लिए हवा की ज़रूरत बिलकुल नहीं है। पशु-पक्षी भी तो बन्द डिब्बों में नहीं रखे जाते।

वह डिब्बा कितना बड़ा था यह ऊपर लिखा जा चुका है। कलकत्ते की कल्पित कालकोठरी में प्रत्येक क़ैदी को लगभग इतना ही स्थान मिला था; यद्यपि उसमें दो छोटी छोटी खिड़कियाँ भी थीं। मलाबार की सेना के प्रधान डाक्टर कप्तान पी. एम. मथाई, आई. एम. एस., ने कहा है कि उस डिब्बे से तार की जाली हटाने पर भी, अर्थात् उस डिब्बे को हवादार बनाने पर भी. उसमें १०० आदमी नहीं बैठाये जा सकते थे। सौ मनुष्यों को दो घंटे के लिए भी इस गाड़ी से भेजने के लिए कोई मेरी सलाह लेता, तो मैं उसका घोर विरोध करता। अन्य अंग्रेज़ डाक्टरों ने भी यही सम्मति दी है।

उस डिब्बे में इतने आदमी बैठाये जाने पर भी यह दुर्घटना इतनी भयंकर न हुई होती यदि जो पुलिस कर्मचारी उनके साथ भेजे गये थे उन्होंने उनके साथ मनुष्योचित व्यवहार न सही, अपने कर्त्तव्य का ही कुछ पालन किया होता। क़ैदी

पानी पानी चिल्लाते मर गये; पर उन्हें पानी नहीं दिया गया। बचे हुए क़ैदियों ने जो बयान दिये हैं उन्हें पढ़कर रक्त उबल पड़ता है। प्रत्येक स्टेशन पर गाड़ी के रुकने पर क़ैदी पानी के लिए चिल्लाते रहे; पर उन्हें पानी नहीं दिया गया, उल्टे उनसे कहा गया—"चुप रहो, नहीं तो गोली मार दी जायगी।" यदि सार्जण्ट ने चाहा होता, तो क़ैदियों को पानी सरलता से दिया जा सकता था। मनकारा स्टेशन के स्टेशनमास्टर ने कहा है-'यदि सार्जण्ट कहता, तो तुरन्त पानी दे दिया जाता। इसमें कोई कठिनाई नहीं थी।" प्यास के मारे क़ैदियों का यह हाल था कि कई क़ैदी पानी की जगह पसीना निचोड़ कर चूसते रहे!

उस डिब्बे में बाहर से हवा आने का यह हाल था कि कुछ बुद्धिमान् क़ैदियों ने खिड़की की दरार से नाक लगा कर साँस ली! इस प्रकार, हवा और पानी के नितान्त अभाव में, ६४ क़ैदियों का गला घुट कर मर जाना बिल्कुल आश्चर्य की बात नहीं है। हमें तो आश्चर्य होता है कि शेष ३६ क़ैदी किस प्रकार जीते बचे। जिन लोगों की असावधानी से वे क़ैदी मरे हैं उनमें से सार्जण्ट कुक को इस बात का गर्व है कि वे इस तरह के डिब्बों में १० बार क़ैदियों को पहले ले जा चुके हैं। सितम्बर महीने में ही वे १२२ क़ैदियों को एक डिब्बे में बंद करके ले गये थे; परन्तु एक भी बार ऐसी दुर्घटना नहीं हुई। तब प्रश्न होता है कि यह दुर्घटना इस बार ही क्यों हुई। कहा जाता है कि उस डिब्बे में पहले कभी पेट्रोल भरा गया है जिसकी वास उसमें भरी हुई थी। उसी के विषैले प्रभाव से इन ६४ क़ैदियों की मृत्यु हुई। तो क्या सार्जण्ट कुक या दूसरे अधिकारियों का यह कर्तव्य नहीं था कि वे उस डिब्बे में घुसकर पहले उसकी जाँच कर लेते और उसके दोष-रहित जँचने पर क़ैदी उसमें बैठाये जाते? दूसरे, यह भी कहा जाता है कि उस डिब्बे में बहुधा क़ैदी ही भेजे जाते थे। तो फिर, उसमें पेट्रोल क्यों भरा गया था? इस बात की तो पूरी चौकसी रखी जाती है कि यूरोपियनों या यूरोशियनों के डिब्बे में कोई हिन्दुस्थानी न बैठने पावे—कहीं गोरों या अधगोरों को उन के संसर्ग से कोई रोग न लग जावे; पर इस बात की आवश्यकता क्यों नहीं समझी गई कि जिस गाड़ी में क़ैदी बहुधा बैठाये जाते हैं उसमें पेट्रोल न भरा जावे?

इस दुर्घटना के संबंध में "पायोनियर" पत्र में यह समाचार छपा था कि गाड़ी में वेदना से व्याकुल होकर क़ैदियों ने एक दूसरे के शरीरों को इस प्रकार काटा है कि क़ैदियों का पहचाना जाना कठिन हो गया है। इस समाचार के संबंध में डाक्टर मेजर फारेस्ट ने जिन्होंने क़ैदियों की लाशों की परीक्षा की थी कहा है—क़ैदियों के शरीर में काटने का चिह्न एक भी नहीं था।

जो सरकारी जाँच-कमेटी इस दुर्घटना की जाँच कर रही है उसकी जाँच पर सरकार क्या कार्रवाई करेगी यह पीछे प्रकट होगा। पर, इसमें संदेह नहीं, यह दुर्घटना ऐसी है जिसके संबंध में विलायत के "डेली मेल" ने लिखा है—"इससे हम (अँग्रेज़) लोग भारतवासियों की नज़रों में ब्लैकहोल जैसा अत्याचार करने के दोषी प्रमाणित हुए हैं। जबतक इसका दोषी फाँसी पर न लटकाया जाय, तब तक इंग्लैंड के सुनाम पर लगा हुआ धब्बा दूर नहीं हो सकता।"

(२) सन् १७५६ और सन् १९२१ ई० की काल-कोठरियाँ।

कहा जाता है कि नवाब सिराजुद्दौला ने १४६ अंग्रेजी क़ैदियों को सन् १७५६ ई० में एक तंग कोठरी में बन्द कर दिया था। कई इतिहासज्ञ कहते हैं कि यह घटना हुई ही नहीं; परन्तु कुछ लोग इसे अवश्य मानते हैं और लार्ड कर्ज़न ने तो यहाँ तक किया है कि कलकत्ते के उस स्थान में जहाँ यूरोपियन लोग रहते हैं इस घटना का एक स्मारक तक खड़ा कर दिया है। इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका में (संस्करण ११, जिल्द ४, पृष्ठ ९८३ पर) इस घटना के सम्बन्ध में लिखा है—

"कलकत्ते के इतिहास की प्रसिद्ध घटना नवाब सिराजुद्दौला द्वारा सन् १७५६ में कलकत्ते शहर का लूटा जाना और फ़ोर्ट विलियम अधिकृत किया जाना है।....१४६ क़ैदी पहरेदार की एक कोठरी में जिसकी लम्बाई १८ फुट और चौड़ाई १४ फुट १० इंच थी और जिसमें दो छोटी छोटी खिड़की थीं जबरदस्ती ठूँस दिये गये और रातभर उसीमें रखे गये।... दूसरे दिन सबेरे केवल २३ मनुष्य जीवित निकले।.... यह घटना जहाँ हुई थी वहाँ एक काला पत्थर लगा दिया गया है और लार्ड कर्ज़न ने सन् १९०२ में एक स्मारक खड़ाकर इस घटना को अमर कर दिया है।"

इसका कोई प्रमाण नहीं है कि सिराजुद्दौला ने जान-बूझकर और परिणाम को पहले से सोचसमझकर उन १४६ यूरोपियन क़ैदियों को ब्लैक होल में ठूँस दिया था। ठीक इसी प्रकार यह बात भी बिल्कुल सच है कि मि० मान्टेग या लार्ड रीडिंग या लार्ड विलिङ्गडन ने यह आज्ञा नहीं दी कि मोपला क़ैदी लगेज वान में बन्द करके भेजे जायँ। इसलिए हमें दोनों घटनाओं के परिमाणों की गुरुता की तुलना करनी चाहिए और माडर्न रिव्यू ने जिस प्रकार तुलना की है वह नीचे दी जाती है। ब्लैक होल में जो आदमी ठूँसे गये थे वे युद्ध में जीते गये क़ैदी थे। इसी प्रकार मोपला भी थे। ब्लैक होल की दुर्घटना के लक्ष्य यूरोपियन और क्रिश्चियन थे और तिरूर वाली लगेज वान में हिन्दुस्थानी और मुसलमान बन्द किये गये थे। लगेज वान में खिड़कियाँ नहीं थीं; परन्तु ब्लैक होल में दो छोटी छोटी खिड़कियाँ थीं। ब्लैक होल की दुर्घटना मई में हुई थी और तिरूर और बेलेरी के बीच की यह दुर्घटना नवम्बर में हुई है। ब्लैक होल की घटना एक भारतीय स्वेच्छाचारी शासक के समय में, १८ वीं शताब्दी में हुई थी, और यह दूसरी घटना लोकतन्त्र के सिद्धांत को मानने वाली ब्रिटिश सरकार की आँखों के सामने, सुसभ्यता-प्राप्त २० वीं शताब्दी में, हुई है। ब्लैक होल के प्रत्येक क़ैदी को $\frac{२६७}{१४६}$ या १ $\frac{१२१}{१४६}$ वर्गफुट भूमि प्राप्त हुई थी और इन मोपला कैदियों में से प्रत्येक को $\frac{२०८}{१००}$ या २ $\frac{२}{२५}$ वर्गफुट स्थान मिला था। ब्लैकहोल में दो खिड़कियाँ थीं। इसलिए ब्लैक होल और इस डिब्बे के क़ैदियों को प्राप्त स्थान क़रीब क़रीब बराबर समझना चाहिए। अतः, तिरूर और बेलेरी के बीच में, किसी भी स्थान पर, मोपलाओं की दुर्घटना का एक स्मारक स्थापित किया जाना चाहिए। इस स्मारक और ब्लैक होल के स्मारक में १ $\frac{१२१}{१४६}$ और २ $\frac{२}{२५}$ का अनुपात होना चाहिए (दो छोटी खिड़कियों का हिसाब हमने छोड़ दिया है)। कलकत्ते के स्मारक में कुछ काले काला पत्थर लगा है। इस स्मारक में कुछ काले या गहरे धूमल रंग का पत्थर लगाया जा सकता है; क्योंकि ब्लैक होल में मोपलाओं की अपेक्षा कुछ अधिक क़ैदी मरे थे।

(३) लार्ड सिनहा का पद-त्याग ।

विहार के बंगाली—और सर्वप्रथम भारत-वासी—गवर्नर लार्ड सत्येन्द्रप्रसन्नसिंह ने अपना पद त्याग दिया जिसके अनेक कारण बताये जाते हैं। कोई कहता है कि उन्होंने अस्वस्थता के कारण ऐसा किया। कहीं यह भी कहा जाता है कि विहार की शासन-परिषद् के अंग्रेज़ मंत्री से मतभेद होजाने के कारण उन्होंने ऐसा किया। बँगला "प्रवासी" की सम्पादकीय टिप्पणी में कहा गया है कि लार्ड सिनहा से महात्मा गान्धी को गिरफ्तार करने के लिए कहा गया था जिसे उन्होंने अस्वीकार किया और उनके पद-त्याग का यही कारण होगा। कारण चाहे जो हो, इतनी बात तो अवश्य सच है कि उन्होंने अपना पद-त्याग दिया और उनका त्यागपत्र स्वीकृत भी हो गया। सम्राट् ने उनके कार्य की प्रशंसा की और उनका स्वास्थ्य शीघ्र सुधरे इसके लिए शुभ कामना भी की।

इसमें सन्देह नहीं, लार्ड सिनहा खूब बढ़े और बढ़ते बढ़ते ऐसे स्थान पर पहुँच गये जहाँ पहुँचने के लिए शायद उन्होंने पहले वही सोचा होगा जो रामचन्द्र के राज्याभिषेक के लिए महाराज दशरथ ने सोचा था कि "पुनि न सोच तन रहउ कि जाऊ।" नौकरशाही के हाथ में किसी भारतीय का आदर-सत्कार करने की जितनी सामग्री थी वह सब लार्ड सिनहा को मिली और उन्होंने इसके लिए अपनी योग्यता सब प्रकार प्रमाणित की। परन्तु गवर्नर के पद पर पहुँचकर उन्होंने जो कुछ किया उसने यही प्रमाणित किया कि दो चार भारतवासियों को गवर्नर आदि बना देने से भारत की आकांक्षाएँ सन्तुष्ट नहीं हो सकतीं। लार्ड सिनहा अपने उच्च पद पर अभिषिक्त होते ही उसी मशीन के कल-पुरजे बन गये जिसे "नौकरशाही" कहते हैं। इसमें उनका कोई दोष न था। दोष था उस प्रणाली का जिसे नष्ट करने के लिए असहयोग-आन्दोलन छिड़ा हुआ है।

संभव है, लार्ड सिनहा यदि गवर्नर न हुए होते, तो उन्होंने अधिक उपयोगी काम किया होता। भारत के अंडर-सेक्रेटरी ऑव् स्टेट के पद पर रहकर उन्होंने वर्तमान शासन-सुधारों का जन्म देने में अपना बहुत सा प्रभाव खर्च किया था। वे इस बात के भी प्रयत्न में थे कि सेना के ऊँचे ऊँचे पद भारतीयों को भी दिये जायँ और यदि उनका ध्यान न बँटा होता, तो उनका प्रयत्न बहुत कुछ सफल हुआ होता। परन्तु जो हुआ सो अच्छा ही हुआ। वह समय गया जबकि देश दो चार भारतीयों को उच्च पद पर आसीन देखकर सन्तुष्ट हो सकता था। अब तो वह उच्च पदों को नहीं, बरन उच्च पद प्रदान कर सकने के अधिकार के लिए लालायित और प्रयत्नशील हो रहा है।

(४) "खादी-पुराण"।

खादी की टोपी पर इतने बार आक्रमण हो चुका है और अब भी हो रहा है कि अब वह एक साधारण सी घटना मालूम होता है। इस एक वर्ष के भीतर किन किन अफ़सरों ने खद्दर के संबंध में कैसे कैसे विचित्र आज्ञापत्र निकाले हैं, किन किन लोगों को खद्दर पहनने के लिए अर्थ-दण्ड दिया गया है, कौन कौन लोग इसी कारण नौकरी से

अलग कर दिये गये हैं--इन सबका पुस्तक-रूप में संग्रह असहयोग-आन्दोलन के साहित्य में स्थायी महत्व की वस्तु होगा। आशा है कि किसी पुस्तक-प्रकाशक का ध्यान इस ओर आकृष्ट होगा।

साधारण जनों की कौन कहे, बड़े बड़े वकीलों को भी शायद यह न मालूम होगा कि इंडियन पैनल कोड में एक दफ़ा है जिसके अनुसार खादी की टोपी (जिसे कई लोग "गांधी-टोपी" कहने लगे हैं) पहनना जुर्म है। बंगाल के ब्राह्मण-बरिया के सब-डिवीज़नल आफ़ीसर मि० टी० एस० इलिस ने इस संबंध में अपनी व्यवस्था देकर अपने क़ानूनी ज्ञान का अच्छा परिचय दिया है। आपने इसी १६ नवम्बर को यह आर्डर निकाला है--

"गवर्नमेंट ने यह निर्णय कर लिया है कि गांधी-टोपी पहनना एक जुर्म है जिसका उल्लेख इंडियन पैनल कोड की २२८ वीं दफ़ा में किया गया है। सब सज्जनों को चेतावनी दी जाती है कि गान्धी-टोपी पहनने वालों पर इस दफ़ा के अनुसार कार्रवाई की जावेगी"।

उक्त दफ़ा २२८ में क्या लिखा है सो पाठकों के सुभीते के लिए नीचे दिया जाता है--

"जो व्यक्ति किसी सार्वजनिक नौकर का, ऐसे समय में जब कि किसी न्याय-कार्य में संलग्न हो, जानबूझकर अपमान करेगा या उसे कोई बाधा पहुंचावेगा उसे ६ महीने तक जेल की सादी सज़ा या १,०००) तक दण्ड, या जेल की सज़ा और दंड, दोनों, दिये जावेंगे।"

मतलब यह कि यदि आप गांधी-टोपी पहनते हैं, तो आप किसी सार्वजनिक नौकर का जानबूझ कर अपमान करते हैं या उसके काम में बाधा पहुँचाते हैं। इस विषय पर अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं।

(५) युवराज के स्वागत का विरोध क्यों किया गया था?

इसके अनेक कारण थे, जिनमें एक यह था कि इस स्वागत से नौकरशाही अनुचित लाभ उठावेगी। स्वागत का अर्थ यह लिया जायगा कि देश सब प्रकार संतुष्ट है, कहीं कोई असन्तोष नहीं है। जिन लोगों ने बम्बई आदि नगरों में युवराज महोदय का स्वागत किया हो या जो उन की शेष यात्रा में करने वाले हों वे ज़रा नीचे लिखे समाचारों को विचार के साथ पढ़ें।

युवराज महोदय बम्बई में पधारे और ब्रिटिश सरकार के कुछ ग्रामोफ़ोनों तथा पुष्ट-पोषकों आदि ने उनके स्वागत की व्यवस्था की। दूसरी ओर, उसी नगर में, उसी दिन, पूरत हड़ताल मनाई गई, इतना ही नहीं, भयंकर झगड़ा हो गया, गोलियाँ तक चलीं और खूब रक्त-पात हुआ। इस सब दृश्य को देखकर भारत की नौकरशाही के कर्णधार वाइसराय सा० सम्राट् महोदय को तार देते हैं--"मैं परम विनीत भाव से श्रीमान् को सूचित करना चाहता हूँ कि ब्रिटिश साम्राज्य के उत्तराधिकारी का बम्बई-नागरिकों ने बड़े ही समारोह एवं राजभक्ति के साथ स्वागत किया"। मतलब यह है कि युवराज के आगमन के उपलक्ष्य में जो हड़ताल मनाई गई या झगड़े हुए वे सब 'समारोह' के भीतर चले गये,

और जिन्होंने स्वागत नहीं किया वे मानों बम्बई के नागरिक ही नहीं थे। इस प्रकार सत्य पर परदा डालने से क्या लाभ होगा इसे वाइसराय सा० ही जानें। सम्भव है, "वर्तमान" के शब्दों में, किसी अंग्रेजी पत्र में यह भी छप जाय कि "युवराज का स्वागत करने के लिए बम्बई की जनता ऐसी दौड़ी कि ३६ आदमी कुचल गये, एक मकान आतिशबाजी से जल गया, चार ट्राम-गाड़ियाँ भीड़ के बीच में कुचलकर चकनाचूर हो गईं और युवराज का यह जोरदार स्वागत देख कर महात्मा गान्धी का दिल टूट गया और इसी रंज में उन्होंने ६ दिन तक खाना नहीं खाया।' अस्तु उपर्युक्त तार का उत्तर सम्राट् महोदय इन शब्दों में देते हैं – "मेरे पुत्र का बम्बई के नागरिकों ने बड़े उत्साह से स्वागत किया यह सुनकर मैं आनन्दित और सन्तुष्ट हुआ हूँ। यह समाचार सुन कर मुझे वे दिन याद आते हैं जब महारानी के साथ मैं दो बार भारत गया था और दोनों अवसरों पर बम्बई के निवासियों ने अपूर्व समारोह के साथ हम लोगों की अभ्यर्थना की थी।"

वाइसराय का ऊपर लिखा तार इस बात को सूचित करता है कि किस प्रकार सम्राट् महोदय को धोखा दिया गया है। अब भी समय है! युवराज का दौड़ा अब भी कई स्थानों में होगा, जिन जिन स्थानों में वे जावें वहाँ ऐसी हड़ताल मनाई जाव कि वाइसराय को विवश होकर यह कहना पड़े कि भारत के हृदय में जो घाव हो गये हैं उन के कारण भारतवासी युवराज का कोई भी स्वागत नहीं कर सके। तथास्तु।

(६) युवराज का इतिहास ज्ञान।

उस दिन प्रिंस ऑव् वेल्स महोदय ने पूना में शिवाजी-स्मारक की नींव डालने के अवसर पर कहा कि शिवाजी राष्ट्रनेता, वीर जाति के जन्मदाता, नये प्राण के संचारक, प्रबल राज्य के निर्माता और न मालूम क्या क्या थे। हमने यह समाचार २४-११-२१ के "आज" में पढ़कर अपने पास बैठे हुए एक विद्यार्थी को सुनाया। वह इकदम बोल उठा—"आप यह क्या कहते हैं! हमारी पुस्तक में तो लिखा है कि शिवाजी 'पहाड़ के चूहे' थे।" बात ठीक है। भारतवर्ष के बच्चों को पढ़ाये जानेवाले अनेक इतिहास-ग्रन्थों में वीरवर शिवाजी के विषय में यही लिखा है। तब प्रश्न यह होता है प्रिंस ऑव् वेल्स महोदय को या तो सच्चे इतिहास का ज्ञान नहीं है, या यदि है, तो क्या हमारे इतिहास-लेखक इस ज्ञान से लाभ उठाने का प्रयत्न करेंगे? हम समझते हैं, यदि शिक्षा-विभाग इस दिशा में प्रयत्न करेगा, तो वह अपने कर्तव्य का पालन-मात्र ही करेगा।

(७) मादक-द्रव्य-निषेध-आन्दोलन की सफलता।

असहयोग-आन्दोलन के साथ साथ मादक-द्रव्य-निषेध का भी आन्दोलन चलता आ रहा है, जिसका एक पहलू शराब की दूकानों पर स्वयं-सेवकों का धरना देना और उन दूकानों पर आने-वाले लोगों को शराब की बुराइयाँ समझाकर उन्हें मद्य-पान से विरत करना है। इस आन्दोलन को देखने के उद्देश से अमेरिका के प्रसिद्ध मद्य-पान-निषेधक नेता पुसीफुट मि० जानसन गत सितम्बर मास में भारतवर्ष पधारे थे। वे स्थान

स्थान में घूमकर इस अपूर्व आन्दोलन को देखते रहे और उनकी दृष्टि में यह आन्दोलन कितना सफल दिखा इसका उल्लेख उन्होंने महात्मा गान्धी को लिखे गये अपने एक पत्र में किया है। यह पत्र उन्होंने भारत से अपने प्रस्थान कर चुकने पर लिखा है और वह इस प्रकार है—

" प्रियवर गान्धीजी,

आपके देश से प्रस्थान करते समय मेरा मन आपके उस आश्चर्य-जनक काम की ओर जाता है जिसे आप भारतवर्ष में मादक द्रव्य-निषेध के लिए, और इस तरह कहना चाहिए, सारे संसार के लिए, कर रहे हैं।

" जिस उद्देश या जिस ढंग से आप यह काम कर रहे हैं उसे छोड़ देने पर भी यह बात बिल्कुल स्पष्ट है कि आपने इस काम में दो वर्षों के भीतर वह सफलता प्राप्त की है जिसे कोई भी मनुष्य, संसार भर में, इतने समय के भीतर, नहीं प्राप्त कर सका है।

" भारत से प्रस्थान करते समय मुझे इस बात का बड़ा खेद हुआ कि मैं आपसे नहीं मिल सका और न आपसे वह कह सका जिसे मैं इस पत्र में लिख रहा हूँ।

" कृपया अपनी धर्मपत्नी और भ्राता से जिन के साथ थोड़ी देर मिलने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ था मेरा उचित अभिवादन कहिए।

जहाज़ पर,
१६ नवंबर, १९२१

आपका स्नेही,
डब्ल्यू. ई. जानसून।"

(८) शान्ति की परीक्षा।

देश-व्यापी धर-पकड़ में असहयोग-आन्दोलन की सफलता के बीज हैं या असफलता के इसे मानों सिद्ध करने के लिए, क़ानून और शान्ति की रक्षा के नाम पर, क़ानून का प्रयोग और अर्थ करने में पूर्ण उच्छृंखलता के साथ काम लिया जा रहा है। ब्रिटिश राज्य में न्याय किस प्रकार किया जाता है यह बहुत पहले प्रकाश में आ चुका है (अन्यथा असहयोग—आन्दोलन का जन्म ही गत वर्ष न हुआ होता); पर न्याय के प्रहसन का रूप इस समय इतना स्पष्ट हो गया है कि जिनकी आँखें और बुद्धि नहीं हैं वे भी देख और समझ सकते हैं। इसीलिए असहयोग-आन्दोलन की शक्ति दिन पर दिन बढ़ती जा रही है। जो कल सरकार के साथ सहयोग करते थे वे आज असहयोग के लिए विवश हो रहे हैं। उदाहरण के लिए, इस समय ऐसा कौन नरमदल वाला पत्र है जो सरकार की वर्तमान दमन-नीति की खुले शब्दों में निन्दा नहीं कर रहा है? प्रकारान्तर से असहयोग आन्दोलन की प्रशंसा हो रही है; और, ये सब शुभ चिह्न हैं। एक समय वह आवेगा जब सरकार की वर्तमान दमन-नीति की अनावश्यकता और अत्यन्त कठोरता को देखकर अंग्रेज भी सरकार से असहयोग करने के लिए विवश होंगे और उस दिन सरकार झुकेगी और पश्चाताप-पूर्ण हृदय से समझौते के लिए प्रयत्नशील होगी; और, तभी कुछ समझौता भी हो सकेगा।

असहयोग-आन्दोलन को दबाने के लिए सरकार की ओर से जो कुछ किया जा सकता है सो सब किया जा रहा है। जेल भेजना तो इस समय

कोई बात ही नहीं है। इस समय देशभक्त भारत-वासियों की ओर से जितने जेलों की माँग है उतने जेल तैयार नहीं हैं और न ब्रिटिश नौकर-शाही के कुशल इंजिनियर उन्हें इस समय तैयार करने में ही समर्थ हैं। अतः बंगाल आदि में जेलों के पुराने क़ैदी अन्यत्र भेजे जा रहे हैं। इस प्रकार जेल में असहयोगियों के लिए आदर-णीय स्थान प्रस्तुत किया जा रहा है। रही भोजन और वस्त्र की बात, सो जो लोग जेल में रहकर बाहर से भोजन मँगा सकते हैं उनके लिए विशेष रोक-थाम नहीं। वस्त्रों के लिए भी, जेल ले जाने के पहले, कहीं कहीं कह दिया जाता है कि अपने ओढ़ने-बिछाने के कपड़े साथ लेते चलो। जेल क्या है, साल भर काम करते रहने से थक जाने वाले देशभक्तों के लिए विश्रामगृह है। कार्य-कर्ता तो सोच रहे थे कि अभी इस वर्ष के अन्त में कदाचित् विश्राम न मिलेगा; पर दयालु भारतसरकार उन्हें जबरदस्ती विश्राम देकर मानों यह सिद्ध कर रही है कि अब तुम्हारा ध्येय-धाम बिलकुल समीप आ गया, अब तुम विश्राम करो। ईसा मसीह के सन् १९२१ ने अपने जीवन में अन्तिम श्वास रहते रहते देख लिया कि महात्मा गांधीजी ने जो इस वर्ष स्वराज्य के लेने का संकल्प किया था सो पूर्ण होने पर आ गया।

पर, जेलों में यथेष्ट स्थान न देखकर तथा यह देखकर कि अब जेल का भय लोगों के हृदयों से इतना निकल गया है कि जेल तीर्थस्थान समझे जाते हैं असहयोगियों के लिए नया दण्ड आविष्कृत किया जा रहा है। कहीं पुलिस दण्डे चलाती है, कहीं सार्जेण्ट मुँह पर घूँसे लगाते हैं, कहीं पंजाब–प्रसिद्ध जानसन के भाई-बंधु निरप-राध बालकों को कोड़े फटकारते हैं। मतलब यह, सरकार ने असहयोग की सफलता देख ली है और अब वह असहयोग को नहीं चलने देना चाहती। इसके लिए पशुबल का प्रयोग किया जा रहा है। शान्त जनता को उभाड़ने के लिए प्रत्येक उपाय का अवलम्बन किया जा रहा है और जिस दिन जनता जरा भी उभड़ी उसी दिन पशुबल विजयी हो जायगा। अतः, इस समय, शान्त और निरुपद्रव रहने की बहुत भारी आवश्यकता है। स्वयंसेवकों आदि को भलीभाँति समझ लेना चाहिए कि आन्दोलन की सारी सफलता शान्ति पर ही निर्भर है। उत्तेजित होने की पूरी सामग्री के रहते हुए भी शान्त बने रहने में ही सफलता है। इस समय शान्ति की परीक्षा ली जा रही है। देवता-गण आत्मबल और पशुबल के इस अपूर्व युद्ध को बड़ी उत्सुकता के साथ देख रहे हैं। विजयश्री किस ओर है इसे दोनों दल वाले देख चुके हैं। जो लोग अभी तक इसलिए तटस्थ थे कि जब यह आन्दोलन सफलता के समीप पहुँचेगा तब, अथवा जब डूबते हुए को तिनके की आवश्यकता होगी तब, हम इसमें योग देंगे उन्हें समझ लेना चाहिए कि उनके योग-दान का यही उपयुक्त अवसर है। यह समय ऐसा है कि कौरवों और पाण्डवों को अपना भेद-भाव छोड़कर "पञ्चोत्तर शत" हो जाना चाहिए।



पुस्तकादि-परिचय।

१-भारत-दर्शन—लेखक, श्रीयुत सुखसम्पतिराय भण्डारी; भूमिका-लेखक, श्रीमान् लाला लाजपतराय; प्रकाशक, श्रीयुक्त जीतमल लूणिया, हिन्दी-साहित्य-मन्दिर, इन्दौर; पृष्ठ-संख्या ३५२; मूल्य २॥)

उक्त प्रकाशक की कुछ पुस्तकों का विज्ञापन कई मास से अनेक हिन्दी पत्रों में छप रहा है। उनमें एक पुस्तक "भारत-दरशन" (दर्शन ?) भी है। विज्ञापन में भूमिका-लेखक का नाम बड़े बड़े अक्षरों में छप रहा है; पर बेचारे लेखक के नाम का पता नहीं। जिसने "सिर्फ़ बर्के उलटकर" पुस्तक पढ़ी और ३३ पृष्ठ की भूमिका लिख दी उसका नाम तो बड़े बड़े अक्षरों में छापा जाता है; पर कई हज़ार पृष्ठों का अध्ययन करके जिस लेखक ने ३५२ पृष्ठ लिखे उसका नाम तक विज्ञापन में नहीं दिया जाता। यह एक अपूर्व सन्मान है जो लूणियाजी अपने लेखकों को दे रहे हैं। यदि केवल "भारत-दर्शन" के लेखक का नाम छोड़ा गया होता, तो शायद हम उसे प्रकाशक की भूल समझकर कुछ न कहते; पर उक्त प्रकाशक ने नियम सा कर लिया है कि पुस्तक के विज्ञापन में केवल भूमिका-लेखक का नाम दिया जाय। तभी तो हम देखते हैं कि "बोल्शेविज़्म" और "असहयोग-दर्शन" के विज्ञापनों में भी केवल भूमिका-लेखकों के नाम ही दिये गये हैं। हाँ, "हिन्दुस्थान का राष्ट्रीय भंडा" पुस्तक में पुस्तक-लेखक की हैसियत से "महात्मा गान्धी" का नाम है। मालूम नहीं, महात्माजी ने ख़ास प्रकाशक के लिए यह पुस्तक लिखी है या प्रकाशक ने लेखक से पूछकर या बिना पूछे ही उनके कुछ लेखों और व्याख्यानों का संग्रह पुस्तक-रूप में कर डाला है। अस्तु। इससे प्रकट होता है कि लूणियाजी अपने विज्ञापन में केवल भूमिका-लेखक का नाम और यदि पुस्तक-लेखक महात्मा गांधी के समान प्रसिद्ध हो, तो उसका नाम देने को तैयार हैं। हमें प्रकाशक से कोई द्वेष-भाव नहीं कि वे इस प्रकार अपनी पुस्तकों का ढिंढोरा पीट रहे हैं। भूमिका-लेखकों के प्रति भक्ति-भाव के अतिरिक्त दूसरा भाव हो ही नहीं सकता। पर, हम प्रकाशक की उस नीति का समर्थन नहीं कर सकते जिसके अनुसार उन्होंने विज्ञापन में केवल भूमिका-लेखक का नाम दिया है। यदि प्रकाशक किसी लेखक को इस योग्य समझते हैं कि वह उनके लिए पुस्तक लिख सकता है और वे उस पुस्तक के इस योग्य समझते हैं कि किसी नेता के द्वारा उसकी भूमिका लिखाई जावे और यदि विज्ञापन में भूमिका-लेखक का नाम देना आवश्यक होता है, तो पुस्तक-लेखक का भी नाम दिया जाय। हाँ, यदि उस नाम के देने से पुस्तक की बिक्री में बाधा पहुँचती हो, तो हमारी सम्मति है कि प्रकाशक अपनी पुस्तकें ऐसे लेखकों से लिखाया करें जिनका नाम प्रकाशित करने में उन्हें संकोच न हुआ करे। अस्तु।

इस "भारत-दर्शन" पुस्तक में बताया गया है कि देश की आर्थिक अवस्था पहले कैसी थी, ईस्ट इंडिया कम्पनी की कुटिल नीति से वह किस प्रकार बिगड़ी तथा इस समय कैसी है। पुस्तक के अन्तिम सवा सौ पृष्ठों में कांग्रेस की उत्पत्ति से लेकर असहयोग आन्दोलन तक का अच्छा विवेचन है। हमारी समझ में, पुस्तक का विषय इतना संक्षिप्त और संकुचित किया गया है कि उससे पुस्तक की रोचकता और प्रभावोत्पादकता पर बुरा प्रभाव पड़ा है। "होम चार्जेज़" सदृश विषय को ४ पृष्ठों में समझाने का असफल प्रयत्न किया गया है। उसमें यह तक नहीं बताया गया कि "होम चार्जेज़" कहते किसे हैं तथा जितना रुपया इस मद में भारत की ओर से दिया जाता है उसका कौन अंश "लूट" है या उस लूट से भारत को कुछ लाभ भी होता है। यही दशा अन्य कई परिच्छेदों की है। लेखक ने अपने कथन की पुष्टि में अनेक प्रामाणिक लेखकों के वचन उद्धृत किये हैं जिससे पुस्तक की उपयोगिता बढ़ गई है। पुस्तक में कुछ अंश ऐसे भी हैं जो इस ढंग से लिखे गये हैं मानों वे लेखक के मौलिक विचार होवें; परन्तु वास्तव में वे शब्दशः उद्धृत किये गये हैं। उदाहरण के लिए, पुस्तक के पृष्ठ १६६ और १६७ पर जो कुछ छपा है उसका अधिकांश, शब्दशः "श्रीशारदा" (वर्ष १, भाग २, पृष्ठ ३८८ और ३८९) के विविध विषयों से लिया गया है; पर लेखक ने इसका उल्लेख करने की आवश्यकता नहीं समझी।

इतना होते हुए भी पुस्तक बहुत समयोपयोगी है। देश को इस समय ऐतिहासिक ज्ञान की बहुत आवश्यकता है और इसकी पूर्ति "भारत-दर्शन" के अध्ययन से, अधिकांश में, हो सकती है।

२-राजसिंह—बाबू बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय के बँगला उपन्यास का हिन्दी-भाषान्तर; अनुवादक, पं० रामानन्द द्विवेदी; मूल्य २); ३ सुन्दर रंगीन चित्र; पृष्ठ-संख्या २८० से कुछ ऊपर (यद्यपि हमारे पास, मूल से, २८० पृष्ठ वाली प्रति भेजी गई है); प्रकाशक, आर. एल. बर्मन कम्पनी, ३७१, अपर चीतपुर रोड, कलकत्ता।

यह एक प्रसिद्ध ऐतिहासिक- उपन्यास है। इसमें इतिहास-तत्व कितना है तथा हिन्दी-अनुवाद कैसा हुआ है यह कहना तो कठिन है; पर पुस्तक को आद्यन्त पढ़ने से यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि उपन्यास अत्यन्त रोचक है। मेवाड़पति महाराणा राजसिंह ने मुट्ठी भर सैनिकों की सहायता से अपने अद्भुत रण-कौशल तथा वीरता के बल पर तत्कालीन भारत-सम्राट् औरंगज़ेब की अपार वीर-वाहिनी के दाँत किस तरह खट्टे किये—यही पुस्तक का प्रधान विषय है। साथ ही, राजपूतों की धर्म-भीरुता, मुसलमानों की कूट-नीति, बेगमों की विलासिता आदि का ऐसा चित्र खींचा गया है कि देखते ही बनता है। पुस्तक में ग्रन्थकार का लेखन-कौशल पूर्ण रीति से झलकता है। आशा है, उपन्यास-प्रेमी पाठक इसे पढ़कर अवश्य प्रसन्न होंगे।

३. स्वाभाविक जीवन—लेखक और प्रकाशक, पण्डित हनुमत्प्रसाद जोशी वैद्य, आरोग्याश्रम, १९२-२००, कालबा देवी रोड, बम्बई; पृष्ठ-संख्या २००; मूल्य १।।=)

जड़वाद के वर्तमान युग में जब कि अपने को सभ्य मानने वाले मनुष्य-मात्र के आचार-विचार, आहार-विहार, आदि सब कृत्रिमता के बन्धनों में जकड़ रहे हैं, जर्मनी देश के एक कोने से आवाज़ आती है कि इस आधुनिक सभ्यता को छोड़कर जीवन की सरलता की ओर मुड़ो। डाक्टर जस्ट की यह आवाज़ अंग्रेज़ी-साहित्य-संसार में प्रतिध्वनित होती है और वहाँ से वह भारतवर्ष के गुजराती-संसार में पहुँचकर अब हिन्दी-संसार में, प्रस्तुत पुस्तक के रूप में, सुनाई पड़ती है। भारतवर्ष आधुनिक सभ्यता की धारा में कितनी ही दूर क्यों न बह गया हो अपने को प्राचीन ऋषि-महर्षियों की सन्तान कहने और मानने में अब भी गौरव मानता है। यद्यपि हमारे यहाँ के नगर-निवासियों का जीवन, विदेशी सभ्यता के संसर्ग से, नितान्त कृत्रिम हो रहा है और यह कृत्रिमता देहातों में भी घुस रही है, तथापि सरलता की दिशा में सुधार की आशा अभी बिल्कुल ही नहीं जाती रही है। महात्मा गांधी, कविवर रवीन्द्रनाथ आदि का ऋषि-तुल्य सरल जीवन शिक्षित समुदाय को पुनः उसी सरलता की ओर ले जा रहा है। ऐसे समय में जड़वाद के पुजारी जर्मनी देश की यह आवाज कि ऋषि-मुनियों के सरल जीवन की ओर चलो अवश्य ही हमारे "अप-टू-डेट" देशभाइयों के नेत्र खोल देगा।

प्रस्तुत पुस्तक बहुत अच्छे समय पर प्रकाशित हुई है। इसमें प्रकृति के उपदेश, स्वाभाविक स्नान, हमारे वस्त्र, मिट्टी का रोगनाशक उपयोग, स्वाभाविक भोजन आदि पर २१ परिच्छेद हैं जिनमें ऐसी ऐसी बातें बताई गई हैं जिन्हें या जिनमें से अनेक को मनुष्य अपने प्रतिदिन के जीवन में सम्मिलित कर रोग-शोक से निवृत्त होकर सुख-शान्ति की वृद्धि करता तथा डाक्टरों के लम्बे-चौड़े बिलों से त्राण पाता हुआ दीर्घ जीवन प्राप्त कर सकता है। दरिद्र भारतवर्ष के लिए सरल जीवन की बड़ी आवश्यकता है। हमारा विश्वास है, प्रस्तुत पुस्तक इस कार्य में बहुत सहायक होगी। यह पुस्तक हिन्दी में एक अनुभवी वैद्य की लेखनी से प्रसूत हुई है, इससे पुस्तक की उपयोगिता और प्रामाणिकता और भी बढ़ गई है। पुस्तक की भाषा सरल और स्वच्छ है। बड़ी भारी विशेषता तो यह है कि अंग्रेज़ी से अनुवादित किये जाने पर भी इसकी भाषा, विचार आदि में अंग्रेज़ीपन नहीं आया है।

लेखक ने प्रकृति से यहाँतक मिलने-जुलने को कहा है कि मनुष्य को दिगम्बर रहना चाहिए। हम लोग इतनी दूर न जाकर मध्य मार्ग स्वीकार करके अर्थात् वस्त्रों के सम्बन्ध में अपनी आवश्यकताओं को कम करके, उदाहरणार्थ, धोती और कुरता पहन करके बहुत सुखी हो सकते हैं। दूसरी बात जो इस पुस्तक के कई पाठकों को खटक सकती है वह यह है कि लेखक ने पशु-पक्षियों की रहन-सहन का अनुकरण करने का उपदेश दिया है। यद्यपि मनुष्य पशु-पक्षियों के सरल जीवन की अधिकांश सरलता अपने जीवन में सम्मिलित कर सुखी हो सकता है; पर यह कोई कारण नहीं है कि पशु-पक्षियों के रहन-सहन, आहार-विहार आदि की बिल्कुल नकल ही की जाय। ऐसा करने से बुद्धि के विकाश के लिए क्षेत्र ही न रह जायगा। एक बात और है। लेखक ने जहाँ युक्तियों से काम लिया है वहीं यदि वे तर्क और प्रमाण का उपयोग करते तथा प्रतिपक्षियों के कथन का खण्डन करते, तो उनका विवेचन और भी सबल हो जाता। लेखक ने सर्वाधारा पृथ्वी के संसर्ग में रहने का जो उपदेश दिया है वह और भी हृदयग्राही हो जाता यदि कीटाणुओं के सम्बन्ध में जो आधुनिक सिद्धान्त प्रचलित है उनका, प्रमाण और तर्क से, खण्डन किया जाता। इस प्रकार की कुछ चिन्त्य बातों के रहते हुए भी पुस्तक अत्यन्त उपयोगी है और मनुष्य-मात्र के पढ़ने और विचार करने-योग्य है।

४-जर्मनी में लोक-शिक्षा—अनुवादक, श्रीयुत

पशुपाल वर्म्मा; प्रकाशक, श्रीमध्य भारत–हिन्दी-साहित्य-समिति, इन्दौर; पृष्ठ-संख्या लगभग २२०; मूल्य ॥।); छपाई सुन्दर, कागज़ अच्छा।

होलकर हिन्दी-ग्रन्थ-माला का यह सातवाँ ग्रन्थ है। इसमें जर्मनी की शिक्षा-प्रणाली तथा उससे सम्बन्ध रखनेवाली अनेक बातों का वर्णन बड़े अच्छे ढंग से किया गया है। मूल पुस्तक मराठी में है। उसके लेखक श्रीयुत पाण्डुरंग दामोदर गुणे, एम. ए., पी. एच. डी. महाशय हैं जो इस समय पूने के फर्ग्युसन कालिज में प्रोफ़ेसर हैं।

आपने यह पुस्तक घर बैठे, दूसरी पुस्तकों के आधार पर, नहीं लिखी है, वरन् आपने जर्मनी जाकर स्वयं अपनी आँखों से वहाँ की पाठशालाओं, कालेजों और विश्वविद्यालयों को देखा, वहाँ के शिक्षकों, अध्यापकों और शिक्षा-शास्त्र के धुरन्धर आचार्यों से वहाँ की शिक्षाप्रणाली पर घण्टों वाद-विवाद किया, और शिक्षा-शास्त्र-विषयक वहाँ के ग्रन्थों का विशेष मनन किया, और तब इस ग्रन्थ को लिखा है। अब पाठक समझ सकते हैं कि उनका यह ग्रन्थ कितना उपयोगी न होगा।

इस ग्रन्थ में सबसे बड़ी बात यह है कि लेखक ने जर्मनी की शिक्षा-प्रणाली का दिग्दर्शन-मात्र करके ग्रन्थ समाप्त नहीं कर डाला है; किन्तु उपसंहार में, लगभग ५० पृष्ठों में, भारत की शिक्षा-प्रणाली पर भी विचार किया है और बतलाया है कि भारत को किस प्रकार की शिक्षा–प्रणाली की आवश्यकता है। यद्यपि आपने यह विचार केवल महाराष्ट्र प्रान्त को लक्ष्य करके किया है तथापि उससे अन्य प्रान्त भी लाभ उठा सकते हैं।

अनुवाद अच्छा हुआ है। लेखक के विचार समझ में आ जाते हैं। सिर्फ़ एक कठिनाई हल करने को रह गई है और वह यह कि पुस्तक में जर्मन भाषा के पारिभाषिक शब्द जगह जगह आये हैं जो केवल हिन्दी जाननेवाले पाठकों की समझ में बिलकुल नहीं आ सकते। यदि वह त्रुटि दूसरे संस्करण में हटाई जा सके, तो पुस्तक का महत्व और भी बढ़ जावे।

सामयिक पत्रादि-परिचय।

१–मारवाड़ी-सुधार—यह एक सचित्र मासिक पत्र है। आरा की मारवाड़ी–सुधार–समिति द्वारा प्रकाशित होता है। सम्पादक हैं बाबू शिवपूजनसहाय। प्रत्येक अंक में, श्रीशारदा के आकार के, ३२ पृष्ठ रहते हैं। वार्षिक मूल्य ३) है।

अभी इसके ४ अंक निकले हैं। चौथा अंक इस समय हमारे सामने है। इसमें मारवाड़ी–समाज से सम्बन्ध रखने वाले अनेक लेख हैं। सभी लेख सुपाठ्य हैं। सम्पादन योग्यता-पूर्वक होता है। वाणिज्य-व्यवसाय की बातों का अपने कलेवर में आलिंगन कर यह पत्र और भी उपयोगी होगा। इसकी सबसे बड़ी बात तो यह है कि यह मारवाड़ी-समाज के लिए उपयोगी होता हुआ भी सर्व--साधारण के लिए पठनीय है।

२–युगान्तर—यह साप्ताहिक पत्र ७ सप्ताह से गोरखपुर से निकल रहा है। वार्षिक मूल्य ३) है। इस समय हमारे सामने उसका "चर्खांक" है जो विजयादशमी के अवसर पर निकाला गया है। इसमें चरखे से सम्बन्ध रखने वाले अनेक गद्य-पद्यमय लेख हैं। चरखे के इस युग में ऐसा अंक निकालना बहुत अच्छा हुआ है। लेखों में विशेष महत्वपूर्ण लेख ' चरखे की औद्योगिक उपयोगिता " है। "चरखा और अर्थशास्त्र" भी बुरा नहीं; पर उसमें अंग्रेज़ी के अनुवाद की गन्ध आती है।

३–वैदिक धर्म—अर्थात्, वैदिक-तत्व-ज्ञान-प्रचारक मासिक पत्र; सम्पादक और प्रकाशक, श्रीयुक्त श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, स्वाध्याय-मण्डल, औंध, ज़िला सातारा; वार्षिक मूल्य ३॥)

लगभग दो वर्षों से यह मासिक पत्र प्रकाशित हो रहा है। वेद के पढ़ने और पढ़ानेवालों का इस समय अभाव-सा हो रहा है। ज्ञान के भण्डार वेदों के प्रति शिक्षित जनता की यह उदासीनता शोचनीय है। अतः ऐसे समय में, श्रीयुत सातवलेकरजी का हिन्दी में ऐसा मासिक पत्र निकालना, जो वैदिक ज्ञान को जटिलता से बाहर निकालकर सरल रूप में रखे, अत्यन्त प्रशंसनीय कार्य है। वेदमंत्रों की व्याख्या बहुत सरल और सुबोध भाषा में लिखी जाती है। इतना ही नहीं, उन मंत्रों के आधार पर भौतिक और आध्यात्मिक उन्नति का जो मार्ग प्रदर्शित किया जाता है वह सर्वथा नवीन और उपयोगी होने के साथ ही विद्वान् सम्पादक के प्रगाढ़ वेदाध्ययन का परिचय देता है। हमारा अनुरोध है, अपने को आर्य कहने वाले हिन्दी–भाषा-भाषी प्रत्येक मनुष्य को "वैदिक धर्म" का अध्ययन और तदनुसार आचरण करना चाहिए।

जिन पुस्तकों के नाम नीचे लिखे हैं वे भी मिल गई हैं। भेजने वाले महाशयों को धन्यवाद।

१. साध्वी सुलोचना—लेखक, श्रीयुत प्रेमदास वैष्णव, माखाभाई, जयपुर। मूल्य ।)

२. **वीर-पुष्पाञ्जलि**—प्रकाशक, कुमार देवेन्द्रप्रसाद, प्रेम-मन्दिर, आरा; मूल्य ।)

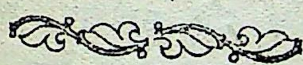
३. **हिन्दी की तीन पुस्तकें**—राष्ट्रीय विद्यालयों की पहली, दूसरी और तीसरी कक्षा के लिए; लेखक, पं० रामनरेश त्रिपाठी; प्रकाशक, हिन्दी-रत्नमाला-कार्यालय, प्रयाग। मूल्य क्रमात् =), ≡) और ।–)

४. **स्वामी विवेकानन्द और उनकी वाणी**—प्रकाशक, बाबू श्यामलाल वैश्य पाण्डवीय, मुरार, ग्वालियर। मूल्य-" जीवमात्र को विवेक "।

५. **स्वामी रामतीर्थ**—लेखक, पं० (?) श्यामलाल वैश्य पाण्डवीय, मुरार, ग्वालियर; मूल्य =)

६. **मध्यप्रान्तीय चौथे हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, जबलपुर, का सम्पूर्ण कार्य-विवरण और लेखमाला**—पं० बालमुकुन्द त्रिपाठी द्वारा लिखित तथा सम्पादित और स्वागतकारिणी समिति द्वारा प्रकाशित; पृष्ठ-संख्या १०६; मूल्य १)

७. **मगध का प्राचीन इतिहास**—लेखक, पं० रामशरण उपाध्याय; प्रकाशक, यंग मदर्स एन्ड को०, कल्याणी, मुजफ्फरपुर; पृष्ठ-संख्या, ८८; मूल्य, छै आने।



राष्ट्रीय हिन्दी-मन्दिर की प्रबन्ध-समिति।

ता:—२७-८-२१ (पाँच बजे सन्ध्या-काल)

स्थान – गोविन्दभवन।

उपस्थितः—

१. श्री० बाबू गोविन्ददासजी (सभापति), २. बाबू मोतीलालजी भुरा, ३. बाबू रामचन्द्रजी संघी, ४. बाबू तुलसीदासजी, और ५. पं० नर्मदाप्रसादजी मिश्र।

(१) मंत्री ने गत अधिवेशनों की कार्यवाही पढ़कर सुनाई और वह दसवें प्रस्ताव में "पूर्व निश्चय के अनुसार" शब्द जोड़े जाने के पश्चात् स्वीकृत हुई।

(२) सदस्य होने के इच्छुक १२ सज्जनों के आवेदन-पत्र उपस्थित किये गये और सर्वसम्मति से यह स्थिर हुआ कि वे सज्जन अवश्य सदस्य चुन लिये जायँ।

(३) पं० द्वारकाप्रसादजी मिश्र के स्थान में अन्य कर्मचारी की नियुक्ति के सम्बन्ध में यह स्थिर हुआ कि यह विषय आगामी गुरुवार तक के लिए स्थगित रखा जाय।

(४) गत चार मास का आय-व्यय उपस्थित किया गया और उसके सम्बन्ध में निश्चय हुआ कि वह आगामी गुरुवार की बैठक में कैशबुक, बिल और वाउचर की फ़ाइलों के साथ रखा जाय।

(५) शहर में प्लेग फैल रहा है इसके लिए यह स्थिर हुआ कि कार्यालय हेल्थ केम्प में उठा लिया जाय और कार्यालय के लिए अधिक से अधिक छै टीन म्युनिसिपैलिटी से लेकर झोपड़ियाँ बनाई जावें।

प्रत्येक चपरासी को झोपड़ियाँ बनाने के लिए सात सात रुपया और ३०) तक मासिक वेतन पानेवालों को बारह बारह रुपया दिया जाय। ३०) से अधिक वेतन पानेवाले कर्मचारियों को, यदि वे चाहें तो, उनके आधे मास तक का वेतन अग्रिम दिया जाय और वह उनके आगामी ३ मास के वेतन में मुजरा कर लिया जाय।

(६) पुस्तकालय-समिति का १३-८-२१ का कार्य-विवरण सूचनार्थ उपस्थित किया गया। उसके सब प्रस्ताव, चौथे और छठवें को छोड़कर, स्वीकृत किये गये। चौथे प्रस्ताव के सम्बन्ध में यह स्थिर हुआ कि पुस्तकालय-समिति से प्रार्थना

की जाय कि वह यह सूचित करने की कृपा करें कि जो २५) प्रति मास का व्यय वह करना चाहती हैं वह किन किन मद्दों में हुआ करेगा। छठवें प्रस्ताव में जिस चन्दे का उल्लेख है वह चन्दा न लिया जाकर, पुस्तकालय और वाचनालय, पहले केसमान निःशुल्क रीति से चलाये जावें।

सभापतिजी को धन्यवाद दे सभा विसर्जित हुई।

स्थगित अधिवेशन।

स्थान—गोविन्दभवन।

समय—४ बजे सायंकाल, ता:- १-९-२१

उपस्थित—१ श्री० बाबू गोविन्ददासजी (सभापति), २ पं० माधवरावजी सप्रे, और ३ पं० नर्म्मदाप्रसादजी मिश्र।

कोरम पूरा होते हुए भी, विषय के महत्व के कारण, अधिक सज्जनों की उपस्थिति के लिए ठहरना उचित समझा गया। १ घंटा ठहरने पर भी जब उपस्थिति नहीं बढ़ी, तब अधिवेशन स्थगित किया गया।

विशेष अधिवेशन।

स्थान—गोविन्दभवन।

समय—४ बजे सायंकाल, ता:- ६-९-२१

उपस्थित—१ श्री० बाबू गोविन्दासजी (सभापति), २ पं० हरप्रसादजी पांडेय और ३ पं० नर्म्मदाप्रसादजी मिश्र।

१-पिछली बैठकों का कार्य-विवरण सुनाया गया और वह सर्व-सम्मति से स्वीकृत हुआ।

२—गत २७-८-२१ की बैठक में स्थिर हुआ था कि कार्यालय हेल्थ कैंप में उठाया जाय, पर इस समय जो वर्षा हो रही है उसे देखकर यह निश्चय करना पड़ा कि कार्यालय अभी गोविन्दभवन में उठाया जावे।

३—स्थायी सभा में जो कमेटियाँ बनाई गई हैं उनके द्वारा कार्यालय के कुल हिसाब आदि की जाँच किस प्रकार की जाय इसके सम्बन्ध में स्थिर हुआ कि कमेटियाँ हिसाब की जाँच यहीं गोविन्द-भवन में आकर कर सकेंगी; परन्तु स्टाक मिलाने के लिए वे गोपालनिवास में ही जाकर जाँच करें; क्योंकि कार्यालय का कुल सामान स्थानान्तरित करने में विशेष कठिनाई है।

प्रबन्ध-समिति।

साधारण अधिवेशन।

स्थान – गोविन्दभवन।

समय—४ बजे सायंकाल, शनिवार, ता: १५-१०-२१ (आश्विन शुक्ल १४, सं० १९७८)

उपस्थित—(१) श्री० बाबू गोविन्ददासजी (सभापति), (२) पं० मनोहरकृष्णजी गोलवलकर, (३) पं० हरप्रसादजी पाण्डेय, (४) पं० नर्म्मदाप्रसादजी मिश्र।

(१) राष्ट्रीय हिन्दी-मन्दिर के गत वार्षिकोत्सव का कार्य-विवरण उपस्थित किया गया और निश्चय हुआ कि उसे छपाकर प्रकाशित करने की व्यवस्था की जाय।

(२) बाबू तुलसीदासजी ने बाबू मोतीलालजी पर मानहानि की जो नालिश की है उसके सम्बन्ध में बाबू मोतीलालजी का पत्र उपस्थित

किया गया और सर्व-सम्मति से यह निश्चय हुआ कि बाबू तुलसीदासजी और बाबू मोतीलालजी का यह व्यक्तिगत झगड़ा है । इसके सम्बन्ध में विचार करना प्रबन्ध-समिति के कार्य-क्षेत्र के बाहर की बात है; अतः स्थायी या प्रबन्ध-समिति में इसपर कुछ भी विचार नहीं किया जा सकता ।

(३) "अमेरिकन संयुक्त-राज्य की शासन-प्रणाली" के लेखक बाबू देवीप्रसादजी गुप्त का ६-१०-१९२१ का लिखा हुआ पोस्टकार्ड, जिसमें उन्होंने लिखा था कि उक्त पुस्तक की जितनी प्रतियाँ पूर्व निश्चय के अनुसार मुझे मिलनी चाहिए उतनी मुझे प्राप्त हो जाने पर मैं अधिकार-पत्र लिखकर दूँगा, उपस्थित किया गया। इसके सम्बन्ध में यह निश्चय हुआ कि गुप्तजी को लिखा जाय कि शारदा-पुस्तक-माला के लेखकों से अधिकार-पत्र जिस रूप में और जिस प्रकार लिखाया जाता है वे (गुप्तजी) उस रूप में और उस प्रकार अधिकार-पत्र लिख देने की कृपा करें, और तब उन्हें पुस्तक की निश्चित प्रतियाँ दी जावें ।

यह भी निश्चय हुआ कि भविष्य में लेखकों से अधिकार-पत्र पहले लिखा जाया करे, पीछे पुरस्कार या प्रतियाँ दी जाया करें ।

(४) राष्ट्रीय हिन्दी-मन्दिर के सदस्य होने के इच्छुक २१ सज्जनों के आवेदन-पत्र उपस्थित किये गये, और निश्चय हुआ कि ये पत्र यथा-नियम स्थायी समिति में रखे जावें ।

(५) भण्डारा के श्रीमान् गणपतिरावजी ने राष्ट्रीय हिन्दी मन्दिर को ५,०००) का दान देने का वचन दिया है अतः सर्व-सम्मति से स्थिर हुआ कि उन्हें राष्ट्रीय हिन्दी-मन्दिर का संरक्षक बनाने का प्रस्ताव स्थायी सभा में, अनुमोदन के लिए, रखा जावे ।

(६) निश्चय हुआ कि बाबू तुलसीदासजी को २६ दिनों की, अर्थात् १ सितम्बर से २६ सितम्बर, १९२१, तक की, बिना वेतन की, छुट्टी दी जाय ।

(७) पं० सीतारामजी ने १३ दिनों की जो छुट्टी माँगी थी उस पर सहानुभूतिपूर्वक विचार किया गया और निश्चय हुआ कि पं० शालग्रामजी द्विवेदी के प्रयाग से लौट आने पर उन्हें आठ दिनों की आवश्यक छुट्टी दी जाय ।

(८) प्रबन्ध-समिति के मंत्री ने अगस्त तथा सितम्बर, १९२१ के कार्य के सम्बन्ध में अपनी रिपोर्ट पढ़कर सुनाई और उसके कुछ विचारणीय विषयों का निर्णय इस प्रकार हुआः—

विषय ।	निर्णय ।
८००) का प्रबन्ध शीघ्र किया जाय ।	यू० राय एंड सन्स को देने के लिए ३००) तो श्रीमान् बाबू गोविन्ददासजी १७-१०-२१ को देंगे । शेष रुपया दानदाताओं के पास से वसूल करने का प्रयत्न किया जाय ।
एक कर्मचारी की नियुक्ति ।	यह नियुक्ति अभी, कुछ समय तक, न की जाय ।
प्लेग होने के कारण पुस्तिकाएँ लिखाने के मार्ग में कठिनाइयाँ ।	पुस्तिकाएँ प्रकाशित तो अभी न की जावें; परन्तु उन्हें लिखाने का प्रयत्न अवश्य किया जावे ।

आन [illegible] का लेखा किन   अब वह लेखा प्रकाशित किन कारणों से अभीतक [illegible]या जावे। प्रकाशित [illegible]हीं हो सका है।

(९) पं० सीतारामजी को दो मासके लिए जो प्रबन्ध-कार्य सौंपा गया था उसके सम्बन्ध में मंत्री ने कहा कि अब उन्हें प्रबन्धक का पद स्थायी रूप से दे दिया जावे। इसपर समिति का निर्णय हुआ कि जबतक जाँच-कमिटियों की रिपोर्ट न आजावे, तबतक स्थायी रूप से इस नियुक्ति के सम्बन्ध में कोई विचार न किया जावे। पं० सीतारामजी जो कार्य करते आरहे हैं उसे वे अभी करते जावें।

सभापति महोदय को धन्यवाद दे सभा विसर्जित हुई।

पुस्तक-प्रकाशन खाते का आय-व्यय, माह अप्रैल से सितम्बर १९२२ ई० तक।

पुस्तक-प्रकाशन खाते का आय-व्यय, माह अप्रेल से सितम्बर १९२१ ई० तक।

विवरण	पूँजी			विवरण	संख्या	तैयार माल का मूल्य			दर	मूल्य			संख्या	बिक्री से वसूल			संख्या	बाकी जमा क़ीमत		
	रु०	आ०	पा			रु०	आ०	पा		रु०	आ०	पा		रु०	आ०	पा		रु०	आ०	पा
"मुहम्मद" ...				"मुहम्मद" सजिल्द ...	५००	३६६)		।।।	१=)	४६२	।।)		१११	१२४	।।।≈)		३८६	४३७	।।=)	
खेल-पुरस्कार ...	१००)																			
स्टेन्डर्ड प्रेस इलाहा-				सादी ...	५००	३०२	।)	।।।	।।।=)	४३७	।।)		७२	६३			४२८	३७४	।।)	
बाद का बिल ...																				
काग़ज़ १२ रीम ७३८	२५४	=)																		
छपाई ...	१४६)																			
सजिल्द बँधाई ...	१२५)																			
सादी ,, ...	३१	।)																		
फु-कर पेकिंग ख़र्च																				
आदि ...	१८	=)																		
रेलमहसूल वी. पी.																				
ख़र्च ढुलाई ...	१०	।।।)																		
इलाहाबाद जाने आने																				
का ख़र्चा ...	१	।।।-)	।।																	
	६६८	।-)	।।		१०००	६६८	।-	।।		१०००			१८३	१८७	।।।≈)		८१७	८१२	≈।	

पुस्तक प्रकाशन-खाते का आय-व्यय, माह अप्रेल से सितम्बर १९२१ ई० तक।

विवरण	पूँजी	विवरण	संख्या	तैयार माल का मूल्य	दर	मूल्य	संख्या	बिक्रीसे वसूल	संख्या	बाक़ी जमा क़ीमत
"अमरीकन संयुक्त राष्ट्र की शासन-प्रणाली"		अमरीकन संयुक्त राष्ट्र की शासन-प्रणाली —								
लेख-पुरस्कार —	२५०	सजिल्द ७५०—								
लेखक को १०० कापी देना —		लेखक को पुरस्कार में दीं ७५	६७५	७४३ ।=)	॥ १॥-)	११०४ ॥≡)	८०	१२५)	५६५	६२६ ॥≡)
काग़ज़ १५-३-२ —	२८० ॥।≡) ॥	सादी—२५०								
छपाई —	१७५ ॥)	लेखक को पुरस्कार में दीं २५	२२५	२०० ॥।≡)	१।)	२८१ ।)	५५	६८ ॥।)	१७०	२१२ ॥)
सजिल्द बँधाई —	२१० ॥।=)									
सादी „ —	२३ ।=)									
ढुलाई आदि खर्च —	३ ॥)									
	६४४ ।-) ॥		९००	६४४ ।-)	॥	१३८५ ॥।≡)	१३५	१९३ ॥।	७६५	११४२ ≡)
		कुल लाभ ६६॥।)		१६४२ ॥≡)		२२८५ ॥।≡)		३८१ ॥=)		१६५४ ।-
		भेट में और समालोचना के लिए दी गईं पुस्तकें — ६०)		६ ॥।)		स्थायी ग्राहकों को पाव मूल्य की रियायत		१०७ ॥।=) ॥।		४८८ ॥- ।
								२७३ ॥=) ।	वसूल	१४६५ ॥=) ॥।
										२७३ ॥=) ।
										१७३९ ।= ०

उत्कण्ठा ।

(लेखक — [illegible])

स्नेहमयी ! अब देर नहीं ।

[illegible]

मेरा [illegible] देखा

[illegible]

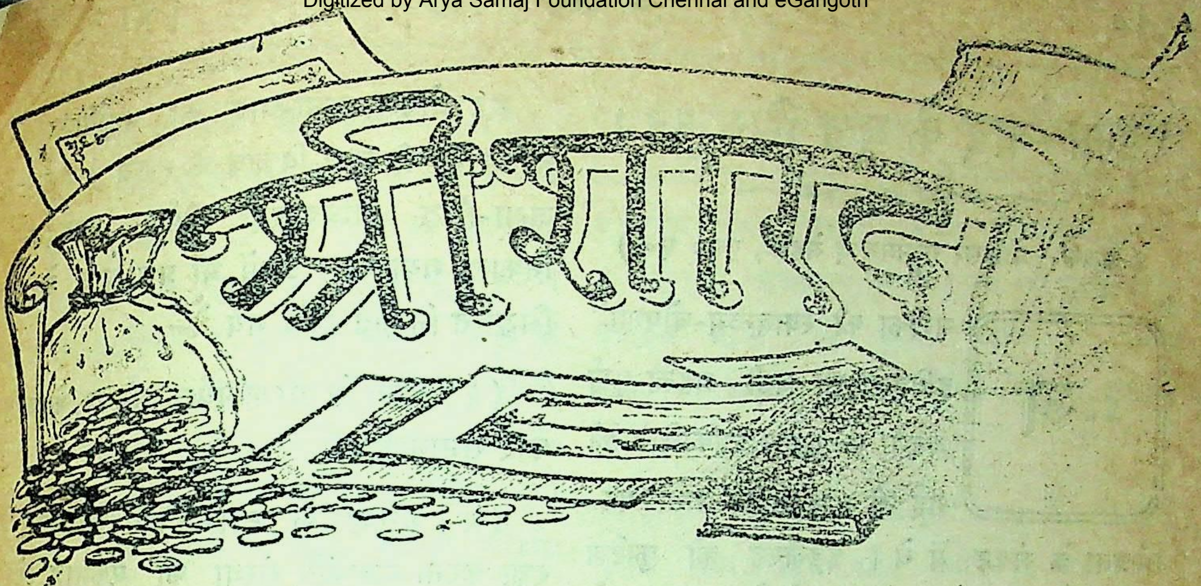
स्नेहमयी ! अब देर नहीं ।

[illegible]

स्नेहमयी ! अब देर नहीं ।

[illegible]

स्नेहमयी ! अब देर नहीं ।



साहित्य-तथा-राजनीति-संबंधी-विविध-विषय-विभूषित सचित्र मासिक पत्रिका ।

वर्ष २, खण्ड २] मार्गशीर्ष, शुक्ल प्रतिपदा १९७८ * दिसंबर, १९२१ [संख्या ३, पूर्ण संख्या २१

उत्कण्ठा ।

(लेखक—'राष्ट्रीय हृदय')

स्वतन्त्रते ! अब धैर्य्य नहीं ।

हैं मंदिर के निकट आ गये
(आगे बढ़े कि तुझे पा गये)
तेरा प्रकाश देखा
ज्यों चारु चन्द्र लेखा
चित्त रम गया सहज वहीं
स्वतन्त्रते ! अब धैर्य्य नहीं ।

इसीलिए अति उत्सुकता है
और भर गई भावुकता है
आपत्तियाँ पधारें
मारें तथा उबारें
यहाँ नहीं है आह कहीं
स्वतन्त्रते ! अब धैर्य्य नहीं ।

अब बस प्रतिक्षण यह उमंग है
कल्लोलित लालसा-गंग है
तेरी सदर्चना में
हों लीन वंदना में
समय यही है, क्षेत्र यही
स्वतन्त्रते ! अब धैर्य्य नहीं ।

रत्न-राशि ला रत्नाकर से
विष विपद्द-हित गरलाकर से
दुखमय दासता हटा,
तेरी रमणीय छटा—
छिटके, आँखें ललक रहीं
स्वतन्त्रते ! अब धैर्य्य नहीं ।

प्रजा-वाद के मूल सिद्धान्त ।

(लेखक—प्रोफ़ेसर गङ्गाप्रसाद मेहता, एम० ए०)

"अमरीका की स्वातन्त्र्य-घोषणा" इतिहास की बड़ी महत्व-पूर्ण घटना के समय प्रकाशित की गई थी । अमरीका-वासी परतन्त्रता के संकट में थे । इङ्गलैण्ड की कुटिल नीति और स्वच्छन्द व्यवहार से वे तङ्ग आ गये थे । उस जीवित जाति ने स्वाधीन होने के लिए कमर कस ली, स्वतन्त्रता की डंके की चोट घोषणा कर दी । प्रजा-वाद के मूल सिद्धान्त निश्चित कर उन्हें एक लेख में सुवर्णाक्षरों में अङ्कित कर उन्होंने स्वतन्त्रता का भाव सारे जगत् में आघोषित कर दिया । उस लेख का अजर एवं अमर महावाक्य इस प्रकार है:—

" हम इन बातों को स्वतःप्रमाण मानते हैं कि सारे मनुष्य समान अधिकारों के साथ पैदा हुए हैं; ईश्वर ने उन्हें ऐसे अधिकारों से सम्पन्न किया है जो उनसे जुदा नहीं किये जा सकते । जीवन, स्वाधीनता और सुख-प्राप्ति ही वे अधिकार हैं जिन्हें सुरक्षित रखने ही के लिए शासन-प्रणालियाँ, जिन्हें प्रजा की मर्ज़ी से ही समुचित शक्तियाँ प्राप्त हुई हैं, सर्वत्र स्थापित की गई हैं ।" 1

यह घोषणा प्रजा-वाद का महावाक्य है। फ्रान्स में भी राष्ट्र-विप्लव के समय "मनुष्य के जन्म-सिद्ध अधिकार" शीर्षक आवेदन-पत्र निकाला गया था । उसमें भी प्रजा वाद के मूल सिद्धान्त निर्णीत किये गये थे—

(१) जन्म से मरण-पर्यन्त मनुष्य के अधिकार समान हैं ।

(२) मनुष्य के स्वाभाविक अधिकारों की रक्षा करना राजकीय संस्था का एकमात्र उद्देश्य है । स्वाधीनता, धन, योगक्षेम (Security of life and property), और अत्याचार का विरोध—ये ही मनुष्य के स्वाभाविक अधिकार हैं ।

(३) राजत्व-धर्म (The Sovereignty of the people) वस्तुतः राष्ट्र ही में है। कोई भी व्यक्ति वा जन-समुदाय राष्ट्र से बिना प्राप्त किये शासन का अधिकारी नहीं हो सकता ।

(४) क़ानून बनाने में स्वयं अथवा प्रतिनिधियों द्वारा अनुमति देने का अधिकार सारी प्रजा को प्राप्त है । क़ानून की निगाह में समान होने के कारण सभी ऊँची उपाधियाँ, पदवियाँ और अधिकार सबके लिए समान रूप से सुगम होना चाहिए । अपने धर्म और मत के लिए किसी भी व्यक्ति की स्वतन्त्रता में बाधा न पड़नी चाहिए ।

यह आवेदन-पत्र भी बड़े महत्व का है । प्रजा-वाद की दृष्टि से इसका एक एक वाक्य वेदमन्त्र की नाईं आदरणीय है । दोनों लेखों में कुछ वाक्य-भेद है; किन्तु भाव एक ही हैं । इन भावों की सविस्तर आलोचना करनी प्रजा-वाद के समझने के लिए आवश्यक है ।

(1) " We hold these truths to be self-evident, that all men are created equal, that they are endowed by their creator with certain inalienable Rights, that among these are Life, Liberty, and the Pursuit of Happiness, that to secure these rights, Governments are instituted, deriving their just powers from the consent of the Governed " (American Declaration of Independence, 1776)

प्रत्येक व्यक्ति जन्म से स्वतन्त्र है । स्वयं विचार और कर्म करने की शक्ति से वह सम्पन्न है । अपनी इच्छा के प्रतिकूल दूसरे की अधीनता में रहना प्रकृति के विरुद्ध है । सबको सुखोपभोग का समान अधिकार है; क्योंकि मनुष्य जन्म से समान गुण और योग्यता से सम्पन्न है । इसलिए इस अधिकार की रक्षा करने में समाज के अवयव-रूप मनुष्य को अपनी स्वाधीनता स्थिर रखने के लिए शासन-कार्य्य में सबके बराबर हिस्सा मिलना चाहिए । समानाधिकार स्वतन्त्रता का एकमात्र आधार है । जहाँ किसी व्यक्ति वा वर्ग को विशेष अधिकार मिले वहीं उसने दूसरों पर अपना प्रभुत्व जमाकर स्ववश कर लिया । सब के लिए समान अधिकार, निष्पक्ष न्याय, आत्मोन्नति के लिए समान सुविधाएँ मिलें, तभी व्यक्ति एवं राष्ट्र स्वतन्त्र कहे जा सकते हैं ।

अमरीका और फ्रान्स में ये सिद्धान्त स्वतः प्रमाण समझे जाने के कारण युक्तिद्वारा सिद्ध करने की कोई आवश्यकता नहीं समझी गई । ये निर्विवाद सिद्ध हैं, ईश्वर के अटल नियमों के अन्तर्गत हैं । इसलिए इनकी सार्वभौम, सनातन, एवं अखण्ड नियमों में गणना है । 'मुझे जीने का अधिकार है' इस प्रसङ्ग को युक्ति से सिद्ध करना क्या मूर्खता नहीं ? 'मनुष्य स्वतन्त्र है, परवशता में उसका मनुष्यत्व दीनहीन हो जाता है'—इस बात का प्रमाण माँगना विवेक की विडम्बना करना है । इसलिए ये सिद्धान्त ईश्वर के और और नियमों की भाँति स्पष्ट और सुगम हैं ।

जब फ्रान्स और अमरीका में किया गया मनुष्य के स्वाभाविक अधिकारों का घनघोर नाद दुनियाँ में गूँज रहा था उसी समय मनुष्य के अनुभव के आधार पर दूसरे तत्त्ववेत्ता प्रजावाद के मूल सिद्धान्तों का निर्माण करने में लगे हुए थे और युक्तिद्वारा उनकी उपयोगिता का प्रतिपादन कर रहे थे । इन्होंने प्रजावाद के सिद्धान्त को इसी हेतु उपादेय माना कि इससे जगत् का भला होगा । उनके मतानुसार ये निम्न लिखित दृष्टान्त दिये जा सकते हैं:—

(१) स्वाधीनता उपादेय वस्तु है; क्योंकि इससे समाज-हित और व्यक्ति के चरित्र का विकास होता है । किसी भी व्यक्ति या वर्ग को अमर्यादित शक्ति दे देना अच्छा नहीं; क्योंकि कोई भी ऐसा विश्वसनीय नहीं कि जो अनिवार्य्य रूप से उस शक्ति का सदुपयोग करे । वह मेधावी और महात्मा क्यों न हो, वह अवश्य उस शक्ति का दुरुपयोग करेगा ।

(२) प्रत्येक मनुष्य अपने हित की बात भले प्रकार समझता है । इसलिए उस हित के सम्पादन में किस प्रकार के और कैसे नियम सहायक हो सकते हैं इसपर वह भली-भाँति विचार कर सकता है । अतएव वे ही नियम और वही शासन-प्रणाली विशेष हितकर है, जो समाज के बहुत बड़े व्यक्ति-संघ की इच्छा पर अवलम्बित हो ।

(३) एक व्यक्ति की अपेक्षा दो व्यक्ति सार्वजनिक हित की बात अधिक अच्छी तरह से समझ सकते हैं । तीन, और भी बुद्धिमत्ता से सबके हित की बात का निर्णय कर सकते हैं । इसी क्रमानुसार, समाज के जितने अधिक से अधिक व्यक्तिगण अपने हित के विषय में परामर्श देने के अधिकारी होंगे उनका निर्णय उतना ही ठीक, सविवेक और युक्ति-सङ्गत होगा

(४) व्यक्ति स्वार्थ-परायण हो सकते हैं, और उनके स्वार्थ से समाज का अहित हो सकता है; किन्तु यह बात नहीं है, क्योंकि समाज के दूसरे व्यक्ति भिन्न भिन्न प्रयोजनों से प्रेरित होने के कारण व्यक्ति की स्वार्थ-परता का अवश्य संयमन करते रहेंगे। व्यक्ति की स्वार्थ-दृष्टि दूसरे व्यक्तियों के विरोध के कारण कालक्रम से लुप्तप्राय हो जायगी, और अन्त में सार्वजनिक हित-चिन्तन का भाव सबके हृदय में घर कर बैठेगा।

(५) प्रत्येक मनुष्य अपने समाज की भलाई में कुछ दिलचस्पी रखता है; क्योंकि समाज के हित में उसका हित है। इसलिए वह समाज के शासन-कार्य्य में हाथ बँटाने के लिए सदा प्रस्तुत होगा।

(६) जहाँ अधिकार-भेद (Inequality) है—ऊँचनीच का भाव है—वहाँ आपस के ईर्ष्या-द्वेष के कारण अशान्ति और कलह उत्पन्न होगी। अतएव राजनीतिक अधिकारों की समानता से समाज का लाभ होगा; क्योंकि चतुर और बुद्धिमान् लोगों को समाज-सेवा का अवसर मिल सकेगा और समाज में सुख-शान्ति सदा विराजमान रहेगी।

इन सारी युक्तियों का निष्कर्ष यह है कि समस्त प्रजा के शासन के द्वारा राष्ट्र के दो बड़े उद्देश्य सिद्ध होते हैं जो अन्यथा नहीं हो सकते। एक तो न्याय, और दूसरा सार्वजनिक हित। प्रजाधीन-शासन में कोई मनुष्य वा वर्ग इतना प्रबल न हो सकेगा कि वह दूसरे को हानि पहुँचा सके। सब मिलकर अपना हित भलीभाँति सम्पादन करेंगे। 'जहाँ सुमति तहँ सम्पति नाना'। अतएव स्वतन्त्रता और समानता के सिद्धान्त परिणाम में बहुत हितकर हैं; इसलिए उपादेय हैं।

जिस शासन में प्रजा का हाथ है उसीमें उसकी भलाई है, इस बात में मानव-जाति का अनुभव ही प्रमाण है। किन्तु इस अनुभव की प्रामाणिकता पर एवं स्वतन्त्रता के सिद्धान्त की उपयोगिता पर ध्यान न देते हुए फ्रान्स और अमरीका के स्वतन्त्रता-प्रेमियों ने यह मानकर कि स्वाधीन होना ईश्वर-प्रणीत नियम है और परतन्त्र रहकर जीवन बिताना अस्वाभाविक है स्वतन्त्रता का जयघोष चहुँओर फैला दिया। जब हृदय में तीव्र भावना का उदय होता है तब दलील और युक्तियाँ नहीं सूझा करतीं। उसके आवेश में जो मनुष्य कुछ कर बैठता है वह कुछ कर जाता है। जो तर्कवितर्क में चूर रहते हैं, जो घर में आग लगने पर कुआँ खोदते हैं क्या वे अपने देश को कभी स्वतन्त्र देख सकते हैं? फ्रान्स की तीव्र स्वातन्त्र्य-भावना से जैसा प्रजावाद का प्रचार हुआ वैसा युक्ति और दलीलों से न हो सका और न हो सकता था। उस समय "स्वाधीनता, समानता" इन शब्दों में कुछ जादू का सा प्रभाव था। इनका अर्थ स्पष्ट न था; किन्तु इनके उच्चारण से मन में यह अवश्य होता था कि धन्य है वह देश जहाँ स्वतन्त्रता और समता का साम्राज्य हो। जिस स्वतन्त्रता के पाठ को इङ्गलैण्ड के तत्ववित् बेन्थम अपनी दलीलों से एक मनुष्य को समझा सके, उसी पाठ को मन्त्र की भाँति फूँककर फ्रांसवासी रूसो ने हज़ारों के हृदय में जोश पैदा कर दिया।

अठारहवीं सदी के अन्त में, सुधार और उन्नति का भाव सर्वत्र फैला हुआ था। सुधारों में अति विलम्ब हो रहा था। संसार में अत्याचार, असमता और अन्याय का साम्राज्य था। प्रजा ने लूट-खसोट और अन्याय को, पिछले युगों में तितिक्षा-पूर्वक सहा। कालक्रम से उसकी दशा फिरी। प्राचीन विद्या-कलाओं का पुनरुज्जीवन आरम्भ हुआ। लोगों ने प्रजातन्त्र-शासन का पाठ प्राचीन यूनान के इतिहास से सीखा। उस देश की सर्वाङ्गसुन्दर सभ्यता को देख यूरोप-वाले चकित हो गये और अपनी दुर्गति के कारण सोचने लगे। राजनीतिक क्षेत्र में उन्होंने बड़े ही घृणित दृश्य देखे। राजा उसके मित्र और मन्त्रि-मण्डल प्रजा पर मनमाना अत्याचार करते पाये गये। प्रजा के धन पर उनका पूरा अधिकार था। अन्याय का दौरदौरा था। कुछ मनुष्यों ने सारी प्रजा को दासत्व-शृंखला में बाँध रखा था। राजा लोग अपना प्रभुत्व ईश्वर-दत्त समझ बैठे थे। उनके स्वेच्छाचार की कोई सीमा न थी। उनके अधर्म से प्रजा का कोप इतना बढ़ा कि प्राचीन संस्थाओं के समूल नाश के सिवा उसे कोई गत्यन्तर न सूझा। तुरन्त ही उन्नति वा सुधार का भाव नाश करने के भाव में परिणत हो गया। "प्राकृतिक अधिकार-वाद" से परम्परागत बातों का महत्व जड़मूल से नष्ट हो गया। ऊँचे कुल धन और अधिकारवाले लोगों का निरादर होने लगा; क्योंकि ये ही अन्यायी और अत्याचारी थे। न्याय की दुहाई दे प्रजा ने इनकी खूब खबर ली। यह 'बाबावाक्यं प्रमाणम्' का युग न था। मानव-विवेक का अरुणोदय हो चुका था। अवनति के युग की काल-रात्रि विवेक की अभिनव ज्योति में विलीन हो चुकी थी। **पुराणमित्येव न साधु सर्वम्**-पुराना है, इसलिए सब ठीक है, अब यह बात नहीं चल सकती थी। पुरानी बातों पर से लोगों की श्रद्धा उठ गई। जो पिछले युग में सत्ताधीश समझे जाते थे उनपर से लोगों का विश्वास बिल्कुल हट गया विवेक के उदय होते ही लोग, राजा क्या वस्तु है, उसका क्या धर्म है, राज-शासन किस सीमा तक मान्य है, इत्यादि तर्क-वितर्क उठने लगे। इधर तो यह तर्क-बुद्धि काम कर रही थी, उधर अन्याय से पीड़ित प्रजा के हृदय में **न्याय की इच्छा का उच्छ्वास** बड़े वेग से हो रहा था। तर्कबुद्धि (Reason) और न्याय-भावना (Justice) ये दोनों मिल गईं। इनके उन्मेष में मनुष्य यह आशा करने लगा कि क्लेशसंकुल जगत् के जीवन की कायापलट होने में अब देरी न होगी। इन दोनों में भ्रातृ-भाव (Fraternity) की भावना भी आ मिली। फिर तो यह प्रतीत होने लगा कि मनुष्य कुछ काल में देवता हो जायँगे। अन्याय और अत्याचार का बस अन्त हुआ और सारी प्रजा भ्रातृ-भाव के सूत्र में बँधी हुई, न्याय-पथ की पथिक बन जायगी। फ्रान्स के राष्ट्र-विप्लव के समय लोगों के हृदय में ये ही उत्सर्पिणी आशाएँ थीं. ऐसा ही प्रबल उत्साह था। इस कारण प्रजावाद ने धर्म का रूप धारण कर लिया, धर्म की नाईं इसे पतितपावन मानते हुए प्रजा ने आत्मोद्धारार्थ इसका आश्रय लिया।

फ्रांन्स के प्रजावादियों का मनोराज्य बड़ा रमणीय था; किन्तु उन्होंने बड़े अनर्थ भी किये,

क्योंकि वे यह समझे हुए थे कि वे अपनी दासत्व-शृंखलाओं को तबतक नहीं तोड़ सकते, जबतक पुरानी संस्था और कुरीतियों के टुकड़े टुकड़े न कर दिये जायँगे। स्वतन्त्रता किस प्रकार मिल सकती थी, जबतक पुरानी व्यवस्था जड़मूल से नष्ट न की जाती। जीर्ण-शीर्ण भवन के खोद डालने के पश्चात् नये घर की नींव पड़ती है। इसी प्रकार पुरानी समाज और संस्थाओं के उच्छेद के अनन्तर नवीन संस्थाओं का निर्माण किया जा सकता है। दुस्तर परतन्त्रता की जैसी घोर निराशा में लोग पड़े थे वैसाही मर्यादातीत स्वतन्त्रता का उन्माद प्रजा में उत्पन्न हुआ। उसके आवेश में प्रजा ने उनपर जो अधिकाराधिरूढ़ किन्तु कर्तव्यविमुख थे, अत्याचार किया। पहले एक पक्ष ने औचित्य की मर्यादा त्यागकर प्रजाको पददलित कर रखा था। प्रजा ने अब अपना अवसर पाकर उस पक्ष की सत्ता पर प्रहार किया और उसे जड़मूल से उखाड़ डाला। आपस में समझौते की कोई सम्भावना न थी। 'कण्टकेनैव कण्टकम्' की नीति का अनुसरण करने के लिए प्रजा को बाध्य होना पड़ा।

मनुष्य के स्वतन्त्र अधिकारों के आधार पर राजशासन की व्यवस्था बाँधी गई। प्रजा के जन्मसिद्ध अधिकारों की सविस्तर व्याख्यापूर्वक घोषणा-पत्र निकाला गया। प्रजा को उस क्षण से राजत्वपदवी मिल गई। सबके लिए समान क़ानून और निष्पक्ष न्याय का स्वराज्य स्थापित हुआ। किन्तु उस समय जो मनुष्यों ने स्वाधीनता के सुख-स्वप्न देखे थे वे सब सच न थे और न हुए। पर इसमें तो लेशमात्र सन्देह नहीं कि प्रजावाद के परिणाम बहुत व्यापक और उसके गम्भीर प्रभाव में अबतक कोई क्षति नहीं देख पड़ती। पाश्चात्य देशों में तो इसका प्रभाव सार्वभौम है, और पौर्वात्य देशों में प्रजावाद का प्रसार आरम्भ होगया है। पुरानी राजनीति पर हर जगह पानी सा फिर गया है। स्त्रियों में भी राजनीतिक अधिकार की चर्चा वा आन्दोलन कभी कभी भीषण रूप धारण कर लेता है। भारत ऐसी पादाक्रान्त जातियाँ अपनी स्वत्व-रक्षा के लिए जाग उठीं हैं। एक जाति पर दूसरी जाति का शासन अब असह्य हो गया है अमर्यादित शासन के दोषों से अमुक जाति के विशेष गुण-कर्म नष्ट हो जाया करते हैं। ईश्वर की सृष्टि में उस जाति का जो अपने दुष्कर्म से परतन्त्र हो गई अस्तित्व निष्प्रयोजन होजाता है। परतन्त्र होना आत्म-हत्या है।

असूर्य्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽवृताः।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥
(ईशोपनिषद्)

अर्थात् जहा घोर अन्धकार है और सूर्य की एक किरण का भी प्रकाश नहीं होता वहाँ वे आत्महत्या करनेवाले पुरुष मरकर जीते हैं। मरकर तो क्या, वे जीते ही नरक की यातना भोगते हैं।

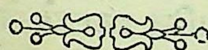
पूर्व की पराधीन जातियों में प्रजावाद से नई जागृति और नया जीवन आ रहा है। वहाँ के कुछ देश स्वराज्य की तीर्थयात्रा में कुछ मंज़िल पार कर चुके हैं; किन्तु अभी उसका अन्त बहुत दूर है। जब हम पश्चिम के देशों पर दृष्टिपात करते हैं, जहाँ स्वराज-वाद का पहलेपहल

जन्म हुआ था, तब यह मालूम होता है कि वहाँ भी स्वराज की रक्षा में लोग तल्लीन हैं। अब भी लोग आदर्श-स्वराज का स्वप्न देखते हैं। आदर्श स्वराज में—

सर्वे सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्ति मा कश्चिद्दुःखभाग्भवेत्॥

ऐसा मनोविजृम्भण अद्यापि पाश्चात्य देशोंके लोगों में दृग्गोचर हो रहा है। वर्तमान युग के प्रसिद्ध प्रजावादी जेम्स ब्राइस का कथन है:—

"It is the conception of a happier life for all, coupled with a mystic faith in the PEOPLE, that great multitude through whom speaks the Voice of the Almighty Power that makes for righteousness—it is this that constitutes the vital impulse of democracy. So we may hope that the Ideal will never cease to exert its power, but continue to stand as a beacon tower to one generation after another."



संसार में शांति-स्थापना का स्वप्न ।

(लेखक—पण्डित महावीरप्रसादजी द्विवेदी)



शान्ति अनमोल वस्तु है । बिना तपस्या और साधना के वह दुष्प्राप्य है । इस देश के पहुँचे हुए पुरुषों ने उसकी प्राप्ति के उपाय बताये हैं । वे उपाय बड़े कठिन हैं । मनुष्य का हृदय—मनुष्य का मन—विकारों का आगार है । उन विकारों का प्राबल्य कम किये बिना थोड़ी भी शान्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती । काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर नामक विकार शान्ति के पूरे शत्रु हैं । वे बने रहें और पूरी शान्ति की प्राप्ति भी हो जाय, यह नितान्त असम्भव है । पर अमेरिका के संयुक्त-राज्यों के नायक, प्रेजिडेंट हारडिंग्, इन विकारों की विद्यमानता में भी शान्ति-स्थापना करने जा रहे हैं, और शान्ति-स्थापना भी कैसी ? एक हृदय, एक नगर, एक देश में नहीं, समस्त संसार में ! राज्य, भूमि और प्रभुत्व की तृष्णा के अस्तित्व में भी ! कैसी आश्चर्य्य-परम्परा है !

शान्ति-स्थापना की प्रेरणा ने ही जर्मनी के नाविक बल का नाश कर दिया; उसीका नाश क्यों उसकी सभी शक्तियों का नाश-साधन हो गया । रूस की भी यही दशा हुई । जिन्होंने यह नाश किया उनका कहना था कि ये दोनों देश अपनी शक्तिमत्ता के जोश में आकर सब पर अपनी छाप जमाना और शान्ति-भङ्ग करना चाहते थे । इसीसे इनका वह मद चूर्ण कर दिया गया । पर शान्ति न हुई । औरों ने चाहे शान्ति का अनुभव किया भी हो; पर जर्मनी और रूस ने नहीं । सो यदि और लोग शान्त हुए तो जर्मनी और रूस अशान्त बन बैठे । साथ ही टर्की, आस्ट्रिया, हङ्गरी, आरमीनिया, अलबानिया, चीन आदि अन्य भी कितने ही देशों से शान्ति भाग गई । इँग्लैंड, फ्रांस, इटली और अमेरिका इन ४ देशों ने यदि शान्ति का आभास पाया तो आठ नौ देशों ने उसे खो दिया । यह है पश्चिमी देशों की शान्ति-स्थापना की चेष्टा का फल !

इँगलिस्तान एक टापू है। उसका साम्राज्य दूर दूर तक फैला हुआ है। समुद्र-मार्ग से ही आवागमन और उस साम्राज्य की रक्षा हो सकती है। इसीसे उसकी नाविक शक्ति सदा से ही बढ़ी-चढ़ी रही है। जर्मनी के परास्त हो जाने पर भी उसे अपनी इस शक्ति को अक्षुण्ण रखने की आवश्यकता बनी रही। युद्ध के अनुभव के अनुसार उसने इस शक्ति की उन्नति करनी चाही। यह देखकर फ्रांस और इटली ने भी आगे क़दम बढ़ाया। उन्होंने कहा, इँगलैंड अपनी शक्ति बढ़ा रहा है तो हम भी क्यों न बढ़ावें। ऐसा न हो कि कभी किसी दिन हमें कमज़ोर देखकर कोई हमें धर दबावे। अमेरिका ने कहा, जापान का बल प्रशान्त-सागर में बढ़ रहा है। उसकी नाविक शक्ति प्रबल हो रही है। अधिक बलवान् पड़ोसी अच्छा नहीं। सो उसने भी लड़ाकू जहाज़ों की संख्या बढ़ानी आरम्भ कर दी। जापान और इँगलिस्तान में परस्पर समझौता और सन्धि है अथवा कहना चाहिए थी। उनमें से किसी एक पर भी विपत्ति आने पर दूसरा उसकी सहायता करने के लिए बाध्य है। अमेरिका ने अपनी बल-वृद्धि की आवश्यकता का यह भी कारण समझा। उसने सोचा, जापान और इँगलैंड मिल गये तो हमारी ख़ैर नहीं। इन्हीं विचारों की प्रेरणा से इँगलैंड, फ्रांस, अमेरिका और जापान अपनी अपनी नाविक शक्ति बढ़ाने में लगे। अमेरिका को छोड़कर औरों पर अरबों रुपये का क़र्ज़ पहले ही से लदा हुआ था। दिल से तो वे यही चाहते थे कि अधिक जहाज़ न बनाने पड़ें तो अच्छा। उधर अमरिका को इँगलैंड और जापान की सम्मिलित शक्ति का त्रास ज़रूर सता रहा था। अतएव अमेरिका के प्रेज़िडेंट ने स्वार्थ की प्रेरणा से ही नहीं, शुद्ध परार्थ की प्रेरणा से, अभी हाल ही में एक परिषद् का अधिवेशन करके सारे संसार में शान्ति-स्थापना कर देने की चेष्टा का पावन पुण्य लूटा है।

इस चेष्टा का फल यह हुआ है कि पूर्वनिर्दिष्ट चारों देश, अपनी नाविक शक्ति, अपनी वर्तमान शक्ति के अनुपात से ही, भविष्यत् में बढ़ा सकेंगे। एक दूसरे की स्पर्द्धा से उसे न बढ़ा सकेंगे। स्थल-शक्ति पर स्थल-सेना का अनुपात भी हिसाब से ही रहेगा। हाँ, फ्रांस ने इस बात को क़बूल नहीं किया। उसपर जर्मनी का भय अब भी हावी है। इस कारण उसने अपनी स्थल-सेना के संयम का नियम नहीं माना। इस विषय का जो इक़रारनामा लिखा गया है उसमें, मोटे तौर पर, इन्हीं बातों का उल्लेख है। इससे यदि किसी को कुछ लाभ विशेष पहुँचेगा तो इन्हीं चारों शक्तियों या देशों को पहुँचेगा। क्योंकि अरबों रुपये हर साल ख़र्च करके ये देश जो अपनी जल और थल-शक्ति बढ़ा रहे थे, वह न बढ़ानी पड़ेगी। यह रुपया बच जायगा; क़र्ज़ का बोझ न बढ़ेगा; और प्रजा पर अपरिमित कर लगाने की ज़रूरत न पड़ेगी। पर क्या समझौते से सांसारिक शान्ति की स्थापना हो जायगी? ऐसा यदि हो जाय तो समझना चाहिए कि मनुष्य का स्वभाव ही बदल गया। जो जर्मनी नितान्त निर्बल कर दिया गया है और इस समझौते की सभा में उपस्थित रहने योग्य भी नहीं समझा गया उसके करोड़ों निवासियों के हृदयों में शान्ति कहाँ! रूस भी तो नहीं इस लायक़

समझा गया। फिर क्या इस इक़रारनामे की बदौलत उसे भी शान्ति मिल सकेगी? चीन के साथ जो अन्यायपूर्ण बर्ताव किये गये हैं और अब भी किये जा रहे हैं क्या उनकी शान्ति के लिए भी कुछ अनुष्ठान हुआ है? हाँ, कुछ हुआ है ज़रूर, पर वह काफ़ी नहीं। इस दशा में भी परिषद् के सभ्यों की यह घोषणा कि अब मार-काट न होगी; अब ईर्षा-द्वेष के लिए जगह नहीं; अब सब लोग अपने अपने घर खुश रहें; शान्ति-स्थापना के बहाने भगवती शान्ति-देवी का उपहास-मात्र है।

जिन चार शक्तियों ने मिलकर अपने बल की सीमा निर्दिष्ट कर ली है वही शक्तियाँ संसार में प्रधान हैं। और सब शक्तियाँ उनसे निर्बल हैं। ये निर्बल देश या शक्तियाँ यदि अपना बल बढ़ाने की चेष्टा करें तो क्या उन चारों के रहते करने पावेंगी? यदि कई छोटी छोटी शक्तियाँ मिलकर अपना बल बढ़ावें और पूर्वनिर्दिष्ट चारों शक्तियों में से किसी एक या दो से बढ़ जाना चाहें तो क्या उनके इस प्रयत्न में बाधा न डाली जायगी? अशान्ति की उत्पादना के इतने कारण विद्यमान रहते दुनिया को शान्ति-पाठ पढ़ाने का अभिनय दिखाना साधारण बुद्धि के मनुष्यों के भी उपहास का पात्र बनना है।

जिन देशों और जिन जातियों को पूर्व की प्रधान शक्तियों ने अपने अधीन करके उन्हें अपनी बल-शृङ्खला से बाँध रखा है उनके लिए शायद वे शक्तियाँ शान्ति की ज़रूरत ही नहीं समझतीं और सदा उन्हें उनकी वर्तमान स्थिति में ही रखना चाहती हैं। परन्तु यह असम्भव है। शान्ति-स्थापना के सैकड़ों इक़रारनामे लिखे जाने पर भी उन्हें शान्ति नहीं मिल सकती। अपनी प्रधानता बनी रखकर दूसरों पर शासन करते रहना शान्ति का तो नहीं, अशान्ति का सूचक अवश्य है।

संयुक्त-राज्य (अमेरिका) के भूतपूर्व प्रेज़िडेंट विल्सन साहब ने तीन चार वर्ष पूर्व शान्ति के १४ सूत्रों की उद्भावना की थी। उन सूत्रों ने संसार को मोह लिया। जर्मनी भी उनके मोह में फँस गया। नतीजा यह हुआ कि उसे बहुत बड़ी हानि उठाना पड़ी। पीछे से योरप की शक्तियों ने उनमें से अधिकांश सूत्रों को न माना। तब कुढ़कर अमेरिका को योरोपीय शक्तियों के गुट्ट से अलग हो जाना पड़ा। अब नये प्रेज़िडेंट, हार्डिंग् साहब, ने बल-नियन्त्रण-विषयक इक़रारनामा लिखाकर शान्ति-स्थापना की नई योजना की है। पर यदि मनुष्य-स्वभाव पूर्ववत् ही बना हुआ है तो उन्हें भी वैसी ही सफलता होगी जैसी उडरो विल्सन को हुई थी। उनका यह कहना कि अमेरिका किसी से शत्रुता नहीं रखता, उसे किसी पर सन्देह नहीं, वह देश-विजिगीषा की इच्छा नहीं रखता; उसके इस उपक्रम की जड़ स्वार्थ नहीं, सार्वजनीन हित है—संभव है सच हो। पर इँगलैंड और जापान की सन्धि को मेटकर उसके बदले फ्रांस, इँगलैंड, जापान, और अमेरिका को एक सूत्र में बाँधना बता रहा है कि हवा किस रुख बह रही है।

जबतक तृष्णा—राज्यतृष्णा—और प्रभुत्व-पिपासा बनी हुई है तबतक शान्ति नहीं। शान्ति का एक-मात्र आधार हृदय की विशुद्धता और आत्मतृप्ति है। वह न अमेरिका में है, न योरप में, न जापान में। अतएव इस शान्ति-पाठ में कुछ भी सत्व नहीं।

गृहस्थी का कोल्हू।

(लेखक—पं० राजाराम शुक्ल)

(१)

प्यारे पाठक-वृन्द! ध्यान टुक दीजिए।
आत्म-दशा का तनिक निरीक्षण कीजिए॥
नयनामृत है निर्निमेष हो पीजिए।
चित्रकार की अनुपम रचना लीजिए॥
दर्पण है यह, सार-हीन संसार का।
अथवा है प्रतिबिम्ब गृही के भार का॥

(२)

सकल अंग हैं स्नेह-शृंखला से कसे।
मानव, मछली-सदृश, जाल में हैं फँसे।
ममता-सरि के मोह-पंक में हैं धसे।
रो रोकर मर गये, हँसे तो क्या हँसे?
भ्रम की पट्टी बँधी, नयन भी बन्द हैं।
पूरे बन्दी बने, नहीं स्वच्छन्द हैं॥

(३)

बन्दी-गृह सा दुखद यही आगार है।
मुक्ति-द्वार है नहीं, अतः लाचार है॥
विकट-बेड़ियाँ-हथकड़ियाँ, शृंगार है।
तरुणी के दृग-कोर-कुन्त की मार है॥
कष्ट-साध्य है, हाय! यहाँ से छूटना।
तृष्णा की दृढ़ भीत कठिन है टूटना॥

(४)

ऐसे हैं सब लोग, अनोखा खेल है।
माया से इस भाँति मिलाया मेल है॥
झगड़े हैं सब ओर, विशेष झमेल है।
फल है खाली खली, स्वल्प ही तेल है॥
होगा वह भी क्या कुछ तेरे काम का।
तू तो है बस बैल बना बिन दाम का॥

(५)

कोल्हू है गृह-कार्य, लोभ की लाट है।
यश-अपयश का तेल, विश्व की हाट है॥
तापों की है तुला, धर्म का बाट है।
जाँच रहे हैं तुझे, ठीक या घाट है॥
यदि तू होगा पूर्ण, ठीक तुल जायगा।
निश्चय होगा न्यून, यहीं घुल जायगा॥

(६)

कैसा भारी-भार! पैर भी हैं झुके।
खूब पड़ेगी मार!! कहीं भी यदि रुके॥
बूढ़े माता-पिता असंहत हो चुके।
उनके सारे भाव पुजाई में लुके॥
करना है प्रति-पाल तुझे परिवार का।
सुन ले पर्दा खोल शीघ्र श्रुति-द्वार का॥

(७)

तेली हैं प्रिय स्वजन, आयु को पेरते।
दिखा दिखा कर प्यार, टेरते, घेरते॥
तुझे जोत कर निशि-दिन फेरे फेरते।
अमित कल्प हो गये अन्त ही हेरते॥
सन्तत चलता रहा, खड़ा तू है वहीं।
पथ अनन्त है, अन्त नहीं इसका कहीं॥

(८)

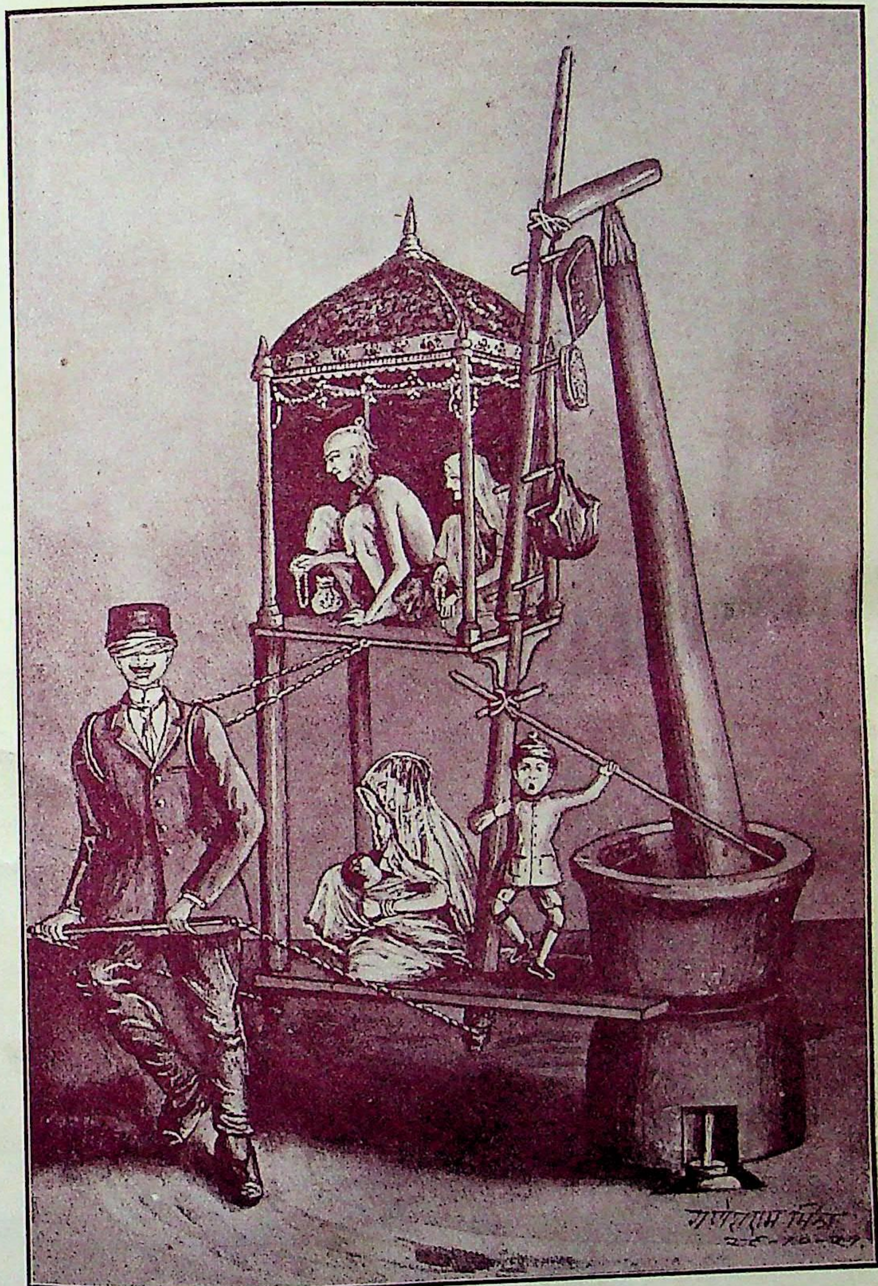
ऐसा अद्भुत खेल अहा! किसने रचा?
कब से यह इस भाँति विश्व में है मचा?
कोई विरला ही होगा इससे बचा?
सुर, नर, किन्नर, असुर दिये इसने नचा॥
जाओगे जिस ओर वहीं यह संग है।
बच न सकोगे कहीं विचित्र प्रसंग है॥

(९)

छिपी प्रीति की ओट भयंकर घात है।
जग का कैसा यह प्रपञ्च अज्ञात है॥
'चार दिवस के लिए चाँदनी रात है'—
कितनी सच्ची और सरल यह बात है॥
रुचिकर हो यदि मित्र! तुम्हें ऐसी क्रिया।
तो तुम समझो सदा परम-प्यारी प्रिया॥

(१०)

सकल यन्त्रणा भूल, छाँह की, धूप की।
चिन्ता चलनी की, अनाज की, सूप की॥
त्यों ही करते रहो सु-वेष-स्वरूप की।
सामग्री सब पूर्ण हुई अव-कूप की॥
अंग अंग सब शिथिल हो गये, गिर गये।
तेल पेरते हुए खो गये, फिर गये॥



गृहस्थी का कोल्हू।

सर्वाधिकार
श्रीशारदाके अधीन।

चित्रकार
पं० गणेशराम मिश्र।



(११)

जर्जर काया रही नहीं है कर्म की ।
तब कुछ चिन्ता हुई; भजन की, धर्म की ॥
युक्ति ढूँढ़ने लगे, मुक्ति के मर्म की ।
हुई निरर्थक मढ़ी, अस्थि की, चर्म की ॥
जग में, जीवन-मुक्त वही जन है हुआ।
जिसने कर से नहीं छुआ इसका जुआ ॥

(१२)

अगणित भावों भरा सुचित्र विचित्र है ।
चित्रित इसमें भाव महान-पवित्र है ॥
जन जन का दिख रहा समस्त-चरित्र है ।
सोचो तो अब तुम्हें उचित क्या मित्र है ॥
कैसा सच्चा चित्र सामने ला दिया ।
देखो आँखें खोल तुम्हें दिखला दिया ॥

स्त्रियों का कौन्सिल-प्रवेश ।

(लेखक—साहित्याचार्य पं० चन्द्रशेखर शास्त्री)

समाचारपत्रों में आजकल इस बात की चर्चा देखी जाती है कि भारतीय स्त्रियाँ राजनीतिक अधिकार प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशीला हैं । उनकी इस प्रयत्नशीलता के अनुकूल और प्रतिकूल आलोचनाएँ जब कभी हो जाती हैं । कौंसिलों में कोई मेम्बर अनुकूल तथा कोई प्रतिकूल सम्मति देकर धन्यवाद तथा अभिशाप के भागी होते हैं । अच्छा है, यदि स्त्रियों को भी पुरुषों के बराबर अधिकार मिल जाय । कोई कारण नहीं कि इससे किसी के पेट में दर्द हो । दूसरे के कल्याण से जलना भले आदमियों का काम नहीं है । स्त्रियों को अधिकार मिले तो यह पुरुषों के लिए और भी प्रसन्नता की बात है । कम से कम मैं तो उस दिन की प्रतीक्षा करता हूँ जिस दिन स्त्रियाँ अधिकारिणी बनें और हम उन्हें इसके उपलक्ष में बधाई दें तथा बिना परिश्रम स्वयं अधिकारी बनने का गौरव अनुभव करें ।

× × ×

भारतीय स्त्रियाँ कौंसिल-सम्बन्धी अधिकार चाहती हैं-इस वाक्य का क्या अर्थ है ? क्या पुरुषों ने स्वयं अधिकार प्राप्त कर लिया है, और उस अधिकार से वे स्त्रियों को पीसते हैं, उनके स्वार्थों को हड़पते जाते हैं जिससे त्रस्त होकर स्त्रियाँ स्वयं अधिकार चाहती हैं जिसमें आत्मरक्षा हो ? एक तो यह दशा है जब ऊपर का वाक्य सार्थक हो सकता है । दूसरी दशा यह हो सकती है कि स्त्रियाँ केवल अधिकार के लिए प्रयत्न करती हैं । वह अधिकार पुरुषों के मुक़ाबले में नहीं, किन्तु राज्य से अधिकार माँगती हैं । ये ही दो दशाएँ हैं जब ऊपर के वाक्य का प्रयोग किया जा सकता है । भारतीय पुरुषों को अधिकार मिला है यह बात सही है; पर वह अधिकार नक़ली है, वह पुरुषों की विडम्बना है । भारतीय पुरुषों को अधिकार है कौंसिलों में जाकर सिर्फ़ बोलने का; क्रोध, उत्साह, साहस, विनय, प्रेम आदि मानसिक विकारों को दिखाने का । इससे अधिक पुरुषों को कोई अधिकार नहीं है । ऐसी दशा में यदि स्त्रियाँ भी पुरुषों का साथ दें, अधिकार-प्राप्ति में उनकी सहायिका बनें, तो यह अनुचित नहीं है और इस अभिप्राय से भी ऊपर के वाक्य का प्रयोग किया जा सकता है ।

× × ×

घर का मालिक एक होता है; पर अधिकार सभी का रहता है । घर की चीज़ों का उपयोग

सभी करते हैं; पर जवाबदेही एकही आदमी की रहती है। एक ही आदमी किसी राज-दरबार में सभा-समाजों में आता-जाता है। एक ही आदमी किसी सामाजिक या अन्य किसी सन्दिग्ध प्रश्न पर अपना अभिप्राय प्रकाशित करता है। पर, वह मत एक का नहीं कहा जाता, वह मत समूचे कुटुम्ब का होता है, उस मत की भलाई-बुराई में उस समूचे कुटुम्ब को भाग लेना पड़ता है। मत देने-वाला किसी विषय में मत देने के पहले अपने घर-वालों से उस विषय में सम्मति ले लेता है। कुटुम्ब-वाले भी उसपर विश्वास करते हैं। उनके हृदय में कभी स्वप्न में भी इस बात का सन्देहांकुर उत्पन्न नहीं होता कि मत-दाता हम लोगों को दुखी बनाकर स्वयं सुखी बनने का प्रयत्न करता है या करेगा। यदि कोई मत-दाता ऐसा करना भी चाहे, तो वह ऐसा नहीं कर सकता; क्योंकि वह भी कुटुम्ब का एक अंग है। उसका स्वार्थ कुटुम्ब के साथ दूध-पानी के समान मिला हुआ है। यही भारतीय क्रम है और इस क्रम में तबतक हमको कोई असुविधा नहीं थी जबतक हम अपने लड़के और लड़कियों को अपनी बोली में अपनी बात पढ़ाते रहे, जबतक हम लोग धन से धर्म को बहुत बड़ा समझते रहे, जबतक हाथ, पैर, मुँह आदि पर हमारे मन का अधिकार था और जबतक हमारा मन हमारा था।

× × ×

एक बार लार्ड मार्ले ने भारत के प्रबन्ध में बातें करते हुए कहा था कि कनाडा का गर्म कोट भारतवासियों को पहनाया नहीं जा सकता। बात बिलकुल सच है। पर दुःख है कि उनकी इस सच्ची, न्यायानुमोदित और उपयोगी बात का महत्त्व उनके देशवासियों ने नहीं समझा। उन लोगों ने भारत-वासियों के मस्तिष्क-रूपी उस मैदान में जहाँ उपनिषदों की तत्त्व-त्रिवेणी बहती है बायबिल का सुसमाचार फैलाना प्रारंभ किया। भारत की असभ्य जातियों को जो पेट के महत्त्व को कम कर धार्मिक बल अर्जन करने में जीवन बिताती थीं जीवन-संघर्ष नामक तत्त्व का पाठ पढ़ाया। भारतीयों की ज़बान पर से संस्कृत आदि भाषाओं को निकालकर अंग्रेज़ी भाषा स्थापित की। राजा हरिश्चन्द्र के राज्य-त्याग की कथा बन्द कर दी गई और नेपोलियन के लालसा-मय राज्यापहरण की कथा पढ़ाई गई। इन सब बातों का प्रभाव भारत में वही हुआ है जो, बक़ौल लार्ड मार्ले, कनाडा के गर्म कोट का होता। इन सब अव्यावहारिक बातों ने हमारी मानसिक वृत्तियों के विकास का ढंग बदल दिया। परिस्थिति की यथार्थता की परीक्षा हम भावुकता से साहित्य की भाषा में करने लगे। अव्यावहारिक बातें, अव्यावहारिक सिद्धान्त तथा कृत्रिम ढंगों से हमारा सामना पड़ा। अनेक नई नई बातें सामने आकर खड़ी हुईं; उनको हल करने के लिए प्रयत्न किया जाने लगा; कई की ज़िन्दगी बीत गयी; पर हुआ कुछ नहीं।

× × ×

इन्हीं अप्राकृतिक बातों में कौन्सिल के वोट देने और मेम्बर होने का भी भेद है। पहले पुरुष मेम्बरी के लिए व्याकुल हुए। उन्होंने समझा था कि सात समुन्दर पार की यह मेम्बरी अवश्य ही कोई एक अजीब चीज़ होगी। अब स्त्रियाँ उसके लिए मैदान में आई हैं; पर भारत की स्त्रियाँ नहीं, किन्तु भारत की वे स्त्रियाँ जो बी. ए., एम. ए. आदि पास हैं, जो हारमोनियम

बजाना जानती हैं, अंग्रेज़ी बोलना जानती हैं, मर्दों के साथ बैठकर ऊँची आवाज़ में व्याख्यान देना जानती हैं। वे मेम्बर बनेंगी। कई प्रान्तों में उन्हें अधिकार मिल भी गया है और कई में मिलने वाला है।

× × ×

स्त्रियों की सदिच्छाओं को पूर्ण करना प्रत्येक पुरुष का काम है। भारतवासी भी वैसा ही करते आये हैं। यदि स्त्रियाँ अधिकार चाहती हों, तो पुरुषों का कर्त्तव्य होना चाहिए कि वे ईमानदारी के साथ उनका साथ दें। स्त्रियों का भी कर्त्तव्य है कि अपने हृदय में जो इच्छाएँ उत्पन्न हों उन्हें खूब तौल लें, उनका परिणाम सोच लें। नक़ल ठीक नहीं. पुरुषों की देखा-देखी कोई काम करना ठीक नहीं। बिना परिणाम सोचे, किसी दूसरे के कहने से, किसी दूसरे के घर की रीति देखने से, कोई इच्छा नहीं उत्पन्न करनी चाहिए, देखादेखी काम ठीक नहीं। यह सफलता का मार्ग नहीं है। दम्पती में जीवन-संघर्ष उत्पन्न होना अच्छा नहीं। दूसरे देश इस जीवन-संघर्ष को उत्पन्न करके कीचड़ में फँसे वृद्ध व्याघ्र के समान व्याकुल हो रहे हैं। भारतीयों ने यह संघर्ष दबा दिया था। अब पुनः उत्पन्न करना, सो भी बिना किसी आवश्यकता के, अच्छा नहीं।

× × ×

घर बिगाड़ने वालों के फन्दे में फँसना अच्छा नहीं। कतिपय भारतीय स्त्रियाँ कौंसिल में जाने के लिए दौड़-धूप कर रही हैं। यह अनावश्यक और अनुपयोगी है। मेरी समझ से तो घर बिगाड़ने वालों के बहकावे में आकर वे ऐसा कर रही है। इससे कुछ लाभ होगा नहीं। उनकी बात भले ही सुन ली जाय; पर उनके मत के अनुसार काम तो होगा नहीं, फिर ऐसी बकवाद से लाभ क्या। भगवान् करे कि इस प्रकार की बकवाद करने का अवसर ही न आवे। बुद्धिमान् मनुष्य अपने समय को, अपनी बात को, व्यर्थ खोना नहीं चाहते। पर इन पढ़ी-लिखी स्त्रियों का यह प्रयत्न क्या साबित कर रहा है? केवल यही कि वे घर फोड़ने-वालों के बहकावे में आगई हैं।

× × ×

भारत-शासन की जो कौंसिलें इस समय वर्तमान हैं उनके हिन्दुस्थानी मेम्बर क्या अपने देश के शासन में भाग लेने जाते हैं या अपने देश का दुःख-दर्द सुनाने? यदि वे शासन में भाग लेने जाते और उनकी बात सुनी जाती, उन्हें कोई अधिकार होता तो देश की दशा किसी और प्रकार की होती। कौंसिल का जो वृत्तान्त हम लोग पढ़ते हैं उसका सार यही है कि अमुक भारतीय मेम्बर ने खूब व्याख्यान दिया, बड़े बड़े राजनीतिज्ञों की उक्तियाँ उद्धृत कीं; पर वोट लेने पर उनका प्रस्ताव रद्द हो गया। २४ पक्ष में और ४४ विपक्ष में थे। इस प्रकार वृत्तान्तों को पढ़ने से हम लोगों के हृदय में उस बिचारे हिन्दुस्थानी मेम्बर के प्रति एक प्रकार की दया-मिश्रित सहानुभूति उत्पन्न होती है। उसकी असफलता पर दुःख होता है। उस समय हम लोगों के समान कई मनुष्य यह निश्चित कर लेते हैं कि ये मेम्बर महोदय अब कौंसिल में नहीं जायँगे; पर जब आगे की बैठक में पुनः उन्हीं मेम्बर महोदय को एक प्रस्ताव के लिए उपस्थित सुनते हैं, तब तो हृदय आश्चर्य से भर जाता है कुछ लोग ऐसे आदमियों को साहसी कहते हैं, कुछ लोग उनमें मनुष्यत्व के खून की कमी बतलाते हैं। चाहे जो हो, पर इसमें सन्देह नहीं कि वे असफल हैं, उनकी कोई आवाज़ नहीं ऐसी दशा में स्त्रियाँ भी वहाँ जाना चाहती हैं यह आश्चर्य की बात है। हाँ, एक दृष्टि से स्त्रियों के इस उद्योग

का समर्थन किया जा सकता है। वह यह कि कौंसिल में जाकर अब तक पुरुषों ने कुछ भी न किया, अब हम लोग चलकर उनकी मदद करें। यदि यह बात हो, तो पुरुषों को शरमाना चाहिए।

× × ×

पश्चिम देश की स्त्रियाँ कौन्सिलों में जाने के लिए आन्दोलन करती हैं, यह उचित है; क्योंकि वे अपनी कौंसिलों में जाना चाहती हैं, अपने देश के शासन में भाग लेना चाहती हैं। सम्भव है और भी कोई कारण हों जिनसे विवश होकर वे जाना चाहती हों। वे कौंसिल में जायँगी, तो अपने मन का काम कराभी लेगी; पर यहाँ जब पुरुषों ने ही अपने मन का एक भी काम न करा पाया तो स्त्रियाँ करा लेंगीं, यह बात सम्भव नहीं। कौंसिल-भवन देखने की इच्छा रखनेवाली स्त्रियों से हम लोगों को यह निवेदन करना चाहिए कि आप पहले कौंसिल स्थापित करने का प्रयत्न करें और उसमें जायँ। अपनी कौंसिलों में जाने के लिए आपका कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ेगा। जब आप संसार के कामों में पूरी अभिज्ञता प्राप्त कर लेंगी, जब आप अपना समय लोक-कल्याण में लगाने का निश्चय कर लेगी और इसकी खबर देशको मालूम होगी, तो बड़े आदर के साथ देश आपको निमंत्रित करेगा, देश के बच्चे, आपके पुत्र और भाई आपके स्वागत के लिए तयार रहेंगे। आप घर बिगाड़ने-वालों की बातों में न आवें।

× × ×

एक और बात है जिसमें घर फोड़ने-वालों का पंजा काम कर रहा है। वह है अछूतों का प्रश्न। वह मनुष्य निःसन्देह धिक्कार-पात्र है जो अपने सुख के लिए, अपने आराम के लिए, कुछ लोगोंको अछूत बनाता है, और वह मनुष्य-समूह भी कम धिक्कार का पात्र नहीं है जो पेट के लिए निन्दित कर्म करके अछूत बनता है। यह क्रम ही बुरा है। पर हमारे यहाँ के विद्या-दिग्गज अछूतों का उद्धार स्वयं अछूत बनकर करना चाहते हैं। पर क्या कुछ और आदमियों के अछूत बनने से अछूतों का उद्धार हो जायगा। साधारण बुद्धिवाले तो यही समझते हैं। दस अछूत पहले थे, बीस अछूत और हुए। अछूतों से हम किसी बातका परेहज़ न करें, उनको छूएँ, उनके साथ खायँ पीएँ, तो क्या इससे उनका अछूतपन छूट जायगा। होना तो नहीं चाहिए, पर हमारे कुछ नेता यही कहते हैं।

× × ×

भगवान् के यहाँ कोई अछूत नहीं है, सभी प्राणी हैं, सभी में मानसिक विकार एक समान है; पर बलवानों ने अपने स्वार्थ के लिए किसीके ज़िम्मे पाख़ाना साफ़ करने का काम सौंपा और किसीके ज़िम्मे मनुष्यों की हत्या करने का, जिस कारण वे भंगी और चांडाल कहे गये। इस प्रकार अछूत बनने का पाप मनुष्यों ने स्वयं किया है। प्रसन्नता की बात है कि अब मनुष्य अपनी बुराई समझ गये हैं और वे अछूतों से सहानुभूति दिखाने लगे हैं। पर, अच्छा होता कि वे स्वयं अछूत न बनकर उनको ही ऊपर उठाते। सहानुभूति के दो अंगों में से एक अंग यह अवश्य है कि दुःखी के साथ दुःख उठाया जाय; पर यह तब हो जब दुःख दूर करने की शक्ति न रह जाय। यहाँ ऐसी बात नहीं है। यदि हम, शहर के वासी, इच्छा करें और प्रारम्भ में थोड़ा कष्ट उठाना स्वीकार कर लें, तो भंगी नामक अछूतों का उद्धार तो आज हो जाय, अथवा यदि भंगी चाहें और इस काम का त्याग कर दें। वे अपनी जाति की ओर से यह घोषणा-पत्र निकलवा दें कि हम लोग इस निन्दित कर्म को करने के लिए राज़ी

नहीं। तहाँ सब बातें तय हो जाती हैं।

× × ×

जिसको कुछ काम करना होता है वह सीधे ढंग से काम करता है, वह अपने लिए सीधा रास्ता चुनता है; पर जिसको कुछ काम करने की इच्छा नहीं रहती, पर वह दूसरों को काम करने की अपनी इच्छा बतलाना चाहता है, तो उलटा-पलटा रास्ता अपने लिए चुनता और सो भी जान बूझकर। यही बात हमारे अछूत-उद्धार के संबंध में भी है। किसी के दर्द दूर करने के लिए इस बात की उतनी जरूरत नहीं है कि स्वयं दर्दी बना जाय; किन्तु जरूरत इस बात की है कि दर्दी का दर्द दूर किया जाय। इस बात पर यदि विचार हो तो मेरी समझ से अनेक झंझट दूर हो जायँ, जाति पुष्ट हो, स्वास्थ्य में उन्नति हो।

दौड़ो कृष्ण मुरार।

(लेखक—बाबू देवीप्रसाद गुप्त, बी० ए०, एल-एल० बी०)

सिर पर चमक रही है जिसके जल्लादी तलवार।
निशिदिन घेरा डाल रहे हैं जिसपर अत्याचार।
हृदय बना रहता है जिसका दुःखों का आगार।
उस भारत को बचा सको तो दौड़ो कृष्ण मुरार ॥१॥

जिसके पुत्र निहत्थे बनकर खोकर निज अधिकार।
पराधीनता-वश सहते हैं निशि-दिन कष्ट अपार।
जिसके स्वत्वों पर चलता है स्वार्थ-कुनीति-कुठार।
उस भारत को बचा सको तो दौड़ो कृष्ण मुरार ॥२॥

जो होकर अपराध-रहित भी सहता है दुतकार।
जिससे सदा हुआ करते हैं कपट-नीति-व्यवहार।
जो पड़कर विश्वास-घात में गँवा चुका घर-द्वार।
उस भारत को बचा सको तो दौड़ो कृष्ण मुरार ॥३॥

जिसकी अवनति हर प्रकार से देख चुका संसार।
निज उपकारों के बदले जो पाता है अपकार।
दुष्ट तुले बैठे हैं जिसका करने को संहार।
उस भारत को बचा सको तो दौड़ो कृष्ण मुरार ॥४॥

विश्व-प्रेम में लीन रहा जो सद्-गुण-ज्ञान प्रचार।
जिसका सदा भरा रहता था अक्षय सुख-भण्डार।
पर जिसको ढोना पड़ता है अब दुःखों का भार।
उस भारत को बचा सको तो दौड़ो कृष्ण मुरार ॥५॥

जिसपर मक्कारी करते हैं पामर, नीच, लबार।
बन करके रक्षक रहते हैं भक्षण-हित तैयार।
जिसमें जालियाँबाग़ सरीखे होते हैं व्यापार।
उस भारत को बचा सको तो दौड़ो कृष्ण मुरार ॥६॥

जिसकी डूब रही है नैया भँवर-मध्य मझधार।
जिसका कर सकते हो केवल तुम ही बेड़ा पार।
जिसका है कर्त्तव्य तुम्हारा प्रभु! करना उद्धार।
उस भारत को बचा सको तो दौड़ो कृष्ण मुरार ॥७॥

विहारी और देव।

(३)

(लेखक—अध्यापक लाला भगवानदीनजी)

अब हमको यह भी देखना चाहिए कि 'देव' जी ने भी ऐसे मरोड़े हुए शब्द व्यवहृत किये हैं या नहीं। इस दृष्टि से देखने से तो बड़ा तमाशा देख पड़ता है और 'देव' की क़लई खुल जाती है। स्पष्ट मालूम हो जाता है कि 'देव' ने अपनी यमक-प्रियता के कारण बड़ा अनर्थ किया है। शब्दों को इतना बिगाड़ा है कि उनकी सूरत पहचानना मुशकिल हो जाता है। अगर हम भी ऐसे शब्दों की सूची दें, तो एक हज़ार से कम न होंगे; पर यहाँ नमूने के लिए हम थोड़े ही शब्द देंगे। कुछ शब्द तो हम असमर्थ और गढ़े हुए शब्दों के उदाहरणों में पहले दिखला ही चुके हैं। कुछ यहाँ लिखते हैं। आगे हम यह भी दिखलावेंगे कि 'देव' ने अपनी यमक-प्रियता के कारण केवल शब्द ही नहीं मरोड़े, बरन् मुहावरों की भी मिट्टी पलीद की है, और

व्याकरण की भी हत्या की है। पहले मरोड़े हुए शब्दों की सूची पता-सहित पढ़ लीजिए:—

बिगड़ा रूप	शुद्ध रूप	पता
विद्योत ...	विदित	प्रेमचंद्रिका, पन्ना २, छंद ६
आरद ...	आर्द्र	,, ,, ६, छंद ४
टिकाजरो ...	टेक+आश्रय	,, ,, ७, छंद ३२
परौढ़नि ...	प्रौढ़नि	,, ,, ३०, छंद ४
दरब ...	दर्प	,, ,, ४१, छंद ४४
बांसी ...	वंशी	देव और विहारी, पन्ना १२०; प्रेमचंद्रिका, पन्ना ४६, छंद ११
ज्वारी ...	ज्वानी	प्रेमचंद्रिका, पन्ना ५०, छंद १५
भगल ...	भगवां (वस्त्र)	,, ,, ५१, छंद १६
जादमा ...	यादव	,, ,, ४२, छंद ११
दुभीख ...	दुर्भिक्ष	,, ,, ६३, छंद ४८
भभीख ...	भविष्य	,, ,, ६३, छंद ४८
मृगंछी ...	मृगाक्षी	,, ,, ६३, छंद ४६
ईछी ...	इच्छा	देव और विहारी, पन्ना २२८
निचान ...	नीचे	सुजानविनोद, पन्ना ६०, छंद ५६
चावक ...	चाबुक	,, , ६४, छंद ६६
ठढी ...	ठाढ़ी	,, ,, ६६, छंद १४
फौल ...	कमल	,, ,, ६७, छंद २३
उदेत ...	उद्योत	,, ,, ८३, छंद ३८
तिसना, त्रिसना, तृसना	तृष्णा	देव और विहारी, पन्ना १६६, १६७, १६८
छलुप ...	स्वरूप	सुजानविनोद, पन्ना ४०, छंद ३६ तथा 'देव और विहारी,' पन्ना २४०
हुब ...	(?)	रसविलास, पन्ना २३, छंद ३
हुप ...	(?)	,, ,, ३६, छंद १७
ससवाय ...	(?)	सुजानविनोद, पन्ना ७६, छंद २७
छीव ...	(?)	,, ,, ८०, छंद २८
पुखोत है ...	पोषत है	,, ,, ३२, छंद ६
लपने ...	जल्पने	,, ,, ३६, छंद २६
दुरदरी हुरहरी..	(?), (?)	,, ,, ४४, छंद ५२
लुही ...	लोभी	,, ,, २४, छंद १९
नौढ़ा ...	नवोढ़ा	,, ,, २ छंद १०
भ्वै हरै कन ...	(?)	देव और विहारी, पन्ना २३०
हुर हुस ...	[?]	सुजानविनोद, पन्ना ३ छंद १४
क्वांरिका ...	कुमारिका	प्रेमचंद्रिका, पन्ना ४६, छंद ११

'विहारी' के विषय में मिश्रबंधु लिखते हैं (हिन्दी-नवरत्न, पन्ना २२७).—

'इनके बड़े कवि होने पर भी शब्द-संबंधिनी बानि प्रशंसनीय नहीं है"। हम भी मानते हैं कि ऐसी बानि प्रशंसनीय नहीं हो सकती; पर जैसे 'विहारी' में प्रशंसनीय नहीं, वैसे ही 'देव' में भी प्रशंसनीय नहीं। परंतु, आपने इस विषय में देव के संबंध में कुछ भी नहीं कहा।

चौथा दूषण यह लगाया गया है कि "तुकान्त के लिए भी इन्होंने शब्द मरोड़े हैं"। उदाहरण में केवल दो शब्द दिये गये हैं—एक, चाड़=चढ़कर और दूसरा, आब = आब। पर हम नम्रता-पूर्वक निवेदन करना चाहते हैं कि मिश्र-बंधुओं ने जिन दोहों से ये शब्द लिए हैं उनका अर्थ ही वे नहीं समझे। केवल प्रभुदयाल पांडेय की भ्रष्ट टीका के अनुसार आपने विहारी पर दोषारोपण कर डाला। अच्छा, पाठक, वे दोनों दोहे ये हैं। आप भी सोचिए और समझिए:—

कुच गिरि चढ़ि अति थकित ह्वै
चली डीठि मुख चाड़।
फिरि न टरी परिये रही
परी चिबुक की गाड़॥

तोही निरमोही लग्यो
मोही यहै स्वभाव।
अनआये आवै नहीं
आये आवत आव॥

पहले दोहे के चाड़ शब्द को आपने चाढ़ पढ़ा और अर्थ समझे चढ़कर। दूसरे दोहे में आव का अर्थ किया आब=रौनक। दोनों गलत। 'चाड़' शब्द का अर्थ है चाह, चाव, प्रेम। 'विहारी' से पहले सबके गुरुनंदास भाषा

तुलसीदास ने इस शब्द को इसी अर्थ में प्रयुक्त किया है:—

हित पुनीत सब स्वारथहिं,
अरि अशुद्ध बिन चाड़।
निज मुख मानिक सम दसन,
भूमि परे ते हाड़॥
(दोहावली)

'आब' का अर्थ जो मिश्रबंधुओं ने 'आब' = 'रौनक़' लगाया है इसके विषय में हम क्या कहें। पाठक ज़रा कष्ट करके स्वर्गीय पंडित अम्बिकादत्त व्यास कृत 'विहारी-विहार' और हरिप्रकाश टीका में इसका अर्थ देख लें। हमें आश्चर्य हो रहा है कि मिश्र-बंधुओं ने ऐसी धाँधली क्या समझ कर मचाई है। ख़ैर।

अब हम पाठकों को यह दिखलाना चाहते हैं कि मिश्र-बंधुओं के इष्ट कवि 'देव' जी ने तुकान्त के वास्ते कुछ शब्द मरोड़े हैं कि नहीं? इस दृष्टि से उनके ग्रंथ देखने से मालूम होता है कि देवजी को इसका भारी रोग था। इनकी सारी योग्यता अनगढ़ तुकान्त मिलाने और यमक जमकाने ही में ख़र्च हुई है। जान ऐसा पड़ता है कि पहले देवजी चौथे चरण की समस्या निर्धारित करते थे, फिर उसके लिए तीन तुकान्तों में शब्दों को मरोड़ कर धर देते थे। विहारी के लिए जिस मरोड़ा-मरोड़ी का दोष माना गया है, देव के लिए उसीको गुण बतलाया गया है। भला, इस पक्षपात का भी कहीं ठिकाना है?

प्रेमचंद्रिका की भूमिका में ज्येष्ठ मिश्र पं० गणेशविहारीजी लिखते हैं:—'ये सभी प्रकार के तुकान्त रखकर उन्हें सरलतापूर्वक निभा ले जाते थे"। उदाहरण में जिन छन्दों की ओर आपने इशारा किया है, उन्हें पाठक पढ़ें और 'देव' की देव-वाणी का मज़ा लूटें:—

(१)

पीछे पीछे डोलत है सामुहें ह्वै बोलत है
खोलत है घूँघट सुआनन **पुखोत** है।
पग पग मग में विछाय प्रेम पाँवड़े से
धोखेहू न भूलै देखा-देखी में **धुखोत** है
देव सखियान की सिराई अखियान ऐसे
निसदिन देखि अनदेखेहूँ **दुखोत** है।
इन्दुवदनी के नीके इन्दु से वदन अर-
विंदह्वै गुविंद अरविंदनि **सुखोत** है।
(सु. वि., पन्ना ३२, छन्द ६)

(२)

सेज ते धरनि पर पाय की धरनि रव
रेख अधरनि मधुरन **सुरबरी** लेत।
लूटि सी करत कलहंस जुग देव कहि
टूटि मनिहार छिति छूटि **दुरदरी** लेति।
बार बार बसन निहारत न पावै मोर
भौरन चकोरिन निहारि **छुरहरी** लेति।
नैननि तेरेरि टेरि चेरिन को फीके मुख
पीको मुख हेरि फेरि फेरि **फुरहरी** लेति।
(सु. वि., पन्ना ४४, छंद ५२)

(३)

स्याम सनमुख अभिराम सुख आठो जाम
सरस सकाम ह्वै बढ़ायो नेह **नूतना**।
प्रेम ते पुकारी वृषभान की कुमारी देव
हौंही गिरधारी हौंही मारी प्रेत **पूतना**।
नीलपट झपटि लपेटि छिगुनी पै राखि
टेरि टेरि कहै हँसि हँसि हरि **जूतना**।

बात विज्जुपात महामेह उतपात करि
सात दिनरात क्यों रिसात पुरहूत ना ।

(सु० वि., पन्ना ५१, छंद २३)

मिश्रजी इन तुकान्तों के लिए देवजी की पीठ ठोंकते हैं; पर हमें तो ये तुकान्त अच्छे नहीं जँचते, वरन इनसे 'देव' जी एक तुक्कड़ कवि प्रमाणित होते हैं। 'झालरैं' का तुकान्त मिलाने के लिए देवजी ने **'माल'** को **'मालरैं'** और **'विशाल'** को **'विशालरैं'** कर डाला है । उसका भी रसास्वादन पाठक-गण करें—

चाँदनी महल बैठी चाँदनी के कौतुक को
चाँदनी सी राधा बिछी चाँदनी विशालरैं ।
चंद्र की कलासी देवता सी 'देव' दासी संग,
फूल से दुकूल पैन्हे फूलन की मालरैं ।
छूटत फुहारे वै अमल जल झलकत
चमकै चँदोवा मनि मानिक महालरैं ।
बीच जर तारन की हीरन के हारन की
जगमगी ज्योतिन की मोतिन की झालरैं ।

(सुखसागरतरंग, पन्ना ४७, छंद १३९)

अब पाठक स्वयं विचार करें कि तुकान्त के लिए 'विहारी' ने शब्द मरोड़े हैं वा 'देव' ने ।

पाँचवाँ दूषण यह लगाया गया है कि विहारी के कुछ छन्दों में यतिभंग-दोष है । परंतु उदाहरणवत् जो दोहार्द्ध लिखे गये हैं उनमें तो हमें कहीं भी यति-भंग-दोष नहीं मिलता । इसके विपरीत, देव के छंदों में सैकड़ों ऐसे छंद मौजूद हैं जिनमें यह दोष पाया जाता है । उदाहरण देने से व्यर्थ लेख बढ़ने का भय है ।

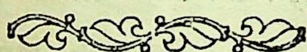
छठवाँ दोष कुछ छंदों में दूरान्वयी दूषण बताया गया है । दोहा छंद ही कितना बड़ा है जो दूरान्वयी दोष से क्लिष्टता आ जायगी । यदि मान भी लिया जाय कि यह दोष है, तो क्या मिश्र-बंधु यह कह सकते हैं कि 'देव' के छंदों में यह दूषण कहीं नहीं है ? हमारी समझ में तो 'देव' में यह दोष प्रचुरता से पाया जाता है ।

जिन जिन दोषों का निराकरण पं० पद्मसिंह शर्मा ने कर डाला है उन्हें हम छोड़ देते हैं । सातवाँ दोष विहारी पर शोहदई वा शोहदई-वर्णन का लगाया गया है । उदाहरण में निम्नलिखित दोहा दिया गया है:—

दो०—लरिका लेबे के मिसन लंगर मो ढिग आय ।
गयो अचानक आँगुरी छाती छैल छुवाय ॥

इस दोहे के कारण बेचारे 'विहारी' शोहदा कह दिये गये; पर मिश्रबंधुओं को यह भी विचारना चाहिए था कि जिस कवि ने अष्टयाम और जाति-विलास से ग्रंथ लिखे हों वह कितना बड़ा शोहदई-पोषक मनुष्य रहा होगा । प्रत्येक जाति की स्त्री के गुणावगुण गौर से देखना और घड़ी घड़ी के कृत्य बतलाना भलमंसी का काम तो कहा नहीं जा सकता । अतः स्पष्ट है कि 'देव' में शोहदई का वा उसके वर्णन की इच्छा का कुछ कम अंश न था । देखना ही हो, तो पाठक प्रेम-चंद्रिका ग्रंथ के ३९ वें पन्ने में ३७ वाँ छंद देख लें, और 'देव' के अन्य ग्रंथों में उनका विलक्षण प्रकार का नायिका-भेद भी देखें । जाति-विलास ग्रंथ इस बात का प्रमाण है कि 'देव' स्त्रियों को बड़ी तेज नज़र से देखा करते थे । पर-स्त्रियों को इतनी तेज़ निगाह से देखना शोहदई नहीं, तो क्या है ?

यदि यह कहा जाय कि 'विहारी' ने भी तो नायिका-भेद पर बहुत कुछ कहा है, तो इसका उत्तर यह है कि 'विहारी' ने जो कुछ कहा है वह अत्यन्त पवित्र भाव से, राधिका और कृष्ण के संबंध में ही, कहा है और उनका कथन भक्ति-भावना के अन्तर्गत आ सकता है; पर 'देव' जी ने तो 'जातिविलास' में नाम ले ले कर भारत की समस्त जातियों तथा सब प्रदेशों की नायिकाओं का वर्णन किया है जो पूर्णतया यह प्रमाणित करता है कि देवजी पराई स्त्रियाँ ही ताकते फिरते थे। ख़ैर, शुक्र है कि मिश्रबंधुओं ने भी इस को लखा है और 'नवरत्न' में लिखा है कि "इनका देश-वर्णन देखकर कहीं कहीं यह संदेह अवश्य उठता है कि इनका चालचलन बहुत ठीक न था" (पन्ना २०८)। अब पाठक स्वयं न्याय कर लें कि 'विहारी' और 'देव' में से कौन अधिक शोहदई का उपासक था। (क्रमशः)



व्यक्तिगत क्षमता किसे कहते हैं ?

(लेखक—राय सा० पं० लज्जाशंकर झा, बी० ए०)

"श्री शारदा" के किसी पिछले लेख में यह बतलाया था कि जीवन-संग्राम में कितने प्रकार की क्षमता की आवश्यकता है; परन्तु यह सब केवल सरसरी तौर पर किया जा सका था। आगे के लेखों में इस विषय पर विशेष बारीकी से विचार करने की आवश्यकता पड़ेगी।

पिछले लेख में जो उदाहरण दिये गये थे उनपर विचार करने से मालूम होगा कि क्षमता के दो मुख्य विभाग हो सकते हैं, अर्थात् व्यक्तिगत और सामाजिक। इस लेख में व्यक्तिगत क्षमता पर ही विचार किया जावेगा और वह भी उसके एक अंश में। व्यक्तिगत क्षमता से मेरा अभिप्राय उन सब प्रकार की क्षमताओं से है जिन्हें कोई भी व्यक्ति प्राप्त कर सकता है और जिन्हें प्राप्त कर लेने से उसे जीवन-संग्राम में जय पाने की सुविधा हो सकती है।

व्यक्तिगत क्षमता तीन प्रकार की कही जा सकती है, अर्थात् शारीरिक, मानसिक और नैतिक। शारीरिक गुणों के होने के कारण मनुष्य में आत्मोन्नति, धन-प्राप्ति, आत्म-रक्षा करने तथा दूसरों की सहायता करने आदि की शक्ति बढ़ जाती है और इसी कारण वह अधिक सुख से रह सकता है। यही शारीरिक क्षमता है। इसी प्रकार जिस मनुष्य की मानसिक शक्तियाँ अधिक तीव्र हैं और जिसकी बुद्धि अधिक गहरी जा सकती है अथवा जो औरों की अपेक्षा अधिक शीघ्रता से अपने विचारों को निश्चित करके कार्य में परिणत करता है वही मनुष्य व्यापार तथा अन्य व्यवसायों में उन्नति पाता है। बम्बई के बाज़ार में लोगों के मुँह से एक कथा सुनने में आती है। चौथी अगस्त सन् १९१४ के दिन प्रायः सारे शहर में यह ख़बर हो गई थी कि जर्मनी और इँगलिस्तान के बीच युद्ध छिड़ने वाला है। वहाँ एक अग्रसोची सेठ थे। उन्होंने विचार दौड़ाकर यह समझ लिया कि अब जर्मनी से रंग आना असम्भव है। उन्हें यह भी जच गया कि लड़ाई बहुत दिनों चलेगी। ये सब बातें समझ में आते ही उन्होंने चारों तरफ़ दलाल दौड़ाये और दूसरों को यह बात सूझने के पहले ही रंग का थोक माल जहाँ जिस भाव मिला सब ख़रीदकर रख लिया। फिर जैसे जैसे रंग की कमी होती गई, भाव चढ़ता गया और जब भाव दस बीस गुने दाम पर पहुँचा तब सेठजी ने उसे बेचा। कहते हैं कि ऐसा करने से उन सेठ साहब को कई करोड़ रुपयों का मुनाफ़ा हुआ।

सेठजी के मुनाफ़े में से तो हमें कोई हिस्सा लेना नहीं है; परन्तु यहाँ विचार करने का अवसर है कि उनमें ऐसे कौन कौन से गुण थे

जिनके कारण उन्होंने रंग के व्यापार में सबको मार गिराया और खुद बन गये। एक तो उनको सबके पहले यह सूझी कि इस युद्ध का असर रंग के व्यापार पर क्या होगा। दूसरे, युद्ध के आरम्भ में बहुमत तो यह था कि अधिक से अधिक पाँच छः महीने तक युद्ध रहेगा। कुछ ही लोग ऐसा अनुमान करते थे कि यह वर्षों तक चलेगा। इन सेठ साहब ने जो अपनी राय क़ायम की कि युद्ध बहुत समय तक चलेगा, सो ठीक निकली। फिर उन्होंने विचार करने में बहुत समय नहीं लगाया। जो कुछ निश्चय करना था तुरन्त कर उसके अनुसार कार्रवाई कर दी। बंबई बाज़ार में अनेक धनी व्यापारी ऐसे रहे होंगे जिनके मन में यह बात अवश्य आई होगी कि इस युद्ध के छिड़ जाने से व्यापार में क्या परिवर्तन होंगे; परन्तु या तो उन्होंने विचार अधिक न किया होगा, या डुलमुल रहे होंगे और जब उनकी आँखें खुली होंगी तब देखा होगा कि माल हाथ से निकल गया।

यह तो इस बात का उदाहरण हुआ कि विचार-शक्ति प्रबल होने से तथा तुरन्त ठीक फ़ैसला कर सकने की शक्ति होने से क्या लाभ होता है। एक दूसरा उदाहरण इस बात का लीजिए कि विचार अथवा आवश्यक ज्ञान कम होने से कैसी हानि होती है। सन् १९१८ के कार्तिक मास में जब ख़बर आई कि अब युद्ध बन्द होगा और सुलह होने वाली है, तब कलकत्ते के बाज़ार में अजीब हलचल मची। युद्ध के समय जब कपड़ा दिन प्रति महँगा होता जाता था तब बहुत से लोगों ने कपड़ों के गट्ठे के गट्ठे इस आशा से ख़रीद लिये थे कि और महँगा होने पर मुनाफ़ा उठाकर बेचेंगे; पर जब युद्ध अचानक बंद हो गया तब उन्होंने समझा कि अब कपड़ा सस्ता होगा और घबराकर अपना माल बेचना शुरू किया। दो तीन रोज़ बाज़ार की यह हालत रही कि जो धोती जोड़ा आठ साढ़े आठ रुपये में मिलता था वह तीन पौने तीन रुपये में मिलने लगा। जो लोग विचारशील थे उन्होंने यह सोचा कि युद्ध रुकते ही कपड़ों के कारख़ाने एकदम फिर से जारी हो नहीं सकते। कपड़े महँगे होने का कारण यह था कि पुतलीघरों में काम करने-वाले युद्ध में चले गये थे, कारख़ानों की मशीनें तोड़ मरोड़कर गोले बनाने का व्यवसाय चला हुआ था। जबतक संधि पक्की न होगी तबतक नई पल्टनें तोड़ना असम्भव है, कारख़ानों की मशीनें फिर बदलकर कपड़े बनाने के योग्य करने में समय लगेगा। फिर, लड़ाई से लौटे हुए मनुष्य अपनी अपनी जगह पर देर ही में आवेंगे। इन सब बातों का विचारकर उन्होंने समझ लिया कि अभी साल दो साल माल सस्ता होने का नहीं, इसीलिए उन्होंने अपना माल बेचा नहीं, उलटे सस्ते दाम पर जो माल, घबराये हुए मूर्ख लोग बेच रहे थे उसे भी ख़रीद लिया। नतीजा यह हुआ कि समझदार लोगों की थैली भारी हुई और मूर्ख लोग व्यर्थ घाटे में पड़े। युद्ध समाप्त हुए अब तीन साल होने पर आये; पर अभीतक माल सस्ता नहीं हुआ। जिन लोगों ने घबराकर कम दाम पर बेचा वे कैसे मूर्ख निकले इसका अनुमान पाठक स्वयं कर सकते हैं।

ये दोनों उदाहरण युद्ध के समय के हैं। इससे ऐसा न समझना चाहिए कि युद्ध के समय ही ऐसे मौक़े मिलते हैं। जीवन-संग्राम रातदिन चला हुआ है और उसके उदाहरण कहीं भी देखने को मिल सकते हैं। इसमें जिसकी बुद्धि गहरी होगी, जो अपने कार्य में अचूक लक्ष्य रक्खेगा, जो औरों की आवश्यकताओं को समझ समय पर उनकी पूर्ति करने की व्यवस्था कर देगा, जिसमें समय समय पर जो प्रश्न उपस्थित होते हैं उनका फ़ैसला विचारपूर्वक तथा ठीक ठीक तुरन्त कर देने का शक्ति होगी और जो स्थिर चित्त हो अपने फ़ैसले के अनुसार तुरन्त कार्रवाई करेगा उसीको व्यापार में तथा व्यवसाय में सफलता मिलेगी।

ज्ञान का होना आवश्यक तो है ही, पर उसके साथ विचार-शक्ति आदि उपरोक्त गुणों की भी आवश्यकता है। बहुधा देखने में आता

है कि कालेजों तथा युनीवर्सिटियों में जो मनुष्य नाम कमा लेते हैं उनमें से अनेक संसार में सफल नहीं होते। कारण यही है कि यद्यपि पुस्तकों के द्वारा उन्होंने ज्ञान उपार्जन कर लिया है; परन्तु उसका उपयोग करना नहीं सीखा, अर्थात् पढ़ा है, पर गुना नहीं। पुस्तकों से ज्ञान ग्रहण कर लेना एक बात है, पर उससे लाभ तभी हो सकता है जब मनुष्य उसे अपना ले और उसका उपयोग तुरन्त कर सके।

एक वैद्यराज की कथा है कि देवउठनी ग्यारस के पहले कई लोग उनके पास गये और उनसे सलाह पूछी कि क्या अब भटे खाना शुरू कर सकते हैं। वैद्यराजजी ने जवाब दिया कि नहीं भाई, देव-उठनी ग्यारस के पहले भटे कभी न खाना चाहिए; क्योंकि तबतक उनका रस परिपक्व नहीं होता और वे विकारी होते हैं। ख़ैर थोड़ी ही देर में वैद्यराज बाज़ार गये और घर के लिए भटे ख़रीद लाये। घरवालों ने पूछा कि उन लोगोंसे तो आपने कहा था कि अभी भटे विकारी हैं, फिर आप क्यों लाये। वैद्यराजजी ने उत्तर दिया कि वे पोथी के भटे थे और ये खाने के भटे हैं।

अब विचार करने का स्थल है कि यद्यपि वैद्यराज ने वैद्यक पढ़ी थी; परन्तु उसको अपनाया नहीं था। यदि उनका विश्वास यह था कि भटे खाने में कोई दोष नहीं, तो दूसरों को भी खाने देते और यदि वे यह समझते थे कि विकारी हैं तो स्वतः भी न खाते। वैद्यराजजी के समान बहुतसे शिक्षित जन हैं जिन्होंने उपार्जित ज्ञान पर मनन नहीं किया और मनन न करने से उनका उसपर पूरा विश्वास नहीं और विश्वास न होने से वे उसके अनुसार कार्रवाई नहीं करते। जब लहर आई तब उसके अनुसार कार्य कर दिया और जब लहर दूसरे तरह की आई तब उसके विरुद्ध करने लगे। ऐसे लोगों पर समाज का विश्वास नहीं जम सकता और ये लोग ऐसे कार्यों में जिनमें जनता से काम पड़ता है सफल नहीं होते।

पुस्तकों में दूसरों का दिया हुआ ज्ञान होता है। मनुष्य को जबतक निजी अनुभव न हो जावे तबतक उस ज्ञानका पूरा अर्थ उनकी समझ में नहीं आ सकता। किसी बालक को हजार बार मना करें, पर तौभी वह बार बार अपने हाथ दीपक की लौ की तरफ़ उसे पकड़ने को बढ़ाता है कारण यह कि अनुभव न होने से बड़े के कहे हुए शब्दों का अर्थ उसकी समझ में पूरी तरह नहीं आता। पर यदि एक बार भी उसकी आँच उसे लग जावे तो फिर वह हाथ न बढ़ावेगा और बड़े जो कुछ कहेंगे उसपर विश्वास करने लगेगा पाठशालाओं तथा कालेजों में पुस्तकीय ज्ञान दिया जाता है; परन्तु अनुभव नहीं कराया जाता। नतीजा यह निकला है कि पोथी-पंडित दुनियाँ में किसी काम के नहीं निकलते।

एक गुण और है जिसके बिना मनुष्य में क्षमता पूर्ण रूप से नहीं आती। वह है स्वतः काम करने की शक्ति। तुलसीदासजीने एक जगह कहा है कि 'पर उपदेश कुशल बहुतेरे, जे आच-रहिं ते नर न घनेरे'। अर्थात्, करके दिखानेवाला मनुष्य विरला ही है। जिसने हल नहीं चलाया अथवा अपने हाथ से काम करके अनुभव प्राप्त नहीं किया वह सचमुच में काश्तकारी या माल-गुज़ारी नहीं कर सकता। मध्यप्रदेश के देहात में दौरा करते समय मुझे बहुधा देखने में मिला कि ब्राह्मणों तथा बनियों के गाँव अथवा उनकी ज़मीन गिरी हालत में है और कुर्मी, जाट आदि जातियों के गाँवों में काश्तकारी अच्छी होती है।

इसका कारण क्या है? विचार करने से मालूम होता है कि इसका मुख्य कारण यही है कि ब्राह्मण और बनियों की अधिकांश बिरादरियों में हल छूने की मनाई है। इस सबब से उनको स्वतः कार्य करके अनुभव कम होता है और अनुभव कम होने से काम जितना चाहिए उतना अच्छा नहीं होता। एक अंगरेज़ सज्जन ने हँसी में, अधारताल की प्रदर्शनी के समय कहा था कि इस देश की भाषा में अकर्मक क्रिया का प्रयोग जितना नहीं होता उतना सकर्मक और प्रेरणार्थक का होता है। यदि बारीकी से विचार किया

जाय तो मालूम हो कि इसमें सत्यता की मात्रा कितनी अधिक है। इस देश की कुछ चाल ही पड़ गई है कि जब किसीसे कुछ काम करने को कहा जाय तो झट किसी दूसरे के ऊपर बला टाल देता है।

जब तक ऊपर से डाँट-डपट है तबतक काम थोड़ा बहुत होता है, जहाँ नर्मी हुई अथवा निगरानी न हुई कि इकदम ढील-ढाल शुरू हो जाती है। निगरानी भी रही तब भी कार्यकर्त्ता जितना कम हो सके उतना कम काम करेंगे। कहावत ही पड़ गई है कि जितनी धाँधली चल सके उतनाही अच्छा। पर लोग यह विचार नहीं करते कि इसका नतीजा क्या होता है। जो वेतन काम करने वाले को दिया जा सकता है उसका एक अच्छा हिस्सा निगरानी करनेवाले तथा उनकी भी निगरानी करनेवाले को दिया जाता है और असली काम करने वालों की उतनी रोटी छिन जाती है। इस पृथ्वी पर विरला ही कोई देश होगा जहाँ काम लेनेवालों की निगरानी पर इतना अधिक खर्च करना पड़ता हो जितना कि इस देश में। फिर भी, काम में कसर ही रहती है। इसका फल यह है कि यहाँ के कारख़ाने, व्यापार आदि पूर्ण उन्नत दशा में नहीं होने पाते और काम करनेवाले पेट भर भोजन नहीं पाते।

फिर कोढ़ में खाज यह कि बात की तो इज़्ज़त करना किसी को माना सिखाया ही नहीं जाता। "श्रीशारदा" के पाठकों में से प्रत्येक को यह अनुभव होगा कि यदि कपड़े सीने को दिये गये हैं तो समय पर बनाकर देनेवाले दर्ज़ी सौ में एक ही दो मिलेंगे। बिना दस-पाँच बार भटकाये और झूंठ वादे किये तो कपड़े देते नहीं। सुनार लोग और भी बढ़कर हैं। वे तो महीनों भटकाते हैं और जब तक कोई उनके सिर पर बैठकर काम न ले ले तबतक तो ज़ेवर बनाकर देंगे नहीं। चमारों का भी यही हाल है। इन्हींका क्यों कहें, अच्छे अच्छे सेठ साहूकार, चंदा ही देते समय कितनी बार भटकाते हैं? यदि कोई मनुष्य अपने जीवन के उस भाग का लेखा लगावे जो व्यर्थ भटकने अथवा बाट देखने में खर्च हुआ है तो वह कितना अधिक निकलेगा? उतने समय में वह कितने उपकारी और निजी कार्य कर सकता है? ऐसी कार्रवाइयों का फल यह होता है कि जो व्यक्ति बात का सच्चा होता है और समय पर काम करके देता है उसके पास लोग जाते और अधिक मेहनताना देकर उसे काम देते हैं। इससे उसका व्यवसाय बढ़ता और उसकी प्राप्ति अधिक होती है।

समय पर काम कर देने से ही मनुष्य व्यापारी संग्राम में जय नहीं पाता वरन उसके साथ यह भी चाहिए कि वह जैसा वादा करे वैसा ही काम करके दे, नहीं तो धीरे धीरे उसके व्यापार में क्षति होने लगेगी। यदि कोई अहीर रुपये का चार सेर शुद्ध दूध देने का वायदा करे, तो उसे चाहिए कि जबतक भाव बँधा है तबतक शुद्ध दूध ही दिया करे। यदि इतने में उसका पड़ता नहीं पड़ता तो भाव बदलने की कोशिश करनी चाहिए। पर कितने अहीर ऐसे हैं जो मनमाना भाव ठहराकर भी ठीक दूध देते हों या तौल में कसर न करते हों? यही हाल और सब बेचनेवालों का देखने में आता है।

इस देश में जहाँ मनुष्य का समागम अन्य मनुष्यों से होता है वहाँ बहुधा इसी प्रकार की धोखाबाज़ी और दन्दफन्द देखने में आते हैं। सुनार ज़ेवर बनाते समय ज़रूर कुछ सोना या चाँदी दबाने की कोशिश करेगा, दर्ज़ी से और कुछ न बने तो वह कुछ कपड़ा ही बचा लेगा, चमार जूतों के तलों में चमड़ा न डाल चिथड़ा भर देगा, सेठ-महाजन व्याज लगाते समय खींचतान कर नियत दर से कुछ ऊपर ही व्याज लगा कर मूर्ख किसानों को ठगेंगे। कहीं कुछ कहीं कुछ; पर थोड़ी बहुत धूर्त्तता सब जगह अवश्य देखने में आती है। कहीं सुनने में आता है कि एक तिलकधारी बाइस विस्वा के ब्राह्मण का पेशा यह है कि जहाँ किसी विधवा के हाथ जायदाद आई कि उसके मैनेजर बन बैठे और फिर धीरे धीरे उसे चाट बैठे। कहीं यह सुनते हैं कि देशोपकार का बीड़ा उठानेवाले अमुक महाजन

विशेषकर ऐसे लोगों के रुपया जमा करते हैं जिनके आगे पीछे कोई नहीं, ताकि उनके मरने पर माल हड़पकर जावें। कोई बड़े नामी धर्मोपदेशक धर्म के नाम रुपया जमा करते और अपने बाप-दादों के समय का क़र्ज़ अदा कर देते हैं।

ये सब नैतिक दुर्बलताएँ हैं जिनके रहने से मनुष्य कभी कुछ समय तक फल-फूल भी जावे, पर अन्त में उसका धीरे धीरे नाश होता है। उससे उसकी समाज को धक्का पहुँचता है। यदि कोई एक भार्गव बहुत रिशवत खाता हो, तो लोग समझने लगते हैं कि सभी भार्गव ऐसा ही करते हैं और फिर उस जाति के लोगों को भरोसे की जगह देने में आनाकानी करते हैं। यदि दो-चार मद्रासी सिपाही किसी मौक़े पर लड़ाई से भाग गये तो सब मद्रासी बेचारे बदनाम हो जाते हैं। यह माना कि एक या दो चार के दोष से जाति भरको बुरा समझना अन्याय है; परन्तु दुनियाँ में ऐसा ही होता है। सार यह है कि जिस समाज के मनुष्य हमेशा इस बात का ध्यान रक्खेंगे कि हमारे आचरणों से हमारा ही नहीं, हमारी समाज भर की नेकनामी या बदनामी होगी वह समाज शीघ्र उन्नत दशा में होगी। और उस मनुष्य की तो भलाई-बुराई उसके आचरणों पर है ही।

सार यह कि जीवन-संग्राम में प्रत्येक व्यक्ति में जितना मानसिक, नैतिक और शारीरिक बल होगा उतनी ही क्षमता उसको और थोड़ी बहुत उसकी समाज को आ जावेगी। मानसिक बल का अर्थ यह है कि विचार-शक्ति प्रबल और शीघ्र कार्य करनेवाली होनी चाहिए, निश्चय जो हो वह ठीक होना चाहिए और जो कुछ निश्चय हो उसपर अचूक लक्ष्य, दृढ़ संकल्प और तुरन्त कार्य कर डालने की शक्ति होनी चाहिए, उसमें स्वतः काम करने की शक्ति होनी चाहिए।

नैतिक बल का अर्थ यह है कि प्रत्येक मनुष्य को मिहनती, बात का सच्चा, काम का पक्का और अपना तथा अपनी समाज का यश चाहनेवाला होना चाहिए।

आत्मोत्सर्ग।

(लेखक—पं० दुर्गादत्त त्रिपाठी)

नील गगन में खेल रहा था निशिकर सुखद करों से।
सस्मित मंजुल हास छलकता था निशि के अधरों से ॥
निष्प्रभ से थे सारे तारे चारु प्रकृति-अंचल में।
नभ-झिलमिल से झलक रही थी प्रभा इंदु की जल में॥ १॥

विपुल-जला यमुना थी अविरल गति से छलछल करती।
श्यामल तरल तरंग चित्त की चंचलता थी हरती ॥
चन्द्रबिम्ब-उद्भासित किरणें जल पर दमक रही थीं।
स्वर्ण वर्ण कर सलिल-पृष्ठ को चमचम चमक रही थीं॥२॥

जल पर छोटे छोटे दीपक मनमोहक बहते थे।
निर्निमेष हो आँख मिलाये तारों से रहते थे ॥
उसी समय इस रम्य कूल पर करुणा सी कुछ छाई।
देखा मैंने विरह-विदग्धा कोई ललना आई ॥ ३ ॥

खिन्नमना पगली सी दीना इधर-उधर लखती थी।
कभी अश्रु--पूरित नयनों पर अंचल निज रखती थी ॥
बोली नलिन-लोचना ललना शशि को इंगित करके।
हृदय थाम कर, कातर स्वर से, अश्रु दृगों में भरके॥४॥

"कुत्सित-कपट प्रपूरित तू है इंदु, व्यथा का दाता।
तेरा कृत्रिम शीत हृदय में अंगारे बरसाता ॥
नीरवता है, सकल दिशायें हुईं मौन व्रतधारी।
किन्तु पास है नहीं हाय! वह प्रियतम की छवि प्यारी॥५॥

"प्रभो! विरह की व्यथा न दो अब केवल मृत्यु दिलादो।
मेरे पंच प्रभूत कृपाकर प्रिय से आज मिला दो ॥
क्षिति,जल,पावक, गगन, वायु ये मिलें आज प्रियतम से।
छूटूँ किसी भाँति विभुवर! मैं इस संसार अधम से॥६॥

"क्षिति! तुम मेरे प्रेमी का पथ सदया हो बन जाना।
जिनसे जीवनधन का उसमें होवे आना-जाना ॥
जल! तुम अपना अंश कृपाकर सरिता में ले जाओ।
करते समय स्नान प्रियतम के जिसमें दर्शन पाओ॥७॥

"पावक! प्रियतम के गृह रहना जिसमें वे सुख पावें।
शीतल फूँक प्रेमयुत देकर तन का तेज बढ़ावें॥
गगन! नाथ के गृह-प्रांगण को आच्छादित तुम करना।
पाकर दर्शन नित्य हृदय में निज आश्वासन भरना॥८॥

"वायु ! श्रांत-चित प्रियतम की तुम सारी क्लांति मिटाना।
और मनोमालिन्य नाथ ! का जाकर शीघ्र हटाना॥
वितरित कर अधिकार तुम्हारे तुम्हें, विदा होती हूँ।
महीमातु के सदय अंक में आज अभी सोती हूँ॥ ६॥

"यमुने ! ले अन्तर्हित कर दे अभ्यागता खड़ी है।
हृत्तन्त्री की दुखमय गाथा सुनकर व्यथित बड़ी है॥
जननि रत्नगर्भे ! बस, तूही आज रक्षिका मम हो।"
इतना कह यमुना में ललना कूद पड़ी निर्मम हो॥१०॥

हो प्रस्फुटित निरख यमुना को विरह-विलाप-द्रवित हो।
लीन हो गई अचल भक्ति से यमुना में प्रमुदित हो॥
वह अतीत गौरव-गरिमा लख प्रणय-भक्ति ललना की।
चकित रह गया कर सराहना दिव्य शक्ति ललना की॥११॥



वीर-हृदया सोफ़िया।

(लेखक—श्रीयुक्त रामदयाल मेहर)

(१)

रूस की स्वतंत्रता के लिए युद्ध में मरनेवालों की सूची में इतना पवित्र और उज्ज्वल नाम किसी और का नहीं, जितना कि उस रमणी का है जो एलेकज़ेन्डर द्वितीय की हत्या के साधन की एक मुख्य शक्ति थी। उसका नाम था सोफ़िया पैरास्किया। उसका जन्म रूस के अनन्त धनाढ्य तथा सर्वोच्च पैरास्किया-कुल में हुआ था। उसके पूर्वज, ज़ार की छत्रच्छाया ही में आश्रय पाते आये थे तथा स्वेच्छाचारी ज़ार के जीवन की रक्षा के लिए अपने जीवन को संकट में डालने के लिए प्रत्येक समय उद्यत रहते थे। पैरास्की-कुल रूस-साम्राज्य की महा उच्च एवं उत्तर-दायित्व-पूर्ण पदवियों को सुशोभित करता आता था। सोफ़िया पैरास्किया के पितामह एक समय शिक्षा-विभाग के मंत्री थे।

विख्यात काउन्ट पैरास्की, जिन्होंने निकोलस प्रथम के समय में मध्य रूस के कई प्रान्त जीते थे सोफ़िया के पिता के चाचा थे और स्वयं उसके पिता कई साल तक सैन्टपीटर्सबर्ग के गवर्नर जनरल रह चुके थे। सोफ़िया के जीवन की कमनीय कली का विकास पहली सितम्बर, सन १८५३ को इस पृथ्वी-तल पर हुआ था। उसकी माता प्रतिभाशालिनी तथा सुघर गृहिणी थी। वह अपना समस्त समय अपनी संतान की शिक्षा-दीक्षा में ही सदा व्यतीत करने को उत्कंठित रहती थी; किन्तु पाश्चात्य सभ्यता उसकी इस आकांक्षा में बाधाएँ उपस्थित करती थी। सोफ़िया की माता का हृदय कमल के समान कोमल था, किन्तु उसके पिता की प्रकृति ठीक इसके विपरीत थी। कठोर-हृदय पिता द्वारा ताड़ित सोफ़िया को स्नेह-मयी माता के करुणा-पूर्ण अञ्चल से अश्रु पोंछने का तथा उसीके ममता-मय कर-कमलों से सान्त्वना-दान ग्रहण करने का सौभाग्य परमेश्वर ने दिया था।

सोफ़िया सबसे छोटी लड़की थी। माता की शिक्षा उसे इस पाश्चात्य सभ्यता की कृत्रिमता से दूर ले जाना चाहती थी; किन्तु पिता की शिक्षा उसकी इच्छा के विरुद्ध उसे उच्च सोसाइटी में प्रवेश करने को ज़बरदस्ती धक्का दे रही थी। सोफ़िया अपनी माता की तरह सांसारिक सुखभोग को निःसार समझती थी और फ़ैशन के संसार को भार-स्वरूप अनुभव करती थी। वह इन आडम्बरों से दूर रहना चाहती थी; क्योंकि ये सब उसे उसके प्रिय पुस्तकों के राज्य की सीमा से दूर खींच ले जाते थे।

सन् १८६६ में क्रान्तिकारी काराकोयूफ (Karakoyofi) ने सेन्टपीटर्सबर्ग में एलक्जेंडर की हत्या की, जिसका फल यह हुआ कि सोफ़िया के पिता को नौकरी से हाथ धोना पड़ा। नौकरी छूटने के कारण पैरास्की का प्रभुत्व और सम्पत्ति कृष्ण-पक्ष के चन्द्रमा के समान दिन दिन क्षीण होने लगी। पैरास्की-कुटुम्ब की नौका डगमगाने लगी। अंत में, अतुल ऐश्वर्य्य में केवल एक छोटीसी ज़मींदारी बच रही। सोफ़िया की माता अपने बालकों की शिक्षा और लालन-पालन का संपूर्ण भार लेकर वहाँ निवास करने लगी।

जिस ग्राम में ये रहते थे वहाँ एक बहुत बड़ा पुस्तकालय था, जिससे सोफ़िया को अच्छी २ पुस्तकों के अध्ययन का अच्छा अवसर मिला। उसके भाई शासन-सुधार-सम्बन्धी नवीन विचारों से परिपूर्ण पुस्तकें उसके लिए ले आये थे। सन् १८६९ ई० में पैरास्की को अपने ऋण का परिशोध करने के लिए वह ज़मींदारी बेच देनी पड़ी। इस आर्थिक कष्ट से सोफ़िया की माता ज़रा भी अधीर नहीं हुई। उसने सोफ़िया और उसकी बहिन मेरी को उच्च शिक्षा प्राप्त कराने के उद्देश्य से कई बहुमूल्य चीज़ों को बेच देने में तनिक भी आगा-पीछा न किया। वह उसी साल ग्रीष्म ऋतु में मेरी और सोफ़िया को लेकर सैन्टपीटर्सबर्ग को चली गई।

सोफ़िया के माता-पिता एक दूसरे से विरुद्ध प्रकृति के थे; इससे आपस में उनकी बनती न थी। सोफ़िया का पिता बिना किसी कारण के बात बात में उसकी माता का तिरस्कार और अनादर किया करता था। कभी कभी सरल-हृदया सोफ़िया को भी पिता का अन्याय सहना पड़ता था। वह बेचारी अपना दुःख तो सह लेती थी; किन्तु उससे अपनी प्यारी माता का दुःख देखा नहीं जाता था। जब उसे ज्ञात हुआ कि अब निर्दय पिता से अलग रहना होगा, स्वतंत्रता की उपासिका सोफ़िया अत्यन्त प्रसन्न हुई। दोनों बहिनों ने उच्च कक्षा में अध्ययन करना शुरू कर दिया और बहुत थोड़े समय में उनके विचार परिपुष्ट हो गए। उन्हीं दिनों अनेक छात्रों से उनकी गहरी मित्रता हो गई। इन्हीं छात्रों में से अधिकांश ने बाद में रूस की राज्य-क्रान्ति में विशेष भाग लिया था।

जब सोफ़िया के पिता को यह सब हाल मालूम हुआ, तो उसने सोफ़िया को उन छात्रों के साथ जिन्हें वह निहिलिस्ट कहता था मेल-जोल न रखने की कड़ी आज्ञा लिख भेजी। पिता की इस आज्ञा से सोफ़िया के हृदय को बहुत चोट पहुँची। उसको अपना जीवन कण्टक-पूर्ण मालूम हुआ। जब इसका कोई और उपाय दिखाई न दिया, तो माता की सम्मति से सोफ़िया अपने घर से भाग गई। उसका पिता यह सुनकर अत्यन्त क्रुद्ध हुआ और उसने सोफ़िया की खोज के लिए पुलीस को रिपोर्ट कर दी। बाद में उसने सोफ़िया से यह प्रतिज्ञा करा ली कि वह उसे अपना मुख कभी न दिखावे। सोफ़िया अलग रहने लगी। वह अपने पिता की अनुपस्थिति ही में अपने अन्य सम्बन्धियों से मिल पाती थी।

इस प्रकार अपने बंधनों को तोड़कर सोफ़िया अब मुक्त हो गई। अब उसने अपना सारा समय आन्दोलन में भाग लेने में व्यतीत किया और वह Tchaykovesky Circle की सच्ची कर्मवीर मेंबर हुई। उन दिनों सन् १८७३ ई० में क्रान्तिकारी लोग रातदिन गिरफ़ार होते थे।

सब कारागार राजनीतिक क़ैदियों से भर गये थे। सोफ़िया भी पुलिस की नज़रों में गड़ गई थी। इसका फल यह हुआ कि सन् १८७५ की ग्रीष्म ऋतु में वह गिरफ़्तार हो गई। कठोर-हृदय पिता यह संवाद सुनकर अत्यन्त प्रसन्न हुआ; किन्तु उसकी माता यह दुःख कैसे सहन कर सकती थी। उसने प्राणप्रण से उसे छुड़ाने की कोशिश की। अन्त में सोफ़िया मुक्त हुई। माता के सदुपाय से वह क्रीमिया में बची हुई एक छोटी सी ज़मींदारी में जाकर रहने लगी।

रूस राज्य की दीन-हीन प्रजा के कष्ट को दूर करने के लिए सोफ़िया ने डाक्टरी सीखना आरम्भ किया। वह दाइयों के स्कूल में प्रविष्ट हुई और एक ही साल में उसने परीक्षा पास कर ली।

सन १८७७ के शिशिर में वह फिर गिरफ़्तार हुई। विख्यात राजनीतिक "१९३ के विचार" के अभियुक्तों में से वह भी एक थी। साम्यवाद का प्रचार करने के कारण ये लोग क़ैद किये गये थे। अदालत से सोफ़िया मुक्त की गई; परन्तु अपनी मुक्ति से ही वह सन्तुष्ट नहीं हुई। उसके हृदय में अपने अन्य साथियों को मुक्त कराने की लालसा विद्यमान थी। किसी तरह उसने उनको कारागार से निकाल भगाने की ख़ूब कोशिश की; किन्तु सोफ़िया के अमानुषिक प्रयत्न सफल नहीं हुए। इससे उसे बहुत ही मार्मिक आघात पहुँचा। वह अपने सहयोगियों की कारागार की दुर्दशा और वेदना का स्मरण कर कई दिनों तक रात रात भर रोती और सिसकती रही।

क्रान्तिकारियों के आन्दोलन को बढ़ते देखकर सरकार दिन दिन अधिक कड़ापन करने लगी। अभियुक्तों को असह्य दण्ड दिये गये। साम्यवादियों को मृत्यु-दण्ड दिया गया। गवर्नमेंट के इस दमन ने क्रांतिकारियों की आग में घी का काम किया और उन्होंने शीघ्र ही Narodnaya Volya नामक दल संगठित किया। सोफ़िया भी, कुछ हिचकिचाहट के बाद, उसीमें सम्मिलित हो गई।

उन्हीं दिनों उसके कई मित्रों ने रूस में विघ्न-बाधाओं के कारण उसे किसी दूसरे देश में उस आन्दोलन को जारी रखने के लिए कहा; किन्तु वीरांगना सोफ़िया ने उत्तर दिया—"मैं बाहर जाकर अपना समय नष्ट नहीं करना चाहती। मैं रूस में ही, मनुष्यों के अधिकार के लिए, गवर्नमेंट से लड़ूँगी और इसके लिए यदि मुझे प्राण-दण्ड भी दिया जायगा, तो मैं रूस में ही बड़ी प्रसन्नता से फाँसी पर लटक जाऊँगी।" सोफ़िया के इस उत्तर की सत्यता की साक्षी उसके अंतिम जीवन ने दी।

(२)

सोफ़िया को पूर्णरूप से कर्मक्षेत्र में आये थोड़े ही दिन हुए थे; किन्तु इतने थोड़े काल में ही उसने अपनी वीरता और तेजस्विता से बड़े बड़े विप्लव-कारियों को आश्चर्यान्वित कर दिया था। कठिन से कठिन उत्तर-दायित्व का भार उसे सौंपा गया और उसने सफलता-पूर्वक उसका निर्वाह किया। सन् १८७९ ई० में मास्को के समीप ज़ार की गाड़ी को बारूद से उड़ाने में उसका मुख्य भाग था। उसे यह भार सौंपा गया था कि वह ज़ार की गाड़ी के आने का समाचार अपने एक मित्र को दे जो इशारा पाते ही बैटरी के प्राणनाशक तार को रेलवे लाइन के नीचे के बम से जोड़ने के लिए नियुक्त था। वह सोचकर कि यदि उद्देश्य-सिद्धि के पूर्व ही पुलिस उन्हें पकड़ने को आ जाय, तो सोफ़िया अपने हाथ से नाइट्रोग्लिसरीन की शीशी से षड्यन्त्रकारियों के सहित अपने को उड़ाने के निमित्त तैयार रहे। यह सब कुछ प्रबंध

होने पर भी इस बार ज़ार की हत्या में सफलता न मिली। दूसरी बार प्रायः सोफ़िया ही के हाथ में निकोलस द्वितीय की हत्या का षड़यन्त्र रचा गया; किन्तु उसमें द्वितीय अलैकज़न्डर की मृत्यु हुई।

वह भीषण षड़यन्त्र सैन्टपीटर्सबर्ग की एक गली को सुरंगों से उड़ा देने का था। उसी गली से ज़ार बहुधा फ़ौजी घुड़दौड़ के स्कूल को देखने जाया करता था। सुरंग के फूटने से यदि ज़ार बच भी जाय, तो फिर ऊपर से बम की वर्षा करके उसका अन्त करना निश्चित किया गया था। इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए षड़यंत्र-कारियों ने "मैलो सोडोवाया स्ट्रीट" में एक मकान किराये पर लिया और पुलिस को धोखा देने के लिए उसमें किराने की एक दूकान खोली। छिपे छिपे गली में सुरंग लगा दी गई। एक दल बड़े भयानक बम लिये हुए ज़ार की प्रतीक्षा में सदर रास्ते पर तैनात कर दिया गया था। नियत समय पर बम को फेंकना, सुरंग का उड़ाना इत्यादि का संचालन सोफ़िया ही के हाथ में था।

१३ मार्च, सन् १८८१ ई० को द्वितीय एलैक-ज़ेन्डर राइडिंग स्कूल देखने गया। सोफ़िया शाही सवारी के लौटने की प्रतीक्षा कर रही थी। शाही सवारी आई। सोफिया ने ज्योंही रूमाल से इशारा किया कि एक बड़ा धमाका हुआ और ऊपर से बम की वर्षा हुई। गाड़ी के चूरचूर होने के साथ ही ज़ार का अन्त भी हो गया। सैकड़ों सैनिक भी स्वाहा हुए। एलेकज़ेन्डर द्वितीय की मृत्यु हुई अवश्य; किन्तु उसकी इस हत्या से एक अमित लाभ होने से रुक गया। हत्या के दिन दोपहर को ज़ार ने प्रजाको कुछ अधिकारों का देना निश्चित किया था। व्यवस्था तथा क्षमा-सम्बन्धी सुधारों पर विचार करने के लिए एक सभ्य संगठन के प्रस्तावित आयोजन पर हस्ताक्षर भी किये थे। यद्यपि ये सुधार पर्याप्त न थे, फिर भी ज़ार की स्वेच्छाचारिता को वश में करने का श्री-गणेश तो अवश्य था। यदि क्रांतिकारियों को ज़ार की इस उदारता का पता चल जाता, तो शायद ज़ार की हत्या न होने पाती; किन्तु ऐसा न हुआ। विधाता के विधान में बाधा देने की किसमें शक्ति है?

ज़ार की हत्या के बाद सेन्टपीटर्सबर्ग एक भयानक स्थल हो गया। सरकार क्रोध से मत्त थी और प्रजा भय से विह्वल। ज़राभी शक हो जाने से कोई भी पकड़ा जाता था। हत्या के बाद दो ही दिन में सिर्फ़ सेन्टपीटर्स-बर्ग में १०० मनुष्य शक में पकड़े गये थे। मनुष्यों का घर से निकलना कठिन होगया था। अनगिनती पुलिस-सिपाही तथा जासूस सब सड़कों और गलियों में नियुक्त थे। वे जिस किसी पथिक पर तनिक भी संदेह करते, उसे पकड़-कर असह्य यंत्रणा देते थे। राज्य-क्रान्तिकारियों का यह विश्वास था कि ज़ार की हत्या से समस्त रूस में क्रांति हो जावेगी और नवीन ज़ार भय की आशंका से शायद अपनी शासन-प्रणाली में उनके मत के अनुरूप परिवर्तन कर दे; अतएव ऐसे समय में षड़यन्त्र-कारियों ने कहीं भागकर छिप जाना अच्छा नहीं समझा।

विचारों और अपने उद्देश्य की सिद्धि में लगे हुए वे लोग इधर उधर घूमने लगे। शनैः शनैः पुलिस ने समस्त षड़-यन्त्र-कारियों को गिरफ्तार कर लिया। सोफ़िया के कई मित्रोंने उसे कहीं भाग जाने को बाध्य किया; किन्तु उसने ऐसी कायरता दिखाना उचित नहीं समझा। उस भयानक समय में

सोफ़िया सेन्टपीटर्सबर्ग की गलियों में अत्यन्त साहस के साथ निर्भय घूमती थी। कारागार का कष्ट और फाँसी की सज़ा के भय की छाया उस के हृदय-पट पर नाममात्र को भी न थी; किन्तु वह कब तक सुरक्षित रह सकती थी। अन्त में, १० मार्च को गिरफ्तार कर ली गई।

(३)

विचार का दिन आया। षड्-यन्त्र-कारियों के लिए एक विशेष न्यायालय की सृष्टि की गई, जिसमें प्रत्येक अपराधी ने बड़े गर्व और गौरव से अपने को Narodnaya Volya का मेंबर होना स्वीकार किया। विचारक ने सोफ़िया के ऊपर दोषारोपण करते हुए अपने विचार में कहा—"हम राजनीतिक षड़यंत्र की कल्पना कर सकते हैं! हम क्रान्तिकारियों के भयानक और कठोर उपद्रव की भी कल्पना कर सकते हैं। ऐसे उपद्रव में एक स्त्री के भाग लेने की कल्पना करना कुछ आश्चर्यजनक नहीं; किन्तु एक स्त्री एक ऐसे भयानक षड्यंत्र की नायिका हो सकती है, सम्राट् के वध करने का सारा प्रबंध अपने हाथ में ले सकती है, अपने इशारे से ऐसी दुर्घटना करा अपने कार्य्य की सफलता पर हर्ष से उल्लासित हो सकती है, यह हमारी कल्पना के बाहर है।"

न्यायालय द्वारा पूछा गया कि "तुम्हें कुछ अंतिम शब्द कहना है कि नहीं।" सोफ़िया ने उत्तर दिया, "विचारक ने कई दोष लगाये हैं जिन को हम स्वीकार कर चुके हैं। उनके सम्बन्ध में मैं कुछ भी कहना नहीं चाहती; किन्तु मुझे तथा मेरे साथियों को अधर्म, अन्याय और लोकमत के विरुद्ध काम करने का जो दोष लगाया गया है उसका मैं घोर विरोध करती हूँ। जो हमारे जीवन तथा हमारी कार्यप्रणाली से परिचित हैं वे कभी हमें अधर्मी, अन्यायी और नृशंस न कहेंगे।" न्यायालय द्वारा सबको प्राणदण्ड की सज़ा दी गई। सोफ़िया को भी मृत्युदण्ड मिला। सोफ़िया की सखी "जेसी हाफमैन" की सज़ा, उसके गर्भवती होने के कारण, स्थगित कर दी गई। मृत्यु-दण्ड तथा फाँसी होने के बीच ६ दिन तक इन अपराधियों को अन्य षड्यन्त्रकारियों का नाम बताने के लिए कई प्रकार की यातनाएँ दी गईं; किन्तु कुछ भी पता न चला।

जब किसी को फाँसी दी जाती थी, तो रूस के प्राचीन नियम के अनुसार अपराधी अपने कुटुम्बियों, इष्ट मित्रों आदि से अंतिम भेंट कर सकता था, अपनी जायदाद का प्रबंध कर सकता था; किन्तु इन षड्यन्त्र-कारियों पर यह रियायत नहीं की गई।

(४)

सोफ़िया की गिरफ़्तारी की ख़बर सुनते ही उसकी भग्न-हृदया माता तत्क्षण क्रीमिया से पीटर्सबर्ग दौड़ी हुई आई। जिस दिन सोफ़िया को यह आज्ञा सुनाई गई उसी दिन उसकी माता उसे दूर से देख सकी। माता के लाख अनुनय-विनय करने पर भी सरकार ने तनिक भी ध्यान नहीं दिया। माता ने सोफ़िया को फाँसी के दिन १५ अप्रेल को अंतिम बार देखा। वह कैसी भेंट थी? पाठक, आप भी देखिएगा?

एक सड़क पर माता को अपनी लड़की को देखने की आज्ञा मिली। माता शान्त-हृदय से सोफ़िया के आने की प्रतीक्षा कर रही है। उसका चित्त विक्षिप्त है, आँखों से अविरल अश्रुधारा बह रही है, भावों की सेना एक के बाद दूसरी आकर उसके कोमल हृदय के ऊपर प्रहार कर रही है। वह कभी सोचती है कि बेटी को एक बार गले लगाकर खूब ज़ोर से रोऊँगी। कभी सोचती है, मेरी संपत्ति को मुझसे कौन छीन सकता है? मैं जीवन

रहते किसी प्रकार उसे फाँसी पर न लटकने दूँगी। बहुत देर के बाद अंत में घड़घड़ की आहट सुनाई देती है। वह चौंककर देखती है कि एक गाड़ी आ रही है। गाड़ी उसके पास से गुज़रती है। उसकी छाती पर वज्र गिरता है। वह क्या देखती है। गाड़ी की खिड़की से उसकी वही प्यारी सोफ़िया दोनों हाथों को बाहर कर भक्ति भरे कंठ से—"प्रणाम, मा! विदा!" कहती है। एक सेकंड बीता। वह दयाहीन राक्षसी गाड़ी सोफ़िया को लेकर, फाँसी के स्थान पर पहुँचाने के लिए, आगे बढ़ गई। यही अंतिम भेंट थी। इसी भेंट के लिए सरकार से आज्ञा मिली थी।

सोफ़िया के आश्चर्यजनक नैतिक साहस ने अंत तक उसका साथ नहीं छोड़ा। शूली पर चढ़ते समय उसके चेहरे से प्रभा झलक रही थी, उसके मुख का भाव स्थिर और शांत था, मोह की एक क्षीण छाया भी नहीं थी। सोफ़िया का जीवन-कुसुम केवल २७ वर्ष की अवस्था में ही, राज हत्या के कारण, पद-दलित हुआ; किन्तु सोफ़िया को पूर्ण विश्वास था कि मैंने कर्तव्य और देश-भक्ति की-वेदी पर अपने प्राणों की बलि दी है।

शूली पर लटकने के पहले उसने अपनी माता के लिए एक पत्र लिखा। उसका सच्चा अनुवाद यह है—

"प्यारी मा,

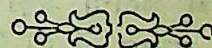
तुम्हारे कष्ट का ध्यान मुझे प्रत्येक क्षण सता रहा है। मा, मेरी विनती है, तुम मेरे कष्ट से अधीर न होना। मेरे लिए तथा अपनी संतान के कल्याण की रक्षा के लिए अपनी सावधानी रखना। मुझे अपने इस दुर्भाग्य पर तनिक भी दुःख नहीं है; क्योंकि मैं बहुत पहले से ही इसकी प्रतीक्षा कर रही थी। मैं धीर और शान्त हृदय से इसका सामना कर रही हूँ। मुझे केवल एक दुःख है, और वह है, मेरी अमूल्य-निधि मा, मेरे लिए तुम्हारा दुःख। हाय, मैं नहीं जानती कि इस जीवन की कौनसी वस्तु देकर इस कष्ट से छुटकारा पाऊँ।

"तुम्हारे आश्रित एक बड़ा परिवार है। मुझको और उनको, मा, तुम्हारे नैतिक बल की ज़रूरत है। मेरे हृदय का सदा यही दुःख रहा कि मैं उस नैतिक बल की, जो तुम्हारा आधार है, सीमा तक न पहुँच सकी; किन्तु मेरी दुर्बलता के अवसरों पर तुम्हारी छाया-मूर्त्ति मुझे आश्रय देती थी। अब मेरी तुम्हारे प्रति जो गाढ़ श्रद्धा है उसको प्रकाशित करने की ज़रूरत नहीं; क्योंकि मेरे बालकाल से ही तुम्हारा मेरे ऊपर अत्यधिक प्रेम रहा है। मा, मैं यही चाहती हूँ कि तुम धैर्य्य धरो और मेरे कारण तुम्हें जो कष्ट सहना पड़ा है उसके लिए मुझे क्षमा करो।

"मैं तुम्हारे कोमल करों का ध्यान कर, बड़े प्रेम से, उनका चुम्बन करती हूँ।

"सबके प्रति मेरा प्रेम-भरा अंतिम प्रणाम है। विदा होनेसे पहले मैं एक बार फिर लिखती हूँ, मेरे लिए शोक न करना। मेरी दशा करुणाजनक नहीं है, तुम्हें उसपर तनिक भी शोक न करना चाहिए।

तुम्हारी—सोफ़िया।"



अभ्यासाद्वा वैराग्याद्वा।

(लेखक—पं० ज्वालादत्त शर्मा)

(१)



यह निरा इत्तिफ़ाक़ न था—मेरे जीवन का एक अचूक सिद्धान्त हो चला था, बचपन से लेकर अबतक जबतक का इतिहास दिमाग़ के मुहाफ़िज़ख़ाने में सुरक्षित है, जीवन

के हर उतार-चढ़ाव के साथ यही बात घटना के रूप में नहीं, सिद्धान्त के रूप में, मिली हुई थी, यानी जब कोई बड़ी खुशी होती थी तब उसके साथ अनिवार्य्य रूप से उसी दिन, या २-४ दिन के भीतर, कोई बड़ी क्षति भी पहुँच जाती थी। किसी बड़ी खुशी का सुख मैंने कभी चैन से नहीं भोगा, मेरे सुख के फूल में काँटा सदा चुभा रहा। जिस वर्ष मैं प्रवेशिका परीक्षा में प्रथम आया था उसी वर्ष मेरे अभिभावक मामा महाशय का देहान्त हुआ था। इतनी प्रसन्नता उन्हें अवश्य हुई थी कि वे मृत्यु से कुछ घण्टे पहले मेरे पास होने का समाचार सुन चुके थे। मैं एफ़० ए० में दूसरे विभाग में उत्तीर्ण हुआ तो कुछ न हुआ। विवाह हो गया और ऐसा रत्न हाथ लगा कि मालामाल हो गया। बी० ए० में फिर भाग्य ने ज़ोर मारा और तीसरे नम्बर पर पास हुआ। बस, फिर क्या था, ग़ैबी गोला तय्यार था। बूढ़ी मा छत से गिरकर स्वर्ग की सीढ़ी पर चढ़ गईं। एम० ए०, एल०-एल० बी० के संयुक्त इम्तिहान में तीसरा विभाग मिला तो कुछ न हुआ। दूर के एक रिश्तेदार के मर जाने से ३-४ हज़ार का माल हाथ लग गया। वकालत की दूकान खोलने के लिए "प्रोनोट" लिखने की नौबत न आई और अर्द्ध-कृच्छता के कारण साइनबोर्ड पर "एम० ए०, एल०-एल० बी० के नीचे 'Pleader' लिखाने की लज्जा न उठानी पड़ी। इससे क्या, मेरी बड़ी खुशी के गुलाब में तो विष का बुझा हुआ काँटा लगा हुआ था। मामूली खुशी और रञ्ज तो रोज़ की बातें हैं, उनका जोड़ तो जीवन है ही। इनकी न शिकायत है और न इनसे घबड़ाहट ही। ये तो रातदिन की तरह आते जाते रहते थे; किन्तु मेरे जीवन में जब कभी सुधा-रस का छींटा लगा तभी वेबादलका वज्र गिरा।

पहले तो मैं भी इन बातों को इत्तिफ़ाक़ ही समझता था; किन्तु ज़ब बारबार ऐसा ही हुआ और इस नियम का अपवाद हाथ न लगा तब किसी बड़ी खुशी के होते ही मेरा जी सुस्त पड़ जाता था—समझता था यह तो आनेवाली किसी विपत्ति की सुन्दर सूचना है।

एक दिन मेरी बहिन ने अपने घर जाते हुए कहा—"भाई, ईश्वर की दया से अब घर में सब कुछ है। बस, भाभी की गोद में एक नन्हें से लड़के की कसर है। अब ईश्वर यह खुशी और शीघ्र दिखाये।"

मेरी बहिन ने कन्या-पाठशाला में पढ़ा तो छठे दर्जे तक ही था; किन्तु उसे पति बड़ा सहृदय और मालदार मिला था। वहाँ जाकर उसने वर्तमान हिन्दी-साहित्य की अच्छी अच्छी पुस्तकें पढ़कर अपनी मस्तिष्क-भूमि को काफ़ी तौर पर जोत-बो लिया था। उसकी साहित्य में विशेष रुचि है। इसलिए मुझे उससे बात-चीत करने में बड़ा आनन्द आता है। मैंने कहा—

'सुन री चन्दा, लड़के का होना जब खुशी की बात होगी तब होगी, अब तो है नहीं। कम से कम मुझे नहीं है और जहाँ तक मैं जानता हूँ, तेरी भाभी को भी नहीं है। आज-कल की खुशी की बातें ये हैं—(१) बैङ्क में हर साल कुछ रुपया खर्च से बचकर जमा हो जाय, (२) मकान का बँगला हो जाय, (३) फ़िटन की मोटर होजाय, (४) बिना खर्चे और झंझट के लाट साहब के यहाँ की मेम्बरी मिलजाय तो कुछ मुज़ायक़ा नहीं। है तो यह झगड़े की बात; किन्तु इस बहाने बड़े बड़े अंगरेज़ों से भेंट करने का सुभीता हो जाता है। ये तो परम सुख हुए। अब और सुखों को सुन—(१) शहर में बीमारी न फैले, (२) खाने-पीने की चीज़ों का टोटा न हो, (३) नौकर

मिहनती और ईमानदार मिल जायें, (४) धोबी ठीक समय पर कपड़े साफ़ धोकर दे जाय। बस, फिर मौज है। खुशी है और तन्दुरुस्ती हज़ार न्यामत है। ऐसी दुआ दे, इन सुखों में घाटा न आवे। रहे लड़केबाले—।

उसने बात काटकर कहा—'भैया, वकालत के साथ तुम्हारी झक भी बढ़ती जाती है। क्या बेमानी तूल बाँधा है। बिना लड़के के घर सूना है। लड़के की खुशी दुनिया में सबसे बड़ी खुशी है। ये बातें तो थोड़ी बहुत सबको नसीब होती हैं। ये कोई सुख हैं—।'

मैंने कहा—'अरी, तो भूलकर मेरे लिए ऐसे बड़े सुख की कामना न करना। अब घर में गिन्ती के दो आदमी रह गये हैं। बलिदान के लिए फालतू एक भी नहीं। मुझे कोई बड़ी खुशी बिना बदला दिये नहीं मिली। हमारी खैर इसीमें है कि अब हमें कोई बड़ी खुशी न हो—तू तो जानती ही है। अच्छा, स्टेशन चलने की तयारी कर, गाड़ी का समय हो गया।'

(२)

मेरी वकालत साधारणतया अच्छी चलती थी। लोग कहते थे कि नये वकीलों में मेरा नाम अच्छा है; किन्तु मेरा जो कुछ प्रसार था मुन्सिफ़ी के अन्दर ही था। सब-जजी के शाही दरबार में अभी मेरा यथेष्ट प्रवेश नहीं हुआ था। वहाँ का जो काम मुझे मिलता था वह ऐसा होता था कि उसमें मेरी योग्यता के जौहर न खुलते थे। किसी बड़े मुक़द्दमे में होता तो चार सीनियर वकीलों के साथ पुछल्ले के रूप में। अकेला होता तो मुक़द्दमा निहायत सादा होता। एक गवाह पेश होते ही ख़तम! दस दस, बीस बीस रुपये फ़ीस के मुक़द्दमों में ११ बजे से ४ बजे तक मुन्सिफ़ी में बोलते बोलते या बकते बकते और हुज़ूर हुज़ूर कहते कहते अब मुझे नागवार होने लगा था। इसलिए अब मुझे वे मुवक्किल दुश्मन दिखाई पड़ते थे जो मुन्सिफ़ी में तो मुझे जोतते थे और सबजजी में दूसरे गद्दीधारी वकीलों की जेबें भरते थे। जब कोई बड़ा आदमी मुझे झगड़े के किसी बड़े मुक़द्दमे में खड़ा करता, तो मैं मन ही मन उसका अहसान मानता था और बड़ी मिहनत से उसके मुक़द्दमे को चलाता था। इस बीच में यदि वह भला मानस बीमार होजाता तो अपने मुंशी को भेजकर उसका कुशल-समाचार मँगा लिया करता था।

एक दिन राय बहादुर सेठ केसरीमल को अपने यहाँ आते देखकर मुझे बड़ा हर्ष हुआ। मैंने समझा कि आज तो सोने की चिड़िया फँसती दिखाई देती है। किसी बड़े मुक़द्दमे में मशवरा लेने आये दीखते हैं। मैंने उन्हें उठकर लिया और बड़ी ख़ातिर से बिठाया। वे इधर-उधर की बातें करके बोले—'पण्डितजी, आज आपको खुशख़बरी सुनाने आया हूँ। सच है, गुण की क़द्र होती है। अब आपका नाम खूब चमक रहा है। कल शाम को मैं कलेक्टर साहब से मिलने गया था। उनकी इच्छा है कि लिबरल लीग का मन्त्रिपद आप ग्रहण करें तो बहुत अच्छा हो। वे आपकी बहुत प्रशंसा करते थे। इसके लिए आपसे अच्छा आदमी मिलना मुश्किल है। मैंने आपकी ओर से हामी भर ली है। आज शाम को वहाँ इसी लीग की फिर एक गुट्ट होगी। आपको बुलाया भी है।"

यह सुनकर यद्यपि बढ़िया मुक़द्दमे का स्वप्न तो भंग हो गया; किन्तु उसी क्षण ध्यान आया कि इसे भी मुक़द्दमा ही समझकर क्यों न स्वीकार करूँ। गौराङ्ग प्रभुओं का कृपा-पात्र बनने का अच्छा सुयोग है। इसे क्यों खोऊँ। जब वकालत जैसा अधम पेशा करता हूँ जिसमें गवाहों

को पढ़ाना पड़ता है, मुवक्किलों को चालें सुझानी पड़ती हैं तब हड़बड़ाकर जगी हुई प्रजा या उसके नेता महात्मा गांधी के साथ तो हो नहीं सकता, फिर राजा के पक्ष का आश्रय ही क्यों न लूँ।

मैंने मुँह को सुस्त बनाकर कहा—"सेठजी, यद्यपि मुझे अब कांग्रेस से कोई दिलचस्पी नहीं है, क्योंकि उसका कार्य्य-क्रम अब मेरी समझ से परे की चीज़ है। मैं अभी तक खद्दर-स्वराज्य का अर्थ नहीं समझ सका हूँ; किन्तु साथ ही आपकी लीग से भी मुझे विशेष लगाव नहीं है। आप यदि मुझे क्षमा कर दें, तो अच्छा है।"

बूढ़ा मेरी रज़ामन्दी को ताड़ गया, बोला—'नहीं पंडितजी, ऐसा न कहिए। शहर के सब रईस उसके मेम्बर हैं और कलेक्टर साहब तो उसके पृष्ठ-पोषक हैं ही। आप इस अवसर को हाथ से न जाने दीजिए। खद्दर का भूत कुछ दिनों में स्कूल-कालेज छोड़ने की बीमारी की तरह उतर जायगा। भला कहीं इन बातों से स्वराज्य मिलता है? आप शाम को अवश्य चलें और उस पद को स्वीकार करें।"

आखिर मैंने मंजूर कर लिया। 'जब यार मै पिलाये तब क्यों न पीजिए।'

(३)

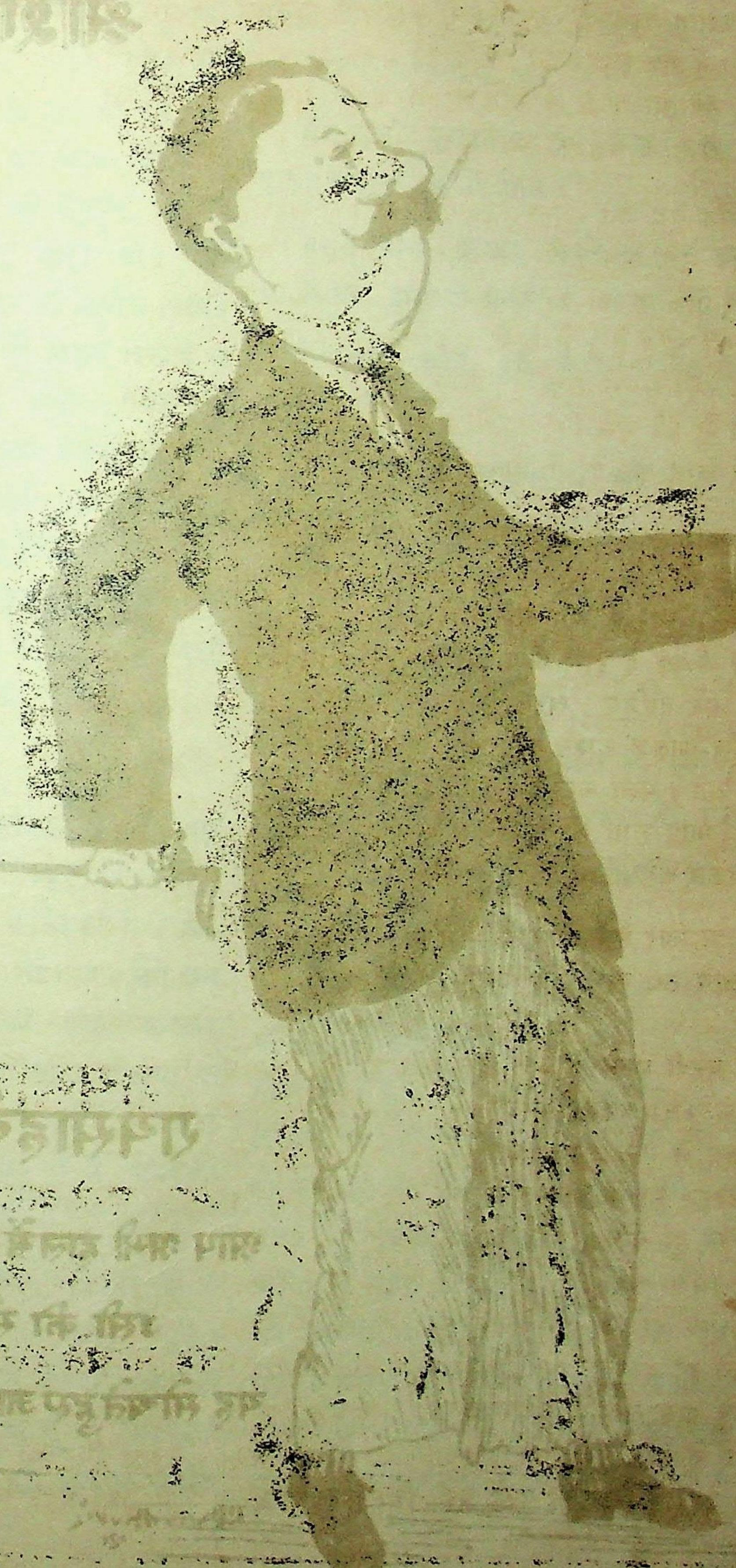
मन्त्री बनने के १५ दिन बाद ही मेरे भाग्य से सरकारी वकील पर फालिज गिरा और कलेक्टर साहब ने मुझे उसका पद दे दिया। मैंने देखा कि कलेक्टर साहब के व्यवहार में, बात-चीत में, बड़ा अन्तर हो गया है। मैं उनसे पहले भी दो चार बार मिला था, किन्तु तब तो बड़ी खुश्की से मिलते थे। एक दो बार तो उन्होंने मुँह में सिगार दबाये दबाये ही दो-चार बातें करके मुझे टाल दिया था, किन्तु अब जब मैं जाता घण्टों बातचीत करते, शहर के हाल पूछते रहते। लीग का काम कैसा चल रहा है--इसकी उन्हें बड़ी चिन्ता रहती थी। अपने अहाते में मेरे साथ घूमते, और कभी अपने चित्र-संग्रह की मुझे सैर कराते और मेरी चित्रों की तारीफ़ पर मुझे 'अहले नज़र' क़रार देते। मैं भी वही था, वह भी वही थे, फिर न जाने क्या बदल गया था जो उनका व्यवहार इतना सरल हो गया था।

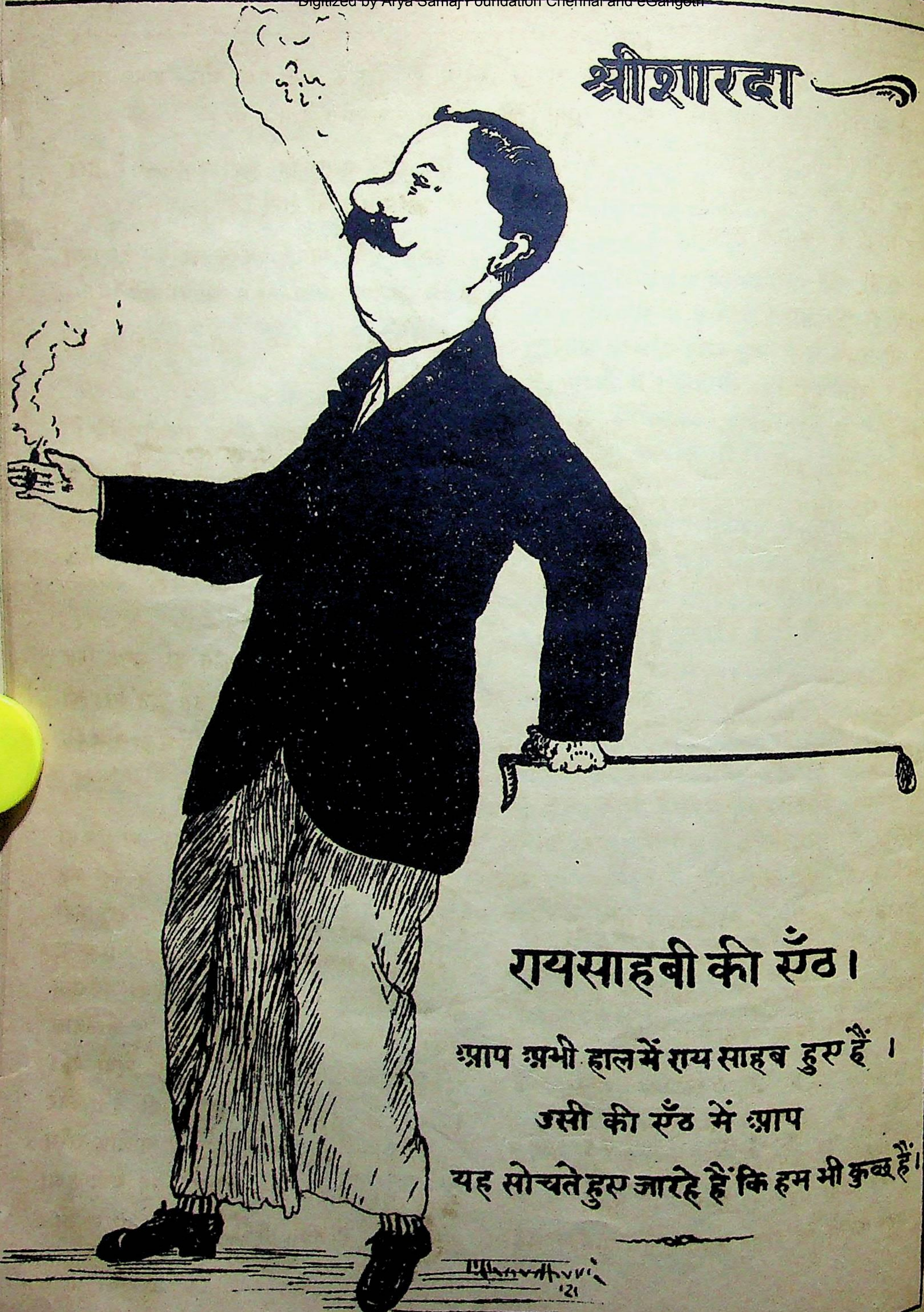
सरकारी वकील बन जाने पर मेरा भाग्य चमका। मुन्सिफ़ी के काम से पिण्ड छूटा और शाही इजलास में मेरा प्रवेश हुआ। जज साहब मुझे खूब मानते थे। दीवानी की अपीलों में मेरा मुक़ाबला करनेवाला कोई वकील न था। कलेक्टर साहब के इजलास से भी मुझे खासी आय होने लगी।

एक राजनीतिक मुक़दमे में अभियुक्त की ओर से बाहर से एक बड़ा बैरिस्टर आया। कलेक्टर साहब ने कहा--'अमरनाथ, उसके लिए तुम्हीं काफ़ी हो। यह बड़ा मुक़द्दमा है। मैं इसमें तुम्हारी फ़ीस के विषय में सिफ़ारिश लिखूँगा। तुम्हीं काम करो।'

यह सुनकर जितना हर्ष हुआ उससे कहीं अधिक अपनी योग्यता के बल पर उस बैरिस्टर के साम्हने उस मुक़द्दमे को जीतकर हुआ। इस जीत का समाचार सुनाने के लिए मैं कचहरी से सीधा साहब के बँगले पर पहुँचा जो मेरे लिए अब शेर की कन्दरा या साँप का बिल नहीं, किन्तु एक मित्र का स्थान था। वे बहुत खुश हुए और बोले, 'अमरनाथ नये वर्ष की सूची इस बार तुम्हारे लिए विशेष आकर्षण रक्खेगी।"

मैंने बड़ी नम्रता से धन्यवाद दिया। मनमें सोचने लगा- रायसाहबी या रायबहादुरी! यों तो मुझे दोनों अपने नाम पर फिट होते दिखाई नहीं देते थे; किन्तु अन्त में मैंने रायबहादुरी को ग़नीमत समझा। रायसाहबी से तो मुझे सचमुच चिढ़ थी। उसे तो मैं कौड़ी के मोल भी लेना नहीं चाहता था।




श्रीशारदा
रायसाहबी की ऐंठ।
आप अभी हाल में राय साहब हुए हैं।
उसी की ऐंठ में आप
यह सोचते हुए जारहे हैं कि हम भी कुछ हैं।
'21

कलेक्टर के बँगले से निकलकर जब मैं अपनी गाड़ी में सवार हुआ तब मुझे ध्यान आया कि घरे-येतो किसी 'बड़ी खुशी' के ठाठ हो रहे हैं। ईश्वर ख़ैर करे; किन्तु मकान पर आकर देखा तो ख़ैर न थी। एक नये उत्पात की सूचना मिली। स्त्री सूखा मुँह लिये उदास खड़ी थी। मैंने आज की सफलता के समाचार की खूराक पिलाई तो भी उसके चेहरे पर खुशी के असर दिखाई न दिये। उसने बड़ी दृढ़ता से कहा—"यह सब पाप है, इसे छोड़ दो। मैं आज स्त्रियों की सभा में गई थी। वहाँ सब स्त्रियाँ तुम्हारी निन्दा करती थीं—मुझे सबने नक्कू बना लिया। लोग देश के लिए जेल जा रहे हैं, तुम्हें रायबहादुरी की पड़ी है। मैंने तो क़सम खाली है, आज से विदेशी वस्त्र न पहनूँगी, चाहे तुम कुछ भी कहो।"

(४)

मेरे पड़ोस में बाबू कमलाप्रसाद जमींदार रहते हैं। उनका सारा परिवार कट्टर असहयोगी है। उसी परिवार की स्त्रियों में बैठकर मेरी स्त्री, सुभद्रा, को भी यह हवा लग गई। जब मैंने उस से तर्क की तो वह तोते की तरह खटखट जवाब देने लगी। असर इतना गहरा होगया था कि गृह-कलह की नौबत आ गई। मैंने बिगड़कर कहा—"तुम यों नहीं पहनोगी, तो मैं जबर्दस्ती तुम्हें रेशमी साड़ी पहनाऊँगा।"

उसने चट से जवाब दिया—"नौकरशाही के चेले हो न, आख़िर धाँधली पर उतर आये। जबर्दस्ती की क्या बात है। जिसे मैं बुरा समझती हूँ उसे क्यों पहनूँ। मैं भी तो तुमसे जबर्दस्ती नहीं करती कि खद्दर पहनो। हाँ, प्रार्थना अवश्य करती हूँ देश के नाम पर और अपने तुच्छ दासीपन के सम्बन्ध के नाम पर।"

मैंने योंही मुसकुराते हुए कहा—"मैं तुम्हें दासी समझता हूँ या रानी?"

उसने नीची निगाह करके कहा—"ज़बर्दस्ती का शिकार दासियाँ बनती हैं या रानियाँ?"

मैंने पास आते हुए कहा—"वह प्रेम की बात थी।"

उसने हटते हुए कहा—"यह धर्म की बात है।"

आख़िर मैंने ही हार मानकर गृह-कलह के धूम्रकेतु को पारिवारिक शान्ति के आकाश से हटाया।

(५)

उस मुक़द्दमे की बड़ी फ़ीस का लम्बा बिल जिस दिन 'पास' होकर आया उस दिन मेरी स्त्री का बहुत तङ्ग हाल था। डाक्टर लोग कहते थे कि आज की रात बहुत भारी है।

निमोनिया का घोर आक्रमण था। कभी आँख खोल देती थी। बात करने में बड़ा कष्ट होता था। मुझे अन्धकार के सिवा कुछ नहीं दिखता था। मशीन की तरह मैं उसकी परिचर्य्या तो कर रहा था; किन्तु मेरे दिमाग़ को किसीने मानो निकाल लिया था। होनेवाले अनिष्ट ने पहले से ही मुझे जड़ बना दिया था। मेरे घर की लक्ष्मी, मेरे हृदय की देवी, मेरे मनकी शान्ति, मेरे अन्तःकरण की आलोक-रश्मि आज बुझनेवाली है। ईश्वर, यह क्या हुआ चाहता है। सोचता, कहीं यह स्वप्न तो न हो

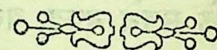
रातको कोई १० बजे उसे कुछ होश हुआ। मैं उसके पास ही था। उसने मेरा हाथ अपने हाथ में लेकर कहा—"स्वामिन, अब मेरे चलने का समय आ गया है। क्षमा माँगती हूँ और एक तुच्छ भिक्षा भी।"

मैंने रुँधे कण्ठ से कहा—"जीवन-धन, इतनी निराश क्यों होती हो? भिक्षा नहीं, हृदयेश्वरि, आज्ञा करो। मेरे तुच्छ प्राण तुम्हारे ऊपर न्यौछावर होने को फड़फड़ा रहे हैं, प्राणाधिके।"

उसने कहा—"और कुछ नहीं, स्वामिन्, मेरी अर्थी पर खद्दर पड़े। मेरे क्रिया-कर्म्म में किसी विदेशी वस्तु का प्रयोग न हो, देव! नहीं तो मेरी आत्मा को कष्ट पहुँचेगा। मेरे व्रत की रक्षा करना, मेरे व्रतपाल!"

× × ×

मैंने अपने मित्र से कहा—"भाई, मेरे असहयोगी बनने का रहस्य यह है। तुम्हारा आश्चर्य्य ठीक था। सिद्धांत-गत भेद-भावों को भुलाकर अब मैं उस आत्मा की शान्ति के लिए जो पृथ्वी पर मेरे जीवन को आनन्दमय बनाये हुए थी और अब उत्तरोत्तर पवित्र बना रही है—इस आन्दोलन में शरीक हुआ हूँ। मुझे आशा नहीं, पूर्ण विश्वास है, कि मेरे इस मार्ग पर चलने से मेरी स्त्री को स्वर्ग में अवश्य शान्ति मिलती होगी। इससे बढ़कर और किसी पुरस्कार की अब मुझे इस जीवन में इच्छा नहीं है। मित्र, दो कारणों ही से कोई बड़ा परिवर्तन होता है—या तो उसका अभ्यास चिरकाल तक किया जाय, या उसके विरुद्ध जो विषय हैं उनसे वैराग्य हो जाय। अभ्यास की सड़क बहुत लम्बी और सरल है। भाग्यवान् मनुष्य उसपर चलते हैं और धीरे धीरे मार्ग का आनन्द लेते हुए सिद्धि के मार्ग पर अग्रसर होते हैं। तुम बहुत समय से इस परिवर्तन की तयारी कर रहे थे। तुम अभ्यास की सड़क पर होकर मार्ग का आनन्द लेते हुए जहाँ आये हो मुझे वैराग्य का प्रबल झोंका वहीं ले आया है। सौभाग्य से अब मैंने तुम्हें पकड़ लिया है! मुझे रास्ता दिखाते चलना, कमज़ोर साथी समझकर मुझे मत छोड़ जाना, मैं तुम्हारे साथ हूँ।"



मेक्सिको की अज़टक जाति।

(लेखक—राय साहब पं० रघुवरप्रसाद द्विवेदी, बी० ए०)

एक समय था जब कि मध्य अमेरिका के मेक्सिको देश में अज़टक नाम की एक प्राचीन जाति थी। कोई कोई विद्वान् कहते हैं कि मेक्सिको देश में ऐसे मन्दिरों के खंडहर पाये गये हैं जिनके निर्माण की शैली तथा जिनमें स्थापित देवता हम हिन्दुओं की शैली तथा देवताओं के समान थे। यह भी कहा जाता है कि किसी समय भारतवर्ष से लेकर अमेरिका तक एक वृहत् महाद्वीप था जो अटलांटिस कहलाता था। प्राकृतिक परिवर्तन होने से अब उस महाद्वीप के अधिकांश भाग पर हिन्द महासागर तथा अटलांटिक महासागर लहरा रहे हैं। हाँ, बीच बीच में उस महाद्वीप के कुछ भाग जलमग्न नहीं हुए और अब सिलोन, मडागास्कर आदि द्वीपों के नाम से प्रसिद्ध हैं।

विद्वानों का यह भी अनुमान है कि इस महाद्वीप पर एक प्राचीन जाति रहती थी जो अटलांटीय जाति कहला सकती है ।

यदि हम इन कथनों को सत्य मान लें तो हमें कई आश्चर्यजनक बातों का पता लग सकता है । हमारी रामायण में प्राचीन स्वर्णमयी लंका का जो विस्तार है वैसी लंका अब कहाँ है ? क्या सीलोन को ही हम रावण की लंका मान सकते हैं ? मालूम होता है कि वर्तमान सीलोन द्वीप किसी बड़े भू-भाग का अंश-मात्र है । कदाचित् वह भू-भाग विद्वानों का अटलांटिस ही रहा हो । साथ ही, यह भी माना जा सकता है कि प्राचीन काल में जब यह द्वीप विद्यमान था तब भारत-वर्ष और मेक्सिको के बीच आवागमन था और समग्र अटलांटिस महाद्वीप में एक ही धर्म्म कई रूपों में फैला हुआ था; अतएव अज़टक जाति की मन्दिर-निर्म्माण-शैली, देवता आदि हमारे देवताओं के समान रहे हों तो आश्चर्य्य ही क्या ?

सन् १५२१ में कार्टिज़ नामक स्पेनी सेनापति ने मेक्सिको देश जीतकर उसे स्पेन देश के वृहत् साम्राज्य में मिला दिया । उस समय के स्पेनवाले धर्म्मान्धता के लिए प्रसिद्ध थे । दूसरे धर्म्मों का नाश करके उनके माननेवालों को ईसाई बना लेना वे अपना कर्तव्य समझते थे । कार्टिज़ने मेक्सिको में जो अत्याचार अज़टक जाति पर किये उनकी तुलना में महमूद ग़ज़नवी, औरंगज़ेब, नादिरशाह आदि मुसलमान बादशाहों के हिन्दुओं पर किये गये अत्याचार निरे पासंग है ।

अब ईसाई जातियों में आगे के समान धर्म्मान्धता नहीं रही । अब यूरोप और अमे-रिका में मूर्ति-पूजकों के शिल्पादि कौशल की पूरी पूरी क़दर होने लगी है और प्राचीन मूर्तियाँ आदि पुरातत्व की दृष्टि से उपयोगी समझी जाने एवं रक्षित रक्खी जाने लगी हैं । इस उदारता का एक दृष्टान्त यह है कि मेक्सिको नगर के बड़े गिरजाघर के समीप की भूमि खोदकर मंदिरों की सामग्री निकाली गई और कौतुकालय में रक्खी गई है । इसी सामग्री में से अज़टक जाति का उपर्युक्त वृहत् राशिचक्र है जिसके देखने से स्पष्ट मालूम होता है कि अज़टक लोगों को ज्योतिष का अच्छा ज्ञान था और उन लोगों ने भी उसी उद्देश्य से इस विद्या का अध्य-यन किया था जिस उद्देश्य से हमारे आर्य्य पूर्व्व-जों ने किया था । धार्मिक कृत्यों के लिए शुभ मुहूर्त्त स्थिर करना ही दोनों के ज्योतिष-अध्ययन का प्रयोजन था । यह राशि-चक्र अज़टक-पंचांग के नाम से प्रसिद्ध है । वहाँ के निवासी अब उसे El Relox da los Indios कहते हैं जिसका अर्थ होता है "* इंडियन-कालसूचक-यंत्र ।" मेक्सिको के प्रसिद्ध पुरातत्ववेत्ता सेनरआल फ्रेगे ने उसका नाम "सूर्य्य-शिला" रक्खा है । इस अद्भुत यंत्र का विवरण हम इसी लेख में आगे लिखेंगे । यहाँ इतना कह देना आवश्यक समझते हैं कि प्राचीन अज़टकों ने ज्योतिषविद्या में बहुत कुछ उन्नति करली थी । उनके मन्दिर हमारे यहाँ के दक्षिणी मन्दिरों के समान स्तूपा-कार होते थे । इन मन्दिरों के शिखर पर एक प्रकार का मान-मन्दिर बनाया जाता था जिसमें बैठकर मन्दिर के पुरोहित वा पुजारी आकाश के नक्षत्रों का अवलोकन किया करते

* अमेरिका के मूल निवासी इंडियन कहलाते हैं ।

और शंख-नाद के द्वारा लोगों को धार्मिक उत्सवों वा कार्य्यों का ठीक मुहूर्त्त घोषित किया करते थे। ये लोग यह भी बतलाया करते थे कि अब कितने बजे हैं। ये लोग सूर्य की गति का अवलोकन कर ज्योतिष की कई बातें बतला सकते थे। सूर्य्य के मार्ग को वे "नहुई औलिन टोनाटियुक" कहते थे। प्रत्येक ग्राम वा नगर के हाट या बाज़ार के स्थान में एक वर्तुलाकार पत्थर लगा रहता था जिसकी आकृति एक ढाल के समान होती और उसमें 'नहुई औलिन' के चिह्न खुदे रहते थे। प्रत्येक ग्राम का एक अधिष्ठाता देवता भी होता था।

चार वर्ष हो जाने पर अज़टक लोग एक बड़ा उत्सव मनाते और अग्निदेव का पूजन करते थे। इस पूजन में नर-बलि दी जाती थी। ५२ वर्ष व्यतीत होने पर इनका एक युग हुआ करता था। प्रत्येक युग के अंत में एक महोत्सव हुआ करता था जिसके उपलक्ष में सैकड़ों नर-बलि दी जाती थी। अज़टक जाति समझती थी कि युग के अंत में महाप्रलय होना संभव है। अतएव युग के अंतिम दिन वे लोग रात्रि भर बहुतही भयभीत रहा करते थे। वे उसी दिन अपना सब सामान तोड़फोड़कर नष्ट कर देते और प्रत्येक घर तथा मन्दिर की अग्नि जो युग भर कभी बुझने नहीं पाती थी बुझा दिया करते थे। इससे स्पष्ट है कि वे लोग प्राचीन आर्य्यों के समान आहिताग्नि होते थे। हमारे ऋषि-महर्षि भी तो इसी प्रकार अग्निदेव को दिनरात प्रज्ज्वलित रखते और इस भय से कि अग्नि बुझ जावेगी वे बिना प्रबन्ध किये कहीं बाहर नहीं जाते थे। अज़टक जाति का भी ऐसा ही विश्वास था। युग के उस अन्तिम दिन अर्द्ध रात्रि से एक प्रहर पूर्व नगरनिवासियों का एक बड़ा जुलूस नगर से चलकर ३ मील की दूरी पर एक पहाड़ी पर जाया करता था। इस जुलूस के आगे उनके पुजारी या पुरोहित रहा करते थे। पहाड़ी पर जब Plaiadis नामक नक्षत्र-समुदाय सिर के ऊपर आ जाता था तो युद्ध में पकड़े गये एक क़ैदी की छाती पर दो लकड़ी रखकर अग्निदेव प्रज्ज्वलित किये जाते थे। इस नई अग्नि के प्रकाश को देख आसपास के लोग बहुत प्रसन्न होते और उत्सव मनाते थे; क्योंकि वे समझते थे कि देवगणों ने प्रसन्न होकर हमें यह उष्णता और प्रकाश अर्थात् नवजीवन प्रदान किया है जिससे कि अब आगे ५२ वर्ष के युग तक हम महाप्रलय से रक्षित रक्खे गये हैं।

प्रातःकाल होने पर इस नई अग्नि को लेकर पुजारी लोग हूइट ज़िलो पोचल्टी नामक युद्धदेवता के मंदिर को यह अग्नि ले जाते और उसीसे जलाकर यह नई आग मन्दिरों तथा घरों को पहुँचाई जाती और वहाँ फिर ५२ वर्ष तक रक्षित रखी जाती थी। नये सम्वत्सर के पूर्व रात्रि के समय किसी बड़ी होली से आग लाकर घर की छोटी होली जलाने की प्रथा हमारे यहाँ अब भी है। यह नवाग्नि-उत्सव कई दिनों तक समारोह-पूर्वक मनाया जाता था। १३ दिनों तक मकानों की मरम्मत और पुताई होती थी। इन्हीं दिनों नये कपड़े तथा बर्तन-भाँडे बनवाये जाते थे। यही क्या, सभी वस्तुएँ नई होती थीं। नये युग के नये दिन १२ बजे तक बलिदान हुआ करते और कोई भी अज़टक इसके पूर्व्व जल ग्रहण नहीं करता था। नूतन बलि जिस शिलाखंड पर

दी जाती और जिस पत्थर की नाँद में रक्त एकत्र किया जाता था वे दोनों मेक्सिको नगर के कौतुकालय में अभी तक हैं । इस रक्त-ग्राहि-णी नाँद को सूर्यदेव की नाँद कहते थे। इस शिलाखंड का व्यास ८ फुट और ऊँचाई ३ फुट है। राशि-चक्र के मिलने के १ वर्ष पश्चात् सन् १७९१ के दिसम्बर महीने में यह बलि-शिला-खंड मेक्सिको नगर के एक चौक में गड़ा हुआ मिला था। रक्त-ग्राहिणी-नाँद गोल और लम्बी है और उसके निम्न भाग में अस्त होते हुए सूर्य्य भगवान् की मूर्ति खुदी हुई है। इस नाँद की सतह पर दो कटिबंध हैं जिनमें से ऊपरी कटिबंध में ३ बिन्दुमालाएँ हैं जिनसे त्रिकाल का संकेत होता है। निम्न कटिबंध में उन दो काष्ठों की प्रतिमा बनी हुई हैं जिनको जलाकर प्रत्येक ५२ वर्षीय युग से आर-म्भ के युग में नये अग्निदेव प्रज्ज्वालित किये जाते हैं। जिन पात्रों में अग्नि सदा रक्षित रहा करती थी उनका एक नमूना अब भी मेक्सिको के कौतु-कालय में विद्यमान है। उसकी ऊपरी सतह में बहु बाहु अग्निदेव की प्रतिमा बनी हुई है और इन अनेक बाहुओं का अर्थ यह है कि अग्नि देवता सदा सृष्टि-रचना में लगे रहते हैं और उन्होंने समग्र सृष्टि का निर्म्माण किया है।

"इज़कोजाहकी" अर्थात् स्वर्णमय-प्रकाश अथवा सूर्य्यदेव की प्रतिमा भी अग्निदेव की प्रतिमा के साथ खुदी हुई है। कभी कभी ये अज़टक सूर्य्य और अग्नि को एक ही समझ लेते और इस मूर्ति को सूर्य्याग्नि कहते थे।

अब हम उन लोगों के पाषाण-निर्मित राशि-चक्र या पंचांग का कुछ विवरण जिसका उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं यहाँ देते हैं। इसका इतिहास मानो अज़टक जाति के ज्योतिष-विज्ञान की कुंजी है। कहते हैं कि सन् १४७९ ई० में अर्थात् कोलम्बस द्वारा अमेरिका का पता लगने के १३ वर्ष पूर्व्व कायोकेन में अज़टकों ने एक विशाल राशिचक्र का निर्माण करके उसे टिनो-चिटलेन नामक मेक्सिको की राजधानी में जिसे अब मेक्सिको-नगर कहते हैं स्थापित किया था। सन् १५२१ में कार्टिज़ के आक्रमण के समय ईसाई पादरियों ने उसे एक दल-दल में गड़वा दिया था। सन् १७९० ई० के दिसम्बर मास तक वह वहीं गड़ा रहा और किसीने उसकी ख़बर न की। इस महीने में मेक्सिको के बड़े गिरजाघर के सामने के चौक को नीचा करने के प्रयोजन से जब ज़मीन खोदी गई तो यह विशाल पाषाण निकाला गया। इसके बाद वह गिरजे के दक्षिणी मीनार में जड़ दिया गया और सन् १८८५ के अगस्त मास में लोग उसे निकाल कर बड़े परि-श्रम से कौतुकालय को लाये। तब से वह वहीं रक्खा है। एक प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् ए. वान हमबोल्ड का अनुमान है कि उसका वज़न ५३,७९२ पौंड अर्थात् ६७२ मन से कुछ ऊपर है। उसका व्यास ११ फुट ८ इंच है और वह उत्तम दानेदार 'बसाल्ट' पत्थर से बना हुआ है। एक चित्र में दिखलाया गया है कि किस तरह बहुत से मज़दूर उसे लकड़ी के मोटे मोटे लट्ठों पर रस्सियों से खींच कर लाये थे।

मेक्सिको के मूलनिवासी "तेजोजमक" नामक इतिहास-लेखक ने सन् १५६४ ई० में इस पाषाण के उद्देश्य और प्राप्ति के विषय में लिखा है कि महाराज अक्षयाकूतल की मृत्यु के दो वर्ष पूर्व्व, सन् १४७८ में, एक मन्दिर जिसमें बहुत

नर-बलि होनेवाले थे बनकर तय्यार होने पर था। महाराज ने राज-घोषणा की कि जो मज़दूर एक बड़ा शिला खण्ड पहाड़ से काटकर लावेंगे वे बराबर भोजन और कपड़े पाते रहेंगे और जो शिल्पकार उसपर सूर्य्यदेव की मूर्ति तथा राशिचक्र खोद देंगे उन्हें स्वर्ण, मिठाई, और रंगीन छपे हुए वस्त्र प्रदान करूँगा। महाराज की यह घोषणा सुनकर अनगिन्ती मज़दूर पहाड़ को गये और एक वृहत् शिलाखंड काटा जिसे ५,००० मनुष्य राजधानी तक घसीट लाये। कहते हैं कि जब वे लोग उसे एक पुल पर से ले जाने लगे तो वह पुल टूट गया और पत्थर पानी में जा गिरा। यह सुन महाराज को बड़ा क्रोध आया और उन्होंने आज्ञा दी कि तुरन्त दुहरी कड़ियां लगाकर नया पुल बनाया जाय और कायाकिन पहाड़ से दूसरा शिलाखंड काटकर लाया जाय। इस दूसरे से एक बड़ी नाँद बनाई जाय जिसमें नर-बलि देते समय रक्त इकट्ठा किया जाय ऐसा ही किया गया और जलाक के पुल पर से दोनों शिलाखंड राजधानी को लाये गये।

जब सूर्य्य-प्रतिमा तथा राशि-चक्र खुद गया और नाँद भी बन गई तो महाराज अत्त्वयाकुतल ने अपने मित्र राजाओं को निमंत्रण भेज महोत्सव में सम्मिलित होने के लिए बुलाया और इस राशिचक्र-रूपिणी वेदी तथा नाँद की प्रतिष्ठा सन् १४८१ में बड़े समारोह के साथ की गई। उत्सव के दिन प्रात:काल होतेही १३ मन्दिरों के पुजारी बलि देने की पवित्र (!) छूरियाँ ले ले कर उस वेदी पर पहुँचे और नर-बलि देने का कृत्य आरम्भ हुआ। वेदी के समीप ७२८ क़ैदी जो तिलूहतपक के युद्ध में पकड़े गये थे खूब सजधज के साथ बैठाये गये। सूर्य्य निकलते ही धूपदानी लिये हुए एक पुजारी ने उस सूर्य्य-प्रतिमा एवं राशि-चक्र अंकित वेदी की परिक्रमा ४ बार की और फिर उस धूपदानी को वेदी पर पटक कर फोड़ डाला। तत्पश्चात् महाराज वेदी पर गये, और उन्हींके कर-कमलों से नर-बलि रूपी हत्याकांड आरम्भ हुआ। अहो! धर्म्म के नाम से मनुष्य कैसे कैसे अधर्म्म कर बैठते हैं! उसदिन वह नाँद ७२८ नरों के रक्त से भर गई, और इतनेही हृत्पिंड भी उसमें डाले गये।

अज़टक जाति के पंचाङ्ग-रूपी इस राशि-चक्र का काल-निरूपण इस प्रकार है:—अज़टक मास में केवल २० दिन होते थे। प्रत्येक मास पाँच पाँच दिनों के ४ खंडों में विभक्त था। ऐसे १८ मासों का एक वर्ष हुआ करता था। प्रत्येक दिन के नाम (१) ऊषाकाल (२) वायु (३) गृह (४) छपकली (५) सर्प (६) मृत्यु (७) मृग (८) शशक प्रभृति थे। ५वाँ, १०वाँ, १५वाँ और २०वाँ दिन शुभ समझा जाता था और इन्हीं दिनों को बाज़ार भरता था। एक मास को ये लोग एक गोल चक्र द्वारा अंकित करते थे जिसमें २० दिनों के २० अंक रहते थे। इसी प्रकार वर्षचक्र कुछ बड़ा रहता और उसमें १८ मासों के १८ अंक रहते थे और बीच में चंद्रमा की मूर्ति बनी रहती थी।

अज़टक लोग १३ के अंक को बहुत पवित्र मानते थे, क्योंकि इनका युग ५२ वर्षों का होता था जिसके तेरह तेरह वर्षों के चार भाग रहा करते थे। प्रत्येक युग के प्रथम १३ वर्ष शशक और इसी प्रकार शेष ३ गुंदला, चकमक और गृह कहलाते थे।

सौर वर्ष से चांद्र वर्ष में ४ दिन कम होते थे। इनकी पूर्त्ति दिन जोड़कर ५२ वर्ष के युग में की जाती थी। यह अज़टक-पंचाङ्ग जुलियस सीज़र के पंचाङ्ग से ४८३ वर्ष पहले का था। ये लोग बालक का किसी राशि में जन्म लेना शुभ और किसी में अशुभ समझते थे। विवाह, युद्ध आदि सभी कार्य्यों के लिए शुभ मुहूर्त्त शोधा जाता था। दिन का तीसरा और सातवाँ घंटा शुभ समझा जाता था। मन्दिर के ऊपर चढ़कर पुजारी लोग शंख बजाकर घंटे का निर्देश करते थे।

५२ वर्षीय युग के चार विभागों को प्रदर्शित करने के लिए इन लोगों ने अपने राशिचक्र में + ऐसे चिह्न खोद दिये थे। चार ऋतुओं के प्रगट करने के भी संकेत थे, जैसे शिशिर अर्थात् जड़काले के बतलाने के लिए तेंदुवे का मस्तक बना दिया जाता था, जो शक्ति का चिह्न था। वसन्त ऋतु का द्योतक एक गृह अर्थात् मकान होता था, जिसमें अग्नि रक्षित रहने से वह उष्णता का चिह्न समझा जाता था। ग्रीष्म और वर्षा काल का चिह्न गुंदला होता था जो जल का द्योतक था। पतझड़ का चिह्न एक शशक या खरगोश रक्खा गया था; क्योंकि वही फ़सल आने का समय था।

पाठकगण! आप देखेंगे कि अज़टक लोगों के धार्मिक विश्वास, रस्मरिवाज आदि बहुत कुछ हिन्दुओं के विश्वास तथा रस्मरिवाज से मिलते-जुलते थे।

पुस्तकादि-परिचय।

१. गाँधी-गौरव—लेखक, पं० नरोत्तम व्यास, प्रकाशक, आर. एल. बर्म्मन एण्ड कम्पनी, ३७१, अपर चीतपुर रोड, कलकत्ता; पृष्ठ-संख्या ३५०; चित्र-संख्या, २५; मूल्य सुनहरी रेशमी जिल्द वाली प्रति का ३॥)

भारतवर्ष में राष्ट्र-संन्यासी महात्मा गान्धी का पवित्र नाम आसमुद्र हिमाचल भारतवर्ष की जनता के प्रत्येक श्वासोच्छ्वास में सम्मिलित हो गया है। करोड़ों भारतवासी महात्माजी में अवतार की शक्ति देखते हैं, और महात्माजी के सिद्धान्तों के कट्टर से कट्टर विरोधी भी उनकी विशाल निष्कपटता, असीम नैतिक साहस, आध्यात्मिक गम्भीरता और आदर्श व्यक्तित्व की प्रशंसा करते हैं। वर्तमान राजनीति में उनका नाम इस प्रकार घुल-मिल गया है कि कोई भी इतिहास-लेखक, आधुनिक काल का इतिहास लिखते समय, बहुत प्रयत्न करके भी, महात्माजी का नाम अलग नहीं कर सकता। बात तो यह है, आधुनिक राजनीति में उनका वही भाग है जो रामायण में श्रीरामचन्द्रजी का है।

ऐसे महापुरुष के जीवन-वृत्त से भला कौन न परिचित होना चाहेगा? हिन्दी में छोटी-मोटी बीसों पुस्तकें हैं जिनमें महात्माजी के कार्य्य-कलापों का वर्णन है; परन्तु इस ग्रन्थ-सूर्य्य ने उन सब दीपकों की ज्योति मलिन कर दी है। महात्माजी के जीवन की प्रायः सभी ज्ञातव्य घटनाओं और उनके कार्य्यों और कार्य-प्रणालियों का विशद विवेचन इस ग्रन्थ में है, और बड़ी भारी बात तो यह है कि ग्रन्थ-लेखक इन सबका वर्णन करता हुआ पाठकों को आधुनिक आन्दोलनों के कारणों में से जीते-जागते वर्तमान काल में ले आता है और कोई भी निरपेक्ष पाठक पूरी पुस्तक पढ़कर यह कह सकता है कि मैं महात्माजी को भली-भाँति जानता हूँ। पुस्तक के अन्त में बेनरपूर, होजेन आदि की जो सम्मातियाँ दी गई हैं उनसे पुस्तक की उपयोगिता और भी बढ़ गई है। लेखशैली रोचक, भाषा निर्दोष और विवेचन स्पष्ट है। हमारी सम्मति है कि यह पुस्तक राष्ट्र की गीता है।

पुस्तक जिस प्रकार सर्वथा पठनीय हुई है, उसी प्रकार यदि जिल्द बँधवाने में विदेशी रेशमी वस्त्र के बदले में धवल-कान्ति खादी का व्यवहार किया गया होता, जैसा कि कलकत्ते की हिन्दी-पुस्तक-एजेन्सी, काशी का ज्ञान-मण्डल आदि कतिपय पुस्तक-प्रकाशक करने लगे हैं, तो कोई भी देशभक्त भारतवासी

इस पुस्तक को अपने पास रखने में अपना गौरव समझता। आशा है, प्रकाशक भविष्य में इस ओर ध्यान देंगे और ज्ञान-भाण्डार के स्वदेशीपन की पूर्ण रक्षा करेंगे।

२. राम बादशाह के छः हुक्मनामे—अर्थात् स्वामी रामतीर्थ के व्याख्यान; प्रकाशक, हिन्दी-पुस्तक-एजेन्सी, १२६, हरिसन रोड, कलकत्ता; पृष्ठ-संख्या १६३; खद्दर की जिल्द; मूल्य १।)

भारत के उपवन में आध्यात्मिकता की उस मस्त कोकिल की कूक आज शान्त है; परन्तु अभी इस उपवन में ऐसे अनेक द्विजराज होंगे जिनके कानों में अब भी वह कूक गूँज रही होगी और जिनकी हृदय-तंत्री उस मस्त राग से बज उठती होगी। स्वामी रामतीर्थ को हुए अभी दिनही कितने हुए हैं? सन् १९०७ ई० में उन्होंने जल-समाधि लेली। इस संसार को उन्होंने अपनी आयु के केवल ३३ वर्ष ही दिये। इन ३३ वर्षों में ही वे विद्यार्थी रह चुके, एम० ए० की परीक्षा पास की और पंजाब विश्व-विद्यालय भरमें सर्व-प्रथम आये। गृहस्थ भी हुए, वानप्रस्था भी धारण किया, सन्यास-वृत्ति भी नहीं छोड़ी—इस प्रकार चारों आश्रमों का धर्म पालन किया। प्रकृति देवी के सुन्दरतम स्थान—काश्मीर—में भ्रमण किया, अद्वैतवाद का प्रचार करने अमेरिका गये, जपान गये और न मालूम कहाँ कहाँ गये।

स्वामी राम विद्या के अगाध समुद्र थे। उन्हें पदार्थ-विज्ञान से प्रेम था। रसायन और वनस्पतिशास्त्र का भी अच्छा ज्ञान था। तत्त्व-ज्ञान में विकासवाद उनका प्रिय विषय था। उन्होंने समस्त पाश्चात्य और पूर्वीय-दर्शन-शास्त्रों का, अपने ढंग से पूर्ण, अध्ययन किया था। वे फ़ार्सी, अंग्रेज़ी, हिन्दी, उर्दू और संस्कृत साहित्यों में पारंगत थे। उन्होंने चारों वेदों का भी अध्ययन किया था। वैदिक ऋचाओं के प्रत्येक शब्द का विश्लेषण वे एक शब्द-शास्त्री के समान करते थे। मतलब यह, ३२ वर्ष की अवस्था में उन्होंने जो कुछ कर दिखाया वह आश्चर्य-जनक है।

स्वामी राम के जीवन का उद्देश अद्वैत-वाद का प्रचार तथा प्राणिमात्र को प्रेम का पवित्र पाठ सिखाना था। अपनी अन्तिम श्वास तक वे यह कार्य करते रहे। उनके एक एक शब्द में आकर्षण-शक्ति थी। उनके लेखों में वह मस्तानापन और सजीवता है जिसका अन्यत्र मिलना दुर्लभ है। ज़रा बानगी देखिए—"ऐ गुलामी, अरे दासपन, अरी कमज़ोरी, अब समय आ गया, बाँधो बिस्तर, उठाओ लत्ता-पत्ता, छोड़ो मुक्त पुरुषों के डेरा को। सोनेवालो! बादल भी तुम्हारे शोक में रो रहे हैं। वह जाओ गंगा में, डूब मरो समुद्र में, गल जाओ हिमालय में।... राम का यह शरीर नहीं गिरेगा जबतक भारत बहाल न होवेगा। यह शरीर नाश भी हो जायगा तोभी इसकी हड्डियाँ दधीचि की हड्डियों के समान इन्द्र का वज्र बन कर के राक्षस को चकनाचूर कर ही देंगी। यह शरीर मर भी जायगा, तो भी इसका ब्रह्म-बाण नहीं चूक सकता। ये शब्द क्या हैं, देशानुराग की प्रबल उच्छ्वास हैं।

प्रस्तुत पुस्तक में स्वामीजी के ६ व्याख्यान दिये गये हैं। व्याख्यान उन्हींकी भाषा—हिन्दी-उर्दू-मिश्रित—में हैं। स्वामीज की भाषा पढ़ने में अपूर्व आनन्द मिलता है। व्याख्यान पढ़ते पढ़ते हम अपने को भूल जाते हैं और स्वामीजी के साथ, इस मर्त्यलोक के परे, किसी अज्ञात लोक में, विचरण करने लगते हैं। यह है सच्ची लगन से पूर्ण विशाल हृदय के उद्गारों का प्रभाव।

प्रकाशक ने इस पुस्तक को प्रकाशित कर अच्छा काम किया।

३. करुणा—अर्थात्, श्रीयुत राखालदास बन्द्योपाध्याय एम० ए० के "करुणा" नामक बँगला उपन्यास का हिन्दी अनुवाद और "सूर्य-कुमारी-पुस्तकमाला" का दूसरा पुष्प; अनुवादक, बाबू रामचन्द्र वर्म्मा; प्रकाशक, नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी; पृष्ठ-संख्या ६१२; मूल्य ३॥)

यह एक ऐतिहासिक उपन्यास है जिसमें दिखलाया गया है कि महाराज कुमारगुप्त के समय में गुप्त-साम्राज्य कितना वैभवशाली था; उस समय की राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक अवस्था क्या थी; हूणों के आक्रमणों के कारण गुप्त-साम्राज्य को कैसी कैसी हानियाँ उठानी पड़ीं; और किस प्रकार कुमारगुप्त की विलासिता और बौद्धों के षड्यन्त्र के कारण गुप्त-साम्राज्य के पतन का आरम्भ हुआ; और अन्त में किस प्रकार उसका नाश भी हो गया। इस ग्रन्थ में ऐतिहासिक तत्व कितना है इसके लिए इसके मूल लेखक का नाम ले देना पर्याप्त है। श्रीयुत बन्द्योपाध्यायजी प्रसिद्ध पुरातत्वज्ञ विद्वान् हैं और आजकल भारतवर्ष के पुरातत्व-खोज-विभाग के पश्चिमी हलके के अध्यक्ष हैं। ऐसे विद्वान् की लेखनी से प्रसूत होकर यह उपन्यास अपनी ऐतिहासिक सामग्री में प्रामाणिक और मनोरञ्जकता में अद्वितीय हुआ है। ग्रन्थ लेखक के लेखन-कौशल से आद्यन्त परिपूर्ण है। हमारा विश्वास है, ऐतिहासिक उपन्यासों के प्रेमी पाठक इसे पढ़कर सर्वथा सन्तुष्ट होंगे।

अनुवाद की भाषा सर्वथा सुन्दर, प्रौढ़ और प्राञ्जल है। पुस्तक भर में कहीं बँगलापन नहीं है। पुस्तक की छपाई मुद्रण-कला का अच्छा निदर्शन है। छपाई की शुद्धता प्रशंसनीय है। अच्छे कागज़ पर सुन्दरता और शुद्धता से छपी हुई तथा नेत्र-रञ्जक जिल्द बँधी हुई ६१२ पृष्ठों की पुस्तक का ३॥) मूल्य कम ही है।

हमारी धारणा है, यह ग्रन्थ हिन्दी-साहित्य के गौरव-विस्तार में सहायक होगा। हम श्रीयुत वन्द्योपाध्यायजी के "शशांक" और "धर्मपाल" नामक ऐतिहासिक ग्रन्थों का भी हिन्दी-भाषान्तर देखने के इच्छुक हैं।

४. सती पार्वती—लेखक, पं० ईश्वरीप्रसाद शर्मा; प्रकाशक, बाबू रामलाल वर्मा, ३७१ अपरचितपुर रोड, कलकत्ता; पृष्ठ-संख्या १५०; चित्र-संख्या १२; मूल्य २॥)

सती शिरोमणि पार्वती का पवित्र नाम हिन्दी-कुटुम्बों में प्रातःस्मरणीय हो रहा है। ऐसा कौन हिन्दू होगा जो उनका नाम न जानता हो? अतः इस ग्रन्थ की कथा के परिचय में केवल इतना लिखना बस होगा कि इसमें उन्हीं शिव-प्रिया पार्वती का पूर्ण चरित्र रोचक रीति से लिखा गया है। चरित्र की कोई भी उल्लेख-योग्य बात छूटने नहीं पाई। कथा-भाग सुन्दर और सुसम्बद्ध है। भाषा शुद्ध और सरल है। एक दर्जन सुन्दर रंगीन चित्र दे देने से (जिनमें एक, श्रीशारदा के इस अंक में प्रकाशित है) पुस्तक की शोभा बढ़ गई है।

मदन-दहन का तत्व बहुत गूढ़ है। उसे जानने के लिए अनेक लोग उत्सुक हो सकते हैं। यदि प्रस्तुत पुस्तक के दूसरे संस्करण में वह सरल रीति से समझाया जाय, तो पुस्तक की उपयोगिता द्विगुणित हो जाय।

५. मेगास्थनीज़ का भारत-विवरण—अनुवादक, बाबू अवधविहारीशरण, एम. ए., बी. एल.; प्रकाशक, नागरीप्रचारिणी सभा, आरा; मुद्रक, खड्गविलास प्रेस; पृष्ठसंख्या १६७, मूल्य ॥)

प्रस्तुत पुस्तक मि० मैकक्रिन्डल कृत अंग्रेज़ी अनुवाद का भाषानुवाद है। अनुवाद अच्छा हुआ है। स्थान स्थान पर पारिभाषिक शब्द हिन्दी और अंग्रेज़ी दोनों भाषाओं में लिख दिये गये हैं। पुस्तक पढ़ने से सम्राट् चन्द्रगुप्त के समय के भारतवर्ष का दृश्य आँखों के सामने झूलने लगता है। पुस्तक संग्रह करने योग्य है।

६. यूरोप के प्रसिद्ध शिक्षण-सुधारक—लेखक, पं० चन्द्रशेखर बाजपेयी. एम. एस. सी, एल. टी.; प्रकाशक, ज्ञानमण्डल कार्यालय, काशी; पृष्ठ-संख्या लगभग २००, मूल्य सजिल्द का १॥=); छपाई और बँधाई सन्तोषजनक।

प्रस्तुत पुस्तक ज्ञानमण्डल ग्रन्थमाला का ६वाँ ग्रन्थ है और अंगरेज़ी ग्रन्थों के आधार पर लिखी गई है। इसमें "यूरोप के सात प्रसिद्ध शिक्षण-सुधारकों के संक्षिप्त जीवन-चरित और उनकी प्रतिपादित की हुई शिक्षण-पद्धतियों के मुख्य सिद्धान्त दिये गये हैं।" इस पुस्तक ने एक बड़े अभाव की पूर्ति में योग दिया है। एक तो हिन्दी में शिक्षा-विषयक पुस्तकों का वैसे ही अभाव हैं और फिर इस अच्छे ढंग से लिखी गई पुस्तक तो एक भी नहीं। प्रत्येक शिक्षक और शिक्षा-प्रेमी को इसकी एक एक प्रति अपने पास रखना चाहिए।

७. देव और विहारी—लेखक, पं० कृष्णविहारी मिश्र, बी. ए., एल-एल बी०, प्रकाशक, गंगा-पुस्तक-माला, लखनऊ; आकार छोटा, पृष्ठ-संख्या २८५; मूल्य सजिल्द का २), सादी का १॥≈), छपाई-बँधाई सुन्दर।

देव और विहारी दोनों ही व्रजभाषा के उत्तम कवि हो गये हैं। जब से 'नवरत्न' प्रकाशित हुआ है तब से तो ये दोनों समालोचना के अच्छे विषय बन गये हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ में भी इन्हीं दोनों की तुलनात्मक आलोचना की गई है।

पुस्तक के आरम्भ में ८६ पृष्ठ की लम्बी भूमिका है जिस में लेखक ने व्रजभाषा की दुर्बोधता के कारणों पर विचार करते हुए कविता पर भाषा-माधुर्य्य के प्रभाव का दिग्दर्शन किया है। उसीमें यत्र-तत्र चुटकियाँ लेते हुए विहारी-सतसई के भाष्य-लेखक पं० पद्मसिंह शर्मा पर विहारी के पक्षपाती होने का दोषारोपण किया है। यथार्थ में पक्षपाती कौन है, इसका निर्णय हमें यहाँ नहीं करना है; क्योंकि "श्रीशारदा" में कुछ मास से एक विद्वान् द्वारा देव और विहारी की प्रतिभा की आलोचना प्रकाशित होने लगी है जिससे पाठकगण शीघ्र ही यह निर्णय कर सकेंगे कि दोनों में महाकवि कौन है और कौन किसका पक्षपाती है।

रही पुस्तक की उपयोगिता की बात, सो हम उसके लिए लेखक महाशय को बधाई देते हैं। अपनी सहृदयता और शिष्टता की जो झलक स्थान स्थान पर ग्रन्थ में पाई जाती है वह और दूसरे समालोचनात्मक ग्रन्थों में प्रायः नहीं देखी गई। जहाँ विहारी की उत्कृष्टता माननेवाले अनेक हैं वहाँ देव को महाकवि मानने वाले भी कुछ अवश्य हैं। इस दृष्टि से पुस्तक हिन्दी-साहित्य का भूषण है और सर्वथा प्रशंसनीय है।

८· राष्ट्र-संजीवनी-ग्रन्थमाला—सम्पादक और प्रकाशक, पं० प्राणनाथ विद्यालंकार, टेढ़ीनीम, काशी। यह ग्रन्थमाला "स्वतंत्रता, समानता और भ्रातृभाव के विचारों के प्रचार के साथ साथ ज्ञान-वृद्धि" करने के उद्देश्य से निकाली गई है। इसकी तीन पुस्तिकाएँ हमारे सामने हैं जिनका परिचय इस प्रकार है—(१) "भारतीय किसान"—इसमें सप्रमाण सिद्ध किया गया है कि सरकार की घातक नीति से किस प्रकार भारत के व्यवसायियों को किसान बनने के लिए विवश होना पड़ा है। भारतीयों की कार्य-क्षमता क्यों कम और यूरोपीयों की कार्य-क्षमता क्यों अधिक है इसका भी अनुसन्धान इस पुस्तिका में किया गया है। (२) "किसानों पर अत्याचार"—इसमें बताया गया है कि संयुक्तप्रदेश के किसानों पर जमींदारों और तालुकेदारों की ओर से कैसे कैसे अत्याचार किये जा रहे हैं। किसानों से मोटरावन, हथियावन आदि के सदृश जो १४२ कर वसूल किये जाते हैं वे किसी भी देश के समृद्धिशाली किसानों को बरबाद करने के लिए पर्य्याप्त हैं, फिर भारत सदृश दरिद्र देश के दरिद्र किसानों से उनका वसूल किया जाना केवल अमानुषिक बर्बरता है। (३) "किसानों का अधिकार"—इस पुस्तक के आरंभ में बताया गया है कि यूरोप के कुछ देशों में भूमि पर स्वत्व कृषकों का है और इसी कारण वहाँ के कृषक खुशहाल है। भारतवर्ष भी जबतक ऐसा नहीं होता, अर्थात् जबतक जमींदार और तालुकेदार मटियामेट नहीं कर दिये जाते और सरकार ज़मीन पर से अपना स्वत्व नहीं खींच लेती, तब तक यहाँ के कृषकों की दशा नहीं सुधर सकती।

९-गीतानुशीलन, दूसरा खण्ड-पृष्ठ-संख्या ४८, मूल्य ।=); लेखक और प्रकाशक बाबू गणेशचन्द्र प्रामाणिक, अनाथालय, जबलपुर।

प्रथम खण्ड के समान यह द्वितीय खण्ड भी बड़ी योग्यता से लिखा गया है। श्रीगीता द्वारा सामयिक सामाजिक विषयों का निरूपण हमारे साहित्य में एक नई बात है और सर्वथा उपयोगी एवं प्रशंसनीय है। इस पुस्तक में सच्ची मौलिकता है। जहाँ तक मुझे मालूम हो सका है, यह किसी दूसरी पुस्तक का अनुवाद नहीं है। लेखक के गंभीर मनन का पता पृष्ठ पृष्ठ में लगता है प्रत्येक हिन्दी-प्रेमी धार्मिक हिन्दू का कर्तव्य है कि वह ऐसे मौलिक ग्रंथ के प्रकाशन में सहयोग दे। र०।

नीचे जिन पुस्तकों के नाम लिखे हैं वे भी पहुँच गई है। भेजनेवाले महाशयों को धन्यवाद।

१. स्वराज्य—लेखक, श्रीयुक्त शिवदानप्रसादसिंह; प्रकाशक, हिन्दी-ग्रन्थ-भाण्डार-कार्यालय, बनारस सिटी, मूल्य ।=)

२. शिष्टाचार-सोपान—लेखक, श्री० स्वामी सत्यदेवजी परिव्राजक; प्रकाशक, पं० शंकरदत्त शर्म्मा, शर्मा मशीन प्रिंटिंग प्रेस, मुरादाबाद; मूल्य –)

३. राष्ट्र-गान—अर्थात् पं० नाथूरामशंकर शर्मा रचित कुछ राष्ट्रीय कविताओं का संग्रह; प्रकाशक, पं० शंकरदत्त शर्म्मा, शर्म्मा मशीन प्रिंटिंग प्रेस, मुरादाबाद; मूल्य =)

४. अनारकली—अनुवादक, श्रीयुत उमरावसिंह कारुणिक, बी० ए०; प्रकाशक, चौधरी शिवनाथसिंह; ज्ञानप्रकाश मन्दिर, माछरा, मेरठ; मूल्य =)॥

५. खगोल-विज्ञान—लेखक, बाबू जैनेन्द्रकिशोर अग्रवाल; प्रकाशक, नागरी-प्रचारिणी सभा, आरा; मूल्य ≈)

६. चारुचरितावली—लेखक और प्रकाशक, श्री० सिद्धगोपाल काव्यतीर्थ, हल्दोर, बिजनौर; मूल्य १)

७. The Avadhuta Gita of Dattatreya—translated with an exhaustive introduction by Kannoomal, M. A., and published by S. R. Murthy & Co., Publishers, Triplicane, Madras, Price Re. 1/.

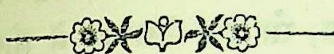
८ हिन्द-स्वराज्य—लेखक, महात्मा गान्धी; प्रकाशक, हिन्दी-पुस्तक-एजेंसी, १२६, हरिसन रोड, कलकत्ता; मूल्य ।-)

९ असहयोग-दर्शन—अर्थात् असहयोग पर दिये हुए महात्मा गान्धी के व्याख्यानों और लेखों का संग्रह; अनुवादक, पं० हरिभाऊ उपाध्याय; प्रकाशक, श्रीयुक्त जीतमल लूणिया, हिन्दी-साहित्य-मन्दिर, इन्दौर; मूल्य १।)

१० नागपुर की कांग्रेस—प्रकाशक, श्रीयुत जीतमल लूणिया, हिन्दी-साहित्य-मंदिर, इंदौर; मूल्य ॥)।



विविध विषय ।



(१) वर्ष के अन्त में ।

सत्य की टेक पर मर-मिटने-वाले ईसा मसीह के १९२१ वें सन् ने, अपने जीवन के १२ महीनों में, असहयोग-आन्दोलन की भारी विजय देखी और देखा कि मेरे प्रस्थान करते न करते भारत के राजनीतिक रंग-मंच पर भारतीय ब्रिटिश नौकरशाही त्रस्त और किंकर्तव्यविमूढ़ होकर, दमन-नीति का आश्रय लेकर, वह अभिनय करने आई है जिसका दुःखद परिणाम इतिहास के पृष्ठों पर स्पष्टाक्षरों में लिखा हुआ है! आज हम देखते हैं कि एक वर्ष के भीतर ही यह आन्दोलन देश में इतना व्याप्त हो गया है जितना कि गत १५० वर्षों के भीतर, इस देश में, एक वर्ष के भीतर, कदाचित् कोई भी आन्दोलन नहीं हुआ। इस आन्दोलन की सफलता की मात्रा का निर्णय जनता की परिवर्तित मनोवृत्तियों और खिसियानी हुई ब्रिटिश सरकार के पशुबल का आश्रय ग्रहण करने और क़ानूनों का मनमाना प्रयोग करने पर से सहज ही में किया जा सकता है। सदियों से पराधीनता-पाश में फँसे हुए भारतवासी इस एक वर्ष के भीतर यह समझ चुके हैं कि भारत का उद्धार किसी की कृपा से नहीं, बरन अपने उद्योग और आत्म-त्याग से, हो सकता है। भारत-सरकार की कुटिल नीति की चर्चा आज घर घर में हो रही है। सरकारी न्यायालयों का न्याय-प्रहसन जनता का यथेष्ट मनोरंजन कर चुका है। सरकारी उपाधियों का मूल्य आज उनके ग्रहण करने में नहीं; बरन त्याग करने में है। देशभक्तों के लिए जेल की कलुषित भूमि पवित्र और शेष भूमि कलुषित सी हो रही है। जनता की मनोवृत्ति के इस परिवर्तन से सरकार की सारी शान, हवा छोड़ती हुई फुटबाल के समान, पिलपिली हो रही है। इससे जनता और सरकार दोनों आश्चर्य-चकित हो रही हैं—जनता अपनी इस अपूर्व सफलता के कारण, और सरकार जनता की सफलता के कारण।

इस बात का विचार करने पर कि असहयोग आन्दोलन प्रारम्भ करने के पूर्व देश में इसकी कुछ भी तैयारी नहीं की गई थी, फिर भी वह इतना सफल हुआ—यह उसकी सफलता निर्विवाद सिद्ध करता है। फिर, यह आन्दोलन त्याग का है। वकील वकालत त्यागें, विद्यार्थी सरकारी पाठशाला त्यागें, उपाधिधारी सरकारी उपाधियाँ त्यागें; और करें क्या? चरखा चलावें और जेल जाने को तैयार रहें और उनके घर-वाले बिना किसी की सहायता के अपना निर्वाह करें! ये सब त्याग की बातें ऐसी नहीं थीं और न हैं कि प्रत्येक देशवासी इनमें योग-दान दे सकेगा। त्याग की ये परीक्षाएँ बहुत कठिन हैं और विशेष कर भारतवर्ष सरीखे देश के लिए जो सदियों से दासत्व-पंक में धसा हुआ है। फिरभी धन्वन्तरि ने रोग का जो अचूक निदान बताया वह रोगी की समझ में आ गया और उसने त्याग-मय असहयोग के रूप में कड़ुवी ओषधि पी ही तो ली। ओषधि अपना काम कर चुकी है और दासत्व-रोग से ग्रस्त भारत, महात्मा गांधी की कृपा से, नवजीवन प्राप्त

कर तरुण हो रहा है। जो रोगी इस कड़ुवी ओषधि को पीने में दोलाचल-वृत्ति हो रहे थे वे अब इसे पान करने को अग्रसर हो रहे हैं। हम पूछते हैं, यदि यह इस अपूर्व ओषधि की सफलता नहीं है, तो क्या है? फिर, यदि यह आन्दोलन सफल होते न दिखता, तो नौकरशाही के कर्णधार, लार्ड रीडिंग, की बुद्धि दंग न होती।

परन्तु, वह स्वराज्य कहाँ है जिसकी प्राप्ति की अवधि महात्मा गांधी महीनों से खिसकाते आ रहे हैं, और जो ३१दिसम्बर, १९२१ के पूर्व प्राप्त हो जाना था? न पंजाब के अत्याचारियों को दंड मिला और न ख़िलाफ़त का अनुकूल निर्णय हुआ। फिर भी, कहा जाता है कि असहयोग-आन्दोलन सफल हुआ! इस संदेह का सबसे अच्छा समाधान यही हो सकता है कि यदि स्वराज्य कोई ऐसी वस्तु होती जो महात्मा गांधी के पास होती, तो वे उसे निःसंदेह कभी के दे चुके होते। स्वराज्य का अर्थ है स्वावलम्बन, और जो स्वराज्य परावलम्बन से मिल सकता है वह स्वराज्य नहीं। स्वराज्य तो किसी एक मनुष्य के देने से—चाहे वे महात्माजी ही क्यों न हों—नहीं मिल सकता, वह मिलेगा लोगों के पुरुषार्थ से। महात्माजी ने १ वर्ष के भीतर स्वराज्य दिलाने की जो प्रतिज्ञा की थी उसे पूर्ण करने के लिए कुछ शर्तों का पूर्ण कराना आवश्यक था; पर वे शर्तें पूर्ण नहीं हुईं और इसलिए स्वराज्य की मंजुल मूर्त्ति "वरं ब्रूहि" न कहकर दूर खड़ी खड़ी मुस्करा रही है। फिर भी, देश ने १२ मास के भीतर देख लिया कि स्वराज्य प्राप्त करने का मार्ग यही है। इस मार्ग पर देश बहुत दूर तक चला आया है; और यह सब स्वराज्य मिलने के बराबर समझा जा सकता है। परावलम्बन के बंधन तड़ातड़ टूटते जा रहे हैं; और असहयोग-आन्दोलन का प्रधान लक्ष्य सरकार को अपंगु बनाने का था, सो इस दिसम्बर में लोगों ने देख लिया कि सरकार अपनी शान बचाने के लिए, जिसे आजकल शांति और क़ानून की रक्षा का नाम दिया जा रहा है और जिसका स्वरूप इस अंक में अन्यत्र प्रकाशित है, प्राणप्रण से लगी है। क़ानूनों का जो मनमाना अर्थ और दुरुपयोग किया जा रहा है उसका मुँहतोड़ उत्तर जनता सविनय कानून-भंग द्वारा दे रही है। इस परिस्थिति में प्रश्न यह होता है कि आगे होगा क्या। होगा क्या? होगा यही कि सरकार को दबना पड़ेगा। ब्रिटिश राजनीतिज्ञों में अब भी इतनी बुद्धि रह गई है, या कहना चाहिए, कि उनकी आदत पड़ गई है वे कुछ अधिकार तब देते हैं कि जब उसे लिये बिना लोग नहीं मानते। भारत-सरकार देख रही है कि भारत की अब वह अवस्था नहीं है कि वह नवीन सुधारों के खिलौने से खेले, अब उसे और कुछ चाहिए; और वह 'कुछ' क्या है यह उसकी समझ में न आया होगा इस का हमें विश्वास नहीं।

जनता शान्ति-पूर्वक इसी मार्ग पर डटी रहे। सफलता अवश्यम्भावी है।

(२) क़ानून का अर्थ।

भारतीय नौकरशाही के कर्णधार, वाइसराय महोदय, ने भारतीय जनता द्वारा किये गये युवराज महोदय के स्वागत-बहिष्कार से चिढ़कर जो दमन-दावानल प्रज्वलित किया है उसके समर्थन के लिए क़ानून और शान्ति की रक्षा की

दुहाई दी जा रही है। इँग्लैंड के न्यायमूर्त्ति का पवित्र यश इस अनुचित तथा असफल दमन-नीति की कालिमा से कहीं कलुषित न हो जाय; इसलिए दमन की कड़वी गोली पर शान्ति-रक्षा का मीठा लेप चढ़ाया गया है। पर, अब ये बातें ऐसी नहीं हैं जिनसे संसार को तो क्या, भारत को ही, अधिक समय तक धोखा दिया जा सके। वाइसराय महोदय की न्याय-बुद्धि अब पिछले वर्षों की इतिहास-प्रसिद्ध घटना रह गई है। भारतीय नौकरशाही अब उनको निगल चुकी है—अब उनके स्वतंत्र विचारों का अस्तित्व संकटमय हो गया है। तभी तो उनके मुख से क़ानून और शान्ति-रक्षा की विचित्र बातें सुनी जाती हैं।

क़ानून के अर्थ के सम्बन्ध में अमेरिका के भूतपूर्व प्रेसिडेंट, उडरो विलसन, की बातें लॉर्ड रीडिंग महोदय को विदित न हों—यह हो नहीं सकता। विलसन साहब कहते हैं—"क़ानून वास्तव में आचार और विचार का एक भाग है। वह सामान्य नियमों के रूप में दिख पड़ता है और उसका प्रवर्तन सरकार की सत्ता के बल पर और उसके द्वारा किया जाता है। इसलिए प्रत्येक राज्य के स्वरूप का प्रतिबिम्ब उसके बनाए हुए क़ानून के रूप में दृष्टिगोचर होता है।......लोगों में जिन क़ानूनों को तोड़ने की इच्छा उत्पन्न हो उन्हें क़ानून ही नहीं कहना चाहिए।..........क़ानून किसी उच्छृंखल मनुष्य का विधान नहीं हो सकता। क़ानून वास्तव में वे नियम हैं जो किसी राष्ट्र को उसके स्वभाव और रुचि के कारण मान्य हो गये हों। क़ानून बनानेवालों का काम क़ानून गढ़ना नहीं है—वे केवल इतना बतला देते हैं कि क़ानून है क्या। राष्ट्रीय जीवन का स्रोत जिस दिशा में प्रवाहित नहीं हो सकता वहाँ क़ानून बनाने से सफलता प्राप्त नहीं हो सकती। क़ानून व्यक्तियों के मस्तिष्क की सृष्टि नहीं, बरन राष्ट्र की आवश्यकताओं, सुविधाओं, संकटों और दुर्दैवों की सृष्टि है। जिस राष्ट्र के लिए क़ानून बनाना है उसकी आवश्यकता, इच्छा और रुचि से जो क़ानून उपयुक्त न जँचें उन्हें राष्ट्र पर लादना कदापि ठीक नहीं।............जो नियम किसी अनियंत्रित सत्ता के बनाये होते और समाज की शक्ति पर स्थित नहीं रहते उनका पालन करने के लिए जनता को बाध्य करना असम्भव है।...........क़ानूनों का आधार समाज की शक्ति पर है। जब समाज क़ानूनों को मानता ही नहीं, तब थोड़े से लोगों की बन्दूकों (या मशीन-गनों) में शक्ति नहीं रह जाती कि उनके बल पर क़ानूनों का पालन कराया जा सके।"*

क्या वाइसराय महोदय कह सकते हैं कि आजकल जिन क़ानूनों का प्रयोग किया जा रहा है उन्हें सचमुच में क़ानून का नाम दिया जा सकता है? जिन क़ानूनों को मनवाने के लिए दमन का अवलम्ब ग्रहण करना पड़े वे क़ानून नहीं, क़ानून की विडम्बना-मात्र हैं। जिन क़ानूनों का भङ्ग करने के लिए क़ानूनी ज्ञान रखनेवाले बड़े बड़े नेताओं को बाध्य होना पड़ता है वे क़ानून इसी देश में पाये जाते हैं। इस दशा में जनता यदि क़ानूनों का भङ्ग करती है, तो इसमें उसका कोई दोष नहीं; और, वास्तव में ऐसे क़ानूनों का सत्कार उन्हें मानकर नहीं, बरन उन्हें भंग करके ही किया जा सकता है।

* उडरो विलसन लिखित "दि स्टेट" से।

(३) क़ानून बनाने का उद्देश।

क़ानून केवल क़ानून कहाने के लिए नहीं बनाये जाते। क़ानूनों की रचना से मानसिक और शारीरिक शान्ति का अनुभव होना चाहिए—उससे मनुष्य को अपने जीवन का उद्देश पूर्ण करने में सरलता प्रतीत होनी चाहिए। परन्तु जिस क़ानून से "श्मशान-शान्ति" या बाहरी शान्ति तो मिलती हो; परन्तु आभ्यन्तरिक शान्ति का आभास तक न मिलता हो उस क़ानून को पालन करना जीवन्मृत बनना है। ऐसी शान्ति की अपेक्षा अशान्ति कहीं अच्छी है। अशान्ति से कम से कम जीवन तो प्रतीत होता है; और, यदि जीवन बना रहा, तो किसी दिन वास्तविक शान्ति उपलब्ध हो जाना कुछ कठिन नहीं। यदि लॉर्ड रीडिंग महोदय श्मशान-शान्ति चाहते हैं, तो वह उन्हें मुबारक हो। हमें उनके उस सौभाग्य से कोई द्वेष नहीं। भारत इस सौभाग्य से दूर रहने में ही अपना सौभाग्य समझता है।

(४) अहमदाबाद की कांग्रेस।

इस कांग्रेस के बाह्य और आन्तरिक, दोनों स्वरूप अपूर्व थे। आने-जाने के मार्ग तथा अहमदाबाद में जिस पारस्परिक स्नेह-भाव का परिचय मिला वह अपूर्व था। रेल में भारी भीड़ होते हुए भी भीड़ का त्रास नहीं था। प्रत्येक मनुष्य अपना सुख दूसरों को देने को तैयार था, मानों आत्म-त्याग की होड़ लगी थी। इस वातावरण में शान्ति के जो अपूर्व एवं स्निग्ध भाव थे उनके प्रभाव में पड़कर कौन मनुष्य ऐसा होगा जिसकी हृत्तन्त्री के तार न बज उठे हों और जिसने भगवान् से सच्चे हृदय से प्रार्थना न की हो कि भगवन्, स्वतन्त्रता-प्राप्ति के इस युद्ध में यदि हमारे शरीर नष्ट हो जावें, तो कोई चिन्ता नहीं, हमारी भावी पीढ़ियाँ इन स्निग्ध भावों के वातावरण को बनाये रखना तथा उसके नष्ट होने पर उसे उत्पन्न करना और उसमें रहना अपने जीवन का परम ध्येय समझें? अहमदाबाद में स्वयंसेवकों में जो नम्रता और कर्त्तव्यशीलता दिखी उसने बता दिया कि एक वर्ष के भीतर देश के नवयुवकों में अपने कर्त्तव्य का ज्ञान कितना बढ़ गया है। न कहीं अशान्ति थी और न कहीं अधिकार का दुरुपयोग ही।

खद्दर की प्रचुरता इतनी अधिक थी कि परिच्छद सदृश साधारण बातों की ओर ध्यान न देनेवाले विचारशील मनुष्य का भी ध्यान उस ओर आकर्षित होता था। जहाँ देखा गया वहाँ खद्दर की प्रधानता और व्यापकता दिखी। एक समय था और उसे बीते अभी ५०० दिन भी नहीं हुए, जब कांग्रेस में अंग्रेज़ी रहन-सहन, खान-पान आदि का आदर था; पर इस बार बाहरी बातों तक में जो परिवर्तन दिखा वह भारतीय सरलता और अपनेपन की ओर झुक रहा था।

भीतरी बातों में जो परिवर्तन दिखा वह भी अपूर्व था। न बहुत बकझक थी और न व्याख्यान-बाज़ी ही। सभापति तक का भाषण अत्यंत संक्षिप्त था। उन्हें जो कुछ कहना था सो मौखिक रीति से कह सुनाया। और, अवकाश भी किसे था कि लम्बा-चौड़ा भाषण तैयार करता, उसे छपाता और लोगों को सुनाता? काम की थोड़ीसी बातें थीं और उन्हींको तय करना था। तय यह हुआ कि असहयोग-आन्दोलन जारी रहे और महात्मा गान्धी को कांग्रेस

की ओर से काम करने और अपना उत्तराधिकारी नियुक्त करने का और प्रत्येक उत्तराधिकारी को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त करने का पूर्णाधिकार रहे; पर हाँ, न महात्माजी और न उनका उत्तराधिकारी ही, कांग्रेस से बिना पूछे, सरकार से सुलह की शर्तें या कांग्रेस के वर्तमान ध्येय में कोई परिवर्तन करें। और भी कुछ काम की बातें हुई जो आगे दी गई हैं। जो कुछ हुआ उसके विषय में लोग पहले से ही जानते थे कि वह होगा, और उसे छोड़कर गत्यन्तर भी तो नहीं है। कांग्रेस की समस्त कार्यवाही में—विचार-विनिमय की दिशा में—केवल एक बात लक्षित होती थी और वह थी स्वावलम्बन के सहारे कार्य-क्षेत्र में शान्ति-पूर्वक डटे रहना। और, उसीका यह समय है।

(५) श्रीयुत वल्लभभाई जे० पटेल का भाषण।

अहमदाबाद-कांग्रेस की स्वागत-समिति के सभापति श्रीयुत वल्लभभाईजी के भाषण का अधिकांश गुजरात में असहयोग-आन्दोलन कितना सफल हुआ है इससे संबंध रखता है। अभी तक कांग्रेस की स्वागतसमिति के अध्यक्ष के भाषण में देश भर की उस वर्ष की राजनीतिक स्थिति का सिंहावलोकन रहा करता था; पर श्रीयुत पटेलजी के भाषण ने जो नई दिशा बताई है वह अनुकरणीय है। क्योंकि किसी प्रान्त में कांग्रेस का अधिवेशन होने का प्रधान कारण यही रहता है कि इस वहाँ उस प्रान्त में विशेष जाग्रति हो जाय, और यह जाग्रति कितनी हुई है यह स्वागतकारिणी समिति के अध्यक्ष के भाषण से विदित होनी चाहिए। श्रीयुत पटेलजी ने अपने भाषण के आरम्भ में जेल में गये हुए नेताओं के कार्य पर हर्ष प्रगट करते हुए बताया कि—"इस वर्ष की घटनाओं ने यह सिद्ध कर दिया है कि 'नेतापन' सेवा में है।" अधिकांश लोगों की धारणा थी कि इस वर्ष की कांग्रेस में स्वाधीनता की घोषणा कर दी जायगी। इस संबंध में आपने कहा—"हमने तो यह आशा की थी कि हम स्वराज्य की स्थापना का महोत्सव मनावेंगे और इसलिए हमने उस अवसर के योग्य स्वागत की तैयारियों का प्रबंध किया था। परन्तु यद्यपि आज हम उस मंगलोत्सव के लिए यहाँ एकत्र नहीं हुए हैं, तथापि परम दयालु परमात्मा ने हमें सहने के के लिए कष्ट भेज दिया है जिससे हमारी परीक्षा हो जाय और हम इस बहुमूल्य महा-प्रसाद को पाने के पात्र बन जायँ।"

असहयोग के विधायक कार्य क्रम के विषय में आपने कहा—"जो कसौटी आपने हमारी योग्यता के लिए रक्खी है और जिसे हमने सहर्ष स्वीकार किया है वह है असहयोग के विधायक कार्य-क्रम को पूरा करना और उसके साथ ही उसके मुख्य और नवीन तत्त्व, अहिंसा, को मानना। यह सरकार स्वतंत्र लोकमत का संगठन करने के बदले पशुबल का संगठन करके अपनी रक्षा करना चाहती है। इसकी संस्थाओं से अलग होजाना इस बात का सूचक है कि हम प्रत्येक स्थिति में हिंसा से दूर रहते हैं। मैं सचाई के साथ यह दावा करता हूँ कि हमने मनसा, वाचा और कर्मणा शान्तिप्रिय बने रहने का प्रयत्न किया है। हमने अपने अन्दर की दुर्बलता को दूर करते हुए, अपनी आत्म-शुद्धि के लिए, सच्चे दिल से, पूरी पूरी कोशिश की है।"

आगे आपने हिन्दू-मुसलमान-एकता पर विचार प्रकट करते हुए थोड़े से वकीलों के वकालत छोड़ने के कार्य पर असन्तोष प्रकट किया। साथ ही, राष्ट्रीय शालाओं की स्थापना और चरखे के

प्रचार पर हर्ष प्रकट करते हुए बतलाया कि—"गुजरात-विद्यापीठ से संलग्न और असंलग्न राष्ट्रीय पाठशालाओं में लड़के और लड़कियों की संख्या ३१,००० है। दो वर्ष पहले गुजरात में शायद ही कोई चरखा चलता रहा होगा; पर आज कम से कम १,१०,००० चरखे चल रहे हैं।"

मद्य-पान-निषेध के लिए पहरा रखने के कार्य-फल को उत्साह-वर्द्धक बतलाते हुए श्रीयुत वल्लभभाईजी ने छुआ-छूत के प्रश्न को हल करने में गुजरात प्रान्त को बहुत आगे बतलाया है। आप कहते हैं कि—"छुआछूत के विषय में हमारे प्रान्त ने शायद सबसे अधिक उन्नति की है। हमारी सभाओं में हमारे अछूत भाई-बहिन बिना रुकावट के शामिल होते हैं। राष्ट्रीय विद्यालयों में उन्हें भरती करने की बात सिद्धान्त-रूप में तो स्वीकार कर ली गई है; पर उसके लिए उनके सीनेट को बहुत झगड़ना पड़ा है; तथापि अभी इन भाइयों के लड़कों को विद्यालयों में बुलाने का और उन्हें यह मालूम कराने का कि हम किसी भी तरह से दूसरे लड़कों से हलके दर्जे के नहीं हैं, आग्रह-पूर्वक प्रयत्न नहीं किया गया। यद्यपि हमारा ध्येय तो यह नहीं है कि ऐसे लड़कों के लिए अलग पाठशालाएँ खोली जायँ, तथापि कुछ समय के लिए तो हमें ऐसा करने पर बाध्य होना पड़ेगा। छुआछूत का संबंध तो दिल से है और यह जानकर भी कि यद्यपि अभी हमें इस विषय में बहुत कुछ काम करना है तथापि लोगों के दिलों में गहरा परिवर्तन हो गया है।"

छुआछूत का प्रश्न इतना सरल नहीं जितना कि अनुमान किया जाता है। शराबखोरी बन्द करने और स्वदेशी का प्रचार करनेके लिए धरना धरने में जितने साहस, धैर्य और शान्ति की आवश्यकता है उससे कहीं अधिक इन गुणों की आवश्यकता छुआछूत के प्रश्न को हल करने में है। इसके लिए द्विजाति-वर्ग के मनुष्यों के हृदयों को और भी मजबूत और उदार बनाने की ज़रूरत है। हाँ, यह प्रश्न स्वयं-सेवकों की संख्या-वृद्धि से शीघ्र हल हो सकेगा। इसके लिए आवश्यकता है कि नगर नगर और ग्राम ग्राम में स्वयंसेवक-दल का संगठन किया जाय और संगठन ही होकर न रह जाय; किन्तु ये स्वयंसेवक-दल कांग्रेस के उद्देश्य को सफल बनाने के लिए कार्य में जुट जावें।

अन्त में, बारडोली और आनन्द की तहसीलों के सामुदायिक सविनय कानून-भंग की ज़ोर-शोर की तैयारी करने की बात सुनाते हुए श्रीयुत वल्लभभाईजी ने हकीमजी साहब से, कार्य-कारी सभापति की हैसियत से, आसन ग्रहण करने की प्रार्थना की।

(६) हकीम अजमलखाँ साहब का भाषण

आपने अपना मौखिक वक्तव्य उर्दू में सुनाया वक्तव्य बहुत छोटा है। लम्बे-चौड़े व्याख्यान लिखने और उन्हें छपाने का यह समय भी नहीं है। फिर भी, ऐसे उत्तर-दायित्व-पूर्ण पद से दिये जाने-वाले भाषण पहले से ही लिपिबद्ध हो जायँ, तो उनके सम्बन्ध में किसी प्रकार की नासमझी का स्थान नहीं रह सकता। यह काम करने का युग है और सब लोगों को अपना अपना कर्तव्य विदित हो गया है, कदाचित् इसीलिए हकीम सा० ने अपने भाषण में बड़े बड़े सिद्धांतों की बड़ी बड़ी बातें बताना उचित नहीं समझा। यदि गत नागपुर-कांग्रेस के सभापति के भाषण के साथ इसकी तुलना की जाय, तो महदन्तर दिखता है। हम हकीम सा० के इस संक्षिप्त और सरल भाषण की सराहना करते हैं। पर, हम यह आशा

करते थे कि हकीम सा० यह बतावेंगे कि जिन तीन बातों—खिलाफ़त, पंजाब, और स्वराज्य—के लिए यह युद्ध ठना है उनका स्पष्ट रूप और मर्यादा क्या है। खिलाफ़त के संबंध में सेवर्स की जो अन्यायपूर्ण संधि हुई है उसमें क्या परिवर्तन होना चाहिए? पंजाब के किन किन अन्यायकारियों को किस प्रकार का दण्ड दिया जावे? स्वराज्य किस प्रकार का स्थापित होना चाहिए? ये बातें इतनी महत्व-पूर्ण हैं कि इनका स्पष्ट रूप जनता को आज से १५ मास पूर्व ही विदित हो जाना था। यह असहयोग आन्दोलन जनता का है और जनता में सभी प्रकार के और सभी बुद्धियों के लोग शामिल हैं। दिसंबर के अन्त तक जिस स्वराज्य-प्राप्ति की घोषणा की गई थी उसे इस समय तक प्राप्त होते न देख जनता अपनी कल्पना दौड़ा रही है। इससे बहुत निराशा, अतः अनर्थ हो सकता है। हम मानते हैं, समय-सीमा निर्धारित करने से इस थोड़े से समय के भीतर जो भारी काम हुआ है वह अन्य रीति से न हुआ होगा। फिर भी, यह समय है जब कि जनता निराशा की ओर मुड़ सकती है; अतः उसे यह बताना चाहिए कि हमारा ध्येय-धाम किस प्रकार का है। खेद है, हकीम सा० के भाषण में इन बातों का अभाव है अथवा रिपोर्टरों ने उनकी ये बातें लिखी नहीं हैं।

हकीम सा० ने देशबंधु दास की गिरफ्तारी के संबंध में जो यह लिखा है सो सर्वथा सत्य है—

"उनकी गिरफ्तारी ने हमें एक पग और आगे बढ़ा दिया है। महासभा के अध्यक्ष बनकर दास बाबू देश की जितनी सेवा कर सकते थे उससे कहीं अधिक सेवा उन्होंने जेल जाकर की है। उनकी गिरफ्तारी ने राष्ट्र-सेवकों के हृदय को उत्साह प्रदान किया है और सारे देश को कष्ट सहने और अधिक काम करने के लिए तैयार किया है।"

असहयोग-आन्दोलन की महत्ता के विषय में आपने कहा है—

"हमारे राष्ट्र को दूरस्थित राष्ट्रों ने भी सर्वोच्च सम्मान प्रदान किया है। हमारे ईजिप्ट के भाइयों ने अपनी राजनैतिक लड़ाई के लिए असहयोग को स्वीकार किया है। हमारा देश अन्य बन्धु राष्ट्रों का मार्ग-दर्शक बन रहा है, यह हम लोगों के लिए गर्व की बात है। अहिंसात्मक असहयोग अब सिर्फ़ हिन्दुस्थानी आन्दोलन नहीं रह गया है, वह एशिया का आन्दोलन बन रहा है और वह दिन दूर नहीं है जबकि दुनिया के अन्याय और असत्य के मिटाने के लिए समस्त संसार असहयोग-शस्त्र का उपयोग करने लगे।"

ईजिप्ट से जो समाचार आरहे हैं वे प्रकट करते हैं कि अभी ईजिप्ट-वालों ने अहिंसात्मक असहयोग का तत्त्व भलीभाँति हृदयङ्गम नहीं किया है; परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि अहिंसात्मक-असहयोग में सफलता के तत्त्व नहीं हैं, या ऐसे तत्त्व हैं जो हृदयङ्गम नहीं किये जा सकते।

इसके बाद आपने सरकार की वर्तमान दमन-नीति और उससे उत्पन्न होनेवाले जनता के दृढ़ निश्चय का उल्लेख किया है। फिर युवराज महोदय के आगमन के संबंध में कहा गया है कि "उनके साथ हमारी कोई लड़ाई नहीं है; किन्तु एक दिवालख़ोर सरकार अपनी गई हुई राजनैतिक इज्जत को प्रिन्स की भेंट से जमाना चाहती है, हमें यह नहीं भाता।"

आगे चलकर बताया गया है कि असहयोग-आन्दोलन कहाँ तक सफल हुआ है। हमें तो इसकी प्रतिदिन बढ़ती हुई सफलता इसीमें दिख रही है कि जनता की मनोवृत्तियों में परिवर्तन हो गया है और अधिकांश जनता आज अपना सर्वस्व त्याग करने को प्रस्तुत है। पूर्ण सफलता की यह पहली क़िस्त है।

सरकार की वर्तमान दमन-नीति से जो कष्ट हो रहे हैं उनके संबंध में हकीम सा० ने बहुत ही ठीक कहकर अपना भाषण समाप्त किया है।

"ये कष्ट उस नूतन भारत के प्रसव-समय की वेदनाएँ हैं जो हमारे प्राचीन देश की दिव्य परम्परा का पुनरुद्धार करेगा और संसार में भारत के लिए फिर से सर्वश्रेष्ठ स्थान प्रस्थापित करेगा।"

(७) देशबन्धु दास का सन्देश।

अहमदाबाद-कांग्रेस में श्रीमती सरोजिनी नायडू ने देशबन्धु दास और श्रीमती दास का जो सन्देश पढ़कर सुनाया था उसका हिन्दी-अनुवाद इस प्रकार है—

दास महोदय ने कहा है—"यदि युद्ध का कोई मार्ग हमारे सामने खुला है, तो वह असहयोग का है और जिसके कार्य-क्रम को हमने कांग्रेस के लगातार गत दो अधिवेशनों में स्वीकार किया है। हम लोग असहयोग-सिद्धान्त के भक्त हो चुके हैं और इसलिए अब उसके गुणों को बताने की आवश्यकता नहीं। असहयोग है क्या? इसका उत्तर मि० स्टोक्स के भाव-पूर्ण शब्दों में यह है कि हम असहयोग के द्वारा एक ऐसी स्थिति को अस्वीकार करते हैं जो स्पष्ट रूप से सत्य और न्याय की विरोधी है, और इसीलिए असहयोग का अर्थ यही है कि उन लोगों से हम कोई संबंध नहीं रखना चाहते जो अन्याय को चिरस्थायी बनाना चाहते हैं।

"ऐसा कहा जाता है कि असहयोग का सिद्धान्त बाहर से अस्वीकृति-सूचक प्रतीत होता है; परन्तु असल में उसका आधार एक बड़े सत्य और तत्त्व को स्वीकार करने में ही है। हम किसी एक तत्त्व को स्वीकार करने के लिए ही किसी एक बात को अस्वीकार करते हैं। यही मानव-जाति के प्रयत्नों का सार है। यदि पराधीन रहना कोई बुराई है तो उस कारोबार से असहयोग करना हमारा धर्म है जो हमें पराधीन रखता है। यही अस्वीकृति-सूचक बात है। परन्तु इसमें स्वीकार करने का वह भाव भरा हुआ है जिसके द्वारा हम स्वतंत्रता प्राप्त करने का दृढ़ संकल्प करते हैं, चाहे फिर उसके पूरे होने में कुछ भी हानि क्यों न उठानी पड़े।

"मुझे इस सिद्धान्त में हताश होने की कोई बात ही नहीं दीखती। असहयोग का सिद्धान्त आशा और विश्वास का सिद्धान्त है। यदि किसीको इस सिद्धान्त की सफलता में सन्देह है, तो वह जेल जानेवाले उन त्यागी वीरों के प्रसन्नमुख को देखे जो जेल जाते समय साफ़ देख रहे हैं कि विजय-लक्ष्मी हमारे हाथ है। महाबली मौलाना शौकतअली और मुहम्मदअली जो कष्ट सह रहे हैं वह व्यर्थ होने का नहीं; संसार-प्रसिद्ध साहसी वीर लाला लाजपतराय नौकरशाही की अवज्ञा कर प्रसन्नता-पूर्वक जेल को गये हैं वह व्यर्थ होने का नहीं, और नरों में इन्द्र के समान प्रतिष्ठित पंडित मोतीलाल नेहरू

ने अटूट सम्पत्ति का त्याग कर, दासत्व में फँसाने-वाली आज्ञा के विरोध में कष्ट सहने के लिए जो अपनी आहुति दी है वह व्यर्थ होने की नहीं।

"अन्त में, मैं उन विद्यार्थियों का प्रशंसा-पूर्ण उल्लेख किये बिना नहीं रह सकता जो **मातृ-भूमि की आशा और मुखोज्ज्वल-कारिणी शक्ति हैं।** आन्दोलन में उन्हींकी शक्ति है, उन्हीं का त्याग है और उन्हींकी विजय है। वे ही आन्दोलन के इस समय ध्रुव-तारे हैं। वे मार्ग पर चलने-वाले यात्री हैं। कष्ट सहना उनके भाग्य में वदा है और विजय-लक्ष्मी उनके हाथों में है।"

(८) श्रीमती दास का संदेश।

"आज भारत के प्रत्येक स्त्री-पुरुष को अपनी आत्मा से यह प्रश्न करना चाहिए कि—'क्या मैं इस संग्राम में भारत का पक्ष ले रहा हूँ?' हमें अपने हृदयों को टटोलकर इस प्रश्न का उत्तर तुरन्त निकालना चाहिए। हमें शीघ्रही इसका निर्णय करना चाहिए और यह ध्यान रखना चाहिए कि इस निर्णय का उत्तरदायित्व भी हमीं पर होगा। इस समय देश चाहता है—कठोर और दृढ़ कर्त्तव्य-परायणता। यदि हमारी आत्मा कहती है कि हम भारत के पक्ष में हैं तो हमें काम करना चाहिए, काम करना चाहिए, काम करना चाहिए। हमें इससे ज्यादा की ज़रूरत नहीं, और न कम की आशा है। इसलिए कांग्रेस के प्रत्येक प्रतिनिधि को स्वयंसेवकों में अपना नाम लिखाना चाहिए। कांग्रेस के प्रत्येक सदस्य का कर्त्तव्य है कि वह कांग्रेस-सेना में भर्ती हो। भारत के प्रत्येक स्त्री-पुरुष को इस कांग्रेस-सेना में भर्ती होना चाहिए, समस्त देश को इस समय कांग्रेस-कार्य में जुट जाना चाहिए। हमें इस समय अपने और दूसरे सब कामों को उस समय तक बन्द कर देना चाहिए जबतक कि यह संग्राम समाप्त न हो जाय। भारत के प्रत्येक स्त्री-पुरुष को कार्य करना चाहिए, और अभी इस समय कार्य करना चाहिए जब कि कार्य करने का समय है।"

(९) महात्मा गान्धी को सर्वाधिकार।

इस कांग्रेस में जो एक अति महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव स्वीकृत हुआ है वह इस प्रकार है—

"यद्यपि इस कांग्रेस की इच्छा है कि सब साधारण साधन जैसे के तैसे बने रहें और जहाँ संयम हो वहाँ काम में लाये जायँ, तथापि वह महात्मा गान्धी को, जबतक कोई दूसरी सूचना न दी जाय तबतक के लिए, कांग्रेस की ओर से कार्य करने का पूर्ण और एकमात्र अधिकारी बनाती है। सर्व-भारतीय-कांग्रेस-कमेटी के सम्पूर्ण अधिकार तथा कांग्रेस, सर्व-भारतीय-कांग्रेस-कमेटी अथवा कार्यकारिणी—कमेटी का विशेष अधिवेशन आमंत्रित करने तथा आवश्यकता होने पर अपना स्थानापन्न नियुक्त करने का अधिकार भी उन्हें समर्पित करती है। उनके स्थानापन्न और उनके भी स्थानापन्न होनेवालों को भी उपर्युक्त सब अधिकार देती है। परन्तु महात्मा गांधी या उनके किसी स्थानापन्न को भारत-सरकार या ब्रिटिश-सरकार से सुलह की शर्तें स्थिर करने का, सर्व-भारतीय-कांग्रेस-कमेटी से स्वीकृति प्राप्त किये बिना, अधिकार न होगा। सर्व-भारतीय-कांग्रेस-कमेटी में इसे स्वीकृत वा कांग्रेस के विशेष अधिवेशन में जो खास इसी प्रयोजन के लिए किया जायगा, समर्थित होना आवश्यक

होगा। कांग्रेस के वर्तमान ध्येय को भी, बिना कांग्रेस की स्वीकृति प्राप्त किये, बदलने का अधिकार महात्माजी या उनके स्थानापन्न होनेवालों को न होगा।"

हम मानते हैं, एक मनुष्य की सम्मति की अपेक्षा दो की सम्मति से अधिक लाभ होने की सम्भावना रहती है। इसी प्रकार जितने अधिक लोगों की सम्मति मिलती है उतना ही अधिक लाभ हो सकता है। पर, यह लाभ ज्यों ज्यों बढ़ता जाता है, त्यों त्यों हानि की भी मात्रा बढ़ती जाती है और एक स्थिति वह आ सकती है जबकि सब लोगों की सम्मति लेना अव्यावहारिक, अतः असम्भव हो जाता है और इसीलिए प्रजा-तंत्र देशों में भी जहाँ समस्त राजकार्य प्रजा या प्रजा के प्रतिनिधियों की सम्मति से हुआ करते हैं युद्ध-काल में अथवा किसी विशेष दशा उपस्थित होने पर समस्त अधिकार एक ही व्यक्ति को सौंप देना केवल लाभदायक ही नहीं, बरन अत्यन्त आवश्यक हो जाता है। क्रान्ति-काल में यह अनिवार्य हो जाता है कि देश का उद्धार करनेके लिए प्रजा की समस्त शक्तियाँ और अधिकार एक ही व्यक्ति में केन्द्रित कर दिये जावें। वह व्यक्ति कौनसा होवे इसके सम्बन्ध में मतभेद हो सकता है। हम हिन्दू अपने अवतारों का इतिहास पढ़कर जान चुके हैं कि ईश्वर का ऐसा कोई अवतार ही नहीं हुआ जिसकी महत्ता को सब लोगों ने स्वीकार किया हो; और यदि सब लोग स्वीकार कर लेते, तो अवतार का प्रयोजन ही सिद्ध न होता। जब अवतारी पुरुषों की सर्वप्रियता की यह दशा है, तब यह भला किस प्रकार सम्भव है कि किसी व्यक्ति विशेष की महत्ता को सब लोग निर्विवाद मान लें। अतः, बहुमतके आधार पर निर्णय किया जाता है; और, यही एकमात्र उपाय है। इसीका अवलम्बन इस वर्ष कांग्रेस ने किया है। आत्मबल और पशुबल का युद्ध दिनोंदिन घमासान होता जा रहा है; अतः ऐसे समय में यह अनिवार्य हो गया है कि जनता की प्रतिनिधि-रूपिणी कांग्रेस की ओर से कार्य करने का पूर्ण अधिकार, कुछ समय के लिए, किसी एक व्यक्ति को सौंपा जाय, और महात्मा गान्धी को यह अधिकार देना सर्वथा उचित हुआ है। असहयोग-आन्दोलन के सिद्धान्त अथवा भारत की वर्तमान परिस्थिति में उसकी उपयुक्तता को न माननेवाला भी ऐसा कौनसा व्यक्ति है जो महात्माजी के आदर्श व्यक्तित्व, देशभक्ति की अनोखी लगन, अनुपम शक्ति, उच्च आदर्श आदि को स्वीकार न करता हो? अतः महात्माजी को छोड़कर किसी दूसरे व्यक्ति को वह अधिकार दिया नहीं जा सकता था। फिर भी, ब्रिटिश सरकार या भारत-सरकार से सुलह की शर्तें स्थिर करने या कांग्रेस के वर्तमान ध्येय को बदलने का अधिकार उन्हें नहीं दिया गया है। सरकार की ओर से सम्प्रति जिस प्रकार पशुबल प्रदर्शित किया जा रहा है, जिस प्रकार प्रजा के जन्मसिद्ध अधिकारों पर कुठाराघात किया जा रहा है उसे देखते हुए यह कोई नहीं कह सकता कि महात्माजी अधिक समय तक जेल के बाहर रहने दिये जावेंगे। तब यह आवश्यक होगा कि उनका स्थानापन्न व्यक्ति चुना जाय, अतः महात्माजी को और उनके स्थानापन्न तथा इसी प्रकार प्रत्येक स्थानापन्न व्यक्ति को पूर्ण अधिकार दिया गया है

कि वे अपने बदले में दूसरे व्यक्ति को चुनते जाकर इस आन्दोलन को चलने देवें। अतः कांग्रेस का उपरि-लिखित प्रस्ताव देश की वर्तमान परिस्थिति में सर्वथा उपयुक्त हुआ है।

(१०) कांग्रेस के कुछ महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव।

पूर्व निश्चय का समर्थन।

"चूँकि कांग्रेस के गत अधिवेशन के समय से भारत की जनता को प्रत्यक्ष अनुभवों से यह बात मालूम हो गई है कि अहिंसा-प्रधान असहयोग के अनुष्ठान के कारण देश में निर्भयता, आत्म-सम्मान और आत्म-त्याग के भावों की बहुत अधिक वृद्धि हुई है, और चूँकि इस (असहयोग) आन्दोलन के कारण सरकार के रोबदाब को बड़ा भारी धक्का पहुँचा है और चूँकि देश स्वराज्य के मार्ग पर बड़ी तेज़ी से बढ़ रहा है, इसलिए यह कांग्रेस अपने कलकत्ते-वाले विशेष अधिवेशन में स्वीकृत तथा नागपुर-वाले साधारण अधिवेशन में पुष्ट किये गये प्रस्ताव का पुनः समर्थन करती है और असहयोग-कार्यक्रम के अनुसार पहले की अपेक्षा अधिक बल के साथ आन्दोलन उस समय तक करने का निश्चय करती है जबतक कि पंजाब और ख़िलाफ़त पर किये हुए अन्यायों का प्रतिशोध न हो जाय, जबतक स्वराज्य स्थापित न हो जाय, जबतक भारत-सरकार के नियमों का अधिकार एक ग़ैर-जिम्मेदार संस्था के हाथ से निकलकर भारतवासियों के हाथ में न आ जाय। आन्दोलन का रूप और प्रकार विशेष निर्द्धारित करने का अधिकार प्रत्येक प्रान्त को होगा।"

स्वयं-सेवक-संघटन।

"चूँकि श्रीमान् वाइसराय ने अपने हाल के भाषणों में धमकाने-वाली बातें कहीं हैं और जिनके फल-स्वरूप भारत-सरकार ने अनेक प्रान्तों में स्वयंसेवक-संस्थाओं को तुड़वाने, सार्वजनिक सभाएँ और कांग्रेस-कमेटी के अधिवेशनों तक को सर्वथा ग़ैरक़ानूनी ढँग से बल-प्रयोग-पूर्वक बन्द करने और कांग्रेस-कर्ताओं को गिरफ़्तार करने आदि रूप में दमन-नीति का प्रयोग आरम्भ कर दिया है और चूँकि इस दमननीति के प्रयोग का प्रकाश्य उद्देश्य कांग्रेस और ख़िलाफ़त की संस्थाओं की ओर से किये जानेवाले सारे कार्यों को रद्द करा देने और जनता को उनकी सहायता से वञ्चित करना है; इसलिए यह कांग्रेस निश्चय करती है कि कांग्रेस के और जिन जिन कामों के लिए आवश्यकता समझी जाय वे तत्काल बन्द कर दिये जायँ और शांतिपूर्वक, तथा गिरफ़्तार होने की तनिक भी उत्सुकता प्रकाश किये बिना, स्वयंसेवक-संघटन में शामिल होने का सबसे अनुरोध करती है। यह संघटन देश भर में २३ नवम्बर को बम्बई में कार्यकारिणी-समिति ने जो कुछ निश्चय किया है उसका अनुरोध करते हुए स्थापित किये जायँ। परन्तु कोई भी व्यक्ति जबतक कि नीचे के प्रतिज्ञा-पत्र पर हस्ताक्षर न कर दे, स्वयं-सेवक-संस्था में भर्ती न किया जा सकेगा।"

स्वयं-सेवकों का प्रतिज्ञापत्र।

"ईश्वर को साक्षी मानकर मैं नीचे लिखी बातें शपथ-पूर्वक कहता हूँ:— (१) मैं राष्ट्रीय स्वयं-सेवक-दल का सदस्य होना चाहता हूँ; (२) जबतक मैं इस दल का सदस्य रहूँगा, मैं वचन और कर्म दोनों से हिंसा न करूँगा और मन से भी अहिंसाव्रती बनने का भी अकपट-भाव से उद्योग करूँगा; क्योंकि मेरा विश्वास है कि इस

समय भारत में जैसी परिस्थिति है उसके कारण एकमात्र अहिंसा-व्रत ही ख़िलाफ़त और पंजाब की सहायता करने और स्वराज्य स्थापित कराने में समर्थ है तथा भारत में बसने-वाले विविध वंशों और जातियों में हिन्दू, मुसलमान, सिख, पारसी, यहूदी और ईसाई में एकता का बन्धन दृढ़ करा सकता है; (३) मुझे इस एकता में विश्वास है और मैं उसे बढ़ाने का सदैव उद्योग करता रहूँगा; (४) मैं स्वदेशी-व्रत को भारत के आर्थिक, राजनीतिक और नैतिक स्वाधीनता की प्राप्ति के लिए अनिवार्य रीति से आवश्यक समझता हूँ और सिर से पैर तक केवल हाथ के कते-बुने खद्दर के ही वस्त्र धारण करूँगा; दूसरा कोई कपड़ा धारण न करूँगा; (५) हिन्दू होने के कारण मेरा विश्वास है कि स्पर्शास्पर्श के दोष को समाज से दूर करना न्याय का अनुरोध है तथा आवश्यक भी है, और मैं प्रत्येक अवसर पर नीच जातियों से शरीर-संसर्ग स्थापित करने तथा उनकी सेवा करने का प्रयत्न करूँगा; (६) मैं अपने से ऊपरवाले अधिकारी के प्रत्येक आदेश तथा वालंटियर-बोर्ड, कार्य-कारिणी-समिति अथवा कांग्रेस द्वारा स्थापित अन्य संस्था के प्रत्येक विधि-नियम का, केवल उसको छोड़कर जो इस प्रतिज्ञा-पत्र के आशय के विरुद्ध हो, पालन और अनुकरण करूँगा; (७) मैं क़ैद, मारपीट और मृत्यु तक को अपने धर्म और देश के लिए, स्वीकार करने को प्रस्तुत हूँ; (८) क़ैद होजाने की दशा में मैं कांग्रेस से अपने कुटुम्ब वा आश्रित वर्ग के लिए किसी प्रकार की सहायता न माँगूँगा।

यह कांग्रेस विश्वास करती है कि १८ वर्ष और इससे ऊपर की आयु का प्रत्येक व्यक्ति सरकार की सभाबन्दी की घोषणा की परवाह न कर तुरन्त स्वयंसेवक-संघटन में सम्मिलित हो जायगा।"

सभाएँ किस प्रकार की जाँय?

"चूँकि कांग्रेस-कमेटी की बैठकों को भी सार्वजनिक सभा सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है, इसलिए यह कांग्रेस-कांग्रेस कमेटी की बैठक बन्द जगह में करने की सलाह देती है। उनमें वे ही लोग आ सकें जिन्हें प्रवेश-पत्र (टिकट) मिला हो, सभा की सूचना पहले से कर दी जाय और जहाँ तक सम्भव हो वे ही लोग भाषण दे सकें जिनके विषय में पहले से सूचना कर दी गई हो, और भाषण सदैव पहले से लिखकर लाये गये हों। ऐसे प्रत्येक अवसर पर ऐसी कोई बात न होने दी जाय जिससे जनता के उत्तेजित और उपद्रव पर उतारू होने की आशंका हो।"

व्यक्तिगत और सामुदायिक सत्याग्रह।

"इस कांग्रेस का मत है कि जब व्यक्तियों अथवा संस्थाओं को मनमाने, अत्याचार-पूर्ण और जनता को पुंसत्व-विहीन करनेवाले तरीक़ों से अपने अधिकारों का प्रयोग करने से रोकने के अन्य सब उपाय थक चुके हों तब शान्तिमय क़ानून-भङ्ग वा सत्याग्रह ही ऐसा साधन है जो सशस्त्र विरोध के बराबर प्रभावोत्पादक हो सकता है और इसलिए यह कांग्रेस उन सब लोगों से जिनका शान्तिमय साधनों में विश्वास है और जिन्हें इस बात का निश्चय हो चुका है कि वर्तमान सरकार की भारतवासियों के प्रति अनुत्तरदायी स्थिति नष्ट करने का उपाय एकमात्र आत्मत्याग है, व्यक्तिगत

सत्याग्रह करने की सलाह देती है, और सामुदायिक सत्याग्रह तब किया जा सकेगा जब जनता ने अहिंसा का यथेष्ट व्यावहारिक ज्ञान और अभ्यास प्राप्त कर लिया हो और सर्व-भारतीय-कांग्रेस-कमेटी के दिल्लीवाले अधिवेशन में स्वीकृत नं० ३ प्रस्ताव के अनुसार सब योग्यता सम्पादित कर ली हो।

"इस कांग्रेस की राय है कि जिसमें प्रान्तिक कांग्रेस-कमेटी की कार्य-कारिणी-समिति से समय समय पर प्राप्त होनेवाले आदेशों के अनुसार और समुचित तैयारी करके व्यक्तिगत या सामुदायिक (आक्रमण अथवा आत्मरक्षण के रूप में) सत्याग्रह करने की ओर पूर्ण रूप से ध्यान दिया जासके, इसलिए कांग्रेस के और सब कार्य जब, जहाँ और जिस हद तक आवश्यकता समझी जाय, बन्द कर दिये जायँ।

"यह कांग्रेस उन सब विद्यार्थियों को जिनकी अवस्था १८ साल की या अधिक है, खास राष्ट्रीय विद्यालयों में विद्यालाभ करनेवाले विद्यार्थियों और उनके अध्यापकों को अविलम्ब उपर्युक्त प्रतिज्ञापत्र पर हस्ताक्षर करने और राष्ट्रीय स्वयं-सेवक-दल का सदस्य बनने के लिए आह्वान करती है।"

कांग्रेस के अन्य प्रस्ताव।

इस कांग्रेस में जो अन्य प्रस्ताव स्वीकृत हुए उनमें—

(१) मोपला-उपद्रव को शान्त करने में सरकार की नीति की निन्दा की गई है और उन मोपलों की भी निन्दा की गई है जिन्होंने बल-प्रयोग से दूसरों का धर्म-परिवर्त्तन कराया।

(२) गाज़ी मुस्तफ़ा कमालपाशा और तुर्कों को उनकी विजय के लिए बधाई दी गई है।

(३) गत १७ नवम्बर को बंबई में किये गये उपद्रव की निन्दा की गई है।

(४) कांग्रेस की नियमावली में परिवर्तन किया गया है जिससे १८ वर्ष की अवस्था-वाले लोग भी कांग्रेस के सदस्य हो सकें। (अभीतक २१ वर्ष की अवस्था की क़ैद थी।)

(५) सब-धर्म-वालों को विश्वास दिलाया गया है कि कांग्रेस की यही इच्छा है कि सबके अधिकारों की पूरी पूरी रक्षा हो।

(६) कांग्रेस के भूतपूर्व सभापतियों के लिए यह क़ैद लगाई गई है कि यदि आप इस पद के नाते कांग्रेस के सदस्य बने रहना चाहें तो कांग्रेस के ध्येय पर हस्ताक्षर करें। (इसके अनुसार, माननीय मालवियजी ने हस्ताक्षर कर दिये हैं।)

(११) अहिंसात्मक सत्याग्रह का संग्राम।

वर्तमान असहयोग-आन्दोलन का स्वाभाविक परिणाम सत्याग्रह है। जब सरकार अन्याय और अत्याचार पर तुली है, जब न्याय-मूर्ति लॉर्ड रीडिंग के तत्वावधान में भी देश में ब्रिटिश-न्याय का केवल प्रहसन हो रहा है, जब असाधारण क़ानूनों का साधारण और साधारण क़ानूनों का असाधारण प्रयोग किया जा रहा है, जब स्वयंसेवक-संघटन को ग़ैरक़ानूनी सिद्ध करने के लिए इस बात की आवश्यकता नहीं समझी जाती है कि स्वयं-सेवकों पर मुक़द्दमा चलाया जावे और सिद्ध किया जावे कि स्वयंसेवक सचमुच में ज़्यादती कर रहे हैं, जब पुलिस की ज़्यादतियों की कोई रोकथाम नहीं हो रही है—ऐसी परिस्थिति में

देश का कर्त्तव्य क्या है ? कर्त्तव्य यही है कि प्राण-पण से इसका विरोध किया जावे। नरम-दलवालों ने भी सरकार की इस अनावश्यक और अनुपयुक्त दमन-नीति की निन्दा खुले शब्दों में की है, और कांग्रेस ने अहमदाबाद के अधिवेशन में इसका विरोध करने के लिए सत्याग्रह करने की अनुमति दी है। यह अनुमति दिल्ली की बैठक में ही, कुछ आवश्यक और कड़ी शर्तों के साथ, प्राप्त हो चुकी थी। अब भी वे ही शर्तें पीछे लगी हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि 'जब व्यक्तियों और संस्थाओं को मनमाने, अत्याचार-पूर्ण और जनता को पुंसत्व-विहीन करनेवाले तरीक़ों से अपने अधिकारों का प्रयोग करने से रोकने के अन्य सब उपाय थक चुके हैं वहाँ शान्तिमय क़ानून-भङ्ग का सत्याग्रह ही साधन है जो सशस्त्र विरोध के बराबर प्रभावोत्पादक हो सकता है।' सत्याग्रह की प्रभावोत्पादकता में कोई सन्देह नहीं; पर हमारा थोड़ा सा सन्देह है वर्तमान परिस्थिति में उसकी उपयुक्तता के सम्बन्ध में। गत १७ नवम्बर को बम्बई में जनता की ओर से जो उपद्रव हुआ था उसे देखकर यह विदित हो गया कि जनता अभी सत्याग्रह के लिए तैयार नहीं है, और इसलिए सत्याग्रह स्थगित किया गया था। माना, इस उपद्रव का सारा दोष जनता पर नहीं था—दूसरे पक्ष से प्रबल उत्तेजना की सामग्री उपस्थित की गई थी; पर सत्याग्रह की सफलता तो तभी हो सकती है न, जब उत्तेजित होने की प्रबल सामग्री की उपस्थिति में भी सत्याग्रही विचलित न होवें और पूर्णतः शान्त बने रहें ? हम समझते हैं, यदि १४ मास तक शान्ति की शिक्षा पाने पर भी बम्बई के कुछ लोग सत्याग्रह के यथार्थ तत्व को ग्रहण नहीं कर सके थे, तो वे एक मास में इन तत्वों को हृदयङ्गम कर सके होंगे अथवा बम्बई में जिस प्रकार के लोग थे वैसे लोग दूसरे स्थानों में नहीं हैं—इसके लिए हमारा मन सन्देहान्वित है। अथवा, सम्भव है, इन डेढ़ मास के भीतर जनता शान्ति के तत्वों को उसी प्रकार हृदयङ्गम कर चुकी हो जिस प्रकार परीक्षा-समय निकट आने पर पाठशालाओं के विद्यार्थी जी तोड़कर तैयारी करते और एक मास के भीतर वह तैयारी कर दिखाते हैं जो वर्ष भर में नहीं हुई होती। यह अवश्य हुआ है कि बम्बई की दुर्घटना से जनता को अपनी भूल विदित हो गई है और वह जान गई है कि हमारे ज़रा ही विचलित होनेसे सारा आन्दोलन नष्ट हो सकता है। साथ ही, उस समय से लेकर आजतक अनेक नेताओं और सहस्रों स्वयंसेवकों के गिरफ्तार होते जाने पर जनता जिस अपूर्व शान्ति का परिचय दे रही है वह प्रमाणित करती है कि जनता इस थोड़े से समय के भीतर शान्ति-मंत्र में कितनी अधिक दीक्षित हो गई है।

जो हो, सत्याग्रह की उपयुक्तता के विषय में कुछ सन्देह रखते हुए भी हमारा कर्त्तव्य है कि हम सन्देहों को थोड़े समय के लिए दूर करदें और पूर्ण ऐक्य के साथ इसमें योग दें; क्योंकि सत्याग्रह तभी सफल हो सकता है जब सारा देश साथ दे। व्यक्ति विशेष या स्थल विशेष का सत्याग्रह सहज ही दबाया जा सकता है, और वह कदापि सफल नहीं हो सकता। हमारा यह भी कर्त्तव्य है कि हम जनता की मनोवृत्तियों से

पूर्ण परिचय रखनेवाले नेताओं के आदेशों पर चलें। यह मतभेद प्रकट करने का समय नहीं है। जबकि हम लोगों के भाषण का और एक दूसरे से मिलने की स्वतंत्रता का गला दबाया जा रहा है, तब सत्याग्रह करने के सिवा गत्यन्तर नहीं। अमेरिका के प्रसिद्ध नीतिज्ञ 'थोरो' के शब्दों में जो शब्द एम० एस० मोरिस की पुस्तक में उद्धृत किये गये हैं—कोई भी मनुष्य पहले मनुष्य है और फिर प्रजा है। जिस समय कि प्रजा मनुष्य-कृत ऐसे क़ानूनों को मानने के लिए बाध्य की जाती है जो मनुष्य के सदसद्विवेक-बुद्धि के विरुद्ध हैं, तब मनुष्य का कर्तव्य स्पष्ट है, और वह यह है कि प्रजा मनुष्य-कृत अनुचित नियमों को न मानकर अपने विवेक की आवाज़ को सुने और उसका अनुसरण करे। यदि विवेक की आवाज़ राष्ट्र के अधिकांश मनुष्यों के हृदयों में उठती है, तब तो राष्ट्र को आँख बंद करके उस पथ का अनुसरण करना चाहिए। क्योंकि मनुष्य-मात्र को यह अधिकार है कि वह राज्य के क़ानूनों के लिए जितनी आदर-बुद्धि रखता है उससे अधिक आदर-बुद्धि सत्य के लिए रखे। अतः देश की वर्तमान परिस्थिति में सत्याग्रह करने के सिवा दूसरा उपाय नहीं।

(१२) असहयोग-आन्दोलन की सामूहिक शक्ति।

वर्तमान असहयोग—आन्दोलन बहुधा राजनीतिक आन्दोलन ही समझा जाता है; परन्तु थोड़ा विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि वह केवल एक आन्दोलन नहीं, बरन अनेक आन्दोलनों का समूह है, और उसकी प्रतिदिन बढ़ती हुई सफलता और व्यापकता का यह भी एक रहस्य हो सकता है। इस देश में होचुके बड़े बड़े समाज-सुधारक भारत की हिन्दू-मुसलिम तथा हिन्दुओं की विभिन्न जातियों के बीच जिस एकता के लिए प्रयत्न कर निराश हो चुके थे उसी एकता को यह राजनीतिक आन्दोलन सिद्ध कर रहा है। कई विचारशील व्यक्ति इस एकता पर स्वार्थ का लेप चढ़ा हुआ देखते और कहते हैं कि ज्योंही स्वार्थ—सिद्धि हुई, त्योंही यह लेप उचट जायगा; परन्तु विचार करने की बात यह है कि यदि एकता स्वार्थ-सिद्धि के लिए आवश्यक है, तो वह इस सिद्धि का फल उपभोग करते रहने के लिए भी उतनी ही, या उससे भी कहीं अधिक आवश्यक है। फिर, यह कोई कारण नहीं कि स्वार्थ-सिद्धि हो चुकते ही एकता मिट जावेगी।

वर्णाश्रम-धर्म में आस्था रखनेवाले हिन्दू इस समय देख रहे हैं कि यदि द्विजाति के लोग शूद्रों को अस्पृश्य न समझकर उन्हें अपना भाई—बंधु समझते और उनके सुख-दुःख में अपने को सम्मिलित करते हैं, तो इससे वर्ण-धर्म शिथिल या नष्ट न होकर प्रबल ही होता है। इस अस्पृश्यता को दूर करके द्विजाति के लोग शूद्रों को केवल मनुष्योचित अधिकार ही देते हैं और उन शूद्रों को जो मानवोचित अधिकार और स्वतंत्रता पाने की इच्छा से दूसरे धर्मों में सम्मिलित होते हैं हिन्दू-क्षेत्र में रखकर प्रतिदिन क्षीण होती हुई हिन्दूजाति का अस्तित्व ही सुरक्षित करने का प्रयत्न करते हैं। अस्पृश्योद्धार का यह अभिप्राय नहीं है कि द्विजाति और शूद्रों

के बीचमें रोटी-बेटी का व्यवहार हो जाये। (देखिए, १ दिसम्बर, १९२१, का यंगइंडिया, पृष्ठ ३९६)। अतः, इस अस्पृश्योद्धार में ऐसी कोई बात नहीं है जिससे हिन्दुओं की वर्ण-व्यवस्था पर कोई आघात पहुँचे।

मादक-द्रव्य-निषेध ने इस राजनीतिक आन्दोलन में समाज-सुधार के भी तत्त्व सम्मिलित कर दिये हैं, और इस दिशा में इस आन्दोलन को अपूर्व सफलता मिली है।

जिस अहिंसा का प्रचार भगवान् बुद्ध के जीवन का प्रधान उद्देश था उस अहिंसा का तत्त्व आज जनता में कितना प्रचलित हो गया है—यह एक स्वयंसिद्ध घटना है, अथवा यों समझना चाहिए, अहिंसा पर ही वर्तमान आन्दोलन की नींव डाली गई है। यह अहिंसा-भाव इतना प्रधान है कि जो व्यक्ति इस भाव में दीक्षित नहीं है उसके लिए इस आन्दोलन में स्थान ही नहीं है। जेल के फाटकों की ओर बढ़ती हुई जनता, प्रबल उत्तेजना की सामग्री के विद्यमान रहते हुए भी, जिस अहिंसा-व्रत का पालन कर रही है उसे देखकर यदि भगवान् बुद्ध की आत्मा सन्तुष्ट हो रही हो, तो आश्चर्य ही क्या है।

इन्हीं सब बातों को देखते हुए यह कहना पड़ता है कि वर्तमान राजनीतिक आन्दोलन केवल राजनीतिक ही नहीं, वरन सामाजिक भी है। जो लोग इसकी राजनीतिक सफलता में विश्वास न रखते हों उनके लिए भी इसमें स्थान है। वे इसके अन्तर्गत सामाजिक क्षेत्र में काम कर सकते हैं; पर कर सकते हैं सचाई और सच्ची लगन के साथ। कांग्रेस ने इस संबंध में निम्न लिखित प्रस्ताव स्वीकृत किया है।

सहयोगी भी कांग्रेस का साथ दे सकते हैं।

"यह कांग्रेस उन सब लोगों से, जो पूर्ण असहयोग या उसके सिद्धान्त पर विश्वास नहीं करते, लेकिन जो राष्ट्रीय इज्जत के लिए यह आवश्यक समझते हैं कि खिलाफ़त और पंजाब के अन्याय पर जोर दिया जाय और राष्ट्र के पूर्ण भाव प्रगट करने के लिए तुरन्त स्वराज्य स्थापित करने पर जोर दिया जाय, प्रार्थना करती है कि वे भिन्न भिन्न धार्मिक पंथों में एकता बढ़ाने, कपास धुनकने, हाथ से सूत कातने और हाथ से कपड़ा बुनने के काम में, आर्थिक दृष्टि से और घरू धंधे की दृष्टि से, जिनकी आवश्यकता उन लाखों किसानों के लिए है जो अधपेटे रहते हैं, पूरी सहायता दें और इस हेतु की पूर्ति के लिए हाथ से कते और हाथ से बुने कपड़ों के प्रचार और उपयोग करने तथा पूरी नशाबन्दी करने और यदि हिन्दू होवें, तो छुआछूत को हटाने और अस्पृश्य जातियों की दशा सुधारने के लिए सहायता दें।"

(१३) अमेरिका का भारत को संदेश।

३१ अमेरिकन सज्जनों ने भारतवासियों को एक संदेश भेजा है। ये सब सज्जन अमेरिका के आदरणीय नागरिक हैं। कोई कांग्रेस का सदस्य, कोई सिनेट का सदस्य, कोई चीफ़ जस्टिस, कोई जज, कोई प्रधान पादरी आदि हैं।

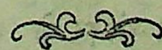
संदेश इस प्रकार है—

"संसार के जो लोग स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिए चेष्टाएँ करते आ रहे हैं उनके साथ सहानुभूति प्रकट करने तथा उनका पक्ष समर्थन करने

में अमेरिका कभी पीछे नहीं रहा है । कुछ समय पूर्व हमारी सेना मित्र-राष्ट्रों की सहायता के लिए यूरोप भेजी गई थी, और उसकी सहायता से इन राष्ट्रों ने महायुद्ध में विजय प्राप्त की । शासितों की सम्मति पर ही शासकों का न्यायाधिकार निर्भर है, और इसी सिद्धान्त के अनुसार आशा की जाती थी कि हम उस युद्ध में अवश्य सम्मिलित होंगे; और मित्र-राष्ट्रों ने इसी सिद्धान्त पर हमारी सहायता स्वीकार की थी कि इस युद्ध के पश्चात् सभी स्थानों में लोगों को स्वभाग्य-निर्णय करने का अवसर दिया जायगा—उन्हें यह निश्चय करने का अवसर दिया जायगा कि वे किस प्रकार की शासन-पद्धति चाहते हैं । इसलिए हमने महायुद्ध के समय जिन शक्तियों का साथ दिया था उनकी प्रतिज्ञाओं के अनुसार, जिनपर हमारे सैनिकों के रक्त की मुहर-छाप लगी है, हमें अधिकार है कि हम भारतवर्ष, आयर्लैंड और मिश्र के लोगों के प्रति जो स्वतंत्रता के लिए युद्ध कर रहे हैं केवल सहानुभूति ही प्रकट नहीं करें, वरन क्रियात्मक रूप में उनकी सहायता भी करें । इसलिए हम भारतवासियों के प्रति अपनी सहानुभूति प्रकट करते हैं और उन्हें विश्वास दिलाते हैं कि हम सब उनकी सफलता-प्राप्ति के मार्ग को सुगम करने को तैयार हैं । ”

यह सन्देश अति महत्वपूर्ण है । यह प्रकट करता है कि भारतवर्ष जिस स्वाधीनता के लिए आत्म-बलि दे रहा है वह मनुष्य का जन्मसिद्ध अधिकार है । वह यह भी प्रकट करता है कि संसार से अभी न्याय-बुद्धि का बिलकुल दिवाला नहीं निकल गया है । अब भी संसार में ऐसी शक्तियाँ हैं जो मनुष्य का मनुष्यत्व—स्वाधीनता—अपहरण किया जाना नहीं देख सकतीं । सबसे बड़ी बात जो इससे प्रकट होती है वह मित्र-राष्ट्रों की कुटिलता है कि जिन्होंने “स्वभाग्य-निर्णय” की डींग हाँककर दूसरों की सहायता से अपना स्वार्थ सिद्ध किया । भारत खिलाफ़त और रौलट एक्ट के संबंध में इँग्लेंड का उज्जवल न्याय भलीभाँति देख चुका है. अब अमेरिका ने भी देख लिया ।

यह संदेश स्वतन्त्रता-भोगी अमेरिका के सर्वथा उपयुक्त ही है । परन्तु भारत जिस अधिकार के लिए आत्मबलि दे रहा है उसे प्राप्त करने में किसी अन्य देश से सहायता लेना स्वावलम्बन के सिद्धान्त के प्रतिकूल होगा । भारत केवल यही चाहता है कि अमेरिका तथा अन्य देश पशुबल और आत्मबल के इस अपूर्व युद्ध को देखें और शीघ्र होनेवाली आत्मबलकी पूर्ण विजय को देखकर यह ग्रहण करें कि संसार की शान्ति और भौतिक विजय के लिए निःशस्त्रीकरण की समस्या पर विचार करना नहीं, वरन आत्म-बलिदान करना आवश्यक है । जिस दिन संसार को यह विदित हो जायगा कि आत्मबल के आगे पशुबल किस प्रकार पराजित होता है उस दिन विश्व-शान्ति का सच्चा, स्थायी और सफल प्रयत्न हो सकेगा ।



राष्ट्रीय हिन्दी-मन्दिर का कार्य-विवरण।

प्रबन्ध-समिति।

साधारण अधिवेशन।

स्थान— गोविन्दभवन।

समय—४ बजे संध्या, शुक्रवार, मार्गशीर्ष कृष्ण ३, सं. १९७८, (१८ नवम्बर, १९२१)

उपस्थित—

१ श्री. बाबू गोविन्ददासजी (सभापति), २ पं० माधवरावजी सप्रे, ३ पं० हरप्रसादजी पांडेय, ४ बाबू रामचन्द्रजी संघी, और ५ पं० नर्म्मदाप्रसादजी मिश्र।

१. गत अधिवेशन का कार्य-विवरण पढ़कर सुनाया गया और सर्व सम्मति से स्वीकृत हुआ।

२. शारदा-पुस्तक-माला के लेखकों से जो अधिकार-पत्र लिखाया जाता है वह पुनर्विचार के लिए उपस्थित किया गया और सर्व-सम्मति से स्थिर हुआ कि मंत्री, पं० मनोहरपंतजी गोलवलकर की सम्मति से, दूसरा मसविदा तैयार करें जिसमें क़ानून का बन्धन तो रहे; परन्तु आपत्तिजनक अंश जितना अलग किया जा सके अलग किया जाय। यह भी निश्चय हुआ कि इस मसविदे के तैयार होते ही प्रबन्ध-समिति की दूसरी बैठक में यह उपस्थित किया जावे।

३. राष्ट्रीय हिन्दी-मंदिर के सदस्य होने के इच्छुक २१ सज्जनों के आवेदन-पत्र उपस्थित किये गये, और निश्चय हुआ कि ये पत्र, यथा-नियम, स्थायी समिति में रखे जावें।

४. शारदा-पुस्तक-माला की पुरानी सम्पादक-समिति के सदस्य आगत पुस्तकों को पढ़ने और उनपर सम्मति देने का जो कार्य करते आ रहे हैं उसके लिए उन्हें पुरस्कार देने के सम्बन्ध में यह स्थिर हुआ कि प्रत्येक सदस्य को प्रति पच्चीस पृष्ठ पीछे एक रुपया दिया जावे।

पं० गोपालरावजी तामसकर ने अपने कार्य का चार्ज जबसे पं० कामताप्रसादजी गुरु को दिया है तबसे उन्होंने जो कार्य किया है केवल उसके लिए ऊपर लिखे हिसाब से पुरस्कार दिया जावे; क्योंकि गुरुजी को चार्ज देने के पूर्व उन्होंने जो कार्य किया था उसके लिए उन्हें पुरस्कार, पहले ही, दिया जा चुका है।

पं० कामताप्रसादजी गुरु ने शारदा-पुस्तक-माला के साथ अपना वैतनिक सम्बन्ध जब से छोड़ा है तब से उन्होंने जो कार्य किया है केवल उसीके लिए उन्हें ऊपर लिखे हिसाब से पुरस्कार दिया जावे।

५. श्रीयुत सिद्धनाथजी लोंढे ने "कांग्रेस का जन्म और विकास" नाम की जो छोटी पुस्तक लिखी है उसके सम्बन्ध में यह निश्चय हुआ कि चूंकि पुस्तिका का विषय सामयिक होने के कारण उसके शीघ्र छपने से उसका अच्छा प्रचार हो सकता है और चूंकि सम्पादक-समिति द्वारा उसका निर्णय होने में कुछ विलम्ब हो जाने की आशंका है, इसलिए कल शनिवार को सन्ध्या समय पं. मनोहरपन्तजी गोलवलकर, पं. माधव-

रावजी सप्रे, पं. हरप्रसादजी पाण्डेय, बाबू रामचन्द्रजी संघी और पं. नर्म्मदाप्रसादजी मिश्र गोविन्दभवन में बैठकर उस पुस्तक को पढ़ने की कृपा करें और यदि उनकी सम्मति में वह उपयुक्त जँचे, तो उसे दिसम्बर के दूसरे सप्ताह के पूर्व छपकर प्रकाशित करने की व्यवस्था की जाय।

६. आज के कार्यक्रम के अन्य विषय कल दो बजे इसी स्थान में होनेवाली बैठक के लिए स्थगित किये गये।

सभापतिजी को धन्यवाद दे सभा विसर्जित हुई।

स्थगित अधिवेशन।

स्थान—गोविन्दभवन।

समय—२ बजे सन्ध्या, शनिवार, मार्गशीर्ष कृष्ण ४, सम्वत् १९७८ (१९-११-२१)

उपस्थित—

१. श्री० बाबू गोविन्ददासजी (सभापति), २. पं० मनोहरपन्तजी गोलवलकर, ३. पं० माधवरावजी सप्रे, ४. पं० हरप्रसादजी पांडेय ५. बाबू रामचन्द्रजी संघी, और ६. पं० नर्म्मदाप्रसादजी मिश्र।

१. कल की बैठक का कार्य-विवरण पढ़कर सुनाया गया और स्वीकृत हुआ।

२. जो सज्जन वर्ष के बीच में राष्ट्रीय हिन्दी-मंदिर के सदस्य होना चाहते हैं वे अपना चन्दा देने की तिथि से सदस्य हो सकते हैं या नहीं—इस विषय में निश्चय हुआ कि ३१ वें नियम के अनुसार वर्ष के बीच में सदस्य होने वालों को भी पूरे वर्ष का चन्दा देना चाहिए और उनका वह चन्दा वर्ष के आरम्भ से ही समझा जाना चाहिए।

३. मंत्री ने अक्टूबर, १९२१ के कार्य के सम्बन्ध में अपनी रिपोर्ट पढ़कर सुनाई और वह स्वीकृत हुई।

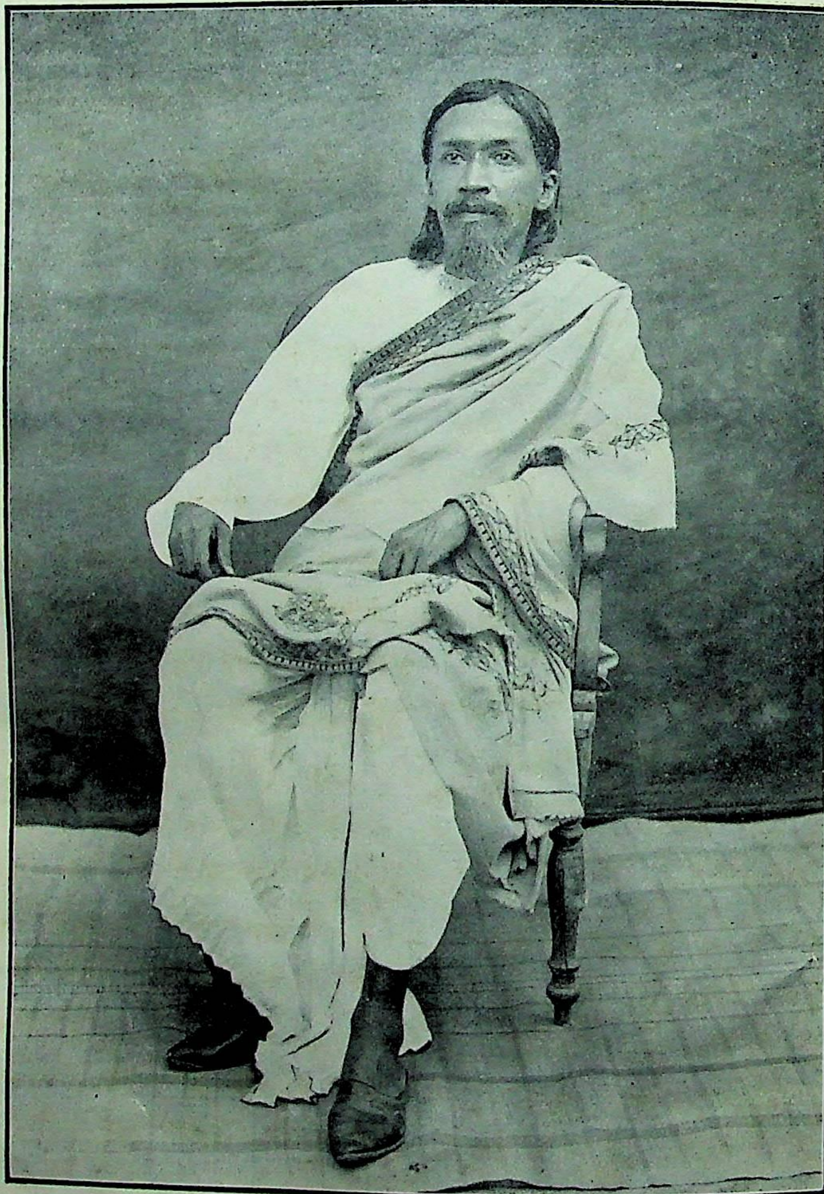
४. शारदा-पुस्तक-माला की पुस्तकों के मूल्य के सम्बन्ध में सर्व-सम्मति से यह निश्चय हुआ कि पुस्तकों के मूल्य में ये ६ बातें सम्मिलित रहनी चाहिए—काग़ज़ का मूल्य, छपाई, कर्मचारियों का वेतन, लेखक का पुरस्कार, विज्ञापन, छपाई का खर्च और स्थायी ग्राहकों को दी जानेवाली $\frac{1}{4}$ मूल्य की छूट।

५. बाबू मंगलप्रसाद और पं० कन्छेदीलाल के वेतन-वृद्धि-विषयक प्रार्थना-पत्र उपस्थित किये गये और सर्व-सम्मति से निश्चय हुआ कि दोनों में से प्रत्येक कर्मचारी को ५) पाँच रुपये मासिक वृद्धि १ नवम्बर, १९२१ से दी जाय।

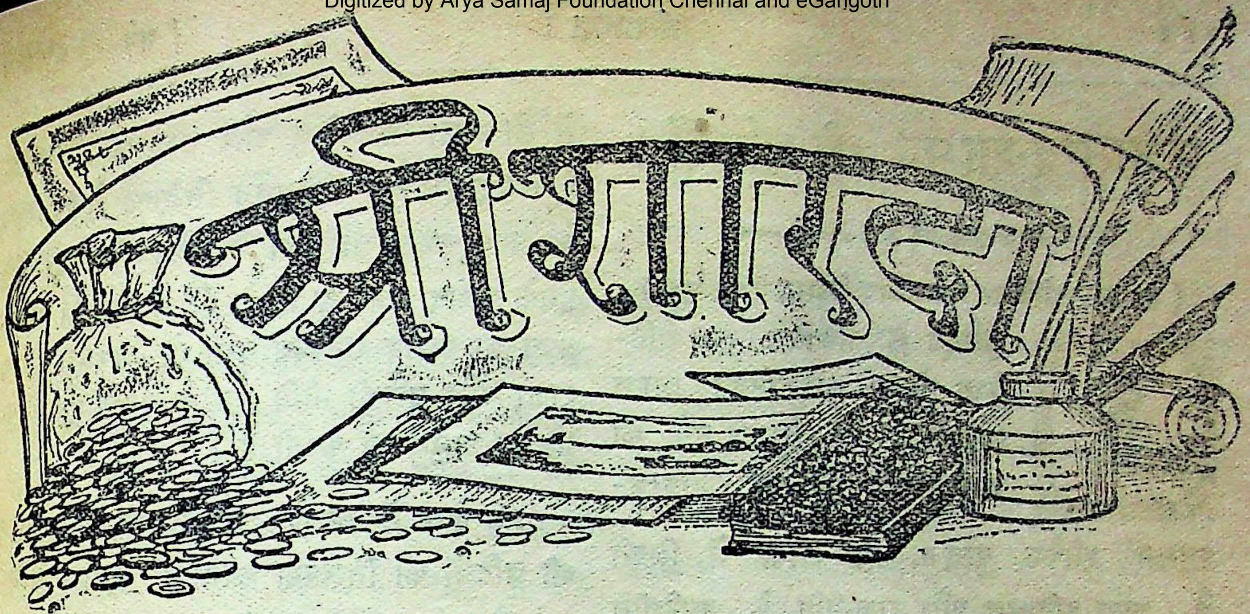
६. मंत्री ने अक्टूबर, १९२१ के आय-व्यय का लेखा उपस्थित किया और सर्व-सम्मति से यह स्थिर हुआ कि अक्टूबर, नवम्बर और दिसम्बर, १९२१ के आय-व्यय का लेखा जनवरी, १९२२ की बैठक में उपस्थित किया जाय और भविष्य में प्रति मास के आय-व्यय का लेखा आगामी मास की बैठक में उपस्थित किया जाया करे।

७. अप्रेल, १९२१ से सितम्बर १९२१ तक के आय-व्यय तथा हानिलाभ का लेखा उपस्थित किया गया, उसकी प्रत्येक मद पर विचार किया गया, और लिखने के ढँग के सम्बन्ध में अनेक सुधार स्वीकृत किये गये। अन्त में सर्व-सम्मति से यह निश्चय हुआ कि इन सुधारों के सम्मिलित हो चुकने के पश्चात् यह लेखा "श्रीशारदा" में प्रकाशित किया जाय।

सभापतिजी को धन्यवाद दे सभा विसर्जित हुई।



बाबू अरविन्द घोष।



साहित्य-तथा-राजनीति-संबंधी-विविध-विषय-विभूषित सचित्र मासिक पत्रिका।

वर्ष २, खण्ड २] पौष, शुक्ल प्रतिपदा, सं० १९७८ * जनवरी, १९२२ ई० [संख्या ४, पूर्ण संख्या २२

दमन से लाभ।

(लेखक—महात्मा अरविंद घोष)

दमन हमारे राष्ट्रीय जीवन की अभिव्यक्ति और आत्म-प्रकाश को दबाकर राष्ट्रीय-जीवन और आन्दोलन को नष्ट करना चाहता है। दमन ईश्वर का हथौड़ा है और वह हमको पीट पीट कर एक विराट् राष्ट्र के रूप में परिणत करना चाहता है। दमन ईश्वर का एक यंत्र-मात्र है। हम ईश्वर की निहाई पर लोहे के सामान हैं और हम पर बार बार आघात इसलिए नहीं किया जा रहा है कि हम विनष्ट हो जायँ; परन्तु वह इसलिए किया जा रहा है कि हमारी फिर से सृष्टि हो। कष्ट सहन किये बिना शक्ति नहीं मिल सकती और त्याग के बिना उत्थान नहीं हो सकता। हम भारतीय बड़ी भारी सहनशीलता रखते हैं। हमारी जाति कोई साधारण जाति नहीं है; हम उन माताओं की सन्तान हैं जो अपने पतियों के साथ परलोक जाने के लिए हँसते हँसते चिताओं पर चढ़ जाती थीं। हम एक राष्ट्र के रूप में जीवन की परिपूर्णता चाहते हैं। राष्ट्रीय जीवन की वह परिपूर्णता स्वराज्य के रूप में मिलेगी। यह परिपूर्णता जीवन है और इसका अभाव विनाश। ईसाने अपने शिष्यों से कहा था—"स्वर्ग का राज्य तुम्हारे अन्दर है।" उसी प्रकार स्वराज्य का राज्य हमारे अन्दर है। हमें चाहिए कि हम उस स्वराज्य की स्थापना करें, अर्थात् राष्ट्र में ईश्वर की स्थापना करें और अपने हृदय में उनका अनुभव करें।

इसलिए हमारा कर्तव्य केवल कष्ट सहन करके अपने को मज़बूत करना है और फिर यह दमन का यंत्र आप व्यर्थ हो जायगा। ईश्वर ने हमारी परीक्षा लेने के लिए इस आँधी और तूफ़ान को भेजा है। वे हमसे कष्ट सहन कराते हैं इसलिए कि हम मज़बूत हों भारत के नवयुवकों पर अगर तूफ़ान प्रबल वेग से आवे, तो हमें साहस के साथ उसका सामना करना चाहिए और माता के मन्दिर की ध्वजा की रक्षा करनी चाहिए।

[सन् १९०८ ईस्वी के "कर्मयोगिन्" से]

प्रजातन्त्र-शासन की त्रुटियाँ।

(लेखक—प्रोफ़ेसर गंगाप्रसाद मेहता, एम० ए०)



इङ्गलैण्ड के प्रकाण्ड राजनीतिवेत्ता जेम्स वाइकाउण्ट ब्राइस महोदय* ने, तेरासी वर्ष की अवस्था में, "वर्तमान प्रजातन्त्र-शासन" शीर्षक पुस्तक, दो भागों में, लिखी है। आप इतिहास और राजनीति के अद्वितीय पण्डित हैं। अमेरिका की शासन-प्रणाली पर भी आप एक गम्भीर और वृहत् पुस्तक लिखकर जगत् में प्रसिद्धि पा चुके हैं। आपने अपनी वृद्धावस्था में अपने परिपक्व अनुभव और विद्या की पारदर्शिता का निष्कर्ष इस अनुपम ग्रन्थ में रख दिया है। प्रजातन्त्र-शासन का प्रारम्भ से आज तक का इतिहास देकर तथा अनेक आधुनिक राष्ट्रों की प्रजाधीन शासन-पद्धति के गुणदोष दिखाकर आपने अपने इतिहास और राजनीति के विशाल पाण्डित्य का परिचय दिया है।

जो देश प्राण-पण से प्रजातन्त्र-शासन का अधिकार ले लेने के लिए कमर कसे हुआ है, जो पराधीनता की पीड़ा से व्याकुल होकर अपने स्वत्व और जीवन की रक्षा के उपाय एकाग्रचित्त हो सोच रहा है उसे भी प्रजात्मक शासन के गुण-दोषों को समझ लेना अतीव श्रेयस्कर होगा। जो जाति राजनीतिक दुर्गति से अपना उद्धार कर रही हो, उसे दूसरे स्वतंत्र राष्ट्रों के अनुभव से लाभ उठाना चाहिए और उनकी जो त्रुटियाँ हों उनसे उसे बचना चाहिए। वर्तमान युग में प्रजातंत्र-शासन की धूम मची हुई है। इसी शासन से लोक का योग-क्षेम और कल्याण हो सकता है। यह इस युग का नूतन सिद्धान्त है कि राष्ट्र का अभ्युदय राजा-प्रजा के पार्थक्य से नहीं, किंतु इनके अभेद सम्बन्ध ही से हो सकता है। राजा-प्रजा का अभेद सम्बन्ध तभी हो सकता है जब राजा और उसकी नीति प्रजा के बनाये हुए नियमों का अनुसरण करती है।

इस लेख में स्वराज्य अथवा प्रजाधीन शासन की त्रुटियों का निरूपण करना ही हमारा अभिप्राय है। इस प्रकार की शासन-प्रणाली पर बहुत से आक्षेप किये जा चुके हैं, जिनमें कुछ ठीक और कुछ अनुचित हैं। लोगों का कहना है कि स्वायत्त-शासन में प्रजा का एक वर्ग दूसरे वर्ग से झगड़ा करता है, दल बँध जाया करते हैं और आपस की दलबन्दी और विरोध से राष्ट्र की हानि होती है। किन्तु यह आक्षेप नितान्त अनुचित है। अन्य प्रकार की शासन-प्रथाओं में भी ऐसे झगड़े हुआ करते हैं। इतिहास बतलाता है कि प्रजा का कभी एक और कभी दूसरा वर्ग राजा के विरुद्ध उठ खड़ा होता है।

दूसरा आक्षेप यह किया जाता है कि प्रजातन्त्र-शासन में सहनशीलता के गुण का अनादर होता है। जिस पक्ष में प्रजा का बहुमत हुआ उसीका अवलम्बन करने से व्यक्ति वा वर्ग की भलाई है, अन्यथा नहीं। जिस राष्ट्र की नियामक शक्ति प्रजा के बहुमत के अधीन है वहाँ अकेले व्यक्ति वा अल्प-संख्यक वर्ग की स्वच्छन्दता में बाधा तो अवश्य पड़ती है, किन्तु ये बाधाएँ तो अन्य प्रथाओं में भी हुआ करती हैं। प्रजातन्त्र-शासन पर असहिष्णुता का दोषारोप करना नितान्त अनुचित है; क्योंकि दूसरी शासन-प्रथाओं की

* खेद है, आपका देहांत इसी जनवरी की २२ तारीख को हो गया। श्रीशा०-सं०।

अपेक्षा इसमें पारस्परिक मत-भेदों के सहन करने का विशेष गुण होता है और सभीको अपने अपने विचार प्रकट करने का अधिकार प्राप्त होता है।

तीसरा आक्षेप यह किया जाता है कि स्वायत्त-शासन में बुद्धि-वैभव और कला-कौशल का बड़ा अनादर होता है। सबके समान अधिकार होने के कारण बुद्धिमान् और कला-कुशल लोगों का न तो विशेष आदर ही होता है और न उन्हें प्रोत्साहन ही मिलता है; क्योंकि एक साधारण मनुष्य अधिकार प्राप्त कर किसी के गौरव को सहन नहीं करता। इस शासन-प्रथा में लोग आपस में बराबरी का दावा यहाँ तक करने लगते हैं कि विशेष-गुण-वालों का आदर कम होने लगता है-एरण्ड का ठूँठ भी वृक्ष माना जाने लगता है+। यह दोषारोप भी अन्याय्य और इतिहास के साक्ष्य के विरुद्ध है।

साहित्य, कला-कलाप और विज्ञापन की उन्नति सभी प्रकार की शासन-प्रथाओं में हुई है। यह मानना कि इनकी उन्नति की बाढ़ प्रजातन्त्र-शासन में रुक जायगी, नितान्त निर्मूल है। इतिहास बतलाता है कि यूनान के एथेन्स नगर में, प्रजातन्त्र राष्ट्र की छत्रच्छाया में, बड़े बड़े कवि, तत्व-वेत्ता, कला-कुशल तथा नीति-निपुण पुरुष हुए जिन्होंने अपने देश का गौरव-विस्तार किया और मानव-जाति के साहित्य और कला-कलाप की श्री-वृद्धि की। आजकल के प्रजातन्त्र राष्ट्र क्या मानसिक उन्नति नहीं कर रहे हैं? क्या ऐसे राष्ट्रों में वैज्ञानिक आविष्कार वा गवेषणा की इतिश्री होगई? नहीं, कदापि नहीं। बल्कि समस्त राष्ट्र अपनी अपनी प्रजा की विकीर्ण शक्तियों का संगठन कर एक दूसरे की अहमहमिका से, विज्ञान, कला, साहित्य इत्यादि क्षेत्रों में दिन दूनी और रात चौगुनी उन्नति कर रहे हैं।

प्रजा वाद पर ये पूर्वोक्त आक्षेप अनुचित हैं। अब इसकी त्रुटियों की खरी आलोचना पर ध्यान दीजिए। प्रजावाद का यह सिद्धांत है कि योग्यता में एक नागरिक दूसरे नागरिक के तुल्य है (One citizen is as good as another). इस सिद्धान्त का परिणाम यह हुआ है और होता है कि जिन्हें शासन के विविध कार्य्य सौंपे जाते हैं उन निर्वाचित लोगों में पूरा ज्ञान, नीतिनैपुण्य, कार्य्य-क्षमता आदि गुणों के होने की आवश्यकता पर ध्यान नहीं दिया जाता। शासन-कार्य्य के लिए ज्ञान, अनुभव और दाक्षिण्य का होना परमावश्यक है। सेना-विभाग का अध्यक्ष वही होना चाहिए जो धनुर्वेद और युद्ध की कला में निष्णात हो। कोषाध्यक्ष उसीको होना चाहिए जो अर्थ-शास्त्र में पारङ्गत हो। इस बात की उपेक्षा प्रजाधीन राष्ट्र में देखी जाती है। एथेन्स के राष्ट्र में कौन किस कार्य्य के योग्य है इसपर लेशमात्र विचार नहीं किया जाता था। वहाँ ईसा के पूर्व पाँचवें शतक में साम्यवाद का ऐसा दौरदौरा था कि राज्य के बड़े बड़े कर्मचारियों का निर्वाचन चिट्ठी डालकर किया जाने लगा था। विद्वान् हो वा मूर्ख, धनी

+ "Nor is it fair to accuse democracy of being the enemy of intellectual and artistic eminence, 'a dull and level plain in which every bush is a tree,' the craze for equality leading to a drab uniformity of culture, since the average man resents eminence of any sort."

हो या दरिद्री जिसकी चिट्ठी निकल आई उसे ही बड़े से बड़ा पदाधिकार मिल सकता था। व्यवस्थापक सभा के सदस्य भी इसी भाँति चुने जाते थे और राष्ट्र की भिन्न भिन्न समिति-उपसमितियाँ इसी शैली के अनुसार बनाई जाती थीं। चिट्ठी डालकर चुनने का यह नतीजा हुआ कि महत्त्वपूर्ण स्थानों पर निकम्मे, अयोग्य या दुश्चरित्र लोगों के पहुँचने में किसी तरह की बाधा न रही। सभी को बारी बारी से अधिकार मिल सकें इस कारण लोग इस बड़ी त्रुटि का उपाय नहीं सोचते थे। निर्वाचित नागरिक का पदाधिकार एक वर्ष के लिए हुआ करता था। एक वर्ष की अवधि के व्यतीत होने पर उसके स्थान के लिए दूसरे उम्मेदवार हो जाते थे। इसका परिणाम यह होता था कि वृद्ध और अनुभवी लोगों की भी कुछ पूछ न होती थी। यह तो प्राचीन प्रजातन्त्र शासन की कथा है जिसमें साम्य-वाद पराकाष्ठा पर पहुँच गया था; किन्तु वर्तमान स्वायत्त-शासन में इस दोष के दूर करने की बहुत कुछ चेष्टा की जा चुकी है। तथापि यह दोष राष्ट्रीय संस्थाओं में से बिल्कुल दूर नहीं हुआ। अमेरिका के निर्वाचित न्यायाधीश (Elected judiciary) इसके दृष्टांत हैं। वहाँ जनता की वोट से जज कुछ नियमित अवधि के लिए चुने जाते हैं। इसमें आक्षेप की बात यह है कि न्याय-शासन जैसे क्लिष्ट कार्य्य के लिए जन साधारण की वोट से यदि पदाधिकारी चुने जायँगे तो नतीजा यह होगा कि जो अधिकार के योग्य है उसके चुनाव की संभावना नहीं रहती। भिन्न भिन्न पक्ष के लोग अपने ही आदमी का समर्थन करते हैं। न्यायालयों में इस कारण पक्षपात का भाव घुस जाता है। अनुभवी और न्याय-निष्णात मनुष्य न्यायासन पर जीवनपर्यन्त नहीं रहने पाते। आगामी चुनाव में यदि उनके पक्ष का वर्ग परास्त हुआ तो उन्हें भी अपना न्यायासन छोड़ना पड़ता है और ऐसी स्थिति में ऊँचे दरजे के वकील-बैरिस्टर इस पदाधिकार को प्राप्त करने की इच्छा नहीं रखते। अमेरिका के न्याय शासन पर ही यह दोषारोप नहीं, बल्कि स्वायत्त-शासन की सभी शाखा-प्रशाखाओं पर यह दोष कुछ अंश तक लागू है। आजकल किसी भी अयोग्य व्यक्ति को उच्च पद मिल सकता है यदि वह आत्म-श्लाघा या आत्म-विज्ञापन की कला में चतुर हो। यदि वह समाचार-पत्र द्वारा अपनी प्रशंसा और अपने विपक्षी की निन्दा करा सके तो उसे पर्याप्त संख्या में वोट मिल सकती हैं। आत्म-विज्ञापन (Self-advertisement) की नवीन कला का जन्म वर्तमान प्रजातन्त्र-शासन में ही हुआ है। एक व्यक्ति के पास यदि छापाखाना हो, तो मनमाना आत्म-विज्ञापन हो सकता है और लोगों को धोखे में डालकर काम निकाला जा सकता है।

लार्ड ब्राइस ने प्रजातन्त्र-शासन पर और भी दोषारोपण किया है। उनका कथन है कि इस शासन-प्रथा में विधान के प्रतिपालन करने की आवश्यकता का भाव कुछ शिथिल हो जाया करता है। फ्रान्स, अमेरिका, आस्ट्रेलिया आदि में विधान के उल्लंघन करने के अनेक दृष्टान्त मिल सकते हैं। इन राष्ट्रों में हड़ताल तथा और तरह के उपद्रवों की भरमार रहती है। उस अवस्था में विधान का अनादर होता है। शासकवर्ग ऐसे उपद्रवों के प्रशमन करने में आगापीछा सोचते हैं

क्योंकि शासकों को उन हड़तालियों की वोट खो बैठने की आशंका रहती है। इस कारण वे उनके अनुचित व्यवहारों का दमन नहीं करते। निर्वाचित शासक उपद्रव करनेवाली टोलियों को नाराज़ करना नहीं चाहा करते ॐ।

यह तो मामूली बात है कि प्रजातन्त्र-शासन में उपद्रवी लोग मिलकर क़ानून की मर्यादा का अक्सर उल्लंघन किया करते हैं, लेकिन साधारणतया क़ानून का जैसा आदर होना चाहिए वैसा नहीं होता। स्वायत्त-शासन में यह बड़ा दुर्गुण है कि राज्य में न्याय का समुचित शासन होने नहीं पाता। कारण यह है कि लोकमत का प्राधान्य होने से लोक की स्तुति-निन्दा का प्रभाव न्याय-शासन पर पड़ता है। यूनान और रूम के न्यायालयों में जब पंच लोग किसी अभियुक्त के अपराध पर फ़ैसला करने बैठते थे तब वहाँ अभियुक्त के छोटे छोटे बच्चे वा बूढ़े मा-बाप आकर रोने लगते थे ताकि पंच लोग उसे रिहा कर दें। कोई अभियुक्त यह कहता था कि मैं अमुक युद्ध में देश के लिए लड़ा, यद्यपि अभियोग से इस बात का कोई सम्बन्ध न होता था। यह अभियुक्त हमारे देश के लिए लड़ा इसलिए इसे कुछ दण्ड देकर रिहा कर देना चाहिए, इस तरह का फ़ैसला प्रजा-निर्वाचित पंच लोग, अनेक बार, किया करते थे। किन्तु, क़ानून की दृष्टि में यह अन्याय है। वर्तमान पंचायतों में भी न्याय-शासन की यही दशा है। विधान का अक्षरशः प्रतिपालन नहीं किया जाता। समाचार-पत्र-वाले किसी अभियुक्त की प्रशंसा के पुल बाँधकर अथवा उसकी झूठी-सच्ची निन्दा कर न्यायाधीशों के विचार कलुषित कर देते हैं। परिणाम यह होता है कि उस अभियुक्त को यथोचित दण्ड नहीं मिलता। यदि किसी को फाँसी का दण्ड मिला तो लोग गवर्नर के पास हज़ारों प्रार्थना-पत्र उसे क्षमा कराने के निमित्त भेजते हैं; किन्तु कोई भी मनुष्य क़ानून के समुचित प्रयोग के विषय में कुछ नहीं कहता-सुनता।

इङ्गलैण्ड का न्याय-शासन अन्य प्रजातंत्र राष्ट्रों की अपेक्षा अच्छा है, तथापि उसपर भी कभी कभी कूटनीति का प्रभाव दीख पड़ता है। भारतवर्ष और आयरलैण्ड के बड़े बड़े मामलों में वहाँ के न्यायाधीश राजनीतिक पक्षपात से रहित कभी नहीं पाये गये। लोकमान्य तिलक का अभियोग इस बात का दृष्टान्त है। अंग्रेज़ जाति को इस बात का गर्व है कि उसके साम्राज्य में न्याय-विधान अमीर-ग़रीब सबके लिए एकसा है; किन्तु यह यथार्थ नहीं। अधीन देशों का जब कभी कोई महत्त्वपूर्ण प्रश्न उपस्थित होता है तभी वहाँ के न्यायाधीश विधान के आदेश की परवाह न कर राजनीतिक पक्ष का ही पोषण करते हैं। भारतीय न्यायालयों में राजनीति के कारण न्याय की जो विडम्बना की जाती है उसका अनुभव तो हमें रोज़ होता है, किन्तु खेद इस बात का है कि इङ्गलैण्ड के उत्कृष्ट न्यायालयों में भी न्याय-

ॐ 'Strike-riots have been frequent in Australia, France, Newzealand, and to a less extent in Canada. Though such breaches of the law exist in all countries they are doubtless more frequent and more serious when the fear of losing many votes by offending the strikers deters an executive from action.' (Modern Demo II, 497).

शासन पक्ष-विपक्ष-भाव से अवश्य कलुषित हो जाता है।

प्रजातंत्र राष्ट्र में एक और भी बड़ा अपरिहार्य दुर्गुण है। इस दुर्गुण को 'सामुदायिक मनो-विकार' (Mob-psychology) अर्थात् किसी बड़े जन-समूह के चञ्चल चित्त को किसी प्रकार वश में कर लेने पर उस समुदाय के द्वारा चाहे जैसा अनाचार और दुराचार करवाया जा सकता है। जन-समूह में राजनीति के विकट प्रश्नों को स्वयं समझने की शक्ति तो हुआ नहीं करती। उसका चित्त चञ्चल और समझ सदसद्विवेक-शून्य होती है। कोई भी वाचाल व्याख्यान-दाता उस जन-समुदाय को सहज ही में अपनी मुट्ठी में कर लेता है। बहुधा देखने में आता है कि चतुर व्याख्यान-दाता जनता को अपनी वाग्मिता से ऐसा मन्त्र-मुग्ध कर लेता है कि फिर और किसी की कुछ बात चल ही नहीं पाती। जनता के समक्ष दलील पेश करने से काम नहीं चलता, उसकी मनोवृत्ति के अनुकूल कुछ कहकर तथा आशा और आश्वासन देकर उसे सरलता से वश में किया जा सकता है। इसका परिणाम यह होता है कि जिसने प्रजा का जितना अधिक जन-समूह अपना अनुयायी बना लिया उतना ही अधिक भाग उसे राष्ट्र की नीति-सञ्चालना में मिलता है। ऐसे प्रबल दल-बल-युक्त नेता की राष्ट्र में सर्वथा तूती बजती है। इस तरह समस्त राष्ट्र का भाग्य एक दल के नेता के हाथ में आ जाता है। उसके स्वेच्छाचार और अनियन्त्रित शासन से राष्ट्र का अनहित भी हो सकता है और नीति-मर्यादा भी बिगड़ सकती है। उस नेता का प्रबल पक्ष होने से उसपर प्रजा के अन्य वर्ग का कोई आतंक नहीं रहता। अतएव वह मनमाना कार्य्य कर सकता है। प्रजातन्त्र-शासन की दलबन्दी प्रथा (Party System) का यही बड़ा अपरिहार्य दोष है।

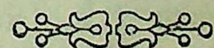
अमेरिका के भूतपूर्व प्रेसीडेण्ट अब्राहम लिङ्कन का कथन है कि तुम सारे मनुष्यों को कुछ समय तक धोखे में डाल सकते हो; परन्तु सभी को सदा के लिए धोखे में नहीं रख सकते। यह बात ठीक है, तौभी जितनी अवधि तक प्रजा का बहुमत किसी के जाल में फँसा रहा उतने अवकाश में राष्ट्र में बहुत कुछ अनर्थ-पात हो सकते हैं। लार्ड ब्राइस का कथन है कि प्रजाधीन शासन में राष्ट्र की सेवा के लिए जितने सुयोग्य, आदरणीय तथा श्रद्धेय नागरिक चाहिए उतने नहीं मिलते। ऐसे नागरिक राष्ट्र-सेवा के कार्यों से सकुचाते हैं*। वे आत्म-विज्ञापन-कला से अनभिज्ञ होते हैं और उनमें दल बनाकर राष्ट्रीय नेता होने की शक्ति और योग्यता ही नहीं होती।

---

* We Connot get over the fact that a democracy is more liable to be hoodwinked by suppression of the truth, or deafened by loud and blatant self-advertisement than other ruling bodies—more especially because, as Lord Bryce owns, democracies do not enlist in the Service of the State nearly so many of their most capable or of their most honourable citizens as could be desired. The sordid side of politics frightens away the self-respecting man who fears to find him-self caught in the toils of a party machine"-The Quarterly Review, July, 1921.

प्रजातन्त्र-शासन की स्थापना के पूर्व लोग समझते थे कि इस प्रकार के शासन के प्रारम्भ होते ही जगत् में एक नवीन सुख-शान्ति-पूर्ण युग का प्रादुर्भाव और राजनीतिक क्लेशों का तिरोभाव हो जायगा। परन्तु यह आशा सफल नहीं हुई। प्रजा के हाथ में समस्त सत्ता के होते हुए भी राष्ट्र में न उतनी शान्ति और न सन्तोष ही है स्वायत्त-शासन से जिसके मिलने की आशा की जाती थी। पुरानी शासन-प्रथाओं में जैसे विप्लवकारी आन्दोलन हुआ करते थे वैसे अब भी होते हुए देखने में आ रहे हैं। अल्प-संख्यक दल संगठित बनकर विधान की मर्यादा तोड़ राष्ट्र में उथल-पुथल मचा देते हैं। कहीं श्रमजीवी, कहीं किसान, कहीं अन्यान्य वर्ग प्रजातन्त्र राष्ट्रों में तरह तरह के उपद्रव करते हुए दीख पड़ते हैं। इन सब बातों से यह निर्विवाद है कि स्वायत्त-शासन से मनुष्य-जाति की अभीष्ट-सिद्धि यथावत् नहीं हुई।

पूर्वोक्त कथन से यह प्रश्न उठता है कि जब स्वराज्य से पूर्ण सुख-शान्ति की आशा ही नहीं तो मनुष्य-जाति ने क्यों इसे अपना राजनीतिक लक्ष्य मान रक्खा है? यदि इस शासन-प्रणाली में इतने दोष हैं तो इसे ध्येय-रूप से स्वीकार करने में मनुष्य बड़ी भूल कर रहा है। इस शङ्का के समाधान में यह कहा जा सकता है कि स्वराज्य एक मानवी संस्था है और इसलिए वह नितान्त त्रुटि-शून्य तथा सर्वाङ्ग-सुन्दर कदापि नहीं हो सकती। किन्तु हमें यह न भूलना चाहिए कि इस संस्था का विकास मानव-जाति के सतत परिश्रम और परिपक्व अनुभव का परिणाम है। भिन्न भिन्न शासन-प्रणालियों के दोष देखकर और उनसे उत्पन्न हुए क्लेशों को सहन कर मनुष्य ने स्वराज्य का आश्रय लिया। अराजकता की अनर्थ-परम्परा से बचने के लिए प्रजा को किसी न किसी तरह के शासन के अधीन रहना अत्यावश्यक है। मानव-सभ्यता के इतिहास में भिन्न भिन्न रूप की शासन-प्रथाएँ स्थापित हुईं। कभी एक राजा ने अपनी निर्मर्याद शक्ति से प्रजा पर शासन किया, कभी किसी प्रभावशाली वर्ग ने राज-सत्ता अपने हाथ में ले ली, कभी नौकरशाही का राष्ट्र में दौरदौरा हो गया। इन सब प्रकार की शासन-प्रथाओं के संकट सहकर मनुष्य स्वराज्य की ओर प्रवृत्त हुआ है और उसे यही आशा है कि स्वाधीन शासन के द्वारा उसे अधिक उन्नति करने का अवकाश मिलेगा, जो अवकाश उसे अन्यान्य प्रथाओं द्वारा नहीं मिल सका था। नीति-निष्णात लार्ड ब्राइस के मतानुसार प्रजाधीन शासन का प्रयोग निष्फल नहीं हुआ। अन्यान्य शासनों की अधीनता में इस जगत् में रहना इतना हितकर न था जितना स्वराज्य की अधीनता में है। इस स्वराज्य-संस्था से जगत् का और अधिक भला और अभ्युदय हो सकेगा, हमारी इस दृढ़तर आशा में अभी तक अणुमात्र भी न्यूनता नहीं हुई।



मातृभूमि।

(लेखक—'राष्ट्रीय हृदय')

(१)

मेरी भारतमाता प्यारी!
शांत मूर्त्ति तव दिव्य कांतिमय है त्रिलोक से न्यारी
छटा अलौकिक ऊपर छहरे
भू पर गंगा लेती लहरें

उत्तर में अति अचल हिमाचल है तव पहरेदार
दक्षिण में शोभित रत्नाकर पारावार अपार
ऐरावती पूर्व में बहती
सिन्धु नदी पश्चिम में रहती
प्रकृति नटी की रंगभूमि तू, सुन्दरता की क्यारी
मेरी भारतमाता प्यारी !

(२)

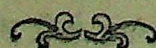
सुजला सुफला शस्य-श्यामला तू ही गई पुकारी
हरियाली तुझपर लहराती
लतिकाएँ लालित्य बढ़ातीं
विविध-पुष्प-सज्जित कुसुमाकर करता तुझपर रास
तव उर्वरा भूमि करती है नंदन का उपहास
सभी निराले सभी अनोखे
फल फलते हैं तुझपर चोखे
तेरी अनुपम सभी वस्तुएँ, हैं अतुलित छविधारी
मेरी भारतमाता प्यारी !

(३)

वसुन्धरा की प्रभा मनोरम, मा, तुझमें है सारी
प्रभा सूर्य-शशि तुझसे पाते
आलोकित तव विश्व बनाते
पुण्यभूमि तू, आर्यभूमि तू, सब विधि सुघर विशाल
वक्षस्थल पर तेरे शोभित है गौरव की माल
तूने सबको ज्ञान सिखाया
मार्ग सभ्यता का दिखलाया
जग में तव उत्कर्ष-चन्द्र की छिटकी है उजियारी
मेरी भारतमाता प्यारी !

(४)

तन, मन, धन, जीवन तूही है, तू ही कीर्ति हमारी
तूही सुख की देने-वाली
तूही दुख हर लेने-वाली
कला-कुशलता-धर्म-कर्म-गुण-नीति-रीति-भण्डार
जगत-मुकुट-मणि सर्व-पूज्य तू, तव अनन्त अधिकार
तीस कोटि तेरे बालक हैं
सभी प्रतिज्ञा-व्रत-पालक हैं
बिठलायेंगे तव मंदिर में स्वतन्त्रता सुखकारी
मेरी भारतमाता प्यारी !



मौलिकता क्या वस्तु है ?

(लेखक--श्रीयुत इन्द्र, विद्या-वाचस्पति)

गाँव के बाहर गन्दे पानी की एक नाली है जो रास्ते में ही पड़ती है। प्रत्येक व्यक्ति उसे लाँघकर जाता है। बच्चों का पाँव कभी कभी उसके बीच में भी पड़ जाता है। एक आदमी रोज़ लाँघना पसन्द न करके एक लकड़ी का पटिया उसपर रख देता है और इस तरह वहाँ एक छोटासा पुल बन जाता है। जहाँ पुल का विचार ही नहीं था वहाँ लकड़ी का पुल बना देना एक मौलिक विचार है। लकड़ी नई नहीं है, नाला भी नया नहीं है; पर, नाले पर लकड़ी का रख देना नई बात है। उस कारीगर के कार्य में इतनी ही मौलिकता है कि उसने नाले और लकड़ी का संबंध इस तरह कर दिया जिसमें मनुष्यों का कष्ट कम हो गया। जो बात गाँव में दूसरे को नहीं सूझी वह उसे सूझ गई।

अब आप नहर के महकमे में चलिए। वहाँ पुल बनाने का काम बारह महीने चला करता है। वहाँ नाली पर लकड़ी रखनेवाला मनुष्य मूर्ख कहलायगा। नदी या नहर में अनेक खम्भे खड़े करके पुल बनाया जाता है। एक कारीगर ऐसा उपाय बताता है कि एक ही खम्बा देकर पुल खड़ा किया जा सके। यह बात दूसरे को नहीं सूझी--उसीको सूझी। अतःउसके विचार में मौलिकता है; क्योंकि उसने दूसरों से कुछ विलक्षण बात सोच निकाली है।

मनुष्यों में दो गुण ऐसे हैं जो कार्य-क्षेत्र में उपयोगी सिद्ध होते हैं। ये गुण अनुकरण और उद्भावन हैं। अनुकरण बुद्धि और शिक्षा का बीज है। बचपन में सैकड़े पीछे निन्यानवे बातें अनुकरण से सीखी जाती हैं। शैशव-काल में बच्चों को कुछ याद कराने या पढ़ाने का सबसे सरल उपाय बहुधा यही समझा जाता है कि वे अध्यापक का अनुकरण करने के लिए स्वतन्त्र छोड़ दिये जायँ। बड़े होने पर भी उन्हें समाज की रहन सहन और रिवाज अनुकरण से ही सीखना पड़ता है। संसार की गाड़ी का अपनी लीक पर रह सकना तभी संभव है जब अनुकरण की शक्ति से काम लिया जाय। परन्तु गाड़ी का केवल लीक पर रहना ही यथेष्ट नहीं है। जबतक गाड़ी आगे न चलेगी, लीक पर वह खड़ी रहकर क्या करेगी? आगे चलने के लिए 'उद्भावन' की आवश्यकता है। मनुष्य-जाति के जीवन के प्रत्येक भाग में गति या उन्नति तभी सम्भव है जब व्यक्तियों में 'उद्भावन' की शक्ति का आविष्कार हो। उद्भावन नई रचना, नई कल्पना या नये आविष्कार के रूप में प्रकट होता है। उद्भावन के दो बड़े मोटे दृष्टान्त इस लेख के प्रारम्भ में ही दिये जा चुके हैं। प्रत्येक क्षेत्र में उद्भावन सम्भव और आवश्यक है।

'अनुकरण' की शक्ति की अच्छी राशि प्रायः प्रत्येक प्राणी में विद्यमान रहती है। मनुष्यों में यह अन्य प्राणियों से कुछ अधिक है। इसके अभाव में संसार का कार्य क्षण भर भी नहीं चल सकता। यह प्राणियों के जीवन का संचालक निमित्त है। इसके लिए केवल स्वाभाविक और स्वतःसिद्ध समझ की आवश्यकता है। 'गतानुगतिको लोकः'—मनुष्य स्वभाव से ही अनुकरण-शील है। परन्तु 'उद्भावन' इतना स्वाभाविक और सरल नहीं है। पगडन्डी पर दूसरे के पीछे चले जाना सभी के लिए सुगम है; परन्तु नया रास्ता बनाना अत्यन्त कठिन है।

लीक लीक गाड़ी चले, लीके चले कुपूत।
लीक छाँड़ ये ना चलें, शायर, सिंह, सुपूत॥

नई लीक निकलना ही 'उद्भावन' है। वह साधारण स्वाभाविक समझ का कार्य नहीं है। उसके लिए 'प्रतिभा' की, और यदि वह यथेष्ट मात्रा में न हो तो उचित शिक्षण की, आवश्यकता है। 'प्रतिभा' और 'उचित शिक्षण' से जो 'उद्भावन' शक्ति उत्पन्न होती है उसीका नाम 'मौलिकता' है।

इस लेख में हमें केवल यह दिखाना है कि साहित्य में मौलिकता क्या वस्तु है। एक दृष्टान्त साहित्य-सम्बन्धिनी मौलिकता के अभिप्राय को स्पष्ट कर देगा। संस्कृत-साहित्य के आदिकवि वाल्मीकि का काव्य सब प्रकार से मौलिकता को अपनाये हुए है। अब प्रश्न यह होता है कि क्या वाल्मीकि से पूर्व के लोग कथाएँ नहीं कहा करते थे? इसके लिए दूर क्यों जाइए, वाल्मीकि-रामायण में ही बीसों उपाख्यान भरे हैं जो इस बात के सूचक हैं कि राम की कहानी से पूर्व भी बहुतसी कहानियाँ प्रचलित थीं। तो क्या अनुष्टुप्छन्द नहीं था? जी नहीं, ऐतरेय ब्राह्मण में ही बहुत से अलौकिक अनुष्टुप् श्लोक पाये जाते हैं। अब विचार कीजिए, कहानी कहना नया नहीं, श्लोक बनाना नया नहीं। फिर, वाल्मीकि मुनि ने कौन सी नई बात की?

उन्होंने यह किया कि उपाख्यान को छन्द से मिलाकर एक नये सम्बन्ध का उद्भावन किया। पहले बड़े-बड़े उपाख्यान मौलिक रूप से प्रचलित थे। छन्दो-रचना धार्मिक विषयों से सम्बन्ध रखती थी। लौकिक उपाख्यान में धार्मिक वस्तु—'छन्द'—का प्रयोग करके इतना भारी काव्य बना डालना प्रतिभा का कार्य था। यही रामायण की मौलिकता है। यदि वाल्मीकि मुनि अपने मुँह से कथा कहते रहते, काव्य-रूप में न लाते, तो उन्हें वह ऊँचा पद प्राप्त न होता जो मौलिकता-सम्पन्न कवियों को भी कठिनता से प्राप्त होता है।

साहित्य में मौलिकता कई प्रकार से प्रकट हो सकती है। हम कुछ प्रकार की मौलिकताओं के दृष्टान्त यहाँ देते हैं :—

(१) लेख-शैली की मौलिकता। कई लेखक अपनी लेख-शैली नई ही बना लेते हैं। अंग्रेज़ी में अनूठी लेख-शैली बनाने-वालों में कार्लाइल का नाम प्रसिद्ध है। उसकी भाषा विलक्षण है। संस्कृत में भाषा की लेख-शैली की विलक्षणता देखनी हो तो 'पंचतन्त्र' को और 'वासवदत्ता' को मिलाकर पढ़ जाइए। तुरन्त पता चल जायगा कि वासवदत्ता के लेखक ने नई लेख-शैली का उद्भावन किया या नहीं? हिन्दी भाषा में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने आजकल की लिखित हिन्दी भाषा को जन्म दिया है। उनकी भाषा की मौलिकता में भी किसी को सन्देह नहीं हो सकता।

(२) विषय की मौलिकता। लेख-शैली से बढ़कर क़ीमती, विषय की मौलिकता है। भाषा में भिन्न विषय का प्रतिपादन करना है यदि वह पहले से विलक्षण ही है, तो वह मौलिकता से युक्त कहलायगा।

जिसने पहला महाकाव्य बनाया, जिसने पहला खंडकाव्य, उपन्यास या नाटक लिखा, उसकी मौलिकता बहुत बढ़ी-चढ़ी समझनी चाहिए। साथ ही, यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि आज भी काव्य, उपन्यास या नाटक लिखे जा सकते हैं, जिनमें मौलिकता का अंश हो। यह कहना कठिन है कि "सूरसागर" किसकी नक़ल है; परन्तु यह कहना सरल है कि "जयद्रथ वध" किसके अनुकरण पर लिखा गया है। यह भी ढूँढ़ निकालना कोई बड़ा कार्य नहीं है कि "दारोगा-दफ़्तर" में जो कहानियाँ बनाई जाती हैं किस ढाँचे को सामने रखकर बनाई जाती हैं; परन्तु हाँ 'चन्द्रकान्ता-सन्तति' का पूरा पूरा मूल ढूँढ़ना कठिन है। सारांश यह कि प्रतिभा-सम्पन्न लेखक सदैव अपनी रचना में विषय के अनूठेपन के कारण मौलिकता ला सकता है। भारतेन्दु ने कहा भी है—'भाव अनूठो चाहिए, भाषा काहू होय'। यह अनूठापन ही विषय की मौलिकता है।

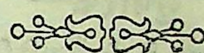
(३) शब्दों की मौलिकता। यह एक तीसरे प्रकार की मौलिकता है जो बहुत कम पाई जाती है और कभी कभी अनुचित भी समझी जाती है; परन्तु उसके बिना भाषाओं की उन्नति असम्भव है। कई लेखक शब्द गढ़ते हैं। उनकी भाषा टकसाली कही जाती है। अंग्रेज़ी में कार्लाइल ने बहुत से शब्द गढ़ डाले हैं। अमरीका के संयुक्त-राज्यों के वर्तमान प्रेसीडेंट, हार्डिंज, को भी नई 'शब्द-रचना' करने की [illegible] है। हिन्दी में कहने को तो कई की

भाषा टकसाली कही जाती है; परन्तु हमारे इस कथन में अत्युक्ति नहीं कि हिन्दी की टकसाल भारतेन्दु के सम-कालिक कुछेक इने-गिने आचार्यों के देहावसान के साथ ही बन्द हो गई है।

ये तीन दृष्टांत हमारे अभिप्राय को स्पष्ट करने के लिए काफ़ी हैं। 'अनूठापन' ही 'मौलिकता' है। थोड़ी-बहुत मौलिकता के बिना कोई भी ग्रन्थ सुन्दर नहीं हो सकता। केवल अनुवाद में भी यदि अनुवादक ने अपनी ओर से कुछ अनूठापन — विषय का नहीं किन्तु भाषा का—नहीं रखा तो लोग उसे पढ़ जायँगे; पर अनुवादक का नाम न होगा। होमर के 'इलियड' ग्रन्थ का अंग्रेज़ी में अनुवाद करने के कारण पोप की ख्याति है; परन्तु वाल्मीकि-कृत रामायण का हिन्दी उल्था करनेवाले महानुभावों के शुभ नाम उस प्रेस के अधिकारियों को ही ज्ञात होंगे जिसमें उल्था छपा हो। यह बात नहीं कि अनुवाद में मौलिकता आ ही नहीं सकती।

हम ऊपर लिख चुके हैं कि मौलिकता के बिना मानव-जीवन-संबन्धी किसी भी कार्य में उन्नति नहीं हो सकती। एक स्थान पर, पक्की सीमाओं के बीच में, नियमपूर्वक बन्द किया हुआ पानी अवश्य सड़ जायगा। यदि उस पानी को स्वच्छ और अकलुषित बनाये रखना है, तो चारों ओर बनी हुई पक्की दीवार दो एक स्थान से तोड़ना पड़ेगी, ताकि पानी का प्रवेश और निकास हो सके। प्रतिभा से उत्पन्न हुई मौलिकता के सिवा तालाब की पक्की चारदीवारी को कोई नहीं तोड़ सकता। जिस भाषा के क्षेत्र में, प्रतिभा-सम्पन्न लेखक उत्पन्न न हों—केवल अनुकरण-शील लेखक हों—उसकी उन्नति नहीं हो सकती, और न दूसरों में उसका मान या यश हो सकता है।

अन्त में इतना लिखकर इस लेख को समाप्त करना है कि मौलिकता से युक्त लेखक प्रायः सौभाग्य से ही उत्पन्न होते हैं—बनाये नहीं जाते *। प्रायः इसलिए कि उत्तम शिक्षण से बीज-रूप मौलिकता को वृक्ष-रूप में ले आना असम्भव नहीं है।



बिहारी और देव।

(४)

(लेखक—अध्यापक लाला भगवानदीनजी)

आठवाँ दोष बिहारी पर यह लगाया गया है कि:—

"एक आध स्थानों (?) पर इन्होंने औरों के भी कुछ भाव लिये हैं"। इसके प्रमाण देते समय देव, दास और पद्माकर तक का नाम लिख डाला गया है। समझ में नहीं आता कि बहुत पीछे पैदा होनेवाले कवियों के भाव 'बिहारी' ने कैसे लिये। बिहारी से लगभग ५० वर्ष बाद 'देव' का कविता-काल है, १०० वर्ष बाद 'दास' का और १५० वर्ष बाद 'पद्माकर' का है। बिहारी ने इन लोगों की कविता के भाव कैसे लिये? हाँ, यदि सूर, तुलसी और केशव के भाव लिये हों तो हो सकता है। अस्तु, अब हमें यह देखना

* यदि पुरस्कार की लालच से कवि कहीं उद्भूत हो सकते, तो कानपुर के खन्नाजी के प्रयत्न से अभीतक राष्ट्रीय गीतों को रचने की क्षमता रखनेवाले अनेक कवि उत्पन्न हो गये होते।
—श्रीशा०-स०

है कि मिश्र-बंधुओं के इष्ट 'देव' ने भी अन्य कवियों से कुछ लिया है या नहीं। इस दृष्टि से देखने से साफ़ ज्ञात हो जाता है कि 'देव' ने 'विहारी' का बहुतसा माल उड़ाया है। अन्य कवियों से भी कुछ लिया है। हमें तो ऐसा ज्ञात होता है कि 'देव' ने अन्य कवियों के भाव लेकर उनका केवल स्पष्टीकरण कर दिया है। उदाहरण लीजिए:—

मुबारक—

सींक लै काजर दे री गँवारिनि
आँगुरी तेरी कटैगी कटाछनि।

देव—

नाथ हा हाथ सरोज सो, मेरे
करेरे कटाच्छ कहूं कटिजाय न।
(प्रेमचंद्रिका, पन्ना ११)

विहारी—

चैतचंद की चाँदनी,डारति किये अचेत।

देव—

देखे दुख देत चैतचंद्रिका अचेत करि
चैन न परत चन्द चंदन को टारि दे।
(प्रेम० चं०, पन्ना ७३)

तुलसीदास—

जहँ विलोक मृगशावक-नैनी।
जनु तहँ बरष कमलऽसित-सेनी।

देव—

तीखी दिन चारिक ते सीखी चितवनि प्यारी
देव कहै भरि दृग देखति जितै जितै।
आछी उनमीलनील सुभग सरोजन की
तरल तनाइयत तोरन तितै तितै।
(सु॰ वि॰, पन्ना ८)

विहारी—

चंदमुखी मुख चंद ते, भलो चंद सम कीन्ह।

देव—

भाल मृगम्मद बिंदु बनाय कै
इंदु सो मोहि गुविंद गयो करि।
(सु॰ वि॰, पन्ना ६०)

विहारी—

कहा भयो जो बीछुरे, तो मन मो मन साथ।

देव—

या तन ते बिछुरे तो कहा मन
तें अनतें जो बसौ तब जानों।

कालिदास—

रतिरण बिषे जे रहे हैं पति सनमुख,
तिन्हैं बकसीस बकसी है मैं विहँसि कै।
करन को कंकन उरोजन को चंद्रहार
कटि को सुकिंकिनी रही है अति लसि कै।
कालिदास आनन को आदर सो दीनो पान
नैनन को कज्जल रह्यो है नैन बसि कै।
एरी बौरी बार ये रहे हैं पठि पाछे याते
बारबार बाँधति हौं बारबार कसि कै।+

देव—

आगे धरि अधर पयोधर सधर जानि
जोरावर जघन सघन लरे लचिकै।
बारबार देति बकसीसें जैतवारनि को
बारन को बाँधै जे पिछार दुरे दबिकै।
ऊरुन दुकूल दै उरोजन को फूलमाल
ओठनि उठाय पान खाये बाल पचिकै।
'देव' कहै आजु मानौ जीतो है अनंगरिपु
पीके संग संग ही सुरति रंग रचिकै।
(सुजान-विनोद, पन्ना ६१, छंद ५८)

+ मिश्र-बंधुओं ने इस कवित्त को 'शेख' रंगरेजिन का बनाया माना है। ये भी देव की समकालीन थीं।

इस ऊपर लिखे हुए छंद से साफ़ जाहिर है कि देवजी, बिना संकोच के, दूसरों के भाव चुरा लेते थे। मिश्र-बंधुओं ने 'विनोद' में भिखारीदास को 'चोर' कहा है। आज हम 'देव' के यहाँ से बहुतसा माल ऐसा बरामद किये देते हैं जो दूसरों का है। हम अपनी ओर से कुछ न कहेंगे, पाठक स्वयं विचार कर लें कि 'देवजी' चोर हैं कि नहीं और ज्यादा माल कहा से उड़ाया है। सुनिएः—

विहारी—

कौने तजी न कुल गली, ह्वै मुरली सुर लीन।

देव—

मुरली सुनत वाम काम जुर लीन भई.......

इत्यादि (प्रे. चं., पन्ना ५४)

विहारी—

देखत बनै न देखते, बिन देखे अकुलायँ।

देव—

निसदिन देखे अनदेखेहू दुखोत हैं।.......

इत्यादि (सु. वि., पन्ना ३२)

विहारी—

किती न गोकुल कुलबधू
काहि न किन सिख दीन।
कौने तजी न कुलगली ह्वै मुरली सुर लीन॥

देव—

मंद महामोहक मधुर सुर सुनियत,
धुनियत सीस बँधी बाँसी है री बाँसी है।
गोकुल की कुलबधू को कुल सँभारै नहीं
दो कुल निहारै लाज नासी है री नासी है।
(पं. कृष्णविहारी कृत देव और विहारी, पन्ना १२०)

कहिए पाठक ! यह विहारी के दोहे की व्याख्या ही है या और कुछ ?

विहारी—

अधर धरत हरि के परत ओठ डीठि पट जोति।
हरित बाँस की बाँसुरी इन्द्रधनुष सी होति।

देव—

नीचे को निहारत नगीचे नैन अधर दु-
बीचे पर्‌यो श्यामारुण आभा अटकन को।
नील मणि भाग है पदुमराग है कै पुख-
राग है रहत विध्यो ह्वै निकटकन को।
'देव' बिहँसत दुति दंतन जुड़ाति जोवि
निर्मल मुकुत हीरा लाल गटकन को।
थिरकि थिरकि थिर थाने पर थाने तोरि
बाने बदलत नट मोती लटकन को।
(देव और विहारी की भूमिका, पन्ना ६२)

विहारी—

चलत चलत लौं लै चले सब सुख संग लगाय।
ग्रीषम बासर सिसिर निसि
पिय मो पास बसाय॥

देव—

लै सिसिरै निसि, दै दिन ग्रीषम
आँखिन राखि गये रितु पावस।
(देव और विहारी, पन्ना ११३)

विहारी—

अपने अपने मत लगे बादि मचावत सोर।
ज्यों त्यों सबको सेइबो एकै नंदकिसोर॥

देव—

जिन जान्यो बेद, ते तो बादि कै बिदित होहु,
जिन जान्यो लोक तेऊ लीक पै लरि मरो।
जिन जान्यो तप तीनो तापनि में तपि तपि
पंचागिनि साधि ते समाधिन धरि मरो।

जिन जान्यो जोग तेऊ जोगी जुग जुग जियो,
जिन जानी जोति, तेऊ जोति लै जरि मरौ।
हौं तो देव नंद के कुँवर, तेरी चेरी भई
मेरो उपहास क्यों न कोटिन करि मरो।
(देव और विहारी, पन्ना १८७)

विहारी--

कौड़ा आँसू बूँद, कसि सांकर बरुणी सजल ॥
कीन्हें बदन निमूंद, दृग मलंग डारे रहत ॥

इसी सोरठे को पढ़कर देव ने वह भाव चुराया है जिसपर मिश्र-बंधुओं को बड़ा घमंड है: —

देव--

बरुनी बघम्बर में गूदरी पलक दोऊ
कोए राते बसन भगौहें भेष रखियां।
बूड़ी जल ही में दिन जामिनहूं जागैं, भौहैं
धूम सिर छायो बिरहानल बिलाखियां।
अँसुवा फाटिकमाल लाल डोरे सेल्ही पैन्हि
भई हैं अकेली तजि चेली संग सखियां।
दीजिये दरस 'देव' कीजिये संयोगिनि ये
जोगिन है बैठी हैं बियोगिनि की अँखियां।

कृष्ण कवि की टीका में—

"इन दुखिया अखियान को सुख सिरजो ई नाहिं।
देखत बनै न देखते बिन देखे अकुलाहिं"।

की टीका पर 'ऊधोराम' कवि का कवित्त लिखा है जिसका एक चरण "लंपट निपट पट संपुट न रोकी रहैं, अकुला पढ़ैं जाय मधु की सी माखियां" है। इस "मधु की सी मखियां" का उत्तम विचार देखकर ही देव' ने अपना वह छंद लिखा है जिसकी प्रशंसा पं० कृष्णविहारी मिश्र ने मुक्तकंठ से की है और जिसका अंतिम चरण यों है:—"बेगि ही बूड़ि गई पखियां अँखियां मधु की माखियां भई मेरी"।

तात्पर्य यह कि देवजी जिसकी जहाँ उत्तम उक्ति देखते थे, उसे निधड़क लेकर अपना रचना में खपाते थे। ये 'ऊधोराम' 'देव' के पूर्ववर्ती कवि हैं।

विहारी—

दुहूं ओर ऐंची फिरैं फिरकी लौं दिन जाय।

देव—

(१)धाई फिरै फिरकी सी दुहूं दिस
देव दुवौ गुन जोरि कै ऐंची।
(२)पूरन प्रीति हिये हिरकी
खिरकी खिरकीन फिरै फिरकी सी॥
(नवरत्न, पन्ना २३९

विहारी—

लाल तिहारे दृगन की परी दृगन में छाँह।

देव—

काहू के रंग रँगे दृग रावरे रावरे रंग रँगे दृग मेरे।
(नवरत्न, पन्ना २३९)

विहारी—

अरुन बरन तरुनी चरन अँगुरी अति सुकुमार।
चुवत सुरँग रँग सों मनो चपि बिछुवन के भार॥

देव—

ललित लिलार रंगमहल के आँगन के
मग में धरत पग जावक धुर्यो परै।
'देव' मनि-नूपुर पदुम-पदहू पर ह्वै
भू पर अनूप रंगरूप निचुरयो परै।
(देव और विहारी, पन्ना २५१)

पाठकवर, आपने देव के अर्थापहरण ही नहीं, वरन भावापहरण और भाषापहरण के नमूने देखे? कुछ और देखिए।

बिहारी—

बिहँसति सकुचति सी दिये कुच आंचर बिच बांह।
भीजे पट तट को चली न्हाय सरोवर माहँ।

देव—

पीत रंग सारी गोरे अंग मिलि गई 'देव'
श्रीफल उरोज आभा आभासै अधिक सी।
छूटी अलकनि झलकनि जलबूंदनि की,
बिना बेंदी बंदन बदन सोभा बिकसी।
ताजि ताजि कुंज पुंज ऊपर मधुप-पुंज
गुंजरत मंजुवर, **बोलै बाल पिकसी।**
नीबी उकसाय नेक नैनन हँसाय हँसि
ससिमुखी सकुचि सरोवर ते निकसी।

(देव और बिहारी, पन्ना २५६)

इन दोनों छंदों की समता करते हुए पं० कृष्णविहारीजी मिश्र ने 'देव' के छंद को अधिक उत्तम बतलाने की कोशिश की है और देवजी की प्रखर प्रतिभा के गीत गाये हैं। पर हम कहते हैं कि 'देव' जी 'विहारी' के दोहे की व्याख्या करते हुए उस तालाब के किनारे के कीचड़ में फिसल कर चारोंखाने चित्त हो गये हैं। विहारी का दोहा साहित्यज्ञों के लिए बनाया गया है जो नहाने के बाद नायिका के रूप की कल्पना कर सकते हैं, और देव का छंद उन अनभिज्ञों के लिए बनाया गया है जो यह भी न जानते हों कि स्नान करने के बाद स्त्रियों की साड़ी अंग में चिपक जाती है वा नहीं, बालों से जलकण टपकते हैं वा नहीं, बंदन-बिंदु धुल जाता है वा नहीं, इत्यादि। विहारी अपने पाठकों को इतना अयोग्य नहीं समझते जितना 'देव' समझते हैं। और हाँ, मिश्रजी, ज़रा यह तो बतलाइए कि 'देव' जी ने यह कैसे जाना कि वह बाला **पिक-बैनी** है। क्या वह बाला ज़ोर ज़ोर से काम-सहस्रनाम का पाठ भी करती जा रही थी? यदि ऐसा था, तो 'सकुचना' कैसा? यदि ऐसा नहीं तो 'देव' का प्रकृति-निरीक्षण ग़लत है। बाला के वचन का अनुभव ऐसे समय में कदापि नहीं हो सकता। विहारी के दोहे में तो पिकबैनत्व नहीं है; पर 'देव' का यहाँ क़ाफ़िया तंग होगया है और तुकान्त के लिए झट लिख मारा "बोलै बाल पिकसी"। इस छंद का इतना अंश बिलकुल व्यर्थ है और देव की योग्यता प्रकट नहीं करता। हम क्या कहें, विज्ञ पाठक स्वयं विचार करलें कि 'देव' यहाँ पर फिसल पड़े हैं वा नहीं। ख़ैर, आगे चलिए।

बिहारी—

पलन पीक अंजन अधर दिये महावर भाल।
आजु मिले सु भली करी **भले बने हो** लाल॥

देव—

भारे हौ भूरि भोराई भरे अरु
भांतिन भांतिन कै मन भाए।
भाग बड़े बहि भावती के जेहि
भावते लै रँग भौन बसाए।
भेष भलोई भली बिधि सों करि
भूलि परे किधौं काहू सुलाए।
लाल भले हौ भली सिख दीन्ही
भली भई आजु **भले बनि आए**॥

विहारी की नक़ल करने चले; पर नक़ल भी न बनी। 'भले बने हो' का स्पष्ट रूप जैसा विहारी के दोहे के पूर्वार्द्ध में है वैसा 'भले बनि आए' का रूप "भेष भलोई भली बिधिसों करि"

में नहीं है। इस बात को सरस-हृदय पाठक तुरंत देख सकते हैं।

विहारी—

कौहर सी एंडीन की लाली लेख स्वभाय।
पाय महाउर देइ को आप भई बेपाय॥

देव—

आई हुती अन्हवावन नाइन
सोंधों लिये वह सूधे सुभाइनि।
कंचुकी छोरी उतै उपटैबे को
ईंगुर से अंग की सुखदाइनि।
'देव' सुरूप की रासि निहारति
पाँय ते सीसलौं सीस ते पाइनि।
है रही ठौर ही ठाढ़ी ठगी सी हँ
सै कर ठोढ़ी दिये ठकुराइनि।

देवजी ने भाव तो विहारी ही से लिया है; पर वर्णन विलग है। पं० कृष्णविहारीजी मिश्र 'विहारी' के दोहे में दोष लगाते हैं कि 'नाइन' पद अपनी ओर से मिलाना पड़ता है। अतः 'न्यूनपद' दोष है; पर अपनी सहज उदारता से क्षमा भी कर देते हैं। हम कहते हैं कि आपकी क्षमा व्यर्थ है। पैर में महावर लगाना किसका काम है? नाइन का। यह एक बच्चा भी जानता है। "पाय महावर देइ को" इन शब्दों से तुरंत 'नाइन' शब्द निकल आता है।

विहारी—

पिय के ध्यानगही गही रही वही है नारि।
आपु आपु ही आरसी लखि रीझति रिझवारि॥

देव—

राधिका कान्ह को ध्यान धरै, तब
कान्ह है राधिका के गुन गावै।

भाव तो ज़रूर ही विहारी से लिया गया है, इससे इनकार हो नहीं सकता।

विहारी—

झखौं विलखि दुरिजात जल लखि जलजात लजात।

देव—

देव दुति गात नव जोबन जगमगात
सहज लजात जलजात लखि प्रात के।
(सुखसागरतरंग, पन्ना १३४)

विहारी—

लसति मनो बिजुरी किये सारद ससि परिबेख।

देव—

मंद मृदु हास शोभा सुन्दर विलास आस-
पास ते प्रकास को परत परिबेख सो।
(सुखसागरतरंग, पन्ना १३६)

विहारी—

त्यों त्यों प्यासे ई रहत ज्यों ज्यों पियत अघाय।

देव—

पै न तऊ तरुनी तिय के अध-
रान के पीबे की प्यास बुझानी।

ये उद्धरण इस बात को सहज में प्रमाणित कर सकते हैं कि 'देव' जी ने दूसरों के भाव खूब चुराये हैं और विहारी का माल तो बहुतही अधिक उड़ाया है।

पं० कृष्णविहारीजी मिश्र अपने 'देव और विहारी' के २४९ वें पृष्ठ पर लिखते हैं—"सीतल जैसे बड़े कवियों को देवजी के भाव अपनाने में लालायित देखकर पाठक देवजी की भावोत्कृष्टता का अंदाज़ा कर सकते हैं।" हम इस वाक्य को इस प्रकार लिखते हैं —"देव जैसे महाकवि को विहारी के भाव अपनाने में लालायित देखकर पाठक विहारीजी की भावोत्कृष्टता का अंदाज़ा सहज में कर सकते हैं।"

(क्रमशः)

अनोखी नाक।

वर्तमान युग विज्ञान का है। असम्भव समझे जाने वाले अनेक कार्य, अब, विज्ञान की सहायता से, सम्भव हो रहे हैं। जिन बातों की कभी कल्पना नहीं हो सकती थी वे ही आज प्रत्यक्ष देखी जाती हैं। हिन्दी-स्कूलों में कभी पढ़ाई जाती रही एक पुस्तक में, ईश्वर की महत्ता के विषय में, लिखा है—

"बिन पद चलै, सुनै बिन काना,
कर बिन कर्म करै बिधि नाना।
आनन-रहित सकल-रस-भोगी,
बिन वाणी वक्ता बड़ जोगी।"

यदि ईश्वर की महत्ता बिना पैर चलने, बिना कान सुनने, बिना जिह्वा बोलने अथवा इसी प्रकार अन्य इंद्रियों के बिना उन इंद्रियों का कार्य करने में है, तो अब ईश्वर का ईश्वरत्व, अथवा बिना कान के सुनने, बिना आँख के देखने आदि में जितना ईश्वरत्व आवश्यक समझा गया है कम से कम उतना ईश्वरत्व, इस लोक के अनेक प्राणियों में पाया जाने लगा है। इसमें सन्देह नहीं, ये बातें अनोखी समझी जाती हैं; परन्तु यदि ईश्वरत्व अनोखेपन में कभी रहा है, तो वह इस विज्ञान-युग में, और विज्ञान की लीलाभूमि, अमेरिका, में बहुत प्रचुरता से पाया जाता है।

ईश्वर की सृष्टि के एक जीते-जागते आश्चर्य के अस्तित्व का पता लोगों को लगभग ७ वर्ष पूर्व लगा था। आश्चर्य का वह विषय है मिस हेलेन केलर जो जब वे १½ वर्ष की थीं तभी से बिल्कुल अन्धी और बहरी हैं; परन्तु उन्होंने अपने अध्यवसाय से, स्पर्शेन्द्रिय की सहायता से, संसार का जो ज्ञान प्राप्त किया है वह बहुत आश्चर्यजनक है; इसलिए वे संसार का आठवाँ आश्चर्य मानी जाती हैं। श्रीयुक्त सुधीन्द्र बोस का लिखा हुआ तत्सम्बन्धी एक लेख कदाचित् सन १९१६ ई० "माडर्न रिव्यू" में छपा था। उसमें लिखा था कि मिस सा० ने उभड़े हुए अक्षरों का ज्ञान प्राप्त करके अंग्रेज़ी, जर्मन, फ़रासीसी आदि भाषाएँ सीखी हैं। इतना ही नहीं, वे बी. ए. परीक्षा में बैठ चुकी हैं और पूछे गये प्रश्नों के उत्तर, उन्होंने, टाइपराइटर की सहायता से, इतनी उत्तमता से दिये थे कि वे उस परीक्षा में विशेष योग्यता (ऑनर) के साथ उत्तीर्ण हुईं। १½ वर्ष की अवस्था से अन्धी और बहिरी होकर भी उन्होंने बोलना सीखा और अब धारा-प्रवाही व्याख्यान दे सकती हैं। अपनी स्पर्शेन्द्रिय की सहायता से वे सुन और देख सकती हैं।

उनके सुनने का ढँग ज़रा देखिए। यदि आप उनसे कुछ पूछना चाहते हैं तो आप उनकी अध्यापिका से, जो उनके साथ रहा करती हैं, अपना प्रश्न बता दीजिए। वे अध्यापिका आपका प्रश्न अपने मुँह से दुहरा देंगी; परन्तु प्रश्न दुहराये जाने के पूर्व मिस हेलेन केलर अपना एक हाथ अध्यापिका के मुख पर इस प्रकार रक्खेंगी कि हाथ का अँगूठा अध्यापिका के गले पर, कनिष्ठिका अँगुली नाक पर और शेष ३ अँगुलियाँ ओठों पर रहेंगी। मिस सा० जब अपना हाथ इस प्रकार रख चुकेंगी, तब अध्यापिका आपके प्रश्न को अपने मुँह से कहेंगी और मिस हेलेन

केलर उनके ओठों के हिलने पर से आप के प्रश्न को पढ़ या समझकर उसका उत्तर दे देंगी, और उत्तर ऐसा बावन तोले पाव रत्ती निकलेगा कि आप आश्चर्य-चकित हो जायगे। एक दिन मिस हेलेन केलर से पूछा गया कि "बताइए, इस कमरे में कितने आदमी बैठे हैं?" इसे सुनकर उन्होंने अपना सिर अपने दाहिने बाँये फिराया और लम्बी साँस भरकर बोलीं "यहाँ कोई पाँच सौ आदमी होंगे, क्योंकि यहाँ की वायु बहुत घनी और भारी लगती है।" मतलब यह, उनकी स्पर्शेन्द्रिय इतनी प्रबल हो गई है कि वे उसकी सहायता से वायु का घनापन या भारीपन ठीक ठीक नाप सकती हैं। उनसे दूसरा प्रश्न किया गया—"जब आपके व्याख्यान के बीच में उपस्थित जन हर्ष-ध्वनि प्रगट करते हैं, तब क्या वह ध्वनि आपको सुनाई पड़ती है?" तुरन्त कहा गय 'हाँ, मैं पैरों से सुनती हूँ।' कहिए पाठक है न आश्चर्य की बात?

यह तो मिस हेलेन केलर की बात हुई। अब एक और कुमारी का हाल सुनिए। इनका नाम है विलेटा हगिन्स। आप रहती हैं अमेरिका में, और शायद इसलिए उनकी आश्चर्य-जनक शक्तियों का पता लगाया जा सका। यदि कहीं वे भारत में उत्पन्न हुई होतीं, तो लाखों भारतीय अन्धों-बहरों के समान गली गली भीख माँगती फिरतीं, उनकी गुप्त शक्तियों का विकास किया जाना और समाचार-पत्रों में उनका चित्र-चरित्र प्रकाशित किया जाना तो बहुत दूर की बात है। कदाचित् ऐसे ही लोगों के विषय में विलायती कवि "ग्रे" ने लिखा था—

रहते हैं अनमोल हज़ारों मोती सुन्दर।
एक ठौर में पड़े अगम सागर के भीतर॥
त्योंही ललित गुलाब अलख लाखों खिलते हैं।
वन में खोय सुगन्ध व्यर्थ लय में मिलते हैं॥

अस्तु। विलेटा हगिन्स का परिचय इसी जनवरी मास के 'माडर्न रिव्यू' में प्रकाशित हुआ है और उसीका कुछ अंश नीचे दिया जाता है।

विलेटा हगिन्स की अवस्था इस समय १७ वर्ष की है। वे बिल्कुल अन्धी और बहरी हैं; पर वे, बिना कृत्रिम उपायों के अवलम्ब के, उसी प्रकार देख और सुन सकती हैं जैसा कि कोई दृष्टि और श्रवण की इन्द्रियों से सशक्त लड़की।

अमेरिका के जेनसविले नामक स्थान में एक स्कूल है। उसे 'सूरदास'-स्कूल नाम दिया जा सकता है; क्योंकि वहाँ अन्धों को शिक्षा दी जाती है। विलेटा हगिन्स की भी शिक्षा-दीक्षा वहीं हुई है। उसकी आश्चर्य-जनक शक्तियों की खबर दूर दूर तक फैल गई है। सैकड़ों लोग उसे देखने जाया करते हैं। एक दिन कुछ लोग उस स्कूल के अध्यापक के पास पहुँचे। अध्यापक ने विलेटा को बुलाकर कुछ प्रश्न किये। उन्होंने पूछा—"विलेटा, जरा बताओ तो, ये जो महिला तुम्हारे पास खड़ी हैं उनके गाउन की किनारी का रंग कौनसा है?" यह सुनते ही विलेटा नीचे झुकी और किनारी को हाथ में लेकर अपनी नाक के पास ले गई और उसे सूँघकर तुरन्त बोली—"इसका रंग नीला, काला और सफ़ेद है"। सचमुच में उस किनारी में इन तीनों रंगों की धारियाँ थीं। इसी प्रकार के अन्य कई प्रश्न विलेटा से किये गये और उसने सबका बिल्कुल सही उत्तर देकर सुनने-वालों को आश्चर्य में डाल दिया।

तब अध्यापक महाशय ने एक महिला से कहा—"अब आप अपने आपसे कुछ प्रश्न कीजिए और फिर देखिए, विलेटा उनका कैसा उत्तर देती है।" तब उस महिला ने अपने आप से, इतने ज़ोर से कि जिसमें पास खड़े हुए लोग सुन सकें, विलेटा को लक्ष्य करके, कहा—"तुम तो इस स्कूल के बाहर अकेली घूमा करती हो और यहाँ कई बड़े बड़े वृक्ष खड़े हैं। फिर कहीं तुम उनसे उभड़ तो नहीं पड़तीं?" इस प्रश्न का सुनना था कि विलेटा को ज़ोर से हँसी आई। उसे बड़ा आनन्द हुआ। उसने कहा—"वाह, मैं उभड़ूँगी कैसे? मैं उन्हें सूँघ सकती हूँ न?" सुननेवालों को विलेटा के इस कथन में कुछ अविश्वास सा हुआ, तब वे लोग इस अविश्वास को दूर करने के विचार से, विलेटा को लेकर, स्कूल के बाहर गये। एक महिला एक बड़े वृक्ष की ओर मुँह करके, उसकी सीध में चली और विलेटा से कहा कि तुम मेरे पीछे पीछे चली आओ। विलेटा निर्भय होकर, पैरों से कुट कुट करती हुई, उस महिला के पीछे पीछे चली। वह महिला वृक्ष के पास आते ही, चुपचाप, एक ओर खड़ी हो गई और करुणार्द्र हृदय से, साँस रोककर, देखने लगी कि इस अन्धी का सिर इस वृक्ष की टक्कर खाकर अब फूटता ही है। पर यह देखकर वह दाँतों तले अँगुली दबाकर रह गई कि विलेटा जब वृक्ष दो हाथ पास रह गया तब उसकी टक्कर बचाती हुई हटकर चलने लगी।

इतने में अध्यापक ने दो स्त्रियों को जो दैवयोग से उस मार्ग से जा रही थीं मुँह से बिना कुछ बोले, इशारे से, बुलाया। जब वे विलेटा के पास पहुँचीं तो वह उन्हें इकदम पहचान गई; क्योंकि वे उसकी पहचान की थीं। उनमें से एक ने विलेटा का हाथ अपने सिर पर रखा और मुँह से प्रश्न किया कि "यहाँ हम लोगों के सिवा और कौन है?" हाथ सिर पर रखने का कारण था अपना प्रश्न विलेटा को सुनाना; क्योंकि विलेटा ठहरी बहरी। उससे जब कुछ पूछना होता है, तब उसका हाथ प्रश्नकर्त्ता को अपने सिर पर रखना होता है, और जब प्रश्नकर्त्ता अपने मुँह से कुछ बोलता है, तब उसके ओंठ तो कुछ हिलते ही हैं, सिर के भाग में भी कुछ गति उत्पन्न होती है, और विलेटा अपनी स्पर्शेन्द्रिय से समझ जाती है कि यह गति किन शब्दों के उच्चारण करने से उत्पन्न हुई है। जिन मिस हेलेन केलर का उल्लेख इस लेख के आरम्भ में किया गया है वे अपनी अध्यापिका के ओंठों पर अपना हाथ रखकर उसके मुख से निकले शब्दों को पढ़ लेती हैं; परन्तु विलेटा को किसी के ओंठों पर हाथ रखने में ग्लानि मालूम होती है और उसने प्रश्नकर्त्ता के सिर पर हाथ रखकर उसका प्रश्न समझ सकने की क्षमता प्राप्त कर ली है। मतलब यह, वह अपनी नाक से देखती और हाथ से सुनती है। अच्छा तो, जब उस महिला ने विलेटा का हाथ अपने सिर पर रखकर उससे यह पूछा कि "यहाँ हम लोगों के सिवा और कौन है?" तब उसने तुरन्त उत्तर दिया—"वही पुरानी बिल्ली तो है।" इसके बाद अन्य विषयों की बातचीत होने लगी और सब लोग उस बातचीत में इस प्रकार लग गये कि किसी का ध्यान बिल्ली की ओर नहीं गया। इतने में विलेटा ने कहा—"वह देखो, बिल्ली भाग गई"। बात सच

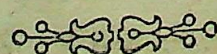
थी। बिल्ली सचमुच चुपचाप भाग गई थी। वहाँ जो लोग उपस्थित थे उनमें से किसीने उसे भागते नहीं देखा था; परन्तु अन्धी और बहरी बिलेटा ने यह देख लिया।

थोड़ी देर के बाद एक सफ़ेद फूल लाया गया और बिलेटा की नाक से कुछ दूरी पर रखकर उससे उसका रंग पूछा गया और उसने तुरन्त उत्तर दिया कि वह सफ़ेद रंग का है। तब अध्यापक महाशय ने सब उपस्थित जनों से कहा कि ऐसा कोई दिन नहीं जाता जब बिलेटा अपनी अनोखी नाक का अनोखा परिचय न देती हो।

बिलेटा उस स्कूल में ८ सितम्बर, १९१५ को भरती हुई थी। उस समय वह १० साल की थी। उसके अन्धेपन और बहरेपन को दूर करने के लिए अनेक उपाय काम में लाये गये; परन्तु सभी निष्फल हुए। उसकी ये दोनों शक्तियाँ प्रतिदिन क्षीण होती गईं। साथही, उसकी मानसिक अवस्था भी बिगड़ती गई। अन्त में अक्तूबर, १९१९ में वह बिल्कुल बहरी और एक वर्ष पश्चात् बिल्कुल अन्धी हो गई। संसार का समस्त संगीतालाप तथा सौन्दर्य्य उसके श्रवण और दृष्टि के विषय नहीं रह गये।

तब एक अध्यापक ने उसे हेलेन-केलर-पद्धति से उसका हाथ प्रश्नकर्त्ता के ओंठों पर रखकर उच्चरित शब्द उसे समझाने की चेष्टा की; परन्तु हाथ रखना बिलेटा को अच्छा नहीं लगा। अध्यापक इससे निराश नहीं हुए। उन्होंने एक दूसरा उपाय सोचा और संकेतों की भाषा में बिलेटा को समझाया कि जब हम अपने मुँह से शब्द निकालते हैं, तब उन शब्दों को निकालते समय हमारे सिर की हड्डियों आदि में कुछ हल-चल होती है। यह हलचल गले की नसों के पास और भी अधिक मालूम होती है। यदि हम इस हलचल को अपने हाथ से टटोलें, तो मुँह से निकले हुए शब्द सरलता से समझ में आ सकते हैं। बस, क्या था, बिलेटा को यह पद्धति ख़ूब पसन्द आई, और अब वह इसके द्वारा दूसरों की भाषा समझने में कितनी दक्ष है इसका वर्णन ऊपर किया जा चुका है। इस समय उसकी मानसिक अवस्था में भी बहुत अच्छा परिवर्तन हो गया है। उसकी पहले की उदासी और मनहूसी अब प्रसन्नता के रूप में परिणत हो गई है।

बिलेटा हागिन्स की यह उन्नत और आश्चर्य-जनक दशा सूचित करती है कि मनुष्य, अपने अध्यवसाय के बल पर, क्या नहीं कर सकता है। नाक से देख सकता और हाथ से सुन सकता है। इस दृष्टान्त से यह भी सिद्ध होता है कि भारतवर्ष में—भारतवर्ष में ही क्यों, संसार भर में—जिन्हें हम अन्धे और बहरे समझकर, उनके भाग्य के भरोसे, छोड़ देते हैं उनकी दूषित इन्द्रियों की त्रुटियाँ दूर की जा सकती हैं। यदि शिक्षक और माता-पिता इस ओर ध्यान दें और प्रयत्न करें, तो अनेक अन्धों-बहरों का जन्म सुधर सकता है और वे राष्ट्र के लिए भारवत् न होकर उसके उपयोगी अङ्ग हो सकते हैं।



सामाजिक उदासीनता।

(लेखक—पं० श्रीकृष्ण मिश्र, एम० ए०, बी० एल०)

(१) सामाजिक संस्थाओं की उपयोगिता।

सामाजिक संस्थाएँ निरर्थक नहीं हैं तथा उनकी प्रतिष्ठा का कारण केवल रूढ़ि या परम्परा नहीं है। जो संस्थाएँ विद्यमान हैं या जिनका नाश हो चुका है वे एकमात्र उपयोगिता के गुण से ही स्थापित हुई थीं और उसीके कारण अभीतक अपना अस्तित्व बनाये हुए हैं। यह सत्य है कि जानबूझकर भविष्य के कार्यक्रम और परिणामों का पहले ही से विचार कर संस्थाएँ नहीं बनाई जातीं; परन्तु उनका मूलाधार अवश्य ही समाज हित हुआ करता है जिसके लिए अप्रत्यक्ष रूप से मनुष्यों के हृदय में बराबर ध्यान बना रहता है, चाहे वह जंगल या गुफाओं का रहने-वाला बर्बर हो या समुद्र और वायुमंडल पर चलनेवाला आधुनिक सभ्य। वास्तव में जिस जीवन-संग्राम के संघर्ष से जीव-समूहों में शारीरिक परिवर्तन हुआ और सबसे योग्य प्राणी अपनी रक्षा कर सके उसकी कार्रवाई विचार-क्षेत्र में भी निरंतर जारी है। जबसे मनुष्य बंदरों की श्रेणी से ऊपर आ गया तबसे जीवन-संग्राम का असर उसके शरीर पर नहीं होता और उसमें विभिन्नता (Variation) दृष्टिगोचर नहीं होती, विचारों ही में संघर्ष हुआ करता है। संस्थाएँ विचार-मात्र हैं, सामाजिक विचारों के बाहरी स्वरूप हैं। जो विचार सबके या अधिकांश मनुष्यों के हृदय में उदय होते हैं या जो कुछ के हृदय में उत्पन्न होकर अधिकांश से स्वीकृत होते हैं और जिनका उद्देश समाज-हित रहता है वे ही विचार कार्य्य में परिणत होकर संस्थाओं का रूप धारण करते हैं। साधारण विचार से संस्थाओं की महत्ता सबकी समझ में आ सकती है। यदि राज न रहे, शासन न रहे, क़ानून न रहे तो मनुष्यों को नित्य के काम में अनेक अड़चनें आने लगें। चोरों का उत्पात हो, अन्याय की प्रबलता और शांति का भङ्ग हो। इसी प्रकार यदि सामाजिक नियमों का बंधन न रहे तो समाज में अराजकता फैल जावे। विचार करके देखने से मालूम हो जायगा कि नीति की भित्ति उपयोगिता पर है। उपयोगिता के लक्ष्य के विषय में मतभेद क्यों न हो, ग्रीन (Green) सरीखे आदर्शवादियों ने भी संस्थाओं के प्रति सिर झुकाने के लिए इसीलिए कहा है, क्योंकि सामाजिक संस्थाओं की परिधि के भीतर रहकर मनुष्य अपने मनुष्यत्व का पूर्ण विकास कर सकता है, इतना नैतिक विकास कर सकता है कि वह स्वयं केवल वे ही कार्य्य करे और इसी उद्देश से करे कि वे कार्य्य उत्तम हैं और वह भी उनके परिणाम का ख्याल करके नहीं।

(२) हमारा सामाजिक दायित्व।

समाज की उपयोगिता और सामाजिक संस्थाओं का महत्व समझकर उनसे उदासीन रहना सर्वथा अनुचित है। प्रत्येक विचारशील मनुष्य का कर्तव्य है कि वह देखे कि समाज की गति किस ओर है। तटस्थ रहने से हो सकता है कि समाज अवनति की ओर खिसके और एक दिन आवे और हम सबके सब विपत्ति में

पड़ें। परिस्थिति और सामाजिक शक्तियों की उपेक्षा हितकर नहीं हो सकती। इसी कारण सब देशों में, सब समय में, समाज-सुधारकों ने समाज को सुपथ पर चलाने की चेष्टा की है। डार्विन और हक्सली जो विकासवाद के मुख्य प्रतिपादक थे और जो जीवन-संग्राम के द्वारा सबसे योग्य की विजय में विश्वास करते थे उन्होंने भी जीवन-संग्राम की कठोरता पर खेद प्रकट किया है। अतएव विकासवादियों (Evolutionists) को भी सामाजिक नियमों और संस्थाओं से विमुख नहीं रहना चाहिए। मनुष्य को ईश्वर ने बुद्धि दी है; परिस्थिति प्रबल है, परन्तु परिस्थिति में परिवर्तन करने की शक्ति मनुष्य में अवश्य है। जीवन-संग्राम अनिवार्य्य है; परन्तु उसकी भीषणता कम करना मनुष्य का कर्त्तव्य है। मनुष्य कुछ करे या न करे, समाज प्राकृतिक शक्तियों से प्रेरित होकर अपना कार्य्य करता रहेगा। किन्तु मानव-जीवन किसी लक्ष्य को सन्मुख रखता है और अपने आदर्श तक पहुँचने की चेष्टा करता है। अतएव समाज उसी लक्ष्य या आदर्श की ओर चले इसकी चिंता सबको होनी चाहिए। प्रत्येक मनुष्य पर समाज की उन्नति का भार है। व्यक्तिगत हित तथा सामाजिक हित सुरक्षित रखने का दायित्व सब के ऊपर है। समाज का आधार व्यक्तियों का समूह है। समाज एक वृक्ष के समान है, व्यक्ति जिसकी जड़, शाखा और पत्ते हैं। यदि वृक्ष का कोई अंग असहयोग करने लगे तो वृक्ष बहुत शीघ्र सूख जाय। इस दृष्टि से सामाजिक उदासीनता अपराध और पाप है। जो सच्चे नागरिक हैं, जो अपने दायित्व को समझते हैं वे सामाजिक संगठनों पर उतनाही ध्यान रखते हैं जितना अपने पारिवारिक संगठन पर, और समाजहित के लिए उतनी ही चेष्टा करते हैं जितना निजकी समृद्धि के लिए। साधारण जनता में इतनी योग्यता और क्षमता नहीं हो सकती कि विचारों में हेरफेर कर दे या सामाजिक शक्तियों की गति-विधि समझ सके। यह कार्य तो उन्हीं महानुभावों से हो सकता है जिनको प्रतिभा, योग्य शिक्षा, विद्वत्ता और यथेष्ट अनुभव है। परन्तु विचार-पूर्वक अपनी सम्मति प्रगट करने, बुद्धिमानी के साथ सार्वजनिक जीवन पर ध्यान देने की शक्ति सबको है। निरा शून्य होकर रहना अकर्मण्यता का सूचक है। जिस समाज के अधिकांश मनुष्य अपने गृही जीवन से बाहर दृष्टि-निक्षेप नहीं करते उस समाज की उन्नति रुक जाती है। रूढ़ि प्रबल होकर समयानुकूल सुधार असम्भव कर देती है और नेतृत्व जनता के हाथ से निकल कर अधिकारियों (authority) के हाथ में पहुँच जाता है। फल होता है सामाजिक अत्याचार और सामाजिक शिथिलता। यदि इसी दशा में दूसरे देश के मनुष्यों का आक्रमण हुआ और उनके साथ साथ विदेशीय संस्थाओं की नींव पड़ी तो पुरानी संस्थाओं को भारी धक्का पहुँचने की आशंका रहती है। भारतवर्ष में जनता सामाजिक जीवन से बहुत उदासीन रहती है जो अत्यंत हानिकर है। गवाँर और ग्रामीण ही नहीं, शिक्षित और व्यवसायी लोग भी केवल अपने स्वार्थ-साधन में लगे रहते हैं। वे यह नहीं समझते कि परार्थ में स्वार्थ है और जबतक सामाजिक संस्थाएँ उत्तम न होंगी, व्यक्तिगत समृद्धि और सुख भी असम्भव है। यदि इतनी दुर्दशा होने पर

भी भारत-वासी अपने सामाजिक दायित्व को न समझें तो आश्चर्य है ।

(३) सामाजिक उदासीनता के कुछ कारण।

१–राज का समाज से पार्थक्य—अब भारत-वासियों की सामाजिक उदासीनता के कुछ कारणों का उल्लेख किया जाता है। भारतवर्ष पराधीन है। उसके शासन की बागडोर विदेशियों के हाथ में है। जितने नियम या क़ानून बनाये जाते हैं वे सब विदेशी शासकों की इच्छा और मर्जी से। राज (State) का लक्ष्य जनता की भलाई नहीं, वरन शासक-जाति की लूट में सहायता करना है। देश की रक्षा का भार भी विदेशियों पर है। बस, जनता निश्चिंत है। जो कुछ आवश्यक होगा सरकार बहादुर करेंगे। शासन के पृथक रहने से जनता की सार्वजनिक विषयों में रुचि नहीं रहती है, आत्म-निर्भरता नष्ट हो जाती है, "सबके दाता राम" की नीति दृढ़ हो जाती है। इसलिए हमारे नेताओं की चेष्टा है कि हमें अपने घर का प्रबंध करने का अधिकार मिले जिससे हम कूप-मंडूक न रहकर सच्चे नागरिक बनें।

२–नयी सभ्यता के आक्रमण के कारण पुरानी संस्थाओं में विशृंखलता—

भारत में विदेशियों के आक्रमण के साथ साथ उनकी सभ्यता भी फैलने लगी है। नयी पश्चिमी सभ्यता और पुरानी हिंदुस्थानी सभ्यता में मुठभेड़ हुई। विदेशी शासन के पक्षपातियों का कथन है कि अंग्रेज़ों ने हिंदुस्थानी संस्थाओं की उन्नति की। बात यह सच नहीं है। शासकों ने जहाँतक बना पश्चिमी संस्थाओं को स्थापित किया। लेकिन भारत का कट्टरपन और भारतवासियों की परम्परा के प्रति भक्ति प्रसिद्ध है। भारत के स्वरूप में पूर्ण परिवर्त्तन इतने स्वल्प समय में सम्भव नहीं था। अस्तु, दूर का ढोल सुहावना होता है, नवीनता आकर्षक होती है। विजित जाति में विजेता के प्रति स्वाभाविक सराहना उत्पन्न होती है। हमारे समाज के कर्मण्य और शिक्षित मनुष्य जिनमें सामाजिक भाव की विशेषता थी पश्चिमी संस्थाओं की चमक-दमक से मुग्ध होगये। भाषा, भेष और कार्य्यशैली में विदेशियों की नक़ल करने लगे। नयी रोशनी फैलने लगी। शिक्षा के नये ढंग ने देश को विदेश बनाने में बहुत सहायता की। नकल संक्रामक है। ऐसे नवीन समाज की सृष्टि हुई जो न विदेशी है, न देशी। उसे वर्णसंकर कह सकते हैं। वर्णसंकर-समाज से हमारा अभिप्राय है उन मनुष्यों से जो अपने धर्म और शास्त्रों से कोरे हैं और पश्चिमी सभ्यता का अंध अनुकरण कर रहे हैं। इसी समाज का शासकों की दृष्टि में सम्मान है। उनके आचरण का प्रभाव हमारे गाँवों और साधारण जनता पर भी बहुत पड़ा, क्योंकि फलतः पुरानी संस्थाओं की उपेक्षा की जाने लगी। हैं तो वे अबभी वर्तमान, पर उनका बल कम गया।

३–शिक्षा का अभाव—सामाजिक उदासीनता का एक कारण शिक्षा का शोचनीय अभाव है। शिक्षा मानसिक परिधि को बढ़ाती है, मनुष्य को अपने से बाहर देखने को बाध्य करती है। अशिक्षित जन अपनी ही बुराई-भलाई नहीं समझ सकते, फिर दूसरों की उन्हें क्या पर्वा। शिक्षा प्रत्येक नागरिक की प्रधान आवश्यकता है। इसीलिए सभ्य शासक का कर्त्तव्य है कि जहाँतक सम्भव हो जनता को

शिक्षित करने का प्रबंध करे। शिक्षा का कार्य्य व्यक्तियों के प्रयत्न से सुसम्पन्न नहीं हो सकता। विदेशी शासन के कारण भारतवासियों की उचित शिक्षा का प्रबंध नहीं किया गया। पढ़ने-लिखने की प्राचीन परिपाटी नष्ट हो गयी और उसकी जगह जो चेष्टा हुई वह अपर्य्याप्त और भारतवर्ष के लिए असंगत सिद्ध हुई। जो विदेशी शासन से उचित शिक्षा की आशा रखते हैं वे ज़बर्दस्त आशावादी हैं; क्योंकि सच्ची शिक्षा देकर आपकी आँखें खोल देना विदेशी शासन के स्वार्थ के अनुकूल कदापि नहीं हो सकता।

४—नवीन शिक्षा की पंगुता——आज-कल जो शिक्षा दी जारही है उसका परिणाम प्रत्यक्ष है। सरकारी शिक्षा-पद्धति ने लोगों को आदर्श-हीन बना दिया है। जिनके ध्यान में आदर्श-प्रेम है भी, उनको अपने आदर्श के अनुसार कार्य्य करने का आत्मिक बल और हार्दिक साहस नहीं। असहयोग-आंदोलन ने यह स्पष्ट रूप से सिद्ध कर दिया है। शिक्षित समाज में ऐसे बिरले ही मनुष्य मिलेंगे जो अपनी दुर्दशा से परिचित न हो गये हों। प्रायः सभीकी आन्तारिक कामना है कि महात्मा गांधी की जय हो और नौकरशाही की पराजय। परन्तु वे किनारे पर खड़े होकर तमाशा देख रहे हैं। अपनी आत्मा की प्रेरणा-नुसार रण-रंग में कूद पड़ने का उन्हें साहस नहीं होता। इसी तरह अन्य कार्य्यों में भी समझना चाहिए। हम अपने सामाजिक दायित्व को समझकर भी सामाजिक कार्य्यों से जी चुराते हैं। साहित्य में, धर्म्म में, उद्योग में, संगठन में, राजनीति में, जगहें खाली पड़ी हैं, इनको भरने के लिए लोग तैय्यार नहीं मिलते। खाना-पीना और अपनी स्त्री और बच्चों पर लट्टू रहना आजकल जीवन की सार्थकता समझी जाती है। अपने पीछे परिवार तक की सुध नहीं रहती, समाज को कौन पूछता है। नवीन शिक्षा की पंगुता का अधिक प्रमाण और क्या चाहिए?

५—लकीर के फ़क़ीर——जहाँ प्राचीन के प्रति हमारे प्रेम-भाव ने भारतीय सभ्यता को लोप होने से बचाया वहाँ उसके कारण हमारी सामाजिक उदासीनता भी बहुत बढ़ गयी। संस्थाएँ उपयोगिता के कारण तो ज़रूर स्थापित होती हैं, परन्तु समय का प्रभाव उनपर अवश्य पड़ता है। कुछ संस्थाएँ तो समय पाकर पुरानी और शक्ति-हीन हो जाती हैं और उनका अवसान समाज के लिए हितकर है। कुछ में समयानुसार परिवर्त्तन करने की आवश्यकता होती है। परन्तु हमारी संस्थाओं को हमारे पूर्व्व पुरुषों ने स्थायी बनाने के लिए धर्म्म के साथ जोड़ दिया है। अब लकीर के फ़क़ीर भारतवासी ऋषि-मुनि की बताई लीक से हटने वाले कहाँ! ऋषि-मुनियों के प्रति श्रद्धा ने तर्क और युक्ति को ताक पर रखवा दिया। सामाजिक नियमों के लिए ऋषियों ने सब प्रबंध पहले ही से कर रक्खा है, अब हम लोग क्यों माथापच्ची करें। ऋषि-मुनि तो मूर्ख थे नहीं, उन्होंने जो कुछ किया ठीक ही किया है। हमारे लकीर के फ़क़ीर भाई इसी तरह वाद-विवाद करते हैं। ब्रह्म-समाज, आर्य्य-समाज ने भी अवश्य सामाजिक सुधार की तरफ़ लोगों का ध्यान आकर्षित किया।

भारतवर्ष स्वामी दयानन्द का सदा कृतज्ञ रहेगा; क्योंकि जब हमारे राजनीतिक महारथी

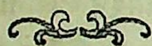
भारतवर्ष को पश्चिमी रंग में रँगने की चेष्टा कर रहे थे, दयानंद ने राष्ट्रीयता का पहला पाठ पढ़ाया। परन्तु हमारी सम्मति में स्वामीजी ने यह भूल की कि धर्म-प्राण भारत के मर्मस्थान पर आघात पहुँचाया। भारतवर्ष जबतक संसार में जीता-जागता रहेगा अपने पुराणों को, पौराणिक धर्म को, देवी-देवताओं को, प्रचलित मुख्य संस्कारों को, कदापि न छोड़ेगा। हमें इस लेख में धार्मिक-विवाद करने की आकांक्षा नहीं है; परन्तु हमारा विश्वास है कि महर्षि दयानंद अपने उद्देश अर्थात् समाज-सुधार और राष्ट्रीयता-वाद में अधिक सफल हुए होते यदि वे सनातन-धर्म्म पर उस तरह से चढ़ाई न करते। अस्तु। आर्य-समाज ने सामाजिक विषयों में विचारों की जागृति अवश्य उत्पन्न की; परन्तु उपर्युक्त कारण से जनता ने उसको नहीं अपनाया। अधिकांश लोग उसको शत्रुता की दृष्टि से देखने लगे। ब्रह्म-समाज का असर और भी थोड़े लोगों पर पड़ा। इन दोनों आन्दोलनों में, कुछ दिनों तक बहुत ज़ोर रहा; परंतु भारतवर्ष के बृहत् सामाजिक हृदय में उसके कारण स्थायी स्पन्दन न हुआ।

६-हमारे सार्वजनिक सामाजिक संगठनों का पिछलापन—समाज को जागृत करने के लिए भारत के इस नये युग में अनेक प्रयत्न किये गये हैं। विभिन्न जातीय संस्थाओं, सामाजिक सम्मेलनों और थियोसफ़ी से अवश्य कुछ उपकार हुआ है। परन्तु अभीतक सामाजिक क्षेत्र के कार्य्यकर्त्ता दृढ़-सन्ध और तत्पर नहीं मालूम होते। अधिकांश संगठन वर्ष में एक दो बार अपने अस्तित्व का परिचय देकर अपने कर्त्तव्य की इति समझते हैं। कार्य्य जोशीले नवयुवक और पश्चिमी रंग में रंगे अर्द्धशिक्षित (जिसमें बी. ए., एम. ए. इत्यादि पदवीधारी भी शामिल हैं) व्यक्तियों के हाथ में है। जिस विषय में ये कार्य्य-कर्त्ता सुधार करना चाहते हैं उसका उन्हें स्वयं ज्ञान नहीं रहता। जिन सिद्धांतों को ऊँची चोटी पर से चिल्लाते हैं उनपर स्वप्न में भी अमल करने की धारणा नहीं करते। जोश भी क्षणिक होता है। हमारी बातों का सबूत यही है कि आज पचास वर्षों से सामाजिक सुधार की निरन्तर पुकार होते हुए भी समाज जहाँ का तहाँ है। जो कुछ सुधार या सामाजिक परिवर्तन हुए हैं उनका श्रेय कार्य्य-कर्त्ताओं को नहीं मिल सकता, बल्कि रेल, कालेज के छात्रालयों, विदेश-भ्रमण, और होटलों के स्वादिष्ट व्यंजनों को है। परन्तु अब सामाजिक जागृति की विशेष आशा है।

(४) राष्ट्रीयता और सामाजिक सुधार।

राष्ट्रीयता का संदेश भारतवर्ष के कोने कोने में पहुँच गया है। शासननीति की अदूरदर्शिता ने भारत का जितना उपकार किया है उतना बड़े बड़े देश-भक्तों ने नहीं किया। जिनके पेट का दाना विदेश जायगा, जिनको भूखों मरना पड़ता है, अनेक व्याधियों का शिकार बनना पड़ता है, कर्ज़े से लदना पड़ता है, सब प्रकार से अधर्म्मी, निरुत्साही और दुखी होना होता है राज के प्रति उनकी अश्रद्धा उत्पन्न करने के लिए ताज़ीरात हिंद की १२४ वीं धारा के मुजरिम होने की ज़रूरत नहीं होती। आज हिंदुस्थान में जिस ध्वनि की गूँज फैली हुई है वह देश के मर्मस्थल से निकल रही है, वह क्षीरसमुद्र का स्रोत है। उसका

अंत नहीं है। देश जाग उठा है। जो जनता उदासीन थी वह मुरली की विलक्षण ध्वनि सुनकर विह्वल हो रही है। वह मुरली का अपूर्व गान श्रवण कर रही है उस ओजस्वी गान की मधुरता और तेजस्विता ने भारतवासियों को उन्मत्त कर दिया है। वे स्वार्थ भूल गये हैं। आत्म-विस्मृत हो गये हैं। जबतक उनका मनोरथ पूर्ण नहीं होता उनको विश्राम कहाँ? भाव और राग सुनने के लिए उनको श्रवण कहाँ? दबाने से यह उत्साह दबने का नहीं। इस उत्साह में अमरता का गुण है। जब महात्मा की इच्छा पूर्ण होगी तब सब सुधर जायगा। पद-दलित जाति सामाजिक उदासीनता की मूर्ति है। जब स्वराज्य होगा तब समाज का भी सुधार होगा।



मिलन।

(लेखक—श्रीयुक्त रसिकेन्द्रजी)

(१)

छल-मय सुहावन है समय, मन परम पावन बन रहा।
प्यासे पपीहा के लिए घन, स्वाति, सावन बन रहा॥
है क्या समागम, चन्द्र-संयुत भानु-दर्शन हो रहा।
हैं खिल रहे नव 'फूल' मृदु वर-प्रेम-स्पर्शन हो रहा॥

(२)

जिनके दरस के हेतु उत्सुक थे सतत दृग तरसते।
आशा-प्रपूरित सलिल को अविरल रहे जो बरसते॥
पाकर अभीप्सित-सिद्धि को गद्गद हुए लोभी बने।
मानों न छोड़ेंगे कभी ऐसे परस्पर हैं सने॥

(३)

हृद्धाम के उल्लास का वर्णन न होता आज है।
साज्जत हुआ उसके लिए संयोग का शुभ साज है॥
प्रेमेश की प्रतिमा बनाकर पूजता है चाव से।
फिर माँगता है वर यही भर भावना सद्भाव से॥

(४)

"हो आप जीवन जगत के जगनी तुम्हारी है कला॥
करना कृपा ऐसी सदा मति हो न पावे चंचला।
प्रेमी हमारे प्राणप्यारे नेत्र के तारे रहें।
वर प्रेम-मन्दिर से कभी पल भर न वे न्यारे रहें॥

(५)

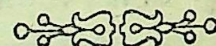
वे 'सर' बनें तो मैं सदा सेवा सलिल होकर करूँ।
वे हों मधुप तो मैं कमल दल अङ्क में अपने धरूँ॥
वे चन्द्र हों तो चन्द्र-चाहक मैं चकोर बना रहूँ।
वे हों सुधा तो मैं उसीमें बस सदैव सना रहूँ॥

(६)

वे दृग बनें रंजन रसीले मैं मृदुल अंजन बनूँ।
वे स्वर बनें साहित्य के तो मैं मधुप व्यंजन बनूँ॥
वे काव्य हों मैं रस बनूँ, वे वाक्य, मैं विन्यास ही।
वे कुछ बने, पर मैं रहूँ उनके निरन्तर पास ही॥

(७)

हैं देह दो, मन एक, इसमें कुछ न प्रकटित भेद हो।
आजन्म इस संयोग में भगवन्! न अब विच्छेद हो॥
यह सम्मिलन सुखप्रद बने नव प्रेम-रस की वृष्टि हो।
पी कर छकें रस के रसिक ऐसी दया की दृष्टि हो॥"



स्वामी गोविन्दानन्द।



(लेखक—श्रीयुत हरदयालसिंह चौहान, विशारद)

"परमेश्वर मुझे बल दें कि मैं कारावास की यंत्रणाएँ प्रहलाद, क्राइस्ट और मुहम्मद के समान धीरता, वीरता और प्रसन्नता से सह सकूँ।"

यह उद्गार एक ऐसी महान् आत्मा का है जिसके अपूर्व स्वार्थ-त्याग और देश-सेवा के ज्वलन्त कार्यों से केवल सिन्ध देश ही नहीं

वरन सारा भारतवर्ष परिचित है । वर्त्तमान नवयुग में देश की राष्ट्रीय महासभा, कांग्रेस, ने असहयोग की घोषणा की है । देश की पुकार हुई और उत्साही नवयुवक तपस्वी ने उसका साथ देना स्वीकार किया । देशभक्ति का आडम्बर रचनेवालों, लच्छेदार भाषा में व्याख्यान देनेवालों की तरह उसने घर पर बैठे बैठे चिन्ता ही न की, वरन एक वीर योद्धा की नाईं असहयोग-व्रत धारण कर, कर्मक्षेत्र में कूद स्वराज्य की विजय-वैजयन्ती फहराने के लिए आत्मबलि देनी चाही । नौकरशाही के दूत भला इस वीरता-पूर्ण देशसेवा को कबतक देख सकते थे ? उन्होंने स्वामीजी को इंडियन पिनल कोड की १२४ अ और १५३ अ धारा के अनुसार राजद्रोही ठहरा कर ५ वर्ष के लिए देशनिकाले की सज़ा दे दी । जिस समय यह कड़ी सज़ा सुनाई गई उस समय स्वामी गोविन्दानन्दजी के प्रफुल्लित मुखारविन्द से उपरोक्त हृदयग्राही शब्द स्वभावतः निकल पड़े ।

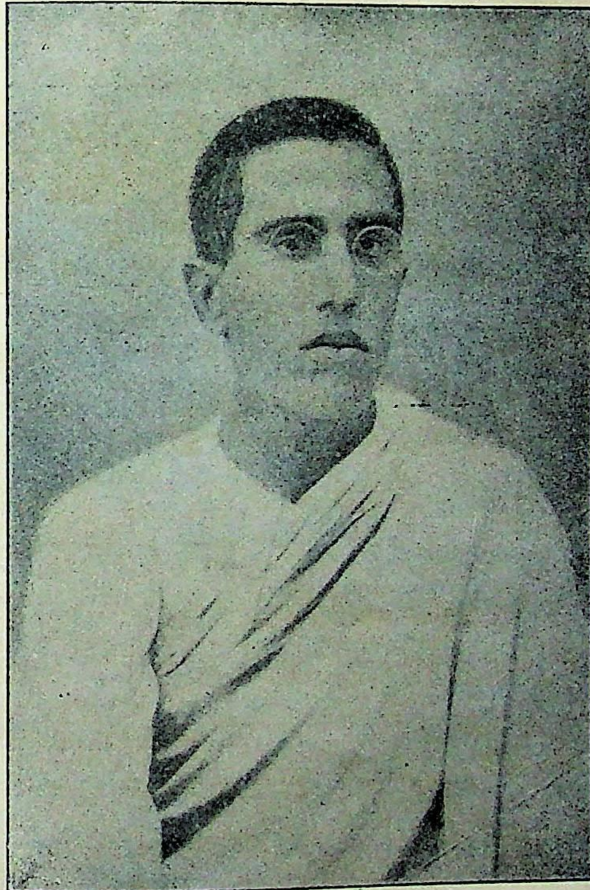
स्वामीजी स्वेच्छचरिता के बहुत पुराने शत्रु हैं । छात्रावस्था में ही जब आप कराँची के डी० जे० सिन्ध कालेज में विद्याध्ययन कर रहे थे एक स्वेच्छाचारी प्रिंसिपाल से लड़ पड़े । फल यह हुआ कि कालेज की प्रबन्ध-कारिणी समिति ने विद्यार्थी जवाहरमल के कार्य को उचित और प्रिंसिपल के कार्य को अनुचित समझा जिससे प्रिंसिपल साहब को अपना बसना-बोरिया बाँधकर चला जाना पड़ा । इतिहास में एम० ए० की डिग्री प्राप्त कर लेने पर आपने फ़रगुसन कॉलेज, मुज़फ़्फ़रपुर-कॉलेज, नागपुर-कॉलेज, और बांकीपुर-कॉलेज में अध्यापन का कार्य किया । परन्तु आपकी आत्मा इस तरह से सेवा-वृत्ति कर गुलामखानों में गुलाम तैयार करने की ओर न झुक सकी । छात्रावस्था से ही आपकी चित्तवृत्ति राजनीति और वेदान्त की ओर विशेष झुकती थी । आपने आचार्य्य श्रीस्वामी विवेकानन्द के पद-चिह्नों का अनुसरण करना चाहा । इसी उद्देश से यूरोपीय महायुद्ध के छिड़ने के पहले आप जापान होते हुए अमेरिका जाने के लिए निकल पड़े । लेकिन जापान से अमेरिका जाने का पासपोर्ट नहीं मिला । 'कोमागाटामारू' द्वारा भारत लौटने का पासपोर्ट मिल गया । यह वही कोमागाटामारू है जिसमें सिक्ख प्रवासी भाई भारत लौट रहे थे और जिसका वर्णन सन् १९१४ ईसवी के इतिहास में रक्त के लाल लाल अक्षरों से सदैव अङ्कित रहेगा । सन् १९१४ में आप नज़रक़ैद किए गए; और आपको बहुतसी यन्त्रणाएँ इसलिए सहनी पड़ीं कि आपने कोमागाटामारू के बहुत से आदमियों को ब्रिटिश राज्य के प्रति राजविद्रोह करने में सम्मिलित नहीं किया और स्वयं अपने आपको निर्दोष बतलाया । इस वीर कार्यकर्ता को अलीपुर जेल से पूना की जेल भेज दिया जहाँ पर उन्हें ८ अप्रेल, १९१८ ई० तक जिस दिन कि वे अपने निवास-स्थान हैदराबाद (सिन्ध) में लाये जाकर मुक्त किए गए, एकान्त जेल में रहना पड़ा ।

स्वामीजी ने जेल से मुक्त होने पर एक वर्ष योग-साधना और धार्मिक कार्यों में व्यतीत किया और सत्याग्रह-संग्राम के समय वीरतापूर्वक देश-सेवा के लिए कर्मक्षेत्र में पूरे उत्साह से पुनः पदार्पण किया । उस समय के सिन्ध के कमिश्नर,

मि. लारेन्स, की दमन-नीति के कारण आप एक विरोध व्यक्ति बन गए। हैदराबाद में आपके आश्रम की तलाशी ली गई और कई तरह की आपत्तियाँ आपको सहनी पड़ीं। सन् १९१९ का अधिकांश समय व्याख्यानार्थ यात्रा में और वेदान्ताश्रम में व्यतीत हुआ। सन् १९२० की वसन्तऋतु कैलासवासी लोकमान्य तिलक के साथ उनकी सिन्ध-यात्रा में व्यतीत हुई, जिससे उक्त यात्रा भलीभाँति सफल हुई। लोकमान्य के उपदेशानुसार स्वामीजी ने सदा के लिए अपने प्रान्त सिन्ध में ही, कराँची को मुख्य स्थान मान, काम करना निश्चित किया। उन्हें अभी कराँची में रहते पूरे दो महीने भी न हो पाये थे कि १९२० की ग्रीष्म ऋतु में आपको एन्० डब्ल्यू० रेलवे हड़ताल में भाग लेना पड़ा। उन्होंने हड़तालियों को पूर्णतया अपने वश में रखा और साथ ही बेकार हड़तालियों के लिए मकान, भोजन और द्रव्य का यथेष्ट प्रबन्ध किया। भोजन और विश्राम को तिलाञ्जलि दे रात और दिन ऐसा कठिन परिश्रम किया, जिससे रेलवे कम्पनी को हड़तालियों की बहुतसी माँगें क़बूल करनी पड़ी। तब कहीं जाकर आपको चैन मिली। कम्पनी ने जुर्म लगाकर कराँची के मेजिस्ट्रेट की अदालत में आपपर मुक़द्दमा चलाया और आपपर १०) रुपया जुर्माना किया, गया, लेकिन आपने अपना बचाव न करते हुए जुर्माना देना उचित न समझ जेल जाना उचित समझा। इस बीच में किसी वकील ने आपकी इच्छा के विरुद्ध जुर्माना दे दिया और आप छूट गए। आपने मेजिस्ट्रेट से इस बात का विरोध किया कि आपको हमारी मर्जी के ख़िलाफ़ जुर्माना लेने का कोई अधिकार नहीं है। इसी बात पर जुडीशियल कमिश्नर की अदालत में अपील की गई, लेकिन इसी समय असहयोग की घोषणा हो गई और अदालतों का बहिष्कार करना निश्चित हुआ; इसलिए आपने अपील वापिस ले ली।

सन् १९२० की कलकत्ता-कांग्रेस के विशेष अधिवेशन के बाद आपने द्विगुणित शक्ति से ग्राम ग्राम जाकर कांग्रेस का सन्देश सुनाना प्रारम्भ किया। आपके समाचारपत्रों और व्याख्यानों द्वारा आन्दोलन करने का ही यह फल था कि अगस्त, १९२०, में सिन्ध-प्रान्तीय राजनीतिक परिषद का विशेष अधिवेशन हुआ। परिषद ने नवीन सुधारों को खुले शब्दों में अपूर्ण और असन्तोषजनक ठहराया। इसका नतीजा यह हुआ कि नरम दल के लोग कांग्रेस के कार्य की बागडोर नवयुकों के हाथों छोड़, सदा के लिए, कांग्रेस से अलग हो गए।

सिन्ध की नौकरशाही की आँखों में यह "अविश्रान्त कर्मवीर सन्यासी" कण्टक-स्वरूप सिद्ध होने लगा। नौकरशाही जिस तरह से हो इनसे मुक्त होने का उपाय करने लगी। खुफिया पुलिस जो मधुमक्खी के छत्ते के समान सिन्ध में सर्व-व्यापी रही है, आपके पीछे छोड़ दी गई। कलकत्ता-कांग्रेस के बाद, छः महीने में, आपने वह कार्य किया जो छः साल में भी हो सकना सम्भव न था। जनता आप सरीखे स्वार्थत्यागी तपस्वी के मुखारविन्द से कांग्रेस का सन्देश सुनने को लालायित हो उठी, और आप जहाँ जहाँ गये जनता ने आपका इतना अच्छा स्वागत और सन्मान किया कि जिसे देखकर नौकरशाही और जलने लगी।



स्वामी गोविन्दानन्दजी, एम॰ ए॰।

"स्वतंत्रता का शंख" फूँक कर आपने डा० जे० सिन्ध कालेज आधा खाली करा दिया, और कॉलेज के लगभग ६० नवयुवक छात्रों को जोकि "आज़ादी के सैनिक" के नाम से मशहूर हैं, बाहर गाँव गाँव, खेड़े खेड़े काम करने के लिए भेज दिया। आपने अपने वीर सैनिकों के निर्वाह के लिए द्रव्य एकत्रित कर ही लिया था और जब आप पकड़े गये तब आप कांग्रेस के कार्य तथा तिलक-स्वराज्य-फ़ण्ड के लिए धन एकत्रित करने के कार्य में संलग्न थे।

स्वामीजी केवल राजनीतिक कार्यकर्त्ता ही नहीं, बरन पूरे वेदान्ती भी हैं। आपके विषय में यह कहा जा सकता है कि आप राजनीति की अपेक्षा वेदान्त को अधिक प्रेम की दृष्टि से देखते थे। आपका यह सिद्धान्त है कि एक पतित और पराधीन जाति का धार्मिक सन्देश सारा संसार प्रसन्नता से इसलिए न सुनेगा कि वह देश पराधीन और पिछड़ा हुआ है। इसीलिए आपको राजनीतिक क्षेत्र में पदार्पण करना पड़ा। एक सच्चे वेदान्ती की नाईं आपको एक अप्रतिद्वन्द्वी स्वराज्यवादी भी बनना पड़ा। साथ ही जो आपसे भलीभाँति परिचित हैं वे जानते हैं कि आप ब्रिटिश जाति के प्रति घृणा के भाव नहीं रखते। आपकी लड़ाई उस नौकरशाही से है जिसने देश को अपनी स्वार्थ-सिद्धि और राज्य-सत्ता के लिए पंगु बना रखा है। नौकरशाही से आप स्वराज्य उपहार में लेना नहीं चाहते, आप स्वराज्य हासिल करना चाहते हैं। जाति-द्वेष आपके पास फटकने नहीं पाता, क्योंकि वेदान्त में जाति-द्वेष का लेश नहीं है। आपका सिद्धान्त है कि "यह पृथ्वी ईश्वर-निर्मित सर्व जीव-जन्तुओं के लिए है और मैं अंग्रेज़ों को भारत से निकाल नहीं सकता, जैसे मुसलमान भारत से निकल नहीं सकते, और यदि मुझे ऐसा करने का अधिकार भी हो, तो भी मैं ऐसा नहीं करूँगा, क्योंकि यदि ब्रिटिश लोग चले जायँ तो भविष्य में सारे संसार में वेदान्त का प्रचार नहीं हो सकता। भारत की वर्त्तमान अशान्ति से एक ऐसा नया वेदान्त प्रकट होगा जो विश्व के घाव भर सकेगा।" संक्षेप में आपका यही धार्मिक विश्वास और जीवन का कार्य्य है। आपके पक्के धार्मिक विश्वास ही ने आपको निर्भय बना दिया और आप सिन्ध में अत्यन्त भयानक माने जाने लगे। "आनन्द" और "शक्ति" नामक दो सिन्धी मासिक पत्रों के संपादक की हैसियत से आप अपने उच्च विचार और आध्यात्मिक सन्देश सारे सिन्ध में फैलाते थे जिससे कई सहस्र आत्माएँ सुधर गईं।

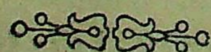
बंबई के गवर्नर, सर जार्ज लायड, से आपकी कोई व्यक्तिगत लड़ाई न थी; परन्तु सर जार्ज लायड के प्रान्तीय नौकरशाही के मुखिया होने के कारण जब वे २१ मार्च को करांची आने वाले थे, तब स्वामीजी ने जनता से हड़ताल करने का अनुरोध किया। जनता ने आपकी आज्ञा शिरोधार्य्य की और हड़ताल पूरी तौर से हुई। इसके १५ दिन बाद ही स्वामीजी १२४ अ और १५३ अ धारा के अनुसार नवाबशाह ज़िले के टान्डो अदम नामक गाँव में, जहाँ आप कांग्रेस की तरफ़ से व्याख्यान देने के लिए गये थे, गिरफ़्तार कर लिये गये। स्वामीजी ने अपना बचाव नहीं किया, केवल व्यक्तिगत लेखा दिया जिसमें आपने अपने को निर्दोष साबित किया है। नौकरशाही की बहुत दिनों की इच्छा पूरी हुई

और आपको ५ वर्ष के लिए देश-निकाले का कठोर दण्ड दिया गया।

अपनी निर्भय आज़ादी और देश के प्रति प्रगाढ़ भक्ति रखने के कारण स्वामीजी अधिकारि-वर्ग की आँखों में बेतरह खटकने लगे थे। आप करांची शहर में कांग्रेस-कार्य के मुख्य नेता थे। आप पतितोद्धारक सभा के सभापति और वेदान्त-आश्रम के संचालक थे जिसमें आजकल आधे दर्जन स्वार्थत्यागी कार्य-कर्त्ता विद्यमान हैं।

संक्षेप में, नगर में आपका कार्य प्रायः सब क्षेत्रों में था। क्या धार्मिक, क्या सामाजिक और क्या राजनीतिक—सभी क्षेत्रों में निर्भय चित्त से कार्य कर रहे थे। सारे प्रान्त में अपने कार्यों का जाल बिछा दिया था और सिन्ध को आप अन्य प्रान्तों की अपेक्षा आगे बढ़ाने के लिए अविरत परिश्रम कर रहे थे। आपके इन धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक कार्यों से सिन्ध देश का बच्चा बच्चा परिचित है। इस वीर स्वार्थत्यागी महान् आत्मा का जनता को अन्तिम सन्देश इस प्रकार है:—

"मुझे ईश्वर के हवाले कर दो, मैं स्वराज्य के लिए काम करूँगा, व्याख्यानों से नहीं, उपदेश से नहीं, बरन प्रार्थना से। प्रभु मेरे साथ हैं और कांग्रेस के सत्य की अवश्यमेव जय होगी। हम सचमुच बहुत शीघ्र स्वराज्य प्राप्त कर लेंगे और ईश्वर की इच्छा हुई, तो मैं आपसे शीघ्र ही मिलूँगा। ईश्वर को स्मरण कर स्वराज्य की लड़ाई जारी रखो। धर्म-पूर्वक अहिंसा पर डटे रहो।"



शिक्षा का उच्चतम आदर्श।

(लेखक—पं० सुखदेवप्रसाद चौबे)

प्रत्येक काम का कुछ न कुछ आदर्श होता ही है। यद्यपि ऐसा नहीं कहा जा सकता कि आदर्श सदैव पवित्र और उच्च ही होता है; क्योंकि आदर्श का पवित्र और उच्च होना कर्त्ता की बुद्धि की पवित्रता और उच्चता पर निर्भर है, तथापि प्रत्येक काम का उच्चतम आदर्श निश्चित किया जा सकता है, उसमें पात्रानुसार परिवर्तन भले ही होता रहे। पात्रानुसार असंख्य आदर्शों के होते हुए भी सार्वभौमिक दृष्टि से, प्रत्येक काम का एक अंतिम और सर्व-व्यापी आदर्श निश्चित करने की आवश्यकता भी अबाधित है—स्वयं-सिद्ध है। इसी निर्णय के आधार पर आज हम शिक्षा के उच्चतम आदर्श पर विचार करने का प्रयत्न करते हैं। यहाँ पर यह बतला देना आवश्यक है कि इस आदर्श का विचार केवल भारतीय सिद्धान्तों के आधार पर किया जायगा और यह इसलिए कि हमने इन्हीं सिद्धान्तों को सर्वोपरि माना है। (अन्य देशों के कुछ सिद्धान्त कुछ भारतीय सिद्धांतों से मिलते-जुलते हो सकते हैं।) यहाँ पर भारतीय सिद्धान्तों की सर्वोत्कृष्टता सिद्ध करने का स्थान और आवश्यकता, दोनों नहीं।

मनुष्य इस संसार में अपने पूर्व-संस्कार लेकर आता है; किन्तु अपने भविष्य का निर्माण करने के लिए—अपना भविष्य सुंदर बनाने के लिए—उसे अपने चरित्र का सुसंगठन करना पड़ता है, और इसलिए कुछ संस्कारों की आवश्यकता

होती है । पर्याय से इसीको ऐसा कह सकते हैं कि पुरुषों को इस संसार में आकर कुछ अर्थों का सम्पादन करना पड़ता है अर्थात् उसे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थों को प्राप्त करना पड़ता है, जिनके प्राप्त किये बिना पुरुष पुरुष नहीं कहा जा सकता* । इन्हीं पुरुषार्थों को प्राप्त करने के लिए कुछ संस्कार आवश्यक होते हैं जिनसे संस्कृत होकर मनुष्य उन पुरुषार्थों का पात्र हो सकता है । बस, ये ही संस्कार शिक्षा कहलाते हैं । उनके भिन्न भिन्न रूप भले ही हों; किन्तु उनका उद्देश एक ही होता है—एक ही होना चाहिए ।

शरीर और आत्मा परस्परावलम्बी हैं । इस लिए संस्कार भी दोनों के ही होना चाहिए, क्योंकि बिना ऐसा किये उन्नति की पूर्णता असंभव है । इस स्थल पर हम उन एकांग-समर्थकों से अपना हठ छोड़ने के लिए प्रार्थना करते हैं जो केवल अन्तः अथवा केवल बाह्य-सृष्टि की ही सत्यता के समर्थन में व्यर्थ हठ करते हैं । हम यहाँ पर उन सृष्टियों की नित्यता—अनित्यता पर विचार नहीं करते; किन्तु यह अवश्य कहते हैं कि आवश्यकता देखकर हमें उन दोनों की ही एक विशेष सीमा तक सत्यता स्वीकार करनी पड़ेगी । तब हमें उन पुराने भारतीयों के बुद्धि-गाम्भीर्य का पता चलेगा, जिन्होंने अपने सिद्धान्तों को सजीव बनाने के लिए उनके पीछे 'राम', 'कृष्ण' आदि को खड़ाकर दिया है । उनमें हम शारीरिक शक्ति की पूर्णता देखते हैं—चरम सीमान्त-गत शरीर-सम्पत्ति का भाण्डार देखते हैं और उसके मध्य में, पाशविक प्रवृत्ति के बदले, मूर्तिमान सतोगुण का दर्शन करते हैं । बस, यही, शिक्षा के उच्चतम आदर्श का अवतार है—उसका पूर्ण आधार है । उनके साम्हने हम प्रत्येक सांसारिक वस्तु को आत्म-साधन का साधन-मात्र देखते हैं । बस, यही परस्परावलम्बन हमारे आदर्श की भित्ति है—यही हमारी शिक्षा का प्राण है और इसी ओर जाने का हमें प्रयत्न करना चाहिए ।

शिक्षा के आदर्श का दर्शन करने के पश्चात् हमें उसका क्रम भी जानना चाहिए जिससे किसी भयंकर दोष की सम्भावना न रहे । सबसे प्रथम पुरुषार्थ है धर्म । इसलिए हमारी शिक्षा के आरंभिक संस्कार धार्मिक होना चाहिए । पुरुष को पहले ही धर्म का सम्पादन इसलिए करना पड़ता है कि वह अर्थ और काम का सम्पादन निर्दोष रहकर कर सके; क्योंकि यदि उसकी इच्छाएँ धार्मिक संस्कारों से परिष्कृत और सीमाबद्ध न कर दी जावेंगी, तो वह अर्थ और काम के सम्पादन में सीमोल्लंघन कर बैठेगा और अपने महान् आदर्श से पतित हो जावेगा । इस-लिए शिक्षा का प्रथम अंग धर्म-सूत्रों की शिक्षा होनी चाहिए । धर्म के पीछे हैं अर्थ और काम । अर्थ का काम के आगे होना इसलिए आवश्यक है कि अर्थ के बिना काम सध ही नहीं सकता, अर्थात् बिना अर्थ के इन्द्रियों की तृप्ति के साधन जुटाये ही नहीं जा सकते । इसलिए शिक्षा का दूसरा अंग अर्थकरी शिक्षा देना और तीसरा उन साधनों को प्रस्तुत करना होना चाहिए, जिन से मनुष्य इन्द्रियों के विषयों की प्राप्ति और उनका भोग कर सके । चौथा और अंतिम अर्थ है मोक्ष । यह सबसे अधिक कष्ट-साध्य है,

* यहाँ पर हमारे स्त्री-सत्ता-समर्थक महाशय यह न समझ लें कि यहाँ 'पुरुषार्थ' सरीखी 'स्वार्थ' कोई वस्तु नहीं। क्योंकि 'अर्द्धांगिनी' के अर्थ का स्पष्टीकरण ही उनकी शंका का यथार्थ उत्तर दे देगा ।

किन्तु जब प्रथम तीनों अर्थों की प्राप्ति उचित रूप से हो जाती है, तब चौथे अर्थ के प्राप्त होने में अधिक बाधा नहीं रह जाती। प्रत्येक मनुष्य में काम, अर्थात् सांसारिक सुख, भोगने की आकांक्षा स्वभाव से ही रहा करती है। हा, वह सीमा के बाहर न हो पावे, यह प्रवृत्ति अवश्य उत्पन्न करनी पड़ती है। पर जबकि हमारे धर्म में "कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन्" की शिक्षा दी जाती है तब यदि उचित रूप से शिक्षा दी जाय, तो सीमोल्लंघन का भय प्रायः नहीं रहता। आवश्यकता है धार्मिक सूत्रों के समझने और उनका अभ्यास करने की। इस प्रकार जब क्रमशः विरक्ति का अभ्यास किया जायगा और जब अनुभव से जान पड़ेगा कि इन्द्रियाँ कभी भी संतुष्ट नहीं होतीं तब, ययाति के समान, विरक्ति आकर आपही आप मुक्ति की इच्छा प्रबल होने लगेगी। पर इस बात पर सदैव ध्यान रहे कि प्रत्येक कार्य नैतिक (धार्मिक) बंधन से बँधा रहे; और यह तभी संभव है जब कि शिक्षा देते समय धार्मिक सिद्धान्तों की पूरी पूरी व्याख्या की जाय और इस प्रकार मोक्ष प्राप्त करने की इच्छा प्रबल करने के लिए सदैव उत्तेजना दी जाय; क्योंकि यही अंतिम साध्य है—यही पूर्णता का स्वरूप है।

आरंभ में उचित धार्मिक शिक्षा के अभाव से बीच के दो अर्थ ही मनुष्य के जीवन का अंतिम लक्ष्य बन जाते हैं; इसलिए आरंभिक शिक्षा में इस भयंकरता से रक्षा करने का पूरा पूरा प्रयत्न किया जाय। यदि धार्मिक शिक्षा में थोड़ी भी शिथिलता रही, तो समाज के पतन का आरंभ हो जाता है। जो अर्थ और काम अंतिम साध्य—मोक्ष—के आवश्यक साधन हैं वे ही धर्म-बंधन के बिना उच्छृंखल दशा में पतन का कारण हो जाते हैं और मनुष्य अन्तिम पुरुषार्थ से दूर जा फटकता है।

अनुभव यही कहता है कि धार्मिक शैथिल्य और पतन का कारण आध्यात्मिक तथ्य में अविश्वास ही है। जो जाति आध्यात्मिक तथ्य में विश्वास करती है वह पतन से सदैव बची रहती है। इसलिए शिक्षा के विधायकों को इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि उनकी शिक्षा आध्यात्मिकता की ओर झुके। यदि ऐसा न होगा तो जड़वाद का राज्य हो जायगा और वह कभी भी अर्थ-काम से आगे न बढ़ने देगा। बस, जहाँ अर्थ-काम पर इति हुई, वहाँ पर पतन का आरम्भ और पूर्ण आह्वान होचुका, फिर हाथों टालने पर भी वह पिंड न छोड़ेगा।

पुरुषार्थों का क्रम देखकर निश्चित किये हुए इस आदर्श का उद्घाटन होतेही भारत का वही पुराना दृश्य फिर दीख पड़ेगा। कुबेर को जीतकर केवल दूसरों के लिए स्वर्ण प्राप्त करने वाले तथा मृत्तिका-पात्र लेकर, दान की हुई सम्पत्ति से राजमहिषी सहित अलग हो जानेवाले रघु का पुनर्जन्म होगा; तीनों लोकों की सम्पत्ति का अधिकार पाकर भी भस्म में आनन्द मनाने वाले शंकर फिर दिखेंगे; स्फटिक की शिलाओं पर बैठकर, नग्न और जटाजूटधारी रूखे तपस्वी फिर से जप-पाठ करेंगे। बस, वही स्वर्ग होगा।



स्वाधीन और पराधीन देश ।

(लेखक—पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी)

इस समय इस भू-मण्डल में जितने देश हैं उनमें से बहुत से देश स्वाधीन हैं। ऐसे स्वाधीन देशों की संख्या ७० के लगभग है। परन्तु उसके मुक़ाबले में पराधीन देश पचास साठ से अधिक न होंगे। ये पराधीन देश विशेष करके एशिया और आफ्रिका में हैं। इनमें से कुछ द्वीप-पुञ्ज भी हैं। जैसे अनेक छोटे छोटे द्वीप और देश, पराधीन हैं वैसे ही अनेक छोटे छोटे द्वीप और देश, यहाँ तक कि नगर भी, स्वाधीन हैं। कुछ स्वाधीन देशों की तालिका नीचे दी जाती है। साथ ही उनकी जनसंख्या भी दी जाती है—

(१) अमेरिका (संयुक्त राज्य) ... ११,७८,५७,५०६
(२) आइसलैंड (द्वीप) ... ९२,८१८
(३) अफ़ग़ानिस्तान ... ६३ ८०,५००
(४) इँगलैंड ... ३,४०,८५ २६०
(५) इटली ... ३,६०,९९,६५७
(६) ग्रीस ... २६,४३,१०६
(७) चीन ... ३२,०६,५०,०००
(८) जपान ... ५,५९,६१,१४०
(९) जर्मनी ... ६,०९,००,०९७
(१०) डेनमार्क ... २९,४०,९७९
(११) नेपाल ... ५६,००,०००
(१२) फ्रांस ... ४,१४,७५,५२३
(१३) स्याम ... ९,६५,०००
(१४) स्पेन ... १,९९,५०,८१७
(१५) स्वीडन ... ५८,४७,०३७

अब, नीचे, कुछ पराधीन देशों की नामावली और जनसंख्या दी जाती है—

(१) आलजीरिया ... ५५,६३,८२८
(२) युगांडा ... ३३,१८,३००
(३) दक्षिणी आफ्रिका ... ७३,०५,०००
(४) नेटाल ... ११,९४,०४३
(५) फिलिपाइन (द्वीप) ... १,०३,५०,७३०
(६) बिलोचिस्तान ... १८,३४,७०३
(७) भारतवर्ष ... ३१,९०,००,०००
(८) मिश्र ... १,२७,५०,९१८
(९) लंका (द्वीप) ... ४१,१०,३६७
(१०) सिक्कम ... ८७,९२०

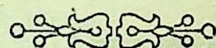
इस पराधीनता और स्वाधीनता के अनेक कारण हैं। योरप में कई छोटे छोटे शहर तक स्वाधीन हैं और एशिया तथा आफ्रीका के कितने ही बड़े बड़े देश तक पराधीन हैं। दूसरे की चीज़ खुल्लमखुल्ला ले लेना जिस ज़माने में अधर्म्म या अन्याय माना जाता था उस ज़माने में भी—यहाँ तक कि धर्मप्राण भारत में भी—राज्यलोलुप राजा और बलवान् व्यक्ति दूसरे के देश या राज्य को अपने अधीन कर लेते थे। आजकल के परिवर्तित ज़माने की तो कुछ बात ही नहीं। अब तो जो अधिक सज्ञान, अधिक चालबाज और अधिक बली है वही दूसरों पर शासन करता है—वही दूसरों को पराधीन बनाकर उनकी बदौलत चैन की वंशी बजाता है। यह वैज्ञानिक युग है। जो देश जितना ही अधिक विज्ञानदक्ष और शस्त्रास्त्र-निर्माण में कुशल है वह उतना ही अधिक औरों पर आधिपत्य कर सकता है। एक बन्दूकधारी एकसौ लठियलों को अपने वश में कर सकता है और एक मशीनगन चलानेवाला वैसे एक हज़ार को पदानत कर सकता है। सभ्यता काम नहीं देती; पशु-बल ही काम देता है। देखिए, बहुत प्राचीन मिश्र, बहुत प्राचीन कोरिया और बहुत प्राचीन भारत स्वाधीन नहीं। पर योरप के छोटे छोटे देश—स्वीडन, ग्रीस और फ्रांस आदि—स्वाधीन

हैं। अभी कल के वे देश भी जो अमेरिका के संयुक्त राज्य कहाते हैं स्वाधीन हैं। जिस भारत में ३१ करोड़ आदमी रहते हैं वह स्वाधीन नहीं; पर जिस अफ़ग़ानिस्तान में सिर्फ ६३ लाख आदमी बसते हैं वह स्वाधीन है। इसका एक कारण तो पशुबल है, दूसरा कारण इन भिन्न भिन्न देशों की भौगोलिक स्थिति भी है। स्वाधीनता का महत्त्व न समझने और अपनी अपनी खिचड़ी अलग पकाने से भी स्वाधीनता का अपहरण हो जाता है।

स्वाधीन देश उसे कहते हैं जिसका शासन-सूत्र उसी देश के किसी निवासी के हाथ में हो। ऐसे एक आदमी के द्वारा शासित देश स्वाधीन तो कहा जा सकता है, पर उसकी स्वाधीनता गौण होती है। यदि देश के सभी आदमी, विशेषकर सङ्गठन द्वारा, शासन में सम्मिलित हों तो ऐसा देश अलबत्ते पूर्ण स्वाधीन कहा जा सकता है, जैसे इस समय फ्रांस, इँगलैंड, और अमेरिका। यदि शासन में सम्मिलित होने का अधिकार केवल पुरुषों ही को हो, स्त्रियों को नहीं, अथवा पुरुषों में भी कुछ विशेष सम्प्रदाय या विशेष पेशेवालों को न हो तोभी पूर्ण स्वाधीनता में कुछ कसर रह जाती है। एशिया में जापान ही एक ऐसा देश है जो कुछ कम पूर्ण स्वाधीन कहा जा सकता है। औरों की स्वाधीनता प्रायः गौण ही है। पर किसी अर्थ में सही, वे स्वाधीन तो हैं।

जब कोई विदेशी राजा या विदेशी जन-समुदाय किसी देश को अपने अधीन कर लेता है तब वह देश अवश्यही पराधीन हो जाता है। पर वही राजा या जन-समुदाय यदि उसी देश का हो जाय—उसे वह अपना ही देश बना ले—तो फिर वह देश पराधीन नहीं कहा जा सकता। इस अर्थ में दो चार प्रारम्भिक बादशाहों के समय के भारत को छोड़कर अन्य मुसलमान बादशाहों के द्वारा शासित भारतवर्ष पराधीन न था। यह बात दूसरी है कि समस्त प्रजावर्ग समान भाव से शासित न थे। शासक थे तो अपने ही देश के वासी। राज्य का उपभोग करके वे और उनके सजातीय जन तुर्किस्तान, ईरान, रूम और अरबिस्तान को तो न चले जाते थे।

इस समय इस देश में अँगरेज़ों का शासन है। यदि ये लोग इँग्लिस्तान से सरोकार छोड़ दें, यहीं के हो जायँ, और राज्यशासन में आवश्यक परिवर्तन करके अपनी और भारतवासियों की समानता स्थिर कर दें तो उस दशा में भी इस देश को बहुत कुछ स्वाधीनता प्राप्त हो जाय।



गोल मेज़।

(लेखक—पं० कामताप्रसाद गुरु, एम० आर० ए० एस०)

(१)

रूप एकसा, गोल मेज का रुचिर, सरल है;
उलटी सीधी नहीं कहीं भी इसकी कल है।
इसमें कोई नोक-कोन का काम नहीं है;
टेढ़ाई भी नहीं, सिधाई भी न कहीं है।

(२)

लम्बी-चौड़ी नहीं, नहीं यह नीची-ऊँची;
केवल गोलाकार बनी है मेज समूची।
इसमें कोई जोड़ न कोई कोर-कसर है;
मध्य भाग में थमी, मेज सब ओर अधर है।

(३)

आदि अन्त भी नहीं, नहीं क्रम दिशा-काल का।
है नियमित संयोग मेज में बिन्दु-जाल का।
घिरा हुआ है क्षेत्र एक ही रेखा द्वारा;
अन्तर सम सब ओर केन्द्र ने है विस्तारा।

(४)

इसका रूप अखंड मंडलाकार बना है;
सूर्य चन्द्र से अधिक शुद्ध इसकी रचना है।
हैं भूगोल खगोल गोल यद्यपि कहलाते,
गोल मेज को कभी नहीं ये कोई पाते।

(५)

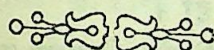
इसके चारों ओर बैठना अति सुखकर है;
नहीं नोक की चोट, न उसका कोई डर है।
देता गुरु-लघु-भेद नहीं कुछ यहाँ दिखाई;
जानी जाती नहीं उँचाई और निचाई।

(६)

सम्मुख बैठे लोग यहाँ हैं सम अन्तर पर;
विमुख व्यक्ति भी नहीं बैठते विमुख परस्पर।
दृष्टि-कोण में अधिक नहीं है खींचातानी;
हो सकती है बातचीत सबसे मनमानी।

(७)

तज चौखूँटी मेज कष्टमय, विरोधकारी,
गोल-मेज-व्यवहार करें भारत-नर-नारी।
यद्यपि है यह वस्तु विदेशी, आडम्बर है,
तोभी दूषण-रहित, सुभीते की, सुन्दर है।



पूर्व और पश्चिम।

(शाब्दिक चित्र)

(लेखक—साहित्याचार्य पं० चन्द्रशेखर शास्त्री)

प्रातःकाल के समय पूर्व में प्रकाश उत्पन्न होता है और वह फैलकर शीघ्र ही चारों दिशाओं को आलोकित कर देता है। पूर्व दिशा प्रकाशित होते ही पश्चिम में प्रकाश की आभा पहुँचती है, तदनन्तर अन्य दोनों दिशाओं में।

पश्चिम में प्रकाश का अन्त होता है, अन्धकार फैल जाता है। पश्चिम ज्योंही अन्धकार में आवृत होने लगता है, त्योंही वह अपने साथी पूर्व दिशा को अन्धकारावृत करता है। पूर्व और पश्चिम इन दोनों का साथ है। पूर्व अपनी चीज पश्चिम को देता है और पश्चिम अपनी चीज पूर्व को। पूर्व के पास प्रकाश है; इसलिए वह प्रकाश देता है। पश्चिम के पास अन्धकार है; इसलिए वह पूर्व को अन्धकार देता है। पश्चिम में भी प्रकाश दिखाई पड़ता है; पर वह प्रकाश उसका स्वाभाविक धर्म नहीं है। पश्चिम में प्रकाश कभी कभी दिखाई पड़ता है, सदा नहीं। फिर वह उसका स्वाभाविक धर्म कैसे हो सकता है?

ऊपर लिखी हुई घटना प्रतिदिन हुआ करती है; पर मान लीजिए कि पूर्व इसके लिए प्रयत्न करे कि मैं पश्चिम को निगल जाऊँ, अर्थात् अन्धकार होने का अवसर ही न दूँ, ऐसा प्रयत्न करूँ जिससे सदा सब स्थानों में प्रकाश ही बना रहे। इसके लिए वह प्रयत्न भी करे, तो सम्भव है, इसका परिणाम पश्चिम-वालों को अच्छा न लगे। पूर्व का यह प्रस्ताव शायद पश्चिम-वाले मन्जूर न करें। क्योंकि इस प्रस्ताव के अनुसार उन्हें अपने प्रिय अन्धकार का नाश अपनी आँखों देखना पड़ेगा। यही बात पूर्व-वालों के लिए भी समझनी चाहिए। पश्चिम यदि पूर्व को निगलना चाहे, यदि वह प्रकाश का नाश कर पूर्व-पश्चिम का भेद मिटाना चाहे तो वह पूर्ववालों के लिए असह्य होगा। पूर्ववाले कभी इस प्रस्ताव को स्वीकार न करेंगे। यदि कोई ज़बरदस्ती यह प्रस्ताव उनके सिर लादना चाहेगा तो वे अपना प्रकाश फैला कर पश्चिम के प्रस्ताव को मटिया-मेट कर देंगे।

पूर्व और पश्चिम के स्वभाव में जो अन्तर है, इनके स्वभावों में जो भेद है उससे हम लोग इसी सिद्धान्त पर उपनीत हैं, कि पूर्व को पूर्व रहना

अच्छा मालूम होता है और पश्चिम को पश्चिम रहना। ठीक इसी तत्त्व का उपयोग हम लोग पूर्वी और पश्चिमी सभ्यता के संबन्ध में भी कर सकते हैं। पूर्वी और पश्चिमी सभ्यता का संबन्ध बहुत दिनों का है। पूर्व का प्रकाश पश्चिम ने ग्रहण किया है, और पूर्व ने पश्चिम का अन्धकार ग्रहण किया है। भारत की सभ्यता, भारत का दर्शन, साहित्य, आयुर्वेद, गणित, पश्चिम को आलोकित करने के लिए बहुत दिनों से पश्चिम में जाते हैं। यह बात इतनी प्रसिद्ध है कि इसके विषय में आज मुझे नये सिरे से कुछ कहना नहीं है। सभी पढ़े-लिखे आदमी इस बात को मानते हैं कि पश्चिम ने भी अपना अन्धकार समय समय पर दिया है और भारत ने उसे ग्रहण किया है। भारत पर पश्चिम का सबसे पहला हमला शायद कालयवन का है जो श्रीकृष्ण के समय में हुआ था। तभी से बराबर पश्चिम की जातियाँ भारत में आने जाने लगीं। कई जातियों ने तो यहाँ अपना राज्य स्थापित कर लिया था। हुष्क, हुविष्क, कनिष्क आदि भारत के बहुत प्राचीन राजा थे और ये पश्चिम के थे। यह नहीं कहा जा सकता कि जब पश्चिम से भारत का इतना सम्पर्क था तब इसने पश्चिम के गुणों को ग्रहण न किया होगा। संस्कृत भाषा में कई ऐसे शब्द हैं जो पश्चिम से लिये गये हैं। सामुद्रिक शास्त्र और रमल विद्या पर तो पश्चिम वालों का खूब प्रभाव दीख पड़ता है। इस प्रकार पूर्व-पश्चिम का आदान–प्रदान बहुत दिनों से चला आता है। पूर्व ने जो उपहार पश्चिम को दिया उसे लेकर वह पचा गया और पश्चिम का उपहार पूर्व पचा गया। यही पहले पूर्व-पश्चिम में भाई–चारे का नाता था।

इधर बरसात के कारण मौसमी बादलों ने पूर्व के प्रकाश को कुछ धीमा कर दिया। यह देख पश्चिम का साहस बढ़ा और उसने खुल्लमखुल्ला यह प्रस्ताव किया कि पूर्व-पश्चिम का भेद मिटा दिया जाय। पूर्व-पश्चिम को घोंटकर एक मिक्श्चर तयार किया जाय, न तो प्रकाश ही रहे और न अन्धकार, एक प्रकार की धूँधली ही रोशनी सब स्थानों पर फैलाई जाय। कोई जरूरत नहीं कि प्रकाश फैले। पश्चिम का यह प्रस्ताव कुछ दिनों तक कार्य में परिणत नहीं हो सका। पर प्रयत्न जारी रहा। इस प्रस्ताव को कार्य में परिणत करने के लिए कुछ अवान्तर सिद्धांत पूर्व के सामने रखे गये और उनपर विचार करने के लिए पूर्व से कहा गया।

पश्चिम ने पूर्व से ये बातें कहीं —

१. तुम असभ्य हो।
२. तुम अपनी स्त्रियों को बहुत कष्ट देते हो।
३. तुम मूर्ख हो, क्योंकि कला–कौशल का ज्ञान तुम्हारे पूर्वजों को नहीं था।
४. तुम लोग अंधविश्वासी हो, क्योंकि धर्म पर श्रद्धा रखते हो, सिद्ध-महात्माओं का आदर करते हो, धर्म के लिए मरने पर उद्यत हो जाते हो।
५. तुम लोग अधार्म्मिक हो, क्योंकि मूर्ति-पूजक हो।
६. तुम लोग अर्थ-शास्त्र-ज्ञान-हीन हो; क्योंकि तुम्हारे यहाँ सम्मिलित परिवार की प्रथा है और तुम निकम्मे बूढ़े माता-पिताओं आदि को आदर से घर में रखते हो।
७. तुम लोग अन्यायी हो; क्योंकि छुआछूत का बखेड़ा तुम लोगों में है।

८. तुम लोग अपनी उन्नति नहीं कर सकते; क्योंकि तुम लोगों में जाति-भेद की बुरी प्रथा वर्तमान है।

९. तुम लोगों के आचार-व्यवहार, खान-पान, रीति-रस्म आदि ऐसे हैं जो सभ्यता तथा अभ्युदय के विरोधी हैं।

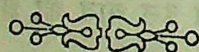
इसी प्रकार की अनेक बातें पश्चिम ने पूर्व से कहीं। कुछ दिनों तक स्तब्धता थी; पर पश्चिम का प्रयत्न जारी था। पूर्व का प्रकाश जब बादलों से आवृत था उसी समय मौक़ा देखकर पश्चिम ने शिक्षा-संस्थाएँ स्थापित कीं और उनके द्वारा अपना प्रभाव फैलाने का प्रयत्न किया। प्रयत्न व्यर्थ नहीं जाता। भारत के कई बड़े आदमी भी जो संसार के श्रेष्ठ बुद्धिमानों में समझे जाते हैं पूर्व और पश्चिम को मिलाने की हाँमी भरने लगे। इन लोगों ने पूर्व से कहा कि पश्चिम का प्रस्ताव स्वीकार कर लो। ये वीर स्वयं भी आगे बढ़े। इसी बीच में पश्चिम ने पूर्व में आकर कई पूर्व-वासियों को अपना अनुगामी बना लिया। उनकी समझ में पश्चिम का प्रस्ताव अक्षरशः ठीक जँचा। उन लोगों ने कई संस्थाएँ स्थापित कीं, पूर्व से रुपये लिये और इस प्रकार पूर्व का पूर्वत्व नष्ट करने का प्रयत्न होने लगा।

पश्चिमी संस्थाओं में जो लोग तयार हुए थे उन लोगों ने पूर्व का प्रकाश देखा ही नहीं था; अतएव इन लोगों ने पश्चिम की प्रत्येक बात को अपने कल्याण का सर्वोत्तम साधन समझा।

अब पूर्व का उपासक जिसने पूर्व के प्रकाश का थोड़ा बहुत अनुभव किया है, जिसने पश्चिम के अन्धकार के स्वरूप का खासा परिचय प्राप्त किया है, पूर्व की ओर से उठकर खड़ा हुआ है। वह कहता है—पूर्व पूर्व रहेगा और पश्चिम पश्चिम। पश्चिम यदि पूर्व की बातों की निन्दा करे तो यह उसकी अहम्मन्यता-पूर्ण मूर्खता है। पूर्व यदि पश्चिम का अनुकरण करे तो यह उसकी आत्म-विनाश-कारी नासमझी है। पश्चिम का एकाकार अन्धकार के कारण है। पश्चिमवालों को उसी अन्धकार में रहने का अभ्यास है। वे खुशी से रहें, उन्हें पूर्व में अपना अन्धकार फैलाने की कोशिश न करनी चाहिए और न पूर्व को उस अन्धकार के लिए लालायित होना चाहिए। पश्चिम ने पूर्व की जिन बातों की निन्दा की है, वे बातें पूर्व के लिए निन्दनीय नहीं हैं। पूर्व के रीति-रस्म, सभ्यता, आचार-व्यवहार आदि भोजन से निवृत्त होकर अर्थात् सांसारिक सुख से तृप्त होकर निश्चित किये गये हैं और पश्चिम के आचार-व्यवहार आदि भोजन के लिए अर्थात् सांसारिक सुख के लिए बने हैं। दोनों के आदर्श भिन्न हैं, दोनों की अवस्था भिन्न है। अन्धकार के कारण पश्चिम इस बात का ज्ञान नहीं रखता कि कौन गठरी किसकी है; अतएव वह कभी कभी दूसरों की गठरी पर हाथ बढ़ाता है, और यह देखकर दूसरे चपत जमा देते हैं। पश्चिम में हमेशा यह काण्ड होता रहता है; पर पूर्व के लिए इस बात की आवश्यकता नहीं। पूर्व में प्रकाश है, पूर्व दूसरों की वस्तुओं को पहचान सकता है और पहचानता है। पूर्व प्रकाश में अपने को भी देखता है और दूसरों को भी; पर पश्चिम अन्धकार के कारण केवल अपने ही को देख सकता है, दूसरों की सत्ता उसकी ज्ञान-सीमा में नहीं है।

ऐसी दशा में इन दोनों को मिलाकर प्रकृति का एक सुन्दर और मधुर रूप नष्ट करने का प्रयत्न क्यों किया जाता है ? पूर्व को पूर्व रहने दो, और पश्चिम को पश्चिम। बहुत से पूर्ववाले अब इस बात को मानने लगे हैं, और उन लोगों ने पश्चिम का संपर्क छोड़ना प्रारंभ किया है। पश्चिम की कलाओं ने यन्त्र आदि के द्वारा जनता में जो एक प्रकार की अस्वाभाविक असमानता उत्पन्न कर दी थी उसे मिटाने के लिए पूर्व ने चर्खा-चक्र धारण किया है। चर्खा उस अर्थशास्त्रीय विकट पहेली को हल करने के लिए आगे बढ़ा है।

पूर्व में अभी भी ऐसे आदमी हैं जो पूर्व और पश्चिम को मिलाना चाहते हैं। कुछ पूर्ववासी तो पश्चिम के नितान्त अनुयायी हो गये हैं, वे पश्चिम के नौकर होकर पूर्व का पूर्वत्व नष्ट करना चाहते हैं। प्रयत्न जारी है, लोगों के मन में जय-पराजय का संदेह होने लगा है; पर उन्हें प्रकृति के नियमों पर ध्यान देना चाहिए, पूर्व पूर्व है और पश्चिम पश्चिम। पूर्व पश्चिम नहीं हो सकता और न पश्चिम पूर्व ही हो सकता है।



मधुर मुसकान।

(लेखक—पं० राजाराम शुक्ल)

(१)

सरस रसना के रस में सनी
अलौकिक सुघर छबीली बनी
चमकती हीरे की सी कनी
केलि क्या ? क्यों इतनी तनी

हँसी की ललित लाड़ली लली
कलित किशलय की मुकुलित कली

(२)

वदन पर छायी छविमय छटा
मिटगयी चिन्ता-तम की घटा
कलापी का कलंक भी हटा
हृदय मानों हिमकर का फटा

प्रभा प्रकटी यह उसमें भली
कलित किशलय की मुकुलित कली

(३)

सुछवि पर तेरी सुर-छुनि ठगे
रसिक-जन तेरे रँग में रँगे
विवश हो तुझ में प्रेमिक पगे
बन गये भावुक-जन भी सगे

प्रीति की प्रकटी प्यारी अली
कलित किशलय की मुकुलित कली

(४)

कला में कुशल नवेली नटी
पटों में छिपकर मानों डटी
छिपाये अंग अंग निज छटी
हृदय से तनिक कञ्चुकी हटी

मिली रसिकों को रम्यस्थली
कलित किशलय की मुकुलित कली

(५)

मृदुलता मोहकता क्या कहूँ
रुचिरता सात्विकता क्या कहूँ
अकथ आकर्षकता क्या कहूँ
सहज स्वाभाविकता क्या कहूँ

सलोनी सुर-पुर की सी गली
कलित किशलय की मुकुलित कली

(६)

उमंगों की लतिका लहलही
छिपी अबतक लज्जा से रही
हमें तो जँचता है बस यही
समय पर प्रौढ़ा होकर वही

सुमुख पर फैली फूली फली
कलित किशलय की मुकुलित कली

(७)

लखालत्र अधरामृत से भरी
सरसता की सरिता सी अरी
कपोलों पर पहुँचाती तरी
चिबुक की तटी बनाती हरी
मचाती मानस में खलबली
कलित किशलय की मुकुलित कली

(८)

सकुच से हँसी उदर में पची
भृकुटियों ने कुछ रचना रची
पुतलियों में भी हलचल मची
इधर अधरों पर लहरी नची
घुली मुख में मिश्री की डली
कलित किशलय की मुकुलित कली

(९)

किसी ने अपना अनुभव कहा
यहीं से सुषमा का रस बहा
अरुणिमा अनुपम देखो अहा
किसी का निर्णय यों ही रहा
यथा पानिप में पावक पली
कलित किशलय की मुकुलित कली

(१०)

मदन के मन्दिर के पट खुले
विजय करने को मनसिज तुले
इसी से छोड़े ये चुटकुले,
जनों के मन में मोदक घुले
सदन में दीप-शिखा सी जली
कलित किशलय की मुकुलित कली

(११)

मधुरता मानों मुख पर मली
विमलता की यह अन्तर तली
चपलता है अधरों में गली,
खुली बत्तीसी किञ्चित टली
मनोहर मणियों की निधि ढली
कलित किशलय की मुकुलित कली

(१२)

"पड़ी हूँ पराधीन क्यों यहाँ
सघन घन जविन-धन हैं कहाँ
मिलूँगी जाकर अब मैं वहाँ
हृदय-धन छाये होंगे जहाँ"
चपल गति से चट चपला चली
कलित किशलय की मुकुलित कली

पुस्तकादि-परिचय ।

१—सावित्री-सत्यवान—अनुवादक, बाबू नवजादिकलाल श्रीवास्तव; प्रकाशक, आर० एल० बर्म्मन एण्ड कम्पनी, ३७१, अपर चितपुर रोड, कलकत्ता; पृष्ठ-संख्या १४६; चित्र-संख्या १३; कागज, छपाई, सफाई अत्यन्त उत्कृष्ट; मूल्य केवल २)

प्रकाशक ने 'रमणी--रत्न-माला' नाम की जो पुस्तक--माला निकालना आरम्भ किया है यह उसका पहला पुष्प है। पतिव्रताओं में शिरोमणि सती सावित्री का आदर्श चरित्र सुन्दर और सरल भाषा में लिखा गया है। लेखन—शैली रोचक और कथा-क्रम सुव्यवस्थित है।

पुस्तक के आरम्भ में दिया गया "सावित्री का त्रिरात्रि-व्रत" नामक रंगीन चित्र अत्यन्त सुन्दर, भावपूर्ण और पातिव्रत-प्रभा का अच्छा व्यञ्जक है।

पुस्तक बंग--भाषा के लेखक बाबू सुरेन्द्रमोहन दास की बँगला पुस्तक का अनुवाद है। हम समझते हैं, हिन्दी भाषा में बीसों लेखक सरलता से मिल सकते हैं जो ऐसी पुस्तकें, पुराणों के आधार पर, सुन्दर ढँग से, लिख सकते हैं। ऐसे ग्रन्थों का बँगला से अनुवाद कराना हिन्दी—लेखकों का अपमान करना है। सम्भव है, अनुवाद कराने में प्रकाशक को समय और द्रव्य की कुछ बचत हो जाती हो; परन्तु यदि प्रकाशक ने केवल व्यवसाय करने के लिए दूकान नहीं खोली है, हिन्दी--साहित्य की श्री-वृद्धि करना भी उनका उद्देश्य है, तो वे ऐसे ग्रन्थों को लिखने के लिए ऐसे लेखकों के साथ सम्बन्ध स्थापित करें जो, पुराणों के आधार पर, ऐसे ग्रन्थ लिखने की क्षमता रखते हों।

२--उपाधि की व्याधि—लेखक, बाबू देवीप्रसाद जी गुप्त, बी० ए०, एल०एल० बी०; प्राप्ति—स्थान, पं० रामप्रसाद मिश्र, बी ए०, दीक्षितपुरा, जबलपुर; पृष्ठ-संख्या, ३२; मूल्य ≈)

यह स्टेज पर खेले जाने योग्य एक मजेदार प्रहसन है। एक दो जगह यह, सफलता-पूर्वक, खेला जा चुका है। उपाधि प्राप्त करने के लिए कितना उपहासास्पद प्रयत्न करना पड़ता है इसका सजीव चित्र खींचा गया है। प्रहसन बहुत रोचक और सामयिक है।

३—तीन रत्न—अर्थात्, महात्मा गान्धी लिखित तीन गुजराती कथाओं का हिन्दी-अनुवाद; प्रकाशक, ग्रंथ-भंडार, लेडी हार्डिञ्ज रोड, माटूँगा (बम्बई); पृष्ठ-संख्या ८७; मूल्य दस आने।

इसमें तीन कहानियाँ हैं। पहली कहानी टाल्सटायलिखित एक कहानी का अनुवाद है। अन्य दो भी, सम्भवतः उन्हींकी कहानियों का अनुवाद होंगी। पहली कहानी को जो पुस्तक के ४१ पृष्ठों में छपी है हमने आद्यन्त पढ़ा; पर उसमें क्या विशेषता या रोचकता है जिसके कारण वह रूसी भाषा से अंग्रेज़ी में, फिर अंग्रेज़ी से गुजराती में और अंत में हिन्दी में अनुवादित की गई है इसे हम नहीं समझ सके। सम्भव है, मूल कहानियों का बहुत सा रस उक्त तीन अनुवादकों के हाथों में चिपक गया हो; पर अब जो बच गया है उससे हिन्दी पाठकों को, कम से कम पहली कहानी के पाठकों को—और पुस्तक के आदि में दी जाने के कारण सम्भवतः यह सर्वोत्तम हो—यथेष्ट आनन्द नहीं मिल सकता। भाषा में वह सजीवता और सौष्ठव नहीं जो कहानियों में होना चाहिए। "रशिया के नाम, स्थान पढ़ने में कथा का रस कम हो जायगा, यही सोचकर हमने अपने रिवाज के अनुसार नाम और स्थान लिखे हैं"—हम समझते हैं, लेखक ने जो यह नाम-स्थान-परिवर्तन किया है उससे कथा में अस्वाभाविकता आ गई है। यदि नामों और स्थानों को बदलने के साथ ही, वर्णित रीति-रिवाज भी बदले जाते, तो स्वाभाविकता की रक्षा हो सकती थी।

पहली कहानी को पढ़कर हमारी श्रद्धा नहीं हुई कि हम अन्तिम दो कहानियोंको पढ़ें; अतः वे कैसी हैं यह कहने में हम असमर्थ हैं।

४—मंगल-मार्ग—लेखक, पं० उदित मिश्र; प्रकाशक, पं० देवराज मिश्र, गाँव कूंडी, डा० बड़ागाँव (बनारस), पृष्ठ-संख्या ३७; मूल्य ≈)।

पुस्तक के आरंभ में ऋग्वेद के कुछ मंत्र तथा उनका भावार्थ दिया गया है। तत्पश्चात् "सफलता में सुख है," "झूठा बड़प्पन" तथा "काम प्यारा" शीर्षक तीन निबन्ध हैं। निबन्ध लेखक के अनुभव से पूर्ण तथा मौलिक जान पड़ते हैं। पर, वेद-मंत्रों के साथ उन निबन्धों का क्या संबंध है यह हमारी समझ में नहीं आता।

नीचे जिन पुस्तकों के नाम लिखे हैं वे भी पहुँच चुकी हैं। भेजने-वाले महाशयों को धन्यवाद।

(१) बोलशेविज़्म—लेखक, श्री. विनायक सीताराम सरवटे, बी. ए., एल. एल. बी.; प्रकाशक, श्रीयुत जीतमल लूणिया, हिन्दी-साहित्य-मन्दिर, इन्दौर; पृष्ठ-संख्या १८४; मूल्य १।=)

(२) वेदज्ञ मैक्समूलर—लेखक, पं० सुरेन्द्रनाथ तिवारी; प्रकाशक, नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ; पृष्ठ-संख्या ९३; मूल्य विदित नहीं।

(३) चित्रवंश-निर्णय, अर्थात् चित्रगुप्त-वंशी कायस्थों के वंश, जाति और संस्कारों पर प्राचीन प्रमाणों के आधार पर विचार, (पहला भाग); लेखक और प्रकाशक, मुंशी कामताप्रसाद श्रीवास्तव्य, कालीमहल, काशी; पृष्ठ-संख्या १३६; मूल्य ।।।)

(४) सप्तर्षि, अर्थात् भारतमाता के सात सुपूतों के संक्षिप्त जीवनचरित्र—लेखक, बाबू शिवदास गुप्त; प्रकाशक, हिन्दी-ग्रन्थ-भण्डार कार्यालय, बनारस सिटी; पृष्ठ-संख्या १२४; मूल्य ।।।=)

(५) गांधी-दर्शन—लेखक, श्रीयुत चन्द्रराज भण्डारी विशारद; प्रकाशक, गांधी-हिन्दी-मंदिर, अजमेर; पृष्ठ-संख्या १८४; मूल्य १)

(६) कंस-वध—लेखक, पं० श्यामलाल पाठक; प्रकाशक; सरस्वती-सदन, भाल्दारपुरा, जबलपुर; पृष्ठ-संख्या ५२; मूल्य ।≠)

(७) मातृभाषा—लेखक, बाबू लक्ष्मीसहाय माथुर; प्रकाशक, साहित्य-निकेतन, गंगधार राज्य झालावाड़; पृष्ठ-संख्या ७०; मूल्य ।।)

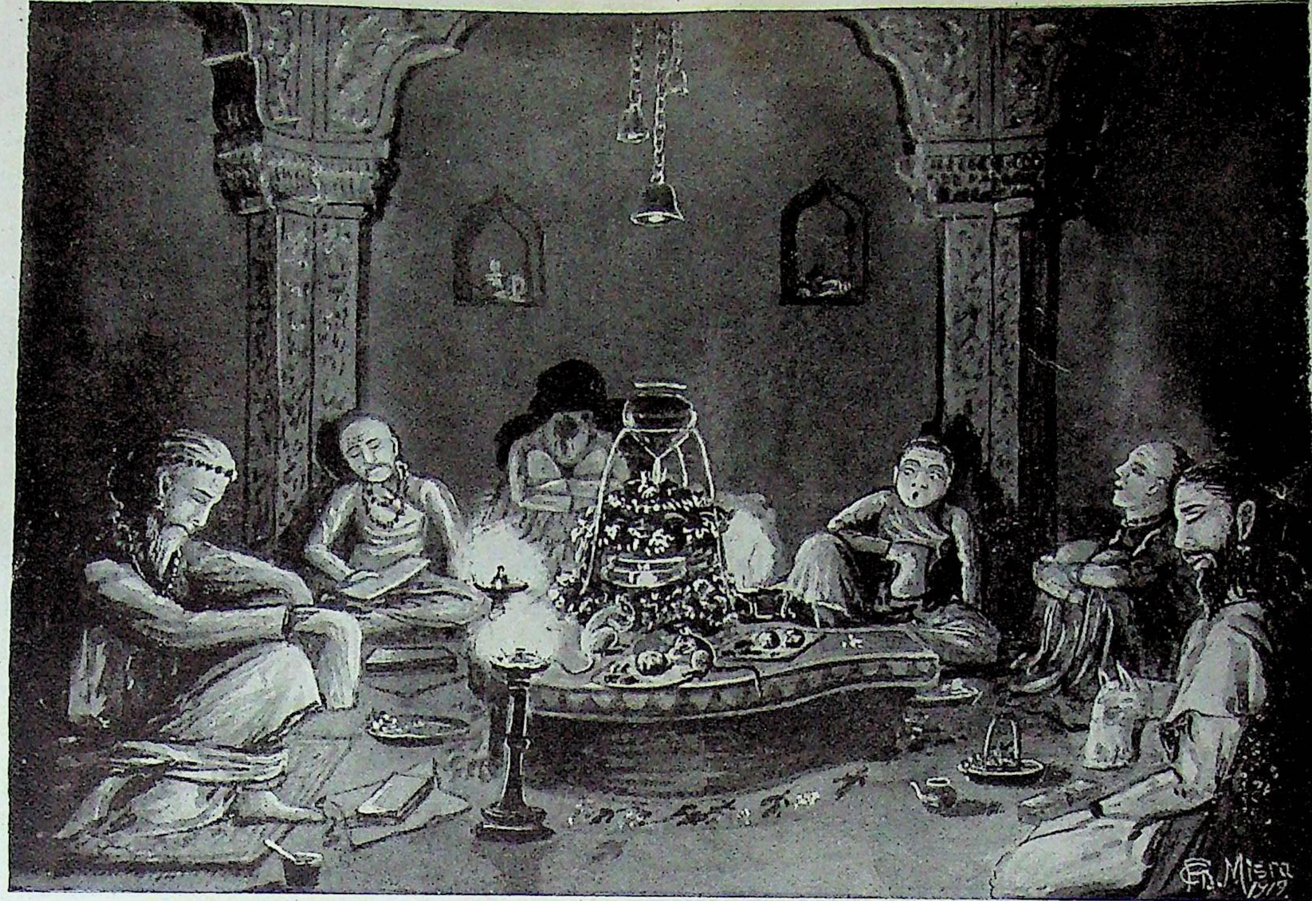
(८) वीर बाला—अर्थात्, एक शिक्षाप्रद ऐतिहासिक आख्यायिका; लेखक, बाबू लक्ष्मीसहाय माथुर; प्रकाशक, साहित्य-निकेतन, गंगधार राज्य झालावाड़; पृष्ठ-संख्या १६; मूल्य =)

(९) भिन्न भिन्न देशों के अनोखे रीति रिवाज—लेखक, बाबू कृष्णगोपाल माथुर, साहित्य-रत्न; प्रकाशक, मिश्र-बंधु-कार्यालय, दीक्षितपुरा जबलपुर; पृष्ठ-संख्या ८४; मूल्य ।।=)

(१०) चर्खा और स्वराज्य—अर्थात् चर्खे पर महात्मा गांधी के विचार और कवियों की कविता; प्रकाशक, भीष्म एण्ड ब्रदर्स, पटकापुर, कानपुर; पृष्ठ-संख्या २४; मूल्य ≤)

(११) राष्ट्रीय स्वतंत्रता और असहयोगी विद्यार्थी,—अर्थात् श्रीयुक्त विपिनचन्द्रपाल के दो भाषण; प्रकाशक, भीष्म एण्ड ब्रदर्स, पटकापुर, कानपुर; मूल्य ≈)।

(१२) आदर्श मित्र (उपन्यास)—लेखक, पं० रामचन्द्र शर्म्मा; प्रकाशक, सरस्वती-पुस्तक-माला-कार्यालय, कनावल; पृष्ठ-संख्या ७५; मूल्य ।)।



शिवरात्रिका जागरण (!)

सर्वाधिकार श्रीशारदाके अधीन।

महर्षि दयानन्द सरस्वती के धार्मिक भावोंमें घोर परिवर्तन।

चित्रकार— पं. गणेशरामजी मिश्र।

2413—Lakshmi Art, Bombay No. 8.

विज्ञान-संसार।

(१) बिजली से घावों की चिकित्सा।

मनुष्य की बुद्धि जो न करे सो थोड़ा। जल, पवन, अग्नि आदि पर मनुष्य का प्रभुत्व स्थापित हो चुका है। विद्युत् भी चेरी बनाई जा चुकी है और उससे बड़े बड़े काम लिये जाते हैं। अब विद्युत् से घावों की चिकित्सा की जाने लगी है। विगड़े तथा सड़े घाव जो शस्त्र-चिकित्सकों को असाध्य से दिखते हैं विद्युत्-प्रवाह से अच्छे होने लगे हैं। अभी, उस दिन, डाक्टर फ़ैनाविक ने यह चमत्कार कर दिखाया। एक मनुष्य की भुजा में ऐसा घाव था जो साधारण चिकित्सा से अच्छा नहीं होता था। तब डाक्टर सा० ने चीनी मिट्टी के एक बर्तन में नमक का पानी रखकर उस पानी में उस भुजा को डुबाया और विद्युत्-प्रवाह उस भुजा में प्रविष्ट किया। दूसरे दिन वह घाव बहुत अच्छा दिखा और, क्रमशः सुधरते सुधरते, दस दिनों में बिल्कुल भर गया। बन्दूक की गोली लगने से उत्पन्न हुए घाव भी इसी प्रकार, थोड़े समय में, अच्छे किये जा चुके हैं।

(२) दर्पण देखने से स्वास्थ्य और सुन्दरता की वृद्धि।

हिन्दू लोगों में यह विश्वास प्राचीन काल से चला आ रहा है कि प्रातःकाल उठते ही अपनी हथेली देख लेना शुभ है। कहा भी है—करामे वसते लक्ष्मीः प्रभाते तद्दर्शनम्। यही बात दर्पण देखने के संबंध में भी है। दर्पण देखने के संबंध में तो कहा जाता है कि इससे स्वास्थ्य और सुन्दरता की वृद्धि होती है। इस विषय की एक टिप्पणी "लक्ष्मी" में प्रकाशित हुई है जिसका मुख्यांश नीचे दिया जाता है—

"जिसे दर्पण देखने की आदत है वह यदि पाँच छः दिन तक दर्पण देखना बन्द कर दे, तो इतने ही थोड़े समय में उसका मुख मलिन हो जायगा और आँखें धसी हुई मालूम होंगी। इसका अवश्य कोई कारण है। नित्य दर्पण देखने से स्वास्थ्य और मुख का सम्बन्ध मन से हो जाता है और जिस समय हम दर्पण देखना बन्द कर देते हैं उस समय हमारा चेहरा हमारे मन के अनुकूल नहीं दीख पड़ता है।

"अब यह प्रश्न उठता है कि बिना व्यायाम किये केवल दर्पण देखने से ही स्वास्थ्य की उन्नति हो सकती है या नहीं। आहार, निद्रा आदि जिस प्रकार आवश्यक हैं उसी प्रकार व्यायाम भी शरीर-रक्षा के लिए आवश्यक है; किन्तु दर्पण देखने से स्वास्थ्य का एक दूसरे ही प्रकार का सम्बन्ध है। अवकाश पाने पर यदि समय समय पर दर्पण देखने का अभ्यास किया जाय तो शरीर को पुष्ट करने की इच्छा अवश्य होती है। इसके अतिरिक्त, यदि दर्पण में अपना अंग-प्रत्यंग अच्छी तरह से देखा जाय तो बैठे बैठे व्यायाम का फल मिल सकता है। पहले तो ऐसा करने में कोई लाभ नहीं मालूम होता है; पर इच्छा-शक्ति की वृद्धि के साथ साथ स्वास्थ्य में भी लाभ मालूम पड़ने लगता है। यदि मन में यह इच्छा नहीं है कि हम बलवान् हों तो केवल व्यायाम से कोई लाभ नहीं। लुहार हथौड़ा लेकर दिनरात लोहा पीटता रहता है तौभी वह बलवान् नहीं होता, उसके अंग पुष्ट नहीं होते।

इसका एकमात्र कारण इच्छा-शक्ति का अभाव है। दर्पण देखते समय यदि स्वास्थ्य प्राप्त करने के लिए प्रबल इच्छा-शक्ति हो, तो प्रत्येक अंग अवश्य पुष्ट हो जायँगे।

"नित्य प्रातःकाल में शान्त और प्रफुल्लचित्त हो दर्पण देखना तथा स्वास्थ्य और सौन्दर्य की कामना करना सबों के लिए उचित है। इससे शरीर स्वस्थ और सुन्दर होता है।"

(३) जूते पर पालिश।

अमेरिका में इतने वैज्ञानिक आविष्कार हो चुके हैं जिनकी कोई गिन्ती नहीं। अब एक महाशय ने जूतों को साफ़ करने तथा उसमें पालिश करके उन्हें ख़ूब चमकीला कर देने का काम एक मशीन के हवाले किया है। यह काम इस प्रकार होता है:-

आप एक आराम-कुर्सी पर बैठकर अपने 'स-बूट' चरण मशीन में रख दीजिए। फिर एक सिक्का एक ओर के छिद्र में डालकर बगल का एक डंडा पकड़कर खींच दीजिए। बस, इतना करते ही कुछ ब्रुश आपके बूटों के आस-पास दौड़-धूपकर उनकी धूल वग़ैरः साफ़ कर देंगे। दूसरे ब्रुश उन्हींके पीछे पीछे एक द्रव पदार्थ (पालिश) लपेट लपेटकर जूतों को स्नान करा देंगे और तीसरे ब्रशों की बैच आकर आपकी चरण-दासियों को मल मलकर झक कर देगी। इस काम में केवल १½ मिनट का समय लगता है।

(४) तस्वीरें बोलने लगीं।

अमेरिका के सुप्रसिद्ध डाक्टर एडीसन सा० ने फ़ोनोग्राफ़ तथा बाइस्कोप के अद्भुत आविष्कारों से संसार को आश्चर्य-चकित कर दिया है। "श्रीशारदा" के गत सितम्बर, २१, के अंक में "चैतन्य चित्र" शीर्षक एक लेख प्रकाशित हुआ था। उसमें बतलाया गया था कि चलित-चित्र-कला (Cinematography) की उन्नति क्रमशः किस प्रकार हुई है।

पश्चिमीय विज्ञान-वेत्ता बहुत दिनों से इस अनुसन्धान में थे कि किसी प्रकार सिनेमा के चलते-फिरते चित्र बोलने भी लगें। अनेक विद्वानों ने प्रयत्न किया; पर निष्फल हुआ। अभी हाल में समाचार आये हैं कि एक विज्ञान-सेवी उसमें सफल-मनोरथ हुआ है। आपका शुभ नाम है आरलेण्डो ई० कैलम।

आपने फ़ोनोग्राफ़ तथा बाइस्कोप का अपूर्व संमिश्रण करके पर्दे पर चलती-फिरती तस्वीरों में वाक्शक्ति का संचार कर दिया है। इस प्रकार वे तस्वीरें जिस संबंध का केवल नाट्य ही किया करती थीं उसी संबंध की घटनाओं का यथातथ्य वर्णन भी, वाणी द्वारा, करने लगी हैं। कैलम सा० की इस अद्भुत प्रक्रिया ने वैज्ञानिक संसार में हल-चल पैदा कर दी है। अनेक विज्ञानोपासक उसका नित्य-नवीन उपयोग सुझा रहे हैं। सुना है, समुद्रस्थ प्रदीप-स्तम्भों (Light-houses) में इसका प्रयोग किया जायगा। समुद्र के उस स्थान पर जहाँ विकट चट्टानें रहती हैं और जिनसे जहाज़ों के टकराने की आशंका रहती है वहाँ एक बड़ी मीनार बना दी जाती है, जिस पर रात्रि भर रोशनी होती रहती है। जहाज़ उस रोशनी को देखकर उस मार्ग से नहीं जाते। अब इन मीनारों से रोशनी के साथ साथ एक बुलन्द आवाज़ भी निकला करेगी— "ख़बरदार, इस रास्ते से न आना, चट्टानें हैं।" दूसरा

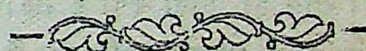
उपयोग कृषि-विभाग के कामों में होगा। किसानों के बालकों को इसी नये यंत्र की सहायता से कृषि-सम्बन्धी व्यावहारिक शिक्षा सुगमता से ही जावेगी। भिन्न भिन्न पौधों के बोने की तरकीबें, उनमें पानी देना, खाद देना, आदि बाइसकोप के पर्दे पर दिखेगा तथा उसी विषय पर अच्छे प्रोफ़ेसर—कृषि-विशेषज्ञ—का व्याख्यान भी सुनने को मिलता जायगा। इसी प्रकार अन्य विभागों को भी इससे अपरिमित लाभ पहुँचेगा। पुलिस और खुफ़िया-विभाग बड़े बड़े षड्यन्त्रों का इसकी कृपा से बड़ी आसानी से पता लगा सकेंगे तथा सबूत भी काफ़ी अच्छे ढंग से दिया जा सकेगा।

अच्छे अच्छे नाटकों का अभिनय, उनके नाट्य-निपुण नटों का कौशल-प्रदर्शन, प्रवीण गान-विद्या-विशारदों के श्रुति-मधुर संगीत के सुनने के साथ साथ देखने को मिल सकेगा। उस की सहायता से कांग्रेस का पेन्डाल, उसमें बैठे हुए भिन्न भिन्न प्रान्तों के जन-समुदाय का कोलाहल, प्रसिद्ध प्रसिद्ध नेताओं, देशभक्तों और व्याख्यानदाताओं की मनोमुग्धकारिणी वक्तृताएँ-सारांश, वहाँ की सारी कार्यवाही, उसी प्रकार ठीक ठीक देखने और सुनने को पर्दे पर मिलेंगी मानों हम कांग्रेस-मण्डप में ही बैठकर देख रहे हों।

(५) हाथों का काम पैर देंगे!

गत यूरोपीय महाभारत में अनेक योद्धा अङ्ग-प्रत्यङ्ग खो बैठे हैं। उनमें उन सैनिकों के लाभ के लिए जिनके हाथ लड़ाई में कट गये हैं एक सहृदय सज्जन ने एक उत्तम यन्त्र आविष्कृत किया है। उक्त यन्त्र हस्त-विहीन पुरुष के बाल बना देता, उसे स्नान करा देता, भोजन खिला देता, यहाँ तक कि सिगरेट को भी जलाकर मुँह में रख देता है। मशीन के नीचे के पहिये पर पैर रखकर दबाने से वह इष्ट काम करने लगती है।

ये मशीनें युद्ध-क्षेत्र के अस्पतालों के बड़े काम की वस्तु होंगी, जहाँ इनका लाभ बतलाकर सैनिकों को विश्वास दिलाया जायगा कि हाथ खो बैठने पर तुम्हें किसी पर निर्भर रहने की आवश्यकता न पड़ेगी। हाथ कट जावें, कोई परवाह नहीं—तुम्हारे हाथ के सब काम, पैर की ठोकर खाकर, यह मशीन कर दिया करेगी।



साहित्य-सुमन।

(१) पश्चिमी शिक्षा पर महाकवि ठाकुर के विचार।

महाकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने विश्व-व्यापी यश प्राप्त किया है। वे यूरोप की यात्रा करके, अभी कुछ ही दिन पूर्व, लौटे हैं। अन्य बातों के साथ साथ उन्होंने पश्चिमी शिक्षा पर भी विशेष ध्यान दिया है। अतएव इस संबंध में उनके विचार सुनने-लायक़ हैं।

आप पश्चिमी शिक्षा के संबंध में अपना निजी अनुभव बतलाते हैं कि मुझे पश्चिमी शिक्षा के फन्दे में पड़ जाने से ऐसा मालूम होता है मानो किसी वृक्ष की स्वतन्त्र बाढ़ रोक दी गई है और उससे लकड़ी तैयार करने के लिए वह काट डाला गया है। इस अनुभव पर से उनका यह

सिद्धान्त ध्यानपूर्वक विचारने योग्य है कि "जब मन अपने स्वाभाविक भोजन सत्य और स्वतंत्रता से अधिक काल तक वञ्चित रहता है तब वह सफलता पाने की अस्वाभाविक प्रवृत्ति की ओर झुक जाता है और उसकी यही प्रवृत्ति दिन दिन बढ़ने लगती है। यही हाल हमारे विद्यार्थि-वर्ग का हुआ है जिन्हें परीक्षाओं में उत्तीर्ण होने का रोग हो गया है। सफलता की परिभाषा यह है कि कम से कम ज्ञान की बदौलत अधिक से अधिक नम्बर मिल सकें। इस सफलता के पीछे पड़ने से सत्य एवं स्वतन्त्रता का लोप और मन की शक्तियों का ह्रास होता है। साथ ही, होता क्या है कि विद्यार्थिगण मन का अस्तित्व भूलकर परिणाम में सफलता देखकर फूले अंग नहीं समाते; किन्तु ऐसी सफलता से हम लोग क्लार्क, वकील, पुलीस-इन्सपेक्टर आदि के सिवा और कुछ नहीं हो पाते और युवावस्था में ही जीवन-लीला समाप्त कर देते हैं।"

पश्चिमी शिक्षा के पक्षपाती कविसम्राट् के इन विचारों को तनिक ध्यान से पढ़ें, तो देश का कुछ हित हो।

(२) शिक्षा का उद्देश्य।

मनुष्य के व्यक्तित्व का विचार करने से शिक्षा का प्रारम्भिक उद्देश्य यह निकलता है कि मनुष्य अपने अन्न-वस्त्र का प्रबन्ध ठीक ठीक कर सके। जबतक उसे भोजन की चिन्ता है तबतक वह अपने ज्ञान के बढ़ाने का प्रयत्न कर ही कैसे सकता है। उन्नत देशों में सरकार की ओर से जो अधिक खर्च शिक्षा-प्रचार में किया जाता है वह इस उद्देश्य से किया जाता है कि जिसमें प्रजा सुशिक्षित हो और सरकार की कार्य-प्रणाली को समझकर उसकी सफलता में योग दे। समाज भी इस कार्य में इसलिए योग देता है कि जिसमें नवयुवक सुशिक्षित होकर समाज की आवश्यकताओं की पूर्त्ति कर सकें। सारांश यह, शिक्षा का उद्देश्य है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन के छोटे से छोटे कार्य को इतने अच्छे ढँग से सम्पादित कर सके कि जितने अच्छे ढँग से एक अशिक्षित व्यक्ति नहीं कर सकता।

यह सब ध्यान में रखकर राष्ट्रीय शिक्षा के प्रचारकों को नीचे लिखी ८ बातों पर विशेष लक्ष्य देना चाहिए:—

१—विद्यार्थियों का स्वास्थ्य अच्छा रहे।

२—विद्यार्थियों को वे ही बातें विशेष रूप से पढ़ाई जावें जिनसे वे अच्छे नागरिक बन सकें।

३—हस्त-कौशल की शिक्षा पर विशेष लक्ष्य दिया जाय।

४—विद्यार्थी खोजी हों।

५—विद्यार्थियों के सामने ऐसे आदर्श रखे जावें जिसमें वे भोजन-विलास को ही सब कुछ न समझकर अपना ध्येय कुछ उच्च बना सकें।

६—विद्यार्थी अपने समय का सदुपयोग करें।

७—सच्चे नागरिक और देशभक्त बनें।

८—उनमें इतनी अधिक क्षमता हो जिसमें वे देश-हित की दृष्टि से, समय के अनुसार, अपनी परिस्थिति को बदलकर, समाज और देशोन्नति के कार्य में पूर्ण योग दे सकें।

६-उनमें वे सद्गुण हों जिनसे वे लोकप्रिय होवें।

(३) सौन्दर्य साहित्य का जीवन है।

इस विषय का एक सुन्दर लेख "शिक्षा" में प्रकाशित हुआ है जो इस प्रकार है—

कोई भी ग्रन्थ हो, यदि उसकी भाषा और भाव सुन्दर नहीं हैं तो उसे कोई पसन्द नहीं करता। उसका वाक्य चुटीला है और उसकी भाषा हृदयग्राहिणी है तब उसमें कवि की जीवित प्रतिभा दृष्टिगोचर होने लगती है। सभी उसपर मुग्ध हो जाते हैं। उन्हें उसमें मनोहर पुष्प-वाटिका का आनन्द प्राप्त होता है, जहाँ रंग रंग के पुष्प खिले हुए हैं, भ्रमर जिनपर गूँज रहे हैं, तितलियाँ जिनके ऊपर चक्कर लगा रही हैं, जिनकी सुगन्धि से वायु सुगंधिमय बन रही है, जो अपनी सुषमा से दर्शकों के हृदय में यह भाव उत्पन्न करती है कि वे अचेतन प्रकृति के बनाये नहीं हो सकते; इनका बनानेवाला सौन्दर्य्य-निधान कोई चेतन परम-पुरुष है, नहीं तो पुष्पों में इतनी सुन्दरता कहाँ से आती? जिसके हृदय के विचार सुन्दर नहीं उससे सुन्दर वस्तु नहीं बन सकती। प्रकृति की प्रकृति सुन्दर होती तो किसीको उससे दुःख न होता। जगत् में करोड़ों प्राणी हाहाकार कर रहे हैं। उनकी आर्तध्वनि कभी सुन नहीं पड़ती। प्रकृति स्वयम् दुःखमयी एवं कुरूपा है; उसे सुरूपा तथा सुन्दरी बनानेवाला दूसरा है। जहाँ उसका प्रयत्न नहीं होता वहाँ प्रकृति की पोल खुल जाती है।

जिस ग्रन्थकार के मानसिक भाव सुन्दर हैं तथा जिसने सुन्दर स्वभावों का अध्ययन किया है उसके ग्रन्थ अवश्य सुन्दर होते हैं, अन्यथा उसके प्रयत्न से साहित्य-भाण्डार की महिमा घटती है।

यद्यपि सौन्दर्य्य कई स्थलों में माना हुआ पदार्थ होजाता है; किसीकी दृष्टि में फूटी आँखें अन्धी होती हैं और किसीके विचार में काली; एक, चपटी नाक को सुन्दर मानता है और दूसरा, सुग्गों की सी नुकीली नाक को अपना सर्वस्व समझता है, तथापि सौन्दर्य्य के लक्षण में कोई भेद नहीं होता, अर्थात् जो चित्ताकर्षक है वह सुन्दर है। जगत् बड़े भारी कारीगर का बनाया हुआ है। उसकी रचना में गुप्त अथवा प्रकट रूप से सौन्दर्य्य विराजमान है। कोई वस्तु सर्वथा सुन्दरता से रहित हो नहीं सकती; पर अपना देश अथवा समाज जिसे स्पष्ट रूप से सुन्दर मानता है उसीको हम सुन्दर समझते हैं। यह कोई आवश्यक नहीं कि सबको एक ही वस्तु अच्छी जान पड़े। ऐसी अवस्था उन्नति की नहीं है।

हम अपने साहित्य के सौन्दर्य्य को अपनी दृष्टि से देखेंगे। यदि उसमें हमारे देश का सौन्दर्य्य नहीं है, तो वह हमारा साहित्य नहीं। आजकल हिन्दी की दुनिया में उपन्यासों का बड़ा आदर है; पर उसमें सौन्दर्य्य दिखाई नहीं पड़ता। इसका कारण यह है कि लेखकों के भाव विदेशी भावों से आवृत हो गये हैं। श्रीयुत बंकिमचन्द्र चटर्जी वंगभाषा के सर्वश्रेष्ठ उपन्यास-रचयिता समझे जाते हैं। उन्होंने अपने ग्रन्थों में अपने भावों का समावेश किया है, विदेशी प्रभावों को नहीं घुसने दिया है। कहते हैं कि उन्होंने उपन्यासों के आधार पर अपने उपन्यास लिखे हैं; पर यह बात पाठकों को शीघ्र ज्ञात नहीं होती; क्योंकि

उनका देश जो सौन्दर्य्य चाहता है उससे उपन्यास भूषित हैं। भाषा, भाव तथा वर्णन में कहीं उनसे भूल नहीं हुई है। हिन्दी-भाषियों को उनके उपन्यास कहीं कहीं खटकते हैं। इसका कारण यह है कि बंगाल की रहन-सहन दूसरे ढंग की है। पर वंग-भाषियों के लिए वे बड़े सुन्दर हैं। हमें अपने ग्रन्थ ऐसे लिखने चाहिए कि जिसमें हमारा साहित्यिक सौन्दर्य नष्ट न होने पावे।



विविध विषय।

(१) देशी भाषाओं में उच्च शिक्षा।

इस विषय का एक प्रस्ताव युक्त-प्रांतीय व्यवस्थापक सभा में इसी जनवरी की २८ ता: को उपस्थित किया गया। प्रस्ताव का भाव था कि विद्या का अधिक और अच्छा प्रचार करने के विचार से सरकार एक ऐसा कालेज स्थापित करावे जिसमें विद्यार्थियों को प्रान्त की देशी भाषाओं के द्वारा मध्यमा और उच्च शिक्षा दी जाय, और आगे चलकर यह कालेज एक विश्व-विद्यालय के रूप में परिणत हो जावे जो पढ़ाने और परीक्षा लेने का कार्य करे और प्रान्त के भिन्न भिन्न कालेजों को अपने से सम्बद्ध करे।

सरकार की ओर से इसका खूब विरोध किया गया; पर अन्त में यह प्रस्ताव, थोड़े से संशोधन के साथ, स्वीकृत हो ही गया। इसका विरोध करते समय वहाँ के शिक्षा-सचिव ने जो विचित्र विचार प्रकट किये वे सुनने-योग्य हैं। आपने इस प्रस्ताव की असली अड़चनें बताते हुए कहा—"प्रश्न यह होगा कि शिक्षा हिन्दी में दी जाय या उर्दू में। ये दोनों भाषाएँ भिन्न भिन्न हैं और ये भिन्न भिन्न सभ्यताओं को प्रकट करती हैं, अतः उन्हें प्रकट करने के लिए कोई एक भाषा काम में नहीं लाई जा सकती है। इसके सिवा, भारत का संबंध अन्य देशों के भी साथ है और अंग्रेजी भाषा की कुंजी से पाश्चात्य विद्या और सभ्यता का भाण्डार खुला है। व्यापार-संसार की भाषा अंग्रेजी है और यूरोप में तो यह कूट-नीति की भाषा बन रही है। देशी भाषाओं में शिक्षा देने के मार्ग में दूसरी कठिनाई यह भी है कि पाश्चात्य विद्या पढ़ाने-वाले उपयुक्त शिक्षक और पाठ्य ग्रन्थ नहीं हैं। खैर, यदि यह हो भी गया, तो यह तो बताइए कि हमारे नवयुवक अंग्रेज़ी शिक्षा न पाने के कारण कौंसिलों में जाकर करेंगे क्या? अंग्रेजी भाषा कौंसिलों के लिए स्वीकृत की गई है, और यदि कहीं कौंसिल का प्रत्येक सदस्य अपनी अपनी भाषा में बोलेगा, तो प्रबन्ध-सदस्य को कम से कम २० भाषाएँ जानना चाहिए। अदालत में भी ऐसी ही अड़चन पड़ेगी। अंग्रेज़ी इस समय भारत की राष्ट्र-भाषा हो रही है और वही एक भाषा है जो देश भर के शिक्षित जनों को एक दूसरे से मिलाये हुए है। यदि कहीं देशी भाषाओं में शिक्षा दी जाने लगी, तो आप निश्चय जानिए कि देश की राजनीतिक उन्नति रुक जायगी और देश का कल्याण होने में बहुत विलम्ब लगेगा।"

ये हैं शिक्षा-सदस्य की अकाट्य उक्तियाँ। यदि ये वाक्य उन सदृश ज़िम्मेदार व्यक्ति के मुख से

न निकले होते, तो हम "श्रीशारदा" के पाठकों का ध्यान उनकी ओर आकर्षित न करते । इस नोट को लिखने का यह अर्थ न लिया जाय कि इस प्रस्ताव के स्वीकृत हो जाने से हम कौंसिलों की उपयोगिता सिद्ध कर रहे हैं । इसका यह भी अर्थ नहीं कि हम अंग्रेज़ी भाषा का बहिष्कार करना चाहते हैं । हम अवश्य चाहते हैं कि अंग्रेज़ी पढ़ी जाय; पर हम नहीं चाहते कि देशी भाषा के द्वारा उच्च शिक्षा न दी जाय ।

शिक्षा-सदस्य का कहना है कि "हिन्दी और उर्दू भिन्न भिन्न भाषाएँ हैं और वे जिन भिन्न भिन्न सभ्यताओं को प्रकट करती हैं उनके लिए कोई एक भाषा काम में नहीं लाई जा सकती ।" अभी तक तो लोग हिन्दी और उर्दू को एक ही भाषा समझते थे—दोनों में केवल लिपि का ही भेद मानते थे; पर अब शिक्षा-सदस्य ने नया आविष्कार किया है जिसकी ओर हिन्दी और उर्दू के विद्वानों को ध्यान देना चाहिए । मान लिया, हिन्दी और उर्दू भिन्न भिन्न भाषाएँ हैं। पर प्रस्ताव में यह कहीं नहीं लिखा है कि शिक्षा हिन्दी या उर्दू में ही दी जाय। प्रस्ताव तो "देशी भाषाओं" के लिए अनुरोध करता है । हिन्दी और उर्दू को भिन्न भिन्न मानते हुए भी यह बात समझ में नहीं आती कि जिन सभ्यताओं को हिन्दी या उर्दू नहीं प्रगट कर सकती उसे सात-समुद्र-पार की अंग्रेज़ी भाषा किस प्रकार प्रकट कर सकती है । क्या इस देश के बालकों को अंग्रेज़ी का इतना अभ्यास हो गया है कि वे अंग्रेजी तो समझें और हिन्दी या उर्दू न समझ सकें ? या, अंग्रेज़ी भाषा की इतनी आवश्यकता है कि देशी भाषाओं की ओर ध्यान ही न दिया जाय ? शिक्षा-सदस्य की दूसरी बात यह है कि अंग्रेज़ी भाषा की सहायता से पाश्चात्य सभ्यता सीखी जा सकती है । इसके उत्तर में पहले ही बताया जा चुका है कि हम अंग्रेजी का बहिष्कार नहीं करना चाहते । यदि भारतीय बालकों की शिक्षा का माध्यम अंग्रेज़ी न बनाई जाकर घर घर में रोज़ बोली जानेवाली हिन्दी या उर्दू बनाई जाती है, तो इसका यह अर्थ नहीं कि अंग्रेजी का बहिष्कार हो जायगा । माध्यम का अभिप्राय किसी भाषा-विशेष का बहिष्कार करना नहीं, वरन शिक्षा-प्राप्ति के मार्ग में सुभीता करना है । और, यह बात प्रत्येक शिक्षा-प्रेमी को विदित है—और कदाचित् शिक्षा-सदस्य को भी विदित होगी—कि विद्यार्थी अपनी मातृभाषा के द्वारा जितने शीघ्र ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं उतने शीघ्र किसी विदेशी भाषा के द्वारा नहीं । शिक्षा-सदस्य की तीसरी कठिनाई उपयुक्त शिक्षकों और पाठ्य ग्रन्थों का अभाव है। उनकी यह कठिनाई दूर होगई होती यदि उन्होंने हैदराबाद की उसमानिया यूनीवर्सिटी के कार्य की ओर ध्यान दिया होता, जो प्रत्येक विषय की शिक्षा देशी भाषा के ही द्वारा देती है । हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन से भी जो हिन्दी के पाठ्य ग्रंथ तैयार कर रहा है यह कठिनाई कि हिन्दी में उपयुक्त पाठ्य ग्रंथ नहीं हैं दूर हो रही है। शिक्षा-सदस्य का यह कहना कि पहले पाठ्य ग्रंथ तैयार हो जायँ तब शिक्षा दी जायगी ठीक वैसाही है कि पहले तैरना आ जाय तब पानी में पैर रखा जायगा ।

शिक्षकों के संबंध में हमें यही कहना है कि ये जो हज़ारों एम० ए० और बी० ए० फ़ारसी, संस्कृत आदि पढ़कर यूनीवर्सिटी के कारखाने से तैयार

होकर हर साल निकलते हैं क्या इस योग्य नहीं कि वे पाश्चात्य विद्या को अपनी मातृभाषा के द्वारा सिखा सकें ? यदि वे इतने अयोग्य हैं तो उनकी उपाधियों का मूल्य क्या है ? शिक्षा-सदस्य ने जो चौथी कठिनाई बताई है वह बहुत मज़ेदार है। आप कहते हैं—"हमारे नवयुवक अंग्रेज़ी शिक्षा न पाने के कारण कौंसिलों में जाकर क्या करेंगे ? यदि कहीं कौंसिल का प्रत्येक सदस्य अपनी भाषा में बोलेगा तो प्रबन्ध-सदस्य को कम से कम २० भाषाएँ जानना चाहिये। क्या खूब ! अंग्रेज़ी भाषा इसीलिए तो सीखी जाती है कि कौंसिलों की कार्यवाही समझी जा सके, और यदि कौंसिलों की कार्यवाही न समझी जायगी तो मनुष्य के ज्ञान-चक्षु ही न खुलेंगे और मनुष्य-जीवन ही सार्थक न होगा। शिक्षा-सदस्य के इस कथन से यह भी विदित होता है कि उन्हें रिफार्मस्कीम का कितना ज्ञान है। ज़रा वे कृपाकर यह तो बतावें कि रिफार्म-स्कीम में यह कहाँ लिखा है कि सदस्य कौंसिलों में जाकर अंग्रेज़ी ही में बोलें। ये जो सैकड़ों केवल हिन्दी जाननेवाले लोग कौंसिलों में अड़े हुए हैं वे अंग्रेज़ी ही में बोलते होंगे और अंग्रेज़ी ही समझते होंगे ! अंग्रेजी न जाननेवाले कौंसिल के मेंबर ज़रा कान खोलकर शिक्षा-सदस्य की ये बातें सुनलें, और अंग्रेज़ी सीखने के लिए किसी स्कूल में भरती हो जाएँ। साथ ही, जिस प्रबन्ध-सदस्य को २० भाषाओं का ज्ञान न हो वह अपना त्यागपत्र दे दे अथवा वह अलग कर दिया जाय। अदालत में जो अड़चन पड़ेगी उसके लिए शिक्षा-सदस्य को चिन्तित न होना चाहिए। अदालतों का बहिष्कार धीरे धीरे हो रहा है। आगे चलकर शिक्षा-सदस्य ने जो यह कहा है कि "अंग्रेज़ी इस समय भारत की राष्ट्रभाषा हो रही है और वही एक भाषा है जो देश भर के शिक्षित जनों को एक दूसरे से मिलाये हुए है इसके लिए यदि वे कांग्रेस के गत वर्ष के ही अधिवेशन में उपस्थित हुए होते तो वे देख लेते कि भारत की राष्ट्र-भाषा कौनसी है और भारतवासी किस भाषा को अधिक समझते हैं। अब भी शिक्षा-सदस्य सरकारी रिपोर्ट को देख कर जान सकते हैं कि इस देश में अँग्रेज़ी भाषा बोलने और समझनेवाले कितने हैं तथा हिन्दी को बोलने और समझनेवाले कितने हैं। अंत में शिक्षा-सदस्य ने कहा है—" यदि कहीं देशी भाषाओं में शिक्षा दी जाने लगी, तो आप निश्चय जानिए कि देश की राजनीतिक उन्नति रुक जायगी और देश का कल्याण होने में बहुत विलम्ब लगेगा। " ठीक तो है। यदि बचपन से ही अंग्रेज़ी की शिक्षा दी जाय, तो राजनीतिक उन्नति एकदम हो जाय। यदि लड़कियों को भी अंग्रेज़ी शिक्षा दी जाय, तो ८-१० वर्षों में ही अर्थात् उनके माता बनते ही उनके बालकों को कौंसिल के सदस्य बनने का पैतृक अधिकार हो जायगा और पार्लिमेंट जब रिफ़ार्म-ऐक्ट की सफलता की जाँच करने बैठेगी तो वह भारत का सोलह आना कल्याण कर सकेगी ! यह तो अँग्रेज़ी भाषा के प्रभाव का फल होगा, यदि कहीं अंग्रेज़ी रीति-रिवाज, खान-पान भी जारी कर दिया जाय तब तो भारत की राजनीतिक ही नहीं, सर्वाङ्गीण उन्नति में कोई बाधा ही न रह जाय !!

(२) सौ वर्ष के बाद ब्रिटिश साम्राज्य का अन्त।

इस विषय का एक छोटा सा नोट ६ जनवरी

के "लीडर" में प्रकाशित हुआ है। उसमें कुछ रोचक बातें कही गई हैं जिनका संक्षेप यहाँ दिया जाता है। उस नोट का अधिकांश एच० जी० वैल्स के कथन से सम्बन्ध रखता है। इन वैल्स महाशय के परिचय में हम यहाँ यह लिख देना उचित समझते हैं कि ये महाशय अंग्रेज़ी भाषा के प्रसिद्ध उपन्यास-लेखक हैं। इनका लिखा हुआ "दि आउट-लाइन ऑव् हिस्ट्री" × नामक एक बृहत् ग्रन्थ एक वर्ष पूर्व प्रकाशित हुआ है। इस ग्रन्थ ने उनकी कीर्ति विश्व-व्यापिनी कर दी है। इसमें संसार के आदि से आज तक का जो इतिहास दिया गया है वह आश्चर्य-जनक है। लाखों वर्ष के इतिहास का अध्ययन मि० वैल्स जिस उत्तमता से कर सके हैं तथा जिस उत्तमता से उन्होंने उसे समझाया है वह यथार्थ में आश्चर्य-जनक है। मि० वैल्स भारतवर्ष के प्रति विशेष सहानुभूति रखते हैं तथा भारत की वर्तमान घटनाओं के कारणों को उन्होंने भलीभाँति समझा है। उन्होंने भारत के वर्तमान असन्तोष का जो कारण समझा है वह इस प्रकार है—"ब्रिटिश लोग भारतवर्ष और ईजिप्ट पर राज्य करते हैं यह इतना बुरा नहीं है जितना बुरा यह है कि किसी सभ्य देश में दूसरे देश का राज्य हो और फिर संसार भर में ऐसा कोई न्यायालय न हो जहाँ उसपर किये गये अत्याचारों और अन्यायों की अपील की जा सके तथा न्याय की आशा की जा सके।" इसी प्रकार की अनेक बातें उन के ग्रंथ में भरी हैं और वे सिद्ध करती हैं कि मि० वैल्स संसार की वस्तु-स्थिति समझने में कितने कुशल हैं।

× यदि कोई पुस्तक-प्रकाशक इस अमर ग्रंथ का हिन्दी-अनुवाद प्रकाशित करे, तो बड़ा भारी काम हो। इसका मूल्य २१ शिलिंग है तथा इसे कैसल एन्ड कम्पनी ने प्रकाशित किया है।

कुछ दिन पूर्व, लण्डन के Delphian Coterie में एक भोज दिया गया था। उस अवसर पर मि० एच० जी० वैल्स द्वारा लिखित एक पत्र पढ़ा गया था जिसमें लिखा था—"मुझे आशा और विश्वास है कि आज की तिथि से एक सौ वर्षों के पश्चात् संसार से ब्रिटिश साम्राज्य का अस्तित्व लुप्त हो जायगा। उस समय तक या तो ब्रिटिश साम्राज्य सभ्यता का विकास करके अनेक स्वतन्त्र राष्ट्रों को अपने में सम्मिलित कर के अपना स्वरूप परिवर्तित कर चुकेगा अथवा वह मनुष्य-जाति के लिए भय-स्वरूप और उपद्रवकारी सिद्ध होकर, उसकी वही दशा हो चुकेगी जो साम्राज्यवादी जर्मनी और रोम की आज है।"

ब्रिटिश साम्राज्य का यह भविष्य ऐसे मनुष्य ने बताया है जिसने संसार के इतिहास का, निरपेक्ष भाव से, अध्ययन किया है। मि० वैल्स का यह भविष्य-कथन ऐसा नहीं है जिसकी उपेक्षा की जा सके।

यह कथन सुनकर उक्त भोज में उपस्थित कई लोगों ने भिन्न भिन्न मत प्रकट किये। एक ने कहा—"मैं समझता हूँ कि १०० वर्ष के पश्चात् ब्रिटिश द्वीपों [इँग्लैंड, स्काटलैंड, वेल्स और आयर्लैंड] की जन-सँख्या ५ करोड़ और अमेरिका के संयुक्त-राज्य की ३० करोड़ होगी। कनेडा की ६ करोड़, आस्ट्रेलिया की भी ६ करोड़ और न्यूजीलैंण्ड की दो या ढाई करोड़ होगी। इस प्रकार इन सब द्वीपों की तुलना में अमेरिका का संयुक्त-राज्य ही धन-जन तथा शक्ति में बहुत बढ़ा-चढ़ा होगा तथा इँग्लैंड, आयर्लैंड, कनेडा आदि आज जिस उच्चासन

पर आसीन हैं उसपर से खिसक चुके होंगे और आज वे जिस प्रकार संसार-साम्राज्य की शक्ति के केन्द्र हो रहे हैं उस दिन उस प्रकार के केन्द्र न रहेंगे, वरन अमेरिका के संयुक्त-राज्य की ओर अपनी अपनी शक्तियाँ केन्द्रित करते हुए पाये जावेंगे।....... मैं यह कहने का साहस नहीं कर सकता कि दक्षिणी आफ्रिका में श्वेतों का प्रभुत्व रहेगा या नहीं; परन्तु मैं समझता हूँ "भारतवर्ष को स्वराज्य और व्यावहारिक स्वाधीनता मिल चुकेगी।"

इस वक्ता के कथनानुसार भारतवर्ष को स्वराज्य मिल चुका होगा या नहीं, और मि० एच० जी० वैल्स के कथनानुसार ब्रिटिश साम्राज्य नष्ट हो चुका होगा या नहीं—इसमें सन्देह रखनेवाले भी समझ सकते हैं कि भारत की अधिकांश जनता के आधुनिक आत्म-त्याग ने तथा ब्रिटिश नौकरशाही की अन्याय-प्रवृत्ति ने इन विचारशील पुरुषों को अपनी वस्तु-स्थिति सोचने और समझने तथा भविष्य-कथन कहने के लिए बाध्य किया है। एक शतक के भीतर संसार में क्या क्या परिवर्तन होंगे इसकी कल्पना करना कठिन कार्य अवश्य है; परन्तु यदि संसार की वर्तमान घटनाओं के आधार पर भविष्य का कुछ भी अनुमान किया जा सकता है तो वह अनुमान करने का अधिकार मि० एच० जी० वैल्स सदृश विद्वानों को ही है; अतः कोई कारण नहीं कि हम वैल्स महाशय के भविष्य कथन का अविश्वास या उपहास करें।

(३) जेल का नैतिक प्रभाव।

किसी मनुष्य के अपराध करने पर उसे राज्य की ओर से जेल भेजने की जो व्यवस्था की जाती है उसका एक प्रधान उद्देश यह हो सकता है कि उस अपराधी के बुरे प्रभाव से समाज की रक्षा होवे; क्योंकि यदि वह मनुष्य समाज में रहेगा तो समाज अवश्य ही उसके बुरे आचरण से प्रभावित होगा और, बहुत संभव है, समाज के दूसरे व्यक्ति भी उसका अनुकरण करने लगें। दूसरा उद्देश्य यह हो सकता है कि अपराधी जेल में रहकर वहाँ के एकान्तवास, कष्ट-कारक रहन-सहन, परिश्रम आदि से अपनी बुरी प्रवृत्तियों को बदले, और वह समाज में लौटकर फिर कोई अपराध न करे। तीसरा उद्देश्य यह हो सकता है कि अपराधी के इस प्रकार दण्डित होने से शेष समाज पर आतंक जमै ताकि अन्य व्यक्ति जेल जाने के भय से अपराध न करें। ये सब उद्देश समाज के लिए बहुत हितकर हैं।

परन्तु, इस समय वर्तमान राजनीतिक आन्दोलन ने जनता के हृदय से जेल का भय निकाल दिया है। जेल अब कोई भय का स्थान नहीं रह गया है। इतना ही नहीं, अनेक नेता जेल जाकर अपने को धन्य समझ रहे हैं तथा जो नेता जेल के बाहर हैं वे जेल जाने के लिए तरस रहे हैं। यह मनोवृत्ति कहाँतक ठीक है इसका विचार यहाँ नहीं करना है। यहाँ केवल यह देखना है कि इस मनोवृत्ति से जनता पर क्या प्रभाव पड़ रहा है। प्रभाव स्पष्ट है और वह यह है कि कार्यक्षेत्र में बहुत निर्भीकता लक्षित होने लगी है। जिस पथ का अनुसरण करने में जेल जाने की आशंका पहले कभी बाधा उपस्थित करती थी अब उस आशंका के लिए हृदय में स्थान नहीं रह गया है। राजनीतिक कार्य करने-वालों पर मनोवृत्ति के इस परिवर्तन

का अच्छा प्रभाव पड़ रहा है; परन्तु अन्य लोगों पर बुरा प्रभाव भी पड़ सकता है। बहुत सम्भव है, चोरी, बदमाशी आदि करनेवाले लोग जिन्हें जेल का भय पहिले दुष्कृत्य करने से रोकता था अब यह देखकर कि बड़े बड़े लोग जेल जाने में गौरव समझते हैं यह सोचने लगें कि हम भी क्यों न जेल जावें। इस प्रकार समाज में दुष्कृत्यों का प्रचार बढ़ सकता है, यद्यपि इसके यथेष्ट प्रमाण अभी उपलब्ध नहीं हो रहे हैं। यदि सरकार जेल की भयंकरता रक्षित करने के लिए देशभक्तों को जेल में भेजने का काम बहुत विचार-पूर्वक करे, तो उसके और समाज के लिए अच्छा होगा।

(४) जेल में साहित्य-चर्चा।

देशभक्तों के लिए जिन्होंने अपनी मातृभूमि के उद्धार को अपने जीवन का परम पुनीत व्रत मान लिया है प्राण-दण्ड का भय कोई भय नहीं रहा है। जेल की भूमि तो उनकी दृष्टि में तीर्थ-क्षेत्र के समान पवित्र रही है और जेल की यातनाओं तथा वहाँ के अधिकारियों के अमानुषिक व्यवहारों ने देशभक्तों की लगन को और भी तीव्र और पवित्र किया है।

साहित्य-सेवी देशभक्तों ने जेल के भीतर रहकर अनुपम साहित्य-सेवा की है। लोकमान्य तिलक का "गीता-रहस्य" जेल के भीतर ही उत्पन्न हुआ था। आज भी लाला लाजपतराय राष्ट्रीय स्कूलों और कालेजों के लिए भारतवर्ष का इतिहास (हिन्दू-काल) लिख रहे हैं। पं० जवाहरलालजी नेहरू भी, सुना है, ऐसाही कोई साहित्यिक कार्य कर रहे हैं तथा पं० माखनलालजी चतुर्वेदी सपरिश्रम कारावास करते हुए भी कविता लिखने के लिए कुछ समय निकाल लेते हैं।

इसी प्रकार का, बल्कि इससे भी अनोखा कार्य आजकल आगरा के जिला-जेल में हो रहा है। उस जेल में केवल राजनीतिक क़ैदी ही रखे गये हैं और इनकी संख्या लगभग ३०० है। इनमें हिन्दी तथा उर्दू के अनेक कवि हैं। ये सब प्रति सप्ताह कवि-सम्मलेन किया करते हैं। इसी २० जनवरी को वहाँ कवियों आदि का एक सम्मेलन हुआ था। उसके सभापति बनाये गये थे मौलाना आरिफ़ हस्वी सा०। अनेक उर्दू कवियों ने अपनी अपनी पूर्त्तियाँ पढ़ीं। हिन्दी-साहित्य-संसार के सुपरिचित पं० कृष्णकान्तजी मालवीय तथा पं० रामनरेशजी त्रिपाठी ने भी अपनी अपनी पूर्त्तियाँ पढ़ीं और वे उपस्थित सज्जनों को बहुत रुचिकर प्रतीत हुईं। उपस्थित सज्जनों में से कुछ के नाम इस प्रकार हैं—श्रीयुत महादेव देसाई, मि० जार्ज जोसफ़, प्रोफ़ेसर रामदास गौड़, पं० गोविन्द-कान्त मालवीय, पं० कपिलदेव मालवीय, बाबू गोपालनारायण सक्सेना, बाबू रामस्वरूप गुप्त आदि।

जितनी कविताएँ पढ़ी गईं प्रायः सभी देशभक्ति से परिप्लावित हैं। इनका संग्रह देश के इतिहास में स्थायी महत्व रखेगा।

(५) स्वराज्य-साहित्य।

मध्यप्रान्तीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के गत अधिवेशन में एक अच्छा प्रस्ताव यह भी स्वीकृत हुआ था कि "यह सम्मेलन अनुरोध करता है कि समस्त लेखक, कवि आदि अपनी पुस्तकें,

लेख, कविताएँ आदि स्वराज्य-प्राप्ति के ध्येय की दृष्टि से लिखें।" इस प्रस्ताव को अमल में लाने के लिए ७ सज्जनों की एक समिति भी बनाई गई थी। उस समिति ने क्या और कितना काम किया यह तो विदित नहीं; पर इसमें सन्देह नहीं कि उक्त समिति को सौंपा गया काम, अपने आपही, कई स्थानों में हो रहा है। सच्चा साहित्य सदैव समयोपयोगी ही हुआ करता है—जब जैसा समय होता है तब तैसा साहित्य उत्पन्न हुआ करता है और वही साहित्य अपना अस्तित्व बनाये रखने में समर्थ होता है जो स्वदेश की जीती-जागती आवश्यकताओं की पूर्त्ति में सहायक होता है।

इस राजनीति-प्रधान युग में साहित्य की वही चर्चा रुचिकर हो सकती है जो जनता की वर्तमान भावनाओं को उचित मार्ग पर ले जा सकती है; क्योंकि साहित्य का प्रधान उद्देश यही है कि मनुष्य के विचार उस रूप में लिपि-बद्ध किये जावें कि वे अधिक समय तक जीवित रह सकें और देश का मनोरंजन करते हुए देशोत्थान में सहायक होवें।

आगरा के जेल में इस समय जो साहित्य-चर्चा हो रही है वह अपने ढँग की अनोखी है। वहाँ हिन्दी के कई सुकवि तथा सुलेखक विद्यमान हैं। सुना है, लिखने-पढ़ने तथा पत्र-व्यवहार करने की उन्हें स्वतंत्रता है। देशभक्ति की उन्हें जो लगन है उसकी सचाई में सन्देह करना पाप होगा। हम समझते हैं, वे जो साहित्य उत्पन्न करेंगे वह देश को परतन्त्रता-पाश से मुक्त करने में समर्थ होगा। हमारी प्रार्थना है, मध्यप्रान्तीय हि० सा० स० के सूत्रधार इनसे तथा इसी स्थिति में रहनेवाले अन्य सज्जनों से पत्र व्यवहार करके कुछ सामयिक साहित्य उत्पन्न करावें।

(६) असहयोग-आन्दोलन का ध्येय।

जिन तीन बातों के लिए अहिंसात्मक असहयोग छिड़ा हुआ है वे हैं—१. खिलाफ़त का मसला तय करना, २. पंजाब के अत्याचारियों को दण्ड देना तथा ३. स्वराज्य स्थापित करना। कांग्रेस की ये ही तीन माँगें हैं और प्रत्येक असहयोगी इन्हींको दुहराता आ रहा है; परन्तु इन बातों का स्पष्ट अर्थ क्या है यह अभीतक कांग्रेस की ओर से निश्चित नहीं किया गया है। कदाचित इन्हें अस्पष्ट रखने में कुछ लाभ सोचा गया हो; परन्तु अब महात्मा गांधी ने इन्हें स्पष्ट किया है और तीनों का स्पष्टीकरण, क्रम-पूर्वक, इस प्रकार है—

(१) जहाँ तक मैं अपनी याददाश्त के आधार पर लिख सकता हूँ, कुस्तुन्तुनिया, एड्रियानोपल, एनेटोलिया, स्मर्ना तथा थ्रेस तुर्क लोगों को वापिस दे दिये जायँ। अरब, मेसोपोटेमिया, पैलेस्टाइन और सीरिया से तमाम ग़ैर-मुस्लिम सत्ता हटा ली जाय और इसलिए इन प्रदेशों से तमाम ब्रिटिश सेना, चाहे वह अंग्रेज़ी या हिन्दुस्थानी हो, वापिस बुला ली जाय।

(२) कांग्रेस की उप-समिति के अनुसार पूरा पूरा व्यवहार किया जाय और इसलिए सर माइकेल ओडायर, जनरल डायर तथा दूसरे जिन अफ़सरों की बरख़ास्तगी की राय उस उपसमिति ने दी है उनकी पेंशन बन्द कर दी जाय।

(३) यदि पूर्वोक्त माँगें स्वीकार की जाती हैं तो स्वराज्य से हमारा अभिप्राय है पूरे औपनिवेशिक स्वराज्य (full dominion status) से। इस स्वराज्य की योजना उन प्रतिनिधियों के द्वारा होनी चाहिए जो कांग्रेस के संगठन के अनुसार निर्वाचित किये गये हों। इसका अर्थ है हरएक बालिग़ हिन्दुस्थानी, स्त्री हो या पुरुष, जो चार आने देता है और जिसने कांग्रेस के ध्येय को स्वीकार किया है मतदाता होने का अधिकार रखता है। इन्हीं मतदाताओं के द्वारा स्वराज्य-संगठन के लिए प्रतिनिधि चुने जायँगे। इस संगठन को कार्य-रूप में परिणत करना होगा। ब्रिटिश पार्लिमेंट इसमें कुछ भी हेरफेर न कर सकेगी।

महात्माजी ने यह भी लिखा है कि ये माँगें कम से कम हैं अर्थात् इनमें सौदा करने की गुंजाइश नहीं है। इस दशा में कहा जा सकता है कि जब महात्माजी अपनी बात पर इस प्रकार अड़े दिखते हैं, तब समझौते की आवश्यकता ही क्या है; क्योंकि समझौता तभी हो सकता है जब दोनों-पक्ष-वालों में से प्रत्येक पक्ष अपनी कुछ बातों को छोड़ने के लिए तैयार हो; और जब महात्माजी अपनी माँगों को इस प्रकार निश्चित किये बैठे हैं, तब समझौते की आवश्यकता ही क्या है? इसके उत्तर में महात्माजी कहते हैं कि समझौते की आवश्यकता है और सदैव रहेगी। सो किस प्रकार? महात्माजी कहते हैं—

"इन माँगों की पूर्त्ति किस प्रकार की जाय इसका विचार करना चाहिए। हो सकता है कि सरकार के पास इन दावों के लिए युक्ति-संगत उत्तर हों। कांग्रेस-वालों ने यह कम से कम माँग अवश्य की है; परन्तु कम से कम माँग करने का अर्थ यही है कि उन्हें अपने ध्येय के न्याय-मूलक होने में जितना विश्वास है उससे अधिक नहीं। इसका यह भी अर्थ है कि इसमें सौदा करने की गुंजाइश नहीं है। अतएव इसमें किसी की कमज़ोरी या निर्बलता की ही दुहाई नहीं दी जा सकती। दुहाई केवल तर्क-बुद्धि की ही दी जा सकती है। यदि वाइसराय सा० समझौता-सभा की आयोजना करते हैं तो इसका मतलब यही है कि या तो वे इस बात के क़ायल हैं कि ये दावे न्याय-मूलक हैं अथवा वे कांग्रेस-वालों के तथा दूसरों के समीप उन दावों की अन्यायता सिद्ध करने की आशा करते हैं। इन दावों को रद्द करने या कम करने का जो विचार वे करें उनकी न्याय्यता के संबंध में उन्हें विश्वास होना चाहिए। "बराबरीवालों की परिषद्" कहने से मेरा अभिप्राय यही है, अर्थात् उस परिषद् में बलप्रयोग का लेशमात्र कहीं न हो और किसी पक्ष को ज्योंही अपने पक्ष में अन्याय दिखे त्योंही वह उस अन्याय-पक्ष को छोड़ दे।"

बहुधा कहा जाता है कि साम्राज्य-सरकार ख़िलाफ़त के संबंध में कुछ भी नहीं कर सकती। महात्मा जी कहते हैं—

"मैं चाहता हूँ कि सरकार मुझे ऐसा विश्वास दिला दे कि ख़िलाफ़त के संबंध में वह कुछ भी करने में असमर्थ है। यदि सरकार ने मुझे ऐसा विश्वास दिलाया और इस मामले को अपना ही मामला समझकर वह भारत के मुसलमानों का साथ देने को तैयार हो गई तो मुझे बहुत सन्तोष होगा और मैं साम्राज्य-सरकार की हार्दिक सहायता लेकर दूसरी

शक्तियों को भी खिलाफ़त के दावे की न्याय्यता जँचाने का प्रयत्न करूँगा।"

मतलब यह, कम से कम ब्रिटिश सरकार तो खिलाफ़त के दावों को न्याय्य समझने को तैयार हो जाय। यदि दूसरी शक्तियाँ उसे इस प्रकार समझने को तैयार न भी होंगी, तो भी भारतीय मुसलमान भाइयों को यह तो संतोष होगा कि ब्रिटिश सरकार ने हमारा साथ दिया।

पंजाब के मामले के संबंध में महात्माजी कहते हैं—

"बरख़ास्त किये गये मुलाज़िमों की पेंशन बंद करने के विषय में भी अनेक क़ानूनी अड़चनें पेश की गई हैं। मुझे विश्वास है कि सर्विस रेगूलेशन्स में यह साफ़ साफ़ लिखा है कि किसी भी पदाधिकारी का नाम, चाहे वह पदाधिकारी कितना ही उच्च क्यों न हो, यह पाये जाने पर कि उसने अपने कर्त्तव्य का पालन नहीं किया है अथवा कोई राजविद्रोही काम किया है पेंशन-सूची में से एकदम निकाल दिया जायगा। कुछ भी हो, सरकार इन अफ़सरों की पिछली सेवाओं की दुहाई देना छोड़कर पंजाब की माँगों को अस्वीकृत करने के कारण तो सप्रमाण सिद्ध करे। यदि यह मान लिया जाय कि भारत की सेवा और साम्राज्य की सेवा एक दूसरे से भिन्न है, तो भी उन्होंने भारत को जो हानि पहुँचाई है उसे देखते हुए मैं यह नहीं मान सकता कि उन्होंने साम्राज्य की कुछ सेवा की है।"

तीसरी माँग स्वराज्य की है और वह सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। खिलाफ़त और पंजाब के अन्याय दूर हो जाने पर भी इस बात की आवश्यकता बनी रहेगी कि ये अन्याय फिर न किये जा सकें और इसके लिए स्वराज्य-प्राप्ति के सिवा दूसरा कोई उपाय नहीं। स्वराज्य किस प्रकार का हो इसके संबंध में भिन्न भिन्न दलों में मतभेद भले ही होवे; परन्तु स्वराज्य-प्राप्ति प्रत्येक देशभक्त का ध्येय है। स्वराज्य की इस योजना पर कांग्रेस या उसकी कार्य-कारिणी समिति ने अभी कोई विचार नहीं किया है; अतः इस योजना को कांग्रेस की योजना नहीं मानना चाहिये। मतलब यह, अभी इसपर विचार किया जा सकता है, और अच्छा होगा यदि कांग्रेस के मेम्बर ही इसपर विचार न करके सब दल-वाले विचार करें। हम समझते हैं, ये माँगें कम से कम होने पर भी अभी इनके ब्यौरे की बातों पर विचार किया जा सकता है।

(७) क्या नाई ब्राह्मण हैं?

बाद शूद्र कर द्विजन्ह सन, हम तुमतें कछु घाटि।
जानै ब्रह्म सो विप्रवर, आँखि दिखावहिं डाटि॥
(रामचरितमानस, उत्तरकाण्ड)

अभी कुछ दिवस पूर्व, दिसम्बर मास में, हमारे मित्र नाइयों को भी जातीय कान्फ़रेन्स करके अपनी उन्नति करने की सूझी, और आगरा नगर में आप लोगों ने अखिल-भारतवर्षीय-नाई-कान्फ़रेन्स कर ही डाली। जब तिल्ली-सम्मिलिनी, कोयरी-सम्मेलन, चमार–सभा आदि करके इस देश की प्रत्येक जाति उन्नति-पथ पर अग्रसर हो रही है, तो नाई भाइयों का ही पीछे पड़ा रहना कैसे संभव है? इस कलिकाल में जब हेमू बक्काल के भाई बंद, चित्रगुप्त के वंशज, दैत्य-कुल-प्रिया वारुणी के विक्रेता आदि अनेक जातिवाले अपनी अपनी डफली और अपना अपना राग गाते हुए

एक दो पग आगे बढ़ रहे हैं, तो सुख-दुःख के सभी कार्यों में ब्राह्मणों का साथ देनेवाले, उनके नवग्रह के पैसे धरते ही दूब-दुनिया का नेग माँगनेवाले—

जहाँ गंगा तहाँ झाँऊ
जहाँ ब्राह्मण तहाँ नाऊ

इस जनोक्ति को सत्य ठहराने-वाले हमारे नापित भ्राता क्यों न आगे बढ़ें? और, जब आगे ही बढ़ने लगे तो पूरी मंज़िल ही क्यों न तय कर डालें? जब मन के लड्डू ही खाना है तो करी, कसार, राजगिर के लड्डुओं को क्यों खायँ, मगद, मोतीचूर, मलाई आदि के ही क्यों न चखें? सारांश यह कि जब शूद्रत्व छोड़कर द्विजाति बनना है तो फिर उच्च से उच्च ब्राह्मण-वर्ण को क्यों न ग्रहण करें?

सैकड़ों वर्षों से जो नाई अपने को शूद्र मानते आये हैं यह उनकी भूल है, इतर जाति के लोग जो उन्हें नीच जाति के समझते आये हैं यह उनका अत्याचार है। बड़े बड़े विद्वान् पंडित भी महामूर्ख हैं जो "न्यायी" न कहकर उन्हें नाई कहते हैं। द्विजातियों ने ईर्ष्या-वश उनका नाम बिगाड़ा है और इस प्रकार उन्हें शूद्रता के गड्ढे में जान-बूझकर ढकेला है। न्यायी! अहा कैसा पवित्र नाम है। न्यायी वही जो न्याय करे अर्थात् न्यायाधीश! कहिए पंडितजी! न्याय करने का कार्य्य किसका है—ब्राह्मणों का या शूद्रों का? बस, क्या अब भी सन्देह है कि नाई—नहीं नहीं, न्यायी—ब्राह्मण होते रहे हैं। हाँ, इतना ज़रूर है कि ये अब सैकड़ों वर्षों से ब्राह्मणों के कर्म्म छोड़ बैठे हैं; पर इसका दोष उनपर नहीं, औरंगज़ेब पर है। उसी के डर से नाइयों ने ब्राह्मण-कर्म्म त्यागकर शूद्र-कर्म्म ग्रहण किये थे। आगरा-कान्फ़रेन्स के वक्तागण ही इस ऐतिहासिक घटना के प्रमाण हैं कि औरंगज़ेब के पूर्व्व सब नाई ब्राह्मण-कर्म्म करते और ब्राह्मणों के साथ रोटी-बेटी का व्यवहार रखते थे। प्रमाण? द्विजातियों ने इन्हें शूद्र क़रार देने के पूर्व्व ही सारे प्रमाण नष्ट कर डाले स्मृतियों से वे श्लोक ही निकाल डाले जिनमें नाइयों को ब्राह्मण क़रार दिया है। फिर भी ऐसे सड़े-घुने पुराने प्रमाणों की ज़रूरत? आगरा-कान्फ़रेन्स की स्पीचों से बढ़कर ताज़े प्रमाण कहाँ मिल सकते हैं? बस, आप सबको मानना ही पड़ेगा कि नाई ब्राह्मण हैं।

स्मृतियों में, सामाजिक इतिहास में, सैकड़ों वर्षों के व्यवहार में नाइयों के ब्राह्मण होने के प्रमाण न हों तो न सही। परवाह किसको? हम वेद-मंत्रों से साबित कर चुके हैं कि मुंडन आदि संस्कारों में ब्राह्मण ही क्षौर-कर्म्म करते थे और आजकल भी वे अपनी दाढ़ी मूँड़ा करते हैं। एक-दो नहीं, सैकड़ों द्विवेदी, त्रिवेदी, चतुर्वेदी, चटरजी, बनरजी, मुकरजी आदि प्रातः-संध्या को छोड़ दाढ़ी का मुंडन किया करते हैं। कई तो श्मश्रु-मुंडन भी कर डालते हैं। अब प्रमाणों की आवश्यकता? हाथ कंगन को आरसी की ज़रूरत? देखिए, हजामत करना और कराना नाइयों का कर्म्म माना गया है जैसा वेद पढ़ना और पढ़ाना, दान लेना और देना आदि ब्राह्मणों का है। अब वेद में भी लिखा है कि ब्राह्मण क्षौर-कर्म्म करते और कराते थे और आजकल के सहस्रों ब्राह्मण वैसा ही करते और कराते हैं; इसलिए नाई ब्राह्मण नहीं तो हैं क्या?

फिर, न्यायी कहलाने से तो उनके ब्राह्मणत्व में किसी तरह की कोर-कसर रह ही नहीं जाती।

बस साहिब, नाई ब्राह्मण हैं। इतना ही नहीं, ब्राह्मण भी नाई हैं। —एक नाई ब्राह्मण।

(८) एक महिला का ज्योतिष-ज्ञान।

विद्या किसी जाति विशेष या व्यक्ति विशेष की बपौती नहीं है। विद्या का उत्कर्ष सभी जगह देखा जाता है। अमेरिका की तो बात ही निराली है। वहाँ भौतिक विद्या में जो अनुसन्धान हुए हैं और हो रहे हैं वे आश्चर्य-चकित करनेवाले हैं। गणित-विद्या में भी वहाँ बहुत उन्नति हुई है। अभी, गत दिसम्बर के "अवर होम" पत्र में, कुमारी ऐनी केनन के अद्भुत ज्योतिष-ज्ञान का विवरण छपा है। इनकी अवस्था लगभग ५० वर्ष की है; परन्तु ये अभी कुमारी ही हैं। नक्षत्रों की दूरी बताने में ये इतनी निपुण हैं कि जिस नक्षत्र की दूरी बड़े बड़े गणितज्ञ घंटों हिसाब करके बता सकते हैं उसे ये, बात की बात में, बता देती हैं। इन्होंने तीन नये नक्षत्रों का अनुसन्धान किया है तथा एक पुस्तक लिखी है जिसमें ४०,००० चित्र हैं। आजकल ये नक्षत्रों का एक सूचीपत्र प्रकाशित कर रही हैं जिसमें अभीतक ७००,००० नक्षत्रों का वर्णन हो चुका है। इनका यह ज्योतिष-ज्ञान अमेरिका में अद्वितीय समझा जाता है।



चित्र-परिचय।

"शिवरात्रि का जागरण" शीर्षक चित्र प्रसिद्ध समाज-सुधारक महर्षि दयानन्द सरस्वती के जीवन की एक बहुत प्रधान घटना को प्रकट करता है। महर्षिजी का बचपन का नाम मूलशंकर था। शिवभक्त पिता ने अपने पुत्र मूलशंकर को अपनेही समान शिवभक्त बनाना चाहा। मूलशंकर ने भी शिवजी की आराधना आरम्भ की। शिवपुराण आदि धर्मग्रन्थों का अध्ययन किया तथा अनेक व्रत-उपवास रखना आरंभ किया। उन्होंने शिवरात्रि के दिन उपवास रखा तथा शिव-मंदिर में जागरण किया। अर्द्धरात्रि के समय उस मंदिर के सभी शिव-भक्त ऊँघने लगे। बालक मूलशंकर जागता रहा। उसने वहाँ जलते हुए दीपक के धुँधले प्रकाश में देखा कि कुछ चूहे शिवजी का नैवेद्य खा रहे हैं तथा शिवजी की मूर्ति पर अपने हाथ-पाँव साफ़ कर रहे हैं। मूलशंकर ने अपने चर्म-चक्षुओं से यह देखा कि उनके मानसिक भावों में युद्ध ठन गया! इस घटना ने शिवभक्त मूलशंकर के जीवन में घोर परिवर्तन कर दिया, मूर्ति-पूजा पर से उन की श्रद्धा उठ गई और आगे चलकर उन्होंने समाज तथा धर्म के क्षेत्रों में जो कुछ किया उसे यहाँ लिखना आवश्यक नहीं।

इस चित्र को प्रकाशित करने का उद्देश मूर्ति-पूजा की निरर्थकता अथवा आर्य-समाज की श्रेष्ठता सिद्ध करना नहीं, वरन स्वामी दयानंदजी के जीवन की एक घटना को चित्रित करना है। आशा है, शिव-भक्त सज्जन इस चित्र को अन्य दृष्टि से न देखेंगे।

राष्ट्रीय हिन्दी-मन्दिर का कार्य-विवरण।

प्रबन्ध—समिति।

साधारण अधिवेशन।

स्थान—राष्ट्रीय हिन्दी-मन्दिर का कार्यालय।

समय—२ बजे दिन, गुरुवार, पौष शुक्ल १४, १९७८ (१२ जनवरी, १९२२)

उपस्थित—(१) श्री० बाबू गोविन्ददासजी (सभापति),

(२) श्री० पं० माधवरावजी सप्रे,

(३) श्री० पं० हरप्रसादजी पाण्डेय,

(४) श्री० बाबू रामचन्द्रजी संघी,

(५) श्री० बाबू मोतीलालजी भुरा, और

(६) श्री० पं० नर्म्मदाप्रसादजी मिश्र।

(१) पिछली बैठक का कार्य-विवरण पढ़ा गया और स्वीकृत हुआ।

(२) मंत्री ने नवम्बर और दिसम्बर, १९२१, के कार्य के सम्बन्ध में अपनी रिपोर्ट पढ़कर सुनाई और उसके कुछ विचारणीय विषयों का जो निर्णय हुआ वह उसी रिपोर्ट में लिखा हुआ है।

(३) "सरल-नाटक-माला" के दूसरे संस्करण के प्रकाशन के सम्बन्ध में यह निश्चय हुआ कि यह कार्य अप्रेल, १९२२, के पश्चात् किया जाय। यह भी निश्चय हुआ कि "सरल-नाटक-माला" शारदा-पुस्तक-माला से पृथक् रहे।

(४) "बिलासपुर-वैभव" तथा इस प्रकार के अन्य गेज़ीटियरों के प्रकाशन का विषय उपस्थित किया गया और सर्व-सम्मति से स्थिर हुआ कि यद्यपि मध्य-प्रान्तीय साहित्य की उन्नति की दृष्टि से ऐसे ग्रन्थों को प्रकाशित करना एक उपयोगी और महत्त्वपूर्ण कार्य है, तथापि ऐसे ग्रन्थों के परिमित प्रचार की सम्भावना से, राष्ट्रीय-हिन्दी-मन्दिर की वर्तमान आर्थिक स्थिति में, ये ग्रन्थ अभी हाल में, इस संस्था की ओर से, प्रकाशित न किये जायँ। परन्तु यदि कोई महाशय इस कार्य के लिए धन देने की कृपा करें तो यह कार्य हाथ में लिया जाय।

आज की बैठक के अन्य विषय कल के लिए स्थगित किये गये, और यह निश्चय हुआ कि इनके विचार के लिए कल दो बजे, इसी स्थान में, बैठक हो।

स्थगित अधिवेशन।

स्थान—रा० हिन्दी-मन्दिर का कार्यालय।

समय—२ बजे दिन, शुक्रवार, पौष पूर्णिमा १९७८, (तारीख १३-१-२२)

उपस्थित—(१) श्री० बाबू गोविन्ददासजी (सभापति), (२) श्री० पं० माधवरावजी सप्रे, (३) श्री० पं० हरप्रसादजी पांडेय, (४) श्री० बाबू रामचन्द्रजी संघी, और (५) श्री० पं० नर्म्मदा-प्रसादजी मिश्र।

(१) प्रबन्ध-समिति की कल की बैठक का कार्य-विवरण पढ़ा गया और स्वीकृत हुआ।

(२) निश्चय हुआ कि प्रबन्ध-समिति और स्थायी समिति के अधिवेशनों का कार्य-विवरण, सभापति के हस्ताक्षर लेकर, उन अधिवेशनों के आगामी

मास में प्रकाशित होनेवाले "श्रीशारदा" के अंक में छापा जाया करे, और इसके लिए यदि उस अंक में कुछ पृष्ठ बढ़ाना आवश्यक जान पड़े, तो उतने पृष्ठ बढ़ाये जावें।

(३) सर्व-सम्मति से स्थिर हुआ कि सामयिक विषयों की छोटी छोटी पुस्तिकाएँ लिखाने और प्रकाशित करने का काम शीघ्रता-पूर्वक किया जा सके, इसके लिए 'शारदा-पुस्तक माला' के सम्पादक को अधिकार दिया जावे कि वे, पुस्तक प्रकाशन-समिति के कार्य के अतिरिक्त, इस कार्य को भी करें और आवश्यकता पड़ने पर पं० मनोहरपंतजी गोलवलकर तथा बाबू रामचन्द्रजी संघी की सहायता लिया करें।

(४) स्थायी समिति की ३० अगस्त, १९२१ की बैठक में जो कमेटियाँ संगठित की गई थीं उन्होंने चूँकि अपना कार्य बिल्कुल नहीं किया और चूँकि उन समितियों को सौंपा गया काम किया जाना आवश्यक है; इसलिए सर्व-सम्मति से निश्चय हुआ कि उस कार्य को पूर्ण करने और उसकी रिपोर्ट इसी २१ जनवरी के पूर्व मंत्री के पास भेजने के लिए बाबू रामचन्द्रजी संघी तथा पं० सूरजप्रसादजी अवस्थी से प्रार्थना की जाय।

यह भी निश्चय हुआ कि यदि अवस्थीजी यह कार्य करना स्वीकार न करें तो मंत्रीजी को अधिकार दिया जावे कि वे उनके बदले, स्थायी समिति के अन्य किसी सदस्य को नियुक्त कर लें।

(५) "औद्योगिकी" का मूल्य निश्चित करने का विषय उपस्थित किया गया और सर्व-सम्मति से स्थिर हुआ कि सादी प्रति का मूल्य ॥।) और पक्की जिल्दवाली प्रति का मूल्य १) रखा जावे।

यह भी निश्चय हुआ कि इसकी लागत का लेखा, सभापतिजी को दिखाया जाकर, पुस्तक में छापा जावे तथा भविष्य में प्रकाशित होनेवाली शारदा पुस्तक-माला की प्रत्येक पुस्तक में इस प्रकार का लेखा छापा जाया करे।

(६) सदस्य होने के इच्छुक १८ सज्जनों के आवेदन-पत्र उपस्थित किये गये और निश्चय हुआ कि ये पत्र नियमानुसार स्थायी समिति की बैठक में रखे जावें।

(७) पुस्तक-प्रकाशन-समिति की नयी नियमावली स्वीकृति के लिए उपस्थित की गई और निश्चय हुआ कि यह विषय आगामी अधिवेशन में रखा जावे और उस अधिवेशन की सूचना के साथ ही इस नियमावली की एक एक प्रति प्रबन्ध-समिति के प्रत्येक सदस्य के पास भेजी जावे।

(८) शारदा-पुस्तक माला के लेखकों से जो अधिकार-पत्र लिखाया जाता है और जो प्रबन्ध-समिति की १८ नवम्बर, १९२१ की, बैठक में पुनर्विचार के लिए उपस्थित किया गया था आज पुनः उपस्थित किया गया और सर्व-सम्मति से वह नीचे लिखे रूप में स्वीकृत हुआ—

अधिकार-पत्र।

मैं (लेखक का नाम)——————
श्रीयुत (पिता का नाम)——————का पुत्र
(स्थान का नाम)—————— का निवासी हूँ। जो कि मैंने

अपनी रची (या अनुवाद की) हुई (पुस्तक का नाम) नामक पुस्तक जबलपुरस्थ राष्ट्रीय हिन्दी-मन्दिर की शारदा-पुस्तक-माला को इसके प्रकाशनाधिकार समेत बेच दी और उसके लिखने (या अनुवाद करने) के परिश्रम के पलटे पूर्वोक्त कार्यालय से सम्पादक के द्वारा (रुपयों की संख्या शब्दों और अंकों में) —— रुपये पाये। इसलिये मैं यह प्रतिज्ञा करता हूँ कि मैं उस पुस्तक का एक भी संस्करण न छपाऊँगा और न किसी दूसरी भाषा में उसका अनुवाद प्रकाशित करूँगा और न कराऊँगा। मैं यह भी वचन देता हूँ कि मैं उस पुस्तक की भाषा और विषय का संक्षेप करके किसी दूसरे रूप में उसे प्रकाशित न करूँगा और न कराऊँगा और न इस अधिकार-पत्र के आधार पर मुझे किसी प्रकार उस पुस्तक की रचना का दुरुपयोग करने का अधिकार ही है। पूर्वोक्त संस्था के सम्पादक को यथासम्भव विषय और भावों की रक्षा करते हुए मेरी पुस्तक की भाषा और विषय में संशोधन और परिवर्तन करने का पूर्ण अधिकार रहेगा। मैं शारदा पुस्तक-माला को यह विश्वास दिलाता हूँ कि मेरी लिखी हुई पूर्वोक्त पुस्तक में कोई विषय ऐसा नहीं लिखा गया है जिससे किसी दूसरी पुस्तक के प्रकाशन-स्वत्व का अपहरण होता हो और यदि उसमें ऐसा दोष कभी निकलेगा तो उसका उत्तरदायी मैं रहूँगा, प्रकाशक नहीं। पूर्वोक्त संस्था आवश्यकतानुसार मेरी लिखी पुस्तक के चाहे जितने संस्करण निकाले, उसमें मुझे कोई आपत्ति न होगी। यदि सम्पादक चाहेंगे तो मैं पुस्तक के प्रथम संस्करण का कोई एक प्रूफ़ बिना किसी पुरस्कार के, शुद्ध कर दूँगा। ऊपर लिखा अधिकार-पत्र मैंने अपनी चेतनावस्था में इसलिए लिख दिया है कि वह प्रमाण रहे और समय पर काम आवे। इति ता:—
मास —ई० —।

———————— लेखक का हस्ताक्षर
———————— (पूरा पता)
————————

साक्षी—

हमारे सामने लेखक ने हस्ताक्षर किया।

१ ———————— (नाम और पूरा पता)

२ ———————— (")

....

सूचना—इस अधिकार-पत्र की नक़ल आठ आने के ब्रिटिश-इंडिया के स्टाम्प पर की जावे।

(९) पं० सीताराम तिवारी ने अपने १५-१०-२१ के पत्र में चार दिनों की जो रियायती छुट्टी माँगी थी उसके सम्बन्ध में यह निश्चय हुआ कि छुट्टी के नियम २ के अनुसार उन्हें रियायती छुट्टी पाने का अधिकार न होने के कारण उनकी यह छुट्टी बिना वेतन की समझी जावे।

(१०) पं० सीताराम तिवारी को प्रबन्धक के पद पर स्थायी रूप से नियुक्त करने का विषय उपस्थित किया गया; परन्तु यह विषय दूसरी बैठक के लिए स्थगित किया गया।

(११) पुस्तकालय-समिति के संयोजक का ११-१-२२ का पत्र भी दूसरी बैठक के लिए स्थगित किया गया।

(१२) पुस्तकालय-समिति के संयोजक का ११-१-२२ का पत्र जिसमें उन्होंने पुस्तकालय के कार्य के लिए १०) और ५) मासिक वेतन पर दो लड़कों को नियुक्त करने का प्रस्ताव किया था उपस्थित किया गया और सर्व सम्मति से उनका यह प्रस्ताव स्वीकृत हुआ।

(१३) दस्सू चपरासी का १२-१-२२ का लिखा प्रार्थना-पत्र जिसमें गरम पोशाक के लिए तथा पिछले प्लेग और वार्षिकोत्सव के समय विशेष काम करने के लिए पुरस्कार माँगा गया है उपस्थित किया गया। मंत्री की सिफ़ारिश पर दस्सू को १५) पुरस्कार दिया जाना सर्व-सम्मति से स्थिर हुआ।

(१४) निश्चय हुआ कि प्रबन्ध-समिति का आगामी अधिवेशन इसी मास में स्थायी समिति के अधिवेशन के १–२ दिन बाद किया जाय।

सभापति को धन्यवाद दे सभा विसर्जित हुई।

स्थायी सभा।

साधारण अधिवेशन।

स्थान—राष्ट्रीय हिन्दी-मन्दिर का कार्यालय।

समय—दो बजे अपराह्ण, माघ कृष्ण १०, सम्वत् १९७८ (२२ जनवरी, १९२२)

उपस्थित (१) पं० बालमुकुन्दजी त्रिपाठी, (२) पं० सूरजप्रसादजी अवस्थी, (३) बाबू रामचन्द्रजी संघी, (४) बाबू कस्तूरचन्दजी, (५) बाबू मोतीलालजी भुरा, (६) बाबू तुलसीदासजी, (७) बाबू प्रेमचन्द्रजी सिंघई, (८) पं० शालग्रामजी द्विवेदी, (९) बाबू कुन्दनलालजी, (१०) पं० हरप्रसादजी पाण्डेय, (११) पं० गोपालरावजी तामसकर, (१२) पं० सदाशिवरावजी कासखेड़ीकर, (१३) बाबू दरबारीलालजी, और (१४) पं० नर्मदाप्रसादजी मिश्र।

१. मंत्री के प्रस्ताव और बाबू मोतीलालजी भुरा के अनुमोदन पर पं० बालमुकुन्दजी त्रिपाठी ने सभापति का आसन ग्रहण किया।

२. मंत्री ने स्थायी समिति की पिछली बैठक का कार्य-विवरण पढ़कर सुनाया और वह स्वीकृत हुआ।

३. मंत्री ने प्रबन्ध समिति की पिछली ७ बैठकों का, अर्थात् २७-८-२१, १-९-२१, ६-९-२१, १५-१०-२१, १८-११-२१, १९-११-२१, और १२-१-२२ की बैठकों का कार्य-विवरण उपस्थित किया और वह स्वीकृत हुआ।

४. मंत्री ने अक्टूबर, नवम्बर और दिसम्बर १९२१, के कार्य के सम्बन्ध में अपनी रिपोर्ट पढ़कर सुनाई।

५. गत तीन मास के आय-व्यय का लेखा उपस्थित किया गया और इसके सम्बन्ध में बाबू कस्तूरचन्दजी ने यह प्रस्ताव उपस्थित किया—"यह समिति प्रस्ताव करती है कि आय-व्यय का जो लेखा पेश किया गया है उसपर इसी समय विचार नहीं हो सकता है; अतः इस समिति की बैठक उक्त विषय पर विचार करने के लिए आगामी रविवार को २ बजे दिन के लिए स्थगित की जावे।"

इस प्रस्ताव का अनुमोदन पं० सूरजप्रसादजी अवस्थी ने किया और यह बहुमत से स्वीकृत हुआ।

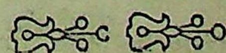
६. मंत्री ने प्रबन्ध-समिति द्वारा भेजे गये निम्न-लिखित ६० सज्जनों के आवेदन-पत्र उपस्थित किये और वे सर्व-सम्मति से स्वीकृत हुए।

स्थानीय-(१) श्री० सम्पूरणदासजी, (२) श्री० छगनलालजी नानावती, (३) श्री० खुशालचन्दजी संगी, (४) श्री० मगनलालजी, (५) पं० सुखदेवप्रसादजी चौबे।

बाहरी-(६) बाबू घनश्यामसिंहजी गुप्त दुर्ग, (७) पं. गोविन्दप्रसादजी दुबे, होशंगाबाद, (८) श्री० हनुमन्तरावजी नार्लेवार, कटनी, (९) श्री० गोकुलचन्दजी सिंघई, दमोह, (१०) पं० प्रेमशंकरजी दवे, दमोह, (११) सेठ नाथूरामजी लालचन्दजी, दमोह, (१२) श्री० रामकृष्णरावजी श्रीखण्डे, सागर, (१३) श्री० जानकीप्रसाद गोपीकृष्णशर्मा, सागर, (१४) पं० प्रेमशंकरजी ढगट, दमोह, (१५) श्री० कुन्नीलालजी वर्मा, दमोह, (१६) सेठ नेमीचंदजी, दमोह, (१७) पं० हरिशंकरजी ढगट, दमोह, (१८) श्री० गोविन्दशंकरजी मेहता, दमोह. (१९) पं० चुन्नीलालजी दुबे, दमोह, (२०) श्री० डालचन्दजी मुरा, सिवनी नगर, (२१) श्री० इमामुद्दीनजी, सिवनी, (२२) श्री० चिमनलालजी, सिवनी, (२३) श्री० दुर्गाशंकर कृपाशंकरजी मेहता, सिवनी, (२४) श्री० प्रभुदयालजी, सिवनी, (२५) श्री० डालचन्दजी, सिवनी, (२६) श्री० नारायणरावजी भट्ट, भण्डारा, (२७) श्री० गुलाबचन्दजी बाकलीवाल, छिंदवाड़ा, (२८) श्री० लालचन्दजी पाटणी, छिंदवाड़ा, (२९) पं० रामकृष्णजी मिश्र, छिंदवाड़ा, (३०) श्री० चेतरामजी साव, छिंदवाड़ा, (३१) श्री० गुलाबचन्दजी काबरा, छिंदवाड़ा, (३२) सेठ शिवलालजी शर्मा, मोहगाँव [छिंदवाड़ा], (३३) पं० लक्ष्मणप्रसादजी तिवारी, सागर, (३४) पं० मोहनलालजी शुक्ल, छिंदवाड़ा, (३५) पं० रघुवरदयालजी अग्निहोत्री, छिंदवाड़ा, (३६) श्री० गंगाधररावजी खेर, सागर, (३७) श्री० मोतीसिंहजी भवानीसिंहजी, नागपुर, (३८) श्री० मथुराप्रसादजी राठी, नागपुर, (३९) लाला जयनारायणजी, नागपुर, (४०) पं० शिवनारायणजी बाजपेई, नागपुर, [४१] श्री० रामनारायणजी, भंडारा, (४२) श्री. आर० चौथमलशर्म्मा, बारासिवनी, (४३) पं० बैजनाथप्रसादजी शुक्ल, बालाघाट, (४४) श्री० भार्गव वेंकटेशजी सुभेदार, सागर, (४५) श्री० श्यामाचरणरायजी, छिंदवाड़ा, (४६) पं० श्यामाचरणजी दुबे, नरसिंहपुर, (४७) पं० बालाप्रसादजी पचौरी, नरसिंहपुर, (४८) श्री० शिवलाल गणपतिजी सहारिया, नागपुर, (४९) श्री० शिवचरणलालजी वर्मा, भण्डारा, (५०) श्री० विश्वनाथ दामोदरजी सालपेकर, छिंदवाड़ा, [५१] श्री० देवीचरणजी निर्गुण, बालाघाट, (५२) श्री० सत्यानन्दजी जोशी, प्रयाग, (५३) श्रीमती प्रेमलता देवी, प्रयाग, [५४] श्री० रामप्रसादजी, प्रयाग, (५५) श्री० मनमोहनदासजी, प्रयाग, (५६) श्री० द्वारकाप्रसादजी प्रयाग, [५७] श्री० शिवचरनजी कपूर, प्रयाग, [५८] श्री० रामचन्द्रजी कपूर, प्रयाग, (५९ श्री० रायकृष्णदासजी, काशी, [६०] श्री० दशरथलालजी श्रीवास्तव, देवरी, [सागर]

(७) प्रबन्ध-समिति के प्रस्ताव पर सर्व-सम्मति से यह स्थिर हुआ कि भण्डारा-निवासी श्रीमन्त गणपतिरावजी पाण्डेय ने राष्ट्रीय हिन्दी-मंदिर को ५,०००) का दान देने का जो वचन दिया है इसके लिए उन्हें हृदय से धन्यवाद दिया जावे तथा वे राष्ट्रीय हिन्दी-मंदिर के संरक्षक चुने जावें।

सभापतिजी को धन्यवाद दे सभा विसर्जित हुई।



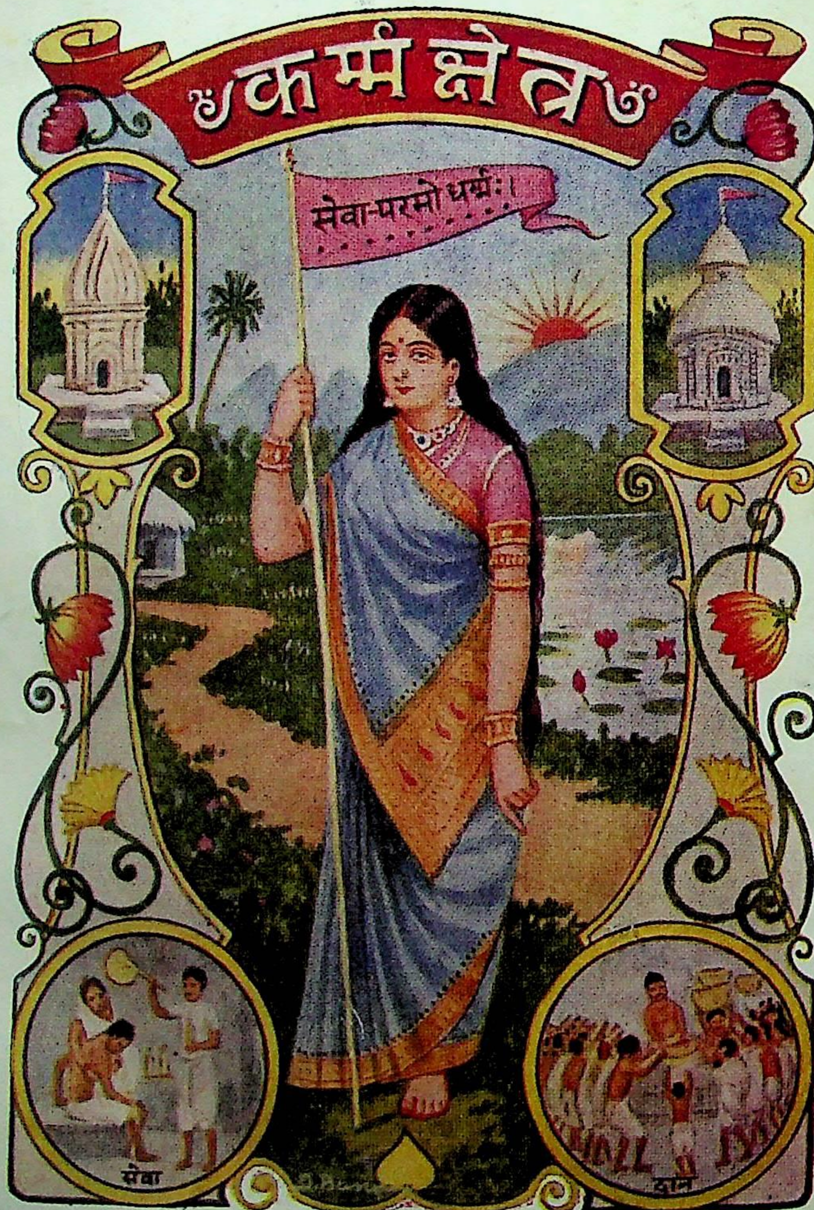
नियमावली में परिवर्तन।

राष्ट्रीय हिन्दी-मन्दिर का द्वितीय वार्षिकोत्सव इस वर्ष सम्भवतः अप्रेल मास में होगा। इस उत्सव में, अन्य कार्यों के अतिरिक्त, वर्तमान नियमावली में परिवर्तन या संशोधन का विषय भी रखा जायगा। यह कार्य उस समय किया जा सके इसके लिए, नियम १०३ * के अनुसार, आवश्यक है कि नियमों के परिवर्तन, परिवर्द्धन आदि की सूचना पहले प्रबन्ध-समिति के पास आ जावे; इसलिए राष्ट्रीय हिन्दी-मन्दिर के समस्त सदस्यों तथा अन्य हितैषी सज्जनों से निवेदन है कि वे उक्त सूचना "मंत्री, राष्ट्रीय हिन्दी-मन्दिर, जबलपुर" के पते पर ५ मार्च, १९२२ के पूर्व भेजने की कृपा करें।

निवेदक—मंत्री, राष्ट्रीय हिन्दी-मन्दिर।

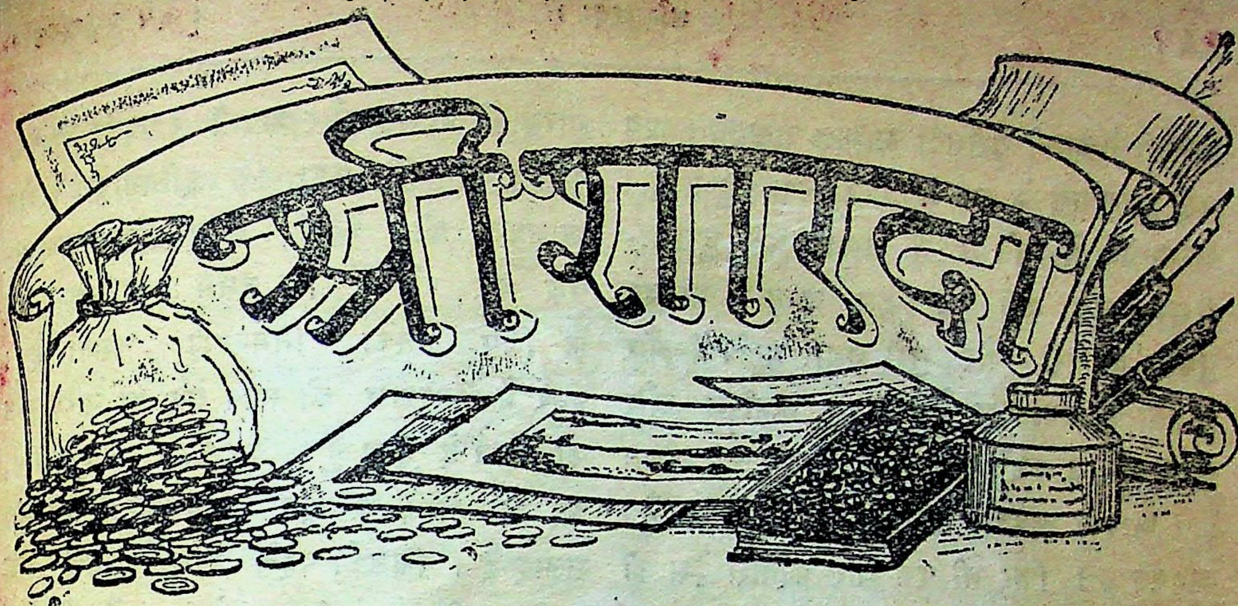
*नियम १०३—स्थायी सभा को अधिकार होगा कि वह आवश्यकता पड़ने पर, प्रबन्ध-समिति और बोर्ड ऑव ट्रस्टीज़ के सहमत प्रस्ताव पर, किसी नियम में परिवर्तन या परिवर्द्धन करे अथवा नये नियम बनावें। यह कार्य स्थायी सभा के वार्षिक अधिवेशन में किया जायगा।

श्रीशारदा



कर्म है अपना जीवन-प्राण,
कर्ममें बसते हैं भगवान।
कर्म है मातृ-भूमिका मान,
कर्मपर, आवो, हों बलिदान।

बर्म्मन प्रेस, कलकत्ता।



साहित्य-तथा-राजनीति-संबंधी-विविध-विषय-विभूषित सचित्र मासिक पत्रिका।

वर्ष २, खण्ड २] माघ, शुक्ल प्रतिपदा, सं १९७८ * फ़र्वरी, १९२२ ई० [संख्या ५, पूर्ण संख्या २३

मेरे प्रेम !

(लेखक—पं० श्रीरत्न शुक्ल)

तुम्हारी है यह कैसी बान ?
चीज किसीकी बिना कहे ही लेकर किया प्रयाण।
चतुराई की कुछ सीमा है ! हमें नहीं है ज्ञान—
चित्त हमारा तुम ले भागे, मैं तब से हैरान॥
चोरी कहूँ ? नहीं, यह होगा करना तव अपमान।
डाकेजनी कहूँ यदि इसको, तो है ग़लत गुमान॥
प्रेम-भाव यह हो सकता है, है यह स्पष्ट प्रमाण।
मेरी चीज़ समझ ली अपनी मुझको अपना जान॥
कहना व्यर्थ, वस्तु अपनी का रहता सबको ध्यान।
पर है इतनी विनय —इसे तुम रखना प्राण-समान॥

महाकवि माघ की राजनीति।

(लेखक—पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी)

बात द्वापरयुग के अन्त की है, आज की नहीं। एक दिन द्वारकापुरी में श्रीकृष्ण भगवान् अपने घर में आनन्द से बैठे थे कि अकस्मात् नारद मुनि आ गये। पूजा-अर्चा और उपचार की बातें हो चुकने पर नारद ने कहा—

मैं आपसे कुछ निवेदन करने आया हूँ। पर निवेदन करने के पहले मैं आपको कुछ पुरानी याद दिलाता हूँ। प्रबल पराक्रमी दानव हिरण्यकशिपु की याद है ? आपही ने नृसिंह बनकर उसका पेट फाड़ा था। उसके बाद वही दानव, त्रेता में, रावण हुआ। तब रामावतार लेकर उसे भी

आपही ने उसकी नृशंसता का फल चखाया। अब वही शिशुपाल के रूप में फिर पैदा हुआ है। जन्मान्तर हो जाने से भी उसकी वह दुराचारिणी प्रकृति नहीं गई। इस जन्म में भी वह पूर्ववत् ही नरों और सुरों तथा ऋषियों और मुनियों को सता रहा है। अपने उत्पीड़न और अत्याचार से उसने सभी के नाकों दम कर रक्खा है। आपका अवतार तो लोकरक्षा ही के लिए है। अतएव उसे फिर भी एक बार कीनाश-देश की सैर कराकर पृथ्वी का बोझ हलका कर दीजिए। यह गुरुतर कार्य आपही के किये हो सकता है, और किसी के नहीं।

यह सुनकर श्रीकृष्ण ने बिना किसी सोच-विचार के कहा—"ॐ" (जो आज्ञा)

श्रीकृष्णजी की स्वीकृति सुनकर नारद प्रसन्न हो गये और तत्काल ही जहाँ से आये थे वहाँ उड़ गये। पर गुब्बारे, हवाई जहाज़, एयरशिप या एरोप्लेन पर सवार होकर वे नहीं उड़े; उनका वायुयान उनकी इच्छा ही थी। बस, जहाँ ब्रह्मलोक को लौट जाने की इच्छा उनके हृदय में हुई तहाँ वे बात कहते उसलोक में पहुँच गये।

शिशुपाल था चेदिदेश का राजा। ललितपुर से थोड़ी दूरी पर कुछ कुछ उजड़ा हुआ एक प्राचीन नगर है। वह चन्देरी कहाता है। लोगों का खयाल है कि शिशुपाल की राजधानी वहीं थी। तो उस समय कृष्ण तो थे द्वारका में और शिशुपाल था चन्देरी में।

नारद को बिदा करके श्रीकृष्णजी अपने कमरे में आये। वहाँ उन्होंने बड़े भाई बलराम और परम मित्र उद्धव को बुला भेजा। उनसे नारद की प्रार्थना और अपनी स्वीकृति की कथा कही। यह भी कहा कि हस्तिनापुर अर्थात् आजकल की देहली, में युधिष्ठिर राजसूय-यज्ञ कर रहे हैं। उसमें शामिल होने के लिए उनका निमन्त्रण आया है। इधर मैं शिशुपाल को सज़ा देने का नारद मुनि को वचन दे चुका हूँ। यह काम भी ज़रूरी है, वह काम भी। बताइए, आप लोगों की क्या सलाह है। किसको पहले और किसको पीछे करना चाहिए। मेरी राय तो यह है कि बिना हमारी सहायता के भी युधिष्ठिर अपना यज्ञ निर्विघ्न समाप्त कर सकते हैं। उनके बलवान् भाइयों ने इस भूमण्डल को जीतकर सभी राजाओं को उनका वशवर्ती कर दिया है। हम लोग न जायँगे तो क्या उनका यज्ञ रुक थोड़े ही जायगा। उधर शिशुपाल ने बहुत सिर उठाया है। उसका किया हुआ उत्पात बढ़ता ही जाता है। उसका बल भी बढ़ रहा है, और बढ़ते हुए शत्रु की उपेक्षा करना मना है। वर्द्धमान शत्रु और रोग दोनों ही घातक होते हैं। इसीसे नीतिज्ञों की सम्मति है कि अपना भला चाहनेवाले को उन्हें बढ़ने न देना चाहिए। बढ़ने के पहले ही उन्हें निर्मूल कर देना चाहिए।

मेरे इस इतने ही कथन से आपको मालूम होगया होगा कि मेरी क्या राय है। अब बताइए, आपकी क्या है। मैं अपने मत को महत्त्व नहीं देता; क्योंकि किसी सन्दिग्ध काम के विषय में अकेले एक मनुष्य की सम्मति माननीय नहीं हो सकती, फिर चाहे वह तत्त्वदर्शी ही क्यों न हो। बात यह है कि एक से भूल हो जाने का डर रहता है, अनेक से नहीं।

श्रीकृष्ण का यह कथन सुनकर बलराम ने अपनी राय की पुष्टि में इस प्रकार वक्तृता आरम्भ की। वे बोले—

भाई, वाह! आपने जो दीनता-रहित संक्षिप्त कथन किया वह सर्वथा आपके योग्य है। आप मितभाषी हैं। इसीसे बढ़ाकर बात नहीं कही। कहा आपने थोड़ा, पर उस थोड़े ही में सिद्धान्त की बात कह दी। इसमें सन्देह नहीं कि बढ़ते हुए शत्रु की जड़ काट ही देना चाहिए। भलाई इसीमें है। आपकी सम्मति नितान्त निर्दोष है। आपके प्रश्न का उत्तर बस यही हो सकता है कि आपकी सम्मति के अनुसार शीघ्रही कारवाई शुरू कर दी जाय। किन्तु, परन्तु, करने की आवश्यकता नहीं। क्योंकि आपने बात ही ऐसी कहदी है। वह है तो स्वल्प, पर काटी नहीं जा सकती। कोई चाहे कितना नामी वक्ता क्यों न हो और वह कितना ही वाग्विस्तार क्यों न करे; मजाल नहीं कि वह आपकी सिद्धान्तमयी संक्षिप्त वाणी का खण्डन कर सके। वह सर्वथा अनुल्लङ्घनीय है। आप लकड़ियों के ढेर के ढेर जला दीजिए। उनकी लपट क्या अपने तेज से सूर्य्य से बढ़ जा सकती है? क्या वह उसका उल्लंघन कर सकती है? यह कभी सम्भव नहीं। भाई साहब, मैं आपसे पूर्णतया सहमत हूँ। आपके मत की पुष्टि में मैं जो ज़रा विस्तार-पूर्वक कुछ निवेदन करना चाहता हूँ उसे आप अपनी सूत्र-सदृश स्वल्प वाणी का भाष्य समझें। आपही के सिद्धान्त का समर्थन मैं कुछ विस्तार के साथ करना चाहता हूँ। अपनी तरफ़ से मैं कोई नई बात न कहूँगा।

बुद्धिमानों की बात काट देना सहज नहीं। इसका विरोध करनेवाला चाहे बृहस्पति ही क्यों न हो, उसे भी चुप्पी साधनी पड़ती है। उनकी बात ही कुछ ऐसी सारवान् होती है कि वाचाल भी विरोधियों के मुख से उसके प्रतिकूल एक शब्द तक नहीं निकलता; पर अनुकूलवादी जड़ों की भी जिह्वा, उसे सुनकर, प्रगल्भता दिखाने लगती है। भाई, मेरा भी यही हाल है; मैं भी तो आपकी सम्मति का पोषक हूँ।

अपना उदय और शत्रु का नाश, यही दो बातें राजनीति की भित्ति हैं। इन्हींको ध्यान में रखकर जो कुछ कहना हो, कहना चाहिए। ऐश्वर्य्य चाहे जितना अधिक हो जाय, उतने ही से संतोष न कर लेना चाहिए; और भी अधिक ऐश्वर्य-प्राप्ति की इच्छा करनी चाहिए। महासागर क्या पूर्ण नहीं? क्या उसमें ऐश्वर्य्य की कुछ कमी है? फिर भी वह पूर्णचंद्रोदय की इच्छा सदा ही किया करता है। यही चाहिए भी। जो थोड़ी ही सम्पदा से अपने को कृतार्थ समझ लेता है उसकी सम्पत्ति-वृद्धि विधाता भी नहीं करता। वह सोचता है कि इसे अधिक सम्पत्ति की तो इच्छा ही नहीं। फिर इसे और देने से क्या लाभ?

मानी मनुष्य शत्रु का नाश करके ही चैन लेते हैं। बिना उसके विनाश के उनका उदय भी नहीं हो सकता। देखिए न, अन्धकार का नाश करने के उपरान्त ही सूर्य्य का उदय होता है। यही हाल जल का भी है। धूलि को कीच बनाकर ही वह ठहरता है, क्योंकि विपक्षी का विनाश साधन कर लेने ही पर प्रतिष्ठा मिलती है। अन्यथा उसे आप दुर्लभ ही समझिए। एक भी शत्रु जबतक बचा हुआ है तबतक सुख कहाँ?

देवताओं के शत्रु राहु को देखिए। देवता तमाशा देखा करते हैं; वह चन्द्रमा की दुर्दशा किया करता है। है वह अकेला ही, पर फिर भी किसी से कुछ करते-धरते नहीं बनता।

उपकार करनेवाले शत्रु से भी संधि कर लेने में हर्ज नहीं। पर अपकार करनेवाले मित्र से भी संधि करने में हर्ज है। शिशुपाल हम लोगों का रिश्तेदार, अतएव एक प्रकार से मित्र, है। पर वह सदाही हमारे अपकार की चेष्टा में रत रहता है। अतएव उसके साथ सन्धि करना मुनासिब नहीं। जिस समय रुक्मिणी का हरण किया था उसी समय से शिशुपाल से शत्रुता आरम्भ हुई थी। जब आपने भौमासुर पर चढ़ाई की तब तो मौक़ा पाकर उसने हमारी द्वारकापुरी पर चढ़ाई तक कर दी। उसकी दुष्टता तो देखिए कि उसने कुछ यादवों की स्त्रियों का हरण भी किया—अथवा उसके ऐसे कुकर्मों के उल्लेख से क्या लाभ? उनकी तो चर्चा से भी पाप होता है। इन बातों से सिद्ध है कि वह हम लोगों का पूरा वैरी है। वह विरोधजनक बातें ही नहीं कहता; वह तो विरोध और शत्रुता को सूचक काम भी करते नहीं हिचकता। फिर उसकी शत्रुता में क्या सन्देह?

शिशुपाल बड़ा क्रोधी है। वह हमपर क्रुद्ध होकर ही हमारे साथ वैर-भाव कर रहा है। ऐसे वैरी के साथ उदासीनता का व्यवहार करना—चुपचाप बैठे रहना—सूखी घास के ढेर में आग लगाकर, उसीके पास, हवा के सामने, सो जाना है। ऐसा अविवेकी मनुष्य जलने से नहीं बच सकता। वैसेही क्रोध से जलते हुए शत्रु से बचाव का उपाय न करके उसकी उपेक्षा करनेवाला भी मारे जाने से नहीं बचता।

जो क्षमाशील है वह अपने विरोधी को एक दफ़े क्षमा कर देगा; दो दफ़े क्षमा कर देगा। क्या वह बार बार क्षमा ही करता जायगा? एक नहीं, अनेक अपराध करनेवालों को क्षमा कैसी? पुरुष का भूषण क्षमा अवश्य है, परन्तु अपमान हो तो वह भूषण नहीं; तब तो वही दूषण है। वैसे अवसर में तो पुरुष का भूषण पराक्रम ही है। मनुष्य की बात जाने दीजिए, ज़मीन पर पड़ी हुई ख़ाक भी तो अपना अपमान नहीं सह सकती। यदि कोई उसे लात मारता है तो उड़कर वह उसके सर पर चढ़ जाती है। अपमान होना देखकर भी चुप बैठनेवाले आदमी से तो यह ख़ाक ही भली। शत्रु तो अपनी अवज्ञा करे और नाना प्रकार के दुःख दे, पर उसका प्रतिपक्षी उस दुःखाग्नि से जलता हुआ भी जीता ही रहे। लानत है ऐसे जीने को। ऐसे आदमी का जन्म ही व्यर्थ है। वह अपनी उत्पादयित्री जननी के क्लेश का कारण मात्र है।

पर्वत में गम्भीरता तो नहीं, पर उँचाई अवश्य है। उधर समुद्र में उँचाई तो नहीं, पर गम्भीरता अवश्य है। अपने इस एकही एक गुण के कारण वे अनुल्लंघनीय हैं—कोई उनका उल्लंघन नहीं कर सकता। वीरों और मनस्वी पुरुषों में तो ये दोनों ही गुण होते हैं—उच्चता भी और गम्भीरता भी। फिर उनका उल्लंघन क्यों होगा? होगा तभी जब वे कोमलता का व्यवहार करेंगे—तब वे अपना पराक्रम न प्रकट करेंगे। इसका सबूत लीजिए। राहु की दृष्टि में सूर्य्य और चंद्रमा

दोनों ही एक से अपराधी हैं। पर सूर्य्य का ग्रास तो वह कभी भूले ही भटके करता है; चंद्रमा के तो अकसर ही पीछे पड़ा रहता है। इसका एकमात्र कारण है चन्द्रमा की कोमलता—

टेढ़ जानि शंका सब काहू

बात यह। याद रहे, दुर्बलों का कहीं गुज़ारा नहीं। उन्हें आप तिनके के सदृश समझिए। वायु के ज़रा से झोंके से भी बेचारे तृण हिल उठते हैं और झुक जाते हैं। इसी तरह कोमल स्वभाव के और निर्बल मनुष्य भी अल्प-बली भी शत्रु के सामने नहीं ठहर सकते। उन्हें भी झुक जाना और पराजय-स्वीकार करना पड़ता है।

भाई साहब, मानी मनुष्य को कीर्त्ति प्राणों से भी अधिक प्यारी होती है। पर कीर्त्ति स्वर्ग तक फैल कैसे सकती है? उसे वहाँ तक चढ़ने के लिए कुछ आधार भी तो चाहिए। इस काम के लिए शत्रु का सिर ही बढ़िया आधार—बढ़िया सीढ़ी—का काम दे सकता है। उसीपर पैर रखने से कीर्त्ति को स्वर्ग तक पहुँचा देने का साधन प्राप्त हो जाता है।

आप विश्वास कीजिए, संसार में कोमलता काम नहीं आती। चन्द्रमा ने मृग (हिरन) को उदारतापूर्वक अपनी गोदी में बिठा रक्खा है। इससे लोग उसे मृगलाञ्छन (हिरन-कलंकी) कहते हैं। पर जो शेर मृगों के यूथों को निरष्ठुरतापूर्वक मार गिराता है उसे वे मृगाधिप अर्थात् हिरनों के राजा की पदवी प्रदान करते हैं। ज़रा इस दिल्लगी को तो देखिए। अङ्क में बिठाने से तो कलंक, पर मार डालने से राजत्व की प्राप्ति!

सामोपायों से—समझाने-बुझाने और ऊँच-नीच सुझाने से—शिशुपाल की अक़्ल ठिकाने आने की नहीं। उससे उसका विरोध-भाव और दुष्टाचार बढ़ेगा, घटेगा नहीं। तपे हुए घी में जल-बिन्दु टपकाने से वह ठंढा नहीं होता, उलटा और जल उठता है। आप अपनी क्षमा को अब रहने दीजिए। उसे छोड़ने से ही काम बनेगा आपकी क्षमा महासागरों की वेला (तटभूमि) के सदृश है। वेला यदि अवरोध न उत्पन्न करे तो महासागर समस्त लोगों को डुबा दे। तद्वत् आपकी क्षमा यदि रुकावट न पैदा करे तो यादव लोग लोक-समुदाय का संहार कर डालें। तुच्छ शिशुपाल का सर्वनाश कर डालना उनके लिए कौन बड़ी बात है।

अतएव भाई साहब, इन्द्रप्रस्थ के लिए प्रस्थान करने का मौक़ा नहीं। वहाँ मत जाइए। शिशुपाल पर चढ़ाई कर दीजिए। सेना सजाइए। मैं चाहता हूँ कि हमारे हाथियों की घटाएँ चेदि-देश के वनोपवन उजाड़कर उनके वृक्षों को बौने बना डालें—उन्हें तोड़-ताड़ कर ठूँठ कर दें।

संसार स्वार्थपर है। सभी अपने अपने मतलब के यार हैं। सो, भाई, युधिष्ठिर तो राजसूय यज्ञ करें; सुरेश्वर स्वर्ग की रक्षा में तत्परता दिखावें; सहस्रकिरण सूर्य्य खूब तपें; और हम लोग अपने शत्रुओं के संहार-कार्य्य में लगें। अब देर न कीजिए। शत्रुओं के शिरश्छेद से निर्गत रुधिर से अभिषिक्त हम लोगों के चमचमाते हुए शस्त्रास्त्रों पर सूर्य्य की किरणें पड़ें और उन्हें बिजली की सम्पदा (शोभा) प्राप्त हो!

(अवशिष्टांश अगली संख्या में)



हिन्दी में विभक्ति-संयोग।

(लेखक—पं० कामताप्रसाद गुरु, एम० आर० ए० एस०)

हमारी भाषा में विभक्ति (प्रत्यय) को मूल शब्द के साथ मिलाकर लिखने की प्रणाली में बड़ी अस्थिरता है। विद्वान् और अधिकारी सज्जन इस ओर बहुत कम ध्यान देते हैं जिससे भारत की राष्ट्र-भाषा मानी गई भाषा में यह दोष लगातार चला ही जाता है और अन्य-भाषा-भाषी विद्वान् इस भाषा की तथा इसके समर्थकों की योग्यता में सन्देह कर सकते हैं। हम इस लेख में विभक्ति-प्रत्ययों की व्युत्पत्ति का अथवा मूल शब्द से उनके मिलाये या हटाये जाने के न्याय-संगत कारणों का विचार नहीं करना चाहते; क्योंकि यह विषय दोनों पक्षों ने, कई वर्ष पूर्व, अपनी अपनी योग्यता से, अधिकांश में प्रतिपादित कर दिया है। इस समय हम इस विषय के केवल व्यावहारिक स्वरूप पर विचार करते हैं।

हम लोग विभक्तियों को सर्वनामों के साथ मिलाकर लिखने के सम्बन्ध में बहुधा एक-मत हैं। कोई कोई लेखक संभवतः प्रमाद—वश इन्हें सर्वनामों से भी अलग लिखते हैं; परन्तु अधिकांश लेखक इनके इस संयोग ही के पक्षपाती हैं। यथार्थतः कोई भी लेखक "मेरा" को "मे रा" नहीं लिखता, चाहे वह "उसका" को किसी कारण से कभी कभी "उस का" भले ही लिख देवे। इससे यह सिद्धान्त निर्भ्रान्त है कि हिन्दी में सर्वनामों के साथ विभक्तियाँ मिलायी जाती हैं। ऐसी अवस्था में अब विचारणीय बात केवल यही है कि विभक्तियाँ संज्ञाओं के साथ क्यों न मिलाई जायँ?

सर्वनामों के साथ विभक्तियाँ मिलाने के जो कारण हैं वे अधिकांश में संज्ञाओं के साथ भी उपस्थित हैं। प्रकृति (मूल शब्द) का रूपान्तर संज्ञाओं में भी होता है। यदि "का" के पूर्व "वह" का "उस" और "वे" का "उन" हो जाता है तो "घोड़ा" का रूप भी क्रमशः "घोड़े" और "घोड़ों" होता है। दूसरी बात इस संयोग के पक्ष में यह है कि अब कई एक समाचार--पत्र तथा मासिक पत्र विभक्तियों को संज्ञाओं के साथ मिलाकर लिखने लगे हैं। इस व्यवहार से भी संज्ञाओं और विभक्तियों की मिलावट का पक्ष प्रबल हो रहा है। इस संबंध में वैयाकरण अपनी ओर से किसी नियम का प्रचार चाहे न कर सकें; पर भाषा के शिष्ट व्यवहार के आधार पर उसे नियम का समर्थन करना ही पड़ता है। प्रयोगशरणा वैयाकरणाः।

हमारी हिन्दी भाषा अन्यान्य आर्य-भाषाओं से रचना, प्रयोग, व्युत्पत्ति आदि में विशेष सादृश्य रखती है और अन्यान्य आर्य-भाषाओं में, थोड़ा-बहुत मत-भेद होने पर भी, संज्ञाओं के साथ विभक्तियों को मिलाने की प्रणाली प्रचलित है। इस अवस्था में भी हिन्दी को विभक्ति-संयोग की प्रथा का समर्थन करना उचित है।

विभक्ति को शब्द से मिलाकर लिखने की प्रथा से हिन्दी-व्याकरण की दूषित कारक-प्रणाली का भी परिहार हो सकता है। अभी तक हिन्दी-व्याकरण की कारक-प्रणाली अंग्रेज़ी

व्याकरण के अनुसार तथा आधुनिक आर्य-भाषाओं की कारक-प्रणाली के विरुद्ध है। इस विषय में भी हमें अन्यान्य आर्य-भाषाओं का अनुकरण करना चाहिए। विभक्ति-संयोग ही से हमारी भाषा की कारक-प्रणाली सुधर सकती है। भाषा की सुगमता की दृष्टि से भी विभक्तियों को मूल शब्द से मिलाकर लिखना प्रार्थनीय है।

कोई भी परिवर्त्तन आरंभ में थोड़ा-बहुत कष्ट-प्रद तथा सदोष रहता है। प्रकृति और प्रत्यय के मेल की प्रथा से अनेक वर्षों के अभ्यास में बाधा अवश्य पहुँचेगी, तथापि यह नया अभ्यास अल्प काल ही में सहज हो जायगा। जिन लोगों ने इस प्रणाली का व्यवहार आरंभ कर दिया है उन्हें इसमें कोई विशेष कठिनाई अथवा दोष नहीं दिखाई देते।

हिन्दी भाषा के कई एक वर्ण-विन्यास-विषयक तथा व्याकरण-सम्बन्धी प्रयोगों में जिस प्रकार मत-भेद है उसी प्रकार कारक-प्रणाली में भी हमारा परस्पर मत-भेद है। इस प्रकार की उग्र और व्यापक मत-भिन्नता अन्यान्य आर्य-भाषाओं में नहीं पाई जाती। इसलिए इस विषय में हमें व्यक्ति-गत भावों को छोड़ भाषा की उन्नति के लिए सार्वजनिक भावों से काम लेना चाहिए।

अन्त में हम हिन्दी-लेखकों और सामयिक पत्रों के सम्पादकों से निवेदन करते हैं कि वे हिन्दी के रूप की स्थिरता पर, अपने पूर्व-संस्कारों को छोड़, उदार भाव से विचार करें। यदि नागरी-प्रचारिणी-सभा इस विषय का निर्णय कराने के लिए कुछ विद्वानों की एक समिति का संगठन करे तो बड़ा ही लाभ हो।

बिहारी और देव।

(५)

(लेखक--अध्यापक लाला भगवानदीन)

यह बात सभी लोग जानते हैं कि आज़मशाह ने 'बिहारी-सतसई' का क्रम दुरुस्त करवाया है। आज़मशाह के यहाँ 'देव' जी कुछ दिन रहे हैं। वहीं रहकर इन्होंने 'बिहारी' की कविता का अनुशीलन किया और इनको यह बात सूझी कि 'बिहारी' के अमूल्य और और अनोखे भावों को अपनाना चाहिए। अतः बिहारी के किसी भाव को लेकर इन्होंने किसी दूसरे प्रसंग में खपाया—जैसे, नाइन और ठकुराइन का वर्णन; किसी भाव की व्याख्या की—जैसे, स्नान किये हुए सरोवर से निकलती हुई नायिका का वर्णन; और हमारी धारणा है कि किसी भाव को लेकर 'देव' ने उसके विरोध में रचना कर डाली, अर्थात् जो भाव बिहारी का था उसके विरोध-वाला भाव प्रगट किया है। जैसे—

बतरसलालच लाल की मुरली धरी लुकाय।
सौंह करै भौंहँन हँसै देन कहै नटि जाय॥

अर्थात् कोई गोपी गोपीनाथ को छका रही है। कृष्ण की प्यारी प्यारी बातें उसे अच्छी लगती हैं; इसी कारण उसने उनकी वंशी छिपा रखी है कि बातें करने के बहाने खूब छकाऊँगी। इस भाव को 'देव' ने उलट दिया, अर्थात् चीर चुराकर गोपीनाथजी गोपियों को बातों से छका रहे हैं। 'देव' जी ने लिख मारा—

कंपत हियो, न हियो कंपत हमारो, यों हँ-
सी तुम्हैं अनोखी, नेकु सीत में ससन देहु।
अंबर हरैया हरि अंबर उजेरो होत
हेरि कै हँसै न कोई, हँसै तो हँसन देहु॥

'देव' दुति देखिबे को लोयन में लगी रहै,
लोयन में लाज लागै, लोयन लसन देहु।
हमरे बसन देहु, देखत हमारे कान्ह,
अजहूँ बसन देहु, ब्रज में बसन देहु॥

देव के इस कवित्त में जो कुछ है वह सब विहारी के दोहे में भरा है। गोपी–कृष्ण का सब प्रश्नोत्तर "बतरस-लालच में" भरा है। केवल घटना उलट दी गई है। विहारी ने गोपी को चोरटी बनाकर मुरली चुरवाई है, देव ने गोपीनाथ को चोर बनाकर चीर चुरवाये हैं। वास्तव में 'देव' के चित्त में इस कवित्त के बनाने की इच्छा विहारी के उसी दोहे ने पैदा की है।

"आन गाँठ घुटि जाय त्यों मान गाँठ छुटिजाय"।
"आई जामन लेन तिय नेहैं गईं जमाय"।

विहारी के इन ऊपर लिखे दोहार्द्धों को देख कर ही, ऐसा जान पड़ता है, देव ने यह कवित्त रचा है—

संगन सहेली केली करत अकेली एक
कोमल नवेली बर बेली जैसे हेम की।
लालच भरे से लखि लाल चलि आये सो वि-
लोचन चलाय रही रासि कुलनेम की॥
देव मुरझाय उरमाल उरझाय कह्यौ
दीजै सुरझाय बाल पूँछी है सुछेम की।
भाइक सुभाव भोरे स्याम के समीप आय
गाँठि छुटवाय गांठि पारि गई प्रेम की॥

विहारी—

लोभ लगे हरि रूप के करी साँट जुरि जाय।
हौं इन बेंची बीचही लोयन बड़ी बलाय॥

विहारीजी इस दोहे में नेत्रों को दलाल बनाते हैं। साँट (सटकेबाज़ी वा फटकेबाज़ी) करना दलालों का काम है। साँट किस लिए की जाती है? कुछ रुपया कमाने के लिए। इस दोहे में 'रूप' शब्द अपना कमाल दिखला रहा है। 'रूप' का अर्थ है (१) सौंदर्य्य, और (२) रूपा या रुपया। विहारी का कमाल तो न देखा, केवल नेत्रों को 'दलाल' बनाने की ग़रज़ से व्यर्थ का शब्दाडम्बर जोड़कर देव ने यह छंद गढ़ डाला—

पावस-प्रदोष मेघ मिल्यौं ज्यौं शरदशशि
श्रीव्रजपुली में जान आजु अरसाने की।
मधुर मृदंग धुनि संग संग रंग अंग
अंग सरसाने ज्यौं अनंग सरसाने की॥
गोरी गजगामिनि गरबभरी भामिनि द-
गन दुति दामिनि सी देव दरसाने की।
लोचन दलालनि लै बेंची नंदलाल कर
दै दै करताल वर बाल बरसाने की॥

कोरी नक़ल और व्यर्थाडंबर के सिवा हमें इस छंद में कोई ख़ूबी नज़र नहीं आती। व्यर्थाडंबर के कारण 'प्रसाद' गुण तो इतना नष्ट हो गया है कि शायद ही कोई पाठक प्रथम तीन चरणों का अर्थ तुरंत समझ सके। दस बारह बार पढ़ने पर कुछ समझ में आया कि विहारी की धूल तक भी देव नहीं पहुँच सके। कोरी भाव–चोरी भर है। यदि इसीका नाम प्रसादगुण है तो बलिहारी है ऐसे गुण की और ऐसे गुणग्राहक की।

विहारी ने 'करके' के अर्थ में 'कर्कै' दो बार लिखा है, जिसके कारण विहारी पर शब्द मरोड़ने का जुर्म लगाया गया है। अब ज़रा देव की भी करतूत देखिए:—

(१) मदै उनमाद गद्दगद नाद
बदै रसबाद दुद्दै मुख अंचल ।
(२) चंचु चुभै पल पंख उभै पिलि
मेल दुद्दै मिलि खेलत खंजन ।
(३) रूप की साटि कै तौलति घाटि ब-
दै अनवाद दुद्दै फल जूठे ।

यदि 'ककै' लिखना जुर्म है, शब्द मरोड़ना है, तो यह 'ददै' क्या है ?

बिहारी—

कुचगिरि चढ़ि अति थकित ह्वै चली डीठि मुख चाड़।
फिरि न टरी परिये रही परी चिबुक की गाड़ ॥

इस चिबुक-कूप की उक्ति पर देव की बुद्धि बावली सी होगई । आपने इसे उड़ाते हुए यों लिखा:—

"ईठि की उठत डीठि रूप रस प्यासी या
अनूप बाट घूँघट के घाट ह्वै अघाति है ।
और काहू ठौर ठहराति ना निगोड़ी गड़ि
ठोढ़ी बीच गाड़ छबि छोड़ी नहीं जाति है" ।

नहीं साहब, कौन कहता है कि आप बिहारी की उक्तियों की चोरी छोड़ दीजिए । चोरी करके आप महाकवि हो सकेंगे ।

बिहारी—

ऊख मयूख पियूख की तौ लगि भूख न जाय ।

देव—

पीवत हू पिय प्यास बुझै न अहूख महूखन ऊखन हेरे।

बिहारी की भूख नहीं जाती, तो देव की प्यास नहीं बुझती; पर बात एक ही है ।

हाँ, पाठक, अब सँभल बैठिए और बिहारी तथा देव की गणितज्ञता का नमूना भी देख लीजिए । बिहारी केवल साधारण गणित जानते थे; पर देव दशमलव तक पढ़े थे । केवल बिंदी ही तो लगाना है, चाहे दायें लगाइ, चाहे बायें । मौक़ा हो या न हो, बस बिंदी लगा दो और दशमलव बन गया । बिहारी ने 'अंक' पर बिंदी लगाई तो देव 'लंक' पर क्यों न लगावें। बिहारी ने लिखा:—

कहत सबै बेंदी दिये आंक दस गुनो होत ।
तिय लिलार बेंदी दिये अगनित बढ़त उदोत ॥

इस उत्तम उक्ति को देखकर तो देव के छक्के छूटे; होश नौ दो ग्यारह हुए । अंत में आपने दशमलव की शरण लेकर नायिका की कमर पकड़ कर यों फ़र्माया:—

यौवन की झाई लरिकाई में दिखाई दीनी
सुबरण रूप रंग आपनो चढ़ाये ते ।
दूनी दिन दीपतिन दीपति ज्यों पूनो देह
सरद सुदेह ज्यों सनेह उबटाये ते ॥
देव गुण गाइये नगर में बगर पैठे
अगर कपूर बासु बाढ़े ज्यों बढ़ाये ते ।
इन्दु ज्यों मुखारबिंदु बिंदु बिंदु बाढ़त,
घटै ज्यों अंक लंक बिंदु बिंदुन बढ़ाये ते ॥

उक्ति ज़रूर अच्छी है, हम भी तारीफ़ करते हैं; पर कथन केवल यही है कि बिहारी का दोहा देखकर ही 'देव' को यह उक्ति सूझी है—बिहारी का दोहा ही इस उक्ति का प्रेरक है ।

रहीम पर भी देव ने कृपा की है ।

रहीम—

मुकुताकर कर्पूरकर चातक जीवन जोय ।
एतो बड़ो रहीम जल ब्याल बदन विष होय ॥

देव—

तेरो कलबोल कलभाषिन के स्वाति बुंद,
जहाँ जाय पर्‍यो तहाँ तैसोई समूर है।
ब्याल मुख विष ज्यों पियूष ज्यों पपीहा मुख
सीपी मुख मोती कदली मुख कपूर है॥

विहारी—

डीठि बरत बाँधी अटनि चढ़ि धावत न डरात।
इत उत ते मन दुहुन के नट लौं आवत जात॥

देव—

चलति चलाचल दुहूँधा तन तोलि तोलि
चंचल अचल चख चालि की उचाटिनी।
दुहूँ कर लीन्हें दोऊ बैस बिसवास बाँस
डीठि की बरत चढ़ी नाचै भौंह नटिनी।

स्पष्ट मालूम होता है कि विहारी के दोहे ने ही देव को यह रूपक लिखने की सलाह दी है। रद्द-बदल सिर्फ़ इतना ही है कि विहारी ने मन को नट कहा, तो देव ने भौंह को नटिनी बनाया।

विहारी—

अर तें टरत न बर परे दई मरुक मनु मैन।
होड़ा होड़ी बढ़ि चले चित चतुराई नैन॥

ठीक इसी भाव में देवजी कहते हैं; परंतु कुछ बढ़ाकर:—

जगमगे जोवन जराऊ तरिवन कान
ओठन अनूठो रस हाँसी उमड़े परत।
कंचुकी में कसे आवैं उकसे उरोज बिंदु
बदन लिलार बड़े बार घुमड़े परत॥
गोरे मुख स्वेतसारी कंचन किनारीदार
देव मणि झुमका झमकि झुमड़े परत।
बड़े बड़े नैन कजरारे बड़े मोती नथ
बड़ी बरुणीन होड़ा होड़ी उमड़े परत॥

विहारी के दोहे में एक शब्द भी व्यर्थ नहीं है। विहारी की चोरी करने में देव को बहुतसा व्यर्थ सामान जोड़ना पड़ा है। 'होड़ा होड़ी' शब्द चोरी का पता दे रहा है। जगमगा यौवन, ओठों का अनूठा रस, हास्य, उरोज, बाल, नेत्र इत्यादि का बढ़ना तो ठीक है; पर तरिवन, सेतसारी, झुमका और मोती (जड़पदार्थ) कैसे बढ़ते होंगे सो ईश्वर ही जाने। देव के हिमायती कह सकते हैं कि नायिका की बढ़ती हुई शोभा से इनकी भी शोभा बढ़ती है। पर यहाँ शोभा के बढ़ने की बात नहीं है, यहाँ तो वास्तविक अंग-वृद्धि की बात है। उमड़े परत, घुमड़े परत, झुमड़े परत के कर्तृपदों में तरिवन, सारी, झुमका मोती भी हैं। खैर, कुछ भी हो, यह भाव भी देव ने विहारी के यहाँ से उड़ाया है। और देखिए:—

विहारी—

जेतो नीचो ह्वै चलै तेतो ऊँचो होय।

देव—

पैये असीस लचैये जो सीस
लची रहिये तब ऊँची कहैये॥

इसपर कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है। विहारी और केशव ऐसे उस्ताद हैं कि इनके भावों को उड़ाने के लिए इनके कुछ शब्द भी उड़ाने पड़ते हैं। उन शब्दों से ही चोरी का पता लगता है। ऊपर 'होड़ाहोड़ी' शब्द पता बता चुका है।

विहारी—

"सुख मोटैं लूटी ललन लालि ललना की लोट"।
विहारी के यहाँ तो लालजी सुखमोटैं लूटते

हैं; पर देवजी 'पीतम साहु' की 'प्रेम की मोटैं' 'कटाक्ष कज्जाकों' द्वारा 'मान दिवान' के गाँव में लुटवाते हैं; पर बिहारी का 'मोटैं लूटने' वाला भाव अछूता रहने देना देव नहीं सह सकते। आप कहते हैं:

मान दिवान के गाँव गई लुटि
पीतम साहु की प्रेम की मोटैं ॥

भारत-जननी ।

(लेखक—पं० माधवप्रसाद शर्मा)

(१)

विश्व-नाट्य-मन्दिर में जीवन-पट का परिवर्तन देखो।
प्रकृति-मञ्च पर नियति-नटी का नव अभिनय-कीर्तन देखो॥
दुर्वृत्त-दैत्य-दिविज-दलों का दारुण संघर्षण देखो।
अचल अखण्ड अमित आध्यात्मिक बलका आकर्षण देखो॥
यह किसकी सेवा-व्रत-अङ्कित अरुण ध्वजा फहराती है?
कर्म-क्षेत्र पर विश्व-विजयिनी भारत-जननी आती है॥

(२)

श्यामल शस्य-वसनसे अपना सज शरीर अति-छवि-वाला।
छिटका रही चतुर्दिक उज्ज्वल सुख-मयंक मण्डल×माला॥
हिम-मण्डित-मस्तक पर बिखरे लखकर कुन्तल-कुल काला॥
नज मायिक भव-विभव सहज ही कौन न होगा मतवाला?
सुर-मंगल-मय मञ्जु मूर्त्ति पर सुर-बाला बलि जाती है।
कर्म्म-क्षेत्र पर विश्व-विजयिनी भारत-जननी आती है॥

(३)

केसर-चर्चित भव्य भाल पर पड़े विन्दु कल अरुणारे।
मानो बैठे एक राशि पर गुरु, मयङ्क, मंगल तारे॥
शोभित अथवा विजय-केतु के कलित कर्ण-कुण्डल प्यारे।
किम्वा जलते शुक्ल-निशा में व्योम-द्वीप शुभ छवि धारे॥
कम्बु-कण्ठ पर गंगा-यमुनी मणि-माला लहराती है।
कर्म्म-क्षेत्र पर विश्व-विजयिनी भारत-जननी आती है॥

× मण्डल=किरण

(४)

लिये लोक-सेवा-व्रत-अंकित अरुण-ध्वजा अभिराम महा।
दया-द्रवित हो देख रही हैं जग भीषणता-धाम महा॥
खड़ी शान्ति की सौम्य-मूर्तिसी बनकर लोक-ललाम महा।
मानो निकली सत्व-जलधि से नव कमला छवि-धाम महा॥
पट पर नील, अरुण अँगिया की आभा मंजु सुहाती है।
कर्म-क्षेत्र पर विश्व-विजयिनी भारत-जननी आती है॥

(५)

वहाँ नील नव दल शोभित है शुचि श्यामल परिधान यहाँ।
छवि-निधान अलि-पुंज वहाँ है, अलकें मञ्जु महान यहाँ॥
कोकिल का कलगान वहाँ है, विश्व-प्रेम की तान यहां।
वहाँ मदन का पुष्प-बाण है, निर्गुण भौंह कमान यहाँ॥
छोड़ मलय-यौगिक-श्वासानिल मधु+ से होड़ लगाती है।
कर्म्म-क्षेत्र पर विश्व-विजयिनी भारत-जननी आती है॥

(६)

चढ़ी धर्म्म-स्यन्दन पर अतिदृढ़ वर विराग-कोदण्ड लिये।
हृदय-तूण में दान-दया-व्रत-सेवा-बाण प्रचण्ड लिये॥
आत्म-तेज की ज्योति जगाती सत्य-धर्म्म-खर-खंग लिये।
बल-विवेक-वर-वर्म-विमण्डित वीर वाहिनी संग लिये॥
जीवन रण में साम्यवाद की भेरी मधुर बजाती है।
कर्म्म-क्षेत्र पर विश्व-विजयिनी भारत-जननी आती है॥

(७)

लो, भव-तमो-गगन पर भारत-सत्व-चंद्र का राज हुआ।
छिटकी चहुँदिशि शुभ्र ज्योत्स्ना श्रीहत दुष्ट-समाज हुआ॥
विरति-विजित वसुधा पर विधिवत विजय-याग का काज हुआ
आज हिन्द में आत्म-बोध का पुनरपि मंगल-साज हुआ॥
प्राच्य-गगन पर उन्नति-ऊषा मधुर हास्य छिटकाती है।
कर्म-क्षेत्र पर विश्व-विजयिनी भारत-जननी आती है॥

(८)

पहन पुनः केसरिया बाना शान्त समर में बढ़ जाओ।
त्याग मोह-माया-मद-ममता भव-सागर से कढ़ जाओ॥
निःस्पृह-कर्म-योग का पावन पाठ प्रेम से पढ़ जाओ।
निर्भय होकर मातृ-भूमि की बलि-वेदी पर चढ़ जाओ॥
देखोगे, अक्षय आत्मा फिर कैसी चमक दिखाती है।
कर्म्म-क्षेत्र पर विश्व-विजयिनी भारत-जननी आती है॥



+ मधु=वसन्त।

पाणिनि के समय में लेखन-कला।

(लेखक—पं० बलदेव उपाध्याय, बी० ए०)

महर्षि पाणिनि के समय में आर्य लोग लेखन-कला से अभिज्ञ थे या नहीं, यह एक विवादास्पद प्रश्न है जिसपर पाश्चात्य संस्कृतज्ञों ने बहुत विवेचन किया है। कुछ लोगों की सम्मति है कि उस समय यह कला नहीं थी; परन्तु कुछ पंडितों ने विशेष खोज करके प्रमाण एकत्र किये हैं कि उस समय लेखन-कला विद्यमान थी। प्रसिद्ध पाश्चात्य पंडित मैक्समूलर ने 'संस्कृत-साहित्य का इतिहास' नामक ग्रन्थ में लिखा है कि मुझे पाणिनि की अष्टाध्यायी में ऐसा कोई शब्द नहीं मिलता जिससे उस समय में लेखन-कला के प्रचलित होने का अनुमान किया जा सके। परन्तु प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् गोल्डस्टकर ने "पाणिनि और संस्कृत-साहित्य में उनका स्थान" नामक ग्रन्थ में यह सप्रमाण सिद्ध किया है कि पाणिनि के समय में आर्य-संतान लेखन-कला से अभिज्ञ ही नहीं थे, वरन भिन्न भिन्न विषयों पर ग्रन्थ भी लिखे जाते थे। वैदिक काल से ही आर्यों में लिखने की प्रणाली प्रचलित है। यदि ऐसा न होता तो ब्राह्मण-ग्रन्थ लिखने की कल्पना ही कभी न हो सकती। संहिताओं में अंकशास्त्र की विशेष उन्नति, छन्दःशास्त्र के जटिल नियम, व्याकरण-शास्त्र का उद्भव, ब्राह्मण जैसे बृहत् गद्य-ग्रंथों की सत्ता—ये सब वैदिक-कालीन[१] लेखन प्रणाली के उज्ज्वल प्रमाण हैं।

महर्षि पाणिनि के समय में भी यह कला अवश्य विद्यमान थी। इस विषय में अष्टाध्यायी से प्रमाण खोजकर नीचे दिये जाते हैं:—

१. "दिवाविभा ...... लिपिलिबि .... अरुःषु" (३-२-२१) सूत्र में पाणिनि ने 'लिपि' तथा 'लिपिकर' शब्दों का प्रयोग किया है। 'लिपिकर' का अर्थ 'लिखनेवाला' होता है।

२. "इन्द्रवरुणभवशर्वरुद्रमृडहिमारण्ययवयवनमातुलाचार्याणामानुक्" (४।१।४९) सूत्र के द्वारा पाणिनि ने 'यवनानी' शब्द की सिद्धि बतलाई है। यवनानी के विषय में कात्यायन ने लिखा है—'यवनाल्लिप्याम्'। यवनानी शब्द का अर्थ होता है यवनों की लिपि। महर्षि पतंजलि ने भी इसका यही अर्थ स्वीकृत किया है। अतः सिद्ध होता है कि पाणिनि यवनों की लिपि से अवश्य परिचित रहे होंगे।

३. पाणिनि ने 'लोप' शब्द का प्रयोग किया है तथा उन्होंने इसकी परिभाषा इस प्रकार की है -'अदर्शनं लोपः' (१।१।६०), अर्थात् जो न दिखाई पड़े उसे लोप कहते हैं। लोप हो जाने पर वह वर्ण दिखाई नहीं पड़ता; किन्तु इसके पहले वह दृष्टिगोचर था। लिखे हुए वर्ण ही दृष्टिगोचर होते हैं; अतः अक्षर लिखे जाते थे और लोप होजाने पर वे वर्ण काटकर हटा दिये जाते थे जिससे वे दिखाई नहीं पड़ते थे। 'लोप' की इस परिभाषा से भी तत्कालीन लेखन-कला सिद्ध होती है।

४. पाणिनि ने अष्टाध्यायी में 'स्वरित' नामक चिह्नों का प्रयोग किया है। 'स्वरितेनाधिकारः'—(१।३।११) इस सूत्र का अर्थ है कि जिनके साथ

१. विशेष जानने के लिये रा० ब० गौरीशंकर हीराचंदजी ओझा लिखित "प्राचीनलिपिमाला" (द्वितीय संस्करण) का आरम्भिक परिच्छेद देखिए।

स्वरित चिह्न लगा हुआ है उन्हींका अधिकार होता है। व्याकरण को संक्षिप्त बनाने के लिए यह एक आवश्यक युक्ति है। जिन पदों की आवश्यकता कतिपय-सूत्रों में होती है उनको प्रत्येक सूत्र के साथ जुड़े रखने से सूत्र बड़े हो जाते हैं। इस विस्तार को दूर करने के लिए पाणिनि ने कुछ अधिकार-सूत्रों की रचना की है। जिन पदों की आवश्यकता कुछ सूत्रों के साथ है उनको एक विशेष सूत्र में रख दिया है और उनका सम्बन्ध उन अभिलषित सूत्रों में होजाता है। ये अधिकार-सूत्र स्वरित—युक्त होते थे। अब स्वरित शब्द की विवेचना होनी चाहिए कि यह है क्या। काशिका में लिखा है —"स्वरितो नाम स्वरविशेषो वर्णधर्मो न स्वरधर्मः"। ऊँचे स्वर तथा धीमे स्वर के बीच वाले स्वर को स्वरित कहते हैं (समाहारः स्वरितः)। काशिकाकार की सम्मति है कि स्वरित चिह्न हैं, स्वरधर्म नहीं हैं; क्योंकि कैयट ने लिखा है कि सूत्रों का उच्चारण एक ही स्वर से होता है (एकश्रुत्या सूत्राणां पाठात्); यह नहीं होता कि किसी सूत्र में स्वरित स्वर हो और किसी में उदात्त या अनुदात्त। इसपर महाभाष्यकार ने शंका उठाई है कि उन सूत्रों की संख्या का पता कैसे लगेगा जिनमें उस पद की अनुवृत्ति होगी। फिर इस शंका का समाधान कात्यायन के इन वचनों को लिखकर किया है:- "यावतिथोऽनुबन्धाः तावतो योगानिति वचनात् सिद्धम्।" अर्थात् जितने सूत्रों में पद का अधिकार होगा उस संख्या का सूचक वर्ण उस अधिकार-सूत्र पर लिखा रहेगा। कैयट ने उदाहरण देकर इस नियम को समझाया है; यथा, 'द्वित्रिपूर्वान्निष्कात्' सूत्र का अधिकार केवल दो ही सूत्रों में होता है; अतः इस सूत्र पर 'इ' का अनुबन्ध लगाया गया होगा। 'इ' वर्णमाला का दूसरा अक्षर होने से २ संख्या का द्योतक है; अतः इसका अनुबन्ध सूचित करता है कि अधिकार केवल दो सूत्रों में है। परन्तु जहाँ सूत्रों की संख्या वर्णमाला के अक्षरों (अल्) से अधिक है वहाँ अधिकार-सूत्र में स्वरित-चिह्न का प्रयोग न करके 'प्राक्' शब्द का प्रयोग हुआ है (भूयसि प्राग्वचनम्—कात्यायन); जैसे, प्रागीश्वरान्निपाताः अधिकार-सूत्र है। इसका अर्थ है कि रीश्वर शब्द जिस सूत्र में आवे उसके पहले तक इसका अधिकार चलता है। इस सूत्र के कुछ बाद 'ईश्वरे तोसुन-कसुनौ' सूत्र है जिसमें 'ईश्वर' के होते हुए भी रीश्वर शब्द के न रहने से पूर्वोक्त सूत्र का अधिकार नहीं जाता; परन्तु 'अधिरीश्वरे' (१।४।९७) सूत्र में 'रीश्वर' शब्द के होने से इसके पहले सूत्र तक अधिकार जाता है। यदि पाणिनि के समय में लिखे हुए सूत्र विद्यमान न होते तो क्या यह सम्भव था कि ऐसा जटिल नियम बनाया जाता? क्या मुखस्थ किये गये सूत्रों से यह पता लग सकता है कि 'रीश्वर' शब्द किसमें है और 'ईश्वर' किसमें। सच तो यह है कि पाणिनि ने स्वलिखित अष्टाध्यायी अपने सामने रखी थी, फिर उन सब सूत्रों के मिलान करने पर पूर्वोक्त अधिकार-सूत्र की रचना की थी।

५—'कर्णे लक्षणस्याविष्टाष्टपञ्चमणि' (६।३।११५) सूत्र से पाणिनि ने "पञ्चकर्णी" और "अष्टकर्णी" शब्दों की सिद्धि की है। इस सूत्र में 'लक्षण' शब्द आया है। इसका अर्थ है 'चिह्न'। अपनी अपनी गायों की पहिचान के लिए ग्वाले लोग गायों के कान पर ५ या ८ के चिह्न बना दिया करते थे। ऐसी ही गायों को पञ्चकर्णी वा

अष्टकर्णी कहते थे। इस सूत्र से यह भी ज्ञात होता है कि जानवरों के कानों पर स्रुव या स्वस्तिक के चिह्न भी बनाये जाते थे। द्यूत के खेल में पाशों पर १,२,३,४ के चिह्न बनाये जाते थे जिससे जय या पराजय की सूचना मिलती थी। 'अक्षशलाका संख्या परिणा' (२।१।१०) सूत्र से पाणिनि ने एकपरि, द्विपरि आदि पदों की सिद्धि बतलाई है। 'एकपरि' पद का अर्थ कौमुदी के तत्त्वबोधिनीटीकाकार ने इस प्रकार किया है—'एकेन विपरीतं वृत्तम्' अर्थात् यथापूर्वं जये वृत्तं तथा न वृत्तम्' अर्थात् पहले जय में जैसा हुआ था वैसा नहीं हुआ; क्योंकि एक (अंकवाले) पाशे के कारण पराजय हो गया। इससे सूचित होता है कि पाणिनि-काल में भी * द्यूत-क्रीड़ा की प्रणाली वैदिक काल के समान ही थी। पशुओं के कानों पर तथा जुये के पाशों पर अंकों का लिखा जाना सप्रमाण सिद्ध कर रहा है कि पाणिनि के समय में लेखन-कला से आर्य जन अभिज्ञ थे।

६-ऊपर जो प्रमाण दिये गये हैं वे केवल लिपिशब्द तथा अंकों के द्वारा लेखन-शैली की सत्ता के विषय में दिये गये हैं। इतना ही नहीं, पाणिनि ने स्वयं "अधिकृत्य कृते ग्रन्थे" (४ ३ ८७) सूत्र में 'ग्रन्थ' शब्द का प्रयोग किया है। ग्रन्थ का अर्थ है लिखित पुस्तक। यह नाम इस कारण पड़ा कि प्राचीन काल में लिखित पत्रों को बीच में छेदकर डोरी से बाँध (गूथ) दिया करते थे। 'ग्रन्थ' का अर्थ 'रचना' भी हो सकता है; परन्तु महाभारत के निम्नलिखित वाक्यों से निश्चित रूप से सिद्ध होता है कि ग्रन्थ शब्द लिखित पुस्तक के ही अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

"भारं स वहते तस्य ग्रन्थस्यार्थं न वेत्ति यः
यस्तु ग्रन्थार्थतत्त्वज्ञो नास्य ग्रन्थागमो वृथा ॥"

अर्थात् जो ग्रन्थ का अर्थ नहीं जानता वह पुस्तक का केवल बोझ ढोता है। इससे सिद्ध होता है कि ग्रन्थ शब्द लिखित पद्य-युक्त पुस्तक के अर्थ में प्रयुक्त है, अन्यथा रचना जैसी मानसिक चीज़ का भार किस प्रकार हो सकता है?

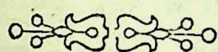
पाणिनि ने बहुत से विषयों पर लिखे गये ग्रन्थों का नाम भी दिया है; यथा, 'शिशुक्रन्द यमसभ द्वन्द्वेन्द्र जननादिभ्यश्छ' (४।३।८८) शिशूनां रोदनमधिकृत्य कृतो ग्रन्थः अर्थात् वह पुस्तक जो बच्चों के रोने के विषय में लिखी गयी हो। अर्थात् छोटे छोटे बच्चों के मन बहलाने की चित्र-युक्त पुस्तकें। गोल्डस्टकर ने भी प्रायः यही अर्थ किया है—A nursery book for naughty boys यमसभा के विषय में भी ग्रन्थ विद्यमान थे। इन्द्र-जनन अर्थात् इन्द्र के उद्भव के विषय पर भी पोथियाँ थीं।

---

* द्यूत वैदिक आर्यों की बड़ी मनोरंजक सामग्री थी। समय समय पर वे इस खेल से आनन्द उठाया करते थे। परन्तु धीरे धीरे सर्व साधारण इधर अधिक अनुरक्त होने लगे; कृषि छोड़ द्यूत के व्यसन में रातदिन फँसने लगे। वैदिक मन्त्रों में इससे बचने के लिए शिक्षा दी गई है। ऋग्वेद के दसवें मंडल के १०८ वें सूक्त में खेल में सर्वस्व हारे हुए जुआरी की शोचनीय दुरवस्था का विशद वर्णन पाया जाता है। उसी सूक्त में जुआरी कह रहा है:—

'अक्षस्याहमेकपरस्य हेतोरनुव्रतामपजायामरोधम्' अर्थात् एकचिह्नवाले कलिपाशे के कारण मैंने अपनी पतिव्रता नारी को छोड़ दिया है। ४ अंक का चिह्न जिस अक्षर पर था उसे कृत कहते थे और वह जय का सूचक था; परन्तु १ अंक वाला कलि कहाता था जिसके पड़ने पर हार होती थी। २ अंक वाले पाशे को द्वापर तथा ३ अंक वाले को त्रेता कहा करते थे।

इन प्रबल प्रमाणों के रहते हुए कौन कह सकता है कि पाणिनि के समय में लेखन-कला नहीं थी ? मैक्समूलर की उपर्युक्त सम्मति कि पाणिनीय अष्टध्यायी में लेख-सूचक एक शब्द भी नहीं पाया जाता, पूर्वोक्त प्रमाणों के द्वारा बिल्कुल निराधार सिद्ध होती है ।



द्राविड़ साहित्य ।

(लेखक—राय साहब पं० रघुवरप्रसाद द्विवेदी, बी०ए०)

भारत में आर्य्य जाति के आगमन के पूर्व द्राविड़ जाति उत्तर पूर्व्व दिशा से आकर देश भर में फैल गई और बहुत समय तक देश पर उसका अधिकार रहा; पर आर्य्यों के आने के बाद उसे दक्षिण की ओर भागना पड़ा जहाँ वह अबतक पाई जाती है। द्राविड़ों की भाषा, धर्म्म, सभ्यता आदि सभी बातें भिन्न थीं। दक्षिण में ये लोग सैकड़ों वर्ष पूर्ण रीति से स्वतंत्र रहे; पर जब आर्य्य लोग विंध्य-श्रेणी को लाँघकर दक्षिण के भिन्न भिन्न देशों में जा पहुँचे तो द्रविड़ों पर उनके धर्म्म, भाषा और सभ्यता का बड़ा प्रभाव पड़ा जिसका फल यह हुआ कि तामील, तैलंगी, कनाड़ी और मलायलम नामक द्राविड़ भाषाओं में आर्य्य-सिद्धान्तों को व्यक्त करनेवाले एक नये साहित्य का विकास हुआ। आर्य्य-धर्म्म तथा सभ्यता के प्रसार के पूर्व द्राविड़ भाषाओं में साहित्य के अस्तित्व के कोई प्रमाण नहीं मिलते और न यही विदित होता है कि पहले इन लोगों का धार्म्मिक मत क्या था। इन भाषाओं में 'ईश्वर' और 'मन्दिर' शब्दों के पर्य्यायवाची शब्द तो पाये जाते हैं; पर उनके वर्तमान मन्दिर सब आर्य्य-काल के ही हैं और उनमें शिव, विष्णु आदि देवताओं की ही मूर्तियाँ स्थापित हैं। सारांश यह कि प्राचीन द्राविड़ धर्म्म, साहित्य आदि का पता तो अब नहीं लगता; पर द्राविड़ अभी वैसीही बोली जाती है। उनके विजेता आर्य्यों की भाषा संस्कृत ने उनका नाश तो नहीं कर पाया; पर उसके प्रभाव से उनमें एक नये साहित्य का निर्म्माण अवश्य होगया।

इन द्राविड़ भाषाओं में कई अनुपम काव्य-ग्रन्थ हैं जो अनुप्रास-पूर्ण भाषा तथा विशेष विशेष द्राविड़ छन्दों में रचे गये हैं। इन काव्यों का प्रधान विषय तो धर्म्म है; पर साथ ही उनमें अन्य सब प्रकार की शिक्षाएँ हैं जिन्हें पढ़कर लोग चरित्रवान् हो सकते और धार्म्मिकता, स्वार्थ-त्याग आदि उच्च आदर्शों की शिक्षा प्राप्त कर सकते हैं। ये ऐसे ग्रंथ हैं जिनके अनुवाद से किसी भी भाषा के साहित्य का महत्त्व बढ़ सकता है। डाक्टर पोप आदि यूरोपीय विद्वानों ने इनका अनुवाद अंग्रेज़ी में कर डाला है जिसे पढ़कर पाश्चात्य देशों के विद्वानों ने इन ग्रंथ-रत्नों की भूरि भूरि प्रशंसा की है। क्याही उत्तम हो कि हमारी मातृ-भाषा हिन्दी में भी इनके अनुवाद सुलभ हो जायँ। हमारे कई देश-भ्राता अंग्रेज़ी के सिवा जर्म्मन, फ्रेंच आदि यूरोपीय भाषाओं का अध्ययन तो करने लगे हैं; पर ऐसों की संख्या अधिक नहीं है जो इस देश की दस-पाँच प्रधान प्रधान भाषाओं का अच्छा ज्ञान रखते हों। इसीसे हमारे ही देश के ग्रंथ-रत्न हमारी भिन्न भिन्न भाषाओं में दुर्लभ हो रहे हैं। हिन्दी-प्रेमियों का

ध्यान तो इस ओर गया ही नहीं। हिन्दी में जो अनुवादित ग्रंथ मिलते भी हैं वे प्रायः बंगला और कुछ थोड़े मराठी ग्रंथों के अनुवाद हैं, सो भी उपन्यास आदि साधारण पुस्तकों के, न कि इन भाषाओं के अमूल्य ग्रन्थ-रत्नों के। हमारी मातृ-भाषामें सभी देश-भाषाओं के उत्तमोत्तम ग्रंथों के अनुवाद हो जाने से उसका साहित्य-भाण्डार बहुत कुछ पूर्ण हो सकता है। अस्तु।

अब हम इन तामील आदि द्राविड़ भाषाओं के साहित्य का दिग्दर्शन कराना चाहते हैं। सबसे प्रथम "नलादियर" नामक काव्य--ग्रंथ को लीजिए जिसका पाठ प्रत्येक तामिल पाठशाला में अब भी किया जाता और सदा किया जायगा; क्योंकि यह ऐसाही शिक्षाप्रद अनुपम ग्रंथ-रत्न है। इसमें ४०० चतुष्पदी छन्द हैं जिनका विषय आचार-नीति-शिक्षा तथा हितोपदेश है। कहते हैं कि इसकी प्रत्येक चतुष्पदी की रचना किसी न किसी जैन साधु ने की है। स्मरण रहे कि एक समय द्राविड़ देशों में जैन और बौद्ध धर्म का पूर्ण अधिकार रहा है जिससे वैदिक धर्म्म की पुनः प्रतिष्ठा करने के लिए श्रीशंकर भगवान् ने श्री-शंकराचार्य्य का अवतार धारण किया और शास्त्रार्थों द्वारा उन धर्म्मों के आचार्यों को परास्त कर पहले वहाँ के राजाओं और फिर उनके प्रजागणों को वैदिक धर्म्म की दीक्षा दी। लोगों का विश्वास है कि एक पान्डीय-वंशी राजा के शासन--काल में ८००० जैन साधु अकाल-पीड़ित होकर उस की राजधानी में आये और उसने उन सबकी रक्षा की। सुकाल आने पर जब ये साधु अपने अपने स्थानों को लौटने का विचार करने लगे तो राजा ने अपनी महिमा बढ़ाने की इच्छा से उनसे प्रार्थना की कि आप लोग यहीं रहिए। उन साधुओं की इच्छा न थी कि वे एकही स्थान में जमकर रहें; अतएव एक रात को वे छिपकर चले गये; पर प्रत्येक एक एक पद्य छोड़ गया। राजा को बड़ा क्रोध आया और उसने वे सब पद्य पानी में बहा देने की आज्ञा दी। कहते हैं कि उनमें से ४०० पद्य पानी में उल्टी धार बह आये। यह देख राजा को बड़ा आश्चर्य हुआ और उसने उन्हें रक्षित रखने की आज्ञा दी। "नलादियर" नामक ग्रंथ इन्हीं ४०० पद्यों का संग्रह है। तामील जाति का विश्वास है कि यह घटना सन् ईस्वी से २००० वर्ष पूर्व की है।

इन पद्यों के विषय वेही हैं जो संस्कृत-साहित्य में जगह जगह पाये जाते हैं अर्थात् बारम्बार जन्म-मरण, प्रारब्ध-फल, शरीर-रूपी उपाधि से मुक्त होने से अपूर्व आनन्द आदि। इस पुस्तक में किसी विशेष मतमतान्तर का प्रतिपादन नहीं है। केवल हितोपदेश है। प्रत्येक पद्य काव्य-दृष्टि से एक बहुमूल्य रत्न-जटित आभरण है। यमक एवं अनुप्रास, भाव-वैचित्र्य, रचना-लालित्य, उपमा आदि काव्य-गुण देखते ही बनते हैं। शृंगार-रस की भी कमी नहीं है। डाक्टर पोप ने अंगरेज़ी में इसका अनुवाद करने में अपनी योग्यता पराकाष्ठा को पहुँचा दी है। अंगरेज़ी-भाषा-प्रेमी इस अनुवाद को पढ़कर मूल ग्रंथ के भावों का पता भलीभाँति लगा सकते हैं। हाँ, मूल पद्यों का रचना-वैचित्र्य एक भाषा से दूसरी भाषा में लाना सम्भव नहीं है।

कवि ने आरम्भ में धर्म्माचरण की आवश्यकता दिखाते हुए कहा कि धर्म्म-कार्य तुरन्त करो मानो मृत्यु चोटी पकड़े खड़ी है—

" गृहीत इव केशेषु मृत्युना धर्म्ममाचरेत् "

एक स्थान पर लिखा है— "एक मेघ के समान जो पहाड़ों पर घूमता दिखाई देता है, मानव-शरीर भी यहाँ दिखाई पड़ता है; पर चिरस्थायी नहीं है और ऐसा नष्ट हो जाता है कि कोई चिह्न भी नहीं रह जाता।"

" तरुणाई चार दिन की चाँदनी है। प्रेम अविनाशी नहीं है— क्षणिक है। सौन्दर्य्य-रूपी सुमन शीघ्र कुम्हला जाता है। जब प्राणी अपना कार्य्य समाप्त करके जाने की तय्यारी करता है तब पश्चात्ताप-समूह उसे घेरता है।"

" रे नर, मन में तो देख, इस सुखमय जीवन से क्या लाभ ? भीतर से डूबती हुई नौका का सा शब्द आता है।"

कहीं कहीं वैराग्य और शृंगार का विचित्र सम्मिश्रण है, यथा—

" तरुणाई ऐसी ही न रहेगी। उस मृगनयनी की इच्छा न कर जिसके विशाल नेत्र बर्छी के समान चमकते हैं। वह अनुपम सुन्दरी भी नेत्रों की यह उज्ज्वल ज्योति खोकर एक दिन लकड़ी के बल झुककर चलेगी। "

"दूर्वा पर पड़े हुए जलकण के समान इस जगत में सभी वस्तुएँ नश्वर हैं—ऐसा सोचकर धर्म्म-कार्य्य करने में क्षण भर का भी विलम्ब न होने दे। देख, वह अभी खड़ा था, अभी बैठा था, अभी गिर भी गया। उसके कुटुम्बी रो रोकर कहते हैं, "हाय ! कहाँ गया ?" यही तो मनुष्य का इतिहास है।"

" तुच्छ निरक्षर जीव दाँतों की उपमा कुन्दकली अथवा मुक्ताओं से देते हुए विक्षिप्तों कासा विलाप करके मेरी आत्मा को क्लेश देते हैं; पर क्या मैं अपने प्रण को त्याग सकता हूँ ? क्या मैंने श्मशान-भूमि में वेही दंत बिखरे हुए पड़े नहीं देखे ? और सब भी जाकर देख सकते हैं।"

"वे समुद्र-स्नान करने गये; पर कहने लगे कि जबतक लहरों की यह घर्राहट सुनाई देती है, तब तक ठहरेंगे, कोलाहल शांत होने पर स्नान करेंगे ! ऐसेही वे नर हैं जो कहते हैं कि गृहस्थी की चिन्ताओं के दूर होने पर हम अपने धर्म्म-कर्म्म में लगेंगे।"

" वह हृदयाकर्षक सौन्दर्य्य जो उत्तमोत्तम आभरणों से और भी खिल रहा है कहता है— हे प्रियतम, मैं तुम्हारे साथ पर्व्वत की चोटी से कूदने को प्रस्तुत हूँ; पर चोटी पर पहुँचकर उनने देखा कि मेरे पास द्रव्य नहीं है। वह फूट फूट कर रोता और अपने चरण-कमलों की ओर निहारते हुए मुझे छोड़ चला गया।"

कुर्रल।

तामिल साहित्य का एक दूसरा काव्य-ग्रंथ कुर्रल है। यह वास्तव में द्राविड़ साहित्य के हीरकों में मानों कोहनूर है। जिसने इसे पढ़ा है उसीने इसकी भूरि भूरि प्रशंसा की है। इसमें २६६६ द्विपदी छंद (दोहे) हैं जिनमें 'धर्म्म', 'अर्थ' और 'काम' के भाव भरे हैं। इस ग्रंथ के रचयिता का नाम तिरुवल्लुवर है। यह अस्पृश्य जाति का एक कोरी था और मद्रास के समीप सेंटटोमी नामक

स्थान में रहता था। ईसाई पादरी कहते हैं कि प्रभु यीशु का शिष्य साधु टामस कभी यहाँ आकर रहा था जिससे इस स्थान का नाम सेंटटोमी पड़ा और उसकी शिक्षाओं को लेकर तिरुवल्लुवर ने यह ग्रंथ रचा है; पर "भारत का साहित्यिक इतिहास" नामक पुस्तक के लेखक मि० फ्रेजर ने लिखा है कि सेंटटामस का भारत-निवास निरी कल्पना है। इस बात का अकाट्य प्रमाण मिलता है कि टामस ने प्रभु यीशु से स्पष्ट कह दिया था कि मैं भारतवर्ष को न जाऊँगा। एक दूसरे यूरोपीय विद्वान् लिखते हैं कि प्रभु यीशु के पश्चात् ५ शताब्दियों तक भारत में सीरिया से ईसाई धर्म्म के पहुँचने का कोई प्रमाण नहीं है। इस तरह तिरुवल्लुवर के विचारों पर ईसाई मत का प्रभाव पड़ना संभव नहीं दीखता। वैसे तो जैन आदि सभी मतों के अनुयायी कहा करते हैं कि हमारे मत का प्रतिपादन ही इस कवि का उद्देश्य था। बात तो यह है कि तिरुवल्लुवर ने आचार-नीति का प्रतिपादन किया है जो प्रायः सभी मतों में समान होती है।

तिरुवल्लुवर ने किसी सम्प्रदाय विशेष या मत-मतान्तर का आश्रय नहीं लिया, और यह इसी एक बात से प्रकट होता है कि उसने इस ग्रंथ के मंगलाचरण में भगवान् को अपना इष्टदेव बतलाया है, न कि शिव, विष्णु, जिनेन्द्र प्रभृति साम्प्रदायिक देवगणों में से किसी एक को। कवि ने मंगलाचरण का आरम्भ इस तरह किया है:—जिस प्रकार सर्व्ववर्णों में अकार प्रधान है उसी प्रकार इस विश्व में भगवान् हैं। इन्हीं भगवान् की आराधना में जो जीव स्थिर हैं उनपर सद्-असत् कर्मों के फल का प्रभाव नहीं पड़ता। मंगलाचरण के अनन्तर कवि ने आदर्शजीवन क्या है इस विषय का प्रतिपादन करने के लिए गृहस्थ, संन्यास आदि आश्रमों के भिन्नभिन्न धर्म्म बतलाये तथा प्रारब्ध कर्म्म का वर्णन किया है। फिर अर्थ अर्थात् धन-संपत्ति का विषय लेकर राजा, मंत्री, राज्य तथा व्यक्तियों से उसका जो संबंध है उसे प्रकट किया है। तीसरा विषय काम अर्थात् स्त्री-पुरुष-प्रेम दो अध्यायों में विभक्त है। एक में तो अविवाहित प्रेम का और दूसरे में विवाहित प्रेम का वर्णन है। पवित्र गृहस्थ-जीवन और गृहस्थों के धर्म्म का प्रतिपादन दोहों के समान छोटे छोटे पदों में ऐसी उत्तमता से किया है और उनमें कविता के गुण चुनचुनकर इस तरह भरे हैं कि काव्य-रसिक पाठकों को उनके पठन से विशेष शिक्षा मिलती और आनन्द होता है।

अब हम यहाँ कुरल के कतिपय अनुवादित अवतरण देकर इस काव्यग्रंथ की कुछ झलक दिखलाना चाहते हैं:—

"जो मनुष्य प्राकृतिक मार्ग का अनुसरण करता हुआ शांति-पूर्ण गृहस्थ-जीवन व्यतीत करता है उसका स्थान उन पुरुषों में बहुत ऊँचा है जो धर्म्म-मुकुट धारण करने के लिए सचेष्ट रहते हैं।"

"जो स्त्री अपने पतिदेव को छोड़ किसी देवता की आराधना नहीं करती, जो अपने पति के सन्मुख मस्तक नवाकर उसका सत्कार करती और फिर उसीकी सेवा में रत रहती है उसकी आज्ञा इंद्र को भी माननी पड़ती है और वे उस पर मेह बरसाते हैं।"

"जो नृपति अपने कानों से अपने विषय में वचन सुनकर सहन कर सकता है उसकी राज-भक्ति की छाया में संसार निर्भय रहता है।"

"अच्छा राज-मंत्री वही है जो पुस्तक-लिखित बुद्धिमानी को जानता हुआ भी अपने कार्यों में साधारण बुद्धिमानी का अनुसरण करता है।"

"जिन लोगों में ठीक ठीक दश शब्द बोलने की भी योग्यता नहीं है उनकी जिह्वा एक सहस्र शब्द बोलकर दूसरों के कानों को कष्ट पहुँचाने के लिए खुजलाया करती है।"

'वेम्पा' तामिल भाषा में एक बहुत ही कठिन छंद है। कविवर तिरुवल्लुवर ने उस छंद में कुर्रल की रचना कर अपनी उत्कृष्ट योग्यता प्रदर्शित की है। हिन्दी के समान छोटे छोटे दोहे पद्यों में इतने उच्च कोटि की अलंकृत भाषा का उपयोग करते हुए अपनी अपूर्व कल्पनाशक्ति का विचित्र निदर्शन किया है। प्रत्येक वेम्पा मानों बहुमूल्य देदीप्यमान रत्नों से जटित एक स्वर्णाभरण है जिसकी अनुपम छटा देख कविता-रसिकों का हृदय उछलने लगता और वे इस ग्रंथ को पढ़ते पढ़ते मुग्ध हो जाते हैं। वैसे तो कुर्रल के प्रत्येक वेम्पा के विषय में वेही शब्द कहे जा सकते हैं जो बिहारी-कृत हिन्दी सतसई के संबन्ध में कहे गये हैं, अर्थात्—

सतसैया के दोहरा ज्यों नाविक को तीर।
देखत में छोटो लगे घाव करे गंभीर॥

पर, स्त्री-पुरुष-प्रेम का वर्णन जिन वेम्पाओं में किया गया है उनके विषय में यह उपर्युक्त कथन और भी अधिक उपयुक्त है। ये पद्य काव्य-कौशल के मानों आदर्श हैं। खेद है कि इनका गद्यात्मक अनुवाद डा० पोप के पद्यात्मक अंगरेज़ी अनुवाद कोही नहीं पा सकता; फिर मूल ग्रंथको पाना तो बातही और है। ये अवतरण वैसेही हैं जैसे ग्रामीण मूर्त्तिकारों द्वारा साधारण पत्थरों पर खोदी हुई श्रीदुर्गा आदि देवियों की मूर्त्तियाँ अथवा जन्माष्टमी के शुभ दिन के लिए एक पैसे के चित्रपटों पर साधारण चित्रकारों द्वारा खींचे श्रीकृष्ण और पाँच पाण्डव भ्राताओं के चित्र जिनमें न तो किसी प्रकार का कौशल है और न सौन्दर्य्य।

शृङ्गार रस के अवतरण।

"सच है, मेरे सम्मुख प्रेम का अथाह सागर लहरा रहा है; पर वह विश्वासपात्र नौका कहाँ है जिसपर चढ़कर मैं उसका पार पासकूँ?"

"अहो! मैं क्या जानती थी कि यह सायं-काल भी इतना दुःखदायी हो सकता है। प्रियतम के विछोह के बाद अब मुझे यह अनुभव हुआ।"

"मेरे विरह-रूपी फूल में प्रातःकाल तो कली आती, दिन भर वह खिलता और सायंकाल को फूलता है।"

"रे हृदय! यातो प्रेम को हो तिलाञ्जलि दे या लज्जा को। दोनों का साथ मुझे सह्य नहीं है।"

"यदि किसी दोष के कारण ऐसा न हुआ हो तो कुछ समय के लिए प्रियतमा के सुकोमल भुजयुगल से अलग होने में भी एक विचित्र सुख का अनुभव रहता है।"

‘प्रेम-कलह में जो पहले हार मान लेता है अन्त में उसीकी विजय होती है।”

“हे निशे! तू अपना राज्य कुछ काल के लिए और बढ़ा दे जिससे मुझे अपनी मानवती देदीप्यमान आभूषण-सुशोभित प्रियतमा से मान-त्याग करने के लिए समझाने का अवसर अधिक मिल सके।”

इन प्राचीन द्राविड़ काव्य-ग्रन्थों को पढ़कर कोई भी संस्कृत-विद्वान् कह सकता है कि कवियों के विचारों पर संस्कृत-साहित्य का प्रभाव कहाँ-तक पड़ा है। वास्तव में तो द्राविड़ एवं आर्य्य सभ्यता का संघर्षण होने से द्राविड़-जाति में जिस मिश्रित सभ्यता का विकास हुआ है उसीकी प्रेरणा से उस जाति में एक अपूर्व जाग्रति हुई और कवियों ने उस समय के नये नये भावों तथा विचारों को व्यक्त करने के निमित्त इन भावपूर्ण काव्यों की रचना की। प्रत्येक देश में जब जब जाग्रति होती आई है, तब तब उस देश के साहित्य पर उसका पूर्ण प्रभाव पड़ा है और नये नये कवि उत्पन्न हुए हैं। द्राविड़ जातियों में आर्य्यों के सत्संग से इस जाग्रति के फल-स्वरूप कुर्रल नामक काव्य-ग्रन्थ कब रचा गया सो कहना कठिन है। यह परम्परागत जनोक्ति प्रसिद्ध है कि एक पांडीय वंशी राजा ने एक बार मदुरा नगर के संघन (मठ या विद्यापीठ) में बड़े बड़े विद्वान् जैन और बौद्ध बुलाकर एक सम्मेलन कराया था और उसी संघन से कई पद्य प्रकाशित किये गये थे; पर जब इस विद्यापीठ के विद्वानों ने देखा कि एक अन्त्यज कवि तिरुवल्लुवर रचित कुर्रल नामक काव्य-ग्रंथ का इतना आदर है तो वे सबके सब पानी में डूबकर आत्मघात कर बैठे। इसमें तो संदेह नहीं कि ब्राह्मणों का प्रभाव बढ़ने से ११ वीं शताब्दि तक दक्षिण में द्राविड़ देशों में जैन और बौद्ध मतों का अभाव सा हो गया। कहते हैं कि वर्तमान द्राविड़ साहित्य कुमारिल भट्ट के समय के बाद का है अर्थात् सन् ७०० ईस्वी से पहले का नहीं है। उसके सबसे प्रथम सेवक जैन कवि ही रहे हैं।

जब ब्राह्मण-धर्म्म के फैलने से द्राविड़ देशों में सनातनधर्म्म की पताका फिर से फहराने लगी और लोग शैव सम्प्रदाय के अनुयायी बने तो “तिरुवाशकम” नामक ग्रंथ की रचना हुई। “तिरु” शब्द का अर्थ पवित्र और ‘वाशकम” का “वाणी” है। इस “पवित्र वाणी” का रचयिता माणिक वशागर था जो सन् ईस्वी १०३० के लगभग और सुन्दर तथा संभंड नामक पांडीयें के समय से २०० वर्ष पूर्व था। यदि संभंड का समय छठवीं शताब्दि माना जाय जैसा कि तिरुवलैयादल और परीया नामक पुराणों से विदित होता है तो तिरुवाशकम का समय उस से २०० वर्ष पूर्व अर्थात् चतुर्थ शताब्दि ठहरता है; पर पाश्चात्य विद्वानों को इस विषय में सन्देह है।

जो हो; इतना पता तो लगता है कि माणिक वशागर का जन्म मदुरा नगर के समीप हुआ था और इसका पिता पांडीय राजा अरिमर्तनर के दरबार में एक ब्राह्मण था। कहते हैं कि १६ वर्ष की अवस्था में संस्कृत विद्या में पारङ्गत होकर माणिक वशागर राजा अरिमर्तनर का मंत्री नियत हुआ था। ऐसी भी जनोक्ति है कि माणिक वशागर जब यात्रा कर रहा था तो भगवान् शिव ने उसे दर्शन देकर ब्रह्मज्ञान का

उपदेश दिया। तबसे यह राज-मंत्री पक्का शैव हो गया और उसीकी प्रेरणा से मदुरा आदि स्थानों में बड़े बड़े स्वर्णवेष्टित शिवालय बनाये गये। पहले माणिक्क वशागर ने जैन और बौद्ध मतों का अच्छा पारिशीलन किया था; पर इससे उसकी आत्मिक तृप्ति नहीं हुई। पर जब उसे भोलानाथ के दर्शन हुए और उपदेश मिला तो उसके हृदय-कपाट खुल गये और वह सच्चा शैव साधु बन गया। अपने इष्टदेव की स्तुति करते हुए वह कहता है:—

"आज से मैंने सांसारिक धन-सम्पत्ति एवं वैभव की तृष्णा त्याग दी। मैं तेरा क्षुद्र भक्त एक श्वान के बराबर भी नहीं हूँ, पर तेरे चरण-कमलों में अनुरक्त हूँ; अतएव हे शिव, मुझे इस शरीररूपी शृंखलाओं से मुक्त कर इस दासानुदास को मोक्षपद दे। तूही मेरी आत्माका स्वामी है।"

ऐसे त्यागी पुरुष इस भारतवर्ष में ही जन्म लेते आये हैं जो भक्तिरस का पान करते हुए इस संसार और सांसारिक वैभव को तृणवत् त्यागकर अपने इष्टदेव की आराधना में तल्लीन हो जाते रहे हैं। माणिक्क वशागर भी उसी कोटि का शैव साधु था। उसने राज-मंत्री का पद त्याग साधु-वेश धारण कर लिया। शिर पर जटा, एक हाथ में दंड और दूसरे में कमण्डलु और वस्त्रों के नाम एकमात्र कोपीन धारण किये हुए वह धन-सम्पत्ति, वैभव तथा कुटुम्ब-सुख को त्याग शिव-भक्ति एवं शैव मत का उपदेश करने के लिए घर से निकल पड़ा। जिस प्रकार साधु पौल्स पहले ईसाई धर्म का कट्टर विरोधी था; पर यीशु-मसीह की आकाशवाणी सुनकर उसका परम भक्त बन गया और देशदेशान्तर में ईसाई मत का प्रचार करता फिरा था उसी प्रकार एक नास्तिक मत का अनुयायी राज-मंत्री माणिक्क भगवान् शिव के दर्शन पाकर उनका अनन्य भक्त बन गया और शैव मत के प्रचार में आजीवन संलग्न रहा। उसके ललित पद्यों में भक्ति-रस लबालब भरा है। उसकी कविता ने प्रत्येक तामिल भाषा-भाषी के हृदय में स्थान पाया है और वह ऐसा स्थान पाने के योग्य भी है। माणिक्क वशागर ने चोला राज्य में शैवमत का प्रचार किया और फिर वह चिदांबरम् नामक स्थानको पहुँचा। कहते हैं कि यहाँ लंकेश्वर ने आकर उसका उपदेश सुना और अपने दरबारियों सहित वह बौद्ध-मत त्याग शैव बन गया।

माणिक्क वशागर ने एक सहस्र पद्यों की रचना की है। उस देश के शैवों का विश्वास है कि स्वयं भोलानाथ ने उन पद्यों को लिखा था। ये पद्य सारे देश में गाये जाते और उन्हें गाते गाते गानेवाले प्रेमाश्रु बहाते हुए गद्गद हो जाते हैं। प्रत्येक मन्दिर में वे गाये जाते और तामिल लोग कहा करते हैं कि तिरुवाशकम को श्रवण करता हुआ जिस मनुष्य का हृदय द्रवीभूत न हो तो जानना चाहिए कि वह सच्चा पाषाण-हृदय है। एक विद्वान् का कथन है कि संसार की भिन्न भिन्न भाषाओं में कदाचित् ऐसे पद्य न मिलेंगे जो इन भक्ति-रस-पूर्ण पद्यों से बढ़कर हों। विद्वान् या मूर्ख सभी शैव इन पद्यों को वैसे ही प्रेम से गाते हैं जैसे कृष्णभक्त सूरसागर, गीत-गोविन्द तथा ठाकुर विद्यापती लिखित कथा का गान करते हैं। एक तामिल विद्वान् ने तो इन पद्यों की सरसता, लालित्य, विचार-गाम्भीर्य आदि गुणों की प्रशंसा यहाँतक कर डाली है कि संसार की किसी भी भाषा में इनसे बढ़कर पद्य न मिलेंगे।

तिरुनानसम्बन्ध।

तामिल शैव कवियों में तिरुनान सम्बन्ध का स्थान भी बहुत ऊँचा है। आप सातवीं राष्ट्रीय शताब्दि में श्रीशंकरस्वामी के पूर्ववर्ती सिद्ध होते हैं। नानसम्बन्ध रचित ३८४ भजनों में शुद्ध वेदान्त शिक्षा कूट कूट कर भरी गई है। नानसम्बन्ध ने भी नास्तिक (वेद को न माननेवाले, "नास्तिको वेदनिन्दकः"--मनु) मत, जैन और बौद्ध का बहिष्कार करके वैदिक शैव मत का स्थापन करने में बहुत कुछ भाग लिया था जिससे उसकी प्रतिमा प्रत्येक शिवालय में स्थापित की गई और प्रतिदिन पूजी जाती है। कुछ मन्दिरों में तो उसकी जयन्ती मनाई जाती और उसकी जीवन घटनाओं का अभिनय किया जाता है। इन घटनाओं में से अनेक अलौकिक हैं। कहते हैं कि चोला देश में चिदाम्बरम् से कुछ मील दूरी पर एक ब्राह्मण के घर उसने जन्म लिया था। अपनी शिशु-अवस्था में ही नानसम्बन्ध के मुख से छन्दबद्ध शिव-स्तोत्र निकला करते थे। अंगरेज कवि पोप के विषय में भी कहा है कि वह अपनी तोतली भाषा में अनायास ही पद्य बोलता था।
—He lisped in numbers
As the numbers came.

उसके ये स्तोत्र एक विशेष राग में थे और एक विशेष प्रकार के वाद्य के साथ गाये जाते थे; पर अब न तो वह राग ही किसी को ज्ञात है और न उस वाद्य का ही कहीं पता है। ऐसी जनोक्ति सिद्ध है कि एक बार छुटपन में बालक सम्बन्ध अकेला पड़ गया और स्वयं जगदम्बा ने आकर उसे पयःपान कराया। इसके बाद ही उसके मुख से एक छन्दो-बद्ध स्तोत्र निकला जिसे सुन लोगों को बड़ा आश्चर्य हुआ और उसका नाम "तिरुनानसम्बन्ध" रक्खा गया। इस नाम का अर्थ है "वह मनुष्य जिसका बुद्धि द्वारा देवता से सम्बन्ध है।" इस कवि ने सब मिलाकर ३८४ स्तोत्र रचे हैं जो आजतक तामिल देश के प्रत्येक शिव-मन्दिर में बड़े अनुराग से गाये जाते हैं।

तिरुनानसम्बन्ध ने ही अपने देश के पांडीयवंशी राजा को उपदेश देकर जैन मत त्याग कराया और शैवमत में दीक्षित किया था। वह अपने ६ शिष्यों के साथ देश भर में शैव मत का प्रचार करता फिरा, जिसका फल यह हुआ कि ११ वीं शताब्दी तक जैन और बौद्ध मत जो उन दिनों में भ्रष्ट रूप में वहाँ प्रचलित थे उस देश से बिलकुल उठ गये और उनका स्थान आस्तिक शैव और वैष्णव मतों ने प्राप्त किया।

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि श्रीशंकराचार्य भी द्राविड़ ब्राह्मण थे और उनसे वेदान्त-मत तथा संस्कृत-साहित्य की जैसी सेवा हुई वह किसीसे छिपी नहीं है। श्रीशंकरस्वामी धुरन्धर दार्शनिक विद्वान् तो थे ही, कवि भी वे उच्च कोटि के थे। "भज गोविन्दं भज गोविन्दं भज गोविन्दं मूढमते" यही स्तोत्र लीजिए; समग्र भारतवर्ष में उसका कैसा प्रचार है सो पाठकों से छिपा नहीं है।

अद्वैतवादी श्रीशंकरस्वामी के बाद विशिष्टाद्वैतवादी श्रीरामानुज ने श्रीभाष्य लिखकर वैष्णव सम्प्रदाय की उन्नति की और द्राविड़ साहित्य में उच्च स्थान प्राप्त किया।



वसंत ।

Lakshmi Art, Bombay, No. 8.

१२ वीं शताब्दि में श्रीमाधवाचार्य्य कनाड़ा प्रांत में उत्पन्न हुए और आपने भी वैष्णव मत का प्रचार तथा दार्शनिक ग्रंथों की रचना की । शंकर, रामानुज और माधव—इन तीन आचार्य्यों ने अपने ग्रंथ संस्कृत में लिखे और इस प्रकार मानो संस्कृत दार्शनिक साहित्य के भवन को नये नये स्तोत्रों द्वारा और भी अधिक पुष्ट बना दिया । द्राविड़ प्रान्तों ने संस्कृत और देश-भाषा द्वारा आर्य्य धार्म्मिक साहित्य की बहुत बड़ी सेवा की है इसमें सन्देह नहीं ।



वसन्त ।

[लेखक—पं० रामचरित उपाध्याय]

(१)

प्रकटित ऋतुपति हुआ समय से हँसे हंस कलहंस सभी।
उसकी सुषमा, उसकी महिमा, वर्णित हो सकती न कभी ॥
मानो कामदेव भी उसकी शोभा लख स्मर-विद्ध हुआ।
या फैंका धनु सहचर पाकर देख मनोरथ सिद्ध हुआ ॥

(२)

लख करके ऋतुपति-लक्ष्मी को यों करीर-बन सभी खिले।
बढ़ते हुए सुजन से जैसे हँसकर कपटी मित्र मिले ॥
पर पत्ते उनके क्रम क्रम से एक एक कर सूख चले।
पर की ऋद्धि-वृद्धि लखकरके कब न खलों के हृदय जले ?

(३)

मधुपों की मधुर ध्वनि से यों मानिनियों का मान छुटा।
विज्ञों की शिक्षा से जैसे जनता का अज्ञान हटा ॥
कूक उठा कोकिल-कुल कैसे आम्रांकुर को लख करके।
राष्ट्रगान करते हैं सज्जन ज्यों स्वराज्य को लख करके ॥

(४)

वियोगिनी नित बाट जोहती अपने पति के आने की।
परवश जनता आशा करती ज्यों स्वराज्य के पाने की ॥
कंज-कुंज दिल खोल खिला वासन्ती सुषमा लख करके।
सुखी भूमि को लख सद्भूमिप ज्यों हर्षित हो मन भरके॥

(५)

ऋतुपति की लीला लख धरती सुखिया सी हो गई मनो।
ज्यों नृप के कृत्रिम प्रलोभ से प्रजा-बुद्धि खो गई मनो ॥
रतिपति-अनुमति से ऋतुपति ने युवक-यूथ को अंध किया।
ज्यों नृप की नौकरशाही ने यहाँ खूब कुप्रबन्ध किया ॥

(६)

यथा निर्दयी-नृप-नियमों को युवक तोड़ते बल करके।
वृक्षों को निष्पत्र बनाता झंझानिल त्यों चल करके ॥
ऋतुपति-कृत अपकृति से बचकर खंजन जाकर छिपे कहीं।
ज्यों कुराज्य के भीतर सज्जन स्थिति करते हैं कभी नहीं ॥

(७)

ऋतुपति के दुर्भाव देखकर मन में मौन मयूर हुए।
ज्यों कवियों का कथन न रुकता जब शासक अति क्रूर हुए ॥
ऋतुपति नीर सभी नदियों का लगा सोखने किस क्रम से ?
सरल प्रजा के द्रव्य-रक्त को कुनृप चूसता जिस क्रम से ॥

(८)

काम-विवश सब काम छोड़ परदेशी-गण निज धाम चला।
खल-पीड़ित ज्यों मनुजों के मन असहयोग का ज्वलन जला॥
होने लगा वसन्त-अन्त जब सबके घर धन-धान्य हुए।
ज्यों अन्यायी-राज्य अन्त में पराधीन जन मान्य हुए ॥



हिन्दी-लेखक-सहकारी मण्डल।

(लेखक—" एक साहित्य-प्रेमी ")

मनुष्य-मात्र का 'पुच्छ-विषाण-हीनत्व' दूर करनेवाला साहित्य, आज समय की गति से, कैसी बुरी स्थिति में आ फँसा है उसे देखकर कौन सच्चा साहित्य-सेवी होगा जिसे मर्मान्तक पीड़ा न होती हो? व्यास, वाल्मीकि आदि का वह समय गया जब कि उनके हृदय और मस्तिष्क से ज्ञान-विज्ञान की वह धारा प्रवाहित होती है जो समस्त कल्मषों को दूर करती हुई जनता को कर्त्तव्य-जागरूक बनाती और संसार में स्निग्ध-शान्ति का साम्राज्य स्थापित करती थी। भवभूति का भी वह समय गया जब उनकी हृदय-वीणा से निकलता था—

पाप्मभ्यश्च पुनातु वर्द्धयतु च
श्रेयांसि सेयं कथा।
मङ्गल्या च मनोहरा च जगतो
मातेव गङ्गेव च॥
तामेतां परिभावयन्त्वभिनयै-
र्विन्यस्तरूपां बुधाः।
शब्दब्रह्मविदः कवेः परिणत-
प्रज्ञस्य वाणीमिमाम्॥

गोस्वामी तुलसीदास का भी समय आज नहीं है जिनकी हृदय-तंत्री के तार केवल इसीलिए बजते थे कि संसार अपूर्व संगीत-ध्वनि सुने और अपने कर्तव्य का निर्वाह करता हुआ उसे प्राप्त करे जो 'बुद्धि से परे' है।

संसार का वह समय गया और संसार के वे साहित्य-सेवी गये। अब तो जीवन-संग्राम की भीषणता ने साहित्य-प्रणयन के पवित्र कार्य को भी व्यवसाय-क्षेत्र की चहार-दीवारी के भीतर बन्द कर दिया है। यही कारण है जो सच्चे साहित्य-सेवी जिनका उद्देश स्वदेश का उद्धार करना हो आज हजारों में कहीं एक-दो दिखाई पड़ते हैं। अब प्रायः सभी अपने और अपने परिवार के उदर-पोषण के प्रधान उद्देश्य से ही साहित्य-प्रणयन के क्षेत्र में अवतीर्ण हुए दिख पड़ते हैं। सच्चे साहित्य-सेवी दिखें भी कैसे? समाज उनके प्रति अपने कर्तव्य का पालन करे तब न। यहाँ तो समाज आशा करता है कि गोस्वामी तुलसीदास, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, कविवर रवीन्द्रनाथ आदि उत्पन्न होवें; पर वहाँ वह उन्हें जीवन-निर्वाह की चिन्ता से विमुक्त करने के लिए क्या कर रहा है?

लक्ष्मी और सरस्वती का विरोध सनातन काल से चला आरहा है। जो सरस्वती के उपासक हैं—जो अपने विद्या-बुद्धि-बल से संसार का कल्याण करने में समर्थ हैं—वे अर्थकृच्छ्र से पीड़ित हैं। जो लक्ष्मी के लाड़ले लाल हैं वे निन्न्यानवे के फेर में पड़े हैं। उनकी धारणा है कि विश्वहित के लिए लक्ष्मी का कृपा-कटाक्ष चाहिए। इन द्वन्द्वों के बीच में संसार पड़ा है और अपने कल्याण के लिए कभी धन-कुवेरों की ओर और कभी "घृतलवणतैलतण्डुलवस्त्रेन्धन" की चिन्ता से सतत प्रपीड़ित सरस्वती के वर पुत्रों की ओर देखता है। पर, विश्व-हित के लिए "श्री" और "शारदा" की सम्मिलित शक्ति

चाहिए। और, यह सम्मेलन कैसे हो सके—इसकी चिन्ता अपने कर्त्तव्य का कुछ भी ज्ञान रखनेवाले प्रत्येक साहित्य-सेवी के सामने मुँह खोले खड़ी है।

हिन्दी-साहित्य-सेवियों के सम्मुख इस चिन्ता ने और भी भीषण रूप धारण किया है। हिन्दी-साहित्य-संसार में जिन्हें हम साहित्य के महारथी समझते हैं वे अपने बुद्धि-बल की दूकान खोले बैठे हैं। आप उन्हें ८) प्रति फ़ार्म या ।।) प्रति पृष्ठ लिखाई देना स्वीकार कर लीजिए, फिर देखिए, उनके कारख़ाने से कैसी कैसी चीज़ें तैयार होती हैं। इन्हीं कृतविद्य सज्जनों की कृपा का फल है जो द्विजेन्द्रलाल राय या बंकिमचन्द्र की समस्त कृतियाँ आज हिन्दी में विद्यमान हैं। परन्तु, आश्चर्य की बात है कि आजतक हिन्दी में ऐसा एक भी द्विजेन्द्रलाल राय या बंकिमचन्द्र पैदा न हुआ जिसे हिन्दी 'अपना' कह सकती। आज हिन्दी का वही सौभाग्य है जो कोई वन्ध्या स्त्री दत्तक पुत्रों को देखकर प्राप्त कर सकती है। जो सज्जन हिन्दी में कुछ ज्ञान उत्पन्न कर सकते थे वे ज्ञान-वितरण करने में अपने जीवन-निर्वाह की सुविधा देखकर उस कार्य में ऐसे मग्न हो गये हैं कि उनका प्रतिभाशाली व्यक्तित्व ही जाता रहा और यदि वे आज कुछ कर सकते हैं तो वह है केवल अनुवाद-कार्य।

इसमें उन बेचारे लेखकों का इतना दोष नहीं जितना हिन्दी-भाषा-भाषी समाज का है जिसने उनकी प्रतिभा का दुरुपयोग किया। समाज में भी इस दोष के सबसे अधिक भागी अनेक अर्थ-लोलुप पुस्तक-प्रकाशक हैं जो हिन्दी-लेखकों की आर्थिक अड़चनों का अनुचित लाभ उठाकर, 'हिन्दी-गौरव' के नाम पर, अपना 'भाण्डार' या 'रत्नाकर' भरने के कार्य के लिए अपनी हिन्दी-हितैषिता की दूकान लगाये बैठे हैं। हिन्दी-लेखक दो चार वर्ष परिश्रम करके कोई ग्रन्थ लिखता है और दस पाँच पुस्तक-प्रकाशकों के पास, क्रम क्रम से, उसे भेजता है। वर्ष दो वर्ष तक वह ग्रन्थ एक प्रकाशक के हाथ से दूसरे के हाथ में जाता है; तब कहीं कोई पुस्तक-प्रकाशक उस ग्रन्थ को प्रकाशित करना स्वीकार करता है। 'सदा-सर्वदा' के लिए प्रकाशनाधिकार ले लिया जाता है और लेखक को इसके बदले में अति कृपापूर्वक दो चार सौ रुपये प्रदान किये जाते हैं। पुस्तक के १० संस्करण निकलें, इससे लेखक को कोई मतलब नहीं; ग्रन्थ कई पीढ़ियों तक जीवित रहे, इससे उस लेखक की सन्तति को कोई लाभ नहीं। हाँ, सन्तति इस बात का गर्व भले ही करती रहे कि अमुक ग्रन्थ हमारे अमुक पूर्वज का लिखा हुआ।

अपने ग्रन्थ का उपयुक्त प्रकाशक ढूँढ़ने के लिए लेखक को कभी कभी कई वर्ष लग जाते हैं। इस बीच में यदि वह ग्रन्थ किसी अत्यन्त 'प्रामाणिक' पुस्तक-प्रकाशक के पास पहुँच गया और वे प्रकाशक उसकी उत्तमता पर मुग्ध होकर कहीं उसके लेखक का कल्पित नाम रखकर, अपनी ओर से प्रकाशित कर बैठे, तो फिर वास्तविक लेखक को मुक़द्दमा लड़ना चाहिए और यह प्रमाणित करना चाहिए कि यह ग्रन्थ मेरा लिखा है और पुस्तक-प्रकाशक ने धोखा देकर, मुझे कुछ भी पारिश्रमिक दिये बिना, अपने कल्पित नाम से, इसे छाप लिया है।

"श्रीशारदा" के पाठक यह न सोचें कि इन पंक्तियों का लेखक कल्पित या असम्भव बातें लिख रहा है। हिन्दी-लेखकों के दुर्भाग्य और पुस्तक-प्रकाशकों की कृपा से कुछ ऐसी घटनाएँ हो चुकी हैं और अब भी हो सकती हैं। इसका कारण कतिपय पुस्तक-प्रकाशकों का दाँव-पेंच और लेखकों की सरलता है। हम नहीं चाहते कि लेखक इतने सरल बने रहें। जब वे साहित्य का व्यवसाय ही करने बैठे हैं तो उन्हें चाहिए कि वे पुस्तक-प्रकाशकों के छल-छिद्रों से परिचित रहें और ऐसी सावधानी के साथ व्यवहार करें कि पुस्तक-प्रकाशकों के दाँव-पेंच चलाये न जा सकें, और यदि चलाये भी जावें तो वे बीच में ही काट दिये जावें।

हिन्दी में अभी जो मौलिक साहित्य उत्पन्न नहीं हो रहा है उसका कारण यह नहीं है कि ऐसा साहित्य उत्पन्न करनेवाले कोई लेखक ही नहीं हैं। इसका जो वास्तविक कारण है उसे बताने के पहले हम हिन्दी के पुस्तक-प्रकाशकों से, उनकी अनुमति लेकर, यह पूछना चाहते हैं कि आपने आजतक जितनी पुस्तकें प्रकाशित की हैं उनमें से जिसे आप सबसे अधिक मौलिक या उत्तम समझते हैं और जिसके आजतक दस पाँच संस्करण छप चुके हैं उसके लेखक को आपने कितना पुरस्कार दिया है? ५००) न? ५००) न सही, १०००)। अच्छा, १०००) भी न सही, दो हज़ार रुपये। इससे अधिक तो नहीं? हम जानते हैं, आप साहित्य के अच्छे परीक्षक हैं, आप लेखक के परिश्रम का उचित विचार करके उत्तम ग्रन्थ के लेखक को २०००) दे देते हैं। हम यह भी जानते हैं, आपके समान प्रकाशक हिन्दी में आपही हैं। आपने किसी ग्रन्थ के लिए उसके लेखक को अधिक से अधिक जो २०००) पुरस्कार दिया है उससे अधिक पुरस्कार देने की क्षमता रखनेवाले पुस्तक-प्रकाशक हिन्दी-संसार में, कम से कम अभी, दूसरे नहीं हैं। हम आपसे यह भी पूछते हैं कि तुलसीदासजी ने अपने जीवन भर में 'रामचरित-मानस' सदृश कितने ग्रन्थ लिखे थे? विहारीलाल ने ७०० दोहे ही लिखे थे न? हम आपसे यह भी पूछते हैं कि यदि कोई आधुनिक कवि इस प्रकार के ग्रन्थ आपको लिखकर दे, तो आप उसे क्या पुरस्कार देंगे? ज़रा सच तो कहिए, आप एक-एक दोहे के लिए दस-पाँच हज़ार रुपये दे सकते हैं? आप कहेंगे कि ऐसे लिखनेवाले हिन्दी में हैं कहाँ? ख़ैर, थोड़ी देर को हम आपका यह कहना माने लेते हैं। पर आप ज़रा यह तो बताइए कि यदि आपको ऐसा कोई लेखक मिल भी जाय, तो आप अपनी दूकान का दिवाला निकालकर भी उसे अधिक से अधिक क्या प्रतिफल दे सकते हैं? बहुत होगा तो दस पाँच हज़ार रुपये देंगे! यही न? आप इतने में ही प्रतिभा को खरीदना चाहते हैं। एक गुणग्राहक सज्जन १०००) देकर कवियों से राष्ट्रीय गीत लिखाना चाहते हैं। और, दिल्लगी यह, गीत बनेगा राष्ट्र भर के लिए और उसकी जाँच करेंगे दस पाँच सज्जन। और, वह गीत सचमुच में राष्ट्रीय गीत है या नहीं—राष्ट्र भर उसे मानता है या नहीं—यह बात प्रमाणित होगी सौ पचास वर्षों में। पर, उन सज्जन की जाँच-समिति इतनी निपुण है कि जिस बात को समस्त राष्ट्र

सौ पचास वर्षों में जाँचेगा उसे उक्त समिति, जिसमें अधिक से अधिक दस या बीस सज्जन होंगे, १–२ मास में जाँच देंगे। उक्त सज्जन हमारे इस कथन से बुरा न मानें। हमारी यह कालीमिर्च-रूपिणी वाणी चिरपिरी अवश्य है, पर कई लोग कहते हैं कि इसमें बहुत से गुण भी हैं। हम पुरस्कार-दाता महाशय की काव्य-रसिकता की प्रशंसा करते हैं। उनके से काव्य-रसिक अभी हिन्दी-संसार में हैं ही कितने? पर, इससे पाठक यह न समझें कि हम उनकी प्रशंसा के पुल बाँध रहे हैं। हम उनकी अधिक प्रशंसा इस आशंका से नहीं करते कि कहीं वृक्ष-विहीन वन का एरण्ड हमसे न कहने लगे कि तुम हमें 'द्रुम' की उपाधि दो। अस्तु। हम पुस्तक-प्रकाशकों से पूछ रहे थे कि यदि कोई हिन्दी का कवि "रामचरितमानस" लिखकर आपको दे—ऐसा ग्रन्थ लिखकर दे जिससे, "रामचरितमानस" के सैकड़ों संस्करण या आवृत्तियाँ निकालनेवाले श्रीवेंकटेश्वर प्रेस के समान, इस ग्रन्थ की बदौलत, आप मालामाल हो जायँ, तो आप उसके लिए दस पाँच हज़ार रुपयों से अधिक नहीं दे सकते। अब ज़रा आप यह विचारिए कि क्या मौलिक ग्रन्थ ऐसे हैं कि प्रत्येक लेखक प्रति वर्ष या प्रति दूसरे, तीसरे या चौथे वर्ष एक एक ग्रन्थ तैयार कर सके। पण्डित कामताप्रसादजी गुरु ने अपने २०,२५ वर्षों के अध्ययन के पश्चात् केवल एक ही "हिन्दी-व्याकरण" लिखा है। उस ग्रन्थ का "सर्वाधिकार" प्रकाशक को दे देने के पल्टे उन्हें क्या मिला है यह हम जानते हुए भी प्रकट न करेंगे, नहीं तो लेखक या प्रकाशक की ओर से हमपर 'मानहानि' की नालिश हो जायगी। अब आप गुरुजी से ज़रा पूछिये कि आप अपने जीवन में ऐसे ग्रन्थ कितने लिख सकते हैं। हिन्दी-साहित्य-संसार में ऐसे हज़ारों नहीं, तो दस पाँच "गुरुजी" तथा दस पाँच "हिन्दी-व्याकरण" सदृश परिश्रम-पूर्वक लिखे गये ग्रन्थ अवश्य मिलेंगे जिन्हें लिखने के लिए पुस्तक-प्रकाशकों की ओर से इतना थोड़ा मिला है अथवा मिलता है कि लेखक उसके बल पर एक दो वर्ष किसी प्रकार जीवन-निर्वाह कर सकता है। इतने पर भी हिन्दी-साहित्य-संसार आशा करता है कि हिन्दी में मौलिक ग्रन्थ लिखे जावें। आशा बुरी नहीं है। ये ग्रन्थ लिखे जावेंगे जब वाल्मीकि, व्यास सरीखे संसार-त्यागी तपोनिधि जन्म ग्रहण करेंगे जिनका उद्देश साहित्य-सेवा करके अपनी प्रतिभा की बिक्री से अपना तथा अपने परिवार का प्रति-पालन करना नहीं, बरन विश्व-हित के लिए साहित्य-निर्माण करना होगा।

पुस्तक-प्रकाशकों की, सच्चा साहित्य उत्पन्न करने में बाधा देनेवाली लोभवृत्ति पर हमने जो आक्षेप किये हैं उन्हें पढ़कर कोई पुस्तक-प्रकाशक हमसे कह सकता है कि "आपके इन आक्षेपों का मतलब क्या है? यदि आप समझते हैं कि हम लोग लेखकों को उनके परिश्रम का उचित प्रतिफल नहीं देते तो लेखक अपने ग्रन्थ दूसरे पुस्तक-प्रकाशकों को देवें जो उन्हें उचित प्रतिफल देवें या अपने ग्रन्थों का सर्वाधि-कार अपने हाथ में रखने के लिए पं० श्रीधर पाठक के समान अपनी सब कृतियाँ स्वयं प्रका-शित करावें और अपने प्रतिभा-प्रसूत प्रत्येक पद्य-प्रसून के लिए अपने प्रेमी पाठकों से एक एक आना वसूल करें, अथवा अधिक उदार-बुद्धि

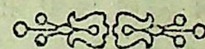
रखनेवाले बाबू मैथिलीशरण गुप्त के समान 'साहित्य प्रेस' खोलकर अपने ग्रन्थों के षोड़श संस्कार अपने ही हाथ से किया करें--स्वयं पुस्तकें लिखें, स्वयं प्रकाशित करें, स्वयं अपने गून्थ का सब कुछ करें।" भाई पुस्तक-प्रकाशक, आपका कहना अधिकांश में ठीक है। हम मानते हैं कि लेखक जो अपनी प्रतिभा-शलाका से संसार के अज्ञान-चक्षु खोलने चले हैं स्वयं इतने अज्ञान नहीं हो सकते अथवा उन्हें होना न चाहिए कि वे अपना भला-बुरा न समझ सकें। यदि लेखक समझते हैं कि उन्हें उनकी कृति का यथेष्ट पुरस्कार नहीं दिया जाता है, तो उन्हें अधिकार है कि वे ग्रन्थ प्रकाशित करने की दूसरी व्यवस्था करें; उनसे कोई जबरदस्ती तो करता नहीं।

तब प्रश्न यह होता है कि उपाय क्या है कि हिन्दी-संसार में साहित्य भी अच्छा उत्पन्न होवे और लेखकों को प्रकाशकों का निहोरा न करना पड़े। इसके लिए हमारे मित्र पं० गोपालराव तामस्कर के उर्वर मस्तिष्क से एक योजना की उपज हुई है। यह योजना १८ फ़रवरी (१९२२) के "कर्मवीर" में छपी है। इसका संक्षेप इस प्रकार है कि २५०००) की पूँजी से "लेखक-सहकारी मण्डल" की (हम इसका नाम "हिन्दी-लेखक-सहकारी मण्डल" रखना चाहेंगे) स्थापना की जावे। यह पूँजी सौ सौ रुपयों के २५० हिस्सेदारों से एकत्र की जावे। लेखक ही इसके हिस्सेदार होवें। जब इस मण्डल का कोई हिस्सेदार लेखक अपना लिखा ग्रन्थ छपाना चाहे, तब वह उक्त मण्डल से आवश्यक द्रव्य, १) सैकड़ा ब्याज पर, उधार लेवे और पुस्तक को अपनी ओर से प्रकाशित करे तथा पुस्तक की बिक्री से रुपया जिस प्रकार आता जावे ऋण-परिशोध में लगाया जावे। मण्डल इस बात की सावधानी रखे कि उसका रुपया डूबने न पावे। वह यदि चाहे तो ५ विद्वानों की एक समिति बना दे जिसका काम यह देखना होगा कि "क़िस्सा तोतामैना" या "साढ़े तीन यार" के समान ग्रन्थ न छपने पावें। जब यह समिति किसी ग्रन्थ को छापना स्वीकार कर ले तभी लेखक को रुपया उधार दिया जावे। पुस्तक के छपते ही, उसकी लगभग एक चतुर्थांश प्रतियाँ लेखक को, विक्रयार्थ, दे दी जावें। शेष प्रतियाँ मण्डल के अधिकार में रहें और ये प्रतियाँ लेखक को तब तक न दी जावें जबतक मण्डल का ऋण, सूद सहित, न अदा हो जावे। मण्डल यदि चाहे तो अपना एक प्रेस खोल दे और नियम बना दे कि लेखक अपने ग्रन्थ इसी प्रेस में छपावें। मण्डल पुस्तकों की बिक्री की व्यवस्था करके लेखकों को बिक्री के काम से मुक्त कर सकता है। इस मण्डल के ब्योरे की अन्य बातें सोची जा सकती हैं।

यह योजना बहुत अच्छी है। यदि इसके अनुसार मण्डल स्थापित हुआ और काम किया गया, तो ग्रन्थों का प्रकाशनाधिकार लेखकों के पास रहने से लाभांश उन्हें तथा उनकी सन्तति को मिलेगा जिससे लेखक अपने काम में उत्साहित होंगे और उनके द्वारा हिन्दी-साहित्य की श्री-वृद्धि हो सकेगी। मंडल को इस कार्य में कोई हानि हो नहीं सकती। उसे जो सूद मिला करेगा उससे उसका ख़र्च निकलता जायगा और यदि प्रेस भी उसके अधिकार में रहा तो उसके लाभ से हिस्सेदारों का भी पान-तमाकू का ख़र्च निकलता रहेगा।

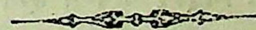
व्यवसायी पुस्तक-प्रकाशक यह न सोचें कि उक्त योजना के अनुसार काम होने से उनकी दूकान ही बन्द हो जायगी। हम कहते हैं, आप डरें नहीं, इस प्रकार के एक नहीं, अनेक मण्डल स्थापित होने पर भी, पचासों लेखक ऐसे मिलेंगे जो अपने ग्रन्थ स्वयं प्रकाशित करने की ज़िम्मेदारी लेना पसंद न करेंगे। अब भी हिन्दी-साहित्य-संसार में अनेक ऐसे लेखक हैं जो अपने ग्रन्थ स्वयं प्रकाशित करने की आर्थिक क्षमता रखते हुए भी उन्हें दूसरे प्रकाशकों को दे रहे हैं। कई ऐसे भी लेखक हैं जिन्होंने अपने ग्रन्थों का पहला संस्करण तो स्वयं, इस आशा से, छपाया कि इस ग्रन्थ के निकलते ही हम धन-कुबेर हो जावेंगे; पर जब उन्होंने देखा कि ग्रन्थ का विज्ञापन छपाने में इतना द्रव्य लगता है जितना छपाई की लागत में नहीं लगा था, तब कहीं उनकी आँखें खुलीं और अब वे दूसरे संस्करण के लिए पुस्तक-प्रकाशक खोज रहे हैं। इस प्रकार के पचासों लेखक पुस्तक-प्रकाशकों को मिलते रहेंगे और उनका कार्य बराबर चलता रहेगा। पुस्तक-प्रकाशकों से साहित्य का जो उपकार हो रहा है और हो सकता है वह लेखकों से नहीं हो सकता। बात यह है, लेखकों और प्रकाशकों का अन्योन्य सम्बन्ध है—साहित्योन्नति के लिए दोनों की आवश्यकता है और सबसे बड़ी आवश्यकता इस बात की है कि लेखक और प्रकाशक दोनों कुछ उदार बुद्धि से काम लिया करें। प्रकाशक लेखकों की आर्थिक अड़चनों का अनुचित लाभ न उठावें, और न प्रत्येक लेखक ही अपने ग्रन्थ के विषय में यही सोचा करें कि हमारा ग्रंथ पुस्तक-प्रकाशक के लिए कल्पवृक्ष हो जायगा, इसकी सैकड़ों आवृत्तियाँ निकलेंगी और प्रकाशक मालामाल हो जायगा। यदि लेखक और प्रकाशक दोनों विचार-पूर्वक काम किया करें तो ऐसी अनबन ही न होने पावे। फिर भी, "हिन्दी-लेखक-सहकारी मण्डल" की आवश्यकता है और वह है उन लेखकों के लिए जो अपने ग्रन्थों का प्रकाशनाधिकार, किसी कारण, अपने ही पास रखना चाहते हैं; पर द्रव्याभाव के कारण ऐसा नहीं कर सकते हैं।

आशा है, सहयोगी समाचारपत्रादि इस विषय की उपयोगिता को समझकर इसका आन्दोलन उठावेंगे और इस मण्डल की स्थापना हो जावे और इसका काम सुचारु रूप से चलने लगे—इसका प्रयत्न करेंगे।



स्वर्गीय महामहोपाध्याय

पं० चित्रधर मिश्र, मीमांसक-शिरोमणि।



(लेखक—प्रोफ़ेसर आद्यादत्त ठाकुर, एम० ए०)

यह बात निर्विवाद सिद्ध हो चुकी है कि भारतीय सभ्यता प्राचीनतम है। जिस समय बहुत से आधुनिक राष्ट्र संसार-क्षेत्र में उत्पन्न नहीं हुए थे, जिस समय अनेक राष्ट्र अपना अस्तित्व स्थिर रखने के लिए प्राण-पण से छटपटा रहे थे उस समय यह भारत देश सभ्यता के समुच्च शिखिर पर स्थित था। इसके समकालीन सभ्य देश इस समय काल-गर्भ में विलीन हैं। भारतवर्ष को भी अनेक आपत्तियों का साम्हना करना पड़ा है। अनेक बार इसका जीवन संशयापन्न हो गया है; पर धन्य है

भारत की समाज-संस्था को, इतने आघात पड़ने पर भी, इतने बार मरणासन्न होने पर भी भारत मरा नहीं, अभी तक जीवित है और अब भी इस गिरी दशा में, यह अन्य समुन्नत सभ्याभिमानी देशों से कहीं उच्चतर है और अद्यापि इसे अपनी प्राचीन सभ्यता का गौरव है।

इसी भारत का अन्यतम प्रान्त तिरहुत है जिसका दूसरा नाम मिथिला भी है। मिथिला अनादिकाल से विद्या-व्यवसाय के लिए विश्व-विख्यात है। इसी देश में राजर्षि जनक राज्य करते थे और यहीं जनकपुर में जगज्जननी राम-जाया जानकी ने जन्म ग्रहण किया था। मिथिला तथा राजर्षि जनक का वर्णन वेद में भी मिलता है। महर्षि याज्ञवल्क्य ने भी इसी पुण्यभूमि मिथिला में जन्म ग्रहण किया था। उस समय से लेकर वर्तमान काल तक मिथिला में इतने विद्वद्रत्न हो गये हैं जिनका उल्लेख करना भी साधारण श्रमसाध्य विषय नहीं है। इस मिथिला में उच्चकोटि के ऐसे विद्वान् उत्पन्न होते आये हैं कि उनमें से एक एक के लिए भी भारत मिथिला का ऋणी है। यह कहना भी दुस्साहस नहीं है कि इस उच्च कोटि के विद्वानों का इतनी अधिक संख्या में प्रादुर्भाव और भी किसी देश में हुआ हो यह संभव नहीं दिखता। इससे यही सिद्ध होता है कि यह महामहनीय मिथिला मही का ही प्रताप है कि जहाँ पण्डित-रत्नों की खानि है जिसमें से समय समय पर ऐसे विलक्षण रत्न पैदा होते रहते हैं जो अपनी कान्तिच्छटा से समस्त भूमण्डल को प्रकाशित कर जाते हैं। इन रत्नों में विशेषता यह है कि रत्नों के तिरोधान हो जाने पर भी उनकी कान्ति यशोरूप में सर्वदा वर्तमान रहती है और ज्ञानालोक द्वारा जन-समाज का हृदयान्धकार दूर करती रहती है। इन्हीं पण्डित-रत्नों में से अन्यतम मिथिलामात्र के नहीं, समस्त भारत के पण्डित-मण्डल के ललामभूत स्वर्गीय महामहोपाध्याय पण्डित चित्रधर मिश्र महाशय का संक्षिप्त जीवन-चरित्र पाठकों के समक्ष उपस्थित करके यह लेखनी पवित्र होना चाहती है।

इन महानुभाव का जन्म संवत् १९०१ (विक्रम) माघ कृष्ण चतुर्दशी बुध दिन नरहन प्रान्तस्थ टभका ग्राम में हुआ था। इनके बाल्यकाल का विशेष उल्लेख-योग्य वैलक्षण्य उपलब्ध नहीं होता; पर यह अवश्य है कि इस प्रकार के प्रतिभाशाली जन जिस विषय में दत्तचित्त होंगे उसीमें साधारण मनुष्यों की अपेक्षा अधिक उन्नति कर दिखावेंगे। बाल्यकाल में पढ़ने में इनकी अभिरुचि तनिक भी न थी। उद्दण्ड बालकों के साथ व्यायाम तथा आखेट में इनका चित्त विशेष अनुरक्त रहता था। इस दशा का वर्णन उन्होंने अपने ही श्रीमुख से बड़े ही सुन्दर शब्दों में किया है। उसे पाठकों के मनोविनोदार्थ उद्धृत करते हैं।

> अब्दे सप्तदशेऽतिपुष्टक मुवाप्रौढिं परां बिभ्रता
> व्यायामप्रवणे वयस्यनिवहे लब्धप्रकर्षेण च।
> आखेटे सृजता मृगादिहनने हर्षोत्सवं तन्वता
> वर्षद्वंद्वमनाप्यहो बत! मया हिंसाव्रतं रक्षता॥

इस मृगया-व्यापार में रत रहकर शारीरिक कष्ट का सहन करना साधारण विषय था। शीत ऋतु की रात में भी, शीत की उपेक्षा करके, पक्षियों को पकड़ने के लिए ये सरोवरों में निश्शंक निमज्जन करते थे। सर्पादि हिंस्र जीवों का

भय नहीं था, कण्टकादि की तो चिन्ता ही कब होगी। इसका भी वर्णन उन्हीं महानुभाव के शब्दों में सुनिए : —

> क्लेशं नागणयं शशादिहनने धावन् श्वभिः सत्वरं
> रात्रिं नाकलयं सरस्सु पतग–प्राप्तौ निमज्जन्नहम् ।
> किं शीतं किमु चौष्ण्यमस्ति किमुता सर्पाद्भयं कःश्रमः
> का वा कण्टकवेदनेति सहसा दृतोऽध्यगच्छन्न च ॥

इस प्रकार उनके जीवन के अठारह वर्ष व्यतीत होगए। दैवी घटना कैसी विचित्र है। उस समय यह कौन कह सकता था कि मृगया–व्यसन में अत्यासक्त यही व्यक्ति अपने विलक्षण पाण्डित्य के द्वारा समस्त भारत में अपने यशःसौरभ का प्रसार करेगा ? उस समय यह किसे ज्ञान था कि जो इस प्रकार जीव–हिंसा-व्रत में निरत है वही भविष्य में परम योगिजनानुकूल आचरण द्वारा जीवन-निर्वाह कर अन्न तक का परित्याग करके अपने जीवन का अधिकांश व्यतीत करेगा ? यह चरित्र महर्षि वाल्मीकि के बाल्यकाल का स्मरण दिलाता है। महर्षि वाल्मीकि के जीवन का पूर्व-काल भी इसी प्रकार हिंसा-कार्य में व्यतीत हुआ था। भट्ट बाण कवि का बाल्यकाल भी शैशव चापल से रहित न था, जैसा कि हर्षचरित्र में एक स्थल में उल्लेख है: — लोकद्वयाविरोधिभिस्तु चापलैः शैशवमशून्यमासीत् ।

अन्त में, भगवान् ने उनकी बुद्धि में परिवर्तन किया और सहसा उनके चित्त में पढ़ने के लिए प्रबल प्रवृत्ति उत्पन्न हुई। फिर क्या था। इच्छा मात्र का विलम्ब था। बुद्धि की प्रखरता के कारण अत्यल्प काल ही में मिथिला में काव्य, व्याकरण प्रभृति का अध्ययन करके शास्त्रों में विशेष प्रौढ़ि प्राप्त करने के उद्देश से काशी जाकर क्वीन्स कालेज में प्रविष्ट हुए। यथासमय व्याकरण और धर्मशास्त्र की परीक्षा में सर्वप्रथम उत्तीर्ण होकर पारितोषिक और प्रशंसा-पत्र प्राप्त किया। तदनन्तर नेपाल राज्य के गुरु नीलदेव पंथ से मीमांसा शास्त्र का अध्ययन किया। इस मीमांसा (पूर्व मीमांसा) शास्त्र में उनका मन इतना लगा कि अपना सम्पूर्ण अध्ययवसाय उसकी उन्नति में लगा दिया। उस समय मीमांसा शास्त्र अत्यन्त ह्रास दशा में था। पुस्तकें पर्याप्त रूप से प्राप्त न होती थीं; इस शास्त्र के पठन-पाठन का भी प्रचार प्रचुरता से न था। उस समय इन महानुभाव का मीमांसा–शास्त्र के उद्धारार्थ प्रवृत्त होना वास्तव में अति प्रशंसनीय कार्य था। लुप्तप्राय मीमांसाशास्त्र के ग्रन्थों की गवेषणा करके, पुस्तक संग्रह करके तथा छात्रवर्ग में पठन–पाठन की प्रवृत्ति का प्रादुर्भाव करके इन्होंने मीमांसा शास्त्र की जो सेवा की है उससे संसार-क्षेत्र में जब तक मीमांसा शास्त्र रहेगा तब तक उनकी कीर्त्ति अक्षुण्ण बनी रहेगी। वैसे तो विद्वान् अनेक हो गए हैं; पर एक मृतप्राय शास्त्र को जीवन-दान देने का श्रेय हमारे चरित्रनायक को ही है। थोड़े दिन बाद ही काशीस्थ जम्बू पाठ-शाला में ये मीमांसा शास्त्र के अध्यापक नियुक्त हुए। दुर्दैववशात् ज्वर से पीड़ित होकर उस पद का परित्याग कर मिथिला लौट गए। व्याधि से निर्मुक्त होने पर उन्हें नेपाल राज्य से नियुक्ति-पत्र मिला; किन्तु परिवार-जनों की प्रेरणा के वशीभूत होकर उस सुदूर स्थान में जाना इन्होंने स्वीकार नहीं किया। इसके अनन्तर, सन् १८७८ ई० में, दरभङ्गा राज्य से, नियुक्ति-पत्र प्राप्त हुआ जिसे इन्होंने सहर्ष स्वीकार किया। तत्कालीन

मिथिलेश श्रीमल्लक्ष्मीश्वरसिंह देव बहादुर ने धौत वस्त्र प्रदान करके अपनी गुणग्राहकता का परिचय दिया और धर्माध्यक्ष तथा दानाध्यक्ष के प्रतिष्ठित पद पर इन्हें नियुक्त किया। महाराज के आदेशानुसार इनकी अध्यक्षता में, प्रति सोम दिन, पण्डितों की सभा हुआ करती थी। पण्डित लोग शास्त्रार्थ करते थे और अन्त में उनका द्रव्य द्वारा योग्यतानुरूप सत्कार किया जाता था। देशदेशान्तर से विद्वज्जन इस सभा में उपस्थित हुआ करते थे और इन महानुभाव के द्वारा राज्य से पुरस्कृत होते थे। इनके पाण्डित्य की प्रखरता का परिचय प्राप्त करके ब्रिटिश गवर्नमेण्ट ने सन् १८-९९ ई० में इन्हें 'महामहोपाध्याय' की पदवी से सम्मानित किया। इसके पश्चात्, संवत् १९६२ वि० में, भारत-धर्म-महामण्डल ने इन्हें 'मीमांसक-शिरोमणि' की उपाधि प्रदान करके अपनी गुणग्राहकता दिखाई। अन्त में, बांकीपुरस्थ बिहार-पण्डित सभा ने भी 'विद्यावारिधि' पदवी रूप पुष्पोपहार द्वारा इनके गुणों की पूजा की।

वर्तमान मिथिलेश महाराजाधिराज श्रीमद्रमेश्वर सिंह बहादुर ने जब महारानी श्रीरमेश्वरलता विद्यालय की स्थापना दरभंगा में की, तब इन महानुभाव को उस विद्यालय का अध्यक्ष नियत किया। इस कार्य को इन्होंने अत्यन्त सुचारु-रूप से सम्पादन किया। आज दिन उनके सैकड़ों विद्वान् शिष्य वर्तमान हैं जो अपने अध्यापक महोदय की कीर्ति का दिगन्त में प्रसार कर रहे हैं। मैथिलकुल-मार्तण्ड महामहोपाध्याय डाक्टर गङ्गानाथ झा भी हमारे चरित्रनायक के छात्रों में से अन्यतम हैं। इनके अन्य विशिष्ट छात्रों में से विशेष-उल्लेख-योग्य ये हैं:—

(१) पण्डित श्रीरविनाथ झा, व्या० मी० तर्कतीर्थ तथा सांख्योपाध्याय, प्रोफ़ेसर, रमेश्वरलता विद्यालय।

(२) पण्डित श्रीयोगी झा, व्या० तीर्थ, प्रोफ़ेसर, विशुद्धानन्द विद्यालय, कलकत्ता।

(३) पं० श्रीजटेश्वर झा, न्याय-वेदान्त-मीमांसा-काव्यतीर्थ, प्रोफ़ेसर, धर्म-समाज-संस्कृत कालेज।

(४) पं० श्रीमुकुन्द झा, प्रोफ़ेसर, धर्म-समाज-संस्कृत-कालेज।

ऐसे ऐसे महानुभाव-गण छात्र होकर जिनकी यशोराशि का प्रसार कर रहे हैं, उनका पार्थिव शरीरावसान होने पर भी मरण नहीं कहा जा सकता। कीर्तिर्यस्य स जीवति—यह लोकवाद ऐसे ही स्थलों में चरितार्थ होता है। इनकी शिष्य-प्रबोधिनी-शक्ति अत्यन्त विलक्षण थी जिस से आकृष्ट होकर बहुसंख्यक छात्र, संन्यासी-ब्रह्मचारि-गृहस्थ सभी श्रेणी के मनुष्य, दूर दूर देश से इनके पास पढ़ने आया करते थे। धारणा-शक्ति भी इनकी लोकोत्तर थी। जिस ग्रंथ को उत्तम रीति से एक बार पढ़ लेते थे वह इन्हें कण्ठस्थ होजाता था। इसी तरह लेखन-कार्य में भी इनकी पटुता परम विस्मयावह थी। इनके कठिन परिश्रम द्वारा संगृहीत दुष्प्राप्य ग्रन्थों को प्रकाशित करने का यथासाध्य शीघ्र प्रयास किया जाय तो इससे पण्डित-समाज का बड़ा उपकार होगा। इनके स्वरचित ग्रन्थों में से कुछ के नाम ये हैं;—

१—मीमांसासार-संग्रह, २—मैथिलसंस्कृत-कवि-नामावली, ३— उपलक्षणसंग्रह तथा



स्वर्गीय महामहोपाध्याय

पंडित चित्रधर मिश्र, मीमांसक-शिरोमणि।

2456—Lakshmi Art, Bombay No. 8.

तत्संगृहीत हस्तलिखित पुस्तकों में से कुछ के नाम उद्धृत किये जाते हैं जो अद्यापि अमुद्रित हैं—

१–तन्त्ररत्नम् सर्वतन्त्रस्वतन्त्रश्रीमत्पार्थसारथिमिश्रप्रणीत ।

२–शास्त्रदीपिकाप्रकाश शंकरभट्ट रचित ।

३–कुण्डकादम्बरी गोकुलनाथ उपाध्याय विरचित ।

४–अग्निष्टोम सप्तहौत्र प्रयोग ।

५–न्यायरत्नमालाटीका रामानुजाचार्य विरचित ।

शास्त्रार्थ करने की शैली में भी ये अद्वितीय थे। इनकी विवेचना सुनकर विपक्ष-पण्डित-मण्डल भी मुग्ध हो जाता था । हठ और दुराग्रह का तो इनमें लेश न था। अपनी विलक्षण बुद्धि की प्रखरता के कारण विपक्षी पण्डितों का भी हृदय हरण करने का इन्हींका सौभाग्य था । बङ्गाल प्रान्त के राजा, जमींदार तथा विद्वन्मंडल इनका शास्त्रार्थ सुनने के लिए सदा साकांक्ष रहते थे और समय समय पर इन्हें निमन्त्रित करके इनका शास्त्र-विवेचन सुन अपने को कृतकृत्य मानते थे। अनेक बार अनेक दिग्गज पण्डितों को शास्त्रार्थ में परास्त करके इन्होंने अपना सर्वोत्कृष्टत्व बहुत पूर्व ही स्थिर कर लिया था और मीमांसा-कानन में पञ्चानन के समान निर्भय विचरण करते थे। हमें दुःख है, उनके शास्त्रार्थों का विशेष विवरण हम पाठकों के समक्ष उपस्थित करने में अभी समर्थ नहीं हैं।

कलकत्ता-संस्कृत-बोर्ड के सदस्य होकर समुचित परामर्श द्वारा, उन्होंने छात्रवर्ग का बड़ा उपकार किया है । बोर्ड के अध्यक्ष विश्वविख्यात पंडित आशुतोष मुकर्जी इनके मत का महत्त्व समझकर, समय समय पर, पत्र द्वारा भी गंभीर विषयों में इनकी सम्मति लिया करते थे। स्वर्गीय डाक्टर सतीशचन्द्र विद्याभूषण तो इनके परम भक्त थे। इनके ज्येष्ठ सहोदर श्रीयुत शरच्चन्द्र शास्त्री की श्रद्धा भी हमारे चरितनायक पर कम न थी। एक समय शारदी पूजा के अवसर पर ये दोनों सहोदर दरभंगा पधारे थे और इन्हीं महानुभाव के अतिथि हुए थे । वहाँ से इनके साथ साथ अहल्या और गौतम के आश्रम-संदर्शनार्थ गए थे। इस यात्रा का वर्णन श्रीयुत शरच्चन्द्र शास्त्री ने बंगाली मासिक पत्र 'भारतवर्ष' में 'महर्षि गौतम का आश्रम' शीर्षक लेख में अत्यन्त मनोरम शब्दों में किया है जो प्रत्येक पुरातत्त्व-संवित्सु के पढ़ने-योग्य है। उसे पढ़ने से हमारे नायक के चरित्र का चित्र भी जो श्रीयुत शरच्चन्द्र शास्त्री के सदृश उच्च कोटि के लेखक की लेखनी से विलक्षण शब्दों में अंकित किया गया है पाठकों के समक्ष उपस्थित हो जायगा ।

बिहारोत्कल-संस्कृत-समिति के सदस्य भी ये अन्त तक रहे। बिहार प्रांत से हिन्दू-विश्वविद्यालय के लिए भी ये सदस्य निर्वाचित किये गए थे और समय समय पर लेख द्वारा परामर्श दिया करते थे ।

वार्धक्य के कारण जब इन्होंने रमेश्वरलता-विद्यालय से अपना संबंध त्यागना चाहा उस समय महाराजाधिराज श्रीमद्रमेश्वरसिंह बहादुर ने त्यागपत्र स्वीकार करते हुए थोड़े से शब्दों में

अपना मनोभाव इस प्रकार प्रकट किया था—

I am very sorry indeed to lose the services of an old and faithful servant whom my brother and I always held in the highest respect, but I recognize that his old age will prevent him from continuing any active work in future and that he intends to follow अयाची Dubey's example:—

> अधीतमध्यापितमर्जितं यशो।
> न शोचनीयं किमपीह भूतले॥
> अतः परं श्रीभवनाथशर्मणो।
> मनो मनोहारिणि जाह्नवीतटे॥

(हस्ताक्षर) रमेश्वरसिंह।

विद्यालय की अध्यक्षता को परित्याग करते समय मिथिलास्थ पंडित-मंडल (महामहोपाध्याय पंडित कृष्णसिंह तथा म० म० डाक्टर गंगानाथ झा प्रभृति) ने जो सम्मान-पत्र दिया था उसके अवलोकन करने से भी पता चलता है कि विद्वज्जन भी उनपर कितनी श्रद्धा तथा समादर-बुद्धि रखते थे। यह सम्मान-पत्र सम्पूर्ण ही अत्यन्त सरल तथा गम्भीर भाव परिपूरित है, किन्तु स्थानाभाव के कारण उसमें से केवल एक श्लोक उद्धृत किया जाता है।

> निश्चिन्वन् परशब्दतत्त्वमखिलं साहित्यपाथोनिधिं।
> निर्मथ्नन् स्मृतिनीतितर्कमचिरात् वेदान्तविद्यां विदन्॥
> मीमांसामनुशिष्य शिष्यनिवहे लुप्तप्रचारां चिरात्।
> कीर्त्याऽमण्डयदेष मण्डल इवाखण्डं महीमण्डलम्॥

पाठशाला से अवकाश पाने पर आप अपने ग्राम टभका चले गये और अन्त तक वहीं रहे। पर विद्या-व्यवसाय इनका बराबर बना रहा। वार्धक्य दशा में भी पठन-पाठन थोड़ा बहुत हुआ ही करता था। परन्तु सांसारिक बखेड़ों से ये सर्वदा दूर रहते थे। इनके जीवन की एक बात बड़ी विलक्षण यह थी कि ये कभी किसी के साथ मुकद्दमा नहीं लड़े। मिथिला सदृश अभियोगशील देश में रहकर इस प्रकार निबहना साधारण बात नहीं है। इनकी आयु जब पचास वर्ष की थी तभी से इन्होंने अन्न का परित्याग कर दिया और अन्त तक इस व्रत को निबाहा। केवल फल और दुग्ध द्वारा ही जीवन-निर्वाह करते थे। गृहस्थ रहकर भी वानप्रस्थोचित विधान से वर्तन करके ऋषिजनानुगत सरणि का सम्यक् परिवाहन करते हुए इन्होंने अपने जीवन का अत्यधिक भाग व्यतीत किया। यह इस कलिकाल को देखते हुए साधारण बात नहीं है।

इसी वानप्रस्थ विधि से वास करने की दशा में ही माननीय मालवीयजी ने हिन्दू यूनिवर्सिटी में पूर्वमीमांसा शास्त्र के अध्यापक का पद स्वीकार करने के लिए इनसे सानुनय अनुरोध किया। श्रीयुत मालवीयजी की यह इच्छा थी कि भारतवर्ष के प्रत्येक शास्त्र के धुरन्धर पण्डित हिन्दू यूनिवर्सिटी में समवेत हों, तदनुसार मीमांसा-शास्त्र में भारतवर्ष में अद्वितीय विद्वान् होने के कारण हमारे चरित्रनायक से भी आग्रह किया गया। मालवीयजी सदृश महानुभाव का आग्रह, भगवती भागीरथी के तट की भव्य भूमि, सुर-जन-दुर्लभ वाराणसी क्षेत्र, सकलसुरासुरनिकरमौलि-मालालालितचरणारविंद भगवान् विश्वेश्वर की पादचर्या का सुअवसर—इन सब बातों की उपेक्षा करके 'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी' इस सिद्धान्त को चरितार्थ करते हुए, जन्मभूमि का सेवन करना ही स्थिर किया

और श्रीमान् मालवीयजी की अभ्यर्थना को अस्वीकार कर दिया। उत्तर भी कितना सुन्दर है—"यद्यपि हमने इस जीवन में चिरगवेषणा करके लुप्तप्राय मीमांसा-शास्त्र का बहुत संग्रह किया तथा पठनपाठन द्वारा हम उसे उपयोग में लाये; किन्तु हमारी अवस्था ७२ वर्ष की हो गई। इस अवस्था में मनुष्य ठीक प्रकार से कार्य नहीं कर सकता। दूसरे, महाराज लक्ष्मीश्वरसिंह बहादुर तथा महाराजाधिराज श्रीरमेश्वरसिंह बहादुर की सेवा से निर्माल्यभूत इस शरीर को द्रव्य के लोभ से अन्यत्र नहीं लगाना चाहते।" यह उत्तर इन्हीं महानुभाव के अनुरूप था।

इस उच्च कोटि के विद्वान् होने पर भी इन की सहृदयता और सरलता सराहनीय थी। अभिमान का तो उनमें लेश न था। क्षुद्रातिक्षुद्र जन के साथ भी उनका व्यवहार अत्यन्त स्नेह और दयापूर्ण रहता था। धर्म और सदाचार की तो वे मानो मूर्ति ही थे। शास्त्र के पठनपाठन करनेवाले विद्वान् अनेक मिलते हैं; पर तदनुसार आचार पालन करनेवाले जन विरले ही प्राप्त होते हैं। इनके दर्शनमात्र से नास्तिक के भी मन में श्रद्धा और स्नेह का संचार होने लगता था। ये परम शैव थे। अपने आत्म-चरित में इन्होंने एक स्थल पर लिखा है—'वार्धक्ये शिवसेवनात् परतरं कार्यं न विज्ञायते'। गोसेवा में इनकी विशेष रुचि थी। इनकी अन्तिम आज्ञा यही हुई कि मरणकाल में ये गोशाला में रखे जायँ और इनकी चिता पर एक शिव-मन्दिर बना दिया जाय। तदनुसार ये अन्तकाल में गोशाला में रखे गये और परममन्त्र का जाप करते हुए फाल्गुन कृष्ण १२ संवत् १९८७ वि० की रात में इस नश्वर पार्थिव शरीर का परित्याग कर इन्होंने शिव-सायुज्य लाभ किया। इनके लिए तो शोचनीय कुछ न था। पर उनकी मृत्यु से पण्डित-समाज की जो क्षति हुई है उसकी पूर्ति होना दुष्कर है। अस्तु, विधि-विधान में तो किसी का वश चलता नहीं। उनके सुयोग्य तनूज बाबू गोविन्द मिश्र इस समय दरभंगा राज्य में तहसीलदार हैं। उनपर तथा उनके सुख्यात भ्रातुष्पुत्र पण्डित रतिनाथ मिश्र तथा पण्डित शिवनन्दन मिश्र पर इसका बड़ा भार है। उनकी अन्तिम आज्ञा का पालन तो कर दिया गया और शिव-मन्दिर प्रायः निर्मित हो चुका; पर पण्डित-मण्डल की इच्छा-पूर्ति करना अभी शेष है। स्वर्गीय पण्डितजी द्वारा रचित तथा संग्रहीत अमूल्य पुस्तकों का यथासाध्य शीघ्र प्रकाशन करके ये तीनों महानुभाव पण्डित-समाज को उपकृत करें यह हमारी विनीत प्रार्थना है।

* मुक्ति या बंधन ?

[लेखक—'एक भारतीय आत्मा']

(१)

ये 'जयति जय'-घोष के काँटे गड़े,
लोटने ये हार सर्पों से लगे।
छोड़कर आदर्श देवोपासना,
बन्धु, तुम किस तुच्छ पूजा में लगे।

(२)

बंध चली ममता कसी जंजीर सी,
यह परिस्थिति का गुनहख़ाना बना।
घिर गये आत्मीय, मैं बेबस हुआ,
भोग की सह मार दीवाना बना॥

*—८ मास के सपरिश्रम कारावास के पश्चात् मुक्त होने पर लिखित।

(३)

कठिन शिष्टाचार का लंगर लगा,
मोह का प्रतिकूल ताला पड़ चला।
वासना के सन्तरी-दल का सबल,
इन दृगों के द्वार पहरा अड़ चला॥

(४)

था वहाँ सन, अब सदैव विकर्म की,
कह रहे हैं रस्सियाँ इतने लगी।
थीं छटाकें चार, अब मन भर हुआ,
हृदय कहता है कि सिर धुनने लगी॥

(५)

दूर थां, अब और भी सौ कोस पर,
हाय! वह श्रीध्येय जीवनधन हुआ।
छोड़ दो मुझको, दया होगी बड़ी,
मुक्ति क्या? यह तो महा बन्धन हुआ॥

विचार-संदेशों की कतिपय विचित्र कहानियाँ।

(लेखक—श्रीयुत सन्तराम, बी. ए.)

इस दृश्य स्थूल जगत् के अतिरिक्त एक अदृश्य सूक्ष्म आध्यात्मिक जगत् भी है। स्थूल जगत् के समान उसके भी स्वतंत्र विषय हैं। उसकी सभी घटनाएँ उन्हीं आध्यात्मिक नियमों के अनुसार हुआ करती हैं। परन्तु साधारण लोगों को उन नियमों का ज्ञान न होने से उस जगत् की घटनाएँ उन्हें लोकोत्तर जान पड़ती हैं। वे उन्हें देख और सुनकर चकित हो जाते हैं। मूर्छना-शास्त्र (हिप्नाटिज़्म), मोहन-विद्या (मेसमरिज़्म) और मनःसंयोग (टॅलीपॅथी) का ज्ञान न रखनेवालों का इनके चमत्कारों को देखकर आश्चर्य-सागर में विलीन होना स्वाभाविक है।

वर्तमान सभ्यता जड़वाद की उपज है। इसमें अध्यात्मवाद को बहुत कम स्थान है। हमारा सारा जीवन, जन्म से मरण पर्यन्त, देहात्मवाद के वातावरण में ही व्यतीत होता है। इस लक्ष्मी-प्रधान युग में आध्यात्मिक अन्वेषणों के लिए किसके पास समय और रुचि है? मनुष्य-मात्र माया के प्रबल प्रवाह में बहता चला जा रहा है। नगद-नारायण की उपासना के बिना वह और किसी की उपासना नहीं करता। आधुनिक सभ्यता में पला हुआ मनुष्य भोग-विलास में इतना रत है कि उसे आध्यात्मिक विषयों का चिन्तन करने के लिए अवकाश ही नहीं। यही कारण है कि सारा संसार बाह्य और भीतरी अशान्ति से व्याकुल होकर हाहाकार कर रहा है। भौतिक ऐश्वर्य और पाशविक शक्ति में इतनी उन्नति कर लेने पर भी आज पाश्चात्य जगत् आन्तरिक दुःख से बिलबिला रहा है।

आधुनिक जगत् के विलासिता और जड़वाद में इतना ग्रसित होते हुए भी कभी कभी कोई ऐसी घटना हो जाती है जिसपर विचारशीलों को विचार करना ही पड़ता है। भगवान् ने मनुष्य को अनेक प्रकार की आश्चर्यजनक शक्तियाँ दे रक्खी हैं; पर अपनी अज्ञता के कारण वह उनसे काम नहीं ले सकता। जिस भाग्यशील ने गुरु-कृपा से अपनी आत्मा की ईश्वर-प्रदत्त शक्तियों को पहचान लिया है और उनको पवित्र कार्यों में लगाने की विधि जान ली है उस योगिराज

से बढ़कर बलवान् संसार में और दूसरा कौन है ?

नीचे कुछ ऐसी घटनाओं का उल्लेख किया जाता है जिनपर विचार करने से आध्यात्मिक जगत् के स्वरूप का कुछ बोध हो सकता है।

स्ट्रीटहम नगर के श्रीयुत विलियम गोडर्ड का उन्नीस वर्ष का पुत्र टेम्स नदी में डूबकर मर गया था। उसकी विचारणा के अवसर पर उसने यह विचित्र बात जो सादी होते हुए भी बड़ी ही नाटकीय है कही थी—"मैं अपनी स्त्री के साथ घर पर रात्रि का भोजन कर रहा था। भोजन करते करते वह चिल्ला उठी—'कोई दुर्घटना घटी है। हम शीघ्र ही कोई कुसम्वाद सुनेंगे।' वह बहुत ही व्याकुल हो रही थी और दस मिनिट बाद हमने अपने पुत्र की मृत्यु का समाचार सुन लिया।" यह दुर्घटना दो बजे हुई थी, और जिस समय माता के मन में इस विपत्ति की पूर्वचिन्ता हुई उस समय भी दो ही बजे थे। शोकार्त्त जननी के इस रहस्यमय सन्देश को पाने का भेद क्या है? क्या यह मनों का संयोग है? यदि यह मनःसंयोग है, तो इस प्रकार दो मन के जुड़ने का ठीक ठीक समाधान क्या हो सकता है? उनके बीच के "बेतार के तार" की व्याख्या कैसे की जा सकती है?

मनःसंयोग—किसी अलौकिक और गुह्य रीति से एक मन का दूसरे मन के साथ बातचीत करने—को इस विषय के विशेषज्ञ एक प्रमाणित सत्य समझते हैं। साक्षी सर्वथा निर्णीत है। परन्तु गोडर्ड-पत्नी के विषय में प्रश्न होता है कि क्या यह मनःसंयोग था? अथवा, किसी अन्य गुप्त संकेत ने यह "बेतार का समाचार" भेजा था। क्या यह काम उसके पुत्र ने किया था, जो उस समय मृत्यु के मुख में गिर रहा था, या यह उस लड़के की प्रेमिका का काम था जो उसके साथ थी और जिसके विचार उस दुर्घटना को देखकर लड़के की माता की ओर दौड़े थे? कई लोग पूछेंगे कि जिस बात को मन के "बे-तार" का परिणाम ठहराया जाता है क्या उसका कारण दैवयोग नहीं हो सकता है। गोडर्ड-पत्नी को विपत्ति के पहले से ही अकस्मात् सूचना मिल जाना क्या संयोगमात्र नहीं? साधारण मनुष्य को यह असंभाव्य, प्रत्युत असम्भव जान पड़ेगा; परन्तु क्या संसार में नित्य असम्भाव्य बातें नहीं हुआ करतीं?

अब ज़रा आगे लिखी घटना पढ़िए। एक बार फ्रेडरिक टॉमसन नाम के एक सुनार के मन में अकस्मात् और अव्याख्येय रीति से चित्र खींचने का आवेग उत्पन्न हुआ। वह एक अशिक्षित मनुष्य था और उसे चित्र-कला का कुछ भी ज्ञान न था। कुछ वर्ष पहले उसका साधारण परिचय रावर्ट सवेन गिफ़र्ड नामक चित्रकार से था। वह चित्रकार से केवल दो तीन बार मिला था और दो चार बातें हुई थीं। अब टॉमसन के चित्र-चित्रण के विषय में कुछ विचित्र बातें थीं। वह कहा करता था कि जिस समय मैं चित्र खींचने लगता हूँ मुझे ऐसा अनुभव होने लगता है कि मैं गिफ़र्ड हूँ। वह अपनी स्त्री से कहा करता था—"गिफ़र्ड अब चित्र खींचेगा।"

वास्तव में गिफ़फ़र्ड को मरे छः मास हो चुके थे; किंतु टॉमसन को इस बात का ज्ञान न था। इस बीच में टॉमसन अपने मास्तिष्क में घूमते रहनेवाले प्रकृति-चित्रों के आभासों को कॅनवस (विलायती टाट) पर चित्रित किया करता था। जुलाई १९०७ में गिफ़्फ़र्ड की मृत्यु का समाचार सुन कर उसने उस शिल्पी के घर जाकर उसकी चेष्टाओं के स्थानों को देखने का निश्चय किया। जब वह मृत शिल्पी के सूने स्टूडियो में गया और वहाँ जाकर उसने एक ऐसा चित्र देखा जो उसके अपने खींचे हुए एक चित्र ही की हूबहू प्रतिलिपि थी तब वह दंग रह गया। यह चित्र अमरीका के प्रसिद्ध डाक्टर हाईस्लोप के हाथ दे दिया गया था, इसलिए ये असाधारण बातें निर्विवाद साक्षी द्वारा प्रमाणित हैं।

इसी प्रकार की एक और साक्षी भी थी। ये सब इसी बात को व्यक्त करती थीं कि टामसन की चेष्टा का कारण एक दूसरे व्यक्तित्व, अर्थात् स्वर्गीय शिल्पी गिफ़फ़र्ड, की प्रेरणा थी। सुविख्यात लोगों की ओर से जो ऐसे ऐसे विचित्र आवेदन मिलते हैं उन्हें हम क्या समझें?

स्वप्न द्वारा अपने विचार को दूसरे तक पहुँचाने का एक उदाहरण लीजिए। इसका अनुभव श्रीमती ग्रीन ने किया था। वे कहती हैं—

"मैंने दो स्त्रियों को प्रतिष्ठित वेश में गाड़ी को चलाते देखा। उनका घोड़ा एक तालाब के पास जल पीने के लिए ठहर गया; परन्तु तालाब में घाट न होने के कारण वह फिसलकर पानी में गिर पड़ा। उसे चोट लगते ही दोनों स्त्रियाँ खड़ी होकर सहायता के लिए चिल्लाने लगीं; क्योंकि वे सब गाड़ी सहित डूब रही थीं। मैं चिल्लाती हुई लौट आई। इसपर मेरी आँख खुल गई, और मेरे पति ने मुझसे पूछा कि बात क्या है। मैंने उन्हें सारा स्वप्न कह सुनाया। इन्होंने पूछा कि क्या तुम उन स्त्रियों को जानती हो। मैंने कहा, नहीं, मैं नहीं जानती, और मैं समझती हूँ, मैंने उन्हें कभी देखा भी नहीं। इसके बाद तीसरे मास आस्ट्रेलिया से मेरे भाई की भेजी हुई एक चिट्ठी तथा एक समाचार-पत्र मुझे मिले। उनमें उसकी पुत्री तथा उसकी सहेली के डूब जाने के समाचार थे। मेरी भतीजी आस्ट्रेलिया ही में उत्पन्न हुई थी, और मैंने उसे कभी नहीं देखा था।"

समाचार पत्र में इस दुर्घटना का जो हाल छपा था वह श्रीमती ग्रीन के स्वप्न से बिलकुल मिलता-जुलता था।

लण्डन के एक अध्यात्म-संघ (स्पिरिच्युलिस्टिक एलायन्स) है। उसके एक सदस्य ने श्रीमती गोडर्ड-पत्नी और उसके पुत्र की बात का इस प्रकार समाधान किया है कि लड़का डूब रहा था; इसलिए उसके विचार उस समय अपनी माता की ओर एकत्र हो रहे होंगे, और इस स्थूल संसार को छोड़ देने पर वह, उन दोनों के बीच विद्यमान स्नेह-बंधन के कारण, माता के साथ मनः संयोग द्वारा बातचीत करने में समर्थ था। परन्तु आत्मिक-विद्या के इस पण्डित की यह व्याख्या श्रीमती ग्रीन के विस्मयकारी स्वप्न का समाधान नहीं करती; क्योंकि उसने तो अपनी भतीजी को अपने जीवन में एक बार भी न देखा था।

एक और अद्भुत बात सफ़ोक की श्रीमती हेलन टेलर ने बताई है। वे इसे आत्मिक अनुभव नहीं ठहरातीं। वे कहती हैं:—

"चार वर्ष हुए मेरा पति डोवर नगर में था, और मैं अपने चार बच्चों सहित यहाँ रहती थी। एक दिन सोमवार को तड़के ही मैं अपने पति को मुझे "वॅल वॅल" कहकर पुकारते सुन चौंककर उठ बैठी। सबेरे मुझे एक पत्र मिला जिसमें लिखा था कि इतवार को तीसरे पहर ट्रामगाड़ी के उलट जाने से मेरे पति को भारी चोट आई है और वे अस्पताल में पड़े हैं। वे कुछ और मनुष्यों सहित ट्राम की छत पर बैठे थे और रातभर अपने चित्तविभ्रम में मुझे बुलाते रहे।"

डाक्टर स्टॅनसन हूकर ने हाल ही में कहा था—"मेरी एक मित्र स्त्री ने कोई दो तीन सौ मील की दूरी से अपनी पुत्री को बड़े दुःख में उसे बुलाते सुना। पीछे से यह पता लगा कि जिस समय उस स्त्री ने अपनी पुत्री की चिल्लाहट सुनी थी उस समय लड़की बड़ी विपत्ति में अकेली बीमार थी।"

यद्यपि ऊपर की सब घटनाएँ ऐसी हैं जिनका सम्बन्ध पाश्चात्य लोगों से है; पर इसका यह तात्पर्य नहीं कि भारत में ऐसी घटनाएँ होती ही नहीं। भारत में भी लोगों को ऐसी बातों का अनुभव होता रहता है; परन्तु यहाँ शिक्षा का प्रचार बहुत कम होने के कारण लोगों को इन्हें लेखबद्ध करने का ध्यान नहीं आता। भारत में बहुत थोड़े लोग ऐसे हैं जो अपने अनुभवों को लिपिबद्ध करते हों। लाहोर के अँगरेज़ी दैनिक ट्रिब्यून के १६ सितम्बर, १९२१ के अंक में एक विचित्र घटना छपी थी। वह इस प्रकार है—

बाबू नवीनचन्द्र राय के पुत्र बाबू विपिनचन्द्र राय अपनी पत्नी विमला पर बहुत प्रेम करते थे। दोनों बड़े आनन्द और सुख से गृहस्थी चलाते थे। कालान्तर में विमला को क्षय रोग हो गया। वह दिन पर दिन सूखने लगी। हज़ार चिकित्सा करने पर भी उसका रोग दूर न हुआ और अन्त को दार्जेलिङ्ग में उसका देहान्त हो गया। इससे विपिन बाबू को भारी शोक हुआ। वे दिन रात शोक-सागर में मग्न रहने लगे।

विपिन बाबू की बहिन कमला एक ग्रेज्युएट महिला हैं। भाभी की मृत्यु का समाचार पाकर वे भाई के पास गईं। जाकर देखा तो घर की अवस्था बहुत बुरी पाई। विमला की मृत्यु के पश्चात् घर को किसी ने झाड़ा तक न था। भाई बहुत दुःखी रहा करते थे। कमला ने उन्हें धैर्य बँधाया और घर को सँभाला।

घर में विमला का एक विशेष कमरा था। उसके मरने के बाद से अब तक वह बंद ही पड़ा था। कमला ने भाई से कहा कि उसे साफ़ तो कराया होता। विपिन बाबू ने कहा कि मैंने उसमें जाने का दो एक बार यत्न किया है; पर मुझे वहाँ अब भी विमला बैठी मालूम होती है। मैं अन्दर जाने का साहस नहीं कर सका। वहाँ हाथीदाँत की एक डिबिया में विमला का एक सुन्दर चित्र है। उसे मैं आठों पहर अपने साथ रखना चाहता हूँ; पर मैं उसे भी नहीं निकाल सका। तुम कल इस कमरे को साफ़ कर देना और वह चित्र भी निकाल लाना। कमला ने कहा, 'बहुत अच्छा'।

दूसरे दिन जब साँझ को विपिन बाबू दफ़्तर से आये तो उन्होंने कमला से चित्र माँगा। कमला ने कहा, मुझे स्मरण नहीं रहा, मैं अभी जाकर ले आती हूँ।

वह कमरे में जाकर वस्तुओं को झाड़ने लगी। जब उसने चित्र की डिबिया से हाथ लगाया तो

उसे ऐसा जान पड़ा मानो कमरे में मेरे पीछे कोई खड़ा है। मुड़कर देखा तो विमला खड़ी है। उसे देखते ही कमला डर के मारे स्तम्भित रह गई। विमला ने कहा कि कई दिन से मेरे केशों में कंघी नहीं हुई है। आज तेल लगाकर इन्हें साफ़ कर दीजिए। कमला ने कहा—मुझे तेल और कंघी का पता नहीं। तब विमला ने उसे बता दिया कि वे अमुक स्थान में रखे हैं। कमला ने तेल लेकर विमला के केशों में लगाया और कंघी से उन्हें साफ़ कर दिया। जब केश बाँधे जा चुके, तब विमला अन्तर्धान हो गई। कमला काँपती हुई कमरे से बाहर आई और उसने सारी कथा भाई को सुनाई। फिर उसे विचार हुआ कि कहीं यह सब मेरा भ्रम ही न हो; पर जब कंघी को देखा तो उसमें विमला के कुछ बाल फँसे हुए थे।

पाठक पूछेंगे कि ऐसी बातें प्रायः स्त्रियों ही के साथ क्यों हुआ करती हैं। इसका कारण यह जान पड़ता है कि स्त्री का हृदय पुरुष की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म, अधिक शीघ्रग्राही और अधिक निर्मल होता है। जिन सूक्ष्म विचार-तरंगों और आत्मिक-संकेतों को स्त्री-हृदय ग्रहण कर सकता है उन्हें पुरुष-हृदय अपनी स्थूलता के कारण नहीं ग्रहण कर सकता। विकासवाद की दृष्टि से भी स्त्री-शरीर पुरुष-शरीर की अपेक्षा अधिक जटिल है।

इन विचित्र घटनाओं का समाधान भिन्न भिन्न लोग भिन्न भिन्न रीतियों से करने का यत्न करते हैं। जो लोग यह मानते हैं कि मृत्यु के पश्चात् प्राणी अपने सूक्ष्म शरीर के साथ वायुमण्डल में घूमता रहता है और मर्त्यलोक-वासियों के साथ मेल-जोल कर सकता है वे तो यही कहेंगे कि इनका कारण वे आत्मिक या प्रेतात्माएँ ही हैं। जो मनुष्य उन सब बातों को जिसे वह समझ नहीं सकता छिः छिः करके छोड़ देता है वह इनका कारण दैवयोग या अनुरूपता को ठहरायगा; पर कुछ लोग ऐसे भी हैं जो भिन्न भिन्न मन के बीच होने वाली रहस्यमयी घटनाओं को "मानसिक बे-तार" या मनःसंयोग का परिणाम समझते हैं।

जो लोग यह कह दिया करते हैं कि "मैं उसे नहीं मानता" उनको चकराने के लिए अमरीका की एक मासिक पत्रिका में एक लेखक ने एक बड़ी अच्छी युक्ति दी है। वह लिखता है— "तुम मनःसंयोग (टेलीपैथी) को नहीं मानते!" ये पंक्तियाँ जो तुम पढ़ रहे हो—मैंने इन्हें लिखा है। यदि तुम इनका अर्थ समझते हो, तो यह स्पष्ट है कि मुझे अपने मन से तुम्हारे मन में विचार भेजने में सफलता हुई है। आप कहेंगे कि यह अलग बात है। मनःसंयोग का अर्थ है, शब्दों को वस्तुतः बोलने या लिखने के बिना प्रत्यक्ष रूप से दूसरे स्थान में भेज देना। पर क्या वह ऐसी भिन्न है? फिर विचारिए, यदि यह केवल शब्दों ही की बात है तो, उदाहरणार्थ, ये शब्द आपके मन में क्या विचार देते हैं "न वारिणा शुद्धयति अन्तरात्मा"? क्या यह इबरानी है? नहीं संस्कृत है, जिसका अर्थ है—'अन्तरात्मा जल से शुद्ध नहीं होती'। आप कहते हैं—'ओः, मैं संस्कृत नहीं समझ सकता।' बहुत अच्छा। तब अकेले शब्द ही पर्याप्त न हुए। इनके अतिरिक्त कुछ और चीज़, कुछ अधिक सार वस्तु, होनी चाहिए और वह है बुद्धि।

प्राकृतिक बहिष्कार ।

(लेखक—पं० सूर्यभानु त्रिपाठी, विशारद)

एक रचै जग गुण वश जाके।
प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताके॥

—रामायण ।

जो आस्तिक हैं, जो अनन्त, सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापी ईश्वर को मानते हैं वे प्रकृति को स्वतन्त्र नहीं कहते। भगवान् कृष्ण ने गीता में प्रतिपादन किया है कि प्रकृति परमात्मा की सचहरी है और उसीकी इच्छा से वह (प्रकृति) त्रिगुणात्मक सृष्टि की रचना करती है। गोस्वामीजी की उपरोक्त पंक्तियों का भी यही आशय है। थोड़े में, ईश्वर की इच्छा से प्रकृति विश्व की रचना और उसका संहार करती है। इस छोटे से प्रबन्ध में अन्य बातों को छोड़ प्राकृतिक बहिष्कार का ही कुछ विवेचन करने का यत्न किया जायगा। बहिष्कार का स्थूल अर्थ होता है त्याग। तब विचार इस बात का करना है कि प्रकृति में त्याग कब, कैसे और क्यों होता है ?

विद्वज्जन संसार को परिवर्तनशील कहते हैं। तो देखना यह है कि इस परिवर्तनशीलता में हमारे इस बहिष्कार का भी कुछ अर्थ अन्तर्भूत है या नहीं। विज्ञान कहता है कि सृष्टि की एक कणिका भी कभी नाशवान् नहीं। उसका केवल रूपान्तर-मात्र हुआ करता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि बहिष्कार का अर्थ नाश नहीं; क्योंकि प्रकृति में नाश का अस्तित्व ही नहीं है। तब फिर बहिष्कार भी एक प्रकार का परिवर्तन ही है; नाश नहीं।

समस्त जगत् प्रकृतिमय है। इसीलिए प्रकृति के नियम ही सर्वत्र कार्य्य करते हैं। जड़ एवं जीव-जगत् यह सब प्रकृति का ही खेल है। अतएव इनमें प्रकट या अप्रकट प्रकृति के नियम ही काम करते हैं। इनमें जो कुछ परिवर्तन होता है सब प्राकृतिक नियम से होता है। इसके अतिरिक्त परिवर्तन के लिए किसी कृत्रिम नियम का आधार नहीं। विचार इस बात का करना है कि प्रकृति परिवर्तन किस आधार पर या किस कारण से करती है ? अथवा दूसरे शब्दों में प्रकृति किसका बहिष्कार और किसका विधान क्यों और कब करती है ? नित्य की बाह्य एवं आन्तरिक घटनाओं से सिद्ध होता है कि प्रकृति का परिवर्तन अथवा बहिष्कार और विधान जगत्-रचना की आवश्यकता पर होता है। जिसकी प्रकृति को आवश्यकता है वह उसका विधान करती है और जिसकी आवश्यकता नहीं उसका बहिष्कार।

मनुष्य मात्र को यह स्मरण रखना चाहिए कि प्रकृति के नियम अटल हैं, अतएव जो उनकी अवहेलना करेगा उसका कल्याण नहीं। प्रकृति की आवश्यकता के विरुद्ध किसी भी नियम या बात का विधान जगत् की शक्ति से परे है, नितान्त असम्भव है। अतएव जिसे संसार में अपनी स्थिरता अभीष्ट हो उसे चाहिए कि वह निरन्तर प्रकृति का निरीक्षण करता रहे तथा तदनुकूल अपना अस्तित्व बनाये रखने का यत्न करे। मनुष्य जैसे सर्वश्रेष्ठ तथा सज्ञान कहलाने वाले प्राणी के लिए इसका ज्ञान प्राप्त करना अनिवार्य होना चाहिए। जो इस नियम की उपेक्षा करेगा जीवन-संघर्ष में — प्राकृतिक-द्वन्द्व युद्ध में—उसे पराभूत होना पड़ेगा।

अंग्रेज़ी में एक लोकोक्ति है जिसका अर्थ होता है कि आवश्यकता आविष्कार की जन्म-

दात्री है। यह लोकोक्ति सोलह आना सत्य है। यहाँ पहिले उन नियमों के परिवर्तन पर विचार नहीं किया जायगा जिन्हें हम कृत्रिम कहने लगे हैं। सच तो यह है कि जगत् में कृत्रिम नियम कार्य्य कर ही नहीं सकते। जो लोग प्राकृतिक नियमों को विस्मृत कर, उनके तत्वों को भूलकर उनके प्रतिकूल काल्पनिक नियम चलाने का प्रयत्न करते हैं उनकी ही अभीष्ट-सिद्धि में सदैव बाधा पड़ा करती है। अतएव विचारशील मनुष्य-मात्र का कर्तव्य है कि वह अपने नियमों के विधान में प्रकृति के रहस्य और तत्व को मानवी यथार्थ सत्य अनुभव से सम्भवतः पूर्ण स्थान दे।

प्रकृति में किसी भी वस्तु-स्थिति का विधान जैसे आवश्यकता पर अवलम्बित है वैसे ही आवश्यकता उसके उपयोग पर निर्भर है। इसीसे देखा जाता है कि प्रकृति में जिसका उपयोग नहीं उसका वह धीरे धीरे बहिष्कार कर देती है। प्रसिद्ध प्राणि-विद्या-विशारद डार्विन का सिद्धान्त है कि मनुष्य के पहले पूँछ होती थी; किन्तु अतिकाल तक उसका कोई उपयोग न होने से वह शनैः शनैः लुप्त हो गयी। अस्तु। मनुष्य के दुम रही हो या न रही हो यह उक्त प्राणि-विद्या-विशारद ही जानें; किन्तु प्रकृति का यह सिद्धान्त अटल और अबाध्य है कि जगत में जिसकी आवश्यकता नहीं, प्रकृति में उसे उस रूप में कभी स्थान नहीं मिल सकता। यह बात अनेक उदाहरणों से स्पष्ट की जा सकती है। प्राणि-शास्त्र के इतिहास-ग्रन्थों से पता चलता है कि अब ऐसे ऐसे भीमकाय प्राणियों का संसार में कहीं पता नहीं जो किसी समय पृथ्वी के जल या थल पर विचरण किया करते थे।

अनेक प्राचीन स्थानों में प्राप्त मनुष्य की हड्डियों से उसकी लम्बाई (ऊँचाई) का अनुमान २१ हाथ तक किया गया है जो वर्तमान में अपने हाथों से केवल ३½ हाथ ही रह गया है। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि उस समय प्रकृति को कदाचित् इतने ऊँचे मनुष्य बनाने की आवश्यकता थी। क्योंकि उस समय फौलादी-दुर्गों को ध्वन्स करने वाली, नरमेधकारी हाविजर तोपों का आविष्कार नहीं हुआ था और न सत्ता को अक्षुण्ण बनाये रखनेवाली प्रतापशालिनी मशीनगन ही का जन्म हुआ था इससे वह बड़े बड़े भयङ्कर हिंसक जीवों से अपनी आत्म-रक्षा कैसे कर सकता। दूसरे, उस समय कदाचित् २१ हाथ के डीलवाले मनुष्य के पेट को भरने का सामर्थ्य भी वसुन्धरा में रहा हो। अब तो साढ़े तीन हाथ वाले डील को भी दानों के लाले पड़ते हैं। क्या आश्चर्य है कि प्रकृति कुछ काल में, विशेषकर सम्पूर्ण प्राकृतिक विभव-सम्पन्न वर्तमान दरिद्र भारत में, पौने दो हाथ का ही मनुष्य बनाने लगे।

इस जीव-जगत् के अतिरिक्त वनस्पति-जगत् में भी ऐसाही रहस्य दृष्टिगोचर होता है। कितनी ही वनस्पतियाँ ऐसी हैं जिनके रूप का अब जगत् में अस्तित्व तक नहीं तथा कितनी ही वनस्पतियाँ ऐसी हैं कि जो प्राचीन काल में नहीं थीं, किन्तु अब विद्यमान हैं, अथवा यदि वे हैं भी तो उनका रूप परिवर्तित होगया है। कितनी ही वनस्पतियाँ अपने सन्तानोत्पत्ति की क्रिया और नियम को परिवर्तित कर चुकी हैं। 'पहले वृक्ष हुआ या बीज' यदि इस प्रश्न की गोरखधन्धी उलझन में हम न पड़ें तो यह निश्चय है कि बीज से ही (वनस्पति-वर्ग में) वृक्ष की उत्पत्ति

होती है। पर अनेक वृक्ष ऐसे हैं जिनमें बीज का सर्वथा अभाव है और यदि उनमें बीज हैं भी, अर्थात् यदि उनमें बीज उत्पन्न भी होते हैं, तो उन (बीजों) में बीजोत्पादन शक्ति का बिलकुल अभाव है। उदाहरणार्थ, हमारे यहाँ का वनस्पतियों में से पान, केला, चमेली, गुलाब आदि अनेक ऐसी वनस्पतियाँ हैं जिनमें या तो बीज उत्पन्न ही नहीं होता और यदि उत्पन्न होता भी है तो बीज में वृक्षोत्पादक शक्ति नहीं रहती। इसका कारण क्या है? इसका कारण यही है कि प्रकृति को वनस्पति उत्पन्न करने के लिए बीज की आवश्यकता होती है; किन्तु जब इन वनस्पतियों की उत्पत्ति बीज को छोड़ वनस्पति की पींड़ से होने लगी तब प्रकृति को बीज में उत्पादिका शक्ति बनाये रखने की आवश्यकता न रही। इसीलिए प्रकृति ने बीज में से उत्पादिका शक्ति का बहिष्कार कर दिया।

यहाँ तक प्रकृति के जीव और वनस्पति-जगत् के नियमों तथा आवश्यकताओं पर विचार हुआ। अब कुछ मानवी उपजाऊ मस्तिष्क से उत्पन्न हुए उन नियमों तथा आवश्यकताओं पर भी विचार कर देखना चाहिए जिन्हें हम कृत्रिम नियम कहते हैं। जब जगत् प्रकृतिमय है तब उसके सभी नियम और आवश्यकताएँ भी प्रकृतिमय हैं। क्योंकि जिस मस्तिष्क से उनका आविर्भाव होता है वह तो स्वयं प्रकृतिमय और उसीका निर्माण किया हुआ है। तब प्रश्न यह उठता है कि अपने ही मस्तिष्क से उत्पन्न नियमों से कभी कभी मनुष्य, समाज तथा राज्य को त्रिशंकु क्यों होना पड़ता है? इसका उत्तर यह है कि उन नियमों में प्राकृतिक नियमों के वास्तविक तत्व न होने से ही ऐसा होता है, अथवा प्राकृतिक रहस्यों की अनुभव-शून्यता या भौतिक माया की मदान्धता का परिवेष्टन ही ऐसे अप्राकृतिक नियमों की सृष्टि कर मनुष्य को लक्ष्य भ्रष्ट कराता है।

यदि प्रकृति के रहस्यों का पूर्ण विवेचन करके व्यक्तिगत, सामाजिक और राज्य-नियम अनुकूल बनाये जावें तो मनुष्य, समाज और राज्य को बुरी अवमानना, भयंकर स्थिति और भीषण पतन संसार में न देखना पड़ें। कुछ थोड़े से कृत्रिम नियमों में भूलों के परिणाम का दिग्दर्शन कराते हुए यह प्रबन्ध समाप्त कर दिया जायगा।

हम देखते हैं कि हमारे वैयक्तिक, सामाजिक और राजनैतिक नियम सदा आवश्यकतानुसार परिवर्तित होते रहते हैं। हाँ, अन्तर केवल यह है कि उनमें कभी सीधी और शांति-पूर्ण रीति से परिवर्तन हो जाता और कभी टेढ़ी रीति से धूम मचाकर परिवर्तन होता है; किन्तु आवश्यक परिवर्तन होकर ही रहता है। पर इसमें प्रकृति का कोई दोष नहीं। कृत्रिम नियमों के परिवर्तन का दोषी है अपने दिमाग़ को सर्वज्ञ समझने वाला व्यक्ति, समाज अथवा राज्य विशेष का मस्तिष्क।

प्रत्येक मनुष्य को व्यक्तिगत जीवन-यात्रा के लिए, समय समय पर, आवश्यकतानुसार, अपने नियम परिवर्तन करने पड़ते हैं; अनेक स्वतः विधान की हुई बातों को निषिद्ध मानना पड़ता है। ऐसा करने ही से वह सरलता से सुखमय जीवन व्यतीत कर सकता है। यदि आवश्यकताओं के अनुसार समय समय पर वह अपने नियमों में परिवर्तन न करे, प्राकृतिक आवश्यकताओं की अवहेलना करे, तो उसे अवश्य विषम कठिनाइयों का सामना करना पड़े और उस प्रकृति के विरोधी हठाग्रही को प्रकृति विवश करके अपने अभीष्ट मार्ग की ओर ले जायगी। फिर ऐसा करने में उस निसर्ग के विरोधी को चाहे अपना अस्तित्व ही क्यों न खोना पड़े,

किन्तु प्रकृति अपना नियम पालन कराके ही छोड़ेगी, क्योंकि उसके यहाँ नियमोल्लंघन-कर्ता के लिए क्षमा का विधान नहीं है।

हमारे सामाजिक नियम भी व्यक्तिगत नियमों की भाँति सदा परिवर्तित हुआ करते हैं; क्योंकि व्यक्तियों के समुदाय से ही समाज की सृष्टि हुई है। समाज में आज जिस नियम का विधान हो रहा है आज जिसकी आवश्यकता समझी जाती है कल वही नियम अनावश्यक ठहराया जाता है और समाज उसका बहिष्कार कर देती है। यह कभी सम्भव नहीं कि आज की आवश्यकता और आज के नियम आज ही की भाँति निरन्तर विद्यमान रहें तथा आज ही की भाँति अनन्त काल तक उनका विधान बना रहे। यदि ऐसा होगा तो विकास जो प्रकृति का मुख्य धर्म है सर्वथा रुक जायगा।

व्यक्तिगत और सामाजिक नियमों की भाँति राज्य-शासन-प्रणालियों में भी आदिकाल से परिवर्तन होता आया है। आवश्यकताओं के अनुसार ही उनका नवीन सङ्गठन और विकाश हुआ है; आवश्यकता ही ने एकात्मक राज्य की सृष्टि की; आवश्यकता ही ने बहिष्कार कर अल्पसत्ताक शासन-प्रणाली को जन्म दिया; आवश्यकता ने ही इसे भी दूर करके प्रजातन्त्र का उद्भव किया; और आवश्यकता ही ने पूर्ण प्रजातन्त्र को अविहित ठहराकर प्रतिनिधि-सत्तात्मक (Representative Government) शासन-प्रणाली का आविष्कार किया। इतना अवश्य हुआ है कि कहीं ये परिवर्तन शान्ति के साथ हुए और कहीं भीषण हलचल मचाकर हुए; किन्तु हुए अवश्य और परिवर्तन का यह तारतम्य सदा ऐसा ही लगा रहेगा।

जगत-प्रसिद्ध प्राचीन रोम और यूनान की सत्ताओं का भी पतन प्रकृति के वास्तविक नियम-परिवर्तन की आवश्यकताओं का तत्कालीन स्वार्थान्ध लोगों के मस्तिष्क में अभाव होने ही से हुआ। इन्हीं प्राकृतिक नियमों के तत्व की अनभिज्ञता के कारण इँगलैण्ड को अमेरिका से पराजित हो उस पर से अपनी सत्ता उठा लेने के लिए विवश होना पड़ा। इँगलैण्ड की सत्ता का बहिष्कार ही अमेरिका की राजनीतिक उन्नति, उत्कर्ष और विकास का कारण हुआ।

जिन जिन राज्यों [Government] ने आवश्यक परिवर्तन के वास्तविक स्वाभाविक नियमों का परिशीलन किये बिना, आवश्यकता का पूर्ण ज्ञान हुए बिना हठाग्रह से स्वार्थान्ध हो किसी विशेष तत्कालीन प्रकृति विरुद्ध शासन-प्रणाली को अथवा अनुचित सत्ता को स्थिर रखने का प्रयत्न किया है उन सबों को भीषण राज्य-क्रांतियों का सामना करना पड़ा। राज्य की प्राकृतिक स्थिति के ज्ञान के अभाव से ही फ्रांस को भीषण राज्य-क्रांति का अनुभव करना पड़ा। इस प्रकार की अवहेलना बहुधा भारी से भारी सत्ताओं के लोप का कारण हुई है, और होगी। प्रकारान्तर से इसीको विकास भी कहते हैं। ये राज्य-परिवर्तन आवश्यकतानुसार संसार में सदा हुआ ही करते हैं। इनको रोक सकना टेढ़ी खीर है। अतएव प्रत्येक बुद्धिमान् मनुष्य, समाज तथा राज्य का यह कर्त्तव्य है कि वह निरन्तर प्राकृतिक नियमों की आवश्यकताओं के सत्य तत्वों का अनुसन्धान करता रहे और उन का अनुभव होते ही माया की अनुचित मदान्धता एवम् ममता में पड़ आवश्यक परिवर्तन की अवहेलना कर जगत में मनुष्यत्व से न गिर जावे, अन्यथा उसका भयङ्कर पतन अवश्यम्भावी है।

प्रकृति में जिसको स्थान नहीं, प्रकृति ने जिस का बहिष्कार निश्चय कर लिया है, उसकी

स्थिति, उसका तद्रूप अस्तित्व रह सकना नितान्त असम्भव और मानवी शक्ति से परे है। इसलिए आयी हुई नैसर्गिक अपेक्षा की उपेक्षा सदा पतन का कारण हुआ करती है। प्राकृतिक सत्य सिद्धान्तों का परिशीलन करते हुए तथा उनकी स्थिरता का अनुभव करते हुए विचार करने से ज्ञात होता है कि वर्तमान शासन-प्रणाली भारत की प्रकृति के अनुकूल अब नहीं रही, और संभवतः उसकी इसी अनुकूलता ने ही वर्तमान आन्दोलन को जन्म दिया है। अतः दिखता है कि भारतीय प्रकृति में अब उसकी आवश्यकता का अभाव है। रही उसके जीवन-काल की अवधि, सो वह परमात्मा की इच्छा और प्रकृति की कार्य्य-क्षमता पर अवलम्बित है। मंगलमय भगवान् इस परिवर्तन में, प्रकृति के इस नये बहिष्कार-विधान में, भीषण क्रांति से भारत को बचावें यही विनय है।

पुस्तकादि-परिचय।

१. महात्मा गाँधी—लेखक, बाबू रामचन्द्र वर्मा; प्रकाशक, गाँधी हिन्दी-पुस्तक-भंडार, कालबादेवी, बम्बई; पृष्ठ-संख्या ८५०; मूल्य ४॥)

श्रीशारदा के दिसम्बर, १९२१ के अंक में "गाँधी-गौरव" नामक पुस्तक का परिचय दिया जा चुका है। आज हमें "महात्मा गाँधी" का परिचय लिखने का अवसर प्राप्त हुआ है। इस पुस्तक में अनेक विशेषताएँ हैं और वे सब उसकी उपयोगिता को बढ़ाती हैं। पुस्तक में दो खण्ड हैं। पहला खण्ड लगभग २०० पृष्ठों में समाप्त हुआ है और उसमें महात्माजी के जीवन-चरित्र तथा कार्य-कलाप का संक्षिप्त, पर अच्छा, विवेचन है। दूसरे खण्ड में लगभग ६००पृष्ठ हैं और उसमें महात्माजी के १७१ व्याख्यानों तथा लेखों का संग्रह है। यह संग्रह इस ग्रन्थ की विशेषता है, और जहाँ तक हम जानते हैं, ऐसा संग्रह हिन्दी में अभी तक कहीं नहीं छपा है। देश की इस समय जो राजनीतिक स्थिति है तथा उसे सुधारने के लिए जिन उपायों का अवलम्बन किया जा रहा है उनसे परिचित होना प्रत्येक भारतीय का कर्तव्य है; और हमारी धारणा है, वह परिचय इस एक ग्रन्थ से जितना हो सकता है उतना अन्य किसी हिन्दी ग्रन्थ से नहीं हो सकता।

ग्रन्थ के आरम्भ में उसकी जो विशेषताएँ बतायी गई हैं उनमें एक यह भी है—"श्रीमद्रामचन्द्र और महात्मा गाँधी, फीनिक्स का ट्रस्टडीड, म० गांधी के सम्बन्ध की कुछ स्मरणीय घटनाएँ आदि कई बातें ऐसी हैं जिन्हें आप इस ग्रन्थ में ही पढ़ सकते हैं और जो बड़ी महत्व की हैं।" यदि इस वाक्य में "इस ग्रन्थ में ही" के बदले में "हिन्दी के इसी एक ग्रन्थ में" रख दिया जाय तो हम इस विशेषता से पूर्णतः सहमत हो सकते हैं।

ग्रन्थ-लेखक हिन्दी-साहित्य-संसार में लब्धप्रतिष्ठ हैं। उनकी लेखन-शैली के विषय में हमें "प्रशंसनीय" के सिवा और कुछ नहीं कहना है।

यह ग्रन्थ बम्बई के सुन्दर छोटे टाइप में अच्छे चिकने कागज़ पर छापा गया है; और उपयोगिता के विचार से तो ग्रंथ अमूल्य है ही; छपाई, सफ़ाई के विचार से भी इसका ४॥) मूल्य किसी प्रकार अधिक नहीं कहा जा सकता।

अन्त में, हमें वही कहना है जो हमने "गाँधी गौरव" के विषय में लिखा था कि पुस्तक जिस प्रकार सर्वथा पठनीय हुई है, उसी प्रकार यदि जिल्द बँधवाने में विदेशी वस्त्र के बदले में धवलकान्ति खादी का व्यवहार किया गया होता जैसे कि कलकत्ते की हिन्दी-पुस्तक एजेंसी, काशी का ज्ञान-मण्डल आदि कतिपय पुस्तक-प्रकाशक करने लगे हैं, तो कोई भी देश-भक्त भारतवासी इस पुस्तक को अपने पास रखने में अपना गौरव समझता। आशा है, प्रकाशक भविष्य में इस ओर ध्यान देंगे और ज्ञान-भाण्डार के स्वदेशीपन की पूर्ण रक्षा करेंगे।

२. हिन्दी कवियों की अनोखी सूझ—प्रथम भाग—लेखक, पं० श्यामलाल पाठक; प्रकाशक, श्रीसरस्वती-सदन, जबलपुर; पृष्ठ-संख्या ७२; मूल्य ॥)

इसमें हिन्दी के कुछ प्राचीन कवियों की कुछ सुन्दर उक्तियाँ हैं। प्रत्येक उक्ति के साथ उसकी संक्षिप्त व्याख्या भी, गद्य में, दे दी गई है जिससे उस उक्ति के समझने में सहायता मिलती है हर्ष की बात है, यह पहला ही भाग है। यदि कहीं इन ७२ पृष्ठों में ही हिन्दी कवियों की सारी अनोखी सूझ समाप्त हो जाती, तो बड़ी निराशा होती। आशा है, पाठकजी अन्य भागों में उत्तिय

का चुनाव और भी अच्छा करेंगे। हिन्दी में कवियों की सूक्तियों के अनेक संग्रह होते हुए भी यह संग्रह विशेषता रखता है।

३· कर्मक्षेत्र— बँगला के प्रसिद्ध उपन्यासलेखक बाबू दामोदर मुखोपाध्याय के एक शिक्षाप्रद सामाजिक उपन्यास का हिन्दी अनुवाद; अनुवादक और प्रकाशक, बाबू रामलाल वर्मा, ३७१, अपर चीतपुर रोड, कलकत्ता; पृष्ठ-संख्या ३५०; चित्र-संख्या ११; मूल्य ३॥)

इस उपन्यास में बताया गया है कि यह संसार एक कर्मक्षेत्र है और इसमें मनुष्य निष्काम कर्म करता हुआ अपना जीवन सार्थक कर सकता है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि श्रीमद्भगवद्गीता में प्रतिपादित निष्काम-कर्म-मीमांसा का यह औपन्यासिक रूप है। इसमें एक ओर कालिदास, सुरेन्द्रनाथ, धन्नू, तरंगिणी आदि के पापाचारों का वर्णन है और दूसरी ओर यदु, सनातन, मालक्ष्मी आदि की पर-हित-कातरता का विवरण है। अन्त में बताया गया है कि मनुष्य की सद्वृत्तियाँ किस प्रकार कुप्रवृत्तियाँ का दमन करती हुई इस रोग-शोक-मय संसार को स्वर्ग बनाती हैं। जो कुछ विवरण दिया गया है वह स्वाभाविक है और लेखक की प्रतिभा का जीता-जागता निदर्शन है। हमारा विश्वास है कि जो पाठक इसे मनोयोग-पूर्वक पढ़ेंगे वे इसके पर-हितोत्तेजक प्रभाव से प्रभावित हुए बिना न रह सकेंगे।

पुस्तक में ११ सुंदर चित्र हैं जिनमें से एक, प्रकाशक की कृपा से, श्रीशारदा के इस अंक के प्रारम्भ में, दिया जाता है।

४· अनाथ—लेखक, बाबू सियारामशरण गुप्त; प्रकाशक, साहित्य-सदन, चिरगाँव [झाँसी]; पृष्ठ-संख्या ३२; मूल्य ।)

यह एक पद्य-बद्ध कहानी है। हमें स्मरण आता है, यह कुछ वर्ष पूर्व "सरस्वती" में निकल चुकी है; पर लेखक या प्रकाशक की ओर से पुस्तक में इसकी कोई सूचना न होने से निश्चय-पूर्वक नहीं कहा जा सकता। और, कहने की आवश्यकता भी क्या है? कहानी में वही नवीनता और रोचकता है जो हमें तब प्रतीत हुई थी जब यह पहलेपहल उस मासिक पत्रिका में प्रकाशित हुई थी। इसमें अनाथ मोहन के जिन कष्टों का वर्णन है उनसे भारत का शायद ही कोई गाँव बचा होगा। जो कविता-रसिक १५ मिनट बैठकर अपने देश की दुर्दशा पर आँसू बहाना चाहें वे इस कहानी को पढ़ सकते हैं।

५ विहार-बोधिनी—लेखक, श्रीयुक्त टी० लाला भगवानदीनजी; प्रकाशक, साहित्य-सेवा-सदन, काशी; पृष्ठ-संख्या, ३५० से कुछ ऊपर; मूल्य, जो प्रति हमारे पास 'समालोचनार्थ' आई है उसका २।), पर विक्रयार्थ कोई २॥) वाली भी प्रति है।

प्रस्तुत पुस्तक हिन्दी-कविता-कानन के एक सुरभित कुसुम "विहारी-सतसई" का अमूल्य शृंगार है। हिन्दी के प्रसिद्ध समालोचक पं० पद्मसिंहजी इस विषय का विशेष विवेचन करने वाले हैं। उनकी लिखी "विहारी-सतसई की भूमिका" प्रकाशित हो भी चुकी है; परन्तु "विहारी-सतसई का संजीवन-भाष्य" अभी प्रकाशित होने को है। वह ग्रन्थ कैसा होगा यह तो उसके छप चुकने पर ही, जिसके लिए अभी वर्षों का असहनीय विलम्ब दिखता है, कहा जा सकेगा; परन्तु 'भूमिका' के रूप में जो पहला भाग प्रकाशित हुआ है उसे देखने से अनुमान होता है कि दूसरा भाग इस रूप में निकलेगा जिससे साहित्य-मर्मज्ञ विद्वान् ही लाभ उठा सकेंगे। इस दशा में, उक्त बृहत् ग्रन्थ के प्रकाशित हो चुकने पर भी, एक ऐसे छोटे ग्रन्थ की आवश्यकता रहेगी जिससे विद्यार्थियों को विहारी-सतसई का सरल अर्थ समझने में सहायता मिले तथा जो इतने कम मूल्य में मिल सके जिसे देना साधारण अवस्था के विद्यार्थियों के लिए साध्य हो। इस प्रकार की अनेक टीकाएँ हिन्दी में विद्यमान हैं; परन्तु एक दो को छोड़कर, शेष की विद्यमानता का परिचय न देना ही अच्छा होगा। अतः हमारी धारणा है, लालाजी की इस टीका ने विहारी-सतसई पढ़नेवाले विद्यार्थियों का बड़ा उपकार किया है।

इसमें प्रत्येक दोहे के नीचे उसके कठिन शब्दों का अर्थ, वचन, भावार्थ, तथा अलंकार दिये गये हैं। किसी किसी दोहे के साथ उसका 'विशेष' भी दिया गया है। स्थालीपुलाक न्याय से हम कह सकते हैं कि दोहे का पाठ देने में बहुत सावधानी से काम लिया गया है। भावार्थ भी बहुत संक्षेप में और सरल लिखा गया है। पुस्तक के अन्त में 'दोहों के नंबर की सूचनिका' और 'शब्द-कोष' दिये गये हैं। मतलब यह, पुस्तक को उपयोगी बनाने में कोई कसर नहीं रखी गई है।

जो सज्जन 'विहारी-बोधिनी' नाम सुनकर यह समझें कि इसमें विहारी भाषा का व्याकरण या विहारी का जीवन-चरित्र या ऐसाही कुछ होगा वे टीकाकार महोदय से प्रार्थना कर सकते हैं, कि पुस्तक के दूसरे संस्करण में इसका नाम बदलकर 'विहारी-सतसई बोधिनी' कर दिया जाय, तो अच्छा हो। पुस्तक में कहीं कहीं प्रीतमजी के उर्दू के पद्यानुवाद के नमूने फारसी लिपि

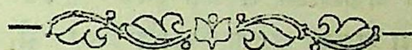
में दिये गये हैं। यदि वे नागरी लिपि में लिख दिये जायँ—और नागरी लिपि में शुद्धता-पूर्वक लिखे भी जा सकते हैं—तो केवल हिन्दी जाननेवाले विद्यार्थी भी उनका रसास्वादन कर सकेंगे।

६. दुर्ग-दर्पण – लेखक और प्रकाशक, बाबू गोकुल प्रसादजी, इन्कमटैक्स कलेक्टर, अमरावती, बरार; पृष्ठ-संख्या लगभग १००; मूल्य ।॥)

राय बहादुर हीरालाल सा० (डिपुटी कमिश्नर, वर्धा) मध्यप्रदेश के उन थोड़े से विद्वानों में से हैं जो अंग्रेज़ी की उच्च-शिक्षा पाकर भी मातृभाषा हिन्दी की आराधना में, निःस्वार्थ भाव से लगे हुए हैं। पुरातत्त्व आपका अत्यन्त प्रिय विषय है और आपने जो कुछ लिखा है वह सब मध्यप्रांतीय इतिहास के उद्धार और गौरव-वृद्धि की दृष्टि से ही लिखा है। आपका लिखा हुआ "दि ट्राइब्ज एंड कास्ट्स इन दि सैन्ट्रल प्रॉविन्सेज़" नामक बृहत् अंग्रेजी ग्रंथ, जो चार जिल्दों में प्रकाशित हो चुका है, अपूर्व और अत्यन्त प्रामाणिक माना जाता है। आप कुछ वर्षों से हिन्दी में भी लिखने लगे हैं, और जहाँ तक हम जानते हैं 'मध्यप्रदेशीय-भौगोलिक नामार्थ-परिचय' नामक ग्रन्थ ही आपका पहला हिन्दी ग्रन्थ है। उसे लिखने के पश्चात्, या कदाचित् इसके पूर्व ही, आपका ध्यान इस ओर गया कि मध्य-प्रदेश के भिन्न भिन्न ज़िलों और रियासतों के गैज़ीटियर हिन्दी में लिखे जावें जिससे हिन्दी-भाषा-भाषी जनता अपने प्रान्त का इतिहास जानने में समर्थ हो सके। कहने की आवश्यकता नहीं, हिन्दी में इस प्रकार के ग्रन्थों की कितनी आवश्यकता है। इसके लिए आप आगे बढ़े और इस प्रान्त के अनेक हिन्दी-लेखकों, सरकारी कर्मचारियों आदि से कहा कि आप लोग इस कार्य में सहायता कीजिए। आपके कहने की देर थी कि समझिए, काम आधा हो गया। पर, आप इतने से ही तृप्त नहीं हुए। आपने "दमोहदीपक" और "जबलपुर-ज्योति" नाम के ग्रन्थ स्वयं लिखे और अपने खर्च से प्रकाशित कराये। जो पाठक पुरातत्त्व की नीरसता से डरते हों वे इन ग्रन्थों को एक बार पढ़कर देखें कि इस प्रकार के ग्रन्थों में भी साहित्य-छटा छिटकायी जा सकती है। पुस्तकों के नामकरण तक में अनुप्रास का इतना ध्यान रखना लेखक की जिन्दादिली का अच्छा प्रमाण है। सुना है "सागर-सरोज" भी आप लिख रहे हैं। अन्य ग्रन्थ भी लिखे जा रहे हैं। इन सब का संग्रह मध्यदेशीय इतिहास में स्थायी महत्त्व रखेगा और इसका श्रेय, हमारी समझ में, राय बहादुर हीरालाल सा० को ही है।

"दुर्ग-दर्पण" नामक ग्रन्थ आपके सुयोग्य भ्राता बाबू गोकुलचन्दजी का लिखा है। इसमें दुर्ग ज़िले का इतिहास, भूमि, व्यवसाय, शासन आदि का संक्षिप्त और सरल विवेचन है। इतिहास के परिच्छेद में जो बातें लिखी गई हैं उनमें से अनेक का पता अंग्रेज़ी गज़ीटियर तक में नहीं है। अन्य बातें अंग्रेजी गज़ीटियर तथा सरकारी रिपोर्टों आदि के आधार पर उत्तमता से लिखी गई हैं। हम समझते हैं, अंग्रेजी-पढ़े गजीटियरों से जो लाभ उठा सकते हैं, उससे बढ़कर लाभ हिंदी-पढ़े लिखे इस प्रकार की पुस्तकों से उठा सकते हैं। आशा है, अन्यान्य ज़िलों के हिन्दी गज़ीटियर भी शीघ्रही प्रकाशित होंगे।

साहित्य-सुमन ।



(१) कवि-रहस्य ।

'सरस्वती' के फ़र्वरी, १९२२ के अंक में इसी शीर्षक का एक लेख निकला है जिसमें बतलाया गया है कि संसार में कवियों का अभाव नहीं होता। कविता का भाण्डार अक्षय है। उसमें से जितनेही अधिक रत्न निकाले जावेंगे उतनी ही अधिक उसके कोष की वृद्धि होगी। उसका क्षेत्र इतना विस्तृत और अपरिमित है कि उसके छोर को पाने के लिए कवि जितना आगे बढ़ेगा उतनी ही दूर उससे छोर हटता जावेगा। कविता-संसार के निगूढ़ स्थानों के अनुसन्धानार्थ अनेक कविवर निकले, उनने कई स्थान खोज भी निकाले; पर उसके अगणित स्थल अभी भी अनाविष्कृत पड़े हुए हैं। लेखक ने यह भी दर्शाया है कि कविता की सार्थकता तभी सिद्ध होती है, जब कवि अपने हृद्गत भावों को निर्विकार चित्रित करके, पाठकों के अन्तः-करण की सहानुभूति प्राप्त कर ले। लेखक का कथन है:–

" स्मरणातीत काल से लेकर आज तक कवि उत्पन्न होते ही जाते हैं। न जाने किस अनन्त भाव-राशि से कविता का उद्गम हुआ है कि उसका स्रोत सूखता ही नहीं। अब मिल्टन और शेक्सपियर नहीं दिखाई देते; परन्तु उनके स्थान में ब्रीजेज और ईट्स तो हैं। हिन्दी में सूर और तुलसीदास नहीं हैं तो क्या गुप्त और उपाध्यायजी की कविताएँ नहीं प्रकाशित होतीं? इस का क्या कारण है? बड़े बड़े कवियों की श्रेष्ठ रचनाएँ विद्यमान हैं, तो भी मनुष्यों की काव्य-पिपासा शान्त क्यों नहीं होती? अनन्त काव्य-सागर से जो पिपासा शान्त न हो सकी वह छोटे कवियों की जलांजलि से कैसे मिट सकती है! तो भी लोग उनको ग्रहण करने लिए सोत्कण्ठ रहते हैं। यही नहीं, किन्तु गंगाजी की निर्मल धारा को छोड़कर लोग छोटे छोटे गड्ढों के पानी से ही प्यास बुझाने की चेष्टा करते हैं।

" सड़क पर मजदूर और गँवार जो पद्य गाते फिरते हैं उनमें न तो रस का परिपाक हुआ है और न अलंकार का चमत्कार ही है। उनका कुछ अर्थ भी नहीं। तो भी उनसे उनका हृदय हिल जाता है। यदि लोक-प्रियता ही कविता की एक मात्र कसौटी समझी जाय तो ग्रामीण संगी ही कविता में सबसे ऊँचा स्थान पा जायँ। हमें अब यह भी देखना है कि इन ग्रामीण संगीतों से लेकर व्यास और वाल्मीकि के काव्यों तक में भावना की वह कौन समान धारा है जो मूर्ख और विद्वान्, राजा और दरिद्र सभी के हृदय में बह रहा है। जो रचना उस भाव को जितनी अच्छी तरह व्यक्त करेगी वह उतनी ही अच्छी कविता कही जायगी।

" विद्वानों के शब्द-जाल में पड़कर हम लोग कविता को रहस्यमयी समझने लगे हैं। इसलिए अब तो असाधारणता ही सौन्दर्य का प्रधान लक्षण समझी जाती है। इसी असाधारणता के लिए कविता में शब्दों का जाल रचा जाता है। अस्पष्ट भाव को स्पष्ट करने के लिए उपमा का प्रयोग नहीं किया जाता; किंतु उपमा की सार्थकता के लिए तदनुकूल भाव की योजना की जाती है। छन्द और भाषा भाव के लिए नहीं है, किन्तु भाव ही छन्द और भाषा के लिए है। जिन रचनाओं में ये बातें हैं वे उतने से ही कविता नहीं कही जा सकती हैं। कविता की सच्ची पहिचान है कवि का अपना अन्तःकरण व्यक्त करने की क्षमता। कवि की भावना को यदि हम हृदयङ्गम कर सकें तो उसकी रचना सफल हो गई। रामचरितमानस में तुलसीदास ने अपने भक्ति-भाव को चित्रित किया है। यदि पाठक उनके भाव में विलीन हो गये तो रामचरितमानस का उद्देश्य पूर्ण हो गया; परन्तु यदि उससे उनका मनोविनोद ही हुआ तो रामचरितमानस का गौरव घट गया। यदि कवि ने पाठकों को अपने सौन्दर्य-बोध का अनुभव करा दिया तो उसका परिश्रम सार्थक है। यदि कवि ने अपने हृदय में सौन्दर्य का शुभ्र रूप देखा हो तो वह अपनी रचना को श्रेयस्कर बना सकता है। यदि उसके हृदय में सौन्दर्य की मलिन छाया है तो उसकी रचना से ग्लानि होगी। परन्तु जिसकी रचना में सौंदर्य ही नहीं है वह सदैव अनिष्टकर रहेगा। उसकी रचना से मनुष्य का सौंदर्य-बोध नष्ट हो सकता है और चित्त विकृत हो सकता है। ऐसी रचना सदैव असह्य है। ग्रामीण सङ्गीतों में क्षुद्र सौंदर्य की अस्पष्ट छाया रहती है तो भी वही उनके हृदय में भावना की तरङ्ग उठा देती है।

' यह सौंदर्य सर्वत्र व्याप्त है। विश्व का यह सौंदर्य अनन्त है, परन्तु है यह सभी को लभ्य। सबसे अधिक आश्चर्य की बात यह है कि यह सर्वदा नवीन ही रूप धारण करता है। यही

कारण है कि वाल्मीकि, होमर, दान्ते, कालिदास, सूरदास आदि कवियों ने हमें जिस सौन्दर्य का दर्शन कराया है उसको उपलब्ध करके भी हम सन्तुष्ट नहीं होते। सौन्दर्य का जो रूप उन्होंने दिखलाया है उसीमें सौन्दर्य का अन्त नहीं हो गया है। मनुष्यों की यह सौन्दर्य-तृष्णा कम नहीं होती। इसलिए श्रेष्ठ कवियों की श्रेष्ठ रचनाओं से हमारी जो पिपासा दूर नहीं हुई उसे तृप्त करने के लिए जब छोटे कवि अपनी कविताओं का अञ्जलि-दान करते हैं तब हम उन्हें भी सोत्कण्ठ ग्रहण करते हैं।"

(२) जेल की साहित्यिक उपज।

आगरा के डिस्ट्रिक्ट जेल में गत २४ जनवरी को कवि-सम्मेलन की बैठक फिर हुई। समस्या थी 'समाये हैं'। इसकी पूर्ति में कई सज्जनों ने अपनी अपनी कविताएँ पढ़ीं। पं० रामनरेश त्रिपाठी की पूर्त्ति इस प्रकार थी—

हे मेरे प्रभु! व्याप्त हो रही है तेरी छवि त्रिभुवन में।
तेरी ही छवि का विकास है कवि की वाणी में, मन में॥
माता के निःस्वार्थ नेह में, प्रेममयी की माया में।
बालक के कोमल अधरों पर, मधुर हास्य की छाया में॥
पतिव्रता नारी के बल में, वृद्धों के लोलुप मन में।
होनहार युवकों के निर्मल ब्रह्मचर्यमय यौवन में॥
तृण की लघुता में, पर्वत की गर्व-भरी गौरवता में।
तेरी ही छवि का विकास है रजनी की नीरवता में॥
ऊषा की चंचल समीर में, खेतों में, खलियानों में।
गाते हुए गीत सुख-दुख के सरल-स्वभाव किसानों में॥
श्रमी किन्तु निर्धन मजूर की अति छोटी अभिलाषा में।
पति की बाट जोहती बैठी गरीबिनी की आशा में॥
भूख-प्यास से दलित दीन की मर्म-भेदिनी आहों में।
दुखियों के निराश आँसू में, प्रेमी-जन की राहों में॥
मुग्ध मोर के सरस नृत्य में, कोकिल के पंचम स्वर में।
वन-पुष्पों के स्वाभिमान में, कलियों के सुन्दर घर में॥
निर्जनता की व्याकुलता में, संध्या के संकीर्तन में।
तेरी ही छवि का विकास है सन्तत परहित-चिन्तन में॥
विलसन के चौदह नियमों में, कैसर की दृढ़ आशा में।
लेनिन के उस साम्यवाद में, रेडिंग की मृदु भाषा में॥
गांधीजी के आत्म-यज्ञ में, भारत की अभिलाषा में।
तेरी ही छवि का विकास है भिन्न भिन्न परिभाषा में॥
हम हैं अति असहाय, शरण में प्रभुवर! तेरी आये हैं।
पूरे हों मन में स्वराज के जो उद्गार समाये हैं॥

पं० कृष्णकान्त मालवीय की पूर्त्ति में हँसोड़पन भरा था। उनके दो कवित्त इस प्रकार थे—

(१)

गाँधी महराज की बड़ाई मैं कहाँ लौ करौं,
जाके परताप से हम जेल में आये हैं।
डेढ़ डेढ़ रुपया के अंधाधुन्ध खाय खाय,
जाकी ओर देखिये वो सबही मोटाये हैं॥
चुचके कपोलन पै आब चढ़ आई खूब,
लाल लाल सेब की सी शोभा सरसाये हैं।
खात न अघात बिन खाये अनखात, यहि
भाँति हम सुख के समुद्र में समाये हैं॥

(२)

डाक्टर, एडीटर, बैरिस्टर, एजीटेटर,
टरटर कर दिनरात प्रान खाये हैं।
और कुछ काम नहीं, चुप से आराम नहीं,
जेल निज धाम नहीं, सब उतराये हैं॥
लोगन की अकिल नकेल बिना ऊँट ऐसी,
काटिबे को धावे देखि सब चकराये हैं।
जेल के पुराने क़ैदी औगुन को छोड़ गये,
दल बाँधि वे ही सब हममें समाये हैं।

बाबू रामदास गौड़ की कविता में भी काव्यच्छटा दर्शनीय थी—

बैरिस्टर, वकील, अध्यापक, विद्यार्थी सभी सुकुमार।
तन, मन, धन अर्पण करते हैं, हुई त्याग की अब भरमार॥
मातृभूमि की सेवा में सब नंगे पैरों धाये हैं।
रेलों, जेलों, तनहाई में, क़ैदी नहीं समाये हैं॥
गाँधी की आँधी बहती है साथ सभी जन आते हैं।
शौकतअली शौक़ से बढ़कर सबको राह बताते हैं॥
दास दासता मिटा लाजपति लाज बचाने आये हैं।

हाय ! शोक भगवान् तिलक अब जाने कहाँ समाये हैं ॥
कैसे हम सहयोग करें, जब सुहागिनें विधवा कर दीं।
कितने मदन मिटाकर हमने काशों से सड़कें भर दीं ॥
कायर डायर के छरों ने कैसे दृश्य दिखाये हैं।
नैनी के डंडे मेरी नस नस में आज समाये हैं ॥
भाषण, मुद्रण, सम्मेलन में स्वतंत्रता की मची पुकार।
आज बम्बई में मिलकर सब बोल रहे हैं जय जयकार ॥
कुँजरू, नैय्यर, असन्तोष-वश चले वहाँ से आये हैं।
इनके मन में अभी भाव गांधी के नहीं समाये हैं ॥
प्रभो ! आज रीझे गोरों पर ऐसे त्याग दिये काले।
हाय ! कहाँ की रीति श्याम है स्वयं आप भी तो काले ॥
तुमही भूल गये हो बोलो, प्रभु लोचन भर आये हैं।
ब्रजवासिन मन-मंदिर में गोरे ही आज समाये हैं ॥

श्रीयुक्त महादेव देसाई ने मौन की प्रशंसा में एक बहुत सुन्दर पद्य रचा था। देसाईजी की मातृभाषा गुजराती होते हुए भी वे ऐसी विशुद्ध हिन्दी लिख सकते हैं यह प्रशंसनीय है। उनका पद्य इस प्रकार था--

भाषा मैं न जानूँ औ न जानूँ कवि-कला कुछ,
जानूँ सबै गुण एक मौन में समाये हैं।
ऋषि-मुनियों ने एक मौन मंत्रहि को साधा,
मौन के सुजस निगमागम भी गाये हैं ॥
बीसवीं शताब्दी की मौन-हीन सभ्यता ने,
मौनभक्त-गाँधीजी सरीखे उपजाये हैं।
मौन तोड़ता हूँ सिर्फ यही कहने के लिए,
मौन-बूँद में ही सुख-सागर समाये हैं ॥

हर्ष की बात है, भारतमाता के लाड़ले लाल इस प्रकार काव्य-शास्त्र-विनोद में काल-यापन कर रहे हैं।

(३) मतिराम और रहीम।

पं० कृष्णबिहारीजी मिश्र ने अपना लिखा निम्न लिखित नोट "श्रीशारदा" के लिए भेजने की कृपा की है।

सुकवि मतिराम और अब्दुल रहीम खान-खाना उपनाम 'रहीम' कवि की अनेक कविताओं में भाव-सादृश्य पाया जाता है। पाठकों के मनोरंजन के लिए दो तीन उदाहरण यहाँ दिए जाते हैं। स्मरण रहे कि रहीमजी मतिरामजी के पहले हो चुके हैं।

(१) गई आगि उर लाय, आगि लेन आई जो तिय।
लागी नहीं बुझाय, भभकि भभकि बरि बरि उठै ॥
(रहीम)

नैन जोरि मुख मोरि हँसि, नैसुक नेह जनाय।
आगि लेन आई हिए, मेरे गई लगाय ॥
(मतिराम)

रहीम के सोरठे में जिस अग्नि का उल्लेख है वह बड़ी ही प्रचण्ड है, किसी प्रकार से बुझती ही नहीं। कवि का प्रधान लक्ष्य मदनाग्नि की दुर्दमनीयता दर्शाना है। दूसरी कविता में मतिरामजी का उद्देश्य कुछ और ही है। उन्होंने यह दिखलाया है कि यह आग लगी कैसे। सहसा साक्षात् होता है। आँखों से आँखें मिलती हैं। मुख मुड़ जाता है। ज़रासी हँसी के साथ प्रेम लक्षित होता है। बस, आग लग जाती है। नेह (स्नेह) की चिक्कणता बड़े ही मार्के की है। आग प्रज्वलित करने में उसकी सहायता कितनी अच्छी मिली है। अपने अपने ढंग से दोनों ही भाव अच्छे हैं।

(२) करत न हिय अपरधवा सपनेहु पीय।
मान करन की बिरियाँ, रहिगो हीय ॥
(रहीम)

सपने हूँ मनभावतो, करत नहीं अपराध।
मेरे मनही में रही, सखी मान की साध ॥
(मतिराम)

यद्यपि दोनों पद्यों का भाव बिलकुल एकही है, फिर भी मतिराम के दोहे की अन्तिम पंक्ति सरलता, मधुरता और स्वाभाविकता में बहुत बढ़ी-चढ़ी है।

(३) सुभग बिछाय पलंगिया अंग सिंगार।
चितवति चौंकि तरुनियाँ दै दृग द्वार॥

(रहीम)

सुन्दरि सेज सँवारि कै साजे सबै सिंगार।
दृग-कमलन के द्वार मैं बाँधे बन्दनवार॥

(मतिराम)

अर्थ स्पष्ट है। भाव-सादृश्य निराला है; पर कहनावत के ढंग में भेद है। और यह भेद ही रसिक और समालोचक के लिए सर्वस्व है। कविवर बिहारीलाल का यह दोहा ऐसे ही सुकुमार और भव्य भेदों पर फबता है।

अनियारे दीरघ दृगनि किती न तरुनि समान।
वह चितवनि औरै कछू जिहि बस होत सुजान॥

द्वार की ओर नायिका के नेत्र संतत प्रक्षिप्त हो रहे हैं। रहीम ने इस भाव को "चितवति×××दै दृग द्वार" के कथन द्वारा व्यक्त किया; पर मतिराम ने दरवाजे पर नेत्र-कमलों के बन्दनवार बँधवा दिए। यह उस समय में नायिकाकृत अपने शृंगार और सेज-सँवारन के अनुरूप ही था। नायिका जिस पवित्र और शुभ अवसर की बाट जोह रही थी उसे देखते हुए गृह-द्वार पर ऐसे बन्दनवार की पूरी आवश्यकता थी। फिर इससे स्वागत की सूचना भी तो मिलती है। सद्गृहस्थ के समान, स्वागत के लिए, बन्दनवार के रूप में नेत्र-कमलों का दरवाजे पर पाया जाना कितना मार्मिकता-मय है। सचमुच मतिरामजी ने यहाँपर रहीम का मज़मून छीन लिया है। उनकी ऐसी गहरी सूझ पर मन मुग्ध हो जाता है।

(४) "बाबू" का बहिष्कार।

कुछ दिन हुए, कलकत्ते के 'इंग्लिशमैन' ने आवाज उठाई थी कि सरकारी पत्र-व्यवहार से 'बाबू' शब्द का बहिष्कार होना चाहिए एवं भारतवासियों को 'बाबू' न कहकर 'मिस्टर' कहना चाहिए। इसपर काशी के 'आज' ने लिखा कि यद्यपि 'बाबू' शब्द अपमानसूचक नहीं है तथापि अंग्रेज इसे जिस घृणा से कहते हैं उससे तो उनके मुँह से 'बाबू' कहाना बहुतेरों को नापसन्द होने लगा है। इसलिए अच्छा हो कि भारतीय भाषाओं में, आदरार्थ, सबके लिए 'श्री' या 'श्रीयुक्त' लिखा जाया करे। अंग्रेज़ अपनी भाषा के 'मिस्टर' का ही प्रयोग करते रहें। चूँकि किसी भाषा में अन्य भाषा का सम्मानसूचक शब्दों का प्रयोग करना केवल निरर्थक ही नहीं, पर कभी कभी उपहासास्पद भी होता है, इसलिए यह स्मरण रखना चाहिए कि जैसे केवल 'मिस्टर' कहना अशिष्ट है वैसे ही केवल 'बाबू' कहना भी अनुचित है। यदि 'बाबू' के आगे नाम कहना हो तो ठीक, नहीं तो 'बाबू साहब' वा 'बाबूजी' कहना चाहिए।

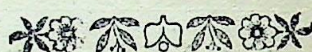
इस सम्बन्ध में एक दूसरे सज्जन ने 'बाबू' शब्द की मज़ेदार व्याख्या कर उसके बहिष्कार की सलाह दी है। उनका तर्क इस प्रकार है—

लगभग सोलहवीं शताब्दी से 'बाबू' शब्द का प्रयोग आरम्भ हुआ है। कम्पनी ने बंगाल में

व्यापार आरम्भ किया और ईस्ट इंडियन रेलवे भी बंगाल में ही पहलेपहल निकाली गई थी। इन दोनों में बंगाली ही क्लार्क रक्खे गये थे। बंगाली लोग अपने बदन में बहुत तेल मला करते थे और मछलियाँ भी खाया करते थे; इससे उनके बदन से बू आया करती थी; अतएव कम्पनीवाले उनको 'बू-वाले' अर्थात् 'बाबू' कहने लगे। यह 'बाबू' शब्द उर्दू भाषा का है जिसके 'बा' और 'बू' दो टुकड़े हैं। 'बा' का अर्थ है 'सहित' और 'बू' का अर्थ है 'गन्ध', अर्थात 'बाबू' का अर्थ है 'गन्ध-सहित' या 'बू-वाले'। 'बू' शब्द प्रायः 'बदबू' के अर्थ में प्रयुक्त होता है। इस प्रकार यह शब्द स्वयं घृणोत्पादक है और 'नेटिव' और 'काले' शब्दों से भी अधिक अशिष्ट है। शनैः शनैः ईस्ट इंडियन रेलवे बढ़ती गई और इधर कंपनी का राज्य भी भारत भर में फैल गया। देश के अन्य भागों में भी भारतवासी उनकी नौकरी करने लगे और सब विभागों के भारतीय कर्मचारी 'बाबू' शब्द से ही सम्बोधित होते थे। हिन्दुस्थानियों की भेड़चाल प्रसिद्ध ही है, इसलिए उन्होंने अपने नाम भी बाबू ही पर रक्खे; जैसे बाबूराम, बाबूसिंह आदि। पढ़े-लिखे लोग अपने 'पिताजी' के स्थान पर 'बाबू' और 'बाबूजी' कहलाना पसन्द करते हैं। 'बाबूजी' और 'बाबू साहब' भी उतने ही घृणाजनक हैं जितने कि बदबू-वालेजी और बदबूवाले साहब। अंग्रेज लोग यदि घृणा के बदले, इसका प्रयोग आदर के लिए करें तबभी तो यह शब्द स्वयं घृणाजनक और अशिष्ट है। इसलिए इस शब्दका बायकाट करना चाहिए, अन्यथा भविष्य में हिन्दुस्थानियोंके बदबू-वाले पुकारे जाने की आशंका है। इसके स्थानपर महाशय, महोदय, श्रीमान् अथवा श्रीयुत का प्रयोग उचित है।



विविध विषय।



(१) भाषा पर देश की स्वाधीनता का प्रभाव।

स्वाधीन देश की भाषा का क्या कहना है। वहाँ वाले तो उस भाषा को सुधारने के लिए सभी कुछ करते हैं। दूसरे देश-वाले भी उसकी शुद्धता की ओर ध्यान देना अपना कर्तव्य समझते हैं। अंग्रेज़ी भाषा आज संसार भर में अपना अधिकार जमाये बैठी है। उसकी क्लिष्टता की ओर ध्यान न देकर भी संसार का अधिकांश शिक्षित-जन-समुदाय उसे सीखने और समझने में दत्तचित्त रहता है। शिक्षित देशों की सरकार भी इसकी ओर यथोचित ध्यान देना अपना कर्तव्य समझती है। चीन और जापान की ही सरकार के प्रयत्न को देखिए। वे चाहती हैं, हमारे देश-वाले अंग्रेजी भाषा का शुद्ध शुद्ध उच्चारण कर सकें। वहाँवाले अँग्रेजी भाषा के ल और र ध्वनि के अक्षर एल (L) और आर (R) का उच्चारण शुद्ध शुद्ध नहीं कर सकते। यदि उन्हें 'रिवर' (river) कहना होगा तो वे उसे 'लिवर' कहेंगे, 'फ्लाई' fly कहना होगा, तो उनके मुख से 'फ्राई' निकलेगा। इस दोष को दूर करने के लिए जापान-सरकार बहुत चिन्तित है। उसने अँग्रेजी सरकार को लिखकर लन्दन यूनि-

वर्सिटी कालेज के प्रोफ़ेसर पामर को तीन वर्षों के लिए जापान बुलाया है। ये प्रोफ़ेसर सा० जापानियों का उक्त उच्चारण-सम्बन्धी दोष दूर करने का प्रयत्न करेंगे।

यदि आज कहीं भारत स्वतंत्र होता और अंग्रेज लोग उसके 'शासक' न होकर 'शासित' होते, तो भारत-सरकार भी अंग्रेजों द्वारा किये गये अनेक हिन्दी-शब्दों के उच्चारण के दोषों को दूर करने का प्रयत्न करती और देखती कि अंग्रेजों की जिह्वा आदि उच्चारण-स्थानों को ऐसा अभ्यास कराया जाय जिससे वे 'मथुरा' को 'मटरा', 'कानपुर' को 'कौनपौर', 'वर्तमान' को 'बैर्टमैन', 'दक्षिण' को 'ढेकेन', 'ठाकुर' को 'टागोर' आदि न कह सकें। यदि ऐसा उच्चारण सुधारने में अंग्रेजों की 'शान' में फ़रक़ पड़ता होता, तो भारत-सरकार उन्हें यह समझाने का प्रयत्न करती कि किसी भाषा के शब्दों का उच्चारण जानबूझकर बिगाड़ने से शान बढ़ती नहीं, बरन अशुद्ध बोलनेवालों की अयोग्यता प्रमाणित होती है।

(२) भारत की राष्ट्रीयता।

मिस्टर एच. जी वैल्स का परिचय श्रीशारदा के गतांक में (पृष्ठ २३९ पर) दिया जा चुका है। इन्हीं वैल्स महाशय ने "मैनचैस्टर गार्जियन" नामक विलायती पत्र के १३ जनवरी के अंक में "संघ-युग में भारत का स्थान" (India's place in a League Epoch) शीर्षक एक लेख लिखा है। उसमें एक स्थान पर लिखा है "भारतवर्ष एक राष्ट्र नहीं है। वह अनेक रजवाड़ों, भाषाओं और जातियों का अव्यवस्थित समुदाय है।" हम समझते हैं, वैल्स सा० के इस आक्षेप में कोई नवीनता नहीं है—यह एक ऐसा आक्षेप है जो कई बार किया जा चुका है। हमें जान लेना चाहिए कि भारत की राष्ट्रीयता पाश्चात्य देशों की राष्ट्रीयता से भिन्न है। वहाँ की राष्ट्रीयता बाहरी हुआ करती है और चार दिनों में निर्मित हो सकती है; परन्तु भारत की राष्ट्रीयता आन्तरिक है और उसके निर्माण में शताब्दियों की आवश्यकता हुआ करती है। अभी सौ ही वर्ष बीते हैं जब जर्मनी अनेक छोटे छोटे राष्ट्रों और भाषाओं का समूहमात्र था, पर बिस्मार्क ने 'रक्त और लोहे' के बलपर उन्हें ऐसे प्रबल राष्ट्र के रूप में परिणत कर दिया जो ६ वर्ष पूर्व संसार की आँखों में चकाचौंधी उत्पन्न कर सकता था। संयुक्त राष्ट्र लगभग एक शताब्दी पूर्व एंग्लो सेक्शन, सेल्ट, जर्मन, स्पेनीयार्ड आदि जातियों में विभक्त था; पर इँग्लैण्ड की ओर से उसपर जो अत्याचार किये गये उन्होंने उसे राष्ट्र के रूप में परिणत कर दिया।

दक्षिण आफ्रिका, आस्ट्रेलिया, कनैडा, न्यूज़ीलैंड आदि देशों में भूरे, मटमैले भूरे, गेहुआँ-भूरे, गुलाबी, आदि अनेक वर्णों के 'गोरे' हैं। बहुत सी ज़मीन वहाँ ख़ाली पड़ी रहती है; पर कहीं उनकी राष्ट्रीयता में बाधा न पड़ने लगे इस आशंका से वे एशिया-वालों को वहाँ पैर नहीं रखने देते, और यदि कहीं कोई पहुँच ही गये तो उनके प्रति जैसा दुर्व्यवहार किया जाता है उसका साक्षी आधुनिक इतिहास है। दूसरी ओर वसुधा को कुटुम्ब माननेवाले भारतवर्ष को देखिए जो अपनी स्वर्णभूमि पर पदार्पण करने वाले प्रत्येक विदेशी का स्वागत करने को तैयार

रहा है और अब भी है। चाहे वह उसकी गोद में खेलने को आवें चाहे उसका गला काटने को। इस प्रकार यहाँ भिन्न भिन्न जातियों के लोग एकत्र हो गये हैं। इन सबको एक राष्ट्र के रूप में परिणत करने के लिए भारत ने न तो पाशविक बल का और न कूटनीति का ही प्रयोग किया। समय ने शान्ति के साथ उसकी आन्तरिक समता का निर्माण किया। प्राचीन भारत ने आर्य्य, अनार्य्य, यवन, शक हूण आदि जातियों को, शताब्दियों में एक राष्ट्र बनाया था। इस कार्य में सहायता देनेवाला उसका सामाजिक संगठन था जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को स्थान दिया था, गया सहायक था उसका धर्म्म जो इतना व्यापक था कि प्रत्येक व्यक्ति के आत्मिक विकास के लिए उपयुक्त था, सहायक था उसका साहित्य जिसका सौन्दर्य अब भी विश्व-विश्रुत हो रहा है, सहायक थी उसकी विशेष शिक्षा-पद्धति, रहन-सहन, आचार-विचार आदि जिन्हें 'राष्ट्रीय' नाम के अतिरिक्त अन्य किसी नाम से पुकारना अन्याय होगा।

अर्वाचीन भारत में एक दो नई जातियों का प्रवेश हुआ है। इससे राष्ट्रीय धारा में खलबली अवश्य मची है, वेग भी कुछ कम हो गया है; परन्तु वह बिल्कुल लुप्त नहीं हुआ है। विकट परिस्थिति से संग्राम करती हुई भारतीयता आगे बढ़ रही है। यदि आज मार्ग के प्रतिबन्ध हटा लिये जावें, तो शीघ्र ही संसार देख लेगा कि भारत में अनेक राज्य, जाति, भाषा और धर्म्म होते हुए भी एक ही भारतीय राज्य, एक ही भारतीय जाति, एक ही भारतीय भाषा और एक ही भारतीय धर्म्म है। विभिन्नता में भी एकता ही सर्वश्रेष्ठ राष्ट्रीयता है।

(३) भारत के राजनीतिक विचार।

उसी लेख में वैल्स सा० यह भी लिखते हैं—"राजनीतिक दृष्टि से देखा जावे तो भारतवर्ष बहुत रहस्यमय दिखता है। हमें नहीं मालूम, भारतवासियों के राजनीतिक विचार क्या हैं। हमें यह भी नहीं मालूम कि प्राचीन समय में उन्होंने पाश्चात्य देशों की सभ्यता से मिलते-जुलते राजनीतिक सिद्धान्त स्थिर किये थे या नहीं"। मि० वैल्स का यह कथन प्रमाणित करता है कि वे भारतीय साहित्य से परिचित नहीं हो सके हैं। यदि उन्होंने मैक्समूलर सा० के "संसार को भारत का सन्देश" ग्रन्थ ही पढ़ा होता, तो भी उन्हें विदित हो जाता कि भारत की प्राचीन सभ्यता पाश्चात्य देशों की आधुनिक सभ्यता से कितनी बढ़ी-चढ़ी है। भारत में जो राजनीतिक विचार सहस्रों वर्ष पूर्व प्रचलित थे उन्हें आज अनेक सभ्य-शिरोमणि पाश्चात्य देश मान रहे हैं। इसमें सन्देह नहीं कि भारत के राजनीतिक विचार उसी दिन लुप्त होगये जिस दिन देश परतन्त्रता-पाश में जकड़ा गया। जिस दिन ये पाश टूटेंगे उसी दिन विस्मृति का वह आवरण जो उन विचारों पर पड़ा हुआ है दूर होगा और संसार उन विचारों को उनके वास्तविक रूप में देखेगा।

अब भी जिन्हें भारत के प्राचीन राजनीतिक विचार जानना हो वे वेदों के अतिरिक्त रामायण, महाभारत, कालिदास के ग्रन्थ, कौटिल्य के अर्थशास्त्र आदि को मनोयोग देकर पढ़ें। 'मालविकाग्निमित्र' के अनुसार 'राजा' प्रधान शासक होता था। उसकी सहायता के लिए 'मंत्री'

और 'मंत्रि-मण्डल' (कैबीनट) थे। अर्थशास्त्र में "पौर" और "जानपद" नाम्नी दो प्रातिनिधिक संस्थाओं का वर्णन आया है। इन संस्थाओं में, क्रमशः, 'पुर' और 'जनपद' के प्रतिनिधि बैठते थे। इन संस्थाओं की आंशिक तुलना इंग्लेंड की 'लॉर्ड'और'कामन्स'सभाओं से की जासकती है। 'मालविकाग्निमित्र' में हीकई प्रान्तीय शासकों का वर्णन मिलता है जिन्होंने कई देश जीतकर अपने प्रभु अग्निमित्र के राज्य में सम्मिलित किये थे। इससे स्पष्ट है कि प्रान्तों का शासन गवर्नरों के द्वारा होता था। नगर की शान्ति-रक्षा का भार, उस समय भी, पुलिस-कान्सटेबलों पर रहता था, यह बात 'अभिज्ञान शाकुन्तल' से स्पष्ट है। विस्तार-भय से इस प्रकार के अधिक उदाहरण यहाँ नहीं दिये जा सकते हैं। पर ये थोड़े से उदाहरण भी यह बात सिद्ध करने के लिए पर्याप्त हैं कि प्राचीन भारत में व्यवस्थित शासन-प्रणाली अवश्य प्रचलित थी और वह शासन-प्रणाली अनेक पाश्चात्य देशों की वर्तमान शासन-प्रणाली से अनेक अंशों में मिलती-जुलती है।

भारत की राष्ट्रीयता पर सबसे भारी लाञ्छन यह है कि समस्त हिन्दू-इतिहास में किसी समय का उल्लेख नहीं मिलता जब कि समस्त देश एक ही सम्राट् के अधीन रहा हो। यदि इस 'अधीन' शब्द से वर्तमान साम्राज्यवाद की अधीनता का अर्थ लिया जावे, तो हम निःसकोच कह देंगे कि समस्त भारत एक सम्राट् के अधीन कभी नहीं था। पर, भारत में एक दूसरे ही प्रकार का साम्राज्य-वाद प्रचलित था और वह क्षत्रियत्व का गौरव-स्वरूप था। वह इस प्रकार था कि देश भर में जो सबसे अधिक तेजस्वी नरेश होता था समस्त राजा उसीकी अधीनता स्वीकार कर लेते थे; परन्तु इस स्वीकृति से उनका अधिकार उनके राज्य पर से उठ न जाता था। ऐसे 'अधीन' राजा के मृत्यूपरान्त यदि उसका उत्तराधिकारी नाबालिग होता था और कोई दूसरा नरेश उस राज्य पर आक्रमण करता था, तो चक्रवर्ती राजा का कर्तव्य होता था कि वह उस आक्रमण से उस राज्य की रक्षा करे। यह शासन-प्रणाली शताब्दियों तक प्रचलित रही। वेदादि की बात हम क्या, वेदज्ञ जानें, महाभारत, रामायण आदि में भी इसका वर्णन स्थान स्थान पर मिलता था। कालिदास का 'रघुवंश' भी इसकी साक्षी देता है। ये सब बातें प्रमाणित करती हैं कि भारतवर्ष के राजनीतिक विचार क्या थे।

(४) अन्ताराष्ट्रिय सभा में भारत का प्रतिनिधित्व।

उसी लेख में मिस्टर एच. जी. वैल्स ने वाशिंगटन-सम्मेलन और उसके भारतीय प्रतिनिधि (?) मि० शास्त्री का उल्लेख करते हुए लिखा है— 'भारत में ऐसा कौनसा संगठन है, जो प्रतिनिधि भेजने का काम कर सकता है? वास्तव में भारतवर्ष अभी इस प्रकार संगठित नहीं है कि वह किसी कान्फरेंस या राष्ट्र-संघ में अपना सच्चा और योग्य प्रतिनिधि भेज सके।'

जिस समय भारत स्वाधीन था, उस समय उसका अन्ताराष्ट्रिय जीवन था। फिर जिसका राष्ट्र में जीवन नहीं उसका अन्ताराष्ट्रिय जीवन कब सम्भव हो सकता है? सच्चे प्रतिनिधि में जो

योग्यता होनी चाहिए उसे प्रमाणित करने की आवश्यकता नहीं, विशेषकर उनके लिए जो हमें अयोग्य सिद्ध करने में ही अपने समस्त स्वार्थों की सिद्धि देखते हैं । पर ज़रा यह तो बताइये कि जिस समय योरुप के बनिये कोठियाँ खोलने के लिए घुटने टेककर सम्राट् जहाँगीर के दरबार में भारत से सनदें माँग रहे थे उस समय भारत योग्य था या नहीं ? जिस दिन लार्ड क्लाइव ने बंगाल, विहार और उड़ीसा की दीवानी सिर झुकाकर शाहआलम से ली थी उस समय भारत योग्य था या नहीं ? जब ईस्ट इंडिया कम्पनी के डाइरेक्टर भारत में रहनेवाले अपने नौकरों को लगातार लिख रहे थे कि मराठों से विरोध न करो उस समय भारत योग्य था या नहीं ?

आगे चलकर मि० वैल्स लिखते हैं—"वाशिंगटन-कान्फरेंस से भारतीय प्रतिनिधि मि०श्रीनिवास शास्त्री स्पष्टतया अंग्रेजों द्वारा नियत किये गये हैं । वे भारतीय भद्र पुरुष के जितने अच्छे नमूने हैं उतने अच्छे वे प्रतिनिधि नहीं हैं । हम नहीं जानते हैं, भारत की कौनसी राष्ट्रीय शक्तियाँ उनका साथ देती हैं, अथवा कोई सामूहिक शक्ति उनके साथ है या नहीं । परन्तु फिर भी उनके बदले में कोई दूसरा अधिक अच्छा प्रतिनिधि भेजना कठिन है ।"

वास्तव में मि० शास्त्री भारत की ब्रिटिश नौकरशाही के प्रतिनिधि होकर गये थे । वाशिंगटन-परिषद— नहीं, वाशिंगटन-प्रदर्शिनी— में वे संसार को यह बताने के लिए भेजे गये थे कि भारत का काला आदमी कैसा होता है । पर मि० वैल्स के उपरोक्त कथन से विदित होता है कि उन्होंने भारत के विषय में विशेष जानकारी नहीं प्राप्त की थी । उन्हें जानना चाहिए कि नेशनल कांग्रेस भारत की राष्ट्रीय संस्था है । उसके द्वारा चुना हुआ प्रतिनिधि ही भारत का अथवा भारत की अधिकांश जनता का सच्चा प्रतिनिधि हो सकता है । इस प्रतिनिधि को प्रतिनिधित्व देने के लिए भारतीय सभ्यता और सदाचार की सारी शक्तियाँ तत्पर हैं । भारत के करोड़ों नर-नारियों की सम्मिलित आकांक्षाएँ उस का योग देंगी और संसार के सुख-दुःख, शान्ति-अशान्ति का जब प्रश्न उठेगा तब इस प्रतिनिधि के मन्तव्यों के सामने सिर झुकाये विना कोई भी विश्व-परिषद्-प्रदर्शिनी नहीं—अपनेको सफल न समझेगी । कहा नहीं जा सकता, वह दिन अभी कितनी दूर और है ।

(५) म्यूनिसिपल मेम्बरों का चुनाव कैसे हो ?

सार्वजनिक जीवन में, 'चुनाव' शब्द में, न जाने कैसे कैसे घिनौने प्रयत्न छिपे रहते हैं । जहाँ 'चुनाव' का अवसर आया, चाहे वह चुनाव म्यूनिसिपल कमेटी के लिए हो या व्यवस्थापक सभा या अन्य किसी संस्था के लिए हो, तहाँ उम्मेदवारों की ओर से आकाश-पाताल एक कर दिया जाता है, प्रत्यक्ष या परोक्ष रीति से उम्मेदवारों की प्रशंसा के पुल बाँधे जाते हैं; प्रतिस्पर्द्धी जन को चाहे वह कितना ही भारी मित्र क्यों न हो, नीचा दिखाने और उसकी निराधार निन्दा तक करने में कोई कसर नहीं की जाती; वोटरों के साथ उम्मेदवार की कई पीढ़ियों से कितना घनिष्ठ संबंध चला आता है इसकी उद्भावना पहले पहले—

और कदाचित् अन्तिम बार—उस समय की जाती है; कई धनी उम्मेदवार तो जनता की—जनता का मतलब केवल वोटरों का समुदाय है—कल्याण-कामना से प्रेरित होकर अपनी थैली का मुँह चौड़ा कर देते हैं। मतलब यह, चुनाव के कुछ समय पूर्व, उम्मेदवारों की ओर से, जनता के सन्मुख ऐसा दृश्य उपस्थित कर दिया जाता है कि मानो जनता अपना कल्याण सोचने-समझने में सर्वथा असमर्थ है और उसका जो कुछ कल्याण हो सकता है वह उम्मेदवार के एकमात्र प्रयत्न से हो सकता है। बहुत अच्छा होता यदि यह सुन्दर दृश्य अधिक स्थायी रहता; पर खेद की बात है, यह दृश्य कुछ दिनों के बाद ही, अर्थात् चुनाव हो चुकते ही, धुँधला होकर, शीघ्र ही 'गगनसदृश-शून्याकार' ग्रहण कर लेता है।

पाश्चात्य देशों में जहाँ सार्वजनिक जीवन अधिक सुसंगठित है यह दृश्य और भी अधिक स्पष्ट दिखाई देता है और "वोट"-भिक्षा के लिए जो प्रयत्न किये जाते हैं वे और भी अधिक घृणोत्पादक होते हैं। इस देश के दुर्भाग्य से उन प्रयत्नों का प्रतिबिम्ब यहाँ के सार्वजनिक-जीवन में अधिकाधिक पड़ रहा है। ऐसी दशा में सार्वजनिक जीवन की पवित्रता सुरक्षित रखने के अभिलाषी जनों के हृदयों में यह प्रश्न उठ सकता है कि ऐसा कौनसा उपाय है जिससे सार्वजनिक-जीवन कलुषित होने से बचे तथा प्रतियोगिता के दाँव-पेंच अपना घातक प्रभाव न डाल सकें।

इस सम्बन्ध में पूना सिटी-म्यूनिसिपल-कमेटी के उम्मेदवारों ने जो मार्ग दिखाया है वह ऐसा है जिसपर चलने से प्रतिद्वन्द्विता के अनेक अनुचित प्रयत्न दूर किये जा सकते हैं। उक्त कमेटी का चुनाव इस वर्ष मार्च मास के तीसरे सप्ताह में होनेवाला है। जनता द्वारा निर्वाचनीय प्रतिनिधियों की संख्या ४० है; पर, उम्मेदवारों की संख्या ७० है; अतः ३० उम्मेदवारों को निराश होना पड़ेगा। ये ७० उम्मेदवार ऐसे हैं जो राष्ट्रीय पक्ष के हैं। अन्य पक्ष और मतवाले जो होंगे उनकी संख्या अलग है। ये राष्ट्रीय पक्ष वाले उम्मेदवार चाहते हैं कि चालीसों स्थान हमीं लोगों को मिल जायँ; पर चुने जा सकते हैं केवल ४०। ये जो ३० अधिक उम्मेदवार हैं उन्हें चुनाव के पश्चात् घर बैठना ही पड़ेगा; परन्तु प्रयत्नों के दाँव-पेंच चलाकर और अपना बहुत सा समय, शक्ति और प्रभाव ख़र्च करने के बाद घर बैठे, तो इसमें बुद्धिमत्ता ही क्या रही। पर, ईश्वर ने इन्हें सद्बुद्धि दी है। अतः इन सब ७० सज्जनों ने किया क्या कि चुनाव जब होगा तब होगा, अभी हाल में इन्होंने अपने आपस में ही चुनाव कर डाला है। ये सब सज्जन एक स्थान में इकट्ठे हुए और ५ पंच नियत किये और कहा कि ये जिन ४० सज्जनों को चुनें केवल वे ही म्यूनिसिपल कमेटी में जावें, शेष ३० न जावें—न जावें नहीं, बुरा न मानें और सच्चे हृदय से ऐसा शिष्ट-जनोचित प्रयत्न करें जिसमें इन ४० स्थानों में राष्ट्रीय पक्षवाले ही रहें। पंचों ने ४० सज्जनों को चुन लिया है। हमें आशा है, शेष ३० सज्जन निराश न होकर प्रेम-पूर्वक ऐसा प्रयत्न करेंगे जिसमें भारतवर्ष भर में उनके सद्भावों और सत्प्रयत्नों का आदर्श माना जावे।

ये जो ४० सज्जन चुने गये हैं इनमें डाक्टर, वकील, व्यापारी, हिन्दू, मुसलमान, ब्राह्मण, अब्राह्मण आदि सभी शामिल हैं। दूसरी बात यह भी है कि ये सब कांग्रेस के सदस्य हैं।

आशा है, पूना के इस शुभ कृत्य का अनुकरण अन्य स्थानों में भी होगा।

(६) वसु महोदय का नया आविष्कार।

वनस्पति-वर्ग से सम्बन्ध रखनेवाले अनेक आविष्कार करके सर जगदीशचन्द्र वसु ने विश्व-व्यापी यश प्राप्त किया है। संसार के बड़े बड़े विज्ञानवेत्ता जिस प्रश्न के संबन्ध में कह बैठे थे कि यह हलही नहीं हो सकता उसे वसु महोदय ने हल करके संसार को दिखा दिया कि भारतीय मस्तिष्क कितनी क्षमता रखता है। प्रश्न यह था कि पृथ्वी से खिंचकर पानी, वृक्षों की नसों द्वारा, वृक्ष के ऊपरी से ऊपरी हिस्से तक कैसे चढ़ता है। कोई कोई पेड़ तो, जैसे इकयूलिप्टस, साढ़े चार सौ फुट ऊँचे होते हैं; पर पानी उतनी ऊँचाई पर भी बराबर चढ़ जाता है। समस्या इतनी कठिन थी कि किसी विज्ञानवेत्ता की बुद्धि काम न कर सकी, यहाँ तक कि वे इस प्रश्न का हल करना असम्भव समझकर चुप हो रहे। सूक्ष्म से सूक्ष्म कार्यों को दिखानेवाले अनेक तरह के यन्त्रों का आविष्कार करके वसु महोदय ने उपरोक्त समस्या को हल कर दिया। इतना ही नहीं, कुछ यन्त्रों द्वारा प्रत्यक्ष दिखा भी दिया कि जिस तरह समुद्र में ज्वारभाटे के समय लहरें उठकर किनारे पर चढ़ा करती हैं उसी प्रकार वृक्ष में लहरें बार बार उठ उठकर पृथ्वी से रस खींचकर नसों द्वारा ऊपर तक पहुँचा देती हैं। इन लहरों का उठना सूर्य की उष्णता पर निर्भर रहता है।

अभी हाल में वसु महोदय ने एक और नया आविष्कार किया है। आपने खजूर के पेड़ से रस निकालने का एक उपाय ढूँढ निकाला है। ऐसे रस में शक्कर का अंश अधिक पाया गया है। पर, रस निकालने की यह क्रिया बड़ के पेड़ में छेद करके दूध निकालने की क्रिया के समान नहीं है। अमरीका में एक प्रकार का पेड़ होता है जिसकी पीड़ में या डाली में छेद करने से मीठा रस टपकने लगता है। वह रस सूखने से शक्कर बन जाता है। पर यह बात खजूर के संबन्ध में नहीं है। खजूर है गर्म देशों में उत्पन्न होने-वाला वृक्ष; अतएव उसका रसीला पदार्थ पेड़ के अन्तरतम भाग में जमा रहता है। वसु महोदय ने प्रयत्न करके देखा कि पेड़ की पीड़ को बार बार छीलने से उसमें उत्तेजना पैदा होती है जिससे रस निकलने लगता है; परन्तु इस उपाय से पेड़ को बहुत हानि पहुँचती है। वसु महोदय को आशा है कि दूसरा कोई सरल उपाय ढूँढ निकाला जायगा।

ऐसे ही ताड़ के वृक्ष से भी रस निकालने की एक रीति निकाली है। ताड़ वृक्ष में उस स्थान से रस निकाला जाता है जहाँ कि फल लगते हैं। पहले पेड़ खूब ठोंका-पीटा जाता है; हथौड़े से उसकी खूब ही खबर ली जाती है। बस, वह गर्म हो उठता है और रस टपकने लगता है।

अभी तो इन आविष्कारों का आरम्भिक काल है। कुछ और प्रयत्न से कदाचित् कोई सरल युक्ति ढूँढ निकाली जाय।

(७) पंजाब में विधवा-विवाह।

लाहौर में "विधवा-विवाह-सहायक सभा" नाम की एक संस्था कई वर्षों से स्थापित है। इसका उद्देश नाम से ही प्रकट है। इस सभा के प्रयत्न से गत दिसम्बर मास में ३४ विधवाओं का विवाह हुआ। पूरे वर्ष भर में ऐसे जो विवाह हुए उनकी संख्या ३१७ पर पहुँच जाती है। जाति के अनुसार इन विवाहों का ब्यौरा इस प्रकार है—ब्राह्मण ३५, खत्री ६७, अरोड़ा १०४, अग्रवाल ३३, कायस्थ १०, राजपूत १४, सिक्ख १६, शूद्र २, अन्य जाति ३६।



राष्ट्रीय हिन्दी-मन्दिर का कार्य-विवरण।

प्रबन्ध-समिति।

साधारण-अधिवेशन।

स्थान—सभापतिजी का निवासस्थान।

समय—५ बजे संध्या, सोमवार, ता: ६-२ २२

उपस्थित—

१. बाबू गोविन्ददासजी (सभापति)।
२. पं० हरप्रसादजी पाण्डेय।
३. बाबू रामचन्द्रजी संघी।
४. बाबू मोतीलालजी भुरा।
५. पं० नर्म्मदाप्रसादजी मिश्र।

१. पिछली बैठक का कार्य-विवरण पढ़ा गया और स्वीकृत हुआ।

२. "श्रीशारदा" में राजनीतिक चर्चा किस मात्रा में रहे इसके सम्बन्ध में सर्व-सम्मति से स्थिर हुआ कि जिस मात्रा में वह अभी रहती है उसी मात्रा में रहा करे।

३. सर्व-सम्मति से स्थिर हुआ कि पं. सीतारामजी तिवारी प्रबन्धक के पद पर स्थायी रूप से नियुक्त किये जावें।

४. शारदा—पुस्तक—माला के सम्पादक को पुस्तिकाएँ लिखाने तथा प्रकाशित करने का जो काम पिछली बैठक में सौंपा गया था उसके सम्बन्ध में उनका त्याग-पत्र उपस्थित किया गया और सर्व-सम्मति से निश्चय हुआ कि अभी कोई नया प्रबन्ध किया जाना सम्भव न होने के कारण, वे उस कार्य का निर्वाह यथाशक्ति करते जावें।

५. निश्चय हुआ कि गत दुर्गाष्टमी तथा नवमी की छुट्टियों में जो कर्मचारी कार्यालय में उपस्थित रहे हैं उन्हें, बदले में, इस वर्ष तीन दिनों की अत्यावश्यक छुट्टी पाने का अधिकार दिया जावे।

६. "श्रीशारदा" में राष्ट्रीय हिन्दी-मन्दिर की समितियों का जो कार्य-विवरण, आय-व्यय का लेखा आदि छपा करता है उसकी छपाई और कागज़ के मूल्य के सम्बन्ध में निश्चय हुआ कि वह राष्ट्रीय हिन्दी-मन्दिर के हिसाब में समझा जाया करे।

यह भी स्थिर हुआ कि "श्रीशारदा" के १३ वें अङ्क से आज तक के अंकों में इस सम्बन्ध में जो कुछ छपा हो उसकी भी छपाई आदि रा० हि० मन्दिर के हिसाब में समझी जावे।

७. पुस्तक-प्रकाशन-समिति की नियमावली उपस्थित की गई और अत्यल्प संशोधन के पश्चात् नीचे लिखे रूप में स्वीकृत हुई—

राष्ट्रीय हिन्दी-मंदिर की पुस्तक-प्रकाशन-समिति की नियमावली।

संगठन और कर्तव्य।

१—इस समिति का संगठन प्रबन्ध-समिति के १२-६-२१ के अधिवेशन में, राष्ट्रीय हिन्दी-मन्दिर की नियमावली के नियम ११३ के अनुसार, हुआ है।

२—इस समिति के वे ही कर्त्तव्य है जो नियम ११५ में लिखे गये हैं, और उनका निर्वाह नीचे लिखे नियमों के अनुसार प्रबन्ध-समिति द्वारा उनके स्वीकृत होने की तिथि से से क्रिया जावेगा।

संयोजक और उसके कर्त्तव्य एवं अधिकार

३—उक्त समिति के संयोजक के आधीन शारदा-पुस्तक-माला का कार्यालय होगा और वह

सम्पादक की सहायता से अपने कार्य का निर्वाह करेगा।

४—संयोजक का कर्त्तव्य होगा कि वह—

(१) कार्यालय के प्रबन्ध के लिए उत्तरदायी रहे।

(२) अपने ही अधिकार पर पत्र-व्यवहार करके लेखकों से निर्दिष्ट विषयों की हस्तलिखित पुस्तकें मँगावें और उन्हें ऐसी ही पुस्तकें लिखने के लिए नियुक्त करे।

(३) प्रकाशनीय पुस्तकों की छपाई का प्रबन्ध करे, प्रूफ का संशोधन करे और छपाई की आज्ञा दे।

(४) प्रकाशित पुस्तकों की बिक्री की व्यवस्था करे।

(५) सामान्य विषयों की सभी पुस्तकों का संशोधन करे।

(६) प्रबन्ध-समिति के आदेशों का पालन करे।

५—संयोजक को अधिकार होगा कि वह—

(१) किसी भी दोषपूर्ण पुस्तक को अपने ही अधिकार पर अस्वीकार कर दे; परन्तु यदि लेखक चाहेगा तो वह अपनी पुस्तक की जाँच समिति-द्वारा करा सकेगा।

(२) सदस्यों की सम्मतियों के आधार पर पुस्तकों के पुरस्कार का निर्णय करे और आवश्यकता पड़ने पर इस विषय को समिति की बैठक में निर्णय के लिए उपस्थित करे।

(३) किसी विशेष अवस्था के उपस्थित होने पर और उसके निर्वाह के लिए किसी नियम के न रहने पर समिति के कार्य-क्षेत्र और अधिकार के अनुकूल उसका निर्वाह करे और समिति की आगामी बैठक में उसे स्वीकृति के लिए उपस्थित करे।

समिति की बैठक, कोरम तथा कार्य।

६—पुस्तक-प्रकाशन-समिति की बैठक दो मास में एक बार हुआ करेगी।

७—कोरम तीन का होगा, और यदि किसी दिन कोरम पूरा न होने के कारण बैठक न हो सकेगी, तो दूसरे दिन कोरम पूरा हुए बिना कार्य हो सकेगा।

८—उपस्थित सदस्यों में से कोई एक उस बैठक के लिए सभापति चुन लिया जायगा और उसका कर्त्तव्य होगा कि वह कार्य का निर्वाह नियमानुसार करे। उसका यह भी कर्त्तव्य होगा कि दो पक्षों में एक-समान वोट होने पर अपनी एक अधिक वोट देकर विषय का निर्णय करे।

९—समिति की बैठक में इन विषयों का विचार किया जायगा—

(१) नवीन पुस्तकों के विषय सोचना तथा उनके लिए उपयुक्त लेखक नियुक्त करना।

(२) पुस्तकों की छपाई की व्यवस्था करना तथा कितनी प्रतियाँ छापी जावें और क्या मूल्य रखा जावे इसका निर्णय करना।

(३) किसी विशिष्ट विषय की पुस्तक के संशोधन के लिए उस विषय के ज्ञाता को नियुक्त करना; परन्तु उसके द्वारा किये गये संशोधन के लिए समिति पर उत्तरदायित्व न रहेगा।

(४) उन पुस्तकों के पुरस्कार का निश्चय करना जिनके पुरस्कार का निर्णय सदस्यों की सम्मतियों के आधार पर सम्पादक-द्वारा न किया गया हो।

सदस्यों के कर्त्तव्य एवं अधिकार।

१०—समिति के प्रत्येक सदस्य का कर्त्तव्य होगा कि वह–(१) समिति की प्रत्येक बैठक में उपस्थित होकर प्रत्येक विचारणीय विषय पर अपनी सम्मति दे।

(२) जो पुस्तक उसके पास सम्मति के लिए भेजी जावे उसपर अपनी सम्मति दे।

(३) समिति की उन्नति के उपाय उसे सुझाता रहे।

पुस्तकों पर सम्मति।

११—प्रत्येक पुस्तक "सम्पादक, शारदा-पुस्तक-माला, राष्ट्रीय हिन्दी-मन्दिर, जबलपुर" के पते पर आवेगी, और यदि वह बहुत दोष-पूर्ण न होगी, तो संयोजक उसे उस विषय के किसी सदस्य के पते पर भेजेगा और उस सदस्य की सम्मति के आने पर देखेगा कि यदि सदस्य की सम्मति उसकी सम्मति से मिलती है, तो पुस्तक उसी समय स्वीकृत या अस्वीकृत हो जायगी, और यदि उस सदस्य और संयोजक में मतभेद होगा, तो पुस्तक उस विषय के दूसरे सदस्य के पास भेजी जायगी और उसकी सम्मति आने पर, बहुमत से, पुस्तक की स्वीकृति–अस्वीकृति का निर्णय किया जायगा।

१२—किस विषय की पुस्तक किस सदस्य के पास सम्मति के लिए भेजी जावे इसका निश्चय पुस्तक-प्रकाशन-समिति किया करेगी।

१३—सम्मति के लिए प्राप्त पुस्तकों को विषय और भाषा की दृष्टि से देखना होगा। नितान्त अशुद्ध भाषा में लिखी पुस्तकें स्वीकृत न की जावेंगी।

१४—सम्मति स्थापित करने के लिए पुस्तक के मुख्य मुख्य अंशों को ही पढ़ने की आवश्यकता है।

१५—कोई भी सदस्य पुस्तक को दो सप्ताह से अधिक समय तक न रोके। सम्मति में यथा-सम्भव यह सूचना अवश्य रहे कि पुस्तक मौलिक, अधिकांश मौलिक या अनुवादित है तथा यदि पुस्तक वर्तमान रूप में प्रकाशित करने योग्य न हो तो यह सूचना रहे कि उसमें कौन कौन से संशोधन किये जावें।

१६—सम्मति दाता सदस्य अपनी सम्मति में पुस्तक के योग्य पुरस्कार की सिफ़ारिश अवश्य करें।

१७—जो पुस्तक लेखकों को संशोधनार्थ लौटाई जावे वह संशोधन के पश्चात् फिर ग्रहण कर ली जावे और यदि वह किसी विशिष्ट विषय की न हो तो सम्पादक को ही उसे स्वीकृत अथवा अस्वीकृत करने का अधिकार रहेगा।

१८—अवैतनिक सदस्यों को, यदि वे पुरस्कार स्वीकार करें, तो पुस्तकों पर सम्मति देने के लिए प्रति २५ पृष्ठ पीछे १) के हिसाब से पुरस्कार दिया जावे।

अन्य नियम

१९—पुस्तक-प्रकाशन समिति के सदस्य भी यदि वे अपनी लिखी कोई पुस्तक शारदा-पुस्तक-माला को देना चाहें तो वे उसकी जाँच समिति-द्वारा करा सकते हैं। पर उस अवस्था में उन्हें सम्मति देने का अधिकार न रहेगा।

२०—लेखकों से जो पुस्तकें लिखवाई जावें उनमें से प्रत्येक का चतुर्थांश तैयार होने पर देखने के लिए मँगा लिया जाय और यदि वह अंश सन्तोषदायक प्रतीत न हो, तो आगे का रचना-कार्य बंद करा दिया जाय और लिखित अंश के लिए पुरस्कार देने न देने का का निर्णय समिति की बैठक-द्वारा कराया जाय।

यह भी निश्चय हुआ कि इस नियमावली के

अनुसार जो कुछ कार्य हुआ है वह स्वीकार किया जाय।

८—पिछली बैठक के प्रस्ताव नं० ४ के अनुसार दो सज्जनों की जो कमेटी बनाई थी उस की रिपोर्टों पर विचार करने का विषय अतिकाल होजाने के कारण, आगामी बैठक के लिए स्थगित किया गया।

९—मंत्री ने शारदा-पुस्तक-माला के कार्य में सहायता देने तथा पत्र-व्यवहार द्वारा "श्रीशारदा" आदि के ग्राहक बनाने के लिए अपनी पिछली रिपोर्ट में जिन दो नये कर्मचारियों की नियुक्ति के लिए विशेष अनुरोध किया था उसके सम्बंध में बहुमत से स्थिर हुआ कि अभी हाल में, ३०) मासिक वेतन पर, केवल दो मास के लिए, एक कर्मचारी नियुक्त कर लिया जाय जो पत्र व्यवहार द्वारा 'श्रीशारदा' आदि के ग्राहक बनाने का कार्य करे।

बाबू रामचन्द्रजी संघी इसके विपक्ष में थे। उनका कहना था कि पहले ऊपर लिखे प्रस्ताव नं० ८ की रिपोर्टों पर विचार किया जाय, फिर इस नियुक्ति का विषय लिया जाय।

पं० नर्म्मदाप्रसादजी मिश्रने अपनी वोट नहीं दी। (बाबू मोतीलालजी भुरा कार्यवश, कुछ समय पूर्व चले गये थे।)

सभापतिजी को धन्यवाद दे सभा विसर्जित हुई।

स्थायी-सभा का स्थगित अधिवेशन।

स्थायी समिति का गत रविवार को स्थगित किया गया अधिवेशन आज रविवार, ता: १९-१-२२ को २½ बजे दिन को राष्ट्रीय हिन्दी-मन्दिर के कार्यालय में निम्न-लिखित सदस्यों की उपस्थिति में हुआ—

(१) बाबू गोविंददासजी (सभापति), (२) पं० मनोहरकृष्णजी गोलवलकर, (३) पं० माधवरावजी सप्रे, (४) पं० गोपालरावजी तामस्कर, (५) पं० हरप्रसादजी पाण्डेय, (६) ठाकुर लक्ष्मणसिंहजी चौहान, (७) पं० शालग्रामजी द्विवेदी, (८) पं० बालमुकुन्दजी त्रिपाठी, (९) पं० सदाशिवरावजी कासखेड़ीकर, (१०) बाबू तुलसीदासजी, (११) बाबू कुन्दनलाल जी, (१२) बाबू कस्तूरचन्द्रजी, (१३) पं० सूरजप्रसादजी अवस्थी, [१४] बाबू रामचन्द्र जी संघी, (१५) श्री. मोतीलालजी भुरा, (१६) बाबू प्रेमचन्द्रजी, और (१८) पं० नर्म्मदाप्रसादजी मिश्र।

(१) स्थायी समिति के गत रविवार के अधिवेशन की कार्यवाही पढ़कर सुनाई गई और वह स्वीकृत हुई।

(२) गत अक्टूबर, नवम्बर और दिसम्बर १९२१ के आयव्यय का लेखा उपस्थित किया। गया और उसपर चर्चा हुई। तदनन्तर पं० बालमुकुन्दजी त्रिपाठी ने यह प्रस्ताव उपस्थित किया—

"यह समिति प्रस्ताव करती है कि आय-व्यय का लेखा जिसपर पर्याप्त वाद-विवाद हो चुका है स्वीकृत किया जाय।"

पं० माधवरावजी सप्रे ने इसका अनुमोदन किया पश्चात् बाबू मोतीलालजी भुरा ने इसका विरोधी प्रस्ताव उपस्थित किया।

"यह सभा प्रस्ताव करती है कि प्रबन्ध-समिति के प्रस्तावानुसार जबतक दो सज्जनों की समिति की रिपोर्ट स्थायी समिति में पेश न की जाय तत्र-तक के लिए आय-व्यय का लेखा स्वीकृत न किया जाय।"

बाबू कस्तूरचन्दजी ने इसका अनुमोदन किया। वोट लेने पर त्रिपाठीजी के पक्ष में ७ वोट और बाबू मोतीलालजी भुरा के पक्ष में ५ वोट हुए। इस प्रकार त्रिपाठीजी का प्रस्ताव स्वीकृत हुआ, और गत ३ मास के आय-व्यय का लेखा स्वीकृत हुआ।

सभापतिजी को धन्यवाद दे सभा विसर्जित हुई।

राष्ट्रीय हिन्दी-मंदिर

के

सदस्यों से आवश्यक निवेदन।

वर्ष का अन्त निकट है, अतएव मंदिर के साधारण सदस्यों का ध्यान नियमावली के नियम २६ की ओर आकर्षित करता हुआ मैं प्रार्थना करता हूँ कि वे अपना वार्षिक चन्दा अतीव शीघ्र भेजने की कृपा करें।

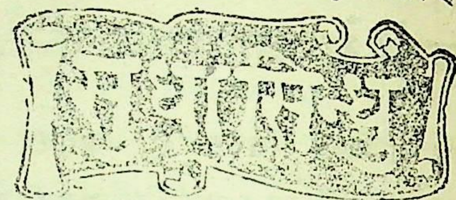
विनीत,

मंत्री।

आप एक ऐसा अवसर खो रहे हैं
जिसकी प्राप्ति आपके हाथ है।

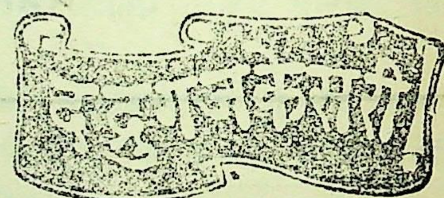
सुनिए, किस तरह। आजकल लोग विज्ञापनों पर विश्वास नहीं करते, इसलिए हम अपने काशी विश्वंभर तैल का विज्ञापन देने की आवश्यकता नहीं समझते। किन्तु सर्वसाधारण को इत्तिला देने के लिए दूसरा सुलभ मार्ग न होनेसे, जगन्मान्य समाचारपत्रों द्वारा इस तैलके कुछ गुण हम आपके सम्मुख रखते हैं एक बार मँगाकर अवश्य परीक्षा कर देखिए। यदि किसी सज्जन को इससे लाभ न हो और वह दो प्रतिष्ठित आदमियों के हस्ताक्षर-युक्त पत्र द्वारा हमें इस बात का विश्वास दिला दें, तो हम पूरी २ क़ीमत वापिस लौटाते हैं। इच्छानुसार माल पाकर श्री जगद्गुरु श्री १०८ शंकराचार्य कुर्तकोटि महाराज ने प्रसन्नतापूर्वक सार्टिफ़िकेट के साथ सुवर्ण-पदक प्रदान किया है। यह वातहारक तैल हर प्रकार के वातरोग, संधिवात, प्रसूतवात, गठिया, आमवात, अर्धांगवायु, बदन में पीड़ा होना, पसली का दर्द, कमर का दर्द, पंगुता, बदन का बठराना, हथियार का जख्म, या अन्य किसी कारण से बना हुआ जख्म, व्रण, नायटा, खाज, क्षत, अग्निदाह गर्मी के घाव और चट्टे, न भरनेवाले स्थानपर होनेवाली वेदना और तकलीफ पहुँचानेवाला जख्म, या कीड़े पड़ा हुआ जख्म आदि सभी रोगों के लिए अत्यन्त लाभकारी है। प्रत्येक रोग में उपयोग करने की विधि-पत्रिका शीशी के साथ भेजते हैं। क़ी. १ शी. की २।), ३ शी. के लिए ६).६ शी. १०।), १२ शी. १८),पै. और पो. खर्च अलग। इसके अलावा हमारे कारखाने में तैयार किये गये कद, पीताम्बर, किनारीदार जरी के खन, सोले, लुगड़े, धोती-जोड़े, पातल आदि, रुद्राक्ष, स्फटिकमाला, इत्र की पेटियाँ, कस्तूरी, सुगंधित काला रवेदार जर्दा, और श्रीक्षेत्र काशी में मिलनेवाला हर तरह का माल हम किफायत के साथ भेजते हैं। ५०) का म. आ. भेजनेवाले सज्जन को ||| कमीशन। २५) से अधिक का माल मँगानेवालों को काशी-यात्रा पुस्तक इनाम। ||| का टि. भेजनेवाले महाशय को बाजार दर का छपा हुआ कार्ड भेजा जाता है। ग्राहक और एजेन्ट अपना पता साफ़ लिखें। पता—**ना० ग० रिसबुड,**
सिल्क क्लाथ, व्यापा, इत जनरलमरचेन्ट दुर्गाघाट, बनारस सिटी

भारत--सरकार से रजिस्टरी किया हुआ ५०,००० एजेंटों द्वारा बिकना दवाकी सफलता का सबसे अच्छा प्रमाण है।



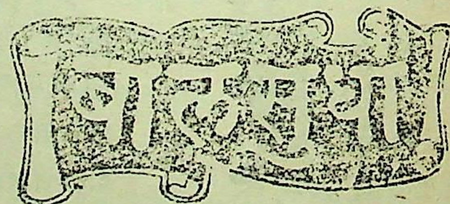
[बिना अनुपान की दवा]

यह एक स्वादिष्ट और सुगंधित दवा है, जिसके सेवन करने से **कफ़, खांसी, हैज़ा, दमा शूल, संग्रहणी, अतिसार, पेट का दर्द बालकों के हरे पीले दस्त, इन्फ्लूएंजा** इत्यादि रोगों को शर्तिया फ़ायदा होता है। मूल्य ||) डां. ख. १ से २ तक ।-]



दाद की दवा.

बिना जलन और तकलीफ़ के दाद को २४ घण्टे में आराम करनेवाली सिर्फ़ यही एक दवा है, मूल्य फ़ी शीशी ।), डां. ख. १ से २ तक -), १२ लेने से २।) में घर बैठे देंगे।



दुबले और सदैव रोगी रहनेवाले को मोटा और तन्दुरुस्त बनाना हो तो इस मीठी दवा को मँगाकर पिलाइये, बच्चे इसे खुशी से पीते हैं, दाम फ़ी शीशी ||) डांकखर्च ।≈)

पूरा हाल जानने के लिये बड़ा सूचीपत्र मंगाकर देखिये जो मुफ्त मिलेगा।

पता—सुख-संचारक-कम्पनी, मथुरा।

राष्ट्रीय हिन्दी-मंदिर के आय-व्यय का लेखा, आरम्भ से दिसम्बर, १९२१ ई० के अन्त तक।

विवरण				आय		
राष्ट्रीय हिन्दी-मंदिर।						
दान की पिछली रकम ...	५३२०१					
इस तिमाही में मिली दान की रकम ...	२२००					
श्रीमती पुतरी बाई सेठानी, होशंगाबाद के २५००) के दान में से आई रकम ...२००)						
श्रीमन्त गणपतिरावजी, भंडारा, के ५०००) के दान में से आई रकम ...२०००)				५५४०१		
सूद से आई रकम पिछले हिसाब में ...	३८०९	५	४			
इस तिमाही में सूद... ...				३८०९	५	४
सदस्यों से चन्दा—पिछले हिसाब में ...	८६३					
इस तिमाही में ...५८५)						
जिसमें से श्रीशारदा का वार्षिक मूल्य घटाया गया ...२५०)	३३५			११९८		
स्फुट आय पिछले हिसाब में ...	२७१	८				
इस तिमाही में बुकडिपो की पुस्तकों की बिक्री से ...	६५	७	३	३३६	१५	३
				६०७४५	४	७

विवरण				व्यय		
राष्ट्रीय हिंदी-मंदिर।						
स्थायी कोष में जमा पिछले हिसाब तक ...	५०८००	४				
इस तिमाही में जमा किया ...	५००			५१३००		
हिन्दी-मंदिर-कार्यालय के खाते पिछला व्यय	२९१२	४	६			
इस तिमाही का व्यय ...	४५२	१५	२	३३६५	३	
				५४६६५	७	८

राष्ट्रीय हिन्दी-मंदिर के आय-व्यय का लेखा, आरंभ से दिसम्बर १९२१ ई० के अन्त तक।

विवरण	रु०	आ०	पा०	आय रु०	आ०	पा०
पिछले वर्ष से				६०७४५	४	७
श्रीशारदा।						
वार्षिक चन्दा और फुटकर बिक्री से पिछले हिसाब तक	५४३६	१५	६			
इस तिमाही में ...	६५२	६	९	६०८९	६	३
विज्ञापन से पिछले हिसाब तक	२५५	६				
इस तिमाही में ...	३५			२९०	६	
चित्रों की बिक्री से पिछले हिसाब तक ...	३६	७		३६	७	
				६४१६	३	३
शारदा-पुस्तक-माला।						
प्रवेश-शुल्क पिछले हिसाब तक	२५१					
इस तिमाही में	७	१२		२५८	१२	
पुस्तकों की बिक्री से पिछले हिसाब तक ...	१५२१	११				
इस तिमाही में	४९२	९		२०१४	४	
				२२७३		
पुस्तकालय।						
				६९४३४	७	१०

विवरण	रु०	आ०	पा०	व्यय रु०	आ०	पा०
				५४६६		८
श्रीशारदा।						
दफ्तर-खर्च और प्रकाशन-खर्च पिछले हिसाब तक	१४९१३	३	९			
इस तिमाही में ...	१७००	६	६			
				१६६१३	१[illegible]	३
शारदा-पुस्तक-माला।						
दफ्तर-खर्च पिछला	४८२३	४	११			
इस तिमाही में ...	७३४	६	६	५५५७	१[illegible]	५
पुस्तक-प्रकाशन-व्यय पिछला	४०२६	४	३			
इस तिमाही में वापिस आई पुस्तकों की खरीद	१३७	८		४१६३	१[illegible]	३
				९७२१		८
पुस्तकालय।						
पुस्तकालय-खाते खर्च पिछला	११३६	७	८			
इस तिमाही में ...	११७	१५	८			
	१२५४	७				
पुस्तकालय की पिछली आमदनी की रकम जो घटाई गई	१९२	११	३	१०६१	११	९
				८२०६२	५	७

राष्ट्रीय हिन्दी-मंदिर के आय-व्यय का लेखा; आरम्भ से दिसम्बर १९२१ ई० के अन्त तक।

राष्ट्रीय हिन्दी-मंदिर के आय-व्यय का लेखा; आरम्भ से दिसम्बर १९२१ ई० के अन्त तक।

विवरण				आय			विवरण				व्यय		
पिछला—				६६४३४	७	१०	पिछला—				८२०६२	५	७
देना।							**पाना।**						
पी० बा० सेठ जीवनदासजी की दूकान में चलतू खाते देना बिना सूद का पिछला… …	१८७६६	१५	८				वी० पी० वाले पुस्तकों का मूल्य… … …	३११	१४				
इस तिमाही में… …	७००			१९४६६	१५	८	,, डाकखर्च… … …	१०	६				
पिछले हिसाब का फुटकर…	५००	६	१०				ग्राहकों से… … … …	६	३	६			
इस तिमाही में फुटकर……	३८५	१४	९	८८६	५	७	लेखक और कर्मचारियों को अग्रिम …	१३९					
कर्मचारियों का दिसम्बर मास का वेतन… …	५६५	९	६	५६५	९	६	सूदखाते… … …	७५०					
पुस्तकालय के मेम्बरों का डिपाज़िट	३२०	५					फुटकर खाते… … … …	२७०	७	६	११९९	१५	
ग्राहकों का अग्रिम जमा…	१२	६	३	३३२	११	३	**पुस्तकमाला खाते—**						
							"भारत और साम्यवाद" पर	७१	८				
							"रङ्ग-रंजन" … … …	१२०					
							"सम्पत्ति-शास्त्र" … … …	६१०					
							"छाया"… … … …	६०					
							"शिक्षामीमांसा"… …	३१०					
							"श्रीकृष्ण का दूतत्व" … …	४२०	१				

राष्ट्रीय हिन्दी-मंदिर के आय-व्यय का लेखा; आरंभ से दिसम्बर १९२१ ई० के अन्त तक।

विवरण	आय			विवरण				व्यय		
				" इ-तिसंग "	३२					
				" आर्यों का मूल-स्थान " ...	३५					
				" अद्भुत-आलाप " ...	६					
				" संसार को भारत का संदेश "...	८					
				" मराठे और अंगरेज़ "... ...	५६८	६				
				" औद्योगिकी "	१९०	१३	४			
				" आरोग्य-प्रदीप "	१२०			२६११	१५	
				जमा।						
				स्थायी सामान...	२८५	१३	६			
				पुस्तकालयखाते पुस्तक-पत्रादि ...	७८६	११	९			
				चित्र और ब्लाक	१४२१	१५				
				कागज़......	४५०	५	११			
				डाक-टिकट...	२४	५	६	२९६६	३	१
				रोकड़ बाकी।						
				चलतू खाते...	९८३	१५	३			
				हाथ में	८६	[illegible]	६	१८४५	६	
	९०६८९	१०	१					९०६८९	१	१०

गणेशचन्द्र प्रामाणिक
एकाउण्टेण्ट.

पुस्तक-माला-विभाग की पुस्तकों के आय-व्यय का लेखा, अक्टूबर २१ से दिसम्बर १९२१ ई० तक।

पुस्तक-माला-विभाग की पुस्तकों के आय-व्यय का लेखा, अक्टूबर, २१ से दिसम्बर १९२१ ई० तक।

पुस्तक का नाम	पिछला जमा संख्या	पिछला जमा मूल्य	वापसी पुस्तकें खरीद में जमा संख्या	वापसी पुस्तकें खरीद में जमा मूल्य	कुल जमा संख्या	कुल जमा मूल्य	बिक्री संख्या	बिक्री मूल्य	बाकी जमा संख्या	बाकी जमा मूल्य
रवीन्द्रदर्शन सजिल्द ...	३१	२७ २	१८	१५ १२	४९	४२ १४	३७	३२ ६	१२	१० ८
,, सादी ...	१२१	७५ १०	४२	२६ ४	१६३	१०१ १४	१६	१०	१४७	९१ १४
कालिदास सजिल्द ...	४६	४६	२०	२०	६६	६६	३७	३७	२९	२९
,, सादी ...	३७२	२७९	५	३ १२	३७७	२८२ १२	१४	१० ८	३६३	२७२ ४
मुहम्मद सजिल्द ...	३९३	४४२ २	२४	२७	४१७	४६९ २	१३९	१५६ ६	२७८	३१२ १२
,, सादी ...	४३१	३७७ २	४	३ ८	४३५	३८० १०	४९	४२ १४	३८६	३३७ १२
अमरीकन सं. रा. की शासन-प्रणाली सजिल्द ...	५९८	६३४ ६	२४	३७ ८	६२२	६७१ १४	१११	१७३ ७	५११	७९८ ७
,, सादी ...	१७३	२१६ ४	३	३ १२	१७६	२२०	२४	३०	१५२	१९०
		२३६७ १०		१३७ ८		२५३५ २		४९२ ६		२०४२ ६

पुस्तक-माला-खाते पुस्तक-प्रकाशन की पूँजी का लेखा।

पूँजी लगी है ...	४१६३ १२ ३	पूँजी वसूल हो चुकी ...	२०१४ ४
		स्टाक की पुस्तकों का मूल्य ...	२०४२ ६
	४१६३ १२ ३		४०५६ १३
		घाटा	१०६ १५ ३

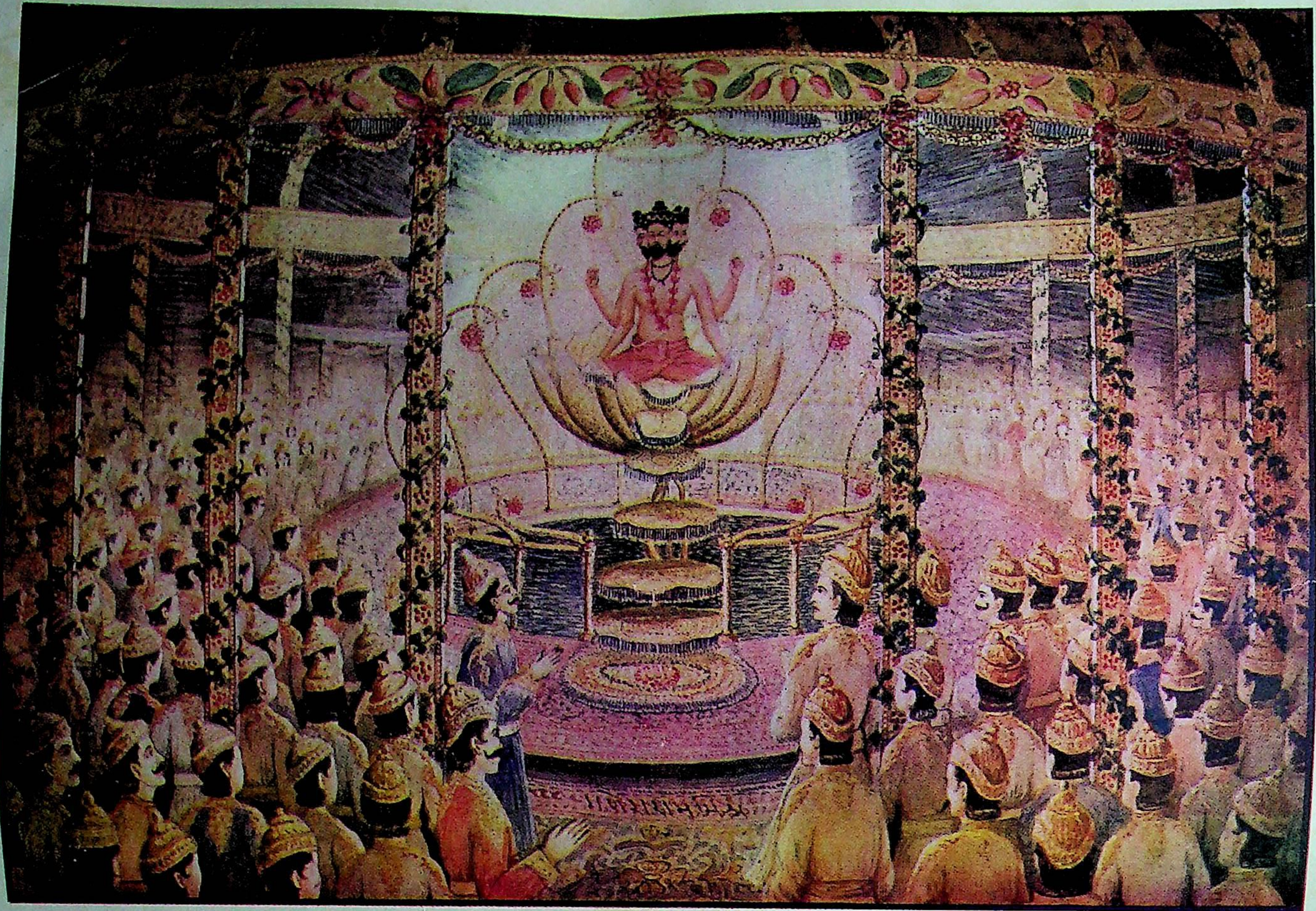
नोट—इस पूँजी में केवल काग़ज़, छपाई, बँधाई और लेखक का पुरस्कार शामिल है; वेतन, स्टेशनरी, स्फुटव्यय, प्रचार-खर्च आदि शामिल नहीं हैं।

राष्ट्रीय हिन्दी-मंदिर के आय-व्यय तथा देने-पाने का लेखा, दिसम्बर, १९२१ ई० के अन्त तक।

विवरण	देना			विवरण	पाना		
दी० बा० सेठ जीवनदासजी चलतू-खाते	१५४६९	१५	८	पाना-खाते	११६६	१५	३
				पुस्तकमाला-खाते पुस्तकों पर अग्रिम	२६११	१५	४
फुटकर	८८६	५	७	सामान-खाते जमा	२९६९	३	११
कर्मचारियों का वेतन दिसम्बर का	५६५	९	६	पुस्तक-माला-खाते पुस्तकों का स्टाक	२०४२	६	
				रोकड़-खाते जमा	१८४५	६	६
डिपाज़िट और अग्रिम ...	३३२	११	३		१०६६९	५	३
				घाटा	१०५८५	४	६
	२१२५४	१०			२१२५४	१०	

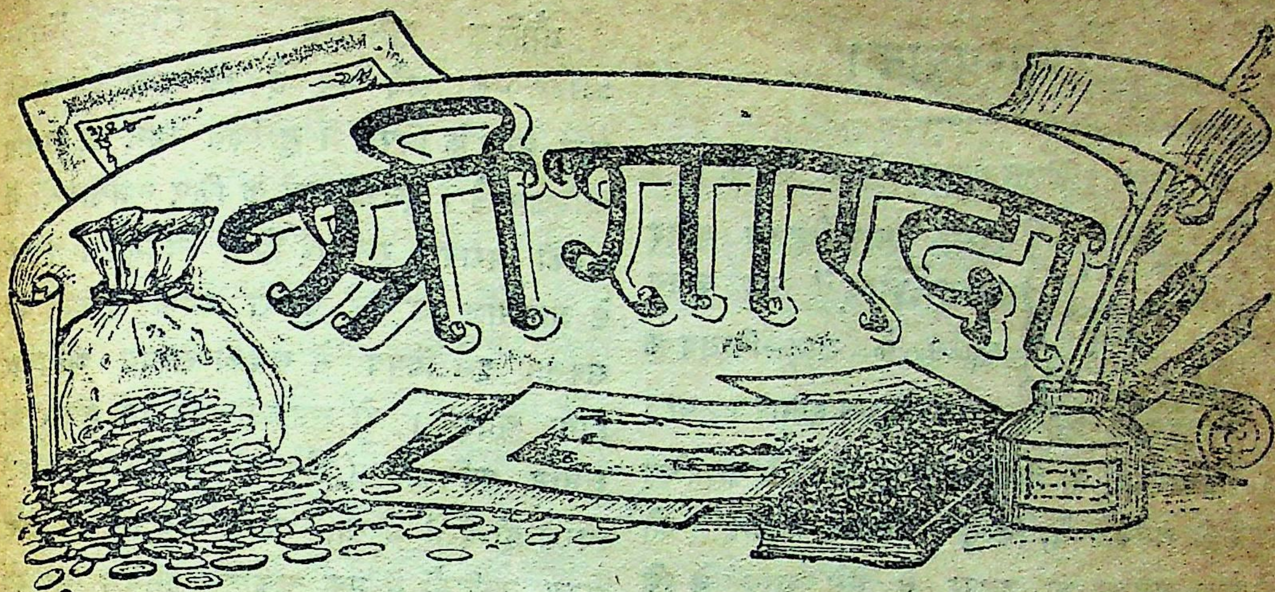
नोट—सितम्बर तक के पिछले लेखे में घाटा था ...१०३५२॥)४
इस तिमाही में घाटा हुआ ... २३२॥)५
कुल ... १०५८५।)६

सं० १९७७ में हानि थी ...८८६०=)१
सं० १९७८ के प्रथम छः मास में ...१४६२॥-)२
इस तिमाही में ... २३२॥)५
१०५८५।)६



ब्रह्माजी की सेवा में।





साहित्य-तथा-राजनीति-संबंधी-विविध-विषय-विभूषित सचित्र मासिक पत्रिका।

वर्ष २, खण्ड २] फाल्गुन, शुक्ल प्रतिपदा, सं० १९७८ * मार्च, १९२२ ई० [संख्या ६, पूर्ण संख्या २४

वर्ष-शेष।

(लेखक—पण्डित मुकुटधर पाण्डेय)

वर्ष-शेष
हे वर्ष-शेष !

क्यों लिया आज यह मलिन वेश ?
नव-वर्षोत्सव-रत लोक-सर्व,
स्वागत तव हो मम हृदय-गर्व;
आ सुना मुझे प्रभु का निदेश,
वर्ष-शेष
हे वर्ष-शेष !

(२)

'नूतन' तथैव 'प्राचीन' मध्य,
है मिलन-दूत तू ही अवध्य,
अवमानित फिर भी तू विशेष
वर्ष-शेष
हे वर्ष-शेष !

(३)

दुख-सुख की बातें हैं अनेक,
मेरा पर तुझसे प्रश्न एक;
होगा कब मम भव-मार्ग शेष ?
वर्ष-शेष
हे वर्ष-शेष !

(४)

सुन्दर-सुस्निग्ध-रंजित-रसाल
यह गुँथी विकच-कचनार-माल
ले तू मदीय उपहार एष,
वर्ष-शेष
हे वर्ष-शेष !



साम्यवाद।

(लेखक—प्रोफ़ेसर गंगाप्रसाद मेहता, एम. ए.)



"समता, स्वाधीनता और भ्रातृ-भाव" यह वाक्य फ्रान्स के राष्ट्र-विप्लव के समय का महावाक्य था। इसका अर्थ तो विप्लवकारी पूर्णरूप से कदाचित् नहीं समझते थे; किन्तु इस वाक्य से उन्होंने जो कुछ समझा था उसपर वे ऐसे मुग्ध थे कि इसके तात्पर्य की मीमांसा करना उनके लिए असंभव था। जिस परिस्थिति में उस समय फ्रान्सवासी थे उसकी कथा कहते नहीं बनती। वहाँ के जातीय जीवन के सभी अङ्ग ऐसी विषमावस्था में आ पड़े थे कि उस परिस्थिति को समूल विध्वंस किये बिना उस जाति का उद्धार हो ही नहीं सकता था। अतएव तूफ़ान की तरह समानता और स्वाधीनता के लिए उस देश में प्रचण्ड आन्दोलन चला जिसके व्यापक प्रभाव ने पाश्चात्य देशों में नये जीवन का संचार किया।

प्रजा-वाद का साम्यवाद से बड़ा घनिष्ट संबन्ध है। समानता और स्वाधीनता के भाव प्रजा-वाद में ऐसे ओत-प्रोत हैं जैसे पट में तन्तु। स्वाधीनता की चर्चा न करके हम इस लेख में 'समानता' के विषय में कुछ तत्त्वों का विचार करने के लिए प्रवृत्त हुए हैं। समानता के चार भेद किये जा सकते हैं— प्रथम मौलिक, द्वितीय राजनीतिक, तृतीय सामाजिक और चतुर्थ प्राकृतिक समानता।

मौलिक समानता (Civil Equality) का अर्थ यह है कि सभी को अपने जान-माल के विषय में सुरक्षित रहने का समान अधिकार है। इनकी रक्षा के लिए न्यायालयों में सबकी बराबर सुनवाई होनी चाहिए। किसी के जानमाल पर कोई दूसरा आक्रमण नहीं कर सकता, इस विषय में सबका समान अधिकार होना चाहिए। दो शताब्दी पूर्व इस प्रकार का समान अधिकार (Equal civil rights) विरले ही देशों में था; परन्तु अब तो यह सभी सभ्य जातियों में एक अकाट्य नियम सा बन गया है।

राजनीतिक समानाधिकार (Political Equality) जिन देशों में स्वराज स्थापित हो चुका है वहाँ सबके समान अधिकार हैं। अतएव समुचित योग्यता होने पर ऊँचे से ऊँचे दरजे तक प्रत्येक व्यक्ति पहुँच सकता है। वह दरिद्र हो वा धनाढ्य हो, देश के शासन में उसका समानाधिकार है। "One Man, One Vote" एक मनुष्य को एक ही मत(वोट) देने का अधिकार है।

सामाजिक समानता—जिस देश में अनेक सामाजिक भेद हैं—कोई अपने को ऊँचा और दूसरे को नीचा समझता है वहाँ सामाजिक समानता का सर्वतोभाव से अभाव है।

प्राकृतिक समानता (Natural Equality) यह पद उस समता का द्योतक है, जो सभी मनुष्यों को जन्म के समय उपलब्ध होती है। सभी जन नग्न दशा में समान इन्द्रियों और समान इच्छा और शक्तियों के साथ संसार में जन्म लेते हैं। कुछ काल तक एक

बालक दूसरे बालक से बहुत भिन्न नहीं होता। ईश्वर ने सबको एक सा बनाया है। अतएव सारे मनुष्य जन्म से समान और स्वतन्त्र हैं—"All men are born free and equal"-ईसाई धर्म में प्राकृतिक साम्यवाद पर बड़ा जोर दिया गया था। जिसने उस धर्म को स्वीकृत कर लिया उसका भ्रातृ-भाव की दृष्टि से आदर किया जाने लगा। महाकवि शेक्सपियर ने भी अपने नाटक में इस प्रकार की समता का निरूपण किया है:—"मैं यहूदी हूँ। तो क्या एक यहूदी को आँखें नहीं होतीं ? क्या उसके हाथ, पाँव, इन्द्रियाँ वा मनोविकार नहीं होते ?"—"I am a Jew. Hath not a Jew eyes ? Hath not a Jew hands, organs, dimensions, senses, affections, passions ?"

"In Christ there is neither Jew nor Greek, barbarian nor Scythian, bond nor free."

यह प्राकृतिक समता प्रत्येक व्यक्ति के जीवन के विकसित होने पर इतनी परिवर्तित हो जाया करती है कि यह कहना पड़ता है कि दो मनुष्य यथार्थ रूप से कदापि एक से नहीं—(No two human beings are similar). मनुष्यों में परस्पर इतने शारीरिक, मानसिक, और आध्यात्मिक विभिन्न गुण-दोष उत्पन्न हो जाया करते हैं कि उनमें जन्मावस्था का सादृश्य लेश-मात्र भी नहीं रहता। यौवनावस्था में कोई मेधावी, कोई नीतिवेत्ता, कोई पराक्रमी और कोई जड़, कायर और रोगी बन जाता है। मानव जाति की उन्नति कुछ इने-गिने प्रतिभाशाली व्यक्तियों ने की है; इस बात से यह सिद्ध है कि प्रकृति ने सबको समान-गुण-शील-समन्वित नहीं बनाया, अन्यथा असाधारण-शक्ति-सम्पन्न व्यक्तियों का जन्म ही न होता। इस प्रसङ्ग में राजनीति की एक जटिल समस्या उत्पन्न होती है। एक ओर तो मनुष्यों में भारी असादृश्य और असमता देखने में आती है, किन्तु दूसरी ओर ईश्वर ने निष्पक्ष भाव से सभीको समानाधिकार दिये हैं। इस गंभीर सिद्धान्त का मानव-समाज में सदा से आदर होता चला आया है। इस विषय में अनुभव (Fact) और सिद्धान्त (Doctrine) का विरोध है।÷

अब प्रश्न यह है कि राजनीतिक साम्य-भाव के लिए क्या प्राकृतिक साम्यवाद के मानने की आवश्यकता है ? यूनान के प्रजावादियों ने इन दोनों का घनिष्ठ संबन्ध मानकर यह प्रतिपादित किया कि सभी नागरिकों को समान मताधिकार और शासन-संबंधी अधिकार प्राप्त करने का समान अवसर मिलना चाहिए—(All citizens should have an equal right of voting and equal eligibility to office.) मनुष्यों में चाहे जितनी विभिन्नताएँ क्यों न हों, तौ भी मनुष्य मनुष्य ही हैं, उनमें परस्पर विशेष तारतम्य नहीं, एक-दूसरे में बहुत सादृश्य है; अतएव उनके सुख-दुःख समदृष्टि से देखे जाने चाहिए। सभीके लिए एक ही न्याय और विधान होना चाहिए। न्याय और साम्यवाद का दृढ़ संबन्ध है। न्यायाधीश अपने धर्मासन पर बैठकर निर्बल और सबल, धनी और दरिद्री

÷ 'To reconcile this Natural Inequality as a Fact with the Principles of Natural Equality as a Doctrine, is one of the chief problems which every government has to solve." Bryce, Mod. Demo. Vol- I.

दोनों की रक्षा समदृष्टि से करता है। वस्तुतः न्याय की दृष्टि में सभी समान होने चाहिए। मानव-धर्म भी साम्यवाद की पुष्टि करता है—"**आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्**" जो अपने प्रतिकूल हो वह दूसरों के लिए न करे, अर्थात् सबको आत्मवत् देखना चाहिए। जिस हृदय में उत्कट सहानुभूति है उसमें साम्य वाद के आदर्श पर अवश्य दृढ़ निष्ठा होती है। न्याय, धर्म और मानवी समवेदना ये सभी साम्यवाद का समर्थन तथा वृद्धि करते हैं। यूनान के तत्व-दर्शी अरस्तू का मत है कि न्याय सबके लिए **समान** है। यह कुछ अखण्ड नियम नहीं; किन्तु मनुष्य की योग्यता से न्याय का बड़ा घना संबंध है। अतएव राजनीतिक अधिकार प्रत्येक व्यक्ति को उस अंश तक ही मिल सकते हैं जितनी उस की योग्यता, गुण और शक्ति है। आजकल अरस्तू के इस सिद्धान्त के माननेवाले कहते हैं कि अपढ़ और दरिद्र मनुष्यों को मताधिकार से वंचित रखना चाहिए; क्योंकि न तो उनमें कुछ योग्यता ही है, और न वे राष्ट्र को कुछ कर ही देते हैं। इस बात का उत्तर यह है कि गरीब मनुष्य के हाड़-माँस वैसे ही हैं जैसे अमीर के। अपने देश की जितनी भलाई वह अपने श्रम से करता है उतनी ही भलाई अमीर अपने टैक्स से करता है। युद्ध के समय ग़रीब लोग सैनिक होकर राष्ट्र की अनुपम सेवा करते हैं। धर्म अमीर और ग़रीब में कोई भेद-भाव नहीं रखता—धर्म के राज-मार्ग से चलने का सभी को समान अधिकार है। इन विषयों में यदि प्राकृतिक समता मान ली गई है तो राजनीति में क्यों इस समता का प्रत्याख्यान किया जाता है? यह सरल नियम तो प्राकृतिक न्याय का मूल सूत्र है। यदि समता धर्म का पुनीत आदेश है तो राजनीति में भी यह सिद्धान्त उपादेय क्यों न समझा जाय? मनुष्य दरिद्र है, इसलिए क्या वह मनुष्यत्व से भ्रष्ट हो जाया करता है?

राजनीतिक समता वा समानाधिकार

(Political Equality) राजनीति के क्षेत्र में समानाधिकार के लिए बड़े आन्दोलन हुए और हो रहे हैं। वोट देनेवालों की संख्या हर एक राष्ट्र में बढ़ रही है यह इस आन्दोलन का ही परिणाम है। यदि एक वर्ग को वोट देने का अधिकार मिल गया तो फिर दूसरा वर्ग इस अधिकार के लेने की चेष्टा करना शुरू करता है। इस प्रकार राष्ट्र में समान मताधिकार की प्रतिद्वन्द्विता बढ़ती ही जाती है जिसका परिणाम यह होता है कि विद्वान् और धनी, मूर्ख और निर्धन इन सबको राजनीति में समान अधिकार प्राप्त होता है। धनी का भी एक वोट है, तो दरिद्र का भी एक ही होता है। इस साम्यवाद का राजनीति में स्वीकृत होने का कारण यह है कि किस व्यक्ति में वोट देने की कितनी योग्यता है इस बात की परीक्षा का कोई यथोचित साधन नहीं। अमुक मनुष्य अपने मताधिकार का सदुपयोग करेगा इसका निर्णय करना बहुत कठिन है; इसलिए राजनीति में साम्यवाद का आश्रय लेना पड़ा। वोट देने की योग्यता—उस महत्वपूर्ण अधिकार का सदु-पयोग—बुद्धि, ज्ञान और नीति-निष्ठा इन गुणों पर अवलम्बित है; पर इन गुणों के परखने का कोई साधन नहीं। अतएव व्यक्तिगत योग्यता का ख़याल न कर सभी को समान रूप से वोट देने का अधिकार दिया गया है। धनाढ्य मनुष्य के

लिए भी किसी तरह का विशेष पक्षपात न होना चाहिए; क्योंकि धन के होने से किसी में योग्यता नहीं आ जाया करती।

'सर्वे गुणाः काञ्चनमाश्रयन्ते' यह बात नितान्त असत्य है। अतएव धन के आधार पर राष्ट्र में मताधिकार का वितीर्ण करना अनुचित है। जब वोट की योग्यता-संबन्धी समस्या हल न हो सकी तब उन लोगों ने भी जो सार्व-जनिक मताधिकार के विरोधी थे, समानाधिकार का सिद्धान्त मान लिया। यही सिद्धान्त प्रजा-वाद अथवा स्वायत्त-शासन का मूल तत्त्व है। राजनीति में इस सिद्धान्त की स्वीकृति से प्राकृ-तिक समता के आदर्श की विजय हुई। यह आदर्श तो बड़ा सुन्दर है; पर मानव-समाज में जो स्वाभाविक विषमताएँ देखने में आती हैं वे देखी-अनदेखी कैसे की जा सकती हैं। जो प्राकृ-तिक साम्यवाद के अन्ध-भक्त थे वे कहने लगे कि यदि एक व्यक्ति अमुक नीति के सम्बन्ध में राय दे सकता है तो अवश्य उसमें उस नीति को कार्य में परिणत करने की भी समुचित योग्यता है। यूनान के एथेन्स नगर के प्रजावादी इसी दलील पर ही चले। उन्होंने न केवल वोट देने का बल्कि शासन-कार्य्य में वास्तविक भाग लेने का अधिकार प्राप्त किया। सभी के सर्वथा समान अधिकार हों इस कारण वहाँ राष्ट्र के बड़े बड़े शासन-कर्त्ताओं का निर्वा-चन चिट्ठी डालकर किया जाता था। इस शैली के अनुसार सभी को समान रूप से चुने जाने का अवसर मिल सकता था। वहाँ सचमुच साम्य-वाद पराकाष्ठा तक पहुँच गया था।

समता वा समानता के चार भेद हम पहले बता चुके हैं। इनमें परस्पर कैसा संबन्ध है इस प्रश्न पर कुछ विचार करना उचित है। कुछ सार्वजनिक अधिकार ऐसे हैं जिनके उपभोग में कोई कहीं हस्तक्षेप नहीं कर सकता। अपने धन, जन और प्राण की रक्षा के लिए सबका समान स्वत्व है इस सिद्धान्त के मान लेने से साम्यवाद की प्रथम विजय हुई।

साम्यवाद के इतने अंश के स्वीकृत होने से ही शासक-वर्ग की स्वार्थपरता और पक्षपात शिथिल होने लगे। साम्यवाद का दूसरा युद्ध राज-नीतिक क्षेत्र में हुआ जिसका परिणाम यह हुआ कि राष्ट्र की अधिकांश जनता को समान मता-धिकार मिला। साम्यवाद का मानव-समाज पर भी बहुत प्रभाव पड़ा है। भारत जैसे देश में जहाँ वर्ण-व्यवस्था, चौका-धर्म और स्पर्शास्पर्श का बहुत विचार किया जाता है वहाँ भला साम्यवाद का क्या असर हो सकता है? यद्यपि ऐसा है, तथापि स्वराज और समाना-धिकार के आन्दोलन के प्रभाव से हमारे सामाजिक भेद-भाव बहुत कुछ घट रहे हैं। मानव-समाज में यदि साम्यवाद को यत्किञ्चित भी अवकाश मिल जाता है तो इसकी उत्तरोत्तर उन्नति ही होती जाती है।

'अर्थ' मनुष्य के जीवन का आधार-स्तम्भ है। अर्थ के न्यूनाधिक होने से मानव-समाज में बड़े भेद-भाव हो जाया करते हैं। अर्थ सच-मुच अनर्थ का मूल है; यह साम्यवाद का बड़ा शत्रु है। धन की विषमता से समाज में उत्तम, मध्यम और अधम श्रेणियाँ बन गई हैं। वे वस्तुतः बहुत ही कृत्रिम हैं। अर्थ-जनित भेद-भावों का मिटाना साम्यवाद की बहुत जटिल समस्या है। अनेक श्रमजीवियों की मिहनत से

पैदा किया हुआ धन इने-गिने मनुष्यों के हाथ में इकट्ठा हो जाता है। कुछ पूँजीवाले और संख्यातीत श्रमजीवियों का विरोध पाश्चात्य देशों में आर्थिक विषमताओं के कारण अद्यापि हो रहा है। यद्यपि वहाँ स्वराज होने के कारण अमीर और ग़रीब के राजनीतिक अधिकार बराबर हैं, तथापि धन के विषम विभाग से समाज के दो बड़े टुकड़े हो गये हैं। एक छोटा वर्ग ख़ूब संपत्ति-शाली है, तो दूसरा दारुण दारिद्रय का शिकार बना है। राजनीति में अधिकार मिलने से भी श्रमजीवी प्रजा अपने आर्थिक संकट से विमुक्त नहीं हुई; क्योंकि धनाढ्य वर्ग ने धन के प्रभाव से राजनीति में अपना प्रभुत्व जमा लिया है।

इस आर्थिक साम्यवाद के जटिल प्रश्न को हल करना हमारा अभिप्राय नहीं है। हम सिर्फ़ यह दिखाना चाहते हैं कि साम्यवाद का आन्दोलन, एक कार्य्य-क्षेत्र से दूसरे में प्रवृत्त होकर, मानवजाति की उन्नति में साधनभूत हो रहा है। इसका कभी समाज में दौरा होता है, तो कभी राजनीति में। यदि वैयक्तिक अधिकार (Civil Rights) समान रूप से सर्वोपजीव्य हो गये तो फिर साम्यवाद हमारे आर्थिक संसार में उतरकर धनी और दरिद्र की भेद-भित्ति को तोड़ना आरम्भ करता है। साम्यवाद का आदर्श बहुत ऊँचा है। सच्चा भ्रातृ-भाव इसका ध्येय है। "**वसुधैव कुटुम्बकम्**" इसका अन्तिम लक्ष्य है।

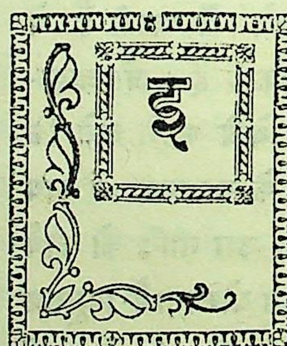
फ्रान्स के एक विद्वान् का कथन है कि मनुष्य के हृदय में स्वाधीनता की अपेक्षा समता का बड़ा प्रेम है। उसकी स्वाधीनता चाहे छिन जाय; पर वह समता से वञ्चित रहना नहीं चाहता। × मनुष्य में आत्माभिमान स्वाभाविक है जो उसे दूसरों के समकक्ष होने के लिए प्रेरित करता है। वर्तमान युग में तो समता का भाव ऐसा प्रबल हो गया है कि दूसरे का उत्कर्ष व्यक्ति एवं जाति को असह्य है। यदि दूसरों में उत्कर्ष है भी, तो उनके बराबर होने का प्रयत्न करना व्यक्ति और जाति का पुण्य कर्त्तव्य है।



महाकवि माघ की राजनीति।

(लेखक—पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी)

[२]



इस प्रकार बली बलराम की भी वही राय ठहरी जो श्रीकृष्णजी की थी। उन्होंने भी कहा—भाजी, युधिष्ठिर के न्यौते में क्य रक्खा है। चलिए, निःशील शिशुपाल के दौरात्म्य की दवा करें; उसे उसके दुराचार का मज़ा चखावें। उसका मारा जाना ज्यादह ज़रूरी है; न्यौता खाना उतना ज़रूरी नहीं। बड़े भाई के ऐसे तेजस्वी वचन सुनकर भी श्रीकृष्णजी कुछ न बोले। उन्होंने चुपचाप उनका लेक्चर सुन लिया। मालूम नहीं, मन

× "Tocqueville remarked that the love of Equality was stronger than the love of Liberty, so that he could imagine a nation which had enjoyed both, parting less reluctantly with the latter than with the former."

ही मन वे खुश हुए या नहीं। खुश होना तो जरूर चाहिए था। क्योंकि अपने मत की पोषकता होती देख भला किसे खुशी न होगी। खैर, बलरामजी की बात सुनकर श्रीकृष्णजी ने सोचा कि बड़े बूढ़े उद्धवजी की भी राय तो सुन लें। देखें, वे क्या कहते हैं। वे मुँह से तो कुछ बोले नहीं, आँख से ही उन्होंने उद्धवजी से इशारा किया। वे उस इशारे का मतलब समझ गये। अतएव विख्यात वक्ता वृहस्पति के समान उन्होंने अर्थ-गौरव से पूर्ण और परम हितकारी वचनों के विस्तार का उपक्रम किया। पर ऐसा करने में उन्होंने औद्धत्य को ज़रा भी पास न आने दिया। गदाग्रज भगवान् कृष्ण से वे बोले—

जो कुछ कहना उचित था वह तो बलभद्रजी ने कही दिया। अब उसपर और कुछ निवेदन करना बेकार है। लिखने की बात जब पत्र में ही लिखी जा चुकी तब और, ऊपर से, सन्देश कहना कैसा? वह तो सर्वथा अनावश्यक ही समझिए। पर आप मेरा गौरव करते हैं, आप मुझे गुरुस्थानीय समझते हैं—इससे कुछ न कहना भी मेरे लिए असङ्गत है। जरूरत तो नहीं है, पर मेरे विषय में आपका पूज्य भाव मुझसे कुछ निवेदन करने की बलवत् प्रेरणा कर रहा है। मैं जो कुछ आपसे कहने जाता हूँ उसका प्रेरक आपका वही पूर्वोक्त भाव है। वर्णमाला के अल्पसंख्यक वर्ण तो निश्चित ही हैं। पर उन उतने ही वर्णों की बदौलत अनेक प्रकार के शब्द-समूह बन जाते हैं। संगीत के स्वरों का भी यही हाल है। वे हैं तो सात ही; पर उन्हींकी सहायता से विशेष विशेष प्रकार के और भी अनगिनती रागों और रागिनियों की उत्पत्ति होती है। बलदेवजी ने जो बात कह दी उसमें मीन-मेख करने के लिए जगह नहीं। स्वरों और वर्णों के सदृश उसीको मैं मुख्य और निश्चित मानता हूँ। यह बात दूसरी है कि उसको आधार मानकर उसके विषय में कुछ विशेष प्रकार की शब्द-रचना की जाय। मैं भी कुछ कुछ ऐसाही प्रयत्न करता हूँ।

मनचले आदमी प्रसङ्ग छोड़कर दूर तक बहक जाते हैं। जो उनके जी में आता है, कहते हैं और बहुत कुछ कह डालते हैं। परन्तु प्रसङ्ग के भीतर ही सार्थक वचन कहना ज़रा मुश्किल काम है। प्रलाप बात दूसरी है, और प्रसङ्गानुसारी सार्थक वचनविन्यास दूसरी। बाण की तीक्ष्ण नोक छोटी होने पर भी, दूर तक घुस जाती है। पर पत्थर मोटा होने पर भी, मारने पर, भीतर नहीं धँसता; अधिक व्यापक जगह में आघात तो करता है, पर ऊपर ही रह जाता है। तीक्ष्ण और स्थूल बुद्धिवाले वक्ताओं का भी यही हाल है। जिसकी बुद्धि तीक्ष्ण है वह निश्चित विषय पर थोड़ा ही कहते हैं, पर कहते इस तरह हैं कि उनका कथन श्रोता के हृदय के अन्तस्तल तक पहुँच जाता है। स्थूल बुद्धिवालों का हाल ठीक इसके विपरीत है। वे कहते तो बहुत हैं; पर उनका कथन ऊपर ही ऊपर रह जाता है। वह हृदय के भीतर नहीं धँसता—वह जँचता नहीं।

अज्ञों और विज्ञों में बड़ा भेद है। अज्ञ आदमी किसी छोटे ही मोटे काम का आरम्भ करते हैं और उतने ही से घबरा उठते हैं। विज्ञों का उद्योगारम्भ सदा महान् होता है और बड़े से भी बड़े काम को उठाकर वे घबराते

नहीं। व्यग्र होना तो वे जानते ही नहीं। विज्ञ नरेश मौक़े की घात में रहते हैं। जैसा मौक़ा—जैसा समय—होता है तदनुकूल ही वे व्यवहार करते हैं। उनका हाल रस-भाव के ज्ञाता सत्कवियों का जैसा समझिए। विषय के यदि अनुकूल होता है तो वे ओजोगुण का आश्रय लेते हैं; नहीं तो प्रसादगुण का। क्योंकि कोई विषय प्रसाद गुण की अपेक्षा करता है, कोई ओजोगुण की। ज्ञान रखनेवाले राजा तेजस्विता और क्षमा दोनों में से जिसके प्रदर्शन की वे ज़रूरत समझते हैं उसीका प्रकटीकरण करते हैं। बिना सोच-विचार के उनका व्यवहार नहीं करते। तेजस्विता अच्छी जरूर है; पर सभी मौक़ों पर उससे काम नहीं निकलता। कभी कभी क्षमा की भी ज़रूरत होती है।

रोग का हाल और शत्रु का हाल एकही सा है। शरीर में जबतक बल है, तबतक उत्पन्न हुआ रोग भी, खटकता तो है पर, ज़ोर नहीं करता। परन्तु जहाँ उसने शरीर को निर्बल कर पाया तहाँ असाध्य होकर वह धर दबाता है और जान लेकर ही छोड़ता है। समझदार आदमी भी ऐसाही करते हैं। शत्रु की शत्रुता खटकती तो उन्हें ज़रूर है, तथापि वे असमय में ही अपना शत्रु-भाव प्रकट करके उसे दण्ड देने की योजना नहीं करते। मौक़ा देखते रहते हैं। बस, ज्योंहीं उसे निर्बल कर पाते हैं त्योंही असाध्य होकर उसका नाश कर देते हैं। यदि मृदुता से काम निकल जाय तो कठोरता का व्यवहार कोई क्यों करे। दीपक को देखिए। क्या वह तेजस्क नहीं? तथापि रुई के सदृश कोमल चीज़ ही की बत्ती की सहायता से वह सारे तेल को जला डालता है। तेजस्वियों का तेज भी, इसी तरह, कोमल व्यवहार के सहारे अपना काम निकाल लेता है और फिर आनन्द से अपने अभीष्ट अर्थ का उपभोग करता है।

बुद्धिमान् वही है जो अपना कार्य्य-साधन कर ले। उसे सुकवि के मार्ग का अवलम्बन करना चाहिए। सत्कवि न तो अकेले शब्द-समूह का ही आश्रय लेता है, न अकेले अर्थ का ही। वह दोनों का आश्रय लेता है—शब्द का भी और अर्थ का भी। विद्वान् भी प्रारब्ध और पौरुष दोनों का सहारा लेता है। न वह भाग्य ही की उपेक्षा करता है और न पौरुष ही की। ज़रूरत पड़ने पर वह पौरुष भी प्रकट करता है। पर जबतक उसकी ज़रूरत नहीं तबतक प्रारब्ध का तिरस्कार भी नहीं करता।

मनुष्य को अपनी शक्ति देखकर तदनुकूल ही काम करना चाहिए। देखिए, समय पर, यथाशक्ति व्यायाम (कसरत) करने से शरीर का उपचय होता है—सभी अङ्ग बढ़ते और सुदृढ़ होते हैं। पर वही व्यायाम यदि असमय में और शक्ति के बाहर किया जाय तो अपाय का कारण होता है। मेरी राय तो यह है कि क्षमा और शक्ति-प्रदर्शन भी, मौक़ा देखकर, समय पर ही करना चाहिए। क्षमा करने का मौक़ा हो तो क्षमा करना चाहिए और बल-प्रयोग का मौक़ा हो तो बल-प्रयोग करना चाहिए। क्षमा का मौक़ा होने पर भी, शक्ति के बाहर युद्ध करने से राजा के राज्य-रूप अंगों का उपचय होना तो दूर रहा, उलटा उनका नाश हो जाता है। अतएव, आप चेदि-नरेश शिशुपाल पर सहसा चढ़ दौड़ने का विचार न कीजिए। उसका अपमान करना—उसे नाचीज समझना—

बड़ी भारी भूल होती। मैं आपको व्याकरण-शास्त्र के एक नियम की याद दिलाता हूँ। देखिए, उदात्त स्वर दूसरे अनुदात्त स्वरों को एकदम ही दबा लेता है। तद्वत् ही शिशुपाल भी अपने शत्रुओं को एक ही दफ़े में—बात की बात में—मार सकता है। आप शायद यह समझते होंगे कि शिशुपाल अकेला है। उसे जीत लेना कौन बड़ी बात है। नहीं नहीं, ऐसा भूलकर भी कभी न सोचिए। वह राजाओं का भी राजा है। अन्य अनेक शत्रु भले; वह अकेला नहीं। उसे आप राजयक्ष्मा रोग के सदृश समझिए। राजयक्ष्मा जैसे और सैकड़ों रोगों के समूह से भी अधिक भयंकर, अतएव प्राण-नाशक, होता है वैसे ही अकेला शिशुपाल भी सैकड़ों राजाओं के समुदाय से भी अधिक बल-शाली और दुर्धर्ष है।

शिशुपाल पर चढ़ाई करने के पहले और भी तो आगे पीछे की बातें सोच लेनी चाहिएँ। वाणासुर को आप अपना मित्र न समझें। मन ही मन वह आपसे जलता है। जहाँ आपने शिशुपाल के प्रतिकूल नक्क़ारा बजाया तहाँ वाणासुर तत्काल ही उससे आ मिलेगा। काल-यवन, शाल्व, रुक्मि, द्रुम आदि भी उस समय चुप रहनेवाले नहीं। जैसे शिशुपाल तमोगुणी है वैसे ही ये लोग भी हैं। तम स्वभाव ही से सायङ्काल का अनुगमन करता है—अँधेरा अँधेरे के पास जाता है। अतएव ये लोग भी जरूर ही शिशुपाल का साथ देंगे। इन लोगों ने यद्यपि आपके साथ संधि कर ली है तथापि भीतर ही भीतर ये सभी आपसे द्वेष रखते हैं। बस, जहाँ शिशुपाल ने इन्हें उकसाया कि इन्हें आपके विरुद्ध खड्ग धारण करते देर न लगेगी। ईंधन पर अगर आग रख दी गई हो और उसी समय आँधी आ जाय तो लकड़ियों के उस ढेर को जल उठते क्या देर लगेगी? इन लोगों को आप सुलगाई हुई लक-ड़ियों का टाल समझिए। पवन बनकर शिशुपाल इनको तुरन्त ही कोप-प्रज्वलित कर देगा। छोटों को यदि किसी बड़े की सहायता मिल जाय तो वे भी अपनी अभीष्ट-कार्य-सिद्धि में सफल हुए बिना नहीं रहते। छोटी मोटी पहाड़ी नदियाँ भी, गङ्गा के सदृश किसी बड़ी नदी का सहारा पाकर, महा-सागर तक पहुँच जाती हैं। अच्छा, कल्पना कीजिए कि आपने शिशुपाल के साथ युद्ध करने के लिए तैयारी कर ही दी। इस दशा में जो राजा शिशुपाल के मित्र होंगे वे, और आपके जो शत्रु होंगे वे, सभी, शिशुपाल की सहायता के लिए दौड़ पड़ेंगे। इधर आपके मित्र और शिशुपाल के शत्रु आपका पक्ष ग्रहण करने के लिए आपकी सेना में शामिल होते आवेंगे। फिर रह कौन जायगा? और युधि-ष्ठिर के राजसूय यज्ञ में जायगा कौन? आप ऐसे समय में यदि रण-भेरी बजाकर महाभारत रचेंगे तो धर्मराज का यज्ञ भंग ही हुआ समझिए। इसके प्रधान कारण होंगे आप। अतएव युधिष्ठिर आप ही को अपना पहले नम्बर का शत्रु समझेंगे। फिर एक बात और भी है। धर्मराज युधिष्ठिर आपके बन्धु हैं। राजसूय-यज्ञ कोई ऐसा वैसा काम नहीं। वह बड़े महत्व का है और बड़ों ही की सहायता से निर्विघ्न पूर्ण हो सकता है। आपको बड़ा आदमी समझकर ही—बहुत कुछ आपके भरोसे ही—वे यह काम करने को तैयार हुए हैं। अब यदि आप ही इस समय रण ठानकर उस यज्ञ के विध्वंस का कारण होंगे तो आप विश्वासघात करने के इलजाम से न बचेंगे। यदि अपना शत्रु भी अपनी कृपा का भिखारी बने तो महात्माजन उस पर भी अनुग्रह करते हैं। धर्मराज तो आपके

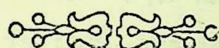
मित्र हैं; मित्र ही नहीं, वे तो बन्धु भी हैं। बड़ी बड़ी नदियों को देखिए। पर्वतजात छोटी छोटी नदियाँ यद्यपि उनकी सपत्नियाँ हैं, क्योंकि वे भी समुद्र के साथ पतिभाव रखती हैं, तथापि उनके इस सपत्नी-भाव की परवा न करके बड़ी नदियाँ उनको भी समुद्र तक पहुँचा देती हैं। वे जानती हैं कि ये हमारा अनुग्रह चाहती हैं। अतएव सपत्नियाँ हैं तो क्या हुआ, इनपर भी कृपा करनी चाहिए—इनको भी निराश न करना चाहिए। अपने मित्र का अपकार करना कभी अच्छा नहीं। बली पुरुष दण्ड–प्रयोग के द्वारा शीघ्र नहीं तो विलम्ब से ही, कभी न कभी, अपने शत्रु को अपना वशंवद बना सकते हैं। परन्तु मित्र के मन में वैमनस्य–भाव उत्पन्न करके, हज़ार मिन्नत-आरज़ू करने, और समझाने–बुझाने से भी, उसे प्रसन्न कर देना दुःसाध्य ही समझिए।

आप शायद यह कहते होंगे कि शिशुपाल ने देवताओं को त्रस्त कर रक्खा है। इससे उसके वध से वे लोग बहुत प्रसन्न होंगे। पर, विश्वास कीजिए, देवता लोग यज्ञ में पुरोडाश के भोग के बड़े ही प्रेमी हैं। उनको प्रसन्न करने का सबसे उत्तम उपाय यही है कि यज्ञ में उन्हें खूब डट कर पुरोडाश खिलाया जाय। आपकी बदौलत यदि उन्हें वह मोहनभोग मिल जायगा तो वे उसीसे अत्यन्त तुष्ट और प्रीत हो जायँगे।

आप अपनी प्रतिज्ञा का भी तो स्मरण कीजिए। आप अपनी पूजनीय बुवा को वचन दे चुके हैं कि मैं तुम्हारे पुत्र शिशुपाल के सौ अपराध क्षमा करूँगा। तो क्या आप उसका पालन न करेंगे? करना ही पड़ेगा। सूर्य की कृपा से जब एक बार दिन निकल आता है तब १२ घंटे बीत जाने के पहले ही उसका अन्त कर देना सूर्य के सामर्थ्य के बाहर की बात है। इसी तरह आपने प्रतिज्ञा करके शिशुपाल पर जो कृपा की है उस प्रतिज्ञा का अंत होने तक आप भी उसका अन्त नहीं कर सकते। सौ अपराध करने तक आपको चुप ही रहना पड़ेगा।

तबतक आप एक काम कीजिए। गुप्तचरों के द्वारा शिशुपाल का भीतरी हाल जान लीजिए। ऐसे जासूसों की योजना कीजिए जो उसकी गुप्त से भी गुप्त बातें जान लें। जो राजा ऐसा नहीं करते वे अन्धे के समान हैं; क्योंकि जासूस ही राजा लोगों की आँखें हैं। इसके सिवा आपको ऐसे भी जासूस नियत करने चाहिए जो शिशुपाल की राजधानी में उसी के मुलाज़िम बनकर रहें। वे कूट नीति और कूट लेखों के द्वारा शिशुपाल और उसके मंत्रियों आदि में भेद-भाव पैदा कर दें। वे कुछ ऐसे काम करें जिनसे शिशुपाल के मंत्रियों और सेनापतियों आदि का मन शिशुपाल के विषय में कलुषित हो जाय। ऐसा करके वे लोग आपके शत्रुओं को इन्द्रप्रस्थ ले आवें। वहाँ उनके सामने ही जब युधिष्ठिर आपका विशेष सम्मान करेंगे तब उन्हें युधिष्ठिर का यह कार्य अवश्यही असह्य होगा। अतएव वे वहीं प्रत्यक्ष ही आपके साथ शत्रुता का बर्ताव करेंगे। बस, तभी आप को शिशुपाल के दौरात्म्य का दण्ड उसे देने के लिए मौक़ा मिल जायगा। जहाँ वह आपके साथ प्रत्यक्ष शत्रुता का बर्ताव करे तहाँ आप उसे यमालय की हवा खिला दें। परमात्मा करे, आपके शत्रु आपके कोपानल में प्रज्वलित जलकर भस्म हो जायँ।

उद्धव की यह सलाह सबको पसन्द आई। श्रीकृष्ण और बलराम दोनों ही ने उसीका समर्थन किया। अतएव इंद्रप्रस्थ चलने और वहीं युधिष्ठिर के यज्ञ में शिशुपाल को मारने का निश्चय हुआ।



भूमि-भार।



(लेखक—पं० कामताप्रसाद गुरु, एम. आर. ए. एस.)

(१)

पूर्व काल में दनुज जाति ही थी पृथ्वी का भार।
अब बन दनुज मनुज करते हैं जग में अत्याचार॥
तब पातक अज्ञान-नीति था अब है ज्ञान-प्रधान।
विद्या-बल से पाप-निरत हैं बड़े बड़े मतिमान॥

(२)

भूमि-भार हरने प्रभु पहले लेते थे अवतार।
पर अब उसे कदाचित् हैं वे समझ रहे बेगार॥
ब्रह्मा भी पहले करते थे बहुधा नूतन सृष्टि।
अब तो वे इस ओर भूलकर नहीं डालते दृष्टि॥

(३)

पाप आजकल धार रहे हैं नाना रूप विचित्र।
शत्रु बने हैं वे ही जो हैं कहलाते जग-मित्र॥
अहंकार है निज में सब गुण मान रहा एकत्र।
इन भावों से दबा हुआ है अब भूतल सर्वत्र॥

(४)

भाई भाई में अब घटने लगी परस्पर प्रीति।
स्वार्थ-अन्धता से आपस की जाती रही प्रतीति॥
"अपनेपन" का अर्थ "आप" है अथवा है "परिवार"।
इसके बाहर अन्य जाति सा है सारा संसार॥

(५)

हो उन्मत्त राजमद में नृप भूल रहे हैं नीति।
जिनसे आप बने हैं उनसे करते हैं अनरीति॥
चाहे प्रजा-देह में बाकी रहे न हड्डी-माँस।
पर तबतक उसको चूसेंगे जब तक है कुछ साँस॥

(६)

भौतिक पाप और भी भारी करते हैं अपकार।
बीस खंड के भवन भूमि पर बढ़ा रहे हैं भार॥
पृथ्वी के भीतर तक घुसकर सता रही है रेल।
ऊपर से पड़ती है मोटर, ट्राम, फिटन की पेल॥

(७)

खनिकों ने धरती-माता का फाड़ दिया है पेट।
सारभाग सब उसका क्रमशः हैं वे रहे समेट॥
पुतलीघरों, कारखानों में पड़ती है घन-चोट।
इनसे रक्षा पा सकती है पृथ्वी किसकी ओट?

(८)

पलटन, पुलिस, तोपखाना भी हैं पृथ्वी के भार।
महासमर से हिल जाते हैं फणि के सीस हजार॥
इनसे भी बढ़कर होता है, भू-पर यह अन्याय।
बरसाये जाते हैं नभ से गोलों के समुदाय॥

(९)

सप्त-सागरों के नीचे भी नहीं भूमि को शांति।
शैलाकार जहाज वहाँपर मचारहे हैं क्रान्ति॥
खड़े हुए हैं कहीं दीपगृह मानो वे हैं वीर।
कहीं समुद्र नाथने को हैं बने हुए प्राचीर॥

(१०)

मिले हुए हैं एक दूसरे से ये अत्याचार।
दबता है जो एक दूसरा है उसपर तैयार॥
इन सब अन्यायों से बढ़कर और कौन है पाप।
इनके नीचे दबी धरा है करती हुई विलाप॥

(११)

यद्यपि अबभी पर्वत बल से इसे रहे हैं थाम।
कहते हैं भूकम्प भूमि को नहीं कभी विश्राम॥
ज्वालामुखी प्रगट करते हैं छिपा हृदय-सन्ताप।
दिखा रहीं हैं कष्ट, उसासें, बन समुद्र की भाप॥



रेलवे कमेटी की रिपोर्ट।

(लेखक—प्रोफ़ेसर दयाशंकर दुबे, एम० ए०)

सन् १९२० के नवंबर महीने में भारत-सचिव ने एक रेलवे कमेटी नियुक्त की थी। इस कमेटी में १० सदस्य थे जिनमें ७ अंग्रेज़ और केवल ३ भारतीय थे। सात अंग्रेज़ों में से तीन अंग्रेज ऐसे थे जिनको भारत का अनुभव नहीं था, तीन को भारतीय रेलों के संबंध में बहुत कुछ अनुभव था, और सातवाँ सदस्य अंग्रेज़ी व्यापारियों का प्रतिनिधि था। भारतीय सदस्यों के नाम हैं—सर राजेंद्रनाथ मुकर्जी, माननीय श्रीनिवास शास्त्री और श्रीयुत पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास। जब कमेटी नियुक्त की गई उस समय उसके पाँच सदस्य इंग्लैंड में थे, और उन्होंने वहाँ पर ही जाँच आरंभ कर दी। उसके बाद वे भारत आये और अन्य सदस्यों के साथ भारत भर में दौरा किया और जाँच-पड़ताल की। कमेटी ने क़रीब १४२ सज्जनों की गवाही ली जिसमें से केवल ४२ ग़ैर-सरकारी भारतीय गवाह थे। सन् १९२१ में कमेटी फिर इँग्लैंड गई और वहाँ उसने कुछ गवाहियाँ फिर लीं। इस कमेटी का ख़र्च लगभग ४ लाख ८० हज़ार रुपये पर पहुँचता है। इतने रुपये ख़र्च करके कमेटी ने अपनी रिपोर्ट लिखी है जो अब प्रकाशित हो गई है। कमेटी के सब काग़ज़ात ४ बड़ी बड़ी जिल्दों में प्रकाशित हुए हैं। पहले भाग में रिपोर्ट दी गई है। इस लेख में हम उस रिपोर्ट का दिग्दर्शन कराते हुए तत्संबन्धी अपने विचार प्रकट करने का प्रयत्न करते हैं।

भारत-सचिव ने कमेटी को निम्न लिखित बातों पर अपनी राय देने का कार्य सौंपा था—

(१) रेलवे संबंधी कामों के लिए धन की व्यवस्था कैसे की जाय और रेलवे के आय-व्यय पर सरकारी नियंत्रण कैसा हो?

(२) रेलवे संबंधी कामों का नियंत्रण करने वाली सरकारी संस्था का संगठन कैसा किया जाय और इसके अधिकार तथा कर्त्तव्य क्या हों?

(३) रेलवे और जनता का संबंध कैसा है और वह कैसे सुधारा जा सकता है?

(४) रेलवे का प्रबंध सरकारी हो या भारतीय अथवा विदेशी कंपनियों का?

उपरोक्त प्रश्नों पर विचार करने के पहले कमेटी ने यह जानने का प्रयत्न किया है कि रेलों की आधुनिक स्थिति कैसी है। भारत में आजकल कुल ३६,७३५ मील की रेलवे लाइन है जिसमें से ७,३६९ मील की लाइन तो सरकार की सम्पत्ति है और उसका प्रबंध भी सरकार द्वारा होता है (जैसे, ओ० एण्ड आर० आर० और एन० डब्ल्यू० आर) और १,७७६८ मील की लाइन ऐसी है जोकि सरकार की सम्पत्ति होते पर भी उस का प्रबंध ग्यारंटी दी हुई कंपनियों द्वारा होता है, जैसे, जी. आर. पी. आर., ई. आइ. आर. इत्यादि। बाक़ी रेलवे लाइन या तो रियासतों की सम्पत्ति है या कंपनियों की। इन सबका प्रबंध कम्पनियों द्वारा होता है।

रेलवे लाइन के कई भेद हैं। कोई बड़ी है तो कोई छोटी, और कोई बहुत छोटी; नीचे के कोष्ठक में भिन्न भिन्न तरह की लाइनों की

लम्बाई दी गई है :—

दोनों लाइनों के बीच का अंतर	लंबाई मीलों में (सन् १९२०, मार्च में)
५ फुट ६ इंच	१७,९६०
३ ,, ३$\frac{३}{८}$,,	१५.१८१
२ ,, ६ ,,	२,९२६
२ ,,	६६८
	३६,७३५

इन सब रेलवे लाइनों को बनाने में मार्च सन् १९२१ तक लगभग ५३८ करोड़ रुपयों का खर्च हुआ, जिसमें से केवल १४ करोड़ रुपये भारत-सरकार ने अपनी आमदनी से खर्च किये, बाक़ी सब रुपये सरकार और कम्पनियों द्वारा क़र्ज़ लिये गये हैं और इनका ब्याज सरकार को प्रति वर्ष देना पड़ता है। सन् १८५८ से १९०० तक [सिर्फ़ एक वर्ष छोड़कर] रेलों से बराबर घाटा होता रहा, जिसका कुल परिमाण ७७ करोड़ रुपये था। यह सब रक़म सरकार को अपने पास से देना पड़ी। परन्तु सन् १९०० से सरकार को अब बराबर मुनाफ़ा हो रहा है और सन् १९१९ के मार्च मास तक कुल मुनाफ़ा ६७ करोड़ रुपये था। यदि गत दो वर्षों का मुनाफ़ा इसमें जोड़ दिया जावे तो कुल मुनाफ़ा घाटे से कुछ अधिक निकलेगा।

यह तो हुआ भारत-सरकार के परोक्ष हानि-लाभ का हिसाब। देशवासियों को भी रेलों से कई हानियाँ और लाभ हुए हैं। सर्वसाधारण के सुख-सम्पत्ति के साथ अब रेलों का बहुत घनिष्ठ संबंध हो गया है। रेलों से गमनागमन की सुविधा होती है; ज्ञान के प्रचार में सहायता मिलती है, व्यापार की उन्नति होती है और कल-कारखानों को उत्तेजना मिलती है। परन्तु साथही, छूत की बीमारियों को रोकना बहुत कठिन हो जाता है। अकाल के समय में उससे पीड़ितों की रक्षा तो कुछ होती है; परन्तु उससे देश के अनाज को बाहर भेजने में भी बहुत सहायता मिलती है और इसलिए कई मनुष्यों को आधापेट भोजन पाकर ही अपना सारा जीवन व्यतीत करना पड़ता है। रेलों के कारण देश भर में प्रायः सब वस्तुओं की क़ीमत बहुत कुछ एकसी रहती है। ऐसा नहीं होता कि गेहूँ देश के एक भाग में रुपये के दस सेर बिकते हों, और दूसरे भाग में केवल ४ सेर ही। विदेशी वस्तुओं की क़ीमत रेलों के कारण घटती है और इससे देश के उद्योग-धंधों को कुछ नुक़सान पहुँचता है। अन्य वस्तुओं के समान रेल से भी हानि और लाभ दोनों हो सकते हैं। उसकी कुछ हानियों के कारण हमको यह उचित नहीं है कि हम उसका उपयोग करना बंद कर दें, अर्थात् उसका बहिष्कार कर दें। आज-कल की दशा में ऐसा करना संभव भी नहीं है। इसलिए हमारी रेलवे-संबंधी नीति ऐसी होनी चाहिए जिससे उसके लाभों की संभावना तो बढ़ जावे और हानियाँ कम हो जावे।

कमेटी के सामने गवाहों के जो बयान लिये गये हैं उनमें से कई अंश उद्धृत करके रिपोर्ट में यह सिद्ध किया गया है कि भारतीय रेलों की तत्कालीन व्यवस्था देश की आवश्यकताओं की पूर्त्ति के लिए एकदम अनुपयुक्त है और सुधार का काम ज़ोरशोर से शीघ्र आरंभ होना अत्यंत आवश्यक है। कोयले और लोहे के खानों की

उन्नति रेलों पर ही निर्भर है । जबतक किसी कोयले की खान के पास तक रेल की लाइन नहीं पहुँच जाती तबतक उस खान से कोयला निकालने में लाभ नहीं होता। उसी प्रकार यदि लाइन के खान तक पहुँचने पर भी यथेष्ट प्रमाण में रेल के डब्बे नहीं मिलते हैं तो खान का काम तेज़ी से नहीं किया जा सकता है और कोयले की कमी के कारण अन्य उद्योग और व्यवसायों को हानि उठानी पड़ती है। यही हाल लोहे के उद्योग का भी हुआ है। डिब्बों और एंजिनों की कमी के कारण रेलवे कंपनियों को सामान एक जगह से दूसरी जगह पहुँचाने में बड़ी कठिनाइयाँ पड़ती हैं, मुसाफ़िरों को बड़ा कष्ट उठाना पड़ता है, और डिब्बे देने में व्यापारियों से घूस लेना बहुत ही बढ़ गया है। इस सब दुर्व्यवस्था का कारण सरकार का रेलवे खर्च के लिए यथेष्ट परिणाम में रुपया न देना बतलाया गया है। नीचे के कोष्टक में यह बतलाया जाता है कि रेलवे-संबंधी खर्चों के लिए एजेंटों ने कितना रुपया सन् १९१३–१४ और १९२१–२२ के लिए माँगा था और सरकार द्वारा कितना रुपया दिया गया।

	१९१३-१४ (करोड़ रुपये)	१९२१-२२ (करोड़ रुपये)
(१) रेलवे एजेंटों द्वारा माँगा गया (जुलाई में)	२०	३६
(२) रेलवे बोर्ड द्वारा सिफ़ारिश की गई (अगस्त में)	२०	२८
(३) फ़ाइनेंस-विभाग द्वारा दिये जाने की आशा दी गई (अगस्त में)	१८	२०
(४) अंत में मंजूर किया गया (मार्च में)	१८	१८

कमेटी ने यह सिफ़ारिश की है कि रेलवे बजट अलग तैयार किया जाय और बड़ी व्यवस्थापक सभा में पास कराया जाय। रेलवे-विभाग अपनी आमदनी और खर्च का जिम्मेदार हो। रेलवे-ऋण का व्याज चुकाने पर बाक़ी बचत को स्वेच्छानुसार व्यय करने की उसे स्वाधीनता होनी चाहिए वह चाहे उसे नया काम जारी करने के लिए लगावे, अथवा आगे के लिए रख छोड़े या चाहे उसे सुधार या उन्नति के कामों में खर्च करे। हाँ, सरकार उसके हिसाब-किताब की जाँच निष्पक्ष व्यक्तियों द्वारा कराती रहे। इस विषय पर फिर से विचार करने के लिए भारत-सरकार ने गत नवंबर मास में एक नई कमेटी नियुक्त की, जिसने यह सिफ़ारिश की कि अभी हाल में रेलवे बजट अलग न रक्खा जावे, क्योंकि उसके अलग रखने से जो क़रीब ११ करोड़ रुपयों की वार्षिक कमी होगी उसकी पूर्त्ति करना भारत-सरकार के लिए बहुत कठिन हो जावेगा। इस कमेटी ने एक महत्वपूर्ण सिफ़ारिश यह की है कि पाँच वर्षों के रेलवे सुधारों का कार्य-क्रम पहले से तैयार किया जाया करे और जितनी रक़म की ज़रूरत होवे वह पाँच साल के लिए एकदम मंज़ूर कर दी जाया करे। इसी सिफ़ारिश के अनुसार आगामी पाँच वर्षों के लिए (सन् १९२२-२३ से १९२६-२७तक) रेलवे बोर्ड ने खर्च का अनुमान इस प्रकार किया है:—

माल के डिब्बों के लिए	४८½ करोड़ रुपया
मुसाफ़िरों के डिब्बों के लिए	१८ ,, ,,
एंजिनों के लिए	३० ,, ,,

	करोड़ रुपया	
पुरानी लाइनों और पुलों की सुधारने के लिए	१०	,, ,,
लाइन दोहराने के लिए	१२½	,, ,,
गुदाम और स्टेशनों के लिए	८०	,, ,,
कारखानों के लिए	१०	,, ,,
जिन नई लाइनोंका बनाना आरम्भ कर दिया है उनको पूरा करने के लिए	५	,, ,,
योग	१५४ करोड़ रुपया	

नवीन कमेटी (हेली-कमेटी) ने खूब सोच-विचार कर अगले पाँच वर्षों के लिए १५० करोड़ रुपये मंज़ूर किये। इस हिसाब से प्रति वर्ष रेलवे संबंधी कामोंमें ३० करोड़ रुपये खर्च किए जावेंगे। हेली-कमेटी ने यह नहीं बतलया कि मुसाफ़िरों के डिब्बे बनवाने में जो १८ करोड़ रुपये खर्च होंगे उस मद में से कितने रुपये तीसरे दर्जे की गाड़ियों के सुधार में लगाये जावेंगे। हमारी समझ में क़रीब १५ करोड़ रुपये इस मद में खर्च किया जाना चाहिए। दोनों कमेटियों ने इस बात पर ज़ोर नहीं दिया कि रेलवे सामान, जहाँ तक होसके, भारत में ही खरीदा जावे जिससे भारत के रुपये भारत में ही रहें और देश के उद्योग-धंधों की वृद्धि हो। भारत में अभी एक भी अच्छा एंजिन नहीं बन सकता। रेलवे सामान तैयार करने के लिए परमावश्यक चीज़ें लोहा और पत्थर का कोयला प्रचुर परिमाण में भारत में पाये जाते हैं, तिसपर भी देश में माल तैयार नहीं किया जा सकता। रेलवे का बहुतसा सामान इँग्लैंड से ही मँगाया जाता है। हाल में बड़ी व्यवस्थापक सभा में यह प्रस्ताव पास हुआ है कि रेलवे-संबंधी सब सामान जहाँतक होसके वहाँ तक भारत में ही खरीदा जावे। देखें, भारत-सरकार इसको कार्य में परिणत करने में कहाँतक सफल होती है। गत वर्ष इँग्लैंड में जो पहला ऋण लिया गया था उसमें इस बात की ग्यारंटी दी गई थी कि उसकी सब रक़म इँग्लैंड में ही खर्च की जावेगी। रेलवे का सामान खरीद करते समय भारत-सरकार को भारत के हित का ही ख़याल रखना चाहिए, न कि अन्य किसी देश का। उसे जहाँपर माल सस्ता मिले वहाँ से ही खरीदना चाहिए। मालूम नहीं, सब माल इँग्लैंड से ही क्यों ख़रीदा जाता है?

रेलवे-संबंधी कामों का नियंत्रण करनेवाली संस्था का नाम रेलवे बोर्ड है। इस बोर्ड में तीन सदस्य हैं। यह बोर्ड रेलवे-संबंधी सब कामों की देखरेख करने के अतिरिक्त, उसकी नीति के लिए भी ज़िम्मेदार है और रेल-संबंधी सब खर्चों पर विचारकर भारत-सरकार को अपनी राय देता है। रेलवे बोर्ड अपने प्रस्ताव वाइसराय तक व्यापार-सदस्य (Member for Commerce & Industry) द्वारा पहुँचा सकता है। व्यापार-सदस्य को इतने अधिक काम रहते हैं कि वह रेलवे प्रबंध की ओर जितना चाहिए उतना ध्यान नहीं दे सकता। इसका फल यह हुआ है कि बिचारे रेलवे बोर्ड की स्थिति सौत के बेटे के समान होगई है। कमेटी की राय यह है कि वाइसराय की कार्य-कारिणी सभा (Executive Council) में एक और सदस्य जोड़ दिया जावे जो रेलों, बंदरगाहों, डाक और तार-विभाग के लिए ज़िम्मेदार हो। कमेटी ने यह भी सिफ़ारिश की है कि रेलवे बोर्ड की जगह पर रेलवे कमीशन नियुक्त किया जाय। इस कमीशन का चीफ़ कमिश्नर रेलों की कार्य-प्रणाली का कोई

जानकार आदमी हो। यह अपने कामों के लिए कम्यूनिकेशन मेंबर के सामने उत्तरदाता हो और रेलवे-नीति-संबंधी निश्चयों पर उसे सलाह दिया करे। इस चीफ़ कमिश्नर की सहायता के लिए चार डिविज़िनल कमिश्नर नियुक्त किये जावें जो कि सदर दफ्तर का काम देखने के अतिरिक्त अपने विभाग में भ्रमण और निरीक्षण करते रहें। इन कमिश्नरों के अतिरिक्त चीफ़-कमिश्नर के मातहत ख़ास ख़ास विभागों के पाँच डायरेक्टर रहें जो अपने विभाग-संबंधी कामों में सलाह दिया करें।

रेलवे-प्रबंध में भारत की जनता को कुछ अधिकार दिलाने के लिए कमेटी ने यह सिफ़ारिश की है कि शीघ्र एक केंद्रीय और अनेक प्रांतीय परामर्शदाता सभाएँ स्थापित की जावें। केंद्रीय सभा के अध्यक्ष कम्यूनिकेशन मेंबर हों और उसमें क़रीब २५ सदस्य हों, जिनमें से ३ या ४ सरकारी विभागों के प्रतिनिधि हों, ८ या ९ व्यापार–व्यवसाय-विषयक संस्थाओं की ओर से चुने जायँ और इतने ही किसानों और यात्रियों की ओर से। जबतक किसानों और यात्रियों की कोई संस्था न स्थापित हो तबतक उनकी तरफ़ से सदस्य प्रांतीय व्यवस्थापक सभा द्वारा नामज़द किये जावें। प्रांतीय परामर्श-सभाओं की सदस्य–संख्या केंद्रीय सभा के सदस्यों की प्रायः आधी हो और उनका संगठन वैसा ही हो। भारत-सरकार ने इन सिफ़ारिशों के संबंध में अभी अपनी राय प्रकाशित नहीं की है। रेलवे कमीशन की नियुक्ति से रेलवे विभाग का कुछ ख़र्च बढ़ जावेगा, परंतु यदि उसके द्वारा रेलवे-संबंधी कामों का नियंत्रण सचमुच में अच्छा होने लगे, और मुसाफ़िरों अथवा व्यापारियों को अधिक सुविधाएँ मिलने लगें, तो हमें उसके नियुक्त किये जाने में कोई आपत्ति नहीं है। परामर्श-सभाओं का शीघ्र स्थापित किया जाना बहुत आवश्यक है।

सामान एक जगह से दूसरी जगह लेजाने के भाड़े की दर नियत करने के सम्बन्ध में रेलवे कंपनियों को बहुत स्वतंत्रता है। सरकार केवल भाड़े की दो सीमाएँ नियत कर देती है। रेलवे कंपनियों को इन दो सीमाओं के बीच कोई भी दर अपनी इच्छा के अनुसार नियत करने का अधिकार है। कमेटी के सामने कई गवाहों ने कहा कि भाड़े की दर ऐसी नियत की गई है कि जिससे देश से बाहर माल भेजने में तो लाभ होता है; परन्तु, देश के भीतर एक जगह से दूसरी जगह माल भेजने में भाड़ा अधिक देना पड़ता है। इससे अंतर्देशीय (Internal) व्यापार को बड़ा धक्का पहुँचता है और देश के उद्योग-धंधों को उचित प्रोत्साहन नहीं मिलता। यदि किसी का माल बिगड़ जाय या गुम जाय, तो रेलवे कंपनी द्वारा उसकी क़ीमत चुकाये जाने के मामले में भी जल्दी निपटारा नहीं होता। कमेटी ने यह सिफ़ारिश की है कि तीन सदस्यों की एक समिति बनाई जावे। इस समिति का सभापति कोई क़ानून का विशेषज्ञ हो। सदस्यों में एक रेलवे कंपनियों का और दूसरा व्यापारियों का प्रतिनिधि होना चाहिए। इस समिति का ख़ास काम यह होगा कि वह भाड़े–संबंधी मामलों में न्यायोचित निर्णय करेगी। वह माल की ज़िम्मेदारी के संबंध में एक सामान्य नियम बनावेगी जिससे सबों को यह मालूम होजावे कि कंपनी की ज़िम्मेदारी कहाँ है और भेजनेवाले की कहाँ। इस प्रकार इस संबंध में सब विवाद आपही आप मिट जावेंगे। हमारी समझ में उपरोक्त समिति का आजकल शीघ्र स्थापित किया जाना बहुत आवश्यक है।

कमेटी के सामने गवाहों ने रेलवे-कर्मचारियों द्वारा घूस लिये जाने की कई शिकायतें कीं । कमिटी स्वीकार करती है कि आजकल माल के प्रत्येक डिब्बे के लिए ५०) या १००) घूस के रूप में दिया जाना साधारण बात है । एक गवाह ने तो यहाँतक कहा कि उसे एक समय एक डिब्बे के लिए ८००) देना पड़े थे । कमेटी की राय है कि माल के डिब्बे देने की व्यवस्था दोषरहित बनाई जाय और घूसखोरी शीघ्र बंद करने का प्रयत्न किया जाय । घूस खानेवालों को न्यायालयों में दंड दिलाने से ही काम न चलेगा; न्यायालय में घूसखोरी साबित करना बहुत मुश्किल है । यदि बड़े बड़े अफ़सर घूसखोरी को रोकना चाहें तो सरलता से रोक सकते हैं । परंतु वे रोकें कैसे ? जनता को विश्वास हो चला है कि अफ़सरों को भी घूस का कुछ भाग मिल जाता है । रेलवे बोर्ड अथवा रेलवे कमीशन को इस तरफ़ उचित ध्यान देना चाहिए ।

तीसरे दर्जे के मुसाफ़िरों के कष्टों के संबंध में कमेटी के सामने कई शिकायतें पेश की गईं । वे सारांश में इस प्रकार हैं:—

(१) गाड़ी में यात्रियों की बहुत भीड़ रहती है ।

(२) तीसरे दर्जे के यात्री कभी कभी मालगाड़ी के डिब्बों में बैठाये जाते हैं ।

(३) तीसरे दर्जे की गाड़ियों में सफ़ाई की तरफ़ पूरा ध्यान नहीं दिया जाता ।

(४) कई स्टेशनों के प्लेटफ़ार्मों पर पानी का अभाव रहता है ।

(५) कई स्टेशनों पर उचित खाद्य पदार्थों का अभाव रहता है ।

(६) बड़े बड़े स्टेशनों पर मुसाफ़िरखाने छोटे और ख़राब रहते हैं ।

(७) टिकट ख़रीदने में कभी कभी यात्रियों को बड़ी कठिनाई पड़ती है ।

(८) रेलवे नौकरों का तीसरे दर्जे के यात्रियों के साथ अच्छा बर्ताव नहीं रहता ।

कमेटी ने यह सिफ़ारिश की है कि मेलों के समय में एक कंपनी को दूसरी कंपनी से कुछ समय के लिए डिब्बे उधार लेना चाहिए । रेलवे के अफ़सरों को सफ़ाई की तरफ़ उचित ध्यान देना चाहिए और तीसरे दरजे के यात्रियों के कष्ट दूर करने का प्रयत्न करते रहना चाहिए । कमेटी ने यह भी सिफ़ारिश की है कि पैसेंजर-सुपरिन्टेंडेंट बड़े बड़े स्टेशनों पर नियुक्त किये जावें और उनका कर्तव्य मुसाफ़िरों को हर प्रकार से सहायता पहुँचाना हो । हमारी समझ में इन अफ़सरों के नियुक्त कर देने से ही मुसाफ़िरों के कष्ट दूर न हो जावेंगे । गाड़ी में यात्रियों की भीड़ कम करने के लिए यह आवश्यक है कि प्रत्येक ट्रेन में डिब्बों की संख्या बढ़ाई जावे और ट्रेनों की संख्या भी बढ़ाई जावे । डिब्बे में भीड़ कम करने का एक और तरीक़ा है । प्रत्येक डिब्बे में यह लिखा रहता है कि उसमें अधिक से अधिक कितने मुसाफ़िर बैठ सकते हैं । जब किसी डिब्बे में उस संख्या से अधिक मुसाफ़िर बैठे हों तो उस डिब्बे के प्रत्येक मुसाफ़िर को अधिकार है कि वह अलार्म सिगनल खींचकर गाड़ी को आगे जाने से रोक दे । अभी कुछ दिन हुए बिहार प्रांत में एक महाशय ने ऐसाही किया था । रेलवे कंपनी ने उन पर बिना कारण अलार्म सिगनल खेंचने के अभियोग में मुक़दमा चलाया । पटना हाईकोर्ट के

जस्टिस ज्वालाप्रसाद ने यह फ़ैसला दिया कि जब डिब्बे में भीड़ हो और यदि कोई मुसाफ़िर अलार्म सिगनल खींचे तो इस स्थिति में उसका अलार्म सिगनल खींचना बिना कारण खींचना नहीं कहा जा सकता। उनने यह भी कहा कि यदि किसी ने इस भीड़ की तरफ़ ध्यान आकर्षित करने के लिए अलार्म सिगनल खींचकर गाड़ी खड़ी कराई तो रेलवे कंपनी को ऐसे मनुष्य का आभार मानना चाहिए; क्योंकि वह मनुष्य उसे अपना काम करने में सहायता देता है। आशा है, यात्रीगण इस फ़ैसले से लाभ उठावेंगे।

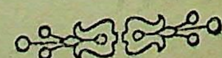
रेलवे-विभाग के संबंध में जनता की यह भी शिकायत है कि इस विभाग में बड़े बड़े पद भारतवासियों को नहीं दिये जाते। यद्यपि कुल ७ लाख १० हज़ार रेलवे नौकरों में से ७ लाख नौकर भारतवासी हैं और केवल ७ हज़ार यूरोपवासी हैं, तिस पर भी ये सात हज़ार सब बड़े बड़े ओहदों पर काम करते हैं। रेलवे विभाग में कुल १,७४९ बड़े ओहदे हैं; उनमें से केवल १८२ ही भारतवासियों को दिये जा सके हैं। कमेटी ने यह सिफ़ारिश की है कि रेलवे-संबंधी कार्यों की शिक्षा देने के लिए भारत में उचित प्रबंध किया जाना चाहिए और भारतवासियों को अधिक संख्या में बड़े बड़े ओहदों पर नियुक्त करना चाहिए।

रेलवे-प्रबन्ध के संबंध में कमेटी के सदस्यों में मतभेद हो गया है। सब सदस्य यह स्वीकार करते हैं कि इँगलैंड की कंपनियों द्वारा भारत की रेलों का प्रबन्ध किया जाना उचित नहीं है। पाँच सदस्य यह चाहते हैं कि रेलों का प्रबन्ध सरकार द्वारा हो। उनका मत यह है कि जब कंपनियों के ठेकों की अवधि समाप्त होवे * तब सरकार उनका प्रबंध अपने हाथ में ले लेवे। अन्य पाँच सदस्यों का मत यह है कि रेलों का प्रबंध भारतीय कंपनियों द्वारा हो। वे यह कहते हैं कि जब पुरानी कंपनियों के ठेकों की अवधि समाप्त होवे तब सरकार उनका प्रबंध विदेशी कंपनियों से छुड़ाकर नई भारतीय कंपनियों को सौंप देवे। यदि यह प्रबंध सफल हुआ तो आजकल जिन रेलों का प्रबंध सरकार करती है उनको भी भारतीय कंपनियों को सौंप देने के प्रश्न पर विचार किया जाय। रेलवे-प्रबंध का विषय बहुत विवादग्रस्त है और दोनों प्रस्तावों के पक्ष और विपक्ष में बहुत कुछ कहा जा सकता है; परन्तु इस लेख के बहुत बढ़ जाने के भय से हम इस समय इस महत्वपूर्ण विषय पर विचार नहीं कर सकते। हमारी समझ में, जबतक भारत-सरकार भारतवासियों के प्रति पूर्णतया उत्तरदायी नहीं हो जाती तब तक रेलों का प्रबंध भारतीय कंपनियों द्वारा होने से ही देश को अधिक लाभ होगा।

* मुख्य मुख्य रेलवे कंपनियों के ठेकों की अवधि नीचे लिखे वर्षों में समाप्त होगी—

ईस्ट इंडियन रेलवे	१९२४
ग्रेट इंडियन पेनिनसुला रेलवे	१९२५
आसाम बंगाल रेलवे	१९३१
मद्रास एंड सदर्न मरहटा रेलवे	१९३७
बंबई बरोदा एंड सेंट्रल इंडियन रेलवे	१९४१
साउथ इंडियन रेलवे	१९४५
बंगाल नागपुर रेलवे	१९५०

—लेखक।



सम्पत्ति-शास्त्र के मूल तत्त्व ।

(लेखक --क्षुधा नामक मनोविकार से पीड़ित)

सबार्डिनेट सर्विस और डिस्ट्रिक्ट कौन्सिल के शिक्षकों और इतर कर्मचारियों के सम्बन्ध में कौन्सिलों में कई प्रश्न किये जा चुके हैं; परन्तु बेचारे इम्पीरियल सर्विस के कर्मचारियों की पूछपाछ कोई नहीं करता। वास्तव में देखा जाय तो इनकी जैसी दीनावस्था है वैसी किसीकी भी नहीं है। बेचारों को बड़े बड़े बँगलों में रहना पड़ता है, मोटरों में घूमना पड़ता है, और आस्ट्रेलियन मटन और अमरीकन फ़िश के वास्ते भारी भारी दाम देने पड़ते हैं। गर्मी के दिनों में पहाड़ों पर गये बिना चलता नहीं। बिजली के पंखे और रोशनी अवश्य ही चाहिए, नहीं तो बड़ा नुक़सान होने का डर रहता है। इनके बिना उनका काम ही नहीं चल सकता। इन अनेक कारणों से उनकी जो अनुकम्पनीय स्थिति हो गई है उसकी ओर इस देश के दुष्ट कौन्सिलर ध्यान ही नहीं देते। यदि ये उनकी स्थिति अपनी आँखों से देखते तो उनके नेत्रों से अविरल अश्रुधारा बहने लगती। सबार्डिनेट सर्विस के कर्मचारियों के विषय में प्रश्न करने से इम्पीरियल सर्विस के कर्मचारियों के प्रति वास्तव में घृणा दिखाई जाती है। राजराजेश्वर की प्रजा के एक भाग के विरुद्ध दूसरे भाग को उभाड़ना राजद्रोह से किसी प्रकार कम नहीं है।

कौन्सिलर लोग बड़ी भारी भूल कर रहे हैं। उन्हें नहीं मालूम कि क्षुधा, अनशन, अतिश्रम आदि नाज़ुक प्रश्नों का विवेचन कौंसिल में किसी प्रकार नहीं हो सकता। यह काम इम्पीरियल सर्विस-वालों का है; और इनकी जाँच-पड़ताल पचमढ़ी, महाबलेश्वर, शिमला, नैनीताल, दार्जीलिंग जैसे ठंड स्थानों में रहने से ही हो सकती है। वे ही ऐसे ठंड, शांत और निर्जन स्थानों में सोच सकते हैं कि हिन्दुस्थानी कहलानेवाले प्राणी क्या खावें, क्या पीवें, क्या पहिनें और कब क्या करें। अब इन्हीं उपजाऊ मस्तिष्कों ने पता लगाया है कि क्षुधा नामक एक मनोविकार हिंदुस्थानियों को प्रतिदिन बहुत सताया करता है। परन्तु इसके साथ वे उस का उपाय भी बतलाते हैं। उनका कहना है कि हिंदुस्थानियों को अपने पूर्वजों की भाँति आत्मसंयम सीखना चाहिए। क्षुधा नामक मनोविकार के वश होना अत्यन्त नीच कर्म है। जिस समय वे विवश होकर कुछ खाने ही लगें तो इन इम्पीरियल सर्विस-वालों से पूछ तो लिया करें। नहीं तो मनमाने खाने से बड़े बड़े विकार उत्पन्न होंगे, जिनकी ओषधि अबतक किसी ने ढूँढ़ नहीं निकाली है और जिसके कारण हिन्दुस्थान की सारी क़ौम शायद नेस्तनाबूद हो जावे। अभी हिन्दुस्थानियों का दिमाग़ इतना मज़बूत नहीं हुआ है कि वह घी, दूध, शक्कर, गेंहूँ जैसी चीज़ें पचा सके। अनेक शास्त्रों का यही मत है कि भूख-पीड़ा मस्तिष्क के विकार पर अवलम्बित है। हिन्दुस्थानी लोग जिसे क्षुधा कहते हैं वह वास्तव में केवल एक मनोविकार है, जिसका एकमात्र उपाय आत्मसंयम है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि आर्य-ऋषि बहुधा हवा पर, बहुत हो गया तो पानी पर, और भी आवश्यकता पड़ी तो जंगली कंदमूल पर जीवन-निर्वाह करते थे। आजकल के हिन्दुस्थानी अपना इतिहास नहीं जानते, इस कारण व्यर्थ ही हल्ला मचाया करते हैं। सरकार ने उनके इस हल्ले को सुनकर पहली दिसम्बर १९१९ से उनके जो वेतन बढ़ा रखे हैं उसके कारण हिन्दुस्थान की भारी हानि हुई है। पुलिस और मजिस्ट्रेट बढ़ा दिये गये, अस्पताल बढ़ गये और ओषधियों का ख़र्च अधिक हो गया। तिसपर भी, हिन्दुस्थान में बीमारियों की संख्या

बढ़ रही है। वही रुपया यदि इम्पीरियल सर्विस-वालों को दिया गया होता तो सरकार सब कष्टों से बच जाती। फिर न अधिक मजिस्ट्रेटों की, न पुलिस की और न औषधालयों की ही ज़रूरत पड़ती; न रोगों की इतनी अधिक वृद्धि होती। सरकार का ज्ञान कितना कम है—यह इसी बात से सिद्ध होता है कि वह अभीतक इम्पीरियल सर्विसवालों की कार्य-योग्यता नहीं जानती। यदि इन्हें बिजली के पंखे, शफर सहित मोटर-गाड़ियाँ, अच्छे बड़े हवादार बँगले, खस की टट्टियाँ, दुगना वेतन, तिगुना अलाउन्स, प्रत्येक बच्चे के लिए प्रति छः महीने एक धाय और निरीक्षण-कार्य के अनेक सुभीते मिल जायँ तो वे हिन्दुस्थानियों से तिगुना काम कर सकें। इसके साथ यदि नाटक-शालाएँ, नृत्य-शालाएँ, विहार-शालाएँ आदि का तथा अण्डे, मछलियाँ, माँस, तरकारी, भाजी, दूध आदि का सरकार पुलिस अफ़सरों के द्वारा अच्छा प्रबन्ध मुफ्त करवा दे, तो वे फिर छः गुना काम कर सकेंगे। फिर तो सरकारी नौकरी के लिए हिन्दुस्थानियों की कोई आवश्यकता न रह जावेगी और यदि यूरोप में जैसे यूरोपियन काम करते हैं, वैसा काम यहाँ भी होना आवश्यक है तो फिर कोई कारण नहीं कि उपरिलिखित सुविधाओं का प्रबंध सरकार क्यों न करे। हाँ, सरकार इस बात की खबरदारी अवश्य रखे कि इन में से कोई बात हिन्दुस्थानियों को न मिलने पावे, नहीं तो वे किसी काम के न रह जावेंगे। मानव रचना-शास्त्र का यह अनुसंधान सरकार अपने ख्याल में अच्छी तरह रखे। इम्पीरियल सार्विस-वालों के इस अनुसंधान को न मानने से सरकार पर बड़ी बड़ी आफ़तें टूट पड़ने का डर है।

सरकार पर एक आफ़त अभी गुज़रते गुज़रते बची है। शाला-शिक्षकों और बाबुओं ने एक बड़ी लम्बी अर्ज़ी तैयार की थी और वे उसे युवराज के हाथ में देना चाहते थे। परन्तु यह बात इम्पीरियल सर्विस के गुप्तचर को मालूम होगई। बस, क्या था, एकदम पुलिस के द्वारा वह अर्ज़ी ज़ब्त करली गई, नहीं तो न जाने क्या क्या अनर्थ हो जाते। सरकारी कर्मचारियों में आपसी वेबनाव हो जाता और सरकार की बुनियाद ही नष्ट हो जाती। परन्तु खैर हुई कि यह बात इम्पीरियलसर्विस के कर्मचारी ने ढूँढ़ निकाली। अब सरकार को चाहिए कि इन शाला-शिक्षकों और बाबुओं के इस विचार की जाँच करने के लिए इम्पीरियल सार्विसवालों का एक भारी कमीशन बिठलावे। इन्हीं शाला-शिक्षकों और बाबुओं के कारण हिन्दुस्थान-सरकार के आय-व्यय के लेखे में १९ करोड़ का घाटा पड़गया है। इस प्रकार शिकायत करने का विकार हिन्दुस्थान को बहुत हानिकारक होगा। उसकी खूब जाँच होना अत्यन्त आवश्यक है। मुझे आशा है कि अनुसंधान के बाद इनका वेतन अधिक से अधिक १०) दस रुपये प्रति मास रखा जावेगा और उन्हें अधिक से अधिक तरक्की एकन्नी प्रति साल दी जावेगी। एक यूरोपियन कर्मचारी ने अभी अभी इस बात का भी पता लगाया है कि हिन्दुस्थानी बच्चे भी दूध पिया करते हैं। उनका कहना है कि यदि यह क्रम बहुत दिन चला तो दुनियाँ नष्ट हो जावेगी। पाँच रुपये प्रति मास दूध पर ख़र्च! ओफ़! यह तो सरासर आत्महत्या है! इतना दूध इन बच्चों को पच नहीं सकता। यही कारण है जो यूरोपियन के एक ही धक्के से हिन्दुस्थानियों की तिल्ली फट जाती है। इससे मांस का शुरवा उनको बहुत अच्छा होगा और यह बहुत सस्ता पड़ेगा। फिर ऐसे फ़िज़ूल ख़र्च की आवश्यकता न होगी। दूध के लिये गोरक्षण करना सोलह आने बेवक़ूफ़ी है। यदि सरकार हिन्दुस्थानियों का भला चाहती है तो इन व्यर्थ बातों को सुनने की कोई आवश्यकता नहीं। रतौना में खुलनेवाले क़साईख़ाने जैसे कई क़साईख़ाने

खुलने चाहिए। तभी हिन्दुस्थान का कल्याण है। धर्म, नीति, भूतदया आदि सब झूठी बातें है। समाज का जिसमें भला हो वही करना सरकार का कर्त्तव्य है। और, इन इम्पीरियल-सर्विस-वालों से अच्छे सलाहकार सरकार को कहीं न मिलेंगे। हिन्दुस्थानी अभी बच्चे हैं। उन्हें अभी अपनी भलाई मालूम नहीं। जब कभी वे किसी बात पर शोर मचाने लगें तो तुरंत समझ जाना चाहिए कि उन्हें कोई दिमाग़ी बीमारी होगई है। ऐसे समय पर सरकार का कर्त्तव्य है कि वह उनकी इस बीमारी की जाँच करवा कर इलाज करवाया करें। और, यह ख़याल रखना चाहिए कि ऐसी बीमारियाँ शालाओं के शिक्षकों को ही अधिक हुआ करती हैं। इनका दिमाग़ एक तो पहले से ही कमज़ोर रहता है, फिर उससे थोड़ा ही काम लिया गया कि वह बिगड़ जाता है। ऊपर बतलाये गये वेतन में हिन्दुस्थानी ग्रेजुएट भी मिल सकते हैं, सरकार इस बात को भी जान ले। ऐसा करने से ही संपत्तिशास्त्र के असली तत्त्वों का अमल होगा, हिन्दुस्थान की सरकार का दीवाला निकलने की आशंका न रहेगी, और सबसे सार बात तो यह है कि ऐसी सरकार समस्त दुनियाँ को सदा के लिए राज्यशासन के कार्यों में मार्गदर्शक होगी।

(Calcutta Review के एक लेख के आधार पर लिखित)



सन् २००० ई० में संसार की दशा।

(लेखक—श्रीयुत सन्तराम, बी० ए०)

ज्ञानकी उन्नति से संसारकी दशा में प्रतिदिन परिवर्तन होता चला जा रहा था। जो बातें कुछ समय पहले असम्भव ज्ञान पड़ती थीं आज वे सम्भव हो रही हैं। आज से दो सौ वर्ष पूर्व जब संसार में रेल और तार का प्रचार न था, जब हवाई जहाज़ और बेतार की टेलीग्राफी न थी, जब ग्रामोफोन और सिनेमा का आविष्कार न हुआ था तब क्या कोई यह कल्पना भी कर सकता था कि ये सब आश्चर्यजनक बातें एक दिन सम्भव हो जाएँगी? यदि अकबर के समय का कोई मनुष्य आज इस दुनियाँ में आकर देखे तो वह इसे कितना परिवर्तित पायगा। आज जो एनालाइन रङ्ग, नक़ली मक्खन, सस्पेंशन पुल, एक पहिये की रेल-गाड़ी, झूलनी रेलगाड़ी, पनडुब्बियाँ, टारपीडो, रुलानेवाली गैस इत्यादि चीजें हैं उन्हें देखकर वह कैसा चकित होगा! इसी प्रकार आज से से एक सौ वर्ष बाद यदि हमारे इस समय का कोई मनुष्य संसार में मौजूद हो तो उसे भी संसार की परिवर्तित दशा को देखकर दंग रह जाना पड़ेगा। उस समय वह क्या देखेगा कि रोटी पकाने और एञ्जिन चलाने के लिये लकड़ी और कोयला नहीं, प्रत्युत बिजली और भूगर्भताप काम में लाया जाता है, और दूध, घी, अनाज आदि खाद्य पदार्थ पशुओं से नहीं, बरन् रासायनिक प्रयोगों द्वारा प्राप्त किये जा रहे हैं।

विज्ञान के प्रताप से एक नवीन संसार की सृष्टि हो रही है। उस अद्भुत संसार को अनेक बालक देख

सकेंगे। जिस प्रकार हमारे पूर्वज हमारे वर्तमान काल की अवस्थाके विषय में कल्पनाएँ करते रहे होंगे वैसे ही हम भी अपने नाती-पोतोंके समय की वस्तुओं का एक धुँधला मानसिक चित्र खींच सकते हैं।

उस समय बड़ा भारी परिवर्तन दीख पड़ेगा। सन् २०००ई० में आजकल की रेलगाड़ियाँ और मोटरें वैसी ही भद्दी जान पड़ेंगी जैसी कि आजकल पुराने समयों की बैलगाड़ियाँ हैं। रेलगाड़ियाँ उस समय होंगी तो सही; परन्तु वे बिजली की शक्ति से चलेंगी और उनकी गति का वेग इतना प्रचण्ड होगा कि वे कलकत्ते से कराची केवल डेढ़ ही दिन में पहुँच जाया करेंगी। संसार की कलें और मशीनें सब बिजली की ही शक्ति से चलेंगी जिससे धुआँ और दुर्गन्ध बिलकुल न रहेगी। परन्तु रेलगाड़ियों की यह रेंगनेवाली चाल थोड़े ही लोगों को पसन्द आयगी। अधिकतर मुसाफ़िर तो हवा में से दुगनी तिगुनी तेज़ी के साथ उड़कर सफ़र करना पसन्द करेंगे। इनके लिए आकाश-यानों के बड़े बड़े बेड़े होंगे जो पचास पचास मुसाफ़िरों को पेशावर से दिल्ली पहुँचाकर दो ही घंटों में वापस आ जाया करेंगे।

जल्दी घबरा उठनेवाले निर्बल प्रकृतिवाले लोगों के लिए जो विमान में चढ़ने से डरते हैं, और जिन्हें जहाज़ में वमन होने लगता है, समुद्र के नीचे सुरंगें या टनल होंगी। वे रेल में बैठकर ही बम्बई से अदन जा सकेंगे। उन्हें पोत या विमान में चढ़ने की आवश्यकता न होगी। संसार के चारोंओर इन सुरङ्गों की एक लड़ी सी होगी।

उस समय लोग सोना बना सकेंगे। अमरीका के प्रसिद्ध वैज्ञानिक मिस्टर एडीसन कहते हैं कि वह समय अब दूर नहीं जब कि एक धातु का रूपान्तर करके दूसरी धातु बना देना उतना ही सर्वविदित होगा जितना कि आजकल अचार-मुरब्बा बनाने की विधि है। तब कुछ ही घंटों में लोहे की एक शुलाका शुद्ध स्वर्ण की चमकती-दमकती ईंट बन जाया करेगी। सोना उस समय इतना प्रचुर और सुलभ होगा कि सुनहरी पलंग पर सोने, सोने की गाड़ी पर चढ़ने, और कमरे को सोने की सुन्दर वस्तुओं से सजाने के लिए कोई अधिक धन की जरूरत न होगी।

आज से तीन पीढ़ी बाद के लोगों के घरों की वस्तुएँ फ़ौलाद या 'निकलम'—निकल की एक मिलावट—की होंगी। निकलम इतनी हलकी होगी कि उसके बने एक बड़े तख्ते को उठाकर दूसरी जगह रख देना उतना ही सुगम होगा जितना कि एक छोटी कुरसी को उठाकर रखना, और इस पर व्यय भी होगा अब से पाँच गुना कम।

घर का काम भी बहुत कम रह जायगा। सैकड़ों प्रकार की बिजली की ऐसी छोटी छोटी मशीनें होंगी जो घर का सारा काम करेंगी। वे दरवाज़ा खोलेंगी, बर्तन माँजेंगी, खाना पकायँगी और जूता साफ़ करेंगी।

सन् २००० ई० में जो पुस्तकें दिखाई देंगी वे 'निकल' नाम की धातु के पत्रों पर छपेंगी। वे इतने हलके और पतले होंगे कि एक ग्रन्थ-खण्ड में ३०,००० पृष्ठ हो सकेंगे। वे पृष्ठ काग़ज़ की अपेक्षा अधिक लचीले और अधिक टिकाऊ होंगे।

यन्त्रों में इससे भी अधिक भारी क्रान्ति होगी। जितना काम आज बीस यन्त्र कर सकते हैं उतना तब एक ही कर देगा। मिस्टर एडीसन के कथनानुसार "आज से एक शताब्दी पीछे एक ऐसा यन्त्र होगा जिसमें एक ओर हम कपड़ा धागा, बटन इत्यादि चीज़ें डाल देंगे और दूसरी ओर से सिले-सिलाये और तह किये हुए कपड़े निकाल लेंगे!"

बम्बई की जन-संख्या और क्षेत्र-फल अब की अपेक्षा प्रायः दुगुना होगा इसमें आजकल की तरह गाड़ियों की खड़खड़ाहट न सुन पड़ेगी। यह एक निःशब्द नगरी होगी। इसके बाजारों में 'निकलम' के फ़र्श लगे होंगे। ये रबर की अपेक्षा अधिक टिकाऊ, पीछे की ओर उठनेवाले, और निःशब्द होंगे। इनपर बिजली के बल से चलनेवाली गाड़ियाँ चुपचाप दौड़ेंगी। इसका वायु-मण्डल हिमालय की चोटी के समान निर्मल होगा; क्योंकि उसको गन्दा करनेवाला कल-कारखानों और घरों का धुँआ न होगा।

दूसरे पार्श्वों में इससे भी अधिक परिवर्तन दिख पड़ेंगे। उस समय तक विज्ञान को स्त्री को पुरुष, पुरुष को स्त्री, प्रत्युत गधे को गाय बनाने में भी सफलता हो चुकी रहेगी। दिल्ली में बैठा मनुष्य टेलिफ़ोन के द्वारा न्यूयार्क में अपने भाई के साथ बातचीत कर सकेगा प्रत्युत टेलीविियन (Television) के द्वारा वह उस भाई को देख भी सकेगा मानों वह उसके पास ही बैठा हो।

एक बड़ा प्रसिद्ध वैज्ञानिक कहता है कि "गाय, भैंस और भेड़-बकरी आदि जितने भी पशु मनुष्य को खाद्य देते हैं वे सब लुप्त हो जायेंगे। उस समय संसार में न अनाज के खेत होंगे, न गोचरभूमियाँ होंगी, और न कोयले की खानें ही होंगी।

"प्रकृति अपने प्राचीन-कालिक सौन्दर्य से संपन्न होगी। पृथ्वी पर चारों ओर हरियाली, वन और पुष्प ही पुष्प दिखाई देंगे। यह जगत एक सुन्दर वाटिका सा दीख पड़ेगा, जिसमें मनुष्य के उपभोग के लिये सर्व सुखकारी पदार्थों की विपुलता होगी। उस सत्ययुग में कोई भी प्राणी भूख-प्यास से न मरेगा।

"सब मनुष्यों को काम करना पड़ेगा। परन्तु यह प्रेम और प्रसन्नता का परिश्रम होगा; क्योंकि मनुष्य अपने नैतिक, मानसिक और रसज्ञान-सम्बन्धी विकास को जितना उच्च करने का यत्न करेगा उतना ही उसे फल मिलेगा।"

उस समय कोयले और ईंधन की कुछ ज़रूरत न होगी। सब भोजन कृत्रिम रीति से बना करेंगे। खेतों का स्थान प्रयोग-शाला ले लेंगी, जिनमें किसानों के स्थान में काम करनेवाले रसायन-शास्त्री लोग होंगे। विज्ञान प्रकृति का स्थान ले लेगा प्रत्युत उस से बढ़ जायगा। इस समय भी मक्खन और शक्कर आदि कई चीज़ें रसायन-शास्त्र की रीति से नकली बन रही हैं। कोई सत्तर वर्ष हुए मिस्टर बर्थलो (M. Berthelot) नाम के प्रसिद्ध फ्रांसीसी वैज्ञानिक ने अपनी प्रयोगशाला में मेद (fats) तैयार किये थे। ये मेद मनुष्य के भोजन के एक आवश्यक भाग हैं। भोजन के दूसरे आवश्यक भाग कार्बन और शक्कर हैं। सो इनके बनाने की विधि पहले ही निकाली जा चुकी है। किसी दिन प्रयोगशाला में अलब्यूमिनाइड (albuminoids) का तैयार करना भी संभव हो जायगा। बस, फिर मनुष्य के भोजन के लिए जिन जिन पदार्थों का प्रयोजन है वे सब तैयार मिलने लग जायँगे।

इसलिए, अनाज और घास के खेतों, गाय-भैंस और भेड़-बकरी के रहने के स्थान में सहस्रों बड़े बड़े कारख़ाने होंगे, जिनमें रसायन-शास्त्रियों और उनके सहायकों की एक बड़ी सेना मनुष्य के लिए विविध प्रकार के खाद्य तैयार करेगी।

परन्तु इस महान उत्क्रान्ति को पूर्ण करने के लिए ताप और शक्ति का एक नया और अक्षय भण्डार भी होना आवश्यक है। संसार की पत्थर के कोयले की खानें और मिट्टी के तेल के कुएँ एक दिन अवश्य ख़ाली हो जायँगे। जितनी देर साधारण लोग समझते हैं वे उससे बहुत पहले ख़ाली हो जायँगे। अतएव यह परमावश्यक है कि मनुष्य को उनके स्थान में एक ऐसा गोदामघर मिल जाय

जो कभी भी खाली होनेवाला न हो। यह अक्षय भाण्डार पृथ्वी के पेट का ताप है। यह शक्ति का एक ऐसा संचय है जो अनन्त काल तक संसार की आवश्यकताओं को पूरा किये जा सकता है।

इसे भूगर्भस्थ शक्ति को लेने के लिए हमें पृथ्वी को खोदकर कोई तीन मील नीचे जाना पड़ेगा। इस गहराई पर पहुँचकर हमें वह ताप मिल जायगा जो सारे जविन का स्रोत और सारे उद्योग-धन्धों का मूल है। उदाहरणार्थ, इतने गहरे कुएँ की पेंदी पर जो जल होगा उसपर इतना भारी दबाव होगा और उसका ताप इतना ऊँचा होगा कि यह संसार के सभी एञ्जिनों को बहुत साधारण खर्च पर चलाने के लिए पर्याप्त होगा। इसके लगातार टपकाव से पानी भी हमें ऐसा मिलेगा जिसमें रोग-जंतुओं का नाम-निशान तक न होगा।

शक्ति और गरमी का यह संचय ८,००० मील से अधिक व्यास का एक अति विशाल पिघला हुआ मंडल होगा, जिसका ताप इतना ऊँचा होगा कि वह सर्व ज्ञात वस्तुओं को न केवल पिघलाने वरन् उनको भाफ बना देने के लिए भी पर्याप्त होगा। जब हम इस संचय को थपथपा कर काम में ला सकेंगे तब फिर पत्थर के कोयले और मिट्टी के तेल की क्या आवश्यकता रह जायगी। तब तो हमें ताप और बिजली के बल का एक अक्षय भण्डार मिल जायगा।

इस गये-गुज़रे समय में भी ८० वर्ष की आयु प्राप्त करना कोई बहुत मुश्किल नहीं। इस समय सन् १९२२ चल रहा है। यदि कोई आज का बच्चा ७८ या ७९ वर्ष की आयु को पहुँचा तो वह उस नवीन और अद्भुत संसार को अवश्य देख सकेगा। उस समय तक वायना के डाक्टर सटीनच की बूढ़ों को युवा बनाने की विधि के अधिक प्रचार से शायद बुढ़ापे को भी संसार से बोरिया-बिस्तर उठाकर चल देना पड़ेगा।

पर्ण-कुटी।

(लेखक—पण्डित अयोध्यासिंह उपाध्याय)

(अवंगम छन्द)

ऊँचे श्यामल सघन एक पादप तले।
है यह एक कुटीर सित-सुमन-सज्जिता॥
इधर उधर हैं फूल बेलियों में खिले।
वह है महि श्यामायमान छवि-मार्जिता॥१॥

पास खड़े हैं हरे-भरे पादप कई।
परम शान्त है प्रकृति निपट नीरव दिशा॥
व्यापी सी सब ओर कालिमा है नई।
धीरे धीरे आगतप्राया है निशा॥२॥

या नभमण्डल जलद-जाल से है घिरा।
छितितल पर है उसकी छाया पड़ रही॥
प्रात-तिमिर है तरल हो गया तिरमिरा।
या है नभतल विमल नीलिमा झड़ रही॥३॥

हैं न कहीं खग मृग मानव दिखला रहे।
मानों अविचल यहाँ विजनता-राज है॥
हैं अभाव-धारा में ही कृमि-कुल बहे।
रव-सिर पर भी परम-मौनता-ताज है॥४॥

यह किसकी है कुटी कहें कैसे इसे।
किसी व्यथित चित का क्या यह आवास है॥
या यह उस जन की सहेलिका है जिसे।
निर्जन में एकान्तवास की प्यास है॥५॥

परम पापमय इस पापी संसार से।
समधिक आकुल जिसका मानस हो गया॥
बहुत गया जो ऊब अवास्तव प्यार से।
जिसका प्यारा शान्ति-रत्न है खो गया॥६॥

जो अवलोकन कर पाता वह सुख नहीं।
लगी अधमता की है जिसपर कालिमा॥
या हिंसकता-धाराएँ जिसपर बहीं।
या जिसकी है लहू-रंजिता लालिमा॥७॥



पर्णकुटी-दर्शन ।

गिरा अति दुखित जिसका चित दुख-कूपमें
उस दानव की देख नीतियाँ दानवी॥
अवनी-तल पर जिसको मानव-रूप में।
उपजाती है परम पुनीता मानवी॥ ८॥

उतर आँख में जिसकी आता है लहू।
उस पामर की पामरताओं को लखे॥
सब बातों में जो दानव है हूबहू।
किन्तु वेश-वानक वृन्दारक सा रखे॥ ९॥

जग-मदांधता-मायिकता बहु असमता।
अवलोकन कर जिसका जी उकता गया॥
नर-पिशाचता अहमहमिकता अधमता।
देख कलेजा मुँह को जिसका आ गया॥१०॥

विजन विराजित ऐसी किसी कुटी सिवा।
कौन दूसरी शान्ति-विधायिनि है उसे॥
मिली कहाँ वह अति पावन प्यारी हवा।
हों न अपावन-रुचि-रजकण जिसमें बसे॥११॥

केकय-तनया प्रबल-प्रपंचों में पड़े।
कुसुम-सेज जब रघुकुलरंजन की छिनी॥
वन में उनपर दुख जब पड़े बड़े कड़े।
तब कुटी रही रही विराम विधायिनी॥१२॥

देश-प्रेम औ जाति प्रेम-प्रेमिक बने।
विविध यातना जब नृप-पुंगव ने सही॥
जब प्रताप से प्रिय परिजन तक थे तजे।
तब कुटीर ही उनका अवलंबन रही॥ १३॥

निकल आह इसमें से ही प्रलयंकरी।
सौध धवल धामों को देती है जला॥
लोक-लयकरी ज्वाला है इसमें भरी।
इसमें ही दनुवंश-दहन रत-दव दला॥ १४॥

समधिक तेजोमयी महान विनोदिनी।
सहज सुखों की सखी सरलता से भरी॥
बहु-मानव-हित-रता ताप-अपनोदिनी।
कुटी शान्ति की है अति प्यारी सहचरी॥१५॥



पाणिनि तथा तत्कालीन भारत।

(लेखक—पं० बलदेव उपाध्याय, बी० ए०)

व्याकरण का भाषा की उन्नति के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। जंगलों में निवास करनेवाली असभ्य जातियों की भाषाओं के व्याकरण नहीं मिलते। भाषा में आवश्यक साहित्य लिखे जाने पर उसे एक सुव्यवस्थित मार्ग पर लाने के लिए व्याकरण का उपयोग होता है। यह नहीं कहा जाता कि व्याकरण सदा एकसा बना रहता है, उसमें कुछ परिवर्तन नहीं होता। समय की धारा उसमें भी परिवर्तन लाती है। परन्तु साहित्य के प्रत्येक काल में कुछ ऐसे नियम बने रहते हैं जिनका पालन प्रत्येक बोलनेवाला तथा लिखनेवाला किया करता है।

हमारी देववाणी में एक नहीं, अनेक भिन्न भिन्न व्याकरण-सम्प्रदाय हैं; परन्तु इनमें सर्वश्रेष्ठ तथा प्राचीन सम्प्रदाय महर्षि पाणिनि का है। भाषा के इस पारखी ने केवल ४ हजार अल्पाक्षर सूत्रों में लौकिक तथा वैदिक संस्कृत भाषाओं का सुगम, परन्तु पूर्ण, व्याकरण बना डाला है। पाणिनि की अष्टाध्यायी के समान संसार में कोई भी व्याकरण नहीं है। आधुनिक भाषा-विज्ञान-वेत्ता पाणिनि के भाषा-परीक्षण की शक्ति को देखकर आश्चर्य में डूब जाते हैं और इस भारतीय ऋषि की प्रशंसा शत मुख से किया करते हैं। सच तो यह है कि पाणिनि वैयाकरणों में शिरोमणि हैं; भूत तथा वर्तमान काल में इनके टक्कर का व्यापक वैयाकरण न तो था और न विद्यमान है।

इस महर्षि के जीवन-चरित, समय तथा सामाजिक अवस्थाओं का वर्णन, उनके व्याकरण-ग्रन्थ, अष्टाध्यायी, में दीगई संक्षिप्त सामग्री के आधार पर यहाँ किया जाता है।

भारतीय शास्त्रकारों के जीवन-वृत्तान्त भूत के अन्धकारमय गर्त में छिपे हुए हैं। महर्षि पाणिनि की जीवन-घटना उसी प्रकार अज्ञात है। महर्षि ने अपने विषय में कहीं संकेत-मात्र भी नहीं किया है। उत्तरवर्ती आचार्यों ने पाणिनि का जो निर्देश अपने गन्थों में किया है उसीके आधार पर इनकी जीवन-घटनाएँ संकलित की जाती हैं।

पाणिनि की जन्मभूमि प्रायः निश्चित होगई है। महाभाष्यकार पतंजलि तथा "त्रिकाण्डशेष" कोष के रचयिता ने पाणिनि को शालातुरीय लिखा है, जिस से यह सिद्ध होता कि शालातुर नामक स्थान में पाणिनि का जन्म हुआ। प्राचीन शालातुर का पता जनरल कानिंघम ने लगाया है। वे लिखते हैं कि यह शालातुर नामक गाँव आजकल लाहुर नाम से प्रसिद्ध है। सीमांतप्रदेश में पेशावर जिले के भीतर, सिंधु नदी से उत्तर-पश्चिम की ओर, अटक स्टेशन से क़रीब १५ मील की दूरी पर, ओहिन्ड नामक गाँव से उत्तर-पश्चिम के तरफ़ ३॥ मील पर यह नगर वर्तमान है। ज्यों ज्यों समय बीतता गया त्यों त्यों उच्चारण में नवीनता आने से स्थानों के नाम भी धीरे २ बदलते गये। यही शालातुर सालातुर, हलाथुर, हलाहुर के रूपों में होता हुआ अन्त में लाहुर रूप में बदल गया है।

महाभाष्य में महर्षि पतंजलि ने घुसंज्ञा सूत्र (१।१।२८) का व्याख्यान करते समय लिखा है:—

सर्वे सर्वपदादेशाः दाक्षीपुत्रस्य पाणिनेः। पाणिनि दाक्षी के लड़के थे जिससे इनकी माता का नाम दाक्षी होना सिद्ध होता है। परन्तु इनके पिता का क्या नाम था इसका पता महाभाष्य से नहीं लगता। संयोगवश कोशकारों ने पाणिनि के जिन पर्याय-शब्दों का प्रयोग किया है उससे इनके पिता के नाम पर प्रकाश पड़ता है। त्रिकाण्डशेष में लिखा है:—

पाणिनिस्त्वाहिको दाक्षीपुत्रः शालंकिपाणिनौ।
शालातुरीयः × × ।

इन पर्याय-शब्दों में शालङ्कि शब्द मिलता है। इस शब्द की सिद्धि स्वयं पाणिनि ने लिखी है। पैलादि (२।४।५९) गण में 'शालङ्कि' शब्द मिलता है जिसका अर्थ होता है शलङ्कस्यापत्यम्। शलङ्क की सन्तान शलङ्क पुरुष नामवाची शब्द है। इससे इनके पिता का नाम शलङ्क था इस विषय में तनिक भी संदेह नहीं रह जाता।

ऊपर उद्धृत कोश में आहिक भी पाणिनि का पर्याय लिखा है। इससे यही अनुमान होता है कि यह इनका नाम था; परन्तु ये महर्षि इस नाम से प्रसिद्ध न होकर अपने गोत्र-नाम से जगद्विख्यात हुए। पाणिनि इनके गोत्र का नाम था।

महर्षि पाणिनि का बाल्यकाल कैसा बीता, इन्होंने कब और कहाँ पढ़ना-लिखना शुरू किया, कब इन्होंने व्याकरणशास्त्र के आधारस्तम्भ-भूत अष्टाध्यायी की रचना की, इत्यादि प्रश्नों का समुचित उत्तर नहीं दिया जा सकता; परन्तु जो

---

१ केशव कोश में भी लिखा है—सालातुरीयो दाक्षेयः शालङ्किः पाणिनाहिकौ। शिवपर्यायभक्तः ....।

२. पाणिनि गोत्र के ५ प्रवर होते हैं; यथा, भार्गव, च्यावन, आप्नवान, और्व और जामदग्न्य। ये नामसंस्कारत्नमाला में दिये हुए हैं।

जनश्रुति गुणाढ्य-रचित बृहत्कथा के संस्कृतानुवाद क्षेमेन्द्र-कृत बृहत्कथामंजरी तथा सोमदेव-रचित कथासरित्सागर में संरक्षित है उसीके आधार पर इन विषयों पर कुछ प्रकाश डाला जाता है।

जिस समय पाटलिपुत्र में महाराज नन्द राज-सिंहासन की शोभा बढ़ा रहे थे उस समय पाटलिपुत्र विद्वानों तथा कवियों का निकेतन बना हुआ था। पटना की ख्याति भिन्न भिन्न प्रान्तों में फैली थी, दूर देशों से विद्यार्थिगण आकर पाटलिपुत्र के विद्वान आचार्यों के पैर तले बैठ विद्याध्ययन करना अपना सौभाग्य समझते थे। उन्हीं दिनों पटने में शंकरस्वामी के सुपुत्र उपाध्याय उपवर्ष की बड़ी ख्याति थी। उन्हींके सहोदर उपाध्याय वर्ष पहले तो बड़े मूर्ख थे; परन्तु स्वामी कार्तिकेय की असीम कृपा से सम्पूर्ण शास्त्रों में उन्होंने प्रकाण्ड पांडित्य प्राप्त किया। फिर क्या था, दूर दूर प्रान्तों से विद्याभिलाषी ब्राह्मण-युवक व्याकरण का अध्ययन करने के लिए उनके पास आने लगे। उपाध्याय महाशय बड़े प्रेम से उन्हें पढ़ाते थे। पाणिनि भी अपनी प्यारी जन्मभूमि को छोड़ सुदूर पाटलिपुत्र में उपाध्याय वर्ष के यहाँ पढ़ने आये। ये प्रारम्भ में बड़े ही मूर्ख थे। इनके सहपाठी बात-बात में इनपर हँसा करते थे। पाणिनि को उनकी अनादर-पूर्ण हँसी से बड़ी ग्लानि हुई।

पाणिनि पढ़ना-लिखना छोड़ हिमालय में गये। वहाँ कैलासवासी शंकरजी की बड़ी कठिन तपस्या की। जप-तप से कौन देवता प्रसन्न नहीं होते? फिर शंकरजी तो ठहरे आशुतोष। झट प्रसन्न होगये। काशिका से ज्ञात होता है कि शिवजी ने प्रसन्नता-सूचक अपना ताण्डवनृत्य आरम्भ किया; १४ बार अपना डमरू बजाया; बस, महर्षि पाणिनि ने इन्हीं डमरू के शब्दों में सम्पूर्ण व्याकरण के आधारभूत १४ सूत्रों (अइउण इत्यादि) की कल्पना की। व्याकरण में पारंगत होकर उन्होंने व्याकरण रचना आरम्भ किया। पाणिनि ने पटने लौटकर अपने सहपाठियों को जिनमें वररुचि नामक विद्यार्थी विशेष-योग्यता-सम्पन्न था वाद-विवाद के लिए बुलाया। वररुचि के साथ सात दिनों तक शास्त्रार्थ होता रहा; पर तबतक कोई हारता हुआ नहीं दिखाई पड़ा। आठवें दिन पाणिनि का पक्ष गिर गया; वररुचि ने उन्हें हरा डाला। उसी समय आकाश में शिवजी ने हुंकार किया जिसे सुनकर पाणिनि की जीत हुई और प्रतिवादी बिलकुल मूर्ख हो गये।

---

२. गुणाढ्य कवि महाराज हाल (शालिवाहन) के समय में ईस्वी की दूसरी शताब्दी में पैदा हुए थे। हाल की सभा में इनका बड़ा आदर था। इन्होंने पैशाचीभाषा में बृहत्कथा नामक बृहत् ग्रन्थ बनाया था जिसकी प्रशंसा बाण तथा दण्डी ने की है। दुर्भाग्य ने अकाल में ही 'बृहत् कथा' को काल-कवलित कर लिया; परन्तु ईश्वरीय कृपा से इसके संस्कृत में दो अनुवाद प्रस्तुत हैं। इन अनुवाद-ग्रन्थों की रचना ग्यारहवीं सदी में काश्मीर देश में हुई।

३. ये उपवर्ष महाशय दर्शनशास्त्र के प्रकाण्ड पंडित थे। इन्होंने पूर्वमीमांसा तथा ब्रह्मसूत्रों पर वृत्तियाँ बनाई हैं। भगवत्पाद स्वामी शंकराचार्य ने ब्रह्मसूत्र के अपने शारीरकभाष्य में इनकी सम्मति का उल्लेख जगह जगह पर किया है। ३।३।५३ ब्रह्मसूत्र का भाष्य लिखते समय शंकर स्वामी ने लिखा है:—'वृत्तिकारस्तु अन्यथेमं ग्रन्थं वर्णयाञ्चकार' 'इति भगवानुपवर्षः'। शंकराचार्य ने नाम के पहले भगवत् शब्द का प्रयोग किया है जिससे सूचित होता है कि उनके हृदय में उपवर्ष के लिए महान् आदर था।

अथाष्टमे दिने तेन पाणिनौ निर्जिते सति।
नभःस्थमहाघोरं हुं करोतिस्म शंकरः॥७७॥
श्रुत्वा शंकरहुंकारं ततः पाणिनिना जितम्।
मूर्खत्वं वररुच्याद्याः प्रापुश्चः प्रतिवादिनः॥७८॥

—अयद्रथस्य हरचरितचिन्तामणौ

उपरि-लिखित घटना का कोई और शास्त्रीय प्रमाण नहीं है। केवल जनश्रुतिही इसका आधार है। प्राचीन काल से पाटलिपुत्र विद्या तथा कला के लिए प्रसिद्ध था। यह बहुत सम्भव है कि पाणिनि की शिक्षा यहीं हुई हो; परन्तु वररुचि के साथ शास्त्रार्थ की बात इतिहास के पर्यालोचन से सिद्ध नहीं होती। ये वे ही वररुचि हैं जिनका प्रसिद्ध नाम कात्यायन था और जिन्होंने पाणिनि के पीछे उनके सूत्रों पर वार्तिक बनाये। वार्तिकों में संरक्षित भौगोलिक तथा ऐतिहासिक सामग्री के आधार पर यह समुचित रीति से कहा जा सकता है कि पाणिनि के कई सौ वर्ष पीछे वररुचि पैदा हुए थे।* "नाऽमूला जनश्रुतिः"। जनश्रुति में सत्यता के बीज छिपे रहते हैं; अतः ऊपर लिखी घटना बिल्कुल सच्ची न भी मानी जाय, परन्तु इतना इससे अवश्य ज्ञात होता है कि पाणिनि बाल्यावस्था में बड़े मूर्ख थे। सतत परिश्रम करने पर, दैवी आराधना की सहायता से, वे इतने विद्वान् बन गये। तक्षशिला बहुत काल से ही विज्ञान तथा कला का केन्द्र था। पाणिनि की जन्मभूमि भी इसके समीप थी; अतः प्रचण्ड पंडितों की सम्मति है तथा अनुमान की प्रबलता इसी ओर अधिक है कि पाणिनि की शिक्षा तक्षशिला-विश्वविद्यालय में हुई थी।

शिक्षा के अनन्तर पाणिनि का गार्हस्थ्य जीवन कैसा था; इनके जीवन में कोई विशेष घटना घटित हुई या नहीं; इन्हें अपत्य का मुख देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ या नहीं— इन प्रश्नों का समुचित उत्तर देना नितान्त कठिन है।

इनकी मृत्यु के विषय में पंडितों में यह जनश्रुति प्रसिद्ध है कि पाणिनि से पराजित होने पर कात्यायन ने भी शिव की कठोर तपस्या की, जिससे भगवान् शंकर अत्यन्त तुष्ट हुए। वरदान का वचन मिलने पर कात्यायन ने कहा कि मैं भी एक व्याकरण बनाकर पाणिनि को परास्त करना चाहता हूँ। शंकर ने उत्तर दिया कि पाणिनि को पहले वरदान मिल चुका है; अतः तुम उसे परास्त नहीं कर सकते। हाँ, उसके सूत्रों पर वार्तिक लिखकर उसकी कमी की पूर्ति भले ही कर सकते हो। तदनुसार कात्यायन ने वार्तिकों की रचना की। पाणिनि को जब इस घटना की सूचना मिली, तो उन्होंने शिवजी के वरदान की बात न जानते हुए कात्यायन को शाप दे डाला। कात्यायन ने भी पाणिनि को शाप दिया कि तुम्हारे प्राण शीघ्रही निकल जायँ। त्रयोदशी तिथि थी। महर्षि पाणिनि सायंकाल को जंगल से होकर जा रहे थे कि गर्जते हुए बाघ ने उनका काम तमाम कर डाला। अतएव उसी घटना की स्मृति में आजकल भी व्याकरण के लिए त्रयोदशी का दिन अनध्याय माना जाता है। नैपाल आदि स्थानों में विद्यार्थि-गण त्रयोदशी को मौनावलम्बन करते हैं। यह जनश्रुति अत्यन्त प्राचीन है। इसकी सूचना इस बात से मिलती है कि पंचतंत्र में [जो छठवीं शताब्दि में विद्यमान था] इस घटना की चर्चा पाई जाती है:—

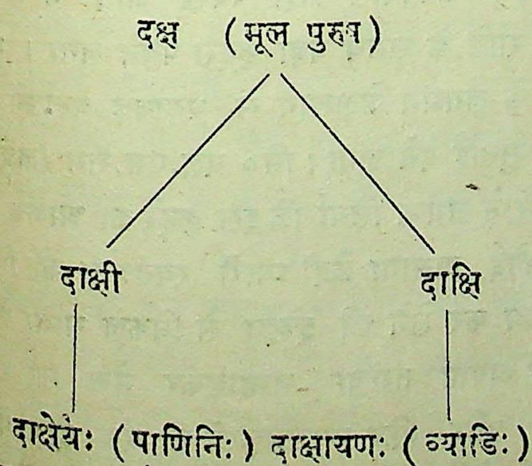
> सिंहो व्याकरणस्य कर्तुरहरत् प्राणान्प्रियान् पाणिनेः
> मीमांसाकृतमुन्ममाथ सहसा हस्ती मुनिं जैमिनिम्।
> छन्दोज्ञाननिधिं जघान मकरो वेलातटे पिंगलं
> ह्यज्ञानावृतचेतसामतिरुषां कोऽर्थः तिरश्चां गुणैः॥

व्याकरणशास्त्र के कर्ता पाणिनि के प्राणों को सिंह ने ले डाला, मीमांसाकार जैमिनि हाथी के

* पाणिनि तथा कात्यायन के भिन्न काल होने के पूरे प्रमाण पाणिनि के समय-निरूपण में दिये गये हैं।

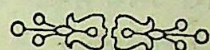
शिकार हुए; छन्दःशास्त्र के प्रवर्तक पिंगल को मकर ने मार डाला। अज्ञानी क्रोधी पशु-पक्षियों में गुण होने से क्या लाभ ? सम्भव है कि इस जन-श्रुति में कुछ सच्ची बातें हों। बहुत सम्भव है कि जंगल में ऋषि-जीवन व्यतीत करने-वाले तथा अपने शास्त्र में तन्मय होनेवाले पाणिनि को किसी हिंस्र पशु ने मार डाला हो।

पाणिनि के परिवार के विषय में कुछ भी शास्त्रीय प्रमाण नहीं है। इनके एक दूर-संबन्धी के विषय में पतंजलि के वाक्य से कुछ जाना जाता है। महाभाष्य में लिखा है:—शोभना खलु दाक्षायणस्य संग्रहस्य कृतिः" अर्थात् दाक्षायण का बनाया संग्रह नामक ग्रंथ बहुतही सुन्दर है। यह संग्रह-ग्रंथ एक लक्ष श्लोकों का था जिसे व्याडि ने पाणिनीय व्याकरण के विषय में बनाया था। उप-र्युक्त वाक्य से ज्ञात होता है कि व्याडि दाक्षायण अर्थात् दाक्षि के पुत्र थे। यह निश्चित ही है कि पाणिनि दाक्षी के पुत्र थे (सर्वे सर्वपदादेशा दाक्षी-पुत्रस्य पाणिनेः—भाष्य) अतः ये दोनों आपस में संबन्धी ठहरते हैं। इनका वंश-वृक्ष इस प्रकार हो सकता है:—



१ "सालातुरीयः दाक्षेयः" — केशवः।

इससे यह ज्ञात होता है कि व्याडि पाणिनि के मामा के बेटे ठहरते हैं। यह अनुमान केवल उपर्युक्त भाष्यकार के वचन के आधार पर किया है। पं० शिवदत्त शास्त्री ने नवाह्निक भाष्य की भूमिका में यही बात मानी है कि पाणिनि व्याडि के फुफेरे भाई थे। इसके अतिरिक्त इनके परिवार के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं है।



भाग्य-विडम्बना।

(लेखक—राय साहब पं० रघुवरप्रसाद द्विवेदी, बी० ए०)

(१)

एक दिन अमृतसर जिले के एक गाँव का अर्जु-नसिंह नामक एक तरुण सिक्ख मेट्रिक परीक्षा पास करके नौकरी की खोज में अमृतसर नगर को आया था। ऐसे हृष्टपुष्ट पढ़े-लिखे युवक को, जिसके कुटुम्ब में पीढ़ी दर पीढ़ी बड़े बड़े नामी जंगी सरदार होते आये थे, अच्छी नौकरी मिल जाना कोई कठिन बात न थी। अर्जुनसिंह पलटन की नौ-करी नहीं चाहता था; उसे पुलिस की अफ़सरी पसन्द थी। उन दिनों में हाँगकाँग-पुलिस के लिए नौजवान सिक्ख भरती किये जा रहे थे; इसलिए अर्जुनसिंह को पुलिस की जमादारी मिल गई और वह कल-कत्ते पर से हाँगकाँग भेज दिया गया।

आज अर्जुनसिंह ५ वर्षों से हाँगकाँग-पुलिस का एक अफ़सर है और अब वह तरक्की पाते पाते इन्स्पेक्टर के पद तक पहुँचा है। अर्जुनसिंह को शीघ्रही धनवान होकर पंजाब लौट जाने की बड़ी इच्छा है; पर इस तरह नौकरी करते करते उस इच्छा के पूरे होने की आशा उसे नहीं है। वह

चरित्रवान नहीं है; इसलिए धन-प्राप्ति में धर्म्म-अधर्म का ख़याल कम है। धर्म को वह निरा दंभ समझता है। जिस स्थान में वह तैनात है उसमें चीनी लोगों के एक विशेष सम्प्रदाय का एक विशाल मंदिर है जिसमें एक मूर्ति स्थापित है। इस मूर्ति के शरीर पर लाखों रुपयों के आभूषण हैं जिनमेंसे कई लाख का एक हीरा उसके मुकुट की शोभा बढ़ा रहा है। एक दिन अर्जुनसिंह को सरकारी-कार्य्य-वश इस मंदिर में जाना पड़ा। उसकी दृष्टि ज्योंही उस देदीप्यमान रत्न पर पड़ी त्योंही उसके हृदय पर लोभ ने अपना पूर्ण अधिकार जमा लिया। उस दिन से यह सिक्ख दिन-रात इसी चिन्ता में पड़ा रहने लगा कि किस तरह उस हीरे को लेकर मैं क्षण भर में एक लखपती बन जाऊँ और अपनी जन्मभूमि में आनन्दपूर्व्वक रहने और बड़े बड़े काम करने लगूँ जिसमें मेरी सम्पत्ति दिनोंदिन बढ़ती जाने से मैं किसी दिन एक करोड़पति धनकुबेर समझा जाने लगूँ।

बस, अब तो अर्जुनसिंह इस लोभरूपी गोरख-धंधे में ऐसा पड़ गया कि उससे अपने कार्य में भी त्रुटि होने लगी। निदान उसने उस मन्दिर में सेंध लगाकर उस हीरे को ले भागने की ठान ली। उसने नौकरी से १ वर्ष की छुट्टी भी ले ली और एक जहाज-द्वारा अमेरिका भाग जाने के लिए टिकट भी ले रक्खा। इसके सिवा, उसने मन्दिर के रक्षकों के साथ घनिष्ठ मैत्री कर ली और आधी आधी रात तक उनके पास बैठने लगा। इस तरह उसे उस मन्दिर का रत्ती रत्ती हाल मालूम हो गया। जिस रात को जहाज़ छूटनेवाला था वह मन्दिर को गया और रक्षकों से कहा कि मैं शीघ्रही स्वदेश जाने वाला हूँ; इसलिए आज आप लोगों को खिलाना-पिलाना चाहता हूँ। उन लोगों ने उस का निमंत्रण सहर्ष स्वीकार कर लिया। रात्रि के ९ बजे वह अपने नौकरों के सिर पर तरह तरह के खाद्य पदार्थ रखवाकर मन्दिर में गया और वे सब मिलकर भोजन करने लगे। खाते-खाते मन्दिर के सभी रक्षकों को बड़ी नींद सी आने लगी जिससे वे बैठेही बैठे अचेत होगये। अर्जुनसिंह जानता था कि प्रातःकाल जब इन्हें चेत होगा तब तक मैं समुद्र में सैकड़ों मील दूर पहुँच जाऊँगा और यदि इन्हें मेरा सन्देह भी होगा तो ये यही समझेंगे कि मैं हिन्दुस्थान गया हूँ और वहीं मेरा पता लगाया जायगा। इतने दिन चीन में रहकर भी उसे चीनियों की बुद्धि का पता न लगा! निदान वह उस हीरे को लेकर चलता बना।

कई दिनों की समुद्र-यात्रा के बाद अर्जुनसिंह जो अब लाला लक्ष्मणराम कहा जाने लगा था फ्रिस्को नामक नगर में जा उतरा और समीप के एक मैदान में रहने लगा। इसी मैदान में उस प्रान्त का एक बड़ा जेलखाना था जिसमें बड़े बड़े अपराध करनेवाले क़ैदी रक्खे जाते थे। एक दिन रात्रि के समय बड़ा कुहरा पड़ने लगा। १० बजे के लगभग जेलखाने से धड़ाधड़ बन्दूक़ों का शब्द सुनाई देने लगा। मि० एल.एम.राम (लक्ष्मणराम) ने समझ लिया कि इस कुहरे का आश्रय पा कर कोई अभागा क़ैदी प्यारी स्वतंत्रता को फिर से प्राप्त कर लेने की इच्छा से निकल भागा है। उसने अपना तमंचा सम्हालकर मेज पर रख दिया और फिर आरामकुर्सी का एक हाथ पेंच खोलकर किनारे रख दिया। फिर उसने कुर्सी के एक पाये में के बनाये हुए छेद से एक डिब्बी निकाली

और उसके भीतर की रुई अलग करके एक गोल गोल वस्तु अपनी हथेली पर रक्खी जिसमें से चकाचौंध लगानेवाले प्रकाश की किरणें चारों ओर फैलने लगीं। मि० राम खिड़की की ओर पीठ किये अपने अमूल्य हीरे की ओर सतृष्ण नेत्रों से देख रहे थे। वे सोचते थे कि अब यह अद्वितीय रत्न न जाने किस राजा के मुकुट की या किस सुन्दरी के चन्द्रवदन की शोभा बढ़ावेगा। दूसरे ही दिन आप यूरोप की यात्रा करनेवाले थे। आपको मालूम हुआ था कि हालेंड के अमस्टरडाम नगर को गये बिना इस हीरे के पूरे पूरे दाम हाथ न लगेंगे। इसके सिवा वहाँ के कुछ जौहरी इसी प्रकार का चोरी का माल आसानी से बेच दिया करते थे, और किसी को पता नहीं लगने पाता था। वे ऐसे हीरों का रूप ऐसा बदल डालते हैं कि उनकी पहिचान करना असम्भव हो जाता है। साथ ही, आप अब अपनेको भारत का एक राजकुमार प्रसिद्ध करना चाहते थे। अर्जुनसिंह उर्फ़ मि० एल०एम० राम तो टकटकी लगाकर उस हीरे की ओर देख रहे थे; पर उस खिड़की से एक लम्बी चोटी, और तिरछी आँखों वाला व्यक्ति इनकी सब कृतियों को ध्यानपूर्वक देख रहा था। निदान जब आपने उसी प्रकार सावधानी से हीरा मेज के पाये में छिपाकर पीठ फेरनी चाही तो वह ताकनेवाला जीव भी उस कुहर के अंधकार में विलीन होगया।

(२)

अर्जुनसिंह उस आराम-कुर्सी पर बैठे ही थे कि बाहर से किसीने ज़ोर से द्वार खटखटाया। आप तमंचा उठाकर द्वार की ओर चले तो बाहर से शब्द आया कि सरकार के नाम से द्वार जल्द खोलो। किवाड़ खोलने पर कई वार्डर भीतर घुस आये और चारोंओर दृष्टि फेंककर उनके अफ़सर ने अर्जुनसिंह को खूंखार क़ैदी के भाग जाने और इसी तरफ़ आने का समाचार सुनाया और आपको सावधान रहने और तमंचा बग़ल में रखने को कहा। इसके बाद वे क्षमा-प्रार्थना करके चले गये।

अर्जुनसिंह मनही मन सोचने लगे कि कहीं मेरी चोरी का पता लग जाय तो मुझे भी इसी तरह जेल की हवा खानी पड़े; पर अब इसका डर नहीं रहा। हाँ, उस मन्दिर के चीनी यदि पता पा जायँ तो मुझे जीते जी न छोड़ें; क्योंकि वे मुझे अपने देवता का अपमान करनेवाला समझते होंगे और आश्चर्य्य नहीं कि उनके दूत अमृतसर पहुँचे भी हों और मुझे ढूँढ़ रहे हों। ये भयंकर जीव जिस बात को अपना धार्मिक कर्त्तव्य समझते हैं उसे पूरा करने के लिए जी-जान से लग जाते हैं। कुछ भी हो, इनसे सावधान रहने में ही भलाई है। आप ऐसा सोचही रहे थे कि किसीने फिर धीरे धीरे किवाड़ खटखटाना शुरू किया। अकस्मात् आपके मन में आया कि यह वही अभागा क़ैदी तो न हो। तमंचा हाथ में लेकर आपने धीरे से दरवाज़ा खोल दिया तो देखते क्या हैं कि आपका अनुमान ठीक उतरा है। जेल के कपड़े पहिने एक गोरा आदमी सामने खड़ा है और घर में थोड़ी देर विश्राम करने की आपसे भिक्षा माँग रहा है।

अर्जुनसिंह ने कहा—अच्छा, आओ, पर हाथ ऊपर उठाये रहो। फिर आपने उसकी तलाशी ली और उसके पास हथियार न निकलने से निश्चिंत हो बैठने को कहा और उसके

साम्हने मेज पर खाने-पीने की सब सामग्री रख दी। इसे देख वह धन्यवाद देता हुआ भूखे बाघ के समान उसपर टूटा और सबका सब उदरार्पण कर सभ्यतापूर्वक अर्जुनसिंह को धन्यवाद देने लगा।

क़ैदी—महाशय, आपने मेरे ऊपर जो उपकार किया है उसे मैं कदापि नहीं भूलूँगा। यदि कुछ घंटों पहले मुझे खाने-पीने को मिला होता तो मैं अभी तक इन दुष्ट वार्डरों की चुंगल से निकल भागता; पर मारे भूख-प्यास और थकावट के मैं अधीर हो आपके द्वार पर आया था। मैंने समझा था कि अब फिर पकड़े जाने में संदेह नहीं; पर होता वही है जो भाग्य में लिखा रहता है। चाहे आप मुझपर दया करें और चाहे जाने दें; पर यदि भाग्य में क़ैद रहना बदा है तो मैं नहीं बचने का; अवश्य पकड़ा जाऊँगा। क्या आपको भाग्य का विश्वास है?

अर्जुनसिंह—मैं एशियाई हूँ, मेरे धर्म में भाग्य एक प्रधान सिद्धान्त है; पर तुम यूरोपीय ईसाई होकर भाग्य में विश्वास कैसे करने लगे?

क़ैदी—अपने अनुभव से। यदि आप मेरी राम-कहानी सुनें तो अवश्य ही आपका विश्वास और दृढ़ हो जाय। क्या सुनेंगे?

अ० सिं०—अच्छा कहो।

क़ैदी—सुनिए, मैं अपने पिता की मृत्यु के तीन माह बाद पैदा हुआ और तीसरे ही दिन मेरी माता मुझे छोड़कर चल बसी। एक दूसरी ही देवी ने मेरे साथ माता का सा उपकार किया और मुझे पढ़ा-लिखाकर बड़ा किया। मैं उन्हें अपनी माता से भी बढ़कर मानता और सोचा करता था कि पुत्र से भी बढ़कर इनकी सेवा करूँगा। एक दिन मेरी धर्म्म-जननी ने मुझे एक अत्यन्त गोपनीय कार्य्य के लिए किसी दूसरे स्थान को भेजा। मैं वह कार्य्य करके ५ बजे प्रातःकाल लौटा और चुपचाप अपनी कोठरी में जाकर सो गया। दो-तीन घंटों के बाद बड़ा कोलाहल मचा। मैंने देखा कि मेरी माता के शयनागार में कई लोग घुसे हैं और एक नौकरनी चीख़ मार मार कर रो रही है। मेरी माँ को कई घाव लगे हैं और उसके कपड़े ख़ून से तरबतर हैं। डाक्टर का कहना है कि पहर रात गये किसीने उसकी हत्या की है और इस तरह उसे मेरे कई घंटे बीत चुके हैं। निदान पुलिस ने मुझे ही पकड़ा, और मुझे आजन्म कारावास का दंड भी दिया गया। यदि मैं बतला देता कि माता की आज्ञा से ही मैं अमुक कार्य्य के लिए अन्यत्र गया था और प्रातःकाल से कुछ ही पहले घर आया हूँ तो मैं बेलाग बच जाता, क्योंकि रात भर बाहर रहने के कई सबूत मेरे पास थे; पर सफ़ाई देने में मुझे अपनी धर्म्म—माता की गुप्त बातें प्रकट करनी पड़तीं जो मैं नहीं करना चाहता था; क्योंकि यदि अपने प्राणों के लालच से उसका सब भेद खोल देता

तो यह बड़ी कृतघ्नता होती। अब आपही कहिए कि मैं निरपराध इतना दंड क्यों भोग रहा हूं? यदि भाग्य नहीं है तो यह है क्या?

उसकी बातें सुनने से अर्जुनसिंह को पूरा पूरा विश्वास हो गया कि इस अभागे ने जो कहा है वह सत्य है। उसने उसे अपने पुराने कपड़े देकर ऊपर अपनेही विस्तर पर सोने के लिए आज्ञा दे दी। अर्जुनसिंह नीचे ही सोया। प्रातःकाल होने के कुछ पूर्व्व वह क़ैदी भागने के लिए नीचे उतरा। कोठे में जाते ही उसने चीख मारी। इसका कारण यह था कि अर्जुनसिंह की छाती में एक बड़ी छुरी भोंकी हुई थी और वह मरा पड़ा था। क़ैदी की चीख सुनकर घर के पास जो वार्डर लोग उसकी खोज में फिर रहे थे चौंककर खड़े हो गये और फिर उन्हों ने द्वार खोलने के लिए कहा। क़ैदी ने जाकर द्वार खोल दिया; पर वह इतना घबरा गया था कि अर्जुनसिंह की छाती से उसने जो छूरी निकाली उसे वह हाथ में ही लिये था। यह देख सबको विश्वास हो गया कि यह काम इसी भयंकर हत्यारे का है। पुलिसवाले उसे पकड़कर ले गये। मजिस्ट्रेट ने जब उससे प्रश्न किया कि तुझे अपनी सफ़ाई में कुछ कहना तो नहीं है तो उसने केवल "भाग्य" कहकर मौन धारण किया। वह समझ गया था कि सफ़ाई देने से मेरा विश्वास तो कोई करेगा ही नहीं; इसलिए चुप रहना ही ठीक है। अब उसे भाग्य के प्रबल होने में और भी अधिक विश्वास होगया।

इस तरह यह निरपराध क़ैदी तो फाँसी पर चढ़ाया गया और वह सच्चा अपराधी चीनी जिसने अर्जुनसिंह के पेट में छुरी भोंककर उसके प्राण लिये थे हीरा लेकर चम्पत हुआ।

वसन्त की विभीषिका।

(लेखक—पं० माधवप्रसाद शर्मा)

(१)

हे वसन्त! तव शुभागमन में सजा प्रकृति ने सुन्दर साज।
मण्डित है मृदु मञ्जरियों की माला तरु-कण्ठों में आज॥
कुसुम-रत्न कानन-किरीट में सुललित रङ्ग-विरङ्ग जड़े।
मानो नील गगन में अगणित इन्द्रचाप के खण्ड पड़े॥

(२)

किन्तु सखे! कुसमय में आकर भारत का मन भङ्ग किया।
यों करुणा-शृंगार-मिलन का अति प्रतिकूल प्रसङ्ग किया॥
तेरे ये सब राग-रङ्ग-मय नैसर्गिक नव मञ्जुल साज।
नहीं आज हमको कुछ भाते, हे सौंदर्य-सदन ऋतुराज!

(३)

प्राण-वल्लभा स्वतन्त्रता से विरहित हो भारत ने आज।
कृश तनु भिक्षुक-भेष लिया है त्याग विपुल वैभव का राज॥
लख वसन्त-विधु उदित भवोदधि यद्यपि मुदित उछलता है।
किन्तु हिन्द-हरेश भयङ्कर ग्रीष्म-ताप से जलता है॥

(४)

सौरभहीन खिले किंशुक के अरुण कुसुम जो कानन में।
क्या ये पूर्व पाप के छाले फूट पड़े भारत-तन में॥
किम्वा हैं बूँदें शोणित की वहीं हिन्द में जो गत वर्ष।
हृदय विदीर्ण हुआ जाता है हाय स्मरणकर वह अपकर्ष॥

(५)

क्या ये महीरुहों पर मण्डित मञ्जुल मृदु मञ्जरियाँ हैं।
किम्वा विरही-वक्ष-विदारक विष की बुझीं बरछियाँ हैं॥
विटप-डालियों पर अरुणारे फल जो लगे अनारों के।
तपा रहे वे तन को मानो गोले हैं अंगारों के॥

(६)

कोकिल-कुल कानन-कुञ्जों में भरते हैं क्या मधुरालाप।
किम्वा प्रतिध्वनित होता है हाय! हमारा करुण-विलाप॥
गा गा मोहन गीत मोद से ये मधुकर मधुमत्त महा।
स्वत्वहीन अवलोक हमें क्या उपालम्भ दे रहे अहा!

(७)

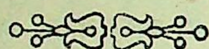
हुई प्रवाहित मन्द मन्द क्या मञ्जु मलय-मारुत-लहरी।
शोक-विदग्धा भारत मा ने अथवा ठण्डी साँस भरी॥
किम्वा मनस्ताप-वाड़व की हृदय-सिन्धु में उठीं हिलोर।
स्वतन्त्रते! अब सहा न जाता तेरा विरह-ताप अति घोर॥

(८)

रे कन्दर्प ! चलाना सम्प्रति खूब सँभलकर बाण कराल !
कर ले याद किया था कैसा शंकर ने शठ ! तेरा हाल ॥
आज जितेन्द्रिय भारत ने फिर से अतीत-वैराग लिया ।
कर्म-क्षेत्र पर उतर धर्म्म-हित राग-रङ्ग का त्याग किया ॥

(९)

हे मुकुन्द ! आनन्द-कन्द ! जब लौं भारत स्वच्छन्द न हो ।
दानव-दल-पद-दलित-देश का करुणा-क्रन्दन बन्द न हो ॥
अम्बर-चुम्बित-विजय-केतु-दिनकर से दीप्त दिगन्त न हो ।
विभव-हीन इस वसुधा पर तब लौं वीभत्स वसन्त न हो ॥



राष्ट्रीय दृष्टि से हिन्दी और मुसलमानों का सम्बन्ध ।

(लेखक—श्रीयुत ग्रहरबख्श)

भारत और देशों से दो बातों में बहुतही बढ़ा-चढ़ा है । वे हैं—अनेक प्रकार के धर्मों और सम्प्रदायों तथा भाषा और लिपियों का आधिक्य । यह भारत का दुर्भाग्य ही है । इन मत-मतान्तरों और भाषा तथा लिपियों ने इस देश का अकथनीय अनिष्ट किया है । धर्म-विभिन्नता से उतनी हानियाँ नहीं हुईं जितनी कि भाषा और लिपियों के आधिक्य से हुई हैं । भारत में मुख्यतया हिन्दी, उर्दू, गुरुमुखी, बँगला, मराठी, गुजराती और आन्ध्र प्रभृति भाषाएँ ही प्रचलित हैं । इनके आधिक्य का परिणाम यह हुआ है कि हम लोगों के हृदय बहुतही संकुचित हो गये तथा प्रान्तीयता के अभिमान से भर गये हैं । सभी अपनी अपनी भाषा और लिपि के रंग में रँग रहे हैं; कोई किसीकी बात को सुनना तक नहीं चाहता, मानना तो दूर है । एक प्रांत का वासी दूसरे प्रांतवाले के साथ प्रेम, सहानुभूति आदि जानता ही नहीं । हमारे देश तथा जाति में स्वार्थ की सत्ता सीमा समाप्त कर चुकी, यही हमारी वर्तमान अधोगति का मुख्य कारण है । ऐसे प्रबल प्रसंग में एक लिपि और एक भाषा के बिना हमारे देश तथा जाति का कल्याण नहीं हो सकता । बिना एक भाषा तथा लिपि का सहारा लिये कोई राष्ट्र, राष्ट्र कहलाने का दावा नहीं कर सकता । इसलिए उचित है कि हमारे देश में एक लिपि और एक भाषा के प्रचार का प्रचंड आन्दोलन आरंभ किया जाय ।

अच्छा, तो वह कौनसी भाषा और लिपि है जो इस पवित्र कार्य के उपयुक्त हो ? बँगला, गुजराती, आन्ध्र, गुरुमुखी तथा मराठी आदि प्रांत-विशेष की भाषाएँ हैं । उन्हें देश के थोड़ेही आदमी बोलते हैं; इसलिए वे हमारे इस विशाल देश को लाभदायक हैं ही नहीं । यह बात स्वयं उन भाषाओं के बोलनेवालों ने स्वीकार कर ली है । आंध्र भाषा तथा लिपि को छोड़ शेष सब भाषाएँ तथा लिपियाँ हिन्दी से बहुत घनिष्ठ संबंध रखती हैं । मराठी भाषा तो देवनागरी लिपि में ही लिखी जाती है । अब रह गई हिन्दी और उर्दू । उर्दू और हिन्दी का क्या संबंध है—इसे बहुत से लेखक तथा मैं भी कई बार लिख चुका हूँ; बार बार उसका पिष्टपेषण करना अरोचक जान पड़ता है । तो भी इतना जरूर कहूँगा कि हिन्दी की चाल सीधी और उर्दू की उल्टी है । यदि वह उलटी चाल छोड़ दे तो फिर दोनों एक ही हैं । रही लिपि की बात, सो उर्दू लिपि का व्यवहार करनेवाली जनता बहुत थोड़ी है । हिन्दी [देवनागरी] लिपि बहुत अधिकता से प्रचलित है । हिन्दुस्थान की एक-तिहाई जनता हिन्दी भाषा बोलती है । राष्ट्र-भाषा और राष्ट्र-लिपि वही हो सकती है जिसका प्रचार देश में अधिकतर हो तथा जो सीखने में भी सरल हो । हिन्दी इन गुणों में सर्वश्रेष्ठ है; अतएव वह राष्ट्र-भाषा और राष्ट्र-लिपि के पवित्र आसन पर बैठने के सर्वथा योग्य है । इसे उत्तर से दक्षिण और पूर्व से पश्चिम तक सभी

ने मान लिया है। यह बात इस देशवाले ही नहीं विदेशी तक स्वीकार करते हैं। विदुषी श्रीमती एनी बिसेंट कहती हैं, "भारत की जितनी प्रान्तीय भाषाएँ हैं उनमें हिन्दी के ही समझनेवाले अधिक हैं। हिन्दी जाननेवाला भारत के एक छोर से दूसरे छोर तक चला जाय, उसे सब जगह हिन्दी बोलनेवाले मिलेंगे। उत्तर भारत तो हिन्दी का ही घर है। जो हिन्दी नहीं बोलते वे हिन्दी से ही मिलती-जुलती भाषाएँ बोलते हैं, जिससे उन्हें हिन्दी सीखने में कुछ बाधा नहीं होती।" भारतवासी ही क्यों, यूरोपियन, अरब, अफ़ग़ान और चीनी जैसे विदेशी तक हिन्दी को किस प्रकार सीख लेते हैं—यह सभी जानते हैं। यदि भारत में कोई जाति हिन्दी की श्रेष्ठता स्वीकार करने में हिचकती है तो वह मुसलमान जाति ही है। यह बड़े अफ़सोस की बात है।

हमारे पूर्वजों (मुसलमानों) ने हिन्दी की श्रेष्ठता को समझ लिया था; इसीलिए वे उसपर प्रेम भी करते थे। उसे उन्होंने अपनी घरू बोली बना लिया था। मुसलमान शासकों ने हिन्दी को सिक्कों पर स्थान दिया था। उनके समय में राज्य के दफ़्तर हिन्दी में ही थे। क़ाज़ी लोग न्याय के फ़ैसले हिन्दी में ही लिखते थे। बादशाहों के दरबारों में हिन्दी के नामी नामी कवि रहते थे। यही नहीं, वे उनसे अपनी हिन्दी-कविता के बल पर पुरस्कार और मान भी पाते थे। कितनेही मुसलमान बादशाहों तथा अमीर-उमरावों ने तो स्वयं भी हिन्दी में कविता की थी। ख़ानख़ाना अब्दुर्रहीम (रहीम कवि) तो हिन्दी के महाकवि माने जाते हैं। सच तो यह है कि जैसी हिन्दी-सेवा मुसलमानों के द्वारा हुई है वैसी कदाचित् हिन्दू शासकों से भी न बन पड़ी होगी। हिन्दी और मुसलमानों का बहुत पुराना संबंध है। वे तो हिन्दी के पुत्र ही हैं। यद्यपि आज बंगालियों, महाराष्ट्रों और गुजरातियों आदि ने हिन्दी को राष्ट्रभाषा मान लिया है सही, पर इससे यह सूचित नहीं होता कि वे हिन्दी के सुपुत्र हो गये या उन्होंने हिन्दी-सेवा कर ली। सच पूछो तो अकबर के समय तक मुसलमानों ने ही हिन्दी को राष्ट्र-भाषा का पद दिया था। अकबर के काल में एक हिन्दू-द्वारा ही हिन्दी की हत्या हुई थी; यद्यपि ऐसा करने में उसकी राजनीतिक पालिसी थी। अन्य प्रान्तवालों की अपेक्षा मुसलमान आज भी हिन्दी को अधिकतया अपनाये हुए हैं; परन्तु खेद है कि अब हिन्दी के प्रति पूर्व के समान शुद्ध श्रद्धा नहीं रही। उन्हें उत्साह और गर्व होना चाहिए कि हिन्दुओं के बाद हमींने हिन्दी को अपनाया और राष्ट्र-भाषा होने में सहायता दी। ख़ैर। अब भी कुछ नहीं गया।

यद्यपि राजा टोडरमल के द्वारा अकबर के आधिपत्य में हिन्दी की हत्या हुई सही, पर उसके साहित्य ने उन्नति अवश्य की। मुसलमान हिन्दी से बराबर स्नेह रखते थे। हिन्दू मुसलमान दोनों ही प्रेम से उसका उपयोग करते थे। हाँ, पात्रों के अनुसार मुसलमान उर्दू-शब्दों का और हिन्दू संस्कृत-शब्दों का अधिकता से प्रयोग करते थे और इस समय भी करते हैं। इस समय तक क़ाज़ी लोग न्याय के फ़ैसले हिन्दी में लिखते थे। परंतु धर्म के कट्टर भक्त औरंगज़ेब को यह बात पसंद न आई। उन्होंने यह प्रथा एकदम बंदकर उर्दू में ही फ़ैसला लिखे जाने की आज्ञा दी। कदाचित् इसी समय से शिक्षित लोगों में हिन्दी-उर्दू का विवाद आरंभ हुआ और वर्तमान समय में तो उसने भीषण रूप धारण कर लिया है। यह सब हुआ; पर बोलचाल में शिक्षित-अशिक्षित सभी मुसलमान हिन्दी का ही सहारा लेते आये हैं। अतः सिद्ध है कि अबतक हिन्दी और मुसलमानों का घनिष्ठ संबंध है। खेद इस बात का है कि मुसलमान हिन्दी को अपनाये हुए भी भूले हैं। वे व्यर्थ ही उर्दू के झूठे पक्षपात से अपने ऊपर दोषारोपण कराते हैं। अब वह समय नहीं है, अब उन्हें साफ़

तौर पर हिन्दी से संबंध कर लेना चाहिए। यह देश-सेवा का समय है। एक राष्ट्र-भाषा ही मृत देश का उद्धार करती है। राष्ट्र-भाषा वही भाषा होगी, जिसे मुसलमान अभी बोलते हैं; पर उसमें थोड़ा फ़र्क़ हो जायगा। वह यही कि उस समय वह अपनी उल्टी चाल छोड़ सीधी और सरल चाल चलने लगेगी। भला, अब भी कौन ऐसा विचारवान मुसलमान होगा जो हिन्दी से अपना संबंध करते हिचके?

अब इसमें तो किसी प्रकार का संदेह ही नहीं कि हिन्दी ही हमारी राष्ट्र-भाषा होगी; अतः उसपर कुछ कहना नहीं है। कहना यह है कि मुसलमान भाइयो, आप भारतवासी हैं; यह देश आपका भी घर है और हिन्दी का भी। हिन्दी पर ही देश का कल्याण अवलम्बित है। आप देश के साथ हैं; आप उसे छोड़ नहीं सकते। ऐसी स्थिति में आप समझ सकते हैं कि आपका हिन्दी से क्या सम्बन्ध है। हिन्दी से हिन्दुओं का जो सम्बन्ध है, वही आपका भी है, बल्कि देश के बच्चे-बच्चे का भी है। ऐसी स्थिति में आप यदि हिन्दी को राष्ट्र-भाषा न मानेंगे तो देश को तो कुछ अधिक हानि न होगी; पर आपकी ज़रूर होगी। आप जातीय जीवन में कमज़ोर हो जायँगे; आप-की सामाजिक और राजनीतिक उन्नति फीकी पड़ जायगी। आपकी उर्दू उस समय काम न देगी। भविष्य में आपके बच्चे ही आपकी भूल पर हँसेंगे। वैसे तो हिन्दी आपकी मातृभाषा है। यदि आप यह स्वीकार न भी करें तो उसे राष्ट्र-भाषा तो अवश्यही स्वीकार कीजिए। यदि आप उसे हठ-धर्मी से स्वीकार न करेंगे तो वह अपने विशद गुणों के बल पर राष्ट्र-भाषा होवेहीगी; आप मुफ़्त में कलंक के भागी होंगे। पर हमें आशा है, आप ऐसा न करेंगे। आपका कर्त्तव्य है कि अब आप स्वयं हिन्दी पढ़ें और अपने बच्चों को पढ़ावें। हिन्दी सीखना बहुतही आसान है। वह सरलता से सीखी और समझी जा सकती है। ऐसा करने से आपकी उर्दू की हानि न होगी, बरन उससे आपको, उर्दू को और देश को भी लाभ होगा। आज भी तो बहुतसे मुसलमान अंग्रेज़ी को राजभाषा समझकर पढ़ते हैं; पर इससे उर्दू के बड़प्पन में कुछ भी फ़र्क़ न हुआ। इसलिए अंग्रेज़ी के स्थान में हिन्दी सीखना और राष्ट्र-भाषा मान लेना उर्दू को हानिकारक नहीं होसकता। यूरोप की राष्ट्र-भाषा फ्रेंच है, पर इससे वहाँ की देशीय भाषाओं का कुछ भी नुक़सान नहीं होता। अतः मुसलमान भाइयो! अब आप हर्षपूर्वक माता हिन्दी का स्वागत करने के लिए तैयार हो जाइए। उठिये, संसार को दिखा दीजिए कि हमारी भी राष्ट्र-भाषा है और अब हम उसके झंडे के नीचे अपने प्यारे राष्ट्र के उद्धार करने का प्रयत्न करेंगे।

हिन्दी के राष्ट्र-भाषा हो जाने से हिन्दू और मुसलमानों में प्रेम और ऐक्य की धारा बहेगी। अकबर की उन्नति का मूल कारण क्या था? यही हिन्दी। उनके दरबार में हिन्दी की खूब चर्चा हुआ करती थी जिससे हिन्दू-मुसलमानों में मेल हो गया था। वर्तमान में फिर भी हिन्दी ही हम लोगों को प्रेम करना सिखायेगी। अस्तु। अब हम सर सैयद हसन इमाम के निम्नालिखित वाक्य उद्धृत कर यह लेख समाप्त करेंगे —

"कुछ लोगों ने हिन्दी-उर्दू का झगड़ा खड़ा कर रखा है; पर यह बेक़ायदा है। मेरी राय से हिन्दी हिन्दुओं की ही नहीं, बल्कि सारे हिन्दुस्थान की ज़बान है। अरबवाले यहाँ के मुसलमानों को हिन्दी ही कहते हैं। फिर हिन्दी की तरक़्क़ी के लिए कुछ किया जाय तो मुसलमानों की नाराज़ी की कोई वजह नहीं है। और ज़बानें एक एक सूबों की हैं, पर हिन्दी हिन्दुस्थान की ज़बान है। उर्दू भी

यहीं बनी है । मुसलमान उसे अरब से नहीं लाये; इसलिए मुसलमानों को हिन्दी से नफ़रत न करनी चाहिए। बल्कि हिन्दुओं से मिलकर हिन्दी की तरक्क़ी करनी चाहिए।" आशा है, मुसलमान लोग अपने माननीय नेता की राय का पालन करेंगे।



ब्रह्माजी की सेवा में।

(लेखक—बाबू गोविन्ददास)

[सोरठा]

ध्वजा-संग निज नींव, हिला चला दानव × इधर।
पा दुख उधर अतीव, सत्यलोक पहुँचे अमर ॥१॥
शांत विशद आकार, कमलासन धारे हुए।
चतुर्बाहु मुख चार, विधि के शुभ दर्शन मिले ॥२॥
करके दंड-प्रणाम, उनको सब सुर भक्ति से।
सुधरे जिनसे काम, बोले ऐसे मृदु वचन ॥३॥

[नान्दीमुखी छन्द]

विनय कुछ प्रभो ! आपसे है हमारी।
अखिल जगत के आप हो जन्मदाता ॥
अति अपरिमिता आपकी शक्ति दिव्या।
कथन न जिसका शेष से हो सकेगा ॥४॥
सकल जगत में नाथ ! जो दीखता है।
प्रकट सब हुआ है प्रभो ! आपही से ॥
प्रभुवर! करते जो न ऐसी कृपा तो।
यह सब जगत क्या समुत्पन्न होता ॥५॥
हृदय तव दया का प्रभो ! सिंधु ही है।
दुखित प्रभु ! भला क्यों करोगे किसीको ॥
जगत पर कृपा जागती आपकी है।
चर-अचर सभी लाभ पाते सदा हैं ॥६॥
गजपति तक से चीटियों के लिए भी।
विविध सुख दिये सृष्टि ऐसी बनाई ॥
तिसपर करुणा आपकी और भी है।
परम सुलभ की विश्व में भक्ति दिव्या ॥७॥
रहितगुण, तथा मूर्ति भी भावना से।
सतत प्रभु ! अहो धारते रूप नाना ॥
कृति यह करते लोक-लाभार्थ ही हो ॥
सब कुछ सहते दूसरों के लिए ही ॥८॥
अगणित गुण यों आपमें हैं विधाता !
अबतक न उन्हें शेष भी गासके हैं ॥
शरण हम सभी आपके नाथ ! आये।
अति विकल हुए, पा रहे दुःख भारी ॥९॥
["वाणासुर-पराभव से"]

× बाणासुर।



बिहारी और देव।

(६)

(लेखक—अध्यापक लाला भगवानदीनजी)

इस प्रकार जाँच करने से हमें तो यह विश्वास हो गया है कि देव ने बिहारी और केशव की खूब सम्पत्ति लूटी है। एक भिन्न लेख में हम देव-द्वारा अपहरण किया गया केशव का माल भी बरामद करेंगे। मिश्र-बंधुओं ने बिहारी-कृत दो ही चार अपहरण दिखलाये हैं। हम देव-कृत इतने अपहरण दिखलाकर, अब देव के वे दोष बतलाते हैं जो उनको बिहारी और केशव से क्या, बरन अन्य अनेक साधारण कवियों से भी नीचे दर्जे में गिरा देते हैं।

(१) अनुप्रास और यमक की लालच से देव ने भाषा का सौष्ठव बिगाड़ दिया है। अन्य कवियों ने बहुतही कम ऐसा किया है। यदि किया भी है तो बहुत कड़े संकट में पड़कर, पर देव ने शौक़ से किया है और बहुत अधिक किया है। इसका प्रमाण देने की जरूरत नहीं; उनकी किसी पुस्तक का एक पन्ना पढ़िए और देख लीजिए। बिहारी की भाषा अत्यंत सुष्ठ है।

(२) उपर्युक्त कारण ही से देव की कविता का प्रसादगुण नष्ट हो गया है, और संभव नहीं कि कोई पाठक एक-दो बार पढ़कर देव का कोई छंद समझ

ते। देव की कुल कविता इसके प्रमाण में पेश की जा सकती है। विहारी में प्रसाद-गुण बहुत अधिक मात्रा में है।

(३) उपर्युक्त कारण ही से देव ने शब्दों की खूब अच्छी कपालक्रिया की है। 'कानि' को 'कान' और 'कान्ह' को भी 'कान' लिखकर 'कान' का यमक दुरुस्त किया गया है और भाषा के नाक-कान काटे गये हैं। [देखिए सुजानविनोद, पन्ना २०, छंद ३]

"कमलसुनैन जोरे जब तें सु नैन तुम
तब तें सुनै न स्यामा सखिन के सोर ए"।
(सुजान-विनोद, पन्ना २५, छंद २५)

देखा पाठक! सु नैन, सुनै न के यमक के लिए 'कम लनैन' की आँख में 'सु' का सूजा ठूँस दिया गया है। किसी शब्द के आदि में 'सु' उपसर्ग लगाया जाता है; पर 'देव' ने कमल और नयन के बीच में लगाकर उसे 'कमलसुनैन' बना डाला है। ऐसा विहारी ने नहीं किया। देव ने आंब की 'बौर' को आंब की 'बालि' लिखा है; क्योंकि आगे 'भालि' से अनुप्रास, मिलाया है (सुजान-विनोद, पन्ना २०, छंद ४)

(४) देव ने शब्दों की हजामत तो बनाई ही है; इसके सिवा, व्याकरण की हत्या भी की है और भाषा के मुहावरों की मट्टी भी पलीद की है। मिश्र बंधुओं का भी यही सिद्धांत जान पड़ता है। उदाहरण लीजिए—

कवित्त

राई नोन वारति गुराई देखि अंगन की
दुरै न दुराई पै भोराइनि भिरति है॥
ज्यों ज्यों सुघराई सों न उघरानि देति त्यों त्यों
सुन्दरि सुघर घरघेरिनि घिरति है॥
निठुर डिठौना दीन्हे नीठि निकसन कहै
डीठि लागिबे के डर पीठि दै गिरति है॥
जिन जिन ओर चितचोर चितवति ज्योंही
तिन तिन ओर तिन तोरति फिरति है॥

ऊपर लिखे हुए इस कवित्त के पाठ की शुद्धता वा अशुद्धता के जिम्मेदार ज्येष्ठ मिश्र हैं। काशी की नागरी-प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित 'सुजान-विनोद' के ९ वें पन्ने पर यह कवित्त दर्ज है। इस कवित्त में मुग्धा नायिका की धाय की करतूतों का वर्णन है। पाठक इसके 'प्रसादगुण' को देखें। हम तो पचासों बार पढ़ के भी पूरा न समझ सके। व्याकरण से "जिन जिन ओर" के स्थान पर "जेहि जेहि ओर" और "तिन तिन ओर" के स्थान पर "तेहि तेहि ओर" होना चाहिए। परंतु 'तिन तोरति' का यमक कैसे जमकता। इसलिए 'तिन' के वास्ते 'तिन तिन' और 'तिन तिन' के वास्ते "जिन जिन" कर दिया गया। व्याकरण जाये भाड़ में, केवल यमक न बिगड़ने पावै। और देखिए—

सवैया—

कानन कुंडल भाल गरे सँग मंडित गोपिन के कुँवरेटा
देव गयन्द से आवत मंदसे देखिरी चंदसे नंदके बेटा
काभकदूती पढ़ावत तूती चढ़ी पग जूती बनातलपेटा
पीरो फँगापटुका बिनछोर छरी करलाल जरीसिरफेंटा
[रसविलास, पन्ना १०]

भाषा की सफ़ाई के लिहाज़ से 'मंद से' शब्द व्यर्थ है, और 'लपेटा' शब्द पाठक स्वयं जाँच लें। पर तुकान्त और अनुप्रास के वास्ते देवजी सब कुछ कर सकते हैं। मिश्र-बंधुओं की दृष्टि में कोई हर्ज नहीं। पुनः—

सवैया

पूछत हौ पछितानें कहा
फिरि पीछे ते पावक ही को पिलौगे।

काल की हाल में बूड़ति बाल
बिलोकि इलाहल ही को हिलौंगे।
लीजिये ज्याय सुधामधु प्याय
कि न्यायनहीं विषगोली गिलौंगे।
पंचनि पंच मिले परपंच में
बाहि मिले तुम काहि मिलौंगे।
[प्रेम. चं., पन्ना २८]

पाठक! पहले तो इसे दो-चार बार पढ़िए और इसका प्रसाद-गुण देखिए। फिर यह बतलाइए कि 'हाल' शब्द का क्या अर्थ है और वह कौन लिंग है ? 'पावक ही को पिलौंगे' और 'हलाहल ही को हिलौंगे' साफ़ और शुस्ता ज़बान है या मुहावरे के विरुद्ध है, इस पर विचार कीजिए। 'सुधा' और 'मधु' में से एक शब्द व्यर्थ सा जान पड़ता है। क्या यह भाषा विहारी की भाषा की सफ़ाई तक पहुँच सकती है ? स्पष्ट मालूम होता है कि इसमें स्वाभाविक सफ़ाई नहीं है, केवल बनावटी भाषा है। महाकवियों की भाषा ऐसी नहीं हुआ करती। पुनश्च,

कवित्त

दूरि धरो दीपक झिलिमलात झीनो तेज
सेज के समीप छहरानो तम तोम सो।
दूलहै दुराय आली केलि के महल गई
पेलि कै पठाई बधू सरद के सोम सो।
[सुजान-वि., पन्ना ९, छंद १४]

विचारने की बात यह है कि दीपक के तेज के लिए 'झीनो' विशेषण ठीक है वा 'धीमो'; परंतु 'झिलमिलात' के अनुप्रास के लिए 'झीनो' लिख डाला गया। "सरद के सोम सो बधू" कितनी भद्दी भाषा है; परंतु उधर "तम तोम सो" ने क़ाफ़िया तंग कर दिया है। देव करते तो क्या करते ? वाह देवजी वाह! आख़िर देव ही तो ठहरे, इतनी भी करामात न हो तो बात ही क्या ठहरी। परंतु आपकी इस गुस्ताख़ी की सज़ा भी पबलिक ने अच्छी दी है। आपकी पुस्तकों ने मुशकिल से अबतक सूर्य का प्रकाश देख पाया है, वह भी मिश्र-वंश की कृपा से; और विहारी के दोहों ने आदि से अबतक अनेक जनों के हृदयों में घर बना लिया है। वे विद्वान् टीकाकारों के लाड़िले हो रहे हैं। कोई उन्हें संस्कृत पोशाक पहनाता है, कोई अँगरेज़ी कोट से सजाता है; कोई वैद्यक के नुसखे बताता है तो कोई शृंगार में भी शान्ति की छटा छहराता है। किसीने फ़ारसी का चुग़ा पहनाया है तो किसीने उर्दू का ताज लगाया है। हिन्दुओं ने लाड़ लड़ाया है तो मुसलमानों ने भी अपना पूरा प्यार जताया है, यहाँ तक कि ईसाइयों ने भी अपनाया है। 'देव' की कविता-कामिनी में भी यदि वैसाही रूप-रंग, यौवन और रस होता तो वह आजतक अँधेरे ही में न रहती। देव और विहारी में ज़मीन आसमान का फ़र्क़ है। मिश्रबंधुओं की राय किसीको भी मान्य नहीं। और देखिए मिश्रों ने इसकी बड़ी तारीफ़ की है—

"खैंचि खरी दई दौरि सखी के
उरोजन बीच सरोज फिराय कै"।
[सुजान-विनोद, पन्ना ५६, छंद ४१]

विचारिए, इसका अन्वय कीजिए। 'दई' क्रिया सकर्मक है, उसका कर्म कौन शब्द है ? उसका लिंग क्या है और क्रिया किस लिंग में है ? और भी देखिए-

"देव केलि कानन में कहकहा कोकिल की
सुने धुनि लहलहा महा मोद माधुरी"।
[सु. वि, पन्ना ६५, छंद १२]

इसमें विचारणीय बात यह है कि 'कहकहा' का क्या अर्थ है ? इस अर्थ में यह शब्द कौन लिंग है ?

उसके साथ संबंधकारक प्रत्यय 'की' ठीक है कि नहीं ? 'लहलही' शब्द का क्या अर्थ है और वाक्य में उसका संबंध किस शब्द से कैसा है ? और देखिए:—

तबलौं चहुँघाय घटा घहराय कै
बिज्जुछटा छहराय उठो "।
[सुजान-विनोद, पन्ना ७७, छंद २०]

'बिज्जुछटा' के लिए 'छहराय उठो' क्रिया का रूप व्याकरण से ठीक है कि नहीं ? पाठक स्वयं विचारलें। और 'चहुँघा' का 'चहुँघाय' क्यों किया गया ? यह सब अनर्थ केवल तुकान्त और अनुप्रास के मेल के लिए ही है। देव की इस करतूत से स्पष्ट जान पड़ता है कि इन्हें तुक मिलाने तथा अनुप्रास और यमक जमाने का जितना ध्यान रहता था उतना भाषा की सफ़ाई और शुद्धता का नहीं। परंतु भाषा को कलंकित करके कोई कवि अच्छा कवि नहीं कहलाता। देव को 'महाकवि' कहना कविता का अपमान करना है। और सुनिए, देवजी व्याकरण की हत्या करने के लिए अपने मन के अनुप्रासों को मिलाने के लिए क्रियाओं के रूप भी गढ़ लेते हैं। 'बिताओगी' के स्थान पर "कितै हो" का अनुप्रास मिलाने के लिए 'बितैहौगी' लिख मारा है। (देखिए सुखसागर-तरंग, पेज ४६, छंद नं० १४५)

"माधवै को मिलिये बिना धव कितै हो मास
माधव बितैहौगी उमा-धव को ध्यानु कै"।

इन बातों से यह तो स्पष्ट है कि देवजी व्याकरण और भाषा की सुन्दरता की अपेक्षा अपनी अनुप्रास-प्रियता की रुचि की अधिक रक्षा करते थे। बिहारी ने कहीं भी इस प्रकार व्याकरण की हत्या करके अनुप्रास के निर्वाह के लिए कोशिश नहीं की।

पुनश्च:— **सवैया**

माधुरी भौरनि फूलनि भौंरनि
बौरनि बौरनि बेलि बची है।
केसरि किंसु कुसुंभ कुरौ
किरवार कनैरनि रंग रची है।
फूले अनारनि चंपक डारनि
लै कचनारनि नेह तची है।
कोकिल रागनि नूत परागनि
देखु री बागनि फागु मची है।
(सुजानविनोद, पन्ना ६७, छंद २२)

देव के प्रसादगुण के हिमायती बतलावें कि इस सवैया में व्याकरण की क्या दशा है। 'रंग रची' और 'नेह तची' का क्या अभिप्राय है ? 'फागु' शब्द को हम पुल्लिङ्ग मानते हैं। संभव है, कहीं स्त्रीलिङ्ग भी बोला जाता हो। 'किंसु' और 'नूत' शब्दों की दुम काट ली गई है। इस एक छंद से ही 'देव' की योग्यता का पूरा पता चल जाता है; अतः अब इस विषय में ज्यादा न लिखेंगे।

जहाँतक हमें ज्ञात है, 'बिहारी' ने व्याकरण का ऐसा निरादर नहीं किया, केवल एक शब्द के प्रयोग में बिहारी ने अपना संदेह प्रगट किया है। केवल 'वायु' शब्द को एक स्थान में पुल्लिङ्ग और दूसरे स्थान में स्त्रीलिङ्ग लिखा है, जो क्षम्य है; क्योंकि आजभी ऐसाही प्रयोग किया जाता है। अब रही मुहावरों की मिट्टी पलीद करने की बात, सो उसके भी दो-चार उदाहरण देख लीजिए —

'चल्यो न परत' = चला नहीं जाता (प्रेमचंद्रिका, पेज ५६, छंद ४०)। हमारी सम्मति से अशुद्ध प्रयोग है।

"लाजनि हौं लरजौं गहिरी
बरजौं गहिरी कहिरी केहि बायन"।

(सु. वि., पन्ना ३५, छंद २०)

"गहरी लरजना और गहरी बरजना" = 'बहुत काँपना और बहुत बरजना' के अर्थ में बिलकुल बदमुहावरा है। परंतु यह काम 'कहिरी' के अनुप्रास ने कराया है। 'सुजान-विनोद' के पेज ७८, छंद नं. २३ में 'प्यारी की लहरिया' के हिलोरे में हिलहिलकर देवजी ने तुकान्त के लिए 'घहरिया,' 'छहरिया' और 'थहरिया' रूप लिखे हैं। ये किस 'काल' की क्रियाएँ हैं, सो 'देव' के हिमायती ही जानें। बिहारी की तरह मुहावरों और शब्दों के प्रयोग में चोज़ की बात कहना तो देवजी जानते ही न थे। हम यहाँ बिहारी के कुछ दोहे लिखते हैं जिनके चोज़ सहृदय मर्मज्ञ ही समझ सकते हैं :—

कत लपटैयत मोगरे सोनजुही निस सैन।
जेहि चंपकबरनी करे गुलअनार रँग नैन ।१।।
अति अगाध अति ओथरे नदी कूप सर बाय।
सो ताको सागर जहां जाकी प्यास बुझाय ।२।।
बहकि न यहि बहनापुली जब तब बीर बिनासु।
बचै न बड़ी सबील हू चील घोंसुवा माँसु ।३।।
रह्यौ चकित चहुँधा चितै चित मेरो मति भूलि।
सूर उदय आये रही दृगन सांझ सी फूलि ।४।।
याके उर औरै कछू लगी बिरह की लाय।
प्रजरै नीर गुलाब के पिय की बात बुझाय ।।५।।

इस तरह के सैकड़ों दोहे ऐसे हैं जिनमें मुहावरे के ज़ोर से अच्छा चोज़ कहा गया है। मुहावरे की बंदिश निहायत साफ़ और सुथरी और चोज अत्यन्त मनोहर हैं। देव में ये बातें ढूँढ़े से चाहे दो-चार निकल आवें। महाकवियों की तरह यह गुण बिहारी में स्वाभाविक है। देव में ढूँढ़े से मिलैगा। अब व्याकरण, भाषा, और मुहावरे की चर्चा समाप्त करके देव का पाँचवा दोष देखिए।

(५) देव में यह भारी दुर्गुण था कि ये धन-लोलुपता के कारण द्वार द्वार और देश देश मारे मारे फिरते थे। इनके विविध ग्रन्थ ही इस बात के साक्षी हैं। धन-लोलुप आदमी कभी शान्त नहीं रह पाता। बिना शान्ति और संतोष के अच्छी कविता बन नहीं सकती। देव को तो हम भिक्षुक कवि कहते हैं। बिहारी राजकवि और कविराज था।

हमारे लेख का पहला भाग अब समाप्त हुआ। इसमें हमने यथाशक्ति बिहारी पर लगाये हुए दोषों को निर्मूलक प्रमाणित करने की चेष्टा की है और वे ही दोष 'देव' जी की कविता में दिखलाये हैं। इसमें हमें कहाँतक सफलता हुई है, पाठक स्वयं विचार लें। कोई पाठक यह न समझ ले कि हमें 'देव' से अथवा मिश्रबन्धुओं से कोई ईर्ष्या या विरोध है; इसलिए हम यह लेख लिख रहे हैं। हम 'देव' को तथा मिश्रबन्धुओं को आदर की दृष्टि से देखते हैं। वे आदरणीय हैं भी। बात सिर्फ़ इतनी ही है कि यदि मिश्रबन्धुओं ने 'देव' को बढ़ाने की गरज़ से बिहारी पर अनुचित आक्रमण न किया होता तो आज हमें इस लेख के लिखने की ज़रूरत न पड़ती। हमें आशा ही नहीं, पूर्ण विश्वास है कि हमारे इस कार्य को विद्या-विनोद समझकर मिश्र-कंपनी हमपर रुष्ट न होगी। बिहारी पर नवाँ दोषारोपण यह है:—

लरिका लेवे के मिसन लंगर मो ढिग आय।
गयो अचानक आँगुरी छाती छैल छुवाय ।।

इसपर बन्धुओं ने लिखा है कि यह बिहारी की 'शोहदई' है। हम देव-कृत 'भावविलास' से एक छंद लिखते हैं। पाठक विचारें कि इसमें देव की क्या प्रवृत्ति है—

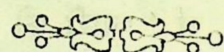
खेलत में वृषभानुसुता कहुँ
जाय धँसी बनकुंजन में है।
डार सों हार तहाँ उरझ्यो
सुरझाय रहीं कवि देव सखी है।
तौलगि आय गयो उत तें
सुनगीच मनो चित बीच परो च्वै।
छोहरवा हरवा हरवाय दै
छोरि दियो छल सो छतियां छ्वै।

कहिए पाठक! बिहारी को गुरु मानकर देव-जी तो उनके भाव को अपनी बपौती समझते हैं, और देवभक्त मिश्रबंधुजी उसी भाव के लिए बिहारी को शोहदा कहने का साहस करते हैं। इसे हम किसकी क्या समझें? बिहारी की शोहदई, वा देव की भलमंसी, वा बंधुओं की विद्वत्ता? इतना ही नहीं, देव ने इस भाव को दोबारा लिखा है। सुनिए:—

"बाल की छाती छुई छल सों
घन कुंजन में बस पुंजन पागे।
पीछे निहारि निहारत नारिन
हार हिये के सुधारन लागे" ॥

इस बात से स्पष्ट जान पड़ता है कि मिश्रों को 'देव' का पक्षपात करना ही अभीष्ट है।

दसवाँ दोष अश्लील वर्णन का है। बंधुओं ने इसके कुछ उदाहरण भी दिये हैं। हम उन्हें उद्धृत करना नहीं चाहते। पर इतना अवश्य कहते हैं कि बिहारी के उन दोहों से कहीं बढ़कर देव की कविता में अश्लील छंद भरे हैं। मिश्रबंधु ही सहृदयता की शपथ खाकर बतायें कि "गौहरे माँझ गई मिलि साँझ" वाला कवित्त कैसा है? ऐसे उदाहरण कम से कम दो दर्जन बतलाये जा सकते हैं। परंतु इष्ट नहीं कि उन्हें लिखकर पाठकों को कष्ट दिया जाय। अतः हम अपने लेख का प्रथम भाग यहीं खतम करते हैं।



सुधार का मूल मंत्र।

(लेखक—श्रीयुत जुगलकिशोर मुख्तार)



क्या हमने कभी यह विचार किया है कि एक मनुष्य जो अभी दूसरे के प्राण लेने के लिए तय्यार था शांत क्यों हो गया? एक बालक रोते रोते हँसने क्यों लगा? एक आदमी जो अभी हँसी-खुशी की बातें कर रहा था शोक में मग्न क्यों हो गया? सभा के सब मनुष्य बैठे बैठे एकदम खिलखिलाकर क्यों हँस पड़े? कल जो कायर और डरपोक बने हुए थे वे आज वीर क्योंकर बन गये? मूर्खता और असभ्यता की मूर्तियाँ विज्ञान और सभ्यता की मूर्तियों में कैसे परिणत हो गईं? जिस कार्य से कल हमें घृणा थी आज उसीको हम प्रेम के साथ क्यों कर रहे हैं? आनन्द और सुख के देनेवाले पदार्थ भी हमको दुःखदायक और अरुचिकर कैसे हो जाते हैं? जीवन में बैर-विरोध क्योंकर पैदा होता है और बढ़ जाता है? एक अच्छे कुल का भला आदमी चोर और डकैत कैसे बन जाता है? किस प्रकार एक असदाचारी सदाचारी और सदाचारी असदाचारी हो जाता है? कल जो भंगी या चमार था वह आज ईसाई बनकर या फ़ौज में भरती होकर ब्राह्मण और क्षत्रियों जैसी बातें क्यों करने लगता है? एक मनुष्य जिसे अपने प्राणों का

बहुत मोह था सहर्ष प्राण देने के लिए क्योंकर तय्यार हो जाता है ? कौन हमारी शांति को भंग कर देता है ? कौन हमारे हृदयों में प्रेम तथा भय का संचार कर देता है ? और कौन किसी शान्तिमय राष्ट्रमें विप्लव खड़ा कर देता है ? इन सबका उत्तर एक है और वह है—साहित्यशक्ति का प्रभाव। जिस समय जैसे जैसे साहित्य का प्राबल्य हमारे सामने होता है उस समय हमारा मन भी उसी प्रकार का हो जाता है । साहित्य से अभिप्राय यहाँ किसी भाषा—विशेष से नहीं है और न केवल भाषा का नाम ही साहित्य हो सकता है; बल्कि भाषा भी एक प्रकार का साहित्य है अथवा साहित्य के प्रचार का साधन है। साहित्य कहते हैं भावों के वातावरण को और वह वातावरण शब्दों, भाषाओं, वार्तालापों, व्याख्यानों, चेष्टाओं, व्यवहारों, विचारों, लेखों, पुस्तकों, चित्रों, आकृतियों, मूर्तियों और इतर पदार्थों के द्वारा उत्पन्न होता है अथवा किया जाता है। इसलिए साहित्य के इन साधनों को भी साहित्य कहते हैं अथवा ये सब साहित्य-प्रचार के मार्ग हैं। साहित्य के सामान्यापेक्षा क्षणिक स्थायी, चरस्थिर,उन्नत-अवनत, सबल-निर्बल और प्रौढ़अप्रौढ़, ऐसे भेद किये जा सकते हैं। परन्तु विशेषापेक्षा उसके शांति—शोक, प्रेम-हास्य, भय-ग्लानि, काम—द्वेष, राग—वैराग्य, सुख—दुःख, धर्म-अधर्म, आत्म-अनात्म, उदार—अनुदार, देश—समाज, युद्ध—कलह, ईर्षा—घृणा, हिंसा-दया, शाप-क्षमा, तुष्टि-पुष्टि, विद्या—ज्ञान, कर्म-भक्ति, क्रोध-मान, माया—लोभ इत्यादि असंख्य भेद हैं। दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि स्थूल रूप से भावों के जितने भेद किये जा सकते हैं साहित्य के भी प्रायः उतने ही भेद हैं। शांति—साहित्य के सामने आने से, चाहे वह किसी द्वार से आया हो, यदि वह प्रबल है तो, हम शांत हो जाते हैं—हमारा क्रोध जाता रहता है; शोक-साहित्य के प्रभाव से हम शोकित होकर रोने लगते हैं—हमारा धैर्य छूट जाता है; प्रेम—साहित्य के प्रसाद से हम प्रेम करने के लिए तय्यार हो जाते हैं—दूसरों के प्रति हमारा अनुराग और वात्सल्य बढ़ जाता है; हास्य-साहित्य हमें हँसने या मुसकुराने के लिए बाध्य कर देता है; भय का साहित्य हमें भीरु और डरपोक बना देता है—हम बात बात में डरने, घबराने और काँपने लग जाते हैं; काम—साहित्य के प्राबल्य में अनेक प्रकार की काम—चेष्टाएँ होने लगती हैं और द्वेष—साहित्य के प्रभाव से हम लड़ने, लड़ाने, घृणा करने तथा एक दूसरे को हानि पहुँचाने के लिए तत्पर होजाते हैं। युद्ध में क्या होता है ? युद्ध—साहित्य का प्रचार; अर्थात् युद्ध-सामग्री को एकत्रित, संचित और सुरक्षित करने के सिवा युद्ध की महिमा गाई जाती है; युद्ध करना कर्त्तव्य और धर्म ठहराया जाता है; अपने देश, धर्म और समाज की मान—रक्षा के लिए प्राणों की बलि देना सिखलाया जाता है;अपमानित जीवन से मरना श्रेष्ठ है, इसकी शिक्षाएँ दी जाती हैं; युद्ध में मरनेवालों की कीर्ति अमर हो जाती है और उनके लिए हरदम स्वर्ग या वैकुंठ का द्वार खुला रहता है, इस प्रकार के उपदेशों की भरमार की जाती है; शत्रुओं के असत् व्यवहारों को दिखलाते हुए उनसे घृणा पैदा कराई जाती है और उन्हें दंड देने के लिए लोगों को उत्तेजित किया जाता है। साथ ही, सैनिकों को और भी अनेक प्रकार के प्रोत्साहन दिये जाते हैं; वीरों का खूब कीर्तिगान होता है और कायरों की भरपेट निन्दा भी की जाती है। इस संपूर्ण साहित्य—प्रचार का फल यह होता है कि मुर्दों में भी एक बार जान आजाती है, उनकी मुरझाई हुई आशालताएँ फिर से हरी-भरी होकर लहलहाने लगती हैं और वे कायर भी

जो अभी युद्ध से भाग रहे थे अथवा जिन्हों-ने हथियार डाल दिये थे, युद्ध में शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने के लिए जी-जान से लड़ने—खुशीसे अपने प्राणों तक की आहुति देने-के लिए तय्यार हो जाते हैं। वे पूर्ण उत्साह के साथ शत्रु पर धावा करते हैं, खूब जमकर लड़ते हैं और अन्त में शत्रु को परास्त ही करके छोड़ते हैं। इससे पाठक समझ सकते हैं कि साहित्य—प्रचार में कितनी शक्ति है। जिन पाठकों को इस विषय का अधिक अनुभव प्राप्त करना हो उन्हें भूमंडल के इतिहासों का अध्ययन करना चाहिए। इतिहास का अध्ययन उन्हें बतलायगा कि साहित्य-प्रचार में कितनी बड़ी शक्ति है और उसके द्वारा समय समय पर कैसे कैसे महान् उलट—फेर संसार में हो गये हैं। सिक्ख—समाज तथा उसके धर्म की आरंभ में क्या दशा थी और फिर कैसे कैसे साहित्य के प्रभाव से उसकी वह काया-पलट गई और वह क्षत्रियत्व में ढल गया, ये सब बातें इतिहासवेत्ताओं से छिपी नहीं हैं। वास्तव में समस्त देशों, धर्मों और समाजों का उत्थान और पतन साहित्य-प्रचार के आधार पर ही अवलम्बित है। जिस देश, धर्म या समाज में जिस समय जिस विषय के साहित्य का अधिक प्रचार होता है उस देश, धर्म या समाज में उस समय उसी विषय की तूती बोलने लगती है। विषय के उत्थानात्मक होने से उत्थान, और पतनात्मक होने से पतन हो जाता है। आज से साठ,सत्तर वर्ष पहले जापान देश की कैसी जघन्य स्थिति थी और आज उसका उत्थान कैसा चकित कर देनेवाला हो गया है। यह सब उसके उत्थानात्मक साहित्य के प्रसार ही का फल है। भारतवर्ष का पतन क्यों हुआ? वह क्यों अपनी सारी गुण-गरिमा को खो बैठा? इसीलिए कि उसके साहित्य की अवस्था अच्छी नहीं रही। वह अपने साहित्य को स्थिर नहीं रख सका; समय के अनुकूल नया साहित्य उत्पन्न नहीं कर सका। उसका साहित्य प्रेम-शून्य होकर पारस्परिक ईर्षा, द्वेष, घृणा और निन्दा तथा निष्फल क्रिया-कांड से भर गया; उसमें अज्ञानता, अकर्मण्यता, स्वार्थान्ध[illegible] कायरता, अंध-श्रद्धा, अनैक्यता और वि[illegible] प्रियता छा गई; और साथही उसने लोकोपकार, लोकसंग्रह, विचारस्वातंत्र्य और सहोद्योगिता जैसे महत्त्व के तत्त्वों को भुला दिया। देश के साहित्य की ऐसी अवस्था हो जाने से ही भारतवर्ष का पतन हुआ। भिन्न भिन्न धर्मों और समाजों के उत्थान और पतन का भी प्रायः ऐसा ही रहस्य है। उनका उत्थान और पतन भी उनके साहित्य-प्रचार की दशा पर अवलम्बित है। आप किसी देश या समाज को जैसा बनाना चाहें उसमें वैसेही साहित्य का पूर्ण रीति से प्रचार कर दीजिए, वह उसी प्रकार का हो जायगा। उदाहरण के लिए, यदि आप यह चाहते हैं कि हिन्दी-भाषा का भारतवर्ष में सर्वत्र प्रचार हो जाय और वह देश भरकी राष्ट्रभाषा बना जाय तो आप हिन्दी—साहित्य का जी-जान से प्रचार कीजिए; स्वयं हिन्दी लिखिए; हिन्दी बोलिए; हिन्दी में पत्र-व्यवहार, हिन्दी में काम-काज और हिन्दी में ही वार्तालाप कीजिए। हिन्दी—पत्रों और हिन्दी-पुस्तकों को पढ़िए; उन्हें दूसरों को पढ़ने के लिए दीजिए तथा पढ़ने को प्रेरित कीजिए। हिन्दी में लेख लिखिए; हिन्दी में पुस्तकें निर्माण कीजिए; हिन्दी में भाषण दीजिए और यह सब दूसरों से भी कराइए। ऐसा यत्न कीजिए कि हिन्दी में सब विषयों पर उत्तमोत्तम ग्रंथ लिखे जायँ। हिन्दी-लेखकों का उत्साह बढ़ाइए; उन्हें लेखों तथा पुस्तकों

के तय्यार करने के लिए अनेक प्रकार की सामग्री से सहायता दीजिए। भाँति भाँति के लेखों, चित्रों, व्याख्यानों, वार्तालापों और व्यवहारों के द्वारा हिन्दी का महत्व प्रगट करते हुए सर्वसाधारण में हिन्दी का प्रेम उत्पन्न कीजिए। साथही, हिन्दी-ग्रंथों तथा हिन्दी-पत्रों की प्राप्ति का मार्ग इतना सुगम कर दीजिए कि उनकेलिए किसी को भी कष्ट न उठाना पड़े। यह सब कुछ होजाने पर आप देखेंगे कि हिन्दी—भाषा राष्ट्र भाषा बन गई। इसी तरह यदि आप अपने देश या समाज का उत्थान चाहते हैं और उसके सुधार की इच्छा रखते हैं तो आप उसमें उत्थानात्मक और सुधार-विषयक साहित्य को सर्वत्र फैलाइए। अपने देश या समाज के व्यक्तियों को स्वावलम्बन की शिक्षा दीजिए; भाग्य के भरोसे रहने की उनकी आदत छुड़ाइए; भीख माँगने तथा ईश्वर से वस्तुतः याचना और प्रार्थना करने की पद्धति को उठाइए। कोई गुप्त (दैवी) शक्ति हमें सहायता देगी, इस विचार को भुलाइए; अकर्मण्य और आलसी मनुष्यों को कर्मनिष्ठ और पुरुषार्थी बनाइए; पारस्परिक ईर्षा, द्वेष, घृणा और स्वार्थी भावों को हटाकर आपस में प्रेम का संचार कीजिए। निष्फल क्रिया-कांड और दिखाऊ कामों में होनेवाले शक्ति के ह्रास को रोकिए; द्रव्य और समय का सदुपयोग करना बतलाइए; विलास-प्रियता के दलदल में फँसने और अंधश्रद्धा के गड्ढे में गिरने से बचाइए। अनेक प्रकार के कल-कारखाने खोलिए; उद्योगशालाएँ और प्रयोगशालाएँ जारी कीजिए; शिल्प, व्यापार और विज्ञानोन्नति की ओर लोगों को पूरी तौर से लगाइए; मिलकर काम करना, एक दूसरे को सहायता देना और देश तथा समाज के हित को अपना हित समझना सिखलाइए। बाल, वृद्ध तथा अनमेल विवाहों का मूलोच्छेद हो सके, ऐसा यत्न कीजिए; सच्चारित्रता और सत्य का व्यवहार फैलाइए; विचार-स्वातंत्र्य को खूब उत्तेजना दीजिए; योग्य आहार—विहार—द्वारा बलाढ्य बनना सिखलाइए। वीरता, धीरता निर्भीकता, समुदारता, गुण-ग्राहकता, सहनशीलता और दृढ़प्रतिज्ञता आदि गुणों का संचार कीजिए। एकता और विद्या में कितनी शक्ति है इसका अनुभव कराइए। धर्मनीति, राजनीति और समाजनीति का रहस्य और भेद समझाइए। समुद्रयात्रा का भय हटाइए; विदेशों में जाने का संकोच और हिचकिचाहट दूर कीजिए; अनेक भाषाओं का ज्ञान प्राप्त कीजिए और कराइए; और शिक्षा का इतना प्रचार कर दीजिए कि देश या समाज में कोई भी स्त्री, पुरुष, बालक या बालिका अशिक्षित न रहने पावे। इन सब बातों के सिवा जो जो रीति-रिवाज, आचार-व्यवहार अथवा सिद्धान्त उन्नति और उत्थान के बाधक हों, जिनमें कोई वास्तविक तत्व न हो और जो समय समय पर किसी कारण-विशेष से देश या समाज में प्रचलित हो गये हों उन सबकी खुले शब्दों में कड़ी आलोचना कीजिए और उनके गुणदोष सर्वसाधारण पर प्रगट कीजिए। सच्ची आलोचना में कभी संकोच न होना चाहिए। बिना समालोचना के दोषों का पृथक्करण नहीं होता। साथही, इस बात का भी ध्यान रखिए कि इन सब कार्यों के करने और कराने में अथवा यह सब साहित्य फैलाने में आपको अनेक प्रकार की आपत्तियों का सामना करना पड़ेगा; मार्ग में रुकावटें पैदा होंगी और आश्चर्य नहीं कि उनके कारण कुछ हानि या कष्ट भी उठाना पड़े; परंतु उन सबका सामना बड़ी शांति और धैर्य के साथ होना चाहिए। चित्त में कभी क्षोभ न लाना चाहिए; क्योंकि क्षोभ में योग्यायोग्य-विचार नष्ट हो जाता है; उस समय इस बात की परवाह कभी न करनी चाहिए कि हमारे कार्यों

का विरोध होता है। विरोध होना अच्छा है और वह शीघ्र सफलता-दान का मूल है। कैसा ही अच्छे से अच्छा काम क्यों न हो, यदि वह पूर्व संस्कारों के प्रतिकूल होता है तो उसका विरोध जरूर हुआ करता है। अमेरिका आदि देशों में जब गुलामों को गुलामी से छुड़ाने का आन्दोलन उठा तब खुद गुलामों ने भी उसका विरोध किया था। पागल मनुष्य अपना हित करनेवाले डाक्टर पर भी हमला किया करता है; इसलिए महत्पुरुषों को इन बातों का कुछ भी ख्याल न होना चाहिए, अन्यथा वे लक्ष्य-भ्रष्ट हो जायँगे और सफल-मनोरथ न हो सकेंगे। उन्हें बराबर अपना कार्य और आन्दोलन जारी रखना चाहिए। आन्दोलन के सफल होने पर विरोधी शांत हो जायँगे; उन्हें स्वयं अपनी भूल मालूम पड़ेगी और आगे चलकर वे आपके कार्यों के अनुमोदक और सहायक ही नहीं, बल्कि अच्छे प्रचारक और आपके पूर्ण अनुयायी भी बन जायँगे। कुछ दिन पहले कट्टर सनातनधर्मी, जैनी, मुसलमान आदि धर्म-ग्रन्थों के छपाने के कैसे विरोधी थे? वे ही जिन्होंने छपे हुए शास्त्रों को न पढ़ने की प्रतिज्ञाओं पर अपने हस्ताक्षर भी कर दिये थे, अब खुशी से छपे हुए ग्रंथों को पढ़ते, पढ़ाते और उनका प्रचार करते हुए देखे जाते हैं। जिधर देखो, उधर छपे ग्रंथों की महिमा और प्रशंसा के गीत गाये जाते हैं। यदि उस समय छपे ग्रंथों का प्रचार करनेवालों के हृदयों में, इस विरोध से, निर्बलता आ जाती और वे अपने कर्तव्य को छोड़ बैठते तो आज छपे ग्रंथों के कारण उन धर्मों को जो असीम लाभ पहुँच रहा है उससे वे वंचित रह जाते और उनका भविष्य बहुत-कुछ अंधकारमय हो जाता। इसलिए विरोध के कारण घबराकर कभी अपने हृदय में कमजोरी न लानी चाहिए और न फल-प्राप्ति के लिए जल्दी करके हताश होना चाहिए। सच्चे हृदय से काम करनेवालों और सच्चे आन्दोलन-कारियों को सफलता मिलेगी और अवश्य मिलेगी। उन्हें अनेक काम करनेवाले, सहायता देनेवाले और उनके कार्यों को फैलानेवाले मिलेंगे; इसलिए घबड़ाने की कोई बात नहीं। जो लोग देश या समाज के सच्चे हितैषी होते हैं वे सब-कुछ कष्ट उठाकर भी उसका हित-साधन किया करते हैं। इस प्रकार सब-कुछ सहन करते हुए, यदि आप सुधार-विषयक साहित्य का सर्वत्र प्रचार करके अपने देश या समाज के साहित्य को सुधारने में समर्थ हो जायँगे तो फिर देश या समाज के सुधरने में कुछ भी देर न लगेगी; उसका सुधार अनिवार्य्य हो जायगा। **यही सुधार का मूल मंत्र है**। परंतु यह ध्यान रहे कि साहित्य जितना ही उन्नत, सबल और पवित्र होगा उतना ही उसका प्रभाव भी अधिक पड़ेगा और वह अधिक काल तक स्थायी रह सकेगा; अतएव जहाँ तक बने, अत्यन्त प्रबल और पुष्ट साहित्य फैलाना चाहिए।

विश्व-वैचित्र्य।

(१) अगस्त्य मुनि की चर्चा।

"पापुलर साइन्स" लिखता है, "काँच फूँकनेवाले कारीगर, काम करते समय, दिन भर में, २५ से ३० क्वार्ट (एक क्वार्ट = १४ छटाक) अर्थात् लगभग २५ सेर तक पानी पीते देखे गये हैं; पर इतिहास से एक तीन साल की लड़की का हाल मालूम हुआ है जो रोज़ दो बालटी पानी पीती थी और इस असाधारण 'जल-पान' का फल यह होता था कि वह दिनों दिन खूब हृष्ट-पुष्ट होती जाती थी तथा कुछ दिनों में चार डोल तक पानी पीने लगी थी!" हमारे पुराण-प्रसिद्ध अगस्त्य महाराज ने समुद्र

को तीन चुल्लू में उदरस्थ कर डाला था । यह लड़की कहीं अगस्त्य मुनि के वंश की तो नहीं है?

(२) ५,००० वर्ष जलनेवाली मोमबत्ती।

न्यूयार्क नगर के इटालियन अनाथ बालक 'नेपिल्स के मडाना डी पोम्पिआइ' नामक गिरजाघर को, 'केरूसो' के स्मारक-स्वरूप, एक मोमबत्ती भेंट करनेवाले हैं। मोमबत्ती का वज़न कोई १३ मन होगा तथा यदि वह लगातार जलाई जाय, तो वह एक लाख बीस हज़ार घन्टे, अर्थात् लगभग १४ वर्ष तक, जलती रह सकेगी। बत्ती के निम्न-भाग में ईसामसीह की मूर्त्ति, मोम ही में खोदकर, बनाई जावेगी और बत्ती के डंडे पर अनाथ संस्था के प्रत्येक दान-दाता का नाम अंकित रहेगा। केरूसो का जन्म इटली के नेपिल्स नगर में, २ नवम्बर को, हुआ था; अतः यह मोमबत्ती वर्ष में केवल एक दिन, अर्थात् २ नवम्बर को, चौबीस घंटे जला करेगी। इस प्रकार आज से ५,००० वर्ष बाद, सन् ६९२२ ईस्वी में, भी यह बत्ती प्रकाशित होकर उन देश-भक्त अनाथ बालकों के मातृभूमि के प्रति अपूर्व भक्ति-भाव का परिचय देती हुई, संसार के तत्कालीन विदेश-स्थित नवयुवकों को अपनी प्यारी जन्म-भूमि के स्मरण रखने का संदेश देती रहेगी। बड़ी अच्छी बात है।

(३) पियानो बाजे की दौड़!

पाश्चात्य देशों में प्रत्येक कला को उन्नति की चरम सीमा तक पहुँचाने के लिए परीक्षाएँ हुआ करती हैं। प्राचीन काल में ग्रीस देश के 'ऑलिम्पिक' खेलों ने बड़ी ख्याति प्राप्त की थी। कुछ दिनों से यूरोप में इस प्रकार के खेलों का पुनरुद्धार हुआ है।

हाल में अमरीका में 'पियानो' बाजा बजाने की दौड़ हुई थी। उसमें सेनफ्रान्सिस्को-निवासी मि० जे० एम० वाटरबर्ग का नंबर सर्व-प्रथम रहा। आप बाजे को लगातार, बिना विश्राम लिये, ६५ घन्टे २५ मिनट ३० सेकण्ड तक बजाते रहे। उतने समय तक वे अपनी जगह से हिले-डुले तक नहीं और न अपना हाथ ही बाजे से अलग किया। समय समय पर एक नौकर उन्हें खाना खिला देता और कॉफ़ी (Coffee) पिला दिया करता था। बाजे की बाज़ी खतम होने पर, वे बिलकुल बेहोश होकर बाजे पर गिर पड़े।

बाजे को २३ दिन-रात से भी अधिक बजाते रहना कोई कम आश्चर्य की बात नहीं है; पर मिस्टर वाटरबर्ग उससे भी अधिक देर तक बजाते रहने की कोशिश कर रहे हैं!

(४) सूर्य्य से एक घण्टा अधिक प्रकाश पानेवाला आलीशान महल!

पृथ्वी की सबसे ऊँची हवेली के ऊपर के मंज़िलों पर रहनेवालों के लिए भगवान् भास्कर एक घण्टा अधिक प्रकाश पहुँचाते हैं। न्यूयार्क की ७९२ फुट १ इंच ऊँची 'वुलवर्थ बिल्डिंग' संभवतः संसार में सबसे ऊँची इमारत है। सूर्यास्त के समय इस अट्टालिका की मंज़िलों पर छाया २३ सेकण्ड में एक फुट के हिसाब से ऊपर चढ़ती है। कोई मामूली मकान हो तो उसका प्रकाश का थोड़ा अधिक पाना कोई महत्व नहीं रखता, पर इस उत्तुङ्ग भवन की नींव से लेकर उसकी उच्चतम मीनार तक पहुँचने के लिए छाया को पूरे ३२ मिनिट लगते हैं अर्थात् सड़क पर छाया हो जाने के आध घण्टे बाद भी कोई चाहे तो 'एलीवेटर' (नसेनी) द्वारा मीनार पर चढ़कर सूर्य भगवान् के दर्शन कर सकता है।

प्रातःकाल के समय भी सूर्य का प्रकाश मीनार की अपेक्षा उतनीही अधिक देर से सड़क पर आ पाता है। इस प्रकार, दूसरों की बनिस्बत मीनारवालों को सूर्य का प्रकाश एक घण्टे अधिक मिलता है। उसपर रहनेवाले उस प्रकाश का अच्छा सदुपयोग करते हैं।

(५) कुत्ते-बिल्लियों का विचित्र सत्कार।

यहाँ के हिन्दुओं में यह चाल है कि किसी सम-गोत्री मनुष्य की मृत्यु होने पर डाढ़ी-मूँछ मुड़ानी पड़ती है। पर, मिश्र देश में, जिसकी सभ्यता बहुत पुरानी समझी जाती है, पालतू बिल्ली के मरने पर भौंहें मुड़वानी पड़ती थीं, और यदि कहीं कुत्ता मर जाता, तब तो सिर और मूँछें भी साफ़ करानी पड़ती थीं। इससे प्रकट होता है कि बिल्ली की अपेक्षा कुत्ते का आदर अधिक किया जाता था। पर, दोनों की मृत्यु पर शोक एकसा प्रगट किया जाता था। चाहे कुत्ता मरता या बिल्ली, लोग छाती पीटते और दहाड़ मारकर रोते थे।

(६) भयंकर तमाशे।

आजकल सर्कसों में ऐसे कई खेल देखे जाते हैं जिन्हें हम केवल खेल न कहकर 'जान पर खेलनेवाले खेल' कह सकते हैं। ६०-७० फुट ऊँचे बाँस पर चढ़कर बिच्छू (ऊपर पैर और नीचे सिर करके खड़े होना) बनना, तेज़ी से दौड़ते हुए घोड़े की पीठ पर, कूदकर, खड़े हो जाना, अथवा तार पर बाइसिकिल चलाना मामूली कर्तब गिने जाने लगे हैं। अब अमेरिका के एक जार्ज प्लूमर महाशय का हाल सुनिए। आप हवाई जहाज़ की छत पर चार हाथ लम्बा बाँस खड़ा करके, उसके सिरे पर, अपने सिर के बल, खड़े होते हैं। और, खड़े भी कब होते हैं? जब वायुयान बड़ी तेज़ी से आकाश में मँड़राता रहता है। ऐसे समय, वायु के तीव्र वेग के कारण वहाँ साधारण रीति से खड़े रहना भी दूसरों के लिए कठिन है! मालूम नहीं, आपके एक सिर है या दो। हम तो समझते हैं, आपके सिर ही न होगा। आपको वहाँ के आदमी 'शैतान-मूर्त्ति' के नाम से याद करते हैं और आप अपने गुणों से अपने उपनाम को अच्छी तरह सार्थक करते हैं।

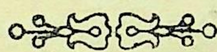
इन्हींके एक दूसरे हमपेशेवाले, जिन्हें, मालूम होता है, जान भारी हो गई होगी, एक दिन एक तमाशा करने बैठे। पहले आपने एक चौड़ी सड़क की दोनों ओर की सात-सात मंज़िल ऊँची दो इमारतों पर लोहे के दो डंडे आड़े डाले और बाद में मोटर पर सवार होकर फिर उन अधर डंडों पर दौड़ लगाई! यदि ज़रा ग़फ़लत होती, तो मोटर न वे दोनों...! सारी शैतानी भूल जाते! जो हो, साहस प्रशंसनीय है।

(७) दो सिर का साँप।

मामूली तरह से एक ही फनवाले साँप बहुधा देखने में आते हैं। हाँ, प्राचीन ग्रन्थों में—पूर्वीय और पश्चिमीय दोनों में—कुछ ऐसे सर्पों का वर्णन लिखा मिलता है जिनके अनेक सिर होते थे। शेषनाग के तो सहस्र सिर बतलाये जाते हैं। हरक्युलीज़ जिस सर्प को मारकर तीन स्वर्ण-सेव लाया था उसके भी इतनेही सिर थे, ऐसा कहा जाता है। आज हम यहाँ जिस दो सिरवाले साँप का वर्णन करेंगे, उसके विषय में अमेरिका के 'पापुलर साइन्स' में जो कुछ लिखा है उसका आशय इस प्रकार है—

आजकल लन्दन के बगीचे में जिसमें विचित्र पशु, पक्षी आदि रखे जाते हैं एक साँप पकड़कर रक्खा गया है। उसे देखने के लिए रोज़ सैकड़ों मनुष्यों की भीड़ वहाँ लगी रहती है। यह साँप दक्षिण अमेरिका का रहनेवाला है। कविवर भर्तृहरि के कथनानुसार यह 'पुच्छ-विषाण-हीन' है, अर्थात् इसके पूँछ

नहीं है। इसके दोनों छोरों पर एक एक सिर है। और, ये दोनों सिर भी कैसे ? बिल्कुल एकसे। इन सिरों को रखकर वह आगे-पीछे, इच्छानुसार, सरक सकता है। दर्शक-गण जब इसकी दुहरी चाल का तमाशा देखना चाहते हैं, तब उनमेंसे कोई कोई इसके दोनों ओर, बराबर दूरी पर, कोई खाद्य पदार्थ रख देते हैं। उस समय मज़ा देखते ही बनता है। साँप अपने शरीर को कभी आगे और कभी पीछे सरकाता है। विधाता की सृष्टि का यह एक विचित्र नमूना है।



विचार-वैचित्र्य।

(१) सर्प का वध करने की वेदोक्त विधि।

सर्प की भयंकरता किसे विदित नहीं ? नगरों में रहनेवाले लोग तो इस प्राणी से किसी प्रकार बच जाते हैं; पर देहाती लोग जिन्हें अपना बहुतसा समय खेत-खलियानों या जङ्गलों में व्यतीत करना पड़ता है बहुधा सर्प-दंश के शिकार होते हैं; और, प्रति वर्ष भारतवर्ष में लगभग ४० हज़ार मनुष्य सर्प की बलि होते रहते हैं। इस अकाल-मृत्यु से बचने का एक उपाय यह है कि देश में सर्प-विद्या का खूब प्रचार किया जाय। दूसरा उपाय यह भी है कि सर्पों का वध किया जाय, जिसकी आवश्यकता जनता और सरकार दोनों को प्रतीत हो चुकी है और यही कारण है जो अनेक स्थानों में सर्प-वध के लिए कुछ पुरस्कार दिया जाता है।

वेद की भी स्पष्ट आज्ञा है कि सर्प-वध करना पुण्य-कार्य है। इतना ही नहीं वेदों में यह भी बताया गया है कि सर्प का वध किस प्रकार करना चाहिए। पाठक कहेंगे कि वेद प्राणि-वध की आज्ञा क्यों देता है। वह तो सबको मित्र-दृष्टि से देखने का आदेश देता है—

"मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे। मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे।"

यजु० अ० ३६।१८

अर्थात् मैं सब प्राणियों को मित्र की दृष्टि से देखूँ तथा हम एक-दूसरे को इसी दृष्टि से देखा करें। जब वेद इस प्रकार अहिंसा की आज्ञा देता है, तब भला वह किस प्रकार सम्भव है कि वेद सर्प-वध की आज्ञा देवे ? क्या सर्प 'प्राणी' नहीं है जो हम उसे मित्र की दृष्टि से न देखें ? भगवान् पतंजलिजी ने भी कहा है, "जिस प्राणी का मन अहिंसा-भाव से परिपूर्ण रहता है उसके समीप सब प्राणी अपना वैर-भाव छोड़ देते हैं।" अतः यदि मनुष्य स्वयं अहिंसा-वृत्ति धारण करे तो सर्प, व्याघ्र आदि हिंसक प्राणी भी उसके मित्र बन सकते हैं।

यह बात ठीक है; परन्तु प्रत्येक मनुष्य सर्वथा अहिंसक नहीं बन सकता। वेद का अन्तिम आदर्श अवश्य है कि संसार के समस्त जीव मित्र-भाव से रहें—हिंसा-वृत्ति कहीं दृष्टि-गोचर न होवे; परन्तु, इस आदर्श के समीप पहुँचनेवाले लोग इस संसार में, करोड़ों में शायद एक ही दो होंगे। इसीलिए वेद का साधारण लोगों के लिए आदेश है कि सर्प का वध किया जाय। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ने भी कालिया आदि सर्पों का वध करके जनता को सुखी किया था। इससे प्रकट होता है कि सामान्य अवस्था में सर्प-वध करना परोपकार ही है।

फिर भी, स्मरण रखना चाहिए कि (१) कोई भी सर्प बिना छेड़े गये कभी आक्रमण नहीं करता। (२) वह उतनी तेज़ी से नहीं भाग सकता जितनी तेज़ी से मनुष्य भाग सकता

है; अतः सर्प से पीछा किये जाने पर मनुष्य भाग कर अपना बचाव कर सकता है। इतना होते हुए भी यदि सर्प घर में या नगर में आ जाय, तो उसे जीवित न रखना ही ठीक है। इस दशा के उपस्थित होने पर सर्प-वध किस प्रकार किया जाय, इसके सम्बन्ध में वेद आज्ञा देता है कि

> घनेन हन्मि वृश्चिकं अहिं दण्डेन आगतम्।
>
> अथ० १०।४।९

अर्थात् "मैं हथौड़े से बिच्छू को और डंडे से आये हुए सर्प को मारता हूँ"। इस मंत्र में जो 'हन्मि' शब्द आया है वह 'वध' का द्योतक है। हथौड़े का अभिप्राय किसी भी चपटे पदार्थ से है। कई लोगों का अनुभव है कि बिच्छू जूते के प्रहार से अच्छी तरह मारे जा सकते हैं।

ऊपर लिखे मन्त्र में सर्प वध के लिए डंडे का उपयोग लिखा है। "वैदिक धर्म" के सम्पादक का अनुभव है कि सीधे डंडे से साँप का वध करना कठिन होता है। सर्प वध के लिए हाकी खेलने का डंडा या बेत जिसकी मूँठ अर्ध-चन्द्राकार हो बहुत ठीक समझा जाता है। डंडा बहुत पतला नहीं, लगभग डेढ़ इंच मोटा और दो सवा दो हाथ लम्बा होना चाहिए। बाँस के डंडे की अपेक्षा बेत का डंडा और भी अच्छा होता है; क्योंकि बाँस का डंडा थोड़े से आघात से टूट सकता है।

डंडा मारते समय इस बात की सावधानी रखनी चाहिए कि सर्प के सिर और पूँछ को छोड़कर, बीच के भाग पर, आघात लगना चाहिए। सिर पर आघात न करने का मतलब यह है कि सर्प अत्यन्त चपल होने तथा उसकी दृष्टि अतीव तीव्र होने के कारण वह अपने सिर पर आघात नहीं लगने देता है, और यदि कहीं पहला आघात चूक गया, तो फिर उससे बचना बहुत कठिन है। पूँछ पर आघात करने से वह बराबर चल-फिर सकता है। इसलिए सिर और पूँछ को छोड़कर शेष शरीर पर आघात करना चाहिए जिससे उसकी रीढ़ टूट जावे, और जहाँ उसकी रीढ़ टूटी कि उसका सरकना बन्द हुआ और फिर उसके सिर पर बहुत सरलता से आघात किया जा सकता है।

यदि आपने दाहिने हाथ में डंडा पकड़ा हो, तो बायें हाथ में एक पतली सी छड़ी भी रखनी चाहिए। इस छड़ी से बड़ा काम सधता है। यदि सर्प आघात किये जाते समय आपकी ओर झपटे तो बड़ी सावधानी के साथ वह पतली छड़ी उसके सामने कर देना चाहिए। तब वह पतली छड़ी पर झपटेगा और तबतक आपको इतना अवकाश मिल सकेगा कि आप डंडे से उसकी रीढ़ तोड़ सकें।

कोई कोई लोग सर्प को डंडे से न मारकर तलवार, कुल्हाड़ी आदि तीक्ष्ण धारवाले शस्त्रों से मारते हैं। परन्तु, यह ठीक नहीं; क्योंकि कुल्हाड़ी आदि की धार से कटा हुआ सर्प का मुख आघातक के पास इस प्रकार दौड़ता है कि उससे बचना कठिन होजाता है। फिर, इस समय मारे क्रोध के उसके मुख से विष भी इतना अधिक गिरता है कि सारा औषधोपचार व्यर्थ जाता है। अतः सर्प-वध के लिए डंडा ही अच्छा साधन है और इसीलिए वेद ने कहा है—"अहिं दण्डेन आगतं (हन्मि)"।

कभी कभी सर्प ऐसे स्थान में रहते हैं कि वहाँ उनको डंडे से मारना बहुत कठिन जाता है। ऐसे समय बन्दूक में छर्रे या पानी भरकर वे सरलता से मारे जा सकते हैं।

किसी सर्प पर आघात करने के पूर्व उसे जान से मार डालने का निश्चय रखकर भरपूर प्रयत्न करना चाहिए। थोड़ा छेड़छाड़कर उसे छोड़ देना कदापि ठीक नहीं; क्योंकि फिर वह उस छेड़छाड़ का बदला लिये बिना नहीं रहता और उसके बदला लेने का मतलब होता है,

प्राण-दण्ड। कई लोग समझते हैं कि सर्प का वध करने से वह भूत या पिशाच बनकर अपने हत्यारे को कष्ट देता तथा उसकी सन्तति नहीं होने देता है; परन्तु सब भ्रम-मात्र है। "वैदिक धर्म" के अनुभवी सम्पादक महाशय कहते हैं कि हमारे कई मित्र ऐसे हैं जिन्होंने पचासों सर्पों का वध किया है; परन्तु हमने आजतक नहीं सुना कि कभी किसी सर्प ने उन्हें या उनमेंसे किसीको कुछ भी कष्ट दिया हो। सन्तति न होने की बात भी झूठ है। हमारे एक मित्र को प्रति वर्ष सुदृढ़ सन्तान होरही है और उनके सुपुत्र भी सर्प-वध करने में बहुत प्रवीण हैं।

कभी कभी, सर्प और सर्पिणी का जोड़ा, बटी हुई रस्सी के समान, मिलता है। इस अवस्था में उनका वध करना कठिन कार्य है। यदि उनपर आघात किया गया, तो वे क्रुद्ध होकर इस प्रकार आक्रमण करते हैं कि मनुष्य का अपना बचाव करना कठिन हो जाता है। तब उसे भाग जाना ही उचित होता है। अच्छा तो यह हो कि या तो उन दोनों का एक साथ वध किया जाय या वे बिलकुल छेड़े ही न जायँ।

खुले मैदान में सर्प का वध उत्तम रीति से हो सकता है; परन्तु घर के भीतर या ऐसे कमरे में जहाँ बहुतसा सामान भरा हो या कई लोग सोये हों या रात का समय हो बहुत सोच-विचारकर डंडा उठाना चाहिए। ऐसे समय में थोड़ी भी असावधानी हुई तो प्राणों पर आ बनती है।

("वैदिक धर्म" के फर्वरी, २२ के अंक से संकलित)

(२) बुढ़ापे की सूचना

आस्ट्रिया की राजधानी वीयना के एक समाचारपत्र ने हाल में अपने पाठकों से प्रश्न किया कि आपको पहले-पहल यह कब मालूम हुआ कि कि आप बूढ़े हो रहे हैं।

इसपर कई पुरुषों ने जो उत्तर दिये उनमें से कुछ ये हैं:—

जब मैंने अपने पुत्र को एक युवती से प्रेमालाप करते देखा।

जब एक भोज में मुझे वृद्ध जनों की पंक्ति में बिठाया गया।

जब पहले-पहल मेरा दाँत गिरा।

जब एक चढ़ाई पर चढ़ने में मेरी साँस फूलने लगी।

जब एक स्त्री ने रास्ते में अपनी जवान लड़की अकेली मेरे साथ कर दी और कहा, "ज़रा इसे इसके घर तक पहुँचा दीजिए"।

जब मुझे रात को बाहर फिरने की अपेक्षा घर बैठे रहना अधिक रुचने लगा।

जब मैंने पहले-पहल देखा कि खोपड़ी गंजी हो रही है।

जब एक शब्द के शुद्ध उच्चारण की बहस में मेरी बेटी मुझसे कहने लगी कि "पिताजी, आपके समय में ऐसा उच्चारण होता रहा होगा, पर आजकल नहीं"।

× × ×

स्त्रियों ने पूर्वोक्त प्रश्न के उत्तर में जो जवाब दिये उनमेंसे कुछ ये हैं—

जब मैंने देखा कि रास्ते में मर्द मेरे पास से निकल जाते हैं और फिर पीछे फिरकर देखते नहीं।

जब मेरी ही उम्र की एक स्त्री नानी बन गयी।

जब भरी हुई ट्रामगाड़ी में बैठी हुई एक लड़की अपना स्थान मुझे देने लगी।

जब एक दिन मुझसे भेंट होने पर एक मित्र ने कहा—"अहा! आज तो तुम खूब तरोताज़ा और जवान मालूम होती हो!"

जब एक नाच में सब मर्द मेरी अपेक्षा मेरी लड़की की ओर ही अधिक ध्यान देने लगे।

जब एक नाच में मुझे पियानो बजाने के लिए बिठाया गया और दूसरी स्त्रियाँ नाचने लगीं।

जब बूढ़े मेरे पास बैठना छोड़ने लगे और बच्चे बैठने लगे।

जब एक दम्पती ने जिनके विवाह में मैं शरीक हुई थी, मुझे अपने विवाह की रौप्य जुबिली (२५ वें वार्षिकोत्सव) में निमन्त्रित किया।

जब मेरे मन में एक दिन यह विचार उठा कि अब मैं जवान नहीं हूँ।

× × ×

आशा है, पूर्वोक्त उत्तर पढ़कर हमारे पाठक भी इस प्रश्न का उत्तर देने का उद्योग करेंगे कि सर्वप्रथम आपको अपने बुढ़ापे के आगमन की सूचना कब मिली।

हमारे चौबेजी का उत्तर तो मिल गया। आप कहते हैं—

जब मैंने एक भोज में देखा कि परसनेवाले बड़े आग्रह से कहने लगे—"चौबेजी, लड्डुवा बड़े मुलायम हैं।"

[श्रीवेंकटेश्वर-समाचार]

(३) हमारा निरंकुश पञ्चाङ्ग

एक साल के अन्दर जो तारीख जिस दिन पड़ती है अवश्य ही वह दूसरे वर्ष में उसी दिन नहीं पड़ती। विलायत के मि० आर्नल्ड ने अब ऐसा केलेन्डर बनाया है। जो तारीख और दिन की इस अस्थिरता से रहित होगा, अर्थात् जो तारीख जिस दिन एक वर्ष में पड़ेगी वह प्रति वर्ष उसी दिन पड़ा करेगी। उन्होंने अभी सन् १९२२ का केलेन्डर बनाया है और विलायत के ०२ लब्धप्रतिष्ठ सज्जनों की राय इस विषय में मालूम की है। कुछ सज्जनों ने लिखा है कि "ऐसा सुधार होने में हमें कोई आपत्ति नहीं, बल्कि हम इसे पसन्द करते हैं।"

हमारी समझ में अधिकांश जनता भी जो ईसवी सन् के अनुसार चलती है इसे पसंद करेगी। परन्तु हम जो विक्रम संवत् के वर्त्तमान विकट पञ्चाङ्गों के अत्याचार सह रहे हैं अपनी दुःख-कथा किसे सुनाएँ? हमें इस बात पर आपत्ति नहीं है कि तिथियों के दिन स्थिर क्यों नहीं। हमारे पञ्चाङ्ग में तो कभी कभी एक ही दिन पर दो दो तिथियाँ लट्टू हो जाती हैं; पर हमें इसकी शिकायत नहीं। बड़ी भारी आपत्ति है पर्व्व, व्रत, ग्रहणकाल आदि की प्रायः अनिश्चित विवादग्रस्त दशा पर। सारे हिन्दू-हिन्दुस्तान में प्रत्येक पर्व या त्यौहार एक ही दिन क्यों नहीं मनाया जाता? एक ही पर्व को कोई पञ्चाङ्ग आज बताता है, कोई कल। सिर्फ़ गड़बड़—चौथ सबकी एक ही दिन पड़ती है। हमारी दशा ठीक उस पथिक की सी है जिसे रास्ता पूछने पर कोई पूर्व दिशा जाने को कहता है तो कोई पश्चिम को। सुना करते हैं कि देश में कहीं कोई पञ्चाङ्ग-संशोधक-मण्डल भी है; परन्तु पञ्चाङ्गों की इस गड़बड़ के कारण शायद वह भी अबतक यह निश्चित न कर सका कि कुछ वास्तविक कार्य कर दिखाने का शुभ मुहूर्त कौनसा है।

[श्रीवेंकटेश्वर-समाचार]



विविध विषय ।

(१) वृक्षों के प्रति मनुष्य का स्नेह ।

वृक्षों में भी चेतना-शक्ति होती है यह तो अभी प्रमाणित हुआ है; परन्तु वृक्षों के साथ मनुष्यों का स्नेह बहुत प्राचीन काल से चला आता है । साहित्य में भी इसका उल्लेख मिलता है । कविवर कालिदास ने लिखा है—

> पातुं प्रथमं न व्यवस्यति जलं
> युष्मास्वपीतेषु या ।
> नादत्ते प्रियमण्डनाऽपि भवतां
> स्नेहेन या पल्लवम् ॥
> आद्ये वः कुसुमप्रवृत्तिसमये
> यस्या भवत्युत्सवः ।
> सेयं याति शकुन्तला पतिगृहं
> सर्वैरनुज्ञायताम् ॥

प्रसंग शकुन्तला नाटक का है । शकुन्तला अपने पोष्य पिता, कण्व, से बिदा होकर अपने पति के घर जा रही है । ऐसे समय में अपने सब स्नेहीजनों से बिदा ली जा रही है । लड़की को अपने घर जाने की कितनी ही उत्सुकता क्यों न हो वह अपने माता-पिता से विलग होते समय दुःखित होती ही है । शकुन्तला शोक-मग्न है; अतः कण्व, शकुन्तला की ओर से, सब स्नेही जनों से बिदा माँग रहे हैं । वे वृक्षों से कहते हैं—"हे वृक्षो, तुमसे स्नेह करनेवाली शकुन्तला अपने पति के घर को जा रही है । तुम्हारे साथ उसका कितना स्नेह था इसे तुम जानते ही हो । उसे कितनी भी प्यास क्यों न लगी रही हो वह तुम्हें पानी पिलाये बिना स्वयं कभी जल नहीं पीती रही है । तुम्हारे पत्तों से अपनेको विभूषित करना उसे बहुत प्रिय रहा है; पर तुम्हारे स्नेह के कारण वह तुम्हारे पत्ते कभी नहीं तोड़ती थी । जिस समय तुममें फूल लगने का समय आता था उस समय उसे जो हर्ष होता था उसका कोई छोर नहीं । वही शकुन्तला आज, तुम सबको छोड़कर अपने पति के घर जा रही है । तुम सब प्रेमपूर्वक उसे बिदा करो ।" पाठको, देखा आपने शकुन्तला का वृक्ष-स्नेह ? शायद आप कहेंगे, शकुन्तला वन की रहनेवाली थी, उसका सारा समय लता-पत्रादि के बीच व्यतीत होता था; अतः उसका वृक्ष-स्नेह स्वाभाविक है । ठीक है; परन्तु बड़े बड़े महलों में रहनेवाले लोग भी वृक्षों से स्नेह करते हैं । अब भी अनेक मनुष्य वृक्षों से इतना अपत्य-स्नेह करते हैं कि जिस प्रकार माता-पिता अपनी सन्तति का विवाह करके निश्चिन्त होते हैं उसी प्रकार वृक्ष-प्रेमीजन अपने हाथ से लगाये हुए वृक्षों का विवाह, उनके फूलने-फलने के समय के पूर्व अन्य वृक्षों के साथ कर देना अपना कर्त्तव्य समझते हैं । फलते-फूलते वृक्ष को काटना घोर पाप समझा जाता है, यहाँतक कि रात के समय वृक्षों से फूल नहीं तोड़े जाते; इसलिए कि उस समय वृक्ष सोते हैं और फूल तोड़ने से उनकी नींद खुल जायगी ! ये सब बातें वृक्षों के प्रति मनुष्य का अगाध स्नेह सूचित करती हैं ।

पाश्चात्य देशवालों में इसी प्रकार का स्नेह देखा जाता है । जार्जिया रियासत में एक अखरोट का वृक्ष है । वह वृक्ष जिनकी भूमि में है वे उसके साथ इतना स्नेह रखते थे कि उन्होंने इस आशंका से कि मेरी मृत्यु के पश्चात् न मालूम

इस वृक्ष की क्या दशा हो वसीयतनामा लिख दिया कि मेरा इस वृक्ष के साथ जो स्नेह है उसके कारण मेरी इच्छा है कि इस वृक्ष पर तथा इसके आसपास की ८ फुट भूमि पर दूसरे किसीका अधिकार न होकर इसी (वृक्ष) का अधिकार बना रहे।

इसी प्रकार का वसीयतनामा श्रीमती एलिस स्पेन्सर गिडिस लायड कर गई हैं। सिकामोर नाम के एक वृक्ष के साथ उनका इतना स्नेह था कि उन्होंने ३६ वर्गफुट भूमि उसके अधिकार में करके यह लिख दिया कि यह वृक्ष और यह भूमि एक-दूसरे के अर्थात् वृक्ष भूमि के और भूमि वृक्ष के अधिकार में रहें और ईश्वर ने इन्हें जिस कार्य के लिए बनाया है उस कार्य को ये पूरा करते रहें। वृक्ष का काम तो यह होगा कि वह श्रान्त पथिकों को अपनी शीतल छाया प्रदान करे और यह भूमि वृक्ष का पालन-पोषण करती रहे।

(२) काम के अनुसार मज़दूरी।

यह बहुधा देखने में आता है कि नये कारखानों के मालिकों को इसलिए भी सफलता नहीं मिलती कि वे मज़दूरों से ठीक ठीक काम नहीं ले सकते; या तो कम मज़दूरी के कारण मज़दूर असन्तुष्ट रहते हैं या मज़दूरों का काम देखते हुए अधिक पैसा देने के कारण मालिकों को असन्तोष रहता है। इस दोष को दूर करने के उपाय सोचने के पहले यह देखना चाहिए कि मज़दूरी कितने प्रकार की होती है। सब प्रकार के कारखानों का विचार करके मालूम होता है कि मज़दूरी तीन प्रकार की पाई जाती है—एक ठेके की मज़दूरी, दूसरी दिन-बँधी मज़दूरी और तीसरी काम देखकर मज़दूरी।

ठेके की मज़दूरी में पूरा काम होने पर ठहराई हुई रक़म दे दी जाती है; जैसे, २४ गज़ कपड़ा बुनवाने की मज़दूरी ३) रु० ठहराई गई। अब जुलाहा इस काम को चाहे एक दिन में पूरा करके दे दे और चाहे उसमें १० दिन लगावे। जब वह काम पूरा करेगा तभी उसको मज़दूरी दी जावेगी। इस प्रकार के ठहराव में काम बहुधा जल्दी होता है; पर जैसा चाहिए वैसा सदैव नहीं होता। दिन-बँधी मज़दूरी में दैनिक वेतन निश्चित कर दिया जाता है और यथेष्ट काम करना मज़दूर के ईमान पर छोड़ दिया जाता है। कोई जुलाहा दिन भर में ४ गज़ कपड़ा बुनता है और कोई ५ गज़ और एक तीसरा ६ गज़। थोड़े दिनों बाद ६ गज़ बुननेवाला भी ४ गज़ ही बुनने लगेगा और इस प्रकार मालिक को हानि उठानी पड़ेगी। इस प्रकार के ठहराव में मालिकों को लाभ नहीं होता और न अच्छा काम करनेवाले मज़दूरों को ही। इससे कई मज़दूर आलसी भी हो जाते हैं। हाँ, कुछ कार्य ऐसे हैं जिनमें इस विधि का उपयोग करना ही पड़ता है और मज़दूरों का आलस्य मिटाने के लिए दूसरी दवा की जाती है। तीसरे प्रकार के ठहराव में यह निश्चित रहता है कि मज़दूर जितना और जैसा काम करेगा उसे उसी प्रमाण से वेतन दिया जायगा। यदि एक जुलाहा दिन भर में ६ गज़ कपड़ा बुनता है, और दूसरा ८ गज़ और तीसरा ७ गज़, किन्तु पहले दोनों से कहीं अच्छा, तो तीसरे को पहले दो की अपेक्षा अधिक वेतन मिलेगा और दूसरे को पहले से अधिक। इस ठहराव में मालिक को अच्छा और अधिक माल मिलता है तथा मज़दूर को भी उसकी योग्यता और परिश्रम के अनुसार अधिक द्रव्य। दोनों को ही संतोष रहता है।

ऊपर के उदाहरणों से स्पष्ट है कि काम के अनुसार मज़दूरी देने का नियम तीनों में अच्छा है; इसलिए जहाँतक हो सके मालिकों को इसी

का उपयोग करना चाहिए। कार्यारम्भ में तो इस नियम का उपयोग करना बहुतही लाभदायक होता है। मालिकों को अधिक माल मिलता है और मजदूरों को उत्तेजना खूब मिलती है। कभी कभी पहले और तीसरे नियम का मेल करके एक चौथा ढँग भी लाभदायक होता है। आजकल चरखे से कते सूत के कपड़े का प्रचार किया जाता है; इसलिए तीसरे प्रकार की मज़दूरी से मज़दूरों को खुब उत्तेजना मिल सकती है और व्यापारी भी अच्छा माल बाज़ार में ला सकते हैं।

पहले समय में इसी प्रकार का ठहराव बहुधा होता था और हड़ताल का नाम नहीं सुनाई पड़ता था; क्योंकि इसमें मज़दूरों को असन्तुष्ट होने का मौक़ा ही नहीं रहता। अब मिलों के बढ़ जाने से जहाँ मज़दूरों को अपनी योग्यता दिखाने की अपेक्षा ढचरे का काम अधिक करना पड़ता है दिन बँधी मज़दूरी की प्रथा बढ़गई है; किन्तु भारत को कई ऐसे उद्योग-धन्धे बढ़ाना है जिनमें मज़दूरों को अपने कला-कौशल दिखाने का मौक़ा है; अतएव मिहनत देखकर मज़दूरी देने की प्रथा से अच्छा फल प्रकट हो सकता है।

(३) कुष्ठरोगी रेल यात्रियों के लिए नियम।

रेलगाड़ी के द्वारा मनुष्यों के साथ ही बीमारियाँ भी यात्रा किया करती हैं। कई रोग ऐसे होते हैं जो स्पर्श से दूसरे मनुष्य के शरीर में प्रविष्ट हो जाते हैं, और कई ऐसे होते हैं जिनके कीटाणु कपड़ों में बँधकर रेल-द्वारा दूसरे नगर में पहुँच जाते हैं और वहाँ अपनी करामात दिखाते हैं। हमें याद है, उस दिन कुछ लड़कों ने प्लेग से मरे एक चूहे को रेलवे स्टेशन पर खड़ी हुई एक पैसेन्जर ट्रेन के डब्बे में रात के समय रख दिया था। यद्यपि उन लड़कों का यह कृत्य मनोरञ्जन के लिए था; पर उसी-से एक बड़ी भारी हानि की आशंका थी। रेल-द्वारा यात्रा करनेवाले तीसरे दर्जे के मुसाफ़िरों को अनुभव होगा कि हमारे ग्रामों के रहनेवाले भोलेभाले कभी कभी टिकट न लेने-वाले ग़रीब लोग, बेन्चों पर न बैठकर बेन्चों के नीचे सो जाया करते हैं। ऐसी दशा में चूहे के कीटाणु निश्चय ही किसी ग़रीब मनुष्य के शरीर में अड्डा बना सकते हैं और न केवल उस एक मनुष्य का किन्तु उसके द्वारा सैकड़ों मनुष्यों को संसार से बिदाई दे सकते हैं।

ऐसीही अनेक बातों का विचारकर कुष्ठ रोग से बचाव करने के लिए रेलवेबोर्ड ने कुछ नियम बनाये हैं और सरकार ने उन नियमों का पालन करने में यात्रियों की सहकारिता चाही है। वे नियम ये हैं:—

(१) कुष्ठरोगी स्टेशन-मास्टर अथवा रेलगाड़ी के अध्यक्ष की अनुमति बिना यात्रा न करे।

(२) (यदि उसे यात्रा करना ही है तो) उसे चाहिए कि वह अपने सेवकों के लिए एक कमरा अलग रिज़र्व करा ले।

(३) रेल कर्मचारियों को चाहिए कि वे ऐसे व्यक्ति-यों के लिए समुचित प्रबन्ध अलग कर दें।

(४) रेल-कर्मचारी इन उपायों के अतिरिक्त और उपाय काम में ला सकते हैं। जबतक ठीक ठीक प्रबन्ध अलग न हो सके तबतक कुष्ठ-रोगी को यात्रा करने की आज्ञा न दी जाय।

इन चार नियमों में हमें आपत्ति इतनी ही है कि कुष्ठरोग से पीड़ित मनुष्यों की संख्या उस ग़रीब जनता में ही अधिक पाई जावेगी जो रेलगाड़ी के डब्बों को रिज़र्व कराने में असमर्थ है। अच्छा यह हो कि दस आदमियों के बैठने-लायक़ एक छोटासा डिब्बा ऐसे तथा अन्य

रोगियों के लिए अलग ही रखा जावे और वे बिना रिज़र्व कराये एक टिकट लेकर उसमें बैठ सकें।

देश में रोगियों की संख्या घटाने के लिए, हम समझते हैं, सभी लोग इन नियमों का पालन करेंगे।

(४) म्यूनीसिपैलटी की भरती।

पूना शहर की म्यूनीसिपैलटी के मेम्बरों के चुनाव के सम्बन्ध में जो अनुकरणीय कार्य हुआ है उसका वर्णन हम "श्रीशारदा" के गतांक में दे चुके हैं। हमारी इच्छा थी और है कि उसका अनुकरण अन्य स्थानों में भी किया जाता और सब म्यूनीसिपैलटियों पर राष्ट्रीय दलवालों का क़ब्ज़ा हो जाता। हर्ष की बात है, कई स्थानोंमें ऐसा क़ब्ज़ा हो भी गया है। मध्यप्रदेश के कई स्थानों में भी यही हुआ है। जबलपुर की शहर-कांग्रेस-कमेटी को भी इच्छा थी कि इस चुनाव में जितने मेम्बर निर्वाचित होवें वे सब राष्ट्रीय दल के होवें। उक्त कांग्रेस-कमेटी की यह इच्छा बहुत हितकर थी; पर उसने जिस ढँग से काम किया है उसकी प्रशंसा कदापि नहीं की जा सकती।

सभी शिक्षित जन यह जानते हैं कि म्यूनीसिपैलटियाँ स्थानिक स्वराज्य की संस्थाएँ हैं और उनके द्वारा देश का बहुतसा काम किया जा सकता है। यद्यपि उनमें सरकार का नियंत्रण रहता है, तथापि जनता के निर्वाचित प्रतिनिधियों को भी बहुत अधिकार रहता है और यदि वे प्रतिनिधि विचार के साथ काम करें तो सरकारी अंकुश का पैनापन अपना घातक प्रभाव नहीं डाल सकता है। अतः म्यूनीसिपैलटी में ऐसे लोगों को काम करने का अवसर देना चाहिए जो जनता के हितों को समझने की बुद्धि रखते हों, सरकारी प्रतिनिधियों के अनुचित विरोध का सामना क... की निर्भीकता रखते हों और अपना 'कुछ'—इस 'कुछ' में समय, शक्ति और व्यक्तिगत स्वार्थ, सभी शामिल हैं—त्याग करने का हृदय रखते हों। म्यूनीसिपैलटी के प्रतिनिधियों में ये ही तीन योग्यताएँ होनी चाहिए। इनमें जो दूसरी योग्यता है वह भी बहुत महत्त्व की है और इस योग्यता से सम्पन्न व्यक्ति राष्ट्रीय दल में अधिकता से मिल सकते हैं; अतः यदि कांग्रेस-कमेटियों की सहकारिता से मेम्बरों के चुनाव का काम किया गया है तो हम इसे किसी प्रकार अनुचित नहीं समझते हैं। परन्तु कांग्रेस-कमेटियों को देखना चाहिए था कि इस योग्यता की खोज में कहीं पहली और तीसरी योग्यता की उपेक्षा तो नहीं की जाती है। हमने सुना है, कई स्थानों में यह उपेक्षा की गई है। जबलपुर में तो हमने प्रत्यक्ष देखा है कि अनेक मेम्बरों के संबंध में यही किया गया है। अनुभव और योग्यता का भी कुछ मूल्य होना चाहिए। असहयोग-आन्दोलन पर यह बड़ा भारी दोषारोपण किया जाता है कि उसने अनुभवी लोगों का बहिष्कार सा कर दिया है। हम नहीं समझते कि इसमें इस आन्दोलन का कोई दोष है। यह आन्दोलन ही ऐसा है जिसमें अनुभवी लोगों की आवश्यकता अवश्य है; पर ऐसे अनुभवी लोगों की आवश्यकता नहीं जो सोच-विचार करने में ही वर्षों का समय लगा देवें। इसी प्रकार इस आन्दोलन में विद्या और बुद्धि की अपेक्षा त्यागमय कार्यशीलता की आवश्यकता अधिक है। यही कारण है जो इस आन्दोलन में त्यागी और कार्य-शील युवक अनुभवी विद्वानों को पीछे ढकेलकर आगे बढ़ रहे हैं और यह होना भी चाहिए। परन्तु इसका यह अर्थ कदापि न लेना चाहिए कि अनुभव और विद्या-बुद्धि का अपमान किया जाय और उन क्षेत्रों में जहाँ हुल्लड़ मचानेवाले पर कार्य-शील युवकों की अपेक्षा विचारशील एवं अनुभवी जन... [illegible] ...क आवश्यकता है, वहाँ अनुभवहीन युवकों की ... [illegible] ...ी जाय। जबलपुर-म्यू-

नीसिपैलटी का जो नया चुनाव हुआ है उसके कई मेंबरों के संबंध में यही दोषारोपण किया जा सकता है; और हम नहीं समझते, जबलपुर की शहर-कांग्रेस-कमेटी अपनेको इसके उत्तरदायित्व से मुक्त कर सकती है। जिस म्यूनीसिपल कमेटी के अनेक असहयोगी कहलानेवाले मेंबरों को सरकारी अदालतों में जाकर यह सिद्ध करना या कराना पड़े कि दो लड़के हमें 'पिता' कहते हैं या हमारी आयु २१ वर्ष से कम नहीं है उसे अपनी अनुभव-शलिता का गर्व न करना चाहिए। यदि कार्य-शलिता का सन्मान ही करना था, तो उसके दूसरे मार्ग थे। फिर, यदि केवल सन्मान की बात थी, तो अनुभवी लोगों का सन्मान पहले करना था, युवकों का सन्मान तो पीछे भी किया जा सकता था। पर, सन्मान की बात मन में लाना सच्चे सेवकों से हो ही नहीं सकता।

दूसरे, म्यूनीसिपल मेम्बरों को चुनने का अधिकार मतदाताओं (वोटरों) को ही रहता है। इन मतदाताओं में हज़ारों ऐसे व्यक्ति सभी स्थानोंमें हैं, जो कांग्रेस के मेम्बर नहीं हैं। इसदशा में म्यूनीसिपल-मेंबरों की सिफ़ारिश करनेवाली कांग्रेस-कमेटी को भलीभाँति देखना चाहिए था कि मतदाताओं का अधिकार न छिनने पावे। यह देख कर हमें बहुत दुःख हुआ कि जबलपुर की शहर-कांग्रेस-कमेटी ने मतदाताओं के अधिकारों पर कुछ भी अथवा यथेष्ट ध्यान नहीं दिया। हम हृदय से चाहते हैं कि भारतवर्ष का प्रत्येक वयःप्राप्त व्यक्ति कांग्रेस का मेंबर हो जावे; पर हम यह कभी नहीं चाहते कि जो व्यक्ति किसी कारण से ऐसा मेंबर नहीं हो सकता उसे अपने अधिकारों का उपयोग ही न करने दिया जाय। जबलपुर की श. कां. क. को कई सप्ताहों का यथेष्ट समय मिला था, जिस बीच में यदि वह चाहती तो मुहल्ले मुहल्ले में वोटरों की सभा करके उन्हें समझाती और उनकी सम्मति से मेम्बर को चुनती। पर, उसने ऐसा कुछ भी नहीं किया, शायद यह सोचकर कि हम सवा लाख प्रतिनिधियों के भाग्य के विधाता हैं, अतः हम जो कुछ करेंगे उसके विरुद्ध आवाज़ उठाने की शक्ति किसमें है। स्थानीय श० कां० कमेटी की यह उच्छृंखलता देखकर कई लोग यह आशंका कर सकते हैं कि कहीं कांग्रेस-कमेटी शादी-विवाह के समय में भी वर-वधुओं की सिफ़ारिश करके उनके कुटुम्बियों से यह न कहने लगे कि आप लोग इन्हींके साथ संबंध करें, दूसरों के साथ नहीं।

इस प्रकार श०कां०क० ने वोटरों की सम्मति लिये बिना मेम्बरों की सिफ़ारिश की और फिर उस सिफ़ारिश को लोगों पर इस प्रकार लादा कि स्वतंत्रता का गला ही घुटने लगा। इन सिफ़ारिश किये गये लोगों के अतिरिक्त जो सज्जन उम्मेदवार हुए उनकी कठोर से कठोर निन्दा श. का. क. के सभापति सदृश ज़िम्मेदार व्यक्तियों ने की। कहा गया कि यदि अमुक जन अपनी उम्मेदवारी अमुक तिथि तक वापिस नहीं ले लेते, तो हम तथा जबलपुरवाले देखेंगे कि वे अमुक पद पर किस प्रकार रह सकते हैं। हम श० कां० क० के कर्णधार के इन विचारों को सुनकर आश्चर्य-चकित हो गये हैं। यदि हमने अपने कानों से ये शब्द न सुने होते, तो हम इनपर सहसा विश्वास न करते। प्रश्न यह होता है कि क्या महात्मा गांधी के कार्यक्षेत्र से अलग किये जाने पर, अब श० कांग्रेस-कमेटी के ज़िम्मेदार व्यक्ति जनता के स्वतन्त्र विचारों का गला इस प्रकार घोंटकर कांग्रेस-के कार्य में सफलता प्राप्त कर सकेंगे? अधिक न कहकर हम केवल इतना ही कहेंगे कि जबलपुर-शहर-कांग्रेस-कमेटी के इस व्यवहार ने कांग्रेस के नाम और काम को बहुत धक्का पहुँचाया है।

(५) हिंसात्मक साहित्य।

आधुनिक असहयोग-आन्दोलन अहिंसा-प्रधान है। इसीकी सफलता पर स्वराज्य की प्राप्ति निर्भर है। महात्मा गांधीजी इस अहिंसा पर इतना जोर देते रहे हैं कि उनके लेखों को पढ़ते समय कभी कभी तो यह विदित होता है मानो अहिंसा ही सब कुछ है; और जहाँ हमने अहिंसा का मर्म भलीभाँति हृदयङ्गम कर लिया और तदनुकूल आचरण किया कि स्वराज्य प्राप्त हो गया। महात्माजी अहिंसा को इतना अधिक महत्त्व देते हैं कि वे अपनेसे मत-भेद रखनेवाले तथा असहयोग के सिद्धान्त का घोर विरोध करनेवाले के विषय में कोई अपशब्द कहना तो दूर रहा, अपशब्द कहने की बात तक मन में लाना महापाप समझते हैं। दूसरी ओर उन्हीं महात्माजी के अनुयायी देश-हितैषी जन अपने से मतभेद रखनेवाले को नौकरी से अलग कर देने की धमकी देते हैं; 'देशद्रोही', 'स्वराज्य के शत्रु' आदि कहना तो कोई बात ही नहीं है। ये बातें कही ही नहीं जातीं, वरन लिखी जाकर सहस्रों की संख्या में प्रचारित की जाती हैं।

म्यूनीसिपल-मेम्बरों के गत चुनाव के समय जबलपुर शहर-कांग्रेस-कमेटी के सभापति और मंत्री तक ने, अपने नाम से, ऐसे पचासों इश्तहार निकाले जिनमें उनके विरुद्ध खड़े होनेवालों की घोर निन्दा की गई है। हम उन सब बातों को यहाँ छापकर इस अहिंसात्मक साहित्य का प्रचार नहीं करना चाहते। अनेक ऐसे इश्तहारों को देखकर हमें मार्मिक वेदना पहुँची है कि शहर-कांग्रेस-कमेटी के सभापति सरीखे समझदार व्यक्ति तक ऐसी बातें कहते और लिखते हैं और उनकेलिए लज्जित न होकर सभा में कहते हैं कि यदि हमने ऐसा न किया होता, तो इनमें कई लोग (जो उक्त कांग्रेस-कमेटी के इस प्रयत्न से म्यूनीसिपल-मेम्बर हो गये हैं) हजारों रुपये खर्च करके भी मेम्बर न हो सके होते। इसका मतलब यह कि यदि उद्देश अच्छा है, तो उसके लिए निन्दनीय उपायों का भी अवलम्बन किया जा सकता है। महात्मा गांधी तो स्वराज्य सदृश पवित्र वस्तु भी अहिंसात्मक उपायों के अतिरिक्त अन्य किसी उपाय से नहीं प्राप्त करना चाहते; पर उनके भक्त म्यूनीसिपैलटी की मेंबरी सरीखी वस्तु अपने मुक़ाबले में खड़े हुए विरोधियों को 'देशद्रोही' आदि कहकर प्राप्त करते हैं और स्वयं उक्त मेम्बरी के लिए उम्मेदवार होकर इस बात का विचार नहीं करते कि शिष्टता और शालीनता भी तो कोई चीज़ है।

आशा है, प्रान्तीय-कांग्रेस-कमेटी जबलपुर-शहर-कांग्रेस-कमेटी के उल्लिखित इश्तहारों को पढ़कर ऐसा प्रबन्ध करेगी कि जिसमें कमेटी के पवित्र नाम को कलुषित करनेवाले ये इश्तहार फिर इस प्रांत में कहीं और कभी न छापे जावें।

फ्रान्स के राज-विप्लव के समय इँग्लैंड के प्रसिद्ध वक्ता और राजनीतिज्ञ 'बर्क' ने फ्रांस में रहनेवाले अपने एक मित्र के लिए पत्र लिखा था। उस पत्र में एक जगह उन्होंने यह भाव प्रकट किया था—इस (इंग्लैंड) देश के निवासियों के विचार आपके यहाँ के विप्लव के सम्बन्ध में क्या हैं उन्हें आप यहाँ प्रकाशित की गई कुछ पुस्तकों पर से मत जानिये और न उन पुस्तकों के विचारों को सारे देश के ही विचार समझिए। यहाँ कई जगह अशान्ति अभिमान, गाली-गलौज आदि से भरा हुआ हुल्लड़ मचाया जा रहा है और उसे मचाने में ही सारी योग्यता खर्च की जा रही है। हम

लोग उस हुल्लड़ को शान्त करने का प्रयत्न न करके चुपचाप बैठे हैं—इसका मतलब कदापि यह न समझा जावे कि हम लोग या यहाँ के अधिकांश निवासी उस हुल्लड़ से सहमत हैं। यदि किसी खेत के डबरे के पास कुछ कीड़े उछल-कूद मचा रहे हैं और अपनी ध्वनि से वहाँ की शान्ति भंग कर रहे हैं और बहुत-से बड़े बड़े पशु उसी खेत में एक सघन छायावाले पेड़ के नीचे शान्ति-पूर्वक बैठे जुगाली कर रहे हैं और मुँह से कुछ भी नहीं कहते हैं तो आप इसपर से यह न समझें कि जो हल्ला मचा रहे हैं केवल वे ही उस खेत में रहते हैं या उन्हींकी संख्या अधिक है।

बर्क का उपर्युक्त कथन किसी भी देश के हुल्लड़बाजों के संबंध में लागू किया जा सकता है।

(६) म्यूनीसिपल मेम्बरों का प्रतिज्ञापत्र।

जबलपुर-शहर-कांग्रेस-कमेटी की ओर से जो २१ सज्जन म्यूनीसिपल मेम्बरी के लिए खड़े किये गये थे और जिनमेंसे कदाचित् १९ मेम्बर हो भी गये हैं उन्होंने एक प्रतिज्ञापत्र लिखा था जो इस प्रकार है—

"इस समय शहर में म्यूनीसिपिल मेम्बरों के चुनाव के सम्बन्ध में ऐसी धारणा (ग़लतफ़हमी) फैल रही है कि कांग्रेस के ज़रिये खड़े किये हुये म्यूनिसिपल मेम्बर अपने मतदाताओं सामने जिम्मेदार नहीं रहेंगे। इस ग़लतफ़हमी को दूर करने के लिये हम यह प्रतिज्ञा ज़ाहिर करना चाहते हैं कि हम लोग कांग्रेस कमेटी की आज्ञा को केवल अभी ही नहीं किन्तु आगे भी मानेंगे और उसके तथा मतदाताओं के सामने जवाबदार रहेंगे। यदि हमारा काम असन्तोष-जनक समझा जावे तो मतदाताओं को अधिकार है कि वे कांग्रेस-कमेटी के जरिये हमें मेम्बरी से इस्तीफ़ा देने की आज्ञा दें और हम उसका पालन करेंगे। इस प्रकार हमारे विचार में कोई मेम्बर जो कांग्रेस-कमेटी की ओर से खड़ा किया जाता है कांग्रेस-कमेटी तथा मतदाताओं के सामने जवाबदार है। वह अपनी जवाबदारी से मुक्त नहीं हो सकता।"

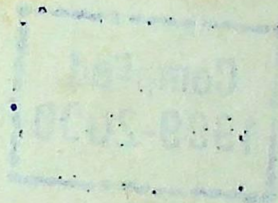
हर्ष की बात है कि मेम्बरों ने मतदाताओं के सामने अपनी जिम्मेदारी स्वीकार की। पर, प्रतिज्ञापत्र में जिस 'ग़लतफ़हमी' का उल्लेख किया गया है उसका मूल शहर कां० क० के ही अनुत्तरदायित्वपूर्ण व्यवहार में है और शायद इसलिए पहले वाक्य की रचना इस प्रकार की गई है और उसमें ग़लतफ़हमी फैलानेवाले का नाम नहीं छापा गया है इसका एक प्रमाण यह है कि उक्त कमेटी ने जिन मेम्बरों की सिफ़ारिश की थी उनमें एक मेम्बर ऐसे थे जो पिछले छः सालों में म्यूनीसिपल मेम्बर रह चुके थे और जिनका काम उनके अनेक मतदाताओं को सन्तोषजनक नहीं जँचा और इसलिए उन मतदाताओं ने अपना एक सभा करके उनका पिछला काम जानने के लिए कुछ प्रश्न तैयार किये और वे प्रश्न उन मेम्बर महाशय के पास तथा उनकी सिफारिश करनेवाली ज़िला-कांग्रेस-कमेटी के पास भेज दिये और उनका लिखित उत्तर एक निश्चित तिथि तक माँगा; पर न उन मेम्बर महाशय ने और न उस कांग्रेस-कमेटी ने ही मतदाताओं के उन प्रश्नों का उत्तर दिया और इस प्रकार उक्त कांग्रेस कमेटी ने 'ग़लतफ़हमी' जानबूझकर फैलाई और फिर उसे दूर करने का प्रयत्न उक्त प्रतिज्ञापत्र के द्वारा किया गया। अस्तु।

इस प्रतिज्ञापत्र में मेम्बरों ने जो जवाबदारी स्वीकार की है वह एक प्रकार से स्वीकार न करने के बराबर है। मतदाताओं का और मेम्बरों का सीधा सम्बन्ध होना चाहिए। कांग्रेस-कमेटी बीच में इतनी अधिक पड़े इसकी कोई आवश्यकता नहीं। इस बीच-बिचाव में कई मतदाताओं के

अधिकार छिनने की आशंका है; इसलिए कांग्रेस-कमेटी के हस्तक्षेप की आवश्यकता अधिकांश में अवांछनीय है। म्यूनीसिपैलटी के मतदाताओं में हजारों ऐसे सरकारी नौकर, पेन्शनर आदि हैं जो न कांग्रेस के मेम्बर हैं और न जो किसी कांग्रेस-कमेटी से अपना संबंध रखना चाहते हैं। इसका अर्थ यह होता है कि यदि वे मतदाता किसी मेम्बर के काम से असन्तुष्ट हैं, पर वे कांग्रेस-कमेटी के ज़रिये अपना असन्तोष प्रकट नहीं करना चाहते, तो वे मेम्बर महाशय उन मतदाताओं के लाख चाहने पर भी अलग नहीं किये जा सकते। हम समझते हैं, कांग्रेस-कमेटी ने ज्योंही अपने मनचाहे मेम्बरों का चुनाव मतदाताओं से करा लिया त्योंही उसका तत्संबंधी कर्त्तव्य समाप्त हो जाना था; अथवा कांग्रेस–कमेटी को प्रयत्न करना था कि जितने मतदाता हैं वे सब कांग्रेस के सदस्य हो जावें; परन्तु इस प्रकार का प्रयत्न किये बिना अपने अस्तित्व को दूसरों पर लादना और उनके अधिकारों को छीनना उचित नहीं कहा जा सकता। अतः हमारी समझ में इस प्रतिज्ञापत्र का मूल्य बहुत कम हो गया है।

दूसरे, इस प्रतिज्ञापत्र की भाषा स्पष्ट नहीं है। यद्यपि उसपर हस्ताक्षर करनेवालों में ६–७ वकील हैं, तथापि उसकी भाषा बहुत ही असम्बद्ध है। पहलाही वाक्य देखिए। उसमें प्रतिज्ञापत्र लिखने का कारण बताया गया है। कारण है, इस ग़लतफ़हमी को दूर करना कि "म्यूनीसिपल मेम्बर अपने मतदाताओं के सामने जिम्मेदार नहीं रहेंगे।" इस ग़लतफ़हमी को दूर करने के लिए भावी (परन्तु अब 'भूत' या 'वर्तमान') मेम्बर प्रतिज्ञा करते हैं–"हम लोग कांग्रेस कमेटी की आज्ञा को केवल अभी ही नहीं किन्तु आगे भी मानेंगे।" ग़लतफ़हमी तो यह थी कि मेम्बर अपने मतदाताओं के सामने जवाबदार नहीं हैं, और प्रतिज्ञा की जाती है कांग्रेस-कमेटी की आज्ञा मानने के लिए। हम समझते हैं, प्रतिज्ञा का इतना अंश अनावश्यक है। दूसरे "कांग्रेस के ज़रिये खड़े किये हुए (!) म्यूनीसिपल मेम्बर" में जो "कांग्रेस" शब्द है वह अस्पष्ट है। "कांग्रेस" का अर्थ अखिल-भारतीय कांग्रेस है। हम नहीं जानते, कांग्रेस ने किसी म्यूनीसिपल मेम्बर को खड़ा किया था; अतः यदि "कांग्रेस" के बदले "जबलपुर-शहर-कांग्रेस-कमेटी" लिखा जाता, तो ठीक होता।

प्रतिज्ञापत्र की भाषा बहुत स्पष्ट होनी चाहिए और इसमें थोड़ी भी अस्पष्टता आने से लेखक की सदिच्छाओं में कुशंका उत्पन्न हो सकती है।






Compiled
1999-2000

